श्री १०८ शान्तिसागर महाराज

चारित्रचक्रवर्ती दिगंबर जैनाचार्य १०८ श्री शान्तिसागर महाराज

परम पूज्य

१०८ श्री आदिसागर मुनिमहाराज

(जन्मभूमि-शेडबाल, दक्षिण भारत)
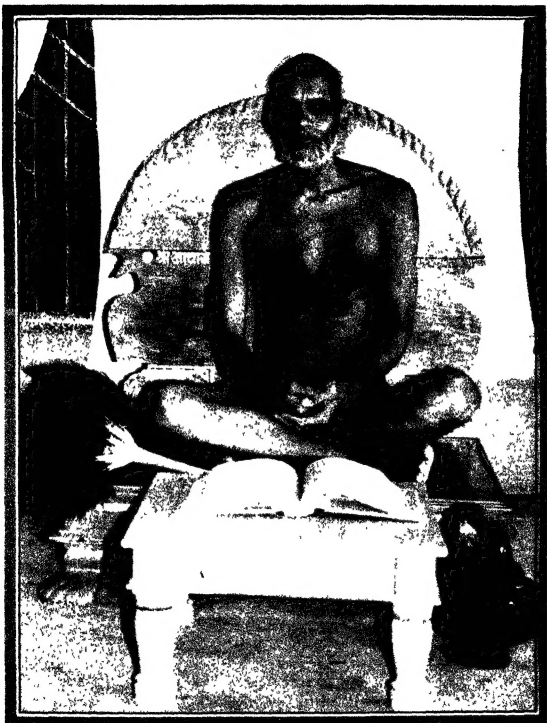
श्री १०८ श्रुतसागर महाराज

वीतराग जैन ग्रंथमाला द्वारा अधिकार प्राप्त

आचार्यश्री शिवार्य विरचित

भगवती आराधना

आचार्यश्री अपराजित सूरि रचित विजयोदया टीका
तथा तदनुसारी हिन्दी टीका सहित

हिरालाल खुशालचंद जैन
ग्रंथमाला, मांडवे

पुष्प १ ले

सम्पादक एवं अनुवादक
सिद्धान्ताचार्य श्री पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

— प्रकाशक —

बाल ब्र. श्री हिरालाल खुशालचंद दोशी, फलटण
(वाखरीकर)

वीर संवत् २५१६) मुल्य-रु. १००/- (ई० सन् १९९०

BY GIAN CHAND JAIN - 16 DARYA GANJ

श्रीमान बालब्रह्मचारी हिरालालजी खुशालचंदजी दोशी (फलटण)
अल्प-परिचय

मानव जन्म पूर्वसंचित कर्मों का फल है, इसे पाना, समझना एवं सार्थक कर जीव का उद्धार करना आसान बात नही है। बहुत विरले ऐसे होते है जो इसे समझते है। ऐसे विरले भव्य जीवों मे बालब्रह्मचारी श्री, हिरालालजी दोशी एक है। दिगंबर जैन धर्ममे चार अघाति कर्मोंका (आयु, गोत्र, नाम, वेदनीय) नाश (निर्जरा) जबतक पूर्ण नही होता तबतक अरिहंत भगवान की उत्कृष्ठ अवस्था हो तो भी वह संसारी अवस्था ही होती है। अनादि संबंधोकी यह संसारी अवस्था समाप्त कर एकमेव दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य, स्वरूप अनंत चतुष्टय की प्राप्ती का अर्थ ही मुक्त अवस्था है; अथवा जीव के ज्ञानरूपस्वभाव प्राप्ती के लिए शुभ भावनाओसे या शुभ परिणामोसे अशुभका परिहार किया जाता है और परंपरासे शुद्ध की प्राप्ती के लिए जो अनेक आराधना बताई गयी है, उसमे प्रमुख ज्ञान आराधना है। ऐसा ज्ञान सभी के लिए आवश्यक है। ऐसा आगम शास्त्रका ज्ञान उपलब्ध कराना यह एक परम पवित्र एवं परम उपकारक कार्य है। शास्त्र ज्ञानकी महिमा अपरंपार है, जिससे स्वयं के अनंत कर्मोंकी निर्जरा होती है, शुभोपयोगसे अशुभका संवर होता है, परंतू **'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'** इस सूत्र के अनुसार अगर जीव अपना कार्य करे तो अपने साथ अन्यो को भी उबार सकता है, ऐसी स्वाभाविक परंतु उदात्त परमउपकारी शुभभावना मनमे धारण कर अपनी उम्र के **६१ वे वर्ष निमित्त** श्रीमान धर्मश्रद्धालू, समाजप्रेमी, दानवीर, बालब्रह्मचारी **श्री. हिरालालजी खुशालचंदजी दोशी (फलटण)** ने जयधवला का १६ वाँ भाग प्रकाशित करनेके लिए शास्त्रज्ञान रूपसे सबको उपलब्ध करा दिया। इसलिए वे साधुवाद के पात्र है।

श्री. ब्र. हिरालालजी का जन्म दिगंबर जैन मूलसंघ, सरस्वति गच्छ, बालात्कारगण, कुंदकुंदाचार्यान्वय, आम्नाय, विसाहुमड ज्ञाति, मंत्रेश्वर गोत्र मे वाखरी (फलटण) मे दिनांक २३-८-१९२८ को हुआ। श्रीमान सेठ रामचंद रेवाजी दोशी का घराना प्रसिद्ध है, उनके पिता श्री खुशालचंदजी तथा माता माणिकबाई अत्यंत धार्मिक और श्रावक की नित्य षट्क्रियाओमे तत्पर सावध थे।

देवपूजा, गुरुपास्ती, स्वाध्याय, संयम तपः।
दानांचेति गृहस्थानां षट्कर्मानि दिने दिने।।

उनके एक बंधु फुलचंद तथा दो बहने सौ सोनुबाई कांतिलाल गांधी (लासुर्णे) एवं सौ मथुराबाई रतनचंद दोशी (मांडवे) है। घरमे बचपनसे धार्मिक संस्कार दृढ हुए। बिना दर्शन के बच्चोको पानी भी नही दिया जाता था।

श्री हिरालालजी सातवी एवं अंग्रेजी तिसरी कक्षा तक पढे। जैन पाठशालामे धार्मिक शिक्षा भी ग्रहण की। इ.स. १९४४ (वीरसं. २४७०) मे वाखरी मे प.पू. १०८ नेमीसागरजी महाराजका शुभागमन हुआ। उनके उपदेशसे प्रभावित होकर श्री हिरालालजीने अष्टमुलगुण, सप्तव्यसन त्याग का नियम लिया। आगे १९५० मे, धर्मसागरजी की प्रेरणासे अजैन पानी के त्यागकी प्रतिज्ञा ली। आगे जब यात्रापर निकले तब श्री क्षेत्र सोनागिरीपर श्री १०८ मुनी श्रुतसागरजीने रात्रीभोजन त्याग तथा दस कंदमूल त्याग का नियम दिलाया। इसप्रकार क्रमसे वे चारित्र्यशुद्धीके मार्गपर बढते रहे उनके पुण्योदयसे उन्हे बारबार मुनिराज के उपदेश एवं सान्निध्य मिलता गया।

प.पू. श्री १०८ आचार्य शांतिसागरजी, श्री १०८ मुनि नेमिसागरजी, श्री १०८ मुनिधर्मसागरजी तथा अन्य त्यागियोंके सतसंगतिके कारण उनके मनपर संसार की असारताका दृढ परिणाम हुआ। विवाहही

सब दु:खोंकी जड है यह सोचकर उन्होंने विवाह न करनेका निश्चय किया। उनके सभी रिश्तेदार तथा मातापिताओंने इस निश्चयसे परावृत्त करनेका भरसक प्रयास किया; परंतु हिरालालजी दृढ रहे, किसीकी नही सुनी, अचल रहे, सन १९५२ मे फलटन मे श्री १०८ आ. शांतिसागर महाराजसे ५ वर्षके लिए ब्रह्मचर्य व्रत लिया। आगे १९५७ मे फलटनमे श्री १०८ मुनिराज विमलसागरजीसे मिती सावन शु. १० को आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत लिया, बादमे उन्ही संघके साथ श्री सम्मेदशिखरजीकी वंदना की, उस समय बिहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान इ. सभी तीर्थक्षेत्रोंकी वंदना की, यात्रा पुरा होनेको ५।। माह लगे।

इ.स. १९५८ मे अनासिंग (अकोला) मे श्री १०८ मुनी सिमंधर सागरजी और श्री १०८ मुनि सुबाहुसागरजीका चातुर्मास था तब आश्विन शु. १० को दुसरी व्रत प्रतिमा (१२ व्रत) धारण किये।आगे जब १९६५ मे अपने मातापिता और सौ. श्रीमती माणिकचंद गांधी के साथ श्री सम्मेद शिखरजी की तथा बिहार, मध्यप्रदेश के तीर्थोंकी २।। माहमे वंदनाकी। उसके बाद दि. १६/६/१९६६ को (मिती जेष्ठ वद्य १३) गुरुवारको माताजीका स्वर्गवास हुआ। तथा १९८४ मे दि. २४/६/१९८४ को पिताजीका स्वर्गवास हुआ। मिती जेष्ठ वद्य १० रविवार को स्वर्गवास हुआ।

शास्त्रमें कहा है कि—

देवपूजा दया दानं तीर्थयात्रा जपस्तपः।
शास्त्रं परोपकारत्वं मर्त्य जन्मफलाष्टकं।।

ऐसे सुंदर शब्दोमे मानव जन्ममे किये जानेवाले कर्तव्योंका स्पष्टवर्णन है। मानवजन्मकी सफलता उपरोक्त बताये गये फलाष्टकसे निसंशय होती है, अत: हरएकको देवपूजा, दयादान, जप, तप, तीर्थयात्रा, शास्त्रअध्ययन इ. बाते अवश्य करनी चाहिए। इन्ही बातोको आधारभूत मानकर उन्होने अपना जीवनक्रम चलाया।

उनकेद्वारा दी गयी दानराशियाँ:—

१) श्री आचार्य शांतिसागर अनाथाश्रम (शेडबाळ) को १००१ रु. पूज्य माताजीके **स्मरणार्थ**— बच्चोको मिठाई भोजन सालमे १ बार)
२) श्री १००८ सहस्त्रकोट मदीर (फलटन) मे माताजीके स्मरणार्थ ५००१ रुपये देकर सन १९६९ मे संगमरवर की फर्श बिछवायी।
३) श्री. आ. शांतिसागर दिगंबर जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक ग्रंथ समिती फलटनको **अष्टपाहुड** ग्रंथ प्रकाशनके लिए ५००१ रुपये (सन १९७० मे)
४) हस्तिनापूर जंबूद्वीपको १००१ रु. (१९७३ मे)
५) श्री दिगंबर जैन आहारजीक्षेत्रमे १ कमरा (१००१ रु.) (१९८० मे)
६) सन्मती नर्सिंगहोम (माढा) को १००१ रु. (१९८२ मे)
७) 'प्रदीप मुलाचार' ग्रंथ प्रकाशन मारोठ (राजस्थान) को १५३० रु. (१९८५ मे)
८) श्री दि. जैन मंदीर बांबोडे (सांगली) के मंदीर मंडप के लिए १००१ रु. (१९८५ मे)
९) श्री पार्श्वनाथ दिगंबर जैन मंदीर कुपवाड (सांगली) को १००१ रु. (१९८५ मे)
१०) धर्ममंगल पाक्षिकको (जळगांव) १२,००० रु. (१९८६ मे)
११) श्री महाधवल दि. जैन मुनि निवास हसूरको फर्श के लिए ११,१०१ रु. १९८६ मे)
१२) माढा अकालग्रस्त निधीको १५०० रु. (१९८६ मे)
१३) गोरक्षक जीवंदया मंडळ करमाळा १००१ रु. (१९८७ मे)
१४) श्री १००८ महावीर दिगंबर जैन अतिशय क्षेत्र तेर (उस्मानाबाद) को यात्रा अध्यक्षके रुपमे ६५०१ रु. कमरा बनाने के लिए (१९८७ मे)

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॐ नमः सिद्धेभ्यः

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः
कामदं मोक्षदं चैव, ओंकाराय नमोनमः ॥ १ ॥

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलमलकलङ्का ।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥२ ॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानांजनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ३ ॥

श्रीपरमगुरवे नमः, परम्पराचार्य गुरवे नमः, सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनःप्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री.............................. नामधेयं, अस्य मूलग्रंथकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवाः, तदुत्तरग्रंथकर्तारः श्रीगणधरदेवाः, प्रतिगणधरदेवाः, तेषां वचोऽनुसारमासाद्य श्री .. .. आचार्येण विरचितं, ग्रंथमिदं मंगलं भूयात् ।

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥४॥

सर्वमंगलमाङ्गल्यं, सर्वकल्याणकारकम ।
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥५॥

श्रोतारः सावधान तया श्रृण्वन्तु.

अथ पौर्वाण्हिक स्वाध्याय प्रतिष्ठापन क्रियाया पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावन्दनास्तवसमेत श्रीश्रुतभक्तिकार्योत्सर्गं करोम्यहम् । 'अर्हद्वक्त्रप्रसूत' इत्यादि लघुश्रुतभक्ति कहे ।

अथ पौर्वाण्हिकस्वाध्यायप्रतिष्ठापनक्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण ... . श्री-आचार्यभक्ति-कायोत्सर्गं करोम्यहम् । 'श्रुतजलधिपारगेभ्यः' इत्यादि लघु आचार्य भक्ति बोलकर स्वाध्याय को प्रारंभ करना ।

卐 卐 卐 卐 卐

(शास्त्रस्वाध्याय समाप्त होनेपर अन्त्य मंगल इस प्रकार कहे ।)

नमस्तस्यै सरस्वत्यै, विमलज्ञानमूर्तये ।
विचित्र लोकयात्रेयं, यत्प्रसादात्प्रवर्तते ॥१॥

नमो वृषभसेनादि-गौतमान्तगणेशिने ।
मूलोत्तरगुणाढ्याय, सर्वस्मै मुनये नमः ॥ २ ॥

गुरुभक्त्या वयं सार्द्धद्वीपद्वितयवर्तिनः ।
वन्दामहे त्रिसंख्योननवकोटिमुनीश्वरान् ॥ ३ ॥

अज्ञानतिमिरान्धानां, ज्ञानांजन-शलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ४ ॥

गुरवः पान्तु वो नित्यं, ज्ञान-दर्शननायकाः ।
चारित्रार्णवगंभीरा, मोक्षमार्गोपदेशकाः ॥ ५ ॥

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं, कर्म-भू-भृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये ॥६॥

अथ पौर्वाण्हिकस्वाध्यायनिष्ठापनक्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण श्रीश्रुतभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम् । 'अर्हद्वक्त्रप्रसूतं' इत्यादि भक्ति कहे ।

(इसके बाद परमात्माकी भावना कीजिए ।)

मैं हि सिद्धपरमातमा, मैं हि आतमराम ।
म हि ज्ञाता ज्ञेय को, चेतन मेरो नाम ॥१॥

मोही बान्धत कर्मको, निर्मोही छुट जाय ।
तातैं गाढ प्रयत्नसे, निर्ममता उपजाय ॥२॥

काहे को भटकत फिरे, सिद्ध होनेके काज ।
राग द्वेषको त्याग दे, भैय्या सुगम इलाज ॥३॥

राग द्वेषके त्याग बिन, परमातम पद नाही ।
कोटिकोटि जपतप करो, सबही अकारथ जाहि ॥४॥

लाख बातकी बात यह कोटि ग्रंथका सार ।
जो सुख चाहे भ्रात तो, आतम अनुभव धार ॥५॥

(इसके बाद खडे होकर शास्त्र भक्ति कहे ।)

(शिखरीणी छन्द :–)

अकेला ही हूं मैं करम सब आये सिमिटके ।
लिया हूं मैं तेरा शरण अब माता सटकिके ॥
भ्रमावत है मोको करम दुख देता जनमका ।
करो भक्ति तोरी हरो दुख माता भ्रमनका ॥१॥

दुखी हुआ भारी भ्रमत फिरता हूं जगतमें ।
सहा जाता नाही अकल चकराई भ्रमनमें ॥
करो क्या मा मेरी चलत वश नाही मिटनका ।
करो भक्ति तोरी हरो दुख माता भ्रमनका ॥२॥

सुनो माता मोरी अरज करता हूं दरदमें ।
दुखी जानो मोको डर पकड आयो शरनमें ॥
कृपा ऐसी कीजे दरद मिट जावे मरनका ।
करो भक्ती तोरी हरो दुख माता भ्रमनका ॥३॥

अथ शास्त्र-स्वाध्याय क्रम

१– स्वाध्याय के लिए उत्तम काल चार समय माना गया है। उसमें दिनमें दो बार और रातमें दो बार किया जाता है। गोसर्गिक, अपरान्हिक, प्रादोषिक, एवं वैरात्रिक इस प्रकार वे जाने जाते है।

(१) गोसर्गकाल:– सूर्योदय के बाद २ घटिका (४८ मिनिट के बाद) अर्थात् सुबह ६-४८ से ११-१२ बजेतक (यहां सुबह ६ बजे सुर्योदय का समय गृहित है।)

(२) अपरान्हकाल:– दोपहर १२-४८ मि. से ५-१२ मि. तक का समय अपरान्हिक समझना चाहिए।

(३) प्रदोषकाल:– सूर्यास्त के बाद अर्थात ६-४८ मि. से रात ११-१२ मि. तक प्रादोषिक काल समझना चाहिए। (यहां सूर्यास्त ६ बजे श्याम का गृहित है)।

(४) वैरात्रिकाल:– मध्यरात्रा के बाद अर्थात् १२-४८ मि. से ५-१२ मि (मुंह अंधेरे) तक का समय वैरात्रिक काल समझना चाहिए।

इन चारो समयोमे से किसी भी कालमे स्वाध्याय करना हो तो आद्य मंगलाचरण पूर्वक लघु श्रुतभक्ति और लघु आचार्यभक्ति कहकर शास्त्र स्वाध्याय के लिए प्रारंभ करना चाहिए। स्वाध्यायका निश्चित समय समाप्त होनेपर अतम अंत्यमंगलाचरणपूर्वक लघु श्रुतभक्ति कहकर स्वाध्याय समाप्त करना चाहिए।

शास्त्रस्वाध्यायके प्रारंभमें–

[शास्त्र हाथ मे लेकर सबको 'सावधान' कहते हुए सूचना देकर शास्त्र पढने के लिए रखे गये सिंहासनतक आकर खडे हो जाना चाहिए। सब मिलकर खडे होकर 'वीरहिमाचल' इत्यादि शास्त्रस्तुती कहे।]

वीरहिमाचलतैं निकसीं, गुरुगौतमके मुख कुण्ड ढरी है।
मोहमहाचल भेद चली, जगकी जडतातप दूर करि है॥
ज्ञानपयोनिधिमांहि रली, बहुभंगतरंगनिसों उछरी है।
ता शुचि शारद गगनदी प्रति, में अंजुलिकर शीश धरी है॥ १॥

या जगमन्दिरमें अनिवार, अज्ञान अन्धेर छयो अति भारी।
श्री जिनकी धुनि दीपशिखासम, जो नहीं होत प्रकाशन-हारी॥
ता किस भांति पदारथ पान्ति, कहां लहते रहते अविचारी।
या विधि सन्त कहें धनि है, धनि है जिनबैन बडे उपकारी॥ २॥

इसके बाद हाथ मे लिया शास्त्र सिंहासनपर रखकर वक्ता और श्रोता सब अपने अपने स्थानको विनयपूर्वक ग्रहण करें। और स्वाध्याय के प्रारंभ में मंगलाचरण (आदिमगल) कहे।

पिलावै जो मोको सुबुधिकर प्याला अमृतका ।
मिटावै जो मेरा सरब दुख सारा फिरनका ॥
परो पावां तेरे हरो दुख सारा फिरनका ।
करो भक्ती तोरी हरो दुखमाता भ्रमनका ॥४॥

(संवया छन्द :-)

मिथ्या मत नाशवेको ज्ञानके प्रकाशवेको ।
आपा-पर भासवेको भानुसी बखानी हैं ॥
छहो द्रव्य जानवेको बन्धविधी भानवेको ।
स्व-पर पिछानवेको परम प्रमानो है ॥५॥

अनुभौ बतायवेको जीवके जतायवेको ।
काहूं न सतायवेको भव्य उर आनी हैं ॥
जहां तहां तारवेको पारके उतारवेको ।
सुख विसतारवेको यही जिनवानी हैं ॥६॥

(दोहा) जा वानीके ज्ञानतैं सूझे लोकालोक ।
सो वानी मस्तक चढो सदा देत हूं धोक ॥७॥

देव भजो अरहंत नित गुरु सेवो निर्ग्रंथ ।
दयाधर्म पालो सदा यही मुक्तिका पंथ ॥८॥

धरम करत संसार सुख, धरम करत निर्वाण ।
धर्मपंथ साधन विना, नर तिर्यंच समान ॥९॥

है जिनवानी भारती तोहि जपों दिन रैन ।
जो तेरा शरना गहैं सो पावं सुख-चैन ॥१०॥

यह जिनवाणीकी थुती अल्पबुद्धिपरमान ।
पनालाल विनती करैं दे माता मोहि ज्ञान ॥११॥

॥ इति स्वाध्यायक्रमः ॥

प्रकाशक .- श्रीमान् ब्र. हिरालाल खुशालचद दोशी, फलटण इन्होने स्व. स्वाध्यायरत प. पू. १०८ श्री आदिसागर मुनि महाराज (शेडबाळ) इनके १४ वे पुण्यतिथी (श्री वीर निर्वाण सवत २५१७ चैत्र शुद्ध २, सोमवार ता १८-३-१९९१) निमित्त प्रसिद्ध किया है ।

१५) श्री विसाहुमड दि. जैन मंदिर करमाळा के विवानखाना और शिखरको रंग देने के लिए पिताजी स्व. खुशालचंद रामचंद दोशी फलटन के स्मरणार्थ ५००१ रु. दिया (१९८७ मे)
१६) श्री महावीर ज्ञानोपासना समिती (कारंजा) प्रवचनसार और नियमसार प्रकाशन के लिए ३०,००० रु. खर्च करके प्रकाशित किया (१९८८ मे)
१७) खमरिया (आसीघाट) मध्यप्रदेश यहा के नवीन जिनमंदीर को रु. १००१ देणगी दियी। (१९८९ मे)
१८) श्री कुंदकुंद-कहान दि. जैन तीर्थक्षेत्र ट्रस्ट मुंबई प्रवचनसार प्रकाशन के लिए ५००१ रु. (तारीख २७/१/१९८९)

श्री. प.पू. आदिसागरजी महाराज की प्रेरणासे 'श्री जिनवाणी प्रकाशन साहित्य' की ओरसे निम्नलिखित प्रकाशन करवाये।

१) प्रायश्चित - समुच्चय चुलिकासहित (मराठी)
२) श्री. प.पूज्य आ. शांतिसागरजी महाराजांची काही संस्मरणे (मराठी)
३) श्री. दि. जैन मुनिसंघ और सदोष आहारदान पर विचार (हिंदी)
४) वर्तमान मुनिसंघ और उत्कृष्ठ निकृष्ठ आहारपर विचार (हिंदी)
५) त्रैकालिक देववंदना अथवा सामायिक विधी (मराठी)
६) ८४ आसादना दोष चार्ट (मराठी)
७) अथ्शास्त्र — स्वाध्यायक्रम चार्ट (मराठी)
८) पाण्यामध्ये जीव चार्ट (मराठी)
९) भक्ष्याभक्ष्य-दर्पण-चार्ट (मराठी)
१०) व्यंतराच्या आराधनेपासून नुकसान (मराठी)
११) आईचा मुलीला उपदेश (मराठी)
१२) आत्मचिंतन चार्ट (मराठी)

इत्यादि ग्रंथ तथ चार्ट प्रकाशनमे उन्होने हजारो रु. खर्च किये है। तथा वे मुफ्त बाँटे है।

इ.स. १९५९ मे वारासिवनी मे श्री १०८ मुनिराज आदिसागरजी महाराज (शेडबाळ) का प्रथम दर्शन हुआ। बादमे वे सांगली, कोल्हापूर विहार हुआ। तब उनका चातुर्मास फलटनमे करवाया। बादमे बारामती, अकलूज, म्हसवड करमाळा आदि स्थानोपर भी चातुर्मास हुअे। उनके सतसंगतिका लाभ पाकर हिरालालजी धन्य हुअे और उनके उपदेशसे जिनवाणी की सेवामे उर्वरित आयु लगा दी।

उन्होने आजतक ७ बार शिखरजी, तथा ३ बार गिरनारजी, ४ बार श्रवणबेळगोळा और भारतके सभी तीर्थक्षेत्रोकी तथा अतिशयक्षेत्रोकी और सिद्धक्षेत्रोकी वंदनाएँ की। सभी जगह यथाशक्ती दान किया है। जहाँ जहाँ त्यागीगण होते है वहाँ जाकर श्री हिरालालजी हमेशा दर्शन उपदेश आहार लाभ लेते है; आहार देते है, तत्वचर्चा करते है, पूजा, रथयात्रा, प्रतिष्ठाउत्सव तथा विधिी विधानोमे वे हमेशा हिस्सा लेते है। इन्होने अनेक व्रत वैकल्य किए और आदर्श रखा। **'देहस्य सारं व्रत धारयंच'** इस उक्ती के अनुसार **निम्न व्रत वैकल्य किए:**— (१) रविवार व्रत (२) अष्टान्हिक व्रत (३) दशलक्षणिक व्रत (४) षोडशकारण व्रत (५) पंचमेरु व्रत (६) पुष्पांजली व्रत (७) रत्नत्रय व्रत (८) कवलचांद्रायण व्रत (९) भक्तामरके ४८ उपवास (१०) सहस्त्रनामके ११ उपवास (११) तत्त्वार्थक १० उपवास (१२) जिनगुणसंपत्ति व्रत (१३) नउफलके ९ उपवास (१४) कर्मदहन व्रत के १५६ उपवास (१५) अनंतव्रत इ. प्रकारके व्रत उन्होने किये है तथा कई प्रकारके वे हमेशा व्रत उपवास रखते है।

ब्र. हिरालाल खुशालचंद दोशी (फलटण)

संस्थापक- हिरालाल खुशालचंद जैन ग्रंथमाला

मांडवे (नातेपुते)

जन्म- इ. सन १९२८ वाखरी (फलटण)

★ कई संस्थाओंमे अपनी सेवाएँ उन्होंने अर्पण की है। ★

१. ट्रस्टी श्री. दि. जैन विसाहुमड पंच महाजन फलटण

२. चौकसी माणिकचंद लाभचंद बंबई, तथा दि. जैन पंचमहाजन पाठशाला फलटनके सदस्य है।

३. श्री. आ. शांतिसागर जिनवाणी जीर्णोद्धार प्रकाशन समिती के सदस्य

प्रसिद्धी पराड:मुख, अत्यंत सरल, निष्कपट, परीक्षाप्रधानी, शांतपरिणामी मृदु व्यक्तिमत्वके धनी **श्री. ब्र. हिरालालजी दोशी जिनागम के परमभक्त है।** जहाँ भी सम्यक्त्व की हानी होती है वहाँ वे निर्भयतासे उसका खंडन करते है। उनके विचारोमे निर्भयता और सत्यका आग्रह होता है। अत्यंत नमेतुले शब्दोमे ससंदर्भ वे विकृतियोँ का खंडन करते है। निरंतर स्वाध्याय पठन पाठनसे माँ सरस्वती उनके कंठमे वास करती है। परंतु इस संसारमे कुछ स्वार्थी तत्व भी होते है। अज्ञानी अंधभक्त भी होते है। स्पष्टवक्ता **श्री. ब्र.** हिरालालजीको इन्ही स्वार्थी तत्वोने एक बार खूब मार पीटकर बेहोश कर बोरीमे बाँधकर मरा समझकर जंगलमे फेक दिया था। परंतु पुण्योदय के प्रभावसे वे बादमे होशमे आये। जंगलके कुछ लोगोने ढूँढढूँढकर उन्हे छुडाया और उनकी शुश्रुषा की। घरपर रोनाधोना मातम छा गया था। वे तंदुरुस्त होकर घर लौटे फिरभी उनकी साधनामे कभी कोई कमी नही आयी। आजतक वे बराबर अपने नियमसे जीवन बीता रहे है। उम्रके ढलते दिनोके परिणामस्वरूप शरीर साथ नही देता परंतु यात्राएँ, मुनिराजदर्शन, स्वाध्याय इ. सभी क्रियाएँ नियमित रुपसे चलती है। दानशूरता उनका भूषण है। ऐसा जीवन धन्य है।

'भगवती आराधनाका' प्रकाशन करके मुनी और श्रावकोको स्वाध्यायके लिए उपलब्ध कराकर जिनवाणीकी अपूर्वसेवा की है। ऐसे दानवीरने अपना मनुज जन्म सफल किया है। ऐसे दानवीर धर्मबंधु ब्र. हिरालाल दोशी के लंबे उम्रकी एवं उत्तम स्वास्थ्यकी कामना करती हूँ।

भवदीया

प्रा.सौ. लीलावती कांतिलाल जैन (जळगांव)

प्रप्तिस्थान : १) जिवराज जैन ग्रंथमाला ७३४, फलटण गल्ली, सोलापूर

२) श्री हिरालाल खुशलचंद दोशी मु.पो मांडवे ४१३ १११ ता. माळशिरस जि. सोलापूर.

इस ग्रंथका प्रिंटिंग और बाईडिंग का काम
श्री श्रेणिक कुमार शहाने (मोडनिंबकर) परिश्रमसे,
योग्यदर और अल्पमुदत में करके दिया है।

विषय-सूची

विषय-सूची

विषय-सूची

विषय-सूची

विषय-सूची

विषय-सूची

■

भगवती आराधना

अपराजितसूरिकृता
विजयोदया टीका सहिता

दर्शनज्ञानचारित्रतपसामाराधनायाः स्वरूपं, विकल्पं, तदुपायं, साधकान्, सहायान्, फलं च प्रतिपादयितुमुद्यतस्यास्य शास्त्रस्यादौ मङ्गलं स्वस्य श्रोतृणां च प्रारब्धकार्यप्रत्यूहनिराकृतौ क्षमं शुभपरिणामं विदधता तदुपायभूतेयमरचि गाथा—

सिद्धे जयप्पसिद्धे चउव्विहाराहणाफलं पत्ते ।
वंदित्ता अरहंते वोच्छं आराहणं कमसो ॥ १ ॥

सिद्धे जयप्पसिद्धे इत्यादिका । **अत्रान्ये कथयन्ति**—"निवृत्तविषयरागस्य निराकृतसकलपरिग्रहस्य क्षीणायुषस्साधकस्याराधनाविधानावबोधनार्थमिदं शास्त्रं" तस्याविघ्नप्रसिद्ध्यर्थमिदं मङ्गलस्य कारिका गाथेति । असंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्तसंयताप्रमत्तसंयतादयोऽप्याराधका एव । तत्किमुच्यते निवृत्तविषयरागस्य निराकृतसकलपरिग्रहस्येति । न ह्यसंयतसम्यग्दृष्टेः संयतासंयतस्य वा निवृत्तविषयरागता, सकलग्रन्थपरित्यागो वास्ति । क्षीणायुष इति चानुपपन्नं । अक्षीणायुषोऽप्याराधकतां दर्शयिष्यति सूत्रं '**अणुलोमा वा सत्तू चारित्तविणासया हवे जस्स**' इति ।

शास्त्रान्तरे पञ्चानां गुरूणां नमस्क्रिया प्रारभ्यते । तत्र चार्हतामेवोपादानमावो । इह तु पुनर्द्वयोरेव

इस शास्त्रमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तपकी आराधनाका स्वरूप, भेद, उसके उपाय, साधक, सहायक और फलका कथन किया जायगा। अतः अपने और उसको सुनने वालोंके प्रारब्ध कार्यमें आने वाले विघ्नोंको दूर करनेमें समर्थ मङ्गलस्वरूप शुभ परिणामको करते हुए आचार्यने उसके उपायभूत 'सिद्धे जयप्पसिद्धे' इत्यादि गाथा रची है।

इसके सम्बन्धमें अन्य टीकाकार कहते है कि विषयोमें रागसे निवृत्त और समस्त परिग्रहके त्यागी जिस साधककी आयु समाप्त होनेवाली है, उसको आराधनाके विधानका सम्यक् बोध करानेके लिये यह शास्त्र रचा है तथा उसकी निर्विघ्न प्रसिद्धिके लिये यह मंगलकारक गाथा है।

(इसपर हमारा कहना है कि) असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत आदि भी आराधक ही है। तब यह क्यों कहते है कि विषयोंके रागसे निवृत्त, समस्त परिग्रहके त्यागी साधकके लिये यह ग्रन्थ रचा है। असंयत सम्यग्दृष्टि और संयतासंयत न तो विषयानुरागसे निवृत्त होते हैं और न समस्त परिग्रहके त्यागी ही होते है। तथा 'जिनकी आयु समाप्त होनेवाली है' यह कथन भी यथार्थ नहीं है क्योंकि आगे 'अणुलोमा वा सत्तू' इत्यादि गाथासूत्रके द्वारा ग्रन्थकार जिनकी आयु समाप्त होनेवाली अभी नहीं है उनकी भी आराधकता दिखलायेंगे।

शङ्का—अन्य शास्त्रोंके प्रारम्भमें पाँचो गुरुओंको नमस्कार किया गया है और उनमें

नमस्कारो विपर्ययश्च । तत्किं कृतं वैधर्म्यमिति ? अत्रोच्यते—अन्यथाप्रवृत्तावस्ति कारणं । इह द्विप्रकाराः सिद्धसाधकभेदेन जीवाः । अर्हतां सिद्धानां चाप्ताराधनाफलत्वात्, आचार्यादीनां त्रयाणां साधकानामनुग्रहार्थमेवं शास्त्रं प्रस्तूयत इति सिद्धानां मङ्गलत्वेनोपादानं युक्तं, नेतरेषामधिक्रियमाणत्वात्तेषामिति भाष्यपरिहारौ केषांचित् । तावसङ्गताविव लक्ष्येते । तत्र भाष्यस्य निवेद्यतेऽयुक्तता । किमर्थं नमस्कारः क्रियते शास्त्रादिषु ? अविघ्नप्रसिद्धये । कथं निहन्ति विघ्नमसौ ? स हि वक्तुः श्रोतुर्वा भवेत् ? उभयस्यापि निबन्धनमन्तरायः, 'विघ्नकरणमन्तरायस्य' [त. सू.] इति वचनात् । पञ्चप्रकारोऽसौ दानलाभभोगोपभोगवीर्याणां विघ्नकारणभेदेन, तत्र वक्तुर्दानान्तरायस्सम्पादयति प्रत्यूहं, त्रिविधस्य हि दानस्य प्रतिबाधको दानान्तरायः । ज्ञानलाभं विहन्ति श्रोतुर्लाभान्तरायस्तदायत्तो विघ्नः कथं तस्मिन्सति न भवेत् सत्यपि नमस्कारे, यथा बीजसलिलवसुन्धरादिनमं-रश्मिकरसंघाताधीनजन्मा व्रीह्याद्यङ्कुरः स्वहेतुसामग्र्या भवत्यन्यूनतया सन्निहितेऽपि सालतमालादौ तथेहापि । अथैवं ब्रूषे अन्तरायोऽशुभप्रकृतिः । स च शुभपरिणामोन्मूलितरसप्रकर्षः स्वकार्यं निष्पादयितुं नालमिति । यद्येवं शुभपरिणाममात्रस्यात्रोपयोगस्तथा सति सिद्धादिगुणानुरागः सर्व एवोपयोगी 'विघ्नतिर-

---

प्रारम्भमें अरहन्तोंको ही ग्रहण किया है। किन्तु यहाँ सिद्ध और अरहन्त दो का ही ग्रहण किया है और वह भी विपरीत क्रमसे किया है अर्थात् सिद्धोंका ग्रहण प्रथम और अरहन्तोंका पश्चात् किया है। इस प्रकारकी विपरीतताका क्या कारण है ?

इसका कोई इस प्रकार उत्तर देते हैं—अन्य प्रकारसे प्रवृत्ति करनेका कारण है। यहाँ सिद्ध और साधकके भेदसे जीवोंके दो प्रकार हैं। अरहन्त और सिद्ध तो आराधनाका फल प्राप्त कर चुके हैं अतः आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीन साधकोंके अनुग्रहके लिये यह शास्त्र रचा गया है, इसलिये सिद्धोंका मंगल रूपसे ग्रहण युक्त है, आचार्य आदिका नहीं, क्योंकि उन्हींके लिये यह ग्रन्थ रचा गया है। ऐसा कोई आचार्य भाष्य और उसका परिहार करते हैं। किन्तु वे दोनों ही असंगत जैसे प्रतीत होते हैं। उनमेंसे प्रथमको अयुक्तताके सम्बन्धमें निवेदन करते हैं—

शास्त्रादिमें नमस्कार क्यों किया जाता है ? निर्विघ्नताकी प्रसिद्धिके लिये। वह विघ्नोंको कैसे दूर करता है ? विघ्न वक्ता या श्रोताको होता है। दोनोंका भी कारण अन्तराय कर्म है। तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा है—'विघ्न करनेसे अन्तराय कर्मका आस्रव होता है।' दान, लाभ, उपभोग और वीर्यके विघ्न करनेमें कारण होनेके भेदसे अन्तरायके पाँच भेद हैं। उनमेंसे दानान्तराय वक्ताके दानमें विघ्न करता है क्योंकि दानान्तराय तीन प्रकारके दानमें बाधक होता है। लाभान्तराय श्रोताके ज्ञान लाभमें रुकावट डालता है, क्योंकि जब विघ्न अन्तराय कर्मके अधीन है तो उसके होते हुए विघ्न क्यों नहीं होगा, भले ही नमस्कार किया गया हो। जैसे धान्य आदिके अंकुरकी उत्पत्ति बीज, जल, पृथ्वी और सूर्यकी किरणोंके समूहके अधीन है। अतः अपनी कारण सामग्रीके परिपूर्ण होनेपर उसकी उत्पत्ति साल, तमाल आदिके रहते हुए भी अवश्य होती है। उसी तरह यहाँ भी जानना।

यदि आप कहें कि अन्तराय अशुभ कर्म है, शुभ परिणामके द्वारा उसकी अनुभाग शक्ति क्षीण कर दिये जानेपर वह अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं होता, तब तो यहाँ शुभपरिणाम मात्र उपयोगी हुआ। और ऐसा होनेपर विघ्नोंको दूर करनेकी इच्छा करने वालेको सिद्ध आदिके गुणोंमें अनुराग आदि सब उपयोगी हुए। तब विचारशील पुरुषके द्वारा अपनाया गया क्रम

श्वकीर्तनस्तत्र कस्मात् प्रेक्षापूर्वकारिणः क्रमाश्रयणमन्याय्यं ? उपेयात्मलाभहेतुत्वमात्रनिबन्धनमुपायानामुपायत्वं, तच्च यत्रास्ति तस्य तस्योपायता । तेन सर्व एवार्हदादिविषया गुणानुरागास्तत्पुरःसरवाक्कायक्रिया अनादृतक्रमा भवन्ति वाञ्छितफलप्रसाधना एकैकरूपा बहवोऽपि । इमामानुपूर्वीमन्तरेणैषा सिद्धिः साध्यस्यान्यथा न विद्यत इति यत्र तत्राश्रीयते उपायक्रमः । यथा घटं सिसाधयिषतो मृन्मर्दनपिण्डकरणचक्रारोपणादयः । युगपदनेकवचनप्रवृत्तिरसंभविन्येकस्य वक्तुरिति नान्तरीयकतया क्रमाश्रयणं तत्र च कामचारः । तथाहि, 'सिद्धं सिद्धट्ठाणं ठाणमणोवमसुहमुवगयाणमिति' (—सन्मति ।१) । शासनगुणानुस्मरणमेव केवलं । क्वचित्तीर्थकृत्स्वपि वीरस्वामिन एव प्रथमं नमस्क्रिया—

'एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं । पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥
सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे । समणे य णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे ॥ इति

—प्रव० सा० १।१-२ ।

क्वचिदेकप्रघट्टेन,
'इंदसदवंदियाणं तिहुअणहिदमधुरविसदवक्काणमिति ।' —पञ्चास्ति० १ ।
क्वचिज्जीवगुण एवानाश्रितार्हदादिस्वामिविशेषो निरूपितः "धम्मो मंगलमुक्किट्ठं" इति ।

अन्याय्य कैसे है ? उपेय अर्थात् कार्यके आत्म लाभमें हेतु होना मात्र उपाय अर्थात् कारणोंके उपायपनेका निबंधन है । अर्थात् कारणोंमें कारणपना इसीसे होता है कि उनसे कार्य उत्पन्न होना है । वह जहाँ-जहाँ है वहाँ-वहाँ कारणपना है । अतः अर्हन्त आदि विषयक सभी गुणानुराग और उस पूर्वक वचन और कायकी क्रिया, विना क्रमके भी इच्छित फलकी साधक होती है चाहे वह एक-एक रूप हो या बहुत हो । किन्तु जहाँ कार्यकी सिद्धि क्रमको अपनाये विना नहीं होती वहाँ उपायोंका क्रम अपनाना होता है । जैसे जो घड़ा बनाना चाहता है । वह पहले मिट्टीको मलता है, फिर उसका पिण्ड बनाता है, फिर उसे चाक पर रखता है आदि । इस क्रमके विना घड़ा नहीं बन सकता । इसलिए यहाँ क्रम आवश्यक है । किन्तु सर्वत्र क्रम आवश्यक नहीं है ।

तथा एक वक्ता एक साथ अनेक वचन व्यवहार नहीं कर सकता, इसलिए नमस्कार करनेमें क्रमका आश्रय लेना होता है । किन्तु उसमें यह अपेक्षित नहीं है कि पहले किसे नमस्कार करना । नमस्कार करनेवाला अपनी अपनी इच्छानुसार नमस्कार करता है । जैसे सन्मतिसूत्रके प्रारम्भमें 'सिद्धं सिद्धट्ठाणं' आदिसे केवल जिनशासनके गुणोंका ही स्मरण किया है । कहीं पर तीर्थंकरोंमे से भी वीर स्वामीको ही प्रथम नमस्कार किया है । जैसे प्रवचनसारके प्रारम्भमें कहा है—'यह मैं सुरेन्द्रों, असुरेन्द्रों और नरेन्द्रोंसे वन्दित तथा घाति कर्ममलको धो डालनेवाले और धर्मके कर्ता वर्धमान तीर्थंकरको नमस्कार करता हूँ । तथा विशुद्ध सत्तावाले शेष तीर्थंकरोंको, समस्त सिद्धोंके साथ ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचारसे युक्त श्रमणोंको नमस्कार करता हूँ ।'

कहीं एक साथ सब जिनोंको नमस्कार किया है । जैसे पंचास्तिकायके प्रारम्भमें कहा है—'सौ इन्द्रोंके द्वारा वन्दित और तीनों लोकोंका हित करनेवाले मिष्ट और स्पष्ट वचन बोलनेवाले, अनन्तगुणशाली भवजेता जिनोंको नमस्कार हो ।'

कहीं अर्हन्त आदि स्वामीविशेषका आश्रय न लेकर जीवके गुणका ही कथन किया है जैसे दशवैकालिकसूत्रके प्रारम्भमें 'धर्म उत्कृष्ट मंगल है' आदि कहा है ।

एवं सति वैचित्र्ये का विपर्ययाशङ्का ? यच्चोक्तं साधकानुग्रहाधिकारे सिद्धात्मनामेव मङ्गलत्वेना-धिकारो युक्त इति । इदं पर्यनुयोज्योऽयं श्रुतसाधकार्थमुत (?) यद्येवं सकलस्य श्रुतस्य सामायिकादेर्लोक-बिन्दुसारान्तस्यादौ मङ्गलं कुर्वद्भिर्गणधरैः 'णमो अरहंताणमित्यादिना कथं पञ्चानां नमस्कारः कृतः ? तेन सूत्रविरोधिनी व्याख्या अनेनापि च सूत्रेण विरुध्यते, 'वंदित्ता अरहंते' इति अर्हतामुपादानात् । तेऽपि सिद्धा इति चेत् पृथगुपादानानर्थक्य । अथैकदेशसिद्धास्त इति पृथगुपात्ताः आचार्यादयोऽपि किन्नोपात्तास्तेषामप्येक-देशसिद्धतास्ति । एकदेशसिद्धताया अर्हतामप्याराधकत्वे सत्युपादानं स्वव्याख्याविरोधमावहत्त इति ॥ 'सिद्धे' सिद्धान् "जगप्पसिद्धे" जगति प्रसिद्धान् 'चउव्विहाराहणाफलं' चतुर्विधाराधनाफलं 'पत्ते' प्राप्तान्, 'वंदित्ता' वन्दित्वा 'अरहंते' 'वोच्छं' वक्ष्यामि 'आराहणं' आराधनां 'कमसो' क्रमशः ॥'

सिद्धशब्दस्य चत्वारोऽर्थाः नामस्थापनाद्रव्यभावा इति । तत्र नामसिद्धः क्षायिक सम्यक्त्व, ज्ञानं, दर्शनं, वीर्यं, सूक्ष्मता, अतिशयवतीमवगाहना, सकलबाधारहितता चानपेक्ष्य सिद्धशब्दप्रवृत्तेर्निमित्त कस्मिंश्चित्प्रवृत्तः सिद्धशब्दः ।

ननु स्वरूपनिष्पत्ति सिद्धशब्दस्य प्रवृत्तेर्निमित्त न सम्यक्त्वादय इति चेत् सत्य, व्यावर्णितयत्किंचिन्न्यू-नात्मरूपनिष्पत्तिर्निमित्तत एष्यत एव । पूर्वभावप्रज्ञप्तिनयापेक्षया चरमशरीरानुप्रविष्टो य आत्मा सीरानु-

---

इस प्रकारकी विविधताके होते हुए विपरीतता की—अर्हन्तोंसे पहले सिद्धोंको क्यों नमस्कार किया—इस प्रकारकी आशङ्का कैसी ?

तथा यह जो कहा है कि साधकोंके अनुग्रहके लिए रचे गये इस ग्रन्थमें मंगल रूपसे सिद्धों-का ही अधिकार उचित है। इस विषयमें यह प्रश्न है कि ये साधक क्या श्रुत के हैं ? यदि ऐसा है तो सामायिकसे लेकर लोकबिन्दुसार पर्यन्त सकल श्रुतके आदिमें मंगल करनेवाले गणधर देवने 'णमो अरहंताणं' इत्यादि रूपसे पाँचोंको नमस्कार क्यों किया ? इसलिए आपकी व्याख्या सूत्र विरोधिनी है। तथा इसी गाथासूत्रसे भी विरुद्ध है; क्योंकि इसी गाथामें 'वंदित्ता अरहंते' कहकर अर्हन्तोंका भी ग्रहण किया है। यदि कहोगे कि वे भी सिद्ध हैं तो उनका पृथक् ग्रहण व्यर्थ है। यदि कहोगे कि वे एकदेश सिद्ध हैं इसलिए उनका पृथक् ग्रहण किया है तो आचार्य आदिका ग्रहण क्यों नहीं किया; क्योंकि वे भी एकदेश सिद्ध हैं। एकदेश सिद्ध होने पर अर्हन्तोंका भी आरा-धक रूपसे ग्रहण अपनी ही व्याख्याके विरुद्ध जाता है। अस्तु,

गा०—'जगत्में प्रसिद्ध और चार प्रकारकी आराधनाके फलको प्राप्त सिद्धों और अर्हन्तोंको नमस्कार करके क्रमसे आराधनाको कहूँगा ॥१॥'

टीका—सिद्ध शब्दके चार अर्थ हैं—नाम सिद्ध, स्थापना सिद्ध, द्रव्य सिद्ध और भावसिद्ध।

क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, वीर्य, सूक्ष्मता, अतिशयवती अवगाहना और सकलबाधारहितता अर्थात् अव्याबाधत्व, ये गुण सिद्ध शब्दकी प्रवृत्तिमें निमित्त हैं अर्थात् जिनमें ये गुण होते हैं उन्हे सिद्ध कहते हैं। इन गुणोंकी अपेक्षा न करके किसीमें प्रवृत्त सिद्ध शब्द नाम सिद्ध है।

शंका—सिद्ध शब्दकी प्रवृत्तिका निमित्त उसके स्वरूपकी निष्पत्ति है, सम्यक्त्व आदि गुण नही ?

समाधान—आपका कथन यथार्थ है, पूर्व शरीरके आकारसे किंचित् कम जो आत्म रूप कहा है सिद्ध का, उसकी निष्पत्तिके निमित्तको हम स्वीकार करते हैं। पूर्व भाव प्रज्ञापन नयकी

प्रविष्टोदकमिव संस्थानवत्तामुपगतः, शरीरापायेऽपि तमात्मानं चरमशरीरात् किंचिन्न्यूनात्मप्रदेशसमवस्थानं बुद्धावारोप्य तदेवेदमिति स्थापिता मूर्तिः स्थापनासिद्धः। सिद्धस्वरूपप्रकाशनपरिज्ञानपरिणतिसामर्थ्योपचरित आत्मा आगमद्रव्यसिद्धः। नोआगमद्रव्यसिद्धस्त्रेधा ज्ञायकशरीरभावितद्व्यतिरिक्तभेदात्। ज्ञायकशरीरसिद्धः सिद्धप्राभृतज्ञस्य शरीरं भूतं भवत् भावि वा। भविष्यत्सिद्धत्वपर्यायो जीवो भाविसिद्धः। तद्व्यतिरिक्तम-संभवि, कर्मनोकर्मणो सिद्धत्वस्य कारणत्वाभावात्। सिद्धप्राभृतगदितस्वरूपसिद्धज्ञानमागमभावसिद्धः। क्षायिकज्ञानदर्शनोपयुक्तः परिप्राप्ताव्याबाधस्वरूपस्त्रिविष्टपशिखरस्थो नोआगमभावसिद्धः। स इह गृह्यते।

ननु सामान्यशब्दस्यान्तरेण प्रकरणं विशेषणं वाऽभिमतार्थवृत्तिता दुरवगमा? अत एव विशेषणमुपात्तं चतुर्विधाराधनाफलं प्राप्तानिति। सम्यक्त्वं केवलज्ञानदर्शने सकलकर्मविनिर्मुक्ततेति चतुर्विधं, चतुर्विधाया आराधनायाः फलं साध्यं तत्प्राप्तिरात्मनः सम्यग्दर्शनादिरूपेण समवस्थानम्। ततोऽयमर्थः—'फलं पत्ते' इत्यस्य क्षायिकसम्यक्त्वकेवलज्ञानदर्शननिरवशेषकर्मविनिर्मुक्तारूपेणावस्थितानिति। जगति आसन्नभव्यजीवलोके समीचीनश्रुतज्ञानलोचने प्रसिद्धान् प्रतीतान् विदितान्। 'अरहंते' इत्यत्र च शब्दमन्तरेणापि समुच्चयार्थो गतिः। 'पृथिव्यप्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति' द्रव्याणीत्येवं यथा। निहतमोहनीयतयाऽऽत्तज्ञान-

अपेक्षा अन्तिम शरीरमें प्रविष्ट हुआ जो आत्मा दूधमें मिले पानीकी तरह आकारवत्ताको प्राप्त हुआ, शरीरके नष्ट हो जानेपर भी उस आत्माको अन्तिम शरीरसे किञ्चित् न्यून आकार वाला बुद्धिमें स्थापित करके 'यह वही है' इस प्रकारसे स्थापित मूर्तिको स्थापना सिद्ध कहते हैं।

सिद्धों के स्वरूपको प्रकाशित करनेवाले ज्ञानकी परिणतिकी सामर्थ्यसे युक्त आत्मा आगम-द्रव्यसिद्ध है। नोआगम-द्रव्यसिद्धके तीन भेद हैं—ज्ञायकशरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त। सिद्ध विषयक शास्त्रके ज्ञाताके भूत, भावि और वर्तमान शरीरको ज्ञायक शरीर सिद्ध कहते हैं। भविष्य-में सिद्ध पर्यायको प्राप्त करनेवाले जीवको भाविसिद्ध कहते हैं। इसमें तद्व्यतिरिक्त भेद सम्भव नहीं है क्योंकि कर्म और नोकर्म सिद्धत्वके कारण नहीं होते।

सिद्ध प्राभृतमें कहे गये सिद्ध स्वरूपके ज्ञानमें उपयुक्त आत्मा आगम भावसिद्ध है। क्षायिक ज्ञान और क्षायिक दर्शनमें उपयुक्त तथा अव्याबाध स्वरूपको प्राप्त और लोकके शिखर पर विराजमान सिद्ध परमेष्ठी नो आगमभावसिद्ध हैं। यहाँ उसीका ग्रहण किया है।

शङ्का—प्रकरण अथवा विशेषणके विना सामान्यसे अभिमत अर्थका बोध होना कठिन है अतः यहाँ सिद्धसे नो आगम भावसिद्धका ग्रहण कैसे संभव है?

समाधान—इसीलिये आचार्यने 'चतुर्विध आराधनाके फलको प्राप्त' यह विशेषण दिया है। सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और समस्त कर्मोंसे सर्वथा मुक्तता ये चार, चार प्रकारकी आराधनाके फल हैं। आत्माका सम्यग्दर्शन आदि रूपसे सम्यक् अवस्थान ही उनकी प्राप्ति है। अतः 'फलं पत्ते' का अर्थ है—जो क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और समस्त कर्मोंसे विनिर्मुक्तता रूपसे स्थित है उन सिद्धोंको। 'जगत्' अर्थात् निकट भव्य जीवरूपी लोकमें, जिनकी आँख समीचीन श्रुतज्ञान है, उनमें जो प्रसिद्ध हे जाने माने हैं।

अरहंते' यहाँ यद्यपि 'च' शब्द नहीं है फिर भी समुच्चयरूप अर्थका ज्ञान होता है। जैसे 'पृथिव्यप्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि' इस सूत्रमें 'च' शब्द नहीं होने पर भी पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये द्रव्य हैं इस प्रकारसे समुच्चयका ज्ञान होता है उसी प्रकार जानना।

दर्शनावरणात् अतिशयितपूजाभाज इत्ययमर्थोऽनेन 'अरहंते' इत्यनेनोक्तः । अनुगतार्थत्वादर्हन्निति संज्ञायाः यथा सर्वनामशब्दोऽङ्गीकृतशब्दार्थसंज्ञाभावमुपयाति । अथवा 'जगप्पसिद्धे' इति अर्हतां विशेषणं, यतः पञ्चमहाकल्याणस्थानेषु त्रिलोकप्रथयेनाधिगता महात्मानः, नैवमितरे सिद्धाः । सर्वस्यैव हि वस्तुनः कथंचित्प्रतीतत्वे सति अप्रतीतस्य कस्यचिदभावात् प्रसिद्धग्रहणमुपात्तप्रकर्षमिति गम्यते । यथाऽभिरूपाय कन्या देयेति । तेनायमर्थो जगति प्रसिद्धतमानिति । अर्हतामेव च प्रतीततरत्वमुक्तेन क्रमेण ।

अनधिगतप्रयोजनः श्रोता न यतते श्रवणेऽध्ययने वा । परोपकारसंपादनाय चेदं प्रस्तूयते मया ततः प्रयोजनं प्रकटयामीत्याह 'वोच्छं आराहणं' मिति । एतेनाराधनास्वरूपावगमनं प्रयोजनं शास्त्रश्रवणाद्भवतो भवतीत्यावेदितम् ।

नन्वाराधनास्वरूपावगमनं तु पुरुषार्थः । पुरुषार्थो हि प्रयोजनं, पुरुषार्थश्च सुखं दुःखनिवृत्तिर्वा, न चानयोरन्यतरताऽस्य । अयमस्याभिप्रायः, यो येनार्थेनार्थी स तत्प्राप्तये तदीयोपायमधिगंतुमुपादेयं वा यतते येन प्रयुक्तः क्रियायां प्रवर्तते तत्प्रयोजनं, ज्ञानेन प्रयुज्यते श्रवणादिक्रियायामुपयोगिवस्तुपरिज्ञानं प्रयोजनं भवतु; आराधना तु कथमुपयोगिनी ? सकलसुखरूपकेवलज्ञानपरमाव्याबाधतां जनयतीत्युपयोगिनी । तथा चोक्तं— 'चतुर्विधाराधनाफलं प्राप्तानिति' । ततोऽयमर्थः, अनन्त ज्ञानादिफलनिमित्ताराधनाऽवबोधनार्थमिदं शास्त्रमा-

---

मोहनीय कर्मके नष्ट हो जानेसे तथा ज्ञानावरण और दर्शनावरणके चले जानेसे जो अतिशय युक्त पूजाके भाजन हैं, यह अर्थ 'अरहंते' पदसे यहाँ कहा गया है; क्योंकि 'अर्हन्' यह नाम सार्थक है। जैसे सर्वनाम शब्द स्वीकार किये गये शब्दार्थोंके संज्ञापनेको अपनानेसे सार्थक हैं।

अथवा 'जगत् प्रसिद्ध' यह पद अर्हन्तोंका विशेषण है; क्योंकि ये महात्मा पाँच महाकल्याणक स्थानोंमें तीनों लोकोंके द्वारा जैसे प्रख्यात होते हैं वैसे अन्य सिद्ध नहीं होते। सभी वस्तु किसी न किसी रूपमें प्रतीत होती हैं, सर्वथा अप्रतीत कोई नहीं है। अतः यहाँ 'प्रसिद्ध' पदका ग्रहण प्रकर्षताका परिचायक है। जैसे 'रूपवानको कन्या देना'। यहाँ रूपवान् शब्द विशिष्ट रूपका बोधक है। अतः 'जगत में सबसे' अधिक प्रसिद्ध यह अर्थ यहाँ लेना। और उक्त प्रकारसे अर्हन्त ही सबसे अधिक या सिद्धोंसे अधिक प्रसिद्ध हैं।

प्रयोजनको जाने बिना श्रोता श्रवण या अध्ययनमें प्रयत्न नहीं करता। और मैं (ग्रंथकार) परोपकार करनेके लिये यह ग्रन्थ बनाता हूँ, अतः प्रयोजन प्रकट करता हूँ—'वोच्छं आराहणं' इससे यह प्रयोजन सूचित किया है कि शास्त्रश्रवणसे आराधनाके स्वरूपका ज्ञान होता है।

शंका—आराधनाके स्वरूपको जानना तो पुरुषार्थ नहीं है; क्योंकि पुरुषार्थ प्रयोजन है और पुरुषार्थ है सुख अथवा दुःखनिवृत्ति। आराधनाके स्वरूपको जानना न तो सुख है और न दुःख निवृत्ति है। हमारे इस कथनका अभिप्राय यह है कि जो जिस अर्थका इच्छुक होता है वह उसकी प्राप्तिके लिये उसके उपाय या उपादेयको जाननेका प्रयत्न करता है। जिसके द्वारा प्रेरित होकर, मनुष्य क्रियामें लगता है वह प्रयोजन है। ज्ञानके द्वारा श्रवण आदि क्रियामें लगता है अतः उपयोगी वस्तुका ज्ञान प्रयोजन हो सकता है परन्तु आराधना कैसे उपयोगी है ?

समाधान—समस्त सुख रूप केवलज्ञान और परम अव्याबाधताको उत्पन्न करनेसे आराधना उपयोगी है। कहा है 'चार प्रकारकी आराधनाके फलको प्राप्त।'

अतः अभिप्राय यह है कि अनन्त ज्ञानादि रूप फलकी प्राप्तिमें निमित्त आराधनाके स्वरूप-

रभ्यत इति साध्यमाराधनास्वरूपज्ञानं साधनमिदं शास्त्रमिति साध्यसाधनरूपसंबन्धोऽपि शास्त्रप्रयोजनयोरत एव वाक्याल्लभ्यते। अभिधेयभूतास्तु चतस्र आराधनाः। ग्राह्यमिदं शास्त्रं प्रयोजनादित्रयसमन्वितत्वात् व्याकरणादिवदिति। एवमनया मङ्गलं प्रयोजनादित्रयं च सूचितं 'कमसो' क्रमेण पूर्वशास्त्रनिरूपितेन। एतेन स्वमनीषिकार्चितत्वनिरासो भवति। आप्तवचनानुसारितया प्रमाणमिदमित्याख्यातं भवति। 'पुव्वसुत्ताणं' इति वाक्यशेषादिदं लभ्यते ॥१॥

का आराधना कस्य वा? न ह्याराध्यापरिज्ञानेनात्मभूताराधना शक्या प्रतिपत्तुं इत्यारेकायामाह—

उज्जोवणमुज्जवणं णिव्वहणं साहणं च णिच्छरणं।
दंसणणाणचरित्ततवाणमाराहणा भणिया ॥ २ ॥

उज्जोवणमुज्जवणमित्यादिकं। 'उज्जोवणं' उद्योतनं शङ्कादिनिरसनं सम्यक्त्वाराधना श्रुतनिरूपिते वस्तुनि किमित्थं भवेन्न भवेदिति समुपजातायाः शङ्कायाः संशयप्रतिसंज्ञितायाः अपाकृतिः। कथं? हेतुबलेन आप्तवचनेन वा समुपजाताया इत्थमेवेदमिति निश्चित्य। यद्धि यस्य विरोधि यत्रोपजातं तत्र नेतरदास्पदं बध्नाति, यथा शीतस्पर्शेनाक्रान्ते शिशिरकरे उष्णता। विरोधि च निश्चयज्ञानं। संशीतेर्विरोधना च नियोगतस्तद्भावे तयेतरस्य तदा अभवनात्। वक्ष्यामः कांक्षादीनां स्वरूपं तन्निरासक्रमं च प्रस्तावे। अनिश्चयो

का ज्ञान करानेके लिये इस शास्त्रको प्रारम्भ करते हैं। आराधनाके स्वरूपका ज्ञान साध्य है और उसका साधन यह शास्त्र है। इस प्रकार शास्त्र और प्रयोजनमें साध्य साधनरूप सम्बन्ध है यह भी इसी वाक्यसे ज्ञात होता है। इस शास्त्रका अभिधेयभूत अर्थात् जो इसके द्वारा कहा गया है वह है चार आराधना। अतः प्रयोजन, सम्बन्ध और अभिधेयसे युक्त होनेसे यह शास्त्र उसी तरह उपादेय है जैसे व्याकरणशास्त्र उपादेय है।

इस प्रकार इस गाथासे मंगल प्रयोजन, सम्बन्ध और अभिधेयको सूचित किया है।

'कमसो' का अर्थ है क्रमसे अर्थात् पूर्व शास्त्रोंमें जैसा कहा है वैसा ही कहूँगा। इससे यह सूचित किया है कि यह ग्रन्थकारकी अपनी बुद्धिकी उपज नहीं है किन्तु आप्त पुरुषोंके वचनोंके अनुसार होनेसे प्रमाण है। 'कमसो' के साथ 'पुव्व सुत्ताणं' पूर्व शास्त्रोंके इस वाक्यांशका अध्याहार करनेसे उक्त अर्थ निकलता है ॥१॥

आराध्यको जाने बिना उसकी आत्मभूत आराधनाको जानना शक्य नहीं है। अतः आराधना किसे कहते हैं और वह किसके होती है इस शंकाके समाधानके लिये आचार्य कहते हैं—

गाथा—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्त्वके उद्योतन, उद्यवन, निर्वहन, साधन और (णिच्छरणं) निस्तरणको (आराहणा) आराधना कहा है ॥२॥

टीका—'उज्जोवण' का अर्थ है उद्योतन अर्थात् शंका आदि दोषोंको दूर करना। यह सम्यक्त्व आराधना है। शास्त्रमें कही गई वस्तुके विषयमें 'क्या ऐसा है अथवा नहीं है' इसप्रकार से उत्पन्न हुई शंकाको, जिसका दूसरा नाम संशय है, दूर करना सम्यक्त्वाराधना है। युक्तिके बलसे अथवा आप्त वचनके द्वारा यह इसी प्रकार है ऐसा निश्चय करके उत्पन्न हुई शंकाको दूर करना सम्यक्त्वका उद्योतन है। जिसका विरोधी जहाँ होता है वहाँ वह ठहर नहीं सकता। जैसे शीत स्पर्शसे व्याप्त चन्द्रमामें उष्णता नहीं ठहरती। निश्चयात्मक ज्ञान संशयका विरोधी है अतः इन दोनोंमें नियमसे विरोध है; क्योंकि एकके रहते हुए वहाँ उस समय दूसरा नहीं रहता।

वैपरीत्यं वा ज्ञानस्य मलं, निश्चयेनानिश्चयव्युदासः । यथार्थतया वैपरीत्यस्य निरासो ज्ञानस्योद्योतनं । भावना-विरहो मलं चारित्रस्य, तासु भावनासु वृत्तिरुद्योतनं चारित्रस्य । तपसोऽसंयमपरिणामः कलङ्कस्तस्य स्थितस्य स्यापाकृतिः संयमभावनया तपस उद्योतनम् । उत्कृष्टं यवनं उद्यवनं ।

ननु मिश्रणं युप्रकृतेरर्थः, मिश्रणं च संयोगता । तथा हि गुडमिश्रा धाना इति कथिते गुडेन संयुक्ता इति प्रतीयते । संयोगश्च विभिन्नयोरर्थयोरप्राप्तयोः प्राप्तिर्न च दर्शनादयोऽर्थान्तरभूता आत्मनस्तद्रूपविकल-रूपाभावात् । तत्कथं दर्शनादिभिरात्मनो मिश्रणमिति ? उच्यते-विशेषवाच्योऽपि सामान्येऽवस्थिततया वर्तते, यथा काकेभ्यो रक्ष्यतां सर्पिरित्युपघातकसामान्यमेवार्थः काकशब्दस्य प्रतीतस्तद्वत्संबन्धसामान्यमत्र यवन-शब्दाभिधेयं । असकृद्दर्शनादिपरिणतिरुद्यवनं ।

निराकुलं वहनं धारणं निर्वहणं, परिषहाद्युपनिपातेऽप्याकुलतामन्तरेण दर्शनादिपरिणतौ वृत्तिः । उप-योगान्तरेणान्तर्हितानां दर्शनादिपरिणामानां निष्पादनं साधनम् । भवान्तरप्रापणं दर्शनादीनां निस्तरणम् । एवमाराधनाशब्दस्यानेकार्थवृत्तितायां यथावसरं तत्र तत्र व्याख्या कार्या ।

आगे हम कांक्षा आदिका स्वरूप और उनके निरासका क्रम कहेंगे। अनिश्चय अथवा विपरीतता ज्ञानका मल वा दोष है। निश्चयके द्वारा अनिश्चयका परिहार होता है। और यथा-र्थतासे विपरीतताका निरास होता है। यह ज्ञानका उद्योतन है अर्थात् ज्ञानका निश्चयात्मक और विपरीततारहित होना ही ज्ञानका उद्योतन है।

भावनाका न करना चारित्रका मल है। अतः उन भावनाओंमें लगना चारित्रका उद्यो-तन है। असंयमरूप परिणाम तपका कलंक है। संयमकी भावनाके द्वारा उसको दूर करना तप-का उद्योतन है।

उत्कृष्ट यवनको उद्यवन कहते हैं।

शंका—'यु' धातुका अर्थ मिश्रण है। संयोगपनेको मिश्रण कहते हैं। जैसे 'गुड़से मिश्रित धान' कहने पर गुड़से संयुक्त धानकी प्रतीति होती है। दो विभिन्न पदार्थ जो एक दूसरेसे अलग हैं उनके मिलनेको संयोग कहते हैं। किन्तु दर्शन आदि तो आत्मासे भिन्न पदार्थ नहीं हैं क्योंकि दर्शन आदिसे रहित आत्माका अभाव है। तब दर्शन आदिके साथ आत्माका मिश्रण कैसे संभव है ?

समाधान—जिस शब्दका जो विशेष अर्थ होता है वह भी उपलक्षणसे सामान्य रूप लिया जाता है। जैसे 'कौओंसे घी को बचाओ' यहाँ काक शब्दका अर्थ उपघातक सामान्य ही है अर्थात् जो घी को हानि पहुँचा सकते हैं उन सबसे घी को बचाओ। इसी तरह यहाँ 'यवन' शब्दका अर्थ सम्बन्धमात्र है, कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। अतः बार बार आत्माका दर्शन आदि रूप परि-णत होना उद्यवन है। निराकुलतापूर्वक 'वहन' अर्थात् धारण करनेको 'निर्वहण' कहते हैं। परी-षह आदि आने पर भी आकुलताके बिना सम्यग्दर्शन आदि रूप परिणतिमें संलग्न होना निर्वहण है। अन्य कार्योंमें उपयोग लगनेसे तिरोहित हुए सम्यग्दर्शन आदि रूप परिणामोंको पुनः उत्पन्न करना साधन है। और सम्यग्दर्शन आदिको दूसरे भवमें भी साथ ले जाना निस्तरण है।

इस प्रकार आराधना शब्दके अनेक अर्थ होने पर अवसरके अनुसार व्याख्या करना चाहिये।

अत्रान्ये व्याचक्षते—निस्तरणशब्दः सामर्थ्यवाची स प्रत्येकं सम्बध्यते उद्योतनादिभिरुद्योतनादीनां-दर्शनादिभिश्चतुर्भिरपि यथासंख्येन संबन्धः । उद्योतनं मरणकाले प्रागवस्थाया उत्कर्षेण निर्मलीकरणं अविघ्नेन दर्शनाराधनेत्यादिना क्रमेण । त एवं पर्यनुयोज्याः किमत्र ज्ञानादीनां निर्मलीकरणमिष्टमनिष्टं वा । इष्टं चेद्दर्शनेनैव किमिति सम्बध्यते निर्मलीकरणं ? उत्कर्षेण यवनमपि सर्वेषामिष्यते । अनाकुलं वहनमपि साधारणं किमुच्यते व्रतगुप्तिसमितीनां निश्चयेनानाकुलं वहनमिति ? न च निस्तरणशब्दात्सामर्थ्यं प्रतीयते । उद्योतन सामर्थ्यमित्यादिषु न च कश्चिदर्थः, अविघ्नेनेति कथमयमर्थो लभ्यते उज्जोवणादिशब्दैरनुपात्तो । मरणकालश्च कः ? मनुष्यभवपर्यायविनाशसमयो मरणकालसमयेन यद्युच्यते, न तत्र भावनोत्कर्षः, मारणान्तिकसमुद्घाते परिणाममान्द्यात् । अथ भावनाकालो मरणकालशब्देनोच्यते सोऽनुपात्तोऽप्रकृतश्च कथमिह लभ्यते । भावना-कालगतव्यापारकथनायेदं शास्त्रं प्रस्तुतमिति लभ्यत इति चेत्, न तथाऽसूचितत्वात् । 'दंसणणाणचरित्ततवाण-मुज्जोवणमाराहणा भणिया' 'दंसणणाणचरित्ततवाणुज्जवणमाराधणा' इति, इति प्रत्येकमभिसंबन्धोऽत्र कार्यः । अन्यथा असमासेन निर्देशं कुर्यात् ॥२॥

यहाँ अन्य व्याख्याकार कहते हैं—निस्तरण शब्द सामर्थ्यवाचक है । अतः उद्योतन आदि-मेंसे प्रत्येकके साथ उसका सम्बन्ध होता है । और उद्योतन आदिका दर्शन आदि चारोंके साथ क्रमसे सम्बन्ध होता है । जैसे मरणकालमें पूर्वकी अवस्थाका उत्कृष्ट रूपसे निर्मल करना सम्यग्दर्शनका उद्योतन है अर्थात् निर्विघ्नतापूर्वक सम्यग्दर्शनकी आराधना उद्योतन है, इस प्रकार-क्रमसे करना चाहिये ।

उनसे पूछना चाहिए कि क्या यहाँ ज्ञानादिका निर्मल करना इष्ट है या अनिष्ट ? यदि इष्ट है तो निर्मल करनेका सम्बन्ध अकेले दर्शनके साथ ही क्यों जोड़ा जाता है ? उत्कृष्ट रूपसे यवन भी सभी दर्शन आदिका इष्ट है । निराकुलतापूर्वक धारण करना भी सामान्य है । तब आप व्रत, गुप्ति और समितिके निश्चयपूर्वक निराकुल धारणाकी बात क्यों कहते है ? तथा निस्तरण शब्दसे सामर्थ्यकी प्रतीति भी नहीं होती । उसे उद्योतन आदिके साथ जोड़ने पर उद्योतन सामर्थ्य, उद्यवन सामर्थ्य इत्यादिसे कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता । तथा उद्योतन आदिसे तो निर्विघ्नता अर्थ नहीं निकलता । तब यह अर्थ आप कैसे लेते हैं ? तथा मरणकालसे आपका क्या अभिप्राय है ? यदि मरणकाल समयसे मनुष्य पर्यायके विनाशका समय लेते हैं तो उस समय तो भावनाकी उत्कृष्टता सम्भव नहीं हैं क्योंकि मारणान्तिक समुद्घातमें परिणामोंमें मन्दता होती है । यदि यहाँ मरणकाल शब्दसे भावना काल लेते हो तो उसका तो यहाँ ग्रहण नही है । तब जिसका प्रकरण नहीं है उसे कैसे लिया जा सकता है ?

शंका—भावना कालमें होनेवाले व्यापारका कथन करनेके लिए यह शास्त्र रचा जाता है ?

समाधान—नहीं, ऐसा ग्रन्थकारने नहीं कहा है । ग्रन्थकारने तो दंसणणाणचरित्ततवाणं उज्जोवणं आराहणा भणिया'—दर्शन ज्ञान चारित्र और तपके उद्योतनको आराधना कहा है । 'उज्जवणं आराहणा भणिया'—दर्शन ज्ञान चारित्र और तपके उद्यवनको आराधना कहा है अतः प्रत्येकके साथ सम्बन्ध यहाँ करना चाहिए । यदि ग्रन्थकारको ऐसा इष्ट न होता तो वे 'दंसण' इत्यादिका निर्देश समासपूर्वक न करते ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन आदिके उद्योतनको चार प्रकार की आराधना कहा है । सम्यग्दर्शन आदिके निर्मल करनेको उद्योतन कहते हैं । उत्कृष्ट यवन अर्थात् मिश्रणको—बार बार दर्शनादि-

किं चतुर्विधैवाराधनेत्याशङ्कायामाह—

दुविहा पुण जिणवयणे भणिया आराहणा समासेण ।
सम्मत्तम्मि य पढमा बिदिया य हवे चरित्तंमि ॥ ३ ॥

'दुविहा पुण जिणवयणे समासेण दुविधा आराहणा भणिया' इति पदसंबन्धः । आवरणमोहजयाज्जिनाः । ज्ञानदर्शनावरणजयात्सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनः । मोहजयाद्वीतरागद्वेषाः । सर्वज्ञानां सर्वदर्शिनां वीतरागद्वेषाणां वचनं जिनवचनं । एतेन असत्यवचनकारणाभावात् प्रामाण्यमाख्यातमागमस्य । वक्तुरज्ञानाद्रागद्वेषाभ्यां वा प्रवृत्तं वचः अयथार्थावबोधनादप्रामाण्यमास्कन्दति । तत्र च 'समासेण' संक्षेपेण 'दुविधा' द्विप्रकारा 'भणिदा' कथिता 'आराहणा' आराधना । का प्रथमा आराधना का द्वितीयेत्यत आह—'सम्मत्तम्मि य पढमा' श्रद्धानविषया प्रथमाराधना । 'बिदिया य' द्वितीया च 'हवे' भवेत् 'चरित्तं मि' चारित्रविषया आराधना । दर्शनचारित्राराधनयोः प्रथमद्वितीयव्यपदेशः उत्पत्त्यपेक्षया गुणस्थानापेक्षया चेति । केचिच्च दर्शनपरिणामोत्पत्त्युत्तरकाले हि चारित्रपरिणाम उत्पद्यत इति प्राथम्यं दर्शनाराधनायाः । असंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानं पूर्वं

रूप परिणमन करनेको उद्यवन कहते हैं। परीषह आदि आने पर भी निराकुलतापूर्वक वहन अर्थात् धारण करनेको निर्वहन कहते हैं। अन्य तरफ उपयोग लगनेमें दर्शन आदिसे मनके हटने पर पुनः उनमें उपयोग लगाना साधन है। अर्थात् नित्य या नैमित्तिक कार्य करते समय सम्यग्दर्शन आदिमें व्यवधान आ जाये तो पुनः उपायपूर्वक उसे करना साधन है। दूसरे भवमें भी सम्यग्दर्शनादिको साथ ले जाना अथवा उस भव में मरणपर्यन्त धारण करना निस्तरण है। तत्त्वार्थ श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। स्व और परके निर्णयको सम्यग्ज्ञान कहते हैं। पापका बन्ध करानेवाली क्रियाओंके त्यागको चारित्र कहते हैं और इन्द्रिय तथा मनके नियमनको तप कहते हैं ॥२॥

क्या आराधना चार ही प्रकारकी होती है ऐसी आशङ्कामें आचार्य कहते हैं—

गा०—जिनागममें संक्षेपसे आराधना दो प्रकारकी कही है। श्रद्धान विषयक प्रथम आराधना है। और दूसरी चारित्रविषयक आराधना है ॥ ३ ॥

टी०—जिनवचनमें संक्षेपसे दो प्रकारकी आराधना कही है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहको जीतनेसे जिन होते हैं तथा ज्ञानावरण और दर्शनावरणको जीतनेसे सर्वज्ञ सर्वदर्शी होते हैं। मोहको जीतनेसे वीतरागी और वीतद्वेषी होते हैं। सर्वज्ञ सर्वदर्शी और वीतराग तथा वीतद्वेषी महापुरुषोंका वचन जिनवचन कहलाता है। इससे असत्य बोलनेके कारणोंका अभाव होनेसे आगमके प्रामाण्यको स्थापित किया है। वक्ताके अज्ञानसे अथवा रागद्वेषसे कहा गया वचन अयथार्थका बोध करानेसे अप्रमाण होता है।

उस जिनवचनमें 'समासेण' अर्थात् संक्षेपसे 'आराहणा' अर्थात् आराधना, 'दुविधा' अर्थात् दो भेदरूप, 'भणिदा' अर्थात् कही है। पहली आराधना कौन है और दूसरी कौन है? इसके उत्तर में कहते हैं—'सम्मत्तम्मि य पढमा' अर्थात् श्रद्धानविषयक प्रथम आराधना है और 'बिदिया हवे चरित्तम्मि' चारित्र विषयक दूसरी आराधना है।

उत्पत्तिकी अपेक्षा और गुणस्थानकी अपेक्षा दर्शनाराधनाको प्रथम तथा चारित्राराधनाको द्वितीय कहा है ऐसा कोई कहते हैं। उनका कहना है कि सम्यग्दर्शनरूप परिणामकी उत्पत्ति

प्रमत्तसंयतादिकं तु परमिति । श्रद्धानविरतिपरिणामयोर्युगपदप्यस्ति प्रादुर्भावः, श्रद्धानवतो वा असंयतस्य पश्चाद्विरतिरुपजायते। तत्किमुच्यते 'उत्पत्त्यपेक्षयेति'। असंयतसम्यग्दृष्टीनां कुतः क्रमो येन तदपेक्षया प्रथमद्वितीय-व्यपदेशवृत्तिः स्यात् । उत्पत्त्यपेक्षया तत्रोक्त एव नियमः । आगमे वचनपौर्वापर्यापेक्षया 'असंयतसम्यग्दृष्टि-संयतासंयतप्रमत्तसंयता' इति वचनात् । तदेव वचनं किमर्थं क्रममाश्रित्य प्रवृत्तमुत नान्तरीयकतया ? न तावदस्ति परिणामानां नियोगभावी क्रमः । यदि स्यान्न यौगपद्यं कदाचित्स्यात् । दृश्यते च सम्यग्दृष्टि-संयतासंयतता इति चैकदा । अथ नानेकं वचनमेकः प्रयोक्तुं क्षमत इति वक्तुरिच्छानुविधायी क्रमः सूत्रविवक्षाकृतं प्राथम्यं द्वितीयता चेति वाच्यं न गुणस्थानापेक्षयेति । किं चोपजातदर्शनादिपरिणामस्यात्मनस्तद्गतातिशय-वृत्तिराराधना साऽत्र प्रस्तुता । तत्र च प्राथम्यं द्वितीयता वा, तत्किमुच्यते उत्पत्त्यपेक्षया गुणस्थानापेक्षया चेति ।

अस्य सूत्रस्योपोद्घातमेवमपरे वर्णयन्ति—अस्मिन् शास्त्रे किमयमेव निश्चयश्चतुर्विधैवाराधनेति, उतान्योऽपि विकल्पः संभवतीति ? अस्तीत्याहेति तदयुक्तम् 'दंसणणाणचरित्ततवाणमाराहणा भणिया' इत्यतीत-

---

होनेके उत्तरकालमें चारित्ररूप परिणाम उत्पन्न होता है इसलिये दर्शनाराधना प्रथम है । असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान पहले होता है प्रमत्तसंयत आदि बादमें होते हैं ।

किन्तु श्रद्धानरूप और विरतिरूप परिणाम एक साथ भी प्रकट होते हैं। अथवा सम्यग्दर्शन-से सम्पन्न असंयतके पीछेसे भी चारित्र उत्पन्न होता है, तब उत्पत्तिकी अपेक्षा प्रथम और द्वितीय हैं ऐसा कैसे कहते हैं ? असंयत सम्यग्दृष्टियोंका क्रम कैसे संभव है जिससे उसकी अपेक्षा प्रथम और द्वितीय व्यवहार हो सके । उत्पत्तिकी अपेक्षासे उनके सम्बन्धमें नियम कहा ही है ।

पूर्वपक्ष—आगममें वचनके पौर्वापर्यकी अपेक्षासे दर्शनाराधनाको प्रथम और चारित्रा-राधनाको द्वितीय कहा है, क्योंकि आगममें 'असंयतसम्यग्दृष्टी, संयतासयत, प्रमत्तसंयत' ऐसा वचन क्रम है ।

उत्तर—वही वचन किसलिये क्रमका आश्रय लेकर प्रवृत्त हुआ है ? क्या यह क्रम परस्परमें अविनाभावी होनेसे रखा गया है ? परिणामोंके क्रमसे ही होनेका तो कोई नियम नहीं है । यदि होता तो एक साथ श्रद्धान और चारित्र भी नहीं होते । किन्तु सम्यग्दृष्टि और संयतासयत एक कालमें होते देखे जाते है ।

पूर्वपक्ष—एक व्यक्ति एक साथ अनेक वचनोंका प्रयोग नही कर सकता इसलिये क्रम वक्ता-की इच्छाका अनुसरण करता है ।

उत्तर—तब प्रथम और द्वितीयपनेको सूत्रकी विवक्षाकृत कहना चाहिये अर्थात् सूत्रमें जिसकी प्रथम विवक्षा है वह प्रथम है और जिसकी विवक्षा बादमे है वह द्वितीय है । गुणस्थानकी अपेक्षा नहीं कहना चाहिये ।

दूसरे, जिस आत्मामें दर्शनादि परिणाम उत्पन्न हो गये हैं उनका दर्शन आदिके विषयमें विशेष अतिशय उत्पन्न करनेका नाम आराधना है। वही आराधना यहाँ प्रस्तुत है । उसके विषय-में उत्पत्तिकी अपेक्षा या गुणस्थानकी अपेक्षा प्रथमपना और द्वितीयपना कैसे आप कहते हैं ?

अन्य कुछ व्याख्याकार इस गाथासूत्रका उपोद्घात इस प्रकार कहते हैं—इस शास्त्रमे क्या यही निश्चय है कि आराधना चार ही प्रकार की है अथवा कोई दूसरा भी विकल्प संभव है ? यदि कहते हो 'है' तो ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि गाथामे दर्शन ज्ञान चारित्र और तप आरा-

कालाभिधानक्रियातः प्रतीयते नास्य शास्त्रस्य व्यापार इति । यद्यस्य व्यापारः शास्त्रस्य वक्तुमिष्टः स्यात् 'भण्णदि' इति ब्रूयात् । 'जिणवयणे भणिया दुविहा आराहणा' इति वचनात् । संक्षेपनिरूपणापि 'तत्रैवेति'[1] नेह संक्षेपवाच्यम् । वस्तु बहुप्रपञ्चस्तं दुरवगमं मन्दबुद्धीनामिति । तदनुग्रहाय स्वल्पस्योपन्यासः । स संक्षेपस्त्रि-प्रकारः—वचनसंक्षेपोऽर्थसंक्षेपस्तदुभयसंक्षेपश्चेति । वचनबहुत्वस्यार्थनिश्चयो न जायते जडानामिति वचनं संक्षिप्यते । अर्थस्तु सप्रपञ्च एव । अनुयोगद्वारादीनां बहूनामुपन्यासमकृत्वा दिङ्मात्रोपन्यासः प्रस्तुतस्यार्थ-संक्षेपः । वचनानि तु बहूनि । तस्योभयसंक्षेपः पाश्चात्यः । द्विविधाराधनेति वचनसंक्षेपो नार्थसंक्षेपः । ज्ञानस्याराधना तपसश्च विद्यमानापि न वचनेनोच्यते । 'परमुखेनैवावबोधयितुं[2] शक्यत इति ।

दंसणमाराहंतेण णाणमाराहियं हवे णियमा ।
णाणं आराहंतेण दंसणं होइ भयणिज्जं ॥ ४ ॥

'दंसणमाराहंतेण' दर्शनाराधनायां कथितायां ज्ञानाराधनापि शक्यते प्रतिपत्तुम्, अन्याभयनबोधनायां

धना 'भणिता' 'कही है' इस प्रकार अतीत काल सम्बन्धी क्रियाका प्रयोग किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि इस शास्त्रका उसमें व्यापार नहीं है। यदि उनको कथन करनेमें इस शास्त्रका व्यापार इष्ट होता तो 'भण्णदि' ऐसा लिखते। किन्तु वे कहते हैं 'जिणवयणे भणिया दुविहा आराधणा।' जिनवचनमें दो प्रकारकी आराधना कही है। उसीमें संक्षेप भी कथन किया है इसलिये यहाँ संक्षेप भी नहीं कहना चाहिये।

इसका समाधान यह है कि बहुत विस्तारसे कथन मन्दबुद्धियोंके लिये दुरवगम होता है। वे उसे समझनेमें असमर्थ होते हैं। उनके कल्याणके लिये संक्षेप कथन किया जाता है। उस संक्षेपके तीन प्रकार हैं—वचन संक्षेप, अर्थ संक्षेप और उभय संक्षेप। वचनका विस्तार होने पर जड़बुद्धि अर्थका निश्चय नहीं कर सकते। इसलिये वचनका संक्षेप किया जाता है। अर्थका तो विस्तार रहता ही है। बहुतसे अनुयोगद्वार आदिका उपन्यास न करके केवल दिशामात्रका बतलाना प्रस्तुत विषयका अर्थ संक्षेप है। वचन तो बहुत है। उन दोनोंका अर्थात् वचन और अर्थका संक्षेप उभय संक्षेप है। 'दुविहा आराधणा' यह वचन संक्षेप है, अर्थ संक्षेप नहीं है। ज्ञानकी आराधना और तपकी आराधनाके विद्यमान होते हुए भी उन्हे वचनसे नहीं कहा। उन्हे परमुखसे ही अर्थात् दर्शन और चारित्राराधनाके द्वारा ही जाना जा सकता है।

भावार्थ—पहले विस्तारमें रुचि रखने वाले शिष्योंको दृष्टिमें रखकर चार प्रकारकी आराधना कही। पीछे संक्षेप रुचि शिष्योंकी अपेक्षा उसे दो प्रकारका कहा, क्योंकि दर्शनका ज्ञानके साथ तथा चारित्रका तपके साथ अविनाभाव होनेसे दर्शनाराधनामें ज्ञानाराधनाका और चारित्राराधनामें तप आराधनाका अन्तर्भाव होता है। तथा सम्यग्दर्शन आराधनाके होने पर ही ज्ञानाराधनापूर्वक चारित्राराधना होती है ॥ ३ ॥

गा०—दर्शनकी आराधना करने वालेके द्वारा नियमसे ज्ञानकी आराधना होती है। किन्तु ज्ञानकी आराधना करने वालेके द्वारा दर्शनकी आराधना भजनीय है, होती भी है, नहीं भी होती ॥ ४ ॥

टी०—'दंसणमाराहंतेण' अर्थात् दर्शन आराधनाका कथन करने पर ज्ञान आराधनाको भी

---

१. तत्रैव—मु० । २. परमुखे—आ० ।

सरावाद्यन्यतमभाजनमात्रप्रतिपत्तिवत् । ननु भाजनमन्तरेणाग्नेरानयनं न संभवतीति भाजनमनिर्दिष्टेऽपि भाजन-मात्रे प्रतिपत्तिरिह कथम् ? इहाप्यविनाभावादित्याचष्टे, 'दंसणमाराहंतेण' ।

अत्रापरे संबन्धमारचयन्ति गाथायाः । यदि द्विविधा आराधना 'चतुर्विधाराधनाफलं प्राप्ताः सिद्धाः' इति प्रतिज्ञा हीयते द्वयोरसंग्रहात् इति चेत् नास्मिन्नपि विकल्पे तयोरपि संग्रहार्थम् । कथं 'दंसणमाराहंतेण' इति प्रतिज्ञा हीयते इति । अत्र प्रतिज्ञा शब्देन किमुच्यते ? साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञेति तावन्न गृहीतम् । चतुर्वि-धाराधनाफलप्राप्तत्वस्येह साध्यता नास्ति । सिद्धमेव हि चतुर्विधाराधनाफलप्राप्तत्वमनूद्यत इति । अथाभ्युपगतिः प्रतिज्ञा सा किन्नोपपद्यते ? सन्ति चतस्र आराधनास्तासां च फलं ते प्राप्तवन्तस्ततः सत्यभ्युपगन्तव्ये कथमभ्यु-पगमानुपपत्तिः ? चतुर्विधेत्युक्तवन्तः द्विविधेति कथं न विरुद्धमिति पूर्वापरव्याहतिरिति चोद्यते । तथा यच्चोद्य-मेव चोद्यते समासेन द्विविधेति वचनात्, प्रपञ्चनिरूपणायां चतुर्विधा तत्को विरोधः ? तेन विरोधपरिहाराय आगतेयं गाथा ।

'दंसणं' श्रद्धानं रुचि., 'आराधंतेण' आराधयता, 'णाणं' सम्यग्ज्ञानं, 'आराधिदं' आराधितं 'हवे' भवेत् 'णियमा' निश्चयेन । यस्य हि यद्विषया श्रद्धा तस्य कथंचिदप्यज्ञाने न सा भवति । न हि निर्विषया रुचि

जानना शक्य है । जैसे आग लानेकी प्रेरणा करने पर उसको लानेके लिए सकोरा आदि किसी एक पात्र मात्रका बोध हो जाता है ।

शङ्का—बिना किसी आधारके आगका लाना संभव नहीं है इसलिये पात्रमात्रका कथन न करने पर उसका बोध हो जाता है । किन्तु यहाँ यह कैसे संभव है ?

समाधान—यहाँ भी अविनाभाव होनेसे 'दंसणमाराहंतेण' इत्यादि कहा है ।

यहाँ अन्य व्याख्याकार गाथाके सम्बन्धका आरम्भ इस प्रकार करते हैं—यदि आराधनाके भेद दो हैं तो 'चार प्रकारकी आराधनाके फलको प्राप्त सिद्ध हैं' यह प्रतिज्ञा पूर्ण नहीं होती; क्योंकि इसमें शेष दोका संग्रह नहीं किया है । किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ यह बत-लाते हैं कि उन दोमें भी शेष दोका संग्रह होता है । उसीके लिये 'दंसणमाराहंतेण' आदि कहा है ।

तथा आप कहते हैं कि प्रतिज्ञाकी हानि होती है । यहाँ प्रतिज्ञा शब्दसे आप क्या कहते हैं ? साध्यके निर्देशको प्रतिज्ञा कहते हैं । उसका तो यहाँ ग्रहण नहीं किया है; क्योंकि 'चार प्रकारकी आराधनाके फलको प्राप्त' यह यहाँ साध्य नहीं है । चार प्रकारकी आराधनाके फलको प्राप्त होना तो सिद्ध है, साध्य नहीं है । उसीका यहाँ अनुवाद मात्र किया है । यदि प्रतिज्ञाका अर्थ स्वीकृति है तो वह यहाँ क्यों नहीं उत्पन्न होती ? चार आराधनाएँ हैं और उनका फल सिद्धोंने प्राप्त किया है ऐसा स्वीकार करने पर स्वीकृतिकी अनुपपत्ति कैसे हुई ।

शंका—पहले कहा आराधनाके चार भेद हैं अब कहते हैं दो भेद हैं । तो यह पूर्वापर विरुद्ध कैसे नहीं है ?

समाधान—आप व्यर्थ ही तर्कमें कुतर्क लगाते है । ग्रन्थकार कहते हैं कि संक्षेपसे आरा-धनाके दो भेद हैं और विस्तारसे कहने पर चार भेद हैं इसमें विरोध कैसा ? अतः विरोध दूर करनेके लिये ही यह गाथा आनी है । अस्तु

'दंसण' अर्थात् श्रद्धान या रुचिको 'आराधंतेण' आराधना करनेसे 'णाण' अर्थात् सम्यग्ज्ञान 'आराधिद' आराधित, 'हवे' होता है । 'णियमा' निश्चयसे । जिसकी जिस विषयमें श्रद्धा होती है उसका उस विषयमें अज्ञान होने पर किसी भी तरह वह श्रद्धा नहीं होती । रुचि विषयके बिना

प्रवर्तते । बुद्धिपरिगृहीतवस्तुविषया श्रद्धेत्यविनाभावः श्रद्धाया ज्ञानेन ।

अथवान्या व्याख्या—आत्मनो विषयाकारपरिणामवृत्तिर्ज्ञानं तदावरणक्षयोपशमजनितं, भूम्यावरणापगमे तोयजन्मवत् । तद्गतविशुद्धिः प्रसन्नता अभिरुचिः श्रद्धा । श्रुतिनिरूपितार्थविषया सत्यभावना दर्शनं । तद्दर्शनमोहोपशमक्षयोपशमनिमित्तं तोया[1]श्रयपंकाभावे जलप्रसादवत् । तस्मिन्नाराध्यमाने ज्ञानसिद्धिरवश्यंभाविनी निराश्रयधर्मस्य केवलस्य सिद्ध्य[2]भावादिति ।

तच्चेदं परीक्ष्यते, विषयाकारपरिणतिरात्मनो यदि[3] स्याद्रूपरसगन्धस्पर्शादात्मकता स्यात्तथा च—

'अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं'—[समय० ४९]

इत्यनेन विरोधः । विरुद्धश्च नीलपीतादिपरिणामो नैकत्र युज्यते । एकदा आकारद्वयसंवेदनप्रसंगश्च—बाह्यस्यैकं नीलादिविज्ञानगतमपरम् । विज्ञानगतविशुद्धिः प्रसन्नता अभिरुचिः श्रद्धेति वाऽसमीचीनं गदितम् चैतन्यस्य धर्मः श्रद्धानं नतु ज्ञानं, ज्ञानधर्मत्वे क्षायोपशमिकज्ञानविनाशे कथमवस्थितिर्दर्शनस्य । न हि धर्मिणि विनष्टे धर्मस्यावस्थितिः । चैतन्यमविनाशि तदाश्रयं तदिति चेत् ज्ञानस्य धर्मता नश्यति । किं च यो यस्य धर्मः स तस्य स्वरूपम् । न चान्यस्य धर्मिणो रूपं धर्म्यन्तरस्य प्रभवति । न हि बलाकायाः शुक्लता कुन्दकुसुमस्य कदाचन । एवं मतेः प्रसन्नता श्रुतादेर्न स्यात्, श्रुतादेर्वा प्रसन्नता मतेरिष्यते । एवं ज्ञानभेदे

नहीं होती । बुद्धिके द्वारा ग्रहण की गई वस्तुमें श्रद्धा होती है अतः श्रद्धाका ज्ञानके साथ अविनाभाव है ।

इस गाथाको लेकर एक अन्य व्याख्या इस प्रकार है—आत्माके विषयाकार परिणमनको ज्ञान कहते हैं । वह ज्ञान ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है । जैसे भूमिरूप आवरणको हटा देने पर पृथ्वीसे पानीका जन्म होता है । उस ज्ञानमें जो निर्मलता होती है उसे प्रसन्नता या स्वच्छता कहते हैं । और उसमें अभिरुचिको श्रद्धा कहते हैं । शास्त्रमें निरूपित अर्थके विषयमें सत्य-भावना श्रद्धा है । वही दर्शन है । वह दर्शनमोहके उपशम या क्षयोपशमसे होता है । जैसे पानीमें मिश्रित कीचड़के अभावमें जल निर्मल होता है । उस दर्शनकी आराधना करने पर ज्ञानकी सिद्धि अवश्य होती है क्योंकि जिस धर्मका कोई आश्रय नहीं है उसकी सिद्धि एकाकी नहीं होती ।

अब इस व्याख्याकी परीक्षा करते हैं—

यदि आत्मा विषयाकार रूप परिणमन करता है तो विषयकी तरह आत्मा रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादिमय हो जायेगा । और ऐसा होने पर जो आत्माको अरस, अरूप, अगन्ध, अव्यक्त, अशब्द और चेतना गुणवाला कहा है उसके साथ विरोध आता है । तथा नील पीत आदि रूप परिणाम परस्परमें विरुद्ध होनेसे एक जगह नहीं रह सकते । तथा एक ही कालमें दो आकारोंको जाननेका प्रसंग आता है एक बाह्य नीलादि और दूसरा ज्ञानगत आकार । तथा ज्ञानमें जो विशुद्धि या प्रसन्नता है उसे अभिरुचि या श्रद्धा कहना भी समीचीन नहीं है । श्रद्धान चैतन्यका धर्म है, ज्ञानका नहीं । यदि उसे ज्ञानका धर्म माना जायगा तो क्षायोपशमिक ज्ञानके नष्ट होने पर दर्शन कैसे रह सकेगा । धर्मीके नष्ट होने पर धर्म नहीं रहता । यदि कहोगे कि चैतन्य अविनाशी है अतः दर्शनका वही आश्रय है तो वह ज्ञानका धर्म नहीं हो सकता । तथा जो जिसका धर्म होता है वह उसका स्वरूप होता है एक धर्मीका स्वरूप दूसरे धर्मीका नहीं हो सकता । बगुलोंकी पंक्तिका धर्म शुक्लता कभी भी कुन्दके फूलोंका धर्म नहीं हो सकती । इसी तरह मतिज्ञानकी निर्मलता

---

१. तोयाश्रय—आ० । २. सिद्ध्यभा—अ० आ० । ३. यदि न स्या—अ० आ० ।

[illegible] अपि प्रसक्तेर्नैव इति आविर्भावो वा यातो न [illegible] अन्यतो वा ।

न हि दर्शनमोहोदयं विना दर्शनस्याभावो युज्यते । अपि तत्पूर्वकमोहनीयकल्पना अफलतया भवेत् । अथ याथात्म्यविषया श्रद्धा आत्मनि प्रतिबन्धकसद्भावान्नोदेति, तदभावे तदुत्पत्तिः, यदि प्रतिबन्धकमपि किंचिन्न स्यात् । आत्मनि परिणामिनि सति किमिति सदा न भवेत् ? अपरिणामित्वे आत्मनि कदाचिदपि न भवेत् । तद् अनुभवसिद्धमेतत् सहकारिकारणाभावात् आत्मा श्रद्धानरूपेण न परिणमते । न तु किंचित्प्रतिबंधकमस्तीति चेत्; किं तत्सहकारि यस्याभावादनुत्पत्ति श्रद्धायाः ? अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि हेतुफलभावः सर्व एव, तदन्तरेण हेतुता प्रतिज्ञामात्र एव कल्पिता वस्तुविचारमनुपयोगिनीति प्रतिबंधकसद्भावानुमानमागमेऽभिमतं, [1]तदेवं सति न घटते । किंचित् श्रुतप्ररूपितार्थविषया सत्यभावनेति वा संबद्धम् । अवध्यादिनिरूपितार्थविषया सत्यभावना किं न दर्शनं ? अवध्यादिज्ञानमपि वस्तुयाथात्म्यसंस्पर्शि । अथ च तत्श्रुतं समीचीनज्ञानोपयोगोपलक्षणमिति मन्यसे अस्तु कल्पितप्रसंगेन—

"सम्मत्तणाणदंसणवीरियसुहुमं तहेव अवगहणं ।
अगुरुलहुमव्वाबाहं अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं ॥" [ ]

इत्यनेन च व्याख्या विरुध्यते । गुणान्तरत्वेन उपन्यासानुपपत्तेः । क्षायिकक्षायोपशमिकयोर्भेदोऽस्ति

श्रुतादि ज्ञानोंकी नहीं हो सकेगी और न श्रुतादि ज्ञानकी निर्मलता मतिज्ञानकी । इस प्रकार ज्ञान भेद होने पर उन ज्ञानोंमें होने वाली निर्मलतामें भी भेद होता है । यह क्षायोपशमिक ज्ञानोंकी बात है । क्षायिककी क्या बात है । क्षायिकी निर्मलता न तो नवीन उत्पन्न होती है न नष्ट होती है ।

दर्शन मोहके उदयके बिना दर्शनका अभाव नहीं होता । यदि हो तो दर्शन मोहनीय कर्मकी मान्यता नहीं बनती ।

यदि कहोगे कि प्रतिबन्धकका सद्भाव रहनेसे आत्मामें यथार्थ विषयक श्रद्धा नहीं होती, यदि कोई प्रतिबन्धक नहीं होता तो उसके अभावमें श्रद्धा प्रकट होती है । यदि आत्मा परिणामी है तो सदा श्रद्धा क्यों नहीं रहती । यदि आत्मा अपरिणामी है तो कभी भी श्रद्धा प्रकट नहीं होगी । इसलिये यह अनुभव सिद्ध है कि सहकारी कारणोंके न रहनेसे आत्मा श्रद्धान रूपसे परिणमन नहीं करता, उसका प्रतिबन्धक कोई नहीं है ।

तब प्रश्न होता है कि वह सहकारी कौन है जिसके अभावके कारण श्रद्धाकी उत्पत्ति नहीं होती । सर्वत्र कार्यकारणभाव अन्वय और व्यतिरेकके द्वारा ही जाना जाता है । अन्वय व्यतिरेक के बिना केवल कहने मात्रसे ही यदि किसीमें कार्यकारणभाव हो तो वस्तु विचारमें उसका कोई उपयोग संभव नहीं है उसमें वह अनुपयोगी है । इसीसे आगममें प्रतिबंधकके सद्भावके अनुमानको मान्य किया गया है । अर्थात् प्रतिबन्धकके होनेसे श्रद्धा प्रकट नहीं होती और उसके अभावमें प्रकट होती है । ऐसा होने पर आपका उक्त कथन घटित नहीं होता ।

तथा शास्त्रमें निरूपित अर्थको विषय करने वाली सत्यभावना दर्शन है यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि तब प्रश्न होता है कि अवधि आदि ज्ञानोंके द्वारा निरूपित अर्थको विषय करने वाली सत्यभावना दर्शन क्यों नहीं है ? क्योंकि अवधि आदि ज्ञान भी यथार्थ वस्तुको विषय करते हैं । यदि कहोगे कि समीचीन ज्ञानोपयोग लक्षण वाला श्रुत ज्ञान है इसलिये उसका ग्रहण किया है तो आगममें जो सिद्धोंके आठ गुण-सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहन, अगुरुलघु

---

१. तावदर्थे–आ० मु० ।

वा न वा ? यदि नास्ति भावपंचकनिरूपणाकारिणा आगमेन विरोधः । अथ अस्ति भेदः परिणामः परिणामान्तरस्य स्वरूपं न भवति । परिणामक अस्य परिणामिस्वरूपता न्याय्या । यौ भिन्नप्रतिबंधकापायजन्यौ, न तावन्योऽन्यस्य धर्मधर्मिणौ यथा अवधिकेवले भिन्नप्रतिबंधकापायजन्ये, तथा न ज्ञानदर्शने ।

ज्ञानाराधना चारित्राराधनेति द्वैविध्यं कस्मान्नोपन्यस्तं इत्यत्र चोद्ये प्रतिविधानामाह—**'णाणमाराधंतेण दंसणं होइ भयणिज्जं ।'** ज्ञानशब्दः सामान्यवाची संशये, विपर्यासे, समीचीने च वृत्तः । संशयज्ञानं, विपर्ययज्ञानं सम्यग्ज्ञानमिति प्रयोगदर्शनात् । तेन ज्ञाने परिणत आत्मा नियोगतस्तत्त्वश्रद्धाने विपरिणमत एवेति न नियोगोऽस्ति, मिथ्याज्ञानपरिणतस्य तत्त्वश्रद्धाया अभावात् । ततो ज्ञानस्य दर्शनाविनाभावित्वस्याभावात् न ज्ञानाराधनोक्त्या दर्शनाराधनावगन्तु शक्येति न तथा संक्षेपाभिधानमागमे प्रक्रान्तमिति भावार्थः । 'णाणं' ज्ञानं । 'आराधंतेण' आराधयता । 'दंसणं' दर्शनं । 'होदि' भवति । 'भयणिज्जं' भजनीयं विकल्प्यम् । अत्र दंसणशब्देन दर्शनविषयमाराधनमुच्यते । ततोऽयमर्थः दर्शनाराधना भाज्येति भजनीयतया अविनाभावित्वाभाव सूचित । सम्यग्ज्ञाने आराधिते भवत्याराधिता, मिथ्याज्ञानाराधनायां नेति भजनीयता । अथवा ज्ञानाराधना चारित्राराधनेति च शक्यते संक्षेप्तुम् ।

और अव्याबाध कहे हैं उसके साथ उक्त व्याख्याका विरोध आता है। क्योंकि एक गुणका अन्य गुणरूपसे उपन्यास नहीं किया जा सकता।

तथा क्षायिक और क्षायोपशमिकमें भेद है या नहीं ? यदि नहीं है तो पाँच भावोंका निरूपण करनेवाले आगमसे विरोध आता है। यदि भेद है तो एक परिणाम दूसरे परिणामका स्वरूप नहीं होता, इसलिए परिणामोंके समूहको परिणामीका स्वरूप मानना न्याय है।

तब जो भिन्न प्रतिबन्धकोंके अभावमें उत्पन्न होते हैं वे परस्परमें एक दूसरेके धर्म-धर्मी नहीं हो सकते। जैसे अवधिज्ञान और केवलज्ञान, अवधिज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण रूप भिन्न प्रतिबन्धकोंके अभावमें उत्पन्न होनेसे परस्परमें धर्म-धर्मी नहीं है उसी तरह ज्ञान और दर्शन भी परस्परमें धर्म-धर्मी नहीं हैं।

शंका—ज्ञानाराधना और चारित्राराधना इस प्रकारसे दो आराधना क्यों नहीं कही ?

समाधान—इसका उत्तर देते हैं—'णाणमाराधंतेण दंसणं होइ भयणिज्जं।' यहाँ ज्ञान शब्द सामान्यवाची है क्योंकि संशय, विपर्यय और समीचीनमें रहता है। संशयज्ञान, विपरीतज्ञान, सम्यग्ज्ञान ऐसा प्रयोग देखा जाता है। इसलिए ज्ञानरूप परिणमन करनेवाला आत्मा नियमसे तत्त्व श्रद्धान रूपसे परिणमन करता ही है ऐसा नियम नहीं है; क्योंकि जो आत्मा मिथ्याज्ञान रूपसे परिणमन करता है उसके तत्त्व श्रद्धाका अभाव होता है, इसलिए ज्ञान दर्शनका अविनाभावी नहीं है। अतः ज्ञानाराधनाके कहनेसे दर्शनाराधनाका ग्रहण शक्य नहीं है। इसलिए आगममें उस प्रकारसे संक्षेप कथन नहीं किया है। अतः ज्ञानकी आराधनासे दर्शनकी आराधना भजनीय है। यहाँ दर्शन शब्दसे दर्शन विषयक आराधनाको कहा है। अतः यह अर्थ हुआ कि दर्शन आराधना भजनीय है। इससे ज्ञानाराधनाके साथ दर्शनाराधनाके अविनाभावके अभावको सूचित किया है। अर्थात् सम्यग्ज्ञानकी आराधना करने पर तो दर्शनकी आराधना होती है, किन्तु मिथ्याज्ञानकी आराधना करने पर दर्शनकी आराधना नहीं होती है। अथवा ज्ञानाराधना और चारित्राराधना इस प्रकारसे भी संक्षेप किया जा सकता है।

भावार्थ—दर्शन श्रद्धानको कहते हैं। श्रद्धान अज्ञात वस्तुमें नहीं होता। अतः श्रद्धाका

ननु च ज्ञानमन्तरेणापि दर्शनं वर्तते, यतो मिथ्यादृष्टिरपि ज्ञानस्याराधको भवति । अतोऽविनाभावा भाव इत्यत आह—

सुद्धणया पुण णाणं मिच्छादिट्ठिस्स वेंति अण्णाणं ।
तम्हा मिच्छादिट्ठी णाणस्साराहओ णेव ॥ ५ ॥

शुद्धनयाः पुन' । अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमधर्मपरिच्छेदस्तदविनाभाविधर्मबलप्रसूतो नयः । तथा चोक्तम् इति । ''उपपत्तिबलादर्थपरिच्छेदो नयः' इति । शुद्धो नयो येषां ते शुद्धनयाः । निरपेक्षनयनिरासाय शुद्धविशेषणम् । नित्यमेव सर्वथा क्षणिकमेवेति ये परिच्छेदास्ते विपर्यासरूपास्तथाविधस्य प्रतिपक्षधर्मानपेक्षस्य वस्तुनि रूपस्याभावात् । सापेक्षं रूपं निराकाङ्क्षतारूपेण दर्शयतः प्रत्ययस्य अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं भ्रान्तमिति भ्रान्तता । तद्दोषरहितता शुद्धता । तथा हि—कृतकत्वेन अनित्यतामेव वस्तुन. प्रत्येति ज्ञानं न तस्स-

---

ज्ञानके साथ अविनाभाव है। अत. गाथा सूत्रमें ठीक ही कहा है कि तत्त्व श्रद्धानकी आराधना करने पर सम्यग्ज्ञानकी आराधना अवश्य होती है। इस पर प्रश्न होता है कि ज्ञानाराधना और चारित्राराधना ऐसे दो भेद क्यों नहीं रखे ? इसके उत्तरमें कहा है कि सम्यग्ज्ञानकी आराधना करने पर सम्यग्दर्शनकी आराधना होनी है किन्तु मिथ्याज्ञानकी आराधनामें सम्यक्त्वकी आराधना नहीं होती। इस प्रकार ज्ञान और दर्शनमें अविनाभाव न होने से ज्ञानाराधनामें दर्शनाराधना भाज्य है। इस पर पुन· प्रश्न होता है कि जब 'सम्यग्ज्ञानकी आराधना' कहने पर सम्यक्त्वकी आराधनाका बोध हो सकता है तो वैसा क्यों नहीं कहा ? इसका उत्तर है कि ज्ञानके सम्यक् व्यपदेशमें सम्यक्त्व मुख्य हेतु है। सम्यक्त्वके विना ज्ञान सम्यक् नहीं कहलाता। अत सम्यग्ज्ञान-का प्राधान्य नहीं है ॥४॥

'ज्ञानके विना भी सम्यग्दर्शन होता है क्योंकि मिथ्यादृष्टि भी ज्ञानका आराधक होता है। अत: ज्ञानके साथ सम्यग्दर्शनका अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है। इस आशंकाका उत्तर देते हैं—

गा०—किन्तु शुद्धनय दृष्टि वाले ज्ञानी जन मिथ्यादृष्टिके ज्ञानको अज्ञान कहते हैं, इसलिए मिथ्यादृष्टि ज्ञानका आराधक नहीं ही होता ॥५॥

टी०—अनन्त धर्मात्मक वस्तुके किसी एक धर्मके जाननेको नय कहते हैं। यह नय उस धर्मके साथ ही रहनेवाले अन्य धर्मोंके बलसे उत्पन्न होता है। अर्थात् नय जिस धर्मको जानता है उस धर्मके साथ जो अनन्त धर्म उस वस्तुमे रहते हैं उनका निषेध नही करता। किन्तु उनको गौण करके एक धर्मकी मुख्यतासे वस्तुको जाननेका नाम नय है। कहा भी है—युक्तिके बलसे वस्तुके जाननेको नय कहते हैं। शुद्ध नय जिनका है वे शुद्धनय होते हैं। यहाँ निरपेक्ष नयके निरास-के लिए 'शुद्ध' विशेषण लगाया है। वस्तु सर्वथा नित्य ही है अथवा सर्वथा क्षणिक ही है इस प्रकारके जो ज्ञान हैं वे विपरीत रूप है क्योंकि इस प्रकारके प्रतिपक्षी धर्मोसे निरपेक्ष रूपका वस्तुमें अभाव है। वस्तुका स्वरूप सापेक्ष है उसे जो निरपेक्ष रूपसे दिखलाने वाला ज्ञान है, वह भ्रान्त है। क्योंकि जो जिस रूप नहीं है उसे उस रूप दिखलाता है वह ज्ञान भ्रान्त होता है। और जो उस दोषसे रहित है वह शुद्ध है। इसका खुलासा इस प्रकार है—वस्तुकी उत्पत्तिको देखकर मिथ्याज्ञान वस्तुको सर्वथा अनित्य ही मानता है। किन्तु वह सर्वथा अनित्य नहीं है। समस्त

थंचिदनित्यं, नित्यानित्यात्मकत्वाद्वस्तुनः । यदि हि नित्यमेव स्यात् क्रियमाणतानुरूपहेतुकर्मकेणा-[1]युक्तता तत्कारकत्वो नित्यं भवत्येव च न भवतीति युक्तमनित्यत्वम् ॥ शुद्धा नया येषां प्रतिपत्तॄणां ते शुद्धनयाः । 'पुण' पुनः । ज्ञानं ज्ञानमित्यभिमतं परस्य । 'मिच्छादिट्ठिस्स' मिथ्यादृष्टेः । 'बेंति' ब्रुवते । 'अण्णाणं' अज्ञानं इति । न ज्ञानशब्दः सामान्यवाची । किन्तु यथार्थप्रतिपत्तिरेव ज्ञानशब्दाभिधेयेति । ज्ञायते गम्यते अर्थः परिच्छिद्यते येन तज्ज्ञानम् । वस्त्वन्यभूतं च [2]रूपमादर्शयता नार्थः परिच्छिद्यते तस्मान्न मिथ्याज्ञानं ज्ञानशब्द-स्यार्थः, अज्ञानमित्येव ग्राह्यम् ॥ ननु च—

"गइ इंदिये च काये जोगे वेदे कसाय णाणे य ।
संजमदंसणलेस्सा भविया सम्मत्तसण्णि आहारे ॥" —[प्रा० पं० सं० १।५७]

इत्यत्र ज्ञानशब्दः सामान्यवाची सत्यं, ज्ञातिर्ज्ञानमिति व्युत्पत्तौ सा निरूपणा सामान्यशब्द इति ॥ 'तम्हा' तस्मात् । 'मिच्छादिट्ठी' तत्त्वश्रद्धानरहितः 'णाणस्साराधओ ण होदित्ति' पदघटना । ज्ञानं नारा-धयतीत्यर्थः ॥

यदुक्तं अज्ञाने दर्शनाभाव इति किं तदज्ञानं कस्य भवतीति ? तत इदं सूत्रं इति । तदसत्पेशलं । किं तदज्ञानमित्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनं न सूत्रेऽस्ति । मिथ्याज्ञानलक्षणप्रतिपादनपरमिथ्यादृष्टिसम्बन्धिज्ञानत्वमेव

वस्तु समूह नित्यानित्यात्मक है—कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है । यदि वस्तु सर्वथा नित्य होती तो उसको करनेके अनुरूप कारणोंका अभाव होता । अतः वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है ।

जिन ज्ञाताओंके नय शुद्ध होते हैं वे शुद्धनय वाले होते है । ऐसे शुद्धनय वाले मिथ्यादृष्टिके ज्ञानको अज्ञान कहते हैं । यहाँ ज्ञान शब्द सामान्य ज्ञानका वाचक नहीं है किन्तु ज्ञान शब्दका अर्थ यथार्थ ज्ञान ही है । जिसके द्वारा वस्तु जानी जाती है वह ज्ञान है । जो वस्तुमें नहीं पाये जानेवाले रूपको दर्शाता है वह वस्तुको नहीं जानता । अतः ज्ञान शब्दका अर्थ मिथ्याज्ञान नहीं है । मिथ्याज्ञान अज्ञान ही है ऐसा स्वीकार करना चाहिए ।

शंका—'गइ इंदिये च काये' इत्यादि गाथाके द्वारा चौदह मार्गणा बतलाई है । उनमें भी ज्ञान शब्द आता है जो ज्ञान सामान्यका वाचक है ?

समाधान—आपका कहना सत्य है । 'ज्ञातिर्ज्ञानं' जानना ज्ञान है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार वहाँ ज्ञान शब्दसे ज्ञान सामान्यका ग्रहण किया है ।

'तम्हा' इस कारणसे 'मिच्छादिट्ठी' जो तत्त्व श्रद्धानसे रहित है वह, णाणस्साराधओ ण होदि' ज्ञानका आराधक नहीं होता । इस प्रकार पदोंका सम्बन्ध होता है ।

इस गाथाकी अन्य टीकाकार इस प्रकार व्याख्या करते हैं—पूर्वमें जो अज्ञान अवस्थामें सम्यग्दर्शनकी आराधनाका अभाव कहा है वह अज्ञान क्या है और किसको होता है, इसको बत-लानेके लिए यह गाथा सूत्र है । किन्तु उनका यह कथन अयुक्त है । 'वह अज्ञान क्या है' इस प्रश्नका कोई उत्तर इस गाथामें नहीं है । उनका यह भी कथन है कि मिथ्याज्ञानका लक्षण कहते हुए जो मिथ्यादृष्टिसे सम्बद्ध ज्ञानको अज्ञान कहा है उसमें उक्त दोनों प्रश्नोंका उत्तर आता है ।

---

१. युक्तता त्वात्यावतो–मु० । यवत्ता तत्त्वाव–आ० । २. रूपवत्ता दर्शयता–आ० ।

ज्ञानाराधकत्वमित्युभयोरपि प्रतिषेधनमिति विकल्प्यते। एवमपि 'तम्हा ण मिच्छदिट्ठि' इति सूत्रे मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानस्याराधकत्वाभावमेव सूत्रकार उपसंहरति। तत्परित्यज्यासूत्रितमुपादेयमिति केयं स्वतन्त्रता ?

चारित्राराधना कथ्यते। चतुर्थ्या आराधनायाः प्रतिपत्तिक्रमं दर्शयत्याह—

संजममाराहंतेण तवो आराहिओ हवे णियमा ॥
आराहंतेण तवं चारित्तं होइ भयणिज्जं ॥ ६ ॥

'संजममाराहंतेण' संयम इत्यनेन शब्देन इह चारित्रमित्युच्यते। कर्मादाननिमित्तक्रियाभ्य उपरमः संयमः। स च चारित्रम्। यथा चाभ्यधायि—'कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमो ज्ञानवतश्चारित्रमिति'[1]। 'संजमं' चारित्रं, 'आराधंतेण' आराधयता। 'तवो' तपः। 'आराधिओ' आराधितं। 'हवे' भवेत्। 'णियमा' अवश्यमेव। कथं ? इह अनशनं नाम अशनत्यागः। स च त्रिप्रकारः। मनसा भुञ्जे, भोजयामि, भोजने व्यापृतस्यानुमतिं करोमि। भुञ्जे, भुंक्ष्व, पचनं कुर्विति वचसा। तथा चतुर्विधस्याहारस्याभिसंधिपूर्वकं कायेनादानं, हस्तसंज्ञायाः प्रवर्तनं अनुमतिसूचनं कायेन। एतासां मनोवाक्कायक्रियाणां कर्मोपादानकारणानां त्यागोऽनशनं चारित्रमेव। योगत्रयेण तृप्तिकारिण्यां भुजिक्रियायां दर्पवाहिन्यां निराकृतिः अवमोदर्यम्। तथा आहारसंज्ञाया जयो वृत्तिपरिसंख्यानम्। रसगोचरगार्द्ध्यत्यजनं त्रिधा रसपरित्यागः। कायसुखाभिलाषत्यजनं कायक्लेशः।

यदि इसे मान भी लिया जाये तब भी जो गाथामें 'तम्हा वा मिच्छादिट्ठी' इत्यादि कहा है वह बतलाता है कि गाथा सूत्रके कर्ता आचार्य 'मिथ्यादृष्टि ज्ञानका आराधक नहीं होता' यही उपसंहार करते हैं। अतः उसे छोड़कर जो बात गाथा सूत्रमें नहीं कही, उसे ग्रहण करना, यह कैसी स्वतन्त्रता है ॥५॥

आगे चारित्राराधनाको कहते हैं। उसके साथ चौथी तप आराधनाकी प्रतिपत्तिका क्रम दिखलाते हैं—

गा०—संयमकी आराधना करने वालेके द्वारा तप नियमसे आराधित होता है। किन्तु तपकी आराधना करने वालेके द्वारा चारित्र भजनीय होता है ॥ ६ ॥

टी०—'संजममाराहंतेण' यहाँ आगत संयम शब्दसे चारित्रका ग्रहण होता है। कर्मोंके ग्रहणमें निमित्त क्रियाओंके त्यागको संयम कहते हैं और वह चारित्र है। कहा भी है—ज्ञानी पुरुषके कर्मोंके ग्रहणमें निमित्त क्रियाओंके त्यागको चारित्र कहते हैं।

चारित्रकी आराधना करने वालेके द्वारा तप नियमसे आराधित कैसे होता है यह बतलाते हैं—अनशन नामक तपमें अनशन नाम भोजनके त्यागका है। उसके तीन प्रकार हैं—मनसे भोजन करता हूँ, भोजन कराता हूँ, भोजनमें लगे हुएको अनुमति करता हूँ। मैं भोजन करता हूँ, तुम भोजन करो, भोजन बनाओ इस प्रकार वचनसे कहना। तथा चार प्रकारके आहारका संकल्पपूर्वक कायसे ग्रहण करना, हाथसे संकेत करना, कायसे अनुमतिका सूचन करना। ये जो मन वचन कायकी क्रियाएँ हैं जो कर्मोंके ग्रहणमें कारण हैं उनका त्याग अनशन है जो चारित्र ही है।

तृप्ति करने वाले तथा मद पैदा करने वाले खानपानका मन वचन कायसे त्याग अवमौदर्य है। आहार संज्ञाके जीतनेको वृत्तिपरिसंख्यान तप कहते हैं। मन वचन कायसे रसविषयक लम्पटताके त्यागको रसपरित्याग तप कहते हैं। शारीरिक सुखकी इच्छाके त्यागको कायक्लेश तप

1. सर्वा० सि० १।१।

चित्तव्याकुलतापराजयो विविक्तशयनासनम् । स्वकृतापराधगूहनत्यजनं आलोचना । स्वकृतादशुभयोगात्प्रतिनिवृत्तिः प्रतिक्रमणं । तदुभयोज्झनं उभयं । येन यत्र वा अशुभोपयोगोऽभूत्तन्निराक्रिया, ततोऽपगमनं विवेकः । देहे ममत्वनिरासः कायोत्सर्गः । तपोऽनशनादिकं यथा भवति चारित्रं तथोक्तमेव । असंयमजुगुप्सार्थमेव प्रव्रज्याहापनं छेदः । मूलं पुनश्चारित्रादानम् । ज्ञानदर्शनचारित्रतपसामतीचारा अशुभक्रियाः । तासामपोहनं विनयः । चारित्रस्य कारणानुमननं वैयावृत्त्यं ॥

एवं स्वाध्यायो ध्यानं च अविरतिप्रमादकषायत्यजनरूपतया । इत्थं चारित्राराधनयोक्तया प्रत्येतुमशक्या तपस आराधना । अशनादिकं यदि नाम त्यक्तं न नियोगतोऽविरतिः प्रत्याख्याता भवति । कृताशनत्यागा अपि हि दृश्यंते असंयता इत्येतच्चेतसि कृत्वाह—आराधंतेणेति 'आराधंतेण' आराधयता । 'तवं' तपः । 'चारित्तं' चारित्रं सकलविरतियोगः । 'होदि' भवति । 'भयणिज्जं' भजनीयम् । तपस्युद्यतः करोति वा न वा असंयमपरिहारं इति यावत् । अत्रान्येषां व्याख्या—चारित्राराधनायां तपस आराधनायाः सिद्धिरवश्यंभाविनीत्युक्तं तत्कथं ? तदिदं संयममाराधंतेणेत्यादि एवं सूत्रोपोद्घातः कृतः स नोपपद्यते । चारित्राराधनायां तपस आराधनया सिद्धिर्भवतीति नोक्तं क्वचित्सूत्रकारेण तत्किमुच्यते उक्तमिति ? 'विविधाय हवे चरित्तंहि' इति वचनेनोक्तमिति चेन्न अशब्दार्थत्वात् । शब्देन हि यत्प्रतीयते तदुक्तमिति युक्तं वक्तुं । अपि च भवतु

कहते हैं। चित्तकी व्याकुलताके दूर करनेको विविक्त शयनासन तप कहते है। अपने द्वारा किया गये अपराधको छिपानेका त्याग करना आलोचना है। अपने द्वारा किये गये अशुभ मन वचन कायके व्यापारका प्रतीकार करना प्रतिक्रमण है। इन दोनोंको ही करना उभय है। जिसके द्वारा अथवा जिस स्थान पर अशुभ उपयोग हुआ हो उनसे अलग होना विवेक है। शरीरमें ममत्वका त्याग कायोत्सर्ग है। अनशनादि तप जिस प्रकार चारित्र है ऊपर कहा ही है।

असंयमके प्रति ग्लानि प्रकट करनेके लिये दीक्षाके कालको कम कर देना छेद प्रायश्चित्त है। और पुनः चारित्र ग्रहण करना मूल प्रायश्चित्त है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपके अतीचारोंको अशुभ क्रिया कहते हैं उनका त्याग अर्थात् ज्ञानादिमें दोष न लगाना विनय है। चारित्रके कारणोंमें अनुमति देना वैयावृत्य है। इसी प्रकार स्वाध्याय और ध्यान भी चारित्र है क्योंकि ये सब अविरति, प्रमाद और कषायके त्यागरूप हैं।

इस प्रकार चारित्राराधनाके कथनसे तप आराधनाको जाना जा सकता है। यदि भोजन आदिका त्याग किया तो अविरतिका त्याग नियमसे नही किया। 'भोजनका त्याग करने वाले भी असंयमी देखे जाते हैं' यह बात चित्तमें रखकर आचार्य कहते हैं—

तपकी आराधना करने वालेके द्वारा, सकलविरतिसे सम्बन्धरूप चारित्र, 'भयणिज्जं' भजनीय है। अर्थात् तपमें जो संलग्न है वह असंयमका त्याग करता भी है और नही भी करता।

अन्य टीकाकार इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—चारित्रकी आराधनामें तपकी आराधनाकी सिद्धि अवश्य होती है ऐसा जो कहा वह कैसे ? उसीके समाधानके लिये 'संजममाराधंतेण' इत्यादि कहा है। ऐसा वे इस गाथाकी उत्थानिकामें कहते हैं। उनका कथन ठीक नहीं है—क्योंकि चारित्रकी आराधना करनेपर तप आराधनाकी सिद्धि होती है ऐसा ग्रन्थकारने कहीं भी नहीं कहा। तब कैसे कहते हैं कि ग्रन्थकारने ऐसा कहा है ? यदि कहोगे कि—

'विविधाय हवे चरित्तम्मि' इस कथनके द्वारा कहा है ? तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि

तेनोक्तं इह तथैवोक्तं किमिति पुनरुपन्यस्यते ? तत्कथमिति वा युक्तं सूत्रे चारित्रसिद्धावितरसिद्धिक्रमस्यानुपन्यासात् ॥ प्रतिज्ञामात्राद्विप्रतिपन्नो न प्रतिपद्यते इति युक्तिप्रश्नोऽयं स कथं युज्यते व्याख्यान्तरसूचिते प्रतिविधाने । अन्ये व्याख्यानं "त्रयोदशात्मके चारित्रे सर्वथा प्रयतनं संयमः । स च बाह्यतपः संस्कारिताभ्यन्तरतपसा विना न संभवति । तदुपकृतात्मकत्वात्संयमस्वरूपस्येति" तदघटमानं । न हि प्रयतनं संयमशब्दस्यार्थः । क्वचिदपि संयमशब्दस्य तथाऽप्रयुक्तत्वात् । प्रयोगावृत्तिसमधिगम्यो हि शब्दार्थः । 'विदिया य हवे चरित्तंहि' इति सूत्रे चारित्रशब्देन सामान्यवाचिना सकलचारित्रमिति किमर्थं विशेषेणोच्यते ? सर्वस्य हि सामायिकादेश्चारित्रस्याराधना चारित्राराधना भवति । यथाहि—'पंडिदपंडिदमरणं खीणकसाया मरंति केवलिणो', इत्यन्ये यथाख्यातचारित्राराधनामपि कथयति । बाह्यतपःसंस्कारिताभ्यन्तरतपसा इति वा असंबद्धं । अन्तरेणापि बाह्यतपोऽनुष्ठानं अंतर्मुहूर्तमात्रेणाधिगतरत्नत्रयाणां भद्दणराजप्रभृतीनां पुरुदेवस्य भगवतः शिष्याणां निर्वाणगमनमागमे प्रतीतमेव ॥

इन शब्दोंका यह अर्थ नहीं है। शब्दके द्वारा जिसकी प्रतीति हो, उसे उनका कथन कहना युक्त है। तथा, यदि उन्होंने ऐसा कहा है तो पुनः उसीका उपन्यास वह क्यों करते और वह कैसे युक्त हो सकता है ? क्योंकि गाथामें चारित्रकी सिद्धिमें अन्यकी सिद्धिके क्रमका कथन नहीं है। 'प्रतिज्ञामात्रसे विवादग्रस्त व्यक्ति नहीं समझता' इस प्रकारका युक्तिप्रश्न अन्य व्याख्याओंके द्वारा सूचित प्रतिविधानमें कैसे युक्त हो सकता है ?

एक अन्य व्याख्यामें कहा है—'तेरह प्रकारके चारित्रमें सर्वथा प्रयत्नशील होनेका नाम संयम है। वह संयम बाह्यतपके द्वारा संस्कार किये गये अभ्यन्तर तपके बिना नहीं होता अर्थात् बाह्य और अभ्यन्तर तपके होनेपर ही संयम होता है; क्योंकि संयमका स्वरूप तपके द्वारा उपकृत होता है' किन्तु उक्त कथन घटित नहीं होता; क्योंकि संयम शब्दका अर्थ प्रयत्नशील होना नहीं है। किसी ग्रन्थमें संयम शब्दका प्रयोग इस अर्थमें नहीं हुआ है। शब्दका अर्थ उसके बारंबार प्रयोगसे जाना जाता है।

'बिदिया य हुवे चरित्तम्मि' इस गाथा सूत्रमें आगत चारित्र शब्द सामान्य चारित्रका वाचक है, उसका सकल चारित्र रूप विशेष अर्थ आप कैसे कहते हैं ? समस्त सामायिक आदि चारित्रकी आराधना चारित्राराधना है। आगे कहेंगे कि क्षीणकषाय और केवलीके पण्डित पण्डित मरण होता है। अतः यथाख्यातचारित्राराधना भी उसमे आती है। तथा 'बाह्य तपके द्वारा संस्कारित अभ्यन्तर तपसे' इत्यादि कथन भी असम्बद्ध है क्योंकि बाह्य तपके अनुष्ठानके बिना भी अन्तर्मुहूर्तमात्रमें रत्नत्रयको प्राप्त करके, भगवान् ऋषभदेवके शिष्य भद्दणराज वगैरहका निर्वाण गमन आगममें प्रसिद्ध ही है।

भावार्थ—संयम शब्दमें 'सं' का अर्थ है समन्त अर्थात् मन वचन कायके द्वारा पापको लाने वाली क्रियाओंका 'यमन'—त्याग संयम है। अतः संयमका अर्थ चारित्र है। वह बाह्य अनशन आदि और अभ्यन्तर प्रायश्चित्तादिके भेदसे बारह प्रकारका है। उस तपकी आराधना चारित्राराधनामें आती है क्योंकि उसमें भी अविरति, प्रमाद और कषायका त्याग होता है। किन्तु तप आराधनामें चारित्राराधना नहीं आती; क्योंकि तपस्वी असंयमका त्यागी होता भी है और नहीं भी होता। भोजनादिका त्याग करने वाले भी कोई-कोई असंयमी देखे जाते हैं। इस ग्रन्थ पर अन्य भी टीकाएँ थीं। उन्हींके मतका निराकरण ऊपर टीकाकार अपराजित सूरिने किया है।

ननु तपस्यायत्तनिर्जरानुक्रमेण निर्जरामुपगच्छन्ति सन्ति कर्माणि यदा निःशेषाण्यपगतानि भवन्ति तदा स्वास्थ्यरूपं निर्वाणमुपजायते ततो निर्वाणस्य कारणं निर्जरैव, तस्याश्च संपादकं तपस्ततो युक्तं दर्शनाराधना तप आराधना चेति द्विविधा आराधनेति भवितु' इत्यारेकायां, तपो निर्जरा मुक्तेरनुगुणा करोति सति चारित्रे संवरकारिणि नान्यथेति प्रदर्शयति 'सम्मादिट्ठिस्स वि' इत्यादिना—

सम्मादिट्ठिस्स वि अविरदस्स ण तवो महागुणो होदि ।
होदि हु हत्थिण्हाणं चुंदच्छुदकम्म तं तस्स ॥७॥

'सम्मादिट्ठिस्सवि' तत्वार्थश्रद्धानवतोऽपि । 'अविरदस्स' असंयतस्य । 'न तवो' तप. । 'महागुणो' गुणशब्दोऽनेकार्थवृत्तिः । रूपादयो गुणशब्देनोच्यन्ते यथाभिधानं–'रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणानि, पृथक्त्वं, संयोगविभागौ,, परत्वापरत्वबुद्धयः, सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्च: क्रियावद्गुणवत्समवायिकारणं द्रव्य'–इत्यस्मिन्सूत्रे गृहीता. ॥ 'गुणभूता वयमत्र नगरे' इति । अत्राप्रधानवाचीयस्य गुणस्य भावादिति विशेषेण वर्तते । 'गुणोऽनेन कृत' इत्यत्र उपकारार्थे वृत्ति । इह उपकारे वर्तमानो गृह्यते । महागुणः उपकारोऽस्येति महागुणं । 'होदि' भवति । क्रिया चैव हि भाव्यते निषेध्यते वा इति वचनात् । 'न' तु भवनक्रियया संबध्यते, तपो न भवति महोपकारमिति । एतदुक्तं भवति कर्मनिर्मूलनं कर्तुमसमर्थं तपः सम्यग्दृष्टेरप्यसंयतस्य । पुनरितरस्य असति

उन्होंने जो बाह्य तपके बिना मुक्ति प्राप्तिका निर्देश किया है उसका अभिप्राय इतना ही है कि जिन दीक्षा धारण करनेके पश्चात् ही अन्तर्मुहूर्तमें क्षपक श्रेणि पर आरोहण करके मुक्त हुए । अतः उन्हे अनशन आदि बाह्य तप नहीं करना पड़ा । अभ्यन्तर तप तो रहा ही ॥ ६ ॥

निर्जरा तपके अधीन है । जब क्रमसे निर्जराको प्राप्त होते होते सब कर्म चले जाते हैं तब 'स्व' में स्थिति रूप निर्वाणकी प्राप्ति होती है । अत निर्वाणका कारण निर्जरा ही है और निर्जराका सम्पादक है तप । इसलिये दर्शनाराधना और तप आराधना ये दो आराधना कहना युक्त है । इस आशंकाके उत्तरमे आचार्य 'संवरको करने वाले चारित्रके होने पर ही तप मुक्तिके अनुकूल निर्जरा करता है, अन्यथा नही' ऐसा कथन करते है—

गा०—सम्यग्दृष्टी भी जो अविरत है अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टीका तप महान् उपकारी नहीं होता । उसका वह तप हाथीके स्नानकी और मथनचर्मपालिका मथानीकी रस्सीकी तरह होता है ॥ ७ ॥

टी०—तत्त्वार्थ श्रद्धानवान् भी, असयमीका तप महागुणवाला नही होता ।

गुण शब्दके अनेक अर्थ है । कही गुण शब्दसे रूपादि कहे जाते है जैसे वैशेषिक दर्शनके सूत्रमें गुण शब्दसे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, आदि लिये गये हैं । 'हम इस नगरमे गुणभूत हैं' इस वाक्यमें गुणशब्दका अर्थ गौण या अप्रधान है । 'इसने गुण किया' इस वाक्यमे 'गुण' का अर्थ उपकार है । यहाँ भी गुणशब्दका अर्थ उपकार है । अतः महान् है 'गुण' अर्थात् उपकार इसका । गाथामें 'होदि' क्रिया है उसका अर्थ 'होता है' । उसके साथ 'ण' का सम्बन्ध लगाना चाहिये । तब अर्थ होता है—तप महान् उपकारी नहीं है । पूरे वाक्यका अभिप्राय है—असंयमी सम्यग्दृष्टीका भी तप कर्मोंको जड़से नष्ट करनेमें असमर्थ है । फिर जो सम्यग्दृष्टी नहीं है, उसके संवरके

---

१. चदं संछिवक–ब, चवंद सं–मु०, चे दु चुंदच्छिदकम्म इति पठन्ति–मूलारा० ।

संवरे प्रतिसमयमुपचीयमानकर्मसंहतेः का मुक्तिः ? ननु सत्यपि संयमे विना निर्जरां न निर्वृतिरिति । तपश्चमेव-मत्वाभिधातु 'सम्मादिट्ठिस्स वि अविरदस्स भावनाविहीनस्य न चारित्रं महागुणं होदीति' । सत्यमेवमेतत् चारित्रप्राधान्यविवक्षापरा इयं चोदना । असिश्छिनत्तीत्यत्र पुरुषान्तरेण नासिरेव संपद्यते छिदा, तथा तदीय-तैक्ष्ण्यगौरवकाठिन्यातिशयनिरूपणाकांक्षायां तस्यैव स्वातन्त्र्यं निगद्यते । एवमिहापीति न दोषः । कुतः ? यस्मात् 'होदि खु हत्थिण्हाणं' होदि भवति । 'खु' शब्द एवकारार्थः । स हत्थिण्हाणमित्यनेन संबन्धनीयः । हत्थिण्हाणमेवेति । यथा हस्ती स्नातोऽपि न नैर्मल्यं वहति पुनरपि करार्जितपांसुपटलमलिनतया तद्वत्तपसा निर्जीर्णेऽपि कर्मांशे बहुतरादानं असंयममुखेनेति मन्यते । दृष्टान्तान्तरमाचष्टे—'चुंदच्छुदकम्म' मन्थनचर्मपालिकेव तद्वत्संयमहीनं तपः । दृष्टान्तद्वयोपन्यासः किमर्थम् इति चेत् । अपगतात्बहुतरोपादानं कर्मणोऽसंयमनिमित्त-स्येति प्रदर्शनाय हस्तिस्नानोपन्यासः । आर्द्रतनुतया बहुतरमुपादत्ते रजः । बन्धरहिता निर्जरा स्वास्थ्यं प्रापयति नेतरा बन्धसहभाविनीति । किमिव मन्थनचर्मपालिकेव । सा हि बन्धसहितां मुक्तिं वर्तयति । अन्ये व्याचक्षते—कालभेदमनपेक्ष्य शुद्ध्यशुद्धी च दर्शयता प्रथम उपात्तः । तदयुक्तं सकलकर्मापायो हि शुद्धिः,

---

अभावमें प्रति समय बन्धनेवाले कर्मोंका संचय होते हुए मुक्तिकी बात ही क्या है ?

शङ्का—संयमके होनेपर भी निर्जराके विना मुक्ति नहीं होती। अतः ऐसा भी कहा जा सकता है कि जिसने तपकी भावना नहीं की उस सम्यग्दृष्टीका चारित्र महान् उपकारी नहीं है ?

समाधान—आपका कथन यथार्थ ही है। यह कथन चारित्रकी प्रधानताकी विवक्षाको लिये हुए है। जैसे 'तलवार काटती है' ऐसा कहा जाता है। किन्तु काटनेवाले व्यक्तिके विना केवल अकेली तलवार नहीं काटती। परन्तु तलवारकी तीक्ष्णता, गौरव और कठोरता आदि अतिशयोंको बतलानेकी इच्छा होनेपर 'तलवार काटती है' इस प्रकार तलवारके स्वातन्त्र्यको कहा जाता है। इसी तरह यहाँ भी है अतः कोई दोष नहीं है।

उक्त कथनके समर्थनमें ग्रन्थकार दृष्टान्त देते हैं—जैसे हाथी स्नान करके भी निर्मल नहीं होता, वह अपनी सूँडके द्वारा धूल उठाकर अपनेपर डालता है। उसी तरह तपके द्वारा कुछ कर्मोंकी निर्जरा होनेपर भी असंयमके द्वारा उससे अधिक कर्मोंका बन्ध होता रहता है। ऐसा माना गया है।

दूसरा दृष्टान्त देते हैं—मन्थनचर्मपालिकाकी तरह संयमहीन तप होता है।

शङ्का—दो दृष्टान्त किस लिये दिये हैं ?

समाधान—तपके द्वारा जितनी कर्मनिर्जरा होती है, असंयमके निमित्तसे उससे बहुत अधिक कर्मोंका बन्ध होता है, यह बतलानेके लिए हस्तिस्नानका दृष्टान्त दिया है क्योंकि स्नानके पश्चात् शरीरके गीले होनेसे बहुत-सी धूल उसपर जम जाती है। तथा बन्धरहित निर्जरा मोक्ष प्राप्त कराती है, बन्धके साथ होनेवाली निर्जरा नहीं। जैसे मन्थनचर्मपालिका। वह तो बन्ध-सहित मुक्ति देती है अर्थात् मथानी चलाते समय एक ओरसे रस्सी छूटती जाती है किन्तु साथ ही दूसरी ओरसे लिपटती जाती है।

दूसरे टीकाकार कहते हैं—समयभेदकी अपेक्षा न करके शुद्धि और अशुद्धिको दिखलानेके लिये प्रथम दृष्टान्त दिया है। किन्तु ऐसा कहना अयुक्त है क्योंकि समस्त कर्मोंके विनाशको शुद्धि

अशुद्धिश्च कर्मणा सह वृत्ति, तत्रासती शुद्धिः कथमादर्श्यते कर्मांशापगममात्रतः ? शुद्धिर्वा या मुक्तिः सा कस्य न विद्यते ? फलं दत्वा प्रयान्त्यात्मनः कर्मपुद्गलस्कन्धाः । यच्चोक्तं यदा तु कालभेदेन वैधर्म्यमाशंक्यते बंधनशातनयोरेकसमयत्वात् इति ततो द्वितीयो दृष्टान्तः । रज्जुवेष्टननिर्गमनयोरेककालत्वादिति तदप्यसार । न हि चंद्रमुखी कन्या इत्यत्र एवमाशंका संभवति, सदा संपूर्णमाननं वामलोचनायाः निशानाथस्य कदाचिदेव पूर्णता ततोऽनुमानमिति साधारणधर्ममात्रावलम्बन एवोपमानोपमेय भावः, वैधर्म्यं तूपमानोपमेययोरस्ति अन्यथा उपमानमिदं उपमेयमिति भेदो निरास्पदः । अपि च उपमेयस्यातिशयं प्रदर्शयितुमेवोपमानं प्रवृत्तम् ॥ न ह्येकस्योपमानस्यानुक्तावृष्टे[1]तदुपादीयते (?) इति युक्तम् ।

संक्षेपस्य प्रकारान्तराख्यानायाह—

अहवा चारित्ताराहणाए आराहियं हवइ सव्वं ॥
आराहणाए सेसस्स चारित्ताराहणा भज्जा ॥ ८ ॥

और कर्मोंके साथ रहनेको अशुद्धि कहते हैं। जब वहाँ शुद्धि नहीं है तो कैसे उसे दिखलाते हैं ? और कुछ कर्मोंके चले जाने मात्रसे यदि शुद्धि या मुक्ति मानते हो तो ऐसी शुद्धि किस जीवमें नहीं है क्योंकि कर्मपुद्गलस्कन्ध प्रत्येक आत्माको फल देकर जाते रहते हैं। और भी कहा है कि जब कालभेदसे वैधर्म्यकी आशंका की जाती है चूँकि बन्धन और निर्जराका एक ही काल है तब दूसरा दृष्टान्त दिया है; क्योंकि रस्सीके लिपटने और छूटनेका एक ही काल है, यह कथन भी निस्सार है। 'चन्द्रमुखी कन्या' इस दृष्टान्तमें इस प्रकारकी आशंका सम्भव नहीं है कि कन्याका मुख तो सदा सम्पूर्ण रहता है और चन्द्रमा तो पूर्णिमाके ही दिन पूर्ण होता है। उपमान उपमेय भाव दोनोंमें पाये जानेवाले साधारण धर्मोंको ही लेकर किया जाता है, दोनोंमें वैधर्म्य तो होता ही है। यदि न होता तो उनमें यह उपमान और यह उपमेय ऐसा भेद ही न होता। तथा उपमेयकी विशेषता दिखलानेके लिए ही उपमान होता है। अकेले उपमानके लिये उपमेय नहीं होता ॥७॥

भावार्थ—मिथ्यादृष्टिकी तो बात ही क्या, तत्त्वोंका श्रद्धानी सम्यग्दृष्टी भी यदि अविरत है, हिंसादि विषयोंमें प्रवृत्त रहता है, उसका तप करना महान् उपकारक नहीं है। अर्थात् वह कर्मोंको सर्वथा नष्ट नहीं कर सकता। जो संयमसे हीन होता है उसके संवरके अभावमें प्रतिसमय नये-नये कर्मोंका बन्ध होता रहता है। अतः उसकी मुक्ति नहीं हो सकती। यह कथन चारित्रकी प्रधानता दिखलानेके लिये है। जैसे तपके प्राधान्यकी विवक्षामें कहा है—तपसे ही मुक्ति होती है अतः तप करना चाहिए। असंयमीका तप हाथीके स्नानकी तरह होता है। जैसे हाथी स्नान करके शरीरके भींग जानेसे अपनी सूँड द्वारा अपने ऊपर डाली गई बहुत-सी धूल ग्रहण कर लेता है। उसी तरह असयमी तपके द्वारा कुछ कर्मोंकी निर्जरा करके भोजनादिकी लम्पटतावश बहुत अधिक कर्मबन्ध करता है। दूसरा दृष्टान्त है मन्थनचर्मपालिका। हस्तिस्नान दृष्टान्तके द्वारा तो यह बतलाया है कि जितनी निर्जरा करता है उससे बहुत अधिक कर्मबन्ध करता है और दूसरे दृष्टान्तसे बतलाया है कि बन्धके साथ-साथ होनेवाली निर्जरासे मुक्ति नहीं हो सकती ॥ ७ ॥

संक्षेपसे आराधनाके अन्य प्रकार कहते है—

१. दृष्टेरित—मु० ।

बहुधेति । एकद्व्यादिसंख्येयासंख्येयानंतरूपेण हि जैनी निरूपणा ॥ चरन्ति यान्ति तेन हितप्राप्तिं अहितनिवारणं चेति चारित्रं, चर्यते सेव्यते सज्जनैरिति वा चारित्रं सामायिकादिकं, तस्याराधनायां तत्परिणतौ सत्यां आराधितं निष्पादितं । 'हुवइ' भवति । 'सव्वं' सर्वं ज्ञानं दर्शनं तपश्च, प्रकारकात्स्न्यें सर्वशब्दोऽत्र प्रवृत्तः । यथा सर्वमोदनं भुंक्ते इति व्रीहिशाल्योदनप्रकारकात्स्न्यं भुजिक्रियायाः कर्मत्वेन प्रतीयते । एवमिहापि मुक्त्युपायप्रकाराणां ज्ञानादीनां सामस्त्यमाख्यायते । चारित्राराधनैकैवेत्यनेन गाथार्धेन कथितम् । अत्रेयमाशंका—कस्मादेकत्वनिरूपणाराधनायाश्चारित्रमुखेनैव क्रियते नान्यमुखेनेत्यत आह—'आराहणाए' आराधनायां । 'सेसस्स' शेषस्य । ज्ञानदर्शनतपसां अन्यतमस्य । चारित्राराधना । 'भज्जा' भाज्या विकल्प्या । कथं ? असंयतसम्यग्दृष्टिर्भवति ज्ञानदर्शनयोराराधको नेतरयोः । मिथ्यादृष्टिस्त्वनशनाद्युद्यतोऽपि न चारित्रमाराधयति । कश्चित्पुनः ज्ञानादीनि च चारित्रमपि संपादयतीति नाविनाभाविता इतराराधनायां चारित्राराधनाया इति न तन्मुखेनैकत्वनिरूपणेति भावः ॥ ननु क्षायिकवीतरागसम्यक्त्वाराधनायां, क्षायिकज्ञानाराधनायां च इतरेषामप्याराधना नियोगतः संभवति तत्किमुच्यते शेषाराधनायां चारित्राराधना भाज्येति ? क्षायोपशमिक-

---

गा०—अथवा चारित्रकी आराधनामें ज्ञान, दर्शन, तप सब आराधित होता है । ज्ञान दर्शन और तपमेंसे किसीकी भी आराधनामें चारित्रकी आराधना भाज्य होती है ॥ ८ ॥

टी०—जैनधर्ममें वस्तुके कथन करनेके एक, दो, संख्यात, असंख्यात और अनन्तरूप है । जिसके द्वारा जीव हितकी प्राप्ति और अहितका निवारण करते हैं उसे चारित्र कहते हैं । अथवा सज्जनोंके द्वारा जो 'चर्यते' सेवन किया जाता है वह सामायिक आदिरूप चारित्र है । उसकी आराधना करनेपर अर्थात् उस रूप परिणतिके होनेपर सब-ज्ञान दर्शन और तप आराधित— निष्पादित होता है । यहाँ 'सर्व' शब्द समस्त प्रकारोंमें प्रयुक्त हुआ है । जैसे 'सब ओदनको खाता है', यहाँ ओदन अर्थात् भात या चावलके व्रीहि, शालि आदि जितने प्रकार हैं वे सब खानेरूप क्रियाके कर्मरूपसे प्रतीत होते हैं । अर्थात् सब प्रकारके चावलोंका भात खाता है यह 'सब ओदन' से अभिप्राय है । इसी प्रकार यहाँ भी 'सर्व' शब्दसे मुक्तिके उपायोंके जो प्रकार ज्ञानादि है उन सबका ग्रहण इष्ट है । इस तरह 'एक चारित्राराधना ही है' यह इस आधी गाथासे कहा है । यहाँ यह शंका होती है कि चारित्रकी मुख्यतासे ही आराधनाका एक प्रकार क्यों कहा है अर्थात् आराधनाके एक प्रकारमें चारित्रको ही क्यों लिया है ?

इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं—शेष अर्थात् ज्ञान दर्शन और तपमेंसे किसी एककी आराधना करनेपर चारित्रकी आराधना भाज्य है; क्योंकि असंयत सम्यग्दृष्टि ज्ञान और दर्शनका ही आराधक होता है, चारित्र और तपका नहीं । और मिथ्यादृष्टि तो अनशन आदिमें तत्पर रहते हुए भी चारित्रकी की आराधना नहीं करता । कोई ज्ञानादिकी आराधना करता है और कोई चारित्रकी भी आराधना करता है । इस प्रकार अन्य आराधनाओंके साथ चारित्रकी आराधनाका अविनाभाव नहीं है अर्थात् चारित्राराधनाके बिना भी अन्य आराधना होती है । इसलिए उनकी मुख्यतासे आराधनाका एक प्रकार नहीं कहा है । यह उक्त कथनका भाव है ।

शङ्का—क्षायिक वीतराग सम्यक्त्वकी आराधनामें और क्षायिकज्ञानकी आराधनामें अन्य चारित्रादिकी भी आराधना नियमसे होती है तब कैसे कहते हैं कि शेष आराधनाओंमें चारित्राराधना भाज्य है ?

ज्ञानदर्शनापेक्षयैतदुक्तं इति ज्ञेयम् ।

अत्रान्येषां व्याख्या "चारित्ताराधणाए इत्यत्र चारित्रशब्देन सम्यक्चारित्रमुपात्तम् । तच्च सद्दर्शनात्मकज्ञाननिरूपितक्रमाप्रच्यवनेन प्रयत्नवृत्तिरूपं तस्मिन्नाराध्यमाने शेषसिद्धिर्भवत्येव । कथं ? सज्ज्ञानकार्यं चारित्रं सज्ज्ञानं च दर्शनाहितं (?) कार्यं हि कारणाविनाभावित्वं प्रयुक्तं इति ।" सानुपपन्ना । प्रतिज्ञामात्रेण हि सूत्रमिदमवस्थितं, एतत्साधनाय सूत्रद्वयमुत्तरं यत्र हि सूत्रकारो न निबंधनं वदति । आत्मनः प्रतिज्ञातस्य तत्र व्याख्यातुरवसरो निबंधनाख्याने । यत्र तु स एव वदति तत्र तदेव व्याख्यातुमवगन्तव्यमिति व्याख्याक्रमः शास्त्रेषु । न चैतत्तेन प्रतिविधानमसूचितम् स्वयमेवोत्प्रेक्षते । 'कादव्वमिणमकादव्वयत्ति णाऊण होदि परिहारो' इत्यत्र निरूपयिष्यति यतः सूत्रकारः । किं च उत्तरसूत्रानुष्ठानमस्यां व्याख्यायां चारित्राराधनामुखेनैकैवाराधनेति प्रतिपिपादयिषितम् । तच्च सप्रतिविधानं प्रतिपादयितुं कोऽवसर उत्तरगाथायाः । इतराराधनान्तर्भाविकारिण्याश्चारित्राराधनाया निरूपणायां चारित्रस्वरूपाख्यानाय उत्तरगाथायातेति कथमनवसर इति चेत् यद्येवं दर्शनाराधनायां ज्ञानाराधनामन्तर्भाव्य प्रवर्तमानायां दर्शनस्वरूपं किं नोच्यते सूत्रकारेण ? स्वेच्छेति चेन्न व्याख्यानु-

---

उत्तर—उक्त कथन क्षायोपशमिकज्ञान और क्षायोपशमिक सम्यक्त्वकी अपेक्षा किया है ऐसा जानना।

इस गाथापर अन्य टीकाकारोंकी व्याख्या इस प्रकार है—'चारित्ताराधणाए' यहाँ चारित्र शब्दसे सम्यक्चारित्र लिया है। वह सम्यक्चारित्र शास्त्रमें कहे गये सम्यग्दर्शनसे विशिष्ट सम्यग्ज्ञानके क्रमसे च्युत न होते हुए अर्थात् सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञानके साथ सावधानतापूर्वक प्रवृत्तिरूप होता है। उसकी आराधना करनेपर शेष आराधनाओंकी सिद्धि होती ही है क्योंकि सम्यग्ज्ञानका कार्य चारित्र है और सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है। कार्य कारणका अविनाभावी होता है—कारणके विना कार्य नहीं होता।

किन्तु यह व्याख्या ठीक नहीं है। इस गाथामें तो गाथाकारने केवल प्रतिज्ञामात्र की है कि चारित्राराधनामें सब आराधना आती है। इसकी सिद्धिके लिए आगे दो गाथाएँ हैं जिनमें ग्रन्थकारने उसका कारण कहा है कि क्यों चारित्राराधनामें अन्य आराधना समाविष्ट होती है। वहाँ व्याख्याताको उसका कारण बतलानेका अवसर है। शास्त्रोंमें व्याख्याका यही क्रम है कि ग्रन्थकारने स्वयं जहाँ जो कहा है वहाँ वही व्याख्याकारको कहना चाहिये। इस गाथामें तो उसने ऐसा नहीं कहा। व्याख्याकार स्वयं ही कल्पना करता है। गाथासूत्रकार तो आगे 'कादव्वमिणमकादव्व' इत्यादि द्वारा कहेंगे।

तथा 'चारित्राराधनाकी मुख्यतासे एक ही आराधना है' इस व्याख्यामें आगेके गाथासूत्रका कथन करना इष्ट है। यदि वह कथन यहीं कर दिया जाता है तो आगेकी गाथाके कथनका अवसर नहीं रहता।

शङ्का—अन्य आराधनाओंका अपनेमें अन्तर्भाव करनेवाली चारित्राराधनाका निरूपण करनेपर चारित्रका स्वरूप बतलानेके लिये आगेकी गाथा आई है? तब आप कैसे कहते हैं कि आगेकी गाथाके कथनका अवसर नहीं रहता?

उत्तर—यदि ऐसा है तो दर्शनाराधना अपनेमें ज्ञानाराधनाको अन्तर्भूत करके प्रवृत्त हुई है अतः गाथाकारने सम्यग्दर्शनका भी स्वरूप क्यों नहीं कहा? वह भी कहना चाहिए था। यदि

वाञ्छितं शास्त्रकाराणां न्यायापेतेच्छा अयुक्ता ।

कथं चारित्राराधनायां कथितायां इतरासां प्रतिपत्तिरविनाभावात् तावज्ज्ञानदर्शनाराधनयोरन्तर्भाव इत्युत्तरगाथायाः पूर्वार्द्धेन कथयति—

कायव्वमिणमकायव्वयत्ति णाऊण होइ परिहारो ।
तं चेव हवइ णाणं तं चेव य होइ सम्मत्तं ॥ ९ ॥

'कादव्वं' कर्तव्यं । 'इणं' इदं । 'अकादव्वमिणत्ति' अकर्तव्यमिति । 'णादूण' ज्ञात्वा । 'हवदि' भवति । 'परिहारो' परिवर्जनं चारित्रमिति शेषः । कर्तव्याकर्तव्यपरिज्ञानं पूर्वं तदुत्तरकालं अकर्तृपरिहरणं यत्तच्च चारित्रमिति सूत्रार्थः । ननु परिहार इत्यत्र परिहारो वर्जनार्थः । तथा हि—परिहरति सर्पमित्यत्र सर्पं वर्जयतीति गम्यते । तस्माच्च यद्वर्जनीयं तत्परिज्ञानमेव वर्जनमुपयुज्यते । तत एवं वक्तव्यं—अकादव्वमिदि[1] णादूण हवदि परिहारो इति, कादव्वमित्येतत्किमर्थमुपन्यस्तं ? कर्तव्यपरिज्ञानं करणे एवोपयुज्यते इति ॥ अत्र प्रतिविधीयते—कादव्वमिणत्ति णादूण हवदि परिहारो इति पदघटनैका, अकादव्वमिणत्ति णादूण हवदि परिहारो इत्यपरा ॥ तत्राद्यायां पदघटनायां परिशब्दः समंताद्भाववृत्तिः । यथा परिधावतीत्यत्र हि समंताद्धावतीति गम्यते । हरतिस्तूपादानवचनः । तथाहि प्रयोगः—कपिलिकां[2] हरति—कपिलिकामुपादत्त इति यावत् । मनसा, वचसा, कायेन कर्तव्यस्य संवरहेतोरुपादानं गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयानां उपादानं चारित्रमिति

कहोगे कि यह उनकी इच्छा है तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि न्यायका अनुसरण करनेवाले शास्त्रकारोंकी इच्छा न्यायसे रहित नहीं होती ॥ ८ ॥

चारित्राराधनाके कहनेपर अन्य आराधनाओंका ज्ञान कैसे सम्भव है ? इस प्रश्नका समाधान है कि चारित्राराधनाके साथ ज्ञान और दर्शनका अविनाभाव है अतः उसमें उनका अन्तर्भाव होता है । यही वार्ता आगेकी गाथाके पूर्वार्द्धसे कहते हैं—

गा०—यह कर्तव्य है और यह अकर्तव्य है इस प्रकार जानकर त्याग होता है । वही चैतन्यज्ञान है और वही सम्यक्त्व है ॥ ९ ॥

टी०—पहले कर्तव्य और अकर्तव्यका परिज्ञान होता है । उसके पश्चात् अकर्तव्यका त्याग किया जाता है । यही चारित्र है । यह गाथासूत्रका अर्थ है ।

शंका—'परिहारो' में परिहार शब्दका अर्थ त्याग है । इसका खुलासा इस प्रकार है—'सर्पका परिहार करता है' ऐसा कहनेपर 'सर्पको त्यागता है' यही अर्थ ज्ञात होता है । अतः जो त्यागने योग्य है उसीका जानना योग्य है । ऐसी स्थितिमें ऐसा कहना चाहिए कि 'अकर्तव्यको जानकर उसका परिहार होता है ।' तब कर्तव्यको जाननेको क्यों कहा ? कर्तव्यका परिज्ञान तो करनेके लिए होता है छोडनेके लिए नहीं होता ?

उत्तर—गाथामें 'कादव्वमिणत्ति णादूण हवदि परिहारो' यह एक पद सम्बन्ध है । और 'अकादव्वमिणत्ति णादूण हवदि परिहारो' यह दूसरा पद सम्बन्ध है । उनमेंसे प्रथम पद सम्बन्धमें 'परि' शब्दका अर्थ अच्छी तरह या पूर्णरूपसे होता है । जैसे 'परिधावति' का अर्थ अच्छी तरहसे, या पूर्णरूपसे दौड़ता है । 'हरति' का अर्थ ग्रहण करना है । जैसे 'कपिलिकां हरति' का अर्थ कपिलिकाको ग्रहण करता है । अतः इस वाक्यका अर्थ होता है—मनसे, वचनसे, कायसे, संवरके

---

१. अं मि त्ति—अ० । २. कपलिकां—अ० ।

वाक्यार्थः । आस्रवबंधहेतवो ये परिणामास्ते न कर्तव्याः, न निर्वर्त्यास्तेषां परिहरणं परिवर्जनं चारित्रमिति संबंधनीयम् । परिहार्य एव परिज्ञानमंतरेणापि तत्परिहारो दृश्यते । यथा शत्रुजनाध्यासितं देशं परिहरति कश्चित्तत्र तेषां अवस्थानमप्रतिपद्यमानोऽपि मार्गान्तरगामी एव अज्ञात्वापि परिहार्यं परिहरेदिति विनाभावितेति चेदयमभिप्रायः सूरेः—सामान्यशब्दा अपि विशेषप्रवृत्तयो दृश्यंते । तथा हि—गोशब्दो गोत्वसामान्यांगीकरणेन प्रवृत्तो गौर्न हंतव्या, गौस्तथा न स्प्रष्टव्या इत्यादावन्यत्र विशेषमेवाभिधेयी—करोति । महति गोमंडले गोपालकमासीनमेत्य कश्चित्पृच्छति गौर्दृष्टा भवतेति । अत्र वाक्ये गोशब्दस्तदभिप्रेतां कालाक्षीं स्वस्तिमतीं वा प्रत्याययति । एवमत्र परिहारशब्दः परिवर्जनसामान्यगोचरोऽपि नियतानेकपरिहार्यविषये परिहरणे प्रयुक्तः । न च नियोगबाध्यनेकपरिहार्यविषयपरिहरणं असकृत्प्रवृत्तिपरिज्ञानं विना युज्यते । इति मिथ्यादर्शनं, असंयमाः, कषाया, अशुभाश्च योगाः प्रत्येकमनेकविकल्पाः सततं परिहरणीयाः । तत्कथं परिहरेदज्ञः । ननु ज्ञानचारित्रयोरविनाभाविता चोक्ता 'णादूण होदि परिहारो' इत्यनेन[2] न श्रद्धानाविनाभावितेत्याशंकायामाह—'तं चेव हवइ' इत्यादिकं । तं चेव तदेव चैतन्यं । 'हवइ' भवति, 'णाणं' ज्ञानं । 'तं चेव य' तदेव च 'हवइ' भवति, 'सम्मत्तं' तत्त्वश्रद्धानं चेति चैतन्यद्रव्याणाव्यतिरेकात् ज्ञानदर्शनयोरेकता ख्याता । ततो ज्ञाना-

---

हेतु कर्तव्यको ग्रहण करना, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषह जयको अंगीकार करना चारित्र है । आस्रव और बन्धके हेतु जो परिणाम हैं वे नहीं करने चाहिए । अतः उनका परिहार अर्थात् त्याग चारित्र है । इस प्रकार सम्बन्ध लगाना चाहिये । जो पदार्थ त्यागने योग्य होता है, उसे जाने बिना भी उसका त्याग देखा जाता है जैसे कोई शत्रुओंसे युक्त स्थानको छोड़ता है । यद्यपि वह उस स्थान में उनके आवासको नहीं जानता, फिर भी दूसरे मार्गसे चला जाता है । इस प्रकार त्यागने योग्यको नहीं जानते हुए भी त्यागना चाहिए ।

शङ्का—तब तो 'त्याज्य पदार्थको जानकर छोड़ना चाहिये' इस प्रकारका अविनाभाव नहीं रहा ?

समाधान—आचार्यका अभिप्राय यह है कि सामान्य शब्दोंकी भी प्रवृत्ति विशेषमें देखी जाती है । जैसे 'गौ' शब्द गौसामान्यको लेकर प्रवृत्त होता है जैसे गौका वध नहीं करना चाहिए । गौको छूना चाहिए । किन्तु अन्यत्र वही सामान्यवाची गौ शब्द विशेष गौके अर्थमें प्रवृत्त होता देखा जाता है । जैसे—किसी बड़े गोमण्डलमें बैठे हुए ग्वालेके पास आकर कोई पूछता है—आपने गौ देखी है क्या ? इस वाक्यमें गौ शब्द उस व्यक्तिको इष्ट काली गाय या अमुक प्रकारकी गायका बोध कराता है । इसी तरह परिहार शब्द यद्यपि त्याग सामान्यका वाचक है तथापि यहाँ उसका प्रयोग निश्चित अनेक त्यागने योग्य विषयोंके त्यागमें हुआ है । और नियमसे त्यागने योग्य अनेक विषयोंका त्याग बार-बार जाने बिना सम्भव नहीं है । इस प्रकार मिथ्यादर्शन, असंयम, कषाय, अशुभयोग और इनमेंसे प्रत्येकके अनेक भेद निरन्तर त्यागने योग्य हैं । जो अनजान है वह कैसे उनका त्याग कर सकता है ?

शङ्का—'जानकर परिहार होता है' इस वचनसे ज्ञान और चारित्रकी अविनाभाविता प्रकट होती है, श्रद्धानकी अविनाभाविता प्रकट नहीं होती ?

इस आशङ्काका आचार्य उत्तर देते हैं—वही चैतन्य ज्ञानरूप है और वही चैतन्य सम्यक्त्व-रूप है । अतः चैतन्यरूप द्रव्यसे अभिन्न होनेसे ज्ञान और दर्शनकी एकता बतलाई है । अतः

---

१. एवमन्यत्रापि परिहार्यात् परि—आ० । २. नेम श्रद्धा—अ० ब० मु० ।

विनाभाविता कथनेन श्रद्धानस्यापि कथितैव भवति। चारित्रमेव ज्ञानदर्शने इति कल्पनायां 'जाणुग हवइ परिहारो' इति पूर्वं ज्ञानं पश्चात्परिहार इति भेदोपन्यासः[1] सूत्रकारस्य अघटमानः[2] स्यात्। तं चेवेति नपुंसकलिंगनिर्देशश्च न स्यात्। 'सो चेव हवइ णाणं' इति वक्तव्यं भवति परिहारशब्दस्य पुल्लिंगत्वात्। अथवा कर्तव्याकर्तव्यपरिज्ञाने सत्यकर्तव्यानां मिथ्यादर्शनं, अज्ञानं, असंयमः, कषायाः, योग इत्यमीषां परिहारश्चारित्रमित्येतस्मिन्नर्थे परिगृहीते 'तं चेव परिहरणसामान्यं चारित्रं, ज्ञानं दर्शनं इत्येकमेवेति। चारित्राराधनायामेव भेदवादिनोऽभिमतस्याराधनाप्रकारस्यान्तर्लीनतया चारित्राराधनैकेवेति सूत्रार्थः॥

चारित्राराधनायामंतर्भावो ज्ञानदर्शनाराधनयोरेव निगदितो न तपस आराधनाया इत्यत आह—

चरणम्मि तम्मि जो उज्जमो आउंजणा य जो होई।
सो चेव जिणेहिं तवो भणिदो असढं चरंतस्स ॥१०॥

'चरणम्मि' चारित्रे। 'तम्मि' एतस्मिन् अकर्तव्यपरिहरणे। 'जो य उज्जमो' उद्योगः। 'आउंजणा य' उपयोगश्च। 'जिणेहिं तवो होदित्ति भणिदो' इति पदघटना। चरणोद्योगोपयोगावेव तपो भवतीति जिनैः कृतकर्मारिपराजयैरुक्तमिति यावत्। कृतसुखपरिहारो हि चारित्रे प्रयतते न सुखासक्तचित्तस्ततश्च बाह्यानि

चारित्रकी ज्ञानके साथ अविनाभाविता बतलानेसे श्रद्धानकी भी अविनाभाविता कही गई समझना।

यदि चारित्रको ही ज्ञान और दर्शनरूप माना जाता है तो 'जानकर परिहार होता है' इस कथनमें जो पहले ज्ञानका और पश्चात् परिहारका भेदरूपसे उपन्यास ग्रन्थकारने किया है वह नहीं बन सकेगा। तथा 'तं चेव' इस पदमें जो नपुंसक लिंगका निर्देश किया है वह भी नहीं बनेगा, किन्तु 'सो चेव हवइ णाणं' ऐसा प्रयोग करना होगा क्योंकि 'परिहार' शब्द पुंल्लिग है और वही चारित्र है।

अथवा कर्तव्य और अकर्तव्यका परिज्ञान होने पर अकर्तव्य जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम, कषाय और योग हैं उनका परिहार चारित्र है, ऐसा अर्थ लेने पर 'तं चेव' अर्थात् परिहार-सामान्य ही चारित्र, ज्ञान और दर्शन है इस प्रकार एक ही है। इस प्रकार चारित्राराधनामें ही भेदवादियोंको इष्ट आराधनाके प्रकारोंका अन्तर्भाव होनेसे चारित्राराधना एक ही है यह इस गाथासूत्रका अर्थ है॥

भावार्थ—चारित्रके दो प्रकार है—कर्तव्यको स्वीकार करना और अकर्तव्यको त्यागना। ज्ञान और दर्शन पूर्वक हितकी प्राप्ति तथा अहितके परिहाररूपसे परिणत चैतन्य ही ज्ञान और दर्शनरूप है। अतः चारित्रका ज्ञान और दर्शनके साथ अविनाभाव होनेसे चारित्रमें दोनोंका अन्तर्भाव होता है॥ ९॥

चारित्राराधनामें ज्ञानाराधना और दर्शनाराधनाका ही अन्तर्भाव कहा है, तप आराधना-का नहीं कहा। अतः कहते हैं—

गा०—उस अकर्तव्यके त्यागरूप चारित्रमें जो उद्योग है और उपयोग होता है, उन उद्योग और उपयोगको ही छल कपट त्यागकर करने वालेका जिनेन्द्रदेवने तप कहा है॥ १०॥

टी०—उस अकर्तव्यके परिहाररूप चारित्रमें जो उद्योग और उपयोग है जिनदेवने उसे तप कहा है। अर्थात् चारित्रमें उद्योग और उपयोग ही तप है, ऐसा कर्मरूपी शत्रुओंको पराजित करने

---

१. भेदोप न्यासो—आ०। २. अघटमानं—आ० ज०।

तपांसि चारित्रप्रारंभं प्रति परिकरतामुपयान्तीति । तथा च वक्ष्यति 'बाहिरतवेण होदि हु सव्वा सुहसीलदा परिच्चत्ता' इति । तथा स्वाध्यायश्रुतभावना पंचविधा तत्र वर्तमानश्चारित्रे परिणतो भवति । तथा च वक्ष्यति 'सुदभावणाए णाणं दंसणतवसंजमं च परिणमदि' त्ति । परिणाम एव उपयोगः । 'कृतातिचारजुगुप्सापुरःसरं वचनमालोचनेति' अकर्तव्यपरिहरणोपयोगः कथं न चारित्रं ? कृतातिचारस्य यतेस्तदतिचारपराङ्मुखता योगत्रयेण हा दुष्टं कृतं चिंतितमनुमतं चेति परिणामः प्रतिक्रमणम् । उभयं चरणोपयोगः । एवमतिचारनिमित्त-द्रव्यक्षेत्रादिकान्मनसा अपगतिस्तत्र अनादृतिर्विवेकः । इति उपयोगता विवेकस्य दुस्त्यजशरीरममत्वनिवृत्तिर्न-मेदं शरीरं न भवति नाहमस्येति भावना सा च परिग्रहपरित्यागोपयोग एवेति चारित्रम् । तपसोऽनशनादेश्चा-रित्रपरिकरतोक्तैव । सातिचारं चारित्रमचारित्रमेवेति बुद्ध्या निश्चितस्यात्मनो, न्यूनतापादनं, क्रियास्वभ्युत्था-नवन्दनादिकासु असयमपरिहारेण वृत्तेश्चारित्रपरिकर. । पुनः प्रव्रज्यादानमपि चारित्रोपयोग एवेति । विनयस्तु पंच प्रकारः ज्ञानदर्शनविनययोर्ज्ञानदर्शनपरिकरतया तदुपयोगरूपतया च ज्ञानदर्शनाभ्याममेदात्तद्वदेव चारित्रा-राधनांतर्भावः ।

इन्द्रियविषयस्य रागद्वेषयोः कषायाणां च परित्याग., अयोग्यवाक्कायक्रियायास्त्यागः, ईर्यादिषु निर-वद्या च वृत्तिश्चारित्रोपयोग एवेति चारित्रे विनयस्यान्तर्भावः । तपोऽधिके तपसि च भक्तिः, अनासादना च

वाले जिनदेवने कहा है । जो सुखको त्यागता है वही चारित्रमें प्रयत्नशील होता है, जिसका चित्त सुखमें आसक्त है वह चारित्र धारण नही कर सकता । अतः बाह्य तप चारित्रको प्रारम्भ करनेमें सहायक होते हैं । आगे कहेंगे—'बाह्य तपसे समस्त सुखशीलता छूट जाती है' । तथा स्वाध्यायके पाँच भेद पाँच श्रुत भावनारूप हैं । जो उसमें प्रवृत्ति करता है वह चारित्रमें प्रवृत्ति करता है । आगे कहेंगे—'श्रुतभावनासे ज्ञान, दर्शन, तप और संयमरूप परिणत होता है ।' परिणामका ही नाम उपयोग है । किये हुए दोषोंके प्रति ग्लानि पूर्वक जो वचन होता है वह आलोचना है । तब अकर्तव्यके त्यागमें जो उपयोग होता है वह चारित्र क्यों नही है । जिस साधुने अपने व्रतोंमें दोष लगाया है उसका उन दोषोसे विमुख होकर, हाँ, मैंने बुरा किया, या बुरा विचारा या उसमें अनु-मति दी, इस प्रकारके परिणामोंको प्रतिक्रमण कहते हैं । आलोचना और प्रतिक्रमणको उभय कहते हैं । अतिचारमें निमित्त द्रव्य, क्षेत्र आदिका मनसे हटाना, उनमें अनादर भावका होना विवेक प्रायश्चित्त है । इस प्रकार विवेकको उपयोगिता है । जिसको छोड़ना कठिन है उस शरीर-से ममत्व न करना 'यह शरीर मेरा नही है, न मैं इसका हूँ' इस प्रकारकी भावना व्युत्सर्ग है वह भी परिग्रहके त्यागरूप उपयोग ही है अतः चारित्र है ।

अनशन आदि तप चारित्रके परिकर हैं—उसके सहायक हैं, यह पहले कहा ही है सदोष चारित्र अचारित्र ही है ऐसा बुद्धिके द्वारा निश्चित करके आत्मामें पूर्णताका लाना, खड़े होना, वन्दना आदि क्रियाओंमें असंयमका परिहार करते हुए प्रवृत्त होना, ये सब भी चारित्रका परिकर है । दोष लगाने पर पुनः दीक्षा ग्रहण करना भी चारित्रमें उपयोग ही है । विनयके पाँच भेद हैं । उनमेंसे ज्ञानविनय और दर्शनविनय ज्ञान और दर्शनके परिकर होनेसे तथा ज्ञान और दर्शनमें उपयोगरूप होनेसे ज्ञान और दर्शनसे अभिन्न हैं अतः ज्ञान और दर्शनकी तरह उनका अन्तर्भाव चारित्राराधनामें होता है ।

इन्द्रियोंके विषयोंमें राग द्वेषका तथा कषायोंका त्याग, अनुचित वचन और कायकी क्रिया-का त्याग, तथा ईर्या समिति आदिमें निर्दोष प्रवृत्ति चारित्रोपयोगरूप होनेसे चारित्रविनयका

परेषां तपोविनयः, तं विना सुतपसोऽभावात् तपसः परिकरता अस्या सपरिकरं हि तपश्चारित्रस्य परिकरः । उपयोगो वा नान्या गतिरस्ति (?) मन्यते । 'सत्तं चरंतस्स' शाठ्यमंतरेण वर्तमानस्य भवेत्तया च चतुर्विधा, द्विविधा, एकविधा, वा आराधना स्यात् तस्मान्न भिद्यते ।

पुरुषो हि प्रेक्षापूर्वकारी प्रयोजनायत्तचेष्टः सति प्रयोजने तत्साधनाय प्रयतते नान्यथा, तत्कथमियमाराधना व्याख्या प्रयोजिका[2] भवत्यस्येत्याशंकायां, निर्वाणसुखस्याव्याबाधात्मकस्य पुरुषार्थस्योपायत्वप्रदर्शनेन आराधनाव्याख्या तदभिलाषुकयोगिनी इत्येतत्प्रतिपादनायोत्तरप्रबंधः । अथवा व्यावर्णितविकल्पा या आराधना तस्यां चेष्टा कर्तव्येत्येतदाख्यानायोत्तरसूत्राणि, तथा चोपसंहारः 'कादव्वा हु तदत्थं आदहिदगवेसिणा चेट्ठा' इति ॥

अन्येऽत्र व्याचक्षते ज्ञानदर्शनचारित्रेषु किं प्रधानमिति चोद्ये चारित्रप्राधान्यख्यापनायोत्तरसूत्रमिति तदयुक्तम्—

> णाणस्स दंसणस्स य सारो चरणं हवे जहाखादं ।
> चरणस्स तस्स सारो णिव्वाणमणुत्तरं भणियं ॥११॥

'णाणस्स दंसणस्स य सारो चरणं जहाखादं' इत्युक्ते ज्ञानदर्शनाभ्यां प्रधानं चारित्रं इति प्रतीतेरनु-

---

अन्तर्भाव चारित्रमें होता है। विशिष्ट तपस्वियोंमें और तपमें भक्ति तथा दूसरोंकी आसादना न करना तपविनय है। उसके बिना सम्यक् तप नहीं हो सकता। अतः तपविनय तपका परिकर है। और अपने परिकरके साथ तप चारित्रका परिकर है। उसके बिना गति नहीं है। जो कपट त्याग कर ऐसा करता है उसीके यह तप होता है। इस प्रकार आराधनाके चार, दो और एक भेद हैं।

भावार्थ—चारित्र वही धारण करता है जो सुखको त्याग देता है। चारित्रमें उद्यम करना बाह्य तप है। इस तरह बाह्य तप चारित्रका परिकर है उसकी सहायक सामग्री है। और चारित्र-रूप परिणाम अन्तरंग तप है। अन्तरंग तपके भेद प्रायश्चित्त आदि पाप प्रवृत्तियोंको दूर करते हैं अतः तप चारित्रसे भिन्न नहीं है ॥११॥

पुरुष सोच-विचारकर काम करता है। उसकी चेष्टा प्रयोजनके अधीन होती है। प्रयोजन होने पर उसकी सिद्धिके लिये वह प्रयत्न करता है। प्रयोजन न होने पर नहीं करता। तब यह आराधनाका व्याख्यान कैसे उसका प्रयोजक है? ऐसी आशंका होने पर आचार्य कहते है बाधा-रहित मोक्ष सुख पुरुषार्थ है वह पुरुषका प्रयोजन है। जो मोक्ष सुखके अभिलाषी हैं उनको उसका उपाय बतलानेके लिये आराधनाका कथन उपयोगी है। यह बतलानेके लिए आगेका कथन करते हैं। अथवा जिस आराधनाके भेदोंका कथन किया है उसमें चेष्टा करना चाहिये यह कहनेके लिये आगेका कथन है। इसीलिये ग्रन्थकारने उपसंहारमें कहा है कि आत्महितके अन्वेषकको उसके लिये चेष्टा करना चाहिये—

गा०—ज्ञानका और दर्शनका सार यथाख्यात चारित्र होता है। उस यथाख्यात चारित्रका सार सर्वोत्कृष्ट निर्वाण कहा है ॥ ११ ॥

टी०—अन्य व्याख्याकार कहते हैं कि ज्ञान, दर्शन और चारित्रमें कौन प्रधान है ऐसा

---

१. नान्यथास्तिता—आ० मु० । २ प्रयोजिता—आ० मु० ।

पत्तेः । त्रयाणामपि कर्मापायनिमित्तताऽस्ति वा न वा ? यदि नास्तीत्युच्यते सूत्रविरोधः 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इति सूत्रमवस्थितम् । अथोपायताऽस्ति ? परार्थतया गुणत्वं त्रयाणामिति का प्रधानता चारित्रस्य ? ज्ञानदर्शने चारित्रार्थे चारित्रं तु न तदर्थमिति न युक्तं वक्तुं ज्ञानदर्शनयोः साध्यत्वात्तदुपायतया चारित्रस्य चारित्रं तदर्थमिति तस्य किमित्यप्रधानता न भवति ? न हि चारित्रमंतरेण क्षायिकं ज्ञानं, क्षायिकं वीतरागसम्यक्त्वं चोपजायते । तस्मात्पूर्वोक्त एव उत्तरप्रबंधक्रमः । इदं सूत्रं यथाख्यातचारित्रस्वरूपं तत्फलं च गदितुं आयातम् । णाणस्स दंसणस्स य सारो' सारशब्दोऽत्रातिशयितगुणवचनः । तथा प्रयोगः—

"पढमंचि य विगलियमच्छरेण सुयणेण गहियसारम्मि ।
दोसं मोत्तूण खलो गेह्णउ कव्वम्मि किं अण्णं ॥" [ ]

प्रथममेव साधुजनेन विगलितमात्सर्येण गृहीतेऽतिशयितगुणे काव्ये दोषं मुक्त्वा खलः किमन्यद्गृह्णाति इति गाथार्थः ॥

ज्ञानदर्शनयोरतिशयितरूपं किं तन्मोहनीयजन्यकलंकरहितं, 'चरणं' चारित्रं । 'हवेत्' । 'जहाखादं' यथाख्यातं । तथा चोक्तं—

"चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो ॥
मोहक्खोहविहूणो परिणामो अप्पणो य समो ।" [प्रव० सा० १।७] इति ॥

"मोहो द्विविधो दर्शनमोहश्चारित्रमोहश्च । तत्र दर्शनमोहजन्य अश्रद्धानं शंकाकांक्षाविचि-

---

प्रश्न करने पर चारित्रकी प्रधानता बतलानेके लिये यह गाथासूत्र कहा है । किन्तु यह अयुक्त है क्योंकि 'ज्ञान और दर्शनका सार यथाख्यात चारित्र है' ऐसा कहने पर 'चारित्र ज्ञान और दर्शनसे प्रधान है' ऐसी प्रतीति नहीं होती । प्रश्न होता है कि ये तीनों कर्मोंके विनाशमें निमित्त है या नहीं ? यदि कहते हो नहीं हैं तो सूत्रमें विरोध आता है क्योंकि 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षका मार्ग है' ऐसा सूत्र है । यदि तीनो मोक्षके उपाय हैं तो परार्थ—परके लिये होनेसे तीनों गौण हो जाते हैं तब चारित्रको प्रधानता कैसी ? यदि कहोगे कि ज्ञान और दर्शन चारित्रके लिये हैं चारित्र ज्ञानदर्शनके लिये नही है, तो ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि साध्य ज्ञान और दर्शन हैं । उनकी सिद्धिका उपाय चारित्र है । अतः चारित्र ज्ञान दर्शनके लिये है तब वह अप्रधान क्यों नहीं हुआ ? चारित्रके बिना न तो क्षायिक ज्ञान होता है और न क्षायिक वीतराग सम्यक्त्व उत्पन्न होता है । इसलिये जो पूर्वमें उत्तरगाथाके क्रमके सम्बन्धमें कहा है वही युक्त है । यह गाथासूत्र यथाख्यात चारित्रका स्वरूप और उसका फल कहनेके लिये आया है ।

'णाणस्स दंसणस्स य सारो' यहाँ सार शब्द सतिशय गुणका वाचक है । इस अर्थमें उसका प्रयोग देखा जाता है । किसी कविने कहा है—प्रथम ही मात्सर्य भावसे रहित साधुजनोंके द्वारा काव्यका सार ग्रहण कर लिये जाने पर दोषके सिवाय दुर्जन और क्या ग्रहण करें । यहाँ 'सार' शब्दका प्रयोग सातिशय गुणके अर्थमें ही किया गया है ।

प्रश्न होता है कि ज्ञान और दर्शनका सातिशय रूप क्या है ? तो वह है मोहनीयसे उत्पन्न होने वाले कलंकसे रहित यथाख्यात चारित्र । कहा है—

'निश्चयसे चारित्र धर्म है और धर्म समभावको कहा है । तथा मोह और क्षोभसे रहित आत्माका परिणाम सम है । मोहके दो भेद हैं—दर्शनमोह और चारित्रमोह । उनमेंसे दर्शनमोहसे

किस्ताम्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवरूपं । चारित्रमोहजन्यौ रागद्वेषौ तदनुन्मिश्रं ज्ञानं दर्शनं च यथाख्यातचारित्र-मित्युच्यते" इति सूत्रार्थः । 'चरणस्स' चारित्रस्य, 'तस्स' तस्य, यथाख्याताख्यस्य, 'सारो' अतिशयितं फलं साध्यसाधनलक्षणसंबंधनिमित्ता षष्ठीयं तेन साध्यफलं लब्धं, सारशब्दस्तु तस्यातिशयमाचष्टे । ततोऽयमर्थो जातः यथाख्यातचारित्रस्य फलमतिशयितमिति । किं तत् 'णिव्वाणं' निर्वाणं विनाशः । तथा प्रयोगः—निर्वाणः प्रदीपो नष्ट इति यावत् । विनाशसामान्यमुपादाय वर्तमानोऽपि निर्वाणशब्दस्य चरणशब्दस्य निर्जातकर्मशातन-सामर्थ्याभिधायिनः प्रयोगात्कर्मविनाशगोचरो भवति । स च कर्मणां विनाशो द्विप्रकारः, कतिपयप्रलयः सकल-प्रलयश्च । तत्र द्वितीयपरिग्रहमाचष्टे—'अनुत्तरमिति' न विद्यतेऽन्यदुत्तरमधिकं अस्मादित्यनुत्तरं । 'भणिदं' उक्तं 'प्रवचने' इति शेषः ।

अथवा ज्ञानश्रद्धानयोः फलं दुःखहेतुक्रियापरिहारः । यदत्र[1] च फलं तत्र सन्निहितो हेतुस्ततश्चारित्राराध-नायां इतरान्तर्भाव[2] इत्यायातमिदं सूत्रं 'णाणस्स दंसणस्स य सारो चरणं हवे जहाखादं' इति ॥ पापक्रिया दुःखहेतु तत्परिहारश्च असति ज्ञाने श्रद्धाने वा न संभवति, क्वचिन्मनसो रंजनं अप्रीतिर्वा पापक्रियाभिनव-कर्मसंवरणं चिरंतननिरासं च विदधाति चरणमदो युक्तमुच्यते 'चरणस्स तस्स सारो णिव्वाणमणुत्तरं' इति ।

अश्रद्धान उत्पन्न होता है । आत्मा, मोक्ष आदिके अस्तित्वमें शङ्काका होना, विषयभोगोंकी इच्छा, धर्मात्माको देखकर ग्लानि, मिथ्यादृष्टीकी मनसे प्रशंसा और वचनसे स्तुति करना, ये सब उस अश्रद्धानके रूप हैं । चारित्रमोहसे राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं । उनसे रहित ज्ञान और दर्शनको यथा-ख्यात चारित्र कहते हैं । यह गाथासूत्रका अर्थ है ।

उस यथाख्यात नामक चारित्रका सार अर्थात् सातिशय फल । यहाँ यह षष्ठी विभक्ति साध्य-साधनरूप सम्बन्धके निमित्तको लेकर है । उससे साध्यफलका बोध होता है । और 'सार' शब्द उसके अतिशयको कहता है । अतः यह अर्थ हुआ कि यथाख्यात चारित्रका सातिशयफल निर्वाण है । निर्वाणका अर्थ विनाश है । कहा जाता है दीपकका निर्वाण हो गया अर्थात् दीपक नष्ट हो गया । इस तरह यद्यपि निर्वाण शब्दका अर्थ विनाशमात्र है तथापि उत्पन्न हुए कर्मोंको नष्ट करनेकी शक्तिवाले चारित्र शब्दका प्रयोग होनेसे कर्मोंका विनाश अर्थ लिया जाता है । कर्मोंका विनाश दो प्रकारका है—कुछ कर्मोंका विनाश और सब कर्मोंका विनाश । यहाँ दूसरेका ग्रहण किया है क्योंकि 'अणुत्तर' शब्दका प्रयोग किया है । जिससे अधिक कोई नहीं है उसे अनुत्तर कहते हैं । 'भणिदं' अर्थात् आगममें कहा है ।

अथवा श्रद्धान और ज्ञानका फल दुःखकी कारण क्रियाओंका त्याग है । यहाँ जो फल है त्याग उसमें उसके हेतु ज्ञान और दर्शन समाविष्ट हैं । अत चारित्राराधनामें अन्य आराधनाओंका अन्तर्भाव होनेसे 'ज्ञान और दर्शनका सार यथाख्यातचारित्र है' यह गाथा सूत्र आया है ।

पापकर्म दुःखके कारण हैं । उनका त्याग ज्ञान और श्रद्धानके विना सम्भव नहीं है । किसीमें मनका अनुरक्त होना और किसीसे द्वेष करना पापक्रिया है । चारित्र नवीन कर्मोंके आने-को रोकता है और पुराने कर्मोंका विनाश करता है । अतः उचित ही कहा है कि उस चारित्रका सार सर्वोत्कृष्ट निर्वाण है ॥११॥

भावार्थ—रागद्वेषसे रहित ज्ञान और दर्शनको ही आगममें यथाख्यात चारित्र कहा है । उसका सार निर्वाण अर्थात् समस्त कर्मोंका विनाश है । निर्वाणसे उत्कृष्ट अन्य नहीं है ॥११॥

---

१. यस्तत्र–आ० मु० । २. इतरेतरान्त–आ० मु० ।

यज्ज्ञानं दुःखहेतुनिराकरणफलमित्यस्यान्वयप्रसाधनाय दृष्टान्तमाह—

चक्खुस्स दंसणस्स य सारो सप्पादिदोसपरिहरणं।
चक्खू होइ णिरत्थं दट्ठूण बिले पडंतस्स ॥१२॥

'चक्खुस्स दंसणस्स य सारो' इति। 'चक्खुस्स' चक्षुषः। द्रव्येन्द्रियमिह चक्षुरिति गृहीतं निर्वृत्तिरुप-करणं च तज्जन्यत्वाद्रूपगोचरं विज्ञानं दर्शनं तस्य संबंधितयोच्यते। ततोऽयमर्थो जायते-चक्षुर्जन्यायाः प्रतीतेः सारो फलं किं 'सप्पादिदोसपरिहरणं' सर्पकंटकादीनां स्पर्शनादिक्रियायाः दुःखदायिन्याः परिहारः सर्पादिभिः संपाद्यत्वात् स्पर्शनभक्षणादिकः क्रियाविशेषः सर्पादिदोष इत्युच्यते, तस्य परिहरणं परिवर्जनं ततोऽयं वाक्यार्थः—यज्ज्ञानं तद्दुःखनिराकरणफलं यथा चक्षुर्जन्यसर्पादिगोचरज्ञानं सर्पादिस्पर्शनभक्षणादिपरिहरणफल-मिति। चक्षुर्ज्ञानमिह चक्षुरुच्यते चक्षुःप्रसूतं ज्ञानं। 'होदि' भवति। 'णिरत्थं' निरर्थकं। 'दट्ठूण' दृष्ट्वा ज्ञात्वा बिलादिकमग्रतः स्थितं, बिलग्रहणमुपलक्षणं उपघातकारिणाम्। 'पडंतस्स' पततः पुरुषस्य।

अत्रापरा व्याख्या—ज्ञानाद्दर्शनाच्चात्मोपकारिविशिष्टफलदायिचारित्रं इत्युक्तं। ननु ज्ञानमिष्टानिष्ट-मार्गोपदर्शि तद् युक्तं ज्ञानस्योपकारित्वमभिधातु इति चेन्न ज्ञानमात्रेणेष्टार्थसिद्धिः, यतो ज्ञानं प्रवृत्तिहीनं असत्समं। अत्र वस्तुनि दृष्टान्तवचनेन निगमयति—'चक्खुस्स दंसणस्स य, इति। ज्ञानदर्शनाभ्यामपि चारित्रस्यात्मोपकारिता कस्मिन्सूत्रे निगदिता येनोक्तमित्युच्यते। अतीतसूत्र इति चैतच्चिन्त्या 'णाणस्स दंसणस्स य सारो चरणं हवे जहाखादं'। इत्यतो वाक्यार्तिक ज्ञानदर्शनाभ्यां चारित्रमेवोपकारीत्ययं प्रत्ययो

दुःखके कारणोंको दूर करना ज्ञानका फल है इस अन्वयकी सिद्धिके लिए दृष्टान्त कहते हैं—

गा०—चक्षुसे देखनेका सार सर्प आदि दोषोंसे दूर रहना है। देखकर भी आगे वर्तमान साँपके बिलमें गिरनेवाले मनुष्यकी आँख व्यर्थ है ॥१२॥

टी०—यहाँ 'चक्षु' से निर्वृत्ति और उपकरणरूप द्रव्येन्द्रियका ग्रहण किया है। उससे उत्पन्न और रूपको जाननेवाले ज्ञानको यहाँ दर्शन कहा है। उससे यह अर्थ होता है—चक्षुसे होनेवाले ज्ञानका फल सर्प, कण्टक आदिकी दुःख देनेवाली क्रिया—काटना या पैरमें लगना आदिसे बचना है। गाथामें सर्पादिदोषसे बचना है। सो सर्प आदिके द्वारा किये जानेवाले स्पर्शन, काटना आदि क्रिया विशेषको सर्पादिदोष कहा जाता है। उसका परिहार फल है। सब वाक्यका अर्थ यह हुआ—जो ज्ञान है उसका फल दुःखका निराकरण है। जैसे चक्षुसे होनेवाले सर्पादिके ज्ञानका फल सर्पादिके स्पर्शसे उनके काटने आदिसे बचना है। यहाँ चक्षुसे चक्षुज्ञान अर्थात् चक्षुसे होनेवाला ज्ञान लेना चाहिए। आगे स्थित साँपके बिल आदिको देखकर भी, जानकर भी, उसमें गिरनेवाले मनुष्यका, चक्षुज्ञान, निरर्थक है।

इस गाथाकी अन्य व्याख्याकार इस प्रकार व्याख्या करते हैं—'ज्ञान और दर्शनसे चारित्र आत्माका विशेष उपकारी और विशिष्ट फलदायी है ऐसा कहा है। यदि कोई कहता है कि ज्ञान इष्ट और अनिष्टमार्गका दर्शक है अतः उसको उपकारी कहना युक्त है। तो उसका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञानमात्रसे इष्टकी सिद्धि नहीं होती, आचरणहीन ज्ञान 'न हुए' के समान है। यहाँ दृष्टान्तके द्वारा उसका समर्थन करते हैं 'चक्खुस्स दंसणस्स' इत्यादि ?

इन व्याख्याकारसे हम पूछते हैं कि ज्ञान और दर्शनसे भी चारित्र आत्माका विशेष उप-कारी है यह किस गाथासूत्रमें कहा है ? यतः आप कहते हैं—'कहा है'। यदि कहोगे कि पिछले

जायते ? एवमिति तदनुभवविरुद्धमाचरतीत्युपेक्ष्यते, न चेत्कथमुक्तमित्युच्यते । किंच तस्य सूत्रस्य या पातनिका कृता ज्ञानदर्शनचारित्रेषु किं प्रधानमित्येव प्रश्ने, प्रधानस्य निरूपणार्थं सूत्रमित्यनया च विरुध्यते ।

'चरणस्स तस्स सारो णिव्वाणमणुत्तरं भणियं' इत्युक्तं चारित्रस्य समतारूपस्य फलमशेषकर्मापाय इत्युक्तं । कर्मापायो हि कथं पुरुषार्थः दुःखनिवृत्तिः सुखं चाभिमतं फलमित्यारेकायां प्रधानपुरुषार्थस्य अखिल-बाधाव्यपगमरूपस्य सुखस्य निबंधनतयोपयोगितामाचष्टे सकलकर्मापायस्य—

णिव्वाणस्स य सारो अव्वाबाहं सुहं अणोवमियं ॥
कायव्वा हु तदट्ठं आदहिदगवेसिणा चेट्ठा ॥१३॥

'णिव्वाणस्स य सारो' इति । निरवशेषकर्मापायस्य सारः फलं । अव्वाबाहं कर्मजन्यसकलदुःखापायः कारणाभावे कार्यस्य अनुत्पत्तेः । 'अणोवमियं' उपमातीतं । 'कायव्वा' कर्तव्या । 'चेट्ठा' चेष्टा । 'तदट्ठं' अव्याबाधसुखार्थम् । 'आदहिदगवेसिणा' आत्महितं मृगयता । क्व चेष्टा कार्या ? आराधनाया मृतावनतिचार-ज्ञानदर्शनचारित्रपरिणतिरूपायां । कस्मात् ?

जम्हा चरित्तसारो भणिया आराहणा पवयणम्मि ।
सव्वस्स पवयणस्स य सारो आराहणा तम्हा ॥१४॥

'जम्हा' यस्मात् 'चरित्तसारो' चारित्रस्य ज्ञाने दर्शने पापक्रियानिवृत्तौ च प्रयतस्य, चरणं प्रवृत्तिः

गाथासूत्रमें कहा है तो यह मिथ्या कथन है 'ज्ञान और दर्शनका सार यथाख्यात चारित्र है' इस वाक्यसे 'ज्ञान और दर्शनसे चारित्र विशेष उपकारी है' ऐसा बोध होता है क्या ? यदि कहोगे 'होता है' तो आपका आचरण अनुभव विरुद्ध है अतः वह उपेक्षणीय है । यदि कहोगे 'नहीं होता' तो आपने ऐसा क्यों कहा ?

दूसरे, उस गाथासूत्रकी जो उत्थानिका है उसमें 'ज्ञान दर्शन चारित्रमें कौन प्रधान है' ऐसा प्रश्न करनेपर प्रधानका कथन करनेके लिए गाथासूत्र कहते हैं ऐसा कहा है, उससे भी विरोध आता है ॥१२॥

'चरणस्स तस्स सारो' इत्यादिमें समतारूप चारित्रका फल समस्त कर्मोंका विनाश कहा है । किन्तु कर्मोंका विनाश पुरुषार्थ कैसे है ? दुःखकी निवृत्ति और सुखको फल कहा है ऐसी आशङ्का होनेपर ग्रन्थकार प्रधान पुरुषार्थ जो बाधारहित सुख है, उसका कारण होनेसे समस्त-कर्मोंके विनाशकी उपयोगिता बतलाते हैं—

गा०—निर्वाणका सार बाधारहित उपमारहित सुख है । अतः आत्महितके खोजीको उस अव्याबाध सुखकी प्राप्तिके लिए चेष्टा करना चाहिए ॥१३॥

टी०—समस्तकर्मोंके विनाशका फल कर्मजन्य समस्त दुःखोंसे रहित, उपमारहित सुख है । अतः आत्महितके खोजीको, उस बाधारहित सुखके लिये, चेष्टा करना चाहिए । अर्थात् निरतिचार ज्ञानदर्शनचारित्रकी परिणतिरूप आराधनाको अपनाना चाहिए ॥१३॥

गा०—क्योंकि प्रवचनमें चारित्रका फल आराधना कहा है । इसलिए समस्त प्रवचनका सार आराधना ही है ॥१४॥

टी०—ज्ञानमें, दर्शनमें, और पापकर्मसे निवृत्तिमें जो प्रयत्नशील है उसकी परिणतिको

परिणतिरिह चारित्रशब्देन गृहीता, ततोऽयमर्थो लभ्यः 'सारः' फलमिति । 'भणिया' कथिता । 'आराहणा' आराधना मृतौ अनतिचाररत्नत्रयता । 'पवयणम्मि' प्रोच्यते दृष्टेष्टप्रमाणाविरुद्धेन जीवादयः पदार्था अनेनास्मिन्वेति प्रवचनं जिनागमस्तस्मिन् । अतिशयवत्ताराधनाया प्रक्रांताया उपसंहरत्युत्तरार्धेन सव्वस्स इत्यादिना । 'सव्वस्स' समस्तस्य । 'पवयणस्स' जिनागमस्य । 'सारो' अतिशयः । 'आराहणा' आराधना व्यावर्णितरूपा । 'तम्हा' तस्मात् । च शब्द एवकारार्थः । स आराधनाशब्दात्परतो द्रष्टव्यः आराधनैव सार इति ।

अन्यत्र व्याख्या—यदिदमुक्तं फलं एतच्चारित्रमात्रादुत विशिष्टाज्जायते इत्याह—जम्हा चरित्तसारो इति । किं पातनिकार्थो गाथायां संवादमुपयाति न चेतीत्यत्र श्रोतारः प्रमाणं ॥१४॥

कस्मात् ? अतिशयवत्त्याराधनागमेऽभिहिता यस्मात्—

सुचिरमवि णिरदिचारं विहरित्ता णाणदंसणचरित्ते ॥
मरणे विराधयित्ता अणंतसंसारिओ दिट्ठो ॥१५॥

'सुचिरं' अतिचिरकालमपि । 'णिरदिचारं' अतिचारमंतरेण । 'विहरित्ता' विहृत्य । क्व ? 'णाणदंसणचरित्ते' ज्ञाने श्रद्धाने समतायां च । 'मरणे' भवपर्यायविनाशकाले । विराधयित्ता रत्नत्रयपरिणामान्विनाश्य मिथ्यादर्शनेऽज्ञानेऽसंयमे परिणतो भूत्वा । 'अणंतसंसारिओ' अनंतभवपर्यायपरिवर्तने उद्यतः । 'दिट्ठो' दृष्टः । देशोनं पूर्वकोटीकालं अनतिचाररत्नत्रयप्रवृत्तानामपि मरणकाले ततः प्रच्युतानां मुक्त्यभावं संसारे चिरपरिभ्रमणकथनव्याजेन वर्शनं वर्णयति सूत्रकारः ॥१५॥

यहाँ चारित्रशब्दसे ग्रहण किया है। तब यह अर्थ प्राप्त होता है कि चारित्रका फल, प्रवचनमें—जिसके द्वारा अथवा जिसमें जीवादिपदार्थ प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे अविरुद्ध कहे जाते हैं वह प्रवचन अर्थात् जिनागम है उसमें, आराधनाको कहा है। गाथाके उत्तरार्धद्वारा प्रकरण प्राप्त आराधनाकी अतिशयवत्ताका उपसंहार करते हैं—इस कारण से समस्त जिनागमका सार आराधना है। गाथामें जो 'य' च शब्द है वह एवकार (ही) के अर्थमें है और उसे आराधना शब्दके आगे लगाना चाहिए अर्थात् जिनागमका सार आराधना ही है।

अन्यत्र इस गाथाकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—यह जो फल कहा है वह चारित्र सामान्यसे प्राप्त होता है या विशिष्टचारित्रसे प्राप्त होता है। इसके उत्तरमें आचार्यने 'जम्हा चरित्तसारो' आदि गाथा कही है। हमारा प्रश्न है कि इस आपकी उत्थानिकाके अर्थका गाथाके साथ मेल खाता है क्या ? इस विषयमें श्रोतागण ही प्रमाण हैं। हम अधिक क्या कहें ॥१४॥

आगममें आराधनाकी अतिशयवत्ता क्यों कही है इसका समाधान करते हैं—

गा०—ज्ञान श्रद्धान और चारित्रमें बहुत कालतक भी अतिचार बिना विहार करके मरणकालमें विराधना करके अनन्तभव धारण करनेवाला देखा गया है ॥१५॥

टी०—ज्ञानमें, दर्शनमें और समतारूप चारित्रमें सुदीर्घकालतक अतिचार रहित विहार करके भी अर्थात् ज्ञानदर्शनचारित्रका निर्दोष पालन करके भी जब उस पर्यायके विनाशका समय आवे अर्थात् मरते समय यदि रत्नत्रयरूप परिणामोंको नष्ट करके मिथ्यादर्शन, अज्ञान और असंयमरूप परिणामोंको अपनावे तो उसका संसार अनन्त होता है। अर्थात् कर्मभूमिमें मनुष्यपर्यायकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकोटी होती है। आठ वर्षकी अवस्थाके पश्चात् संयम धारण करके कुछ कम एक पूर्वकोटिकालतक उसका निरतिचार पालन किया। किन्तु मरणकाल आनेपर

अनुपगतमिथ्यात्वस्य अविचलितचारित्रस्यापि परीषहपरिभवादुपगतसंक्लेशस्य महती संसृतिरिति भयोपदर्शनेन संक्लेशः परित्याज्यः इति निगदति सूत्रकारः 'समिदीसु य' इत्यादिना—

समिदिसु य गुत्तीसु य दंसणणाणे य णिरदिचाराणं ।
आसादणबहुलाणं उक्कस्सं अंतरं होई ॥ १६ ॥

अन्ये व्याचक्षते—"उक्तस्यानंतसंसारस्य प्रमाणप्रतिपादनाय आयाता गाथा अनंतस्यानंतविकल्पत्वात् अनंतविशेषः प्रतिपादनीयः" इति । अस्यां व्याख्यायां उक्कस्सं अंतर होदीत्येतावदुपयुज्यते । इतरस्य वचनसंदर्भस्य अनर्थकत्वं प्रसज्यत इति । समिदीसु य सम्यगयनादिषु अयनं समितिः, सम्यक्श्रुतज्ञाननिरूपितक्रमेण गमनादिषु वृत्तिः समितिः । सावद्ययोगेभ्य आत्मनो गोपनं गुप्तिः । वस्तुयाथात्म्यश्रद्धानं दर्शनं । अपेतमिथ्यात्वकलंकस्यात्मनो वस्तुतत्त्वपरिज्ञानं मत्यादिक्षायोपशमिकं ज्ञानं । क्षायिके सति ज्ञाने आसादनाया असंभवः । मोहजन्यत्वात्संक्लेशस्य, मोहस्य च केवलज्ञानोत्पत्तेः प्रागेव विनष्टत्वात् । तथा चोक्तं—'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्' [त० सू० १०।१] इति । वीतरागसम्यक्त्वं चेह न गृहीतम् । मोहप्रलय-

---

उससे च्युत हो गया तो संसारमें चिरकालतक भ्रमण करना पड़ता है । इस चिरकाल परिभ्रमणके बहानेसे सूत्रकार उसकी मुक्तिका अभाव बतलाते हैं ॥१५॥

जो मिथ्यात्वभावको प्राप्त नहीं हुआ है जिसका चारित्र भी निश्चल है फिर भी यदि वह परीषहसे घबराकर संक्लेशभावको प्राप्त होता है तो उसका संसार सुदीर्घ है, ऐसा भय दिखलाकर ग्रन्थकार संक्लेशको त्यागनेका उपदेश देते हैं—

गा०—समितियोंमें और गुप्तियोंमें और दर्शन और ज्ञानमें जो अतिचार रहित प्रवृत्ति करते हैं । किन्तु मरणकाल आने पर परीषहके भयसे समिति आदिमें बारम्बार दोष लगाते हुए संक्लेश परिणाम करते हैं उनका अर्धपुद्गल परावर्तन काल प्रमाण उत्कृष्ट अन्तर होता है । अर्थात् मरते समय रत्नत्रयसे च्युत होकर पुनः उतना काल बीतने पर रत्नत्रय प्राप्त करते हैं ॥१६॥

टीका—अन्य व्याख्याकार कहते हैं कि 'ऊपर जो अनन्त संसार कहा है उसका प्रमाण बतलानेके लिए यह गाथा आई है । क्योंकि अनन्तके अनन्त भेद होते हैं अतः अनन्तविशेषका कथन करना आवश्यक था । इस व्याख्यामें 'उत्कृष्ट अन्तर होता है' गाथा के इस अन्तिम चरणकी उपयुक्तता तो होती है, किन्तु शेष वचन रचना निरर्थक पड़ जाती है । अस्तु ।

सम्यक् अयनको समिति कहते हैं । सम्यक् अर्थात् श्रुतज्ञानमें कहे गये क्रमके अनुसार चलने आदिमें प्रवृत्ति करना समिति है । सावद्य योगोंसे अर्थात् सदोष मन वचन कायकी प्रवृत्तिसे आत्माका गोपन अर्थात् रक्षण करना गुप्ति है । वस्तुका जैसा स्वरूप है वैसा ही श्रद्धान सम्यग्दर्शन है । मिथ्यात्वरूप कलंकसे रहित आत्माके वस्तुतत्त्वके परिज्ञानको मति आदिरूप क्षायोपशमिक ज्ञान कहते हैं । यहाँ क्षायोपशमिक ज्ञानको ही लेनेका हेतु यह है कि क्षायिकज्ञानके होते उसमें दोष लगाना असम्भव है । क्योंकि संक्लेश मोहके उदयसे होता है और मोहकर्म केवलज्ञानके उत्पन्न होनेसे पहले ही नष्ट हो जाता है । कहा भी है—'मोहके क्षयसे तदनन्तर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायके क्षयसे केवलज्ञान होता है ।'

यहाँ दर्शनसे वीतराग सम्यक्त्वका ग्रहण नहीं किया गया है क्योंकि मोहका नाश हुए बिना वीतरागता नहीं होती ।

मन्तरेण वीतरागता नास्तीति । ईर्यासमितेरतिचारः मंदालोकगमनं, पदविन्यासदेशस्य सम्यगनालोचनम्, अन्यगतचित्तादिकम् । इदं वचनं मम वक्तुं युक्तं न वेति अनालोच्य भाषणं, अज्ञात्वा वा । अत एवोक्तं 'अपुट्ठो दु ण भासेज्ज भासमाणस्स अंतरे' इति । अपुष्टश्रुतधर्मतया मुनिः अपुष्ट इत्युच्यते । भाषासमिति-क्रमानभिज्ञो मौनं गृह्णीयात् इत्यर्थः । एवमादिको भाषासमित्यतिचारः । उद्गमादिदोषे गृहीतं भोजनमनु-मननं वचसा, कायेन वा प्रशंसा, तैः सहवासः, क्रियासु प्रवर्तनं वा एषणासमित्यतीचारः । आदातव्यस्य, स्थाप्यस्य, वा अनालोचनं, किमत्र जंतवः सन्ति न सन्ति वेति दुःप्रमार्जनं च आदाननिक्षेपणसमित्यतिचारः । कायभूम्यशोधनं, मलसंपातदेशानिरूपणादि, पवनसंनिवेशदिनकरादिप्रतिकूलक्रमेण वृत्तिश्च प्रतिष्ठापनासमित्यतिचारः । असमाहितचित्ततया कायक्रियानिवृत्तिः कायगुप्तेरतिचारः । एकपादादिस्थानं वा जनसंचरणदेशे, अशुभध्याना-भिनिविष्टस्य वा निश्चलता । आप्ताभासप्रतिबिंबाभिमुखतया वा तदाराधनाव्यापृत इवावस्थानं । सचित्तभूमौ संपतत्सु समंततः अशेषेषु महति वा वाते हरितेषु; रोषाद्वा दर्पाद्वा तूष्णीं अवस्थानं निश्चला स्थितिः कायोत्सर्गः कायगुप्तिरित्यस्मिन्पक्षे शरीरममतायाः अपरित्यागः कायोत्सर्गदोषो वा कायगुप्तेरतिचारः । रागादि-सहिता स्वाध्याये वृत्तिर्मनोगुप्तेरतिचारः । [1]शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दर्शनातीचाराः । द्रव्यक्षेत्रकालभावशुद्धिमंतरेण श्रुतस्य पठनं श्रुतातिचारः । अक्षरपदादीनां न्यूनताकरणं, अतिवृद्धिकरणं, विप-

---

मन्द प्रकाशमें चलना, पैर रखनेके स्थानको अच्छी तरह न देखना, गमन करते समय चित्तका उपयोग अन्यत्र होना, ये ईर्यासमितिके अतीचार हैं। यह वचन मुझे कहना युक्त है अथवा नहीं, ऐसा विचार किये बिना बोलना, या बिना जाने बोलना। इसीसे कहा है—'बोलने-वालेके बीचमें बिना समझे नहीं बोलना चाहिये।' ऐसे मुनिको जिसने शास्त्रकी बातको पुष्ट रूपसे नहीं सुना है अपुष्ट कहा है। अपुष्ट मुनिको बीचमें नहीं बोलना चाहिये। भाषा-समितिके क्रमसे जो अनजान है उसे मौन ले लेना चाहिये। इत्यादि भाषा समितिके अतीचार हैं। उद्गम आदि दोष होने पर भी भोजन ले लेना, वचन से उसकी अनुमति देना, कायसे उसकी प्रशंसा करना, ऐसे मुनियोंके साथ रहना, या क्रियाओंमें उनके साथ प्रवृत्ति करना, एषणासमिति-के अतीचार हैं। जो वस्तु ग्रहण करने योग्य या रखने योग्य है, उसे ग्रहण करते या स्थापित करते समय 'यहाँ जन्तु हैं या नहीं' ऐसा नहीं देखना या पिच्छिकासे सावधानता पूर्वक प्रमार्जन न करना आदाननिक्षेपण समितिके अतीचार हैं। शरीर और भूमिका शोधन न करना, मलत्याग करनेके स्थानको न देखना आदि प्रतिष्ठापना समितिके अतीचार हैं। चित्तके असावधान रहते हुए शारीरिक क्रियाका रोकना कायगुप्तिका अतीचार है। जहाँ मनुष्य आते जाते हैं वहाँ एक पैर आदिसे खड़े होना, अशुभ ध्यानमें लीन होकर निश्चल होना, मिथ्या देवताओंकी मूर्तिके सन्मुख ऐसे खड़े होना मानों उनकी आराधनामें लगे हैं, सचित्त भूमिमें जहाँ चारों ओर हरित वनस्पति फैली है, क्रोध या घमण्डसे मौनपूर्वक निश्चल खड़े होना कायगुप्तिके अतीचार हैं।

जो कायोत्सर्गको कायगुप्ति मानते हैं उनके पक्षमें शरीरसे ममत्वको न छोड़ना अथवा जो कायोत्सर्गके दोष कहे हैं वे कायगुप्तिके अतीचार हैं। स्वाध्यायमें रागादिसहित प्रवृत्ति मनोगुप्तिका अतीचार है। शङ्का, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टियोंकी प्रशंसा, संस्तव ये सम्यग्दर्शनके अती-चार हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी शुद्धिके बिना श्रुतका पढ़ना श्रुतका अतीचार है। अक्षर

---

१. 'शंका'''सम्यग्दृष्टेरतीचाराः'—त० सू० ७।२३।

पौर्वापर्यरचनाविपरीतार्थनिरूपणा ग्रंथार्थयोर्वैपरीत्यं चमी ज्ञानातिचाराः । उक्तातिचारविगमो निरतिचारता चारित्रादीनाम् ।

मरणकाले रत्नत्रयपरिणामाभावे दोष उक्तः । इदानीमाराधनाफलातिशयख्यापनायाह—

दिट्ठा अणादिमिच्छादिट्ठी जम्हा खणेण सिद्धा य ॥
आराहया चरित्तस्स तेण आराहणा सारो ॥ १७ ॥

दिट्ठा इत्यादिकं । 'दिट्ठा' दृष्टा उपलब्धाः । 'अणादिमिच्छादिट्ठी' अनादिमिथ्यादृष्टयः । भद्दणादयो राजपुत्रास्तस्मिन्नेव भवे त्रसतामापन्नाः अत एवानादिमिथ्यादृष्टयः प्रथमजिनपादमूले श्रुतधर्मसाराः समारोपितरत्नत्रयाः । 'जम्हा' यस्मात्क्षणेन क्षणग्रहणं कालस्याल्पत्वोपलक्षणार्थम्, अन्यथा क्षणस्याऽल्पकालतया कर्मघातनस्य कर्तुमशक्यत्वात्, सकलकर्मघातनपुरस्सरं सिद्धत्वमेव न स्यात् । 'सिद्ध य' सिद्धाश्च परिप्राप्ताशेषज्ञानादिस्वभावाः, चशब्देन निरस्तद्रव्यभावकर्मसंहतयश्च, दृष्टा आराधनासंपादकाः । चरित्तस्स चारित्रस्य । चारित्रग्रहणं रत्नत्रयोपलक्षणं । एतेन चारित्राराधनां स्तौति इत्येतद्व्याख्यानं निरस्तं । चारित्राराधनास्तवनस्य नाय प्रस्तावः । आयुरंते रत्नत्रयपरिणतिरिह प्रक्रांता स्तोतुं, किमुच्यते चारित्राराधनां स्तौतीति ।

पद आदिको कम करना या उनको बढ़ाना, आगेको पीछे और पीछेके पाठको आगे करके पौर्वापर्य रचनामें विपरीतता करना, विपरीत अर्थ करना, ग्रन्थ और अर्थमें विपरीतता करना, ये ज्ञानके अतीचार हैं। चारित्र आदिमें कहे अतिचारोंको न लगाना निरतिचारता है।

विशेषार्थ—पं० आशाधरने अपने मूलाराधना दर्पणमें लिखा है कि जयनन्दि इस गाथाको पूर्वकी गाथाकी संवादगाथा मानते हैं ॥१६॥

मरते समय रत्नत्रयरूप परिणामोंका अभाव होनेमें दोष कहा। अब आराधनाके फलका अतिशय कहते हैं—

गा०—क्योंकि रत्नत्रयके आराधक अनादिमिथ्यादृष्टि क्षणमात्रमें अर्थात् अल्पकालमें द्रव्यकर्म भावकर्मसे रहित सिद्ध देखे गये हैं। इसलिये आराधना सार है ॥१७॥

टीका—भद्दण आदि राजपुत्रोंने उसी भवमें त्रसपर्याय प्राप्त की थी। अतएव वे अनादिमिथ्यादृष्टि थे। उन्होंने भगवान् ऋषभदेवके पादमूलमें धर्मका सार सुनकर रत्नत्रय धारण किया था और क्षणमात्रमें सिद्धत्व पद प्राप्त किया था। यहाँ 'क्षण' शब्दका ग्रहण कालकी अल्पताके उपलक्षणके लिये किया है। अन्यथा 'क्षण' बहुत छोटा काल है उतने कालमें समस्त कर्मोंका नाश करना अशक्य है और तब समस्त कर्मोंके विनाशपूर्वक होनेवाला सिद्धत्व ही प्राप्त नहीं हो सकता। जिन्होंने समस्त ज्ञानादिस्वभावको प्राप्त कर लिया है और 'च' शब्दसे द्रव्यकर्म और भावकर्मोंके समूहको नष्ट कर दिया है उन्हें सिद्ध कहते हैं। यहाँ चारित्रका ग्रहण रत्नत्रयका उपलक्षण है।

अतः जो 'चारित्राराधनाका स्तवन करते हैं' ऐसा व्याख्यान करते हैं उसका निरास कर दिया है। यह प्रकरण चारित्राराधनाके स्तवनका नहीं है। यहाँ तो आयुके अन्त समयमें रत्नत्रयरूप परिणतिका स्तवन है। तब चारित्राराधनाके स्तवनकी बात क्यों करते हैं।

भावार्थ—अनादिकालसे मिथ्यात्वका उदय होनेसे नित्यनिगोदपर्यायमें रहकर भद्र-विवर्द्धन आदि ९२३ भरतचक्रवर्तीके पुत्र हुए और उन्होंने भगवान् ऋषभदेवके पादमूलमें धर्म सुनकर

'समस्त पवयणस्स य सारो आराहणा तम्हा' इति यदुच्यते, यस्मिन्नेव काले मरणं तस्मिन्नेव काले रत्नत्रयपरिणतेन भाव्यं हितार्थिना अन्यथा किमिति चारित्रे तपसि च प्रयासः क्रियते इति शिष्यशंकामुपन्यस्यति सूत्रकारः—

जदि पवयणस्स सारो मरणे आराहणा हवदि दिट्ठा।
किंदाइं सेसकाले जदि जददि तवे चरित्ते य ॥ १८ ॥

जदि पवयणस्स इत्यादिना। 'पवयणस्स' प्रवचनस्य। 'सारो' अतिशय इति। 'मरणे' आयुरंते। 'आराहणा' आराधना रत्नत्रयपरिणतिः। 'जदि दिट्ठा' इति पदसंबंधः। यद्युपलब्धा। 'हवदि' भवेत्। 'किदाइं' किमिदानीं। 'सेसकाले' मरणकालादन्यः कालः शेषकालस्तत्र 'जदवि' प्रयतनं क्रियते। क्व 'तवे' तपसि, 'चरित्ते' सामायिकादिके सावद्यक्रियापरिहारात्मके। चशब्दात् ज्ञानदर्शनयोश्च। एतदुक्तं भवति—ग्रहणकालादिषु भावितरत्नत्रयस्यापि मरणे तदभावे यदि सिद्धिः, अकृतभावनस्यापि मृतौ रत्नत्रयसान्निध्यात्सा सिद्धिर्यदि भवति मरणधना सा महती संसृतिमावहति। अन्यदा भावनायामपि विराधनायां मृतिकाले रत्नत्रयोपपत्ती संसारोच्छित्तिर्भवत्येव। ततो मरणकाले प्रयत्नः कार्य इत्यस्माभिरुपन्यस्त। इतरकालवृत्तं तु रत्नत्रय संवरनिर्जरयोर्घातिकर्मणां च क्षयनिमित्तं इतीष्यत एव। तथा चोक्तं—'सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानंतवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशांतमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः' [त०सू० ९।४५] इति।

रत्नत्रय धारण किया और अल्पकालमें ही सिद्धपद प्राप्त किया। इससे सिद्ध होता है कि आयुके अन्तमें आराधना सर्वोत्कृष्ट है ॥१७॥

यदि 'समस्त प्रवचनका सार आराधना है' तो जिस कालमें मरण हो उसी कालमें अपना हित चाहनेवालेको रत्नत्रय धारण करना चाहिए, अन्यकालमें चारित्र और तपमें प्रयास क्यों किया जाये ? शिष्यकी इस शंकाको गाथासूत्रकार उपस्थित करते हैं—

गा०—प्रवचनका अतिशय आयुके अन्तमें आराधना यदि देखी जाती है। तो क्यों इस समय मरणकालसे अन्यकालमें यति तप चारित्र और ज्ञानदर्शनमें यत्न करता है ? ॥१८॥

टीका—गाथामें आये 'च' शब्दसे ज्ञान और दर्शन लेना चाहिए। कहनेका आशय यह है कि मरणकालसे भिन्नकालमें अर्थात् दीक्षा ग्रहण, शिक्षाकाल आदिमें रत्नत्रयका पालन करनेपर भी यदि मरणकालमें उसका पालन न किया जाये तो मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती, और अन्यकालमें रत्नत्रयकी भावना न करके भी मरते समय रत्नत्रय धारण करनेसे वह मुक्ति यदि प्राप्त होती है तब तो मरणकालमें होनेवाला रत्नत्रय ही मोक्षका कारण हुआ। अतः शेषकालमें उसका प्रयास करना निष्फल हुआ।

इसका उत्तर देते हैं—मरण समय जो रत्नत्रयकी विराधना है वह संसारको बहुत दीर्घ करती है। किन्तु अन्यकालमें विराधना होनेपर भी मरते समय रत्नत्रय धारण करनेपर संसारका उच्छेद होता ही है। अतः मरणकालमें प्रयत्न करना चाहिए यह हमने कहा है। अन्य कालोंमें धारण किया गया रत्नत्रय संवर, निर्जरा और घातिकर्मोंका क्षय करनेमें निमित्त होता है इसलिए उसे हम स्वीकार करते ही हैं। तत्त्वार्थसूत्रमें कहा है—सम्यग्दृष्टि, श्रावक, मुनि अनन्तानुबन्धी-कषायका विसंयोजन करनेवाला, दर्शनमोहका क्षय करनेवाला, उपशम श्रेणीवाला, उपशान्तमोह, क्षपकश्रेणिवाला, क्षीणमोह और जिन इनके क्रमसे असंख्यातगुनी असंख्यातगुनी निर्जरा होती है।

एतैरसंख्यातगुणनिर्जराः सम्यग्दर्शनादिगुणनिमित्तास्तत्कथमफलता । क्षायिकं सम्यक्त्वं ज्ञानं चारित्रं च यत्साध्यं तदपि अन्यकाल एव प्राक्कालभूतयापि भावनया ।

तदैव चोद्यं चोद्यते इति चेतसि कृत्वा सूरिस्तर्कानुसारेणापि परिहर्तुं शक्यते इत्याचष्टे—

> आराहणाए कज्जे परियम्मं सव्वदा वि कायव्वं ।
> परियम्मभाविदस्स हु सुहसज्झाराहणा होइ ॥ १९ ॥

आराहणाए कज्जे इति । आराधनाशब्दः सम्यग्दर्शनादिपरिणामसंसिद्धिमनाश्रितकालभेदां प्रतिपादयितुं क्षमतोऽपि मरणे विराधयित्ता इत्यत्र मरणकालविशेषस्य प्रस्तुतत्वात् प्रकरणानुरोधेन तद्विषयामेवाराधनां गृह्णते । ततोऽयमर्थः—मृतिकालगोचररत्नत्रयसिद्धयर्थं 'परियम्मं' परिकर्म परिकरः । 'सव्वदा' सर्वस्मिन्नपि काले—ग्रहणकालः, शिक्षाकालः, प्रतिसेवनाकाल सल्लेखनाकालश्चेह सर्वशब्देन गृह्यते । 'कायव्वं' अवश्य-करणीयं । कुतोऽयं नियोग इत्याशंक्याह—'परियम्मभाविदस्स' 'खु' परिकरेण भावितस्यैव 'खु' शब्दोऽव-धारणार्थः । 'सुहसज्झा' होदि' सुखेन क्लेशमंतरेण साध्या भवति । का 'आराधणा' आराधना मृतिगोचरा ।

येन हि यत्साध्यं तेन पूर्वं तस्य परिकरोऽनुष्ठेय इत्यमुं अर्थं दृष्टांतबलेन साधयितुमुत्तरसूत्रम् । तथा च वदंति 'दृष्टांतसिद्धावुभयोर्विवादे साध्यं प्रसिद्धयेत्' [स्वयंभू० स्तो० ५४] इति ।—

> जह रायकुलपसूओ जोग्गं णिच्चमवि कुणइ परियम्मं ।
> तो जिदकरणो जुद्धे कम्मसमत्थो भविस्सदि हि ॥ २० ॥

तो जब इनके सम्यग्दर्शन आदि गुणोंके निमित्तसे असंख्यात गुणी निर्जरा होती है तो वे निष्फल कैसे हैं ? जो साध्य है क्षायिक सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र वह सब, अन्यकालमें की गई रत्नत्रय भावनासे प्राप्त होता ही है ॥१८॥

उक्त गाथामें उठाये गये तर्कको मनमें रखकर आचार्य तर्कके अनुसार भी उसका परिहार हो सकता है यह कहते हैं—

गा०—आराधनाके कार्यके लिये परिकर्म सभी कालमें करना चाहिये; क्योंकि परिकर्म करने वालेके ही आराधना सुखपूर्वक साध्य होती है ॥१९॥

टी०—यद्यपि आराधना शब्द कालभेदका आश्रय न लेकर सम्यग्दर्शन आदि परिणामोंकी सम्यक् सिद्धिको कहता है तथापि १९ वीं गाथामें 'मरणे विराधयित्ता' ऐसा कहनेसे मरणकाल विशेषके प्रस्तुत होनेसे प्रकरणके अनुरोधसे मरणकाल सम्बन्धी आराधनाके अर्थमें यहाँ लिया गया है। तब यह अर्थ होता है—मरते समयके रत्नत्रयकी सिद्धिके लिये सर्वदा, ग्रहणकाल, शिक्षाकाल, प्रति सेवनाकाल और सल्लेखना काल इन सब कालोंमे परिकर्म अर्थात् सम्यक्त्वादि अनुष्ठान करना चाहिये; क्योंकि जो अन्यकालोंमें भी रत्नत्रयके परिकरका पालन करता है उसीके मरते समयकी आराधना सुखपूर्वक होती है ॥१९॥

जो व्यक्ति जिस कामको सिद्ध करना चाहता है उसे पहले उसकी साधन सामग्रीका आयो-जन करना चाहिये, इस बातको दृष्टान्तके बलसे साधन करनेके लिये आगेकी गाथा कहते हैं। क्योंकि समन्तभद्र स्वामीने कहा है कि वादी और प्रौर प्रतिवादीमें विवाद हो तो दृष्टान्तकी सिद्धि होने पर साध्यकी सिद्धि होती है—

'बहु' यथा । 'रायकुलपसूदो' राजपुत्रः । 'जोग्गं' योग्यं । प्रहरणक्रियायाः 'परियम्मं' परिकर्म परिकरं । 'णिच्चमवि' समरकालात्प्राक् प्रतिदिवसमपि । 'कुणदि' करोति । 'तो' ततः पश्चात् । 'जिदकरणो' क्रियंते रूपादिगोचराः विज्ञप्तय एभिरिति करणानि इंद्रियाण्युच्यंते क्वचित्करणशब्देन । क्वचिदन्यत्र क्रियानिष्पत्तौ यदतिशयितं साधकं तत्करणमिति साधकतममात्रमुच्यते । क्वचित्तु क्रियासामान्यवचनः यथा 'डुकृञ् करणे' इति । अत्र क्रियावाची गृहीतः । जितशब्दश्च स्ववशीकरणवृत्तिस्तथा जितभार्यः स्ववशीकृतभार्य इति गम्यते । तेनायमर्थः स्ववशीकृतक्रियः सन् 'जुद्धे' युद्धे समरे 'कम्मसमत्थो' कर्मसमर्थः । कर्मशब्दो अनेकार्थः । मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमादकषायैर्ज्ञानप्रतिबंधादिसामर्थ्याध्यासितानि क्रियंते इति कर्माणि ज्ञानावरणादीनि । कर्तुः क्रियया व्यापक-त्वेन विवक्षितमपि कर्म, यथा 'कर्मणि द्वितीयेति' । तथा क्रियावचनोऽपि अस्ति, किं कर्म करोषि ? कां क्रिया-मित्यर्थः । इह क्रियावाची गृहीतः । सा चात्र क्रियाऽभ्यसनप्रहरणताडनादिका तस्यां 'समत्थो भविस्सदि' समर्थो भविष्यामीति । यो यत्साधयितुं वांछति स तत्परिकर्मणि प्राक् प्रयतते, यथा रिपून्निहन्तुकामो हनन-कर्मोपायं अस्त्रशिक्षां करोति इत्येतावानर्थो दर्शितोऽनया गाथया ।

इदानीं हेतोः पक्षधर्मयोजनायाह—

इयसामण्णं साधू वि कुणदि णिच्चमवि जोगपरियम्मं ।
तो जिदकरणो मरणे झाणसमत्थो [1]भविस्सइदि ॥ २१ ॥

गा०—जैसे राजपुत्र योग्य शस्त्र प्रहारका अभ्यास युद्धकालसे पहले प्रतिदिन भी करता है । पश्चात् शस्त्र प्रहार रूप क्रियाको अपने अधीन करके युद्ध करनेमें समर्थ होता है ॥२०॥

टी०—जिनके द्वारा रूपादि विषयक ज्ञान किया जाता है उन्हें करण कहते हैं । इस प्रकार कहीं 'करण' शब्दसे इन्द्रियाँ कही जाती हैं । अन्यत्र क्रियाकी निष्पत्तिमें जो सर्वाधिक साधक होता है उसे करण कहते हैं । साधकतमको करण कहा है । कहीं पर करण शब्द क्रिया सामान्यका वाचक है जैसे 'डुकृञ् करणे । यहाँ करण शब्द क्रियावाची ग्रहण किया है । और जित' शब्दका अर्थ अपने वशमें करना है । जैसे 'जितभार्य शब्दसे भार्याको अपने वशमें करने वाले पुरुषका बोध होता है । अतः 'जितकरण' का अर्थ क्रियाको अपने वशमें करने वाला होता है ।

इसी तरह 'कम्मसमत्थो' में कर्म शब्दके अनेक अर्थ हैं । मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषायके द्वारा ज्ञानको रोकने आदिकी शक्तिसे युक्त जो किये जाते हैं उन ज्ञानावरण आदिको कर्म कहते हैं । तथा कर्ताकी क्रियाके द्वारा व्यापक होने रूपसे जो विवक्षित होता है उसे भी कर्म कहते हैं । जैसे 'कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है' । कर्म शब्द क्रियावाचक भी है । जैसे क्या कर्म करते हो अर्थात् क्या क्रिया करते हो । यहाँ कर्म शब्द क्रियावाची लिया है । यहाँ मारना, प्रहार करना आदि क्रिया की गई है ।

जो जिसको साधन करना चाहता है वह पहले उसके परिकर्ममें लगता है जैसे जो शत्रुओं को मारना चाहता है वह मारनेके उपाय अस्त्र शिक्षामें लगता है । इतना अर्थ इस गाथासे बत-लाया है ॥२०॥

अब उक्त दृष्टान्तकी योजना प्रकृत धर्मीमें करते हैं—

गा०—इसी प्रकार साधु भी ध्यानका परिकर्म जो (सामण्णं) श्रामण्य है उसे नित्य भी

१. भविस्संति–मु० ।

इय सामण्णमिदि । 'इय' एव । 'सामण्णं' समणस्स भावो सामण्णं समता इत्यभियुक्ता निरुक्तिमाहुः । यद्भतोऽस्यार्थस्याभिधानप्रत्ययौ इति भाववाचकेन शब्देन द्रव्यशब्दस्य वृत्तौ [1]निमित्तभूतो गुण उच्यते । तथा चोक्तम्—'यस्य गुणस्य भावाद्द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने त्वतलाविति', ततोऽपि समण इत्यस्य शब्दस्य जीवे प्रवृत्तौ किं निमित्तं गुणः समता, क्व जीविते, मरणे, लाभेऽलाभे, सुखे, दुःखे, बंधुषु, रिपौ च । एतेषु रागः क्वचित्क्वचिद्द्वेषश्चासमानता, तदुभयाकरणं जीवितादिस्वरूपपरिज्ञानं समचित्तता । अर्थयाथात्म्यग्राहित्वेन जीवितादिविषयाणां ज्ञानानां समता । जीवितं नाम प्राणधारणं तदायुरायत्तं न ममेच्छया वर्तते, सत्यामपि तस्यां प्राणानामनवस्थानात् । सर्वं हि जगदिच्छति प्राणानामनपायं न च तेऽवतिष्ठन्ते । मरणं नाम इंद्रियादिप्राणेभ्यो विगम आत्मनः । तथा चोक्तम्—'मृङ् प्राणत्यागे' [ ] इति । त्यागो हि वियोग आत्मनः सकाशात् प्राणानां पृथग्भावः । स चायुःसंज्ञितानां पुद्गलानां अशेषगलनात् । अत्र द्रव्येंद्रियाणां उपघातकशरादिद्रव्यसंपाताद्भावेंद्रियस्य चोपयोगस्य विनाशः तदावरणोदयात् । तदुदयादेव च लब्धेरभावः । वीर्यान्तरायोदयात्त्रिविधबलप्राणहानिः । मुखस्य नासिकायाश्च पिधानात् श्लेष्मादिनावरोधात् उच्छ्वासनिश्वासहानिः । अभिमतस्य लाभो लाभांतरायक्षयोपशमात् । अलाभस्तदुदयात् । सुखं नाम प्रीतिः सद्वेद्योदयात् अभिलषितविषयसान्निध्यात् । दुःखं तु बाधात्मकमसद्वेद्योदयहेतुकम् । बंधवो नाम न नियताः केचन सन्ति । संसृतौ

करता है, कि इसके पश्चात् मनको वशमें करके मैं मरते समय ध्यानमें समर्थ होऊंगा ॥२१॥

टी०—समणके भावको सामण्ण कहते है ऐसी निरुक्ति विशेषज्ञोंने की है । 'सामण्ण'का अर्थ समता है । द्रव्य शब्दमें प्रवृत्तिका निमित्त जो गुण होता है उसे भाव शब्दसे कहते हैं । कहा भी है—जिस गुणके होनेसे द्रव्यमें शब्दका निवेश होता है उसके वाचक शब्दसे त्व और तल प्रत्यय होते है । यहाँ भी समण शब्दकी जीवमे प्रवृत्तिका गुण समता है अर्थात् समता गुणके कारण ही जीवको समण कहा जाता है । जीवनमें मरणमें, लाभमें अलाभमें, सुख और दुःखमें, बन्धुमें और शत्रुमें समान भावको समता कहते हैं । और इनमें किसीसे राग और किसीसे द्वेष करना असमानता है । और राग-द्वेषका न करना तथा जीवन आदिके स्वरूपको जानना समचित्तता है । जीवन आदि विषयोंके ज्ञान यथार्थग्राही होनेसे समतारूप है ।

प्राणधारणको जीवन कहते हैं । वह आयुके अधीन है मेरी इच्छाके अधीन नहीं है । मेरी इच्छाके होने पर भी प्राण नही ठहरते । सर्व जगत चाहता है कि हमारे प्राण बने रहें । किन्तु वे नहीं रहते । आत्माके इन्द्रिय आदि प्राणोंके चले जानेको मरण कहते हैं । कहा भी है—मृङ् धातु प्राणत्यागके अर्थमे है । त्याग वियोगको कहते हैं । आत्मासे प्राणोंका पृथक् होना वियोग है । वह आयुकर्म सम्बन्धी पुद्गलोंके पूर्णरूपसे समाप्त होनेसे होता है । उपघातक वाण आदिके लगनेसे द्रव्येन्द्रियोंका विनाश होता है और उपयोगरूप भावेन्द्रियका विनाश ज्ञानावरणके उदयसे होता है । उसीके उदयसे लब्धिरूप भावेन्द्रियका विनाश होता है । वीर्यान्तराय कर्मके उदयसे मनोबल, वचनबल और कायबल रूप प्राणोंकी हानि होती है । मुख और नाकको बन्द करनेसे या जुखामसे उनकी रुकावट होनेसे श्वासोच्छ्वास प्राणकी हानि होती है । लाभान्तरायके क्षयोपशमसे इष्ट वस्तुका लाभ होता है और उसके उदयसे लाभ नहीं होता । सुख प्रीतिको कहते हैं वह सातावेदनीयके उदयसे इष्ट वस्तुकी प्राप्तिसे होता है । दुःख बाधारूप होता है उसमें असाता वेदनीयका

---

१. निवृत्तं ततो आ० मु० । २. विषयसन्नादा—आ० मु० ।

परिभ्रमतः उपकारकास्ते हि ते । यदि त एव बान्धवाः कृतापकारा इति किमारयः ? अरयोऽपि कदाचिदुपकारित्वानुग्राहका इति किं न बांधवाः ? अपि च स्नेहस्य सर्वासंयममूलस्य हेतुतया सन्मार्गप्रतिबंधकारितया च त एव महाशत्रवः । किं च पुण्योदयादेव संपद्यते सकलं सुखं सुखहेतुवस्तुसान्निध्यं च । विपुण्यस्य न ते किंचिदपि कर्तुं क्षमाः । न च कुर्वन्ति । तथा हि—मातरं त्यजति पुत्रः सा च सुतं । तथाऽसातवेद्योदये न कश्चित्किंचिदप्यपकारं करोति । बाह्या हि शत्रवो बाह्यांतरकर्मणि असति पीडामुपजनयन्ति । इत्येवंभूता सर्वत्र समचित्तता सामण्णं । 'सत्तू वि' शत्रुरपि । 'कुणदि' करोति । 'णिच्चमवि' नित्यमपि सर्वदापि । 'जोगपरिकम्मं' योगशब्दोऽनेकार्थः । 'योगनिमित्तं ग्रहणं' इत्यात्मप्रदेशपरिस्पंदं त्रिविधवर्गणासहायमाचष्टे । क्वचित्संबंधमात्रवचनः 'अस्यानेन योग' इति । क्वचिद्ध्यानवचनः यथा 'योगस्थित' इति । इहायं परिगृहीतः । ततो ध्यानपरिकरं करोतीति यावत् । रागद्वेषमिथ्यात्वासंश्लिष्टं अर्थयाथात्म्यस्पर्शि प्रतिनिवृत्तविषयांतरसंचारं ज्ञानं ध्यानमित्युच्यते । अभावितसमानभावोऽनभिमतवस्तुस्वरूपावगम न ध्यातुं क्षम इति भावः । ''तो' ततः 'वसचित्तकरणो' इत्यत्र करणशब्दः अंतःकरणे मनसि वर्तते । ततोऽयमर्थः स्ववशीकृतचित्तोऽहं मरणे भवपर्यायविनाशवेलायां । 'झाणसमत्थो' ध्यानस्यैकाग्रचिन्तानिरोधस्य । ध्यानशब्दोऽत्र प्रशस्तध्यानविषये ग्राह्यो नाशुभयोर्नरकतिर्यग्गतिनिर्वर्तनप्रवणयोः । योगे परिकर्मणि सदात्मनः प्रवृत्तत्वात् अयत्नसाध्यता धर्मशुक्लयोर्निर्वर्तने 'समत्थो' शक्तः ''भविस्संति' भविष्यामीति ॥

उदय हेतु है। बन्धु कोई नियत नहीं है। संसारमें भ्रमण करते हुए जीवका जो उपकार करते हैं वे बन्धु कहे जाते हैं। यदि वे ही कभी अपकार करते हैं तो शत्रु हो जाते हैं। शत्रु भी कभी-कभी उपकार करते हैं तो वे बन्धु क्यों नहीं हैं ? तथा स्नेह समस्त असंयमका मूल हेतु और सन्मार्गमें रुकावट डालने वाला है। अतः जिन्हें हम बन्धु मानते हैं वे ही महाशत्रु हैं। तथा पुण्यकर्मके उदयसे ही सर्व सुख और सुखकारक वस्तुओंकी प्राप्ति होती है। जो पुण्यहीन है उसको सुखके साधन भी कुछ नहीं कर सकते। माता पुत्रको त्याग देती है और पुत्र माताको त्याग देता है। तथा असाता वेदनीयके उदयके अभावमें कोई किंचित् भी अपकार नहीं कर सकता। अभ्यन्तर कर्मके अभावमें बाह्य शत्रु पीड़ा नहीं पहुँचाते। इस प्रकारसे सर्वत्र समचित्तताको सामण्ण कहते हैं। 'जोगपरिकम्म'में योग शब्दके अनेक अर्थ हैं। 'योगनिमित्तं ग्रहणं' यहाँ मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणाके निमित्तसे होने वाले आत्माके प्रदेशोंके हलनचलनको योग कहा है। कहीं योग शब्दका अर्थ सम्बन्धमात्र है। जैसे 'इसका इसके साथ योग है।' कहीं योगका अर्थ ध्यान है। जैसे 'योगस्थित' में योगका अर्थ ध्यान है। यहाँ योगका अर्थ ध्यान लिया है। राग-द्वेष और मिथ्यात्वसे अछूते, वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करने वाले और अन्य विषयोंमें संचार न करने वाले ज्ञानको ध्यान कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जिसने समानताकी भावना नहीं भायी है और न वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जाना है वह ध्यान नहीं कर सकता। 'वसकरणो' में करण शब्द अन्तःकरण मनके अर्थमें है। अतः यह अर्थ हुआ कि 'मरते समय मेरा चित्त मेरे वशमें है'। 'झाणसमत्थो' में ध्यान शब्दका अर्थ एक ही विषयमें चिन्ताका निरोध करना है। यहाँ ध्यानसे प्रशस्त ध्यान ग्रहण करना, नरक गति और तिर्यञ्चगतिमें ले जाने वाले अशुभ ध्यान नहीं लेना। योगके परिकर्ममें तो आत्मा सदा लगा रहता है अतः उसके लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता। यहाँ योगसे शुभध्यान लिया गया है। अतः उसका परिकर्म—अभ्यास करना होता है जिससे मरते समय मैं

१· ग्राह्यो शुभ-अ० आ० ब० ।

कृतपरिकरो राजपुत्रो लक्ष्यवेधादिकासु क्रियासु उपगतकौशलः क्रियां प्रहरणादिकां संपाद्य यथाफलं प्राप्नोति इति एतदुत्तरगाथयाचष्टे जोगाभावित इत्यनया—

जोगाभाविदकरणो सत्तू जेदूण जुद्धरंगम्मि ।
जह सो कुमारमल्लो रज्जपडायं बला हरदि ॥२२॥

जोगाभाविदकरणो परिकर्मणा भावितलक्ष्यवेधनशस्त्रप्रहरणादिक्रियः। आभावित इत्यत्राङ् भृशार्थे प्रयुक्तः। तथा च प्रयोगः—आधूमितं गृहं धूमेन परिपूर्णमित्यर्थः। 'सत्तू' शत्रून्। 'जेदूण' जित्वा। 'जुद्धरंगम्मि' युद्धार्थं संस्कृतो देशो युद्धरंगमित्युच्यते तत्र। 'जह' यथा। 'सो' सः आभावितात्मा। 'कुमारमल्लो' प्राणिनां कालकृतोऽवस्थाविशेषो द्वितीयः कुमारत्वं नाम। तद्योगाद्राजपुत्रः कुमारः स एव मल्लः। 'रज्जपडायं' राज्यध्वजं। 'बला' बलात्कारेण। 'हरदि' हरति गृह्णाति ॥२२॥

दार्ष्टान्तिके योजयितुं उत्तरगाथा—

तह भाविदसामण्णो मिच्छत्तादी रिवू विजेदूण ।
आराहणापडायं हरइ सुसंथाररंगम्मि ॥२३॥

'तह भाविदसामण्णो' इति। 'तह' तथैव राजपुत्रवदेव। 'भाविदसामण्णो' भावितसमानभावः। पूर्वमिति शेषः। 'मिच्छत्तादी' मिथ्यात्वासंयमकषायाशुभयोगाः इत्येतान्। 'रिवू' रिपून्। 'विजेदूण' भृशं जित्वा। विशब्दो भृशार्थे प्रयुक्तः। यथा विवृद्धो मल्लः भृशं वृद्ध इति यावत्। अथवा 'विजेदूण' नानाप्रकारं जित्वा यथा विचित्रमिति नानाचित्रमिति यावत्। एकान्तमिथ्यात्वं, संशयमिथ्यात्वं, विपर्ययमिथ्यात्वं

धर्म और शुक्ल ध्यान करनेमें समर्थ हो सकूँ ॥२१॥

'जैसे अभ्यास किया हुआ राजपुत्र लक्ष्यको वेधने आदिकी क्रियामें कुशलता प्राप्त करके शस्त्रप्रहार आदिके द्वारा राज्य लाभ करता है' यह आगेकी गाथासे कहते हैं—

गा०—जैसे अभ्यासके द्वारा बार-बार लक्ष्यवेध शस्त्रप्रहार आदि क्रियामें दक्ष वह योद्धा राजपुत्र युद्धभूमिमें शत्रुको जीतकर राज्यके ध्वजको बलपूर्वक हरता है ॥२२॥

टी०—'जोगाभाविदकरणो' में आभावित शब्दमें जो 'आ' है उसका अर्थ बार-बार या बहुत अधिक है। जैसे 'आधूमितं' का अर्थ धुएँसे अच्छी तरह भरा हुआ है। जो स्थान युद्धके लिए तैयार किया गया हो उसे युद्धरंग कहते हैं। प्राणियोंकी कालकृत जो दूसरी अवस्था विशेष होती है उसे कुमार अवस्था कहते हैं। उस अवस्थाके सम्बन्धसे यहाँ राजपुत्रको कुमार कहा है। अर्थात् जैसे युद्धमें दक्ष राजपुत्र शत्रुको जीतकर बलपूर्वक उसकी राज्यपताका हर लेता है वैसे ही आगे इस दृष्टान्तको दार्ष्टान्तिकमें लगानेके लिए उत्तरगाथा कहते हैं—

गा०—उस राजपुत्रकी ही तरह पूर्वमें समानभावका अभ्यासी साधु मिथ्यात्व आदि शत्रुओं-को पूरी तरहसे जीतकर शोभनीय संस्तररूपी रंगभूमिमें आराधनारूपी पताकाको ग्रहण करता है ॥२३॥

टी०—मिथ्यात्व आदिमें आदि शब्दसे मिथ्यात्व असंयम, कषाय और अशुभयोग लेना। 'विजेदूण' में 'वि' शब्दका अर्थ बहुत या पूरी तरह है। जैसे 'विवृद्धो मल्लः' का अर्थ बहुत अधिक बढ़ा हुआ योद्धा है। अथवा 'विजेदूण' का अर्थ 'नानाप्रकारसे जीतकर' होता है। जैसे विचित्रका अर्थ नानाचित्र होता है।

इत्यनेकधा मिथ्यात्वपरिणामाः स्थिताः। तत्रैकान्तमिथ्यात्वं नाम वस्तुनो जीवादेर्नित्यत्वमेव स्वभावो न चानित्यत्वादिकम्। असदुत्पत्त्या सतो निरोधे वा अनित्यता भवति। न चासत उत्पत्तिर्यदि स्याद्गगनकुसुमादिकं किन्नोपजायते? असत्त्वाविशेषे खकुसुमादेर्घटादेश्च घटादिकं उपजायते न वियत्कुसुमादिकं इत्यत्र न नियामकं हेतुं पश्यामः। न च सद्विनश्यति, विनाशो ह्यसत्त्वं, भावाभावौ हि परस्परपरिहारस्थितलक्षणौ नैकतां यातः। न भावोऽभावो भवति, इत्यसत्त्वे उत्पादनिरोधयोरभावान्नित्यतैवावतिष्ठते इति इदमेकं मिथ्यात्वं। एतस्य जय उच्यते—न नित्यतैव वस्तुनो रूपं, अनित्यताया अपि प्रमाणसमधिगम्यत्वात्। रागद्वेषमिथ्यात्वसंशयविपर्ययादीनां आत्मनि सतां पश्चादनुभवप्रतिष्ठापितमसत्त्वमनुभवोपनीतं[1] चासत्त्वं प्रागनुभूतानामित्यनित्यता। पुद्गलद्रव्यस्यापि मेघादेर्वर्णान्यथाभावः आम्रफलादीनां रूपरसगंधाद्यन्यथाभावश्च प्रत्यक्षग्राह्योऽशक्यापन्हवः। तथानुमानग्राह्यश्च—यत्सत्तत्सर्वं नित्यानित्यात्मकं यथा घटस्तथा च जीवादिकं सदिति कारणानां प्रतिनियतजननस्वभावकार्यत्वात्। घटादेर्जनकानि सन्ति इत्युत्पत्तिः न खरविषाणादेः। न च भावाभावयोर्विरोधः एकस्मिन्वस्तुन्येकदा प्रवृत्तेः रूपरसादीनामिव। अपररूपेणासत्त्वं सति विद्यते न वा। यद्यस्ति न विरोधः, न चेत्सर्वात्मकता। न ह्यभावो नाम भावादन्यः। अपि तु भावस्यैव रूपान्तरम्। ततोऽयुक्तो

एकान्तमिथ्यात्व, संशयमिथ्यात्व, विपर्ययमिथ्यात्व, इत्यादि मिथ्यात्वपरिणाम अनेक प्रकार हैं। जीवादिवस्तुका स्वभाव नित्यता ही है, अनित्यता नहीं है इसे एकान्तमिथ्यात्व कहते हैं। असत्की उत्पत्ति नहीं होती। यदि होती है तो आकाशका फूल क्यों नहीं उत्पन्न होता ? जब आकाशका फूल और घट दोनों ही असत् हैं तो घटादि तो पैदा होते हैं और आकाशका फूल पैदा नहीं होता, इसमें कोई नियामक हेतु हम नहीं देखते। तथा सत्का विनाश नही होता। विनाश कहते है असत्त्वको। किन्तु भाव और अभाव दोनों भिन्न है, दोनोंके लक्षण भिन्न हैं। वे कभी एक नहीं हो सकते। भाव-अभाव नहीं होता। इस प्रकार असत्वमें उत्पाद और विनाशका अभाव होनेसे नित्यता ही ठहरती है। यह एक मिथ्यात्व है। अब इसको जीतनेका कथन करते हैं।

वस्तुका रूप केवल नित्यता ही नहीं है, अनित्यताका भी प्रमाणसे बोध होता है। राग, द्वेष, मिथ्यात्व, संशय, विपर्यय आदि आत्मामें पहले सत् प्रतीत होते हैं। पीछे अनुभवके द्वारा उनका असत्त्व प्रतिष्ठापित होता है। तथा पहले उनका आत्मामे अनुभव होता है और पीछे अनुभवसे ही उनका असत्त्व ज्ञात होता है। इसलिए ये अनित्य है। पुद्गलद्रव्य मेघ आदिका रूप भी बदलता देखा जाता है। आम्रफल आदिमें रूप, रस, गन्ध आदिका बदलना प्रत्यक्ष देखा जाता है। उसका लोप करना अशक्य है। तथा अनुमान प्रमाणसे भी उसका ग्रहण होता है, जो इस प्रकार है—जो सत् है वह सब नित्यानित्यात्मक है, जैसे घट। उसी तरह जीवादि भी सत् होनेसे नित्यानित्यात्मक है। कारणोंका स्वभाव प्रतिनियत कार्योंको ही उत्पन्न करना है। घटादिके उत्पन्न करनेवाले कारण हैं इसलिए उनकी उत्पत्ति होती है। गधेके सींग जैसे असम्भव कार्योंको उत्पन्न करनेवाले कारण नहीं हैं इसलिए उनकी उत्पत्ति नहीं होती। तथा भाव और अभावमें कोई विरोध नहीं है, रूप रस आदिकी तरह एक वस्तुमें दोनो एककालमें रहते हैं। जो वस्तु सत् है वह अपनेसे भिन्न वस्तुकी अपेक्षा असत् है या नहीं ? यदि है तो भाव अभावमें विरोध नहीं रहा। और यदि कहोगे कि नहीं है तो वह वस्तु सर्वात्मक हो जायेगी; क्योंकि उसमें किसी

---

१. तं सत्त्वं प्रागननुभू—आ० मु०।

नित्यत्वैकान्तवादः इति। एवंभूतया तत्त्वश्रद्धया पराभूयते नित्यमेवेति मिथ्यात्वम्। (तथा क्षणिकमेव सर्वं सर्वं कार्यकारि, यद्वस्तु सर्वथा सामर्थ्यविरहोऽभावलक्षणं) कार्यकारिता च न नित्यस्य। कथं तद्धि नित्यं स्वसं पाद्यं क्रमेण वा कुर्याद्युगपदेव वा? न तावत्क्रमेण कार्योत्पत्तावस्य कारणस्वभावसान्निध्यमात्रपराधीनत्वात्। सर्वं कार्यमुत्पादयितुं तद्धेतूनां सामर्थ्यानां सदा सान्निध्यत्वात् कुतः कार्याणां क्रमः। समर्थहेतुभावेऽप्यभावे न तत्तस्य कार्यं स्यात्। यथा सन्निहितेऽपि यवबीजेऽनुपजायमानस्य शाल्यंकुरस्य न यवबीजकार्यता। युगपत्क-रोति चेत् द्वितीयादौ क्षणेऽकिंचित्करता स्यान्न च तथा दृश्यते। इत्थं नित्यवस्तुलक्षणस्य कार्यकारित्वस्या-भावात्, अनित्ये सद्भावात् क्षणिकमेवेत्यध्यवसायो मिथ्यात्वमेव। तस्य जय उच्यते—सत्यं सर्वथा नित्ये वस्तु-न्यक्ते नास्त्युक्तया नीत्या नित्याऽनित्यात्मके तु संभविनी कार्यकारिता। एकान्तेन क्षणिकत्वेव वस्तुनो यदि रूपं कार्यकारिता नास्ति। एकस्य वस्तुन एकमेव रूपं नापरमिति प्रतिज्ञानात्। एवमन्यत्रापि योज्य[1] एकान्तमिथ्या-त्वजयः। संशयमिथ्यात्वं वस्तुस्वरूपानवधारणात्मकं तस्य जयः कथंचिन्नित्यानित्यात्मकाः सर्वे भावा इति भावनया। विपर्ययमिथ्यात्वं हिंसाया दुर्गतिवर्तिन्याः स्वर्गादिहेतुतावसितिज्ञानम्, अहिंसायाश्च प्रत्यपायहेतु-

---

वस्तुका अभाव नहीं है। अभाव भावसे भिन्न नहीं है। किन्तु भावका ही रूपान्तर अभाव है। अतः एकान्तनित्यवाद अयुक्त है। इस प्रकारकी तत्त्वश्रद्धासे 'नित्य ही है' यह मिथ्यात्व हट जाता है।

तथा सब क्षणिक भी कैसे कार्यकारी है? वस्तुमें सब सामर्थ्यका अभाव तो अभावका लक्षण है इसपर बौद्ध कहता है—

नित्यपदार्थ कार्यकारी नहीं है। वह नित्यपदार्थ अपना कार्य क्रमसे करता है अथवा एक-साथ करता है? क्रमसे तो कार्य कर नहीं सकता क्योंकि कार्यकी उत्पत्ति कारण स्वभावमात्रके अधीन है। जब नित्यपदार्थमें सब कार्योंको उत्पन्न करनेकी शक्तियाँ सदा वर्तमान हैं तब कार्य क्रमसे कैसे हो सकते हैं? समर्थकारणके रहते हुए भी यदि कार्य नहीं होता तो उसे उस कारणका कार्य नहीं माना जा सकता। जैसे जौ बीजके रहते हुए भी उससे धानका अंकुर नहीं उगता। अतः धानका अंकुर जौबीजका कार्य नहीं होता। यदि कहोगे कि नित्य एकसाथ सब कार्योंको उत्पन्न करता है तो दूसरे आदि क्षणोंमें वह नित्यपदार्थ अकिंचित्कर हो जायेगा; क्योंकि सब कार्य पहले क्षणमें ही उत्पन्न हो जानेसे दूसरे क्षणमें उसे करनेके लिए कोई कार्य शेष नहीं रहेगा। किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। इस प्रकार नित्यवस्तुमें वस्तुका लक्षण कार्यकारीपना नहीं बनता। अतः अनित्यमें कार्यकारीपना होनेसे सब क्षणिक ही हैं। जैन कहते हैं—इस प्रकार निश्चय करना भी मिथ्यात्व ही है। अब उस मिथ्यात्वको जीतनेका उपाय कहते हैं—

यह सत्य है कि उक्तनीतिके अनुसार सर्वथा नित्यवस्तुमें कार्यकारिता नहीं है किन्तु नित्या-नित्यात्मकवस्तुमें कार्यकारिता है। यदि वस्तुका स्वरूप सर्वथा क्षणिकता है तो उसमें कार्य-कारीपना नहीं है। क्योंकि आपने एकवस्तुका एक ही रूप माना है दूसरा नहीं माना। इसी प्रकार अन्यत्र भी एकान्तमिथ्यात्वको जीतनेकी योजना करनी चाहिए।

वस्तुके स्वरूपका कुछ भी निश्चय न करना संशयमिथ्यात्व है। सब पदार्थ कथंचित् नित्यानित्यात्मक हैं इस भावनासे उसको जीतना चाहिए। दुर्गतिमें ले जानेवाली हिंसाको

---

१. योज्यः आ० मु०।

तेति एतस्य जयः । परोक्षस्योपायोपेयभावस्य अप्रत्यक्षत्वात् । अनुमानस्य च प्रत्यक्षपृष्ठभाविनस्तत्राप्रवृत्तेः । आगमः सर्वज्ञेन निरस्तरागद्वेषेण प्रणीतः उपेयोपायतत्त्वस्य ज्ञापक आश्रयणीयः । कपिलादीनामसर्वज्ञतया न तत्प्रणीत आगमोऽदृष्टप्रतिपत्तावुपायः । तदसर्वज्ञता दृष्टेष्टप्रमाणविरुद्धवचनतया रथ्यापुरुषवत् । नित्यस्तु न शब्दो विद्यते । यदि स्यात्सर्वस्य नित्यतया पुरुषदोषानुपश्लिष्टतास्तीति प्रामाण्यं भवेत् ततो जिनागमेन हिंसाया दुःखहेतुत्वप्रतीतेर्विपर्ययमिथ्यात्वप्रसिद्धिः तस्य जय अविपरीतज्ञानेन । 'आराधणापडायं' आराधनापताकां । 'हरदि' गृह्णाति । 'सुसंथाररंगम्मि' शोभनाभंस्तररंगे उद्गमादिदोषानुपहतता शोभनता ॥

चिरमभावितरत्नत्रयाणामन्तर्मुहूर्तकालभावनाना सिद्धिरिष्यते तत्किं चिरभावनयेत्यस्योत्तरमाचष्टे—

पुव्वमभाविदजोग्गो आराधेज्ज मरणे जदि वि कोई ।
खण्णुगदिट्ठंतो सो तं खु पमाणं ण सव्वत्थ ॥२४॥

'पुव्वं' पूर्वं मरणकालात् । 'अभावितजोग्गो' अभावितपरिकरः । 'आराधेज्ज' आराधयेत् । किं मरणं रत्नत्रयानुगतभवपर्यायप्रलयं । 'जदि वि' यद्यपि । 'कोई' कश्चित् । 'खण्णुगदिट्ठंतो' स्थाणुदृष्टान्तः । 'सो' सः । 'तं खु' तदेव । अकृतपरिकरस्य कस्यचिद्रत्नत्रयसमापन्न । 'सव्वत्थ' सर्वत्र । 'ण पमाणं न पमाणं । अथविद्यामम वाच्यम् ॥२४॥

एवं पीठिका समाप्ता ॥

स्वर्गादिका हेतु मानना और अहिंसाको दुर्गतिका कारण मानना विपर्ययमिथ्यात्व है । इसकी जयका उपाय कहते हैं—

उपायपना और उपेयपना परोक्ष है, प्रत्यक्ष नहीं है । प्रत्यक्षके पीछे होनेवाला अनुमान भी उन्हें नहीं जान सकता । रागद्वेषसे रहित सर्वज्ञके द्वारा कहा गया आगम ही उपाय और उपेयभावको बतलाता है उसीका आश्रय लेना चाहिए । कपिल आदि सर्वज्ञ नहीं थे । अतः उनके द्वारा कहा गया आगम अदृष्टको जाननेका उपाय नहीं है । कपिलादिके वचन सड़कपर घूमते आदमीकी तरह प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे विरुद्ध है अतः वे सर्वज्ञ नहीं हैं । तथा यह कहना कि वेद नित्य है ठीक नहीं है क्योंकि शब्द नित्य नहीं होता । यदि शब्द नित्य हो तो सभी शब्दोंके नित्य होनेसे पुरुषोंके दोष उसमें नहीं प्रवेश कर सकते अतः सभी शब्द प्रमाण मानने होंगे । अतः जिनागमसे प्रसिद्ध है कि हिंसा दुःखका कारण है अतः उसे सुखका कारण मानना विपर्यय-मिथ्यात्व है । अविपरीत सच्चे ज्ञानसे उसको जीता जाता है ॥२३॥

यहाँ कोई शङ्का करता है कि जिन्होंने चिरकाल तक रत्नत्रयकी भावना नहीं भायी है, केवल अन्तर्मुहूर्तकालतक ही रत्नत्रयकी आराधना की है, उनकी भी मुक्ति मानी जाती है तब आप चिरकाल भावनाकी बात कैसे करते हैं, इसका उत्तर देते है—

गा०—मरण समयसे पहले ध्यानके परिकरका अभ्यास न करनेवाला यद्यपि कोई मरते समय आराधना करे तो वह स्थाणुदृष्टान्तमात्र है । सर्वत्र (पमाणं ण) प्रमाण नहीं है ॥२४॥

टी०—जैसे यदि किसीको किसी ठूंठमेंसे अचानक धनका लाभ हो जाये तो उसे सर्वत्र प्रमाण नहीं माना जाता । उसी तरह यदि किसीने मरनेसे पूर्व रत्नत्रयका अभ्यास नहीं किया और कदाचित् मरते समय किया और उसे सिद्धि प्राप्त हो गई तो उसे सर्वत्र प्रमाणके रूपमें स्वीकार नहीं किया जा सकता ॥२४॥

इस प्रकार पीठिका समाप्त हुई ॥

मरणाणि सत्तरस देसिदाणि तित्थंकरेहिं जिणवयणे ॥
तत्थ वि य पंच इह संगहेण मरणाणि वोच्छामि ॥२५॥

मरणान्यनेकप्रकाराणि इति शास्त्रान्तरे निर्दिष्टानि । तेष्विह निरूप्याणीमानीति निरूपयितु इदमुत्तरं सूत्रं मरणाणीति । मरणं विगमो विनाशः विपरिणाम इत्येकोऽर्थः । तच्च मरणं जीवितपूर्वम् । जीवितं स्थिति-रविनाशोऽवस्थितिरिति यावत् । स्थितिपूर्वको विनाशः । यदस्थितिकं तन्न विनश्यति यथा वन्ध्यासुतः । तथा च स्थितिरहितं वस्तु क्षणिकवादिनिरूप्यं जीवितं जन्मपुरोगं अनुत्पन्नस्य स्थित्यभावात् । तत उत्पत्तिविगमौ ध्रौव्यं च सर्वेषां रूपाणि । अस्यां च प्रक्रियायां मरणं नामोत्पन्नपर्यायविनाशः । देवत्वं, तिर्यक्त्वं, नारकत्वं, मनुष्यत्वं, इत्यमीषां पर्यायाणां प्रध्वंस इह मरणशब्दवाच्यः । अथवा प्राणपरित्यागो मरणं । तथा चाभ्यधायि-मृङ् प्राणत्यागे इति । एवमेव प्राणग्रहणं जन्म, प्राणानां धारणं जीवितं । प्राणा द्विविधा द्रव्यप्राणा भाव-प्राणाश्च । तत्र द्रव्यप्राणा इन्द्रियाणि, बलं, उच्छ्वास, आयुरित्येतानि पुद्गलद्रव्याणि । भावप्राणा ज्ञानदर्शन-चारित्राणि । एतत्प्राणापेक्षया सिद्धानां जीवितं । तत्रायुर्द्विभेदं अद्धायुर्भवायुरिति च । भवधारणं भवायुर्भवः शरीरं तच्च ध्रियते आत्मना[1] आयुष्कोदयेन । ततो भवधारणमायुष्काख्यं कर्म तदेव भवायुरित्युच्यते । तथा चोक्तम्—

> देहो भवोत्ति वुच्चदि धारिज्जइ आउगेण य भवो सो ।
> तो वुच्चदि भवधारणमाउगकम्मं भवाउत्ति ॥ [ ]

गा०—जिनागममें तीर्थङ्करोंने मरण सतरह कहे हैं। उन सतरह प्रकारके मरणोंमेसे भी यहाँ (संगहेण) सक्षेपसे पाँच मरणोंको कहूँगा ॥२५॥

टी०—मरण अनेक प्रकारके हैं ऐसा अन्य शास्त्रोंमें कहा है। उनमेंसे यहाँ इन मरणोंको कहना है यह बतलानेके लिए यह गाथासूत्र आया है। मरण, विगम, विनाश, विपरिणाम इन सब शब्दोंका अर्थ एक है। वह मरण जीवनपूर्वक होता है। जीवन, स्थिति, अविनाश, अवस्थिति ये सब एकार्थक हैं। स्थितिपूर्वक विनाश होता है। जिसको स्थिति नही है उसका विनाश नहीं है जैसे बाँझका पुत्र नहीं होता तो उसका विनाश भी नहीं होता। क्षणिकवादी बौद्धोंने जिस वस्तुको कहा है उसकी स्थिति नहीं है अर्थात् वह वस्तु ही नही है। जीवन जन्मपूर्वक होता है। जो उत्पन्न नहीं हुआ उसकी स्थिति नहीं है। इसलिए प्रत्येक वस्तु उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्यरूपको लिए हुए है। इस प्रक्रियाके अनुसार उत्पन्न हुई पर्यायके विनाशका नाम मरण है। देवपना, तिर्यञ्चपना, नारकपना और मनुष्यपना इन पर्यायोंका विनाश यहाँ मरणशब्दसे लिया है। अथवा प्राण छोडनेका नाम मरण है। कहा भी है—'मृङ्धातु' प्राणत्यागके अर्थमें है। इसी तरह प्राणग्रहणको जन्म कहते हैं। प्राणोंको धारण करना जीवन है। प्राणोंके दो भेद हैं—द्रव्य-प्राण और भावप्राण। इन्द्रिय पाँच, तीन बल, उच्छ्वास और आयु ये पुद्गलद्रव्य द्रव्यप्राण हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र ये भावप्राण हैं। इन भावप्राणोकी अपेक्षा सिद्धोंमें जीवन होता है। उन प्राणोंमें आयुप्राणके दो भेद हैं—अद्धायु और भवायु। भवधारणको भवायु कहते है। भव शरीरको कहते हैं। आयुकर्मके उदयसे आत्मा भवधारण करता है। अतः आयुकर्म भवधारणरूप है उसे ही भवायु कहते हैं। कहा भी है—शरीरको भव कहते हैं। वह भव आयुकर्मके द्वारा धारण किया

---

१. आत्मनः आ० मु० ।

इति आयुर्वशेनैव जीवो जायते जीवति च आयुष एवोदयेन । अन्यस्यायुष उदये मृत्ति मृतिमुपैति पूर्वस्य चायुष्कस्य विनाशे ।

तथा चोक्तम्—

आउगवसेण जीवो जायदि जीवदि य आउगस्सुदये ।
अण्णाउगोदये वा मरदि य पुव्वाउणासे वा ॥' इति ॥ [   ]

अद्धाशब्देन काल उच्यते, आउगसब्देन द्रव्यस्य स्थितिः । तेन द्रव्याणां स्थितिकालः अद्धायुरित्युच्यते । [1]द्रव्यार्थापेक्षया द्रव्याणामनाद्यनिधनं भवत्यद्धायुः । पर्यायार्थापेक्षया चतुर्विधं भवत्यनाद्यनिधनं, साद्यनिधनं सनिधनमनादि, सादिसनिधनमिति । चैतन्यरूपादिमत्त्वगतिस्थितिहेतुत्वादिसामान्यापेक्षया अनाद्यनिधना स्थितिः । केवलज्ञानादिकाना साद्यनिधनता । भव्यत्वस्य अनादिसनिधनता । सादिसनिधनता कोपादीनाम् । अथवा द्रव्य-क्षेत्रकालभावानाश्रित्य चतुर्विधा भवति स्थिति । एतस्याद्धायुषो वशेन भवधारणायुषो निरूपणा भवति । आयुः-संज्ञिताना कर्मणां पुद्गलद्रव्यतया आयु-स्थितेर्न द्रव्यस्थितेरत्यन्तान्यथात्वं । अथवा अनुभूयमानायुःसंज्ञकपुद्गल-गलनं मरणं । तानि मरणानि 'सत्तरस' 'सप्तदश' । 'देसिदाणि' 'कथितानि' । 'तित्थंकरेहिं' तीर्थंकरैः । 'जिण-वयणे' जिनानां वचने । ननु तीर्थंकरैरुक्तानि इत्यनेनैव गत किं जिनवचनग्रहणेन ? नैष दोष जिनशब्देन गणधरा

जाता है । इसलिए भवधारणमें कारण आयुकर्मको भवायु कहते हैं ।

इस प्रकार आयुके वशसे ही जीव जन्म लेता है और आयुके उदयसे ही जीवित रहता है । पूर्व आयुका विनाश और आगेकी अन्य आयुका उदय होनेपर मरण होता है ।

कहा है—आयुके वशसे जीव जन्म लेता है । आयुके उदयमें जीवित रहता है । अन्य आयुका उदय होनेपर अथवा पूर्वआयुका नाश होनेपर मरता है ।

अद्धाशब्दसे काल कहा जाता है और आयुशब्दसे द्रव्यकी स्थिति । अतः द्रव्योंकी स्थिति-कालको अद्धायु कहते हैं । द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा द्रव्योंकी अद्धायु अनादिनिधन है । और पर्या-यार्थिककी अपेक्षा चार प्रकार की है—अनादिअनिधन, सादिअनिधन, अनादिसान्त और सादि-सान्त । चैतन्य, रूपादिमत्ता, गतिहेतुता, स्थितिहेतुता आदि सामान्यकी अपेक्षा द्रव्योंकी स्थिति अनादि अनिधन है अर्थात् जीवादिद्रव्योंका अपना-अपना स्वभाव सदासे है और सदा रहेगा अतः वे सब इस दृष्टिसे अनादिअनन्त हैं । केवलज्ञान आदिकी अद्धायु सादिअनिधन है क्योंकि वह प्रकट होकर नष्ट नहीं होता । भव्यत्वकी अद्धायु अनादिसनिधन (सान्त) है क्योंकि भव्यत्व भाव यद्यपि अनादि होता है किन्तु मुक्त होनेपर नष्ट हो जाता है । कोप आदि सादि सनिधन हैं ।

अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके आश्रयसे स्थिति चार प्रकारकी होती है । इस अद्धायुके द्वारा भवधारणरूप आयुका कथन होता है । जिन कर्मोंकी आयुसंज्ञा होती है वे कर्म-पुद्गलद्रव्यरूप होनेसे आयुस्थिति द्रव्यस्थितिसे अत्यन्त भिन्न नहीं है । अथवा जो आयु संज्ञावाले पुद्गल उदयमें आ रहे हैं उनके गल जानेको मरण कहते हैं । वे मरण जिनवचनमें तीर्थङ्करोंने सतरह कहे हैं ।

शङ्का—तीर्थङ्करोंने कहे हैं इतना ही कहना पर्याप्त है, जिनवचनके कहनेकी क्या आव-श्यकता है ?

---

१. द्रव्यार्था—आ० मु० ।

उच्यन्ते। अन्तरेण चशब्दं समुच्चयार्थगतिः। तथायं संबन्धः—जिनवचने च किं? सप्तदशमरणानि। एतेन तीर्थकृतो गणधराश्च मरणविकल्पानुपपादितवन्तः। तदुभयवचनसिद्धं प्रमाणमविशङ्कनीयमित्येतदाचष्टे १ आवीचिमरणं २. तद्भवमरणं ३. अवधिमरणं ४. आदिमंतायं ५ बालमरणं ६. पंडितमरणं ७. आसण्णमरणं ८. बालपंडियं ९. ससल्लमरणं १०. बलायमरणं ११. वसट्टमरणं १२. विप्पाणसमरणं १३. गिद्धपुट्ठमरणं १४. भत्तपच्चक्खाणं १५. पाउवगमणमरणं १६. इंगिणीमरणं १७. केवलिमरणं चेति। एतेषां स्वरूपता यथागमं संक्षेपतो निरूप्यते॥

वीचिशब्दस्तरंगाभिधायी इह तु वीचिरिव वीचिरिति आयुष उदये वर्तते। यथा समुद्रादौ वीचयो नैरन्तर्येणोद्गच्छन्ति एवं क्रमेण आयुराख्यं कर्म अनुसमयमुदेति इति तदुदय आवीचिशब्देन भण्यते। आयुषः अनुभवनं जीवितं, तच्च प्रतिसमयं जीवितभंगस्य मरणं। अतो मरणमपि अत्र आवीचि, उदयादनन्तरसमये मरणमपि वर्तते इति। तत्पुनरावीचिकामरणं अनादिसनिधनं भव्यानाम्। ननु च सिद्धानामेव मरणं विच्छित्तिमुपयान्ति नेतरेषां ते च न भव्याः। भविष्यत्सिद्धत्वपर्याया हि भव्याः। सिद्धास्त्वधिगतसिद्धत्वपर्यायास्ततः किमुच्यते भव्यानामनादिसनिधनमिति। 'भविकाणमणादियं मरणं आवीचियं सणिधणं च' इति यदेवाधिगतभव्यत्वपर्यायं द्रव्यं तदेवेदमिति कृत्वा भव्यानामित्युक्तं इति नियतम्। अभव्यानां पुनरुदयं प्रति सामान्या-

---

समाधान—इसमें कोई दोष नहीं है। यहाँ जिनशब्दसे गणधर कहे गये हैं। 'च' शब्दके बिना भी समुच्चयरूप अर्थका ज्ञान होता है। अतः ऐसा सम्बन्ध लेना और जिनवचनमें सतरह मरण कहे हैं। इससे यह बोध होता है कि तीर्थङ्करों और गणधरोंने मरणके भेद कहे हैं। अतः उन दोनोंके वचनोंसे सिद्ध होनेसे प्रमाण है उसमें किसी प्रकार शङ्का नहीं करना चाहिए। वे हैं—१. आवीचिमरण, २. तद्भवमरण, ३. अवधिमरण, ४. आदि अन्तमरण, ५. बालमरण, ६. पंडितमरण, ७. आसण्णमरण, ८. बालपंडितमरण, ९. ससल्लमरण, १०. बलायमरण, ११. वसट्टमरण, १२. विप्पाणसमरण, १३ गिद्धपुट्ठमरण, १४. भक्तप्रत्याख्यानमरण, १५. प्रायोपगमन मरण, १६ इंगिणीमरण और १७. केवलीमरण। उनका स्वरूप आगमके अनुसार संक्षेपसे कहते हैं—वीचीशब्द तरंगको कहता है। किन्तु यहाँ वीचिके समान ऐसा अर्थ करनेसे वीचीका अर्थ आयुका उदय है। जैसे समुद्र वगैरहमें तरंगे निरन्तर उठा करती हैं उसी प्रकार क्रमसे आयुनामक कर्म प्रतिसमय उदयमें आता है इसलिए उसके उदयको आवीचि शब्दसे कहा है। आयुके अनुभवनको जीवन कहते हैं। वह प्रतिसमय होता है। उसका भंग मरण है। अतः जीवनकी तरह मरण भी आवीची है क्योंकि आयुका उदय प्रतिसमय होता है अतः प्रत्येक अनन्तर समयमें मरण भी होता है। उसी प्रति समय होनेवाले मरणको आवीचिमरण कहते हैं। वह भव्यजीवोंके अनादिसान्त है।

शङ्का—सिद्धोंके ही मरणका अन्त होता है, दूसरोंके नहीं। किन्तु सिद्ध भव्य नहीं हैं। जिनकी भविष्यमें सिद्धपर्याय होनेवाली हैं उन्हें भव्य कहते हैं। सिद्ध तो सिद्धपर्याय प्राप्तकर चुके हैं। तब कैसे कहते हैं कि भव्यजीवोंका मरण अनादिसान्त है?

समाधान—ऐसा कहा है कि भव्योंका आवीचिमरण अनादि और सान्त है। अतः जो द्रव्य भव्यत्वपर्यायको प्राप्त था वही यह है ऐसा मानकर भव्योंके अनादिसान्त मरण कहा है ऐसा निश्चित है। अभव्यजीवोंके सामान्य अपेक्षासे आयुका उदय बराबर रहता है अतः उनका आवीचिमरण अनादिनिधन है। किन्तु भवकी अपेक्षा और क्षेत्रादिकी अपेक्षा सादि है। चार

पेक्षयाऽवीचिकमनादिनिधनं । भवापेक्षया क्षेत्राद्यपेक्षया च सादिकं । चतुर्णामायुष्काणां मध्ये द्वयोर्यद्यपि सत्कर्मता तथापि एकस्यैवायुष उदयः । द्वयोः प्रकृत्योः सत्कर्मता सह भवति । उच्यते—तिर्यङ्मनुष्यायुष्कयोः सर्वैरायुष्कैः सह सत्कर्मता देवनारकायुष्कयोस्तिर्यङ्मानवायुष्काभ्यां सत्कर्मता । भवतु नामैषा सत्कर्मव्यवस्था । द्वयोरायुष्कप्रकृत्योः किं नयुगपदुदयः ? अत्रोच्यते—अनुभूयमानप्रकृतिस्थितीनामुपरि इतरस्यायुषो निषेको यतस्ततो न युगपदायुषःप्रकृत्योरुदयः । किं च यस्मादेकस्य जीवस्य द्वयोर्भवयोर्गत्योर्वा न संभवः । भवं गतिं च प्रयोज्य अपेक्ष्य आयुष उदयो नान्यथा ततो नायुष्कद्वयोरुदयः । एवमेकस्यायुष्कर्मणः एकैव प्रकृतिरुदेत्येकस्यात्मनस्तस्मादेकैकायुष्कप्रकृतिगलनरूपामेव मृतिमुपैति । तदेतत्प्रकृतिमरणं कालभेदेन एकस्यापि चतुर्विधं भवति तदावीचिकमेव । एवं प्रकृत्यावीचिमरणं व्याख्यातम् । द्वितीयं स्थित्यावीचिकमरणं ।

भवधारणकारणत्वपरिणतानां पुद्गलानां स्नेहादात्मप्रदेशेष्ववस्थितिरित्युच्यते । आत्मनः कषायपरिणामः सहकारी पुद्गलानां स्निग्धतायाः परिणामिकारणं तु तदेव पुद्गलद्रव्यं । सा चैषा स्थितिरेकादिकैकोत्तरा देशोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणां यावन्तः समयास्तावद्भेदा उत्कर्षस्थितिः । अंतर्मुहूर्तभवा परा । तस्या वीचय इव क्रमेणावस्थितायाः विनाशादात्मनो भवति स्थित्यावीचिकमरणं ।

आयुकर्मोंमेंसे यद्यपि एकजीवके दो ही आयुकर्मोंकी सत्ता रहती है (एक जिसे भोगता है और दूसरी जिसे परभवके लिए बाँधा है)। तथापि उदय एक ही आयुका होता है। दो प्रकृतियाँ सत्तामें एकसाथ रह सकती है। वही कहते हैं—तिर्यंचायु और मनुष्यायु सब आयुओंके साथ सत्तामें रहती है अर्थात् देवायु और नरकायु दूसरी देवायु और नरकायुके साथ सत्तामें नहीं रहती; क्योंकि देव मरकर देव या नारकी नहीं हो सकता और न नारकी मरकर नारकी या देव होता है।

शङ्का—आयुकर्मों की यह सत्कर्मव्यवस्था रहो, किन्तु दो आयुकर्मों का एकसाथ उदय क्यों नहीं होता ?

समाधान—आयुकर्मकी जिस प्रकृतिकी स्थिति अनुभवमें आ रही है और जिस आयुकी स्थितिका उदय हो रहा है उसकी स्थिति जहाँ समाप्त होती है उससे ऊपर दूसरी आयुके निषेक रहते हैं। अत जबतक पहली आयुकी स्थिति समाप्त नहीं होती तबतक दूसरी उदयमें आ नहीं सकती। इसलिए एकसाथ आयुकी दो प्रकृतियोंका उदय नहीं होता। तथा एक जीवके एकसाथ दो भव या दो गति सम्भव नहीं है। और भव तथा गतिको लेकर उसके अनुसार आयुका उदय होता है, अन्यथा नहीं होता, इसलिए भी दो आयुका उदय एकजीवके नहीं होता। इस प्रकार एक आयुकर्मकी एक ही प्रकृति एकजीवके उदयमें आती है अतः एक-एक आयुकर्मके गलनरूप ही मरण होता है। यह प्रकृतिमरण कालभेदसे एक भी जीवके चार प्रकारका होता है। वह आवीचिकमरण ही है। इस प्रकार प्रकृति आवीचिमरणका व्याख्यान किया।

दूसरा स्थिति आवीचिकमरण है। भवधारणमें कारणरूपसे परिणत हुए पुद्गलोंके स्नेहवश आत्माके प्रदेशोंमें ठहरनेको स्थिति कहते हैं। आत्माका कषायरूप परिणाम पुद्गलोंकी स्निग्धताका सहकारी होता है। परिणामी कारण तो स्वयं पुद्गलद्रव्य ही है। यह स्थिति एक समयसे लेकर एक-एक समय बढ़ते-बढ़ते कुछ कम तेतीस सागरके जितने समय हैं उतने भेदवाली होती है। यह उत्कृष्ट स्थिति है। जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती है। तरंगोंके समान क्रमसे अवस्थित उस स्थितिके विनाशसे आत्माके स्थिति आवीचिकमरण होता है।

भवान्तरप्राप्तिरनन्तरोपश्लिष्टपूर्वभवविगमनं तद्भवमरणं। तच्चानंतशः प्राप्तं जीवेनेति ज्ञातव्यं तेन तद्भवमरणं न दुर्लभम्।

अनुभवावीचिकामरणमुच्यते—कर्मपुद्गलानां रसः अनुभव इत्युच्यते, स च परमाणुषु षोढा वृद्धिहानि-क्रमेण वीचय इव क्रमेणावस्थितस्तस्य प्रलयोऽनुभवावीचिमरणं।

आयुःसंज्ञितानां पुद्गलानां प्रदेशा जघन्यनिषेकादारभ्य एकादिवृद्धिक्रमेणावस्थितवीचय इव तेषां गलनं प्रदेशावीचिकामरणं।

अवधिमरणं नाम कथ्यते—यो यादृशं मरणं सांप्रतमुपैति तादृगेव यदि मरणं भविष्यति तदवधिमरणं। तद्द्विविधं देशावधिमरणं सर्वावधिमरणं इति।

तत्र सर्वावधिमरणं नाम यदायुर्यथाभूतमुदेति सांप्रतं प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशैस्तथाभूतमेवायुः प्रकृत्या-दिविशिष्टं पुनर्बध्नाति उदेष्यति च यदि तत्सर्वावधिमरणं।

यत्सांप्रतमुदेत्यायुर्यथाभूतं तथाभूतमेव बध्नाति देशतो यदि तद्देशावधिमरणं। एतदुक्तं भवति देशतः सर्वतो वा सादृश्येनावधीकृतेन विशेषितं मरणमवधिमरणमिति। सांप्रतेन मरणेनासादृश्यभावि यदि मरणमाद्यं-तमरणं उच्यते, आदिशब्देन सांप्रतं प्राथमिकं मरणमुच्यते तस्य अंतो विनाशभावो यस्मिन्नुत्तरमरणे तदेतदाद्यं-तमरणं अभिधीयते। प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशैर्यथाभूतैः सांप्रतमुपैति मृतिं तथाभूतां यदि सर्वतो देशतो वा नोपैति तदाद्यंतमरणं।

बालमरणमुच्यते—बालस्य मरणं बालमरणं, स च बालः पञ्चप्रकारः अव्यक्तबालः व्यवहारबालः,

---

भवान्तर प्राप्तिपूर्वक उसके अनन्तर पूर्ववर्ती भवका विनाश तद्भवमरण है। वह तो इस जीवने अनन्तबार प्राप्त किया है। अतः तद्भवमरण दुर्लभ नहीं है।

अनुभव आवीचिमरण कहते हैं—कर्मपुद्गलोंके रसको अनुभव कहते हैं। वह अनुभव परमाणुओंमें छह प्रकारकी वृद्धि हानिके रूपसे तरंगोंकी तरह क्रमसे अवस्थित है। उसका विनाश अनुभव आवीचिमरण है। आयुसंज्ञावाले पुद्गलोंके प्रदेश जघन्य निषेकसे लेकर एक आदि वृद्धिके क्रमसे तरंगोंकी तरह अवस्थित है उनके गलनेको प्रदेश आवीचिकामरण कहते हैं।

अवधिमरणको कहते हैं—जो वर्तमानमें जैसा मरण प्राप्त करता है यदि वैसा ही मरण होगा तो उसे अवधिमरण कहते हैं। उसके दो भेद हैं—देशावधिमरण और सर्वावधिमरण। वर्तमानमें जो आयु जैसे प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेशोंको लेकर उदयमें आ रही है वैसी ही प्रकृति आदिको लिए हुए यदि पुनः आयुबन्ध करता है और उसी प्रकार भविष्यमें उसका उदय होता है तो उसे सर्वावधिमरण कहते हैं। और वर्तमानमें जैसा आयुका उदय होता है वैसा ही यदि एक देश बन्ध करता है वह देशावधिमरण है। इसका अभिप्राय यह है एक देशसे अथवा सर्वदेशसे मर्यादाको लिए हुए सादृश्यसे विशिष्ट मरणको अवधिमरण कहते हैं। वर्तमानमरणसे यदि भाविमरण असमान होता है तो उसे आद्यन्तमरण कहते हैं। यहाँ आदि शब्दसे वर्तमानका प्राथमिकमरण कहा जाता है। उसका अन्त अर्थात् विनाश जिस उत्तरमरणमें होता है उसे आद्यन्तमरण कहते हैं। 'वर्तमानमें जिस प्रकारके प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेश द्वारा मरण-को प्राप्त होता है यदि एकदेश या सर्वदेशसे उस प्रकारके मरणको प्राप्त नहीं होता तो वह आद्यन्तमरण है।

बालमरणको कहते हैं—बालके मरणको बालमरण कहते हैं। वह बाल पाँच प्रकारका

ज्ञानबालः, दर्शनबालः, चारित्रबाल इति। अव्यक्तः शिशुः धर्मार्थकामकार्याणि यो न वेत्ति न च तदाचरणसमर्थशरीरः सोऽव्यक्तबालः। लोकवेदसमयव्यवहारान्यो न वेत्ति शिशुर्वासौ व्यवहारबालः। मिथ्यादृष्टयः सर्वथा[1] तत्त्वश्रद्धानरहिताः दर्शनबालाः। वस्तुयाथात्म्यग्राहिज्ञानन्यूना ज्ञानबाला.। अचारित्राः प्राणभृतश्चारित्रबालाः। एतेषां बालानां मरणं बालमरणं। एतानि च अतीते काले अनंतानि। अनंताश्च मृतिमिमां प्रपद्यंते। इह दर्शनबालो गृहीतः नेतरे बालाः कथं? यस्मात्सम्यग्दृष्टेरितरबालत्वे सत्यपि दर्शनपंडितताया: सद्भावात्पंडितमरणमेवेष्यते।

दर्शनबालस्य पुनः सक्षेपतो द्विविधं मरणं। इच्छया प्रवृत्तमनिच्छयेति च। तयोराद्यमग्निना धूमेन, शस्त्रेण, विषेण, उदकेन, मरुत्प्रपातेन, उच्छ्वासनिरोधेन, अतिशीतोष्णपातेन, रज्ज्वा, क्षुधा, तृषा, जिह्वोत्पाटनेन, विरुद्धाहारसेवनया च बाला मृतिं ढौकन्ते, कुतश्चिन्निमित्ताज्जीवितपरित्यागैषिण. काले अकाले वा अध्यवसानादिना यन्मरण जिजीविषोः तद्द्वितीयम्। एतैर्बालमरणैर्दुर्गतिगामिनो म्रियन्ते विषयव्यासक्तबुद्धयः अज्ञानपटलावगुंठिताः, ऋद्धिरससातगुरुका.। बहुतीव्रपापकर्मास्रवद्वाराण्येतानि बालमरणानि जातिजरामरणव्यसनापादनक्षमाणि॥

पंडितमरणमुच्यते—व्यवहारपंडितः, सम्यक्त्वपंडितः, ज्ञानपंडितश्चारित्रपंडितः इति चत्वारो विकल्पाः। लोकवेदसमयव्यवहारनिपुणो व्यवहारपंडितः अथवाऽनेकशास्त्रज्ञः शुश्रूषादिबुद्धिगुणसमन्वितः व्यवहारपंडितः,

---

है—अव्यक्तबाल, व्यवहारबाल, ज्ञानबाल, दर्शनबाल, चारित्रबाल। अव्यक्त छोटे बच्चेको कहते हैं। जो धर्म, अर्थ और कामको नहीं जानता और न जिसका शरीर ही उनका आचरण करनेमें समर्थ है वह अव्यक्तबाल है। जो लोक, वेद और समय सम्बन्धी व्यवहारोंको नहीं जानता अथवा इन विषयोंमें शिशु समान है वह व्यवहारबाल है। अर्थ और तत्त्वके श्रद्धानसे रहित सब मिथ्यादृष्टि दर्शनबाल हैं। वस्तुको यथार्थरूपसे ग्रहण करनेवाले ज्ञानसे जो हीन हैं वे ज्ञानबाल हैं। जो चारित्रपालन किये विना जीते हैं वे चारित्रबाल हैं। इन बालोंके मरणको बालमरण कहते हैं। अतीतकालमें ये बालमरण अनन्त हो चुके हैं। अनन्तजीव इस मरणको प्राप्त होते हैं। यहाँ इनमेसे दर्शनबालका ग्रहण किया है, अन्य बालोंका नहीं; क्योंकि सम्यग्दृष्टि में इतर बालपना रहते हुए भी दर्शनपंडितपना रहता है इसलिए उसके पंडितमरण ही स्वीकार किया है।

संक्षेपसे दर्शनबालका मरण दो प्रकार का है एक इच्छापूर्वक, दूसरा अनिच्छापूर्वक। आगसे, धुएँसे, शस्त्रसे, विषसे, जलसे, पर्वतसे गिरनेसे, श्वासके रुकनेसे, अति शीत या अति गर्मी पड़नेसे, रस्सीसे, भूखसे, प्याससे, जीभ उखाड़नेसे और प्रकृति विरुद्ध आहारके सेवनसे बालपुरुष मरणको प्राप्त होते हैं यह इच्छापूर्वक मरण है अर्थात् ऐसे उपाय स्वयं करके वे मरते हैं।

किसी निमित्त वश जीवनको त्यागनेकी इच्छा होने पर भी अन्तरंगमें जीनेकी इच्छा रहते हुए काल या अकालमें अध्यवसान आदिसे जो मरण होता है वह अनिच्छापूर्वक दर्शनबाल मरण है। जो दुर्गतिमें जानेवाले हैं, विषयोंमें अतिआसक्त हैं, अज्ञान पटलसे आच्छादित हैं, ऋद्धि, रस और सुखके लालची है वे इन बालमरणोमें मरण करते है। ये बालमरण बहुत तीव्र पापकर्मोंके आस्रवके द्वार है, जन्म, जरा, मरणके दुःखोंको लानेवाले हैं।

पण्डितमरणको कहते है—इसके चार भेद हैं, व्यवहार पण्डित, सम्यक्त्व पण्डित, ज्ञानपण्डित और चारित्र पण्डित। जो लोक, वेद और समयके व्यवहारमें निपुण हैं वह व्यवहारपण्डित

---

१. सर्वथा तत्व–आ० मु०।

क्षायिकेण क्षायोपशमिकेनौपशमिकेन वा सम्यग्दर्शनेन परिणतः दर्शनपंडितः। मत्यादिपंचप्रकारसम्यग्ज्ञानेषु परिणतः ज्ञानपंडितः। सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धसूक्ष्मसांपराययथाख्यातचारित्रेषु कस्मिंश्चित्प्रवृत्तश्चारित्रपंडितः। इह पुनर्ज्ञानदर्शनचारित्रपंडितानां अधिकारः। व्यवहारपंडितस्य मिथ्यादृष्टेः बालमरणं ¹ततो भवति सम्यग्दृष्टेस्तदेव दर्शनपंडितमरणं भवति। तद्दर्शनपंडितमरणं नरके, भवनेषु, विमानेषु, ज्योतिष्केषु, वानव्यंतरेषु, द्वीपसमुद्रेषु च। ज्ञानपंडितमरणानि च तेष्वेव। मनुष्यलोके एव केवलमनःपर्ययज्ञानपंडितमरणं भवति।

ओसण्णमरणमुच्यते—निर्वाणमार्गप्रस्थितात्संयतसार्थाद्यो हीनः प्रच्युतः सोऽभिधीयते ओसण्ण इति। तस्य मरणं ओसण्णमरणमिति। ओसण्णग्रहणेन पार्श्वस्थाः, स्वच्छंदाः, कुशीलाः संसक्ताश्च गृह्यन्ते। तथा चोक्तम्॥

पासत्थो सच्छंदो कुसील संसत्त होंति ओसण्णा॥
जं सिद्धिपच्छिदादो ²ओहीणा साधु सत्थादो॥—[ ]

के पुनस्ते? ऋद्धिप्रियाः, रसेष्वासक्ताः, दुःखभीरवः सदा दुःखकातराः, कषायेषु परिणताः, संज्ञावशगाः, पापश्रुताभ्यासकारिणः, त्रयोदशविधासु क्रियास्वलसाः, सदा संक्लिष्टचेतसः, भक्ते उपकरणे च प्रतिबद्धाः, निमित्तमंत्रौषधयोगोपजीविनः गृहस्थवैयावृत्यकराः, गुणहीना गुप्तिषु समितिषु चानुद्यताः मंदसंवेगा दशप्रकारे धर्मे अकृतबुद्धयः शबलचारित्रा ओसण्णा इत्युच्यंते। एवंभूताः संतो मृत्वा वराका भवसहस्रेषु

है। अथवा जो अनेक शास्त्रोंका ज्ञाता है, सेवा आदि बौद्धिक गुणोंसे युक्त है वह व्यवहारपण्डित है। क्षायिक, क्षायोपशमिक अथवा औपशमिक सम्यग्दर्शनसे जो युक्त है वह दर्शनपण्डित हैं। जो मति आदि पाँच प्रकारके सम्यग्ज्ञान रूपसे परिणत है वह ज्ञानपण्डित है। जो सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात चारित्रमेंसे किसी एक चारित्रका पालक है वह चारित्रपण्डित है। यहाँ ज्ञान, दर्शन और चारित्र पण्डितोंका अधिकार है। व्यवहार-पण्डित मिथ्यादृष्टि का तो बालमरण होता है और सम्यग्दृष्टिका मरण दर्शनपण्डित मरण है। वह दर्शनपण्डित मरण नरकमें भवनवासी देवोंमें, वैमानिक देवोंमें, ज्योतिष्क देवोंमें, व्यन्तर देवोंमें और द्वीप समुद्रोंमें होता है। ज्ञानपण्डित मरण भी इन्हींमें होता है। किन्तु केवलज्ञान और मनः पर्ययज्ञान पण्डितमरण मनुष्य लोकमें ही होता है।

ओसण्णमरणको कहते हैं—निर्वाण मार्गपर प्रस्थान करनेवाले संयमियोंके संघसे जो हीन हो गया है उसे निकाल दिया गया है वह ओसण्ण कहलाता है। उसके मरणको ओसण्णमरण कहते हैं। ओसण्णके ग्रहणसे पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील और संसक्तोंका ग्रहण होता है। कहा भी है—पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द कुशील और संसक्त ये ओसण्ण होते हैं क्योंकि ये मोक्षके लिए प्रस्थान करनेवाले साधुसंघसे बाहर होते हैं।

ऋद्धियोंके प्रेमी, रसोंमें आसक्त, दुःखसे भीत, सदा दुःखसे कातर, कषायोंमें संलग्न, आहारादिसंज्ञाके अधीन, पापवर्धक शास्त्रोंके अभ्यासी, तेरह प्रकारकी क्रियाओंमें आलसी, सदा संक्लेशयुक्त चित्तवाले, भोजन और उपकरणोंसे प्रतिबद्ध, निमित्तशास्त्र, मंत्र, औषध आदिसे आजीविका करनेवाले, गृहस्थोंका वैयावृत्य करनेवाले, गुणोंसे हीन, गुप्तियों और समितियोंमें उदासीन, संवेग भावमें मन्द, दस प्रकारके धर्ममें मनको न लगानेवाले तथा सदोष चारित्रवाले मुनियोंको अवसन्न कहते हैं। इस प्रकारसे रहते हुए ये बेचारे मरकर हजारों भवोंमें भ्रमण करते

१. अथा आ० मु०। २. आहीणा आ०।

भवन्ति । दुःखानि भुक्त्वा भुक्त्वा पार्श्वस्थरूपेण सुचिरं विहृत्यान्ते आत्मनः शुद्धिं कृत्वा यदि मृतिमुपैति प्रशस्तमेव मरणं भवति ।

सम्यग्दृष्टेः संयतासंयतस्य बालपंडितमरणं यतोऽसावुभयरूपो बालः पंडितश्च । स्थूलकृतात्प्राणाति-पातादेर्विरमणलक्षणं चारित्रमस्ति दर्शनं च ततश्चारित्रपंडितो दर्शनपंडितश्च[1] । कुतश्चित्सूक्ष्मादसंयमाद-निवृत्त इति चारित्रबालः । तत्तु बालपंडितमरणं गर्भजेषु पर्याप्तकेषु तिर्यक्षु मनुजेषु भवति । दर्शनपंडितमरणं तु तेषु देवनारकेषु च ।

सशल्यमरणं द्विविधं यतो द्विविधं शल्यं द्रव्यशल्यं भावशल्यमिति । मिथ्यादर्शनमायानिदानशल्यानां कारणं कर्म द्रव्यशल्यं । द्रव्यशल्येन सह मरणं पंचानां स्थावराणां भवति असंज्ञिनां त्रसानां च । ननु द्रव्य-शल्यं सर्वत्रास्ति तत्किमुच्यते स्थावराणामिति । भावशल्यविनिर्मुक्तं द्रव्यशल्यमपेक्ष्यते । एतदुक्तं—सम्यक्त्वाति-चाराणां दर्शनशल्यस्यासम्यग्दर्शनस्य च स्थावरेषु अभावात् त्रसेषु च विकलेंद्रियेषु । इदमेव स्यात्मनागते काले इति मनसः प्रणिधानं निदानं न च तदसंज्ञिष्वस्ति । मार्गस्य दूषणं, मार्गनाशनं, उन्मार्गप्ररूपणं, मार्ग-स्थानां भेदकरणं च मिथ्यादर्शनशल्यानि ।

तत्र निदानं त्रिविधं प्रशस्तमप्रशस्तं भोगकृतं चेति । परिपूर्णं संयममाराधयितुकामस्य जन्मांतरे पुंस्त्वा-दिप्रार्थना प्रशस्तं निदानं, मानकषायप्रेरितस्य कुलरूपादिप्रार्थनमनागतभवविषयं अप्रशस्तं निदानं । अथवा

हैं। किन्तु दुःख उठाते-उठाते पार्श्वस्थरूपमें चिरकाल तक विहार करके अन्तमें आत्माकी शुद्धि करके यदि मरते है तो प्रशस्तमरण ही होता है।

सम्यग्दृष्टि संयतासंयतके मरणको बालपण्डित मरण कहते हैं क्योंकि यह बाल और पण्डित दोनों ही होता है। इसके स्थूल हिंसा आदिसे विरतिरूप चारित्र और दर्शन दोनों होते हैं अतः यह चारित्रपण्डित भी है और दर्शनपण्डित भी है। किन्तु कुछ सूक्ष्म असंयमसे निवृत्त नहीं होता, इसलिए चारित्रमें बाल है।

यह बालपण्डित मरण गर्भज और पर्याप्तक तिर्यञ्चों तथा मनुष्योंमें होता है। दर्शनपण्डित मरण तो इनमें भी होता है और देव तथा नारकियोंमें भी होता है।

सशल्य मरणके दो भेद हैं क्योंकि शल्यके दो भेद हैं—द्रव्यशल्य और भावशल्य। मिथ्या-दर्शन, माया और निदान इन शल्योंका कारण जो कर्म है उस कर्मको द्रव्यशल्य कहते हैं। द्रव्यशल्यके साथ मरण पाँचों स्थावरों, असंज्ञियों और त्रसोंका होता है।

शंका—द्रव्यशल्य तो सर्वत्र है तब स्थावरोंके क्यों कहा?

समाधान—यहाँ भावशल्यसे रहित द्रव्यशल्यकी अपेक्षा है। यह कहा है कि सम्यग्दर्शनके अतिचारोंका कारण दर्शनशल्य है और सम्यग्दर्शन स्थावरोंमें तथा विकलेन्द्रिय त्रसोंमें नहीं होता।

आगामीकालमें यही होना चाहिए इस प्रकारके मनके उपयोगको निदान कहते हैं। असंज्ञियोंमें इस प्रकारका निदान नहीं होता। मोक्षमार्गको दोष लगाना, मार्गका नाश करना, मिथ्यामार्गका कथन करना, या मोक्षमार्गका कथन न करना, और जो मोक्षमार्गी हैं उनमें भेद डालना ये मिथ्यादर्शनशल्य हैं। उनमेंसे निदानके तीन भेद हैं—प्रशस्त, अप्रशस्त और भोगकृत। परिपूर्ण संयमकी आराधना करनेकी इच्छासे परभवमें पुरुषत्व आदि प्राप्तिकी प्रार्थना प्रशस्त

---

१ तश्चा । ततश्चारित्रपंडितो दर्शनपंडितश्च कुत–आ० ।

क्रोधाविष्टस्य स्ववधकप्रार्थना वशिष्ठस्येवोग्रसेनोन्मूलने । इह परत्र च भोगा अपि इत्थंभूता अस्माद् व्रतशीलादिकाद् भवन्त्विति मनःप्रणिधानं भोगनिदानं । असंयतसम्यग्दृष्टेः संयतासंयतस्य वा निदानशल्यं भवति । पार्श्वस्थादिरूपेण चिरं विहृत्य पश्चादपि आलोचनामंतरेण यो मरणमुपैति तन्मायाशल्यं मरणं तस्य भवति । एतच्च संयते, संयतासंयते, अविरतसम्यग्दृष्टावपि भवति ।

बलायमरणमुच्यते—विनयवैयावृत्यादावकृतादरः, प्रशस्तयोगोद्वहनालसः, प्रमादवान्व्रतेषु, समितिषु, गुप्तिषु च स्ववीर्यनिगूहनपरः, धर्मचिंतायां निद्रया घूर्णित इव ध्याननमस्कारादेः पलायते अनुपयुक्ततया, एतस्य मरणं बलायमरणं । सम्यक्त्वपंडिते, ज्ञानपंडिते चरणपंडिते च बलायमरणमपि[1] संभवति । ओसण्णमरणं सशल्यमरणं च यदभिहितं तत्र नियमेन बलायमरणम् । तद्व्यतिरिक्तमपि बलायमरणं भवति । निःशल्यः संविग्नो भूत्वा चिरं रत्नत्रयप्रवृत्तस्य संस्तरमुपगतस्य शुभोपयोगात्पलायमानस्य भावस्य शुभस्यानवस्थानात् ।

वसट्टमरणं नाम—आर्ते रौद्रे च प्रवर्तमानस्य मरणं । तत्पुनश्चतुर्विधं—इंदियवसट्टमरणं, वेदणावसट्टमरणं, कसायवसट्टमरणं, नोकसायवसट्टमरणं इति । इंदियवसट्टमरणं यत् तत्पंचविधं इंद्रियविषयापेक्षया । सुरैर्नरैस्तिर्यग्भिरजीवैश्च कृतेषु ततविततघनसुषिरशब्देषु मनोज्ञेषु रक्तोऽमनोज्ञेषु द्विष्टो मृतिमेति । यथा चतुःप्रकारे आहारे रक्तस्य द्विष्टस्य वा मरणं, पूर्वोक्तानां सुरनरादीनां गंधे द्विष्टस्य रक्तस्य वा मरणं, तेषामेव

निदान है। मानकषायसे प्रेरित होकर आगामी भवमें उच्चकुल, सुन्दररूप आदिकी प्रार्थना अप्रशस्त निदान है। अथवा क्रोधके आवेशमें आकर अपने शत्रुके वधकी प्रार्थना, जैसे वशिष्ठने उग्रसेनके विनाशकी प्रार्थना की थी, अप्रशस्त निदान है। इस व्रतशील आदिके प्रभावसे इस भवमें और परभवमें इस प्रकारके भोग मुझे प्राप्त हों, इस प्रकार मनके संकल्पको भोगनिदान कहते हैं। असंयत सम्यग्दृष्टी अथवा संयतासंयतके निदानशल्य होता है। चिरकालतक पार्श्वस्थ आदि साधुके रूपमें विहार करनेके पश्चात् भी जो आलोचना किये बिना मर जाता है उसका वह मायाशल्य मरण होता है। ऐसा मरण संयत, संयतासंयत और अविरत सम्यग्दृष्टिमे होता है।

बलायमरणको कहते हैं—जो विनय वैयावृत्य आदिमें आदरभाव नहीं रखता, प्रशस्त योगके धारणमें आलसी है, प्रमादी है, व्रतोंमें, समितियोंमें और गुप्तियोंमें अपनी शक्तिको छिपाता है, धर्मके चिन्तनमें निद्राके वशीभूत जैसा रहता है, उपयोग न लगनेसे ध्यान नमस्कार आदिसे दूर भागता है, उसका मरण बलायमरण है। दर्शनपण्डित, ज्ञानपण्डित और चारित्रपण्डितके बलायमरण भी सम्भव है। ओसण्णमरण और सशल्यमरणमें नियमसे बलायमरण होता है। उनके अतिरिक्त भी बलायमरण होता है। जो शल्यरहित विरक्त होकर चिरकालतक रत्नत्रयका पालन करता है किन्तु मरते समय संस्तरपर आरूढ होकर शुभोपयोगसे दूर भागता है, उसके शुभभावके स्थिर न रहनेसे बलायमरण होता है।

वसट्टमरण कहते हैं—आर्त और रौद्रध्यानपूर्वक मरणको वसट्टमरण कहते हैं। उसके चार भेद हैं—इन्द्रियवसट्टमरण, वेदनावसट्टमरण, कसायवसट्टमरण, और नोकसायवसट्टमरण। इन्द्रियवसट्टमरण इन्द्रियोंके विषयोंकी अपेक्षा पाँच प्रकारका है। देवों, मनुष्यों, पशु-पक्षियों और अजीवोंके द्वारा किये गये तत, वितत, घन, और सुषिर शब्दोंमें, मनोज्ञ शब्दोंमें राग और अमनोज्ञ शब्दोंमें द्वेष करते हुए मरण होता है। यह श्रोत्रेन्द्रियवसट्टमरण है। चार प्रकारके

---

1. मरणं भवति अ०।

रूपे संस्थाने वा रक्तस्य द्विष्टस्य वा मरणं, तेषामेव स्पर्शे रागवतो द्वेषवतो वा मरणं, इति इन्द्रियविषय-वशार्तमरणविकल्पाः।

वेदनावशार्तमरणं द्विभेदं समासतः सातवेदनावशार्तमरणं असातवेदनावशार्तमरणमिति। शारीरे मानसे वा दुःखे उपयुक्तस्य मरणं दुःखवशार्तमरणमुच्यते। यो दुःखेन मोहमुपागतस्तस्य मरणमिति यावत्। तथा शारीरे मानसे वा सुखे उपयुक्तस्य मरणं सातवशार्तमरणं।

कषायभेदात्कषायवशार्तमरणं चतुर्विधं भवति। अनुबंधरोषो य आत्मनि परत्र उभयत्र वा मारणवशो[1] भवति। तस्य क्रोधवशार्तमरणं भवति। मानवशार्तमरणमष्टविधं भवति कुलेन, रूपेण, बलेन, श्रुतेन, ऐश्वर्येण, लाभेन, प्रज्ञया, तपसा वा आत्मानमुत्कर्षयतो मरणमपेक्ष्य विख्याते विशाले उन्नते कुले समुत्पन्नोऽहमिति मन्यमानस्य मृतिः कुलमानवशार्तमरणम्। निरुपहतपंचेंद्रियसमग्रगात्रस्तेजस्वी प्रत्यग्रयौवनः सकलजनताचेतःसम्मर्दकररूप इति भावयतो मृतिः रूपवशार्तमरणं। वृक्षपर्वताद्युत्पाटनक्षमोऽहं योधयाम्यहं, मित्राणां च बलं ममास्ति इति बलाभिमानोद्भूतमानवशार्तमरणं। बहुपरिवारो बहुशासनोऽहं इति ऐश्वर्यमानोन्मत्तस्य मरणं मानवशार्तमरणं। लोकवेदसमयसिद्धान्तशास्त्राणि शिक्षितानि इति श्रुतमानोन्मत्तस्य मरणं श्रुतमानवशार्तमरण-मुच्यते। तीक्ष्णा मम बुद्धिः सर्वत्राप्रतिहता इति प्रज्ञामत्तस्य मरणं प्रज्ञावशार्तमरणमुच्यते। व्यापारे क्रियमाणे

आहारमें राग या द्वेष करते हुए मरण रसनेन्द्रियवसट्टमरण है। पूर्वोक्तदेव मनुष्य आदिकी गन्धमें रागद्वेष करते हुए मरण घ्राणेन्द्रियवसट्टमरण है। उन्हींके रूप आकार आदिमें रागद्वेष करने-वालेका मरण चक्षुइन्द्रियवसट्टमरण है। उन्हींके स्पर्शमें रागद्वेष करनेवालेका मरण स्पर्शनेन्द्रिय-वसट्टमरण है। इस प्रकार इन्द्रिय और मनके वशसे होनेवाले आर्तध्यानपूर्वक मरणके भेद हैं।

वेदनावसट्टमरणके संक्षेपसे दो भेद हैं—सातवेदनावशार्तमरण और असातवेदनावशार्त-मरण। शारीरिक अथवा मानसिक दुःखमें उपयोग रहते हुए होनेवाले मरणको दुःखवशार्तमरण कहते हैं। अर्थात् जो दुःखसे मोहको प्राप्त हुआ उसका मरण दुःखवशार्तमरण है। तथा शारीरिक अथवा मानसिक सुखमें उपयोग रहते हुए होनेवाला मरण सातवशार्त मरण है।

कषायके भेदसे कषायवशार्तमरणके चार भेद होते हैं। अपनेमें, दूसरेमें अथवा दोनोंमें मारनेके लिए उत्पन्न हुआ क्रोध मरणका कारण होता है। वह क्रोधवशार्तमरण है। मानवश-आर्तमरणके आठ भेद हैं—कुल, रूप, बल, शास्त्र, ऐश्वर्य, लाभ, बुद्धि अथवा तपसे अपनेको बड़ा मानते हुए मरण होनेकी अपेक्षा ये आठ भेद होते हैं। मैं अति प्रसिद्ध विशाल उच्चकुलमें उत्पन्न हुआ हूँ ऐसा मानते हुए होनेवाले मरणको कुलमानवश आर्तमरण कहते हैं। मेरा शरीर सशक्त पाँच इन्द्रियोंसे पूर्ण है, तेजस्वी और नवयौवनसे सम्पन्न है, मेरा रूप समस्त जनताके चित्तको मर्दन करता है, ऐसी भावना होते हुए जो मरण होता है वह रूपवश आर्तमरण है। मैं वृक्ष पर्वत आदिको उखाड़नेमें समर्थ हूँ, लड़नेमें समर्थ हूँ, मेरे साथ मित्रोंका बल है, इस प्रकार बलके अभिमानको धारण करते हुए होनेवाला मरण बलमानवश आर्तमरण है। मैं बहुत परिवार वाला हूँ मेरा शासन बहुतोंपर है इस प्रकार ऐश्वर्यके मानसे उन्मत्तका मरण ऐश्वर्यमान वशार्त-मरण है। मैंने लोक, वेद, समय और सिद्धान्त सम्बन्धी शास्त्रोंको पढ़ा है इस प्रकार शास्त्रके मानसे उन्मत्तका मरण श्रुतमानवश आर्तमरण है। मेरी बुद्धि तीक्ष्ण है, सब विषयोंमें उसकी

---

१. वा मरणवशो भवति अ०। वा मारणवशो भवति आ०।—वशोपि मरणवशः ज–मु०।

मम सर्वत्र लाभो जायते इति लाभमानं भावयतो मरणं लाभवशार्तमरणम् । तपो मयानुष्ठीयते अन्यो मत्सदृशस्तपश्चरणे नास्ति इति संकल्पयतस्तपोमानवशार्तमरणं भवति । माया पंचविकल्पा निकृतिः, उपधिः, सातिप्रयोगः, प्रणिधिः प्रतिकुंचनमिति । अतिसंधानकुशलता धने कार्ये वा कृताभिलाषस्य वंचना निकृतिः उच्यते । सद्भावं प्रच्छाद्य धर्मव्याजेन स्तैन्यादिदोषे प्रवृत्तिरुपधिसंज्ञिता माया । अर्थेषु विसंवादः स्वहस्तनिक्षिप्तद्रव्यापहरणं, दूषणं, प्रशंसा वा सातिप्रयोगः । प्रतिरूपद्रव्यमानकरणानि, ऊनातिरिक्तमानं; संयोजनया द्रव्यविनाशनमिति प्रणिधिमाया । आलोचनं कुर्वतो दोषविनिगूहनं प्रतिकुंचनमाया । एवंविधं मायावशार्तमरणं । उपकरणेषु, भक्तपानक्षेत्रेषु, शरीरे, निवासस्थानेषु च इच्छां मूर्छां च वहतो मरणं लोभवशार्तमरणं । हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंन्नपुंसकवेदे मूढमतेर्मरणं नोकषायवशार्तमरणं । नोकषायवशार्तमरणमुपगतो जायते मनुजतिर्यग्योनिषु, असुरेषु, कंदर्पेषु, किल्बिषिकेषु च । मिथ्यादृष्टेरेतदेव बालमरणं भवति । दर्शनपंडितोऽपि अविरतसम्यग्दृष्टिः संयतासंयतोऽपि वशार्तमरणमुपैति तस्य तद्बालपंडितं भवति दर्शनपंडितं वा ।

अप्रतिषिद्धे अननुज्ञाते च द्वे मरणे 'विप्पाणस' गिद्धपुट्ठमितिसंज्ञिते कृतौ प्रवर्तेते । दुर्भिक्षे, कांतारे, दुस्तरे, पूर्वशत्रुभये, दुष्टनृपभये, स्तेनभये, तिर्यगुपसर्गे एकाकिनः सोढुमशक्ये ब्रह्मव्रतनाशादिचारित्रदूषणे च

बेरोक गति है इस प्रकार प्रज्ञाके मदसे मत्तके मरणको प्रज्ञामानवश आर्तमरण कहते हैं। व्यापार करनेपर मुझे सर्वत्र लाभ होता है इस प्रकार लाभका मान करते हुए होनेवाले मरणको लाभमानवशार्तमरण कहते हैं। मैं तप करता हूँ, तपश्चरणमें मेरे समान दूसरा नहीं है। ऐसा संकल्प करते हुए होनेवाले मरणको तपमानवशार्तमरण कहते हैं।

मायाके पाँच भेद हैं—निकृति, उपधि, सातिप्रयोग, प्रणधि और प्रतिकुञ्चन। दूसरोंकी गुप्त बातोंकी खोजमें कुशलता, तथा धन अथवा किसी कार्यकी अभिलाषावालेको ठगना निकृति है। समीचीन भावको छिपाकर धर्मके बहानेसे चोरी आदि दोषोंमें प्रवृत्तिको उपधिनामक माया कहते है। अर्थ (धन) के विषयमें झगड़ा करना, अपने हाथमें रखे द्रव्यको हर लेना, प्रयोजनके अनुसार दोष लगाना या प्रशंसा करना सातिप्रयोग माया है। असली वस्तुमें उसके समान नकली वस्तु मिलाना, कमती बढ़ती तोलना, मिलावटके द्वारा द्रव्यका विनाश करना ये प्रणिधिमाया है। आलोचना करते समय दोषोंको छिपाना प्रतिकुंचन माया है। इस प्रकारके मायाचारपूर्वक होनेवाले मरणको मायावशार्तमरण कहते है। उपकरणोंमें, खानपानके क्षेत्रोंमें, शरीरमें, निवास स्थानोंमें इच्छा और ममत्व रहते हुए होनेवाले मरणको लोभवशार्तमरण कहते हैं। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद और पुरुषवेदको लेकर जिसकी बुद्धि मूढ़ हो गई है उसका मरण नोकषायवशावर्तमरण है। नोकषायवशार्तमरणसे मरा हुआ प्राणी मनुष्य योनि, तिर्यञ्चयोनि, तथा असुर, कन्दर्प और किल्विषजातिके देवोंमें उत्पन्न होता है। मिथ्यादृष्टि-के होनेवाला यही मरण बालमरण होता है। दर्शनपण्डित, अविरतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयतके भी वशार्तमरण होता है उनका वह मरण बालपण्डितमरण अथवा दर्शनपण्डितमरण होता है।

विप्पणास और गिद्धपुट्ठ नामके दो मरण ऐसे हैं जिनका निषेध भी नहीं है अनुज्ञा भी नहीं है। दुर्भिक्षमें, भयानक जंगलमें, पूर्वशत्रुका भय होनेपर, या दुष्ट राजाका भय होनेपर, चोरका भय होनेपर, तिर्यञ्चकृत उपसर्ग होनेपर जिसे अकेले सहन करना अशक्य है, या ब्रह्मचर्य-

---

१. वशार्ति-आ० मु० ।

जाते संविग्नः पापभीरुः कर्मणामुदयमुपस्थितं ज्ञात्वा तं सोढुमशक्तः तन्निस्तरणस्यासत्युपाये सावद्यकरणभीरुः विराधनमरणभीरुश्च एतस्मिन् कारणे जाते कालेऽमुष्मिन् किं भवेत्कुशलमिति गणयतो यद्युपसर्गभयत्रासितः संयमाद्भ्रश्यामि ततः संयमभ्रष्टो दर्शनादपि न वेदनामसंक्लिष्टः सोढुं उत्सहेत ततो रत्नत्रयाराधनाच्युतिर्मेति निश्चितमतिर्निर्मायश्चरणदर्शनविशुद्धः, धृतिमान्, ज्ञानसहायोऽनिदानः, अर्हदन्तिके, आलोचनामासाद्य कृतशुद्धिः, सुलेश्य प्राणापाननिरोधं करोति यत्तद्विप्पाणसं मरणमुच्यते। शस्त्रग्रहणेन यद्भवति तद्गिद्धपुट्ठमित्युच्यते। मरणविकल्पसंभवप्रदर्शनमिदं सर्वत्र कर्तव्यतयोपदिश्यते। प्रायोपगमनमिंगिणीमरणं भक्तप्रत्याख्यानं इत्येतान्येवोत्तमानि पूर्वपुरुषैः प्रवर्तितानि। एवं दिङ्मात्रेण पूर्वागमानुसारि सप्तदशमरणव्याख्यानमत्रोपक्रान्तम्।

एतेषु सप्तदशसु पंच मरणानि इह संक्षेपतो निरूपयिष्यामीति प्रतिज्ञानेन कृता। कानि तानि पंच मरणानि इत्याशंकायां नामनिर्देशार्थं गाथा पंडितपंडितमरणमित्यादिका—

पंडिदपंडिदमरणं पंडिदयं बालपंडिदं चेव ॥
बालमरणं चउत्थं पंचमयं बालबालं च ॥ २६ ॥

ननु भवपर्यायप्रलयो मरणमिति यदि गृह्यते तस्य को भेदो भवपर्यायस्य अनेकत्वात् मरणं तद्विनाशः कथं न भिद्यते इति। मनुष्ये पंचप्रकारतानुपपन्ना अनंतत्वात् एकजीवगतस्यापि भवपर्यायस्य नानाजीवापेक्षाया

व्रतका विनाश आदि दूषण चारित्रमे होनेपर ससारसे विरक्त और पापसे डरनेवाला साधु कर्मोका उदय उपस्थित जानकर उसे सहनेमें असमर्थ होनेसे उससे निकलनेका उपाय न होनेपर पापकर्म करनेसे डरता हुआ, साथ ही विराधनापूर्वक मरणसे डरता हुआ विचारता है इस कालमे इस प्रकारके कारण उपस्थित होनेपर कैसे कुशल रह सकती है, यदि उपसर्गके भयसे डरकर संयमसे भ्रष्ट होता हूँ तो संयमसे भी भ्रष्ट और दर्शनसे भी भ्रष्ट होता हूँ। और बिना संक्लेशके वेदनाको सहन कर नहीं सकता। तब मैं रत्नत्रयके आराधनसे डिग जाऊँगा, ऐसी निश्चित मति करके सम्यक्त्व और चारित्रमें विशुद्ध, धैर्यशाली, ज्ञानसे सहायता लेनेवाला वह साधु किसी निदानके विना अर्हन्तके पासमें आलोचना प्रायश्चित्त लेकर शुभलेश्यापूर्वक श्वासोच्छ्वासका निरोध करता है। उसे विप्पणास मरण कहते हैं। और शस्त्रग्रहणसे होनेवाले मरणको गिद्धपुट्ठ कहते हैं।

मरणके भेदोका यह प्रदर्शन सर्वत्र कर्तव्यरूपसे किया जाता है। किन्तु प्रायोपगमन, इंगिणीमरण और भक्तप्रत्याख्यान ये तीन ही मरण उत्तम हैं, पूर्व पुरुषोंने इनका पालन किया है। इस प्रकार सक्षेपसे पूर्व आगमके अनुसार सतरह मरणोंका व्याख्यान यहाँ किया ॥२५॥

इन सतरहमें से पाँच मरणोंको यहाँ संक्षेपसे कहूँगा ऐसी प्रतिज्ञा ऊपर की है। वे मरण कौन हैं ऐसी शका करने पर उनका नाम निर्देश करनेके लिए गाथा कहते हैं—

गाथा—पण्डितपण्डितमरण, पण्डितमरण, बाल पण्डितमरण, चौथा बालमरण और पाँचवा बाल बालमरण, ये पाँच मरण है।

टीका—शंका—यदि भवपर्यायके विनाशको मरण कहते हो तो उसका भेद कैसा? भवपर्याय तो अनेक हैं और उनका विनाश मरण है तब मरणके भेद उतने क्यों नहीं होंगे। अतः मनुष्यमें मरणके पाँच प्रकार ठीक नहीं है। एक जीव की भी भवपर्याय अनन्त होती हैं तब नाना-

कोऽवसरः पंचत्वस्य । प्राणिनः प्राणेभ्यो वियोगो मरणं इति चेत्तदेकविधमेव सामान्यतः । प्राणभेदापेक्षयेति चेद्दशप्रकारतापद्यते । उदयप्राप्तकर्मपुद्गलगलनं मरणं इति यदि गृह्यते प्रतिसमयं गलनान्न पंचता । गुणभेदापेक्षया जीवान्पंचधा व्यवस्थाप्य तत्संबंधेन पंचविधं मरणमुच्यते ।

अत्रान्या व्याख्या—प्रशस्ततमं, प्रशस्ततरं, ईषत्प्रशस्तं, अविशिष्टं, अविशिष्टतरं इति पंडितपंडितमरणादीनि केचिद् । व्याचक्षते । पंडितशब्दः प्रशस्तमित्यस्मिन्नर्थे क्व प्रयुक्तो दृष्टो येनैवं व्याख्यायते ? किं च आगमांतराननुगतं चेदं व्याख्यानं ।

व्यवहारे सम्यक्त्वे ज्ञाने चरणे च पंडितस्य तथा ।
पंडितमरणं कथितं चतुर्विधं तज्जवंति हि ।।' [ ]

इति वर्णिता चतुःप्रकाराः पंडिता उपवर्णिताः । तेषां मध्ये अतिशयितं पांडित्यं यस्य ज्ञानदर्शनचारित्रेषु स पंडितपंडित इत्युच्यते । एतत्पांडित्यप्रकर्षरहितं पांडित्यं यस्य स पंडित इत्युच्यते । व्याख्यातं बाल्यं पांडित्यं च यस्य स भवति बालपंडितः तस्य मरणं बालपंडितमरणं । यस्मिन्न संभवति पांडित्यं चतुर्ष्वप्येकं असौ बालः । सर्वतो न्यूनो बालबालः तस्य मरणं बालबालमरणं ।

अथ के पंडितपंडिता येषां मरणं पंडितपंडितमिति भण्यते इत्यारेकायामाह—

पडिदपंडितमरणे खीणकसाया मरंति केवलिणो ।
विरदाविरदा जीवा मरंति तदियेण मरणेण ।।२७।।

जीवोंकी अपेक्षा पाँच भेद कैसे संभव हैं ? यदि कहोगे कि प्राणीका प्राणोंसे वियोग मरण है तो वह सामान्यसे एक ही प्रकार का है । प्राणभेदकी अपेक्षा लेना हो तो दस भेद हो सकते हैं ? यदि उदय प्राप्त कर्म पुद्गलोंके गलनेका नाम मरण है तो कर्म पुद्गलोका गलन तो प्रति समय होता है अतः पाँच भेद नही बनते ?

समाधान—गुणभेदकी अपेक्षा जीवोंके पाँच भेद करके उनके सम्बन्धसे मरणके पाँच भेद कहे हैं ।

अन्य व्याख्याकार पण्डितपण्डितमरण आदि पाँच मरणोंको प्रशस्ततम, प्रशस्ततर, ईषत् प्रशस्त, अविशिष्ट और अविशिष्टतर कहते हैं । हम उनसे पूछते हैं कि पण्डित शब्दका प्रशस्त अर्थमें प्रयोग कहाँ देखा है जिससे आप ऐसी व्याख्या करते हैं । तथा यह व्याख्यान अन्य आगमोंके अनुकूल नहीं है ।

आगममें कहा है—व्यवहारमें, सम्यक्त्वमें, ज्ञानमें और चारित्रमें पण्डितके मरणको पण्डितमरण कहते हैं अतः उसके चार भेद हैं । इस प्रकार चार प्रकारके पण्डित कहे हैं । उनके मध्यमें जिसका पाण्डित्य ज्ञान, दर्शन और चारित्रमें अतिशयशाली है उसे पण्डितपण्डित कहते हैं । उसके पाण्डित्यके प्रकर्षसे रहित जिसका पाण्डित्य होता है उसे पण्डित कहते हैं । पूर्वमें व्याख्यात बालपन और पाण्डित्य जिसमें होते हैं वह बालपण्डित है । उसका मरण बालपण्डितमरण है । और जिसमें चारों प्रकारके पाण्डित्यमें से एक भी पाण्डित्य नहीं है वह बाल है और जो सबसे हीन है वह बालबाल मरण है ।।२६।।

वे पण्डितपण्डित कौन हैं जिनका मरण पण्डितपण्डित कहा जाता है ? ऐसी शङ्का होनेपर आचार्य कहते हैं—

पंडिदपंडिदमरणं खीणकसाया मरंति केवलिणो। सामान्यमृतेर्विशेषमृतिः कर्मतया निर्दिष्टा पंडित-पंडितमरणमिति। यथा गोपोषं पुष्ट इति। 'खीणकसाया', कषन्ति हिंसन्ति आत्मानमिति कषायाः। अथवा कषायशब्देन वनस्पतीनां त्वक्पत्रमूलफलरस उच्यते। स यथा वस्त्रादीनां वर्णमन्यथा संपादयति एवं जीवस्य क्षमामार्दवार्जवसंतोषाख्यगुणान्विनाश्यान्यथा व्यवस्थापयंतीति क्रोधमानमायालोभाः कषाया इति भण्यंते। ते क्षीणाः कषाया येषा ते क्षीणकषायाः। द्रव्यकर्मणा कषायवेदनीयानां विनाशासम्भूता अपि भाव-कषायाः प्रलयमुपगता इति क्षीणकषाया इति भण्यन्ते। केवलमसहायं ज्ञानं इंद्रियाणि मनःप्रकाशादिकं चा-नपेक्ष्य युगपदशेषद्रव्यपर्यायभासनसमर्थं सवत्[1] प्रवर्तते तदेषामस्ति ते केवलिनः। यद्यपि केवलज्ञानवस्तु-सामान्ये न प्रवर्तते केवलिशब्दस्तथापि सयोगकेवलिनो मरणस्यासंभवादयोगकेवलिनो ग्रहण। अन्ये क्षीण-कषायाः श्रुतकेवलिनश्चेति व्याचक्षते। तेषां तद्व्याख्यानमसमंजसं श्रुतशब्दमंतरेण केवलिशब्दस्य क्वचिदप्यागमे समस्तश्रुतरत्नवत्यपि प्रयोगादर्शनात्। प्रसिद्धशब्दार्थासंभवो यदि स्यात् यथा कथंचिदन्योऽर्थो व्याख्येयः स्यात्। संभवति प्रतीतेऽर्थे कथं तत्परित्यागः। अपि च पांडित्यप्रकर्षः क्षायिकज्ञानदर्शनचारित्रापेक्षस्तत्र सन्नि-हितो न श्रुतकेवलिनि। विरदाविरदा जीवाः स्थूलकृतात्प्राणातिपातादेर्व्यावृत्ता इति विरताः सूक्ष्मात्प्रा-व्यावृत्तेरविरताः। विरता यदि कथमविरता अविरताश्चेत्कथं विरताः इति विरोधाशंका न कार्या। विरत-

---

गा०—पण्डितपण्डितमरणसे क्षीण कषाय और अयोगकेवली मरते हैं। विरताविरत जीव तीसरे मरणसे मरते हैं ॥२७॥

टी०—'पण्डितपण्डितमरण मरते हैं' यहाँ पण्डितपण्डित नामक विशेष मरणको 'मरते हैं' इस सामान्य मरणके कर्मरूपसे कहा है। जैसे बैलके समान पुष्टको सामान्य पुष्ट शब्दसे कहा है। जो 'कषन्ति' अर्थात् आत्माका घात करती हैं उन्हे कषाय कहते हैं। कषाय शब्दसे वन-स्पतियोंके छाल, पात्र, जड़ और फलका रस कहा जाता है। वह रस जैसे वस्त्रादिके रंगको बदल देता है इसी प्रकार जीवके क्षमा, मार्दव, आर्जव और सन्तोष नामक गुणोंको नष्ट करके अन्यथा कर देते हैं इसलिए क्रोध, मान, माया, लोभको कषाय कहते हैं। वे कषाय जिनकी क्षीण हो गई हैं—नष्ट हो गई हैं वे क्षीणकषाय होते है। कषाय वेदनीय नामक द्रव्यकर्मोंका विनाश होनेसे उनका निमित्त पाकर होने वाली भावकषाय जिनकी नष्ट हो गई है वे क्षीणकषाय कहे जाते हैं। केवल अर्थात् असहाय ज्ञान, जो इन्द्रियाँ, मन, प्रकाश आदि की अपेक्षा न करके एक साथ समस्त द्रव्य-पर्यायोको जाननेमें समर्थ हैं वह केवलज्ञान है। वह जिनके हैं वे केवली होते हैं। यद्यपि केवली शब्द केवलज्ञान रूप वस्तुसामान्यमें प्रवृत्त नही होता, तथापि सयोग-केवलीका मरण असम्भव होनेसे अयोगकेवलीका ग्रहण होता है। दूसरे व्याख्याकार 'क्षीणकषाय और श्रुतकेवली' ऐसा व्याख्यान करते है। उनका वह व्याख्यान ठीक नहीं है। श्रुत शब्दके बिना केवली शब्दका प्रयोग किसी भी आगममें समस्त श्रुतधारीके लिए नही देखा गया। यदि शब्दका प्रसिद्ध अर्थ असम्भव ही हो तो जिस किसी तरह अन्य अर्थ किया जा सकता है। जब सम्भव अर्थ प्रतीतिसिद्ध है तो उसे कैसे छोड़ा जा सकता है? दूसरे, पाण्डित्यका प्रकर्ष वहाँ क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन और क्षायिक चारित्रकी अपेक्षा लिया गया है, वह श्रुतकेवलीमें नहीं है।

जो स्थूल हिंसा आदिसे निवृत्त होनेसे विरत और सूक्ष्म हिंसा आदिसे अनिवृत्त होनेसे अविरत होते हैं वे जीव विरताविरत होते हैं। यदि वे विरत हैं तो अविरत कैसे हैं और अविरत

---

१. सवत्र–अ० ब० मु०।

स्याविरतत्वयोः अपेक्षाभेदाद्विरोधो [illegible]। यथा द्रव्यपर्यायरूपापेक्षे नित्यानित्यत्वे एकद्रव्याधि-
करणे एकस्मिन्नपि समये न विरोधमुपयातः। अथवा अप्रत्याख्यानावरणानां क्षयोपशमे सति स्थूलात्प्राणातिपाता-
द्विरतोऽस्मि न सूक्ष्मादित्येक एव परिणाम उपजायते। विरोधश्च नाम अनेकाधिकरणः यथा शीतोष्णस्पर्शा-
दीनां। द्रव्यभावप्राणधारणाज्जीवा इति निरूप्यंते। 'तइएण' तृतीयेन मरणेन म्रियन्ते। वस्तुपरिणाम-
वृत्तिक्रमो यदि स्यात्तदा गण्यमाने[1] द्वित्वं त्रित्वं वा प्रतिपद्येरन्। गुणस्थानापेक्षायां सम्यङ्मिथ्यादृष्टेरेव तृती-
यता न संयतासंयतत्वस्य तत्किमुच्यते तृतीयेनेति ? मरणस्य तु सामान्यापेक्षायां एकत्वमेवेति न तृतीयता।
विशेषापेक्षायां च अतीतानां च अनंतत्वादनागतानां चातिबहुत्वसंभवात्। अत्रोच्यते-सूत्रनिर्दिष्टक्रमापेक्षया
तृतीयता ग्राह्या।

विरताविरतपरिणामविशेषनिर्देशादेव जीवद्रव्यस्य गते जीवा इति सूत्रे वचनमपार्थकमिति चेन्ना-
नर्थकं मतांतरनिवृत्तिपरत्वात्। सांख्या हि प्रकृतिधर्मतां मरणस्याभ्युपयन्ति पुरुषस्य सर्वथा नित्यत्वात्।
तत्तथा न, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वादात्मनः। अत्रोच्यते—पंडितपंडितमरणादनंतरं पंडितमरणं तदुल्लंघ्य

हैं तो विरत कैसे हैं इस प्रकारके विरोधकी आशङ्का नहीं करना चाहिए। अपेक्षा भेदसे विरतपने और अविरतपनेमें विरोधको कोई स्थान नहीं है। जैसे एक द्रव्यमें एक ही समयमें द्रव्यरूपकी अपेक्षा नित्यपना और पर्यायरूपकी अपेक्षा अनित्यपनामें कोई विरोध नहीं आता। अथवा अप्रत्याख्यानावरण कषायोंका क्षयोपशम होनेपर स्थूल हिंसा आदिसे मैं विरत हूँ किन्तु सूक्ष्म हिंसादिसे विरत नहीं हूँ इस प्रकारका एक ही परिणाम होता है। विरोध तो उनमें होता है जो एक आधारमें न रहकर अनेक आधारोंमे रहते हैं जैसे शीतस्पर्श और उष्णस्पर्श आदिमें विरोध है। अस्तु,

द्रव्यप्राण और भावप्राणोंको धारण करनेसे जीव कहे जाते हैं। विरताविरत जीव तीसरे मरणसे मरते हैं।

शंका—यहाँ तृतीयसे यदि वस्तुके परिणामोंकी वृत्तिका क्रम लेते हैं तो गणना करनेपर दोपना या तीनपना प्राप्त होता है। गुणस्थानकी अपेक्षा सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही तीसरा है, संयतासंयत नहीं है तब कैसे तीसरा कहते हैं। तथा सामान्यकी अपेक्षा मरण तो एक ही है, तीसरापना कैसे ? विशेषकी अपेक्षा अतीतमरण अनन्त हैं और भाविमरण उससे भी अधिक सम्भव हैं ?

समाधान—सूत्रमें जिस क्रमसे मरणोंका निर्देश किया है उसकी अपेक्षा तीसरा लेना चाहिए।

शंका—विरताविरत परिणाम विशेषका निर्देश करनेसे ही जीवद्रव्यका ज्ञान हो जाता है तब गाथामे जीवा पद व्यर्थ है ?

समाधान—व्यर्थ नहीं है यह मतान्तरकी निवृत्तिके लिए है। सांख्य मतवाले मरणको प्रकृतिका धर्म मानते हैं क्योंकि उनके मतमें पुरुष सर्वथा नित्य है। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि आत्मा उत्पाद व्यय और ध्रौव्यात्मक है।

शंका—पण्डितपण्डितमरणके अनन्तर पण्डितमरण आता है। उसे छोड़कर तीसरे मरणका

---

१. गणने आ० मु०।

तृतीयस्य स्वामित्वं कस्मात्प्रदर्श्यते क्रमोल्लंघने प्रयोजनं वाच्यम् ? इति चेदुच्यते—उत्कृष्टजघन्यपंडितत्वमध्य-वृत्तिपंडितत्वमित्येतदाख्यातु उभयावधिप्रदर्शनं क्रियते । अथवा पंडितमरणे बहुवक्तव्यमस्तीति तत्साध्यासिद्धं व्यवस्थाप्य अल्पवक्तव्यतया बालपंडितमेव प्राग् व्याचष्टे ।

कतिविधं पंडितमरणं किं स्वामिकं वा इत्यारेकायां इयं गाथा पायोपगमणमरणं इत्यादिका—

पायोपगमणमरणं भत्तपइण्णा य इंगिणी चेव ।
तिविहं पंडितमरणं साहुस्स जहुत्तचारिस्स ।।२८।।

पादाभ्यामुपगमनं ढौकनं तेन प्रवर्तितं मरणं पादोपगमनमरणं । इतरमरणयोरपि पादाभ्यामुपगमन-मस्तीति त्रैविध्यानुपपत्तिरिति चेन्न मरणविशेषे वक्ष्यमाणलक्षणे रूढिरूपेणायं प्रवर्तते, रूढौ च क्रिया उपा-दीयमाना शब्दव्युत्पत्त्यर्थैव । यथा गच्छतीति गौरिति शब्दव्युत्पत्तौ क्रियमाणायामपि गमनक्रियाकर्तृतास्तीति

स्वामी क्यों कहा ? क्रमका उल्लंघन करनेका प्रयोजन क्या है यह कहना चाहिए ?

समाधान—उत्कृष्ट और जघन्य पंडितत्वके मध्यमें रहनेवाला पण्डितत्व है यह कहनेके लिए दोनों अवधियोंको बतलाया है । अथवा पण्डितमरणके सम्बन्धमें बहुत कहना है इसलिए उसे अलग रखकर थोड़ा कथन होनेके कारण बालपण्डितमरण को ही पहले कहा है ।।२७।।

पण्डितमरणके कितने भेद हैं और वह किसके होता है, यह कहते हैं—

गाथा—पादोपगमन मरण भक्तप्रतिज्ञा और इंगिणीमरण इस प्रकार पण्डितमरण तीन प्रकार का है । वह शास्त्रमें कहे अनुसार आचरण करनेवाले साधु के होता है ।।२८।।

टी०—पाद अर्थात् पैरो से, उपगमन पूर्वक होनेवालेको पादोपगमन मरण कहते हैं ।

शंका—शेष दोनों मरणोमें भी पैरोंसे उपगमन होता है अतः तीन भेद नहीं बनते ?

समाधान—यह पादोपगमन रुढ़िरूपसे मरण विशेषमें प्रवृत्त होता है, इसका लक्षण आगे कहेंगे । रूढ शब्दोमें ग्रहण की गई क्रिया शब्दकी व्युत्पत्तिके लिए ही होती है । जैसे, जो चलती है वह गौ है । इस प्रकार गौ शब्दकी व्युत्पत्ति करने पर भी यद्यपि यह व्युत्पत्ति गमन क्रियाको

सं० टि०—सब प्रतियोंमें इसके पश्चात् एक नीचे लिखी गाथा आती है उसका नम्बर भी २८ है । हमने गाथा २७ की जो उत्थानिका दी है वह भी इस २८ नम्बरकी उत्थानिका है । तथा ऊपर टीकामें विरताविरत परिणामसे जीव द्रव्यका ज्ञान हो जाता है आदि जो शङ्का प्रारम्भ होती है वहाँसे टीकाका भाग इस गाथा २८ की टीकाके रूपमें दिया है । गाथा इस प्रकार है—

पंडिदपंडिदमरणं च पंडिदं बालपंडिदं चेव ।
एदाणि तिण्णि मरणाणि जिणा णिच्चं पसंसंति ।।

अर्थ—पण्डित पण्डित मरण, पण्डित मरण और बाल पण्डित मरण इन तीन मरणोंकी जिनदेव सदा प्रशसा करते हैं ।।

इस गाथाके साथ न तो उत्थानिकाका कोई सम्बन्ध है और न टीकाका कोई सम्बन्ध है । अतः यह गाथा प्रक्षिप्त है । पं० आशाधरने गाथा २६ की अपनी टीकामें लिखा भी है—'तथा चान्यस्मादानीय सूत्रे पठन्ति' अर्थात् अन्यत्रसे लेकर पढ़ते हैं इसके पश्चात् ही उन्होंने उक्त गाथा दी है । इसलिये हमने इसे मूल-में नहीं रखा ।

गोशब्देन न महिष्यादयो भण्यंते। अथवा 'पाउग्गगमणमरणं' इति पाठः। भवांतकरणप्रायोग्यं संहननं संस्थानं च इह प्रायोग्यशब्देनोच्यते। अस्य गमनं प्राप्तिः, तेन कारणभूतेन यन्निर्वर्त्यं मरणं तदुच्यते पाउग्गगमण-मरणमिति। भज्यते सेव्यते इति भक्तं, तस्य पइण्णा त्यागो भत्तपइण्णा। इतरयोरपि भक्तप्रत्याख्यानसंभवेऽपि रूढिवशान्मरणविशेषे एव शब्दोऽयं प्रवर्तते। इंगिणीशब्देन इंगितमात्मनो भण्यते स्वाभिप्रायानुसारेण स्थित्वा प्रवर्त्यमानं मरणं इंगिणीमरणं। तिविहं त्रिविधं त्रिप्रकारं। पंडितमरणं कस्य तद्भवति? 'साधुस्स' साधोः 'जधुत्तचारस्स' यथा येन प्रकारेण उक्तं श्रुते तथा चरितुं शीलं यस्य साधोस्तस्येति यावत्। सदाचारः सर्व एव जनः संयतोऽसंयतश्च लोके साधुशब्दवाच्यः, इति संयतपरिग्रहार्थं यथोक्तचारित्वविशेषणं कृतम्।

इतरयोर्बालमरणबालबालयोरित्यनयोः स्वामित्वसूचनार्थंगाथा—

अविरदसम्मादिट्ठी मरंति बालमरणे चउत्थम्मि।

मिच्छादिट्ठी य पुणो पंचमए बालबालम्मि ॥२९॥

अविरदसम्मादिट्ठी इति प्रसिद्धार्थत्वान्न व्याख्येयं। अत्रावसरे इदं चोद्यमाशंक्यते। वोच्छं आराधणं कमसो इति प्रतिज्ञातं। सा च द्विप्रकारा दर्शनाराधना चारित्राराधना चेति। तद्व्याख्यानमकृत्वा मरणविकल्पा-

---

लेकर है किन्तु गो शब्दसे भैंस आदि नहीं कहे जा सकते। अथवा 'पाउग्गगमणमरणं' पाठ है। यहाँ प्रायोग्य शब्दसे संसारका अन्त करनेके योग्य संहनन और संस्थान कहे जाते हैं। उसके गमन अर्थात् प्राप्तिको प्रायोग्यगमन कहते हैं। उसके कारण होनेवाले मरणको प्रायोग्यगमन मरण कहते हैं। 'भज्यते' अर्थात् जो सेवन किया जाये वह भक्त है। उसकी 'पइण्णा' अर्थात् त्याग भत्त-पइण्णा है। भोजनका त्याग शेष दोनों मरणोंमें भी सम्भव है। फिर भी रूढ़िवश भत्तपइण्णा शब्द मरण विशेषका ही बोधक होता है। इंगिणी शब्दसे आत्माका इंगित अर्थात् संकेत कहा जाता है। अपने अभिप्रायके अनुसार रहकर होनेवाला मरण इंगिणीमरण है। इस तरह पण्डितमरण तीन प्रकार का है। पण्डितमरण किसके होता है? श्रुतमें जिस प्रकारसे कहा है उसी प्रकारसे आचरणशील साधुके होता है। सभी सदाचार वाले मनुष्य, वे संयमी हो या असंयमी, लोकमें साधु शब्दसे कहे जाते हैं। इसलिये संयमीका ग्रहण करनेके लिए 'यथोक्तचारी' विशेषण दिया है ॥२८॥

विशेषार्थ—अपने पैरोंसे चलकर अर्थात् संघसे निकल कर योग्य देशमें आश्रय लेना पादोपगमन है। इसमें न स्वयं अपनी सेवा करता है और न दूसरेसे कराता है। भक्त प्रतिज्ञा-मरणमें स्वयं भी अपनी वैयावृत्य करता है और दूसरेसे भी कराता है। इंगिणीमरणमें अपनी वैयावृत्य स्वयं ही करता है दूसरेसे नहीं कराता। पादोपगमनको प्रायोपगमन भी कहते हैं और प्रायोपवेशन भी कहते हैं। 'प्राय' का अर्थ संन्यास है॥

अब शेष बालमरण और बालबालमरणके स्वामियोंको कहते हैं—

गाथा—अविरत सम्यग्दृष्टि चतुर्थ बालमरणमें मरते हैं। मिथ्यादृष्टि पाँचवें बालबाल-मरणमें मरते हैं॥२९॥

टी०—इस गाथाका अर्थ प्रसिद्ध होनेसे इसकी व्याख्या नहीं करते।

शंका—यहाँ यह शंका करते हैं। ग्रन्थकारने 'क्रमसे आराधना को कहूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा की है। वह आराधना दो प्रकार की है—दर्शनाराधना और चारित्राराधना। उनका व्याख्यान

प्रस्तुतस्वामिनश्च कस्मान्निर्दिश्यंते । प्रस्तुतपरित्यागमप्रस्तुताभिधानं च न क्षमंते विद्वांसः । अत्रोच्यते—न अप्रस्तुतं अंतरनिर्दिष्टं मरणं । आराधनानुगतमरणस्यैवेह शास्त्रेऽभिधेयत्वेनेष्टत्वात् । आराधनायाश्च आराधकमंतरेणासंभवात् । स्वामी च निर्देष्टव्य एवेति सूरेरभिप्रायः ॥

अत एव प्रस्तुतां प्राथमिकीं दर्शनाराधनां आचष्टे—

तत्थोवसमियसमत्तं खइयं खओवसमियं वा ।
आराहंतस्स हवे सम्मत्ताराहणा पढमा ॥३०॥

तत्थोवसमियसम्मत्तमित्यादिना । अथवा अंतरसूत्रनिर्दिष्टं बालमरणव्याख्यानं प्रस्तुतां प्राथमिकीं सम्यक्त्वाराधनां पुरस्कृत्य प्रवर्तते इत्यत आह—तत्थोवसमियसमत्तं । अथवा सम्यग्दर्शनविशेषस्य कस्यचिदेव आराधना उत सर्वस्येत्याशंका । कुतः संदेहः ? आचार्यमतभेदेन पदानामर्थद्वैविध्यात्सामान्यं पदानामभिधेयं । 'पदाच्छ्रुतार्थसामान्यनिर्भासप्रतीत्युत्पत्तेर्न हि गामित्यतः पदाच्छुक्लां कृष्णां शबलामिति वा प्रतीतिः, खंडां मुंडां इति वा जायते । यच्च पदोपलब्धिकार्यभूतायां बुद्धौ न प्रतिभाति तत्कथं शब्दस्याभिधेयतां गंतुमुत्सहते । अप्रतीयमानस्याप्यर्थत्वे अयमेवास्यार्थो नान्य इतीयं व्यवस्था न स्यात् । तेन सामान्यमेवार्थ इति । अन्ये तु मन्यते त्यागोपादानोपेक्षाख्या हि लोकव्यवहृतिस्तत्र पुमांसं प्रवर्तयितुं शब्दा प्रयुज्यंते । दुःखसाधनं यत्तत्य-

---

न करके मरणके भेद और उनके स्वामियोंका कथन क्यों किया गया ? विद्वान् गण प्रस्तुतके परित्याग और अप्रस्तुतके कथनको सहन नहीं करते ?

समाधान—बीचमें जो मरणका कथन किया है वह अप्रस्तुत नहीं है । आराधना पूर्वक होनेवाले मरणका ही इस शास्त्रमें कथन करना इष्ट है । वही इसका अभिधेय—प्रतिपाद्य विषय है । और आराधकके बिना आराधना होना असम्भव है । अतः स्वामीका भी कथन करना ही चाहिए । यह आचार्यका अभिप्राय है ॥२९॥

इसीलिए प्रस्तुत प्रथम दर्शनाराधना को कहते हैं—

गाथा—उन सम्यक्त्वोंमें औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व अथवा क्षायोपशमिक सम्यक्त्वकी आराधना करने वालेके प्रथम सम्यग्दर्शन आराधना होती है ॥३०॥

टी०—अथवा इसके पूर्वकी गाथामें कहा बालमरणका व्याख्यान प्रस्तुत प्रथम सम्यक्त्वाराधनाको लेकर ही किया है अतः यहाँ उसका कथन करते हैं ।

शंका—यहाँ शंका होती है कि किसी सम्यग्दर्शन विशेषकी आराधना होती है या सबकी होती है ? इस सन्देहका कारण यह है । आचार्योंके मतभेदसे पदोंका अर्थ दो प्रकारका माना जाता है । एक मत है पदोंका अभिधेय सामान्य है क्योंकि पदसे सामान्य अर्थका बोध होता है । 'गौ' इस पदसे सफेद, काली या चितकबरी गौ की अथवा खण्डी या मुण्डी गौ की प्रतीति नहीं होती और पदकी उपलब्धिकी कार्यभूत बुद्धिमें जिसका प्रतिभास नहीं होता उसे शब्दका वाच्य कैसे माना जा सकता है । शब्द सुनकर जिस अर्थकी प्रतीति नहीं होती उसे भी यदि उसका अर्थ माना जाता है तो इस पदका यही अर्थ है, अन्य नहीं, यह व्यवस्था नहीं बनेगी । इसलिए सामान्य ही पदका अर्थ है ।

अन्य आचार्य मानते हैं कि लोक व्यवहार, त्याग, ग्रहण और उपेक्षा रूप है । उस व्यवहारमें पुरुषोंको प्रवृत्त करनेके लिए शब्दोंका प्रयोग किया जाता है । जो दुःखका साधन होता है

त्यज्यते । सुखसाधनमुपादीयते । तदुभयस्यासंपादकमुपेक्ष्यते । विशिष्टमेव च वस्तु सुखादीनां संपादकं । तथाहि—स्त्रीवस्त्रगंधमाल्यादिकं अतिशयितमेवादातुं उत्सहन्ते । दुःखसाधनं चात्मनिकटवर्त्येव कंटकादिकं परिजिहीर्षन्ति । तेन शब्देनापि तदर्थिनां तथाभूतमेव वस्तु प्रतिपाद्यमित्यभ्युपगन्तव्यं । अतो विशेषः पदानामर्थः इति । साधारणाकारानेकविशेषवर्तिनां पदानामेकपदप्रयोगादपि नाम विशेषो न प्रतीयते नैतावता विशेषस्याभिधेयताहानिः पदांतरसमवधाने विशेषप्रतीतेरनुभवसिद्धत्वात् इति । जैनानामुभयं पदार्थः पदानामुभयत्र प्रतीत्युत्पत्तेः । तथाहि—न हिंस्याः प्राणिनः प्राणिसामान्यं परिहार्यत्वेन प्रतीयते । देवदत्तमानयेत्युक्ते पुरुषविशेषमवगच्छन्ति । ततो न ज्ञायते 'सम्मत्तम्मि य' इत्यत्र सामान्यं सम्यक्त्वं गृहीतं उत तद्विशेष इति तेन तत्संदेहनिवृत्तिः क्रियते । 'तत्थ' तेषु सम्यक्त्वेषु । 'उवसमियसम्मत्तं' अनंतानुबंधिक्रोधमानमायालोभानां सम्यक्त्वमिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वानां च सप्तानामुपशमादुपजातं तत्त्वश्रद्धानं औपशमिकं सम्यक्त्वं । तासामेव सप्तप्रकृतीनां क्षयादुपजातवस्तुयाथात्म्यगोचरा श्रद्धा क्षायिकं दर्शनं । तासामेव कासांचिदुपशमात् अन्यासां च क्षयादुपजातं श्रद्धानं क्षायोपशमिकं । वा शब्दः प्रत्येकं संबध्यते । औपशमिकं वेत्यादिना क्रमेण । 'आराधंतस्स' आराधयतः । 'हवे' भवेत् । 'सम्मत्ताराहणा' सम्यक्त्वाराधना । 'पढमा' प्रथमा । "अविरदसम्मादिट्ठी मरंति बालमरणे" इत्युक्तं । तत्राविरतग्रहणं सम्यग्दृष्टेर्विशेषणत्वेनोपात्तं । प्रतीतेन हि

उसको त्याग दिया जाता है। सुखके साधनको ग्रहण किया जाता है। जो न दुःखका साधन होता है, न सुख का, उसकी उपेक्षा की जाती है। तथा विशिष्ट वस्तु ही सुखादिका साधक होती है। जैसे स्त्री, वस्त्र, गंध, माला आदि जो उत्तम होती है उसे ही ग्रहण करनेके लिए उत्साहित होते हैं। दुःखके साधन कण्टक आदि अपने निकटवर्ती भी हों तो उन्हें छोड़ देते हैं अतः शब्दके द्वारा भी सुखादिके अर्थी पुरुषोंको विशिष्ट वस्तु ही प्रतिपाद्य है ऐसा स्वीकार करना चाहिए। अतः पदोंका अर्थ विशेष है। समानाकार अनेक विशेषोंमें रहनेवाले पदोंका एक पदके प्रयोगसे यदि विशेषका अर्थ प्रतीत नहीं होता तो इससे विशेषके शब्दार्थ होनेको कोई हानि नहीं पहुँचती, क्योंकि उसके साथ अन्य पदका सम्बन्ध होनेपर विशेषकी प्रतीति अनुभवसे सिद्ध है।

समाधान—जैनोंके मतमें पदोंका अर्थ सामान्य भी है और विशेष भी है। दोनों की ही प्रतीति होती है। वही दिखलाते हैं—

'प्रणियोंकी हिंसा नहीं करनी चाहिए' ऐसा कहनेपर प्राणी सामान्य अर्थात् प्राणिमात्रकी हिंसा नहीं करनी चाहिए यही प्रतीति होती है। और 'देवदत्तको लाओ' ऐसा कहनेपर पुरुष विशेषका बोध होता है। इस तरह पदका अर्थ दोनों होनेसे यह ज्ञात नहीं होता कि 'सम्मत्तम्मि' पदसे सामान्य सम्यक्त्व ग्रहण किया है या विशेष सम्यक्त्व ग्रहण किया है? इसलिए सन्देहकी निवृत्तिके लिए औपशमिक आदि सम्यक्त्व कहा है।

अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ, सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व इन सात प्रकृतियोंके उपशमसे उत्पन्न हुआ तत्त्वश्रद्धान औपशमिक सम्यक्त्व है। उन्हीं सात प्रकृतियोंके क्षयसे उत्पन्न हुई श्रद्धा, जो वस्तुओंके यथार्थस्वरूपको विषय करती है, क्षायिक सम्यग्दर्शन है। उन्हींमेंसे किन्हींके उपशम और अन्य प्रकृतियोंके क्षयसे उत्पन्न श्रद्धान क्षायोपशमिक दर्शन है। 'वा' शब्द प्रत्येकके साथ लगता है। 'अविरदसम्यग्दृष्टी बालमरणसे मरता है' ऐसा जो पहले कहा है उसमें 'अविरत' पदका ग्रहण सम्यग्दृष्टीके विशेषणके रूपमें किया है। जो प्रतीत

विशेष्यमेव भाव्यम् । तथा चाभाणि—प्रतीतपदार्थयोर्विशेषणविशेष्यभावः इति ।

तस्मात्कीदृग्जीवोऽभिधेयः सम्यग्दृष्टिशब्दस्येति प्रश्नस्योत्तरमाह—

सम्मादिट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहइ ।।
सद्दहइ असब्भावं अयाणमाणो गुरुणियोगा ।।२१।।

सम्मादिट्ठी जीवो इत्यनया । अत्रैवं पदघटना 'उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि जो जीवो सो सम्मादिट्ठी' इति । उवइट्ठं[1] उपदिष्टं कथितं । ननु उपपूर्वो दिशिरुच्चारणक्रियः । तथा हि प्रयोगः— उपदिष्टा वर्णा उच्चारिताः वर्णा इति । सत्यम्, समुच्चारणक्रियस्तत्रैव वर्तते नान्यत्र इत्यत्र न निबंधनं किंचित् । यथा गां दोग्धि इत्यादिषु सास्नादिमति दृष्टप्रयोगोऽपि गोशब्दो वागादिषु अपि वर्तते एवमिहापीति किं न गृह्यते ? उपदिष्टमपि न वेत्ति इत्यादौ कथितमिति प्रतीतिरुपजायते सा कथमपास्यते । प्रयोगव्यवृत्तिसमधिगम्यो हि शब्दार्थः । प्रोच्यन्ते जीवादयः पदार्था अनेनास्मिन्निति वा प्रवचनं जिनागमः । प्रकर्षप्रोक्तः दृष्टेष्टप्रमाणाविरोधिता वस्तुयाथात्म्यानुसारिता च । प्रवचनवाच्योऽर्थः साहचर्यात्प्रवचनमिति संगृह्यते । तु शब्दः एवकारार्थः । स च क्रियापदात्परतो द्रष्टव्य. । व्याख्यातं जैनागमार्थं यः श्रद्दधात्येव न तु श्रद्दधाति (?) इत्ययोगव्यवच्छेदः । स जीवः सम्मादिट्ठी सम्यग्दृष्टिशब्दवाच्य इति प्रतीतपदार्थकत्वमादर्शितं । 'सद्दहदि' श्रद्धानं

होता है वह विशेष्य होता है । कहा भी है—प्रतीत पदार्थोंमें विशेषण विशेष्यभाव होता है ।।२०।।

सम्यग्दृष्टी शब्दका वाच्य किस प्रकारका जीव होता है ? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—

गा०—उपदिष्ट अर्थात् कथित जिनागममें श्रद्धान करता ही है जो जीव वह सम्यग्दृष्टी है । किन्तु नहीं जानते हुए गुरुके नियोगसे असत्य भी अर्थका श्रद्धान करता है ।।२१।।

टी०—शंका—उपपूर्वक दिशि धातुका अर्थ उच्चारण करना है । जैसे 'उपदिष्टवर्ण' का अर्थ उच्चारित वर्ण है । आपने उपदिष्टका अर्थ कथित कैसे किया है ?

समाधान—आपका कथन सत्य है किन्तु समुच्चारण क्रिया अर्थ वाली धातु उसी अर्थमें है, अन्य अर्थमें नहीं है इसमें हम कोई निबन्धन नहीं देखते । जैसे 'गौ दुहता है' इत्यादि वाक्योंमें गौ शब्दका प्रयोग गलकम्बलवाले पशुके अर्थमें देखा जाता है । फिर भी गौ शब्द वाणी आदि अर्थोंमें भी देखा जाता है । इसी प्रकार यहाँ भी क्यों नहीं स्वीकार करते । 'उपदिष्टको भी नहीं जानता' इत्यादिमें 'कथित' अर्थकी प्रतीति होती है उसे कैसे छोड़ा जा सकता है ? शब्दका अर्थ उसके प्रयोगसे जाना जाता है ।

जिसके द्वारा अथवा जिसमें जीवादि पदार्थ कहे हैं वह प्रवचन है उसका अर्थ जिनागम है । प्रवचनमें, 'प्र' का अर्थ प्रकृष्ट है । प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे अविरुद्ध और वस्तुके यथार्थ स्वरूपका अनुसारी होना वचनकी प्रकृष्टता है यह पहले कहा है । साहचर्यसे प्रवचनके द्वारा कहे गये अर्थको भी प्रवचन कहते हैं । 'तु' शब्दका अर्थ 'ही' है । उसे क्रियापद के आगे रखना चाहिये । अतः जो व्याख्यात जैनागम के अर्थका श्रद्धान करता ही है वह जीव सम्यग्दृष्टी शब्दके द्वारा कहा जाता है, इस प्रकार दिखलाया है । गुरु अर्थात् व्याख्याताके नियोगसे इसका यह अर्थ है

---

१. तथाभाविप्र—आ० मु० ।

करोति । 'असब्भावमवि' असत्यमप्यर्थं । 'अजाणमाणो' अजानन् । किं ? विपरीतमनेनोपदिष्टमिति । गुरोर्नियोगात् गुरुरस्यायमर्थं इति कथनान्नियुज्यते प्रतिपत्त्या श्रोता अनेन वचनेन इति नियोगः कथनं । सर्वज्ञप्रणीतस्यागमस्यार्थः आचार्यपरंपरया अविपरीतः श्रुतोऽवधृतश्चानेन सूरिणा उपदिष्टो ममेति सर्वज्ञाज्ञाया रुचिरस्यास्तीति । आज्ञारुचितया सम्यग्दृष्टिर्भवत्येवेति भावः ।

किमेव विपरीतं प्रतिपद्यमानोऽपि सर्वदा सम्यग्दृष्टिरेव ? नेत्याह—

सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि ॥
सो चेव हवइ मिच्छादिट्ठी जीवो तदो पहुदि ॥३२॥

सुत्तादो इति । 'सुत्तादो' सूत्रात् । 'तं' आत्मना विपरीतं गृहीतमर्थं । 'सम्मं' सम्यक् अविपरीतरूपेण । 'दरसिज्जंतं' दर्श्यमानं प्ररूप्यमाणं अन्येन आचार्येण । 'जदा' यदा यस्मिन्काले । 'ण सद्दहदि' न श्रद्दधाति । 'सो चेव' स एव सम्यग्दृष्टितयोक्तः । 'मिच्छादिट्ठी हवइ' मिथ्यादृष्टिर्भवति । आप्ताज्ञाश्रद्धानवैकल्यात् अर्थयाथात्म्याश्रद्धानाच्च । 'तदो' ततः । 'पहुदि' प्रभृति आरभ्य । असंदिग्धसूत्रांतरदर्शितार्थाश्रद्धानावारभ्येति यावत् ।

'सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जंतं' इत्युक्तं केन रचितानि सूत्राणि प्रमाणभूतानीत्यत आह—

सुत्तं गणधरगधिद् तहेव पत्तेयबुद्धकहियं च ॥
सुदकेवलिणा कहियं अभिण्णदसपुव्विगधिदं च ॥३३॥

ऐसा कहनेसे श्रोता इस बचनके द्वारा नियुक्त किया जाता है इस लिये उसे नियोग कहा है, गुरुने विपरीत कथन किया है यह न जानते हुए असत्य भी अर्थका श्रद्धान करता है । सर्वज्ञके द्वारा प्रणीत आगमका अर्थ आचार्य परम्परासे जो ठीक-ठीक सुना और अवधारित किया है वही आचार्यने मुझे कहा है इस प्रकार सर्वज्ञकी आज्ञामें उसकी रुचि है और आज्ञामें रुचि होनेसे वह सम्यग्दृष्टी ही है यह उक्त कथनका भाव है ॥३१॥

क्या वह इस प्रकार विपरीत श्रद्धा करते हुए भी सर्वदा सम्यग्दृष्टि ही रहता है ? इसका उत्तर देते हैं कि नहीं—

गा०—सूत्रसे प्रथम गुरुके उपदेशसे विपरीत रूपसे ग्रहण किये अर्थको सम्यक् अविपरीत रूपसे अन्य आचार्यके द्वारा दिखलाने पर जब श्रद्धा नहीं करता । वही सम्यग्दृष्टी उस समय से मिथ्यादृष्टि होता है ॥३२॥

टी०—प्रथम गुरुके निर्देशसे विपरीत अर्थका श्रद्धान करने वाले उस सम्यग्दृष्टीको जब कोई दूसरे आचार्य गणधर आदिके द्वारा रचे गये आगम प्रमाणका आश्रय लेकर यथार्थ अर्थ बतलावें और वह उसपर श्रद्धा न करके अपने विपरीत अर्थको ठीक समझे तो सन्देह रहित अन्य शास्त्रोंमें दिखलाये गये अर्थपर श्रद्धान न करनेके समयसे लेकर वह मिथ्यादृष्टी होता है क्योंकि वह आप्तकी आज्ञाका श्रद्धान नहीं करता तथा वस्तुके यथार्थ स्वरूपकी उसे श्रद्धा नहीं है ॥३२॥

ऊपर 'सूत्रसे सम्यक् दिखलाने पर' ऐसा कहा है तो किसके द्वारा रचित सूत्र प्रमाण होते हैं यह कहते हैं—

गा०—जो गणधरके द्वारा रचा हुआ हो, प्रत्येक बुद्धके द्वारा कहा हुआ हो, या श्रुतकेवली के द्वारा कहा हुआ हो या अभिन्न दशपूर्वीके द्वारा रचा गया हो वह सूत्र है ॥३३॥

सुत्तं गणधरकथिदं इति । सुत्तं सूत्रं । गणशब्देन द्वादशगणा उच्यंते । तान्धारयन्ति इति गणधराः । दुर्गतिप्रस्थिता हि तेन रत्नत्रयोपदेशेन धार्यन्ते ते सप्तविधर्द्धिमुपगताः । उक्तं च—

बुद्धितवविगुव्वणोसधिरसबलं च अक्खीणं ॥
सत्तविध इड्ढिपत्ता गणधरदेवा णमो तेसिं ॥ [   ]

इति । तैः 'गथिदं' ग्रथितं संदृब्धं । केवलिभिरुपदिष्टं अर्थं ते हि ग्रथ्नन्ति । तथाप्यवाचि[1]—'अत्थं कहंति अरहा गंथं गंथंति गणधरा तेसिं' । 'तहेव' तथैव । 'पत्तेयबुद्धकथिदं' च प्रत्येकबुद्धकथितं च । श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमात् परोपदेशमंतरेणाधिगतज्ञानातिशयाः प्रत्येकबुद्धाः । 'सुदकेवलिणा' समस्तश्रुतधारिणा कथितं चेति । अभिण्णदसपुव्विकधिदं च । दशपूर्वाण्यधीयमानस्य विद्यानुप्रवादस्थाः क्षुल्लकविद्या महाविद्याश्च अंगुष्ठप्रसेनाद्याः प्रज्ञप्त्यादयश्च तैरागत्य रूपं प्रदर्श्य, सामर्थ्यं स्वकमभिधाय पुरः स्थित्वा आज्ञाप्यतां किमस्माभिः कर्तव्यमिति तिष्ठंति । तद्वचः श्रुत्वा न भवतीभिरस्माकं साध्यमस्तीति ये वदन्ति अचलितचित्तास्ते अभिन्नदशपूर्विणः । एतेषामन्यतमेन ग्रथितं सूत्रं प्रमाणं । प्रमाणेन केवलेन श्रुतेन वा गृहीतमर्थं अरक्तद्विष्टाः संतो यदुपदिशंति ततस्तद्वचसां प्रामाण्यं इति भावः । प्रमाणपरिदृष्टार्थगोचरं अरक्तद्विष्टवक्तृप्रभवं वचः प्रमाणं । यथा पितुररक्तद्विष्टस्य स्वप्रत्यक्षगोचरं वचः घटोऽयं[2] रक्त इति । तथा च गणधरादीनां वचः प्रमाणं परिदृष्टार्थगोचरं अरक्तद्विष्टवक्तृप्रभवम् ।

टी०—गण शब्दसे बारहगण कहे जाते हैं। जो उन्हे धारण करते हैं वे गणधर हैं। अर्थात् दुर्गतिके मार्ग पर चलते हुए गणोंको रत्नत्रयके उपदेश द्वारा धारण करते हैं उन्हे सम्यग्दर्शनादिमें स्थापित करते हैं। वे गणधर सात प्रकारकी ऋद्धियोंको प्राप्त होते हैं। कहा है—बुद्धिऋद्धि, तपऋद्धि, विक्रियाऋद्धि, औषधिऋद्धि, रसऋद्धि, बलऋद्धि, और अक्षीणऋद्धि इन सात प्रकारकी ऋद्धियोंको प्राप्त गणधरदेव होते हैं। उन्हें नमस्कार हो ॥

वे गणधर केवलियोंके द्वारा उपदिष्ट अर्थको ग्रन्थरूप गूंथते है। कहा है—अरहन्त अर्थको कहते हैं और उनके गणधर उसे ग्रन्थका रूप देते हैं। श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमसे परोपदेशके बिना जो ज्ञानातिशयको प्राप्त होते हैं वे प्रत्येकबुद्ध हैं। जो समस्त श्रुतके धारी होते हैं वे श्रुतकेवली हैं। दश पूर्वोंका अध्ययन करते हुए दसवें पूर्व विद्यानुवादमें स्थित अंगुष्ट प्रसेना आदि क्षुल्लक विद्याएँ और प्रज्ञप्ति आदि महाविद्याएँ आकर अपना रूप दिखाकर और अपनी शक्ति कहकर सामने खड़ी होकर निवेदन करती हैं कि हमारे योग्य कार्य बतायें। उनके वचन सुनकर जो कहते हैं कि हमें आपसे कोई काम नही है, वे अचल चित्त वाले अभिन्न दसपूर्वी होते हैं। इनमेंसे किसी भी एकके द्वारा रचा गया सूत्र प्रमाण है। केवल ज्ञानरूप अथवा श्रुतज्ञानरूप प्रमाणसे द्वारा गृहीत अर्थको रागद्वेषसे रहित होकर कहते हैं इस लिये इनके वचन प्रमाण हैं। जो वचन प्रमाणके द्वारा देखे गये अर्थको कहते हैं और रागद्वेषसे रहित वक्तासे उत्पन्न होते हैं वे प्रमाण हैं। जैसे रागद्वेषसे रहित पिताके द्वारा स्वयं प्रत्यक्षसे जानकर कहे गये वचन 'यह घड़ा लाल है' प्रमाण है। उसी तरह गणधर आदिके वचन प्रमाण हैं क्योंकि अच्छी तरहसे देखे गये अर्थको कहते हैं और रागद्वेषसे रहित वक्तासे उत्पन्न हुए हैं ॥३३॥

---

१. अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं ।—आव० नि० ९२ ।
२. रक्त इति आ० मु० ।

भवतु नामैषां अन्यतमेन प्रणीतं सूत्रं प्रमाणं तदर्थकथनं तु को विपरीतं करोति को वाऽविपरीत-मित्याशंकायां अविपरीतार्थकथनकारिणो लक्षणमाहोत्तरगाथया—

णिद्धिदत्थो संविग्गो अत्थुवदेसे ण संकणिज्जो दु ।
सो चेव मंदधम्मो अत्थुवदेसम्मि भजणिज्जो ॥३४॥

'णिट्ठिदत्थो संविग्गो' गृहीत आत्मसात्कृतोऽवधारितोऽर्थः सूत्रस्य येन सः गृहीतार्थः अवबुद्धसूत्रार्थ इति यावत् । 'संविग्गो' संसाराद् द्रव्यभावरूपात् परिवर्तनात् भयमुपगतः । विपरीतोपदेशे रागाद्द्वेषाद्वा अनंतकालं संसारपरिभ्रमणं मम मिथ्यादृष्टेः सतो भविष्यतीति यः सभयः । 'अत्थुवदेसे' अर्थस्याभिधेयस्य सूत्राणामुपदेशे । 'ण संकणिज्जो' नैवाशंक्यः । दु शब्द एवकारार्थः । 'सो चेव' स एव च गृहीतार्थः । 'मंदधम्मो' धर्मशब्दश्चारित्रवाची "चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो" [प्रवच० १।७] इति वचनात् । ततो मंदचारित्र इत्यर्थः । 'अत्थुवदेसम्हि' सूत्रार्थव्याख्याने ? 'भजणिज्जो' भाज्यः । यदि सूत्रानुसारि युक्त्यनुगतं वा तद्व्याख्यानं ग्राह्यमन्यथा नेति यावत् ।

किमभिमततत्प्रपंचवचनार्थो भूत्वा श्रद्धानवान्यः स एव च सम्यग्दृष्टिः, स एव सम्यक्त्वाराधक इत्याशंकायामाह अन्योऽप्यस्तीति—

धम्माधम्मागासाणि पोग्गला कालदव्व जीवे य ।
आणाए सद्दहन्तो समत्ताराहओ भणिदो ॥३५॥

इनमेंसे किसी एकके द्वारा रचा गया सूत्र प्रमाण रहो। किन्तु उसके अर्थका कथन कौन विपरीत करता है और कौन अविपरीत करता है ? ऐसी शङ्का होनेपर अविपरीत अर्थका कथन करने वालेका लक्षण आगेकी गाथासे कहते हैं—

गा०—जिसने सूत्रके अर्थको ग्रहण किया है, संसारसे भयभीत है वह सूत्रोंके उपदेशमें शङ्का करनेके योग्य नहीं ही है। वही गृहीतार्थ मंद चरित्र वाला हो तो सूत्रके व्याख्यानमें भाज्य है ॥३४॥

टी०—जिसने सूत्रका अर्थ अच्छी तरह ग्रहण करके उसे अपने मनमें अवधारित किया है और द्रव्य भाव परिवर्तन रूप संसारसे डरता है, राग या द्वेषसे विपरीत उपदेश करने पर मुझे मिथ्यादृष्टी होकर अनन्तकाल संसारका परिभ्रमण करना होगा इस प्रकारका जिसे भय है वह तो सूत्रोंके अर्थका उपदेश करनेमें शङ्का करने योग्य बिल्कुल नहीं है। गाथामें आये हुए खु शब्दका अर्थ 'ही' है। किन्तु वही गृहीतार्थ यदि मन्दधर्मी है, यहाँ धर्मशब्द चरित्रका वाचक है क्योंकि कहा है—चारित्र ही धर्म है और जो धर्म है उसे सम कहा है। अतः मन्द धर्मका अर्थ मन्द चारित्र लेना चाहिये। तो उसका व्याख्यान यदि सूत्रके अनुसार अथवा युक्तिके अनुकूल हो तब तो ग्रहण करने योग्य है अन्यथा नहीं है ॥३४॥

क्या जो विस्तार पूर्वक सूत्रके अर्थको जानकर श्रद्धान करता है वही सम्यग्दृष्टी है, वही सम्यक्त्वका आराधक है ? ऐसी शङ्का करनेपर आचार्य कहते हैं कि अन्य भी सम्यग्दृष्टी होता है—

गा०—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, पुद्गलद्रव्य, कालद्रव्य और जीवद्रव्यको आज्ञासे श्रद्धान करने वाला सम्यक्त्वका आराधक होता है ॥३५॥

'धम्माधम्मागासाणित्ति'—जीवपुद्गलयोः स्वावस्थिताकाशदेशाद्देशान्तरं प्रति गतिः परिस्पंदपर्यायैः परप्रयोगतः स्वभावतो वा विद्यते । अन्येषां निष्क्रियत्वेति न गतिरस्ति । अनयोर्गतिपर्यायस्य बाह्यं गतिहेतुत्व-संज्ञितं गुणं धारयतीति धर्मः । तं न धारयतीत्यधर्मः । यद्यपि जीवादिष्वपि अस्ति गतिहेतुतायाः साधारणं तथापि न तत्र धर्मशब्दस्य वृत्तिः । प्रतिनियतविषया रूढयः इत्युक्तमेव । अथवा स्थितेरुदासीनहेतुत्वादधर्मः । न च जीवादीनां स्थितेरुदासीनहेतुत्वमस्ति । तावेतावुभावपि असंख्यातप्रदेशौ एकतामेवोद्वहन्तौ सूक्ष्मौ निःक्रियौ रूपादिरहितौ । आकाशं अनंतप्रदेशाध्यासितं सर्वेषां अवकाशदानसामर्थ्योपेतं । पुद्गलास्तु रूपरसगंधस्पर्शवंतः अणुस्कंधरूपभेदाद्द्विविधाः । कालो निश्चयेतरविकल्पः । जीवा उपयोगात्मकाः । एतानर्थान् । 'आणाए' आज्ञया आप्तानां । सावधारणं चेदं । आज्ञयैव षड् द्रव्याणि सन्तीति श्रद्धातव्यं भवतीति आप्तवचनबलेनैव श्रद्धां तत्र करोति न निक्षेपनयादिमुखेन, प्रवृत्तयाधिगत्या सोऽपि सम्यक्त्वस्याराधकः ।

जीवद्रव्यविषयं नियोगतः श्रद्धानं कर्तव्य इत्येतदाख्यानायोत्तरगाथा—

संसारसमावण्णा य छव्विहा सिद्धिमस्सिदा जीवा ।
जीवणिकाया एदे सद्दहिदव्वा हु आणाए ॥३६॥

'संसारं' चतुर्गतिपरिभ्रमणं । 'समावण्णा' सम्प्राप्ताः शोभनाशोभनशरीरग्रहणमोचनाभ्युद्यताः, स्वयोग-त्रयानीतपुण्यपापोदयजनितसुखदुःखानुभवनिरताः । त्रसस्थावरकर्मोदयापादितत्रसस्थावरभावा, विचित्रमति-

---

टी०—जीव और पुद्गलमें अपने रहनेके आकाशसे अन्य देशमें गमन हलन चलन रूप पर्यायोंके द्वारा परके प्रयोगसे अथवा स्वभावसे होता है । अतः गतिमान ये दो ही द्रव्य हैं । क्रिया रहित होनेसे अन्य द्रव्योंमें गति नहीं है । इन दोनों द्रव्योंकी गतिपर्यायका बाह्य गति हेतुत्व नामक गुण जो धारण करता है वह धर्म है । और जो उस गुणको धारण नहीं करता वह अधर्म है । यद्यपि जीवादिमें भी गतिहेतुताका साधारण धर्म रहता है तथापि उनमें धर्म शब्दकी प्रवृत्ति नहीं है, उन्हें धर्मके नामसे नही कहते, क्योंकि रूढ़ि शब्द प्रतिनियत विषयोंमें रहते हैं यह पहले कहा ही है । अथवा जो स्थितिका उदासीन हेतु है वह अधर्मद्रव्य है । जीवादि द्रव्य स्थितिके उदासीन हेतु नहीं हैं । ये दोनों धर्म और अधर्म द्रव्य असंख्यात प्रदेशी है, एक एक हैं, सूक्ष्म और निष्क्रिय हैं तथा इसमें रूप रस आदि गुण नही रहते । आकाश द्रव्य अनन्त प्रदेश वाला है और सब द्रव्योंको अवकाश देनेकी शक्तिसे युक्त है । पुद्गल तो रूप रस गन्ध और स्पर्श गुण वाले हैं । उनके अणु और स्कन्धके भेदसे दो भेद हैं । कालके निश्चयकाल और व्यवहारकाल भेद हैं । जीव उपयोगगुण वाले हैं । इन द्रव्योंका जो आप्तकी आज्ञासे ही श्रद्धान करता है कि छह द्रव्य है, निक्षेप नय आदिके द्वारा जानकर श्रद्धान नहीं करता, वह भी सम्यक्त्वका आराधक होता है ॥३५॥

जीव द्रव्य विषयक श्रद्धान नियमसे करना चाहिये, यह कहनेके लिए आगेकी गाथा—

गा०—संसार अवस्थाको प्राप्त छह प्रकारके और सिद्धिको प्राप्त जीव होते है । ये जीव-निकाय आप्त की आज्ञाके बलसे श्रद्धान करनेके योग्य हैं ही ॥३६॥

टी०—चतुर्गतिमें परिभ्रमणको संसार कहते हैं । उसे जो प्राप्त हैं वे संसारी हैं । संसारी जीव अच्छा बुरा शरीर ग्रहण करने और त्यागनेमें लगे रहते हैं । अपने मन वचन काय योगके द्वारा बाँधे गये पुण्य पाप कर्मके उदयसे होने वाले सुख दुःख को भोगनेमें लीन रहते हैं । त्रसनाम

ज्ञानावरणोदयेन तत्क्षयोपशमविशेषेण च एकेन्द्रियाः, विकलेन्द्रियाः, समग्रेन्द्रियाः पर्याप्तपर्याप्तिकर्मोदयनिर्वर्तित-षड्विधपर्याप्तयस्तदितरे च, पृथिव्यादिशरीरभारोद्वहनचतुराः, आयुराख्यप्रकृतिघनशृंखलावगाढबंधनपराधीन-वृत्तयः। नवविकल्पयोनिसमाश्रयोपजातवपुष्यासक्तबुद्धयः। जराडाकिनीपीतरूपरक्ताः, मृत्युदुर्वारक्रूरवज्र-संपातचकितचेतसः संसारिणः 'छज्जिवा' षट्प्रकाराः पृथिव्यादिशरीरसंबंधतः। 'सिद्धि' सम्यक्त्वकेवलज्ञान-दर्शनवीर्याव्याबाधत्वपरमसूक्ष्मत्वावगाहनादिस्वरूपनिष्पत्तिम्। 'अस्सिदा' आश्रिताः। 'जीवा' जीवाः। ननु जीव प्राणधारणे इति वचनात् जीवति प्राणान्धारयति इति जीवः। प्राणाश्चेन्द्रियादयः कर्मनिर्वर्त्याः पुद्गल-स्कंधधारणभूतेषु कर्मस्वसत्सु न विद्यन्ते। ततः कथं सिद्धानां जीवतेति ? नैष दोषः, द्विविधाः प्राणाः द्रव्यप्राणा भावप्राणाश्चेति। द्रव्यप्राणा इंद्रियादयः कर्महेतुकाः। भावप्राणास्तु ज्ञानदर्शनादयः। न ते कर्मनिमित्तकाः। कर्माभावे प्रसूतेः। तेन भावप्राणधारणात् जीवता न्याय्या सिद्धानां। अथवा यदेव कृतप्राणधारणं वस्तु तदेवेद-मिति प्रत्यभिज्ञोपदर्शितमेकत्वमाश्रित्य जीवव्यपदेशः सिद्धानाम्। अथवा जीवशब्दश्चेतनावति रूढिशब्दः। रूढौ च क्रिया व्युत्पत्त्यर्थैव तदसंभवेऽपि तदुपलक्षणगृहीतं सामान्यमाश्रित्य वर्तत एव। यथा गच्छतीति गौरिति व्युत्पादितोऽपि गोशब्दोऽसत्यामपि गतौ स्थिरता गौर्निषण्णेत्यत्र वर्तते। गमनेनाध्रुवेणोपलक्षितस्य गोत्वस्य सद्भावात्। एवं प्राणधारणोपलक्षितचैतन्यावगमाज्जीवशब्दस्य सिद्धेषु वृत्तिः। 'जीवणिकाया' जीव-

---

कर्मके उदयसे त्रस और स्थावर नाम कर्मके उदयसे स्थावर भावको प्राप्त होते हैं। अनेक प्रकारके मतिज्ञानावरणके उदयसे और उसके क्षयोपशमके विशेषसे एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय होते हैं। पर्याप्ति नाम कर्मके उदयसे बनी छह पर्याप्तियोंसे यथायोग्य युक्त होते हैं और अपर्याप्ति नाम कर्मके उदयसे अपर्याप्त होते हैं। पृथिवी आदि कायके शरीरके भारको धारण करने वाले होते हैं। आयुनामक कर्मकी मजबूत सांकलसे कसकर बन्धनके कारण पराधीन होते हैं। नौ प्रकारकी योनिके आश्रयसे उत्पन्न हुए शरीरोंमें उनकी अति आसक्ति होती है। उनके रूप और रक्तको जरा रूपी चुड़ैल पी जाती है। मृत्युरूपी क्रूर वज्रपातसे, जिसे टालना अशक्य है उनके चित्त भयभीत रहते हैं। ये संसारी जीव पृथिवीकाय आदिके भेदसे छह प्रकारके हैं।

सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, वीर्य, अव्याबाधत्व, परमसूक्ष्मत्व, अवगाहना आदि स्वरूपकी प्राप्तिको सिद्धि कहते हैं। उसे प्राप्त सिद्ध जीव हैं।

शंका—जीव शब्द प्राणधारणके अर्थमें है ऐसा वचन है। 'जीवति' अर्थात् प्राणोंको धारण करता है वह जीव है। और प्राण इन्द्रिय आदि कर्मजन्य हैं। सिद्धोंके पुद्गलस्कन्ध रूप कर्म नहीं हैं तब सिद्धोंमें जीवपना कैसे है ?

समाधान—यह दोष नहीं है क्योंकि प्राणोंके दो भेद हैं—द्रव्य प्राण और भाव प्राण। द्रव्य प्राण इन्द्रिय आदि कर्मके उदयसे होते हैं। किन्तु भाव प्राण ज्ञानदर्शन आदि कर्मके निमित्तसे नहीं होते, कर्मोंके अभावमें प्रकट होते हैं। अतः भाव प्राण धारण करनेसे सिद्धोंमें जीवपना न्याय्य है। अथवा जिसने पहले प्राणोंको धारण किया था वही यह है, इस प्रकार प्रत्यभिज्ञानके द्वारा एकत्वको लेकर सिद्धोंको जीव कहा जाता है। अथवा जीव शब्द चेतनावानके अर्थमें रूढ़ है। और रूढ़िमें क्रिया केवल व्युत्पत्तिके लिये होती है। अतः उसके न होनेपर भी उसके उप-लक्षणसे गृहीत सामान्यका आश्रय लेकर उस शब्दकी प्रवृत्ति होती है। जैसे जो चले वह गौ है इस प्रकारसे व्युत्पत्ति करनेपर भी गौ शब्द नहीं चलनेपर भी गौके अर्थमें व्यवहृत होता है जैसे बैठी हुई गौ। गमन तो अध्रुव है फिर भी उसमें गोपना वर्तमान है। इसी तरह प्राणधारणसे

समूहाः । 'सद्दहिदव्वा' तु श्रद्धातव्याः एव । 'आणाए' आप्तानामाज्ञाबलात् ।

जीवाश्रद्धाने मुक्तिसंसारविषयपरिप्राप्तित्यागार्थप्रयासानुपपत्तिरिति भाव । यदि नाम धर्मादिद्रव्या-परिज्ञानात् परिज्ञानसहचारिश्रद्धानं नोत्पन्नं तथापि नासौ मिथ्यादृष्टिर्दर्शनमोहोदयस्य अश्रद्धानपरिणामस्या-ज्ञानविषयस्याभावात् । न हि श्रद्धानस्यानुत्पत्तिरश्रद्धानं इति गृहीत । श्रद्धानादन्यदश्रद्धानं इदमित्थमिति श्रुतनिरूपितेऽरुचिः ।

श्रद्धातव्यं प्रकारांतरेणापि निर्देष्टु उत्तरगाथा—पूर्वं सर्वद्रव्यविषयश्रद्धानमुक्तं, पश्चादतिशयप्रति-पादनार्थं जीवद्रव्यविषया श्रद्धा निरूपिता अनंतरगाथया । इद तु आस्रवादयोऽपि श्रद्धातव्या इति सूच्यते—

आसवसंवरणिज्जरबंधो मुक्खो य पुण्णपावं च ।।
तह एव जिणाणाए सद्दहिदव्वा अपरिसेसा ।।३७।।

'आसवसंवरणिज्जर' । आस्रवत्यनेनेत्यास्रव । आस्रवत्यागच्छति जायते कर्मत्वपर्याय पुद्गलानां येन कारणभूतेनात्मपरिणामेन स परिणाम आस्रव । ननु कर्मपुद्गलाना नान्यतः आगमनमस्ति यमाकाश-प्रदेशमाश्रित आत्मा तत्रैवावस्थिता पुद्गला अनंतप्रदेशिन कर्मपर्याय भजन्ते 'एयक्खेत्तोगाढं' मिति वचनात् । तत् किमुच्यते आगच्छतीति ? न दोष. । आगच्छन्ति ढौकन्ते ज्ञानावरणादिपर्यायमित्येव ग्रहीतव्य ।

उपलक्षित चैतन्यके आश्रयसे सिद्धोंमें जीव शब्दका व्यवहार होता है ।

आप्तकी आज्ञाके बलसे जीवके इन समूहोंका श्रद्धान करना चाहिये, क्योंकि जीवका श्रद्धान न होनेपर मुक्तिकी प्राप्ति और संसारके विषयोंके त्यागके लिये प्रयास नही हो सकेगा। यदि धर्मादि द्रव्योंका ज्ञान न होनेसे ज्ञानके साथ रहनेवाला श्रद्धान नही उत्पन्न हुआ । तो भी वह मिथ्यादृष्टि नही है क्योंकि दर्शन मोहके उदयसे होनेवाला श्रद्धानरूप परिणाम, जिसका विषय अज्ञान है, उसका अभाव है । अश्रद्धानका अर्थ श्रद्धानका न होना नही लिया है किन्तु श्रद्धानसे जो अन्य है वह अश्रद्धान है अर्थात् श्रुतमें कहे हुए तत्त्वमें अरुचि अश्रद्धान है ।।३६।।

प्रकारान्तरसे श्रद्धा करने योग्यका कथन करनेके लिए आगेकी गाथा है । पहले सब द्रव्योंके श्रद्धान करनेको कहा । पीछे अतिशय प्रतिपादन करनेके लिये जीव द्रव्य विषयक श्रद्धाका कथन इसके पूर्ववर्ती गाथाके द्वारा किया । इस गाथामे आस्रव आदिकी भी श्रद्धा करना चाहिये, यह सूचित करते हैं—

गा०—आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष और पुण्य, पाप ये सब सातों पदार्थ उसी प्रकार जिनदेवकी आज्ञासे श्रद्धान करने चाहिये ।।३७।।

टी०—जिसके द्वारा आना होता है वह आस्रव है । जिस कारणभूत आत्मपरिणामसे पुद्गलोंका कर्म पर्यायरूपसे आगमन होता है वह परिणाम आस्रव है ।

शंका—कर्म पुद्गलोंका आगमन अन्य देशसे नही होता । जिस आकाश प्रदेशमें आत्मा ठहरा होता है वहीं पर स्थित अनन्तप्रदेशी पुद्गल कर्मपर्याय रूप होते हैं, क्योंकि आगममें 'एकक्षेत्रावगाढ़' कहा है । तब आप कैसे कहते हैं कि आते हैं ?

समाधान—इसमें दोष नहीं है, आगमनका अर्थ ज्ञानावरणादि पर्याय रूपको प्राप्त होना

न देशान्तरपरिस्पंद इहागमनं विवक्षितं । तेन तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघातादय जीवपरिणामाः कर्मत्वपरिणते. पुद्गलानां साधकतमतया विवक्षिताः आस्रवशब्देनोच्यंते । अथवा आस्रवण कर्मतापरिणतिः पुद्गलानां आस्रव इत्युच्यते । संव्रियते संरुध्यते मिथ्यादर्शनादिः परिणामो येन परिणामांतरेण सम्यग्दर्शनादिना, गुप्त्यादिना वा स संवरः । निर्जीर्यंते निरस्यते यया, निर्जरणं वा निर्जरा । आत्मप्रदेशस्थं कर्म निरस्यते यया परिणत्या सा निर्जरा । निर्जरणं पृथग्भवनं विश्लेषणं वा कर्मणा निर्जरा । मोक्ष्यतेऽस्यते येन मोक्षणमात्रं वा मोक्षः । निरवशेषाणि कर्माणि येन परिणामेन क्षायिकज्ञानदर्शनयथाख्यातचारित्रसंज्ञितेन अस्यते स मोक्षः । विश्लेषो वा समस्तानां कर्मणां । बध्यते अस्वतंत्रीक्रियन्ते कार्मणद्रव्याणि येन परिणामेन आत्मन. स बन्धः । अथवा बध्यते परवशतामापद्यते आत्मा येन स्थितिपरिणतेन कर्मणा तत्कर्म बंधः । पुण्य नाम अभिमतस्य प्रापकं । पापं नाम अनभिमतस्य प्रापकं । इह बंधशब्देन जीवपरिणाम एव गृहीतः न कर्म एव, पृथक् पुण्यपापग्रहणात् । ननूक्तेन परिणामेन जीवपुद्गलयोरेवांतर्भाव आस्रवादीनां जीवपुद्गलत्वश्रद्धानस्य पूर्वमुपन्यस्तत्वात् किमर्थमिदं सूत्रमिति नैष दोषः । विनेयाशयवैचित्र्याद्देशनाभेद आगमवाक्येषु । ततः श्रद्धा तत्र सर्वत्र कार्येति चोदित भवति । अश्रद्धानं न मनागपि कार्यम् ।

लेना चाहिये। यहाँ आगमनसे देशान्तरसे चलकर आना विवक्षित नही है। अतः आस्रव शब्दसे प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन, उपघात आदि जीव परिणामोंको पुद्गलोके कर्मरूप परिणमनमें साधकतम रूपसे विवक्षित किया है। अथवा 'आस्रवण' अर्थात् पुद्गलोंकी कर्मरूप परिणतिको आस्रव कहा है।

जिस सम्यग्दर्शनादि या गुप्ति आदि रूप अन्य परिणामसे मिथ्यादर्शन आदि परिणाम 'संव्रियते' रोका जाता है वह संवर है। जिसके द्वारा 'निर्जीर्यंते' निरसन किया जाता है अथवा निर्जरणको निर्जरा कहते हैं। जिस परिणतिसे आत्माके प्रदेशोंमे स्थित कर्म हटाये जाते हैं वह निर्जरा है। कर्मोंके 'निर्जरण' अर्थात् पृथक् होनेको अथवा विश्लेषणको निर्जरा कहते है। जिसके द्वारा 'मोक्ष्यते' अर्थात् छूटते हैं अथवा मोक्षण मात्रको मोक्ष कहते हैं। क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन और यथाख्यात चारित्र नामक जिस परिणामसे समस्त कर्म छूटते है वह मोक्ष है। अथवा समस्त कर्मोंका आत्मासे अलग हो जाना मोक्ष है। आत्माके जिस परिणामसे कार्मणद्रव्य 'बध्यन्ते' परतंत्र किया जाता है वह बन्ध है, अथवा जिस स्थिति रूप परिणत हुए कर्मके द्वारा आत्मा 'बध्यते' अर्थात् पराधीनताको प्राप्त होता है वह कर्म बन्ध है। इष्टको प्राप्त करानेवालेको पुण्य कहते हैं और अनिष्टको प्राप्त करानेवालेको पाप कहते हैं। यहाँ बन्ध शब्दसे जीवके परिणामका ही ग्रहण किया है, कर्मका नही, क्योंकि पुण्य पापका पृथक् ग्रहण किया है।

शंका—उक्त परिणामसे तो आस्रव आदिका अन्तर्भाव जीव और पुद्गलमे ही होता है। तथा जीव और पुद्गलके श्रद्धानका पहले कथन किया ही है तब इस गाथा सूत्रके कहनेकी क्या आवश्यकता थी?

समाधान—यह दोष ठीक नहीं है। आगमके वचनोंमें शिष्योंके अभिप्राय नाना होनेसे उपदेशमें भेद होता है। अतः इन सबमें श्रद्धा करना चाहिये यह प्रेरणा की गई है, किञ्चित् भी अश्रद्धान नहीं होना चाहिये ॥३७॥

दृष्टेर्मरणं बालबालमरणं तत्किमुच्यते बालमरणानीति। बालत्वं नाम सामान्यं बालबालेऽपि विद्यते इति बालमरणानीत्युक्तं।

कीदृशी तर्हि मतिः कार्या संसारभीरुणा—

णिग्गंथं[1] पव्वयणं इणमेव अणुत्तरं सुपरिसुद्धं ॥
इणमेव मोक्खमग्गोत्ति मदी कायव्विया तम्हा ॥४२॥

'णिग्गंथं पव्वयणं'। ग्रथ्नन्ति रचयन्ति दीर्घीकुर्वन्ति संसारमिति ग्रन्थाः। मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान, असंयम, कषायाः, अशुभयोगत्रयं चेत्यमी परिणामाः। मिथ्यादर्शनान्निष्क्रान्तं किं सम्यग्दर्शनं। मिथ्याज्ञाना-न्निष्क्रांतं सम्यग्ज्ञानम्। असंयमात्कषायेभ्योऽशुभयोगत्रयाच्च निष्क्रान्तं सुचारित्रं। तेन रत्नत्रयमिह निर्ग्रंथशब्देन भण्यते। **'पव्वयणं'** प्रवचनस्येदं अभिधेयं। **'इणमेव'** इदमेव, **'अणुत्तरं'** न विद्यते उत्तरं उत्कृष्टमस्मादिति अनुत्तरम्। **'सुपरिसुद्धं'** सुष्ठु परिशुद्धं। **'इणमेव'** इदमेव। **'मोक्खमग्गोत्ति'** कर्मणां निरवशेषापायस्योपाय इति। **'मदी'** बुद्धिः। **'कायव्विया'** कर्तव्या। **'तम्हा'** तस्मात्। यस्मादेवंभूतायामसत्यां मत्यां दुःखमरण-प्राप्तिरतीतकाल इव भविष्यत्यपि काले भविष्यतीति ॥४२॥

शङ्का—मिथ्यादृष्टि का मरण बालबालमरण है। तब यहाँ बालमरण क्यों कहा है?

समाधान—बालपना सामान्य है वह बाल-बालमे भी रहता है इसलिये 'बालमरण' ऐसा कहा है।

विशेषार्थ—प० आशाधर जी ने अपनी टीकामे लिखा है कि कुछ 'सुविहिद' ऐसा पढते है और उसका व्याख्यान वे 'हेतुचारित्र' ऐसा करते है। अर्थात् 'सुविहिद' को प्रवचनका विशेषण न करके सम्बोधनके रूपमे लेते हैं ॥४२॥

तब ससारसे डरने वालेको कैसी मति करनी चाहिये, यह कहते है—

गा०—इसलिये रत्नत्रयरूप जो प्रवचनका अभिधेय है यही सर्वोत्कृष्ट और पूर्णरूपसे निर्दोष है। यही मोक्षका मार्ग है ऐसी मति करनी चाहिये ॥४२॥

टी०—जो संसारको 'ग्रथ्नन्ति' रचते हैं उसे दीर्घ करते है उन्हे ग्रन्थ कहते है। ये ग्रन्थ है मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, असंयम, कषाय और तीन अशुभ योगरूप परिणाम। मिथ्यादर्शनके हटनेसे सम्यग्दर्शन होता है। मिथ्याज्ञानके हटनेसे सम्यग् ज्ञान होता है। असंयम, कषाय और तीन अशुभयोगोके हटनेसे सम्यक्चारित्र होता है। अतः यहाँ निर्ग्रन्थ शब्दसे रत्नत्रय कहा है। और 'पव्वयण' का अर्थ प्रवचनमें कहा गया विषय है। जो प्रवचनमे कहा रत्नत्रय है वही अनुत्तर है अर्थात् उससे उत्कृष्ट कोई नही है और वही पूर्ण शुद्ध है, वही मोक्षमार्ग अर्थात् समस्त बुराइयों का उपाय है। ऐसी मति करना चाहिये, क्योकि इस प्रकारकी मतिके न होनेपर दुःखदायक मरणोंकी प्राप्ति अतीतकालको तरह भविष्यकालमें भी होगी ॥४२॥

---

१. अन्ये तु निःसमं प्रवचनमिति प्राधान्येन व्याचक्षते—मूलारा०।

तच्च सम्यक्त्वं निरतिचारं 'गुणोज्ज्वलितं भावनीयं इत्येतदाचष्टे उत्तरप्रबंधेन । तत्रातिचारनिवेदनार्थोत्तरगाथा—

सम्मत्तादीचारा संका कंखा तहेव विदिगिंछा ॥
परदिठ्ठीण पसंसा अणायदणसेवणा चेव ॥ ४३ ॥

'सम्मत्तादीचारा' श्रद्धानस्य दोषाः । 'संका' शंका, संशयप्रत्ययः किंस्विदित्यनवधारणात्मकः । स च निश्चयप्रत्ययाश्रयं दर्शनं मलिनयति । ननु सति सम्यक्त्वे तदतिचारो युज्यते । संशयश्च मिथ्यात्वमावहति । तथाहि मिथ्यात्वभेदेषु संशयोऽपि गणितः । 'संसइदमभिग्गहिदं अणभिग्गहिदं च तं तिविधं' इति । सत्यपि संशये सम्यग्दर्शनमस्त्येवेति अतिचारता युक्ता । कथं ? श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषाभावात्, उपदेष्टुरभावात्, तस्य वा वचननिपुणता नास्ति तन्निर्णयकारिभूत[2]वचनानुपलब्धेः, काललब्धेरभावाद्वा यदि नाम निर्णयो नोपजायते । तथापि तु इदं यथा सर्वविदा उपलब्धं तथैवेति श्रद्दधेऽहमिति भावयतः कथं सम्यक्त्वहानिः ? एवंभूतश्रद्धारहितस्य को वेत्ति किमत्र तत्त्वमिति अदृष्टेषु कपिलादिषु सर्वज्ञतैव दुरवधारा, अयमेव सर्वविन्नेतर इति आगमशरणतायां को वस्तुयाथात्म्यानुसारी को वा नेति संशय एवेति । यत्तत्त्वाश्रद्धानं संशयप्रत्ययोपनीतत्वात्-

अतिचाररहित और गुणोंसे उज्ज्वल वह सम्यक्त्व भावनीय है यह आगे कहते हैं। उसके अतिचारोंका कथन आगेकी गाथासे करते हैं—

गा०—शङ्का, आसक्ति, उसी तरह विचिकित्सा या ग्लानि अतत्त्वदृष्टिजनोंकी प्रशंसा और अनायतनोंकी सेवा, ये सम्यक्त्वके अतिचार हैं ॥४३॥

टी०—शङ्का आदि सम्यक्त्वके अतीचार अर्थात् श्रद्धानके दोष हैं। शंका संशयज्ञानको कहते है जो 'यह क्या है' इस प्रकार अनवधारणरूप होता है। वह निश्चयात्मकज्ञानके आश्रयसे होनेवाले सम्यग्दर्शनको मलिन करता है।

शङ्का—सम्यक्त्व होनेपर उसमें अतिचार लगना उचित है। किन्तु संशय तो मिथ्यात्वरूप है। मिथ्यात्वके भेदोमे संशयको भी गिना है। कहा है—संशयित, अभिगृहीत और अनभिगृहीत तीन प्रकारका मिथ्यात्व है।

समाधान—संशयके होनेपर भी सम्यग्दर्शन रहता है अतः उसका अतिचारपना उचित है। श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम विशेष न होनेसे, उपदेष्टाके अभावसे अथवा उससे वचनोंकी निपुणता न होनेसे, या निर्णयकारी शास्त्रवचनके प्राप्त न होनेसे अथवा काललब्धिके अभावसे यदि किसी विषयका निर्णय नहीं होता, तथापि जैसा इसे सर्वज्ञ भगवान्‌ने देखा है वैसा ही मैं श्रद्धान करता हूँ' ऐसी भावना करनेवालेके सम्यक्त्वका अभाव कैसे हो सकता है ? जिसके इस प्रकारकी श्रद्धा नही है, तथा कौन जानता है तत्त्व क्या है, कपिल आदिको जब देखा नहीं तो उनकी सर्वज्ञताका निर्णय कैसे हो सकता है, यही सर्वज्ञ है, दूसरा नहीं है इसमे आगमका आश्रय लेनेपर कौन आगम यथार्थ वस्तुको कहता है, कौन नहीं कहता इस प्रकारका संशय ही होता है। इस प्रकारके संशयपूर्वक जो तत्त्वका अश्रद्धान है वह संशयज्ञानके द्वारा उत्पन्न होनेके कारण

१ गुणोपोद्वलित अ० । गुणोपोद्वजितं आ० । २. वचनाभावात् वा का–आ० ।–लब्धेः अभावाद्वाका–मु० ।

त्संशयमिथ्यात्वमित्युच्यते । अश्रद्धानरूपतैव लक्षणं मिथ्यात्वस्य । यथा वक्ष्यति 'तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाण होदि अत्थाणं' मिति । अन्यथा मिथ्याज्ञानस्य मिथ्यादर्शनस्य च भेदो न भवेद्, भेदश्च स्फुटो वाक्यान्तरे 'मिच्छणाणमिच्छादंसणमिच्छाचारित्तादो पडिविरदोमीति' । किं च छद्मस्थानां रज्जुरगस्थाणुपुरुषादिषु किमियं रज्जुरुरगः स्थाणुः पुरुषो वा किमित्यनेकः संशयप्रत्ययो जायते इति[1] ते न सम्यग्दृष्टयः स्युः ।

कांक्षा गार्द्ध्यं आसक्तिः, सा च दर्शनस्य मलं । यद्येवं आहारे कांक्षा, स्त्रीवस्त्रगंधमाल्यालंकारादिषु चाऽसंयतसम्यग्दृष्टेर्विरताविरतस्य वा भवति । यथा प्रमत्तसंयतस्य परीषहाकुलस्य भक्ष्यपानादिषु कांक्षा संभवतीति सातिचारदर्शनता स्यात् । तथा भव्यानां मुक्तिसुखकांक्षा अस्त्येव । इत्यत्रोच्यते न कांक्षामात्रमतीचारः किंतु दर्शनाद्व्रतादानाद्देवपूजायास्तपसश्च जातेन पुण्येन ममेदं कुलं, रूपं, वित्तं, स्त्री-पुत्रादिकं, शत्रुमर्दनं, स्त्रीत्वं, पुंस्त्वं वा सातिशयं स्यादिति कांक्षा इह गृहीता एषा अतिचारो दर्शनस्य ।

'विचिकित्सा जुगुप्सा' मिथ्यात्वासंयमादिषु जुगुप्सायाः प्रवृत्तिरतिचारः स्यादिति चेत् इहापि नियतविषया जुगुप्सेति मतातिचारत्वेन । रत्नत्रयाणामन्यतमे तद्वति वा कोपादिनिमित्ता जुगुप्सा इह गृहीता । ततस्तस्य दर्शनं, ज्ञानं, चरणं वाऽशोभनमिति । यस्य हि यत्र इदं भद्रं इति श्रद्धानं स तस्य जुगुप्सा करोति । ततो रत्नत्रयमाहात्म्यारुचिर्युज्यतेऽतिचारः ।

संशय मिथ्यात्व कहलाता है । मिथ्यात्वका लक्षण अश्रद्धानरूपता ही है । आगे कहेंगे—'तत्त्वार्थका जो अश्रद्धान है वही मिथ्यात्व है' । यदि ऐसा न हो तो मिथ्याज्ञान और मिथ्यादर्शनमें भेद ही न हो । किन्तु अन्यत्र वचनमें स्पष्ट भेद कहा है । यथा—'मैं मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्रसे विरत होता है ।' तथा छद्मस्थ जीवोंको रस्सी, सर्प, और स्थाणु पुरुष आदिमें, यह रस्सी है या साँप, अथवा स्थाणु है या पुरुष, इस प्रकार अनेक संशयज्ञान होते हैं । तब वे सम्यग्दृष्टी नहीं हो सकेंगे ?

कांक्षा गृद्धि या आसक्तिको कहते हैं । वह भी सम्यग्दर्शनका मल है ।

शंका—यदि ऐसा है तो असंयतसम्यग्दृष्टी अथवा विरताविरत श्रावकको आहारकी या स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला अलंकार आदिकी कांक्षा होती है । तथा परीषहसे व्याकुल प्रमत्तसंयत मुनिके खान-पान आदिकी कांक्षा होती है वह भी सम्यग्दर्शनका अतीचार कहलायेगी । तथा भव्य जीवोंको मुक्ति सुखकी कांक्षा रहती ही है ?

समाधान—कांक्षामात्र अतीचार नहीं है । किन्तु सम्यग्दर्शनसे, व्रतधारणसे, देवपूजासे और तपसे उत्पन्न हुए पुण्यसे मुझे अमुक कुल, रूप, धन, स्त्री-पुत्रादि, शत्रु विनाश, अथवा सातिशय स्त्रीपना, पुरुषपना प्राप्त हो इस प्रकारकी कांक्षा यहाँ ग्रहण की है । वह सम्यग्दर्शनका अतीचार है ।

विचिकित्सा जुगुप्साको कहते हैं ।

शंका—तब तो मिथ्यात्व असंयम आदिमें जुगुप्सा करना भी अतीचार हो जायेगा ।

समाधान—यहाँ भी नियत विषयमें जुगुप्साको अतिचाररूपसे माना है । रत्नत्रयमें किसी एकमें अथवा रत्नत्रयके धारीमें कोप आदिके निमित्तसे होनेवाली जुगुप्साका यहाँ ग्रहण किया है । जिसका जिसमे यह श्रद्धान है कि यह श्रेष्ठ है वह उसकी जुगुप्सा करता है । अतः रत्नत्रयके महत्त्वमें अरुचिका होना अतिचार होता है ।

१ ति ते सम्य—आ० मु० ।

'परदिट्ठीण पसंसा' परशब्दोऽनेकार्थवाची । क्वचिद् व्यवस्थावाची । नापरो ग्रामः पाटलिपुत्रादि-त्यादौ । क्वचिदन्यार्थे परे आचार्या अन्ये इत्यर्थः । तथा इष्टार्थे, परं धाम गतः इष्टमिति यावत् । इह तु अन्यवाची । दृष्टिः श्रद्धा रुचिः । परा अन्या दृष्टिः श्रद्धा येषां ते परदृष्टयः । तत्त्वदृष्ट्यपेक्षया अतत्त्व-दृष्टिरन्या तेषां प्रशंसा स्तुतिः ।

'अणायदणसेवणा चेव'—अनायतनं षड्विधं मिथ्यात्वं, मिथ्यादृष्टयः, मिथ्याज्ञानं, तद्वन्तः, मिथ्या-चारित्रं मिथ्याचारित्रवन्तः इति । तत्र मिथ्यात्वमश्रद्धानं तत्सेवायां मिथ्यादृष्टिरेवासौ नातिचारता । मिथ्या-दृष्टीनां तु सेवा बहुमननं तेषां । मिथ्याज्ञानसेवा नाम निरपेक्षनयदर्शनोपदेशः इदमेव तत्त्वमिति श्रद्धानमुत्पाद-यामि श्रोतृणामिति क्रियमाणो मिथ्याज्ञानिभिः सह संवासः तत्र अनुरागो वा तदनुवृत्तिर्वा तत्सेवा । मिथ्या-चारित्रं नाम मिथ्याज्ञानिनामाचरणं तत्रानुवृत्तिर्द्रव्यलोभाद्यपेक्षया तेषु वा सांगत्यादिकं । एतेषां सम्यक्त्वाति-चाराणां वर्जनम् ॥४३॥

गुणान्दर्शनविशुद्धिकारिणो निरूपयति उवगूहणमित्यनया—

उवगूहणठिदिकरणं वच्छल्लपभावणा गुणा भणिदा ॥
सम्मत्तविसोधीए उवगूहणकारया चउरो ॥४४॥

उपबृंहणं नाम वर्द्धनं । बृह बृंहि वृद्धाविति वचनात् । धात्वर्थानुवादी चोपसर्गः उप इति । स्पष्टे-

---

'परदिट्ठीण' में पर शब्दके अनेक अर्थ हैं। कहीं पर शब्द व्यवस्थाका वाची होता है। जैसे पाटलिपुत्रसे अपर गाँव नहीं है। कहीं परका अर्थ अन्य है। जैसे पर आचार्य अर्थात् अन्य आचार्य। कहीं परका अर्थ इष्ट है। जैसे परं धामको गया अर्थात् इष्ट धामको गया। यहाँ पर शब्द अन्यवाची है। दृष्टिका अर्थ श्रद्धा या रुचि है। जिनकी दृष्टि अर्थात् श्रद्धा पर अर्थात् अन्य है वे परदृष्टि हैं। अर्थात् तत्त्वदृष्टिकी अपेक्षा अतत्त्वदृष्टि अन्य है। उनकी प्रशंसा-स्तुति सम्यग्-दर्शनका अतीचार है।

अनायतनके छह भेद हैं—मिथ्यात्व, मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञान, मिथ्याज्ञानी, मिथ्याचारित्र और मिथ्याचारित्रके धारक। उनमेंसे मिथ्यात्व तो अश्रद्धान ही है। उसकी सेवा करनेपर तो यह मिथ्यादृष्टि ही हुआ। अतः मिथ्यात्व सेवा अतीचार नहीं है। मिथ्यादृष्टियोंकी सेवाका अर्थ है उन्हें बहुत मानना। मिथ्याज्ञानकी सेवाका मतलब है निरपेक्ष नयोंका उपदेश देना या 'यही तत्त्व है' इस प्रकारका श्रद्धान श्रोताओंको उत्पन्न कराऊँ, इस रूपमें मिथ्याज्ञानियोंके साथ संवास करना, उनसे अनुराग होना अथवा उनकी अनुकूलता। मिथ्याज्ञानियोंके आचरणको मिथ्याचारित्र कहते हैं। द्रव्यलोभ आदिकी अपेक्षासे उनका अनुवर्तन अथवा उनकी संगति। इन सम्यक्त्वके अतिचारोंको छोड़ना चाहिए ॥४३॥

सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि करनेवाले गुणोंको कहते हैं—

गा०—उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना ये चार गुण सम्यक्त्वकी विशुद्धिकी वृद्धि करनेवाले कहे हैं ॥४४॥

टी०—उपगूहन अर्थात् उपबृंहण नाम बढ़ाने का है। क्योंकि 'बृह और बृंहि धातुका अर्थ वृद्धि है' ऐसा कहा है। धातुके अर्थ के ही अनुकूल 'उप' उपसर्ग है। स्पष्ट और अग्राम्य

नाम्राम्येण श्रोत्रमनःप्रीतिदायिना वस्तुयाथात्म्यप्रकाशनप्रवणेन धर्मोपदेशेन परस्य तत्त्वश्रद्धानवर्द्धनं तदुपबृंहणं[1]। सर्वजनविस्मयकारिणीं शतमखप्रमुखगीर्वाणसमितिविरचितोपचितिसदृशी पूजां संपाद्य दुर्धरतपोयोगानुष्ठानेन वा आत्मनि श्रद्धा स्थिरीकरणम् ।

जीवादीनि द्रव्याणि तत्सामान्यविशेषरूपाध्यासितानि उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकानि प्रतिसमयमिति जिनैः सम्यगभाणि एवमेव नान्यथा श्रद्धे जिनाना मत। न हि जिना वीतरागा विदिताखिलवेद्यतया याथात्म्याः कृपापरिगताः विपरीतमुपदिशतीति भावनया स्थिरीकरण, अस्थिरस्य रत्नत्रये स्थिरतापादनं। मिथ्यात्वाभिमुखस्य सम्यग्दृष्टेरस्थिरस्य मिथ्यात्वं मूलमेव तदनुभवत कर्मादानं, मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाया हि बधहेतवः। तद्बधहेतुक चानतससारपरिभ्रमण चतुरशीतियोनिशतसहस्रेषु। सद्दर्शनं तु विचित्रयातनासकटभयप्रदायिन्योर्नरकतिर्यग्गतिवर्तिन्योर्वज्रार्गलाभूत शतमखमनुष्यलोकयोरन्यूनमान्यरूपभोगादिसपत्संपादनचतुरं क्रमेण निर्वाणमपि प्रयच्छति। ततो दुःखजलवाहिनी मिथ्यादृष्टिकुल्यामुल्लंघय, प्रतिपद्यस्व जैनी दृष्टिमिति तत्र स्थिरताकरणम्। तथा सम्यग्ज्ञानभावनाया च प्रमादिनमलस दृष्ट्वा एवमसौ वक्तव्यः ज्ञान हिताहितप्रकाशनपटु, तदन्तरेण हितमजानतः कथ तत्र वृत्तिरहितपरिहारो वा। हिताहितप्राप्तिपरिहारौ विना न सुखाधिगमदुःखविश्लेषौ। तदर्थमेव चायं प्राज्ञो जन क्लिश्यति। तत पचविधस्वाध्यायत्याग मा कृथाः इति ज्ञाने स्थिरीकरण। अथवा अनधिगतसूत्रार्थनिश्चयस्य तत्र निश्चयसपादन असकृद्भावनात्मन स्थिरीकरण।

(शिष्टजनोचित) कानो और मनको प्रसन्नता देनेवाले तथा वस्तुका यथार्थस्वरूप प्रकाशन करनेमे समर्थ धर्मोपदेशके द्वारा दूसरेके श्रद्धानको बढाना उपबृंहण है। अथवा सर्व जनोको आश्चर्य पैदा करनेवाली, इन्द्रादि प्रमुख देवगणोके द्वारा की जानेवाली पूजाके समान पूजा रचाकर अथवा दुर्धर तप और ध्यानका अनुष्ठान करके आत्मामे श्रद्धाको स्थिर करना उपबृहण है।

जीवादि द्रव्य अपने सामान्य और विशेष रूपोसे युक्त होकर प्रतिसमय उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक हैं ऐसा जिनदेवने सत्य ही कहा है। ऐसा ही है, अन्यथा नही है। जिनदेवके मतका मै श्रद्धान करता हूँ। वीतराग, समस्त पदार्थोके यथार्थ रूपको जाननेवाले दयालु जिनदेव विपरीत उपदेश नही देते' इस प्रकारकी भावनासे रत्नत्रयमे अस्थिरको स्थिर करना स्थितिकरण है। मिथ्यात्वके अभिमुख सम्यग्दृष्टिकी अस्थिरताका मूल मिथ्यात्व ही है। मिथ्यात्वका अनुभवन करनेवालेके कर्मोका ग्रहण होता है क्योंकि मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और कषाय बन्धके कारण है। और उस बन्धके कारण चौरासी लाख योनियोमे अनन्तकाल तक संसार भ्रमण करना होता है। किन्तु सम्यग्दर्शन विचित्र कष्ट, संकट और भय देनेवाली नरक गति और तिर्यञ्च गतिके लिए वज्रमयी अर्गला है, इन्द्र लोक और मनुष्य लोकमें पूर्ण मान्य भोगादि सम्पदाको प्राप्त करानेमे चतुर है, क्रमसे मोक्ष भी प्राप्त कराता है। इसलिए दुःख रूपी जल जिसमे बहता है उस मिथ्यादृष्टि रूपी नदीको पार करके जैनी दृष्टि प्राप्त करो। इस प्रकार उसमे स्थिर करना स्थितिकरण है। तथा सम्यग्ज्ञानकी भावनामे प्रमादी आलसीको देखकर उससे ऐसा कहना चाहिए—ज्ञान हित और अहितको प्रकाशित करनेमें चतुर होता है। उसके बिना जो हितको नही जानता वह कैसे हितमें प्रवृत्ति और अहितका परिहार कर सकेगा और हितकी प्राप्ति तथा अहितके त्यागके बिना सुखकी प्राप्ति और दुःखसे छुटकारा नही हो सकता। उसीके लिए तो यह बुद्धिमान मनुष्य कष्ट उठाता है। अतः पाँच प्रकारको स्वाध्यायका त्याग मत करो। इस प्रकार ज्ञानमें स्थिरीकरण है। अथवा

---

१. वर्तन अ० आ०।

चारित्रात् प्रच्यवमानं दृष्ट्वा हिंसादिसावद्यक्रियायां प्रवर्तमाना इहैव दुःखभाजो दृश्यन्ते, तथा परं हन्तुमुद्यतः स्वयं तेनैव हन्यते प्राक्तनमित्रैर्बंधुभिर्वोदीर्णवैरैः। परत्र चाशुभां गतिमुपैति। दुःखदाय्यसद्वेद्यं च बध्नाति। अलीकं ब्रुवन्निहैव बंधुजनस्यापि विद्वेष्योऽविश्वास्यश्च भवति किं पुनरन्यस्य। जिह्वां चोत्पाटयंति क्रुद्धा बलिनः। परत्र च मूकतां यास्यति इत्येवमाद्यसंयमदोषं प्रख्याप्य नीरोगतां, दीर्घजीवनं, सौरूप्यं, प्रियवचनादिकं गुणमुपदिश्य अहिंसादिव्रताचरणफलं चारित्रे स्थिरीकरणम्। असंयतदोषं संयमगुणं वा पुनः पुनः स्मृत्वात्मनः स्थिरीकरणम्।

धर्मस्थेषु मातरि भ्रातरि वानुरागो वात्सल्यं, रत्नत्रयादरो वात्मनः। प्रभावना माहात्म्यप्रकाशनं रत्नत्रयस्य तद्वतां वा ॥४४॥

दर्शनविनयप्रतिपादनार्थं गाथाद्वयमुत्तरम्—

अरहंतसिद्धचेइय सुदे य धम्मे य साधुवग्गे य।
आयरिय उवज्झाए सुपवयणे दंसणे चावि ॥ ४५ ॥

'अरहंत इत्यादिकं'। अरिहननाद्रजोहननाद्रहस्याभावादतिशयपूजार्हत्वाच्चाभिलब्धार्हद्व्यपदेशा नोआगमभावार्हन्त इह गृहीताः। न नामार्हन्, निमित्ताभावेऽपि पुरुषकारान्नियुक्तार्हद्व्यपदेशः। अर्हतां प्रतिबिंबानि

सूत्रके अर्थका निश्चय जिसे नहीं है उसे निश्चय कराना। तथा बारम्बार भावना करना आत्माका स्थिरीकरण है।

चारित्रसे गिरते हुए को देखकर कहना—जो हिंसा आदि पाप कार्योंमें लगते हैं वे इसी जन्ममे दुःख भोगते देखे जाते है। जो दूसरेको मारनेके लिए तैयार होता है वह स्वयं अथवा उसी दूसरेके द्वारा मारा जाता है। अथवा उसके मित्रों और बन्धुओंके द्वारा पूर्व वैरके उदीर्ण होनेसे मारा जाता है। मरकर दुर्गतिमें जाता है। दुःखदायी असातावेदनीय कर्मको बाँधता है। असत्य बोलने वाला इसी लोकमें बन्धुजनोंके द्वारा द्वेषका भाजन होता है तथा उसका वे विश्वास नहीं करते। फिर दूसरों की तो बात ही क्या है? बलवान पुरुष क्रुद्ध होकर झूठ बोलने वालेकी जिह्वा उखाड़ देते हैं। मरकर वह परलोकमें गूँगा होता है। इस प्रकारसे असयमके दोष कहकर और नीरोगता, दीर्घ जीवन, सौन्दर्य, प्रियवचन आदि सयमके गुणोंका उपदेश देकर चारित्रमें स्थिर करना अहिंसा आदि व्रतोंके आचरणका फल है। अथवा असयमके दोष और सयमके गुण बारबार स्मरण करके अपनेको चारित्रमें स्थिर करना स्थितीकरण है।

धर्मात्माओंमें माता-पिता वा भाईमे अनुराग करना वात्सल्य है। अथवा अपने रत्नत्रयमे आदरभाव रखना वात्सल्य है। रत्नत्रयका अथवा रत्नत्रयके धारकोंका माहात्म्य प्रकट करना प्रभावना है ॥४४॥

दर्शन विनयका कथन करनेके लिए आगे दो गाथा कहते है—

गा०—अरहन्त, सिद्ध और प्रतिबिम्बोमे श्रुतमे और धर्ममे और साधुवर्गमे आचार्यमे उपाध्यायमें और सुप्रवचनमें दर्शनमे भी ॥४५॥

टी०—'अरि' अर्थात् मोहनीयकर्मका नाश कर देनेसे, 'रज' अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरणकर्मको नष्ट कर देनेसे, 'रहस्य' अर्थात् अन्तरायकर्मका अभाव कर देनेसे, और सातिशय पूजाके योग्य होनेसे अर्हत् कहे जानेवाले नो आगमभावरूप अर्हन्तोंका यहाँ ग्रहण किया है।

सोऽयमित्यभिसंबंधादर्हद्व्यपदेशभाजि पूजातिशयार्हत्वेऽपि अरिहननादिगुणासंभवान्नेह गृह्यन्ते। आगमद्रव्यार्हन्नर्हत्स्वरूपव्यावर्णनपरप्राभृतज्ञोऽनुपयुक्तस्तदर्थेऽन्यत्र व्यापृतः। ज्ञायकशरीरार्हन्नाम तत्प्राभृतज्ञस्य त्रिकालगोचरं शरीरं। यस्मिन्नात्मनि अरिहननादयो भविष्यंति गुणाः स भाव्यर्हन्। तीर्थंकरनामकर्म तद्व्यतिरिक्तद्रव्यार्हन्। अर्हद्व्यावर्णनपरप्राभृतप्रत्ययोऽर्हन्निर्भासो बोध आगमभावार्हन्। एतेषु अरिहननादिगुणानामभावात् नेहार्हच्छब्देन ग्रहणम्।

एवं नामसिद्धः अलब्धसकलात्मस्वरूपे सिद्धशब्दः। यस्य वा निमित्तनिरपेक्षा सिद्धसंज्ञा। स्थापनासिद्धा इति तत्प्रतिबिंबानि उच्यन्ते। ननु सशरीरस्यात्मनः प्रतिबिंबं युज्यते, अशरीराणा तु शुद्धात्मनां सिद्धानां कथं प्रतिबिंबसंभवः? पूर्वभावप्रज्ञापननयापेक्षया शरीरमनुगतो य आत्मा सयोगकेवलीतरो वा न शरीरान्निर्भक्तुं शक्यते। विभागे हि शरीरात्ससारिता न स्यात्। अशरीरः ससारी चेति विरुद्धमेतत्। ततः शरीरसंस्थानवत्त्वादात्मापि संस्थानवानेव सस्थानवतोऽव्यतिरिक्तत्वाच्छरीरस्यात्मवत्। स एव चायं प्रतिपन्नसम्यक्त्वाद्यष्टगुण इति स्थापनासंभव। आगमद्रव्यसिद्ध सिद्धप्राभृतज्ञः सिद्धशब्देनोच्यते अनुपयुक्तः। सिद्धप्राभृतज्ञस्य

नामसे जो अर्हन्त हैं उनका यहाँ ग्रहण नहीं है। अर्हन्त संज्ञाके जो निमित्त कहे हैं उनके अभावमें भी जबरदस्तीसे जो अर्हत् नाम रख दिया जाता है उसे नाम अर्हत् कहते हैं। अर्हन्तोके प्रतिबिम्ब 'वे अर्हन्त यही हैं। इस प्रकारकी स्थापनाके सम्बन्धसे अर्हन्त कहे जाते हैं और वे सातिशय पूजाके योग्य भी हैं फिर भी उनमें मोहनीय कर्मका विनाश आदि गुण न होनेसे यहाँ उनका ग्रहण नहीं किया है। अर्हन्तके स्वरूपका वर्णन करनेवाले शास्त्रका ज्ञाता, जो उसमें उपयोग नहीं लगा रहा किसी अन्य कार्यमें लगा है वह आगम द्रव्यअर्हन्त है। उस अर्हन्तविषयक शास्त्रके ज्ञाताका जो भूत वर्तमान और भावि शरीर है वह ज्ञायक शरीर अर्हन्त है। जिस आत्मामें अरिहनन आदि गुण भविष्यमें होंगे वह भाविअर्हन्त है। तीर्थङ्करनामकर्म तद्व्यतिरिक्त द्रव्य-अर्हन्त है। अर्हन्तके वर्णनमें तत्पर शास्त्रका जो ज्ञान है—अर्थात् अर्हन्तविषयक जो ज्ञान है वह आगमभाव अर्हन्त है। इन सबमें अरिहनन आदि गुणोका अभाव होनेसे यहाँ अर्हत् शब्दसे उनका ग्रहण नहीं किया है।

इसी प्रकार जिसने सम्पूर्ण आत्मस्वरूपको प्राप्त नही किया उसमें सिद्ध शब्दका व्यवहार नाम सिद्ध है। अथवा सिद्ध शब्दकी प्रवृत्तिमे निमित्त आठ कर्मोंके विनाशकी अपेक्षा न करके जिसका नाम सिद्ध रखा गया है वह नामसिद्ध है। सिद्धोंके प्रतिबिम्बोंको स्थापनासिद्ध कहते हैं।

शंका—शरीरसहित आत्माका प्रतिबिम्ब तो युक्त है। शरीर रहित शुद्ध आत्माओंका प्रतिबिम्ब कैसे सम्भव है?

समाधान—पूर्वभाव प्रज्ञापननयकी अपेक्षा जो आत्मा शरीरमें था, वह सयोगकेवली हो या अन्य हो, उसे शरीरसे अलग नहीं किया जा सकता। यदि उसे शरीरसे पृथक् ही सर्वथा कर दिया जाये तो उसका ससारीपना नहीं बनता; क्योंकि शरीरसे रहित हो और संसारी हो यह तो परस्पर विरुद्ध है। अतः शरीरके आकारकी तरह चेतन आत्मा भी आकारवान ही है क्योंकि वह आकारवानसे अभिन्न है, जैसे शरीरमे रहनेवाला आत्मा। वही यह सम्यक्त्व आदि आठ-गुणोसे सहित है इस प्रकार सिद्धकी स्थापना सम्भव है। जो सिद्ध विषयक शास्त्रका ज्ञाता उसमें उपयुक्त नहीं है और उसे सिद्ध शब्दोंसे कहा जाता है तो वह आगमद्रव्य सिद्ध है। सिद्धविषयक

शरीरं ज्ञायकशरीरं । भविष्यत्सिद्धत्वपर्यायो भाविसिद्धः । व्यतिरिक्तसिद्धो न संभवति । सिद्धत्वं न कर्मकारणम् इति सकलकर्मापायहेतुका सिद्धता । पुद्गलद्रव्यस्य तदुपकारिणोऽसंभवान्नोकर्मसिद्धाभावः । सिद्धप्राभृतानुसारिसिद्धज्ञानपरिणत आगमभावसिद्धः । निरस्तभावद्रव्यकर्ममलकलङ्कः परिप्राप्तसकलक्षायिकभावः नोआगमभावसिद्धः । स इह गृहीतो न इतरे सकलात्मस्वरूपप्राप्त्यभावात् ।

'चेदिय' चैत्यं प्रतिबिंबं इति यावत् । कस्य ? प्रत्यासत्तेः श्रुतयोरेवार्हत्सिद्धयोः प्रतिबिंबग्रहणं । अथवा मध्यप्रक्षेपः पूर्वोत्तरगोचरस्थापनापरिग्रहार्थस्तेन साध्वादिस्थापनापि गृह्यते ।

श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमाज्जातं वस्तुयाथात्म्यग्राहि श्रद्धानानुगतं श्रुतं अंगपूर्वप्रकीर्णकभेदभिन्नं, तीर्थंकर श्रुतकेवल्यादिभिरारचितो वचनसंदर्भो वा, लिप्यक्षरश्रुतं वा ।

धर्मशब्देन चारित्रं समीचीनमुच्यते । ज्ञानदर्शनाभ्यामनुगतं सामायिकादि पंचविकल्पम् । दुर्गतिप्रस्थित जीवधारणात्, शुभे स्थाने वा दधाति इति धर्मशब्देनोच्यते । अथवा

'खंती मद्दव अज्जव लाघव तव संजमो आकिंचणदा ।
तह होदि बम्हचेरं सच्चं चागो य दस धम्मा ॥ —[मूलाचार ८।६२]

इति सूत्रांतरनिर्दिष्टधर्मपरिग्रहः । क्रोधनिमित्तसान्निध्येऽपि कालुष्याभावः क्षमा स्नेहकार्याद्यनपेक्षः । जात्याद्यभिमानाभावो मान[1]दोषापेक्षस्य दृष्टकार्यानपाश्रयो मार्दवम् । आकृष्टान्तद्वयसूत्रवदृजुताभावः आर्जव-

---

शास्त्रके ज्ञाताओंका शरीर ज्ञायकशरीर है । भविष्यमें जिसे सिद्धपर्याय प्राप्त होगी वह भाविसिद्ध है । तद्व्यतिरिक्त सिद्ध सम्भव नहीं है क्योंकि सिद्धत्वपर्यायका कारण कर्म नहीं है । सिद्धता तो समस्त कर्मोंके विनाशसे प्राप्त होती है । उस सिद्धत्वपर्यायका उपकारी पुद्गलद्रव्य नहीं है इसलिए नोकर्मसिद्ध भी नहीं हैं । सिद्ध विषयक शास्त्रके अनुसार सिद्धोंके ज्ञानरूप जो परिणत है वह आगम भाव सिद्ध है । जिसने भावकर्म और द्रव्यकर्ममलरूप कलंकको नष्ट करके सकलक्षायिकभावोंको प्राप्त कर लिया है वह नो आगम भावसिद्ध है । उसीका यहाँ ग्रहण किया है अन्यका नहीं; क्योंकि उन्होंने पूर्ण आत्मस्वरूपको प्राप्त नहीं किया है ।

चैत्य प्रतिबिम्बको कहते हैं । चैत्य शब्द अर्हन्त और सिद्धके समीप है अतः सिद्ध और अर्हन्तके ही प्रतिबिम्ब ग्रहण करना । अथवा उससे पूर्वकी और उत्तरकी स्थापनाका ग्रहण करनेके लिए चैत्य शब्दको मध्यमें रखा है । उससे साधु आदिकी स्थापनाका भी ग्रहण होता है ।

श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ तथा वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करनेवाला श्रद्धान सहित ज्ञान श्रुत है । उसके भेद ग्यारह अंग, चौदह पूर्व और अंगबाह्य हैं । अथवा तीर्थंकर और श्रुतकेवली आदिके द्वारा रचा गया वचन सन्दर्भ श्रुत है । अथवा जो लिपि रूप अक्षरश्रुत है वह श्रुत है । धर्म शब्दसे समीचीन चारित्र कहा जाता है । ज्ञान और सम्यग्दर्शनसे अनुगत वह चारित्र सामायिक आदिके भेदसे पाँच प्रकार का है । दुर्गतिमें पड़े हुए जीवको धारण करनेसे अथवा शुभ स्थानमें धरनेसे उसे धर्म शब्दसे कहते हैं अथवा धर्म शब्दसे शास्त्रमें कहे गये क्षमा, मार्दव, आर्जव, लाघव, तप, संयम, आकिञ्चन्य, ब्रह्मचर्य, सत्य, त्याग ये दस धर्म ग्रहण किये हैं । क्रोधके निमित्तोंके रहते हुए भी कलुषताके अभावको क्षमा कहते हैं । यह क्षमा किसी स्नेह सम्बन्धी कार्य आदिकी अपेक्षाके बिना होती है । मानकी बुराइयोंकी अपेक्षा न करके तथा लौकिक

---

१. दोषानपेक्षस्य दृ–आ० मु० ।

मित्युच्यते । द्रव्येषु ममेदं भावमूलो व्यसनोपनिपातः सकल इति ततः परित्यागो लाघवं । अशनादिपरित्यागा-त्मिका क्रिया अनपेक्षितदृष्टफला द्वादशविधा तपः । इंद्रियविषयरागद्वेषाभ्यां निवृत्तिरिंद्रियसंयमः । षड्जीव-निकायबाधाऽकरणात्परः प्राणिसंयमः । अकिंचनता सकलग्रंथत्यागः । ब्रह्मचर्यं नवविधब्रह्मपालनं । सतां साधूनां हितभाषणं सत्यम् । संयतप्रायोग्याहारादिदानं त्यागः । एते दशधर्माः ।

साधयन्ति रत्नत्रयमिति साधवस्तेषां वर्गः समूहः । तस्मिन्वस्तुयाथात्म्यग्राहिज्ञाने परिणतिर्ज्ञानाचारः । तत्त्वश्रद्धानपरिणामो दर्शनाचारः । पापक्रियानिवृत्तिपरिणतिश्चारित्राचारः । अनशनादिक्रियासु वृत्तिस्तप आचारः । स्वशक्त्यनिगूहनरूपा वृत्तिर्ज्ञानादौ वीर्याचारः । एतेषु पंचस्वाचारेषु ये वर्तन्ते परांश्च प्रवर्तयंति ते आचार्याः । रत्नत्रयेषु उद्यता जिनागमार्थं सम्यगुपदिशंति ये ते उपाध्यायाः उपेत्य विनयेन ढौकित्वा अधीयते श्रुतमस्मादित्युपाध्यायः ।

'पवयणे' प्रवचने । ननु श्रुतशब्दः प्रवचनवाची ततः पुनरुक्तता ? रत्नत्रयं प्रवचनशब्देनोच्यते । तथा चोक्तम्—'णाणदंसणचरित्ताणि पवयणमिति' । अथवा श्रुतज्ञानं श्रुतमित्युक्तं पूर्वमिह तु प्रोच्यंते जीवादयः पदार्था इति शब्दश्रुतमुच्यते । 'दंसणे' सम्यग्दर्शने च ॥ ४५ ॥

कार्योंके प्रयोजनके बिना जाति आदिका अभिमान नहीं होना मार्दव है। एक ऐसे धागेकी तरह जिसके दोनों छोर खींचे हुए है, कुटिलताके अभावको आर्जव कहते है। द्रव्योमे 'यह मेरा है' यह भाव समस्त विपत्तियोके आनेका मूल है अतः उसका त्याग लाघव है। लौकिकफलकी अपेक्षा न करके भोजन आदिके त्यागरूप क्रियाका नाम तप है उसके बारह भेद है। इन्द्रियोके विषयोमे रागद्वेष न करना इन्द्रियसंयम है। छह कायके जीवोंको बाधा न पहुचाना दूसरा प्राणिसयम है। समस्त परिग्रहका त्याग आकिञ्चन्य धर्म है। नौ प्रकारसे ब्रह्मका पालन ब्रह्मचर्य है। सज्जन साधु पुरुषोंके हितकारी भाषणको सत्य कहते हैं। संयमियोंके योग्य आहार आदि देना त्याग है। ये दस धर्म हैं।

जो रत्नत्रयका साधन करते हैं वे साधु हैं। उनके समूहको साधुवर्ग कहते हैं। वस्तुके यथार्थस्वरूपको ग्रहण करनेवाले ज्ञानमे लगना ज्ञानाचार है। तत्त्वश्रद्धानरूप परिणाम दर्शना-चार है। पाप कार्योंसे निवृत्तिरूप परिणति चारित्राचार है। अनशन आदि क्रियाओंमें लगना तप आचार है। ज्ञानादिमें अपनी शक्तिको न छिपाकर प्रवृत्ति करना वीर्याचार है। इन पाँच आचारोंमें जो स्वयं प्रवृत्त होते हैं और दूसरोंको प्रवृत्त करते हैं वे आचार्य है। जो रत्नत्रयमे तत्पर हैं और जिनागमके अर्थका सम्यक् उपदेश करते हैं वे उपाध्याय हैं। विनय पूर्वक जाकर जिनसे श्रुतका अध्ययन किया जाता है वे उपाध्याय हैं। पवयणका अर्थ प्रवचन है।

शङ्का—श्रुत शब्दका अर्थ भी प्रवचन है। वह आ चुका है। फिर प्रवचन कहनेसे पुनरु-क्तता दोष होता है।

समाधान—प्रवचन शब्दसे रत्नत्रयको कहते हैं। कहा है—ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये प्रवचन हैं।' अथवा पूर्वमें श्रुतसे श्रुतज्ञान कहा है। यहाँ प्रवचन शब्दसे शब्दरूप श्रुत कहा है। जिसके द्वारा जीवादि पदार्थ 'प्रोच्यन्ते' प्रकर्षरूपसे कहे जाते हैं वह प्रवचन है इस व्युत्पत्तिके अनुसार प्रवचनका अर्थ शब्दरूप श्रुत होता है। दर्शनसे सम्यग्दर्शन जानना ॥४५॥

भत्ती पूया वण्णजणणं च णासणमवण्णवादस्स ॥
आसादणपरिहारो दंसणविणओ समासेण ॥४६॥

का भत्ती पूया ? अर्हदादिगुणानुरागो भक्तिः । पूजा द्विप्रकारा द्रव्यपूजा भावपूजा चेति । गन्धपुष्पधूपाक्षतादिदानं अर्हदाद्युद्दिश्य द्रव्यपूजा अभ्युत्थानप्रदक्षिणीकरणप्रणमनादिका कायक्रिया च, वाचा गुणसंस्तवनं च । भावपूजा मनसा तद्गुणानुस्मरणं ।

'वण्णजणणं' वर्णशब्द. क्वचिद्रूपवाची शुक्लवर्णमानय शुक्लरूपमिति । अक्षरवाची क्वचिद्यथा 'सिद्धो-वर्णसमाम्नायः' इति । क्वचित् ब्राह्मणादौ यथात्रैव वर्णानामधिकार इति । क्वचिद्यशसि वर्णार्थी ददाति । तथा इहाप्यनंतरार्थो गृहीतः । तेन अर्हदादीनां यशोजननं विदुषां परिषदि । अन्येषामविश्ववेदिना दृष्टेष्टविरुद्ध-वचनताप्रदर्शनेन निवेद्य तत्संवादवचनतया महत्ताप्रख्यापनं भगवतां वर्णजननम् ।

चैतन्यमात्रसमवस्थानरूपे निर्वाणे नापूर्वातिशयप्राप्तिरस्ति । यत्नमंतरेण सर्वात्मसु चैतन्यस्य सदा स्थितेः । विशेषरूपरहितत्वादसच्चैतन्यं खपुष्पवत् । प्रकृतेरचेतनाया मुक्तिरनुपयोगिनी । किं तया बद्धया मुक्तया वा फलमात्मन ? अनया दिशा कापिलमते सिद्धता दुरुपपादा । बुद्ध्यादिविशेषगुणरहितता सिद्धता-न्येषां । आत्मनोऽचेतनता कः सचेतनोऽभिलषति । विशेषरूपशून्य वा कथमात्मन. सत्ता ? नैव चासावात्मा

गा०—भक्ति, पूजा, वर्णजनन और अवर्णवादका नाश करना तथा आसादनाका दूर करना संक्षेपसे दर्शन विनय है ॥४६॥

टी०—भक्ति और पूजा किसे कहते हैं ? अर्हन्त आदिके गुणोंमें अनुराग भक्ति है । पूजाके दो प्रकार हैं—द्रव्यपूजा और भावपजा । अर्हन्त आदिका उद्देश करके गन्ध, पुष्प, धूप, अक्षत आदि अर्पित करना द्रव्यपूजा है । तथा उनके आदरमें खडे होना, प्रदक्षिणा करना, प्रणाम आदि करना रूप शारीरिक क्रिया और वचनसे गुणोंका स्तवन भी द्रव्यपूजा है । मनसे उनके गुणोका स्मरण भाव पूजा है ।

"वर्णजनन' में वर्णशब्द कही तो रूपका वाचक है जैसे 'शुक्लवर्ण लाओ' यहाँ उसका अर्थ शुक्लरूप है । कही 'वर्ण' अक्षरका वाचक है । जेसे 'सिद्धो वर्णसमाम्नायः' यहाँ वर्णका अर्थ अक्षर है । कहीं वर्णशब्द ब्राह्मण आदिका वाचक है । जैसे 'यहाँ वर्णोंका ही अधिकार है । यहाँ वर्णसे ब्राह्मण आदि लिये गये है । कहीपर वर्णका अर्थ यश है । जैसे वर्णार्थी दान करता है । यहाँ वर्णका अर्थ यश है । यहाँ भी वर्णसे यश अर्थ लिया है । अतः विद्वानोंकी सभामें अर्हन्त आदिका यश फैलाना, दूसरे असर्वज्ञोंकी प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे विरुद्धता दिखलाकर उनके वचनोंके सवादि होनेसे महत्ताका ख्यापन करना अर्हन्तोंका वर्णजनन है ।

चैतन्यमात्रमें स्थितिरूप निर्वाणको माननेपर अपूर्व अतिशयकी प्राप्ति नही होती । विना प्रयत्नके ही सभी आत्माओंमे चैतन्य सदा रहता है । तथा विशेषरूपसे रहित चैतन्य आकाशके फूलके समान असत् होता है । अचेतन प्रकृतिकी मुक्ति मानना व्यर्थ है । उसके बँधने या मुक्त होनेसे आत्माको क्या ? इस प्रकार सांख्यके मतमें सिद्धता नही बनती ।

. वैशेषिक आदि दूसरे दार्शनिक सिद्ध अवस्थामें बुद्धि आदि विशेष गुणोंका अभाव मानते हैं । इस तरह कौन सचेतन आत्माको अचेतन बनाना पसन्द करेगा । तथा विशेष धर्मोंसे शून्य

पराभ्युपगतः बुद्ध्यादिगुणरहितत्वाद्भस्मवत् । रागादिक्लेशवासनारहितं चित्तमेव मुक्तिशब्देनोच्यते इत्यत्रापि चित्तमत्यंतासाधारणरूपं । यद्येकं चिद्रूपं नेतरदिति तस्य स्वभावोऽनिरूप्यः । असाधारणस्वरूपशून्यं यत्तद-सदेव—नभस्तामरसं । असाधारणरूपशून्यं च विवक्षिताच्चित्तादन्यदिति । एवं मतान्तरे निरूपितानां सिद्धा-नामघटमानत्वाद्बाधाकारिसकलकर्मलेपनिर्दहनसमुपजाताचलस्वास्थ्यसमवस्थिताः अनंतज्ञानात्मकेन सुखेन संतृप्ताः सिद्धा इति तन्माहात्म्यकथनं सिद्धानां वर्णजननम् ।

यथा वीतरागद्वेषास्त्रिलोकचूडामणयोऽर्हदादयो भव्यानां शुभोपयोगकारणतामुपयान्ति तद्वदेतान्यपि तदीयानि प्रतिबिंबानि । बाह्यद्रव्यालंबनो हि शुभोऽशुभो वा परिणामो जायते । यथात्मनि मनोज्ञामनोज्ञ-विषयसान्निध्याद्रागद्वेषौ यथा स्वपुत्रसदृशं सुदर्शनं पुत्रस्मृतेरालंबनं । एवमर्हदादिगुणानुस्मरणनिबंधनं प्रति-बिंबम् । तदनुस्मरणं अभिनवाशुभप्रकृतेः संवरणे, प्रत्यग्रशुभकर्मादाने, गृहीतशुभप्रकृत्यनुभवस्फारीकरणे, पूर्वोपात्ताशुभप्रकृतिपटलरसापहासे च क्षममिति सकलाभिमतपुरुषार्थसिद्धिहेतुतया उपासनीयानीति चैत्यमहत्ता-प्रकाशनं चैत्यवर्णजननमिति ।

केवलज्ञानवदशेषजीवादिद्रव्ययाथात्म्यप्रकाशनपटु, कर्मघर्मनिर्मूलनोद्यतशुभध्यानचंदनमलयायमानं स्व-परसमुद्धरणनिरतविनेयजनताचित्तप्रार्थनीय, प्रतिबद्धाशुभास्रवं, अप्रमत्ततायाः संपादक सकलविकलप्रत्यक्षज्ञान-

आत्माकी सत्ता कैसे रहेगी। तथा दूसरोंके द्वारा माना गया आत्मा बुद्धि आदि गुणोंसे रहित होनेसे भस्मके समान है।

बौद्धमतमें रागादि क्लेशवासनासे रहित चित्त ही मुक्ति शब्दसे कहा जाता है। उनके मतमें भी चित्त अत्यन्त असाधारणरूपको लिये हुए हैं। यदि चिद्रूप एक ही है अन्य नहीं है तो उसका स्वरूप निरूपण करनेके योग्य नहीं है। जो असाधारण स्वरूपसे शून्य होता है वह असत् होता है जैसे आकाशका कमल। और विवक्षित चित्तसे अन्य चित्त असाधारण स्वरूपसे शून्य है। इस प्रकार अन्य मतोंमें कहे गये सिद्धोंका स्वरूप नहीं बनता। अतः बाधा पैदा करनेवाले समस्त कर्मरूपी लेपको जला डालनेसे उत्पन्न हुए निश्चल स्वास्थ्यसे युक्त और अनन्तज्ञानरूप सुखसे सन्तृप्त सिद्ध होते हैं। इस प्रकार उनके माहात्म्यको कहना सिद्धोंका वर्णजनन है।

जैसे राग-द्वेषसे रहित और तीनों लोकोंके चूड़ामणि अर्हन्त आदि भव्यजीवोंके शुभोप-योगमें निमित्त होते हैं, उन्हींकी तरह उनके ये प्रतिबिम्ब भी शुभोपयोगमें निमित्त होते हैं। क्योंकि बाह्य द्रव्यका आलम्बन लेकर शुभ अथवा अशुभ परिणाम होते हैं। जैसे मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयोंकी समीपतासे आत्मामें राग-द्वेष होते हैं। या जैसे अपने पुत्रके समान व्यक्तिका दर्शन पुत्रकी स्मृतिका आलम्बन होता है। इसी तरह प्रतिबिम्ब अर्हन्त आदिके गुणोंके स्मरणमें निमित्त होता है। यह गुणस्मरण नवीन अशुभ प्रकृतिके आस्रवको रोकनेमें, नवीन शुभकर्मके बन्धमें, बन्धे हुए शुभकर्मके अनुभागको बढ़ानेमें और पूर्वबद्ध अशुभ प्रकृति समूहके अनुभागको कम करनेमें समर्थ होता है। इस तरह समस्त इष्ट पुरुषार्थकी सिद्धिमें कारण होनेसे प्रतिबिम्बों-की उपासना करना चाहिए। इस रूपसे प्रतिबिम्बकी महत्ताका प्रकाशन चैत्यवर्ण जनन है। श्रुतज्ञान केवलज्ञानकी तरह समस्त जीवादि द्रव्योंके यथार्थस्वरूपको प्रकाशित करनेमें दक्ष होता है, कर्मरूपी घामको मूलसे नष्ट करनेमें उद्यत शुभध्यानरूपी चन्दनके लिए मलयपर्वतके समान है। अपना और दूसरोंका उद्धार करनेमें लगे हुए शिष्यजनोंके द्वारा अन्तःकरणसे प्रार्थनीय है

बीजं, दर्शनचरणयोः समीचीनयोः प्रवर्तकं इति निरूपणा श्रुतवर्णजननम् ।

दुःखात् त्रातुं, सुखं दातुं, निधीनां रत्नानां चाधिपत्ये स्थापयितुं, स्वचक्रविक्रमानमितसकलभूपालखे-चरगणबद्धमरुच्चक्रलाञ्छनानां पादयोः पातयितुं, सुरविलासिनीचेतःसंमोहावहं, तदीयचलत्पाठीनलोचन-रागमभिवर्धयन्तीं, हर्षभरपरवशोद्भिन्नसान्द्ररोमांचकंचुकमाचरितुमुद्यतां, रूपशोभामम्बिरां संपादयितुमति-शयितामणिमादिगुणप्रसाधनां, सामानिकादिसुरसहस्रानुयानोपनीतमहत्तां, सततप्रत्यग्रयुवतालिंगितां सुभगतालता-रोहयष्टिम्, अनेकसमुद्रबिन्दुगणनागणितायुःस्थितिं, मेरुकुरुसरित्कुलाचलादिगोचरस्वेच्छाविहारचतुरां, सुरांगनापृथुलनितम्बबिम्बाधरकठिननिबिड—समुन्नतकुचतटक्रीडालोकनस्पर्शनादिक्रियोपयोगामितप्रीतिविस्मितां, शतमखतामखेदेन झटिति घटयितुं, विरूपताजननीजराडाकिनीनामगोचरां शोकवृकानुल्लंघितां, विपद्दावान-लशिखाभिरनुपप्लुतां, रोगोरगैरदष्ट[1]व्यां, यममहिषखुराखंडितां, भीतिवराहसमितिभिरनुल्लिखितां, संक्लेश-शतशरभैरनध्यासितां, प्रियवियोगचण्डपुंडरीकैरसेवितां, अनर्घ्यसुखरत्नप्रभवभूमिं निर्वृतिं प्रापयितुं समर्थो जिनप्रणीतो धर्म इति धर्मस्वरूपकथनं धर्मवर्णजननम् ॥

अर्थात् वे श्रुतज्ञानके लिए प्रयत्नशील रहते हैं। अशुभ आस्रवको रोकता है। अप्रमादपना लाता है, सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्षरूप ज्ञानका बीज है अर्थात् श्रुतज्ञानसे ही अन्यज्ञान पैदा होते हैं, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें प्रवृत्त करानेवाला है। इस प्रकार कथन करना श्रुतज्ञान-का वर्णजनन है।

धर्म दुःखसे रक्षा करता है, सुख देता है, नवनिधि और चौदह रत्नोंका स्वामी बनाता है, अपने चक्ररत्नके पराक्रमसे समस्त राजाओं, विद्याधरोंको विनम्र करने वाले तथा देवगणोंको भी बाँधने वाले चक्रवर्तियोंको चरणोंमें गिराता है, धर्मके प्रभावसे बिना किसी खेदके तत्काल इन्द्र-पदवी प्राप्त होती है जो इन्द्रपदवी देवांगनाओंके चित्तको संमोहित करती है, उनके चंचल मीनके तुल्य लोचनोंमें अनुरागको बढ़ाती है, हर्षके भारसे प्रकट हुए सघन रोमांचरूपी कन्चुकको उत्पन्न करनेमें तत्पर होती है, रूपकी शोभा बढ़ानेके लिये सातिशय अणिमा आदि ऋद्धियोंका सम्पादन करती है, सामानिक आदि हजारों देवता अनुगमन करके उसका महत्त्व स्थापन करते हैं, निरन्तर नवीन तारुण्य उसका आलिंगन करता है, सौभाग्यरूपी बेलके चढ़नेके लिये वह लकड़ीके तुल्य है, उसकी आयुकी स्थिति अनेक समुद्रोंके जल बिन्दुओंके द्वारा गिनी जाती है अर्थात् अनेक सागर प्रमाण आयु होती है, वह इन्द्रपद सुमेरु, देवकुरु, उत्तरकुरु, नदी, कुलाचल आदिमें स्वेच्छापूर्वक विहार करनेमें प्रवीण होता है और देवांगनाओंके स्थूल नितम्ब, ओष्ठ, कठिन उन्नत कुचोंके साथ क्रीड़ा, आलोकन, स्पर्शन आदि क्रियाके द्वारा अपरिमित प्रीतिको उत्पन्न कराता है। ऐसा इन्द्रपद धर्मके प्रभावसे प्राप्त होता है। तथा जिनदेवके द्वारा कहा गया धर्म मोक्षको भी प्राप्त करनेमें समर्थ है। जो मोक्ष शरीरको विरूप करने वाली जरारूपी डाकिनियोंके लिये अत्यन्त दूर है। अर्थात् वहाँ बुढ़ापा नहीं है, शोकरूपी भेड़िये वहाँ नहीं पहुँच सकते, विपत्तिरूपी बनकी आगकी शिखा वहाँ नहीं है, रोग रूपी सर्प वहाँ नहीं डसते, यमराजका भैंसा अपने खुरोंसे उसे खंडित नहीं करता, भयरूपी सूकरोंका समूह वहाँ नहीं पहुंचता, सैकड़ों संक्लेशरूपी शरभ वहाँ नहीं रहते, प्रियजनोंका वियोगरूपी प्रचण्ड आघात नहीं है और जो मोक्ष अमूल्य सुख रूपी रत्नोंका उत्पत्ति स्थान है वह धर्मसे प्राप्त होता है इस प्रकार धर्मके स्वरूपका कथन धर्मका वर्णजनन है।

---

१. दष्टपूर्वं—आ० मु० ।

सत्त्रोटितप्रियवचनमुखरदुर्भेदबन्धुसमितिशृंखलाः, दुस्तरतरसंसारावर्तचिरपरिभ्रमणचकितसवेपथु-हृदयाः, अनित्यताभावनाहितचेतस्तया निरस्तशरीरद्रविणादिगोचराः, दुःखसंहतिसंपातरक्षाक्षमस्यापरस्य जिनप्रणीताद्धर्मादभावात् तमेव शरणमित्युपगताः, ज्ञानरत्नप्रदीपप्रभाप्रकरनिर्मुक्तभुवनभवनान्तर्वर्तिताज्ञान-ध्वान्तसंततयः, कर्मणामादाने, तत्फलानुभवने, तन्निर्मूलने च वयमेकका एवेति कृतविनिश्चितयः असाधारण-चैतन्यादिलक्षणोपनीतभेदापेक्षयाऽन्ये वयमितरद्रव्यकलापादित्यन्यताभावनायामासक्ताः, सुखदुःखयोरकृतादर-द्वेषाः, सदसद्वेद्योदयकर्मनिमित्तत्वेन ममादृतिमनभिमतं चापेक्षते इति उपकारापकारयोरहमेव प्रणेता, आत्मनः शुभाशुभकर्मणो[1] निर्मापणे। ममैव स्वातंत्र्यात्तदु[2]पचितत्वात्, अनुग्रहनिग्रहयोः परे वराकाः किं कुर्वन्तीति मत्वा स्वजनपरजनविवेकनिरुत्सुकाः, समंतादुपसर्गमहोरगैरवार्यवीर्यैरवष्टब्धा अप्यविचलवृत्तयः, क्षुत्पि-पासादिपरीषहमहारातिसरभससंपातेऽप्यदीनासंक्लिष्टचेतोवृत्तयः, त्रिगुप्तिगुप्तिमुपाश्रिताः, अनशनादितपोराज्य-पालनोद्युक्तमतयः, कृतानूनव्रतकवचाः, गृहीतशीलखेटाः उदूर्णध्यानातिनिशितमंडलाग्राः, कर्मारिपृतनासाध-नोद्यताः साधव इति साधुमाहात्म्यप्रकाशनं साधुवर्गवर्णजननं।

मुक्ताहारपयोधरनिशाकरवासराधीश्वरकल्पमहीरुहादय इव प्रत्युपकारानपेक्षानुग्रहव्यापृताः, निर्वाणपुर-

---

प्रियवचन बोलनेमें वाचाल बन्धुजन कठिनतासे टूटने वाली सांकलके समान है किन्तु साधुगण इस सांकलको तोड़ डालते हैं, उनका हृदय अत्यन्त दुस्तर संसाररूपी भवरमें चिरकाल तक भ्रमण करनेसे भयभीत रहता है, चित्तके अनित्य भावनाके भानेमें लगे रहनेसे शरीर धन-सम्पत्ति आदिमें उनका आदरभाव नहीं होता, जिन भगवान्के द्वारा कहे गये धर्मके सिवाय अन्य किसीके दुःखोंके समूहसे रक्षा करनेमे समर्थ न होनेसे वे उसी धर्मकी शरणमें रहते हैं, ज्ञानरूपी रत्नमयी दीपककी प्रभाके समूहसे उन साधुओंने लोक रूपी भवनमें रहने वाले अज्ञान रूपी अन्ध-कारकी परम्पराको नष्ट कर दिया है, उनका यह निश्चय है कि कर्मोके बांधनेमे, उनका फल भोगनेमें और उन्हें नष्ट करनेमें हम अकेले ही हैं, चैतन्य आदि असाधारण लक्षणके भेदसे हम अन्य सब द्रव्योंके समूहसे भिन्न हैं इस प्रकार वे अन्यत्व भावनामे आसक्त रहते हैं। न सुखमें आदरभाव रखते हैं और न दुःखसे द्वेष करते हैं। साता और असाता वेदनीय कर्मके उदयके निमित्तसे मेरा आदर या निरादर होता है, अतः अपने उपकार और अपकारका कर्ता मैं ही हू, अपने शुभ अशुभ कर्मोके निर्माणमे में स्वतन्त्र हूँ—उसीके द्वारा मेरा अनुग्रह या निग्रह होता है, दूसरे बेचारे इसमें क्या करते हैं? ऐसा मानकर वे स्वजन और परजनमें भेद बुद्धि करनेमें उदा-सीन होते हैं। चहुओरसे शक्तिशाली उपसर्गरूपी भयानक सर्पोसे घिरे होनेपर भी वे अविचल रहते हैं। भूख प्यास आदि परीषह रूपी महान् शत्रुओंका अचानक आक्रमण होनेपर भी उनकी चित्त-वृत्ति दीनता और संक्लेशसे रहित होती है। तीन गुप्ति रूपी गुप्तिका आश्रय लेते हैं, अनशन आदि तप रूपी राज्यका पालन करनेमे उनकी बुद्धि लगी रहती है, पूर्णव्रत रूपी कवच धारण करते हैं। शील रूपी खेटमें बसते हैं, ध्यानरूपी अत्यन्त तीक्ष्ण तलवार रखते है, उसके द्वारा कर्मरूपी शत्रुओं-की सेनाको वशमें करनेके लिये तत्पर रहते हैं। इस प्रकार साधुओंके माहात्म्यको प्रकट करना साधुवर्गका वर्णजनन है।

आचार्य मोतीका हार, मेघ, चंद्रमा, सूर्य और कल्पवृक्ष आदिकी तरह प्रत्युपकारकी

---

१. कर्मारोपणे—आ० मु०। २. दुपचरित—आ० मु०।

परिप्रापणक्षमे मार्गे निर्मले स्थिताः, परानपि विनताञ्शिष्यान्प्रवर्तयन्तः आयतातिधवलज्ञानपृथुलदर्शनपक्ष्मलेक्षणाः, कुलीना, विनता, विभया, विमाना, विरागा, विशल्या, विमोहा, वचसि तपसि महसि चाऽद्वितीया[1] इति भाषणं सूरिवर्णजननम् ।

अधिगतश्रुतार्थयाथात्म्यात्मवाच्य[2]वाचकानुरूपव्याख्यानाः, निरस्तनिद्रातंद्रीप्रमादाः, सुचरिताः, सुशीलाः, सुमेधसः, इत्याध्यापकवर्णजननम् ।

रत्नत्रयालाभादनंतकालं अनमनादिनिधनोऽपि भव्यजीवराशिर्न निर्वाणपुरमुपैति तल्लाभे च सकलाः संपदः सुलभाः इति मार्गवर्णजननम् ।

मिथ्यात्वपटलविपाटनपटीयसी, ज्ञाननैर्मल्यकारिणी, अशुभगतिगमनप्रतिबंधविधायिनी, मिथ्यादर्शनविरोधिनीति निगदनं समीचीनदृष्टेर्वर्णजननम् ।

सर्वज्ञतावीतरागते नार्हति विद्येते रागादिभिरविद्यया च अनुगताः समस्ता एव प्राणभृतः इत्यादिरर्हतामवर्णवादः ।

स्त्रीवस्त्रगंधमाल्यालंकारादिविरहितानां सिद्धानां सुखं न किंचिदतीन्द्रियाणां तेषां समधिगतौ च निबंधनमस्ति किंचिदिति सिद्धावर्णवादः ।

स्वकल्पनाभिरयमर्हन्नेव सिद्धादिः इत्यचेतनस्य व्यवस्थापनायामपि दारिकाणां कृत्रिमपुत्रकव्यवहृतिरिव

अपेक्षा न करके कल्याणमें लगे रहते हैं, मोक्षपुरीको प्राप्त करानेमें समर्थ निर्मल मार्गमें स्थित होते हैं, दूसरे भी विनम्र शिष्योंको मोक्ष मार्गमें लगाते हैं, विस्तृत और अतिधवल ज्ञान और महान् दर्शनरूपी उनके नेत्र होते हैं। वे कुलीन, विनीत, निर्भय, मानरहित, रागरहित, शल्यरहित, मोहरहित होते हैं। वचनमें और तप तथा तेजमें अद्वितीय होते हैं इस प्रकार कहना आचार्यका वर्णजनन है।

उपाध्याय श्रुतके अर्थके ज्ञाता होनेसे वाच्य और वाचकके अनुरूप अर्थात् जिस शब्दका जो अर्थ है वही यथार्थ रूपसे व्याख्यान करते हैं। निद्रा, आलस्य और प्रमादसे दूर रहते हैं, वे अच्छे चरित, अच्छे शील और उत्तम मेधासे सम्पन्न होते हैं, ऐसा कहना उपाध्यायका वर्णजनन है। रत्नत्रयकी प्राप्ति न होनेसे यह अनादि निधन भी भव्य जीवराशि अनन्तकालसे मोक्षपुरीको नहीं जा पाती। उसके प्राप्त होनेपर सम्पूर्ण सम्पदाएँ सुलभ है इस प्रकार मोक्षमार्गकी प्रशंसा करना मार्ग वर्णजनन है।

सम्यग्दर्शन मिथ्यात्व पटलको उखाड फेकनेमें समर्थ है, ज्ञानको निर्मल करता है, अशुभ गतिमें गमनको रोकता है, मिथ्यादर्शनका विरोधी है ऐसा कथन समीचीन दृष्टिका वर्णजनन है। अर्हन्त भगवान्में सर्वज्ञता और वीतरागता नहीं होती, सभी प्राणी रागादि और अज्ञानसे युक्त होते हैं इत्यादि कहना अर्हन्तोंका अवर्णवाद है अर्थात् यह मिथ्यादोष लगाना है।

स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला अलंकार आदिसे रहित सिद्धोंको कुछ भी सुख नहीं है। वे तो अतीन्द्रिय हैं उनको जाननेका कोई साधन नहीं है, ऐसा कहना सिद्धोंका अवर्णवाद है। अपनी कल्पनासे यही अर्हन्त है और ये सिद्ध आदि हैं इस प्रकार अचेतन पदार्थमें अर्हन्त आदिकी स्थापना करने पर भी जैसे बालिकाएँ खेलमें गुड्डा गुड्डी आदिमें पुत्रादिका काल्पनिक व्यवहार

---

१. या इव भूषणं सूरय इति सूरि–आ० मु० । २. वाच्यमव्यत्ययमु–आ० ।

न मुख्यवस्तूपसेवनोद्भव फलमुपलभ्यते। न प्रतिबिंबादिस्था अर्हदादय. तद्गुणवैकल्यान्न प्रतिबिंबाद्यर्हदादिस्वमिति चैत्यावर्णवादः।

पुरुषकृतत्वाद्दशदाडिमादिवाक्यवदयथार्थता नातीन्द्रिय वस्तु पुंसो ज्ञानगोचरं, अज्ञातं चोपदिशतो वचः कथं सत्यं ? तदुद्भवं च ज्ञानं कथ समीचीनमिति श्रुतावर्णवाद.।

दुर्गतिप्रतिबंधं स्वर्गादिकं च फल विधत्ते धर्म इति कथमदृष्टं श्रद्धीयते ? न हि सन्निहितकारणस्य कार्यस्यानुद्भवोऽस्ति यथाङ्कुरस्य। सुखप्रदायी चेद्धर्म. स्वनिष्पत्त्यनंतर सुखमात्मनः किं न करोति इति धर्मावर्णवादः।

अहिंसादिव्रतपालनोद्यता साधव, सूरयोऽध्यापकाश्चेष्यन्ते। अहिंसाव्रतमेवैषा न युज्यते षड्जीवनिकायाकुले लोके वर्तमानाः कथमहिंसका स्यु ? केशोल्लुचनादिभि. पीडयतां च कथं नात्मवधः ? अदृष्टमात्मनो विषयं, धर्म, पाप, तत्फलं च गदता कथ सत्यव्रतम् ? इति साध्ववर्णवाद। एवमितरयोरपि।

विरुद्धाना एकत्र धर्माणामसंभवात् विरुद्धाभिमतधर्माधिकरणैकवस्तुज्ञापन न सम्यक्। तदभिरुचेर्न समीचीनता विपर्ययज्ञानानुगतत्वान्मृगतृष्णोदकश्रद्धेव, मिथ्याज्ञानानुगतत्वाच्चरणमपि न सम्यक्। उरगप्रत्ययबलाद्रज्जुपरिहार इवेति प्रवचनावर्णवादः।

करती हैं उस तरह मुख्य अर्हन्त आदिकी सेवासे होने वाला फल प्राप्त नही होता। तथा प्रतिबिंब आदिमे स्थापित अर्हन्त नही है क्योंकि उनमे उनके गुण नही है इसलिये प्रतिबिम्ब आदि अर्हन्त आदि नही है ऐसा कहना चैत्यका अवर्णवाद है।

अर्हन्तके द्वारा कहा गया श्रुत पुरुषके द्वारा कहा होनेसे 'दस अनार' जैसे वचनोंकी तरह यथार्थ नही है। अतीन्द्रिय वस्तु पुरुषके ज्ञानका विषय नहीं हो सकती। और बिना जाने उपदेश देने वालेके वचन कैसे सत्य हो सकते है। तथा उनसे होने वाला ज्ञान कैसे सच्चा हो सकता है इस प्रकार कहना श्रुतका अवर्णवाद है।

धर्म दुर्गतिको रोकता है और स्वर्गादि फल देता हैं, बिना देखे इसपर कैसे श्रद्धा की जा सकती है। जिस कार्यके कारण वर्तमान हों वह कैसे उत्पन्न नही होगा जैसे अंकुर। यदि धर्म सुखदाता है तो अपनी उत्पत्तिके पश्चात् ही आत्माको सुख क्यों नही करता। ऐसा कथन धर्मका अवर्णवाद है।

अहिंसा आदि व्रतोंका पालन करनेमें जो तत्पर हैं उन्हे साधु, आचार्य और उपाध्याय कहते हैं। किन्तु अहिंसा व्रत ही इनके नही है। जो छह प्रकारके जीवोंसे भरे संसारमें रहता है वह अहिंसक कैसे हो सकता है ? तथा केशलोच आदिसे जो आत्माको पीड़ा पहुँचाते हैं वे आत्मघातके दोषी क्यों नही हैं ? जिन्हे देखा नही है ऐसे आत्माके विषय धर्म, पाप, उनका फल कहनेवालोंके सत्यव्रत कैसे हैं, ऐसा कहना साधुका अवर्णवाद है। इसी प्रकार आचार्य और उपाध्यायका भी अवर्णवाद जानना।

एक वस्तुमें परस्परमें विरुद्ध धर्म असम्भव है। अतः परस्परमें विरुद्ध धर्मोका आधार एक वस्तुको कहना सम्यक् नही है। जो इसमे अभिरुचि रखता है वह सम्यग्दृष्टी नहीं है क्योंकि उसका ज्ञान विपरीत है जैसे मरीचिकामे जलकी श्रद्धा करनेवालेकी श्रद्धा विपरीत है। तथा मिथ्याज्ञानका अनुसारी होनेसे उसका चारित्र भी सम्यक् नही है। जैसे सर्प जानकर रस्सीको हटाना सम्यक् नहीं है। इस प्रकारका कथन प्रवचनका अवर्णवाद है।

एतेषामवर्णवादानामसंभवप्रदर्शनं । पुरुषत्वाद्रथ्यापुरुषवत् सर्वज्ञो वीतरागो वा न भवत्यर्हन् इति साधनमनुपपन्नं । असर्वज्ञतामवीतरागतां चान्तरेण पुरुषता नोपपद्यते इत्यन्यथानुपपत्तेरभावात् । जैमिन्यादयो न सकलवेदार्थज्ञा पुरुषत्वादविपालवत् इति शक्यं वक्तुम् । सर्वज्ञतावीतरागतासिद्धिरन्यत्र निरूपितेति नेह प्रतन्यते । दुःखप्रतिकारार्थेषु वस्तुषु मूढानां सुखसाधनव्यवहारः शरीरायासमात्रत्वान्न कामिनीसमागमसुखं । वैरूप्यनाशनैर्वस्त्रादिभिर्न कृत्यं सिद्धानां । अशरीराणां सकलदुःखापायरूपं सुखं अविकलमनंतज्ञानात्मकं तेष्ववस्थितं । श्रुतं निबंधनं तदधिगमे । शुभोपयोगनिमित्ततार्हदादीनामिव प्रतिबिंबानामिति न बुद्धयोत्प्रेक्षितव्या ॥४६॥

एवं दंसणमाराहंतो मरणे असंजदो जदि वि कोवि ॥
सुविसुद्धतिव्वलेस्सो परित्तसंसारिओ होई ॥४७॥

एवमित्यनया गाथया असंयतसम्यग्दृष्टेः सम्यक्त्वमाराधयतः फलमाचष्टे एवमिति पूर्वोक्तपरामर्शः । नैर्ग्रन्थ्यमेव मोक्षमार्गं प्रकृष्ट इति ।

'सद्दहया[1] पत्तियया रोचय फासंतया पवयणस्स ।
सयलस्स जेण एदे सम्मत्ताराहया होंति ॥'

श्रद्धानाः शंकादिकमपाकुर्वन्ति उपबृंहणादिभिः सम्यक्त्वस्य शुद्धिं वर्धयन्समीचीनं दर्शनविनयं

इन अवर्णवादोंको असम्भव दिखलाते हैं—

पुरुष होनेसे राह चलते पुरुषकी तरह अर्हन्त सर्वज्ञ वीतराग नही हैं । यहाँ पुरुष हेतु ठीक नही है क्योंकि असर्वज्ञता और अवीतरागताके विना पुरुष नही होता ऐसी अन्यथानुपपत्ति नहीं है । इस तरहसे यह भी कहा जा सकता है कि जैमिनि आदि समस्त वेदार्थके ज्ञाता नहीं हैं, पुरुष होनेसे, जैसे भेड़ चरानेवाला व्यक्ति । सर्वज्ञता और वीतरागताकी सिद्धि अन्य ग्रन्थोंमें कही है इसलिए यहाँ उसका विस्तार नहीं करते ।

जो वस्तु दुःखका प्रतीकार करनेके लिए है, अज्ञानी उन्हे सुखका साधन मान लेते हैं । स्त्री सम्भोग सुख नहीं है वह तो शारीरिक श्रममात्र है । तथा विरूपताको नष्ट करनेवाले वस्त्रोंसे सिद्धोंको क्या करना है ? वे तो शरीर रहित हैं उनमें समस्त दुःखोंका विनाशरूप अनन्तज्ञानात्मक सम्पूर्ण सुख है । इसके जाननेके लिए श्रुत वर्तमान है । तथा जैसे अर्हन्त शुभोपयोगमें निमित्त होते हैं उसी तरह उनके प्रतिबिम्ब भी होते हैं । इसलिए यह बौद्धिक कल्पनामात्र नहीं है ॥४६॥

गा०—इस प्रकार सम्यग्दर्शनकी आराधना करने वाला मरते समय यद्यपि कोई असंयत होता है किन्तु सुविशुद्ध तीव्र लेश्या वाला अल्प संसारी होता है ॥४७॥

टी०—'एवं' इत्यादि गाथाके द्वारा सम्यक्त्वकी आराधना करने वाले असंयत सम्यग्दृष्टिका फल कहते हैं । 'एवं' पद पूर्वोक्त कथनके लिये आया है कि निर्ग्रन्थता ही उत्कृष्ट मोक्ष मार्ग है ।

मनसे श्रद्धान करने वाले, यही उत्तम है ऐसा वचनसे प्रीति प्रकट करने वाले, सकेतादिसे रुचिको दर्शानेवाले और समस्त प्रवचनका अनुष्ठान करने वाले ये सब सम्यक्त्वके आराधक होते हैं ॥

अर्थात् जो श्रद्धान करते हुए शंका आदिको दूर करते हैं और उपबृंहण आदिसे सम्यक्त्वकी

---

१. टीकाकार्यं व्याख्यातृभिः सूत्रे पठिता गाथा यथा—मूलारा० ।

संपादयन् । 'दंसणं' श्रद्धानं । 'आराहंतो' निष्पादयन्'मरणे' भवपर्ययप्रच्युतिकाले । 'असंजदो अवि वि' यद्यप्यसंयतः । 'सुविसुद्धतिव्वलेस्सो' कषायानुरंजिता योगवृत्तिर्लेश्या, सा षोढा प्रविभक्ता कृष्णनीलकापोततेजःपद्मशुक्ललेश्याभेदेन । तत्राशुभलेश्यानिरासार्थं सुविशुद्धग्रहणं । तीव्रग्रहणं परिणामप्रकर्षोपादानाय । सुविशुद्धा तीव्रा लेश्या यस्य सुविशुद्धतीव्रलेश्यः । 'परित्तसंसारिओ' अल्पचतुर्गतिपरिवर्तः । 'होदि' भवति । अल्पसंसारता सम्यक्त्वाराधनायाः फलत्वेन दर्शिता ॥४७॥

तत्त्वश्रद्धानपरिणामः कतिभेदः किं फलं इत्यस्य प्रतिवचनमुत्तरप्रबंधः । तत्र भेदप्रतिपादनायाह—

तिविहा सम्मत्ताराहणा य उक्कस्समज्झिमजहण्णा ॥
उक्कस्साए सिज्झदि उक्कस्ससुक्कलेस्साए ॥४८॥

'तिविहा' त्रिविधा । 'सम्मत्ताराहणा' सम्यक्त्वाराधना । 'उक्कस्समज्झिमजहण्णा' उत्कृष्टमध्यमजघन्या चेति । तत्र 'उक्कस्साए' उत्कृष्ट्या सम्यक्त्वाराधनया । 'सिज्झइ' सिध्यति निर्वृतिमुपैति । उत्कृष्टशुक्ललेश्यासहितया ॥४८॥

सेसा य हुंति भवा सत्त मज्झिमाए य सुक्कलेस्साए ॥
संखेज्जाऽसंखेज्जा वा सेसा भवा जहण्णाए ॥४९॥

'सेसा' अवशिष्टाः । 'होंति' भवन्ति । किं 'भवा' मनुष्यत्वादिपर्यायाः । कति 'सत्त' सप्त । 'मज्झिमाए य' सम्यक्त्वाराधनया । 'सुक्कलेस्साए' शुक्ललेश्यया मध्यमया वर्तमानस्येत्युभाभ्यां मध्यमशब्दस्य

विशुद्धिको बढ़ाते हुए दर्शन विनय करते हैं वे सम्यक्त्वके आराधक हैं। मरण अर्थात् भवपर्यायके छूटनेके समय यद्यपि असंयत होता है किन्तु जो सम्यग्दर्शनको धारण किये होता है और सुविशुद्ध तीव्रलेश्या वाला होता है। कषायसे रंगी हुई मन वचन कायकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं। उसके कृष्ण, नील, कपोत, तेज, पद्म और शुक्लके भेदसे छह भेद हैं। उनमें अशुभ लेश्या का निराकरण करनेके लिये 'सुविशुद्ध' पद ग्रहण किया है। तथा परिणामोंका प्रकर्ष बतलानेके लिए तीव्र पद ग्रहण किया है। जिसके सुविशुद्ध तीव्र लेश्या होती है वह सुविशुद्ध तीव्र लेश्या वाला होता है। वह चतुर्गतिरूप परिवर्तमें अल्पकाल तक भ्रमण करता है। इस प्रकार सम्यक्त्वकी आराधना का फल अल्प संसार बतलाया है ॥४७॥

तत्त्वश्रद्धानरूप परिणामके कितने भेद हैं तथा उसका क्या फल है इसके उत्तरमें आगेका कथन करते हुए पहले भेद कहते हैं—

गा०—सम्यक्त्वकी आराधना तीन प्रकारकी है। उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। उत्कृष्ट शुक्ल लेश्या सहित, उत्कृष्ट सम्यक्त्व आराधनामें मोक्ष प्राप्त करता है ॥४८॥

टी०—सम्यक्त्व आराधनाके उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य ऐसे तीन भेद हैं। उत्कृष्ट शुक्ल लेश्याके साथ यदि उत्कृष्ट आराधना सम्यक्त्वकी हो तो उससे मोक्ष प्राप्त होता है ॥४८॥

गा०—और मध्यम शुक्ल लेश्याके साथ मध्यम सम्यक्त्वाराधनासे सात मनुष्य आदि पर्याय शेष होती है। जघन्य सम्यक्त्वाराधनासे संख्यात अथवा असंख्यात (भव) भव अवशेष रहते हैं ॥४९॥

टी०—गाथामें आये मध्यम शब्दका सम्बन्ध दोनोंमें लगाकर व्याख्यान करना चाहिये।

संखेज्जो व्याख्यातः । 'संखेज्जा' संख्याताः 'असंखेज्जा वा' असंख्याता वा 'सेसा' शेषा भवन्ति भवाः । 'जहण्णाए' जघन्यसम्यक्त्वाराधनया मृतिमुपेतस्य ।

उक्तास्तिस्र आराधनाः कस्य भवंति इत्यस्योत्तरमाह गाथया—

उक्कस्सा केवलिणो मज्झिमया सेससम्मदिट्ठीणं ।
अविरदसम्मादिट्ठिस्स संकिलिट्ठस्स हु जहण्णा ॥५०॥

उत्कृष्टा सम्यक्त्वाराधना भवति । कस्य, 'केवलिणो' केवलिनः । केवलमसहायं ज्ञानं । इंद्रियाणि, मनः, प्रकाशोपदेशादिकं चानपेक्ष्य वृत्तेः । प्रत्यक्षस्यावध्यादेः आत्मकारणत्वादसहायतास्तीति केवलत्वप्रसंगः स्यादिति चेन्न रूढेर्निराकृताशेषज्ञानावरणस्योपजायमान[1] एव बोधे केवलशब्दवृत्तेः । केवलिशब्दो यद्यपि सामान्येन केवलिद्वये प्रवृत्तस्तथापीह अयोगिकेवलिग्रहणं इतरस्यात्र मरणाभावात् ॥

उत्कृष्टता कथं सम्यक्त्वाराधनायां इति चेत् इह द्विविधं सम्यक्त्वं सरागसम्यक्त्वं वीतरागसम्यक्त्वं चेति । रागो द्विविधः प्रशस्तरागः अप्रशस्तराग इति । तत्र प्रशस्तरागो नाम पंचगुरुषु, प्रवचने च वर्तमानस्तद्-

---

अर्थात् मध्यम शुक्ल लेश्यामें वर्तमान मध्यम सम्यक्त्वाराधना वालेके सात भव शेष रहते हैं। और जघन्य सम्यक्त्वाराधनाके साथ मरने वालेके संख्यात अथवा असंख्यात भव शेष होते हैं ॥४९॥

विशेषार्थ—पं० आशाधरने अपनी टीकामें कहा है कि अन्य टीकाकार 'संखेज्जा-संखेज्जा भवाय' ऐसा पढ़कर 'भवाइच' में आये शब्दसे अनन्तका समुच्चय करते हैं किन्तु हम 'वा' शब्दसे करते हैं। परन्तु विजयोदयामें 'च' शब्द या वा शब्दसे अनन्तका ग्रहण नहीं किया है ॥४९॥

उक्त तीन आराधनाएँ किसके होती हैं इसका उत्तर आगेकी गाथासे कहते हैं—

गा०—उत्कृष्ट आराधना केवलीके होती है। मध्यम आराधना शेष सम्यग्दृष्टियोंके होती है। जघन्य आराधना संक्लेश परिणाम वाले अविरत सम्यग्दृष्टिके होती है ॥५०॥

टी०—उत्कृष्ट सम्यक्त्व आराधना केवलीके होती है। केवल अर्थात् असहाय ज्ञान; क्योंकि वह इन्द्रियां, मन, प्रकाश और उपदेश आदिकी अपेक्षाके बिना होता है।

शंका—प्रत्यक्ष अवधि आदि ज्ञान आत्मासे ही होते हैं। वे भी इन्द्रियादिकी सहायताकी अपेक्षा नहीं रखते, अतः उनके भी केवल ज्ञान होनेका प्रसंग आयेगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि रूढिवश जिसका सम्पूर्ण ज्ञानावरण नष्ट हो गया है उसीके उत्पन्न होने वाले ज्ञानमें केवल शब्दका व्यवहार होता है।

यद्यपि केवली शब्द सामान्यसे दोनों प्रकारके केवलियोंमें प्रवृत्त होता है तथापि यहाँ अयोग केवलीका ग्रहण किया है क्योंकि सयोग केवलीका मरण नहीं होता।

शंका—सम्यक्त्व आराधनाकी उत्कृष्टता कैसे होती है ?

समाधान—यहाँ सम्यक्त्वके दो भेद हैं—सरागसम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व। रागके दो भेद हैं—प्रशस्तराग और अप्रशस्त राग। उनमेंसे अर्हन्त सिद्ध आदि पाँच परमेष्ठियोंमें और

---

१. मानस्यैव बोधस्य आ० मु०।

गुणानुरागात्मकः । अप्रशस्तो रागो द्विविधः इंद्रियविषयेषु मनोज्ञेषु जायमानः । आप्ताभासेषु, तत्प्रणीते सिद्धांते, तन्निरूपिते मार्गे, तत्स्थेषु वा प्रवर्तमानः दृष्टिरागः इति । तत्र प्रशस्तरागसहितानां श्रद्धानं सरागसम्यग्दर्शनं । रागद्वयरहितानां क्षीणमोहावरणानां वीतरागसम्यग्दर्शनं । तस्याराधना उत्कृष्टा रागमलाभावात् अशेष-त्रिकालगोचरवस्तुयाथात्म्यग्राहिसकलज्ञानसहचारित्वाच्च ।

'मज्झिमगा' मध्यमिका सम्यक्त्वाराधना भवति । 'सेससम्मदिट्ठीणं' उपयुक्तेतरवचनः शेषशब्दः इति केवलिभ्यो येऽन्येऽसंयतसम्यग्दृष्ट्यादयस्ते परिगृह्यन्ते शेषशब्देन ।

तत्रापवादमाह—'अविरदसम्मादिट्ठिस्स' असंयतसम्यग्दृष्टेः । 'जहण्णा' जघन्या सम्यक्त्वाराधना भवति । किं सर्वस्य ? नेत्याह—'संकिलिट्ठस्स' संक्लिष्टस्य परीषहव्याकुलचेतसः इति यावत् ।

जघन्यसम्यक्त्वाराधनामाहात्म्यं कथयति—

संखेज्जमसंखेज्जगुणं वा संसारमणुसरित्तूणं ।
दुक्खक्खयं करेंति जे सम्मत्तेणणुमरंति ॥५१॥

'संखेज्जमसंखेज्जगुणं वा संसारमणुसरित्तूणं' परिभ्रम्य । 'दुक्खक्खयं' दुःखक्षयं । 'करेंति' कुर्वन्ति । के 'जे सम्मत्तेणणुमरंति' सम्यक्त्वेन सह मृतिमुपयान्ति । नन्वियं जघन्या सम्यक्त्वाराधना तस्याश्च प्रवृत्तस्य संसारकालो निरूपित एव । 'संखेज्जं वा असंखेज्जं वा सेसा जहण्णाए' इति तत्पुनरुक्तता स्यादिति । न,

---

प्रवचनमें, उनके गुणोंमें अनुराग रूप प्रशस्तराग है। अप्रशस्त रागके दो भेद हैं एक तो मनको प्रिय लगने वाले इन्द्रिय विषयोंमें होनेवाला और दूसरा, मिथ्या देवोंमे, उनके द्वारा कहे गये सिद्धान्तमें, उनके द्वारा कहे गये मार्गमें अथवा उस मार्गके अनुयायियोंमें प्रवर्तमान दृष्टिराग। उनमेंसे प्रशस्तराग सहित जीवोंका श्रद्धान सरागसम्यग्दर्शन है और दोनों प्रकारके रागसे रहित तथा जिनका मोह और आवरण क्षीण हो गया है उनका श्रद्धान वीतराग सम्यग्दर्शन है। उसकी आराधना उत्कृष्ट है। क्योंकि राग और मलका अभाव है तथा समस्त त्रिकालवर्ती पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करनेवाले सम्पूर्ण ज्ञानके साथ होता है।

शेष सम्यग्दृष्टियोंके मध्यम सम्यक्त्वाराधना होती है। यहाँ शेष शब्द जो कहे हैं उससे अन्यका वाचक है, अतः केवलीसे अन्य जो असंयत सम्यग्दृष्टि है वे शेष शब्दसे ग्रहण किये जाते हैं। उसमें अपवाद कहते हैं कि अविरत सम्यग्दृष्टिके जघन्य सम्यक्त्वाराधना होती है। क्या सभीके होती है। इसके उत्तरमें कहते है जो संक्लिष्ट है अर्थात् जिसका चित्त परीषहसे व्याकुल है उस अविरत सम्यग्दृष्टीके जघन्य सम्यक्त्वाराधना होती है ॥५०॥

जघन्य सम्यक्त्वाराधनाका माहात्म्य कहते हैं—

गा०—जो सम्यक्त्वके साथ मरते हैं वे असंख्यात अथवा असंख्यातगुणे संसारमें भ्रमण करके दुःखका क्षय करते हैं ॥५१॥

टी०—शंका—यह तो जघन्य सम्यक्त्वाराधना है। उसे जो करता है उसका संसार काल पहले कहा ही है कि जघन्य सम्यक्त्वाराधनावालेके सख्यात या असंख्यात भव शेष रहते हैं। अतः पुनरुक्तता दोष आता है ?

उक्तस्यार्थस्याविशेषेण भूयोऽभिधानं पुनरुक्तमिति, इह तु विशेषाभिधानमस्ति 'दुक्खक्खयं करेंतित्ति' ।

सम्यक्त्वकालमाहात्म्यनिवेदनाय गाथा—

लद्धूण य सम्मत्तं मुहुत्तकालमवि जे परिवडंति ।
तेसिमणंताणंता ण भवदि संसारवासद्धा ॥५२॥

'लद्धूण' लब्ध्वा । 'सम्मत्तं' तत्त्वश्रद्धानं । कियत्कालं ? 'मुहुत्तकालमवि' अंतर्मुहूर्तमात्रमपि । 'जे' ये 'परिवडंति' सम्यक्त्वात्प्रच्यवन्ति अनंतानुबंधिनामुदयात् । 'तेसिं' तेषां सम्यक्त्वात्प्रच्युत्य मिथ्यात्वं गतानां । 'संसारवासद्धा' संसारवसनकालोऽनंतो भवत्येवेति, तु शब्द एवकारार्थोऽत्र[1] संबंधनं नेयः । अनंतानंतग्रहणं कुर्वता अनंतकालपरिभ्रमणसद्भावसूचनं कृतम् ॥५२॥ इति बालमरणम् ॥

जे पुण सम्मत्ताओ पब्भट्ठा ते पमाददोसेण ।
भामन्ति दु भव्वा वि हु संसारमहण्णवे भीमे ॥५३॥

मिथ्यादृष्टेर्दर्शनस्याभावान्न तस्याराधकः स्यात् ज्ञानचारित्रयोः परिणत इति तयोराराधकः स्यादितीमां शंकामपाकर्तुमाह—

जो पुण मिच्छादिट्ठी दढचरित्तो अदढचरित्तो वा ॥
कालं करेज्ज ण हु सो कस्स हु आराहओ होदि ॥५४॥

समाधान—नहीं, जो बात पूर्वमें कही है उसे बिना किसी विशेषताके पुनः कहनेको पुनरुक्त कहते हैं । किन्तु यहाँ तो विशेष कथन है कि दुःखका क्षय करते हैं ॥५१॥

सम्यक्त्वका माहात्म्य कहनेके लिये गाथा कहते हैं—

गा०—जो अन्तर्मुहूर्त मात्र भी सम्यक्त्वको प्राप्त करके सम्यक्त्वसे गिर जाते हैं उनका संसारमें बसनेका काल अनन्तानन्त नहीं होता ॥५२॥

टी०—एक अन्तर्मुहूर्त कालके लिये भी जो तत्त्वश्रद्धान रूप सम्यक्त्वको प्राप्त करके अनन्तानुबन्धी कषायका उदय होनेसे सम्यक्त्वसे गिर जाते हैं । सम्यक्त्वसे गिरकर मिथ्यात्वमें आने वाले उन जीवोंका संसारमें बसनेका काल अनन्त ही होता है । 'अनन्तानन्तकाल नहीं होता' ऐसा कहनेसे अनन्तकाल तक भ्रमणके सद्भावकी सूचना की है ॥५२॥

गा०—पुनः जो सम्यक्त्वसे भ्रष्ट हो जाते है । वे प्रमादके दोषसे भव्य होते हुए भी भयंकर संसाररूपी समुद्रमें भ्रमण करते ही हैं ॥५३॥

विशेषार्थ—इस गाथापर विजयोदया टीका नही हैं । आशाधर जी ने भी इसकी टीका नहीं की है । अतः क्षेपक प्रतीत होती है । किन्तु प्रतियोंमें पाई जाती है । तथा गाथा ५२ की विजयोदया टीकामें 'तु शब्दो एवकारार्थोऽत्र संबंधनं नेयः' ऐसा वाक्य है जिसका अर्थ होता है कि यहाँ तु शब्दका अर्थ एवकार लेना । 'आ' प्रतिमें पाठ है—'तु शब्दो एवकारार्थो भामत्यनन्तरं नेयः ।' तु शब्दका अर्थ एवकार है और उसे 'भामंति' के अनन्तर लेना चाहिये । इस गाथा ५३ में 'भामंति दु' पाठ है । इसी दु या तु का अर्थ एवकार लेनेके लिये कहा है । अतः यह गाथा मूलकी होना संभव है ॥५३॥

मिथ्यादृष्टिके सम्यग्दर्शनका अभाव होनेसे वह उसका आराधक न होवे, किन्तु ज्ञान और

---

1. कारार्थो भामंत्यनन्तरं नेयः । —आ० ।

'जो पुण मिच्छदिट्ठी' यः पुनर्मिथ्यादृष्टिस्तत्त्वश्रद्धानरहितो। यः पुन'र्दढचारित्तो अदढचारित्तो वा' दृढचारित्रो वा अदृढचारित्रो वा। 'कालं करेज्ज' मृतिमुपेयात्। 'सो' सः। 'ण हु' नैव। 'कस्सइ' कस्यचिदपि। 'आराधगो' आराधको भवति। सम्यक्त्वमंतरेण सम्यग्ज्ञानसम्यक्चारित्रे न स्तः, इति रत्नत्रये कस्यचिदपि नाराधक इति ग्राह्यम्। अन्यथा मिथ्यादर्शनादीनामाराधक एवासौ इति कृत्वा न कस्यचिदपि इत्ययुक्तं स्यात् ॥५४॥

अथ को मिथ्यादृष्टिर्यो मिथ्यात्ववान्। अथ तदेव मिथ्यात्वं नाम किं कतिविधं इत्यत आह—

तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाण होइ अत्थाणं।
संसइयमभिग्गहियं अणभिग्गहियं च तं तिविहं ॥५५॥

'तं' तत्। 'मिच्छत्तं' मिथ्यात्वं। 'होदि' भवति। 'जं' यत् 'असद्दहणं' अश्रद्धानं। कस्य? 'तच्चाणं' 'अत्थाणं' तत्वार्थानामनंतद्रव्यपर्यायात्मकानां जीवादीनां। अर्थस्य तत्वविशेषणमनर्थकम्। अतत्वरूपस्याभावात् इति चेन्न मिथ्याज्ञानोपदर्शितस्य नित्यत्वक्षणिकत्वाद्यन्यतमधर्ममात्रात्मकस्यातत्त्वरूप-संभवात्। तस्य भावस्तत्वं तत्त्वशब्दो भाववचनः। भाववत्त्वमर्थशब्दो ब्रवीति। ततोऽनयोर्भिन्नाधिकरणभूतोः कथं समानाधिकरणतेति न दोषः। भावव्यतिरेकाद्भावस्य तत्त्वशब्दोऽर्थएव वर्तते इति। तथा च प्रयोगः—

चारित्र तो उसके है अतः वह उनका आराधक हो सकता है? इस शंकाको दूर करनेके लिए कहते हैं—

गा०—जो पुनः मिथ्यादृष्टि है वह दृढ़ चारित्र वाला अथवा अदृढ़ चारित्र वाला हो और मरण करे तो वह किसीका भी आराधक नहीं ही होता ॥५४॥

टी०—जो मिथ्यादृष्टि अर्थात् तत्त्वार्थश्रद्धानसे रहित है वह दृढ़ चारित्र वाला हो या अदृढ़ चारित्र वाला हो और मरण करे तो वह ज्ञान या चारित्रका भी आराधक नहीं होता; क्योंकि सम्यक्त्वके बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र नहीं होते। इसलिये रत्नत्रयमें से किसी का भी वह आराधक नहीं है ऐसा अर्थ लेना चाहिये। यदि ऐसा अर्थ नहीं लिया जाये तो मिथ्यादर्शन आदिका वह आराधक ही होनेसे 'किसीका भी आराधक नहीं' ऐसा कहना ठीक नहीं होगा ॥५४॥

जो मिथ्यात्ववान् है वही मिथ्यादृष्टी है। तब वह मिथ्यात्व क्या है और उसके कितने भेद हैं? यह कहते हैं—

गा०—जो तत्त्वार्थोंका अश्रद्धान है वह मिथ्यात्व है उसके तीन भेद हैं। संशयसे होनेवाला मिथ्यात्व, अभिगृहीत मिथ्यात्व और अनभिगृहीत मिथ्यात्व ॥५५॥

टी०—तत्त्वार्थ अर्थात् अनन्त द्रव्य पर्यायात्मक जीवादिका अश्रद्धान मिथ्यात्व है।

शंका—अर्थका तत्त्व विशेषण देना निरर्थक है क्योंकि अतत्त्वरूप अर्थका अभाव है?

समाधान—नहीं, क्योंकि मिथ्याज्ञानके द्वारा दिखलाये गये नित्यता क्षणिकता आदिमेंसे किसी एक धर्म वाला अतत्त्वरूप अर्थ संभव है।

शंका—तत्के भावको तत्त्व कहते हैं। तत्त्व शब्द भाव वाचक है और अर्थ शब्द भाववान् को कहता है। अतः ये दोनों भिन्न-भिन्न अधिकरण वाले हैं। इनका सामानाधिकरण्य कैसे हो सकता है?

समाधान—यह दोष नहीं है क्योंकि भाव भाववान्से अभिन्न होता है अतः तत्त्वशब्द

'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमिति'। अथवान्यथाधिकरणतैव। अर्थानां जीवादीनां यानि तत्त्वानि अविपरीतानि रूपाणि तेषामश्रद्धानं यत्तन्मिथ्यात्वं इति संबंधः क्रियते। 'संसयिदं' संशयितं किंचित्तत्त्वमिति। तत्त्वानवधारणात्मक संशयज्ञानसहचारि अश्रद्धानं संशयितं। न हि संदिहानस्य तत्त्वविषयं श्रद्धानमस्ति इदमित्थमेवेति, निश्चयप्रत्ययसहभावित्वात् श्रद्धानस्य। 'अभिग्गहिदं' परोपदेशाभिमुख्येन गृहीतं स्वीकृतं अश्रद्धानं अभिगृहीतमुच्यते। एतदुक्तं भवति। न संति जीवादीनि द्रव्याणि इति गृहाण संति जीवादीनि नित्यान्येवेति यदा परस्य वचनं श्रुत्वा जीवादीनां सत्त्वे अनेकांतात्मकत्वे चोपजातं अश्रद्धानं अरुचिर्मिथ्यात्वमिति। परोपदेशं विनापि मिथ्यात्वोदयादुपजायते यदश्रद्धानं तदनभिगृहीतं मिथ्यात्वं ॥५५॥

मिथ्यात्वदोषमाहात्म्यख्यापनायाह—

जे वि अहिंसादिगुणा मरणे मिच्छत्तकडुगिदा होंति ॥
ते तस्स कडुगदुद्धियगदं व दुद्धं हवे अफला ॥५६॥

'जे वि' हिंसा नाम प्रमादवतः प्राणेभ्यो वियोगकरणं प्राणिनस्ततो निवृत्तिरहिंसा। असदभिधानाद्विरतिः सत्यम्। अदत्तादानाद्विरतिरस्तेयं मैथुनाद्विरतिर्ब्रह्म[1]। ममेदं भावो मोहोदयजः परिग्रहः। ततो निवृत्तिरपरिग्रहता। एते अहिंसादयो गुणाः परिणामा धर्म इत्यर्थः।

ननु सहभुवो गुणा इति वचनात् चैतन्यामूर्तत्वादीनामेवात्मनः सहभुवां गुणता। हिंसादिभ्यो विरति-

---

अर्थमें रहता है। ऐसा प्रयोग भी देखा जाता है—जैसे तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। अथवा अन्य प्रकारसे भी अधिकरणता है—'अर्थ' अर्थात् जीवादिके, जो 'तत्त्व' अर्थात् अविपरीत रूप हैं उनका श्रद्धान न करना मिथ्यात्व है ऐसा सम्बन्ध किया जाता है।

तत्त्वका निर्णय न करने वाले संशय ज्ञानका सहचारी जो अश्रद्धान है वह संशयित मिथ्यात्व है। जो संदेहमें है उसके तत्त्वविषयक श्रद्धान नहीं है क्योंकि श्रद्धान 'यह ऐसा ही है' इस प्रकारके निश्चयात्मक ज्ञानके साथ ही रहता है। परोपदेशकी मुख्यतासे गृहीत अर्थात् स्वीकार किया गया अश्रद्धान अभिगृहीत कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि 'जीवादि द्रव्य नहीं हैं यह स्वीकार करो। या जीवादि हैं किन्तु नित्य ही हैं' इस प्रकार जब दूसरेके वचनको सुनकर जीवादिके अस्तित्वमें या उनके अनेकान्तात्मक होनेमें जो अश्रद्धान या अरुचि उत्पन्न हो वह अभिगृहीत मिथ्यात्व है और परोपदेशके बिना भी मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जो अश्रद्धान उत्पन्न होता है वह अनभिगृहीत मिथ्यात्व है॥५५॥

गा०—जो भी अहिंसा आदि गुण मरते समय मिथ्यात्वके द्वारा दूषित होते हैं, वे उस दूषित गुण वाले आत्माके कडुवी तूंबीमे रखे गये दूधकी तरह निष्फल होते हैं॥ ५६॥

टी०—प्रमादवानके द्वारा प्राणिके प्राणोंका वियोग करना हिंसा है। उस हिंसासे निवृत्तिको अहिंसा कहते हैं। असत् कहनेसे निवृत्तिको सत्य कहते हैं। बिना दी हुई वस्तुके ग्रहणसे विरतिको अचौर्य कहते हैं। मैथुन सेवनसे विरतिको ब्रह्मचर्य कहते हैं। मोहके उदयसे होने वाले 'यह मेरा है' इस प्रकारके भावको परिग्रह कहते हैं। उससे निवृत्तिको अपरिग्रह कहते हैं। ये अहिंसा आदि गुण अर्थात् अहिंसादि रूप परिणाम धर्म है।

शङ्का—जो द्रव्यके साथ होते हैं वे गुण हैं ऐसा वचन है। उसके अनुसार चैतन्य अमूर्तत्व

१. मंहसा–आ० मु०।

परिणामः पुनः कादाचित्कत्वात् मनुष्यत्वादिक्रोधादिवत्पर्याया, इति चेन्नतु गुणपर्ययवद्द्रव्यमित्यादावुभयोपादाने अर्थान्तरत्वेनोपदर्शनमेतद्यथा 'गोबलीवर्दम्' इत्युभयोरुपादाने पुनरुक्ततापरिहृतये स्त्रीगोशब्दवाच्या इति कथनमेकस्यैव गुणशब्दस्य ग्रहणे धर्ममात्रवचनता।

अहिंसादयश्च ते गुणाः अहिंसादिगुणा। 'मिच्छत्तकडुगिदा' मिथ्यात्वेन तत्त्वाश्रद्धानेन। कडुगिदा कटूकृताः कटुकता गताः। 'होंति' भवंति। कदा मरणे मरणकाले ते अफला भवंति। कस्य मिथ्यात्वकटूकृताहिंसादिगुणस्यात्मनः। किमिव ? दुद्धं क्षीरमिव। कीदृग्भूत ? 'कडुगतुंबियगदं' कटुकालाबूगतम् यथा अफल फलरहितं। पित्ताद्युपशमन प्रीतिरित्यादिक यत्फलं क्षीरस्य प्रतीत तेन फलेन अफलं जातम्। यथा क्षीरं भाजनदोषादेवं मिथ्यात्ववत्यात्मनि स्थिता अहिंसादिगुणा स्वसाध्येन फलेन न फलवंतः। पंचानुत्तरविमानवासित्वं लोकांतिकत्वमित्याद्यभ्युदयफलमिह गृहीतं। अहिंसादयो न स्वोचितफलातिशयदायिनः दुष्टभाजनस्थितत्वात् कटुकालाबुकगतपयोवदिति सूत्रार्थ. ॥५६॥

न केवल फलातिशयाकारित्वं अहिंसादिगुणाना, अपि तु मिथ्यात्वकटुकिते स्थिता दोषानपि कुर्वन्ति इत्याचष्टे—

जह भेसजं पि दोसं आवहइ विसेण संजुद संत ॥
तह मिच्छत्तविसजुदा गुणा वि दोसावहा होंति ॥५७॥

'यथा भेसजं पि' इति स्पष्टतया न व्याख्यायते। 'मिच्छत्तविसजुदा' मिथ्यात्वेन विषेण संबद्धाः

आदि जो आत्माके साथ रहते हैं वे ही गुण हैं। हिंसादिके त्याग रूप परिणाम तो कभी होते हैं, कभी नहीं होते। अत. मनुष्यत्वकी तरह या क्रोधादिकी तरह पर्याय हैं, गुण नहीं हैं ?

समाधान—'गुण पर्ययवान्‌को द्रव्य कहते हैं' इत्यादिमें गुण और पर्याय दोनोंका ग्रहण किया है। जैसे 'गोवलीवर्द' यहाँ गो और बलीवर्द दोनोंको ग्रहण करने पर पुनरुक्तता दोष आता है क्योंकि दोनों शब्दोंका अर्थ एक है। इस पुनरुक्तता दोषको हटानेके लिये 'गो' शब्द गायका वाचक है ऐसा कहा है। एक गुण शब्दका ग्रहण करने पर वह धर्ममात्रको कहता है अतः कोई दोष नहीं है। वे अहिंसादि गुण मरते समय यदि तत्त्वके अश्रद्धान रूप मिथ्यात्वसे दूषित होते हैं तो मिथ्यात्वसे दूषित अहिंसा आदि गुण वाले आत्माके कटुक तूम्बीमें रखे दूधकी तरह निष्फल होते हैं। दूधका फल चित्त आदिको शान्त करना प्रसिद्ध है। किन्तु भाजनमे दोष होनेसे वह दूध फल रहित होता है। इसी तरह मिथ्यात्ववान् आत्मामें रहने वाले अहिंसा आदि गुण अपना साध्य जो फल है उससे फलवान नही हैं। यहाँ पाँच अनुत्तर विमानका वासी देव होना या लौकान्तिकदेव होना इत्यादि अभ्युदयरूप फलका ग्रहण किया है। अतः कटुक तूम्बीमें रखे दूधकी तरह सदोष भाजनमें रहनेके कारण अहिंसा आदि अपने उचित फलातिशयको नही देते, यह गाथा सूत्रका अभिप्राय है ॥ ५६ ॥

अहिंसा आदि गुण केवल फलातिशयकारी ही नहीं हैं, बल्कि मिथ्यात्वसे कलुषित आत्मामें स्थित अहिंसादि दोष भी करते हैं, यह कहते हैं—

गा०—जैसे औषध भी विषसे सम्बद्ध होने पर दोष करती है। उसी प्रकार मिथ्यात्वरूपी विषसे सम्बद्ध अहिंसा आदि गुण भी दोषकारी होते हैं ॥ ५७ ॥

टी०—विष मिश्रित औषधकी तरह मिथ्यात्वरूपी विषसे सम्बद्ध अहिंसा आदि गुण भी

'गुणा वि' गुणा अपि अहिंसादयो गुणा अपि । 'दोसावहा' दोषावहाः संसारे चिरपरिभ्रमणदोषमावहन्तीत्यर्थः । अथवा मिथ्यादृष्टेर्गुणाः पापानुबंधि स्वल्पमिन्द्रियसुखं दत्त्वा बह्वारम्भपरिग्रहादिषु आसक्तं नरके पातयन्ति इति दोषावहाः । दृष्टान्तप्रदर्शनेन इष्टनिर्वृतिः । प्राप्तिश्च मिथ्यात्वमाहात्म्यान्न भवतीति प्रमाणेन दर्शयितुं गाथाद्वयमायातम् ॥५७॥

दिवसेण जोयणसयं पि गच्छमाणो सगिच्छिदं देसं ।
अण्णंतो गच्छंतो जह पुरिसो णेव पाउणदि ॥५८॥

इत्यनेन प्रकृष्टगमनसामर्थ्यात् भ्रमण[1]माख्यातम् । 'अण्णंतो गच्छंतो' इत्यनेन तन्मार्गाप्रवृत्तत्वात् इत्ययं हेत्वर्थो दर्शितः । तेन इष्टं देशं न प्राप्नोतीति साध्यधर्मो दृष्टान्तेनोपदर्शितः । 'सगिच्छदं देसं जह पुरिसो णेव पाउणदि इत्यनेन दृष्टान्त उपदर्शित. ॥५८॥

धणिदं पि संजमंतो मिच्छादिट्ठी तहा ण पावेई ।
इट्ठं णिव्वुइमग्गं उग्गेण तवेण जुत्तो वि ॥५९॥

'धणिदं' पि नितरामपि । 'संजमंतो' चारित्रे वर्तमानोऽपि । 'उग्गेण तवेण जुत्तोवि' उग्रेण तपसा युक्तोपि, नैव निर्वृतिं प्राप्नोति इत्यनेन साध्यधर्माख्यानम् । मिच्छादिट्ठी इत्यनेन साध्यधर्मि दर्शितम् । एवं प्रमाणरचना कार्या—

मिथ्यादृष्टिर्नैवेष्टं प्राप्नोति तन्मार्गावृत्तित्वात् । य स्वप्राप्यस्य मार्गे न प्रवर्तते न स तमभिमतं प्राप्नोति । यथा दक्षिणमथुरातः पाटलिपुत्रं प्राप्तुमिच्छुः दक्षिणां दिशं गच्छन्निति । 'णिव्वुदि' निवृति ।

दोषावह होते हैं अर्थात् ससारमें चिरकाल तक भ्रमणरूपी दोषको करनेवाले होते है । अथवा मिथ्यादृष्टिके गुण पापका बन्ध करानेवाले थोड़ेसे इन्द्रिय सुखको देकर बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहमें आसक्त उस जीवको नरकमें गिराते हैं यह दोष कारक है । दृष्टान्त द्वारा दिखलानेसे मिथ्यात्वके माहात्म्यसे इष्टकी उत्पत्ति और प्राप्ति नहीं होती, यह प्रमाण द्वारा बतलानेके लिए दो गाथाएँ आई हैं ।

गा०—जैसे एक दिनमे सौ योजन भी चलनेवाला यदि अन्य मार्गसे जाता है तो वह पुरुष अपने इच्छित देशको नहीं प्राप्त होता ॥५८॥

टी०—इससे चलनेकी उत्कृष्ट सामर्थ्य होनेसे ससार भ्रमण कहा है । अन्यत्र जानेवाला' इस पदसे 'अपने मार्गपर न चलनेसे' इस हेतु अर्थको दिखलाया है । अपने इच्छित देशमे न पहुचनेमें हेतु है उसका सही मार्गसे न चलना । इष्ट देशको प्राप्त नही होता' यह साध्य धर्म दृष्टान्त द्वारा बतलाया है । अर्थात् प्रतिदिन सौ योजन चलनेवाला मनुष्य अपने इष्ट स्थानको प्राप्त नहीं होता क्योंकि वह सही मार्गसे नही जाता ॥५८॥

गा०—उसी प्रकार अत्यन्त भी चारित्रका पालन करनेवाला उग्र तप करते हुए भी मिथ्यादृष्टि इष्ट प्रधान मोक्ष नहीं पाता ॥५९॥

टी०—मिथ्यादृष्टि इष्टको प्राप्त नहीं करता, क्योंकि इष्टके मार्गपर नहीं चलता । जो अपने इष्टकी प्राप्तिके मार्गपर नहीं चलता, वह अपने इष्टको प्राप्त नहीं करता । जैसे दक्षिण

---

१. बलमाख्यातं–अ० ।

'अर्थं' अमृतां। अथवा निर्वृतिस्तुष्टिर्यथा मनसो निर्वृतिर्मनस्तुष्टिरित्यर्थः। निर्वृतेमार्गमुपायं क्षायिकज्ञान-चारित्रात्मकम्। स्पष्टतया न प्रतिपदं व्याख्या कृता ॥५९॥

व्रतेन शीलेन तपसा वा युक्तोऽपि मिथ्यात्वदोषाच्चिरं संसारे परिभ्रमति इतरस्मिन्व्रतादिहीने किं वाच्यमिति वर्णयति—

जस्स पुण मिच्छदिट्ठिस्स णत्थि सीलं वदं गुणो चावि।
सो मरणे अप्पाणं किह ण कुणई दीहसंसारं ॥६०॥

स्वल्पापि मिथ्यात्वविषकणिका कुत्सितासु योनिषु उत्पादयति किमस्ति वाच्यं सर्वस्य जिनदृष्टस्या-श्रद्धाने इति गाथाया अर्थः ॥६०॥

एक्कं पि अक्खरं जो अरोचमाणो मरेज्ज जिणदिट्ठं॥
सो वि कुजोणिणिवुड्डो किं पुण सव्वं अरोचंतो ॥६१॥

एककमपीत्यस्य बालबालमरणप्रवृत्तस्य भव्यस्य संख्याता, असंख्याता, अनंता वा भवन्ति भवाः। अभव्यस्य तु अनंतानंताः। मिथ्यादर्शनदोषमाहात्म्यसूचनं संसारमहत्ताख्यापनेन क्रियतेऽनया गाथया ॥६१॥

संखेज्जासंखेज्जाणंता वा होंति बालबालम्मि॥
सेसा भव्वस्स भवा णंताणंता अभव्वस्स ॥६२॥

मथुरासे पाटलीपुत्र जानेका इच्छुक यदि दक्षिण दिशामें जाता है तो वह पाटलीपुत्र नही पहुँच सकता। उसी तरह मिथ्यादृष्टि भी प्रधानभूत मोक्षको नहीं प्राप्त करता; क्योंकि निर्वृति अर्थात् मोक्षका मार्ग या उपाय क्षायिकज्ञान और क्षायिकचारित्र है अथवा निर्वृत्तिका अर्थ तुष्टि है। जैसे मनकी निर्वृत्तिका अर्थ मनकी तुष्टि है। अर्थात् उसे अनन्तसुख प्राप्त नही होता। स्पष्टरूप-से प्रत्येक पदकी व्याख्या नहीं की है ॥५९॥

आगे कहते हैं कि जब व्रत, शील और तपसे युक्त होनेपर भी मिथ्यात्व दोषके कारण चिरकाल तक संसारमें भ्रमण करता है तब जो व्रतादिसे हीन है उसका तो कहना ही क्या है—

गा०—जिस मिथ्यादृष्टिके शील व्रत अथवा ज्ञानादि भी नहीं है वह मरनेपर कैसे अनन्त संसार नहीं करता है ॥६०॥

टी०—यदि मिथ्यात्वरूपी विषकी छोटी-सी भी कणिका कुत्सित योनियोंमें उत्पन्न कराती है तो जिन भगवान्‌के द्वारा देखे गये समस्त तत्त्वोंका श्रद्धान न होनेपर तो कहना ही क्या है ? ॥६०॥

गा०—जिन भगवान्‌के द्वारा देखा गया एक भी अक्षर जिसे रुचता नहीं है वह मरे तो वह भी कुयोनियोमें डूबता है, तब जिसे सब ही नहीं रुचता उसके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है ॥६१॥

टी०—बालबालमरणसे मरनेवाले भव्यके संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त भव होते हैं और अभव्यके तो अनन्तानन्त भव होते हैं। इस गाथासे संसारकी महत्ताका कथन करनेके द्वारा मिथ्यादर्शन दोषके माहात्म्यका सूचन किया है ॥६१॥

अनन्तानन्तं भवं संसेवन्ते वा दूरभव्याः ।

सप्तदशमरणविकल्पेषु पंचमरणान्यभिधास्यंते इति प्रतिज्ञातं । तत्र यत्पंडितमरणं तत्प्रायोपगमनमरणमिंगिनीमरणं भक्तप्रत्याख्यानमिति त्रिविकल्पं सूचितं । तत्र भक्तप्रत्याख्यानं प्राग्वर्णनीयमिति दर्शयति सूत्रकारः स्वयमेव सम्बन्धमुत्तरप्रबंधस्य—

पुव्वं ता वण्णेसिं भत्तपइण्णं पसत्थमरणेसु ॥
उस्सण्णं सा चेव हु सेसाणं वण्णणा पच्छा ॥६३॥

'पुव्वं' पूर्वं प्रथमं तावत् । 'वण्णेसिं' वर्णयिष्यामि । 'भत्तपइण्णं' भक्तप्रत्याख्यानम् । 'पसत्थमरणेसु' प्रशस्तमरणेषु व्याख्येयेषु निर्धारणलक्षणा चेयं सप्तमी । यथा—कृष्णा गोषु संपन्नक्षीरतमेति समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणं । प्रशस्तमरणसमुदायात् त्र्यवयविकात् भक्तप्रत्याख्यानं पृथग्व्यवस्थाप्यते । पूर्वव्याख्येयत्वेन एतत्कालप्रयोग्यत्वेन गुणेनेति मन्यते । उस्सण्णं नितरां बाहुल्येन यावदित्यर्थः । मरणं सा चैव भक्तप्रत्याख्यानमृतिरेव । साध्याहारत्वात्सर्वसूत्रपदानां । एतर्हि काले इति वाक्यशेषः कार्यः ।

संहननविशेषसमन्वितानां इतरमरणद्वयं । न च संहननविशेषाः । वज्रऋषभनाराचादयः अद्यत्वेऽस्मिन्क्षेत्रे संति गणिनां । 'सेसाणं' शेषयोः प्रायोपगमनस्य इंगिनीमरणस्य च । वण्णणा कथनं । 'पच्छा' इति शेषः ।

गा०—बाल-बाल मरणसे मरनेपर भव्य जीवके संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त भव शेष होते हैं। अभव्यके अनन्तानन्त भव होते हैं ॥६२॥

टी०—इस गाथाके साथ बाल-बालमरणका कथन समाप्त हुआ। मरणके सतरह भेदोंमेंसे यहाँ पाँच मरणका कथन करते हैं ऐसी प्रतिज्ञाकी थी। उनमेंसे जो पंडित मरण है उसके प्रायोपगमन मरण, इंगिनी मरण और भक्त प्रत्याख्यान ये तीन भेद सूचित किये थे। उनमेंसे प्रथम भक्त प्रत्याख्यानका वर्णन करनेकी सूचना ग्रन्थकार आगेकी गाथासे स्वयं करते हैं—

गा०—प्रशस्त मरणोंमे पहले भक्त प्रत्याख्यानको कहूँगा। क्योंकि वह भक्त प्रत्याख्यान ही बहुलायतसे प्रचलित है। शेष मरणोंका वर्णन पीछे करेंगे ॥६३॥

टी०—जिनका यहाँ व्याख्यान किया जाना है उन प्रशस्त मरणोमेंसे भक्त प्रत्याख्यानको पहले कहूँगा। यहाँ यह सप्तमी विभक्ति निर्धारण करनेके अर्थमें है, जैसे गौओंमें काली गाय बहुत अधिक दूध देती है। समुदायसे उसके एक देशको पृथक् करनेको निर्धारण कहते हैं। तीन भेद वाले प्रशस्त मरणके समुदायसे भक्त प्रत्याख्यानको पृथक् करते हैं। इस कालमें भक्त प्रत्याख्यान ही पालन करनेके योग्य है इस गुणके कारण उसका प्रथम कथन करना योग्य है। समस्त सूत्रपद अध्याहार सहित होते हैं इसलिये इस कालमें भक्त प्रत्याख्यान मरण ही 'उस्सण्ण' बाहुल्यसे प्रवर्तित है। शेष दो मरण विशेष सहननके धारकोंके होते है। और आजके समयमें गणियोंके वज्रऋषभनाराच आदि संहनन विशेष इस क्षेत्रमें नहीं होते। इसीसे शेष प्रायोपगमन और इंगिनीमरणका कथन पीछे करेंगे।

शंका—यदि आजके मनुष्योंमें उन मरणोंको करनेकी शक्ति नहीं है तो उनका कथन क्यों करते हैं ?

यदि ते वर्तयितुं इदानींतनानामसामर्थ्यं किं तदुपदेशेनेति चेत् तत्स्वरूपपरिज्ञानमस्तस्मयग्ज्ञानं । तच्च मुमुक्षूणामुपयोग्येवेति मन्यते ॥६३॥

कतिविकल्पं भक्तप्रत्याख्यानमित्यारेकायामाह—

दुविहं तु भत्तपच्चक्खाणं सविचारमध अविचारं ॥
सविचारमणागाढे मरणे सपरक्कमस्स हवे ॥६४॥

'दुविधं तु भत्तपच्चक्खाणं' द्विविधमेव भक्तप्रत्याख्यानं । 'सविचारमध अविचारं' इति । विचरणं नानागमनं विचार । विचारेण वर्तते इति सविचारं । एतदुक्तं भवति । वक्ष्यमाणार्हल्लिंगादिविकल्पेन सहितं भक्तप्रत्याख्यान इति । अविचार वक्ष्यमाणार्हादिनानाप्रकाररहितं । भवतु द्विविधं । सविचारभक्तप्रत्याख्यानं कस्य भवति इत्यस्योत्तरं । सविचारं भक्तप्रत्याख्यानं 'अणागाढे' सहसा अनुपस्थिते मरणे चिरकालभाविनि मरणे इति यावत् । 'सपरक्कमस्स' सह पराक्रमेण वर्तते इति सपराक्रमस्तस्य हवे भवेत् । पराक्रमः उत्साहः एतेनैव सहसोपस्थिते मरणे पराक्रमरहितस्य अविचारभक्तप्रत्याख्यानं भवतीति लभ्यते 'मतो' विचारभक्तप्रत्याख्यानं अस्य अस्मिन्काले इति सूत्रे नोक्तं ॥६४॥

तयोः कस्य भक्तप्रत्याख्यानस्य अनेन शास्त्रेण निरूपणेत्याशंकायां आह—

सविचारभत्तपच्चक्खाणस्सिणमो उवक्कमो होइ ।
तत्थ य सुत्तपदाइं चत्तालं होंति णेयाइं ॥६५॥

समाधान—उनके स्वरूपको जाननेसे सम्यग्ज्ञान होता है और वह मुमुक्षुओंके लिए उपयोगी ही है ॥६३॥

भक्त प्रत्याख्यानके भेद कहते हैं—

गा०—भक्त प्रत्याख्यान दो प्रकारका ही है। सविचार और अविचार। सविचार भक्त प्रत्याख्यान सहसा मरणके उपस्थित न होनेपर पराक्रम अर्थात् साहस और बलसे युक्त साधुके होता है ॥६४॥

टी०—भक्त प्रत्याख्यान मरणके दो भेद है सविचार और अविचार। विचरण या नाना गमनको विचार कहते हैं और विचारसे सहितको सविचार कहते हैं। इसका यह अभिप्राय है कि आगे कहे जाने वाले अर्हल्लिंग आदि भेद सहित भक्त प्रत्याख्यान सविचार है और उनसे रहित अविचार है। सविचार प्रत्याख्यान किसके होता है ? तो कहते हैं कि यदि मरण सहसा उपस्थित न हो, चिरकाल भावी हो तो पराक्रमसे उत्साहसे सहितके होता है। इसीसे वह भी प्राप्त होता है कि सहसा मरण उपस्थित होनेपर पराक्रमसे रहितके अविचार भक्त प्रत्याख्यान होता है। गाथामें अविचार भक्त प्रत्याख्यान इस कालमे इसके होता है, ऐसा नहीं कहा है ॥६४॥

उन दोनोंमेंसे किस भक्त प्रत्याख्यानका इस शास्त्रके द्वारा कथन किया जायेगा ? इस शंका का उत्तर देते हैं—

गा०—सविचार भक्त प्रत्याख्यानका यह उपक्रम अर्थात् प्रारम्भ होता है। और उस भक्त प्रत्याख्यानमें सूत्र और पद चालीस जानने योग्य हैं ॥६५॥

'सविचारभत्तपच्चक्खाणस्स' इति सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्य । 'इणमो' अयं । 'उवक्कमो' व्याख्यान-प्रारंभः । 'होदि' भवति । 'तत्थ य' तत्र च भक्तप्रत्याख्याने । 'सुत्तपदाइं'' सूत्रपदानि । सूतेऽर्थं सूचयतीति वा सूत्रं । सूत्राणि च तानि पदानि च सूत्रपदानि । 'चत्तालं'चत्वारिंशत् । 'हुंति' भवन्ति । 'णेयाइं'' ज्ञातव्यानि ॥६५॥

तानि सूत्रपदानि गाथाचतुष्टयनिबद्धानि—

अरिहे लिंगे सिक्खा विणय समाधी य अणियदविहारे ।
परिणामोवधिजहणा सिदी य तह भावणाओ य ॥६६॥

'अरिहे' अर्हः योग्यः । सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्यायं योग्योऽयं नेति प्रथमोऽधिकारः कर्तृव्यापारः । लिंगादयः कर्तृपुरःसरा भवंतीति प्रागेव लिंगशिक्षादिभ्यो योग्यकर्तृनिर्देशः सूत्रे कृतः अरिह इति । शिक्षादि-क्रियाया भक्तप्रत्याख्यानक्रियांगभूताया योग्यपरिकरमादर्शयितुं लिंगोपादानं कृतम् । कृतपरिकरो हि कर्ता क्रियासाधनायोद्योगं करोति लोके । तथा हि घटादिकरणे प्रवर्तमाना दृढबद्धकक्षाः कुलाला दृश्यंते । ज्ञानमंतरेण न विनयादयः कर्तुं शक्यन्ते इति तेभ्यः प्राङ् निर्देशमर्हति शिक्षा । यथावसरमितरक्रममादर्शयिष्यामः । लिंगशब्दश्चिह्नवाची । तथाहि वक्ष्यति । 'चिह्नं करणं' इति । 'सिक्खा' शिक्षा श्रुतस्य अध्ययनमिह शिक्षा-शब्देनोच्यते । तथा च वक्ष्यति—'जिणवयणं कलुसहरं अहो य रत्ती य पढिदव्वमिति' । विनयः मर्यादा । तथा हि—ज्ञानादिभावनाव्यवस्था हि ज्ञानादिविनयतया वक्ष्यते । समेकीभावे वर्तते तस्यां च प्रयोगः—संगतं

टी०—सविचार भक्त प्रत्याख्यानका व्याख्यान प्रारम्भ होता है उसमें चालीस सूत्रपद हैं ॥६५॥

उन सूत्रपदोंको चार गाथाओंसे कहते हैं—

गा०—अर्ह अर्थात् योग्य, लिंग अर्थात् चिह्न, शिक्षा अर्थात् शास्त्राध्ययन विनय और मनका एकाग्र करना, अनियत क्षेत्रमें विहार, परिणाम, परिग्रह त्याग और शुभ परिणामोंकी श्रेणिपर आरोहण तथा अभ्यास ॥६६॥

टी०—अर्हका अर्थ योग्य है । सविचार भक्त प्रत्याख्यानके यह योग्य हैं और यह योग्य नहीं है यह प्रथम अधिकार है जो कर्ताके व्यापारसे सम्बद्ध है । लिंग आदि कर्ताके होनेपर ही होते हैं इसलिये लिंग शिक्षा आदिसे पहले गाथामें 'अरिह' से योग्य कर्ताका निर्देश किया है । भक्त प्रत्याख्यान क्रियाके अंगभूत शिक्षा आदि क्रियाके योग्य परिकर दिखलानेके लिये लिंगका ग्रहण किया है । क्योंकि साधन सामग्री जुटा लेनेपर ही कर्ता लोकमें क्रियाको साधनाके लिये उद्योग करता है । घट आदि बनानेमें लगे कुम्भकार साधन सामग्री कर लेनेपर ही कमर बाँधकर तैयार देखे जाते हैं । ज्ञानके बिना विनय आदि नहीं किये जा सकते, इसलिये उनसे पहले शिक्षाका निर्देश योग्य है । अन्य क्रम अवसरके अनुसार कहेंगे ।

लिंग शब्द चिह्नवाची है । आगे कहेंगे 'चिह्नं करणं' । यहाँ शिक्षा शब्दसे श्रुतका अध्ययन कहा है । आगे कहेंगे—'जिन वचन कालिमाको दूर करता है उसे रात दिन पढ़ना चाहिये । विनयका अर्थ मर्यादा है । आगे ज्ञानादि भावनाकी व्यवस्था ज्ञानादिकी विनयके रूपमें कहेंगे ।

घृतमित्यत्र एकीभूतं तैलं एकीभूतं घृतमित्यर्थः। समाधानं मनसः एकताकरणं शुभोपयोगे शुद्धे वा। अनियतक्षेत्रवासः अनियतविहारः। तद्भावः परिणामः [त. सू. ५।४२] इति वचनात्तस्य जीवादेर्द्रव्यस्य क्रोधादिना दर्शनादिना वा भवनं परिणाम इति। यद्यपि सामान्येनोक्तं तथापि यतेः स्वेन कर्तव्यस्य कार्यस्यालोचनमिह परिणाम इति गृहीतम्। उपधिः परिग्रह.। तस्य 'जहणा' त्यागः। 'सिदी य' श्रितिः[1] श्रेणिः सोपानमिति यावत्। भावनाभ्यास तत्र असकृत्प्रवृत्तिः ॥६६॥

सल्लेहणा दिसा खामणा य अणुसिट्ठि परगणे चरिया।
मग्गण सुट्ठिय उवसंपया य पडिछा य पडिलेहा ॥६७॥

'सल्लेहणा' सम्यक्तनूकरणं। 'दिसा' परलोकदिगुपदर्शनपरः सूरिणा स्थापितः भवतां दिशं मोक्ष-[2]वर्तनीमयमुपदिशति य' सूरि' स दिशा इत्युच्यते। 'खामणा' क्षमाग्रहणं। 'अणुसिट्ठि' सूत्रानुसारेण शासनम्। 'परगणे' अन्यस्मिन्गणे 'चरिया' चर्या प्रवृत्तिः। 'मग्गण'मात्मनो रत्नत्रयविशुद्धिं समाधिमरणं वा संपादयितु क्षमस्य सूरेरन्वेषण। 'सुट्ठिदो' सुस्थितः परोपकरणे स्वप्रयोजने च सम्यक् स्थितः सुस्थितः आचार्यः। 'उवसंपया' आचार्यस्य ढौकन। 'पडिछा' परीक्षा। गणस्य, परिचारकस्य, आराधकस्य, उत्साह-शक्तेश्च आहारगताभिलाषं त्यक्तुमयं क्षमा नेति। 'पडिलेहा' आराधनाया व्याक्षेपेण विना सिद्धिर्भवति न

समका अर्थ एकीभाव है। जैसे 'संगत घृत' का अर्थ एकमेक हुआ घी है। समाधानका अर्थ है शुभोपयोग अथवा शुद्धोपयोगमे मनका एक रूप करना। अनियत विहारका अर्थ है अनियत क्षेत्रमें रहना। तत्वार्थ सूत्रमें 'तद्भाव' को परिणाम कहा है। अत. जीवादि द्रव्यके क्रोधादि या दर्शन आदि रूपसे होनेको परिणाम कहते हैं। यद्यपि सामान्य परिणाम गाथामें कहा है तथापि यहाँ साधुके द्वारा अपने कर्तव्यको आलोचनाको परिणाम शब्दसे ग्रहण किया है। उपधिका अर्थ परिग्रह है। उसका त्याग उपधिजहणाका अर्थ है। 'सिदी' या श्रितिका अर्थ श्रेणियां सोपान है। भावनाका अर्थ अभ्यास उसमें बार-बार प्रवृत्ति करना है ॥६६॥

गा०—सल्लेखना, दिशा, क्षमाग्रहण, शिक्षा ग्रहण, अन्य गणमें प्रवृत्ति, आचार्यकी खोज सुस्थित उपसपदा, परीक्षा, प्रतिलेखना ॥६७॥

टी०—कषाय और शरीरको सम्यक् रीतिसे कृश करना सल्लेखना है। आचार्य अपने स्थानपर जिसे स्थापित करते है कि यह आपको परलोकको दिशा दिखलाते हुए मोक्ष मार्गका उपदेश देगा वह आचार्य दिशा कहलाता है। क्षमा ग्रहण करनेको खामणा कहते हैं। शास्त्रानुसार शिक्षा देनेको अणुसिट्ठि कहते हैं। परगण अर्थात् दूसरे संघमें जानेका परगण चरिया कहते हैं। अपनी रत्नत्रय विशुद्धि अथवा समाधिमरण करानेमे समर्थ आचार्यके खोजनेका मार्गण कहते हैं। परका उपकार करनेमे और अपने प्रयोजनमें सम्यक् रूपसे स्थित आचार्यको सुस्थित कहते हैं। आचार्यके पास जानेको उपसंपदा कहते हैं। गण, परिचारक, आराधक और उत्साह शक्ति की और यह आराधक आहारकी अभिलाषा छोड़नेमें समर्थ है या नहीं इन सबकी परीक्षा करना

---

१ श्रितिः श्रेणि. निश्रेणिः मो. आ. मु०।
२. वर्तन्या अयमु०—अ०। वर्तन्याश्रयमु—मु०

वा राज्यस्य तस्य देशस्य ग्रामनगरादेस्तत्र प्रधानस्य वा शोभनं वा नेति एवं निरूपणम् ॥६७॥

आपुच्छा य पडिच्छणमेगस्सालोयणा य गुणदोसा ।
सेज्जा संथारो वि य णिज्जवग पयासणा हाणी ॥६८॥

'**आपुच्छा**' प्रतिप्रश्नः । किमयमस्माभिरनुगृहीतव्यो न वेति संघप्रश्नः । '**पडिच्छणमेगस्स**' प्रतिचारकैरम्यनुज्ञातस्यैकस्य संग्रह आराधकस्य । '**आलोयणा य**' स्वापराधनिवेदन गुरूणामालोचना । '**गुणदोसा**' तस्या गुणदोषाः । '**सेज्जा** शय्या वसतिरित्यर्थः । आराधकावासगृहमिति यावत् । **संथारो वि य**' संस्तरश्च । '**णिज्जावगा**' निर्यापका आराधकस्य समाधिसहायाः । **पयासणा** चरमाहारप्रकाशनम् । '**हाणी**' क्रमेणाहारत्यागः हानिः ॥६८॥

पच्चक्खाणं खामणं खमणं अणुसठ्ठिसारणाकवचे ॥
समदाज्झाणे लेस्सा फलं विजहणा य णेयाइं ॥ ६९ ॥

'**पच्चक्खाणं**' प्रत्याख्यानं त्रिविधाहारस्य । '**खामणं**' आचार्यादीनां क्षमाग्रहणं । '**खमणं**' स्वस्यान्यकृतापराधे क्षमा । '**अणुसट्ठि**' अनुशासनं शिक्षणं निर्यापकस्याचार्यस्य । '**सारणा**' दुःखाभिभवान्मोहमुपगतस्य निश्चेतनस्य चेतनाप्रवर्तना सारणा । '**कवचे**' यथा कवचस्य शरशतनिपातदुःखनिवारणक्षमता एवमाचार्येण

'पडिछा' है। आराधनाकी सिद्धि विना बाधाके होगी या नही, तथा राज्य, देश, ग्राम नगर आदि वहांका प्रधान ये सब आराधनाके योग्य हैं या नही, इस प्रकारके निरूपणको पडिलेहा कहते है ॥६७॥

गा०—पूछना एक क्षपकको स्वीकार करना, और आलोचना, आलोचनाके गुण दोष, शय्या अर्थात् वसति, और संस्तर, निर्यापक, अन्तिम आहारका प्रकाशन क्रमसे आहारका त्याग ॥६८॥

टी०—जब कोई आराधक समाधिमरणके लिये आवे तो आचार्यका संघसे पूछना कि हम इसे स्वीकार करें या नहीं आपृच्छा है। आराधकको सेवा करने वाले मुनियोंकी स्वीकृति मिलने पर एक आराधकको लेना 'एकका पडिच्छण है। गुरुके सामने अपने अपराधका निवेदन आलोचना है। आलोचनाके गुण और दोष 'गुणदोस' हैं। आराधकके रहनेका स्थान शय्या है उसे वसति भी कहते है संस्तरको संथार कहते हैं। आराधककी समाधिमे जो सहायक मुनि होते हैं उन्हे निर्यापक कहते हैं। आराधकके सामने अन्तिम आहारका प्रकाशन 'पगासणा' है। और क्रम से आहारके त्यागको हानि कहते हैं ॥६८॥

गा०—प्रत्याख्यान, क्षमा ग्रहण, दूसरोंके अपराधको क्षमा करना। शिक्षण, सारणा, कवच, समभाव, लेश्या, आराधनाका फल (य) और (विजहणा) शरीर त्याग ये अधिकार जानना ॥६९॥

टी०—तीनों प्रकारके आहारका त्याग करना प्रत्याख्यान है। आचार्य आदिसे क्षमा मांगना खामण है। दूसरेसे हुए अपराधको क्षमा करना खमण है। निर्यापकाचार्य जो शिक्षा देते हैं वह अनुशिष्टि है। दुःखसे पीड़ित होकर बेहोश हुए चेतना रहित आराधकको सचेत करना सारणा है। जैसे कवचमें सैकड़ों बाणोंके लगनेसे होनेवाले दुःखको दूर करनेकी सामर्थ्य है। वैसे ही

निर्यापकेन धर्मोपदेशश्चतुर्गतिपरिभ्रमणे दुःसहानि दुःखानि ननु कर्मपरवशतया भुक्तानि निष्फलानि । इदं पुनर्दुःखसहनं निर्जरार्थं प्रवर्त्यमानं सकलदुःखान्तं सुखमप्यतीन्द्रियमचलमनुपममव्याबाधात्मकं संपादयिष्यतीति क्रियमाणो दुःखनिवारणगुणसामान्यात् कवच शब्देनोच्यते । यथा शौर्यप्रचिख्यापयिषया माणवके सिंहशब्दः प्रयुज्यमानः शौर्यादिगुणाध्यासितं देवदत्तमवगमयति । 'समदा' समभाव जीवितमरणलाभालाभसंयोगविप्रयोगसुखदुःखादिषु रागद्वेषयोरकरणं । 'ज्झाणे' ध्यानं एकाग्रचितानिरोध । 'लेस्सा' लेश्या कषायानुरंजिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या । 'फलं' साध्यं परिप्राप्यं आराधनायाः । 'विजहणा' आराधकस्य शरीरत्याग. ।।६९।।

वाहिव्व दुप्पसज्झा जरा य सामण्णजोग्गहाणिकरी ॥
उवसग्गा वा देवियमाणुसतेरिच्छया जस्स ॥ ७० ॥

'वाहिव्व' । अत्र चैवं पदघटना । 'वाहिव्व दुप्पसज्झा सो अरिहो होइ भत्तपइण्णाए' इति । व्याधिर्वा दुःप्रसाध्यः क्लेशेन महता संयमप्रचयावहेन चिकित्स्य. यस्य विद्यते सोऽर्हो भक्तप्रत्याख्यान कर्तुं । जीर्यंति विनश्यंति रूपवयोबलप्रभृतयो गुणा यस्यामवस्थाया प्राणिन सा जरा । 'सामण्णजोग्गहाणिकरी' श्राम्यति तपस्यतीति श्रमण ; तस्य भावः श्रामण्यं । श्रमणशब्दस्य पुंसि प्रवृत्तिनिमित्त तपःक्रिया श्रामण्यं, तेन योगः संबंधः साध्यसाधनलक्षणस्तस्य हानिं विनाशं करोति या सा जरा यस्य सोऽर्हति भक्तप्रत्याख्यानं विधातुं ।

निर्यापकाचार्य जो धर्मोपदेश देते हैं—तूने चार गतियोंमें भ्रमण करते हुए दुःसह दुःख सहे और कर्मोंके अधीन होकर भोगे जिनसे कोई लाभ नही । किन्तु इस समयका दुःख सहन निर्जराके लिए हैं, सब दुःखोंका अन्त करनेवाला है और अतीन्द्रिय, अचल, अनुपम तथा बाधारहित सुखको भी देगा । इस प्रकार दुःखको दूर करनेके गुणकी समानतासे उसे कवच शब्दसे कहा है । जैसे शौर्यका बखान करनेकी इच्छासे बालकमे प्रयुक्त सिंह शब्द शौर्य आदि गुणोसे युक्त देवदत्तका बोध कराता है । वैसे ही यहाँ भी जानना ।

जीवन, मरण, लाभ, हानि, संयोग, वियोग, सुख दुःख आदिमें रागद्वेष न करना समता है । एक विषयमें चिन्ताके निरोधको ध्यान कहते हैं । कषायसे अनुरक्त मन-वचनकायकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं । आराधनाके द्वारा प्राप्त साध्यको फल कहते हैं । और अन्तमें आराधकके शरीर त्यागको विजहणा कहते हैं । इतने अधिकारोंसे भक्त प्रत्याख्यान मरणका कथन करेंगे ।।६९।।

उनमेंसे 'अर्ह' का कथन आगेकी गाथाके द्वारा करते हैं—

गा०—जिसके दुष्प्रसाध्य व्याधि हो, अथवा श्रामण्यके सम्बन्धको हानि पहुँचानेवाली वृद्धावस्था हो अथवा देवकृत मनुष्यकृत और तिर्यञ्चकृत उपसर्ग हो वह भक्त प्रत्याख्यान करनेके योग्य है ।।७०।।

टी०--दुःप्रसाध्य व्याधि हो, अर्थात् बड़े कष्टसे संयमके समूहका घात करके जिसका इलाज सम्भव हो वह भक्त प्रत्याख्यान करनेके योग्य होता है । जिस अवस्थामे प्राणीके रूप, वय, बल आदि गुण नष्ट हो जाते है उसे जरा कहते हैं । 'श्राम्यति' अर्थात् जो तपस्या करता है वह श्रमण है । श्रमणके भावको श्रामण्य कहते हैं । पुरुषमें श्रमण शब्दकी प्रवृत्तिमें निमित्त तपश्चरण श्रामण्य है । उससे योग अर्थात् साध्यसाधनरूप सम्बन्धकी हानि जो करती है अर्थात् जिसके होनेपर तपश्चरणकी साधना करना कठिन होता है वह वृद्धावस्था जिसके आ गई हो वह भक्त प्रत्याख्यान करनेके योग्य होता है । जिसका शारीरिक बल बुढ़ापेके कारण क्षीण हो

जरापसारितशरीरबलः शरीरबलसाध्येषु कायक्लेशेषु न वर्तितुमुत्सहते। अथवा सममणो 'समणो' समणस्स भावो सामण्णं। क्वचिदप्यननुगतरागद्वेषता समता सामण्णशब्देनोच्यते। वस्तुयाथात्म्यावहितचेतस्तया योगः संबंधो ध्यानयोग इति यावत्। वस्तुयाथात्म्यावबोधो निश्चलो यः स ध्यानमिष्यते। जरापरिप्लुतबोधस्य ध्यानं विनश्यति। ततो ध्यानयोगविनाशकारिणी जरा यस्य सोऽर्हति भक्तं त्यक्तुम्। अथवा सामण्णं समता, युज्यतेऽनेन निर्जरार्थिन इति योगः, तपः। योगशब्दस्तपसि कायक्लेशाख्ये रूढः सोऽत्र गृहीतः। 'आदावणादिजोगधारिणो अणगारा' इत्युक्तेः आतापनादितपोधारिणः इति प्रतीयते।

द्वंद्वे अल्पाच्तरत्वाद्योगशब्दस्य पूर्वनिपातप्रसंग इति चेत् न अभ्यर्हितत्वात्समतायाः सामण्ण इत्यस्य पूर्वनिपात इति मन्यते, पूर्वतोऽभ्यर्हितमिति वचनात्। न हि समताशून्यात्तपसो विपुला निर्जरा भवति। सत्यां तु समतायां निर्जरा भवति। ततस्तपसो निर्जराहेतुता समतापरवशेति प्रधानं समता।

उवसग्गा वा उपद्रवा वा 'देवियमाणुसतेरिच्छिया' देवैर्नरैस्तिर्यग्भिश्च प्रवर्तिता यस्य सोऽर्हति भक्तप्रत्याख्यानं इति संबंधः। चतुर्विधत्वादुपसर्गस्य [1]त्रैविध्योपदेशः कथमिति? अत्रोच्यते—उपसर्गा वा इति वा शब्दः समुच्चयार्थोऽसौ 'देवियमाणुसतेरिच्छिया वा इति संबंधनीयस्तेनाचेतनोपसर्गसमुच्चयः क्रियते ॥७०॥

जाता है वह शरीरमें रहते बलके द्वारा करने योग्य कायक्लेशोंमें प्रवृत्त होनेके लिए उत्साहित नहीं होता। अथवा जिसका मन सम है वह समण है। समणका भाव सामण्ण है। किसी भी वस्तुमें रागद्वेष न करनेरूप समता 'सामण्ण' शब्दसे कही जाती है। वस्तुके यथार्थस्वरूपमें चित्तका लगना, उसके साथ योग-सम्बन्ध अर्थात् ध्यान योग। वस्तुके यथार्थस्वरूपका जो ज्ञान निश्चल होता है उसे ध्यान कहते हैं। बुढ़ापेसे ज्ञानके व्याप्त हो जानेपर ध्यान नष्ट हो जाता है। अतः ध्यानयोगका विनाश करनेवाली जरा जिसके है वह भोजनका त्याग करनेके योग्य है। अथवा समताको सामण्ण कहते हैं। और निर्जराके इच्छुक जिससे युक्त होते हैं वह योग अर्थात् तप है। योग शब्द कायक्लेश नामक तपमें रूढ़ है। वही यहाँ योग शब्दसे लिया है, क्योंकि 'आदावणादि जोगधारिणो अणगारा' इस कथनसे 'आतपन आदि तपको धारण करनेवाले' ऐसा अर्थ प्रतीत होता है।

शंका—'योग' शब्द अल्प अच्वाला है। अत द्वन्द्व समासमें सामण्णसे पहले 'जोग' शब्द रखना चाहिए?

समाधान—नही, क्योंकि समता पूज्य है अतः सामण्णको पहले रखना उचित है क्योंकि जो पूज्य होता है उसे पहले स्थान दिया जाता है ऐसा शास्त्रका वचन है। समताशून्य तपसे बहुत निर्जरा नहीं होती। किन्तु समताके होनेपर होती है। अतः तप समताके परवश होकर निर्जरामें कारण होता है इसलिए समता प्रधान है।

अथवा देव, मनुष्य और तिर्यञ्चोंके द्वारा जिसपर उपसर्ग किया गया हो वह भक्त प्रत्याख्यानके योग्य होता है।

शंका—उपसर्ग तो चार प्रकारका होता है। यहाँ तीन प्रकारका क्यों कहा?

समाधान—'उपसर्गा वा' में 'वा' शब्दका अर्थ समुच्चय है। उससे अचेतनकृत उपसर्गका समुच्चय होता है ॥७०॥

---

१. विविधो—अ० मु०।

अणुलोमा वा सत्तू चारित्तविणासया हवे जस्स ॥
दुब्भिक्खे वा गाढे अडवीए विप्पणट्ठो वा ॥७१॥

'अणुलोमा वा' अनुकूला वा शत्रव । **'चारित्तविणासगा'** चारित्र पापक्रियानिवृत्ति. तस्य विनाशकाः । बंधवो हि स्नेहान्मिथ्यात्वदोषात् स्वपोषणलोभाद्वा यस्य चारित्रं विनाशयितुं उद्यता । अनुलोमत्वं शत्रुत्वविरोधि प्रातिकूल्ये समवस्थिता हि भवन्ति शत्रवस्तत्किमुच्यते **'अणुलोमा वा सत्तू'** इति ? प्रियवचनमात्रभाषणादनुलोमता । अहितेऽसंयमे प्रवर्तनाद्धितस्य सयमधनस्य विनाशनात् शत्रवो भवन्ति । अथवा अनुलोमा बंधवः सत्तू वा शत्रवश्चेति समुच्चयः वा शब्दसमुच्चयार्थत्वात् । **'देविगमाणुसतेरिच्छगा उवसग्गा जस्स'** इतिवचनात् अनुकूलशत्रुकृतोऽप्युपसर्ग संगृहीतः एव किमर्थं पुनरुच्यते **'अणुलोमा वा'** इति पुनरुक्तता । तत्र हि सूत्रे मनुष्योपसर्गो नाम बंधनताडनविलंबनादिकः शरीरोपद्रव. परकृतो गृहीतः । इह तु जिव्होत्पाटनादिकं कुर्मो यदि श्रामण्यं न त्यजसीति खलीकरण वक्तुमिष्टम् ।

'दुब्भिक्खे वा' दुर्भिक्षे वा । **'आगाढे'** दुरुत्तरे महति अशनिपातमिव सर्वजनगोचरे अर्हति प्रत्याख्यातु ।

'अडवीए' अटव्या महत्या व्यालमृगाकुलायां मार्गोपदेशिजनरहितायां दिङ्मूढ. पाषाणकंटकबहुलतया दुःप्रचाराया । **'विप्पणट्ठो वा'** विप्रनष्टो वा अर्हतीति संबंध ॥७१॥

गा०—अनुकूल बन्धु मित्र शत्रु हो जो चारित्रका विनाश करनेवाले हो। अथवा अनुकूल बन्धु और शत्रु जिसके चारित्रका विनाश करनेवाले हो। भयंकर दुर्भिक्ष हो अथवा भयंकर जंगलमें भटक गया हो तो भक्त प्रत्याख्यानके योग्य होता है ॥७१॥

टी०—अनुकूल ही शत्रु हो। पापक्रियासे निवृत्तिरूप चारित्रका विनाश करनेवाले हों। बन्धु स्नेहसे या मिथ्यात्व दोषसे या अपने भरण-पोषणके लोभसे जिसके चारित्रका विनाश करनेके लिए तत्पर हो वह भक्त प्रत्याख्यानके योग्य है।

शंका—अनुलोमता शत्रुताकी विरोधी है। जो प्रतिकूल होते हैं वे शत्रु होते हैं तब 'अणुलोमा वा सत्तु' कैसे कहा ?

समाधान—प्रियवचनमात्र बोलनेसे अनुलोमता है और असंयमरूप अहितमें प्रवृत्ति करानेसे तथा सयमधनरूप हितका विनाश करनेसे शत्रु होते हैं।

अथवा अनुलोम अर्थात् बन्धु और शत्रु इस प्रकार 'वा' शब्दको समुच्चयार्थक लेना चाहिए।

शंका—पहले कहा है कि जिसपर देवकृत मनुष्यकृत उपसर्ग हो, तो इससे अनुकूल कृत और शत्रुकृत उपसर्गका ग्रहणकर ही लिया है यहाँ पुन 'अणुलोमा वा सत्तु' क्यों कहा ? इससे पुनरुक्तता दोषका प्रसंग आता है।

समाधान—उक्त गाथामें मनुष्योपसर्गसे परके द्वारा किया गया बाँधना, मारना, रोकना आदि शारीरिक उपद्रव लिया गया है। और यहाँ 'यदि मुनिपद नही छोड़ता तो हम तेरी जीभ उखाड़ लेंगे' इस प्रकारकी शत्रुता ली गई है।

वज्रपातके समान भयंकर दुर्भिक्ष होनेपर भक्त प्रत्याख्यानके योग्य है। सर्प, मृग आदिसे भरे हुए भयंकर वनमे, जहाँ कोई रास्ता बतलानेवाला नही है, कंकर पत्थरोंके कारण चलना भी दुष्कर है, फँस जानेपर भक्त प्रत्याख्यानके योग्य होता है ॥७१॥

चक्खुं व दुब्बलं जस्स होज्ज सोदं व दुब्बलं जस्स ॥
जंघाबलपरिहीणो जो ण समत्थो विहरिदुं वा ॥७२॥

'चक्खुं व' चक्षुर्वा । चष्टेऽर्थान्दर्शयतीति चक्षुः । 'दुब्बलं' दुर्बलं अल्पशक्तिकं सूक्ष्मवस्तुदर्शनाक्षमं । 'जस्स' यस्य । 'होज्ज' भवेत् । 'सोदं' व श्रोत्रं वा श्रूयते शब्द उपलभ्यते येन तत् श्रोत्रम् । 'दुब्बलं' शब्दोपलब्धिजननसामर्थ्यविकलं । सोप्यर्हति । 'जंघाबलपरिहीणो' 'जो' य. । 'ण समत्थो' न शक्तो । 'विहरिदुं वा' गंतुं वा सोप्यर्हति ॥७२॥

अण्णम्मि चावि एदारिसंमि आगाढकारणे जादे ॥
अरिहो भत्तपइण्णाए होदि विरदो अविरदो वा ॥७३॥

'अण्णंमि चावि' अन्यस्मिन्नपि उक्तादस्मात् । 'आगाढकरणे' आगाढे कारणे 'जादे' जाते । 'एदारिसम्मि' उक्तकारणसदृशे । 'भत्तपविण्णाए' अरिहो होदि विरदो अविरदो वा इति पदघटना । भक्त प्रत्याख्यानस्यार्हो भवति विरतः अविरतो वा ॥७३॥

अनर्हसूचनायोत्तरगाथा—

उस्सरइ जस्स चिरमवि सुहेण सामण्णमणदिचारं वा ॥
णिज्जावया य सुलहा दुब्भिक्खभयं च जदि णत्थि ॥७४॥

'उस्सरदि' नितरां प्रवर्तते । 'जस्स' यस्य । 'चिरमवि' चिरकालमपि । किं 'सामण्णं' चारित्रं । 'सुहेण' अक्लेशेन । 'अणदिचारं वा' निरतिचार । चारित्रविनाशभयादेव अतीतेषु कारणेषु सत्सु प्रत्याख्यानायोद्योगं

गा०—जिसकी चक्षु दुर्बल हो अथवा जिसके श्रोत्र दुर्बल हों। जो जंघाबलसे हीन हो (वा) अथवा विहार करनेमें समर्थ न हो ॥७२॥

टी०—'चष्टे' अर्थोको जो दिखलाती है वह चक्षु है। 'श्रूयते' जिसके द्वारा शब्दको जाना जाता है वह श्रोत्र है। जिसकी चक्षु अल्पशक्तिवाली हो, सूक्ष्म वस्तुको न देख सकती हो। जिसकी कर्णेन्द्रिय दुर्बल हो, शब्दका ज्ञान करानेमें आशक्त हो, जिसमें जंघाबल न हो, जो विहार करनेमें अशक्त हो, वे सब भक्तप्रत्याख्यानके योग्य हैं ॥७२॥

गा०—उक्तकारणके समान अन्य भी प्रबल कारण उपस्थित होनेपर विरत अथवा अविरत भक्तप्रत्याख्यानके योग्य होता है ॥७३॥

टी०—उक्त कारणोंके समान अन्य भी ऐसे कारण हों तो मुनि हो या श्रावक हो वह भक्तप्रत्याख्यानके योग्य होता है ॥७३॥

जो भक्तप्रत्याख्यानके अयोग्य हैं उन्हें आगेकी गाथासे कहते है—

गा०—जिसका चारित्र चिरकाल भी विना किसी क्लेशके अतिचार रहित अच्छी तरह पालित हो रहा है। अथवा समाधिमरण करानेमें सहायक निर्यापक (सुलहा) सुलभ हैं। (च) और (जदि) यदि दुर्भिक्षका भय नहीं है ॥७४॥

टी०—पहले जो भक्तप्रत्याख्यान करनेके कारण कहे हैं उनके रहते हुए यह चारित्र विनाशके भयसे भक्तप्रत्याख्यानके लिए उद्योग करता है। किन्तु यदि चारित्र विना क्लेशके निरतिचार

करोति । तच्चेत्प्रवर्तते निरतिचारमक्लेशेन नैव भक्तप्रत्याख्यानमर्हति । इदानीमहं यदि न त्यागं कुर्यां निर्यापकाः पुनर्न लप्स्यन्ते सूरयस्तदभावे नाहं पंडितमरणमाराधयितुं शक्नोमि इति यदि भयमस्ति भक्तप्रत्याख्यानार्हं एव ॥७४॥

यदि च सुलभा निर्यापका अनागतदुर्भिक्षभयं च यदि न स्यान्न भवत्यर्हः इति कथयति—

तस्स ण कप्पदि भत्तपइण्णं अणुवट्ठिदे भये पुरदो ॥
सो मरणं पच्छिंतो होदि हु सामण्णणिव्विण्णो ॥७५॥

'तस्स' तस्य । 'ण' 'कप्पदि भत्तपइण्णं' न योग्यं प्रत्याख्यानं भक्तस्य । 'भये पुरदो अणुवट्ठिदे' भये पुरस्तादनुपस्थिते । 'सो' सः । निरतिचारश्रामण्य सुलभनिर्यापकः अनुपस्थितदुर्भिक्षभयः । 'मरणं' मृतिं । 'पेच्छंतो' प्रार्थयमान । हुशब्द एवकारार्थ. । एवमसौ संभावनीयः 'सामण्णणिव्विण्ण एव होदित्ति' श्रामण्यात्निर्विण्ण एव संभवतीति । ननु च अरिहेति अर्हं एव सूचितो नानर्हं., तत्किमर्थमसूत्रितव्याख्या क्रियते, सूत्रकारेण ? अर्हप्रसंगादायातमिति केचित् । अनर्हमपि लक्षणतया अनर्हत्वं सूचितं इति वा न दोषः । स्वपर[1]भावाभावोभयाधीनात्मलाभत्वात्सर्ववस्तूनां इति मन्यते ॥ अरिहोत्ति गदम् ॥७५॥

पलता है तो वह भक्तप्रत्याख्यानके योग्य नही है उसे भक्तप्रत्याख्यान मरण नहीं करना चाहिए। तथा यदि इस समय मैं भक्तप्रत्याख्यान नही करता तो फिर मुझे समाधिमरण करानेवाले निर्यापकाचार्य नहीं मिलेंगे। उनके अभावमें मैं पण्डितमरणकी आराधना नही कर सकता। ऐसा यदि भय है तो भक्तप्रत्याख्यानके योग्य ही है। अर्थात् यदि ऐसा भय न हो और आराधनामें सहायक उस कालमें और आगे भी सुलभ हों तो उक्त भयसे तत्काल भक्तप्रत्याख्यान करना योग्य नही है। इसी तरह यदि दुर्भिक्षका भय हो कि आगे धान्यका विनाश होनेसे भिक्षाके बिना मेरे चारित्रकी हानि होगी तो भक्तप्रत्याख्यान करना योग्य है, नही तो अयोग्य है ॥७४॥

यदि निर्यापक सुलभ हों और आगे दुर्भिक्षका भय न हो तो भक्तप्रत्याख्यान करना योग्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—

गा०—आगे भयके अनुपस्थित होते हुए उसका भक्तप्रत्याख्यान योग्य नहीं है। वह यदि मरणकी प्रार्थना करता है तो मुनिधर्मसे विरक्त ही होता है ॥७५॥

टी०—जिसका चारित्र निरतिचार पलता है, निर्यापक भी सुलभ हैं और दुर्भिक्षका भय भी नहीं है फिर भी यदि वह मरना चाहता है तो ऐसी सम्भावना होती है कि वह मुनिपदसे विरक्त हो गया है।

शंका—'अरिह' इस पदसे 'अर्हं' ही सूचित होता है 'अनर्हं' अयोग्य नहीं। तब ग्रन्थकारने सूत्र विरुद्ध व्याख्या क्यों की ?

समाधान—'अर्हं' के प्रसगसे 'अनर्हं' आया है ऐसा कोई कहते हैं अथवा लक्षणासे 'अर्हं' भी 'अनर्हं' को सूचित करता है इसलिए कोई दोष नहीं है। क्योंकि सब वस्तुएँ स्वका भाव और परका अभाव, दोनोंके होनेसे ही आत्म लाभ करती हैं ऐसा माना जाता है ॥७५॥

इस प्रकार 'अरिह' अधिकार समाप्त हुआ।

---

१. वो नया–आ० मु०।

भक्तप्रत्याख्यानार्हस्य तत्प्रत्याख्यानपरिकरभूतलिंगनिरूपणं उत्तराभिर्गाथाभिः क्रियते—

उस्सग्गियलिंगकदस्स लिंगमुस्सग्गियं तयं चेव ॥
अववादियलिंगस्स वि पसत्थमुवसग्गियं लिंगं ॥७६॥

उस्सग्गियलिंगकदस्स उत्कर्षेण सर्जनं त्यागः सकलपरिग्रहस्य उत्सर्गः। उत्सर्गे सकलग्रंथपरित्यागे भवं लिंगं औत्सर्गिकं किं करोति क्रियासामान्यवचनोऽत्र सृज्यर्थो ग्राह्यः **धातूनामनेकार्थत्वादिति** वचनात्। तेनायमर्थः औत्सर्गिकलिंगस्थितस्य भक्तप्रत्याख्यानाभिलाषवतः। **'तं चेव उस्सग्गियं लिंगं'** तदेव प्राक् गृहीतं लिंगं औत्सर्गिकम्। **'अववादियलिंगस्स वि'** यतीनामपवादकारणत्वात् परिग्रहोऽपवादः, अपवादो यस्य विद्यते इत्यपवादिकं परिग्रहसहितं लिंगं अस्येत्यपवादिकलिंगं भवति। वाक्यशेषं कृत्वा एवं पदसंबंधः कार्यः। **'जइ पसत्थलिंगं'** यदि प्रशस्तं शोभनं लिंग मेहन भवति। चर्मरहितत्व, अतिदीर्घत्व, स्थूलत्व, असकृदुत्थानशीलतेत्येवमादिदोषरहितं यदि भवेत्। पुंस्त्वलिंगता इह गृहीतेति बीजयोरपि लिंगशब्देन ग्रहणं। अतिलंबमानतादिदोषरहितता प्रशस्ततापि तयोर्गृहीता ॥७६॥

अप्रशस्तलिङ्गस्य औत्सर्गिकं लिंगं न भवत्येवंत्यस्यापवादमाह—

जस्स वि अव्वभिचारी दोसो तिट्ठाणिगो विहारम्मि ॥
सो वि हु संथारगदो गेण्हेज्जोस्सग्गियं लिंगं ॥७७॥

जो भक्तप्रत्याख्यान करनेके योग्य है उसके भक्तप्रत्याख्यानका परिकर जो लिंग है, उस लिंगका कथन आगेकी गाथाओंसे करते हैं—

गा०—जो औत्सर्गिक लिंगमें स्थित है उसका जो पूर्वगृहीत है वही औत्सर्गिक लिंग होता है। आपवादिक लिंगवालेका भी औत्सर्गिक लिंग होता है यदि उसका पुरुष चिह्न दोष रहित हो ॥७६॥

टी०—उत्कृष्टसे 'सर्जन' अर्थात् सकलपरिग्रहके त्यागको उत्सर्ग कहते हैं। 'उत्सर्ग' अर्थात् सकल परिग्रहके त्यागसे होनेवाले लिंगको औत्सर्गिक लिंग कहते हैं। यहाँ सृज् धातुका अर्थ क्रिया सामान्यवाची लेना चाहिए। क्योंकि ऐसा कहा है कि धातुओंके अनेक अर्थ होते हैं। तब ऐसा अर्थ होता है कि जो औत्सर्गिक लिंगमे स्थित है और भक्तप्रत्याख्यानकी अभिलाषा रखता है उसका वही लिंग रहता है जो उसने पूर्वमें ग्रहण किया है अर्थात् औत्सर्गिक लिंग ही रहता है। मुनियोंके अपवादका कारण होनेसे परिग्रहको अपवाद कहते हैं। जिसके अपवाद हो वह अपवादिक है अर्थात् परिग्रह सहित लिंगवाला आपवादिक लिंगी होता है। वह यदि भक्तप्रत्याख्यान करना चाहता है तो उसे परिग्रहको त्यागकर औत्सर्गिक लिंग धारण करना होता है। इस लिंग धारण करनेपर नग्न होना पड़ता है। किन्तु उसके सम्बन्धमें यह नियम है कि उसका लिंग-पुरुष चिह्न प्रशस्त होना चाहिए। लिंगका चर्मरहित होना, अतिदीर्घ होना, स्थूल होना, और बार-बार उत्तेजित होना ये दोष है। इन दोषोंसे रहित होनेपर ही औत्सर्गिक लिंग दिया जाता है। यहाँ लिंग शब्दसे पुरुष चिह्नका ग्रहण किया है। तथा उससे अण्डकोष भी ग्रहण होता है। वे भी अति लटकते हुए लम्बे नहीं होना चाहिए ॥७६॥

आगे 'अप्रशस्त लिंगवालेके औत्सर्गिक लिंग नहीं होता है, इस कथनका अपवाद कहते हैं—

'**जस्स वि**' यस्यापि । '**अव्वभिचारी**' अनिराकार्यो । '**दोसो**' दोषः । '**तिट्ठाणिगो**' स्थानत्रयगतः मेहने वृषणयोश्च भवः औषधादिनानपसार्यः । '**सोऽवि**' खु शब्द एवकारार्थः स च '**गेण्हेज्ज**' इत्यनेन संबंधनीयः । गृह्णीयादेव किं ? '**उस्सग्गियं लिंगं**' औत्सर्गिकं अचेलतालक्षणं । क्व '**विहारम्मि**' विहारे वसतौ, '**संथारगदो**' संस्तरारूढः संस्तरारोहणकाले । एवं संस्तरारूढस्यैव औत्सर्गिक नान्यत्रेत्याख्यातं भवति ॥७७॥

अपवादलिंगस्थानां प्रशस्तलिंगाना सर्वेषामेव किमौत्सर्गिकलिंगतेत्यस्यामारेकायां आह—

आवसधे वा अप्पाउग्गे जो वा महड्ढिओ हिरिमं ॥
मिच्छजणे सजणे वा तस्स होज्ज अववादियं लिंगं ॥ ७८ ॥

'**आवसधे वा**' निवासस्थाने । '**अप्पाउग्गे**' अप्रायोग्ये अविविक्ते । '**अपवादिकलिंगं**' हवदिति शेषः । '**जो वा महड्ढिगो**' महर्द्धिकः । '**हिरिमं**' ह्रीमान् लज्जावान् । तस्यापि '**होज्ज**' भवेत् अपवादिकं लिंगं । '**मिच्छे**' वा मिथ्यादृष्टौ । '**सजणे**' स्वजनो बंधुवर्गो । '**होज्ज**' भवेत् । अपवादिकलिंग सचेललिंगं ॥७८॥

पूर्वनिर्दिष्टोत्सर्गलिंगस्वरूपनिरूपणार्थोत्तरगाथा—

अच्चेलक्कं लोचो वोसट्ठसरीरदा य पडिलिहणं ॥
एसो हु लिंगकप्पो चदुव्विहो होदि उस्सग्गे ॥७९॥

गा०—जिसके भी लिंग और दोनों अण्डकोष इन तीन स्थानोंमें ऐसा दोष है जिसे औषध आदिसे भी दूर नहीं किया जा सकता। वह भी वसतिकामें सस्तरेपर आरूढ़ होनेपर औत्सर्गिक लिंगको अवश्य ग्रहण करे ॥७७॥

टी०—जिसके तीनों स्थानोंमें ऐसा दोष है जिसे चिकित्सासे भी नहीं दूर किया जा सकता। वह भी जब भक्त प्रत्याख्यान करता है तो उसे वसतिमें संथरे पर रहना होता है अतः उस समय उसे भी औत्सर्गिक लिंग ग्रहण करना आवश्यक है। इस प्रकार वह संस्तर पर आरूढ़ होते हुए भी औत्सर्गिक लिंगका पात्र होता है उससे पहले नही (क्योंकि सदोष लिंग वाला नग्नता का पात्र नहीं होता) ॥७७॥

क्या प्रशस्त लिंग वाले सभी अपवाद लिंगके धारकोंको औत्सर्गिक लिंग लेना आवश्यक है इस शङ्काका उत्तर देते हैं—

गा०—जो महान सम्पत्तिशाली है अथवा लज्जालु है अथवा जिसके स्वजन बन्धुवर्ग मिथ्यादृष्टि विधर्मी है। उसके लोगोंके आवागमनके कारण अयोग्य निवास स्थानमे आपवादिक लिंग होता है ॥ ७८ ॥

टी०—जो प्रतिष्ठित धन सम्पन्न है या जिन्हे सबके सामने लज्जा लगती है या जिनका परिवार विधर्मी है उन्हें सार्वजनिक स्थानमें नग्न लिंग नहीं देना चाहिये। सवस्त्र लिंग ही उनके योग्य है ॥ ७८ ॥

पहले कहे औत्सर्गिक लिंगका स्वरूप कहते हैं—

गा०—अचेलता, हाथसे केश उखाड़ना, शरीरसे ममत्व त्याग और प्रतिलेखन यह चार प्रकारका लिंगभेद औत्सर्गिक लिंगमें होता है ॥ ७९ ॥

अच्चेलक्कमिति । अचेलत्वं अचेलता । लोचो केशोत्पाटनं हस्तेन । वोसट्टसरीरदा च व्युत्सृष्टशरीरता च । पडिलिहणं प्रतिलेखनं । एसो हु एषः । लिंगकप्पो लिंगविकल्पः । चदुव्विहो चतुर्विधः भवति । उस्सग्गे औत्सर्गिकसंज्ञिते लिंगे ।

अतीताभिर्गाथाभिः पुरुषाणां भक्तप्रत्याख्यानाभिलाषिणां लिंगविकल्पोऽभिदृष्टनिश्चयः । अधुना स्त्रीणां तपस्विनीनां लिंगमुत्तरया गाथया निरूप्यते—

इत्थीवि य जं लिंगं दिट्ठं उस्सग्गियं व इदरं वा ॥
तं तत्थ होदि हु लिंगं परित्तमुवधिं करेंतीए ॥८०॥

'**इत्थीवि य**' स्त्रियोऽपि । '**जं लिंगं**' यल्लिंगं । '**दिट्ठं**' दृष्टं आगमेऽभिहितं । '**उस्सग्गियं व**' औत्सर्गिकं तपस्विनीनां । '**इदरं वा**' श्राविकाणां । '**तं**' तदेव । '**तत्थ**' भक्तप्रत्याख्याने । '**होदि**' भवति । लिंगं तपस्विनीनां प्राक्तनम् । इतरासां पुंसामिव योज्यम् । यदि महर्द्धिका लज्जावती मिथ्यादृष्टिस्वजना च तस्याः प्राक्तनं लिंगं विविक्ते त्वावसथे, उत्सर्गलिंगं वा सकलपरिग्रहत्यागरूपं । उत्सर्गलिंगं कथं निरूप्यते स्त्रीणामित्यत आह—'**तं**' तत् उत्सर्गं लिंगं । '**तत्थ**' स्त्रीणां '**होदि**' भवति । '**परित्तं**' अल्पं । '**उवधिं**' परिग्रहं । '**करेंतीए**' '**कुर्वंत्याः**' ।

टी०—अचेलक अर्थात् वस्त्रादिका अभाव, केश लोच, शरीरका संस्कार आदि न करना और पीछी यह चार औत्सर्गिक लिंगके प्रकार है। औत्सर्गिक लिंगमें ये चार बातें होना आवश्यक हैं ॥ ७९ ॥

पिछली गाथाओंसे भक्त प्रत्याख्यानके अभिलाषी पुरुषोंके लिंगका निश्चय किया। अब उसकी अभिलाषी स्त्रियोंका लिंग कहते हैं—

गा०—स्त्रियोंके भी जो लिंग औत्सर्गिक अथवा अन्य आगममें कहा है। वही लिंग अल्प परिग्रह करती हुईके भक्त प्रत्याख्यानमें होता है ॥ ८० ॥

टी०—स्त्रियोंके आगममें जो लिंग कहा है तपस्विनी स्त्रियोंके औत्सर्गिक और श्राविकाओं के आपवादिक। वही लिंग उनके भक्त प्रत्याख्यानमे भी होता है। अर्थात् तपस्विनी स्त्रियोंके औत्सर्गिक लिंग होता है और शेषके पुरुषोंकी तरह जानना। अर्थात् यदि स्त्री किसी ऐश्वर्यशाली परिवारसे सम्बद्ध है या लज्जाशील है अथवा उसके परिवार वाले विधर्मी हैं तो उसे एकान्त स्थानमें सकल परिग्रहके त्यागरूप उत्सर्ग लिंग दिया जा सकता है। प्रश्न होता है कि स्त्रियोंके उत्सर्ग लिंग कैसे सम्भव है? तो उसका उत्तर यह है कि परिग्रह अल्प कर देनेसे स्त्रीके उत्सर्ग लिंग होता है ॥ ८० ॥

विशेषार्थ—तपस्विनी स्त्रियाँ एक साड़ी मात्र परिग्रह रखती है किन्तु उसमें भी ममत्व त्यागनेसे उपचारसे निर्ग्रन्थताका व्यवहार होता है। किन्तु श्राविकाओंके उस प्रकारके ममत्वका त्याग न होनेसे उपचार से भी निर्ग्रन्थताका व्यवहार नहीं होता। भक्त प्रत्याख्यानमे तपस्विनियोंके अयोग्य स्थानमें तो पूर्व लिंग ही होता है। शेषके पुरुषोंकी तरह जानना। साराश यह है कि तपस्विनी स्त्री मृत्युके समय वस्त्र मात्रको भी छोड़ देती है। अन्य स्त्री यदि योग्य स्थान होता है तो वस्त्र त्याग करती है। यदि वह धन सम्पन्न, या लज्जाशील या मिथ्यादृष्टि परिवारसे सम्बद्ध

नन्वर्हस्य रत्नत्रयभावनाप्रकर्षेण मृतिरुपयुज्यते किममुना लिंगविकल्पोपादानेनेत्यस्योत्तरमाह—

जत्तासाघणचिह्नकरणं खु जगपच्चयादठिदिकरणं ॥
गिहभावविवेगो वि य लिंगग्गहणे गुणा होंति ॥ ८१ ॥

'जत्तासाधणचिह्नकरणं' यात्रा शरीरस्थितिहेतुभूता भुजिक्रिया। तस्याः साधनं यल्लिंगजातं चिन्ह-जातं तस्य करणं। न हि गृहस्थवेषेण स्थितो गुणीति सर्वजनताधिगम्यो भवति। अज्ञातगुणविशेषाश्च दानं न प्रयच्छति। ततो न स्याच्छरीरस्थितिः। असत्या तस्यां रत्नत्रयभावनाप्रकर्षः क्रमेणोपचीयमानो न स्यात्। विना तं न मुक्तिरित्यभिलषितकार्यसिद्धिरेव न स्यात्। गुणवत्तायाः सूचनं लिंगं भवति। ततो दानादिपरं-परया कार्यसिद्धिर्भवतीति भावः। अथवा यात्राशब्दो गतिवचनः। यथा देवदत्तस्य यात्राकालोऽयम्। गति-सामान्यवचनादप्ययं शिवगतावेव वर्तते, दारकं पश्यसीति यथा। यात्रायाः शिवगतेः साधनं रत्नत्रयं तस्य चिह्नकरणं ध्वजकरणं।

'जगपच्चयादठिदिकरणं' जगच्छब्दोऽन्यत्र चेतनाचेतनद्रव्यसंहृतिवचनो **'जगदेकावस्थं युगपदखिलानंत विषयम्'** इत्येवमादौ। इह प्राणिविशेषवृत्तिः। यथा—**'अर्हंतस्त्रिजगद्वन्द्याम्'** इति। प्रत्ययशब्दोऽनेकार्थः। क्वचिज्ज्ञाने वर्तते यथा 'घटस्य प्रत्ययो' घटज्ञान इति यावत्। तथा कारणवचनोऽपि 'मिथ्यात्वप्रत्ययोऽनंतः ससार' इति गदिते मिथ्यात्वहेतुक इति प्रतीयते। तथा श्रद्धावचनोऽपि 'अय अत्रास्य प्रत्यय' श्रद्धेति गम्यते। इहापि श्रद्धावृत्तिः। जगतः श्रद्धेति। ननु श्रद्धा प्राणिधर्मः अचेलतादिक शरीरधर्मो लिंगम्। तत्किमुच्यते 'लिंगं

है तो पुरुषोंकी तरह वस्त्र त्याग नही करती ॥८०॥

जो योग्य होता है उसके रत्नत्रयकी भावनाका प्रकर्ष होने पर मरण हो जाता है तब लिंग का कथन करनेकी क्या आवश्यकता है। इसका उत्तर देते हैं—

गा०—यात्राके साधन चिह्नका करना, जगतकी श्रद्धा, अपनेको स्थिर करना और गृह-स्थतासे भिन्नता, ये चार लिंग ग्रहण करनेमे गुण होते है ॥ ८१ ॥

टी०—यात्राका अर्थ है शरीरकी स्थितिमें कारण भोजन करना। उसका साधन जो लिंग है उसका करना लिंग धारण करनेका पहला गुण है; क्योंकि जो ग्रहस्थके वेषमे रहता है उसे सारी जनता गुणी नही मानती और उसके बिना भोजन नही मिलता। और ऐसी स्थितिमें इच्छित कार्यकी सिद्धि नही होती। अत लिंग गुणवत्ताका सूचक होता है। और उससे दान आदिकी परम्परासे कार्यकी सिद्धि होती है। अथवा यात्रा शब्द गतिवाचक है। जैसे देवदत्तका यह यात्रा-काल है। इस गति सामान्यका वाचक होनेपर भी यहाँ यात्रा शब्द मोक्ष गतिमे ही लिया गया है। अत यात्रा अर्थात् मुक्ति गतिका साधन जो रत्नत्रय है उसका चिह्नकरण अर्थात् ध्वजा फह-राने रूप लिंग होता है। अन्यत्र जगत शब्द चेतन और अचेतन द्रव्योंके समुदायका वाचक है। जैसे 'एक साथ अनन्त विषयोंको लिये हुए जगत एक अवस्था वाला नही है' इत्यादि वाक्यमें जगतका उक्त अर्थ लिया गया है। किन्तु यहाँ जगतका अर्थ प्राणि विशेष है। जैसे 'तीनों जगतके द्वारा वन्दनीय अर्हन्त' इस वाक्यमे जगतका अर्थ प्राणि विशेष है। प्रत्यय शब्दके अनेक अर्थ हैं। कहीं ज्ञानके अर्थमें है जैसे घटका प्रत्यय अर्थात् घटका ज्ञान। तथा प्रत्यय शब्द कारण वाचक भी है। जैसे अनन्त संसारका प्रत्यय मिथ्यात्व है' ऐसा कहने पर मिथ्यात्व हेतुक अनन्त संसार है ऐसा ज्ञान होता है। तथा प्रत्यय शब्द श्रद्धावाचक भी है। जैसे 'इसका इसमें प्रत्यय है', यहाँ

जगत्प्रत्यय' इति । सकलसंगपरिहारो मार्गो मुक्तेः इत्यत्र भव्यानां श्रद्धां जनयति लिंगमिति जगत्प्रत्यय इत्यभिहितं । न चेत्सकलपरिग्रहत्यागो मुक्तिलिंगं किमिति नियोगतोऽनुष्ठीयते इति ।

'आदट्ठिदिकरणं' आत्मनः स्वस्य अस्थिरस्य स्थिरतापादनं । क्व ? मुक्तिवर्त्मनि व्रजने । किं मम परित्यक्तवसनस्य रागेण, रोषेण, मानेन, मायया, लोभेन वा । वसनाग्रेसराः सर्वा लोकेऽलंक्रियाः तच्च निरस्तं । को मम रागस्यावसर इति । तथा परिग्रहो निबंधनं कोपस्य । तथा हि—पित्रा सुतो युध्यते धनार्थितया ममेदं भवति तवेदमिति । तत्किमनेन स्वजनवैरिणा रिक्थेन, [1]लोभं, मायां संपाद्य, दुर्गतिं च वर्द्धयता इति सकलः परित्यक्तो वसनपुरःसरः परिग्रहो रोषविजितये । हसंति च मा परे साधवो रोषमुपयातं । क्वेयमवसनता मुमुक्षोः क्वायमस्य कोपहुताशनः ज्ञानजलसेकपरिवृद्धतपोवनविनाशनबद्धविभ्रमः इति । तथा च माया धनार्थिभिः प्रयुज्यते सा च तिर्यग्गतिं प्रापयतीति भीत्वा मायोन्मूलनायैवेदमनुष्ठितं । 'गिहिभावविवेगोवि' य गृहित्वात्पृथग्भावो दर्शितो भवति ॥८१॥

गंथच्चाओ लाघवमप्पडिलिहणं च गदभयत्तं च ।
संसज्जणपरिहारो परिकम्मविवज्जणा चेव ॥८२॥

'गंथच्चागो' परिग्रहत्यागः । 'लाघवं' हृदयसमारोपितशैल इव भवति परिग्रहवान् । कथमिदमन्येभ्यश्चौरादिभ्यः पालयामि इति दुर्धरचित्तखेदविगमाल्लघुता भवति ।

प्रत्ययसे श्रद्धाका बोध होता है । यहाँ भी प्रत्ययका अर्थ श्रद्धा है । जगतकी श्रद्धा ।

शङ्का—श्रद्धा प्राणिका धर्म है । और अचेलता आदि लिंग शरीरका धर्म है । तब आप कैसे कहते हैं—लिंग जगत प्रत्यय है ?

समाधान—'समस्त परिग्रहका त्याग मुक्तिका मार्ग है' इसमें लिंग भव्यजीवोंकी श्रद्धा उत्पन्न करता है इसलिये लिंगको जगत प्रत्यय कहा है । यदि सकल परिग्रहका त्याग मुक्तिका लिंग न हो तो क्यों उसे नियमपूर्वक किया जायगा । 'आदठिदिकरण' का अर्थ है अपनी अस्थिर आत्माको स्थिर करना । किसमें ? मुक्तिके मार्गमें चलनेमें । जब मैंने वस्त्र ही त्याग दिया तो मुझे राग, रोष, मान, माया, लोभसे क्या प्रयोजन ? लोकमें सब अलंकरण वस्त्रमूलक होते हैं । वह मैंने त्याग दिया तो मुझे रागसे क्या प्रयोजन । तथा परिग्रह क्रोधका कारण है । देखो, धनकी अभिलाषासे पुत्र पितासे लड़ता है यह मेरा है यह तेरा है । तब अपने परिवारके वैरी इस धनसे क्या ? यह लोभ और मायाको उत्पन्न करके दुर्गतिको बढ़ाता है । इसीसे रोषको जीतनेके लिये मैंने वस्त्रपूर्वक सब परिग्रहका त्याग कर दिया । जब मुझे रोष होता है तो दूसरे साधु मुझपर हँसते हैं । कहाँ मुमुक्षुकी यह नग्नता और कहाँ क्रोधरूपी अग्नि । यह तो ज्ञानरूपी जलके सिंचनसे फले-फूले तपोवनको नष्ट करने वाला है । तथा धनके इच्छुक मायाचार करते हैं । वह तिर्यञ्च गतिमें ले जाता है इस भयसे मायाका उन्मूलन करनेके लिये ही मैंने यह लिंग धारण किया है । तथा लिंग ग्रहण करनेसे गृहस्थपनेसे भिन्नता दीखती है ॥ ८१ ॥

गा०—परिग्रहत्याग लाघव अप्रतिलेखन और भय रहितपना, सम्मूर्छन जीवोंका बचाव और परिकर्मका त्याग ये गुण लिंगमें होते हैं ॥८२॥

---

१. लोभं आयासं पापं दुर्गति—आ० मु० ।

'अप्पडिलिहणं' वसनसहितलिंगधारिणो हि वस्त्रखंडादिकं शोधनीयं महत् । इतरस्य पिच्छादिमात्रं ।

'परिकम्मविवज्जणा चेव' याचनसीवनशोषणप्रक्षालनादिरनेको हि व्यापारः स्वाध्यायध्यानविघ्नकारी अचेलस्य तन्न तथेति परिकर्मविर्जनं ।

'गवभयत्तं' भयरहितता । भयव्याकुलितचित्तस्य न हि रत्नत्रयघटनायामुद्योगो भवति । सवसनो यतिर्वस्त्रेषु यूकालिक्षादिसम्मूर्छनजजीवपरिहारं न विधातु अर्हः ।[१] अचेलस्तु तं परिहरतीत्यत्राह— 'संसज्जणं परिहारो' इति ।

'परिसहअधिवासणा चेव' । शीतोष्णदंशमशकादिपरीषहजयो युज्यते नग्नस्य । वसनाच्छादनवतो न शीतादिबाधा येन तत्सहनपरीषहजयः स्यात् । पूर्वोपात्तकर्मनिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः इति वचनान्निर्जरा-र्थिभिः परिषोढव्याः परीषहाः ॥८२॥

विस्सासकरं रूवं अणादरो विसयदेहसुक्खेसु ।
सव्वत्थ अप्पवसदा परिसह अधिवासणा चेव ॥८३॥

'विस्सासकरं रूवं' विश्वासकारि जनाना रूप अचेलतात्मक । एवं असंगा नैतेऽन्यद्गृह्णन्ति नापि परोपघातकारि शस्त्रग्रहणं प्रच्छन्नमात्र सभाव्यते । विरूपेषु चामीषु नास्मदीयाः स्त्रियो रागमनुबध्नंतीति विश्वास. ॥

टी०—लिंग ग्रहणका एक गुण परिग्रहका त्याग है । दूसरा गुण लाघव है क्योकि परिग्रह-वान ऐसा होता है मानो छाती पर पहाड रखा है । कैसे अन्य चौर आदिसे इस परिग्रहकी रक्षा करू इस प्रकार चित्तसे बडे भारी खेदके चले जानेसे लाघव होता है । जो वस्त्र सहित मुनि लिंग धारण करते है उन्हे वस्त्रों आदिका शोधन करना पड़ता है किन्तु वस्त्र रहित साधुको तो केवल पीछी आदिका ही शोधन करना होता है अतः अप्रतिलेखना भी एक गुण है । वस्त्रधारीको मागना, सीना, धोना, सुखाना आदि अनेक काम करना होते हैं जिनसे स्वाध्याय और ध्यानमे विघ्न होता है । किन्तु वस्त्र रहित साधुके ये सब नही होता अतः परिकर्मका न होना भी एक गुण है । जिसका चित्त भयसे व्याकुल रहता है वह रत्नत्रयके साधनमे उद्योग नही करता । अतः परिग्रहके त्यागसे भय नहीं रहता । तथा वस्त्र सहित साधु वस्त्रोंमे जूँ लीख आदि सम्मूर्छन जीवोका बचाव नही कर सकता । किन्तु वस्त्र रहित साधु इनसे बचा रहता है अतः संसज्जण परिहार भी एक गुण है । तथा नग्न मुनि शीत, उष्ण, डासमच्छर आदि की परीषहको जीतता है । जो वस्त्र ओढे हैं उसे शीतादिकी बाधा नही होती । तब उसको सहना रूप परीषहजय कैसे सभव है ? तत्त्वार्थ सूत्रमे कहा है कि पूर्वग्रहीत कर्मोंकी निर्जराके लिये परीषहोको सहना चाहिये ॥८२॥

गा०—वस्त्र रहित रूप जनतामे विश्वास पैदा करने वाला होता है विषयसे होने वाले शारीरिक सुखमें अनादर भाव होता है । सर्वत्र स्वाधीनता रहती है और परीषहको सहना होता है ॥८३॥

---

१. अर्हति आ० मु० ।

'**अणादरो विसयदेहसुक्खेसु**' विषयजनितेषु शरीरसुखेषु प्रेताकारस्य किं मम वामलोचनाविलोकितेन, तासां कलगीतश्रवणेन, ताभिर्जुगुप्सनीयशरीरस्य का वा रतिक्रीडेति भावना चैवानादरः। अथवा शरीरसुखे विषयसुखे चानादरः। विषयसुखव्यतिरेकेण न शरीरसुखं, नाम किंचिदिति चेद्—शारीरदुःखाभावः शरीरसुखं, इंद्रियविषयसन्निधानजनिता प्रीतिर्विषयसुखमिति महाननयोर्भेदः।

'**सव्वत्थ**' सर्वस्मिन्देशे। '**अप्पवसदा**' आत्मवशता। स्वेच्छया आस्ते, गच्छति; शेते वा। इहासनादिकरणे इदं मम विनश्यति नश्यतीति तदनुरोधकृता परतन्त्रता नास्ति संयतस्य। परिग्रहविनाशभीरुरात्मनोऽयोग्येऽपि स्थाने उद्गमादिदोषोपहते प्राणिसंयमविनाशकारिणि वा आसनस्थानशयनादिकं संपादयति। त्रसस्थावरबाधामावहता वर्त्मना वा व्रजति। एतद्दोषपरिहारोऽसंगस्य भवति ॥

'**परिसह अधियासणा चेव**' पूर्वोपात्तकर्मनिर्जरार्थिना यतिना सोढव्या परीषहा. नियोगेन क्षुधादयो बाधाविशेषाः द्वाविंशतिप्रकाराः। तत्रायं सामान्यवचनोऽपि परीषहशब्दः प्रकरणादचलास्यास्तदनुरूपपरीषहवृत्तिर्ग्राह्यः। तेन नाग्न्यशीतोष्णदंशमशकपरीषहसहनमिह कथितं भवति। सचेलस्य हि सप्रावरणस्य न तादृशी शीतोष्णदंशमशकजनिता पीडा यथा अचेलस्येति मन्यते ॥८३॥

अचेलताया गुणान्तरसूचनाय गाथा—

जिणपडिरूवं विरियायारो रागादिदोसपरिहरणं।
इच्चेवमादिबहुगा अच्चेलक्के गुणा होंति ॥८४॥

टी०—नग्न मुनिको देखकर लोग सोचते हैं—ये तो परिग्रह रहित है, ये कुछ ग्रहण नहीं करते। ये परका घात करने वाले शास्त्र आदि भी छिपाकर नही रख सकते। ये तो विरूप है इनमें हमारी स्त्रियाँ भी राग नही कर सकती। इस प्रकारका विश्वास पैदा होता है। मेरा रूप तो प्रेतके समान है मुझे स्त्रियोंको ताकने, और उनके मनोहर गीतोंको सुननेसे क्या प्रयोजन? अथवा इस ग्लानिभरे शरीरका उनके साथ कैसी रति क्रीडा। इस प्रकारकी भावना शारीरिक सुखमें अनादर है। अथवा शरीर सुख और विषय सुखमे अनादर ऐसा अर्थ भी होता है।

शङ्का—विषयसुखसे भिन्न शारीरिक सुख नही है?

समाधान—शारीरिक दुःखके अभावको शरीर सुख कहते हैं और इन्द्रियोंके विषयोंके सम्बन्धसे उत्पन्न हुई प्रीति विषय सुख है। इन दोनोंमें महान् अन्तर है।

सब देशमें आत्माधीनता रहती है। अपनी इच्छानुसार बैठता है, जाता है, सोता है। यहाँ आसन आदि करनेपर मेरा यह नुकसान होगा, इस प्रकार की परतंत्रता साधुके नहीं होती। परिग्रहके नाशके भयसे परिग्रही साधु उद्गम आदि दोषोंसे युक्त और प्राणिसंयमका विनाश करने वाले अयोग्य स्थानमें भी आसन, स्थान, शयन आदि करता है। अथवा त्रस और स्थावर जीवोंको बाधा पहुँचाने वाले मार्गसे गमन करता है। किन्तु परिग्रह रहित साधु इन दोषोंसे बचा रहता है। साधुको पूर्व संचित कर्मोंके निर्जराके लिये नियमसे भूख प्यासकी बाधा आदि रूप बाईस परीषहोंको सहना चाहिये। यहाँ यह परीषह शब्द यद्यपि सामान्यवाची है फिर भी प्रकरणवश अचेलताका प्रकरण होनेसे उसके अनुरूप परीषह ग्रहण करना चाहिये। अतः यहाँ नाग्न्य, शीत, उष्ण, और दंशमशक परीषहोंका सहन कहा है। जो साधु सवस्त्र है कपड़ा ओढ़े हुए हैं उन्हे शीत उष्ण और डासमच्छरसे होने वाली वैसी पीड़ा नहीं होती जैसी वस्त्र रहितको होती है ॥८३॥

'जिणपडिरूवं' जिनानां प्रतिबिंबं चेदं अचेललिंगं। ते हि मुमुक्षवो मुक्त्युपायज्ञा यद्गृहीतवन्तो लिंगं तदेव तदर्थिनां योग्यमित्यभिप्रायः। यो हि यदर्थी विवेकवान् नासौ तदनुपायमादत्ते यथा घटार्थी [1]तुरिवेमादी-न्मुक्त्यर्थी च यतिर्न चेलं गृह्णाति मुक्तेरनुपायत्वात्। यच्चात्मनोऽभिप्रेतस्योपायस्तन्नियोगत उपादत्ते यथा चक्रादिकं तथा यतिरपि अचेलता। तदुपायता च अचेलताया जिनाचरणादेव ज्ञानदर्शनयोरिव।

'विरियायारो' वीर्यांतरायक्षयोपशमजनितसामर्थ्यपरिणामो वीर्यं, तदविगूहनेन रत्नत्रयवृत्तिर्वीर्याचारः। स च पंचविधेष्वाचारेष्वेक. स च प्रवर्तितो भवति। अचेलतामुद्वहताऽशक्यचेलपरित्यागस्य कृतत्वात्। परिग्रहत्यागो हि पंचमं व्रतं तन्नाचरितं भवेत् शक्तोऽपि यदि न परिहरेत्।

'रागादिदोसपरिहरणं'। लाभे रागोऽलाभे कोपः। लब्धे ममेदंभावलक्षणो मोहः। अथवा मृदुत्वं दार्ढ्यमित्येवमादिषु वसनाच्छादनगुणेषु रागोऽमृदुस्पर्शनादिषु द्वेष इत्येषां परिहारः। 'इच्चेवमादि' इत्येव-मादयः 'बहुगा' महान्तः महाफलतया अचेलक्के अचेलतायां सत्यां 'गुणा होंति' गुणा भवन्ति। यांचादीनता रक्षा संक्लेशादिपरिहाराः आदिशब्देन गृहीताः ॥८४॥

अचेलताके अन्य गुणोंका सूचन करते हैं—

गा०—यह अचेलता जिन भगवानका प्रतिरूप है। वीर्याचारका प्रवर्तक है। रागादि दोषोंको दूर करती है। इत्यादि बहुतसे गुण अचेलतामें होते हैं ॥८४॥

टी०—जिण पडिरूव—यह अचेललिंग जिन देवोंका प्रतिबिम्ब है अर्थात् जिन देवोंने जो लिंग ग्रहण किया था मुक्तिके लिये वहीं लिंग मुक्तिके अभिलाषियोंके योग्य है। क्योंकि जिनदेव मुमुक्षु थे मुक्तिका उपाय जानते थे। जो जिस वस्तुका प्रार्थी होता है और विवेकशील होता है वह उस वस्तुके जो उपाय नहीं है उन्हें ग्रहण नहीं करता। जैसे घट बनानेका इच्छुक कपड़ा बुननेके साधन तुरि आदिको ग्रहण नहीं करता। इसी तरह मुक्तिका इच्छुक साधु वस्त्र ग्रहण नहीं करता क्योंकि। वस्त्र मुक्तिका उपाय नहीं है। और जो अपनेको इष्ट वस्तुका उपाय होता है उसे नियमसे ग्रहण करता है। जैसे घटका अर्थी चाक आदिको अवश्य ग्रहण करता है। उसी तरह साधु भी अचेलताको ग्रहण करता है और अचेलता ज्ञान और दर्शनकी तरह मुक्तिका उपाय है यह जिन भगवानके आचरणसे सिद्ध है। वीरियायारो—वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए सामर्थ्यरूप परिणामको वीर्य कहते है। उसको न छिपाते हुए रत्नत्रयके पालन करनेको वीर्याचार कहते हैं। पाँच प्रकारके आचारोंमेंसे एक वीर्याचार है उसका पालन होता है क्योंकि अचेलताके धारणसे जो वस्त्रत्याग अशक्य है वह हो जाता है। परिग्रहका त्याग पाँचवा व्रत है। शक्ति होते हुए भी यदि परिग्रहका त्याग न करे तो वह पाँचवाँ व्रत नहीं रहता।

रागदिदोस परिहरण—लाभमें राग होता है, लाभ न होने पर क्रोध आता है। जो प्राप्त होता है उसमें 'यह मेरा है' इस प्रकारका मोह होता है। अथवा ओढ़ने पहिरनेके वस्त्रोंके कोमलता मजबूती आदि गुणोंमें राग होता है और कठोर स्पर्शन आदिमें द्वेष होता है। वस्त्र त्याग देनेपर ये रागादि दोष नही होते। इस प्रकार अचेलतामें महाफलदायक महान गुण होते हैं। आदि शब्दसे मागना, दीनता, आदिसे रक्षा होती है और संक्लेश आदि नहीं होते ॥८४॥

---

१. तंतुरित्येवमा—आ० मु०।

पुनरप्यचेलतामाहात्म्यं सूचयत्युत्तरगाथा—

इय सव्वसमिदकरणो ठाणासणसयणगमणकिरियासु ।
णिगिणं गुत्तिमुवगदो पग्गहिददरं परक्कमदि ॥ ८५ ॥

'इय' एवं अवसनतया । 'सव्वसमिदकरणो' सम्यगितानि प्रवृत्तानि समितानि, क्रियते रूपाद्युपयोग एभिरिति करणानि इंद्रियाणि, समितानि च तानि करणानि च समितकरणानि, सर्वाणि च तानि समितकरणानि च सर्वसामंतकरणानि, सर्वसमितकरणान्यस्येति सर्वसमितकरण. । रागद्वेषरहिता भावेन्द्रियाणां प्रवृत्तिः समीचीना तस्याश्च अ ेलता निबंधनं । रागादिविजयाय गृहितासंयत्वात्कथमिव रागादौ प्रेक्षावान्यतते ॥८५॥

'ठाणासणसयणगमणकिरियासु' एकपादसमपादादिका स्थानक्रिया, उत्कटासनादिका आसनक्रिया, दंडायतशयनादिका शयनक्रिया । सूर्याभिमुखगमनादिका गमनक्रिया । एतासु । 'पग्गहिददरं' प्रगृहीततरं । 'परक्कमदि' चेष्टते । कः ? निगिणं नग्नतां । 'गुत्तिं' गुप्तिं । 'उवगदो' उपगतः प्रतिपन्नः । कृतवसनत्यागस्य शरीरे निःस्पृहस्य मम किं शरीरतर्पणेन तपसा निर्जरामेव कर्तु मुत्सहते इति तपसि यतते इति भाव ॥८५॥

अपवादलिंगमुपगत' किमु न शुद्धयत्येवेत्याशंकायां तस्यापि शुद्धिरनेन क्रमेण भवतीत्याचष्टे—

अववादियलिंगकदो विसयासत्तिं अगूहमाणो य ।
णिंदणगरहणजुत्तो सुज्झदि उवधिं परिहरंतो ॥ ८६ ॥

आगेकी गाथासे फिर भी अचेलताका माहात्म्य सूचित करते हैं—

गा०—इस प्रकार, नग्नता और गुप्तिको धारण करनेवाला सब इष्ट अनिष्ट विषयोंमें अपनी इन्द्रियोंको रागद्वेषसे रहित करता है। और स्थान, आसन, शयन, गमन आदि क्रियाओंमें प्रग्रहीततर अर्थात् सुदृढ़रूपसे चेष्टा करता है ॥८५॥

टी०—सव्वसमिदकरणानि-सम्यक्‌रूपसे 'इत' अर्थात् प्रवृत्तको समित कहते हैं। और जिनसे रूपादिका जानना देखना किया जाये उसे करण कहते है। करणका अर्थ इन्द्रिय है। जिसकी सब इन्द्रियां समित हैं वह सर्वसमितकरण है। भावेन्द्रियोंकी रागद्वेषसे रहित समीचीन प्रवृत्तिमें कारण अचेलता है। जिस विचारशील बुद्धिमान व्यक्तिने रागादिको जीतनेके लिए असगताको स्वीकार किया है वह रागादिमें कैसे यत्नशील हो सकता है।

एक पैरसे या दोनों पैरोको सम करके खड़े होना स्थान क्रिया है उत्कटासन आदि आसन क्रिया है। दण्डके समान एकदम सीधा सोना आदि शयन क्रिया है। सूर्यकी ओर अभिमुख होकर चलना गमन क्रिया है। जिसने वस्त्र त्याग दिया है और शरीरसे निस्पृह है वह 'मुझे शरीरके पोषणसे क्या' ऐसा विचारकर तपके द्वारा निर्जरा करनेमें ही उत्साहित होता है। यह उक्त कथनका भाव है ॥८५॥

अचेल समाप्त हुआ।

क्या अपवादलिंगका धारी शुद्ध नहीं ही होता ? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि उसकी शुद्धि भी इस क्रमसे होती है—

गा०—अपवादलिंगमें स्थित होते हुए भी अपनी शक्तिको न छिपाते हुए और निन्दा गर्हा करते हुए परिग्रहका त्याग करनेपर शुद्ध होता है ॥८६॥

'अववादियलिंगकदो वि' अपवादलिंगस्थोऽपि । करोति स्थानार्थवृत्तिरिह परिगृहीतः । तथा च प्रयोगः एवं च कृत्वा एवं च स्थित्वेत्यर्थः । **'सुज्झदि'** शुध्यति च । कर्ममलापायेन शुद्धयति । कीदृक् सन् यः स्वां **'सत्ति'** शक्ति । **'अगूहमाणो'** अगूहमानः सन् । **'उवधि'** परिग्रहं । **'परिहरंतो'** परित्यजन् योगत्रयेण । **'णिदणगरहणजुत्तो'** सकलपरिग्रहत्यागो मुक्तेर्मार्गो मया तु पातकेन वस्त्रपात्रादिकः परिग्रहः परीषहभीरुणा गृहीत इत्यंतःसंतापो निंदा । गर्हा परेषां एवं कथनं । ताभ्यां युक्तः निंदागर्हाक्रियापरिणतः इति यावत् । एवमचेलता व्यावर्णितगुणा मूलतया गृहीता ॥८६॥

केशलोचाकरणे के दोषा यान्परिहर्तु[1] लोचोऽनुष्ठीयते इत्यारेकाया दोषप्रतिपादनायोत्तरं गाथाद्वयम्—

केसा संसज्जंति हु णिप्पडिकारस्स दुपरिहारा य ।
सयणादिसु ते जीवा दिट्ठा आगंतुया य तहा ॥ ८७ ॥

'केसा' केशाः । **'संसज्जंति खु'** खुशब्द एवकारार्थः । यूकालिक्षोत्पत्तेराधारभावमुपव्रजन्त्येव कस्य केशाः ? **'णिप्पडियारस्स'** निष्क्रान्तः प्रतीकारात् निष्प्रतीकारः । प्रतीकारशब्दः सामान्यवचनोऽपि संसजनस्य प्रकृतत्वात् ससजनप्रतिकार एव वृत्तो गृह्यते । तैलाभ्यंगगंधादिप्रक्षेपजलप्रक्षालनादिक्रियामकुर्वत इत्यर्थः । ते च सम्मूर्छनामुपगताजीवा यूकादयः । **'दुःपरिहारा य'** दुःखेन परिह्रियन्ते । क्व ? **'सयणादिसु'** शयनं आतपगमनं, शिरसा कस्यचिदवष्टंभनं । निद्रामुद्रितलोचनस्य पतनं परवशस्य सतः आदिशब्देन गृह्यते । बाधा

टी०—'अववादियलिंगकदो' मे 'कद' जिस 'करोति' धातुसे बना है उसका अर्थ यहाँ स्थान लिया है । जैसे 'ऐसा करके' का अर्थ इस प्रकार स्थिर करके होता है । अतः अपवादलिंगमे स्थित भी कर्ममलको दूर करके शुद्ध होता है । किस प्रकार होता है ? अपनी शक्तिको न छिपाकर मन-वचनकायसे परिग्रहका त्याग करनेपर होता है । तथा, समस्त परिग्रहका त्याग मुक्तिका मार्ग है, मुझ पापीने परीषहसे डरकर वस्त्र पात्र आदि परिग्रह स्वीकार किया । इस प्रकारके अन्तःसन्तापको निन्दा कहते हैं । दूसरोसे ऐसा कहना गर्हा है । उनसे युक्त होनेपर अर्थात् अपनी निन्दा गर्हा करनेपर शुद्ध होता है । इस प्रकार जिस अचेलताके गुणोंका वर्णन ऊपर किया गया है उसे मूलरूपमे स्वीकार किया है ॥८६॥

केशलोच न करनेमें क्या दोष है जिन्हे दूर करनेके लिए लोच किया जाता है ? इस शङ्काके उत्तरमें दो गाथाओंसे दोषोंको कहते हैं—

गा०—प्रतीकार न करनेवालेके केश जूं आदि सम्मूर्छन जीवोंके आधार होते हैं । और वे सम्मूर्छन जीव शयन आदिमे दुष्परिहार होते हैं । तथा अन्यत्रसे आते हुए भी कीट आदि देखे गये हैं ॥८७॥

टी०—'संसज्जति खु' में खु शब्दका अर्थ एवकार है । अतः निष्प्रतीकारके केश जूं लीख आदिकी उत्पत्तिके आधार होते ही है । जो प्रतीकारसे रहित है वह निष्प्रतीकार है । यद्यपि प्रतीकार शब्द सामान्य प्रतीकारका वाचक है । फिर भी संसजनका प्रकरण होनेसे संसजन सम्बन्धी प्रतिकार लिया जाता है । उसका अर्थ होता है कि जो बालोंमें तेल मर्दन नहीं करता, सुगन्धित वस्तु नही लगाता, उन्हें पानीसे नहीं धोता उसके केशोंमें सम्मूर्छन जूं आदि उत्पन्न हो जाते हैं और साधुके सोनेपर, धूपमें जानेपर, सिरसे किसीके टकरानेपर उन जीवोंको बाधा

---

१. शय्योपगमनं आ० मु० ।

जीवेभ्यः कथंचिदन्यदेशकालस्वभावभेदात् । ततः बाधायां दुष्परिहारायां जीवा एव दुष्परिहारा एव भवंतीति मन्यते । अन्यथा हस्तेनापनेतुं शक्याः कथं दुष्परिहाराः स्युः । न केवलं तत्रोत्पन्ना एव दुष्परिहारास्तथा तेनैव प्रकारेण जीवाः 'आगंतुका य' अन्यत आगताश्च कीटादयश्च । एतेन हिंसादोष आख्यातः ॥८७॥

जूगाहि य लिक्खाहि य बाधिज्जंतस्स संकिलेसो य।
संघट्टिज्जंति य ते कंडुयणे तेण सो लोचो ॥ ८८ ॥

जूगाहि य यूकाभिश्च । लिक्खाहि य लिक्षाभिश्च । 'बाधिज्जंतस्स' बाध्यमानस्य यते' संकिलेसो य संक्लेशश्च जायते इति शेषः । स च क्लेशोऽशुभपरिणाम. पापास्रव. पूर्वोपात्तकर्मपुद्गलरसाभिवर्द्धननिपुणः । अथवा बाधिज्जंतस्स भक्ष्यमाणस्य संकिलेसो य दुःखं वा । तथा चोक्त—क्लिशू विबाधने इति । एतेनात्मविराधनादोषः सूचितः । अथ तद्भक्षणे असहमान' कंडूयति तत्र दोषमाह—'संघट्टिज्जंति य' संघट्यंते ते यूकादय' । आगंतुकाश्च 'कंडूयणे' कंडूकरणे । 'तेण' तेन दोषेण हेतुनासौ आगमदृष्ट. 'लोचो' लोच' क्रियते इति शेषः । प्रदक्षिणावर्त. केशश्मश्रुविषयः हस्तांगुलीभिरेव सपाक्षः द्वित्रिचतुर्मासगोचर ॥८८॥

एव लोचाकरणे दोषानुद्भाव्य लोचे गुणख्यापनाय गाथात्रयमुत्तरम्—

लोचकदे मुंडत्तं मुंडत्ते होइ णिव्वियारत्तं ।
तो णिव्वियारकरणो पग्गहिददरं परक्कमदि ॥८९॥

पहुँचती है । बाधाका मतलब है कि भिन्न देश, भिन्नकाल और भिन्न स्वभाव होनेसे जीवोंसे जीवोंको बाधा पहुँचती है । उस बाधाको दूर करना अशक्य जैसा है । जब बाधा ही दुष्परिहार है तो उन जीवोको दूर करना भी दुष्परिहार है, क्योंकि यदि बाधा पहुँचनेकी बात न होती तो उन्हे हाथसे निकाला जा सकता था । तथा जो जीव केशोमें उत्पन्न होते है वे ही दुष्परिहार नही है, अन्यत्रसे आकर भी कीटादि बालोंमे घुस जाते है उन्हे भी दूर करना कठिन होता है । इस तरहसे केशलोच न करनेमे हिंसादि दोष कहे है ॥८७॥

गा०—जुं से और लीखोंसे पीड़ित साधुके सक्लेश उत्पन्न होता है । खुजाने पर वे जू आदि पीड़ित होते हैं इस कारणसे वह केशलोच किया जाता है ॥ ८८ ॥

टी०—जू और लीख जब साधूको बाधा पहुँचाती है तो साधुको सक्लेश होता है । वह संक्लेश अशुभ परिणाम रूप होनेसे पापास्रवका कारण है । उससे पूर्वबद्ध कर्म पुद्‌गलोंके अनुभाग रसमें वृद्धि होती है । अथवा 'बाध्रिज्जंत'का अर्थ खाना या काटना है' उनके काटने पर यदि साधु खुजाता है तो वे जू आदि पीडित होते हैं इस दोषके कारण आगममे कहा लोच करते हैं । यह लोच सिर और दाढीके बालोंका हाथकी अँगुलियोंके द्वारा दो, तीन या चार मासमें प्रदक्षिणा के रूपमें अर्थात् दाहिनी ओरसे बायी ओर किया जाता है ॥ ८८ ॥

इस प्रकार लोचके न करनेमें दोष बतलाकर लोचमे गुणोका कथन तीन गाथाओं द्वारा करते हैं—

गा०—लोच करने पर सिर मुण्डा हो जाता है । मुण्डताके होने पर निर्विकारता होती है । उससे विकार रहित क्रियाशील होनेसे प्रगृहीततर चेष्टा करता है ॥ ८९ ॥

'**लोचकदो**' लोचे कृतः स्थितः लोचकृतः सप्तमीति योगविभागात्समासः। तस्मिन् लोचे कृते। **लोच-स्थिते** इति केचित्। अन्ये तु वदन्ति **लोचगदे** इति पठंतः लोचं गतः प्राप्तः लोचगतः तस्मिन्निति। **अथवा** कृतशब्दो भावसाधनः तत सल्लक्षणा सप्तमी लोच एव कृतं तस्मिन्। लोचक्रियायां सत्यां। '**मुंडत्वं**' मुंड-शिरस्कता नाम भवति। न मुंडशिरस्कता मुक्त्युपायो गुणोऽरत्नत्रयत्वादसत्याभिधानवत् ततिकमुक्तेनानेनानुप-योगिना गुणेनेत्याशंकायां आह—'**मुंडत्ते होदि णिव्वियारत्तं**' इति। '**मुंडत्ते**' मुंडनायां सत्यां। '**होदि**' भवति। '**णिव्वियारत्तं**' निर्विकारता। विकारो विक्रिया सलीलगमनशृंगारकथाकटाक्षेक्षणादिकः। तस्मान्निष्क्रान्तः तत्राप्रवृत्तः निर्विकारः तस्य भावः निर्विकारता। निर्विकारो भवति इति यावत्। '**तो**' ततः '**णिव्वियारकर-णो**' विकाररहितक्रिय.। '**पग्गहिदवरं**' प्रगृहीततरं। '**परक्कमदि**' चेष्टते करणत्रये इति शेषः। रत्नत्रययोगे परपरया लोचस्योपयोग समाख्यातोऽनया गाथया। नग्नस्य मुंडस्य मम सविभ्रमं गमनादिकं जनो दृष्ट्वा हसति, शोभते तरामियमस्य विलासिता षंढकस्य वामलोचनाविलास इवेति मन्यमानो निरस्तविकारो मुक्तये केवल घटते इत्यभिप्रायः ॥८९॥

अप्पा दमिदो लोएण होइ ण सुहे य संगमुवयादि।
साधीणदा य णिद्दोसदा य देहे य णिम्ममदा ॥९०॥

'**अप्पा**' आत्मा। '**दमिदो होदि**' वशीकृतो भवति। कस्य? आत्मन एव। केन करणेन? '**लोएण**' केशोत्पाटनेन। दुःखभावनया निगृहीतदर्पः सर्व एव शान्तो भवति यथा बलीवर्दादिरिति मन्यते।

टी०—लोचमें कृत अर्थात् स्थित लोचकृत है। दोनोंका योगविभाग करके सप्तमी समासमें अर्थ होता है—लोच करने पर। कोई 'लोचमें स्थित होने पर' ऐसा अर्थ करते हैं। अन्य 'लोय-गदे' ऐसा पाठ रखते हैं। वे अर्थ करते हैं लोचको प्राप्त होने पर। अथवा कृत शब्द भावसाधन है। तब सप्तमीका अर्थ सत् होता है अर्थात् लोच क्रिया होने पर। मुण्डित होता है—सिर मुंड जाता है।

शङ्का—सिर मुण्डन मुक्तिका उपाय नहीं है क्योंकि वह रत्नत्रय रूप नहीं है जैसे असत्य बोलना। तब इस अनुपयोगी गुणके कहनेसे क्या लाभ?

समाधान—इसके उत्तरमें कहते हैं कि मुण्डन होने पर निर्विकारता होती है। लीला सहित गमन, शृंगार कथा, कटाक्ष द्वारा निरीक्षण ये सब विकार है जो ये सब नहीं करता वह निर्वि-कार होता है। और जिसकी चेष्टाएँ विकार रहित होती हैं वह रत्नत्रयमें उद्योग करता है।

इस गाथासे परम्परासे लोचका उपयोग कहा है। मैं नग्न और मुण्डे सिर हूँ मेरा विलास-पूर्ण गमन आदि देखकर लोग हँसते हैं कि नपुंसकके स्त्री विलासकी तरह इसकी विलासिता कैसी शोभती है? ऐसा मान, विकारको दूरकर वह केवल मुक्तिके लिये प्रयत्न करता है, यह इस गाथा-का अभिप्राय है ॥ ८९ ॥

गा०—केशलोचसे आत्मा दमित होता है और सुखमें आसक्त नहीं होता है। और स्वाधीनता निर्दोषता और निर्ममत्व होता है ॥ ९० ॥

टी०—केश उपाड़नेसे आत्मा आत्माके वशमें होता है। जैसे बैल वगैरह दुःख देनेसे शान्त हो जाते हैं वैसे ही दुःख भावनासे मदका निग्रह होने पर सभी शान्त हो जाते हैं। सुखमें आसक्त

'सुहे य' सुखे च । 'संगं' आसक्ततां गोपयाति । सुखमेव सुखलंपटं करोति जनं । दुःखेऽन्तर्भाव्यमाने सुखासक्तिर्हन्यते[1] सुखोपयोगमूलत्वदभावात् । बीजाभावेऽङ्कुर इव । इन्द्रियसुखं वाऽत्र सुखशब्देनोच्यते तदासक्तो हिंसादिषु प्रवर्तते । तेन परिग्रहारंभमूलात्सुखासंगाद्व्यावृत्ति संवर एवेति मुक्तेर्भवत्युपायः । अभिनवास्रवनिरोधमंतरेण का नाम निर्जरा ? तस्यां चाऽसत्यां का मुक्तिरिति भावः ।

'साधीणदा य' स्ववशता च । केशासक्तो हि जनोऽवश्यं शिरोम्रक्षणे, सम्मर्दने; प्रक्षालने, तच्छोषणे च प्रयतते । स चायं व्यापारो विघ्नमावहति स्वाध्यायादेः ।

'णिद्दोसदा य' निर्दोषता च । या सदोषक्रिया सा न कार्या यथा स्तेयादिका । निर्दोषा त्वनुष्ठीयते यथानशनादिका । तथा चेयमदोषा लोचक्रिया ।

'देहे य' देहे च । 'णिम्ममदा' ममेदंबुद्धिरहितता । अनेन शौचाख्यो धर्मो भावितो भवतीत्युक्तं भवति । 'प्रकृष्टा लोभनिवृत्तिः शौचं शरीरलोभनिवृत्तिः शौचं । शरीरलोभनिवृत्ति सकललोभनिराक्रियाया मूलं । शरीरोपकृतये बन्धुधनादिष्वस्य लोभः । धर्मश्च संवरहेतुः, गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयैरिति वचनात् ॥९०॥

आणक्खिदा य लोचेण अप्पणो होदि धम्मसड्ढा य ।
उग्गो तवो य लोचो तहेव दुक्खस्स सहणं च ॥ ९१ ॥

'आणक्खिदा य होदि' आदर्शिता भवति । 'लोचेण' लोचेन । का ? 'धम्मसड्ढा' धर्मे चारित्रे

नहीं होता । सुख ही मनुष्यको सुखलम्पट बनाता है । अन्तरंगमें दुःखकी भावना भाने पर सुखकी आसक्ति कम होती है सुखकी आसक्तिका मूल है सुखका उपभोग । उसका अभाव होनेसे सुखकी आसक्ति नहीं होती । जैसे बीजके अभावमें अंकुर उत्पन्न नहीं होता । अथवा यहाँ सुख शब्दसे इन्द्रिय सुख लिया है । जो इन्द्रिय सुखमें आसक्त होता है वह हिंसा आदि करता है । अतः जो सुखासक्ति परिग्रह और आरम्भका मूल है उससे निवृत्त होना संवर ही है । अतः वह मुक्तिका उपाय है । नवीन कर्मोंका आना रुके बिना निर्जरा कैसी ? और उसके अभावमें मुक्ति कैसी ? यह अभिप्राय है । तथा केशलोचसे स्वाधीनता आती है क्योंकि जो मनुष्य केशोंसे अनुराग रखता है वह अवश्य सिरको साफ करने, उसकी मालिश करने धोने तथा सुखानेमें लगा रहता है और ये सब काम स्वाध्याय आदिमें विघ्न डालते हैं । तथा निर्दोषता होती है । जो क्रिया सदोष है वह नहीं करना चाहिए जैसे चोरी आदि । किन्तु निर्दोष क्रिया की जाती है जैसे उपवास वगैरह । उसी तरह लोच क्रिया भी निर्दोष है । शरीरमें 'यह मेरा है' ऐसी बुद्धि नहीं होती । इससे शौच धर्म पलता है यह कहा है । लोभसे अत्यन्त निवृत्तिको शौच कहते हैं । शरीरमें लोभकी निवृत्ति भी शौच है । शरीरमें लोभकी निवृत्ति सब प्रकारके लोभोंको दूर करनेका मूल है । शरीरके उपकारके लिए ही मनुष्य परिवार और धन आदिका लोभ करता है और शौच धर्म संवरका कारण है क्योंकि तत्त्वार्थ सूत्रमें गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषह जयसे संवर कहा है ॥९०॥

गा०—और केशलोच करनेसे आत्माकी धर्ममें श्रद्धा प्रदर्शित होती है । उसी प्रकार लोच उग्र तप है और दुःखका सहन है ॥ ९१ ॥

टी०—लोच करनेसे आत्माकी धर्म अर्थात् चारित्रमें श्रद्धा प्रदर्शित होती है । अर्थात्

---

१. निर्हन्यते—आ० मु० ।

श्रद्धा । कस्य ? **'अप्पणो'** आत्मन. । महती धर्मस्य श्रद्धाऽन्यथा कथमिदं दु सहं क्लेशमारभते इति । आत्मनो धर्मश्रद्धाप्रकाशनेन परस्यापि धर्मश्रद्धाजननोपबृंहण कृतं भवति । सोऽयमुपबृंहणाख्यो गुणो भावितो भवति । **'उग्गो तवो य'** उग्रं च तपः कायक्लेशाख्य दु खातराणि च सहते ।। **'लोचः तथैव'** व्यावर्णितगुणश्च । **'दुक्खस्स'** दुःखस्य **'सहणं च'** सहन च दु.ख भावयन् दु.खान्तराणि च सहते । दु.खसहनान्निर्जरा भवत्यशुभकर्मणां ।।९१।। लोचोत्ति गदं ।।

व्युत्सृष्टशरीरताभिधानायोत्तरः प्रबंध —

सिण्हाणब्भंगुव्वट्टणाणि णहकेसमंसुसंठप्पं ।
दंतोट्ठकण्णमुहणासियच्छिभमुहाइंसंठप्पं ।। ९२ ।।

सिण्हाणब्भंगुव्वट्टणाणि वज्जेंति ति पदघटना स्नानाभ्यजनोद्वर्तनानि ।। **णहकेसमंसुसंठप्पं** नखकेशश्मश्रुसंस्कारं च वर्जयन्ति । अन्तरेणापि चशब्द समुच्चयार्थप्रतीति **'पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मनः इति द्रव्याणि'** इत्यत्र यथा ।। **दन्तोट्ठकण्णमुहणासियच्छिभमुहादि संठप्पं वज्जेंति** ति पदरचना ।। दंतानामोष्ठ्यो., कर्णयोर्मुखस्य, नासिकाया, अक्ष्णोर्भ्रुवोरादिग्रहणात्पाणिपादादीना च सस्कृति परिहरति ।।

स्नानमनेकप्रकारं शिरोमात्रप्रक्षालन, शिरो मुक्त्वा अन्यस्य वा गात्रस्य, समस्तस्य वा । तन्न शीतोदकेन क्रियते स्थावराणां त्रसाना च बाधा माभूदिति । कर्दमवालुकाविमर्दनाज्जलक्षोभणात्तच्छरीराणा च वनस्पतीना पीडात मत्स्यदर्दुर सूक्ष्मत्रसाना च स्नान निवार्यते । उष्णोदकेन स्ना[1]त्विति चेन्न, तत्र त्रस-स्थावर-

---

इसकी धर्मश्रद्धा महान है, यदि न होती तो इतना दुःसह कष्ट क्यों उठाता ? अपनी धर्मश्रद्धा प्रकाशित करनेसे दूसरेकी भी धर्मश्रद्धा उत्पन्न होती है और उसमें वृद्धि होती है । इस तरह उपबृंहण नामक गुण भी भावित होता है । तथा लोचसे कायक्लेश नामक उग्र तप होता है । तथा दुःख सहन करनेसे अन्य दुःखोंको भी सहन करनेमे समर्थ होता है । दुःख सहन करनेसे अशुभ कर्मोंकी निर्जरा होती है ।। इस प्रकार लोचका कथन समाप्त हुआ ।।९१।।

व्युत्सृष्ट शरीरता अर्थात् शरीरसे ममत्वके त्यागका कथन करनेके लिए आगेकी गाथा कहते हैं—

गा०—स्नान, तेलमर्दन, उबटन और नख, केश, दाढी-मूँछोंका संस्कार छोड़ देते हैं । दाँत, ओष्ठ, कान, मुख, नाक, भौं आदिका संस्कार छोड़ देते हैं ।।९२।।

टी०—'छोडते हैं' यह पद लगा लेना चाहिए । 'च' शब्दके विना भी समुच्चयरूप अर्थका बोध होता है । जैसे पृथिवी जल तेज वायु आकाश काल दिशा आत्मा मन ये द्रव्य हैं । यहाँ 'च' शब्द न होनेपर भी समुच्चयरूप अर्थका बोध होता है । अतः स्नान, अभ्यंजन, और उबटन नहीं लगाता है नख, केश, दाढ़ीका संस्कार और दाँत, ओष्ठ, कान, मुख, नाक, भौ आदिसे हाथ पैर आदिका संस्कार छोड़ देते हैं ।

स्नानके अनेक प्रकार हैं—सिरमात्र धोना, सिरको छोड़कर शेष शरीरको धोना अथवा समस्त शरीरको धोना । स्थावर और त्रसजीवोंको बाधा न हो, इसलिए स्नान ठण्डे जलसे नहीं करते । कीचड़ रेत आदिके मर्दनसे पानीमें क्षोभ पैदा होता है और जिसके होनेसे उनमें रहनेवाले वनस्पति कायिक जीवोंको तथा मछली मेढक और सूक्ष्म त्रसजीवोंको पीड़ा होती है । इस-

---

१. स्नायादिति–आ० मु० ।

बाधा स्थितैव । भूमिदरीविवरस्थितानां पिपीलिकादीनां मृतेः, तरुणतृणपल्लवानां चोष्णांबुभिस्तप्तानां दुःखासिका महती जायते, तथा क्षारतया धान्यरसादीनां । न चास्ति प्रयोजनं स्नानेन सप्तधातुमयस्य देहस्य न शुचिता शक्या कर्तुं । ततो न शौचप्रयोजनं । न रोगापहृतये रोगपरीषहसहनाभावप्रसंगात्, न हि भूषार्थं विरागत्वात् ।

घृततैलादिभिरभ्यंजनमपि न करोति प्रयोजनाभावादुक्तेन प्रकारेण घृतादिना क्षारेण स्पृष्टा भूम्यादिशरीरादि जंतवो बाध्यंते । त्रसाश्च तत्रावलग्नाः । उद्वर्तने इतस्ततः पततां व्याघातः । मूलत्वक्फलपत्रादेः पेषणे, दलने च महानसंयमः । निर्वर्तनविलेखनघर्षणरंजनादिको नखसंस्कारः । केशसंस्कारो हस्तघर्षणेन मसृणतासंपादनं, तथा श्मश्रूणामपि । दंतमलापकर्षणं तद्रंजनं वा दंतसंस्कारः । ओष्ठमलापकर्षणं तद्रागकरणं वा ओष्ठसंस्कारः । ह्रस्वयोर्लंबतापादनं दीर्घयोर्वा ह्रस्वकरणं तन्मलनिरासोऽलंकारग्रहणं कर्णसंस्कारः । मुखस्य तेजःसंपादनं लेपेन मंत्रेण वा मुखसंस्कारः । अक्ष्णोः प्रक्षालनं अंजन अक्षिसंस्कारः । विकटोत्थितानां रोम्णां उत्पाटनं आनुलोम्यापादनं लंबयोरुन्नतीकरणं, भ्रूसंस्कारः । शोभार्थं हस्तपादादिप्रक्षालनं, औषधविलेपादिर्वा संस्कार आदिशब्देन गृहीतः ॥९२॥

वज्जेदि बंभचारी गंधं मल्लं च धूववासं वा ।
संवाहणपरिमद्दणपिणिद्धणादीणि य विमुत्ती ॥ ९३ ॥

लिए शीतल जलसे स्नान नहीं करते ।

शंका—तब गर्म जलसे स्नान करना चाहिए ?

समाधान—उसमें भी त्रस और स्थावर जीवोंको बाधा रहती ही है । पृथिवी तथा पहाड़के बिलोंमें रहनेवाली चींटी आदिके मरनेसे और उष्णजलके तापसे कोमल तृण पत्ते आदिके झुलसनेसे बड़ा दुःख होता है । तथा जलके खारपनेसे धान्यके रसको भी हानि पहुँचती है । तथा स्नानकी कोई आवश्यकता भी नहीं है क्योंकि सप्तधातुओंसे युक्त शरीरको पवित्र नही किया जा सकता । अतः पवित्रताकी दृष्टिसे स्नानका कोई प्रयोजन नही है । रोगको दूर करनेके लिए भी स्नान आवश्यक नहीं है क्योंकि तब साधु रोगपरीषह सहन नहीं कर सकेंगे । और शरीरकी शोभाके लिए भी स्नान आवश्यक नही है क्योंकि साधु तो विरागी होते हैं ।

साधु प्रयोजन होनेसे घी तेल आदिसे शरीरका अभ्यंजन भी नही करते । क्योंकि कहे हुए अनुसार घी आदिसे तथा क्षारसे भूमि आदि तथा शरीर आदिमें चिपटे जीवोंको बाधा पहुँचती है । उद्वर्तन अर्थात् उबटन लगानेसे शरीरसे चिपटे त्रसजीव यहाँ वहाँ गिरकर मर जाते हैं । तथा उबटन तैयार करनेके लिये वृक्षकी जड़, छाल, फल पत्ते आदिको पीसने या दलनेमें महान असंयम होता है । काटना, छाटना, रगड़ना, रंगना आदि नखका संस्कार है । हाथसे घर्षणके द्वारा चिकनापना लाना केश तथा दाढ़ी मूछोंका संस्कार है । दाँतका मैल दूर करना अथवा दाँतोंको रंगना दाँतका संस्कार है । ओठोंका मल दूर करना अथवा उनको रंगना ओष्ठ संस्कार है । यदि छोटे हो तो बड़ा करना और बड़े हों तो छोटा करना, मेल निकालना अथवा आभूषण धारण करना कानका संस्कार है । लेप या मंत्र द्वारा मुखको तेजस्वी बनाना मुखका संस्कार है । आँखोंको धोना, अंजन लगाना आँखका संस्कार है । विकट रूपसे उठे हुए रोमोंको उखाड़ना और उन्हें व्यवस्थित करना तथा लटकती हुईको ऊँचा करना भौंका संस्कार है । आदि शब्दसे शोभाके लिये हाथ पैर धोना, अथवा औषध आदिका लेप करना, ग्रहण किये गये हैं ॥ ९२ ॥

'गंधं' कस्तूरिकादिकं । 'मल्लं' माल्यं चतुष्प्रकारं । 'धूववासं वा' धूपं कालागुर्वादिकं । वासं मुखवासं च जातिफलादिकं । अनेकसुरभिद्रव्यमिश्रं वा । 'संवाहणं' हस्ताभ्यां मलनं । चरणाभ्यामर्दनं परितः 'परिमद्दणं' । अंगकुट्टनं उन्नतिं दार्ढ्यं च कर्तुं यत्तत्पिणिद्धमित्युच्यते । एतत्सर्वं वर्जयति प्रयोजनाभावाद्धिंसाप्रवृत्तेश्च । कः ? ब्रह्मचारी अब्रह्म निवृत्तिपरो यतिः ॥९३॥

किं ब्रह्मव्रतस्य कुर्वन्ति स्नानादिपरित्यागा येन तद्व्रताचरणप्रियस्तदनुष्ठाने यतते इत्यारेकायामाह—

जल्लविलित्तो देहो लुक्खो लोयकदवियडबीभत्थो ।
जो रूढणक्खलोमो सा गुत्ती बंभचेरस्स ॥९४॥

'जल्लविलित्तो देहं' इति । 'देहो गुत्ती बंभचेरस्स' इति पदघटना । 'देहः' शरीरं । 'गुत्ती' गुप्तिः रक्षा । कीदृक् ? 'जल्लविलित्तो' घनीभूतमुपर्युपरि प्रचित शरीरमलं जल्लशब्देनोच्यते । तेन विलित्तो विलिप्तः देह. । स्नानादित्यागात् 'लुक्खो' रूक्षस्पर्शः स्नानादिविरहादेव 'लोयकदवियडबीभत्थो' लोचकरणविकृत-बीभत्स. । 'जो' यो देह 'रूढणक्खलोमो' दीर्घीभूतनखप्रच्छाद्यदेशलोमान्वित' । सेति गुप्ति. ॥ सामानाधि-करण्यात् स्त्रीलिंगत्वात् ॥ कस्य ? 'बंभचेरस्स' ब्रह्मचर्यस्य ॥

इति व्युत्सृष्टदेहता ॥

गा०—ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ गन्ध, माल्य और धूप और मुखवास संवाहन, परिमर्दन और पिणिद्धण आदिको छोड देता है ॥ ९३ ॥

टी०—ब्रह्मचारी अर्थात् अब्रह्मके त्यागमें तत्पर साधु कस्तूरी आदि गंध, चार प्रकारकी माला (पुष्पमाला, रत्नमाला, मोतीमाला और सुवर्णमाला) कालागुरु आदि धूप, मुखको सुवा-सित करने वाले जाति फल आदि, अथवा अनेक सुगन्धित द्रव्योंका मिश्रण, हाथोसे शरीरकी मालिश, पैरोंसे शरीरको दबवाना, और पिणिद्ध, इन सबको प्रयोजन न होनेसे और हिंसापरक होनेसे छोड़ देता है । कन्धोंको उन्नत और दृढ़ बनानेके लिये जो उनको कूटा जाता है उसे 'पिणिद्धण' कहते हैं ॥ ९३ ॥

ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करने वालेको स्नान आदिके त्यागसे क्या लाभ होता है जिससे ब्रह्मव्रतके आचरणका प्रेमी स्नान आदिके त्यागको अपनाता है, इस शङ्काका उत्तर देते हैं—

गा०—जल्लसे लिप्त, रूक्ष, लोच करनेसे विकृत और बीभत्स बढे हुए नख और रोमों से युक्त जो शरीर होता है, ब्रह्मचर्यकी वह गुप्ति है ॥९४॥

टी०—शरीरपर चढ़ा हुआ मैलपर मैल जल्ल कहाता है । स्नान आदिका त्याग करनेसे यतिका शरीर मैलसे लिपता जाता है । तथा स्नान आदि न करनेसे रुखा हो जाता है । केश लोच करनेसे भद्दा और ग्लानि युक्त होता है उसे देखकर लोगोंको ग्लानि होती है । नख बढ़े हुए होते हैं । गुप्त अंग आदिके बाल बढ़ जाते हैं । ऐसा शरीर ब्रह्मचर्यकी गुप्ति है । उससे यतिके ब्रह्मचर्यकी रक्षा होती है । 'गुप्ति' शब्द स्त्रीलिंग होनेसे सामानाधिकरण्यके लिये 'सा' शब्दका प्रयोग किया है ॥९४॥

व्युत्सृष्ट शरीरताका प्रकरण समाप्त हुआ ॥

प्रतिलेखनसाध्यप्रयोजनाख्यानायोत्तरगाथाद्वयम्—

इरियादाणणिखेवे विवेगठाणे णिसीयणे सयणे ।
उव्वत्तणपरिवत्तण पसारणाउंटणामरसे ॥९५॥

'**यस्य येन हि संबन्धो दूरस्थमपि तस्य तत्**' इत्यनेन क्रमेण संबन्धः—'**इरियादाणे**' '**पडिलेहणेण** **पडिलिहिज्जदि**' इति एवं सर्वत्र । ईर्यायां गमने यदा त्रसाः स्वपादनिक्षेपदेशे दुष्परिहाराः यदि स्युः पिपीलिकादयोऽथवा प्राक् पादावलग्नरजसो विरुद्धयोनिर्वा भूमिरुत्तरा जलं प्रवेष्टव्यं यदि '**पडिलेहणेण**' प्रतिलेखनेन '**पडिलेहिज्जदि**' निराक्रियते त्रसादिकं । '**आदाणे**' ग्रहणे ज्ञानचारित्रसाधनानां । '**णिखेवे विवेगे**' । ज्ञानसंयमोपकरणानां निक्षेपे स्थापनायां । यन्निक्षिप्यते यत्र च तदुभयप्रमार्जनं कार्यं । शरीरमलानां उच्चारादीनां '**विवेगे**' उत्सर्जने वा कर्तरि प्रदेश. । सा च भूर्यद्ययोग्या प्रमार्जनीया । '**ठाणे णिसीयणे सयणे**' स्थाने आसने च शयनक्रियायां । '**उव्वत्तणपरिवत्तणपसारणाउंटणामरसे**' । '**उव्वत्तणं**' उत्तानशयनं । '**परिवत्तणं**' पार्श्वान्तरसंचारं, '**पसारणं**' प्रसारणं हस्तपादादीनां । आउंटणं संकोचनं । स्पर्शनक्रिया 'आमरसशब्देनोच्यते' ॥

पडिलेहणेण पडिलेहिज्जइ चिण्हं च होइ सगपक्खे ।
विस्सासियं च लिंगं संजदपडिरूवदा चेव ॥९६॥

'**चिण्हं च होदि**' चिह्नता भजते । '**सगपक्खे**' स्वप्रतिज्ञायां । सर्वजीवदया हि यतेः पक्षः । '**विस्सासियं च**' विश्वासकारि च जनानां । '**लिंगं**' प्रतिलेखनाख्यं कथमयमतिसूक्ष्मान्कुंथ्वादीनपि परिहर्तुं गृहीतप्रति-

---

अब प्रतिलेखनका प्रयोजन बतलानेके लिये दो गाथा कहते हैं—

गा०—गमनमें, ग्रहणमें, रखनेमें मल त्यागमें स्थानमें बैठनेमें शयनमें ऊपरको मुखा करके सोनेमें करवट लेनेमें हाथ पैर फैलानेमें संकोचनमें और स्पर्शनमें पीछीसे परिमार्जन करना चाहिये ॥९५॥

टी०—जिसका जिसके साथ सम्बन्ध होता है दूर होते हुए भी वह उसका होता है, इस क्रमके अनुसार प्रतिलेखनके दूर होते हुए भी यहाँ उसके साथ सम्बन्ध लगाना चाहिये। ईर्या अर्थात् गमन करते हुए, यदि अपने पैर रखनेके देशमें चींटी आदिको दूर करना अशक्य हो, अथवा अपने पैरोंमें लगी हुई धूलसे आगेकी भूमि विरुद्ध योनि वाली हो या यदि जलमें प्रवेश करना हो तो पीछीसे त्रसादि जीवोंको दूर करना चाहिये। अर्थात् पीछीसे उस देशका पैर आदि का परिमार्जन करके चलना चाहिये। ज्ञान और चारित्रके साधन पुस्तक कमण्डलु आदिको ग्रहण करते समय, या उन्हें रखते समय, जो वस्तु रखें और जहाँ रखे उन दोनोंका प्रमार्जन करना चाहिये—पीछीके द्वारा उन्हें झाड़ना चाहिये। शरीरके मल मूत्रादिका त्याग करते समय यदि भूमि अयोग्य हो तो उसका प्रमार्जन करना चाहिये। स्थान, आसन और सोते समय मुख ऊपर करके सोते हुए या करवट लेते समय या हाथ पैर फैलाते और संकोचते समय, किसी वस्तु को छूते समय पीछेसे प्रमार्जन करना चाहिये। यहाँ आमरस शब्दसे स्पर्शन क्रियाको कहा है ॥९५॥

गा०—उक्त क्रिया करते समय पीछेके द्वारा प्रतिलेखना करना चाहिये, इस प्रकार पूर्व

लेखनोऽस्यान्महतो जीवान्कथमिव बाधितुं उत्सहते इति । 'संजदपडिरूवदा चेव' । संयतानां [1]प्राक्तनाना प्रतिबिंबता च प्रतिलेखना ग्रहणेन भवति ॥९६॥

प्रतिलेखनलक्षणाख्यानायाह—

रयसेयाणमगहणं मद्दव सुकुमालदा लघुत्तं च ।
जत्थेदे पंच गुणा तं पडिलिहणं पसंसंति ॥९७॥

'रयसेयाणमगहणं' रजसः सचित्तस्य अचित्तस्य वा स्वेदस्य अग्राहक । अचित्तरजोग्राहिणा सचित्तरजो प्रतिलेखने तद्विराधना सचित्तरजोग्राहिणा चेतरस्य । स्वेदग्राहिणि रजसामुपहतिः । 'मद्दवसुकुमालदा' मृदुस्पर्शता मार्दवं, सुकुमालदा सौकुमार्यं । 'लघुत्तं च' लघुत्व च । एते पंच गुणा यत्रैते पंच प्रकारगुणाः संति 'तं' तत् 'पडिलिहणं' प्रतिलेखनं 'पसंसंति' स्तुवंति दयाविधिज्ञा । अमृदुना, असुकुमारेण, गुरुणा च प्रतिलेखनेन जीवानामुपघात एव कृतो न दयेति भावः । एव चतुर्गुणयुक्त लिंगं व्याख्यातं गृहीतलिंगस्य यते. ॥९७॥

शिक्षानंतरेति तन्निरूपणार्थं उत्तरप्रबंधः—

णिउणं विउलं सुद्धं णिकाचिदमणुत्तरं च सव्वहिदं ।
जिणवयणं कलुसहरं अहो य रत्ती य पढिदव्वं ॥९८॥

गाथासे सम्बन्ध है । अपनी प्रतिज्ञामे पीछी चिह्न होती है । और प्रतिलेखना रूप लिंग मनुष्योंको विश्वास करानेवाला है । और प्राचीन मुनियोंका प्रतिबिम्ब रूप है ॥९६॥

टी०—मुनिका पक्ष या प्रतिज्ञा सब जीवोंपर दया करना है । अतः पीछी उसका चिह्न है । तथा यह चिह्न मनुष्योंमें विश्वास उत्पन्न कराता है कि जब यह व्यक्ति अतिसूक्ष्म कीट आदि जीवोंकी भी रक्षाके लिये पीछी लिये हुए है तो हमारे जैसे बड़े जीवोंको कैसे बाधा पहुँचा सकता है । तथा पीछी धारण करनेसे प्राचीन मुनियोंका जो रूप था उसीकी छाया वर्तमान मुनियोंमे आ जाती है ॥९६॥

प्रतिलेखनाके लक्षण कहते हैं—

गा०—धूलि और पसीनेको पकडती न हो, कोमल स्पर्शवाली हो, सुकुमार हो, और हल्की हो । जिसमें ये पाँच गुण होते हैं उस प्रतिलेखनाकी प्रशंसा करते हैं ॥९७॥

टी०—सचित्त या अचित्त रज और पसीनेको ग्रहण न करती हो; क्योंकि अचित्त रजको ग्रहण करनेवाली पीछीसे सचित्त रजकी प्रति लेखना करनेपर उनमें रहनेवाले जीवोका घात होता है और सचित्त रजको ग्रहण करनेवाली पीछीसे अचित्त रजकी प्रतिलेखना करने पर भी घात होता है । पसीनेको पकड़नेवाली पीछीसे रजमें रहनेवाले जीवोंका घात होता है । तथा पीछी कोमल स्पर्शवाली, सुकुमार और हल्की होनी चाहिये । जिस प्रतिलेखनमें ये पाँच गुण होते हैं, दयाकी विधिको जाननेवाले उसकी प्रशंसा करते हैं । इसका भाव यह है कि कठोर, असुकुमार और भारी प्रतिलेखनासे जीवोंका घात ही होता है, दया नहीं । इस प्रकार लिंगको स्वीकार करनेवाले साधुके चार गुणोंसे युक्त लिंगका कथन किया ॥९७॥

---

१. प्रधानानां-आ० मु० ।

जिणवयणं जिनवचनं । 'अहो य रत्तो य' नक्तं दिवं । 'पढिदव्वं' अध्येतव्यं । कीदृग्भूतं जिनप्रवचनमत आह—'णिउणं' जीवादीनर्थान्प्रमाणनयानुगतं निरूपयतीति निपुणं । 'सुद्धं' पूर्वापरविरोधपुनरुक्तादिद्वात्रिंशद्दोषवर्जितत्वात् शुद्धं । 'विपुलं' निक्षेपः, एकार्थः,[1] निरुक्तिः अनुयोगद्वार, नयश्चेति अनेकविकल्पेन जीवादीनर्थान्सप्रपंचं निरूपयतीति विपुलं । अर्थगाढत्वान्निकाचितं अर्थनिचित । 'अनुत्तरं च' न विद्यते उत्तरं उत्कृष्टमस्मादित्यनुत्तरं । परेषां वचनानि पुनरुक्तानि, अनर्थकानि, व्याहतानि, प्रमाणविरुद्धानि च तेभ्य इदमुत्तरं तदसंभविगुणत्वात् । 'सव्वहिदं' सर्व प्राणहित । अन्येषा मतानि केषांचिदेव रक्षां सूचयंति । 'जिघांसन्तं जिघांसीयात् न तेन ब्रह्महा भवेत्' इत्युपदेशात्[2] ।

कलुसहरं द्रव्यकर्मणां ज्ञानावरणादीनां अज्ञानादेर्भावमलस्य च विनाशनात् कलुषहरं । 'अहो य रत्तीय पढिदव्वमित्यनेन' अनारतं अध्ययनं सूचितं ॥९८॥

अब शिक्षाका कथन करते हैं—

गा०—निपुण विपुल, शुद्ध, अर्थसे पूर्ण, सर्वोत्कृष्ट और सब प्राणियोंका हित करनेवाला द्रव्यकर्म भाव कर्मरूपी मलका नाशक जिनवचन रात-दिन पढ़ना चाहिये ॥९८॥

टी०—जिनवचन रात-दिन पढना चाहिये । किस प्रकार जिनवचन पढना चाहिये ? इसके उत्तरमे कहते हैं—जो निपुण हो अर्थात् जीवादि पदार्थोंका प्रमाण और नयके अनुसार निरूपण करनेवाला हो । पूर्वापर विरोध पुनरुकता आदि बत्तीस दोषोसे रहित होनेसे शुद्ध हो । विपुल हो अर्थात् निक्षेप, निरुक्ति अनुयोगद्वार और नय इन अनेक विकल्पोंसे जो जीवादि पदार्थोंका विस्तार से निरूपण करता हो । निकाचित अर्थात् अर्थसे भरपूर हो । अनुत्तर अर्थात् जिससे कोई उत्तर यानी उत्कृष्ट न हो । दूसरोंके वचन पुनरुक्त, निरर्थक, बाधित और प्रमाण विरुद्ध हैं अतः उनसे जिनवचन उत्कृष्ट है क्योंकि जो गुण उनमें सम्भव नहीं है उन गुणोंसे युक्त है । सब प्राणियोंका हितकारी है । दूसरोंके मत तो किन्ही की ही रक्षा सूचित करते है । कहा है—वेदका जाननेवाला भी ब्राह्मण यदि किसीको मारता हो तो उसे मार डालना चाहिये । उससे ब्रह्म हत्याका पाप नहीं लगता । तथा ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म और अज्ञानादिभावमलका विनाश करनेसे जिनवचन पापका हरनेवाला है । उसे 'रात-दिन पढ़ना चाहिये' इससे निरन्तर अध्ययन करना सूचित किया है ॥९८॥

---

१. पक्षार्थः—आ० मु० ।

२ आ० मु० प्रत्योअधोलिखिताश्लोकाः स ।

"यज्ञार्थं पशवः सृष्टा स्वयमेव स्वयंभुवा ॥
यज्ञो हि भूत्यै सर्वेषा तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥ १ ॥
"अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ॥
क्षेत्रदारहरश्चेति षडेते आततायिनः ॥"
"आततायिनमायान्तमपि वेदान्तविद् द्विजम् ॥
जिघांसंतं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत् ॥"

जिनवचनशिक्षाया गुणान्संहृत्य कथयति—

आदहिदपइण्णा भावसंवरो णवणवो या संवेगो ॥
णिक्कंपदा तवो भावणा य परदेसिगत्तं च ॥९९॥

आदहिदपइण्णा आत्महितपरिज्ञानं । इंदियसुख अहितं परिहितमिति गृह्णन्ति जना । दुःखप्रतीकारमात्रं तत् ? अल्पकालिक, पराधीन, रागानुबंधकारि, दुर्लभं, भयावह, शरीरायासमात्र, अशुचिशरीरासंस्पर्शनजं । तत्रास्य बालस्य सुखबुद्धि । नि शेषदुःखापायजनित स्वास्थ्य अचल सुखमिति न वेत्ति । जिनवचोऽभ्यासात्स्वधिगच्छति । **'भावसंवरो'** भावः परिणामः तस्य संवरो निरोधः । ननु परिणाममंतरेण न द्रव्यस्यास्ति क्षणमात्रमप्यवस्थानं तत्किमुच्यते भावसंवर इति । परिणामविशेषवृत्तिरिह भावशब्द इति मन्यते । तथा वक्ष्यति—

'सज्झायं कुव्वंतो पंचेंदीसंवुडो इति' अशुभकर्मादाननिमित्तपरिणामग्रहणमिह सरागापेक्षया । वीतरागाणा तु केषांचिच्छुद्धोपयोगनिमित्ततया पुण्यास्रवपरिणामसंवरोऽपि ग्राह्यः । **'णवणवो य'** प्रत्यग्र प्रत्यग्रः । **'संवेगो'** धर्मे श्रद्धा जिनवचनाभ्यासादुपजायते । **'णिक्कंपदा'** निश्चलता । क्व ? रत्नत्रये । **'तवो'** स्वाध्यायाख्यं तपश्च । **'भावणाय'** भावना च गुप्तीना । **'परदेसिगत्त च'** परेषामुपदेशकता च ॥

जिनवचनकी शिक्षामें जो गुण हैं उन्हे कहते है—

गा०—आत्महितका ज्ञान होता है । भाव संवर होता है । नवीन-नवीन संवेग होता है रत्नत्रयमे निश्चलता होती है । स्वाध्याय तप होता है और भावना होती है । और दूसरोंको उपदेश करनेकी क्षमता होती है ॥९९॥

टी०—जिनवचनके पढ़नेसे आत्महितका परिज्ञान होता है—इन्द्रिय सुख अहितकर है उसे लोग हितकर ग्रहण करते हैं । इन्द्रिय सुख दुःखका प्रतीकार मात्र है, अल्पकाल तक रहता है । पराधीन है, रागका सहचारी है, दुर्लभ है (?), भयकारी है, शरीरका आयासमात्र है, अपवित्र शरीरके स्पर्शसे उत्पन्न होता है । उसको यह अज्ञानी सुख मानता है । समस्त दुःखोंके विनाशसे उत्पन्न हुआ स्वास्थ्य-आत्मामें स्थितिरूप भाव-स्थायी सुख है यह नहीं जानता । वह सुख जिनवचनके अभ्याससे प्राप्त होता है । भाव अर्थात् परिणामका, संवर अर्थात् निरोध भाव-संवर है ।

शंका—परिणामके विना द्रव्य एक क्षण भी नहीं रह सकता । तब आप कैसे भावसंवर कहते हैं ?

समाधान—यहाँ भाव शब्द परिणाम विशेषका वाचक लिया गया है । आगे कहेंगे—स्वाध्याय करनेवाला पाँचों इन्द्रियोंसे संवृत होता है । अतः यहां सरागकी अपेक्षासे अशुभ कर्मोंके ग्रहणमें निमित्त परिणामका ग्रहण किया है । वीतरागोंमेंसे तो किन्हींके जिनवचन शुद्धोपयोगमें निमित्त होता है इसलिये भावसंवरसे पुण्यास्रवमें निमित्त परिणामोका संवर भी ग्राह्य है । जिनवचनके अभ्याससे नित नया 'संवेग' अर्थात् धर्ममें श्रद्धा उत्पन्न होती है । रत्नत्रयमें निश्चलता आती है । स्वाध्यायनामक तप होता है, गुप्तियोंकी भावना होती है तथा दूसरोंको उपदेश देनेकी सामर्थ्य आती है ॥९९॥

आदहिदपरिण्णा इत्यस्य व्याख्यानं गाथोत्तरा—

णाणेण सव्वभावा जीवाजीवासवादिया तधिगा।
णज्जदि इह परलोए अहिदं च तहा हियं चेव ॥ १०० ॥

'णाणेण' ज्ञानेन । 'सव्वभावा' सर्वे पदार्थाः । 'जीवाजीवादिया' जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरा-मोक्षाः । 'तधिगा' तथ्यभूताः । 'णज्जंति' ज्ञायन्ते । 'तथा' तेनैव प्रकारेण । 'इहपरलोए' इह परस्मिश्च लोके । 'अहिदं' अहितं । 'हिदं' हितं चैव । ननु च आदहिदपरिण्णा इत्यत्र हितस्यैव हि सूचितत्वात् जीवादिपरिज्ञानं असूचितं कथं व्याख्यायते पूर्वमभिहितं हितमनुक्त्वा ? अत्रोच्यते—आत्मा च हितं च आत्महिते तयोः परिज्ञानं इति गृहीतं । न चात्मनो हितमिति । ततो युक्तं व्याख्यानं । एवमपि जीव एव निर्दिष्ट इत्यजीवाद्युपन्यासः कथं ? आत्मशब्दस्योपलक्षणत्वाददोषः । जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वं [त०सू० १।८) इत्यत्र सूत्रे आदौ निर्दिष्टो जीवः प्रसिद्धस्तेनोत्तरोपलक्षणं क्रियते । अथवा आत्मन्यज्ञाते हितमेव दुर्ज्ञातं आत्म-परिणामो हि हितं तच्च स्वास्थ्यं । तच्च स्वस्थे आविदिते स्वास्थ्यं सुज्ञातं भवति । तत आत्मा ज्ञातव्यः ।

जादं सयं समत्तं णाणमणंतत्थवित्थिदं विमलं । रहियं तु उग्गहादिहिं सुहंति एयंतियं भणियं" [प्र० स० १।५] । इति वचनात् अनंतज्ञानरूपं सुखं यदि हितमिति गृहीतं, तथापि चेतनाया जीवत्वाच्चैतन्यावस्था-स्वरूपत्वात् केवलस्यावस्थानात् आत्मा ज्ञातव्य एव । मोक्षस्तु कर्मणा तदपायतयाधिगतव्यः । तत्परिज्ञानम-जीवेऽनिर्ज्ञाते न भवति । पुद्गलानामेव द्रव्यकर्मत्वात्, तद्वियोगस्य मोक्षत्वात् । स च मोक्षो बंधपुरस्सरः । न

आगे आत्महित परिज्ञानका व्याख्यान करते है—

गा०—ज्ञानके द्वारा जीव अजीव आस्रव आदि सब पदार्थ तथ्यभूत जाने जाते हैं। उसी प्रकारसे इस लोक और परलोकमें अहित और हित जाना जाता है ॥१००॥

टी०–शंका—'आत्महित परिज्ञा' इस पदमें तो हितको ही सूचित किया है, जीवादिके परिज्ञानको तो सूचित नहीं किया है तब पहले कहे गये हितका कथन न करके जीवादि परिज्ञान-का व्याख्यान क्यों किया है ?

समाधान—आत्महित परिज्ञानका अर्थ आत्मा और हितका परिज्ञान लिया है। 'आत्माका हित' अर्थ नहीं लिया है। अतः जीवादिका व्याख्यान करना युक्त है।

शंका—ऐसा अर्थ करनेपर भी जीवका ही निर्देश किया है। तब अजीव आदिका उपन्यास क्यों किया ?

समाधान—आत्म शब्द अजीवादिका उपलक्षणरूप होनेसे कोई दोष नहीं है। क्योंकि 'जीवाजीवा' इत्यादि सूत्रमें जीवका प्रथम निर्देश प्रसिद्ध है उससे आगेके अजीवादिका उपलक्षण किया है। अथवा, आत्माका ज्ञान हुए विना उसके हितको जानना कठिन है। आत्माका परिणाम हित है और वह स्वास्थ्य है। अतः स्वस्थका ठीक ज्ञान होनेपर स्वास्थ्यका सम्यग्ज्ञान होता है। अतः आत्मा ज्ञातव्य है। अथवा ऐसा कहा है—अनन्त पदार्थोंमें व्याप्त और अवग्रह आदिके क्रमसे रहित निर्मल सम्पूर्णज्ञान जो परकी सहायताके विना स्वयं होता है उसे एकान्तसे सुखरूप कहा है।' इस कथनसे यद्यपि अनन्तज्ञानरूप सुखको हित स्वीकार किया है तथापि चेतना जीव है और केवलज्ञान चैतन्य अवस्था स्वरूप है अतः आत्मा ज्ञातव्य ही है और मोक्ष कर्मोंके विनाश-रूप होनेसे जानने योग्य है। कर्मोंका ज्ञान अजीवको जाने विना नहीं होता, क्योंकि पुद्गल ही

सति बंधे मोक्षोऽस्ति । स च बंधो नासत्यास्रवे । मोक्षस्य चोपायौ संवरनिर्जरे । अहितं इति यदि दुःखं गृह्यते तदैहलौकिकमनुभवसिद्धमेव । किं तत्र जिनवचनेन ? अहितकारणं यद्यहितमुच्यते तत्कर्म तच्चात्राजीववचनेन आक्षिप्तं । अथ हिंसादयः परंपराकारणत्वेन दुःखस्यावस्थिता अहितशब्देनोच्यन्ते । तथाप्ययुक्तं आस्रवेऽन्तर्भूतत्वात् । अत्रोच्यते—अनुभूतमपि दुःखं अस्मिञ्जन्मनि अज्ञतयो विस्मरत्यत एव सन्मार्गं न ढौकंते । तेषां स्मृतिर्जन्यते जिनवचनेन मनुजभवापदां प्रकटनेन । जुगुप्सिते कुले प्रादुर्भूतिर्विचित्रास्तत्र रोगोरगदशनजनिता विपदः । निर्द्रविणता, दुर्भगता, अबंधुता, अनाथता, प्रार्थितद्रविणपरांगनालाभधूमध्वजनिर्दग्धचित्तता, द्रविणवतां कुत्सितप्रेषणकरणं, तथापि तेषां आक्रोशननिर्भर्त्सनताडनादीनि, परवशतामरणादीन्येवमादिना, इह लोके हितं दानतपःप्रभृतिकं हितकारणं हितं इति यदा गृह्यते 'हितमारण्यमौषधं' इति यथा । यतो दानादिके कुशलकर्मणि वर्तमाना जनैः स्तूयते वन्द्यन्ते । उक्तं च—

दानेन तिष्ठन्ति यशांसि लोके दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम् ।
परोऽपि बंधुत्वमुपैति दानात्तस्मात्सुदानं सततं प्रदेयम् ॥'' इति ।—[वरांग० ७।३६]

इंद्रचक्रधरादयोऽपि प्रणतिमायान्ति तपोद्रविणानाम् । परलोके अहितं भवान्तरभावि दुःखं नरकगतौ हि, तिर्यक्त्वे च, परलोके हितं निर्वृतिसुखं, तदेतत्सकलं अवबोधयति जैनी भगवती भारती ।

द्रव्यकर्मरूप होते हैं और उनका विनाश मोक्ष है। वह मोक्ष बन्धपूर्वक होता है। क्योंकि बन्धके अभावमें मोक्ष नहीं होता। तथा बन्ध आस्रवके विना नहीं होता। और मोक्षके उपाय संवर और निर्जरा हैं।

शंका—यदि अहितसे दुःख लेते है तो इस लोकमें होनेवाला दुःख अनुभवमें सिद्ध है। उसमें जिनवचनकी क्या आवश्यकता ? यदि अहितके कारणको अहित कहते हैं तो वह कर्म है और अजीव शब्दसे उसका ग्रहण होता है। यदि परम्परासे दुःखका कारण होनेसे हिंसा आदिको अहित शब्दसे लेते हैं तो भी अहितका पृथक् कथन अयुक्त है क्योंकि आस्रवमें उनका अन्तर्भाव होता है।

समाधान—इस जन्ममें अनुभूत भी दुःखको अज्ञानी भूल जाते है इसीसे वे सन्मार्गमें नहीं लगते। जिनवचनके द्वारा मनुष्य भवमें होनेवाली विपत्तियोंको बतलानेसे उनका स्मरण होता है। निन्दनीय कुलमें जन्म होनेपर वहाँ रोगरूपी साँपके डसनेसे उत्पन्न हुई विपत्तियाँ आती हैं। दरिद्रता, भाग्यहीनता, अबन्धुता, अनाथता, इच्छित धन और पर स्त्रीकी प्राप्ति न होने रूप अग्निसे चित्तका जलते रहना, धनिकोंकी निन्दनीय आज्ञाका पालन करनेपर भी उनके गाली, गलौज, डाँट फटकार, मारपीट, परवश मरण आदिको सहना पड़ता है।

जब हितका अर्थ हितका कारण लिया जाता है तो इस लोकमें दान, तप आदि हित है। जैसे जंगली औषधी हितका कारण होनेसे हित कही जाती है क्योंकि जो दान आदि सत्कार्य करते हैं लोग उनकी स्तुति और वन्दना करते हैं। कहा भी है—'दानसे लोकमें चिरस्थायी यश होता है। दानसे वैर भी नष्ट हो जाते हैं। दानसे पराये भी बन्धु हो जाते हैं। अतः सुदान सदा देना चाहिए ॥' तपोधनोंको इन्द्र चक्रवर्ती आदि भी नमस्कार करते हैं। परलोकमें अहितसे मतलब है आगामी नरकगति और तिर्यञ्चगतिके भवमें होनेवाला दुःख। और परलोकमें हितसे मतलब है मोक्षसुख। जिन भगवान्के द्वारा उपदिष्ट भारती इन सबका ज्ञान कराती है ॥१००॥

आत्महितापरिज्ञाने दोषमाचष्टे—

आदहिदमयाणंतो मुज्झदि मूढो समादियदि कम्मं ।
कम्मणिमित्तं जीवो परीदि भवसायरमणंतं ॥१०१॥

"'आदहिदमयाणंतो' आत्महितमबुध्यमान. । 'मुज्झदि' मुह्यति अहितं हितमिति प्रतिपद्यते । मोहे को दोष इत्यत आह—'मूढो' मोहवान् 'समादियदि' समादत्ते । 'कम्मं' कर्मसामान्यशब्दोऽप्ययं अशुभकर्मवृत्ति-र्ग्राह्यः । कर्मग्रहणे को दोष इत्यत आह—'कम्मणिमित्तं' कर्महेतुकं, जीवः 'परीदि' परिभ्रमति । किं 'भवसायरम्' भवसमुद्रं 'अणंतं' अनन्तम् ॥१०१॥

आत्महितपरस्योपयोगमादर्शयति—

जाणंतस्सादहिदं अहिदणियत्ती य हिदपवत्ती य ।
होदि य तो से तम्हा आदहिदं आगमेदव्वं ॥१०२॥

'जाणंतस्स' जानत । 'आदहिदं' आत्महित । 'अहिदणियत्ती य' अहितनिवृत्तिश्च । 'हिदपवत्ती य' हिते प्रवृत्तिश्च । 'होदि य' भवति च । 'तो' ततः हितज्ञानात्पश्चात् । 'तम्हा' तस्मात् 'आदहिदं' आत्म-हितं । 'आगमेदव्वं' शिक्षितव्यम् । अत्र चोद्यते—ननु आत्महितज्ञस्य हिते प्रवृत्तिर्भवतु, अहितान्निवृत्तिः कथं ? अहितज्ञोऽहितान्निवर्तते, हितमहित च भिन्नमेव । यद्यतो भिन्नं न तस्मिन्नवगते तदन्यदवगत भवति । यथा—वानरेऽवगते न मकरः, भिन्नं च हितादहितं तस्माद्धितज्ञोऽहितं अजानन् कथमहितान्नियोगतो निवर्तेत ? अत्रो-

---

आत्महितका ज्ञान न होनेके दोष कहते हैं—

गा०—आत्माके हितको न जाननेवाला मोहित होता है । मोहित हुआ कर्मको ग्रहण करता है । और कर्मका निमित्त पाकर जीव (अणतं) अनन्त भवसागरमे भ्रमण करता है ॥१०१॥

टी०—आत्महित या आत्मा और हितको जाननेवाला अहितको हित मानता है । यही मोह है । इस मोहमें क्या दोष है ? इसके उत्तरमे कहते है कि मोही जीव कर्मको ग्रहण करता है । यहाँपर यद्यपि कर्म सामान्य कहा है तथापि अशुभकर्म ग्रहण करना चाहिए । कर्मोंके ग्रहणमें क्या दोष है ? इसके उत्तरमें कहते है कि कर्मके कारण जीव भव समुद्रमें अनन्तकाल तक भ्रमण करता है ॥१०१॥

आत्महितके ज्ञानका उपयोग दिखलाते हैं—

गा०—आत्महितको जाननेवालेके अहितमे निवृत्ति और हितमें प्रवृत्ति होती है । हिता-हितके ज्ञानके पश्चात् उसका हिताहित भी जानता ही है । इसलिए (आदहिदं) आत्महितको आगमसे सीखना चाहिए ॥१०२॥

टी०—शका—आत्महितको जाननेवालेकी हितमें प्रवृत्ति होओ, किन्तु अहितसे निवृत्ति कैसे ? जो अहितको जानता है वह अहितसे निवृत्त होता है । तथा हित और अहित भिन्न हैं । जो जिससे भिन्न होता है उसके जाननेपर उससे भिन्नका ज्ञान नहीं होता । जैसे बन्दरको जानने-पर मगरका ज्ञान नहीं होता । और हितसे अहित भिन्न है अत हितको जाननेवाला अहितको नही जानता । तब वह कैसे नियमसे अहितसे निवृत्त होगा ?

च्यते—सर्वमेव वस्तु स्वपरभावाभावोभयाधीनात्मलाभं यथा घटः पृथु`लोदराद्याकारात्मकः पटादिरूपतया-ग्राह्यः, अन्यथा विपर्यस्तं तज्ज्ञानं भवेत् । एवमिहापि हितविलक्षणमहितं अजानता तद्विलक्षणता हितस्य[2] ज्ञाता भवेत् । अतो हितज्ञोऽहितमपि वेत्तीति युक्ता निवृत्तिस्ततः ॥१०२॥

शिक्षाया अशुभभावसंवरहेतुता प्रतिपादनायाह—

सज्झायं कुव्वंतो पंचिंदियसुंवुडो तिगुत्तो य ॥
हवदि य एयग्गमणो विणएण समाहिदो भिक्खू ॥१०३॥

"सज्झायं" स्वाध्यायं पंचविध वाचनाप्रश्नानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशभेदेन । तत्र निरवद्यस्य ग्रन्थस्या ध्यापनं तदर्थाभिधानपुरोगं वाचना । संदेहनिवृत्तये निश्चितबलाधानाय वा सूत्रार्थविषयः प्रश्नः । अवगतार्था-नुप्रेक्षणं अनुप्रेक्षा । आम्नायो गुणना । आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी, निर्वेदनीति चतस्रः कथास्तासां कथनं धर्मोपदेशः । तं स्वाध्यायं कुर्वन् । 'पंचिंदियसंवुडो होदि' पंचेन्द्रियसंवृतो भवति । ननु पञ्चेन्द्रिय शब्दः निष्ठांतस्य पूर्वनिपातात्संवृतपंचेन्द्रिय इति भवितव्यम् ? सत्यं । 'जातिकालसुखादिभ्यः परवचनम्' इत्यनेन बहुव्रीहौ पंचेन्द्रियस्वजातिवृत्तिरिति जातिवचन । ततो निष्ठांतं परतःप्रयुज्यते इति मन्यते । इन्द्रियमनेक-प्रकारं द्रव्येन्द्रियं भावेन्द्रियं इति । इह तु रूपाद्युपयोगा इन्द्रियशब्देनोच्यन्ते । तेनायमर्थःस्वाध्या`यं कुर्वन्निन्द्र-

---

समाधान—प्रत्येक वस्तुका जन्म स्वके भाव और परके अभाव, इन दोनोंके अधीन है। जैसे घट बड़े पेट आदि आकारवाला होता है, पटादिरूपसे उसका ग्रहण नहीं होता। यदि घटका पटरूपसे ग्रहण हो तो वह ज्ञान विपरीत कहलायेगा। इसी तरह यहाँ भी जो हितसे विलक्षण अहितको नहीं जानता वह उससे विलक्षण हितका भी ज्ञाता नहीं हो सकता। अतः जो हितको जानता है वह अहितको भी जानता है। इसलिए उसको अहितसे निवृत्ति उचित ही है ॥१०२॥

शिक्षा अशुभभावके संवरमें हेतु है, यह कहते हैं—

गा०—विनयसे युक्त होकर स्वाध्याय करता हुआ साधु पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंसे संवृत और तीन गुप्तियोंसे गुप्त एकाग्रमन होता है ॥ १०३ ॥

टी०—वाचना, प्रश्न, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेशके भेदसे स्वाध्यायके पाँच भेद हैं। उसके अर्थका कथन करने पूर्वक निर्दोष ग्रन्थके पढ़ानेको वाचना कहते हैं। सन्देहको दूर करनेके लिये अथवा निश्चितको दृढ करनेके लिये सूत्र और अर्थके विषयमें पूछना प्रश्न है। जाने हुए अर्थ-का चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। कण्ठस्थ करना आम्नाय है। कथाके चार प्रकार हैं—आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेदनी। उनके करनेको धर्मोपदेश कहते हैं। उस स्वाध्यायको करने वाला पञ्चेन्द्रिय संवृत होता है।

शङ्का—बहुव्रीहि समासमें निष्ठान्तका पूर्वनिपात होनेसे 'संवृत पञ्चेन्द्रिय' होना चाहिये।

समाधान—आपका कथन सत्य है। 'जातिकाल सुखादिभ्य: परवचनम्' इस सूत्रसे पञ्चे-न्द्रिय शब्द पञ्चेन्द्रिय जातिवृत्ति होनेसे जातिवाचक है। इसलिये निष्ठान्तका प्रयोग पञ्चेन्द्रिय-के आगे किया है।

इन्द्रियके अनेक भेद हैं—द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रिय। किन्तु यहाँ इन्द्रियशब्दसे रूपादि विषयक

१. पृथुतलाद्या–अ० । पृथुलाद्या–आ० । २. यम्नि–आ० मु० ।

रूपाद्युपयोगो भवति इति । रूपाद्युपयोगनिरोधे किं फलं ? रागाद्यप्रवृत्तिः । मनोज्ञामनोज्ञरूपाद्युपयोगाश्रयौ रागद्वेषौ । न ह्यनवबुध्यमानो विषयः स्वसत्तामात्रेण तौ करोति । सुप्तेऽन्यमनस्के वा रागादीनां विषयसन्निधानेऽप्यदर्शनात् ।

"गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते ।
तत्तो विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥" [पञ्चास्ति० १२९]

इति वचनाच्च । कथं स्वाध्याये प्रवर्तमानः 'विणएण समाहिदो' ज्ञानविनयेन समन्वितो भूत्वा यः स्वाध्यायं करोति 'तिगुत्तो य होदि' तिसृभिर्गुप्तिभिश्च भवति । मनसोऽप्रशस्तरागाद्यसंकलेपात्, अनृतरूक्षपरुषकर्कशात्मस्तवपरदूषणादावव्यापृतेः, हिंसादौ शरीरेणाप्रवृत्तेश्च, "एयग्गमणो य होदि भिक्खू' इति पदघटना—एकमुखान्तःकरणश्च भवति भिक्षुः स्वाध्याये रतः । एतदुक्तं भवति—ध्याने प्रवृत्तिमप्यासादयतीति । न ह्यकृतश्रुतपरिचयस्य धर्मशुक्लध्याने भवितुमर्हतः । अपायोपायभवविपाकलोकविचयादयो धर्मध्यानभेदाः । अपायादिस्वरूपज्ञानं जिनवचनबलादेव 'शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः' [त—सू० ९।३७] इत्यभिहितत्वाच्च ॥१०३॥

प्रत्यग्रसंवेगप्रक्रममाचष्टे—

जह जह सुदमोग्गाहदि अदिसयरसपसरमसुदपुव्वं तु ।
तह तह पल्हादिज्जदि नवनवसंवेगसड्ढाए ॥ १०४ ॥

उपयोग कहा गया है । अतः यह अर्थ होता है कि स्वाध्यायको करने वालेका रूपादि विषयक उपयोग रुक जाता है ।

शङ्का—रूपादि विषयक उपयोगको रोकनेका क्या फल है ?

समाधान—रागादिकी प्रवृत्ति नहीं होती । राग द्वेष मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपादि विषयक उपयोगका आश्रय पाकर होते हैं । जिस विषयको जाना नहीं वह विषय केवल अपने अस्तित्वमात्रसे राग द्वेषको पैदा नही करता । क्योंकि सोते हुए या जिसका मन अन्य ओर है, उस मनुष्यमें विषयके पासमें होते हुए भी राग द्वेष नहीं देखे जाते । कहा है—'गतिमें जाने पर शरीर बनता है । शरीरसे इन्द्रियाँ बनती हैं । इन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण होता है और उससे राग और द्वेष होते हैं । जो विनय वंक स्वाध्याय करता है वह पञ्चेन्द्रिय संवृत और तीन गुप्तियोंसे गुप्त होता है क्योंकि उसका मन अप्रशस्त रागादिके विकारसे रहित होता है, झूँठ, रूक्ष, कठोर, कर्कश, अपनी प्रशसा, परनिन्दा आदि वचन नहीं बोलता, तथा शरीरके द्वारा हिंसा आदिमें प्रवृत्ति नही करता । तथा स्वाध्यायमें लीन साधु एकाग्रमन होता है । अर्थात् ध्यानमें भी प्रवृत्ति करता है । जिसका श्रुतसे परिचय नहीं है उसके धर्मध्यान शुक्लध्यान नही होते । अपायविचय, उपायविचय, विपाकविचय, लोकविचय आदि धर्मध्यानके भेद हैं । अपाय आदिके स्वरूपका ज्ञान जिनागमके बलसे ही होता है । कहा भी है—आदिके दो शुक्लध्यान और धर्मध्यान पूर्ववित् श्रुतकेवलीके होते हैं ॥ १०३ ॥

नवीन संवेगके उत्पन्न होनेका क्रम कहते हैं—

गा०—जैसे-जैसे अतिशय अभिधेयसे भरा, जिसे पहले कभी नहीं सुना ऐसे श्रुतको अवगाहन करता है, तैसे-तैसे नई नई धर्मश्रद्धासे आह्लाद युक्त होता है ॥ १०४ ॥

'जह जह' यथा यथा । 'सुदं' श्रुतं 'ओग्गाहदि' अवगाहते शब्दश्रुताभिधेयमधिगच्छतीति यावत् । 'अदिसयरसपसरं अतिशयरसप्रसरं' समयांतरेषु अनुपलब्धोऽर्थोऽतिशयितो रसः । शब्दस्य हि रसोऽर्थः तस्य सारत्वात् आम्रफलादिरस इव । प्रसरशब्देन प्राचुर्यमतिशयितार्थस्य सूचयति । ततोऽयमर्थोऽस्य—अतिशयाभिधेयबहुलं श्रुतमिति । ननु प्रवादिनोऽपरेऽपि स्वसमयमेव प्रशंसन्ति । प्रत्यक्षेणानुमानेन च विरुद्धमर्थस्वरूपं केवलं नित्यत्वमनित्यतां वा निरूपयतामागमानां नातिशयार्थप्रसरता । प्रमाणांतरसंबाधागमार्थोऽतिशयितो भवति नापरः । 'असुदपुव्वं तु' अश्रुतपूर्वमेव । ननु भव्यानामभव्याना च कर्णगोचरतामायात्येव श्रुतं किमुच्यतेऽश्रुतपूर्वमिति ? अथ श्रुताभिधेयापरिज्ञानाच्छब्दमात्रं श्रुतमप्यश्रुतं इति गृह्यते तदप्ययुक्तं, अर्थोपयोगस्यापि असकृत् ज्ञातत्वात् । अयमभिप्रायः श्रद्धानसहचारिबोधाभावाच्छ्रुतमप्यश्रुतमिति । 'तह तह पल्हादिज्जदि' तथा तथा प्रल्हादमुपैति । 'नवनवसंवेगसड्ढाए' प्रत्यग्रतरधर्मश्रद्धया । ननु च संसाराद्भीरुता संवेगः ततोऽयमर्थः स्यादसंबंधः न दोषः । संसारभीरुताहेतुको धर्मपरिणामः । आयुधनिपातभीरुताहेतुककवचग्रहणवत् । तेन संवेगशब्दः कार्ये धर्मे वर्तते ॥१०४॥

निष्कंपताख्यानायाह—

> आयापायविदण्हू दंसणणाणतवसंजमे ठिच्चा ।
> विहरदि विसुज्झमाणो जावज्जीवं दु णिक्कंपो ॥१०५॥

टी०—जैसे-जैसे श्रुतका अवगाहन करता है अर्थात् शब्द रूप श्रुतके अर्थको जानता है। वह श्रुत 'अतिशयरस प्रसर' होना चाहिये। अन्य धर्मोंमें जो अर्थ नही पाया जाता उसे 'अतिशय-रस' कहा है। क्योंकि शब्दका रस उसका अर्थ है वही उसका सार है। जैसे आम्रफलादिका रस। प्रसर शब्दसे अतिशयित अर्थकी बहुलता सूचित होती है। अतः 'अतिशयितरस प्रसर' का अर्थ है—अतिशय अभिधेयसे भरा हुआ श्रुत।

शङ्का—अन्य मतावलम्बी भी अपने सिद्धान्तकी प्रशंसा करते हैं ?

समाधान—प्रत्यक्ष और अनुमानसे विरुद्ध अर्थके स्वरूप केवल नित्यता या केवल अनित्यता का कथन करने वाले आगम अतिशय अर्थबहुल नहीं हैं। जिस आगमका अर्थ अन्य प्रमाणोंसे प्रमाणित होता है वही आगमार्थ अतिशयित होता है, अन्य नहीं। तथा वह अश्रुतपूर्व जो पहले नहीं सुना, होना चाहिये।

शङ्का—भव्य और अभव्य जीवोके कानोंमें श्रुत सुननेमे आता ही है तब आप अश्रुत पूर्व कैसे कहते हैं ? यदि श्रुतके अर्थका ज्ञान न होनेसे शब्दमात्र श्रुतको अश्रुत कहते हैं तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि अर्थके उपयोगका भी अनेक बार ज्ञान हो जाता है ?

समाधान—अभिप्राय यह है कि श्रद्धान पूर्वक ज्ञान न होनेसे श्रुत भी अश्रुत होता है। तो जैसे श्रुतका अवगाहन करता है वैसे वैसे नई नई धर्मश्रद्धासे युक्त होता है।

शङ्का—संसारसे भीरुताको संवेग कहते हैं। तब आपका अर्थ धर्म ठीक नही हैं।

समाधान—इसमे कोई दोष नही है। ससारसे भीरुता धर्म परिणामका कारण है। जैसे शस्त्रके आघातके भयसे कवच ग्रहण करते हैं इससे संवेग शब्द संवेगका कार्य जो धर्म है उसको कहता है ॥ १०४ ॥

आयापायविदण्हू वृद्धिहानिक्रमज्ञः। प्रवचनाभ्यासादेवं रत्नत्रयाभिवृद्धिः एवं तथा हानिरिति यो जानाति असौ। 'दंसणणाणतवसंजमे' श्रद्धाने, ज्ञाने, तपसि, संयमे वा। 'ठिच्चा' स्थित्वा। 'विहरदि' प्रवर्तते। 'विसुज्झमाणो' शुद्धिमुपयान्। 'जावज्जीवं' जीवितकालावधि। तु शब्दोऽन्ते नेयः। 'णिक्कंपो दु' विनिष्प्रकंपो निश्चल एवेति यावत्। निःशंकितत्वादिना दर्शनस्य वृद्धि, शंकादिना हानिः। अर्थव्यंजनतदुभयशुद्धया स्वाध्याये चोपयोगात् ज्ञानवृद्धिः। अनुपयोगादपूर्वार्थाग्रहणाच्च ज्ञानहानिः। यथा चोक्तम्—"पुव्वगहिदं पि णाणं [1]संकुडदिअणुवजोगिस्स" इति। तपसो द्वादशविधस्य वृद्धिः संयमभावनया वीर्याविनिगूहनात् ज्ञानोपयोगात्। हानि पुनस्तद्विपर्ययादैहिककार्यासंगाद्वा। सम्यक् पापक्रियाभ्य उपरमः संयमः। पापक्रियाश्चाशुभमनोवाक्काययोगाः तेन चारित्रं संयमः। 'पापक्रियानिवृत्तिश्चारित्रं' इति वचनात्। तस्य संयमस्य वृद्धिः पंचविंशतिभावनाभिर्हानि तासां भावनानां अभावेन। श्रुताद्विना ज्ञानादीनां गुणदोषं वा न वेत्ति। [2]अनिर्ज्ञातगुणः कथं गुणानुपबृंहयेत्, अविदितदोषो वा तांस्त्यजेत्। तेन शिक्षायामादरः कार्यः ॥१०५॥

जिनवचनशिक्षा तपः इत्येतदुच्यते—

बारसविहम्मि य तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
ण वि अत्थि ण वि य होहिदि सज्झायसमं तवो कम्मं ॥१०६॥

निष्कम्पताका कथन करते हैं—

गा०—वृद्धि और हानिके क्रमको जानने वाला श्रद्धान, ज्ञान, तप और संयममें स्थित होकर शुद्धिको प्राप्त होता हुआ जीवन पर्यन्त विहार करता है वह निश्चल ही है ॥ १०५ ॥

टी०—प्रवचनके अभ्याससे जो यह जानता है कि ऐसा करनेसे रत्नत्रयकी वृद्धि होती है और ऐसा करनेसे हानि होती है वह श्रद्धान, ज्ञान, तप, और संयममे स्थित होकर शुद्धिको प्राप्त करता हुआ जीवन पर्यन्त विहार करता है निष्कम्प अर्थात् निश्चल ही है।

निःशंकित आदि गुणोंसे सम्यग्दर्शनकी वृद्धि होती है और शंका आदिसे हानि होती है। अर्थशुद्धि, व्यंजनशुद्धि और उभयशुद्धिसे तथा स्वाध्यायमें उपयोग लगानेसे ज्ञानकी वृद्धि होती है। उपयोग न लगानेसे तथा नवीन अपूर्व अर्थको ग्रहण न करनेसे ज्ञानकी हानि होती है। कहा है—'पूर्वमें ग्रहण किया हुआ भी ज्ञान, जो उसमे उपयोग नही लगाता उसका घट जाता है।' संयमकी भावनासे व अपनी शक्तिको न छिपाकर ज्ञानमे उपयोग लगानेसे बारह प्रकारके तपकी वृद्धि होती है। उससे विपरीत करनेसे और लौकिक कार्योंमे फँसे रहनेसे तपकी हानि होती है। पाप क्रियाओंसे सम्यक् रीतिसे विरत होनेको संयम कहते है। अशुभ मनोयोग, अशुभ वचन योग और अशुभकाय योग पापक्रिया है। अतः चारित्र संयम है। कहा भी है—'पाप क्रियाओंसे निवृत्ति चारित्र है।' उस संयमकी वृद्धि पच्चीस भावनाओंसे होती है और उन भावनाओंके अभावसे संयमको हानि होती है। शास्त्राभ्यासके विना ज्ञान आदिके गुण अथवा दोषको नही जानता। जो गुणोंको नही जानता वह कैसे गुणोको बता सकता है। और जो दोषोंको नहीं जानता वह कैसे उन्हें छोड़ सकता है? अतः शिक्षामें आदर करना चाहिये ॥ १०५ ॥

जिनवचनकी शिक्षा तप है, यह कहते हैं—

---

१. सकुडइविजु–मु०। २. अज्ञात–आ० मु०।

'बारसविहम्मि य' द्वादशप्रकारे। 'तवे' तपसि। 'सब्भंतरबाहिरे' सहाभ्यन्तरबाह्याभ्यां वर्तते इति साभ्यंतरबाह्यं। बाह्यमभ्यंतरं वा तपो मुक्त्वा किमन्यत्तपो नाम यत्ताभ्यां सह वर्तते इत्युच्यते ? तपःसामान्यं विशेषैः सह वर्तते इत्युच्यते। अजाद्यंतत्वात् अभ्यर्हितत्वाच्च अभ्यन्तरशब्दस्य पूर्वनिपातोऽल्पस्वरादपि बाह्यशब्दात्। 'कुसलदिट्ठे' ससारः, संसारकारणं, बंधो, बंधकारण, मोक्षस्तदुपायः इत्यत्र वस्तुनि ये कुशलाः सर्वविदस्तैरुपदिष्टे। 'सज्झायसमं' स्वाध्यायेन सदृशं। 'तवोकम्मं' तप.क्रिया। 'ण वि अत्थि' नैवास्ति। 'ण वि य' नैव। 'होहिदि' भविष्यति। नाप्यासीदिति कालत्रयेऽपि स्वाध्यायसदृशस्यान्यस्य तपसोऽभावः कथ्यते। अत्र चोद्यते—स्वाध्यायोऽपि तपो अनशनाद्यपि तपो बुद्धेरविशेषात् कर्मतपनसामर्थ्यस्याविशेषात्। किमुच्यते स्वाध्यायसदृशं तपो नेति ? कर्मनिर्जराहेतुत्वातिशयापेक्षया सदृशमन्यत्तपो नैवास्तीत्यभिप्रायः। तपो नाम किमात्मपरिणामो भवेत् न वा ? आत्मपरिणामत्वे कथं कस्यचिद्बाह्यता ? अनात्मपरिणामत्वे न निर्जरां कुर्यात् घटादिवदित्यत्रोच्यते–आत्मपरिणाम एव तपः। कथं तर्हि बाह्यता ? बाह्याः सद्धर्ममार्गाद्ये जनाः तैरप्यवगम्यत्वात् बाह्यमित्युच्यतेऽनशनादि बाह्यैर्वाचरणात्। सन्मार्गज्ञा अभ्यन्तराः। तदवगम्यत्वा[1]-त्तैराचरितत्वाद्वा बाह्याभ्यन्तरमिति सूरेरभिप्रायः॥

गा०—सर्वज्ञके द्वारा उपदिष्ट अभ्यन्तर और बाह्यभेद सहित बारह प्रकारके तपमें स्वाध्यायके समान तपक्रिया नहीं है और न होगी ही॥ १०६॥

टी०—शंका—बाह्य और अभ्यंतर तपको छोड़कर अन्य तप क्या है जो बाह्य अभ्यन्तर सहित बारह प्रकारका तप कहते हो ?

समाधान—सामान्य तप विशेषोंके साथ रहता है यह कहनेका अभिप्राय है। यद्यपि बाह्य शब्दमें अल्प स्वर हैं फिर भी अभ्यन्तर शब्दके आदिमें अच् होनेसे तथा पूज्य होनेसे अभ्यन्तर शब्दको प्रथम स्थान दिया है। संसार और संसारके कारण, बन्ध और बन्धके कारण तथा मोक्ष और उसके उपाय इन वस्तुओंमें जो कुशल सर्वज्ञ हैं उनके द्वारा उपदिष्ट तपोंमें स्वाध्यायके समान तप न है, न होगा और न था, इस प्रकार तीनों कालोमें स्वाध्यायके समान अन्य तपका अभाव कहा है।

शंका- स्वाध्याय भी तप है और अनशन आदि भी तप है। दोनोंमें ही कर्मको तपनेकी शक्ति समान है। फिर कैसे कहते है कि स्वाध्यायके समान तप नहीं है ?

समाधान—कर्मोंकी निर्जरामें हेतु जितना स्वाध्याय है उतना अन्य तप नहीं है इस अपेक्षासे उक्त कथन किया है।

शंका—तप, क्या आत्माका परिणाम है अथवा नहीं है ? यदि आत्माका परिणाम तप है तो वह कैसे हुआ ? यदि तप आत्माका परिणाम नही है तो वह कर्मोंकी निर्जरा नहीं कर सकता जैसे घट।

समाधान—आत्माका परिणाम ही तप है। तब आप कहेंगे कि वह बाह्य कैसे है ? समीचीन धर्ममार्गसे जो लोग बाह्य हैं वे भी उन्हे जानते हैं इसलिए अनशन आदिको बाह्य तप कहा है, क्योंकि बाह्य लोग भी उन्हे करते हैं। जो सन्मार्गको जानते हैं वे अभ्यन्तर हैं। उनके द्वारा ज्ञात होनेसे अथवा उनके द्वारा पालन किये जानेसे अभ्यन्तर कहे जाते हैं। इस प्रकार तप

---

१. त्वात् घटादिवत्तै–आ० मु०।

प्रतिज्ञामात्रेण स्वाध्यायस्यान्यतपोभ्योऽतिशयितता न सिद्धयतीति मन्यमानं प्रति अतिशयसाधनायाह—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं ।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि अंतोमुहुत्तेण ॥१०७॥

छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं अण्णाणियस्स जा सोही ।
तत्तो बहुगुणदरिया होज्ज हु जिमिदस्स णाणिस्स ॥१०८॥

'जं' यत् । 'अण्णाणी' सम्यग्ज्ञानरहितः । 'कम्मं' कर्म । 'खवेदि' क्षपयति । 'भवसदसहस्सकोडीहिं' भवशतसहस्रकोटिभिः । 'तं' तत् कर्म । 'णाणी' सम्यग्ज्ञानवान् । 'तिहिं गुत्तो' त्रिगुप्तियुक्तः । 'खवेदि' क्षपयति । 'अंतोमुहुत्तेण' अन्तर्मुहूर्तमात्रेण । झटिति कर्मशातनसामर्थ्यं तपसोऽन्यस्य न विद्यते इत्ययमतिशयः स्वाध्यायस्य ॥१०७॥

स्वाध्याये उद्यतो गुप्तिभावनायां प्रवृत्तो भवति । तत्र च वृत्तस्य रत्नत्रयाराधनं सुखेन भवति इत्युत्तरगाथया कथ्यते—

सज्झायभावणाए य भाविदा होंति सव्वगुत्तीओ ।
गुत्तीहिं भाविदाहिं य मरणे आराधओ होदि ॥१०९॥

मनोवाक्कायव्यापाराः कर्मादानहेतवः सर्व एव व्यावर्तंते स्वाध्याये सति, ततो भाविता भवन्ति गुप्तयः । कृताभिमतावियोगत्रयनिरोधस्य रत्नत्रय एव घटते इति सुखसाध्यता । अनतकालाभ्यस्ताशुभ-

---

बाह्य और अभ्यन्तर कहे गये है ऐसा आचार्यका अभिप्राय है ॥१०६॥

जो कहता है कि केवल कहने मात्रसे स्वाध्यायकी अन्य तपोंसे श्रेष्ठता सिद्ध नही हो सकती, उसके प्रति श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं—

गा०—सम्यग्ज्ञानसे रहित अज्ञानी जिस कर्मको लाख करोड़ भवोंमें नष्ट करता है, उस कर्मको सम्यग्ज्ञानी तीन गुप्तियोंसे युक्त हुआ अन्तर्मुहूर्तमात्रमें क्षय करता है ॥१०७॥

गा०—अज्ञानीके दो, तीन, चार, पाँच आदि उपवास करनेसे जितनी विशुद्धि होती है उससे बहुत गुणी शुद्धि जीमते हुए ज्ञानीके होती है ॥१०८॥

टी०—इतनी शीघ्रतासे कर्मोंको काटनेकी शक्ति अन्य तपमें नहीं है, यह स्वाध्यायका अतिशय है ॥१०८॥

जो स्वाध्यायमें तत्पर होता है वह गुप्ति भावनामें प्रवृत्त होता है । और जो गुप्ति भावनामें प्रवृत्त होता है वह रत्नत्रयकी आराधना सुख पूर्वक करता है वह आगेकी गाथासे कहते है—

गा०—स्वाध्याय भावनासे सब गुप्तियाँ भावित होती है । और गुप्तियोंकी भावनासे मरते समय रत्नत्रय रूप परिणामोंकी आराधनामें तत्पर होता है ॥१०९॥

टी०—स्वाध्याय करनेपर मन वचन कायके सब ही व्यापार, जो कर्मोंके लानेमें कारण हैं रुके जाते हैं । ऐसा होनेसे गुप्तियाँ भावित होती हैं । और तीनों योगोका निरोध करने वाला मुनि रत्नत्रयमें ही लगता है । अतः रत्नत्रय सुख पूर्वक साध्य होता है, इसका भाव यह है कि

योगत्रयस्य कर्मोदयसहायस्य व्यावर्तनमतिदुष्करं स्वाध्यायभावनैव क्षमा कर्तुमिति भाव.। 'सज्झायभावणाए य' स्वाध्यायभावनया वा। 'भाविवा' भाविताः। 'होंति' भवन्ति। 'सव्वगुत्तीओ' सर्वगुप्तयः। 'गुत्तीहिं' गुप्तिभिः। 'भाविदाहिं' भाविताभिः। 'मरणे' मरणकाले। 'आराधगो' रत्नत्रयपरिणामाराधनपरः। 'होदि' भवति। स्वाध्यायभावनारतः परस्योपदेशको भवन् इतरोऽज्ञः कमुपकारं परस्य संपादयेदभव्यस्य ।१०९ ॥

परस्योपदेशकत्वे किमस्यायातमित्यत्राह—

आदपरसमुद्धारो आणा वच्छल्लदीवणा भत्ती।
होदि परदेसगत्ते अव्वोच्छित्ती य तित्थस्स ॥११०॥

'आदपरसमुद्धारो' आत्मनः परस्य वा उद्धरणमुद्दिश्य व्यापृतः स्वाध्याये स्वकर्माण्यपि साधयति परेषामप्युपयुक्तानां। 'आणा' "श्रेयोर्थिना हि जिनशासनवत्सलेन कर्तव्य एव नियमेन हितोपदेशः" (वरांगच० १।१३।) इत्याज्ञा सर्वविदा, सा परिपालिता भवतीति शेष.। 'वच्छल्लदीवणा' वात्सल्यप्रभावना परेषामुपदेशकत्वे कृता भवति। 'भत्ती' भक्तिश्च कृता भवति जिनवचने तदभ्यासात्। 'होदि' भवति। 'परदेसगत्ते' परेषामुपदेष्टृकत्वे सति। 'अव्वोच्छित्ती य' अव्युच्छित्तिश्च। 'तित्थस्स' तिसु चिट्ठदित्ति तित्थं मोक्षमार्गः श्रुतं वा। श्रुतमपि रत्नत्रयनिरूपणे व्यापृतत्वात् त्रत्रस्थं भवति। ततोऽयं अर्थः—श्रुतस्य मोक्षमार्गस्य वा अव्युच्छित्तिरिति ॥ ११०॥ सिक्खा गदा ॥

लिंगग्रहणानंतरं ज्ञानसंपत्तिः कार्या, ज्ञानसंपदि वर्तमानेन विनयोऽनुष्ठातव्य। स च पंचप्रकार इत्याह—

विणओ पुण पंचविहो णिद्दिट्ठो णाणदंसणचरित्ते।
तवविणवो य चउत्थो चरिमो उवयारिओ विणओ ॥१११॥

अनन्तकालसे जिन तीन अशुभयोगोंका इस जीवने अभ्यास किया हुआ है और कर्मका उदय जिसका सहायक है उससे अलग होना अत्यन्त कठिन है। स्वाध्यायकी भावना ही इसे करनेमें समर्थ है ॥१०९॥

जो स्वाध्यायकी भावनामे लीन रहता है वह दूसरोंको भी उपदेश करता है किन्तु जो स्वयं अज्ञानी है वह किसी अन्य भव्यका भी क्या उपकार कर सकता है? ऐसी स्थितिमें परको उपदेश देनेपर इसे क्या लाभ है, यह कहते है—

गा०—टी०-अपने और दूसरोके उद्धारके उद्देशसे जो स्वाध्यायमें लगता है वह अपने भी कर्मोको काटता है और उसमें उपयुक्त दूसरोंके भी कर्मोंको काटता है। सर्वज्ञ भगवानकी जो आज्ञा है कि कल्याणके इच्छुक जिन शासनके प्रेमीको नियमसे धर्मोपदेश करना चाहिये, उसका भी पालन होता है। दूसरोंको उपदेश करने पर वात्सल्य और प्रभावना होती है। जिन वचनके अभ्याससे जिन वचनमें भक्ति प्रदर्शित होती है। दूसरोंको उपदेश करनेपर मोक्षमार्ग अथवा श्रुतरूप तीर्थकी अव्युच्छित्ती—परम्पराका अविनाश होता है। श्रुत भी रत्नत्रयके कथनमें संलग्न होनेसे तीर्थ है। अतः स्वाध्याय पूर्वक परोपदेश करनेसे श्रुत और मोक्षमार्गका विच्छेद नहीं होता। वे सदा प्रवर्तित रहते हैं ॥११०॥

लिंग स्वीकार करनेके पश्चात् ज्ञानरूप सम्पदाका संचय करना चाहिये। और ज्ञान सम्पदाका संचय करते हुए विनय करनी चाहिये। उसके पाँच भेद हैं—उन्हें कहते हैं—

विनयत्यपनयति यत्कर्माशुभं तद्विनयः। तथा चोक्तं—"जह्मा विणेदि कम्मं अट्ठविहं चाउरंग मोक्खो य" (मूलाचार ७।८१) इति। 'पुण'-पश्चात् जिनवचनाभ्यासोत्तरकालं। 'पंचविहो' पंचप्रकारः। 'णिद्दिट्ठो' निर्दिष्टः। 'णाणदंसणचरित्ते' विषयलक्षणेय सप्तमी। ज्ञानदर्शनचारित्रविषयः।। 'तवविणओ य' तपसि विनयश्च।। 'चउत्थो' चतुर्थः। 'चरमो' अन्त्यः।। 'उवचारिओ विणयो' उपचारविनयश्चेति।।

ज्ञानविनयभेदानाचष्टे—

काले विणये उवधाणे बहुमाणे तहेव णिण्हवणे।
वंजण अत्थ तदुभये विणओ णाणम्मि अठ्ठविहो ।।११२।।

[1]'काले' स्वाध्यायवाचनकालाविह कालशब्देन गृह्येते। अन्यथा कालमन्तरेण कस्यचिदपि वृत्त्यभावात् कालग्रहणमनर्थकं स्यात्। भवतु नाम कालविशेषः कालशब्दवाच्यः तथापि नासौ विनयो न कर्म व्यपनयतीति, यदि व्यपनयेत्सर्वस्याकर्मता प्राप्नुयात्। 'काले' इति सप्तम्यंत पदं। तेन वाक्यशेषपुरस्सरोऽयं सूत्रार्थो जायते। साध्याहारत्वात् सर्वं सूत्राणां। काले अध्ययनमिति। परिवर्जनीयत्वेन निर्दिष्टं कालं संध्यापर्व-दिग्दाहोल्कापातादिकं परिहृत्याध्ययनं कर्म विनयति इति विणए इति प्रथमान्तः। विनयः श्रुतश्रुतधर-माहात्म्यस्तवनं श्रुतश्रुतधरभक्तिरिति यावत्।

गा०—जिनवचनके अभ्यासके पश्चात् विनय पाँच प्रकारकी कही है। ज्ञानविनय दर्शन-विनय चारित्रविनय और चतुर्थ तपविनय और अन्तिम उपचार विनय है ।।१११।।

टी०—'विनयति' जो अशुभ कर्मको दूर करती है वह विनय है। कहा है—यतः आठ प्रकारके कर्मोंको दूर करती है अतः विनय है ।।१११।।

ज्ञान विनयके भेदोंको कहते हैं—

गा०—काल, विनय, उपधान, बहुमान, तथा निह्नव, व्यंजनशुद्धि, अर्थशुद्धि, उभयशुद्धि ये ज्ञानके विषयमें आठ प्रकारकी विनय है ।।११२।।

टी०—यहाँ काल शब्दसे स्वाध्यायकाल और वाचन काल ग्रहण किये जाते हैं। अन्यथा कालके बिना किसीका भी अस्तित्व संभव न होनेसे कालका ग्रहण व्यर्थ हो जायेगा।

शंका—काल शब्दका वाच्य काल विशेष रहो। किन्तु काल विनय नही है क्योंकि काल कर्मको नष्ट नहीं करता। यदि करे तो सब ही जीव कर्म रहित हो जायेंगे?

समाधान—'काले' यह सप्तमी विभक्तिसे युक्त पद है अतः इसके साथमें शेष वाक्य जोड़नेसे सूत्रार्थ होता है; क्योंकि सभी सूत्र अध्याहार सहित होते हैं। उनमें ऊपरसे कुछ वाक्य जोड़ना होता है। अतः 'कालमें अध्ययन' यह उसका अर्थ होता है। सन्ध्या, पर्व, किसी, दिशामें आग लगना, उल्कापात आदि जो काल छोड़ने योग्य कहे हैं उन कालोंको छोड़कर किया गया अध्ययन कर्मको नष्ट करता है। 'विणए' यह प्रथमान्त शब्द है। श्रुत और श्रुतके धारकोंके माहात्म्यका स्तवन अर्थात् श्रुत और श्रुतके धारकोंकी भक्ति विनय है।

---

१ 'काले·······प्राप्नुयात्' इत्येतद् प्रतिषु उत्थानिकारूपेण लिखितम्।

'उवहाणे' अवग्रहः । यावदिदमनुयोगद्वारं निष्ठामुपैति तावदिदं मया न भोक्तव्यं, इदं अनशनं चतुर्थ-षष्ठादिकं करिष्यामीति संकल्पः । स च कर्म अपनयतीति विनयः ।

'बहुमाणे' सन्मानं । शुचेः कृतांजलिपुटस्य अनाक्षिप्तमनसः सादरमध्ययनं । 'तह' तथा ।

'अणिण्हवणे' अनिह्नवश्च निह्नवोऽपलापः । कस्यचित्सकाशे श्रुतमधीत्यान्यो गुरुरित्यभिधानमपलापः । वंजण अत्थ तदुभये' व्यंजनं शब्दप्रकाशनं, अर्थः शब्दवाच्यः, तदुभयशब्देन व्यंजनमर्थश्च निर्दिश्यते । वंजण अत्थतदुभये व्यंजनं च अर्थश्च तदुभयं चेति द्वंद्वे कृते सर्वो द्वंद्वो विभाषया एकवद् भवतीति एकवद्भावार्थस्य एकवचनं कृतं । अर्थशब्दस्य अजाद्यदंतत्वादल्पाच्तरत्वाच्च पूर्वनिपातप्रसंग इति चेन्न, सर्वतोऽभ्यर्हितं पूर्वं निपततीति इति व्यंजनशब्दः पूर्वं प्रयुज्यते । कथमभ्यर्हितं ? स्वयं परप्रत्ययहेतुत्वात्स्वयं च शब्दश्रुतादेवार्थयाथात्म्यमवैति परं चावबोधयति । अत्र च 'वंजणअत्थतदुभये सुद्धी' इति शेषः ।

तत्र व्यंजनशुद्धिर्नाम यथा गणधरादिभिर्द्वात्रिंशद्दोषवर्जितानि सूत्राणि कृतानि तेषां तथैव पाठः । शब्दश्रुतस्यापि व्यज्यते ज्ञायते अनेनेति विग्रहे ज्ञानशब्देन गृहीतत्वात् तन्मूलं हि श्रुतज्ञानं ।

उपधानका अर्थ अवग्रह है। जब तक आगमका यह अनुयोगद्वार समाप्त नहीं होता तब तक मैं अमुक वस्तु नहीं खाऊँगा। या यह अनशन या चतुर्थ अथवा षष्ठम उपवास करूँगा इस प्रकारका संकल्प अवग्रह है। वह भी कर्मको दूर करता है अतः विनय है।

बहुमाणका अर्थ सन्मान है। पवित्र हो, दोनो हाथ जोड़ और मनको निश्चल करके सादर अध्ययन बहुमान है।

निह्नव अपलापको कहते हैं। किसीके पासमें अध्ययन करके उससे अन्यको गुरु कहना है अपलाप है।

व्यंजन शब्दके प्रकाशनको कहते हैं। शब्दके वाच्यको अर्थ कहते हैं। 'तदुभय शब्दसे व्यंजन और अर्थ कहे जाते हैं। 'व्यंजन और अर्थ और तदुभय' इस प्रकार द्वन्द्व समास करनेपर सब द्वन्द्वोंमें विकल्पसे एकवद्भाव होता है इसलिये एक वचन किया है।

शंका—अर्थ शब्दके आदिमें अच् होनेसे और अल्प अच्वाला होनेसे पूर्व निपातका अर्थात् प्रथम रखनेका प्रसंग आता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि जो सबसे पूज्य होता है वह प्रथम रखा जाता है इसलिये व्यंजन शब्दका प्रयोग पहले किया है।

शंका—व्यंजन सबसे पूज्य क्यों है ?

समाधान—व्यंजन अर्थात् शब्द स्वयं दूसरोंको ज्ञान करानेमें हेतु है, और स्वयं शब्द श्रुत से ही वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जानता है तथा दूसरोंको ज्ञान कराता है।

यहाँ व्यंजन अर्थ और तदुभयके साथ शुद्धि शब्द लगाना चाहिये। गणधर आदिने जैसे बत्तीस दोषोंसे रहित सूत्र रचे हैं उनका वैसा ही पाठ व्यंजन शुद्धि है। 'व्यज्यते' अर्थात् जिसके द्वारा जाना जाता है ऐसा विग्रह करनेपर ज्ञान शब्दसे शब्दश्रुतका भी ग्रहण होता है क्योंकि श्रुतज्ञानका मूल शब्द है।

अथ अर्थशब्देन किमुच्यते ? व्यंजनशब्दस्य[1] सांनिध्यादर्थशब्दः शब्दाभिधेये वर्तते, तेन सूत्रार्थोऽर्थ इति गृह्यते। तस्य का शुद्धिः ? [2]अविपरीतरूपेण सूत्रार्थनिरूपणायां अर्थाधारत्वान्निरूपणाया अवैपरीत्यस्य अर्थशुद्धिरित्युच्यते। सूत्रार्थनिरूपणायाः शब्दश्रुतत्वादविपरीतनिरूपणापि व्यंजनशुद्धिरेव भवतीति नार्थशुद्धिः कदाचिदिति चेत्, न परकृतं शब्दश्रुता[3]विपरीतपाठे। व्यंजनशुद्धिस्तदर्थनिरूपणाया अवैपरीत्यं अर्थशुद्धिः। ज्ञानश्रुते तु अर्थयाथात्म्यप्रतिभासोऽर्थशुद्धिः ॥

तदुभयशुद्धिर्नाम तस्य व्यंजनस्य अर्थस्य च शुद्धिः।

ननु व्यंजनार्थशुद्ध्योः प्रतिपादितयोः तदुभयशुद्धिर्गृहीता न तद्व्यतिरेकेण तदुभयशुद्धिर्नामास्ति ततः कथमष्टविधता ? अत्रोच्यते-पुरुषभेदापेक्षयेयं निरूपणा—

कश्चिदविपरीतं सूत्रार्थं व्याचष्टे सूत्रं तु विपरीतं पठति। तत्तथा न कार्यमिति व्यंजनशुद्धिरुक्ता। अन्यस्तु सूत्रमविपरीतं पठन्नपि निरूपयत्यन्यथा सूत्रार्थं इति तन्निराकृतयेऽर्थशुद्धिरुदाहृता। अपरस्तु सूत्रं विपरीतमधीते सूत्रार्थं च कथयितुकामो विपरीतं व्याचष्टे तदुभयापाकृतये उभयशुद्धिरुपन्यस्ता। अयमष्टप्रकारो ज्ञानाभासपरिकरोऽष्टविधं कर्म विनयति व्यपनयति विनयशब्दवाच्यो भवतीति सूरेरभिप्रायः ॥११२॥

व्यंजन शब्दकी समीपतासे अर्थशब्द शब्दके वाच्यको कहता है अतः अर्थसे सूत्रार्थका ग्रहण होता है। अविपरीत रूपसे सूत्रके अर्थकी निरूपणामें निरूपणाका आधार अर्थ होता है। अतः निरूपणाकी अविपरीतताको अर्थ शुद्धि कहते हैं अर्थात् सूत्रके अर्थका यथार्थ कथन अर्थ शुद्धि है।

शंका—सूत्रके अर्थकी निरूपणा शब्दश्रुत रूप होती है अतः अविपरीत निरूपणा भी व्यंजन शुद्धि ही हुई, अर्थ शुद्धि कभी भी नहीं है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि दूसरेके द्वारा किया गया शब्दश्रुतका अविपरीत पाठ व्यंजन शुद्धि है। और उसके अर्थका अविपरीत निरूपण अर्थ शुद्धि है। किन्तु ज्ञानरूप श्रुतमें अर्थका ठीक-ठीक ज्ञान अर्थ शुद्धि है। व्यंजन और अर्थकी शुद्धिको तदुभय शुद्धि कहते हैं।

शंका—व्यंजन शुद्धि और अर्थशुद्धिके कहनेपर तदुभय शुद्धि आ जाती है क्योंकि उन दोनों शुद्धियोंके बिना तदुभय शुद्धि नहीं होती। तब आठ भेद कैसे रहे ?

समाधान—यह निरूपणा पुरुष भेदकी अपेक्षासे है। कोई व्यक्ति सूत्रका अर्थ तो ठीक कहता है किन्तु सूत्रको विपरीत पढ़ता है। ऐसा नहीं करना चाहिये इसके लिए व्यंजन शुद्धि कही है। दूसरा व्यक्ति सूत्र तो ठीक पढ़ता है किन्तु सूत्रका अर्थ अन्यथा कहता है उसके निराकरणके लिये अर्थ शुद्धि कही। तीसरा व्यक्ति सूत्रको ठीक नहीं पढ़ता और सूत्रका अर्थ भी विपरीत करता है। इन दोनोंको दूर करनेके लिये उभय शुद्धि कही है। यह आठ प्रकारका ज्ञानाभ्यासका परिकर आठ प्रकारके कर्मोंका विनयन करता है उन्हें दूर करता है इसलिये उसे विनय शब्दसे कहते हैं यह आचार्यका अभिप्राय है ॥११२॥

---

१. कस्य मां—आ० मु०। २. विपरीत—आ० मु०। ३. श्रुतवि०—अ०।

दर्शनविनयसूचनपरोत्तरगाथा—

उवगूहणा[1]दिया पुव्वुत्ता तह भत्तिया[2]दिया य गुणा ।
संकादिवज्जणं पि णेओ सम्मत्तविणओ सो ॥११३॥

उवगूहणादिया उपबृंहणादिकाः । उपबृंहणं, स्थितिकरणं, वात्सल्यं, प्रभावना चेत्येते । 'पुव्वुत्ता' पूर्वाचार्यैरुक्ताः पूर्वोक्ताः । अस्मात् सूत्रात्पूर्वेण च सूत्रेण "उवगूहणठिदिकरणं वच्छल्लपभावणा भणिदा" इत्यनेनोक्ताः पूर्वमुक्ताः । पूर्वोक्तो वा सम्मत्तविणओ सम्यक्त्वविनय इति सम्बन्धनीयं । 'तह भत्तियादिया य गुणा' तथा भक्त्यादिकाश्च गुणाः विनयस्तथा ते तत्प्रकारेण अवस्थिताः इति । अर्हदादिविषया भक्त्यादिगुणा इति यावत् । 'संकादिवज्जणं पि य' शंकादिवर्जनं च । चशब्दः पादपूरणः । 'णेओ' ज्ञेयः ॥ 'सम्मत्तविणओ' सम्यक्त्वविनय इति ॥ उपबृंहणादीनां भक्त्यादीनां च गुणानां बहुत्वात् तेषामेव च विनयत्वात् सम्मत्तविणया इति वाच्यमिति चेत्, विनयसामान्यापेक्षया तस्यैकत्वादेकवचनेन पदसंस्कारः कृतो न निवर्तते । न च पदान्तर-वाच्यापेक्षया बहुत्वमस्तीत्येतावता अप्रातिपदिकात् सुबुत्पद्यते । तथा च प्रयोगः वृक्षा वनमिति ॥११३॥

चारित्रविनयनिरूपणापरा गाथा—

इंदियकसायपणिधाणं पि य गुत्तीओ चेव समिदीओ ।
एसो चरित्तविणओ समासदो होइ णायव्वो ॥११४॥

आगे दर्शनविनयका कथन करते हैं—

गा०—पूर्वोक्त उपगूहण या उपबृंहण आदि तथा भक्ति आदि गुण, शंका आदिका त्याग यह सम्यक्त्वविनय जानो ॥११३॥

टी०—पूर्वोक्त अर्थात् पूर्वाचार्योंके द्वारा कहे गये, या इससे पहलेके गाथा सूत्र 'उवगूहण ठ्ठिदिकरणं वच्छल्ल पभावणा भणिदा' के द्वारा कहे गये उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये गुण सम्यक्त्वविनय है । तथा अर्हन्त आदि विषयक भक्ति आदि गुण सम्यक्त्वविनय है और शंका आदि दोषोका त्याग सम्यक्त्व विनय है ।

शंका—उपबृंहण आदि और भक्ति आदि गुण बहुत हैं और वे गुण ही सम्यक्त्वकी विनय रूप है । इस लिये गाथामें 'सम्मत्तविणया' इस प्रकार बहुवचनका प्रयोग करना चाहिये ?

समाधान—विनय सामान्यकी अपेक्षा सम्यक्त्व विनय एक है अतः एक वचन पदका प्रयोग किया है । विनय पदके वाच्य बहुत होनेसे बहुपना संभव नहीं है क्योंकि 'वृक्षा वनम्' ऐसा प्रयोग होता है अर्थात् वृक्ष बहुत होनेसे 'वन' में बहुवचनका प्रयोग जैसे नही हुआ वैसे ही यहाँ भी जानना ॥११३॥

अब चारित्र विनयका कथन करते है—

गा०—इन्द्रिय और कषायरूपसे आत्माकी परिणति न होना, और गुप्तियाँ और समितियां, यह संक्षेपसे चारित्र विनय ज्ञातव्य है ॥११४॥

---

१ णमादीया अ० । २. भत्तियादि गुणा अ० ।

इंदियकसायपणिधाणं पि य । इंद्र आत्मा तस्य लिंगमिंद्रियं । यत्करणं तत्कर्तृमद्यथा—परशुः । करणं च चक्षुरादिकं । तेनास्य कर्त्रा केनचिद्भाव्यमिति । तच्च द्विविधं द्रव्येंद्रियं भावेन्द्रियमिति । तत्र द्रव्येन्द्रियं नाम निर्वृत्युपकरणे । मसूरिकादिसंस्थानो यः शरीरावयवः कर्मणा निर्वर्त्यते इति निर्वृतिः । उपक्रियतेऽनुगृह्यते ज्ञानसाधनमिंद्रियमनेनेत्युपकरणं अक्षिपत्रशुक्लकृष्णतारकादिकं । भावेंद्रियं नाम ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषोपलब्धिः, द्रव्येंद्रियनिमित्तरूपाद्युपलब्धिश्च । इह इंद्रियशब्देन मनोज्ञामनोज्ञरूपादिसांन्निध्ये रागकोपानुगरूपादिनिर्भासाः प्रतीतयो गृहीताः ।

[1]कषयंति हिंसंति आत्मक्षेत्रमिति कषायाः । अथवा तरूणां [2]वल्कलरसः कषायः, कषाय इव कषाय इत्युपमाद्वारेण क्रोधादौ वर्तते कषायशब्द उपमार्थः । यथा कषायो वस्त्रादेः शौक्ल्यशुद्धिमपनयति, निराकर्तुं चाशक्यस्तद्वदात्मनो ज्ञानदर्शनशुद्धिं विनाशयति, आत्मावलग्नश्च दु.खेनापोह्यते इति । यथा वा पटादेः स्थैर्यं करोति कषायस्तद्वदेव कर्मणां स्थितिप्रकर्षमात्मनि निदधाति क्रोधादिः । इन्द्रियाणि च कषायाश्च इन्द्रियकषायाः । इन्द्रियकषाययोः अप्रणिधानं अनाक्षेपः आत्मनो व्यावर्णितेंद्रियकषायापरिणति. । 'गुत्ती ओ चेव' गुप्तयश्च । संसारकारणादात्मनो गोपनं गुप्तिः ।

संसारस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावभवपरिवर्तनस्य कारणं कर्म ज्ञानावरणादि । तस्मात्संसारकारणादात्मनो

टी०—इन्द्र आत्माको कहते हैं । उसका लिंग इन्द्रिय है । जो करण होता है वह कर्तावाला है जैसे परशु । चक्षु आदि करण है । अतः उनका कोई कर्ता होना चाहिये । वह इन्द्रिय दो प्रकार की है—भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय । उनमेंसे निर्वृत्ति और उपकरण द्रव्येन्द्रिय है । कर्मकेद्वारा जो मसूर आदिके आकाररूप शरीरका अवयव रचा जाता है वह निर्वृति है । और जिसके द्वारा ज्ञानकी साधन इन्द्रिय उपकृत होती है वह उपकरण है । जैसे आँखके पलक, आँखकी काली सफेद तारिका । ज्ञानावरणके क्षयोपशम विशेषकी प्राप्तिको भावेन्द्रिय कहते हैं । और द्रव्येन्द्रियके निमित्तसे जो रूपादिका बोध होता है वह भी भावेन्द्रिय है । यहाँ इन्द्रिय शब्दसे मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपादिके प्राप्त होनेपर जो राग और कोपको लिये हुए रूपादिकी प्रतीति होती है उनको ग्रहण किया है ।

जो 'कषयन्ति' आत्माका घात करती है वे कषाय है । अथवा वृक्षोंकी छालके रसको कषाय कहते हैं । कषायके समान जो है वह कषाय है । इस उपमाके द्वारा क्रोधादिको कषाय शब्दसे कहते है । यह उपमा रूप अर्थ है । जैसे कषाय—वृक्षकी छालका रस यदि वस्त्रपर लग जाता है तो उसकी सफेदीको हर लेता है और उसे दूर करना अशक्य होता है । उसी तरह क्रोधादि आत्माकी ज्ञान दर्शन रूप शुद्धिको नष्ट कर देता है । और आत्मासे सम्बद्ध होनेपर बड़े कष्टसे छूटता है । तथा जैसे कषाय वस्त्रादिको टिकाऊ करती है वैसे ही क्रोधादि आत्मामें कर्मों की स्थितिको बढ़ाते हैं । इन इन्द्रिय और कषायमें अप्रणिधान अर्थात् आत्माका कहे गये इन्द्रिय और कषाय रूपसे परिणत न होना चारित्र विनय है ।

संसारके कारणोसे आत्माके गोपनको गुप्ति कहते हैं । द्रव्य परिवर्तन, क्षेत्र परिवर्तन, काल परिवर्तन भाव परिवर्तन और भव परिवर्तन रूप संसारके कारण ज्ञानावरण आदि कर्म हैं ।

---

१. का ॰ मु॰ । २. वाल्क—आ॰ मु॰ ।

गोपनं रक्षा गुप्तिरित्याख्यायते । भावे क्तिः, अपादानसाधनो वा, यतो गोपनं सा गुप्तिः । गोपयतीति कर्तृसाधनो वा क्तिन् । शब्दार्थव्यवस्थेयम् । किं स्वरूपं तस्या इति चेत् । सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः । कायवाङ्मनःकर्मणां प्राकाम्याभावो निग्रहः, यथेष्टचारिताभावो गुप्तिः । सम्यगिति विशेषणात्पूजापुरस्सरां क्रियां संयतो महानयमिति यशस्तामपेक्ष्य पारलौकिकमिन्द्रियसुखं वा क्रियमाणा गुप्तिरिति कथ्यते । इति सूरयो व्यवस्थिताः । रागकोपाभ्यां अनुपप्लुता नोइंद्रियमतिः मनोगुप्तिरिति ब्रूमहे । एवं चायं वक्ष्यति सूत्रकारो 'जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुत्ति' मिति । अनृतपरुषकर्कशमिथ्यात्वासंयमनिमित्तवचनानां अवक्तृता वाग्गुप्तिः । अप्रमत्ततया यदप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितभूभागेऽचंक्रमणं, द्रव्यांतरादाननिक्षेपशयनासनक्रियाणां अकरणं कायगुप्तिः कायोत्सर्गो वा ।

'समिदीओ' समितयः । प्राणिपीडापरिहारादरवतः सम्यगयनं प्रवृत्तिः समितिः । सम्यग्विशेषणाज्जीवनिकायस्वरूपज्ञानश्रद्धानपुरस्सरा प्रवृत्तिर्गृहीता । ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः पंचसमितयः । ईर्यादिसमितीनां वाक्कायगुप्तिभ्यां अविशेषस्ततो भेदेनोपादानमनर्थकं, प्राणिपीडाकारिण्याः कायक्रियाया निवृत्तिः कायगुप्तिः, ईर्यादिसमितयश्च तथाभूतकायक्रियानिवृत्तिरूपा । अत्रोच्यते—निवृत्तिरूपा गुप्तयः प्रवृत्तिरूपाः समितयः इति भेदः विशिष्टा गमनभाषणाभ्यवहरणग्रहणनिक्षेपणोत्सर्गक्रियाः समितय इति उच्यन्ते । 'एसो'

उन संसारके कारणोंसे आत्माका गोपन अर्थात् रक्षा गुप्ति कही जाती है । यहाँ भाव साधनमें क्ति प्रत्यय हुआ है । अथवा अपादान साधन कर लेना । जिससे गोपन हो वह गुप्ति है । अथवा जो रक्षा करता है वह गुप्ति है इस कर्तृसाधनमें क्तिन् प्रत्यय करनेसे गुप्ति शब्द बनता है, यह शब्दार्थ व्यवस्था है । गुप्तिका स्वरूप दूसरा है योगके सम्यक् निग्रहको गुप्ति कहते हैं । काय, वचन और मनकी क्रियाओंकी स्वेच्छारिताके अभावको निग्रह कहते हैं । स्वेच्छाचारिताका अभाव गुप्ति है । सम्यक् विशेषणसे पूजा पूर्वक क्रियाकी और यह महान संयमी है इस यशकी अपेक्षाके बिना तथा पारलौकिक इन्द्रिय सुखकी इच्छाके बिना जो योग निग्रह किया जाता है वह गुप्ति कही जाती है । ऐसा आचार्योंने कहा है ।

मनका राग और क्रोध आदिसे अप्रभावित होना मनोगुप्ति है । आगे ग्रन्थकार कहेंगे—मनका रागादिसे निवृत्त होना मनोगुप्ति है । असत्य, कठोर और कर्कश वचनोंको तथा मिथ्यात्व और असंयममें निमित्त वचनोंको न बोलना वचनगुप्ति है । अप्रमादी होनेसे बिना देखी और बिना बुहारी हुई भूमिमें गमन न करना तथा किसी वस्तुका उठाना, रखना, सोना बैठना आदि क्रियाओंका न करना कायगुप्ति है । अथवा कायसे ममत्वका त्याग कायगुप्ति है ।

प्राणियोंको पीड़ा न हो, इस भावसे सम्यक् रूपसे प्रवृत्ति करना समिति है । सम्यक् विशेषणसे जीवके समूहोंके स्वरूपका ज्ञान और श्रद्धान पूर्वक प्रवृत्ति ली गई है । समिति पाँच हैं—ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग ।

शंका—ईर्या आदि समितियाँ वचन गुप्ति और काय गुप्तिसे भिन्न नहीं है । अतः उनका अलगसे कथन व्यर्थ है, क्योंकि प्राणियोंको पीड़ा पहुँचाने वाली शारीरिक क्रियासे निवृत्तिको काय गुप्ति कहते हैं । ईर्या आदि समितियाँ भी उसी प्रकारकी कायक्रियाकी निवृत्ति रूप हैं ।

समाधान—गुप्तियाँ निवृत्ति रूप हैं और समितियाँ प्रवृत्ति रूप हैं, यह इन दोनोंमें भेद है ।

---

१. यथोक्त—आ० ।

एषः। 'चरित्तविणओ' चारित्रविनयः। 'समासदो' संक्षेपतः। 'णादव्वो' ज्ञातव्य। 'होदि' भवति।

इंद्रियकषायाप्रणिधानं मनोगुप्तिरेव किमर्थं पृथगुच्यते? सत्यम्। वाक्कायगुप्त्योरेव गुत्तीओ इत्यनेन परिग्रहः। अथवा रागद्वेषमिथ्यात्वाद्यशुभपरिणामविरहो मनोगुप्तिः सामान्यभूता। इंद्रियकषायाप्रणिधानं तद्विशेषः। सामान्यविशेषयोश्च कथंचिद्भेदान्न पौनरुक्त्यं। मनोगुप्तावन्तर्भूतस्यापि इंद्रियकषायाप्रणिधानस्य भेदेनोपादानं चारित्रार्थिनोऽवश्यं परिहार्यत्वख्यापनार्थं वा।

ननु त्रयोदशविधं चारित्रं पंच महाव्रतानि, पंच समितयः, तिस्रो गुप्तयः इति। ततः समितीनां गुप्तीनां चारित्रत्वे चारित्रस्य विनय इति कथं भेदेनाभिधानं? व्रतान्येवात्र चारित्रशब्देनोच्यते। तेषां परिकरत्वेनावस्थिताः गुप्तयः समितयश्चेति सूत्रकारस्याभिप्रायः। तथा चोक्तमन्यैः 'कर्मादाननिमित्तक्रियाभ्यश्च विरतिः अहिंसाभेदेन पंचप्रकारा गुप्तिसमितिविस्तारः[1] संक्षेपो भवति। कश्चारित्रविनयव्यास[2] इति चेत् पंचविंशतिभावनाः। 'तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच पंचेति' (त० सू० ७।३) निरूपिता ॥११४॥

गमन, भाषण, भोजन, ग्रहणनिक्षेप और मल मूत्र त्याग रूप क्रियाको समिति कहते हैं। ये सब संक्षेपसे चारित्र विनय है।

शंका—इन्द्रिय और कषायमे उपयोग न लगाना तो मनोगुप्ति ही है, उसे पृथक् क्यो कहा?

समाधान—आपका कहना सत्य है। यहाँ 'गुत्तीओ' से वचन गुप्ति और कायगुप्तिका ही ग्रहण किया है।

अथवा रागद्वेष मिथ्यात्व आदि अशुभ परिणामोंका अभाव सामान्य मनोगुप्ति है। और इन्द्रिय तथा कषायमें उपयोगका न होना विशेष मनोगुप्ति है। और सामान्य तथा विशेषमें कथंचित् भेद होनेसे पुनरुक्तता दोष नहीं है। अथवा इन्द्रिय और कषायका अप्रणिधान यद्यपि मनोगुप्तिमें आ जाता है फिर भी उसका पृथक् ग्रहण चारित्रके इच्छुकोंको उसका त्याग अवश्य करना चाहिये, यह बतलानेके लिये किया है।

शंका—चारित्रके तेरह भेद हैं—पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति। अतः समिति और गुप्ति चारित्र हैं। तब इन्हे चारित्रकी विनयके रूपमें भिन्न क्यों कहा है?

समाधान—यहाँ चारित्र शब्दसे व्रत ही कहे गये हैं। गुप्ति और समितियाँ उन व्रतोंके परिकर रूपसे स्थित हैं यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है। अन्य आचार्योंने भी कहा है—कर्मोंको लानेमें निमित्त क्रियाओंसे विरति अहिंसा आदिके भेदसे पाँच प्रकारकी है। गुप्ति समिति उनका विस्तार है।

शंका—चारित्र विनयका विस्तार क्या है?

समाधान—पाँच व्रतोंकी पच्चीस भावना विस्तार है। तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा है—उन व्रतों-की स्थिरताके लिये पाँच-पाँच भावना है ॥११४॥

---

१. स्तारसं-आ० मु०। २. वन्यास-आ० मु०।

पणिधाणं पि य दुविहं इंदिय णोइंदियं च बोधव्वं ।
सद्दादि इंदियं पुण कोधाईयं भवे इदरं ॥११५॥

सद्दरसरूवगंधे फासे य मणोहरे य इयरे य ।
जं रागदोसगमणं पंचविहं होदि पणिधाणं ॥११६॥

णोइंदियपणिधाणं कोधो माणो तधेव माया य ।
लोभो य णोकसाया मणपणिधाणं तु तं वज्जे ॥११७॥

तपोनिरूपणार्थं गाथाद्वयमुत्तरम्—

उत्तरगुणउज्जमणे सम्मं अधिआसणं च सद्धाए ।
आवासयाणमुचिदाण अपरिहाणी अणुस्सेओ ॥११८॥

सम्यग्दर्शनज्ञानाभ्यामुत्तरकालभावित्वात्संयमः उत्तरगुणशब्देनोच्यते । न हि श्रद्धानं ज्ञानं चांतरेण संयमः प्रवर्तते । अजानतः श्रद्धानरहितस्य वाऽसंयमपरिहारो न संभाव्यते । तेनायमर्थः—संयमोद्योग[1] इति तपसो निर्जराहेतुता सति संयमे, नान्यथेति तपसः संयमः परिकरः । तथा चाहु 'संजमहीणं च तवं जो कुणइ णिरत्थयं कुणइ' इति । 'सम्मं' सम्यक् । संक्लेशं दैन्यं चांतरेण 'अधियासणं' सहनं क्षुधादेः ।

गा०—प्रणिधानके भी दो भेद हैं इन्द्रिय और नोइन्द्रिय । शब्द आदि इन्द्रिय और क्रोधादिक नोइन्द्रिय प्रणिधान है ऐसा जानना ॥ ११५ ॥

गा०—मनोहर और अमनोहर शब्द, रस, रूप गन्ध और स्पर्शमें जो राग द्वेष होता है वह पाँच प्रकारका इन्द्रिय प्रणिधान होता है ॥ ११६ ॥

गा०—नो इन्द्रिय प्रणिधान क्रोध मान तथा माया लोभ और नोकषाय है। ये तो मन प्रणिधान छोड़ना चाहिये[2] ॥ ११७ ॥

तपका कथन करनेके लिये आगे दो गाथा कहते है—

गा०—उत्तर गुण अर्थात् संयममे उद्यम सम्यक् रीतिसे भूख प्यास आदिको सहन करना, तपमें अनुराग पहले कहे गये छह आवश्यकोंकी न्यूनता न होना आधिक्य न होना ॥ ११८ ॥

टी०—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके उत्तर कालमें होनेसे संयमको उत्तरगुण कहते हैं। श्रद्धान और ज्ञानके बिना संयम नही होता। अथवा जो जानता नहीं है और न जिसे श्रद्धा है वह असंयमका त्याग नहीं कर सकता। इससे यह अर्थ हुआ कि संयमके होने पर तप निर्जराका कारण होता है, अन्यथा नहीं होता। इस प्रकार संयम तपका परिकर है। कहा भी है—'जो

---

१ द्योततपसो–आ० मु० । २. गा० ११४, ११५, ११६ पर टीका नहीं है । आशाधरजीने अपनी टीकामें कहा है कि टीकाकार इन्हें स्वीकार नहीं करता ।–सं० ।

अनशनावमोदर्यवृत्तिपरिसंख्यानेषु क्षुत्तृड्जनितवेदनया अव्याकुलता, कथमिदमुद्वहामीति वा अदीनता, भक्तपानयोर्मनसोऽप्रणिधानं, अद्मि पिबामीति वा भक्तकथापरित्यागः, तत्कथनानादरः इतस्ततश्चापरिवर्तनं क्षुधा तृषा वा बाधितोऽस्मीति एवं वचनं सहनं, अथवा भोजनदिवसे यांचाया अकरणं, श्रान्तोऽस्म्युपवासेन रूक्षं भोक्तुं न शक्नोमि क्षीरघृतशर्करादिकं दातव्यमिति वचनेन यांचाया अकरणं, मनसा वा यदीदं लभ्यते भद्रं स्यात् इति वाऽप्रार्थना, कायसंज्ञया वा क्षीरादीनामप्रदर्शनं क्षीरादिदाने वाऽप्रहसितायमानमुखता, शीतरूक्षाद्याहारदाने वा अकुपितास्यता, अलाभेऽपि लाभादलाभो मे परं तपोवृद्धिरिति संकल्पेनालाभपरीषहसहनं वा, अथवा लौकिकानां धर्मस्थानां वा सत्कारपुरस्काराकरणे तपसि महति वर्तमानोऽप्यहमेतेषां न पूजितः इति कोपसंक्लेशाकरणं । सत्कारपुरस्कारपरीषहसहनं वा ।

रसपरित्यागं कृतवतः रसवदाहारकथादर्शनोपजायमानतदादरनिवारणं रसपरित्यागजातशरीरसंतापक्षमा वा सहनं । आतापयोगधारिणो घर्मांशुपनिपाते असंक्लिष्टचित्तता तत्प्रतीकारवस्तुषु अनादरश्च सहनं । जनविविक्तदेशे वसतः पिशाचव्यालमृगाद्यवलोकनादिकृतभीतिव्युदासोऽरतिविजयश्च सहनं । प्रायश्चित्तसमाचरतोऽपि महदिदं दत्तं गुरुणा बलाबलं ममानिरूप्येति कोपाकरणं, प्रायश्चित्तकरणजनितश्रमेण वा असंक्लिष्टतासहनं । ज्ञानविनये वर्तमानस्य क्षेत्रकालशुद्धिकरणे मामेव नियोजयति इति कोपनिरासो वा, तद्गतश्रमे असंक्लेशश्च सहनं । दर्शनविनये अभ्युद्यतस्य सन्मार्गात्प्रच्यवमानस्य स्थिरीकरणं महानायासः,

---

सयमके बिना तप करता है वह निरर्थक करता है।' 'सम्मं' का अर्थ सम्यक् है अर्थात् संक्लेश और दीनताके बिना भूख आदिका सहन करना। अनशन, अवमौदर्य और वृत्ति परिसंख्यान नामक तपोंमें भूख प्याससे होने वाली वेदनासे व्याकुल न होना कि कैसे इसे सहूँगा। अथवा अदीनता, खान-पानमें मनको न लगाना, मैं खाता हूँ पीता हूँ इस रूपमें भोजनकी कथा न करना, उसकी कथामें आदर भाव न रखना, इधर उधर नही घूमना, मैं भूख या प्याससे पीडित हूँ इस प्रकारके वचनको सहन करना, अथवा भोजनके दिन माँगना नहीं, मैं उपवासमें कमजोर हो गया हूँ, रूखा भोजन नहीं कर सकता, दूध घी शक्कर आदि देना चाहिये। इस प्रकारके वचनसे याचना नहीं करना अथवा यदि अमुक वस्तु प्राप्त हो तो उत्तम है ऐसी मनसे प्रार्थना न करना अथवा शरीरके संकेतसे दूध आदिको न दिखलाना, अथवा दाता दूध आदि दे तो मुखको प्रफुल्लित न करना और ठंडा रूखा आहारादि दे तो मुख पर क्रोध न लाना अथवा भोजन न मिलने पर लाभसे अलाभमें मेरे तपकी परम वृद्धि है ऐसा संकल्प करके अलाभ परीषहको सहना, अथवा लौकिक या धर्मात्मा पुरुषोंके द्वारा आदर सम्मान न करने पर 'मै महान् तपस्वी हूँ फिर भी इन्होंने मेरी पूजा नहीं की' इस प्रकारका कोप और संक्लेश न करना, अथवा सत्कार पुरस्कार परीषहको सहना।

यदि रसका त्याग किया है तो रस युक्त आहारकी कथा अथवा रस युक्त आहारको देखनेसे उसके प्रति उत्पन्न हुए आदर भावका निवारण करना, रसको त्यागनेसे शरीरमें उत्पन्न हुए संतापको सहना। यदि आताप योग धारण किया है तो धूप आदि आने पर चित्तमें संक्लेश न करना, और उसका प्रतीकार करने वाली वस्तुओंमें आदर भाव न करना, मनुष्योसे शून्य देशमें निवास करते हुए पिशाच, सर्प, मृग आदिको देखने आदिसे उत्पन्न हुए भयको रोकना तथा अरति परीषहको जीतना। प्रायश्चित करते हुए भी 'गुरुने मुझे मेरा बलाबल न देखकर महान् प्रायश्चित दे दिया' इस प्रकार कोप न करना अथवा प्रायश्चित करनेसे उत्पन्न हुए श्रमसे मनमें संक्लेश न करना। ज्ञान विनय करते समय 'क्षेत्र शुद्धि काल शुद्धि करनेमें मुझे ही लगाते हैं' इस

स्वचेतसोपि ऋजुतापादनमतिदुष्करं किमंग पुनः परस्येत्यसंकल्पः सहनं । पुरस्कृतचारित्रविनयस्य ईर्यासमितयो दुष्कराः । जीवनिकायाकुले जगति कियंतः परिहर्तुं शक्यते ? निपुणतरं प्रतिपदन्यासं जीवावलोकने तत्परिहृती च कियद्गन्तुं शक्यते ? तथा प्रवर्तमानं बाधन्तेतरामातपादयः । नवकोटिपरिशुद्धा भिक्षा क्व लप्स्यते, खलेषु कृतज्ञता चेति मनसोऽप्यप्रणिधानं चारित्रविनयः । तपोविनयमुपगतस्यानशनादितपोऽनुष्ठानातिशयस्य मम स्वल्पमसंयमं अप्रासुकोदकपानेन, अशुद्धभिक्षाग्रहणेन वा जातं तप एवोन्मूलयतीति असंकल्पं सहनं । असकृदभ्युत्थानं, अनुगमनं प्रेषणकरणं, उपकरणशोधनादिकं वा कः कर्तुं शक्नोति प्रतिदिनमित्यनभिसंधिरुपचारविनयसहनं ।

'सद्धा य' श्रद्धा च । क्व तपसि । तपसा सपायमुपकारमात्मनोऽवलोक्य बुद्धया तपो हि प्रत्यग्रं कर्म संवृणोति, चिरार्जितानां कर्मणां निर्जरामापादयति, इंद्रचक्रलांछनादिसंपदोऽप्यानयति । समीचीनस्य तपसोऽलाभादेव जननमरणावर्तसहनं, असुखाकुले भवांभोधौ पर्यटनं ममासीद् भविष्यति च तथैव इति तपस्यनुरागः कार्यः ।

'आवासगाणं' आवश्यकाना । ण वसो अवसो अवसस्स कम्ममावासगं इति व्युत्पत्तावपि सामायिकादिष्वेवायं शब्दो वर्तते । व्याधिदौर्बल्यादिना व्याकुलो भण्यते अवश. परवश इति यावत् । तेनापि कर्तव्यं कर्मेति । यथा आशु गच्छतीत्यश्व इति व्युत्पत्तावपि न व्याघ्रादौ वर्तते अश्वशब्दोऽपि तु प्रसिद्धिवशात् तुरग एव । एवमिहापि अवश्यं यत्किंचन कर्म इतस्ततः परावृत्तिराक्रंदनं, पूत्करणं वा न तद्गृह्यते अथवा आवास-

---

प्रकारका कोप न करना अथवा उससे होने वाले श्रमसे संक्लेश भाव न करना, उसे सहना । दर्शन विनय करते हुए 'सन्मार्गसे गिरते हुएको स्थिर करना बड़ा कठिन है अपने चित्तको भी सरल करना कठिन है फिर दूसरेका तो कहना क्या । इस प्रकार संकल्प न करना उसे सहना । चारित्र विनय करने वालेको, 'ईर्या आदि समितियाँ दुष्कर हैं, यह जगत जीवोंसे भरा है कहाँ तक उन्हें बचाया जा सकता है ? अत्यन्त कुशलता पूर्वक पदको रखते हुए जीवोंको देखकर उन्हें बचाते हुए चलनेमें कौन समर्थ है ? इस प्रकारसे चलने पर आतप आदिकी अत्यन्त बाधा होती है । दुर्जनोंमें कृतज्ञताकी तरह नौ कोटिसे शुद्ध भिक्षा कहाँ मिलती है' इस प्रकार मनमें न सोचना चारित्र विनय है । तप विनय करने वालेके 'अनशन आदि तपके अनुष्ठानमें लगे मेरे अप्रासुक जल पीने अथवा अशुद्ध भिक्षाके ग्रहणसे हुआ थोड़ा सा असंयम तपसे नष्ट हो जाता है' इस प्रकारका संकल्प न करना सहना है । 'बार-बार उठना, पीछे जाना, आज्ञा पालना, उपकरण आदि शुद्धि, कौन प्रतिदिन कर सकता है' इस प्रकारका संकल्प न करना उपचार विनय सहन है । तप नवीन कर्मोंका आना रोकता है । चिरकालसे संचित कर्मोंकी निर्जरा करता है । इन्द्र, चक्रवर्ती आदिकी संपदा भी लाता है । सम्यक् तपके अलाभसे ही जन्म मरणके चक्र और दुःखसे भरे संसार समुद्रमें भ्रमण मुझे करना पड़ा है तथा करना पड़ेगा, इस प्रकार तपके द्वारा होने वाले उपकारोंको अपनेमें देखकर तपमे अनुराग करना चाहिये ।

न वश, अवश और अवशका कर्म आवश्यक है । ऐसी व्युत्पत्ति होने पर भी सामायिक आदिको ही आवश्यक कहते हैं । व्याधि, दुर्बलता आदिसे पीड़ितको भी अवश या परवश कहते हैं, और उसके द्वारा किया गया कर्म आवश्यक है । किन्तु जैसे जो 'आशु' शीघ्र चलता है वह अश्व (घोडा) है ऐसी व्युत्पत्ति होने पर भी व्याघ्र आदिको अश्व नहीं कहते, बल्कि प्रसिद्धिवश घोडेको ही अश्व कहते हैं । वैसे ही यहाँ भी जो अवश्य कर्म हैं—यहाँ-वहाँ घूमना, रोना, चिल्लाना

कानां इत्ययमर्थः । आवासयन्ति रत्नत्रयमात्मनीति कृत्वा सामायिकं, चतुर्विंशतिस्तवो, वंदना, प्रतिक्रमणं, प्रत्याख्यानं, व्युत्सर्ग इत्यमीषां ।

तत्र सामायिकं नाम चतुर्विधं नामस्थापनाद्रव्यभावभेदेन । निमित्तनिरपेक्षा कस्यचिज्जीवादेरध्याहिता संज्ञा सामायिकमिति नामसामायिकम् । सर्वसावद्यनिवृत्तिपरिणामवता आत्मना एकीभूतं शरीरं यत्तदाकारसादृश्यात्तदेवेदमिति स्थाप्यते यच्चित्रपुस्तादिकं तत्स्थापनासामायिकम् । आगमद्रव्यसामायिकं नाम 'श्रुतस्याद्यं सामायिकं नाम ग्रंथः, तदर्थज्ञो यः सामायिकाख्यात्मपरिणामप्रत्ययभासः प्रत्ययरूपेण सांप्रतमपरिणतः आत्मा । नो आगमद्रव्यसामायिकं नाम यत्त्रिविकल्पं ज्ञायकशरीरभावितद्व्यतिरिक्तभेदेन । सामायिकज्ञस्य यच्छरीरं तदपि सामायिकज्ञानकारणं, आत्मेव शरीरमंतरेण तस्याभावात् । यस्य हि भावाभावौ नियोगतो यदनुकरोति तत्तस्य कारणमिति हेतुफलव्यवस्था वस्तुषु । ततः प्रत्ययसामायिकस्य कारणत्वाच्छरीरं त्रिकालगोचरं सामायिकशब्दवाच्यं भवति । चारित्रमोहनीयक्षयोपशमविशेषसहायो य आत्मा भविष्यत्सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिपरिणामः सोऽभिधीयते भाविसामायिकशब्देन । चारित्रमोहनीयाख्यं कर्म परिप्राप्तक्षयोपशमावस्थं नो आगमद्रव्यतद्व्यतिरिक्तकर्म सामायिकमिति ग्राह्यं । आगमभावसामायिकं नाम प्रत्ययसामायिकं । नो आगमभावसामायिकं नाम सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिपरिणामः । अयमिह गृहीतः ।

चतुर्विंशतिसंख्यानां तीर्थकृतामत्र भारते प्रवृत्तानां वृषभादीनां जिनवरत्वादिगुणज्ञानश्रद्धानपुरस्सरा

आदि, उन्हें आवश्यक नहीं कहते । अथवा 'आवासयाण' का अर्थ आवासक है । जो आत्मामें रत्नत्रयका आवास कराते हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और व्युत्सर्ग ।

उनमेंसे नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे सामायिकके चार भेद हैं । निमित्तकी अपेक्षाके बिना किसी जीव आदिका नाम सामायिक रखना नाम सामायिक है । सर्व सावद्यके त्याग रूप परिणाम वाले आत्माके द्वारा एकीभूत शरीरका जो आकार सामायिक करते समय होता है उस आकारके समान होनेसे 'यह वही है' इस प्रकार जो चित्र, पुस्त आदिमें स्थापना की जाती है वह स्थापना सामायिक है । द्वादशांग श्रुतका आद्य ग्रन्थका नाम सामायिक है । उसके अर्थका जो ज्ञाता है जिसे सामायिक नामक आत्म परिणामका बोध है किन्तु जो वर्तमानमें उस ज्ञानरूपसे परिणत नहीं है अर्थात् उसका उपयोग उसमें नहीं है वह आगम द्रव्य सामायिक है । नो आगम द्रव्य सामायिक ज्ञायक शरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्तके भेदसे तीन प्रकार है । सामायिकके ज्ञाता का जो शरीर है वह भी सामायिकके ज्ञानमें कारण है क्योंकि आत्माकी तरह शरीरके बिना भी ज्ञान नहीं होता । जिसके होने पर जो नियमसे होता है और अभावमें जो नहीं होता, वह उसका कारण है । ऐसी वस्तुओंमें कार्य कारणभावकी व्यवस्था है । अतः ज्ञान सामायिकका कारण होनेसे त्रिकालवर्ती शरीर सामायिक शब्दसे कहा जाता है । चारित्र मोहनीय कर्मके क्षयोपशम विशेषकी सहायतासे जो आत्मा भविष्यमें सर्वसावद्ययोगके त्यागरूप परिणाम वाला होगा उसे भावि सामायिक शब्दसे कहा जाता है । जो चारित्र मोहनीय नामक कर्म क्षयोपशम अवस्थाको प्राप्त है वह नोआगमद्रव्य तद्व्यतिरिक्त सामायिक है । प्रत्यय रूप सामयिक आगमभाव सामायिक है । और सर्वसावद्य योगके त्यागरूप परिणाम नोआगमभाव सामायिक है । यहाँ इसीको ग्रहण किया है ।

इस भारतमें हुए वृषभ आदि चौबीस तीर्थंकरोंके जिनवरत्व आदि गुणोंके ज्ञान और श्रद्धान

चतुर्विंशतिस्तवनपठनक्रिया नोआगमभावचतुर्विंशतिस्तव इह गृह्यते ।

वंदना नाम रत्नत्रयसमन्वितानां यतीनां आचार्योपाध्यायप्रवर्तकस्थविराणां गुणातिशयं विज्ञाय श्रद्धापुरःसरेण अभ्युत्थानप्रयोगभेदेन द्विविधे विनये प्रवृत्तिः । प्रत्येकं तयोरनेकभेदता कर्तव्यं केन, कस्य, कदा, कस्मिन्कतिवारानिति । अभ्युत्थानं केनोपदिष्टं, किंवा फलमुद्दिश्य कर्तव्यं ? पूर्वमेव विनयः कर्तव्यतयोपदिष्टः सर्वैर्जिनैः कर्मभूमिषु सदा मानकषायभंगः । गुरुजने बहुमानं, तीर्थंकराणां आज्ञासंपादनं श्रुतधर्माराधनाक्रिया भावशुद्धिरार्जवं, तुष्टिं च फलमपेक्ष्य[1] केन तत् क्रियते । अमानिना, संविग्नेन, अनलसेनाशठेनानुग्रहकारणार्थिना, परगुणप्रकाशनोद्यतेन संघवत्सलेन । असंयतस्य संयतासंयतस्य वा नाभ्युत्थानं कुर्यात्, पार्श्वस्थपंचकस्य वा । रत्नत्रये तपसि च नित्यमभ्युद्यतानां अभ्युत्थानं कर्तव्यं कुर्यात् । सुखशीलजनेऽभ्युत्थानं कर्मबन्धनिमित्तं प्रमादस्थापनोपबृंहणकरणात् । संविग्नजनं प्रति क्रियमाणमभ्युत्थानं निर्जरानिमित्तं विरतिस्थापनोपबृंहणकरणात् । वाचनामनुयोगं वा शिक्षयतः अवमरत्नत्रयस्याप्युत्थातव्यं तन्मूलेऽध्ययनं कुर्वद्भिः सर्वैरेव । वसतेः, कायभूमितः, भिक्षातः, चैत्यात्, गुरुसकाशात्, ग्रामांतराद्वा आगमनकालेऽभ्युत्थातव्यं । गुरुजनश्च यदा निष्क्रामति निष्क्राम्य प्रविशति वा तदा तदा अभ्युत्थानं कार्यं । अनया दिशा यथागममितरदप्यनुगंतव्यम् ।

दुओणदं जहाजादं बारसावत्तमेव य ।
चदुस्सिरं तिसुद्धं च किदियम्मं पउंजए ॥ [मूलाचार-७।१०४]

पूर्वक चौबीस स्तवनोंको पढ़ना नोआगमभाव चतुर्विंशतिस्तव है। उसीका यहाँ ग्रहण है।

रत्नत्रयसे सहित आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक और स्थविर मुनियोंके गुणातिशयको जानकर श्रद्धापूर्वक अभ्युत्थान और प्रयोगके भेदसे दो प्रकारकी विनयमें प्रवृत्तिको वन्दना कहते हैं। उन अभ्युत्थान विनय और प्रयोग विनयके अनेक भेद हैं कि किसको किसका कब, कितनी बार करना चाहिये।

शंका—अभ्युत्थानका उपदेश किसने दिया है और किस फलके उद्देशसे करना चाहिए ?

समाधान—सब जिनदेवोंने कर्मभूमियोंमें सदा प्रथम ही कर्तव्यरूपसे विनयका उपदेश दिया है। विनयसे मानकषायका विनाश होता है। गुरुजनोंमें बहुमान, तीर्थङ्करोंकी आज्ञाका पालन, श्रुतमें कहे गये धर्मकी आराधना, परिणाम विशुद्धि, आर्जव और सन्तोषरूप फलकी अपेक्षा करके विनय की जाती है। यह विनय कौन करता है ? जो मान रहित, संसारसे विरक्त, निरालसी, सरल अनुग्रह करनेका इच्छुक, दूसरोंके गुणोंको प्रकट करनेमें तत्पर और संघका प्रेमी होता है वह विनय करता है। असंयमी और संयमासंयमी तथा पार्श्वस्थ आदि पाँच प्रकारके भ्रष्ट मुनियोंके सम्मानमें उठना नहीं चाहिए। जो रत्नत्रय और तपमें नित्य तत्पर रहते हैं उनके प्रति उठना चाहिए। जो सुखशील साधु हैं उनके सन्मानमें उठना कर्मबन्धका कारण है क्योंकि वह प्रमादको बढ़ानेमें कारण होता है। जो वाचना देता है अथवा अनुयोगका शिक्षण देता है वह अपनेसे रत्नत्रयमें न्यून भी हो तब भी उनके पासमें सब अध्ययन करनेवालोंको उनके सन्मानमें उठकर खड़ा होना चाहिए। वसतिसे, कायभूमिसे, भिक्षासे, जिन मन्दिरसे, गुरुके पाससे अथवा ग्रामान्तरसे आनेके समय उठना चाहिए। जब-जब गुरुजन निकलते हैं अथवा निकलकर प्रवेश करते हैं तब तब अभ्युत्थान करना चाहिए। इसी प्रकार आगमसे अन्य भी जानना चाहिए।

---

१. स्यत्केन तत्—आ० मु०।

इत्यादिकः प्रयोगविनयः।

प्रतिक्रमणं प्रतिनिवृत्तिः षोढा भिद्यते-नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावविकल्पेन। अयोग्यनाम्नामनुच्चारणं नामप्रतिक्रमणं भट्टि दारिगा सामिणी इत्यादिकमयोग्यं नाम। आप्ताभासानामर्चा, त्रसस्थावराणां रूपाणि लिखितान्युत्कीर्णानि वा स्थापनाशब्देनेह गृह्यन्ते। तत्राप्ताभासप्रतिमायां पुरःस्थितायां यदभिमुखतया कृतांजलिपुटता, शिरोवनतिः, गंधादिभिरभ्यर्चनं च न कर्तव्यम्। एवं सा स्थापना परिहृता भवति। त्रसस्थावरादिस्थापनानामविनाशनं, अमर्दनं, अताडनं वा परिहारः प्रतिक्रमणं। वास्तुक्षेत्रादीनां दशप्रकाराणां उद्गमोत्पादनैषणादोषदुष्टानां वसतीनां, उपकरणानां, भिक्षाणां च परिहरणं, अयोग्यानां चाहारदीनां, गृद्धेर्दर्पस्य च कारणानां संक्लेशहेतूनां वा निरसनं द्रव्यप्रतिक्रमणं। उदककर्दमत्रसस्थावरनिचितेषु क्षेत्रेषु गमनादिवर्जनं क्षेत्रप्रतिक्रमणं। यस्मिन्वा क्षेत्रे वसतो रत्नत्रयहानिर्भवति तस्य वा परिहारः, तच्च किं? ज्ञानतपोवृद्धैरनाध्यासितं। रात्रिसंध्यात्रयस्वाध्यायावश्यककालेषु गमनागमनादिव्यापाराकरणात् कालप्रति-

---

मूलाचारमें कहा है—क्रियाकर्ममें दो अवनति, बारह आवर्त, चार शिरोनति, और तीन शुद्धियाँ होती हैं। पंचनमस्कारके आदिमें एक नमस्कार और चौबीस तीर्थंकरोंके स्तवनके आदिमें दूसरा नमस्कार इस प्रकार दो नमस्कार होते हैं—पंचनमस्कारका उच्चारण करनेके प्रारम्भमे मनवचनकायके सयमनरूप तीन शुभयोगोंके सूचक तीन आवर्त होते हैं। पंचनमस्कारकी समाप्ति होनेपर भी उसी प्रकार तीन आवर्त होते हैं। इसी प्रकार चौबीस तीर्थङ्करोंके स्तवनके आदि और अन्तमे तीन-तीन आवर्त होते हैं। इस प्रकार बारह आवर्त होते हैं। अथवा एकबार प्रदक्षिणा करनेपर चारो दिशाओंमे चार प्रणाम होते हैं। इस प्रकार तीन प्रदक्षिणाओंमे बारह प्रणाम होते हैं। पंचनमस्कार और चतुर्विंशति स्तवके आदि और अन्तमें दोनों हाथ मुकुलितकर मस्तकसे लगाना, इस तरह चार सिर होते है। इस प्रकार मनवचनकायकी शुद्धिपूर्वक क्रियाकर्म होता है यह सब प्रयोग विनय है।

दोषोसे निवृत्तिको प्रतिक्रमण कहते है। उसके छह भेद हैं—नामप्रतिक्रमण, स्थापना प्रतिक्रमण, द्रव्यप्रतिक्रमण, क्षेत्रप्रतिक्रमण, कालप्रतिक्रमण और भावप्रतिक्रमण। अयोग्य नामोंका उच्चारण न करना नाम प्रतिक्रमण है। भट्टिनी, दारिका, स्वामिनी इत्यादि अयोग्य नाम है। स्थापना शब्दसे यहाँ आप्ताभासोकी मूर्ति, त्रस और स्थावरोंकी आकृतियाँ लिखित या खोदी हुई, ग्रहण की गई हैं। उनमेसे आप्ताभासोकी प्रतिमाओंके सन्मुख हाथ जोड़ना, सिर नमाना और गन्ध आदिसे पूजन नहीं करना चाहिए। इस प्रकार करनेसे उस स्थापनाका परिहार हो जाता है यह स्थापना प्रतिक्रमण है।

त्रस स्थावर आदिकी स्थापनाओको नष्ट न करना अथवा तोड़ना-फोड़ना आदि न करना स्थापना प्रतिक्रमण है। मकान खेत आदि दस प्रकारकी परिग्रहोंका, उद्गम उत्पादन और एषणा दोषोंसे दूषित वसतिकाओंका, उपकरणोंका, और भिक्षाओंका, अयोग्य आहार आदिका और जो तृष्णा और मदके तथा संक्लेशके कारण है उन द्रव्योंका त्याग द्रव्य प्रतिक्रमण है। जल, कीचड़ और त्रस स्थावर जीवोंसे भरे क्षेत्रोंमें आने जानेका त्याग क्षेत्र प्रतिक्रमण है। अथवा जिस क्षेत्रमें रहनेसे रत्नत्रयकी हानि हो उसका त्याग क्षेत्र प्रतिक्रमण है। ऐसे क्षेत्रोमें ज्ञान और तपसे वृद्ध मुनिगण नहीं रहते, इसलिए उनमें रहना वर्जित है। रात, तीनों सन्ध्या, स्वाध्याय

क्रमणं। कालस्य दुष्परिहार्यत्वात्कालाधिकरणव्यापारविशेषाः कालशब्दपर्यायेण कालशब्देन गृहीताः। मिथ्यात्वम-संयमः, कषायः, रागः, द्वेषः, संज्ञा, निदान, आर्तरौद्रमित्यादयोऽशुभपरिणामाः, पुण्यास्रवभूताश्च शुभपरि-णामाः इह भावशब्देन गृहीता गृह्यन्ते, तेभ्यो निवृत्तिर्भावप्रतिक्रमणं इति केषांचिद्व्याख्यानं। चतुर्विधमित्य-परे। निमित्तनिरपेक्षं कस्यचिन्नामत्वेन नियुज्यमानं प्रतिक्रमणमित्यभिधानं नामप्रतिक्रमणं। अशुभपरिणा-मानां विशिष्टजीवद्रव्यानुगतशरीराकारसादृश्यापेक्षया चित्रादिरूपं स्थापितं स्थापनाप्रतिक्रमणं। प्रमाणनय-निक्षेपादिभिः प्रतिक्रमणावश्यकस्वरूपज्ञ[1]स्तत्रानुपयुक्तः प्रत्ययप्रतिक्रमणकारणत्वात् आगमद्रव्यप्रतिक्रमणशब्दे-नोच्यते। नो आगमद्रव्यप्रतिक्रमणं त्रिविधं ज्ञायकशरीरभावितद्व्यतिरिक्तभेदैः। यथात्मा कारणं प्रतिक्रमण-पर्यायस्य, तथा तदीयमपि शरीरं त्रिकालगोचरमिति प्रतिक्रमणशब्दवाच्यं भवति। चारित्रमोहक्षयोपशम-सान्निध्ये भविष्यत्प्रतिक्रमणपर्याय आत्मा भाविप्रतिक्रमणं। क्षयोपशमावस्थामुपगतः चारित्रमोहः नो आगम-द्रव्यव्यतिरिक्तकर्म प्रतिक्रमणं। प्रतिक्रमणप्रत्ययः आगमभावप्रतिक्रमणं। मिच्छाणाणमिच्छादंसणमिच्छाचारि-त्तादो पडिविरदोमित्ति एवं स्वरूपज्ञानं। अशुभपरिणामदोषमवबुध्य श्रद्धाय तत्प्रतिपक्षपरिणामवृत्तिर्नोआगम-भावप्रतिक्रमण।

सामायिकात्[2] प्रतिक्रमणस्य को भेदः? सावद्ययोगनिवृत्तिः सामायिकं। प्रतिक्रमणमपि अशुभमनो-वाक्कायनिवृत्तिरेव तत्कथं षडावश्यकव्यवस्था?

और षडावश्यकोंके कालमें गमन आगमन आदि व्यापार न करना काल प्रतिक्रमण है। कालका त्याग तो अशक्य जैसा है अतः कालमें होनेवाले कार्य विशेषोंको कालके सम्बन्धसे काल शब्दसे ग्रहण किया है। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, राग, द्वेष, आहारादि संज्ञा, निदान, आर्त रौद्र इत्यादि अशुभ परिणाम और पुण्यास्रवभूत शुभ परिणाम यहाँ भाव शब्दसे ग्रहण किये हैं। उनसे निवृत्ति भाव प्रतिक्रमण है। ऐसा किन्हीं आचार्योंका व्याख्यान है।

अन्य आचार्य प्रतिक्रमणके चार भेद कहते हैं। निमित्तकी अपेक्षा न करके किसीका प्रति-क्रमण नाम रखना नामप्रतिक्रमण है। अशुभ परिणामवाले जीवोंके शरीरका जैसा आकार होता है उस आकारके सादृश्यकी अपेक्षासे चित्रमें अशुभ परिणामोंकी स्थापना स्थापना प्रतिक्रमण है? प्रमाण नय-निक्षेप आदिके द्वारा प्रतिक्रमण नामक आवश्यकके स्वरूपका जो ज्ञाता उसमें उपयुक्त नहीं है वह प्रतिक्रमण विषयक ज्ञानका कारण होनेसे आगम द्रव्य प्रतिक्रमण शब्दसे कहा जाता है। नो आगम द्रव्य प्रतिक्रमणके तीन भेद हैं—ज्ञायकशरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त। जैसे प्रतिक्रमण पर्यायका कारण आत्मा है वैसे उसका त्रिकालवर्ती शरीर भी कारण है इसलिए वह प्रतिक्रमण शब्दसे कहा जाता है। चारित्रमोहके क्षयोपशमके होनेपर जो आत्मा भविष्यमें प्रतिक्रमण पर्यायरूप होगा वह भावि प्रतिक्रमण है। क्षयोपशम अवस्थाको प्राप्त चारित्रमोह कर्म नोआगमद्रव्य व्यतिरिक्त कर्म प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमणरूप ज्ञान आगम भाव प्रतिक्रमण है। अर्थात् मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्रसे मैं विरत हूँ इस प्रकारका स्वरूपज्ञान आगमभाव प्रतिक्रमण है। अशुभ परिणामके दोषको जानकर और उसपर श्रद्धा करके उसके प्रतिपक्षी शुभपरिणामोंमें प्रवृत्ति नोआगमभाव प्रतिक्रमण है।

शंका—सामायिक और प्रतिक्रमणमें क्या भेद है? सावद्ययोगसे निवृत्ति सामायिक है और अशुभ मनवचनकायसे निवृत्ति प्रतिक्रमण है तब छह आवश्यककी व्यवस्था कैसे सम्भव है?

१. ज्ञसूत्रा—आ० मु०। २. कस्य प्र—आ० मु०।

अत्रोच्यते—सर्वं सावद्ययोगं प्रत्याख्यामीति वचनाद्धिंसादिभेदमनुपादाय सामान्येन सर्वसावद्ययोग-निवृत्तिः सामायिकं । हिंसादिभेदेन सावद्ययोगविकल्पं कृत्वा ततो निवृत्तिः प्रतिक्रमणं ।

"मिच्छत्तपडिक्कमणं, तहेव असंजमपडिक्कमणं ।
कसाएसु पडिक्कमणं, जोगेसु अप्पसत्थेसु" ॥ [मूलाचा० ७।१२०]

इति वचनादिति केचित्परिहृन्ति ।

इदं त्वन्याय्यं प्रतिविधानं । योगशब्देन वीर्यपरिणाम उच्यते । स च वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितत्वात् क्षायोपशमिको भावस्ततो निवृत्तिरशुभकर्मादाननिमित्तयोगरूपेण अपरिणतिरात्मनः सामायिकं । मिथ्यात्व[1]मसंयमःकषायाश्च दर्शनचारित्रमोहोदयजा औदयिकाः । मिथ्यात्वं तत्त्वाश्रद्धानरूपं, असंयमो हि हिंसादिरूपः, क्रोधादयस्तु परस्परतो मिथ्यात्वादसंयमाच्चानुभवसिद्धवैलक्षण्यरूपाः । ये भिन्नहेतुस्वरूपास्ते नैक्यमापद्यन्ते यथा शालियवगोधूमादिधान्यं । भिन्नहेतुस्वरूपाश्च मिथ्यात्वासंयमकषायाः । तेभ्यो विरतिर्व्यावृत्तिः प्रतिक्रमणं । सावद्ययोगमात्रनिवृत्तिः सामायिकमिति भेदो महाननयोः । भेदमेवाश्रित्यामीषां परिणामानां चदुपच्चय[2]गो बंधो इति सूत्रमवस्थितं । अन्यथा योगविकल्पत्वे मिथ्यात्वादीनां चतुःसंख्या न न्याय्या योगेन सह ।

प्रत्याख्यानं नाम अनागतकालविषया क्रियां न करिष्यामि इति संकल्पः । तच्च नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्र-काल भावविकल्पेन षड्विधं । अयोग्य नाम नोच्चारयिष्यामीति चिन्ता नामप्रत्याख्यानं । आप्ताभासानां

समाधान—'सर्वं सावद्ययोगको त्यागता हूँ' इस प्रकार हिंसा आदिका भेद न करके सामान्यसे सर्व सावद्ययोगसे निवृत्ति सामायिक है। और हिंसा आदिके भेदसे सावद्ययोगके भेद करके उससे निवृत्ति प्रतिक्रमण है। सूत्रमें कहा है—'मिथ्यात्व प्रतिक्रमण' असंयम प्रतिक्रमण, कषाय प्रतिक्रमण और अप्रशस्त योग प्रतिक्रमण होता है।

उक्त शंकाका कोई आचार्य ऐसा उत्तर देते हैं किन्तु वह उचित नहीं है। योग शब्दसे वीर्यपरिणाम कहा जाता है। वह वीर्यपरिणाम वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेके कारण क्षायोपशमिक भाव है। उससे निवृत्ति अर्थात् अशुभकर्मको लानेमें निमित्त योगरूपसे आत्माका परिणमन न करना सामायिक है। मिथ्यात्व, असंयम और कषाय दर्शनमोह और चारित्रमोहके उदयसे उत्पन्न होनेके कारण औदयिक हैं। मिथ्यात्व तत्त्वोंके अश्रद्धानरूप है। असंयम हिंसादिरूप है और क्रोधादि तो मिथ्यात्व और असंयमसे विलक्षण हैं यह अनुभवसिद्ध है। जिनका हेतु और स्वरूप भिन्न होता है वे एक नहीं हो सकते जैसे शालि, जौ, गेहूँ आदि धान्य। मिथ्यात्व, असंयम और कषायके हेतु और स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं उनसे निवृत्ति प्रतिक्रमण है। और सावद्य योग-मात्रसे निवृत्ति सामायिक है। अतः दोनोंमें महान् भेद है इन परिणामोंके भेदको ही लेकर 'चदुपच्चयगो बन्धो'—बन्धके चार कारण है, यह सूत्र अवस्थित है। अन्यथा यदि मिथ्यात्व आदि योगके भेद हों तो फिर योगके साथ चारकी संख्या नहीं बन सकती।

आगामी कालमें मैं यह काम नहीं करूँगा, इस प्रकारके संकल्पका नाम प्रत्याख्यान है। नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे उसके छह भेद हैं। मैं अयोग्य नामका

---

१. त्वासयमक—आ० मु०। २. पच्चयाण बंधो—आ० मु०।

प्रतिमा न पूजयिष्यामीति, योगत्रयेण त्रसस्थावरस्थापनापीडां न करिष्यामीति प्रणिधानं मनसः स्थापनाप्रत्याख्यानं। अथवा अर्हदादीनां स्थापना न विनाशयिष्यामि नैवानादरं तत्र करिष्यामि इति वा। अयोग्याहारोपकरणद्रव्याणि न ग्रहीष्यामीति चिंताप्रबंधो द्रव्यप्रत्याख्यान योग्यानि वा निष्ठितप्रयोजनानि। संयमहानिं संक्लेशं वा संपादयंति यानि क्षेत्राणि तानि त्यक्ष्यामि इति क्षेत्रप्रत्याख्यानं। कालस्य तु परिहार्यत्वात् कालसाध्याया क्रियायां परिहृतायां काल एव प्रत्याख्यातो भवतीति ग्राह्य। तेन सन्ध्याकालादिष्वध्ययनगमनादिकं न संपादयिष्यामीति चेत: कालप्रत्याख्यानं। भावोऽशुभपरिणाम तन्न निर्वर्तयिष्यामि इति संकल्पकरणं भावप्रत्याख्यानं। तद्द्विविध मूलगुणप्रत्याख्यानमुत्तरगुणप्रत्याख्यानमिति। ननु च मूलगुणा व्रतानि तेषां प्रत्याख्यान निरासो भविष्यत्कालविषयश्चेन्न स संवरार्थिना कार्य:, संवरार्थमवश्यमनुष्ठीयते इति। उत्तरगुणानां कारणत्वान्मूलगुणव्यपदेशो व्रतेषु वर्तते मूलगुणशब्द मूलगुणश्च स: प्रत्याख्यानं च तत् इति मूलगुणप्रत्याख्यान। व्रतोत्तरकालभावित्वादनशनादिकं उत्तरगुण इति उच्यते। उत्तरगुणश्च स प्रत्याख्यान च तदिति उत्तरगुणप्रत्याख्यान। तत्र संयताना जीवितावधिकं मूलगुणप्रत्याख्यान। संयतासंयताना अणुव्रतानि मूलगुणव्रतव्यपदेशभाजि भवंति। तेषां द्विविधं प्रत्याख्यान अल्पकालिकं, जीवितावधिकं चेति। पक्षमासषण्मासादिरूपेण भविष्यत्काल सावधिक कृत्वा तत्र स्थूलहिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहान्नाचरिष्यामि इति प्रत्याख्यानमल्पकालिकम्।

उच्चारण नहीं करूंगा, इस प्रकारका विचार नाम प्रत्याख्यान है। मैं आप्ताभासोंकी प्रतिमाको नही पूजूँगा, मनवचनकायसे त्रस और स्थावरोंकी स्थापनाको पीड़ा नहीं पहुँचाऊँगा, इस प्रकारका मनका संकल्प स्थापना प्रत्याख्यान है। अथवा मै अर्हन्त आदिकी स्थापनाको नष्ट नही करूँगा, न उसका अनादर ही करूँगा, इस प्रकारका मनका संकल्प स्थापना प्रत्याख्यान है।

अयोग्य आहार तथा उपकरण द्रव्योंको मै ग्रहण नही करूँगा, इस प्रकारके चिन्ता प्रबन्धको द्रव्य प्रत्याख्यान कहते है। जो क्षेत्र संयमको हानि पहुँचाते है अथवा संक्लेश उत्पन्न करते हैं। उन्हे मै छोडूँगा इस प्रकारके संकल्पको क्षेत्र प्रत्याख्यान कहते हैं। कालको छोड़ना तो अशक्य जैसा है अत: काल साध्य क्रियाका त्याग करने पर कालका ही प्रत्याख्यान होता है ऐसा लेना चाहिये। अतः सन्ध्याकाल आदिमे अध्ययन गमन आदि नही करूँगा इस प्रकारके चित्तको काल प्रत्याख्यान कहते है। भावसे अशुभ परिणाम लेना। मैं अशुभ परिणाम नहीं करूँगा, इस प्रकारका संकल्प करना भाव प्रत्याख्यान है। उसके दो भेद हैं—मूलगुण प्रत्याख्यान और उत्तरगुण प्रत्याख्यान।

शङ्का—मूलगुण व्रतोको कहते हैं। उनका प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग भविष्यत् कालमे यदि किया जायेगा तो संवरके इच्छुक यतिको उसे नही करना चाहिये, उसे तो संवरके लिये व्रत अवश्य पालनीय होते हैं?

समाधान—उत्तर गुणोंका कारण होनेसे व्रतोंको मूलगुण कहते हैं अतः मूलगुण रूप प्रत्याख्यान मूलगुण प्रत्याख्यान है। व्रतोंके उत्तर कालमें अनशन आदि होते है इसलिये उन्हे उत्तर गुण कहते हैं। यहां भी उत्तर गुणरूप प्रत्याख्यान उत्तरगुण प्रत्याख्यान है। उनमेंसे संयमियोंके जीवनपर्यन्त मूलगुण प्रत्याख्यान होता है। और संयमासंयमी श्रावकोंके अणुव्रत मूलगुणव्रत कहलाते हैं। उनके दो प्रकारका प्रत्याख्यान होता है—एक अल्पकालिक और दूसरा जीवनपर्यन्त। पक्ष, मास, छहमास आदि रूपसे भविष्यतकालकी मर्यादा करके 'इतने काल तक मैं स्थूल हिंसा,

---

१. अयोग्यानि वानिष्ट–मु०।

आमरणमवधिं कृत्वा न करिष्यामि स्थूलहिंसादीनि इति प्रत्याख्यानं जीवितावधिकं। उत्तरगुणप्रत्याख्यानं संयतसंयतासंयतयोरपि अल्पकालिकं जीवितावधिकं वा। परिगृहीतसंयमस्य सामायिकादिकं अनशनादिकं च वर्तते इति उत्तरगुणत्वं सामायिकादेस्तपसश्च। भविष्यत्कालगोचराशनादित्यागात्मकत्वात्प्रत्याख्यानत्वं। सति सम्यक्त्वे चैतदुभयं प्रत्याख्यानं। जीवनिकायं हिंसादिस्वरूपं च ज्ञात्वा श्रद्धाय सर्वतो देशतो वा हिंसादिविरतिर्व्रतं। तथा चोक्तं—'निःशल्यो व्रती' (त० सू० ७।१८) इति।

मिथ्यादर्शनशल्यं, मायाशल्यं, निदानशल्यं चेति त्रिविधं शल्यं तेभ्यो निष्क्रांत निःशल्यः। सावधारणं चेदं निःशल्य एव व्रतीति। तेन सशल्यस्यव्रतिता निरस्ता भवति। न च असति श्रद्धाने मिथ्यात्वशल्यनिवृत्तिः। न च जीवाद्यर्थपरिज्ञानमंतरेण श्रद्धानस्यास्ति संभव इति ज्ञानदर्शनवत एव व्रतिता सूत्रकारेणाख्याता। तथावश्यकेऽप्युक्तम्—

"पचवदाणि जदीणं अणुव्वदाइं च देसविरदाणं।
ण हु सम्मत्तेण विणा तो सम्मत्तं पढमदाए॥" [ ]

इति हिंसादिप्रवर्तनपरं भाषितमिति क्रिया पचापि सरात्रिभोजना. प्रत्याचष्टे यतिस्त्रिधा मनोवाक्कायविकल्पेन कृतकारितानुमतैर्यावज्जीवं।

सम्यग्दृष्टिस्त्वगारी मूलगुणं उत्तरगुण वा स्वशक्त्या गृह्णाति परिमितकाल यावज्जीव वा। आत्मना प्राक्कृत हिंसादिकं हा दुष्टं कृतं, हा दुष्टं संकल्पित, वचो वा हिंसादिप्रवर्तनपर भाषित इति निंदागर्हाभ्या

स्थूल झूँठ, स्थूल चोरी, स्थूल अब्रह्म और परिग्रहका आचरण नही करूँगा, इस प्रकारका प्रत्याख्यान अल्पकालिक है। मरणपर्यन्त में स्थूल हिंसादि नहीं करूँगा, इस प्रकारका प्रत्याख्यान जीवितावधि है।

उत्तरगुण प्रत्याख्यान संयत और संयतासंयतके भी अल्पकालिक अथवा जीवनपर्यन्त होता है। जिसने संयम ग्रहण किया है उसके सामायिक आदि और अनशन आदि होते है इसलिये सामायिक आदि और तप उत्तरगुण हैं। और भविष्यत्कालमें अनशन आदिके त्यागरूप होनेसे प्रत्याख्यान रूप भी है। सम्यक्त्वके होने पर ही ये दोनों प्रत्याख्यान होते है।

जीवनिकाय और हिंसा आदिके स्वरूपको जानकर तथा श्रद्धा करके सर्वदेश अथवा एक देशसे हिंसा आदिके त्यागको व्रत कहते हैं। कहा भी है—जो निःशल्य है वही व्रती है। मिथ्यादर्शन शल्य, मायाशल्य और निदानशल्य, इस प्रकार तीन शल्य हैं। उनसे जो रहित है वह निशल्य है। यह निशल्य शब्द अवधारण सहित है। निःशल्य ही व्रती होता है। इससे जो शल्य सहित है उसके व्रतीपनेका निषेध किया है। श्रद्धानके अभावमें मिथ्यात्वशल्यसे निवृत्ति नही होती। और जीवादि पदार्थके ज्ञानके विना श्रद्धान संभव नही है। अतः ज्ञानदर्शनवान्को ही सूत्रकारने व्रती कहा है। तथा आवश्यकमें भी कहा है—'सम्यक्त्वके विना न तो यतियोंके पाँच व्रत होते हैं और न देशविरत श्रावकोंके अणुव्रत होते हैं। अतः सम्यक्त्वको प्रथमता है।'

इस प्रकार यति मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे रात्रिभोजनके साथ हिंसा आदि पाँचों पापोंका त्याग जीवनपर्यन्तके लिये करता है। गृहस्थ सम्यग्दृष्टि मूलगुण अथवा उत्तरगुणको अपनी शक्तिके अनुसार कुछ काल या जीवनपर्यन्तके लिये ग्रहण करता है। अपने द्वारा पहले किये गये हिंसा आदिको 'हा, मैंने बुरा किया, हा, मैंने बुरा संकल्प किया, हिंसा

स्वपरविषयाभ्यां पूर्वमवर्तमानं चासंयमं कृतं क्रियमाणासंयमसदृशं न करिष्यामि इति मनसि कुर्वन्प्रत्याख्याता भवति।

अगारिणां विरतिपरिणामविकल्पो निरूप्यते। स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं कृतकारितानुमतविकल्पात् त्रिविधं मनोवाक्कायविकल्पैर्न त्यजति। मनसा स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं न करोमि, तथा वचसा कायेनेति त्रिविधं कृतम्। मनसा स्थूलकृतं प्राणातिपातादिकं न कारयामि तथा वचसा कायेन चेति त्रिविकल्पं कारितं। तथा मनसा स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं नानुजानामि, तथा वचसा कायेन चेति त्रिभेदमनुमननं। एवं नवविधं स्थूलकृतप्राणवधादिकं त्यक्तुमशक्तोऽगारी।

तथा मनोवाग्भ्यां स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं कृतकारितानुमतिविकल्पात्त्रिविधं च कर्तुमशक्तो मनसा न करोमि, न कारयामि, नानुजानामि। वचसा न करोमि, न कारयामि नानुजानामि इति। कायेन कृत-कारितानुमतविकल्पान् हिंसादींश्च न समर्थो विहातुं। तथा च सूत्रं—

'ण दु तिविधं तिविधेण व दुविधेक्कविधेण वापि विरमेज्ज इति॥'   [   ]

कथं तर्ह्यगारी विरतिमुपैति? अत्रोच्यते कृतकारितविकल्पाद्द्विप्रकारं हिंसादिकं मनोवाक्कायैस्त्यजति। वाचा कायेन वा हिंसादिविषयं कृतकारितं त्यजति। कायेन एकेन वा कृत कारितं त्यजति। अत एवोक्तं 'दुविधं पुण तिविधेण य दुविधेकविधेण वा विरमेज्ज' इति। अथवा हिंसाया स्वयं करणं एकं मनोवाक्कायैस्त्यजति। नाहं मनसा वाचा कायेन स्थूलकृतप्राणातिपातादिक पञ्चकं करोमीति अभिसंधिपूर्वकं विरमणं

आदिमें प्रवर्तन करने वाला वचन बोला,' इस प्रकार स्व और परविषयक निन्दा गर्हाके द्वारा दोषयुक्त बतलाते हुए, तथा वर्तमानमें मैं जो असंयम करता हूँ और पूर्वमें जैसा असंयम किया है वैसा मैं भविष्यमें नहीं करूँगा, ऐसा मनमें संकल्प करके त्याग करता है।

अब गृहस्थोंके विरतिरूप परिणामोंके भेद कहते हैं—कृत, कारित और अनुमतके भेदसे तीन भेदरूप स्थूल हिंसा आदिको गृहस्थ मन वचन कायसे नहीं त्यागता है। मनसे स्थूल हिंसा आदिको नहीं करता हूँ तथा वचनसे और कायसे नहीं करता हूँ, ये तीन भेद कृत है। मनसे स्थूल हिंसा आदिको न कराता हूँ तथा वचनसे और कायसे नहीं कराता हूँ। ये तीन भेद कारितके हैं। तथा मनसे स्थूल हिंसा आदिमें अनुमति नहीं देता हूँ तथा वचनसे और कायसे अनुमति नहीं देता हूँ ये तीन भेद अनुमतके हैं। इस प्रकार नौ प्रकारकी स्थूल हिंसा आदिका त्याग करनेमें गृहस्थ असमर्थ होता है। तथा कृत कारित अनुमतके भेदसे तीन भेदरूप स्थूल हिंसा आदिको मन और वचनसे करनेमें असमर्थ होता है। मनसे न करता हूँ, न कराता हूँ और न अनुमति देता हूँ। वचनसे न करता हूँ, न कराता हूँ और न अनुमति देता हूँ। कायसे कृत कारित अनुमतरूप हिंसा आदिको छोडनेमें समर्थ नहीं हूँ। सूत्रमें कहा है—कृतकारित अनुमतके भेदसे तीन भेद रूप हिंसा आदिको मन वचन कायसे अथवा मन वचनसे अथवा कायसे त्याग नहीं करता है।

तब गृहस्थ कैसे त्याग करता है यह बतलाते हैं—

कृत और कारितके भेदसे दो भेदरूप हिंसा आदिको मन वचन कायसे छोड़ता है। कृत कारित रूप हिंसादिको वचन और कायसे छोड़ता है। अथवा कृत कारित रूप हिंसा आदिको एक कायसे छोड़ता है। इसीसे कहा है—'कृत कारित रूप हिंसा आदिको तीन रूपसे, दो रूपसे या एक रूपसे छोड़ता है।' अथवा हिंसाके एक स्वयं करनेको मन वचन कायसे त्यागता है। 'मैं मनसे वचनसे कायसे स्थूल हिंसादि पाँच पापोंको नहीं करता हूँ' इस प्रकार संकल्प पूर्वक त्याग

करोति । वाक्कायाभ्यां वा स्वयं करणं त्यजति कायेनैकेन वा । तथा चोक्तम्—'एकविधं त्रिविधेन वापि विरहेय्य' इति । एवमेते व्रतविकल्पाः भविष्यत्कालविषयतयानुयुज्यमानाः प्रत्याख्यानविकल्पाः भवन्तीत्य-योपन्यासः कृतः ।

कायोत्सर्गो निरूप्यते—कायः शरीरं तस्य उत्सर्गस्त्यागः कायोत्सर्गः । उपलब्ध्यधिष्ठानेन्द्रियावयवकः कर्मनिर्वर्तितः पुद्गलप्रचयविशेष औदारिकाख्य इह कायशब्देन गृहीतः इतरत्र उत्सर्गस्यासंभवात् वक्ष्यमाणस्य ।

ननु च आयुषो निरवशेषगलने आत्मा शरीरमुत्सृजति नान्यदा तत्किमुच्यते कायोत्सर्ग इति ।

आत्मशरीरयोरन्योऽन्यस्य प्रदेशानुप्रवेशिनोरायुर्बंधात् अनपायित्वेऽपि शरीरे अशुचित्वं सप्तधातुरूप-तया अशुचितमं शुक्रशोणितबीजत्वाच्च, तथा अनित्यत्वं, अपायित्वं, दुर्वहत्वं, असारत्वं, दुःखहेतुत्वं, शरीरगतममताहेतुकमनंतसंसारपरिभ्रमणं इत्यादिकान्संप्रधार्य दोषान्नेदं मम नाहमस्येति संकल्पवतस्तदादरा-भावात्कायस्य त्यागो घटत एव । यथा प्राणेभ्योऽपि प्रियतमा कृतापराधावस्थिता ह्येकस्मिन्मंदिरे त्यक्ते-त्युच्यते तस्यामनुरागाभावान्ममेदं भावव्यावृत्तिमपेक्ष्य एवमिहापि । किं च कायापायसन्निपातेऽपि अपाय-निराकरणाभिलाषस्याभावात् । यो यदपायनिराकरणानुत्सुकस्तेन तत्परित्यक्तं यथा वसनादिकं परिहृतं । शरीरा-पायनिराकरणानुत्सुकश्च यतिस्तस्मादुच्यते कायस्य त्यागः ।

करता है । अथवा स्वयं करनेको वचन और कायसे त्यागता है या एक कायसे त्यागता है । कहा है—'एक कृतको तीन प्रकारसे त्यागता है ।' इन व्रतके भेदोंको भविष्य कालके साथ जोड़ने पर कि मैं भविष्यमें ऐसा नहीं करूँगा, ये प्रत्याख्यानके भेद होते हैं ।

अब कायोत्सर्गको कहते हैं—काय अर्थात् शरीरके, उत्सर्ग अर्थात् त्यागको कायोत्सर्ग कहते हैं । पदार्थोंको जाननेका आधार इन्द्रियाँ जिसकी अवयव है, और कर्मके द्वारा जिसकी रचना हुई तथा जो पुद्गलोंका एक समूह विशेष है उस औदारिक नामक शरीरको यहाँ काय शब्दसे ग्रहण किया है क्योंकि आगे कहे जानेवाला उत्सर्ग अन्य शरीरोंमें सम्भव नहीं है ।

शंका—आयुकर्म जब पूर्णरूपसे समाप्त हो जाता है तब आत्मा शरीरको छोड़ता है अन्य कालमें नहीं छोड़ता । तब कैसे आप कायोत्सर्गकी बात करते हैं ?

समाधान—आत्मा और शरीरके प्रदेश परस्परमें मिलनेसे आयुकर्मके कारण यद्यपि शरीर ठहरा रहता है तथापि शरीर सात धातु रूप होनेसे अपवित्र है, रज और वीर्यसे उत्पन्न होनेसे विशेष अपवित्र है । तथा अनित्य है, नष्ट होनेवाला है, दुःखसे धारण करने योग्य है, असार है, दुःखका कारण है, इस शरीरसे ममत्व करनेसे अनन्त संसारमें भ्रमण करना होता है, इत्यादि दोषोंको जानकर 'न यह मेरा है, न मैं इसका हूँ' ऐसा संकल्प करनेवालेके शरीरमें आदरका अभाव होनेसे कायका त्याग घटित होता ही है । जैसे प्राणोंसे भी प्यारी पत्नी अपराध करनेपर उसमें अनुराग न रहनेसे 'यह मेरी है' इस प्रकारका भाव न होनेसे एक ही घरमें रहते हुए भी 'त्यागी हुई' कही जाती है, उसी प्रकार यहाँ भी जानना । दूसरे, शरीरके विनाशके कारण उपस्थित होनेपर भी कायोत्सर्ग करनेवालेके विनाशके कारणको दूर करनेकी इच्छा नहीं होती । जो जिसके विनाशके कारणोंको दूर करनेमें उत्सुक नहीं है उसने उसे त्याग दिया है, जैसे त्यागा हुआ वस्त्रादि । और यति शरीरके विनाशके कारणको दूर करनेमें उत्सुक नहीं होता । अतः उसके

[1]स च शरीरनिःस्पृहः, स्थाणुरिवोर्ध्वकायः, प्रलंबितभुजः, प्रशस्तध्यानपरिणतोऽनुन्नमितानतकायः, परीषहानुपसर्गांश्च सहमानः, तिष्ठन्निर्जन्तुके कर्मापायाभिलाषी विविक्ते देशे ।

अन्तर्मुहूर्तः कायोत्सर्गस्य जघन्यः कालः, वर्षमुत्कृष्टः । अतिचारनिवृत्तये कायोत्सर्गा बहुप्रकारा भवन्ति रात्रिदिनपक्षमासचतुष्टयसंवत्सरादिकालगोचरातिचारभेदापेक्षया । सायाह्नोच्छ्वास शतकं, प्रत्यूषसि पंचाशत्, पक्षे त्रिशतानि, चतुर्षु मासेषु चतुःशतानि, पंचशतानि संवत्सरे उच्छ्वासानां[2] । प्रत्युषसि प्राणिवधादिषु पंचस्वतीचारेषु अष्टशतोच्छ्वासमात्रः कालः कायोत्सर्गः कार्यः । कायोत्सर्गे कृते यदि शक्यते उच्छ्वासस्य स्खलनं वा परिणामस्य उच्छ्वासाष्टकमधिकं स्थातव्यम् ।

उत्थितोत्थित, उत्थितनिविष्टम्, उपविष्टोत्थितं, उपविष्टनिविष्ट इति चत्वारो विकल्पाः । धर्मे शुक्ले वा परिणतो यस्तिष्ठति तस्य कायोत्सर्गः उत्थितोत्थितो नाम । द्रव्यभावोत्थानसमन्वितत्वादुत्थानप्रकर्षः उत्थितोत्थितशब्देनोच्यते । तत्र द्रव्योत्थानं शरीरं स्थाणुवदूर्ध्वं अविचलमवस्थानं । ध्येयैकवस्तुनिष्ठता ज्ञानाख्यस्य भावस्य भावोत्थानं । आर्तरौद्रयो परिणतो यस्तिष्ठति तस्य उत्थितनिषण्णो नाम कायोत्सर्गः । शरीरोत्थानादुत्थितत्वं शुभपरिणामोद्गतिरूपस्योत्थानस्याभावान्निषण्ण इत्युच्यते । अत एव विरोधाभावो भिन्न-

---

कायत्याग उचित है । तथा वह शरीरसे निस्पृह होकर, स्थाणुकी तरह शरीरको सीधा करके, दोनों हाथोंको लटकाकर, प्रशस्त ध्यानमें लीन हो, शरीरको ऊँचा-नीचा न करके परीषहों और उपसर्गोंको सहन करता हुआ, कर्मोंको नष्ट करनेकी अभिलाषासे जन्तुरहित एकान्त देशमे ठहरता है ।

कायोत्सर्गका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल एक वर्ष है । अतिचारोंको दूर करनेके लिए कायोत्सर्गके रात, दिन, पक्ष, मास, चार मास, वर्ष आदिकालमें होनेवाले अतिचारोंकी अपेक्षा अनेक भेद हैं । सायंकालमें सौ उच्छ्वास प्रमाण, प्रातःकालमे पचास उच्छ्वास प्रमाण, पाक्षिक अतिचारमें तीन सौ उच्छ्वास प्रमाण, चार मासोंमें चार सौ उच्छ्वास प्रमाण और वार्षिकमें पाँच सौ उच्छ्वास प्रमाण काल कायोत्सर्गका है । हिंसा आदि पाँच अतिचारोंमे एक सौ आठ उच्छ्वास मात्र काल तक कायोत्सर्ग करना चाहिए । कायोत्सर्ग करनेपर यदि उच्छ्वासका अथवा परिणामका स्खलन हो जाये तो आठ उच्छ्वासप्रमाण अधिक काल तक कायोत्सर्ग करना चाहिए ।

कायोत्सर्गके चार भेद हैं—उत्थितोत्थित, उत्थितनिविष्ट, उपविष्टउत्थित, और उपविष्टनिविष्ट । जो धर्मध्यान या शुक्लध्यान सहित कायोत्सर्ग करता है उसके उत्थितोत्थित नामक कायोत्सर्ग है । यहाँ द्रव्य और भाव दोनोंके ही उत्थानसे युक्त होनेसे उत्थितोत्थित शब्दसे उत्थानका प्रकर्ष कहा है । स्थाणुकी तरह शरीरका उन्नत और निश्चल रहना द्रव्योत्थान है । ज्ञानरूप भावका ध्यान करने योग्य एक ही वस्तुमें स्थिर रहना भावोत्थान है । जो आर्त रौद्रध्यानके साथ कायोत्सर्ग करता है उसके उत्थितनिविष्ट नामक कायोत्सर्ग होता है । शरीरके खड़े होनेसे इसे उत्थित और शुभपरिणामकी उद्गतिरूप उत्थानका अभाव होनेसे निविष्ट या निषण्ण कहते हैं । इसीसे एक कालमें एक क्षेत्रमें उत्थान—खड़े होना और निविष्ट—बैठना इन दोनों आसनोंमें कोई विरोध नहीं है क्योंकि दोनोंके निमित्त भिन्न हैं । जो बैठकर ही धर्म और शुक्लध्यान करता है उसके उत्थितनिषण्ण कायोत्सर्ग होता है क्योंकि उसके परिणाम तो उत्थित

---

१. तत्र शरीर–आ० मु० । २. ना प्रत्युषसि प्राणि–आ० मु० ।

निमित्तत्वादुत्थानासनयोः एकत्र एकदा। यस्त्वासीन एव धर्मशुक्लध्यानपरिणतिमुपैति तस्य उत्थितनिषण्णो भवति परिणामोत्थानात्कायानुत्थानाच्च। यस्तु निषण्णोऽशुभध्यानपरस्तस्य निषण्णनिषण्णकः कायशुभपरिणामाभ्यां अनुत्थानात्।

दैवसिकाद्यतीचारं रत्नत्रयगतं मनसा विमृश्य इदं मया[1] न सुष्ठु कृतं प्रमादिनेति संचिन्त्य पश्चाद्धर्मे शुक्ले वा ध्याने प्रयतितव्यम्।

कायोत्सर्गप्रपन्नः स्थानदोषान्परिहरेत्। के ते इति चेदुच्यते। १ तुरग इव कुंटीकृतपादेन अवस्थानम् २ लतेवेतस्ततश्चलतोऽवस्थानं ३ स्तंभवत्स्तब्धशरीरं कृत्वा स्थानं। ४ स्तंभोपाश्रयेण वा कुड्याश्रयेण वा मालावलम्बशिरसा वावस्थानम्। ५ लंबिताधरतया, स्तनगतदृष्ट्या वायस इव इतस्ततो नयनोद्वर्तनं कृत्वा। ६ खलीनावपीडितमुखहय इव मुखचालनं संपादयतोऽवस्थानं। ७ युगावष्टब्धबलीवर्द इव शिरोऽधः पातयता। ८ कपित्थफलग्राहीव विकाशिकरतलं, संकुचिताङ्गुलिपंचकं वा कृत्वा ९ शिरश्चालनं कुर्वन् १० मूक इव हुंकारं संपाद्यावस्थानं ११ मूक इव नासिकया वस्तूपदर्शयता वा १२ अंगुलीस्फोटनं १३ भ्रूनर्तनं वा कृत्वा १४ शबरवधूरिव स्वकौपीनदेशाच्छादनपुरोगं १५ शृङ्खलाबद्धपाद इव वावस्थानं १६ पीतमदिर इव परवशगतशरीरो वा भूत्वावस्थानं इत्यमी दोषाः॥

व्यावर्णितानामावश्यकानां अपरिहाणिर्हानिर्न कार्या। अणुस्सेगो आधिक्येनाकरणं च।

है किन्तु शरीर बैठा हुआ है। जो बैठे हुए अशुभध्यानमें लीन होता है उसके निषण्ण निषण्ण कायोत्सर्ग होता है। क्योंकि न तो उसका शरीर उत्थित है और न शुभपरिणाम ही हैं। रत्नत्रयमें देवसिक आदि अतीचारोंको मनसे विचारकर 'मुझ प्रमादीने यह ठीक नहीं किया' ऐसा सोचकर पीछे धर्मध्यान अथवा शुक्लध्यान करना चाहिये।

कायोत्सर्ग करने वालेको स्थान सम्बन्धी दोष दूर करना चाहिये। वे दोष इस प्रकार हैं— १ घोड़ेकी तरह पैरको थोड़ा मोड़कर खड़ा होना। २ बेलकी तरह इधर-उधर हिलते हुए खड़े होना। ३. स्तम्भकी तरह शरीरको स्तब्ध करके खड़े होना। ४. स्तम्भ अथवा दीवारके आश्रयसे अथवा ऊपरके तल्लेसे सिरको लगाकर खड़े होना। ५. ओष्ठको लटकाकर दृष्टि अपने स्तनों पर रखकर कौएकी तरह आँखोंको इधर-उधर घुमाना। ६ लगामसे पीड़ित मुख वाले घोड़ेकी तरह मुख चलाते हुए अवस्थित होना। ७. जैसे कन्धे पर जुआ होनेसे बैल अपना सिर नीचे डालता है उस तरह सिरको लटकाकर अवस्थापन करना। ८. कैथके फलको ग्रहण करने वाला मनुष्य जैसे अपनी हथेलीको फैलाता है उस तरह हथेलीको फैलाकर या पाँचों अंगुलियोंको संकुचित करके अवस्थित होना। ९. सिरको चलाते हुए अवस्थान। १० गूँगेकी तरह हुकार करते हुए अवस्थान। ११. गूँगेकी तरह नाकसे वस्तुको दिखलाते हुए अवस्थान। १२. अंगुली चटकाते हुए अवस्थान। १३. भौंको नचाते हुए अवस्थान। १४. भीलनीकी तरह अपने अग्रभागको हथेलीसे ढाँकते हुए अवस्थान। १५. ऐसे खड़े होना मानों दोनों पैर साँकलसे बँधे हैं। १६ मदिरा पिये हुए की तरह अथवा पराधीन शरीर वालेकी तरह खड़ा होना। ये कायोत्सर्गके दोष हैं।

जो पहले छह आवश्यक कहे हैं उनमें हानि नहीं करनी चाहिये और न उनमें आधिक्य करना चाहिये॥ ११८॥

---

१. मया दुष्टं कृत—आ० मु०।

भत्ती तवोधियंमि य तवम्मि य अहीलणा य सेसाणं ।
एसो तवम्मि विणओ जहुत्तचारिस्स साधुस्स ॥११९॥

'भत्ती' भक्ति. । वदननिरीक्षणादिप्रसादेन अभिव्यज्यमानोऽन्तर्गतोऽनुरागः । 'तवोऽधियम्मि' तपोऽधिके च 'तवम्मि' य सम्यक्तपसि, तद्वति च, भक्तिरिति यावत् । तच्च सम्यग्ज्ञानदर्शनसंयमानुगतं । 'अहीलणा य' अपरिभवश्च । 'सेसाणं' शेषाणां । तपसा न्यूनानामात्मनः ज्ञानश्रद्धानचरणवतां परिभवे ज्ञानादीन्येव परिभूतानि भवति । ततो बहुमानाभावो ज्ञानातिचार., वात्सल्याभावो दर्शनातिचारः । सातिचारज्ञानदर्शनस्य चारित्रममशुद्धं इति, महाननर्थ इति भाव: । 'एसो' एष व्यावर्णितपरिणामसमूह उत्तरगुणोद्योगादिकः । 'तवम्मि' तपसि तपोविषयः । 'विणओ' विनयः । 'जहुत्तचारिस्स' श्रुतनिरूपितक्रमेणाचरतः । 'साधुस्स' साधोः ॥११९॥

उपचारविनयनिरूपणार्थोत्तरगाथा—

काइयवाइयमाणसिओत्ति तिविधो दु पंचमो विणओ ।
सो पुण सव्वो दुविहो पच्चक्खो चेव पारोक्खो ॥१२०॥

'काइयवाइयमाणसिओत्ति' पदसंबंधः । पंचमो विनयस्त्रिप्रकार. कायेन, मनसा, वचसा च, निर्वर्त्यते इति । 'सो पुण सव्वो' स पुनस्त्रिप्रकारोऽपि विनयः । 'दुविधो' द्विविध. । 'पच्चक्खो चेव' प्रत्यक्षः । 'पारोक्खो' परोक्षश्चेति ॥१२०॥

गा०—जो तपमें अधिक हैं उनमें और तपमें भक्ति और जो अपनेसे तपमें हीन है उनका अपरिभव यह श्रुतके अनुसार आचरण करने वाले साधुकी तप विनय है ॥११९॥

टी०—मुखकी प्रसन्नतासे प्रकट होनेवाले आन्तरिक अनुरागको भक्ति कहते हैं । तपसे अधिकमें और सम्यक् तपमें भक्ति करना । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और संयमके अनुगत तप ही सम्यक् तप है । जो तपमें न्यून है उनका तिरस्कार नहीं करना । जो ज्ञान श्रद्धान और चारित्रसे युक्त होनेपर भी अपनेसे तपमें कम हैं, उनका तिरस्कार करनेपर ज्ञानादिका ही तिरस्कार होता है । और ऐसोंका बहुमान न करना ज्ञानका अतिचार है । उनमें वात्सल्य न रखना सम्यग्दर्शनका अतिचार है । और जिसका ज्ञान और दर्शन सातिचार है उसका चारित्र अशुद्ध है, इस तरह महान् अनर्थ है । यह ऊपर कहा, उत्तरगुणोंमें उद्योग आदि शास्त्रानुसार आचरण करनेवाले साधु की तप विषयक विनय है ॥११९॥

उपचार विनयका निरूपण करते हैं—

गा०—पाँचवीं उपचार विनय तीन प्रकारकी है कायिक, वाचनिक और मानसिक । और वह तीनों प्रकारकी विनय दो प्रकारकी है प्रत्यक्ष विनय और परोक्ष विनय ॥१२०॥

टी०—पाँचवीं विनय तीन प्रकारकी है जो कायसे, मनसे और वचनसे की जाती है । और ये तीनों प्रकारकी भी विनय दो प्रकारकी है—प्रत्यक्ष और परोक्ष ॥१२०॥

तत्र प्रत्यक्षकायिकविनयप्रदर्शनाय गाथाचतुष्टयमुत्तरम्—

अब्भुट्ठाणं किदियम्मं णवसणं अंजली य मुंडाणं ।
पच्चुग्गच्छणमेत्तो पच्छिद अणुसाधणं चेव ॥१२१॥

'अब्भुट्ठाणं' अभ्युत्थानं गुर्वादीनां प्रवेशनिःक्रमणयोः । 'किदियम्मं' णवंसणं, वंदना, शरीरावनतिश्च । 'अंजली य' कृतांजलिपुटता च । 'मुंडाणं' शिरोवनतिश्च । 'पच्चुग्गच्छणं' प्रत्युद्गमनं । आसीने स्थिते वा गुरौ । 'पच्छिद अणुसाधणं चेव' स्वयं गच्छतः दूरात्परिहृत्य निभृतकरचरणस्यावनतगात्रस्य गमनं, सहगमे वा पृष्ठतः स्वशरीरमात्रप्रमाणभूभागेन तं परिहृत्य गमनं ॥१२१॥

णीचं ठाणं णीचं गमणं णीचं च आसणं सयणं ।
आसणदाणं उवगरणदाणमोगासदाणं च ॥१२२॥

णीचं च आसणं नीचैरासनं । पृष्ठतः स्वहस्तपादश्वासादिभिरुपद्रुतो न भवति यथा गुर्वादिस्तथासनं । अग्रतोऽभिमुखात् मनागपसृत्य वामपार्श्वेऽनुद्धतस्येषदवनतोत्तमाङ्गस्य चासनं । आसने गुरावुपविष्टे स्वयं भूमावासनं च । 'सयणं च णीचमिति' पदघटना । नीचैः शयनमिति यावत् । 'अनुन्नते देशे शयनं, गुरुनाभिप्रमाणमात्र-भूभागे वा स्वशिरो भवति यथा तथा शयनं । हस्तपादादिभिर्वा यथा न घट्यते गुर्वादिः । 'आसणदाणं'

उनमेंसे प्रत्यक्षकायिक विनयको चार गाथाओंसे दिखलाते हैं—

टी०—गुरु आदिके प्रवेश करनेपर या बाहर जानेपर अभ्युत्थान—खड़े होना, कृतिकर्म अर्थात् वन्दना करना, णवंसण अर्थात् शरीरको नम्र करना, दोनों हाथोंको जोड़ना, सिरको नवाना, प्रत्युद्गमन अर्थात् गुरुके बैठने अथवा खड़े होनेपर उनके सामने जाना, और जब गुरु जावें तो उनसे दूर रहते हुए अपने हाथ पैरको शान्त और शरीरको नम्र करके गमन करना और गुरु के साथ जानेपर उनके पीछे अपने शरीर प्रमाण भूमिभागका अन्तराल देकर गमन करें ॥१२१॥

विशेषार्थ—पं० आशाधरने अपनी टीकामें लिखा है कि टीकाकार तो 'पच्छिद अणुसाधणं' के स्थानमें 'पच्छिद संसाहणा' पढ़ते हैं और उसकी व्याख्या करते हैं कि—आचार्य उपाध्याय आदिके द्वारा प्रार्थित और मनसे अभिलषितका सम्यक् प्रसाधन करना अर्थात् आज्ञा नहीं देनेपर भी संकेतसे ही जानकर करना। यह टीकाकार कोई दूसरे जान पड़ते हैं क्योंकि विजयोदयामें तो यह पाठ नहीं है।

गा०—नीचा स्थान, नीचा गमन, नीच आसन, नीचे सोना, आसनदान, उपकरणदान और अवकाशदान ये उपचार विनयके प्रकार हैं ॥१२२॥

टी०—नीचा आसन—गुरुके पीछे इस प्रकार बैठे कि अपने हाथ पैर श्वास आदिसे गुरुको किसी प्रकारकी बाधा न पहुँचे। आगे बैठना हो तो सामनेसे थोड़ा हटकर गुरुके वाम भागमें उद्धतता त्यागकर और अपने मस्तकको थोड़ा नवाकर बैठे। आसन पर गुरुके बैठने पर स्वयं भूमिमें बैठे। नीचे सोना—अर्थात् जो ऊँचा नहीं हो ऐसे देशमें सोना, अथवा गुरुके नाभि प्रमाण मात्र भूभागमें अपना सिर रहे इस प्रकार सोना। अथवा अपने हाथ पैर वगैरहसे गुरु आदिका

---

१. अनुन्नते देशे आ० मु०।

आसितुमिच्छति इत्यवगम्य निरूप्य चक्षुषा प्रमार्जनयोग्यं न वेति, पश्चात्प्रतिलेखनेन लाघवमार्दवादिगुणान्वितेनातिमनकैः प्रमार्ज्य भूभागं पीठादिकं च आसनदान। 'उवकरणदाणं' ज्ञानसंयमो उपक्रियेते अनुगृह्येते येनतदुपकरणं पुस्तकादि ग्रहीतुमभिप्रेतं तस्य दान। अथवा उद्गमोत्पादनैषणादिदोषैरदुष्टस्य सुप्रतिलेखनस्यात्मना लब्धस्य उपकरणस्य दानं। 'ओगासदाणं च' अवकाशदानं च शीतार्त्तस्यावस्थितनिवातावकाशदानं, उष्णार्दितस्य शीतलस्थानदानं ग्रामनगरादिस्वावासस्थानदानं वा ॥१२२॥

पडिरूवकायसंफासणदा पडिरूवकालकिरिया य।
पेसणकरणं संथारकरणमुवकरणपडिलिहणं ॥१२३॥

'पडिरूवकायसंफासणदा' कायस्य सस्पर्शनं कायसस्पर्शनं। प्रतिरूपं कायस्य संस्पर्शनं प्रतिरूपकायसस्पर्शनं तस्य भावः प्रतिरूपकायसंस्पर्शनता। गुर्वादिशरीरानुकूल सस्पर्शनमिति यावत्।

अयं चात्र क्रम —मनागुपसृत्य स्थित्वा तदीयेन पिच्छेन कायं त्रिः प्रमृज्य आगंतुकजीवबाधापरिहारोपयुक्तः सादरः स्वबलानुरूपं यावद्यावद्गुरुर्मर्दनसहस्तावदेव मर्दनं कुर्यात्। उष्णाभितप्तस्य यथा शैत्यं भवति तथा स्पृशेच्छीतार्त्तस्य यथौष्ण्यं तथा।

'पडिरूवकालकिरिया य' कालकृतोऽवस्थाविशेषो बालत्वादिरिह कालशब्देनोच्यते कालप्रभवत्वात्।

संघट्टन न हो इस प्रकार शयन करे। आसनदान—गुरु बैठना चाहते हैं ऐसा जानकर चक्षुसे देखे कि प्रमार्जनके योग्य है या नहीं ? पीछे लाघव कोमलता आदि गुणोंसे युक्त पीछीसे अत्यन्त धीरेसे भूभाग और आसन आदिको पोछ देवे। उपकरणदान—जिससे ज्ञान और समय का उपकार हो उसे उपकरण कहते हैं। गुरु पुस्तक आदि चाहते हो तो उन्हे देना। अथवा उद्गम उत्पादन आदि दोषोंसे रहित उपकरण अपनेको मिला हो तो उसे देना उपकरणदान है। अवकाशदान—शीतसे पीड़ितको वायु रहित स्थान देना और गर्मीसे पीड़ितको शीतल स्थान देना, अथवा ग्राम नगर आदिमें अपना आवास स्थान देना ॥१२२॥

विशेषार्थ—नीचा स्थानका मतलब है गुरु जहाँ बैठे या खड़े हों उसके वाम भागमें या पीछे बैठना। और नीचे गमनका मतलब है—गुरुके बैठे रहते या खड़े रहते स्वयं गमन करते शिष्यका गुरुसे दूर रहते हुए अपने हाथ पैरको निश्चल रखते हुए और शरीर को नम्र करके गमन करना।

गा०—गुरु आदिके शरीरके अनुकूल स्पर्शन, बालपने आदि अवस्थाके अनुरूप वैयावृत्य करना, और गुरु आदिकी आज्ञाका पालन करना, तृण आदिका संथरा करना, उपकरणोंकी प्रतिलेखना करना ॥१२३॥

टी०—कायके स्पर्शनको कायस्पर्शन कहते हैं। प्रतिरूप कायका स्पर्शन प्रतिरूप काय स्पर्शन है और उसका भाव प्रतिरूपकाय स्पर्शनता है अर्थात् गुरु आदिके शरीरके अनुकूल स्पर्शन करना। इसका क्रम इस प्रकार है—गुरुसे थोड़ा हटकर बैठे और उनकी पीछीसे तीन बार उनके शरीरका प्रमार्जन करके आगन्तुक जीवको किसी प्रकारकी बाधा न हो इस प्रकार सादर अपने बलके अनुरूप जितने काल तक और जितना मर्दन गुरु सह सके उतना ही मर्दन करे। यदि गुरु गर्मीसे तप्त हों तो शीतपना जिस प्रकार संभव उस प्रकार स्पर्श करे और यदि शीतसे पीड़ित हों तो गर्मी पहुँचाना जैसे हो उस प्रकार स्पर्श करे। तथा 'प्रतिरूपकाल क्रिया' में काल शब्दसे

तेन बालत्वाद्यनुरूपवैयावृत्यक्रियेति यावत् । पेसणकरणं गुर्वादिभिराज्ञप्तस्य । 'संथारकरणं' तृणफलकादिकसंस्तरणक्रिया । 'उवकरणपडिलिहणं' गुर्वादीनां ज्ञानसंयमोपकरणप्रतिलेखनं अस्तमनवेलाया आदित्योद्गमने च ॥१२३॥

इच्चेवमादि विणओ उवयारो कीरदे सरीरेण ।
एसो काइयविणओ जहारिहो साहुवग्गम्मि ॥१२४॥

उपचारिकविनयः । शेषं सुगमं ।

वाचिकविनयनिरूपणार्थं गाथाद्वयम्—

पूयावयणं हिदभासणं च मिदभासणं च मधुरं च ।
सुत्ताणुवीचिवयणं अणिट्ठुरमकक्कसं वयणं ॥१२५॥

'पूयावयणं' पूजापुरस्सरं वचनं भट्टारक इदं शृणोमि, भगवन्निदं कर्तुमिच्छामि युष्मदनुज्ञयेत्यादिकं । 'हिदभासणं च' गुर्वादीनां यद्धितं लोकद्वयस्य तस्य भाषणं । 'मितभाषणं' यावता विविदिषितार्थप्रतिपत्तिर्भवति तावदेव वक्तव्य न प्रसक्तानुप्रसक्तं । 'मधुरं' च श्रोत्रप्रियं । 'सुत्ताणुवीचिवयणं' सूत्रानुवीचिवचनं । भाषासमित्यधिकारे यानि वाच्यानि निर्दिष्टानि वचांसि तेषां कथनं । 'अणिट्ठुरं' अनिष्ठुरं परचित्तपीडाकृतावनुद्यतं । 'अकक्कसं वयणं' अकर्कशं वचनं अपरुषमिति यावत् ॥१२५॥

कालकृत अवस्थाविशेष बाल्य अवस्था आदि ग्रहण की है क्योंकि वह कालसे होती है। अतः गुरुकी बाल आदि अवस्थाके अनुसार वैयावृत्य करना चाहिये । उनके लिये तृणोंका या लकड़ीके पटियाका संथरा करना चाहिये । सूर्यके अस्त और उदय होनेके समय उनके ज्ञान और संयमके उपकरण शास्त्र कमण्डलु आदिकी सफाई करना चाहिये ॥१२३॥

गा०—इस प्रकारको आदि लेकर उपचार विनय शरीरके द्वारा साधुवर्गमे यथा योग्य की जाती है । यह कायिक विनय है ॥१२४॥

टी०—यह उपचार विनय है । शेष सुगम है ॥१२४॥

दो गाथाओंसे वाचिक विनयका निरूपण करते हैं—

गा०—पूजा पूर्वक वचन, हितकारी भाषण, मित भाषण, मधुर भाषण, सूत्रानुसार वचन, अनिष्ठुर और अकर्कश वचन वचनविनय है ॥१२५॥

टी०—'हे भट्टारक ! मैं सुन रहा हूँ,' 'हे भगवन् आपकी आज्ञा हो तो मै ऐसा करना चाहता हूँ । इस प्रकारसे पूजा पूर्वक वचन बोलना । जो गुरु आदिके लिये इस लोक और परलोक में हितकर हो ऐसा हित भाषण करना । जितना बोलनेसे विवक्षित अर्थका बोध हो उतना ही बोलना, प्रासंगिक या अप्रासंगिक न बोलना । कानोंको प्रिय वचन बोलना, भाषासमिति अधिकार में जो वचन बोलने योग्य कहे हैं उन्हें ही बोलना, तथा दूसरेके चित्तको पीड़ा करने वाले निष्ठुर वचन और कर्कश वचन न बोलना वाचिक विनय है ॥१२५॥

उवसंतवयणमगिहत्थवयणमकिरियमहीलणं वयणं ।
एसो वाइयविणओ जहारिहो होदि कादव्वो ॥१२६॥

'उवसंतवयणं' प्रशांतरागकोपः उपशांतः तस्य वचनं उपशांतवचनं । विरागस्य विरोषस्य च यद्वचस्तदेव भाष्यं । 'अगिहत्थवयणं' गृहस्था मिथ्यादृष्टयोऽसंयता अयोग्यवचनविकल्पानभिज्ञास्तेषां यद्वचनं न भवति तस्य अभिधानं । 'अकिरियं' षट्कर्मव्यावर्णनपरं यन्न भवति । 'अहीलणं' परानवज्ञाकारि । 'एसो' व्यावर्णितवचनव्यापारः । 'वाचिगविणओ' वाग्विनयो । 'जधारिहं' यथार्हं । 'होदि कादव्वो' कर्तव्यो भवति ॥१२६॥

मानसिकविनयं निरूपयति—

पापविसोत्तिग परिणामवज्जणं पियहिदे य परिणामो ।
णायव्वो संखेवेण एसो माणस्सिओ विणओ ॥१२७॥

'पापविसोत्तिगपरिणामवज्जणं' पापशब्देन अशुभकर्माण्युच्यंते । स्रोतः प्रवाहः । स्रोत इव अविच्छेदेन प्रवृत्तेः कर्माणि अपि पापविस्रोतःशब्देन उच्यंते । पापविस्रोतःप्रयोजनाः परिणामा ये तेषां वर्जनं । इह गुरुविनयस्य प्रस्तुतत्वात् गुरुविषयोऽशुभः परिणामः आत्मनो यथेष्टचारित्वनिवारणजनितः क्रोधः । अविनीतता-दर्शनादनुग्रहाभावमपेक्ष्य नाध्यापयति पूर्ववन्न मया सह संभाषणं करोति इति वा क्रोधः । गुरुविनये आलस्यं,

---

गा०—उपशान्त वचन, जो वचन गृहस्थों के योग्य नहीं हैं, कृषि आदि आरम्भ से शून्य वचन, दूसरों की अवज्ञा न करने वाला वचन बोलना यह यथा योग्य वाचिकविनय करने योग्य होती है ॥१२६॥

टी०—जिसका राग द्वेष शान्त हो गया है उसे उपशान्त कहते हैं । उसका वचन उपशान्त वचन है । अर्थात् राग रहित और रोष रहितका जो वचन होता है वही बोलना चाहिये । गृहस्थ अर्थात् मिथ्यादृष्टि और असंयमी जो योग्य अयोग्य वचनोंको नहीं जानते, उनका जो वचन हो वह नही बोलना जो वचन वे नहीं बोलते वही बोलना चाहिये । जिस वचन में असि, मषी, कृषि, सेवा, वाणिज्य आदि षट्कर्मोंका उपदेश न हो वह बोलना चाहिये । तथा जो वचन दूसरेका निरादर न करता हो वह बोलना चाहिये । ये जो वचन कहे हैं इनका बोलना वचन विनय है । उसको यथायोग्य करना चाहिये ॥१२६॥

मानसिक विनय को कहते हैं—

गा०—पापको लाने वाले परिणामोंको न करना, जो गुरुको प्रिय और हितकर हो उसीमें परिणाम लगाना, यह संक्षेपसे मानसिक विनय जानना ॥१२७॥

टी०—पाप शब्दसे अशुभ कर्मोंको कहा है । स्रोतका अर्थ प्रवाह है । प्रवाहकी तरह लगातार होनेसे कर्मोंको भी पाप विस्रोत शब्दसे कहा है । पापको लाना ही जिनका काम है उन परिणामोंको त्यागना चाहिये । यह गुरु विनयका प्रकरण होनेसे गुरु विषयक अशुभ परिणाम लेना । गुरुके द्वारा अपनी स्वेच्छाचारिताका निवारण करनेसे क्रोध उत्पन्न होना, शिष्यको अविनयी देख उसपर गुरु कृपा न करे तो 'मुझे पहलेकी तरह नहीं पढ़ाते हैं न मेरे साथ पहलेकी तरह वार्तालाप करते हैं इस प्रकार क्रोध करना, गुरुकी विनयमें प्रमाद करना, गुरुकी अवज्ञा

गुर्वं प्रत्यवज्ञा, निंदा, संभ्रमः, तत्प्रतिकूलवृत्तिरित्येवमादयः। 'पियहिदे य परिणामो' गुरोर्यत्प्रियं तस्मै यद्धितं आत्मने वा तत्र परिणामः। 'णादव्वो' ज्ञातव्यः। 'संखेवेण' समासेन। 'एसो' एषः। 'माणसिगो' मानसिकः। 'विणओ' विनयः ॥१२७॥

इय एसो पच्चक्खो विणओ पारोक्खिओ वि जं गुरुणो।
विरहम्मि विवट्टिज्जइ आणाणिद्देसचरियाए ॥१२८॥

'इय' एवं। 'एसो' एषः। 'पच्चक्खो' प्रत्यक्षो विनयः। सन्निहितगुरुविषयत्वात्। 'पारोक्खिओ' वि गुरोः परोक्षे क्रियमाणोऽपि विनयः। कोऽसाविति चेदाह—'गुरुणो विरहम्मि विवट्टिज्जइ' गुरोर्विरहेऽपि यत् क्रियते। 'आणाणिद्देसचरियाए' आज्ञायाम्—इत्थमेव भवता कार्यं मुमुक्षुणा न कदाचनेत्थमिति यन्निर्दिश्यते तदाज्ञानिर्देशः। 'सद्दंसणणाणचरणेसु विहारो कायव्वो' इत्येवमादिसदृशः ॥१२८॥

न गुरुष्वेव विनयः कार्यं इति ग्रहीतव्यं, एतेष्वपि विनयः कर्तव्य इत्याह—

राइणिय अराइणीएसु अज्जासु चेव गिहिवग्गे।
विणओ जहारिहो सो कायव्वो अप्पमत्तेण ॥ १२९॥

'राइणिय अराइणिएसु' यथा रत्नानि दुर्लभानि अभिलषितदानक्षमाणि तथैव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि श्रद्धानादिपरिणामेनोत्कृष्टेन वर्तमानः राइणिय इत्युच्यते। आत्मनो न्यूनरत्नत्रया अराइणिया अथवा 'रादिणिग ऊमरादिणिगेसु' ज्येष्ठकनिष्ठव्रतेषु च शेषं सुगमं ॥१२९॥

करना निन्दा करना, उनके प्रतिकूल चलना इत्यादि पाप परिणामोंको छोड़ना। और गुरुको जो प्रिय हो और हितकर हो उसमें ही परिणाम लगाना। ये संक्षेपसे मानसिक विनय हैं ॥१२७॥

गा०—इस प्रकार यह प्रत्यक्ष विनय है, परोक्ष विनय भी वह है जो गुरुके अभावमें उनकी आज्ञा निर्देशका आचरण करनेमें की जाती है ॥१२८॥

टी०—यह प्रत्यक्ष विनय है क्योंकि गुरुके सामनेकी जाती है और गुरुके अभावमें जो उनकी आज्ञाका पालन किया जाता है वह गुरुके परोक्षमें होनेसे परोक्ष विनय है। 'आप मुमुक्षु हैं आपको ऐसा ही करना चाहिये और कभी भी उसके विपरीत नहीं करना चाहिये' यह आज्ञा निर्देश है। जैसे 'सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्रमें सदा विहार करना चाहिये', इत्यादि ॥१२८॥

'न केवल गुरुकी ही विनय करना चाहिये किन्तु इनकी भी विनय करना चाहिये यह कहते हैं—

गा०—रत्नत्रयमें जो अपनेसे उत्कृष्ट हैं, रत्नत्रयमें जो अपनेसे हीन है उनमें, आर्यिकाओंमें और गृहस्थवर्गमें वह विनय जो जिस योग्य हो, प्रमाद रहित होकर करना ही चाहिये ॥१२९॥

टी०—जिस प्रकार इच्छित वस्तुको देनेमें समर्थ रत्न दुर्लभ हैं उसी तरह सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रत्न शब्दसे कहे गये हैं। अतः जो उत्कृष्ट श्रद्धान आदि परिणामों से युक्त हैं तथा अपनेसे न्यून रत्नत्रयसे युक्त हैं उनकी विनय करना चाहिये। अथवा 'रादिणिग ऊमरादिणिगेसु' ऐसा पाठ होनेपर भी अपनेसे जो व्रतोंमें ज्येष्ठ हैं और कनिष्ट हैं उनकी विनय करना चाहिये। शेष गाथा सुगम है ॥१२९॥

विनयाभावे दोषमाचष्टे—दोषप्रकटनेन भयमुत्पाद्य विनये दृढता कर्तुम्—

विणएण विप्पहूणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा ।
विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकल्लाणं ॥१३०॥

'**विणएण विप्पहूणस्स**' विनयरहितस्य यतेः । '**हवइ सिक्खा णिरत्थिया सव्वा**' सर्वशिक्षा निष्फला । किं शिक्षायाः फलं इत्यारेकय आह—'**विणओ सिक्खाए फलं**' व्यावर्णितः पञ्चप्रकारो विनयः शिक्षायाः फलं । तस्य विनयस्य किं फलं ? पुरुषार्थो हि फलमित्यांशंक्याह '**विणयफलं सव्वकल्लाणं**' सर्वमभ्युदयनिःश्रेयसरूपं कल्याणस्थानमानैश्वर्यादिक इन्द्रियानिन्द्रियसुखं च ॥१३०॥

विणओ मोक्खद्दारं विणयादो संजमो तवो णाणं ।
विणएणाराहिज्जइ आयरिओ सव्वसंघो य ॥१३१॥

'**विणओ मोक्खद्दारं**' यथा द्वारमभिमतदेशप्राप्तेरुपायस्तद्वत् मोक्षस्य निरवशेषकर्मापायस्य प्राप्त्यावुपायो विनय इति मोक्षद्वारमित्युच्यते । निरूपिते पञ्चप्रकारे विनये स्यत्येवं (?) कर्मापायो भवतीति '**विणयादो**' विनयाद् हेतोः '**संजमो**' संयमो भवति । ज्ञानादिविनयेषु अनवरतं प्रवर्तमानो ह्यसंयम परिहर्तुं शक्नोति नापरः । इन्द्रियकषाययोरप्रणिधानं यदि न स्यात् कथमिन्द्रियसंयमः प्राणिसंयमो वा भवति ? '**तवो**' तपः ज्ञाना-

---

विशेषार्थ—पं० आशाधरने अपनी टीकामें 'रादिणिग ऊमरादिणिगेसु' पाठ रखा है—'रादिणिगा' अपनेसे रत्नत्रयसे अधिक या समान साधु । ऊमरादिणिगा—अपनेसे हीन रत्नत्रय वाले, ऐसा अर्थ किया है । और लिखा है कि अन्य टीकाकार इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं—रातिका और अवम रातिका अर्थात् जो अपनेसे तपमें एक रात आदि बड़े या छोटे हैं ॥

दोष प्रकट करनेसे भय उत्पन्न कराकर विनयमें दृढ करनेके लिये विनयके अभावमें दोष कहते हैं—

गा०—विनयसे रहित साधुकी सब शिक्षा निष्फल होती है । शिक्षाका फल विनय है । विनयका फल सब कल्याण है ॥१३०॥

टी०—विनय रहित साधुकी सब शिक्षा निष्फल है; क्योंकि पूर्वमें कही पाँच प्रकार की विनय शिक्षाका फल है और उस विनयका फल सर्व कल्याण है । सब लौकिक अभ्युदय और मोक्ष रूप कल्याण उसका फल है अर्थात् विनयसे मान, ऐश्वर्य आदि तथा इन्द्रिय जन्य और अतीन्द्रिय सुख मिलता है ॥१३०॥

गा०—विनय मोक्षका द्वार है । विनयसे संयम, तप और ज्ञानकी प्राप्ति होती है । विनयसे आचार्य और सर्व संघ अपने वशमें किया जाता है ॥१३१॥

टी०—जैसे द्वार इष्ट देशकी प्राप्तिका उपाय होता है उसी तरह समस्त कर्मोंके विनाश रूप मोक्षकी प्राप्ति का उपाय विनय है इस लिये मोक्षका द्वार कहा है । पूर्वमें कही पाँच प्रकार की विनयके होनेपर ही कर्मोंसे छुटकारा होता है । विनयसे ही संयम होता है । क्योंकि जो पाँच प्रकारकी विनयोंमें सदा लगा रहता है वही असंयमको त्यागनेमें समर्थ होता है, जो विनयोंमें प्रवृत्ति नहीं करता वह असंयमको नहीं छोड़ सकता । यदि इन्द्रियों और कषायोंकी ओरसे विमुखता न हो तो कैसे इन्द्रिय संयम या प्राणिसंयम हो सकता है । तथा ज्ञानादिकी विनयसे

दिविनयशून्यं अनशनादिकं न कर्म तपतीति विनयहेतुकं तपसः तपस्त्वमिति मत्वोच्यते विनयात्तप इति। 'णाणं' ज्ञानं च विनयहेतुकं। अविनीतो हि ज्ञानं न लभते। 'विणएण' विनयेन। 'आराधिज्जदि' आराध्यते स्ववशे स्थाप्यते। 'आयरिओ' आचार्यः। 'सव्वसंघो य' सर्वश्च संघः ॥१३१॥

आयारजीदकप्पगुणदीवणा अत्तसोधि णिज्झंझा।
अज्जव मद्दव लाघव भत्ती पल्हादकरणं च ॥१३२॥

'आयारजीदकप्पगुणदीवणा' रत्नत्रयाचरणनिरूपणपरतया प्रथममङ्गमाचारशब्देनोच्यते। आचारशास्त्रनिर्दिष्टः क्रमः आचारजीदशब्देन उच्यते। कल्प्यते अभिधीयते येन अपराधानुरूपो दण्डः स कल्पस्तस्य गुणः उपकारस्तेन निर्वर्त्यत्वात्। अनयोः प्रकाशनं 'आचारजीदकप्पगुणदीवणा'। एतदुक्तं भवति—कायिको वाचिकश्च विनयः प्रवर्तमानः आचारशास्त्रनिर्दिष्टं क्रमं प्रकाशयति। कल्पोऽपि विनयं विनाशयतो दण्डयतो विनयं निरूपयति। तद्भयादयं प्रवर्त्यते इति कल्पसंपाद्य उपकारः प्रकटितो भवति इति केषांचिद् व्याख्यानं। अन्ये तु वदन्ति। कल्प्यते इति कल्प्यं योग्यं कल्प्या गुणाः कल्प्यगुणाः आचारक्रमस्य कल्प्यानां च गुणानां प्रकाशनं 'आचारजीदकप्पगुणदीवणाशब्देनोच्यते' श्रुताराधना चारित्राराधना च कृता भवतीत्येतदाख्यातं अनेनेति।

'अत्तसोधिणिज्झंझा' विनयपरिणतिरात्मशुद्धेर्ज्ञानदर्शनवीतरागात्मिकाया निमित्तमिति आत्मशुद्धिरुच्यते। अथवा ज्ञानादिविनयपरिणतिः कर्ममलापायलभ्यत्वात् शुद्धिरुच्यते आत्मनः पङ्कापायलभ्या जलादि-

---

शून्य अनशन आदि कर्मको नष्ट नही कर सकते। इसलिये तपमें तपपनाका कारण विनय है ऐसा मानकर 'विनयसे तप होता है', कहा है। तथा ज्ञानका कारण भी विनय है। अविनीत पुरुष ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। और विनयसे आचार्य तथा समस्त संघ अपने वशमें हो सकता है ॥१३१॥

गा०—आचारके क्रम तथा कल्प्य गुणोंका प्रकाशन, आत्मशुद्धि, वैमनस्यका अभाव, आर्जव, मार्दव, लघुता, भक्ति और अपने और दूसरोंको प्रसन्न करना, ये विनय के गुण है ॥१३२॥

टी०—रत्नत्रयके आचरणका कथन करनेमें तत्पर होनेसे पहले अंगको आचारांग कहते हैं। और आचार शास्त्रमे कहे गये क्रमको 'आचारजीत' शब्दसे कहते हैं। 'कल्प्यते' अर्थात् जो अपराधके अनुरूप दण्डको कहता है वह कल्प है उसका गुण अर्थात् उपकार। इन दोनोंका प्रकाश 'आचारजीदकप्पगुणदीवणा' है। इसका अभिप्राय यह है कि कायिक और वाचिक विनयके करनेसे आचारशास्त्रमें कहे गये क्रमका प्रकाशन होता है। कल्प भी विनयको न मानने वाले साधुको दण्डका विधान करता है अतः विनयका ही निरूपण करता है। उसके भयसे साधु विनय करता है इस प्रकार कल्पके द्वारा किया जाने वाला उपकार प्रकट होता है। ऐसा किन्ही का व्याख्यान है। अन्य टीकाकार कहते हैं—

'कल्प्यते इति कल्प्यं' अर्थात् योग्य। कल्प्य गुणोंको कल्प्यगुण कहते हैं। आचारके क्रमका और कल्प्य गुणोंका प्रकाशन 'आयारजीद कल्प गुण दोवणा' शब्दका अर्थ है। इससे यह कहा है कि विनय करनेसे श्रुतकी आराधना और चारित्र की आराधना होती है। तथा विनय करना आत्म शुद्धिका अर्थात् ज्ञान दर्शन और वीतराग रूप परिणतिका निमित्त है। अथवा ज्ञानादि विनय रूप परिणति कर्ममलके विनाशसे प्राप्त होती है अतः उसे आत्माकी शुद्धि कहते हैं। जैसे

शुद्धिरिव । वैमनस्याभावो 'णिज्झंझा' विमनस्को भवति विनयहीनो गुर्वादिभिरननुगृह्यमाणः ।

'अज्जवं' आर्जवं नाम ऋजुमार्गवृत्तिः, शास्त्रनिर्दिष्टं वा चरणं ऋजु । 'मद्दव' अभिमानस्यागो मार्दवं परगुणातिशये श्रद्धानेन, तन्माहात्म्यप्रकाशनेन च विनयेन च अभिमाननिरासः कृतो भवति । लाघवं विनीतो हि आचार्यादिषु न्यस्तभरो भवतीति लाघवं विनयमूलं । 'भत्ती' विनीतस्य हि सर्वजनो विनीतो भवति इति विनयहेतुका भक्तिः । 'पल्हादकरणं' च प्रकृष्टं सुखं प्रकृष्टसुखं प्रह्लादस्तस्य करणं क्रिया प्रह्लादकरण-मित्युच्यते । येषां विनयः क्रियते तेषां सुखं संपादितं भवति इति परानुग्रहो गुणः आत्मनो वा प्रह्लादकरणं । कथमविनीतो हि निर्भर्त्सनादिभिरनवरतं दुःखितो भवति । विनीतो हि निर्भर्त्सनाद्यभावात् सुखी भवति । बाधाभावे एव सुखव्यवहारो लोके ॥१३२॥

कित्ती मेत्ती माणस्स भंजणं गुरुजणे य बहुमाणो ।
तित्थयराणं आणा गुणाणुमोदो य विणयगुणा ॥१३३॥

'कित्ती' विनीतोऽयमिति संशब्दनं कीर्तिः । 'मेत्ती' परेषां दुःखानुत्पत्त्यभिलाषो मैत्री । परस्य दुःखं नैवेच्छति विनीत इति । 'माणस्स भंजणं' मानस्य भङ्गः ।

ननु मार्दवशब्देनाभिहित एव मानभङ्गः पूर्वसूत्रे ततः पौनरुक्त्यं इति । उच्यते 'माणस्स भंजणं' 'परस्स' इति शेषः एकस्य विनयदर्शनात् परोऽपि स्वं मानं जहाति । गतानुगतिको हि प्रायेण लोकः ।

कीचड़के दूर होनेसे जलादिकी शुद्धि होती है। 'णिज्झंझा' का अर्थ वैमनस्यका अभाव है। जो विमनस्क होता है अर्थात् जिसका मन स्थिर नही होता वह विनय हीन होता है। गुरु उसपर अनुग्रह नहीं करते। ऋजु मार्ग पर चलनेको आर्जव कहते हैं और शास्त्रमे कहे गये आचरणको ऋजु कहते हैं। मार्दवका अर्थ अभिमानका त्याग है। दूसरेके गुणातिशयमे श्रद्धा करनेसे और उनके माहात्म्यको प्रकट करनेसे तथा विनय करनेसे अभिमानका निरास स्वयं हो जाता है। जो विनीत साधु होता है वह अपना भार आचार्यपर सौंपकर लघु हो जाता है अर्थात् आचार्य स्वयं उसकी चिन्ता करते हैं अतः लाघव का मूल विनय है। जो विनीत होता है सभी मनुष्य उसकी विनय करते है अतः विनय भक्तिका कारण है। प्रकृष्ट सुखको प्रह्लाद कहते हैं उसका करना प्रह्लादकरण है। जिनकी विनय की जाती है उनको सुख होता है इस प्रकार दूसरोंको प्रसन्न करना विनयका गुण है। अपनेको प्रसन्न करना भी विनयका गुण है क्योंकि जो अविनयी होता है सब उसका तिरस्कार आदि करते हैं अतः वह निरन्तर दुखी रहता है। और जो विनयी होता है उसका कोई तिरस्कार आदि नहीं करता, अतः वह सुखी रहता है क्योंकि लोकमें बाधाके अभावको ही सुख कहा जाता है ॥१३२॥

गा०—कीर्ति, मित्रता, मानका विनाश, गुरुजनोंका बहुमान, और तीर्थङ्करोंकी आज्ञाका पालन और गुणोंकी अनुमोदना ये विनयमें गुण हैं, ॥१३३॥

टी०—यह विनयी है ऐसा कहना कीर्ति है। विनयीकी कीर्ति होती है। दूसरोंको दुःख न होनेकी भावना मैत्री है ! जो विनीत होता है वह दूसरोंको दुःख नहीं चाहता। और मानका भंग होता है।

शङ्का—पूर्व गाथामें मार्दव शब्दसे मानभंगको कहा ही है। पुनः कहनेसे पुनरुक्तता दोष आता है ?

नूनमभिमानत्यागो गुणो अन्यथा किमित्ययं विनयं करोतीति । गुरवो हि बहुमान्याः कृता भवन्ति विनयेनेत्याह—'गुरुजणे य बहुमाणो' इति ।

'तित्थयराणं आणा संपादिदा होदित्ति' शेषः । विनयमुपदिशतां तीर्थकृतां आज्ञा संपादिता भवति, अनुष्ठितेन विनयेन । 'गुणाणुमोदोय' गुणिषु विनयं प्रवर्तयता तदीयगुणानुमननं कृतं भवति इति । केचिद् गुणेषु श्रद्धानादिषु हर्षः कृतो भवतीत्येवं वदन्ति । एते विनयगुणाः । गुणशब्द उपकारवचनोऽत्र विनयजन्यत्वाद्विनयस्य गुणा इत्युच्यन्ते ॥१३३॥

विनयव्याख्यानानन्तरं समाधिनिरूपणार्थ उत्तरप्रबंधः । योग्यस्य, गृहीतलिङ्गस्य, ज्ञानभावनोद्यतस्य, ज्ञाननिरूपिते विनये वर्तमानस्य, रत्नत्रये मानस सम्यगाराधनं न्याय्यमित्यधिकारसंबन्धोऽनुगंतव्यः । चेतः समाहितं कीदृक् तस्य वा समाहितस्य किं फलमिति चोद्यद्वयप्रतिविधानार्था[1] गाथा ।

चित्तं समाहिदं जस्स होज्ज वज्जिदविसोत्तियं वसियं ।
सो वहदि णिरदिचारं सामण्णधुरं अपरिसंतो ॥१३४॥

'चित्तं समाहिदं जस्स' जस्स चित्तं वज्जिदविसोत्तियं वसियं समाहिदं इति पदघटना । यस्य चेतः परित्यक्ताशुभपरिणतिप्रसरं वशवर्ति च यत्र नियुङ्क्ते तत्रैव तिष्ठति, तच्चित्तं समाहितमिति ग्राह्यम् । [2]अत्रैवं

समाधान—यहाँ परके मानभंगको कहा है। एक की विनय देखकर दूसरा भी अपना मान छोड़ देता है, क्योंकि लोग प्रायः गतानुगतिक होते हैं। दूसरोंको जैसा करता देखते हैं स्वयं भी वैसा करते हैं। वे सोचते हैं—निश्चय ही अभिमानका त्याग गुण है, अन्यथा यह विनय क्यों करता। विनयसे गुरुवोका बहुत मान होता है क्योंकि विनयी शिष्य अपने गुरुजनोंका बहुत सम्मान करता है।

तथा तीर्थङ्करोंकी आज्ञाका पालन होता है। अर्थात् विनयका उपदेश देने वाले तीर्थंकरों की आज्ञाका पालन विनय करने से होता है। तथा गुणीजनों की विनय करनेसे उनके गुणोंकी अनुमोदना होती है। कोई कहते हैं कि श्रद्धानादि गुणोंमें हर्ष प्रकट होता है। ये विनयके गुण हैं। यहाँ गुणशब्द उपकारवाची है। विनयसे पैदा होनेके कारण इन्हे विनयके गुण कहते हैं ॥१३३॥

विनयका कथन करनेके पश्चात् समाधिका कथन करते हैं। जो योग्य हो, जिसने साधु लिंग स्वीकार किया हो, ज्ञान भावनामें तत्पर हो, शास्त्र निरूपित विनयका पालन करता हो और जिसका मन रत्नत्रय में हो, उसको सम्यक् आराधना करना योग्य है, इस प्रकार अधिकार का सम्बन्ध लगाना चाहिये। अब समाहित चित्त कैसा होता है और उसका क्या फल है? इन दो प्रश्नों का उत्तर गाथा द्वारा देते हैं—

गा०—जिसका चित्त अशुभ परिणामोंके प्रवाहसे रहित और वशवर्ती होता है वह चित्त समाहित होता है। वह समाहित चित्त बिना थके निरतिचार चारित्रके भारको धारण करता है ॥१३४॥

टी०—जिसका चित्त अशुभ परिणामोंके प्रवाहको छोड़ देता है और जहाँ उसे लगाया जाय वहीं ठहरा रहता है वह चित्त समाहित जानना। यहाँ यह विचार करते हैं कि यह चित्त

---

१ प्रतिविबोधना आ० मु० । २. अन्यैरेवं आ० मु० ।

निवार्यते । किमिदं चित्तं नाम ? मन इति चेद् द्रव्यमनो भावमनश्चेति तद्द्विप्रकारं, कस्येह ग्रहणं ? न तावत् द्रव्यमनः पुद्गलत्वादसंभविनी कर्मादाननिमित्ततया परिणतिरिति । 'वज्जिदविसेसोत्तिगमिति' विशेषणमसंभवीति । न च तद्वशवर्त्यस्मिनः । तेन भावमनो गृह्यते । नोइन्द्रियमतिः सा रागादिसहभाविनी तद्रहिता चास्तीति युज्यते 'वज्जिद विसेसोत्तिगं' इति विशेषणं वसिगमिति च तस्यां घटते । नोइन्द्रियमतिज्ञानावरणक्षयोपशमवत आत्मनो वशेन नोइन्द्रियमतिर्वर्तते । तथा हि रागकोपभयदुःखादयो नटादीनां वशेन परिणामा वर्तंते तत्कार्यपुलकादिदर्शनेनानुमीयमाना । तद्वदेव नोइन्द्रियमतिरपि आत्मेच्छया क्वचिदेवावरुद्धानुभूयते इति । 'सो' सः 'समाहिदचित्तो' वहति वहदि धारयति । तथा च प्रयोग.—विणय वहति धारयति इति गम्यते । 'णिरदिचारं' निरतिचारं निर्दोषं । किं ? सामण्णधुरं रागकोपानुपप्लुतचित्तः समण इत्युच्यते । तथा च नैरुक्तका वदन्ति 'सममणो' समणो इति । समणस्स भावो सामण्णं । तच्च किं ? समानता चारित्रं । तस्य भारं कीदृश निरतिचारं निर्मलं । 'अपरिसंतो' अश्रान्तश्चारित्रभारोद्वहन फल समाहितचित्तस्येत्याख्यातं भवति । अनिभृतमनस्तायां दोषाख्यानव्याजेन निभृतं मन कार्यमिति द्रढयत्युत्तरगाथया । कश्चित्कंचिदुज्जयिनीस्थं दक्षिणापथाभिमुखमाह अल्पधान्य. क्षुद्रजनबहुलो द्रमिलदेश इति । स एवमुक्तं प्रत्येति अयं जनपदः सुभिक्षः सुजनाधिवासः इति ॥१३४॥

चालणिगय व उदयं सामण्णं गलइ अणिहुदमणस्स ।
कायेण य वायाए जदि वि जधुत्तं चरदि भिक्खू ॥१३५॥

क्या है ? यदि चित्तसे मतलब मनसे है तो उसके दो भेद है—द्रव्यमन और भावमन । यहाँ किसका ग्रहण किया है ? द्रव्यमनका ग्रहण तो संभव नहीं है क्योंकि पौद्गलिक होनेसे कर्मोंके ग्रहणमें निमित्त रूपसे उसकी परिणति सभव नही है । तथा 'वज्जिदविसेसोत्तिगं' यह विशेषण भी संभव नही है । तथा द्रव्यमन आत्माके वशवर्ती भी नहीं है । अत चित्तसे भावमनका ग्रहण होता है । वह भावमन नोइन्द्रियमति है और नोइन्द्रियमति रागादि सहित और रागादि रहित होती है । उसमें 'वज्जिद विसेसोत्तिग और 'वसिग' दोनो विशेषण घटित होते हैं । नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम वाले आत्माके नोइन्द्रियमति होती है अतः वह उसके वशवर्ती है । जैसे राग, कोप, भय और दुःख आदि परिणाम नट आदिके अधीन होते है क्योंकि उनका कार्य देखकर दर्शकोंको रागादि होते है । इससे अनुमान किया जाता है कि रागादि परिणाम नट वगैरहके वशवर्ती हैं । उसी तरह नोइन्द्रिय मति भी आत्माकी इच्छासे किसी एक विषयमे रुकी हुई अनुभवमें आती है । अर्थात् आत्माकी इच्छानुसार भावमन किसी भी विषयमें लीन हो जाता है । वह समाहित चित्त निर्दोष 'सामण्णधुरा' को धारण करता है । जिसका चित्त राग द्वेषसे अबाधित होता है उसे समण कहते हैं । निरुक्तिकार कहते हैं 'सममणो समणो' समता युक्त मन जिसका है वह समण है और समणके भावको सामण्ण कहते है । वह समानता चारित्र है । उसके निरतिचार अर्थात् निर्मल भारको वह अश्रान्त होकर धारण करता है । इससे यह बतलाया है कि समाहित चित्तका फल चारित्रके भारको धारण करना है । जैसे किसी उज्जयिनीके निवासीको जो दक्षिणापथकी ओर जाता था किसी ने कहा कि द्रमिल देशमें अन्नकी कमी है और क्षुद्र जनोंसे भरा है । उसके ऐसा कहने पर वह जान लेता है कि यह देश सुभिक्षशाली और सुजनोंसे भरा है । उसी तरह चित्तकी चंचलतामें दोष कहनेके बहानेसे ग्रन्थकार उत्तर गाथासे यह दृढ़ करते हैं कि मनको निश्चल करना चाहिये ॥१३४॥

'चालणिगयं व उदयं' उदकमिव चालनीगतं । 'सामण्णं' सामान्यं समानभावो । 'गलइ' गलति । कस्स 'अणिहुदमणस्स' अनिभृतं चेतो यस्य । 'कायेण य वायाए' कायेन च वचसा च । 'जदि वि चरदि' यद्यपि चरति प्रवर्तते भिक्षुः । 'जधुत्तं' यथाशास्त्रेणोक्तं । तथा वाक्कायाभ्यामाचरतोऽपि मनोनिभृतताभावे श्रामण्यं नश्यतीत्यर्थः । तस्माच्चेतःसमाधानं कार्यमित्युपसंहारः ॥१३५॥

मनसो दुष्टतां प्रपञ्चेनोपदिश्य तथैवंभूतं मनो यो निगृह्णाति तस्य श्रामण्य भवति समानभावो नेतर-स्येत्येतदुत्तरप्रबन्धेनोच्यते तद्दौरात्म्यप्रकाशनार्थं गाथापञ्चकम्—

वादुब्भामो व मणो परिधावइ अट्ठिदं तह समंता ।
सिग्धं च जाइ दूरंपि मणो परमाणुदव्वं वा ॥१३६॥

'वादुब्भामो' इत्यादिकं । 'वादुब्भामो व' वात्येव । 'मणो' मन. । 'परिधावइ' धावति परिरनर्थकः प्रलंबित इति यथा । 'अट्ठिदं' इति क्रियाविशेषणं अस्थितं धावति । क्वचिद्विषयेऽनवस्थितिराख्याता मनसः । 'तह समंता' तथा समंतात् । 'दूरं' पि दूरमपि । सिग्धं च जाइ' शीघ्रं याति । 'मणो' मन । 'परमाणुदव्वं वा' परम प्रकृष्टो अणुः सूक्ष्मः परमाणु. स एव द्रव्य गुणपर्यायगमनात् तदिव । एतेन झटिति दूरस्थितविषयग्रहणं तस्य दौरात्म्यमावेदितं ॥१३६॥

अंधलयबहिरमूवो व्व मणो लहुमेव विप्पणासेइ ।
दुक्खो य पडिणियत्तेदुं जो गिरिसरिदसोदं वा ॥१३७॥

गा०—जिसका चित्त चंचल है उसका समान भाव चालनीमे रखे पानीकी तरह गल जाता है। यद्यपि वह भिक्षु कामसे और वचनसे शास्त्रमें कहे अनुसार आचरण करता है ॥१३५॥

टी०—इसका सार यह है कि वचन और शरीरसे शास्त्रानुसार आचरण करने वाले भी साधुका मन यदि निश्चल नहीं है तो उसका श्रामण्य नष्ट हो जाता है। अतः चित्तको स्थिर करना चाहिये। यह उपसंहार है ॥१३५॥

मनकी दुष्टताका विस्तारसे कथन करके, इस प्रकारके मनको जो वशमें करता है उसके समान भावरूप श्रामण्य होता है, अन्यके नही होता, यह आगे कहते हैं। प्रथम ही पाँच गाथाओं से मनकी दुष्टता प्रकट करते हैं—

गा०—बड़े जोरसे चलने वाली हवाकी तरह मन उसीकी तरह चहुँ ओर अस्थिर रूपसे दौड़ता है। और परमाणु द्रव्यकी तरह मन दूरवर्ती भी वस्तुके पास शीघ्र जाता है ॥१३६॥

टी०—प्रचण्डवायुकी तरह मनके अस्थिर गमनसे यह बतलाया है कि मन किसी भी विषयमें स्थिर नहीं रहता। तथा दूरवर्ती वस्तुके पास परमाणु द्रव्यकी तरह शीघ्र जाता है। परम अर्थात् प्रकृष्ट, अणु अर्थात् सूक्ष्म जो है वह परमाणु है। वह परमाणु द्रव्य है क्योंकि गुण पर्यायों वाला है। इससे मनकी दुष्टता बतलाई है कि वह दूर स्थित विषयको झट ग्रहण कर लेता है (जैसे परमाणु एक समयमें चौदह राजु गमन करता है) ॥१३६॥

गा०—मन अन्धे बहरे और गूँगेके समान है शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। और पहाड़ी नदीके प्रवाहकी तरह लौटाना अशक्य है ॥१३७॥

'अंधलयबहिरमूओ व्व मणो हवइ' इति शेषः। अंधबधिरमूकवच्च भवति मनः। कदाचित्क-
चंचित्क्वचिद्विषये सक्तं मनः सन्निहितमपि विषयं न पश्यति, न शृणोति, न ब्रवीति, इति। ननु चक्षुरादेः
कर्तृता दर्शनादौ न मनसस्तत्सर्वदापि न किंचित्पश्यति, न शृणोति वक्ति वा? उच्यते—मनसः करणस्य
कर्तृता परशुश्छिनत्तीति यथा। एतदुक्तं भवति—द्रष्टव्ये जीवादिके, श्रोतव्ये जिनवचनादिके, स्वपरहिते
वाक्ये च कदाचिदप्रवृत्तिर्मनसो दुष्टतेति। यथा भृत्यो दुष्ट इत्युच्यते स्वामिना नियुक्ते कर्मण्यप्रवर्तमानः।
एवं मनोऽप्यात्मना नियुक्तेऽप्याप्रवृत्तेर्दुष्टमिति भावः। 'लहुगेव विप्पणासेदि य' आशु विनश्यति च। अनित्य-
तादोषस्तु वस्तुयाथात्म्यग्राहिणो मनसः नो इन्द्रियमतेः। 'दुक्खो य' दुःख अशक्यं। 'पडिणिवत्तेदुं जे' प्रति-
निवर्तयितुं वस्तुन्यभूतरूपग्रहणे भूतरूपनिरासे च प्रवृत्तं ता[2]भ्यां निवर्तयितुं न शक्यं रागादिसहचारित्वात्
प्रतिनिवर्तयितुं। किमिव 'गिरिसरिदसोदंव्व' गिरिनदीप्रवाह इव ॥१३७॥

तत्तो दुक्खे पंथे पाडेदुं दुट्ठओ जहा अस्सो।
वीलणमच्छोव्व मणो णिग्घेत्तुं दुक्करो धणिदं ॥१३८॥

'तत्तो' तस्मादप्रतिनिवर्तनात। 'दुक्खे' दुष्करे 'पथे' मार्गे। 'पाडेदुं' पातयितुं। किमिव। 'दुट्ठओ जहा
अस्सो' दुष्टोऽप्रतिव्यालो यथैवाश्व.। एतेन दुष्करमार्गविपातित्वदोष प्रकटितः। 'वीलणमच्छोव्व' मसृणतरदेह-
मत्स्य इव। 'धणिदं दुक्करो णिघेत्तुं' नितरां दुष्कर ग्रहीतु मन.। एतेन दुरवग्रहता ख्याता ॥१३८॥

टी०—मन अंधे, बहरे और गूंगे मनुष्यकी तरह है क्योंकि कभी-कभी किसी विषयमें आसक्त मन निकटवर्ती भी विषयको नहीं देखता, नहीं सुनता, और नहीं बोलता।

शङ्का—देखने आदिका काम तो चक्षु आदि इन्द्रियोंका है, मनका नहीं। मन तो सदा ही न कुछ देखता है, न सुनता है, न बोलता है।

समाधान—मन करण है फिर भी उसे कर्ता कहा है। जैसे परशु लकड़ी काटनेमे करण है फिर भी उसे कर्ता कहा जाता है परशु काटता है। इसका आशय यह है कि देखने योग्य जीवादिमें, सुनने योग्य जिन वचन आदिमें और स्वपरका कल्याण करने वाले वचनोंमें मनका प्रवृत्त न होना उसकी दुष्टता है। जैसे जो सेवक स्वामीके द्वारा कहे गये कार्यमें प्रवृत्त नही होता उसे दुष्ट कहा जाता है। उसी तरह मन भी आत्माके द्वारा नियुक्त कार्यमें प्रवृत्त न होनेमे दुष्ट कहा जाता है। तथा शीघ्र नष्ट हो जाता है। इससे वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करने वाले मनकी अनित्यताका दोष बतलाया है। तथा वस्तुके अविद्यमान स्वरूपको ग्रहण करनेमें और विद्यमान स्वरूपका निरास करनेमे प्रवृत्त हुए मनको उससे हटाना वैसे ही अशक्य है जैसे पहाड़ी नदीके प्रवाहको लौटाना अशक्य होता है; क्योंकि मन रागादिभावमें आसक्त होता है ॥१३७॥

गा०—अयोग्य विषयसे हटानेसे मन दुष्कर मार्गमे गिराता है। जैसे दुष्ट घोड़ा गिराता है। अति चिकने मच्छकी तरह पकड़ने में अत्यन्त दुष्कर है ॥१३८॥

टी०—जैसे कुमार्गपर चलते हुए दुष्ट घोड़ेको रोकनेसे वह मार्गमें गिरा देता है वैसे ही मन भी खोटे मार्गमें गिराता है। इससे दुष्कर मार्गमें गिरानेका दोष प्रकट किया। तथा जैसे

---

१. तुं यवन्य आ० मु०। २. द्वाभ्यां आ०।

जस्स य कदेण जीवा संसारमणंतयं परिभमंति ।
भीमासुहगदिबहुलं दुक्खसहस्साणि पावंता ॥१३९॥

'जस्स य' यस्य च । 'कदेण' करोति क्रियासामान्यवाची इह चेष्टावृत्तिर्गृहीतस्तेनायमर्थः यस्य मनसश्चेष्टितेन जीवाः संसारं पञ्चविधं परावर्तं परिभ्रमन्ति । 'अणंतयं' अनन्तप्रमाणावच्छिन्नं । 'भीमासुहगदि-बहुलं' भयावहाशुभनरकादिगतिप्रचुरं । 'दुक्खसहस्साणि' शारीरागन्तुकमानसस्वाभाविकाख्यानि प्रत्येकमनेक-विकल्पानि । 'पावंता' प्राप्नुवन्तो जीवाः । एतेन चतुर्गतिपरावर्तमूलतादोषः प्रकटितः ॥१३९॥

जम्हि य वारिदमेत्ते सव्वे संसारकारया दोसा ।
णासंति रागदोसादिया हु सज्जो मणुस्सस्स ॥१४०॥

'जम्हि' यस्मिश्च मनसि । 'वारिदमेत्ते' वारित एव मात्रग्रहणं वारणादन्य निराकर्तुमुपात्तं । मनो निवारणादेव 'रागदोसादिया' रागद्वेषादयः । 'णासंति खु' नश्यन्त्येव । 'सज्जो' सद्यः तदानीमेव । 'संसार-कारया' परावर्तपञ्चकस्य संपादनोद्यताः ॥१४०॥

इय दुट्ठयं मणं जो वारेदि पडिट्ठवेदि य अकंपं ।
सुहसंकप्पपयारं च कुणदि सज्झायसण्णिहिदं ॥१४१॥

चिकने शरीर वाली मछलीको पकड़ना कठिन है वैसे ही मनको रोकना बहुत कठिन है। इससे 'दुरवग्रहता' नामक दोष कहा ॥१३८॥

गा०—जिस मनकी चेष्टासे जीव हजारों दुःख भोगते हुए भयंकर अशुभ गतियोंसे भरे हुए अनन्त संसारमें भ्रमण करते हैं ॥१३९॥

टी०—गाथामें आया 'कदेण' शब्द करने रूप क्रियासामान्यका वाची है किन्तु यहाँ उसका अर्थ चेष्टा लिया है। अतः ऐसा अर्थ होता है कि जिस मनकी चेष्टासे जीव पाँच परावर्तन रूप संसारमें भ्रमण करते हैं, वह संसार अनन्त प्रमाण वाला है और उसमें भयानक नरक आदि अशुभ गतियोंका बाहुल्य है। तथा वे जीव शारीरिक, आगन्तुक, मानसिक स्वाभाविक आदि अनेक प्रकारके दुःखोको पाते हैं। इससे 'चतुर्गतिमे भ्रमणका मूल' दोष प्रकट किया ॥१३९॥

गा०—जिस मनके निवारण करने मात्रसे मनुष्यके सब संसारके कारक राग द्वेष आदि दोष शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं ॥१४०॥

टी०—'वारिदमेत्ते' में 'मात्र' पदका ग्रहण निवारणसे अन्यका निराकरण करनेके लिये किया है। अर्थात् अन्य कुछ न करके मात्र मनको रोका जाये तो पाँच परावर्तन रूप संसारके कारण सब दोष तत्काल नष्ट हो जाते हैं ॥१४०॥

गा०—उक्त प्रकारसे जो दुष्ट मनको रागादिसे निवारण करता है, और निश्चलरूपसे श्रद्धानरूप परिणामादिमें स्थापित करता है। तथा शुभसंकल्पोंमें मनको प्रवृत्त करता है और स्वाध्यायमें मनको लगाता है उसके सामण्ण-समताभाव होता है ॥१४१॥

'इय' एवं व्यावर्णितरूपेण। 'दुट्ठं' दुष्टकं दुष्टं। 'मणं' मनो। 'जो वारेदि' यो निवारयति रागादिभ्यः। 'पविट्ठवेदि य' प्रतिष्ठापयति च श्रद्धानपरिणामादौ। 'अकंपं' निश्चलं। क्रियाविशेषणमेतत्। तस्स सामण्णं होदि वक्ष्यमाणेन संबन्धः। 'सुभसंकप्पपयारं जो कुणदि तस्स सामण्णं होदित्ति' संबंधनीयं। शुभः संकल्पः तस्मिन्प्रकृष्टश्चारो गमनं प्रवृत्तिर्यस्य मनसस्तच्छुभसंकल्पप्रचारं मनो यः करोति। 'सज्झायसण्णिहिदं' च जो कुणदि तस्स सामण्णं इति संबन्धते। सम्यगध्ययनं स्वाध्यायः द्रुतविलंबितादिदोषरहितत्वं अर्थव्यञ्जनशुद्धिश्च सम्यक्त्वं। स पुनः पञ्चप्रकारः वाचनाप्रश्नानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशभेदेन।

प्रश्नस्य कथं स्वाध्यायता? प्रश्नो हि ग्रन्थेऽर्थे वा संशयच्छेदाय इत्थमेवैतदिति निश्चितार्थबलाधानाय वा प्रच्छनं। न[1] हि यः पृच्छति ग्रन्थमर्थं वा सोऽधीते? अध्ययनप्रवृत्त्यर्थत्वात् प्रश्नेऽध्ययनव्यपदेशः इन्द्रप्रतिमार्थे दारुणि इन्द्र[2]व्यपदेश इव। अथवा किमिदमेवं पठितव्यमिति अधीत एव ग्रन्थे संदिहानः। अर्थसंदेहेऽपि किमस्य वाक्यस्य पदस्य वायमर्थः इति। यद्वाप्यते एवं निश्चितबलाधानार्थे प्रश्ने योज्यम्।

अनुप्रेक्षा कथं स्वाध्यायः? अधिगतार्थस्य मनसाभ्यासोऽनुप्रेक्षा अन्तर्जल्परूपमध्ययनमस्त्येव तत्रापीति मन्यते।

घोषपरिशुद्धं श्रुतं परावर्त्यमानं आम्नायः स्वाध्यायो भवत्येव।

आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी, निर्वेदनी चेति कथाश्चतस्रस्तासामुपदेशो धर्मोपदेशः स च स्वाध्यायः। एतस्मिन्स्वाध्याये सम्यक् निहितं निक्षिप्तं मनो यः करोति इत्यर्थः।

टी०—जो ऊपर कहे अनुसार रागादिसे दुष्ट मनको हटाता है और श्रद्धानादिमें निश्चलरूपसे मनको स्थापित करता है उसके सामण्ण होता है इस प्रकार आगेके साथ सम्बन्ध लगाना चाहिए। शुभ संकल्पमें प्रकृष्ट चार प्रचार अर्थात् प्रवृत्ति जिसके मनकी है अर्थात् जो मनको शुभ संकल्पोंमें लगाता है उसके सामण्ण होता है। सम्यक् अध्ययनको स्वाध्याय कहते हैं। जल्दी पढ़ना या देरसे धीरे-धीरे पढ़ना इत्यादि दोषोंसे रहित होना तथा अर्थशुद्धि और वचनशुद्धिका होना सम्यक्पना है। उस स्वाध्यायके पाँच भेद हैं—वाचना, प्रश्न, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश। प्रश्न कैसे स्वाध्याय है यह बतलाते हैं—ग्रन्थ अथवा अर्थके सम्बन्धमें संशयको दूर करनेके लिए अथवा निश्चित अर्थको पुष्ट करनेके लिए पूछना प्रश्न है। जो ग्रन्थ या अर्थको पूछता है वह अध्ययन नहीं करता, किन्तु ऐसा करना अध्ययनकी प्रवृत्तिके लिए होता है इससे प्रश्नको अध्ययन कहा है। जैसे इन्द्रकी प्रतिमा बनानेके लिए लाये गये काष्ठको इन्द्र कहा जाता है। अथवा 'क्या इसे इस प्रकार पढ़ना चाहिए' इस तरह पढ़े हुए ही ग्रन्थमें सन्देह करना, तथा अर्थमें सन्देह होनेपर भी 'क्या इस पद अथवा वाक्यका यह अर्थ है' इस प्रकार पूछना स्वाध्यायका कारण होनेसे स्वाध्याय है। इसी प्रकार निश्चित अर्थको दृढ़ करनेके लिए भी प्रश्नकी योजना करनी चाहिए। अनुप्रेक्षा कैसे स्वाध्याय है? जाने हुए अर्थका मनसे अभ्यास करनेको अनुप्रेक्षा कहते हैं। इसमें भी अन्तर्जल्परूप अर्थात् मन ही मनमें अध्ययन होता ही है। शुद्ध उच्चारणपूर्वक श्रुतका पाठ करना आम्नाय है। यह तो स्वाध्याय है ही। आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेदनी इस प्रकार चार कथाएँ हैं। उनका उपदेश धर्मोपदेश है। यह भी स्वाध्याय है। इस स्वाध्यायमें जो मनको सम्यक्रूपसे लगाता है उसके सामण्ण होता है।

---

१. तर्हि यदृच्छावग्रहमर्थं वा–आ० मु०।   २. द्रव्यम्–आ० मु०।

अत्रैवं पदघटना अध्याहृतं कृत्वा 'इय दुट्ठगं मणो जो वारेदि अकंपं पडिट्ठवेदि य जो मणं सुभसंकप्पपयारमेव कुणदि सज्झायसण्णिहिदं काऊण इति'। एवं दुष्टं मनः स वारयति निश्चलं प्रतिष्ठापयति वा। यो मनः शुभसंकल्पप्रचारमेव करोति। स्वाध्याये सन्निहितं कृत्वेति सूत्रार्थः। तस्येत्थंभूतस्य श्रामण्यं समा-नता वा भवति ॥१४१॥

जो विय विणिप्पडंतं मणं णियत्तेदि सह विचारेण।
णिग्गहदी य मणं जो करेदि अदिलज्जियं च मणं ॥१४२॥

'जो वि य' यश्चापि। 'विणिप्पडंतं' वि शब्दो नानार्थः, निर् इत्युपसर्गो बहिर्भावे, पडिर्गमनार्थः। ततोऽयमर्थोऽस्य पदस्य विचित्रं बहिर्निर्गच्छन्निवर्तयेदिति। ननु च सत्यभ्यंतरे कस्मिंश्चित्तदपेक्षो भवति बहिर्भावस्ततः किम्? अभ्यन्तरमिह गृहीतं रत्नत्रयं। कथमस्याभ्यन्तरता? आत्मनो निजस्वरूपत्वमिति। रागकोपादयस्तु चारित्रमोहोदयजा भावाः परिणामा बाह्या मिथ्यात्वासंयमकषायादिभेदेन विचित्रास्तदभिमुख-तया प्रवृत्तः। 'णियत्तेदि सह विचारेण जो' इति शेषः

कोऽसौ विचारः? उच्यते—इदं तत्त्वाश्रद्धानं, इयं च हिंसादिपरिणतिरियं वा क्रोधादिको भावो मया परिणामिकारणभूतेन निर्वर्त्यमानो जातिजरामरणपरिणामरूपानन्तसंसारकारणानां कर्मणां मूलोत्तरप्रकृतिभेदेन संख्यात[1]विकल्पानां, स्थितिविशेषमात्मप्रदेशेष्ववस्थानरूपं, तीव्रमध्यममन्दरूपाश्रद्धानासंयमकषायपरि-

इस प्रकार जो दुष्ट मनका निवारण करता है और उसे श्रद्धानादिमें स्थिर करता है तथा जो मनको शुभसंकल्पोंमें ही लगाता है और स्वाध्यायमें प्रवृत्त रहता है उसके श्रामण्य अथवा समता होती है ॥१४१॥

गा०—जो भी रत्नत्रयसे च्युत होकर विचित्र रागादिमें जानेवाले मनको विचारोंके साथ हटाता है, और जो मनको निन्दा गर्हाके द्वारा निगृहीत करता है—उसकी निन्दा करता है, और मनको अति लज्जित करता है उसके सामण्ण होता है ॥१४२॥

टी०—'विणिप्पडंतं' में 'वि' शब्दका अर्थ अनेक है, 'निर' यह उपसर्ग बहिर्भावके अर्थ-में है और 'पडि' का अर्थ गमन है। अतः इस पदका अर्थ है अनेक बाह्य विषयोंमें जानेवाले मनको रोके।

शङ्का—किसी अभ्यन्तरके होनेपर उसकी अपेक्षा बहिर्भाव होता है यहाँ वह अभ्यन्तर कौन है?

समाधान—रत्नत्रय है और वह आत्माका निजस्वरूप होनेसे अभ्यन्तर है। राग-कोप आदि तो चारित्रमोहके उदयसे होनेवाले भाव हैं, वे बाह्य हैं। तथा मिथ्यात्व, असंयम और कषाय आदिके भेदसे नाना हैं। उनके अभिमुखरूपसे प्रवृत्तिको जो विचारोंसे रोकता है।

शंका—वह विचार कौन है?

समाधान—यह जो तत्त्वका अश्रद्धान है, अथवा हिंसादिरूप परिणति है, अथवा क्रोधादि भाव हैं, इन रूप मैं परिणमन करता हूँ तो ये हिंसादिरूप परिणाम जन्म जरा मरण परिणामरूप अनन्त संसारके कारण जो कर्म हैं, जो मूलप्रकृति और उत्तर प्रकृतिके भेदसे संख्यात भेदवाले हैं,

१. संख्यातासंख्यात-आ० मु०।

नामनिर्वर्तनसामर्थ्यमनुभवाख्यं च निर्वर्तयति । तानि चात्मप्रदेशस्थान्यनन्तप्रदेशपुद्गलस्कन्धद्रव्याणि सन्निहित-द्रव्यक्षेत्रकालभवभावसहायापेक्षया पुनरपि मिथ्यात्वादिपरिणाममापादयन्ति । न हि सन्निहिताविकलकारण-समूहस्य कार्यस्य अनुत्पत्तिर्नाम संभाव्यते । तेन चाश्रद्धानादिपरिणामेन तथैव कर्मणामादानं, आत्तानां स्थितिः, सामर्थ्यातिशयः इत्यादिका परंपरता तयानन्तकालपरिभ्रमणमिति महानयमनर्थो मम भविष्यतीति, एवंभूतेन विचारेण मनो निवर्तयति यस्तस्य श्रामण्यमिति सबन्धः । 'णिग्गहदि व मणं जो' यो मनो निगृह्णाति 'हा दुट्ठं चिंतितमिदमिति' निन्दागर्हाभ्यां तस्य श्रामण्यमिति संबन्धः । 'करेदि अदिलज्जिदं च मणं', करोत्यतीव लज्जा-परं यो मनः । कथं संसारमहितं तत्कारणभूतान्परिणामान्मुक्ति तदुपायांश्च भावानवगच्छतः श्रद्धानस्य तत्परि-णामव्यपोहनार्थमेवं गृहीतनिर्ग्रन्थलिंगस्य चिन्तेयमयुक्तेति, निरूपयति, अतिव्रीडा मनसो जनयति ॥१४२॥

दासं व मणं अवसं सवसं जो कुणदि तस्स सामण्णं ।
होदि समाहिदमविसोत्तियं च जिणसासणाणुगदं ॥१४३॥

'अवसं दासं व मणं सवसं जो कुणदि' इति पदसबन्धः । दासं व चेटिपुत्रं अवशवर्तिनं यथा कश्चि-द्बलात्स्ववशं करोत्येवमधीतजिनवचन आत्मनो मनो निरवग्रहतया प्रवृत्त अशुभपरिणामप्रसरे यदि नाम तथापि बलात्तन्निर्भर्त्स्याभिमतशुभभावपरंपरानुकूलतया यः स्थापयति जैनमतामृतास्वादकाङ्क्षितत्सामर्थ्यातिशयस्तस्य

उनके स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्धके कारण होते हैं। आत्माके प्रदेशोंमे कर्मोंके अवस्थानका नाम स्थितिबन्ध है और तीव्र मध्यम मन्दरूप अश्रद्धान, असंयम और कषायरूप परिणामोंको उत्पन्न करनेकी शक्तिको अनुभाग बन्ध कहते हैं। आत्माके प्रदेशोंके साथ बन्धको प्राप्त हुए वे अनन्तप्रदेशी पुद्गलस्कन्ध सम्बद्ध द्रव्य क्षेत्र, काल, भव और भावकी सहायता पाकर पुनः मिथ्या-त्वादिरूप परिणामों की उत्पत्तिमें सहायक होते हैं। क्योंकि जिस कार्यके समस्त कारण पूर्णरूपसे विद्यमान होते हैं वह कार्य अवश्य उत्पन्न होता है। उस उत्पन्न हुए अश्रद्धानादिरूप परिणामसे पुनः उसी प्रकारसे नवीन कर्मोका बन्ध होता है। उनमें स्थिति और अनुभाग शक्ति पड़ती है। इस प्रकार यह परम्परा चलती है। उस परम्परासे अनन्तकाल तक संसारमें भ्रमण करना पड़ता है। इस प्रकार अश्रद्धान आदिरूप परिणाम करनेसे मेरा महान् अहित होगा। इस प्रकारके विचारसे जिसका मन अश्रद्धान आदिसे हटता है उसके श्रामण्य होता है। तथा जो मैने बुरा किया, बुरा विचारा इत्यादि निन्दा और गर्हासे मनका निग्रह करता है उसके श्रामण्य होता है। तथा जो मनको अत्यन्त लज्जित करता है—हे आत्मन्! ससार अहित है, उसके कारणभूत परिणामोंको, मुक्तिको और मुक्तिके उपायरूप भावोंको तू जानता है उनकी श्रद्धा करता है। संसारके उन कारणोंको दूर करनेके लिए ही तूने निर्ग्रन्थलिंग धारण किया है, तुझे ऐसी चिन्ता नहीं करनी चाहिए इस प्रकार मनको लज्जित करता है उसके श्रामण्य होता है ॥१४२॥

गा०—वशमें रहनेवाले दासकी तरह वशमें न रहनेवाले मनको जो अपने वशमें करता है, उसके एकमात्र शुद्ध चिद्रूपका अवलम्बन करनेवाला पाप परिणामोसे निवृत्त और जिन शासन-का अनुगामी श्रामण्य होता है ॥१४३॥

टी०—वशमें न आनेवाले दासीपुत्रको जैसे कोई बलपूर्वक अपने वशमें करता है, वैसे ही जो जिनागमका अभ्यासी अशुभपरिणामोंके प्रवाहमें वे रोक प्रवृत्त हुए अपने मनको बलपूर्वक उसकी डाँट फटकार करके इष्ट शुभ भावोंकी परम्पराके अनुकूल बनाता है, उसमें यह विशेष

'सामण्णं' समानता 'होदि' भवति । 'समाहिदं' एकमुखं । 'अविसोत्तिगं' दूरापसृतविस्वरूपाशुभपरिणामप्रवाहं । 'जिणसासणाणुगदं' संपादितद्रव्यभावकर्मकरपराभवानां यच्छासनं–शिष्यंते जीवादयः पदार्था अनेनास्मिन्वेति शासनं आगमस्तेनानुगतम् ॥१४३॥

योग्यस्य गृहीतमुक्त्युपायलिङ्गस्य श्रुतशिक्षापरस्य पञ्चविधविनयवृत्तेः स्ववशीकृतमनसः अनियतवासो युक्तः । कस्तत्र गुणः ? इत्यारेकायां समाधिमतस्य अनियतविहारगुणप्रकटनार्थं उत्तरसूत्रं—

दंसणसोधी ठिदिकरणभावणा अदिसयत्तकुसलत्तं ।
खेत्तपरिमग्गणावि य अणियदवासे गुणा होंति ॥ ४४॥

'दंसणसोधी' दर्शनशुद्धिः । दृशिर प्रेक्षणे इति पठितोऽपि धातुः श्रद्धानार्थवृत्तिरिह गृहीतः । धातूना-मनेकार्थत्वात् । तथा च सूत्रं—'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' । [त०सू० १।२] इति जिनागमनिरूपितार्थ-विषयश्रद्धानमिह दर्शनशब्देन भण्यते । तस्य शुद्धिर्नैर्मल्यं । 'ठिदिकरणं' स्थितिकरणं रत्नत्रयपरिणामस्यात्मनोऽ-ऽपायः[1] । तस्य करणं स्थितिकरणं । 'भावणा' भावना अभ्यास पुनः पुनर्वृत्तिः । 'अदिसयत्तकुसलत्तं' अति-शयितेष्वर्थेषु निपुणता । 'खेत्तपरिमग्गणावि य क्षियंति[2] निवसन्ति तस्मिन्निति क्षेत्रं । ग्रामनगरादिकं क्षेत्रं । तस्य क्षेत्रस्य अन्वेषणा च । अनियतस्थानवसने गुणा 'होंति' भवन्ति ॥१४४॥

सामर्थ्य जैनमतरूपी अमृतका पान करनेसे आई है। उसके 'सामण्ण' अर्थात् समभावपना होता है। वह श्रामण्य एक मुख होता है, अशुभपरिणाम प्रवाहको, जिन्होंने विश्वको अपने रंगमें रंगा है, दूर करता है, और जिनशासनानुगत होता है। द्रव्य और भावकर्मके द्वारा किये जानेवाले पराभवोंको जिन्होंने नष्ट कर दिया है उन जिनका शासन। जिसके द्वारा या जिसमें जीवादि पदार्थ सिखाये जाते हैं उसे शासन कहते हैं अर्थात् जिनागमका अनुगामी होता है ॥१४३॥

जो योग्य है, जिसने मुक्तिका उपाय जो निर्ग्रन्थलिंग है उसे स्वीकार किया है, श्रुतके अभ्यासमें तत्पर है, पाँच प्रकारकी विनयका पालन करता है, और जिसने मनको अपने वशमें कर लिया है उसके लिए अनियतवास युक्त है। उसमें क्या गुण है ? ऐसी शंका होनेपर समाधि करनेवालेके अनियत विहारके गुण प्रकट करते हैं—

गा०—दर्शन विशुद्धि, स्थितिकरण, भावना, अतिशय अर्थोंमें निपुणता और क्षेत्रका अन्वेषण ये अनियत स्थानमें बसनेमें गुण होते हैं ॥१४४॥

टी०—दर्शन शब्द जिस 'दृशिर' धातुसे बना है यद्यपि उसका अर्थ देखना है फिर भी यहाँ उसका अर्थ श्रद्धान ग्रहण किया है। क्योंकि धातुओंके अनेक अर्थ होते हैं। तत्त्वार्थसूत्रमें कहा भी है—'तत्त्वार्थका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।' अतः यहाँ दर्शन शब्दसे जिनागममें कहे गये अर्थोंका श्रद्धान लिया है। उसकी शुद्धि अर्थात् निर्मलता दर्शनविशुद्धि है। आत्माके रत्नत्रयरूप परिणामका नष्ट न होना स्थिति है। उसका करना स्थितिकरण है। पुनः पुनः अभ्यास करनेको भावना कहते हैं। ग्राम नगर आदि क्षेत्र हैं। उसकी खोज, ये सब अनियत स्थानमें बसनेके गुण हैं ॥१४४॥

विशेषार्थ—समाधिमरणके इच्छुकको एक स्थानमें नहीं बसना चाहिए। अनियत स्थानमें

1. पायपरिणामः तस्य आ० मु० । २. खंति आ० । क्षयंति मु० ।

दंसणसुद्धी इत्येतत्पदव्याख्यानकारिणी गाथा—

जम्मणअभिणिक्खवणे णाणुप्पत्ती य तित्थचिण्हणिसिहीओ।
पासंतस्स जिणाणं सुविसुद्धं दंसणं होदि ॥१४५॥

'जम्मण' जन्माभिनवशरीरग्रहणं। तद्यस्मिन्क्षेत्रे जातं तदिह साहचर्याज्जन्मशब्देनोच्यते। गृहीतशरीरस्य वात्मनो जनन्युदराद्यत्र निष्क्रमणं जातं तद्वा। 'अभिणिक्खवणे' रत्नत्रयाभिमुख्येन गृहाद्बहिर्गमनं यस्मिन्क्षेत्रे तदिह निष्क्रमणं। 'णाणुप्पत्ती य' केवलज्ञानावरणक्षयात् सर्वार्थयाथात्म्यग्रहणक्षमं यत्केवलं तदिह ज्ञानमिति गृहीतं। सामान्यशब्दानामपि विशेषवृत्तिः प्रतीतैव। तस्य ज्ञानस्योत्पत्तिर्यस्मिन् क्षेत्रे तदिह साहचर्यात् 'णाणुप्पत्ती य' शब्देनोच्यते। 'तित्थं' चिण्हं। तीर्थमिह समवशरणं गृह्यते। तरन्ति तस्मिन्भव्याः पापविनाशार्थिनः इति। तस्य चिह्नतया स्थिता मानस्तम्भाः। 'णिसिहीओ' निषिधीयोगिवृत्तिर्यस्यां भूमौ सा निषिधी इत्युच्यते। एतज्जन्मादिस्थानं श्रुतेन प्रागवगतं। 'पासंतस्स' पश्यतः। कस्य? 'जिणाणं' जिनानां 'सुविसुद्धं' सुष्ठु विशुद्धं। 'दंसणं' श्रद्धानं। 'होदि' भवति। एतदुक्तं भवति—

देशान्तरातिथेः जिनानां जन्मादिस्थानदर्शनान्महती श्रद्धोत्पद्यते। यथा कांचिदवर्णावर्ण्यमानरूपां विलासिनी परोक्षामवगतस्य परस्य वचनोपजाताभिलाषस्य तस्यां दर्शनपथमुपजातायां श्रद्धातिशयो जायते इति।

बसनेके उक्त गुण कहे हैं। इन गुणोंका वर्णन ग्रन्थकार आगे स्वयं करते हैं। टीकाकारने भावनाका अर्थ पुनः पुनः अभ्यास किया है और पं० आशाधरने परीषह सहन किया है। आगे ग्रन्थकारने भी यही अर्थ भावनाका किया है। अभ्याससे ही परीषह सहनकी सामर्थ्य होती है। सम्भवतः इसी भावसे भावनाका अर्थ अभ्यास किया है। लोकमें भावनाका यही अर्थ प्रचलित है ॥१४४॥

'दंसणसुद्धी' इस पदका व्याख्यान करनेवाली गाथा कहते हैं—

गा०—जिनदेवोंके जन्मस्थान, दीक्षास्थान, केवलज्ञानकी उत्पत्तिका स्थान और समवसरणके चिह्न मानस्तम्भका स्थान निषीधिका स्थान देखनेवालेके सम्यक्रूपसे निर्मल सम्यग्दर्शन होता है ॥१४५॥

टी०—नये शरीरके ग्रहण करनेको जन्म कहते हैं। वह जन्म जिस क्षेत्रमें हुआ, जन्मके साहचर्यसे यहाँ उस स्थानको जन्म शब्दसे कहा है। अथवा शरीर ग्रहण करनेवाले आत्माका माताके पेटसे निकास जहाँ हुआ वह जन्म है। रत्नत्रय धारण करनेकी भावनासे घरसे बाहर जाना जिस क्षेत्रमें हुआ उसे निष्क्रमण कहा है। केवलज्ञानावरणके क्षयसे सब पदार्थोंके यथार्थस्वरूपको ग्रहण करनेमें समर्थ केवलज्ञानको यहाँ ज्ञान शब्दसे ग्रहण किया है; क्योंकि सामान्यवाची शब्दोंकी भी विशेषमें प्रवृत्ति प्रसिद्ध ही है। यहाँ तीर्थसे समवसरणका ग्रहण किया है। जिसमें पापके विनाशके इच्छुक भव्य जीव तिरते हैं वह तीर्थ है। उस समवसरणके चिह्न मानस्तम्भ हैं। निषिधि अर्थात् योगिवृत्ति जिस भूमिमें हो उसे निषिधी कहते हैं। श्रुतसे पहले जाने हुए जिनदेवके इन जन्मादि स्थानोंको जो देखता है उसका श्रद्धान सुविशुद्ध होता है। देशान्तरमें भ्रमण करनेवालेके जिनदेवोंके जन्मादि स्थानोंको देखनेसे महती श्रद्धा उत्पन्न होती है, जैसे किसी सुन्दर नारीको वर्णनके द्वारा परोक्षरूपसे जानकर दूसरेके कथनसे उसे देखनेकी इच्छा होती है और उसे साक्षात् देखनेपर विशेष श्रद्धा होती है।

अथवा जब तीर्थंकर जन्म लेते हैं तब अनियत विहार करने वाला यति तीन ज्ञानके धारी

अथवा यदा तीर्थंकृतः संभवन्ति तदा अनियतविहारी यतिर्जिनानां ज्ञानत्रयधारिणां अवाप्तस्वर्गावि-सुरचकूजासिततमानां जन्माभिषेककल्याणं भुवनभवनान्तर्लीनतमोवितानापनयनोद्यतं, सुधापानमिव सकलप्राणभृदा-रोग्यविधायि, सुरविलासिनीनर्तनमिव सकलजगदानंददायि, प्रियवचनमिव मनःप्रसादकारि, पुण्यकर्मेव अगण्य-पुण्यवितरणप्रवीणं, लक्ष्मीपरिचारिकाभिः साश्चर्यं ससंभ्रमं ईक्षितं, गुह्यकामरप्रकीर्णानेकसुरभिप्रसूनकरणगन्धानु-भ्रमद्भ्रमरकृतकोलाहलं अनारतप्रहतमंगलभेरीभंभाध्वनिभरितभुवनविवरं, सुरवधूनर्तनजिगीषयेव सौधशिखर-रङ्गनृत्यत्प्रत्यग्रपञ्चवर्णपताकाविलासिनीकं, हरिविष्टरप्रचलनोपनीतसाध्वसनवसुरवल्लभारभसकण्ठग्रहप्रीतिवि-कासिमुखशतमखमुखं, संभ्रमोत्थितकृताञ्जलिपुटसुरपरिवारसादराकर्ण्यमानवज्रभृदाज्ञं, भेर्यादिध्वानाहूतप्रमुखसक-लगीर्वाणचक्रं, परस्परसंघर्षगृहीतोत्तरवैक्रियिकदेवपृतनाव्याप्तपवनपथवेला, जन्माभिषेकसमयप्रयाणसंपादनायातपौ-लोमीनूपुरध्वानचकितहंसीविलासविराजमानराजमन्दिराङ्गणं, ऐरावतावतीर्णप्रसारितवज्रिवज्रघनभुजार्गलं, सुरकरप्रहारप्रसरद्दुन्दुभिभेरीध्वानसम्मिश्रसिंहनादबधिरितविशालाशामुखं, प्रहतानेकप्रयाणकपटहगम्भीरधीराराव, असकलशशिकरावदातचमरसहविक्षेपदक्षबलभिन्निकुरुंबजिनावलोकनव्यग्रसुराग्रमहिषीकं, श्वेतातपत्रजलधरघटा-वच्छन्ननभोमंडलं, विद्युदायमानपताकाकुलं, इन्द्रनीलमयसोपानप्रयायिसुरपृतनं, सुरगजरदनसरोनलिनदलरंगशोभा-विधायिनर्तकीसलीलपदन्यासं, गृहीताष्टमंगलदेवीसहस्रपुरोगानं, देवप्रतीहारदूरापसार्यमाणक्षुद्रामरगणं, आत्म-

और स्वर्गसे अवतरित होते समयकी विशिष्ट पूजाको प्राप्त जिनदेवके जन्माभिषेक कल्याणको देखता है। वह जन्मोत्सव लोक रूपी घरमें छिपे हुए अन्धकारके फैलावको दूर करने में तत्पर होता है। अमृतपान की तरह समस्त प्राणियोंको आरोग्य देने वाला है। देवांगनाओंके नृत्यकी तरह समस्त जगत्को आनन्दमयी है, प्रियवचनकी तरह मनको प्रसन्न करता है। पुण्यकर्मकी तरह अगणित पुण्यको देने वाला है। लक्ष्मीरूपी परिचारिकाओं के द्वारा बड़े आश्चर्य और शीघ्रता के साथ इसे देखा जाता है। गुह्यक जाति के देवोंके द्वारा बरसाये गये अनेक प्रकारके सुगन्धित पुष्पोंकी गन्ध पर मंडराने वाले भौंरों की गुंजनके कोलाहलसे पूर्ण होता है। निरन्तर बजने वाली मंगल भेरी और बाजोंकी ध्वनिसे समस्त भुवन भर जाता है। देवागनाओंके नृत्यको जीतनेकी इच्छासे ही मानों महलोंके शिखर पर पाँच वर्णकी पताका रूपी नृत्यांगनाएँ नाचती हैं। भगवान्‌के जन्मके समय इन्द्रके सिंहासनके कम्पनसे भयभीत हुई नवजन्म वाली देवांगनाएँ जल्दीसे इन्द्रके कण्ठसे लिपट जाती है तब इन्द्रका मुख प्रेमसे खिल उठता है। तब देव परिवार जल्दीसे उठकर बड़े आदरसे इन्द्रकी आज्ञा सुनता है। भेरीके शब्दको सुनकर इन्द्रादि प्रमुख सब देवगण एकत्र होते हैं. परस्परके संघर्षसे उत्तर वैक्रियिक शरीरको धारण करने वाले देवोंकी सेनासे आकाश मार्ग व्याप्त हो जाता है। जन्माभिषेकके समय जिन बालकको लानेके लिये आई हुई इन्द्राणीके नूपुरोंके शब्दसे चकित हुई हँसीके विलाससे राजमन्दिरका आँगन शोभित होता है। ऐरावतसे उतरकर इन्द्र अपनी वज्रमयी भुजायें फैला देता है। देवताओंके हाथोंके प्रहारसे ढोल और भेरीके शब्दके साथ मिला सिंहनाद विशाल दिशाओंको बधिर कर देता है। गमन करते समय बजाये जाने वाले अनेक नगारोंका गम्भीर शब्द होता है। इन्द्रोंका समूह अपूर्ण चन्द्रमाकी किरणोंके समान शुभ्र चमरोंको दक्षतापूर्वक ढोरता है। इन्द्राणियाँ बालक जिनका मुख देखनेके लिये उत्कण्ठित होती हैं। श्वेत छत्ररूपी मेघोंकी घटाओंसे आकाश ढक जाता है। पताकायें बिजुलीकी तरह प्रतीत होती हैं। इन्द्रनीलमय सीढ़ियोंकी तरह देवसेना गमन करती है। ऐरावतके दाँतों पर बने सरोवरोंमें खिले कमलके पत्रों पर नर्तकियाँ लीलाके साथ पद निक्षेप करती हुई नृत्य करती

दण्डदेवसहस्रसंपाद्यमानरक्षाविधानं, नर्तनव्यग्राद्भुतविग्रहामरेसरभूतं, प्रदक्षिणीकृतसुराचलं, आरूढसुरगिरिशिखरायमाणसिंहासनं, तद्देवकुमारपरंपरानीतक्षीरवारिधिजलभरितरत्नकलशकृताभिषेकं, पौलोमीरचितबालानुरूपमण्डनं, गुणस्तवव्यापृतेन्द्रवैतालिकसहस्रं, सुराधिपरचितजन्मोत्सवनर्तनं, जन्माभिषेककल्याणं पश्यति तस्य भवत: ।

अभिनिष्क्रमण वा जिनानामीदृक् तदिति वर्ण्यंते । सर्व एव जिना: समधिगतोदीरितजन्माभिषेककल्याणा:, शतमखशासनस्थसादरधनदोपनीयमानदिव्योचिताङ्गरागवसनभोजनवाहनालंकारसपत्संदोहा:, मनोनुकूलक्रीडासंपादनचतुरदेवकुमारपरिवारा:, केचित्पुरातनपुण्यपरिपाकोदयाचलोद्गतविराजमानारकसहस्रचक्ररविसहायेन अमेयभुजविक्रमेण वशीभूताशेषमागधप्रभासादिदेवविद्याधरभूमिपालसंहतय:, सुरकुमारीरूपयौवनविभ्रमापहसनचतुरानेकद्वात्रिंशद्देवीसहस्राननारविंदविकासमोद्यता:; पाकशासनप्रहितनर्तकीनृत्तावलोकनविनोदा:, सादराकर्णितकिन्नरादिदेवगान्धर्वगीता:, कालमहाकालादिनवनिधिप्रभवा:, प्रत्येकदेवसहस्रपरिपाल्यमानचक्रादिचतुर्दशरत्नानुयाता:, द्वात्रिंशत्सहस्रमुकुटबद्धशातकुम्भघटितमौलि[1]तटमकरिकास्थितरत्नप्रदीपाली-

---

हुई नृत्य करती हैं। हजारों देवियाँ हाथोंमें अष्ट मंगल लिये हुए आगे गमन करती है। देवोंके द्वारपाल क्षुद्र देवगणोंको वहाँसे दूर कर देते हैं। हजारों आत्मरक्ष जातिके देव रक्षा करनेमे तत्पर रहते हैं। नाचनेमे मग्न अद्भुत शरीरधारी देव आगे रहते हैं। सब सुमेरुकी प्रदक्षिणा करते हैं। सुमेरुके शिखरके समान सिंहासन पर भगवान्‌को विराजमान करते हैं। देवकुमारोंकी परम्परासे लाये गये क्षीर समुद्रके जलसे भरे रत्नमयी कलशोसे जिन भगवान्‌का अभिषेक करते हैं। इन्द्राणी बालकका उनके अनुरूप शृंगार करती है। सहस्रों इन्द्र वैतालिक भगवान्‌के गुणोंका स्तवन करते हैं। जन्मोत्सवके अवसर पर इन्द्र नृत्य करता है। ऐसे जन्माभिषेक कल्याणको जो देखता है उसका सम्यग्दर्शन अति निर्मल होता है।

जिन भगवान्‌का अभिनिष्क्रमण इस प्रकारका होता है। उसका वर्णन करते है—

सभी जिनदेवोंका जन्माभिषेक कल्याणक बड़ी विभूतिके साथ मनाया जाता है। इन्द्रकी आज्ञासे कुबेर उनके लिये दिव्य अगराग, वस्त्र, भोजन, वाहन, अलंकार आदि संपत्ति प्रस्तुत करता है। मनके अनुकूल क्रीड़ा करनेमे चतुर देवकुमारोंका परिवार रहता है। उनमेंसे कोई-कोई जिनदेव पूर्वसंचित पुण्यकर्मके उदयरूपी उदयाचल पर प्रकट हुए एक हजार आरोंसे युक्त चक्ररूपी सूर्यकी सहायतासे और अपने अपरिमित भुज पराक्रमसे समस्त मागध प्रभास आदि देव, विद्याधर और राजाओंके समूहको अपने अधीन कर लेते है, देवांगनाओंके रूप, यौवन और विलासको तिरस्कृत करनेमे चतुर बत्तीस हजार पट्टरानियोंके मुखरूपी कमलोंको विकसित करनेमें तत्पर रहते हैं। इन्द्रके द्वारा भेजी गई नर्तकियोंके नृत्यका अवलोकन करते हुए मनोविनोद करते हैं। किन्नर आदि देवगन्धर्वोंके गीतोंको बड़े आदरसे सुनते हैं। काल महाकाल आदि नौ निधियाँ उनके राजकोषमें उत्पन्न होती हैं। चक्ररत्न आदि चौदह रत्न होते हैं। प्रत्येक रत्नकी एक हजार देव रक्षा करते हैं। बत्तीस हजार मुकुट बद्ध राजाओंके स्वर्ण निर्मित मुकुटोंके ऊपरकी मकरिकामें लगे रत्नदीपोंकी पंक्तिके द्वारा उनके पादपीठ निरन्तर पूजे जाते हैं अर्थात् बत्तीस हजार राजा उन्हें नित्य नमस्कार करते हैं। देवकुमार भेटें ले लेकर उनकी सेवामें सदा उपस्थित होते हैं। इस

---

१ मौलिस्पृकटिका–अ० ।

प्रकरेणानवरतमर्च्यमानपादपीठाः, देवकुमारोपनीयमानोपायनविलोकनैकव्यग्राः, मनुजभोगाग्रेसरं सुखमखेदेनानुभवन्ति । अपरेऽपि मण्डलीकमहामण्डलीकपदमुपगताः ।

पुनस्तीर्थकरनामकर्मोदयात् चारित्रमोहक्षयोपशमप्रकर्षानुगतादनादिकालावलग्नस्वपरकर्मरजोविधूननाबद्धकक्ष्या इत्थं मनः प्रणि[1]दधति—केयं[2] मोहस्य महत्ता येनास्मानप्यध्यक्षीक्रियमाणदुरन्तसंसारसरिद्विपद्दुःखावर्तान् प्रवर्तयत्यारम्भपरिग्रहयो । अणिमाद्यष्टगुणसपत्क, अपदमापदा, अभिलाषस्याप्यविषयम्, अपरामराणां कुशाग्रीयबुद्धीनामपि बलभिदामगोचरं, वचसामप्रत्यूह, अपराधीनं, अनास्वादितान्यूनतारसं, अहमिन्द्रसुखं चिरतरमनुभूतवतामस्माकं केयमुत्कण्ठा मनुजभोगसंपदि, खलजनमैत्रीव विच्छिन्नदुःखानुबंधविधानोद्यतायां चलायां विपुण्यसमितिरिव परायत्तवृत्तौ, कुकविकृतिरिवाल्पार्थसंग्रहायां, दूरभव्यस्य मुक्तिपदवीगतिरिव अनेकप्रत्यूहप्रतिहतायां अनन्तकालपरिभुक्तायां इति ।

तदैव च ब्रह्मलोकान्तावासादधिगतलौकान्तिकव्यपदेशाः, शङ्खावदाततनवः, स्वावधिज्ञानलोचनेनावलोक्य स्वपरोत्तारणाबद्धपरिकरता जिनानां, महदिदं कार्यं अनेकभव्यानुग्रहकरं भगवता प्रारब्धं, अस्माभिरपि एतदनुमन्तव्यं । पूज्यपूजाव्यतिक्रमश्च स्वार्थभंगकारीति सुरपथादवतीर्य स्वामिनः पुरस्तात्सबहुमानमवस्थिता एवं विज्ञापयंति—

तरह वे मनुष्योंको प्राप्त भोगोसे होने वाले सर्वोत्कृष्ट सुखको बिना किसी खेदके भोगते हैं, अन्य कुछ जिनदेव मण्डलीक, महामण्डलीक आदि राजपदोंको प्राप्त होते हैं ।

पुनः तीर्थंकर नामकर्मके उदयसे और चारित्र मोहके क्षयोपशमके प्रकर्षसे अनादिकालसे लगी हुई अपनी और दूसरोंकी कर्मरूपी धूलिको दूर करनेमें कमर कसकर वे इस प्रकार मनमें विचारते है—यह मोहकी कैसी महत्ता है कि दुरन्त संसार समुद्रके दुःखरूपी भँवरोंको प्रत्यक्ष अनुभव करने वाले हम जैसोंको भी आरम्भ और परिग्रहमें फँसाता है । हमने चिरकाल तक अहमिन्द्रका सुख भोगा है जो अणिमा आदि आठ ऋद्धियोंसे सम्पन्न होता है, जिसमें कभी कोई आपत्ति नहीं आती, जिसकी कोई कल्पना भी नही कर सकता, अन्य देव और कुशाग्र बुद्धिशाली इन्द्रोंको भी वह सुख प्राप्त नही है, वचनके अगोचर है, अपराधीन है, उसमें कभी कमी नहीं होती । ऐसा अहमिन्द्र पदका सुख चिरकाल तक भोग चुकनेपर हमारी यह मनुष्यकी भोगसम्पदामें उत्कण्ठा कैसी ? यह भोग सम्पदा दुष्टजनकी मैत्रीकी तरह अनेक दुःखोंकी परम्पराको उत्पन्न करने वाली है, चंचल है, पाप पुण्यकर्मके समान पराधीन है, जैसे कुकविकी रचनामे अल्पसार होता है वैसे ही इस भोगसम्पदामें भी सार नही है । जैसे दूर भव्यके मोक्ष गमनमे अनेक बाधाएँ रहती हैं वैसे ही इस भोगसम्पदामे अनेक बाधाएँ रहती है और हमने इसे अनन्तकाल भोगा है ।

उसी समय ब्रह्मलोक स्वर्गके अन्तमें रहनेसे लौकान्तिक नामधारी देव, जिनका शरीर शंखके समान श्वेत होता है, अपने अवधिज्ञान रूपी चक्षुसे देखते हैं कि जिनदेव स्वयंको और दूसरोंको संसार समुद्रसे पार उतारनेके लिये एकदम तत्पर हैं तो विचारते है—भगवान्ने अनेक भव्य जीवों पर अनुग्रह करने वाला यह महान् कार्य करनेका बीड़ा उठाया है, हमे भी इसकी अनुमोदना करनी चाहिए । तथा पूज्य पुरुषोंकी पूजा न करना भी स्वार्थका घातक है । ऐसा विचार स्वर्गसे उतरकर भगवान्के सम्मुख बडे आदरके साथ उपस्थित हो, इस प्रकार निवेदन करते हैं—

---

१. प्रतिदधति–आ० मु० । २. कथं मोहस्य बलवत्ता–आ० मु० ।

भट्टारकाः ! उचित एवायमुद्योगो भवतां कल्पमहीरुहा इव प्रत्युपकारनिरपेक्षा, जगदनुग्रहकारिणो हि महान्तः, मिथ्यात्वतिमिरावगुंठितज्ञानलोचनतया विनेयजनराशिरुत्पथप्रस्थानोऽसकृत्कुगतिगर्तपतितो निःसर्तुं-मभिलषन्नपि असमर्थः क्लिश्यति । स च भवत्प्रतितावततदृढसमीचीनदृष्टिरज्ज्वावकृष्टः युष्मदुपदर्शितातिप्रगुणविशालमुक्तिमार्गलीलनादनन्तज्ञानात्मकेन सुखेन सुखी भवत्वित्यभिधाय गतेषु सारस्वतादिषु ।

जिननिर्वेदसमीरणान्दोलितहरिविष्टरो हरिः प्रणिधानप्रवर्तितावधिलोचनाधिगतगुरुआरभ्यमाणकार्यः, सिंहासनतः ससंभ्रममुत्थाय, स्वामिसमवस्थितदिगभिमुखं गत्वा सप्तपदमात्रं, ललाटतटविन्यस्तेन प्रबुद्धनलिन-दलच्छायापहासिना, अंकुशकुलिशकलशादिलक्षणोद्भासिना दक्षिणेन करेणालंकृतमौलिरत्नप्रभाबंधुरमवनम्य शिरः सलीलं नमः सद्धर्मतीर्थप्रवर्तनोद्यतेभ्यः शरणागतविनेयत्राणकारिभ्योऽलौकिकनयनेभ्यो जिनेभ्य इत्यभि-धाय, पुरोधावद्भेरीध्वानादिभिर्झटिति विदितकार्येण, समुचितावनतेन, स्वनायकपुरोयायिना, विचित्रातपत्र-शस्त्रवस्त्रविभूषणवाहनोज्ज्वलेन गीर्वाणचक्रेणानुगम्यमानः सौधर्मः सह नरामरेन्द्रैः, चमररुहहरिविष्टरश्वेतातप-त्रादिपरमेश्वरलांछनमखिलमपहाय प्रतीहारनिवेदितागमनस्तदाज्ञयाशु धर्मचक्रलांछनातिकमवाप्य सबहुमान-प्रणाममारभते स्म ।

ततो जिनात्सादरावलोकनप्रसादमात्मोचितमुपलभ्य विज्ञापनं करोति । सकलोऽयमायातोऽच्युताधिप-पुरःसरः शक्रलोको भट्टारकाणां परिनिष्क्रमणपरिचर्यामुपपादयितुमना अवगतमुक्तिमार्गोऽप्ययं स्वाधीनज्ञानात्म-

---

भगवन् ! आपका यह उद्योग उचित ही है। महान् पुरुष कल्पवृक्षकी तरह प्रत्युपकारकी अपेक्षा न करके जगत् पर अनुग्रह करते हैं। मिथ्यात्व रूपी अन्धकारसे ज्ञानरूपी दृष्टिके अवरुद्ध हो जानेसे संसारके भव्य जीव कुमार्गमें चल पड़ते हैं। बार-बार कुगतिरूपी गढ़ेमें गिरकर निक-लना चाहते हुए भी नहीं निकल पाते और कष्ट भोगते हैं। आपके द्वारा डाली गई विस्तृत दृढ़ समीचीन दृष्टिरूपी रस्सीके द्वारा खीचे गये वे भव्य जीव आपके द्वारा बतलाये गये गुणशाली विशाल मोक्षमार्ग पर चलकर अनन्त ज्ञानात्मक सुखसे सुखी हों। इतना कहकर वे लौकान्तिक देव चले जाते हैं।

भगवान्‌के वैराग्यरूपी हवाके झकोरोंसे इन्द्रका सिंहासन कम्पित होता है। तब इन्द्र अवधिज्ञान रूपी दृष्टिका उपयोग करके भगवान्‌के द्वारा प्रारम्भ किये जाने वाले कार्यको जानता है। तत्काल सिंहासनसे उठ, जिस दिशामें भगवान् हैं उस दिशाकी ओर सात पद चलकर, खिले हुए कमलकी पांखुरीकी शोभाको तिरस्कृत करने वाले और अंकुश, वज्र, कलश आदि शुभ लक्षणोंसे शोभित दाहिने हाथको मस्तकसे लगाकर मुकुटके रत्नोंकी प्रभासे भासित सिरको नवा-कर कहता है—'समीचीन धर्मरूप तीर्थके प्रवर्तनके लिये उद्यत, शरणागत भव्य जनोंकी रक्षा करने वाले और अलौकिक नेत्रोंसे विशिष्ट जिनदेवको नमस्कार हो। भेरी आदिके शब्दसे सब देवोंको ज्ञात हो जाता है। नाना प्रकारके छत्र, शस्त्र, वस्त्राभूषण और वाहनोंके साथ अपने नायकको आगे करके सब देव सौधर्मके पीछे चलते हैं। सौधर्मेन्द्र अन्य इन्द्रों और राजाओंके साथ राजमहलके द्वार पर पहुंच सिंहासन, चमर छत्र, आदि इन्द्रत्वके सब चिह्नोंको दूर करके द्वारपाल-से अपने आनेका समाचार निवेदन कराता है। आज्ञा मिलने पर इन्द्र तत्काल धर्मचक्रके प्रवर्तक भगवान्‌के समीप जाकर अत्यन्त बहुमान पूर्वक नमस्कार करता है। जिनदेव इन्द्रकी ओर आदर-पूर्वक देखते हैं। भगवान्‌के इस सादर अवलोकनको ही अपने योग्य प्रसाद मानकर इन्द्र निवेदन

कानन्तसुखानुभवलम्पटोऽपि, अवधीरितेन्द्रियसुखखेदोऽपि, अपरिप्राप्तसंयमघातिकर्मक्षयोपशमः, न चारित्रे प्रयतते, न परान्प्रवर्तयितुमीहते। सुविशुद्धज्ञानदर्शनोऽपि न विना समीचीनं चारित्रं तपश्च, कर्माणि निरवशेषं क्षपयितुं घटते। अनेकसमुद्रगणनायुःस्थितितया दीर्घसंसारी वराकोऽस्मदादिः खिद्यते। उत्थातुमभिलषन्नपि दारको यथा पतत्येवमपि चारित्राभिलाष्यपि तद्धर्तुमसमर्थस्तिष्ठति। यूयं पुनर्विदितवेदितव्याः क्षयोपशमपरिप्राप्तनिवृत्तिपरिणामाः, पूज्यतमाः जन्मान्तरेऽस्माकमपीदृशी वीतरागता सकलारम्भपरिग्रहपरित्यागोद्योगो विनेयजनोपकारशक्तिश्च भवत्प्रसादादस्यानुमननाच्च भवतु सज्जीकृतमिदं विमानं आनीतमलंकरोतु देवः इत्युपरतवचसि सुराधिपे हर्षविषादपरवशं ज्ञातिवर्गं अन्तःपुराणि परिवारं चावलोक्य कृपया जिना वदन्ति—

चिरसंवासादल्पकोपकारापेक्षया जनस्यानुरागो भवति तदनुसारी कोपस्ताभ्यां दुरन्तकर्मादानं ततो भवति ममेदंभावः सर्वदुःखाना मूलमपनेतुमर्हति विद्वान्। न हि कस्यचित् किंचिन्मित्रं, धनं, शरीरं वान्पाम्यस्ति। पात्रे समिता हि बान्धवः, परिवाराश्च, धनं पुनरर्जने विनाशे च महतीमानयति दुःखासिकां। तदर्थिभिरन्यैश्च सह विरोधं कारयति। तृष्णा प्रकर्षवतीमादधाति लवणजलपीतिमिव। वामलोचनाः पुनः सुरा इव चित्तं मोहयन्ति, व्यलीकरोदनेन हसनेन चाटुभिश्च पुंसामल्पसत्त्वानां चेतः स्ववशीकुर्वन्ति। चर्ममयपुत्रिकासु, चपलासु, संध्याम्बुदावलीवास्थिररागासु, मायाजननीषु, मृषाचेटीनायिकासु, सुगतिवज्रार्गलयष्टिषु

करता है—अच्युतेन्द्र आदि समस्त इन्द्रगण भगवान्के निष्क्रमण कल्याणक सम्बन्धी परिचर्या करनेके अभिलाषी हैं। हम मुक्तिके मार्गको जानते हैं। स्वाधीन ज्ञानात्मक अनन्त सुखका अनुभव करनेके लिये भी आतुर हैं, इन्द्रिय सुखको भी खेद रूप जानकर उसकी उपेक्षा करते है। किन्तु संयमका घात करने वाले कर्मका क्षयोपशम हमें प्राप्त नहीं हैं। इसलिये न हम स्वय चारित्रमें प्रवृत्त होते हैं और न दूसरोंको ही प्रवृत्त करना पसन्द करते हैं। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे युक्त व्यक्ति भी समीचीन चारित्र और तपके बिना समस्त कर्मोंका क्षय नही कर सकता। अनेक सागरो प्रमाण आयु होनेसे दीर्घ संसारी हमलोग कष्ट उठाते हैं। जैसे शिशु उठना चाहते हुए भी गिरता है वैसे ही हम लोग चारित्रके अभिलाषी होते हुए भी उसे धारण करनेमें असमर्थ रहते हैं। आप तो सब कुछ जानते हैं। चारित्रमोहका क्षयोपशम होनेसे आपके निवृत्ति रूप परिणाम हुए हैं। आप पूज्यतम हैं। आपके प्रसादसे तथा आपकी अनुमोदना करनेसे आगामी जन्ममें हमें भी इस प्रकारकी वीतरागता, समस्त आरम्भ और परिग्रहको त्यागनेका उद्योग तथा भव्य जीवोंका उपकार करनेकी शक्ति प्राप्त हो। यह सजाया हुआ विमान तैयार है, देव! इसे सुशोभित करें।

देवेन्द्रके कथनके पश्चात् अन्तःपुर, परिवार और ज्ञातिवर्गको हर्ष और विषादमें देखकर जिनदेव कृपापूर्वक कहते हैं—चिरकाल तक साथ रहनेसे तथा थोड़ा बहुत उपकार करनेसे लोगोंमें अनुराग होता है तथा कोप भी होता है। इस अनुराग और कोपसे दुरन्तकर्मोंका बन्ध होता है। उससे 'यह मेरा है' इस प्रकारका भाव होता है, यह सब दुःखोंका मूल है। विद्वान्को इसे दूर करना चाहिए। न किसीका कोई मित्र है और न धन और शरीर ही स्थायी हैं। बन्धु बान्धव और परिवार यानपात्रमें मिले हुए पुरुषोंके समान हैं। धनके कमानेमें और कमाये हुए धनके नष्ट हो जानेपर बहुत दुःख होता है। उस धनके अर्थी अन्यजनोंसे विरोध होता है। जैसे खारा जल पीनेसे प्यास बढ़ती है वैसे ही धन पानेसे धनकी तृष्णा बढ़ती है। स्त्रियाँ मदिराकी तरह चित्तको मोहित करती हैं। बनावटी रोने और हँसने तथा मीठे वचनोंसे कमजोर मनुष्योंके चित्तको अपने वशमें कर लेती हैं। स्त्रियाँ चर्मनिर्मित पुतलियाँ हैं, चंचल होती हैं,

कोऽनुरागः प्रज्ञावताम् ? शरीरं पुनरिदमनेकाशुचिनिधानं, कचारपुञ्जवत्प्राणभृतामनपायी भारः महारोग-नागानां वल्मीकीभूतं, जराव्याघ्रीनिवासबिलं, नेत्रवच्चर्मवेष्टितकोष्ठवदन्तर्नि:सारं बहिर्मनोहरं, गुणः पुनरत्र एक एव धर्मसहायता। गिरिनदीस्रोतांसीवानवस्थितानि यौवनानि। तृणाग्निज्वाला इव संपदः क्षणमात्रं दृष्टनष्टा। इत्यमवगम्य मा कृथा वृथा प्रमादं जननरत्नाकरपारगमनाय कुरुतोद्योगं। मर्षणीयोऽस्माभिः प्रमादात्कृतोपराध इति।

भगवद्भारतीसमनन्तरं सुरकुमारकरप्रहता समन्ततो दुन्दुभयो ध्वनन्ति। सकलं च जगदिन्द्रप्रमुखं जयध्वनिमुखरं जायते। समन्तात्सुरतरुण्यः सविलासं नृत्तमारभन्ते। जगन्नाथाश्च त्रिलोकभूषणा धवलदुकूलपरिधानाः परमशुक्ललेश्यया निर्वृतिसंकल्प्येव मुक्ताकण्ठिकाव्याजेनोपगतयालंकृतग्रीवाः विरागाणामपि मुखरागकरणे पाटवं नः पश्यतेति दर्शयद्भ्यामिव कुण्डलाभ्यां विराजमानपूर्णमसृणगण्डस्थला। वृत्तं प्रियं एषां चेन्नोवसर इतीवोपगतेन कटकद्वयेनाश्लिष्टप्रकोष्ठाः। यत्रामीषामतिशयरत्नाभिमानः तत्पश्यामः स्थित्वोच्चैरितीवोत्तमाङ्गस्थेन मुकुटरत्नकलापेन शोभमानः निर्वाणपुरमिव विमानं प्रविशन्ति।

ततः शतमखयुग्मबाहस्कन्धोत्क्षिप्तेन विमानेन सदेवीकचतुर्निकायामरसप्तानीकपरिवृतेन गत्वा अवतीर्य

सन्ध्याकालीन मेघमालाकी तरह उनका राग अस्थिर होता है। वे स्वभावसे मायावी होती हैं, सुगतिके लिए वज्रनिर्मित अर्गला हैं। उनमे बुद्धिमानोंका कैसा अनुराग ? यह शरीर अनेक अपवित्र वस्तुओंकी खान है, कचरेके ढेरकी तरह प्राणियोंका ऐसा भार है जो कभी नष्ट नहीं होता। महारोगरूपी सर्पोंके लिए वामी है और जरारूपी सिहनीके रहनेके लिए बिल है। जैसे लोष्ठको चमड़ेसे मढ़कर उसपर आँखें लगा देनेपर वह बाहरसे सुन्दर और भीतरसे निःसार होता है उसी तरह यह शरीर भी बाहरसे सुन्दर और भीतरसे निःसार है। इसमे केवल एक ही गुण है कि यह धर्ममे सहायक होता है। पहाडी नदीके स्रोतोंकी तरह यौवन स्थायी नहीं है। तृणोंकी आगकी लपटोंकी तरह सम्पदा क्षणमात्रमे देखते-देखते नष्ट हो जाती है। ये सब जानकर वृथा प्रमाद मत करो, जन्म समुद्रको पार करनेके लिए उद्योग करो। हमसे प्रमादवश जो अपराध हुए उन्हे क्षमा करें।

भगवान्‌की वाणीके पश्चात् देवकुमार दुंदुभियाँ बजाते हैं। इन्द्र आदि सब लोग जय जयकार करते हैं। देवागनाएँ विलासपूर्ण नृत्य आरम्भ करती है। तीनो लोकोंके भूषण और जगत्‌के स्वामी जिनदेव सफेद वस्त्र धारण करते हैं। गलेमे मोतियोंकी माला पहने हैं मानों मुक्तिकी दूतीके समान परमशुक्ल लेश्याने उस मुक्तामालाके व्याजसे भगवान्‌के कण्ठको सुशोभित किया है। दोनों कानोंके कुण्डलोंसे भगवान्‌का स्निग्ध गण्डस्थल शोभित है, मानों दोनो कुण्डल यह दिखला रहे हैं कि विरागोके भी मुखको रागयुक्त (लाल) करनेमें हमारा चातुर्य लोग देखें। दोनों हाथोंमें दो गोल कड़े हैं। वे गोल कड़े मानो यह विचार कर ही आये हैं कि भगवान्‌को वृत्त प्रिय है। वृत्तका अर्थ चारित्र भी है और गोल भी। सिरपर रत्नमयी मुकुट शोभित है। रत्नोंने सोचा—इन्हे रत्नों (रत्नत्रय) का बड़ा अभिमान है जरा इनके साथ रहकर देखें तो। इस प्रकारसे आभूषित भगवान् मोक्षपुरीके द्वारके समान विमानमे प्रवेश करते हैं।

उस विमानको इन्द्र अपने कन्धोंपर उठाते हैं। देवांगनाओंके साथ चारों निकायोंके देव और उनकी सातों सेनाएँ विमानको घेरे होती हैं। उस विमानसे जाकर भगवान् रमणीक स्थानमें

रम्यतमे देशे उत्तराभिमुखाः, कृतसिद्धनमस्कृतयः मुकुटादिकं क्रमेण अलंकारादिकं अपनयन्ति । परित्यक्तोभयसकलग्रंथाः परिगृह्णन्ति योगत्रयेण रत्नत्रयमित्थंभूतं च परिनिष्क्रमणं पश्यतः ।

'णाणुप्पत्ति' ज्ञानोत्पत्तिर्ज्ञायतेऽवबुध्यते सकलमर्थयाथात्म्यमनेनेति ज्ञानं इति केवलमुच्यते । तस्योत्पत्तिरवतारितमोहनीयभाराणां, योगवासराधीश्वरनिर्मूलितज्ञानदृगावरणतमसां, उत्खातान्तरायविषविटपिनां, अ¹पनीतक्रममनपेक्षितकरणचेष्टम²पास्तसंशीतिकं, दूरीकृतविपर्यासं केवलमुत्पद्यते । तस्य फलस्य दर्शनाज्जिनप्रणीते मार्गे अपनीतशङ्कादिकलङ्का श्रद्धोत्पद्यते । फलार्थी तद्वत्सु रोचते दृष्टसामर्थ्यं इति किं चित्रम् ? ॥१४५॥

एवमनियतविहारे दर्शनशुद्धिस्वार्थमुपवर्ण्य परोपकारं स्थिरीकरणं प्रकटयति—

संविग्गं संविग्गाणं जणयदि सुविहिदो सुविहिदाणं ।
जुत्तो आउत्ताणं विसुद्धलेस्सो सुलेस्साणं ॥१४६॥

'संविग्गं' संसारभीरुता । 'जणयदि' जनयति । कः ? 'सुविहिदो' सुचरितो योऽनियतवासः । केषां ? सुविहिदाणं सुचरिताना । 'संविग्गाणं' संविग्नानां । 'जुत्तो' अनशनादिके तपसि युक्त. । 'आउत्ताणं' योगधाराणा । 'विसुद्धलेस्सो' विशुद्धलेश्यः । 'सुलेस्साणं' सुलेश्यानां च । सम्यक् चारित्रतपसोः शुद्धलेश्यायां च

उतरते हैं । और उत्तरकी ओर मुख करके सिद्धोंको नमस्कार करते हैं । तथा क्रमसे मुकुट आदि अलंकारोंको उतार देते हैं । अन्तरंग बहिरंग सब परिग्रहको त्यागकर मन-वचन-कायसे रत्नत्रयको स्वीकार करते हैं । इस प्रकारके निष्क्रमणको जो देखता है उसका सम्यग्दर्शन विशुद्ध होता है ।

अब केवलज्ञानकी उत्पत्तिका वर्णन करते हैं—

जिसके द्वारा समस्त पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप ज्ञात होता है उसे ज्ञान कहते हैं । यहाँ ज्ञानसे केवलज्ञान कहा है । उसकी उत्पत्ति इस प्रकार होती है—जो मोहनीयका भार उतार देते हैं, योगरूपी सूर्यसे ज्ञानावरण और दर्शनावरणरूपी अन्धकारको निर्मूल कर देते हैं और अन्तराय कर्मरूपी विषवृक्षको उखाड़ देते हैं उनके क्रमरहित, इन्द्रियोंकी सहायता न लेनेवाला, संशय तथा विपरीततासे दूर केवलज्ञान उत्पन्न होता है । उसके फलके दर्शनसे जिनकथित मार्गमें शंका आदि दोषोंसे रहित श्रद्धा उत्पन्न होती है । जो उस फलके अभिलाषी हैं वे उसकी शक्तिको देखकर यदि उस रत्नत्रयसे युक्त भगवन्तोंमें रुचि करते हैं तो इसमें आश्चर्य क्या है ? ॥१४५॥

इस प्रकार अनियत विहारसे दर्शनविशुद्धिरूप स्वार्थको बतलाकर अब स्थिरीकरणरूप परोपकारको प्रकट करते हैं—

गा०—सम्यक् आचार और अनशन आदि तपसे युक्त विशुद्ध लेश्यावाले मुनियोंका अनियतवास सम्यक् आचारवाले, योगके धारी, सम्यक् लेश्यावाले और संसारसे भीत साधुओंमें संसारसे भय उत्पन्न करता है ॥१४६॥

टी०—सम्यक्चारित्र, सम्यक्तप और शुद्धलेश्यामें वर्तमान अनियत विहारी साधुको देखकर सभी सम्यक् चारित्रवाले, सम्यक् तप करनेवाले और शुद्ध लेश्यावाले यतिगण अत्यन्त संसारसे भीत होते हैं । वे मानते हैं कि हम संसारसे वैसे भीत नहीं हैं जैसे यह भगवान् मुनिराज हैं । अत एव हमारा चारित्र और तप सदोष है । अर्थात् सम्यक् आचार, तप और विशुद्ध लेश्या-

---

१. वीतक्र–आ० मु० । २. मपास्त–आ० मु० ।

प्रवर्तमानं दृष्ट्वा सर्वेऽपि सुचारित्राः सुतपसः, शुद्धलेश्या यतयः अतिशयवतीं संसारभीरुतां प्रतिपद्यन्ते । न वयमतीव संसारभीरवः, यथायं भगवान् अतएव नश्चारित्रं तपश्च सातिचारं इति मन्यमानाः ॥१४६॥

उत्तरगाथया एतदाचष्टे न केवलं अतिशयितचारित्रतपोगुण एव परं संविग्नं करोति किंतु एवंभूतोऽपि इत्याचष्टे—

पियधम्मवज्जभीरू सुत्तत्थविसारदो असढभावो ।
संवेग्गाविदि य परं साधू णियदं विहरमाणो ॥१४७॥

'पियधम्मवज्जभीरू' प्रिय उत्तमक्षमादिधर्मो यस्य, यश्चावद्यस्य पापस्य भीरुः । 'सुत्तत्थविसारदो' सूत्रार्थयोर्निपुणः । 'असढभावो' शाठ्यरहितः । 'संवेग्गाविदि य' परं संविग्नं करोति । 'साधू' साधुः । 'णियदं' सर्वकालं 'विहरमाणो' देशान्तरातिथिः ॥१४७॥

पूर्वगाथायां परस्थिरीकरणं प्रतिपाद्य उत्तरयात्मानमपि स्थिरयति इत्यभिधत्ते—

संविग्गदरे पासिय पियधम्मदरे अवज्जभीरुदरे ।
सयमवि पियथिरधम्मो साधू विहरंतओ होदि ॥१४८॥

'ठिदियरणं' । 'संविग्गतरं' इत्यादिकया । असकृत्पञ्चविधपरावर्तनिरूपणाहितचेतस्तयोपगततदागमन-भयातिशयाः संविग्नतराः । अभिनवकर्मनिरोध चिरतनगलनं करोति, अभ्युदयनिःश्रेयससुखानि च प्रयच्छति सुचरितो धर्म इति । धर्मस्य फलमाहात्म्ये अनारतं चेतःसमाधानात्प्रियधर्मतराः, स्वल्पमप्यशुभयोगानामवसरा-

---

वाले अनियत विहारी साधुको देखकर अन्य मुनि जो सम्यक् आचारवान् हैं, तपस्वी हैं, विशुद्ध लेश्यावाले हैं वे भी प्रभावित होकर और भी अधिक आचार, तप और लेश्यामें बढ़नेके लिए प्रयत्नशील होते हैं। यह अनियतवाससे परोपकार होता है। दर्शनविशुद्धिका लाभ तो अपना उपकार है ॥१४६॥

आगेकी गाथासे कहते हैं कि केवल विशिष्ट चारित्र और तप ही दूसरेको संसारसे विरक्त नहीं करता किन्तु········

गा०—जो उत्तम क्षमा आदि धर्मका पालक है और पापसे डरता है, सूत्र और उसके अर्थमें निपुण है, शठतासे रहित है ऐसा सदा देशान्तरमें विहार करनेवाला साधु दूसरोंमें विराग उत्पन्न करता है ॥१४७॥

पूर्वगाथामें दूसरोंके स्थिरीकरणका कथन किया है। आगेकी गाथासे अपने भी स्थिरीकरणको कहते हैं—

गा०—संविग्नतर प्रिय धर्मतर और अवद्य भीरुतर साधुको देखकर विहार करनेवाला साधु स्वयं भी प्रिय स्थिर धर्मतर, संविग्नतर और अवद्य भीरुतर होता है ॥१४८॥

टी०—बार-बार पाँच प्रकारके परावर्तनोंका निरूपण चित्तमें बैठ जानेसे जो उस परावर्तनके आगमनसे अत्यन्त भीत होते हैं वे साधु संविग्नतर होते हैं। अच्छी तरह पालन किया गया धर्म नये कर्मोंके आनेको रोकता है और पुराने कर्मोंकी निर्जरा करता है। तथा इहलौकिक अभ्युदय और मोक्षका सुख देता है। धर्मके फलके इस माहात्म्यमें जिनका चित्त लीन होता है वे

सावद्यभीरुतराः । स्वयमात्मना प्रियस्थिरधर्मतराः । अन्तरेणाप्यतिशायिकप्रत्ययमतिशयार्थमतिरत्र 'अभिरूपाय कन्या देयेति' यथा प्रियस्थिरधर्मतरः इति । अपिशब्देन संविग्नतरः अवद्यभीरुतरश्चेति ग्राह्यम् ॥१४८॥

भावनां व्याचष्टे—परिषहसहनमिह भावनेत्युच्यते—

चरिया छुहा य तण्हा सीदं उण्हं च भाविदं होदि ।
सेज्जा वि अपडिबद्धा विहरणेणाधिआसिया होदि ॥१४९॥

'चरिया' चर्याजन्यं दुःखमिह चर्येति गृहीतं । उपानहाद्यन्येन वा अकृतपादरक्षस्य, गच्छतो निशितशर्करापाषाणकण्टकादिभिस्तुद्यमानचरणस्य, उष्णरजःसंतप्तपादस्य, वा यद्दुःखं यस्यानुभवनमसंक्लेशेन चर्याभावना । 'छुहा य' अपरिचिते देशे संयतैः पूर्वमनध्यासिते अल्पधान्यसंग्रहे प्रयोग्याया अलाभात् भिक्षायाः समुपजाता क्षुद्वेदना सोढा भवति । चिरमेकत्र वसतो जनः परिचयाद्दाक्षिण्याद्वा भिक्षां प्रयच्छतीति न महान्परिश्रमः । 'सीदं उण्हं च' शीतोष्णस्पर्शजं दुःखं इह गृह्यते । तदनुभवनं संक्लेशरहितभावितं[1] सोढं भवति । 'सेज्जा' य शय्या च वसतिः । 'अपडिबद्धा' ममेदं भावरहिता । 'अधिआसिया' सोढा भवति । 'विहरणेण' विविधदेशगमनेन ॥१४९॥

प्रियधर्मतर होते हैं। और जो थोड़ेसे भी अशुभ योगको नहीं होने देते वे अवद्यभीरुतर होते हैं। उन्हे देखकर सदा विहार करनेवाला साधु स्वय भी प्रियस्थिर धर्मतर होता है। गाथामें 'पियथिरधम्मो' पाठ है उसमे अतिशयको बतलानेवाला 'तर' प्रत्यय नहीं है फिर भी अतिशय अर्थका बोध होता है। जैसे किसीने कहा है 'अभिरूपको कन्या देना', यहाँ अभिरूपसे विशिष्ट रूपवानका बोध होता है। अतः प्रियस्थिर धर्मतर अर्थ लेना। 'अपि' शब्दस संविग्नतर और अवद्यभीरुतर भी ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् वह साधु दूसरे इस प्रकारके विशिष्ट साधुओंको देख स्वयं भी वैसा विशिष्ट बन जाता है। यह विहारसे लाभ है ॥१४८॥

अब भावनाको कहते हैं। यहाँ परीषह सहनको भावना कहते हैं—

गा०—अनेक देशोमें विहार करनेसे, चर्या भूख, प्यास शीत और उष्णका दुःख संक्लेशरहित भावसे सहना होता है। वसति भी ममत्वसे रहित सहनेमें आती है ॥१४९॥

टी०—यहाँ 'चर्या' शब्दसे चर्यासे होनेवाले दुःखका ग्रहण किया है। जूता अथवा अन्य किसी वस्तुसे अपने पैरोंकी रक्षा नहीं करनेवाले साधुके चलते हुए तीक्ष्ण कंकर पत्थर काँटे आदिसे पैर छिद जाते हैं, अथवा गर्मधूलिसे पैर झुलस जाते हैं। उसके दुःखको विना संक्लेशके सहना चर्याभावना है। अनजान देशमें, जहाँ पूर्वमें कभी साधुओंका जाना नहीं हुआ, और अनाजका संग्रह भी कम है, वहाँ, योग्य भिक्षाके न मिलनेसे उत्पन्न हुआ भूखका दुःख सहना होता है। बहुत समय तक एक स्थानपर बसनेसे मनुष्य परिचित होनेसे अथवा उदारतावश भिक्षा देते हैं इसलिए भिक्षामें बड़ा श्रम नहीं होता। शीत उष्णसे शीतस्पर्श और उष्णस्पर्शसे होनेवाला दुःख यहाँ लिया है। उसका अनुभवन अर्थात् संक्लेशरहित भावपूर्वक सहना होता है। तथा रहनेके लिए वसतिका जो प्राप्त होती है उसमें भी 'यह मेरी है' ऐसा भाव नहीं रहता। ये सब विहार करनेवाले मुनियोंको सहना होता है ॥१४९॥

---

१. भाविनां आ० मु० ।

[1]णाणादेसे कुसलो णाणादेसे गदाण सत्थाणं ।
अभिलाव अत्थकुसलो होदि य देसप्पवेसेण ॥१५०॥

अतिशयार्थकुशलताख्यं गुणं कथयति—

सुत्तत्थथिरीकरणं अदिसयिदत्थाण होदि उवलद्धी ।
आयरियदंसणेण दु तम्हा सेविज्ज आयरियं ॥१५१॥

'सुत्तत्थथिरीकरणं' अल्पवर्णरचनं, अभिधेयविषयसंशयाकारि सारार्थवदभ्यन्तरीकृतोपपत्तिकं, प्रमाणान्तरदर्शित[2]वस्तुतद्रूपविरुद्धानुपदर्शनेन निर्दोषं इत्येतद्गुणसहितं सूत्रं तस्यार्थो वाच्यं बाह्य. आन्तरो वा अर्थः, तयोः सूत्रार्थयोः थिरीकरणं इत्थमेवेदं सूत्रं शब्दतः, अभिधेयं चास्येदमेवेति यत्तत्[3] । **'होदि उवलद्धी'** अतिशयेनार्थोपलब्धिर्भवति । **'आयरियदंसणेण'** आचार्याणां दर्शनेन । तु शब्दः पादपूरणे अवधारणार्थो वा । आचार्यदर्शनेनैव अथवा सूत्रार्थानां स्थिरीकरणं व्याख्यातृणामाचार्याणां तत्र दर्शनात् । **'अदिसइदत्थाणं'** अतिशयितानां सूत्रार्थानां **'उवलद्धी'** उपलब्धिः । **'होदि'** भवति । प्रमाणनयनिक्षेपनिरुक्त्या अनुयोगद्वारेण निरूप्यमाणः सूत्रार्थो अतिशयितो भवति । आचार्याणां व्याख्यातृणां दर्शनेन मतभेदेन । केचिन्निक्षेपमुखेनैव सूत्रार्थमुपपादयन्त्यपरे नैगमादिविचित्रनयानुसारेण अन्य सदाद्यनुयोगोपन्यासेन । अपरे **'अदिसयसत्थाणं होइ**

गा०—देशान्तरमें जानेसे अनेक देशोंके सम्बन्धमें कुशल हो जाता है। अनेक देशोमे पाये जानेवाले शास्त्रोंके शब्दार्थके विषयमे कुशल होता है ॥१५०॥

अतिशय अर्थकुशलता नामक गुणको कहते हैं—

गा०—आचार्योंके दर्शनसे ही सूत्र और अर्थका स्थिरीकरण और अतिशयित अर्थोंकी उपलब्धि होती है। इसलिये आचार्यकी सेवा करनी चाहिए ॥१५१॥

टी०—थोडे शब्दोंमें रचा गया हो, अर्थके विषयमें संशय उत्पन्न न करता हो, सारसे भरा हो, जिसकी उपपत्ति उसीमे गर्भित हो, और अन्य प्रमाणोंके द्वारा वस्तुका जो स्वरूप बतलाया गया है उसके विरुद्ध कथन न करनेसे निर्दोष हो। जिसमे ये गुण होते हैं वह सूत्र है। उसका अर्थ बाह्य और आन्तर दोनों प्रकारका है। इन सूत्र और उसके अर्थका स्थिरीकरण—यह सूत्र शब्दरूपसे इसी प्रकार है अर्थात् इसके शब्द ठीक हैं और इसका अर्थ भी यही है—यह सूत्रार्थका स्थिरीकरण है। आचार्योंके पास रहनेसे यह लाभ होता है तथा अतिशयित सूत्रार्थकी उपलब्धि होती है।

जो सूत्रका अर्थ प्रमाण नय निक्षेप निरुक्ति और अनुयोगके द्वारा किया गया हो उसे अतिशयित कहते हैं। आचार्य अर्थात् सूत्रके अर्थका व्याख्यान करने वाले व्याख्याताओंमें दर्शन अर्थात् मतभेद देखा जाता है। कोई व्याख्याता निक्षेप द्वारा ही सूत्रके अर्थका उपपादन करते हैं। अन्य व्याख्याता नैगम आदि विभिन्न नयोंके द्वारा सूत्रार्थका कथन करते हैं। कुछ अन्य सत् आदि अनुयोगोंका उपन्यास करके सूत्रार्थका कथन करते हैं। 'तु' शब्द पादपूर्तिके लिये अथवा अवधारणके लिये है। आचार्य दर्शनसे ही सूत्र और अर्थका स्थिरीकरण होता है और अतिशयित अर्थकी प्राप्ति

---

१ इयं गाथा क्षिप्ता मन्तव्या । २. वस्तुतया विह—आ० मु० । ३. यत्तेन आ० मु० ।

उवसद्धी' इति पठन्ति । तत्रायमर्थः—अतिशयभूतानां शास्त्राणां प्रत्यग्राणामरातीयैः सूरिभिः कृतानां चिरंतनानामेवाप्रत्याख्यातानां उपलब्धिर्भवति ।

प्रकारान्तरेण अतिशयार्थकुशलत्वमाख्यातुमीहते—

णिक्खवणपवेसादिसु आयरियाणं बहुप्पयाराणं ।
सामाचारी कुसलो य होदि गणसंपवेसेण ॥१५२॥

'**णिक्खवणपवेसादिसु**' इत्यनया गाथया । '**आयरियाणं**' आचार्याणां । '**बहुप्पयाराणं**' बहुविधानां । केचिदाचार्याः चरणक्रममवगच्छन्ति परैः सहाचरणात् । अपरे पुनः शास्त्रनिगदितमेव । अन्ये तदुभयज्ञा । इति बहुप्रकारता । एवं आचार्याणां अनेकप्रकाराणां **गणसंपवेसेण** गणप्रवेशेन निःक्रमणप्रवेशादिकासु क्रियासु । '**कुसलो य होदि**' कुशलश्च भवति । कः ? सामाचारी । ते यथा आचरन्ति तथा प्रवर्तमानः स्वावासदेशान्निर्गन्तुमिच्छता शीतलादुष्णाद्वा[1] देशाच्छरीरप्रमार्जनं कार्यं, तथा प्रविशतापि । किमर्थं ? शीतोष्णजन्तूनामाबाधापरिहारार्थं अथवा श्वेतरक्तकृष्णगुणासु भूमिषु अन्यस्या निःक्रमणे अन्यस्याश्च प्रवेशने प्रमार्जनं कटिप्रदेशादधः कार्यं । अन्यथा विरुद्धयोनिसंक्रमेण पृथिवीकायिकानां तद्भूमिभागोत्पन्नानां त्रसानां चाबाधा स्यात् । तथा जलं प्रविशता सचित्ताचित्तरजसोः पदादिषु लग्नयोर्निरासः । यावच्च पादौ शुष्यतस्तावन्न गच्छेज्जलान्तिक एव तिष्ठेत् । महतीनां नदीनां उत्तरणे आराद्भागे कृतसिद्धवन्दन यावत्परकूलप्राप्तिस्तावन्मया सर्वं

होती है, कोई 'अदिसयसत्थाण होइ उवसद्धी' ऐसा पढ़ते हैं । उसका यह अर्थ है—अतिशयभूत शास्त्रोंकी जो नवीन बने हैं अथवा प्राचीन आरातीय आचार्योंके द्वारा रचे गये हैं उनकी उपलब्धि होती है—उनको जानना देखना होता है ॥१५१॥

प्रकारान्तरसे अतिशय अर्थकुशलताका कथन करते हैं—

गा०—बहुत प्रकारके आचार्योंके गणमें प्रवेश करनेसे वसति और दाताके घरसे निकलने और प्रवेश करने आदिमें जो उनका सम्यक् आचरण है उसमें प्रवीण होता है ॥१५२॥

टी०—आचार्य बहुत प्रकारके होते हैं । कुछ आचार्य दूसरोंके साथ आचरण करनेसे आचरणका क्रम जानते हैं । दूसरे कोई आचार्य शास्त्रमें जो आचार कहा है उसे ही जानते हैं । अन्य कुछ आचार्य दोनोंको जानते हैं । इस प्रकार आचार्योंके बहुत प्रकार हैं । इस प्रकार अनेक प्रकारके आचार्योंके संघमें प्रवेश करनेसे निष्क्रमण प्रवेश आदिमें सामाचारी कुशल होता है । वे आचार्य जैसा आचरण करते हैं उसी प्रकार जो आचरण करता है उसे सामाचारी कहते हैं । अपने रहनेके स्थानसे यदि बाहर जाना चाहता है वह स्थान शीतल हो अथवा गर्म हो, शरीरका प्रमार्जन करके बाहर आना चाहिए । इसी प्रकार प्रवेश करते हुए भी प्रमार्जन करना चाहिए । यह प्रमार्जन पीछीसे शरीरकी सफाई शीतकाय और उष्णकायके जीवोंको बाधा न हो, इसलिए किया जाता है । अथवा सफेद, लाल या काले गुणवाली भूमियोंमें एकमेंसे निकलकर दूसरीमें प्रवेश करनेपर कमरसे नीचे प्रमार्जन करना चाहिए । अन्यथा विरुद्ध योनिके संक्रमसे पृथिवीकायिक जीवोंको और उस भूमिमें उत्पन्न हुए त्रसोंको बाधा होती है । तथा जलमें प्रवेश करते समय पैर आदिमें लगी सचित्त और अचित्त धूलीको दूर कर देना चाहिए । जब तक पैर न सूखे तबतक जलसे निकलकर जलके पास ही ठहरना चाहिए, वहाँसे जाना नहीं चाहिए । यदि बड़ी नदीको

---

१. द्वा सकलशरीर-अ० ।

शरीरभोजनमुपकरणं च परित्यक्तमिति गृहीतप्रत्याख्यानः समाहितचित्तो द्रोण्यादिकमारोहेत्, परकूले च कायोत्सर्गेण तिष्ठेत् । तदतिचारव्यपोहार्थं । एवमेव महतः कान्तारस्य प्रवेशनिःक्रमणयोः ।

तथा भिक्षानिमित्तं गृहं प्रवेष्टुकामः अवलोकयेत्किमत्र बलीवर्दा, महिष्यः, प्रसूता वा गावः, दुष्टा वा सारमेया, भिक्षाचराः श्रमणाः वा सन्ति न सन्तीति । सन्ति चेन्न प्रविशेत् । यदि न बिभ्यति ते यत्नेन प्रवेशं कुर्यात् । ते हि भीता यतिं बाधन्ते स्वयं वा पलायमानाः त्रसस्थावरपीडां कुर्युः । क्लिश्यन्ति, महति वा गर्तादौ पतिता मृतिमुपेयुः ।

गृहीतभिक्षाणां वा तेषां निर्गमनं गृहस्थैः प्रत्याख्यानं वा दृष्ट्वा श्रुत्वा वा प्रवेष्टव्यं । अन्यथा बहव आयाता इति दातुमशक्ताः कस्मैचिदपि न दद्युः । तथा च आहारान्तरायः कृतः स्यात् । क्रुद्धा परे भिक्षाचराः निर्भर्त्सनादिकं कुर्युरस्माभिराशया प्रविष्टं गृहं किमयं प्रविशतीति । अन्ये भिक्षाचरा यत्र स्थित्वा अन्वेषन्ते[1] भिक्षां, यत्र वा स्थितानां गृहिणः प्रयच्छन्ति तावन्मात्रमेव भूभागं यतिः प्रविशेन्न गृहाभ्यन्तरं । गृहिभिस्तिष्ठ प्रविशेत्यभिहितोऽपि नान्धकारं प्रविशेत् त्रसस्थावरपीडापरिहृतये । तद्द्वारकाद्युल्लङ्घने कुप्यन्ति च गृहिणः[2] । एलकं वत्सं वा नातिक्रम्य प्रविशेत् । भीताः पलायनं कुर्युरात्मानं वा पातयेयुः ।

द्वारमप्यायामविष्कम्भहीनं प्रविशतः गात्रपीडा इति संकुटितांगस्य विवृताधोभागस्य वा प्रवेशं दृष्ट्वा

पार करना हो तो इस ओर सिद्धोंकी वन्दना करे और जबतक मै नदीके पार न पहुचूं तबतकके लिए मेरे सब शरीर भोजन और उपकरणका त्याग है इस प्रकार प्रत्याख्यान ग्रहण करे और चित्तको समाहित करके नौका आदिमे चढ़े। तथा दूसरे तटपर पहुचकर कायोत्सर्ग करे। यह कायोत्सर्ग नदी पार करनेमें लगे दोषकी शुद्धिके लिए किया जाता है। इसी प्रकार किसी महान् वनमें प्रवेश करने और निकलनेपर करना चाहिए।

तथा भिक्षाके लिए घरमें प्रवेश करनेसे पूर्व देख ले कि यहाँ, साँड़, भैंस, ब्याई हुई गाय, अथवा दुष्ट कुत्ते और भिक्षाके लिए श्रमण हैं अथवा नही है। यदि हों तो घरमे प्रवेश न करें। यदि वे पशु साधुके प्रवेशसे न डरें तो सावधानतापूर्वक प्रवेश करे। वे पशु डरनेपर यतिको बाधा कर सकते हैं। अथवा स्वयं भागकर त्रस और स्थावर जीवोको पीड़ा पहुँचा सकते हैं। स्वयं कष्टमें पड़ सकते हैं। किसी बड़े गड्ढेमें गिरकर मर सकते हैं। अथवा भिक्षा लेकर निकलते हुए साधुओंको देखकर और गृहस्थोंके द्वारा उनका प्रत्याख्यान सुनकर घरमें प्रवेश करना चाहिए। अन्यथा 'बहुतसे साधु आ गये, हम इन्हे भिक्षा देनेमें असमर्थ हैं ऐसा सोच गृहस्थ किसीको भी भिक्षा नहीं देंगे। और तब आहारमें अन्तराय हो जायगा। अन्य भिक्षार्थी क्रुद्ध होकर तिरस्कार करेंगे कि जिस घरमें हम भिक्षा लेते हैं उसमें ये क्यों प्रविष्ट हुए। अन्य भिक्षा लेनेवाले जहाँ खड़े होकर भिक्षाकी प्रतीक्षा करते हैं अथवा जहाँपर खड़े हुए भिक्षार्थियोंको गृहस्थ भिक्षा देते हैं, वहीं तक साधुको जाना चाहिए। घरके भीतर प्रवेश नही करना चाहिए। गृहस्थोंके द्वारा 'पधारिये' घरमें प्रवेश कीजिए, ऐसा कहनेपर भी त्रस और स्थावरजीवोको पीड़ा न पहुँचे इसलिए अन्धकारमें प्रवेश नहीं करना चाहिए। उनके द्वार आदिको लाँघनेपर गृहस्थ क्रुद्ध हो सकते हैं। बछड़े आदिको लाँघकर नहीं जाना चाहिए, क्योंकि ऐसा करनेसे वे डरकर भाग सकते हैं अथवा साधुको गिरा सकते हैं। लम्बाई चौड़ाईसे रहित द्वारमें प्रवेश करते हुए अंगोंको

---

१. भोगान्तरायः—आ० मु०। २. अन्वेषन्ते—आ० मु०। ३. गृहिणः भीतः—आ०।

कुप्यन्ति हसन्ति वा । आत्मविराधना मिथ्यात्वाराधना च । द्वारपार्श्वस्थजन्तुपीडा स्वगात्रमर्दने च शिक्यावलम्बितभाजनानि वा अनिरूपितप्रवेशी अभिहंति । तस्मादूर्ध्वं तिर्यक्चावलोक्य प्रवेष्टव्यं ।

तदानीमेव लिप्तां, जलसेकार्द्रां, प्रकीर्णहरितकुसुमफलपत्राद्यादिभिर्निरन्तरां, सचित्तमृत्तिकावतीं, छिद्रबहुलां, विचरत्त्रसजीवां, गृहिणां भोजनार्थं कृतमण्डलपरिहारां, देवताध्युषितां निकटभूतनानाजनामंतिकस्थासनशयनामासीनशयितपुरुषां, मूत्रासृपुरीषादिभिरुपहतां भूमिं न प्रविशेत् ।

संयमविराधना आत्मविराधना मिथ्यात्वाराधनां च परिहर्तुं भुक्त्वा निर्गच्छन्नपि शनैरतीवानवनतो वन्दमानं प्रति दत्तयोग्याशीर्वादो निर्गच्छेत् । तथा भिक्षाकालं, बुभुक्षाकालं च ज्ञात्वा गृहीतावग्रहः, ग्रामनगरादिकं प्रविशेदीर्यासमितिसम्पन्नः । भोजनकालपरिमाणं ज्ञात्वा ग्रामादिभ्यो निःसरेत् । जिनायतनं, यतिनिवासं वा प्रविशन्प्रदक्षिणां कुर्यान्निसीधिकाशब्दप्रयोगं च । निर्गन्तुकाम आसीधिकेति । आदिशब्देन परिगृहीता स्थानभोजनशयनगमनादिक्रिया । तत्रापि यत्नो यतीनां । तं सकलं वेद्मि गुरुकुलवासी सूत्रार्थज्ञोऽहं, न मयाचारक्रमः सूत्रार्थो वान्यसकाशे ज्ञातव्य इत्यभिमानं न वहेत् ॥ १५२॥

शिक्षायामुद्योगपरो भवेदित्याह—

[2]कंठगदेहिं वि पाणेहिं साहुणा आगमो हु कादव्वो ।
सुत्तस्स य अत्थस्स य सामाचारी जध तहेव ॥१५३॥

संकुचित करनेपर शरीरमें पीड़ा होती है। नीचेके भागको फैलाकर प्रवेश करनेपर लंग देखकर कुपित होंगे या हँसेंगे। तथा आत्माकी विराधना और मिथ्यात्वकी आराधना होती है।

अपने शरीरका मर्दन करनेपर द्वारके पार्श्वभागमें स्थित जीवोंको पीड़ा होती है। बिना देखे घरमें प्रवेश करनेवाला साधु छीकेपर रखे बरतनोंसे टकराता है। अतः ऊपर और इधर-उधर देखकर घरमें प्रवेश करना चाहिए। जो भूमि तत्काल लीपी गई हो, जलके सिंचनसे गीली हो, हरे फूल, फल पत्र आदिसे सर्वत्र ढकी हो, सचित्त मिट्टीवाली हो, जिसमें बहुत छिद्र हों, जिसपर त्रसजीव विचरते हों, गृहस्थोंके भोजके लिए मण्डल आदि रचे गये हों, जहाँ देवताका निवास हो, पासमें बहुतसे आदमी बैठे हों, आसन शय्या पासमें हों, पुरुष सोये या बैठे हों, टट्टी पेशाब आदि पड़े हों, उस भूमिसे प्रवेश नहीं करना चाहिए। संयमकी विराधना, आत्माकी विराधना और मिथ्यात्वकी आराधनासे बचनेके लिए भोजन करके निकलते हुए भी धीरेसे अति नम्र हो, वन्दना करनेवालोंको आशीर्वाद देते हुए निकलना चाहिए। तथा भिक्षाका समय और अपनी भूखके समयको जानकर कोई नियम ग्रहण करके ईर्यासमितिपूर्वक ग्राम नगर आदिमें प्रवेश करना चाहिए। और भोजनके कालका परिमाण जानकर ग्रामादिसे निकलना चाहिए। जिन मन्दिरमें अथवा साधु निवासमें प्रवेश करते समय निसिधिका शब्दका प्रयोग करना चाहिए और प्रदक्षिणा करना चाहिए। निकलते समय 'आसीधिका' शब्दका प्रयोग करना चाहिए। आदि शब्दसे स्थान, भोजन, शयन, गमन आदि क्रियाका ग्रहण किया है। उनमें भी यतियोंको सावधानता बरतनी चाहिए। मैं सब जानता हूँ, गुरुकुलका वासी और सूत्रके अर्थका ज्ञाता हूं, मुझे दूसरेसे आचारक्रम और सूत्रार्थ नहीं जानना है' ऐसा अभिमान नहीं करना चाहिए ॥१५२॥

शिक्षामें उद्योग करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—

---

१. त भाजना-अ० । २. एषापि गाथा क्षिप्तैव-मूलारा० ।

'कण्ठगदेहिं पाणेहिं' इत्यादिना। कण्ठगतैः प्राणैः सह वर्तमानेनापि साधुना आगमशिक्षा कर्तव्यैव सूत्रस्यार्थस्य सामाचारस्य च ॥१५३॥

क्षेत्रपरिमार्गणां व्याचष्टे—

संजदजणस्स य जम्हि फासुविहारो य सुलभवुत्ती य।
तं खेत्तं विहरंतो णाहिदि सल्लेहणाजोग्गं ॥१५४॥

'संजदजण' इत्यादिना। असंयमान् हिंसादीन्ज्ञात्वा श्रद्धाय च तेभ्य उपरतो व्यावृत्तः सम्यग्यत' संयतः इत्युच्यते तस्य संयतजनस्य। 'जम्हि' यस्मिन्क्षेत्रे। 'फासुविहारो य' प्रासुक विहरण जीवबाधारहितं गमनं त्रसहरितबहुलत्वाद्प्रचुरोदककर्दमत्वाच्च क्षेत्रस्य। 'सुलभवुत्ती य' सुखेनाक्लेशेन लभ्यते वृत्तिराहारो यस्मिन्क्षेत्रे। 'तं खेत्तं' तत्क्षेत्रं। 'णाहिदि' ज्ञास्यत्यात्मन. परस्य वा। 'सल्लेहणाजोग्गं' सम्यक्कायकषायतनूकरणं सल्लेखना तस्या योग्यं। कः ? 'विहरंतो' देशान्तराणि भ्रमन् ॥१५४॥

न देशान्तरभ्रमणमात्रादनियतविहारी भवति किन्त्वेवंविध इत्याचष्टे—

वसधीसु य उवधीसु य गामे णयरे गणे य सण्णिजणे।
सव्वत्थ अपडिबद्धो समासदो अणियदविहारो ॥१५५॥

'वसधीसु य' इत्यादिना—'वसतिषु' उपकरणेषु। ग्रामे नगरे गणे श्रावकजने च। सर्वत्र अप्रतिबद्धः।

गा०—प्राणोंके कण्ठमें आ जानेपर भी साधुको आगमका अभ्यास अवश्य करना चाहिए। जैसे वह सूत्रका और अर्थका और समाचारीका अभ्यास करता है उसी प्रकार उसे आगमका अभ्यास करना चाहिए ॥१५३॥

टी०—कण्ठगत प्राणोंके होते हुए भी साधुको आगमकी शिक्षा करना ही चाहिए तथा सूत्र, अर्थ और सामाचारीकी भी शिक्षा करना चाहिए ॥१५३॥

विशेष०—आशाधर इस गाथाको प्रक्षिप्त बतलाते हैं।

क्षेत्र परिमार्गणाको कहते हैं—

गा०—जिस क्षेत्रमें संयमीजनका प्रासुक विहार और सुलभ आहार हो, वह क्षेत्र देशान्तरमें भ्रमण करनेवाला सल्लेखनाके योग्य जानता है ॥१५४॥

टी०—असंयमरूप हिंसा आदिको जानकर और श्रद्धान करके जो उनसे अलग होता है अर्थात् उनका त्याग करता है उस सम्यक् यतको संयत कहते हैं। संयमी मनुष्यका जिस क्षेत्रमें प्रासुक विहार अर्थात् जीव बाधारहित गमन होता है; क्योंकि क्षेत्रमें त्रस और हरितकायकी बहुलता और पानी कीचड़की अधिकता नहीं होनी चाहिए। तथा जहाँ वृत्ति अर्थात् आहार सुखपूर्वक विना क्लेशके प्राप्त होता है वह क्षेत्र देशान्तरमें विहार करनेवाला अनियत विहारी साधु सल्लेखनाके योग्य जानता है। सम्यक् रीतिसे शरीर और कषायके कृश करनेको सल्लेखना कहते हैं उसके योग्य वह क्षेत्र होता है ॥१५४॥

आगे कहते हैं कि केवल देशान्तरमें भ्रमण करनेसे अनियत विहारी नहीं होता किन्तु जो ऐसा होता है—

गा०—वसतियोंमें और उपकरणोंमें ग्राममें नगरमें संघमें और श्रावकजनमें सर्वत्र यह मेरा है इस प्रकारके संकल्पसे रहित साधु संक्षेपसे अनियत विहारी होता है ॥१५५॥

टी०—वसति, उपकरण, ग्राम, नगर, गण और श्रावकजनमें जो सर्वत्र अप्रतिबद्ध है, यह —

ममेदं वसत्यादिकं अहमस्य स्वामीति संकल्परहितः अनियतविहारी भवति इति संक्षेपतः प्रतिपत्तव्यः। विहारो गदो ॥१५५॥

अनियतवासादनन्तरं परिणामं प्रतिपादयितु उत्तरगाथा—

अणुपालिदो य दीहो परियाओ वायणा य मे दिण्णा।
णिप्पादिदा य सिस्सा सेयं खलु अप्पणो कादुं ॥१५६॥

'अणुपालिदो य' अनुपालितश्च सूत्रानुसारेण रक्षितः। 'दीहो' दीर्घः चिरकालप्रवृत्तिः। 'परियाओ' पर्यायः ज्ञानदर्शनचारित्रतपोरूपः। 'वायणा वि' वाचनापि। 'मे' मया। 'दिण्णा' दत्ता। 'णिप्पादिदा य सिस्सा' निष्पादिताश्च शिष्याः। 'सेयं' श्रेयः हितं। 'अप्पणो कादुं' आत्मनः कर्तुं 'जुत्तं' इति शेषः। एतदुक्तं भवति। ज्ञानदर्शनचारित्रेषु चिरकालं परिणतोऽस्मि। सूत्रानुसारेण परेभ्यश्च निरवद्यग्रन्थार्थदानं च कृतं। शिष्याश्च व्युत्पन्नाः संवृत्ताः। एवं स्वपरोपकारक्रियया गतः कालः। इतः प्रभृत्यात्मन एव हितं कर्तुं न्याय्यमिति चेतः प्रणिधानं इह परिणामशब्देनोच्यते। तथा चोक्तम्—

अप्पहियं कायव्वं जइ सक्कइ परहियं च कायव्वं।
अप्पहियपरहियादो अप्पहियं सुट्ठु कायव्वं ॥ [ ]

किण्णु अधालंदविधी भत्तपइण्णेंगिणी य परिहारो।
पादोवगमणजिणकप्पियं च विहरामि पडिवण्णो ॥१५७॥

'किं णु अधालंदविधि'। कोऽसावथालन्दविधिः? उच्यते—परिणाम सामर्थ्यं, गुरुविसर्जनं, प्रमाणं, स्थापना, आचारमार्गणा, अथालन्दमासकल्पश्च। गृहीतार्थाः कृतकरणाः, परीषहोपसर्गजये समर्थाः, अनि-

---

वसति आदि मेरी है और मैं इसका स्वामी हूं इस प्रकारके संकल्पसे रहित है उसे संक्षेपमें अनियत विहारी जानना। इस प्रकार अनियत विहार समाप्त हुआ ॥१५५॥

अनियत वासके अनन्तर परिणामका कथन करनेके लिए गाथा—

गा०—दीर्घकाल तक ज्ञान दर्शन चारित्र और तप रूप पर्यायका मैंने शास्त्रानुसार पालन किया। और मैंने वाचना भी दी और शिष्योंको तैयार किया। अब निश्चयसे अपना कल्याण करना उचित है ॥१५६॥

टीका—इसका अभिप्राय यह है कि ज्ञानदर्शन चारित्रमें मैं चिरकालतक रमा हूं। तथा दूसरोंको आगमके अनुसार निर्दोष ग्रन्थ और उसके अर्थका दान किया है। शिष्य भी व्युत्पन्न हो गये। इस प्रकार अपना और परका उपकार करनेमें काल बीता। आजसे अपना ही हित करना उचित है। इस प्रकारके मनोभावको यहाँ परिणाम शब्दसे कहा है। कहा भी है—'अपना हित करना चाहिए। यदि शक्ति हो तो परका हित भी करना चाहिए। किन्तु आत्महित और परहित में से आत्महित अच्छे प्रकार करना चाहिए ॥१५६॥

गा०—क्या अथालन्द विधि, भक्त प्रतिज्ञा, इंगिनीमरण, परिहार विशुद्धि चारित्र, पादोपगमन अथवा जिनकल्पको धारण करके मैं विहार करूँ ॥१५७॥

टी०—अथालन्दविधि क्या है, यह कहते हैं—परिणाम, सामर्थ्य, गुरुके द्वारा विसर्जन, प्रमाण, स्थापना, आचार मार्गणा और अथालन्दकमासकल्प यह क्रम है। जो मुनि शास्त्रज्ञ, करने

गूहितबलवीर्या, आत्मानं मनसा तुलयन्ति । किमथालन्दविधिरारभ्[1]णीयोऽथवा प्रायोपगमनविधिरिति । परिहारस्यासमर्था अथालन्दविधिमुपगन्तुकामास्त्रयः, पञ्च, सप्त, नव वा ज्ञानदर्शनसंपन्नास्तीव्रसंवेगमापन्नाः, स्थविरमूलनिवासिनः, अवधृतात्मसामर्थ्या विदितायुःस्थितयः स्थविरं विज्ञापयन्ति—भगवन् ! किमिच्छामो-ऽथालन्दकसंयमं प्रतिपत्तुमिति । तच्छ्रुत्वा स्थविरो वारयति धृत्या शरीरेण च दुर्बलान्परिणामातिशयविरहितांश्च कांश्चिदनुजानाति । समग्रगुणास्ते निसृष्टाः स्थविरेण प्रशस्तेऽवकाशे स्थिताः कृतलोचाः, गुरूणामालोचनां कृत्वा कृतव्रतारोपणा अचिरोद्गते आदित्ये कल्पस्थितमेकं गणस्यालोचनां श्रोतुं शुद्धिं चैव कर्तुं समुद्यतं स्थापयन्ति । स एव प्रमाणं गणस्य । आत्मन सहाया यावन्तो गणान्निर्गतास्तावन्त एव तत्स्थाने स्थापयितव्या गणे ।

आचारो निरूप्यते—अथालन्दसंयताना लिङ्गं औत्सर्गिकं, देहस्योपकारार्थं आहारं वसतिं च गृह्णन्ति, शेषं सकलं त्यजन्ति । तृणपीठकटफलकादिकं उपधिं च न गृह्णन्ति । प्राणिसंयमपरिपालनार्थं जिनप्रतिरूपतासंपादनार्थं च गृहीतप्रतिलेखना ग्रामान्तरगमने विहारभूमिगमने, भिक्षाचर्यायां, निषद्याया च अप्रतिलेखना एव व्युत्सृष्टशरीरसंस्काराः परीषहान्सहन्ते नो वा धृतिबलहीनाः । अस्ति च मनोबलं संयममाचरितुं इति मत्वा त्रयः पञ्च वा सह प्रवर्तन्ते । रोगेणाभिघातेन वा जाताया वेदनायाः प्रतिक्रियया वर्ज्या यदा तपसातिश्रान्तास्तदा

योग्य कार्यको कर चुकने वाले, परीषह और उपसर्गको जीतनेमें समर्थ तथा अपने बल और वीर्य-नहीं छिपानेवाले होते हैं, वे अपनी तुलना मनमें करते हैं कि क्या अथालन्दविधि प्रारम्भ करें या प्रायोपगमन विधि ? जो परिहार विशुद्धिको धारण करनेमें असमर्थ हैं और अथालन्दविधिको स्वीकार करना चाहते हैं ऐसे पाँच, सात या नौ मुनि, जो ज्ञान और दर्शनसे सम्पन्न है, तीव्र वैराग्यसे सम्पन्न हैं, आचार्यके पादमूलमें रहते हैं, जिन्होंने अपनी सामर्थ्यका निर्णय कर लिया है और जिन्हे अपनी आयुकी स्थिति ज्ञात है वे आचार्यसे निवेदन करते है—भगवन् ! हम अथालन्दक संयमको धारण करना चाहते हैं। यह सुनकर आचार्य जो धैर्य और शरीरसे दुर्बल हैं, जिनके परिणाम उन्नत नहीं हैं, उन्हे रोक देते है और कुछको अनुमति देते है। वे सम्पूर्ण गुणशाली गुरुके द्वारा छोड़ दिये जाने पर प्रशस्त स्थानमे लोच करते हैं। और गुरुके सन्मुख आलोचना करके व्रत धारण करते हैं। सूर्यका उदय होते ही कल्पस्थित मुनियोंमें से एकको जो गणकी आलोचना सुनते और दोषोंको शुद्धि करनेके लिए तत्पर होता है, स्थापित करते हैं। वही गणके लिए प्रमाण होता है अपने सहायक जितने मुनि गणसे निकले हैं, गणमें उनके स्थानमें उतने ही मुनि स्थापित करना चाहिए।

अब अथालन्दकोंके आचारका निरूपण करते हैं—अथालन्दक मुनियोके औत्सर्गिक लिंग (नग्नता) होता है। शरीरके उपकारके लिए आहार और वसति स्वीकार करते है। शेष सब छोड़ देते हैं। तृणोंका आसन, लकड़ीका तख्त आदि परिग्रह स्वीकार नहीं करते। प्राणि संयमको पालनेके लिए और जिनदेवका प्रतिरूप रखनेके लिए पीछी रखते हैं। अन्य ग्रामको जाने पर, विहार भूमिमे जाने पर, भिक्षाचर्यामें और बैठते समय प्रतिलेखना नहीं करते। शरीरका संस्कार नहीं करते, परीषहोंको सहते हैं और धैर्यबलसे हीन नहीं होते। संयमका आचरण करनेके लिए हममें मनोबल है ऐसा मानकर तीन या पाँच मुनि एक साथ रहते हैं। रोगसे या चोट आदिसे

---

१. रारब्धीयो—आ० मु०।

सहायहस्तावलम्बनं कुर्वन्ति । वाचनादिकां च न कुर्वन्ति याम'ष्टकेऽप्यनिद्रा एकचित्ता ध्याने यतन्ते । यदि बलादायाति निद्रा तदाकृतप्रतिज्ञाः स्वाध्यायकालप्रतिलेखनादिकाश्च क्रियास्तेषां न सन्ति । श्मशानमध्येऽपि तेषां ध्यानमप्रतिषिद्धं आवश्यकेषु च प्रयतन्ते । उपकरणप्रतिलेखनां कालद्वयेऽपि कुर्वन्ति । सस्वामिकेषु देवकुलादिषु तदनुज्ञया वसन्ति । अज्ञायमानस्वामिकेषु यस्येदं सोऽनुज्ञां करोतु इत्यभिधाय वसन्ति । सहसातिचारे जाते अशुभपरिणामे वा मिथ्या मे दुष्कृतमिति निवर्तंते । दशविधे समाचारे प्रवर्तन्ते । दानं, ग्रहण, अनुपाल'ना, विनयः, सह'भोजीनं च नास्ति संघेन तेषां । कारणमपेक्ष्य केषांचिदेक एव सल्लापः कार्यः । यत्र क्षेत्रे सधर्मा तत्क्षेत्रं न प्रविशन्ति । मौनावग्रहनिरताः पंथानं पृच्छन्ति, शंकितद्रव्यं वा द्रव्यं शय्याधरगृहं वा । एवं तिस्र एव भाषाः । ग्रामाद्बहिरागंतुकागारे कल्पस्थितेनानुज्ञाते वसन्ति । पशुपक्षिप्रभृतिभिर्यत्र ध्याने विघ्नो भवति ततः स्थानादपयांति । को भवान्, कुत आयात', क्व प्रस्थितः, कियत्कालं अत्र भवतो वसनं, कति यूयमिति पृष्टाः श्रमणोऽहमित्येवं प्रतिवचनमेकं प्रयच्छन्ति, इत'रत्र कृततूष्णीभावाः । अपसरात स्थानादवकाशं मे प्रयच्छ, परिपालय गृहं, इत्यादिको वाग्व्यापारो यत्रान्येषां भवति, तत्र न निवसन्ति । बहिरपि वसतः यदि भवति, ततोऽपयान्ति । स्वावासगृहे प्रज्वलिते न' चलन्ति चलन्ति वा गोचर्यायामप्राप्तायां-

---

उत्पन्न हुई वेदनाका प्रतीकार नहीं करते । जब तपसे अत्यन्त थक जाते हैं तब सहायके रूपमें एक दूसरेका सहारा लेते हैं । वाचना आदि नहीं करते । आठों पहर भी नहीं सोते और एकाग्र होकर ध्यानमें प्रयत्न करते हैं । यदि अचानक निद्रा आ जाती है तो सो लेते है, नहीं सोनेकी प्रतिज्ञा उनके नहीं होती । स्वाध्यायके समय उनके प्रतिलेखना आदि क्रिया नहीं होती । स्मशानके मध्यमें भी वे ध्यान कर सकते हैं उसका उनके लिए निषेध नही है । और आवश्यकोंमे प्रयत्नशील रहते हैं । उपकरणोंकी प्रतिलेखना दोनों समय करते हैं । जिन देवकुलादिके स्वामी होते हैं उनमें उनकी आज्ञा लेकर ही निवास करते हैं । जिन मन्दिरोंके स्वामीका पता नहीं होता उनमें 'जिनका यह है वह हमें स्वीकृति प्रदान करें' ऐसा कहकर निवास करते हैं । सहसा अतिचार लगने पर अथवा अशुभ परिणाम होने पर 'मेरा दुष्कृत मिथ्या हो' ऐसा कहकर निवृत्त हो जाते हैं । दस प्रकारके समाचारका पालन करते हैं । संघके साथ उनका देन, लेन, अनुपालना, विनय और सहभोजन या वार्तालाप नही होता । आवश्यकता होने पर किसीसे एक ही व्यक्तिको बात करना चाहिए । जिस क्षेत्रमें साधर्मी मुनि हों, उस क्षेत्रमें वे नही जाते । मौनका नियम पालन करते हैं किन्तु, मार्ग या शंका युक्त द्रव्य और वसतिकाके स्वामीका घर पूछ लेते है । इस प्रकार तीन ही उनकी भाषा होती हैं । गाँवसे बाहर आने वालोंके लिए जो मकान होता है उसमें कल्पस्थित मुनिकी अनुज्ञा मिलने पर ठहरते हैं । जिस स्थानमें पशु-पक्षी आदिके द्वारा ध्यानमें विघ्न होता हो वहाँसे चले जाते हैं । कोई पूछे कि आप कौन हैं, कहाँसे आये हैं, कहाँ जाते हैं, कितने समय तक आप यहाँ रहेंगे ? तो 'मैं श्रमण हूं' इस प्रकार एक ही उत्तर देते हैं, शेष प्रश्नोंके संबंधमें चुप रहते हैं । 'यहाँसे जाओ, मुझे स्थान दो, घरको देखना, इत्यादि वचन व्यवहार जहाँ अन्य लोग करते हैं वहाँ निवास नहीं करते । घरके बाहर भी ठहरने पर यदि कोई ऐसा व्यवहार करता है तो वहाँसे भी चले जाते हैं । जिस घरमें वे रहते हैं उसमें आग लगने पर वहाँसे नहीं जाते

---

१. यामाके अ० । यामाकष्टके—आ० । २. लनं—आ० मु० । ३. सहअल्पनं—आ० मु० । ४. इतरेत्र आ० । इतरे कृत—मु० । ५. न चलन्ति वा—अ० ।

तृतीयपौरुष्यां द्विगव्यूतमध्वानं गच्छन्ति । यदि गमनव्याघातो महावातेन वर्षादिना जात. समतीतगमनकाल एव तिष्ठन्ति । व्याघ्रादिका, व्यालमृगा[1] वा पतन्ति ततोऽपसर्पन्ति न वा पादे कण्टकालग्ने, चक्षुषि रजः-प्रवेशे वा, अपनयन्ति न वा । दृढधृतिकाः मिथ्यात्वचर्याराधनामात्मविराधनामवस्था दोषान्वा तस्मात्परिहरन्ति न वा । तृतीयपौरुष्यां भिक्षार्थमवतरन्ति । कृपणवनीपकपशुपक्षिगणे अपगते पञ्चमी पिण्डैषणा कुर्वन्ति मौनं च । एका, द्वे तिस्रश्चतस्रः पञ्च वा गोचर्यो यत्र क्षेत्रे तत्रालन्दिकयोग प्रवर्तयन्ति । यस्मात्पाणिपात्रभोजी मिथ्याराधनां न वर्जयति तस्माल्लेपमलेपं वा भुक्त्वा तत्प्रक्षालयन्ति । धर्मोपदेशं[2] कुरुत प्रव्रज्यामिच्छामि भगवतां पादमूले इत्युक्तास्तेऽपि न मनसापि वांछन्ति किं पुनर्वचसा कायेन । इतरे तत्सहाया धर्मोपदेशं कृत्वा मशिखं मुण्डितं वा गणाधिपतयेऽर्पयन्ति ।

क्षेत्रतः सप्ततिशतधर्मक्षेत्रेषु भवन्ति । कालत. सर्वदा । चारित्रत सामायिकच्छेदोपस्थापनयो. । तीर्थतः सर्वतीर्थकृतां तीर्थेषु । जन्मनः त्रिंशद्वर्षजीविताः[3] । श्रामण्येन एकोनविंशतिवर्षा । श्रुतेन नवदशपूर्वधराः । वेदतः पुमांसो नपुंसकाश्च । लेश्यात. पद्मशुक्ललेश्याः । ध्यानेन धर्मध्याना. । संस्थानत षड्विधेष्वन्यतरसंस्थानाः देशोनसप्तहस्तादि यावत्पञ्चधनुःशतो[4]च्छ्रयाः । कालतो भिन्नमुहूर्तादूनपूर्वकोटिकाल-

---

अथवा जाते हैं। गोचरी नही मिलने पर तीसरे पहरमें दो गव्यूति प्रमाण मार्ग चलते हैं। यदि प्रचण्ड वायु या वर्षा आदिसे गमनमें रुकावट आती है तो वहीं ठहर जाते है। व्याघ्र आदि अथवा सर्प मृग आदि आ जाते हैं तो वहाँसे हटते भी हैं और नहीं भी हटते। पैरमें काँटा लगने पर अथवा आँखमें धूल चली जाने पर उसे निकालते हैं, नहीं भी निकालते।

'दृढ़ धैर्यशाली वे मुनि मिथ्यात्वचर्याराधना और आत्मविराधना अवस्थाको अथवा दोषोको दूर करते हैं अथवा नहीं करते (?)। तीसरे पहर भिक्षाके लिए निकलते हैं। कृपण, याचक, पशु-पक्षी गणके चले जाने पर पाँचवीं पिण्डैषणा करते है और मौन रखते हैं। जिस क्षेत्रमें एक, दो, तीन, चार अथवा पाँच गोचरी होती है उस क्षेत्रमें आलन्दिक योग करते हैं। यतः पाणिपात्रमें भोजन करने वाला मिथ्या आराधनाको नही छोड़ता, इसलिए वह लेप अथवा अलेपको खाकर उसका प्रक्षालन करते हैं?'

कोई आकर कहे कि धर्मोपदेश करो, मैं आपके चरणोंमें दीक्षा लेना चाहता हूँ तो ऐसा कहने पर भी वे मनसे भी उसकी चाहना नहीं करते, तब वचन और कायका तो कहना ही क्या? अन्य मुनि जो उनके सहायक होते हैं वे उन्हे धर्मोपदेश देकर शिखा सहित अथवा मुण्डन कराकर आचार्यको सौंप देते हैं।

क्षेत्रकी अपेक्षा एक सौ सत्तर कर्मभूमि रूप धर्मक्षेत्रोंमें ये आलन्दक मुनि होते हैं। कालकी अपेक्षा सर्वदा होते हैं। चारित्रकी अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्रमें होते हैं। तीर्थकी अपेक्षा सब तीर्थङ्करोंके तीर्थमें होते हैं। जन्मसे तीस वर्षतक गृहस्थाश्रममें रहकर उन्नीस वर्ष तक मुनि धर्मका पालन करते हैं, श्रुतसे नौ या दस पूर्वके धारी होते हैं। वेदसे पुरुष अथवा नपुंसक होते हैं! लेश्यासे पद्म या शुक्ल लेश्यावाले होते हैं। ध्यानसे धर्मध्यानी होते हैं। संस्थानसे छह प्रकारके संस्थानोंमें से किसी एक संस्थान वाले होते हैं। कुछ कम सात हाथसे लेकर पाँचसौ

---

१. व्यालमृगाद्या यद्याप—आ० मु० । २. कुर्वतः तत्प्र—आ० । कुर्वन्त :तत्प्र० मु० । ३. जीविनः—आ० । ४. शतोत्सेधा—मु० ।

स्थितयः। विक्रिया चारणताक्षीरास्रवित्वादयश्च तेषां जायन्ते। विरागतया न सेवन्ते। गच्छविनिर्गतालन्दविधिरेष व्याख्यातः।

गच्छप्रतिबद्धालन्दकविधिरुच्यते—गच्छाद्विनिर्गच्छन्तो बहिः सक्रोशयोजने विहरन्ति। सपराक्रमो गणधरो ददाति क्षेत्राद् बहिर्गत्वार्थपदं। तेऽपि समर्था आगत्य शिक्षां गृह्णन्ति। एको द्वौ त्रयो वा परिज्ञानधारणा गुणसमग्रा गुरुसकाशमायान्ति। कृतप्रतिप्रश्नकार्याः स्वक्षेत्रे भिक्षाग्रहणं कुर्वन्ति। अपराक्रमस्तु गणधरो गच्छे सूत्रार्थपौरुषीं कृत्वा अग्रोद्यानं गत्वा यत्नेन ददात्यर्थपदं। अथवा स्वोपाश्रय एव गणधरो अन्यापसारणं कृत्वा एकस्मै उपदिशति। यदि गच्छोऽक्षेत्रान्तरं गणः अथालन्दिका अपि गुर्वनुज्ञया यान्ति क्षेत्रं। यदा गच्छनिवासिन क्षेत्रप्रतिलेखनार्थं प्रयन्तते तदा तत्र मार्गेण द्वौ अथालन्दिकौ यातौ। व्याख्यातोऽयमथालन्दविधिः।

परिहार उच्यते—जिनकल्पस्यासमर्थाः परिहारसंयमभरं वोढु समर्थाः आत्मनो बलं वीर्यमायुः प्रत्यवायांश्च ज्ञात्वा ततो जिनसकाशं उपगत्य कृतविनयाः प्राञ्जलयः पृच्छन्ति "परिहारसंयमं प्रतिपत्तुमिच्छामो युष्माकमाज्ञया" इति तच्छ्रुत्वा येषां ज्ञानमनुत्तरं उपजायते विघ्नो वा तान्निवारयति। निसृष्टास्तु यतीन्द्रेण संयतानां कृतनिःशल्या. प्रशस्तमवकाशमुपगताः, लोचं कृत्वा सुनिश्चिता गुरूणां कृतालोचना व्रतानि सुविशुद्धानि कुर्वन्ति। परिहारसंयमाभिमुखानां मध्ये एकं सूर्योदये स्थापयन्ति कल्पस्थितं गुरुत्वेन। स च

धनुष ऊँचे होते हैं। कालसे एक अन्तर्मुहूर्तसे लेकर कुछ कम पूर्वकोटिकी स्थितिवाले होते हैं अर्थात् अथालन्दक होनेके कालसे लेकर जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट आयु बीते वर्षोंसे हीन पूर्व कोटि प्रमाण होती है। उनको विक्रिया, चारण और क्षीरास्रवित्व आदि ऋद्धियाँ उत्पन्न होती हैं किन्तु रागका अभाव होनेसे उनका सेवन नहीं करते। यह गच्छसे निकले हुए आलन्दककी विधिका कथन है। अब गच्छसे प्रतिबद्ध आलन्दककी विधि कहते हैं—ये गच्छसे निकलकर बाहर एक योजन और एक कोस क्षेत्रमें विहार करते हैं। यदि आचार्य पराक्रमी होते हैं तो क्षेत्रसे बाहर जाकर उन्हें अर्थपद (शिक्षा) देते हैं। आलन्दकोंमें से भी जो समर्थ होते हैं वे आकर आचार्यसे शिक्षा ग्रहण करते हैं। परिज्ञान और धारणा गुणसे पूर्ण एक दो अथवा तीन अथालन्दक मुनि गुरुके पास आते हैं, और उनसे प्रश्नादि करके अपने क्षेत्रमें आकर भिक्षा ग्रहण करते हैं। (?) यदि आचार्य शक्तिहीन होते हैं तो गच्छमें सूत्रार्थपौरुषी (?) करके ... ... ।

आगेके उद्यानमें आकर सावधानतापूर्वक अर्थपद देते हैं। अथवा अपने उपाश्रयमें ही अन्य शिष्योंको दूर करके एकको ही अर्थपद देते हैं। यदि गण अन्य क्षेत्रको जाता है तो अथालन्दक मुनि भी गुरुकी आज्ञासे उस क्षेत्रको जाते हैं। जब गच्छ निवासी मुनि क्षेत्रकी प्रतिलेखना करते हैं तब उस मार्गसे दो अथालन्दक जाते हैं। यह अथालन्दकी विधि कही।

परिहारका कथन करते हैं—जो जिनकल्पको धारण करनेमें असमर्थ होते हैं और परिहार संयमके भारको वहन करनेमें समर्थ होते हैं वे अपना बल, वीर्य, आयु और विघ्नोंको जानकर जिन भगवान्‌के पास आकर हाथ जोड़ विनयपूर्वक पूछते हैं—हम आपकी आज्ञासे परिहार संयम धारण करना चाहते हैं। यह सुनकर जिनका ज्ञान उत्कृष्ट नहीं होता अथवा जिन्हे कोई बाधा होती हैं उनको रोक देते हैं। जिन्हें आज्ञा मिल जाती है वे मुनियोंके पास निःशल्य होकर प्रशस्त स्थानोंमें आकर केशलोच करते हैं। फिर गुरुओंके सन्मुख आलोचना करके अपने व्रतोंको अच्छी तरह विशुद्ध करते हैं। परिहार संयम धारण करनेवालोंमेंसे एक कल्पस्थितको सूर्यका उदय

प्रमाणं तस्य[1]। स आलोचनां श्रुत्वा शुद्धिं करोति। कल्पस्थितमाचार्यं मुक्त्वा शेषाणां[2]मर्द्धा अग्रे परिहार-संयमं गृह्णन्ति इति परिहारका भण्यन्ते। शेषास्तेषामनुपरिहारकाः। पश्चात्परिहारसंयमग्राहिणः अनुपरि-हारका भण्यन्ते। एवं कल्पस्थिते सति ये पश्चात्परिहारसंयमार्थमात्मानमुपसृतास्तानपि स्वगणे प्रक्षिपति गणी। यावद्भिरूनो गणः तावत्प्रमाणं गणं कृत्वा परिहारकाननुपरिहारिकांश्च व्यवस्थापयति। तेन परिहारसंयम निवि-समाप्ता अनुपरिहारकाश्च एको द्वौ बहवो वा भवन्ति। जदि तिण्णि, एगो गणी बिदिओ परिहारसंयमं पडि-वण्णो, तदिओ अणुपरिहारगो। जदि पंच एको कप्पट्ठिदो, दो परिहारसंजमं पडिवज्जंति। तेसिमणुपरिहारगा पत्तेयं। इतरे अविसत्त एगो कप्पट्ठिदो, तिण्णि परिहारगा, इदरे तिण्णि अणुपरिहारगा। जदि णव एगो कप्पट्ठिदो, चत्तारि परिहारिगा, चत्तारि अणुपरिहारिगा। छहिं मासेहिं परिहारीणिविट्ठाणी हवंति। ततो पच्छा अणुपरिहारी परिहारं पट्ठवेदि। तेसिं णिविट्ठपरिहारी हवंतेणुपरिहारगा[3] ते पुणो छहिं मासेहिं णिविट्ठाइं भवन्ति। तु कप्पट्ठिदो पच्छा परिहार[4]पवज्जदि। तस्सेगो अणुपरिहारी एगो कप्प-ट्ठिदो वि। असोविय छहिं मासेहिं णिविट्ठपरिहारगो अट्ठारसमासा ते एव होंति पमाणदो।

होनेपर गुरुके रूपसे स्थापित करते हैं। उस गणके लिए वह प्रमाण होता है। वह आलोचना सुनकर उनकी शुद्धि करता है। कल्पस्थित आचार्यको छोड़कर शेषमेंसे आधे पहले परिहार संयमको ग्रहण करते हैं इसलिए उन्हे परिहारक कहते हैं। शेष उनके अनुपरिहारक होते हैं। जो पीछे परिहारसंयम ग्रहण करते हैं वे अनुपरिहारक कहे जाते हैं। इस प्रकार कल्पस्थित होनेपर जो पीछे परिहार संयमके लिए अपनेको उपस्थित करते हैं उन्हें भी गणी अपने गणमें मिला लेता है। जितने साधु गणमें कम हुए हैं उतने प्रमाण गणको करके परिहारकों और अनुपरिहारकोंकी व्यवस्था गणी करता है। अतः परिहार संयममे प्रवेश करनेवाले अनुपरिहारक एक दो अथवा बहुत होते हैं। यदि तीन होते हैं तो उनमेंसे एक गणी, दूसरा परिहारसयमका धारी और तीसरा अनुपरिहारक होता है। यदि पाँच होते हैं तो उनमे एक कल्पस्थित गणी, दो परिहारसंयमके धारी और उन दोनोमें प्रत्येकका एक-एक अनुपरिहारक होता है। यदि सात होते हैं तो उनमें एक कल्पस्थित, तीन परिहारक और शेष तीन अनुपरिहारक होते हैं। यदि नौ हों तो एक कल्प-स्थित, चार परिहारक और चार अनुपरिहारक होते है। छह महीने तक परिहार संयमी परिहार-संयममें निविष्ट होता है। उसके पश्चात् अनुपरिहारक परिहारसंयममें प्रविष्ट होता है। उनके भी निविष्ट परिहारक होनेपर अन्य अनुपरिहारक परिहार संयममे प्रविष्ट होते हैं। वे भी छह मासमें निविष्ट परिहारक हो जाते है। पीछे कल्पस्थित परिहारमे प्रविष्ट होता है। उसका एक अनुपरिहारक और एक कल्पस्थित होता है। वह भी छह मासमें निविष्टपरिहारक होता है। इस प्रकार प्रमाणसे अठारह मास होते हैं।

विशेषार्थ—इसका खुलासा है कि परिहारविशुद्धि सयममें तीन मुनि धारण करनेवाले हों तो उनमेंसे एक कल्पस्थित होता है जो गणी कहाता है, दूसरा परिहारक होता है और तीसरा अनुपरिहारक है। संयममें प्रवेश करनेके छह मास बीतनेपर परिहारक निविष्ट हो जाता है तब अनुपरिहारक संयममे प्रवेश करता है। छह महीना बीतनेपर वह भी निविष्ट परिहारक हो जाता

---

१. तस्य गणस्य–आ० मु०। २. णा अग्रे–अ०। ३. रगते आ०।–रगे ते मु०।
४. पडिव–मु०।

लिङ्गादिकस्तेषामाचारो निरूप्यते—एकोपधिकं अचेलानं लिङ्गं परिहारसंयतानां। वसतिमाहारं च मुक्त्वा नान्यद् गृह्णन्ति तृणफलकपीठकटकादिकं। संयमार्थं प्रतिलेखनं गृह्णन्ति। त्यक्तदेहाश्च चतुर्विधानुपसर्गान्सहन्ते। दृढधृतयो निरन्तरं ध्यानावहितचित्ताः। अस्ति नो बलवीर्यं सर्वगुणसमग्रता च। एवंभूता अपि यदि गणे वसामो वीर्याचारो न प्रवर्तितः स्यादिति मत्वा त्रयः, पञ्च, सप्त, नव वा निर्यान्ति। रोगेण वेदनयोपहताश्च तत्प्रतिकारं[1] च न कुर्वन्ति। प्रायोग्यमाहारं मुक्त्वा, वाचनां प्रश्नं परिवर्तनां मुक्त्वा सूत्रार्थपौरुषीष्वपि सूत्रार्थमेवानुप्रेक्षन्ते। एवं यामाष्टकेऽपि निरस्तनिद्रा ध्यायन्ति। स्वाध्यायकालप्रतिलेखनादिकाश्च क्रिया न सन्ति तेषां। यस्माच्छ्मशानमध्येऽपि ध्यानं न प्रतिषिद्धं। आवश्यकानि यथाकालं कुर्वन्ति। कालद्वये कृतोपकरणशोधना अनुज्ञाप्य देवकुलादिषु वसन्ति। अनिर्ज्ञायमानस्वामिकेषु यस्येदं सोऽनुज्ञानं नः करोतु इति वसन्ति[2]। आसीधिकां च निषीधिकां च निष्क्रमणे प्रवेशे च संपादयन्ति। निर्देशकं मुक्त्वा इतरे दशविधे समाचारे वर्तन्ते। उपकरणादिदान, ग्रहणं, अनुपालन, विनयो, वन्दना सल्लापश्च न तेषामस्ति संघेन सह। गृहस्थैरन्यलिङ्गिभिश्च दीयमानं योग्यं गृह्णन्ति। तैरपि न शेषोऽस्ति संभोगः। तेषां त्रयाणां, पञ्चानां, सप्तानां, नवानां च परस्परेणास्ति संभोगः।

कप्पट्ठिदो गुरुप्पी गुं जणसंघाडदाणगहणे वि।
सवासवंदणालावणाहि गुं जन्ति अण्णोण्णं॥

है। तब कल्पस्थित परिहारसंयममें प्रवेश करता है। छह माह बीतनेपर वह भी परिहारमे निविष्ट होता है। इस प्रकार परिहारमें निविष्ट होनेमे तीन मुनियोंको अठारह मास लगते हैं। इसी तरह पाँच, सात और नौ का भी अठारह मास काल जानना। इनका कथन अन्यत्र नहीं मिला।

परिहारसंयतोंका लिंगादिक आचार कहते हैं—

वसति और आहारके सिवाय अन्य तृणासन, लकड़ीका आसन, चटाई आदि ग्रहण नहीं करते। संयमके लिए पीछी ग्रहण करते हैं। शरीरसे ममत्व छोड़कर चार प्रकारके उपसर्गोंको सहते हैं। दृढ़ धैर्यशाली तथा निरन्तर ध्यानमें चित्त लगाते हैं। 'हममें बलवीर्य और सब गुणोंकी पूर्णता है। ऐसे होते हुए भी यदि हम संघमें रहते हैं तो वीर्याचारका पालन नहीं होता।' ऐसा मानकर तीन, पाँच, सात अथवा नौ सयमी एक साथ निकलते हैं। रोग और वेदनासे पीड़ित होने पर उसका इलाज नही करते। वाचना, पूछना और परिवर्तनोंको छोड़कर सूत्रार्थ और पौरुषीमें सूत्रार्थका ही चिन्तन करते हैं। आठों पहर निद्रा त्यागकर ध्यान करते हैं। स्वाध्याय काल और प्रतिलेखना आदि क्रिया उनके नहीं होती; क्योंकि श्मशानमें भी उनके लिए ध्यानका निषेध नहीं है। यथासमय आवश्यक करते हैं। दोनों समय उपकरणोंका शोधन करते हैं। आज्ञा लेकर देवालय आदिमें रहते हैं। जिन देवालयों आदि स्थानोंके स्वामियोंका पता नहीं होता, 'जिसका यह है वह हमें स्वीकारता दे' ऐसा कहकर निवास करते हैं। निकलते और प्रवेश करते समय आसीधिका और निषीधिका क्रिया करते हैं। निर्देशकको छोड़कर शेष दस प्रकारके सामाचार करते हैं। उपकरण आदि देना, लेना, अनुपालन, विनय, वन्दना, वार्तालाप आदि व्यवहार उनका संघके साथ नहीं होता। गृहस्थ अथवा अन्य लिंगियोंके द्वारा दी हुई योग्य वस्तुको ग्रहण करते है। उनके साथ भी शेष सम्बन्ध नहीं होता। उनमेंसे तीन, पाँच, सात अथवा नौ संयतोंका परस्परमें व्यवहार होता है।

कल्पस्थित आचार्य और परिहारसंयमी परस्परमें संघाटदान संघाटग्रहण (सहायता देना

---

१. कारकं च न अ०—कारकं कथन—आ०। २. विशन्ति मु०।

संवासवंदणोवासवाए अणुपालणाहिं परिहारि ।
अणुपरिहारी भुंजदि णिवसणमो वंदणसंवासालावणाहिं ॥
कप्पट्ठिदं भुंजदि अणुपरिहारि पि महुणासंवासलावाहिं तु ।
णिक्खित्तसासो णिक्खित्तसायं संवासदो य अण्णेण ॥
कप्पट्ठिदो भुंजदि संवासणुपालणगिराहिं ।
कप्पट्ठिदाणुकप्पीव वंदिदा बेंति धम्मलाहोत्ति ॥
णारत्थि अण्णतित्थी अण्णतित्थीहिं णिविसंतो ।
[1]पससुणीको सव्वो वि विणयं अण्णोण्णं मणं कावंति ॥
वट्ठूण य सोहूण य जत्थ हु साधम्मिओ वसदि खेत्तो ।
त ण [2]पविसंति खेत्तं कुदो [3]पुणो वंदणादीणं ॥
एवं कल्पोक्तः क्रमः सर्वोऽनुगन्तव्यः ।

मौनाभिग्रहरतास्तिस्रो भाषा मुक्त्वा प्रष्टव्याहूतिमनुज्ञाकरणी प्रश्ने[4] प्रवृत्तां च मार्गस्य शंकितस्य वा योग्यायोग्यत्वेन शय्याधरगृहस्य, वसतिस्वामिनो वा प्रश्नः । ग्रामाद्बहिः श्मशानं, शून्यगृहं, देवकुलं, गुहा वा आगन्तुकगृहं, तरुकोटरं वा अनुज्ञापयन्त्येकवारं । कस्त्वं, कुतो वागच्छसि, गमिष्यसि वा कं देशं, कियच्चिरमत्र वसतिर्यूयं कतिजना इति प्रश्ने श्रमणोऽहमित्येकमेव प्रतिवचनं प्रयच्छन्ति । इतरत्र तूष्णीभावः । इतोऽवकाशादपसर्पणं कुरु, स्थानमिदं प्रयच्छ, परिपालय त्वमित्येवमादिको वाग्व्यापारो यत्र तत्र न वसन्ति । गोचर्या यद्यपर्याप्ता तृतीययामे गव्यूतिद्वयं यान्ति । वर्षमहावातादिभिर्यदि व्याघातो गमनस्य अतीतगमनकालास्तत्रैव तिष्ठन्ति । व्याघ्रादिव्यालागमने यदि ते भद्रा युगमात्रं अपसर्पन्ति । दुष्टाश्चेत्पदमात्रमपि न चलन्ति । नेत्रयो-

सहायता लेना), निवास, वन्दना, वार्तालाप आदि व्यवहार करते हैं । अनुपरिहार संयमी परिहारसंयमीके साथ संवास, वन्दना, दान, अनुपालना आदिसे व्यवहार करते हैं । कल्पस्थित भी अनुपरिहारसंयमीके साथ व्यवहार करता है । वन्दना करनेपर धर्मलाभ कहता है । एक दूसरेको देखकर सब परस्परमें विनय करते हैं । जहाँ अधार्मिकजन बसते है वहाँ वे प्रवेश नही करते । इस प्रकार सब कल्पोक्त क्रम जानना चाहिए ।[5]

ये तीन भाषाओंको छोड़ सदा मौनसे रहते हैं । वे तीन भाषाएँ है—पूछनेपर उत्तर देना, माँगना और स्वयं पूछना । मार्गमें शंका होनेपर मार्ग पूछना पड़ता है, ये उपकरणादि योग्य हैं या अयोग्य, यह पूछना होता है । शय्याधर, जो वसतिकासे सम्बद्ध होता है उसका घर पूछना होता है, वसतिका स्वामी कौन है यह पूछना होता है । गाँवसे बाहर स्मशान, शून्यघर, देवालय, गुफा, आनेवालोके लिए बना घर, अथवा वृक्षके खोलमें निवास करते समय 'हमे अनुज्ञा दें' ऐसा एकबार कहना होता है । 'तुम कौन हो, कहाँसे आते हो, कहाँ जाओगे, यहाँ कितने समय तक ठहरोगे, तुम कितने जन हो' इस प्रकारके प्रश्न होनेपर 'हम श्रमण है' यह एक ही उत्तर देते हैं । शेषमें चुप रहते हैं । 'इस स्थानसे चले जाओ, यह स्थान हमें दो, जरा घर देखना' इत्यादि वचन व्यवहार जहाँ होता है वहाँ नहीं ठहरते । गोचरी यदि नही मिलती तो तीसरे पहर दो गव्यूति जाते हैं । यदि वर्षा, आँधी आदिसे गमनमें बाधा होती है तो जहाँतक गमन किया है वही ठहर जाते हैं । व्याघ्र आदि पशुओंके आनेपर यदि वे भद्र होते हैं तो मुनि चार हाथ चलते हैं और

१. पससुणीको—आ० मु० । २. पसंसन्ति—आ० मु० । ३. कुदो हु णो—आ० मु० ।
४. प्रश्ने प्रवर्तते वा मा—आ० । ५. इन गाथाओंका यथार्थ भाव स्पष्ट नहीं हो सका है—अनुवादक ।

धूलिप्रवेशे सकण्टकादिविद्धे वा स्वयं न निराकुर्वन्ति । परे यदि निराकुर्युस्तूष्णीमवतिष्ठन्ते । तृतीययाम एव भिक्षार्थं गच्छन्ति । यत्र क्षेत्रे षड्गोचर्यो अपुनरुक्ता भवन्ति तत्क्षेत्रमावासयोग्यं शेषमयोग्यमिति वर्जयन्ति ।

क्षेत्रं, तीर्थं, कालश्चारित्रं, पर्यायं, श्रुतं, वेदः, लेश्या, ध्यानं, संहननं, संस्थानं, आयामो गात्रस्य, आयुः, लब्धयः, अतिशयज्ञानोत्पत्तिः, सिद्धिरित्येतेऽनियोगा इहानुगन्तव्याः । क्षेत्रतः भरतैरावतयोः, प्रथम-पाश्चात्ययोः तीर्थे, उत्सर्पिणी-अवसर्पिण्योः कालतः, छेदोपस्थापनाप्रभवाश्चारित्रतः, प्रथमतीर्थंकरकाले देशोन-पूर्वकोटीकायकालः । विंशतिवर्षाग्रः शतवर्षकालः पाश्चात्यतीर्थे । जन्मतस्त्रिंशद्वर्षाः पर्यायतः एकोनविंशति-वर्षाः । श्रुतेन च दशपूर्विणः, वेदेन पुरुषवेदाः, लेश्यातस्तेजःपद्मशुक्ललेश्याः, धर्मध्यानपरा ध्यानतः, आद्यत्रिक-संहननाः षट्स्वन्यतरसंस्थानाः । सप्तहस्तादिपञ्चधनुःशतायताः अष्टादशमासाः पूर्वकोटी वा आयुः । चारणताहारसिद्धिः, विक्रियाहारर्द्धिश्च लब्धयः । अवधिमनःपर्ययं केवलं वा योगसमाप्तौ प्राप्नुवन्ति । सिद्ध्यन्ति वा परेषां । संक्षेपतः परिहारविधिवर्णना ।

जिनकल्पो निरूप्यते—जितरागद्वेषमोहा, उपसर्गपरिषहारिवेगसहाः, जिना इव विहरन्ति इति जिन-कल्पिका एक एवेत्ययतिशयो जिनकल्पिकानां । इतरो लिङ्गादिराचारः प्रायेण व्यावर्णितरूप एव ।

क्षेत्रादिभिर्निरूप्यते—सर्वकर्मक्षेत्रेषु भवन्ति जिनकल्पिकाः । कालः सर्वदा । सामायिकच्छेदोपस्थापने वा

यदि दुष्ट हुए तो एक पग भी नहीं चलते । नेत्रोंमें धूल चले जानेपर या काँटा आदि लग जानेपर स्वयं नहीं निकालते । यदि दूसरे निकालते हैं तो चुप रहते हैं । नियमसे तीसरे पहरमें ही भिक्षाके लिए जाते है । जिस क्षेत्रमें छह भिक्षाएँ अपुनरुक्त होती हैं अर्थात् भिन्न-भिन्न घरोसे मिल जाती हैं वह क्षेत्र निवासके योग्य होता है, शेष अयोग्य होता है उसे छोड़ देते हैं ।

क्षेत्र, तीर्थ, काल, चारित्र, पर्याय, श्रुत, वेद, लेश्या, ध्यान, सहनन, संस्थान, शरीरकी लम्बाई, आयु, लब्धि, अतिशय ज्ञानोत्पत्ति, सिद्धि ये अनुयोग यहाँ जानना चाहिए । क्षेत्रकी अपेक्षा भरत और ऐरावत क्षेत्रमें, प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरके तीर्थमें, कालकी अपेक्षा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालमें, चारित्रकी अपेक्षा छेदोपस्थापना चारित्रसे उत्पन्न होते हैं । प्रथम तीर्थं-करके कालमें उनकी आयु कुछ कम एक पूर्वकोटि और अन्तिम तीर्थंकरके कालमे एक सौ बीस वर्ष होती है । जन्मसे तीस वर्षतक भाग भोगते है और मुनिपर्याय उन्नीस वर्ष होती है । श्रुतसे दस पूर्वके पाठी होते हैं । वेदसे पुरुषवेदी होते है । लेश्यासे तेज, पद्म और शुक्ल लेश्यावाले होते है । ध्यानसे धर्मध्यानी होते हैं । आदिके तीन संहननवाले होते हैं और छह सस्थानोंमेसे कोई एक संस्थान होता है । सात हाथसे लेकर पाँच सौ धनुष लम्बे होते हैं । परिहारसंयमके कालसे जघन्य आयु अठारह मास और उत्कृष्ट आयु परिहारसंयम होनेसे पूर्वके वर्षोंसे हीन एक पूर्वकोटी होती है । चारण ऋद्धि, विक्रिया ऋद्धि और आहार ऋद्धियाँ होती हैं ।

परिहारविशुद्धिरूप योगके पूर्ण होनेपर अवधिज्ञान, मनःपर्यय वा केवलज्ञानको प्राप्त होते हैं । मोक्ष भी प्राप्त करते हैं । यह सक्षेपसे परिहारविशुद्धिका वर्णन है ।

अब जिनकल्पको कहते हैं—रागद्वेष मोहको जीतते है, उपसर्ग और परीषहरूपी शत्रुओंके वेगको सहते हैं । जिनके समान एकाकी ही विहार करते है इसलिए जिनकल्पिक होते हैं । यही जिनकल्पिकोंकी विशेषता है । शेष लिंगादि आचार प्रायः उक्त प्रकार ही है ।

क्षेत्र आदिकी अपेक्षा कथन करते हैं—जिनकल्पी समस्त कर्मभूमियोंमें होते है । सर्वदा

चारित्रतः । सर्वतीर्थेषु तीर्थतः । जन्मना त्रिंशद्वर्षाः । श्रामण्यतः एकान्नविंशतिवर्षाः । नवदशपूर्वधारिणः । तेजःपद्मशुक्ललेश्याः । धर्मशुक्लध्यानाः । प्रथमसंहननाः, षट्स्वन्यतरसंस्थानाः । सप्तहस्तादिपञ्चधनुःशतायामाः । भिन्नमुहूर्तादिन्यूना पूर्वकोटिः कालः । विक्रियाहारकचारणताक्षीरास्रावित्वादिकाश्च तपसा लब्धयो जायन्ते । विरागास्तु न सेवन्ते । अवधिमनःपर्ययं केवलं वा प्राप्नुवन्ति केचित् । ये केवलिनस्ते नियमतः सिध्यन्ति ॥१५७॥

एवमथालन्दादिक प्रतिपद्य चारित्रविधि मयोत्साहः कर्तव्यः इति विचारयति—

एवं विचारयित्ता सदिमाहप्पे य आउगे असदि ।
अणिगूहिदबलविरिओ कुणदि मदिं भत्तवोमरणे ॥१५८॥

'**एवं विचारयित्ता**' एवमुक्तेन प्रकारेण । '**विचारयित्ता**' विचार्य । '**सदिमाहप्पे य**' स्मृतिमाहात्म्ये च सति । '**आउगे असदि**' आयुष्यसति दीर्घे । '**अणिगूहिदबलविरिओ**' असंवृतबलसहाय वीर्यं आहारव्यायामाभ्यां कृतं बलं । '**कुणइ**' करोति । '**मइ**' मतिं । '**भत्तवोसरणे**' भज्यते सेव्यते इति भक्तं आहारः । तस्य त्यागं आहारेण समयसाधनेन शरीरस्थितिं चिरं कृत्वा स्वपरोपकारः कृत । आयुष्यल्पे न शरीरमवस्थातुमलमाहारग्रहणेऽपि । तेन त्याज्यो मयाहारः इति भावोऽस्य । अत एव सूत्रकारेणैवमुक्तं '**दीहो परियाओ**' इति । अवशिष्टकालाल्पतास्थापनाय न केवलमायुषोऽल्पता एव भक्तत्यागमतेः कारणं, अपि तु अन्यदपीति ॥१५८॥

होते हैं । सामायिक अथवा छेदोपस्थापना चारित्रवाले है । सब तीर्थङ्करोके तीर्थमें होते हैं । जन्मसे तीस वर्ष और मुनिपदसे उन्नीस वर्षके होते हैं । नव-दस पूर्वके धारी होते हैं । तेज, पद्म और शुक्ल लेश्यावाले होते है । धर्मध्यानी और शुक्लध्यानी होते है । प्रथम संहनन होता है और छह संस्थानोंमेसे कोई एक सस्थान होता है । सात हाथसे लेकर पाँच सौ धनुष तक लम्बे होते हैं । अन्तमुहूर्त आदिसे न्यून एक पूर्वकोटिकाल होता है । तपसे विक्रिया, आहारक, चारण और क्षीरास्रवित्व आदि लब्धियाँ उत्पन्न होती हैं किन्तु विरागी होनेसे उनका सेवन नहीं करते । कोई-कोई अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानको प्राप्त करते हैं । जो केवलज्ञानी होते हैं वे नियमसे मोक्ष जाते हैं ॥१५७॥

इस प्रकार अथालंदिक आदि चारित्रकी विधिको धारण करके मुझे उत्साह करना चाहिए, ऐसा विचार करते हैं—

गा०—उक्त प्रकारसे विचार करके स्मृतिका माहात्म्य होनेपर और आयुके अल्प होने पर अपने बल और वीर्यको न छिपाता हुआ मुनि भक्त प्रत्याख्यानमें मति करता है ॥१५८॥

टी०—उक्त प्रकारसे विचार करके स्मृतिका माहात्म्य होने पर आयुके लम्बा न होने पर बल और वीर्यको न छिपाता हुआ भक्त प्रत्याख्यानमें मति करता है । आहार और व्यायामसे जो शारीरिक शक्ति होती है उसे बल कहते हैं । और बलका सहायक वीर्य होता है । 'भज्यते' अर्थात् जो सेवन किया जाता है उसे भक्त कहते है उसका अर्थ आहार है उसका त्याग भक्त प्रत्याख्यान है । आहारके द्वारा शरीरकी स्थितिको लम्बी करके अपना और परका उपकार किया । आयुके थोड़ा रह जाने पर आहार ग्रहण करने पर भी शरीर नहीं ठहरता । अतः मैं आहारका त्याग करता हूँ यह इसका भाव है । इसीसे ग्रन्थकारने शेष बचे कालकी अल्पता बतलानेके लिए 'दीहो परियाओ'

पुव्वुत्ताणण्णदरे सल्लेहणकारणे समुप्पण्णे ।
तह चेव करिज्ज मदिं भत्तपइण्णाए णिच्छयदो ॥१५९॥

'**पुव्वुत्ताणण्णदरे**' पूर्वमुक्तानां '**वाहीव दुप्पसज्झा**' इत्यादीनां मध्ये अन्यतरस्मिन् । '**सल्लेहणकारणे**' सम्यक् कायकषायतनूकरणं सल्लेखना तस्याः कारणे वा । '**समुप्पण्णे**' समुपस्थिते । '**तह चेव**' तथैव च । यथाल्प आयुषि करोति भक्तत्यागे मतिं तथैव '**णिच्छयदो भत्तपइण्णाए मदिं करेज्ज**' निश्चयतो भक्तप्रत्याख्याने मतिं कुर्यात् । एतद्गाथाद्वयं सूत्रकारवचनम् ॥१५९॥

आराधकस्य मनःप्रणिधानं प्रदर्शयति—

जाव य सुदी ण णस्सदि जाव य जोगा ण मे पराहीणा ।
जाव य सड्ढा जायदि इंदियजोगा अपरिहीणा ॥१६०॥

'**जाव य सुई ण णस्सदि**' यावत्स्मृतिर्न नश्यति । रत्नत्रयाराधनगोचरा अनुभूतविषयग्राहिणी तदित्थंभूतमिति प्रवर्तमाना स्मृतिरित्युच्यते मतिविज्ञानविकल्पः । वस्तुयाथात्म्यश्रद्धानं दर्शनं, तद्याथात्म्यावगमो ज्ञानं, समता चारित्रमिति । श्रुतेनावगते परिणामत्रये यदुपजायते स्मार्तं ज्ञानं तदिह स्मृतिरित्युच्यते । स्मृतिमूलो व्यवहारः, स्मृतौ नष्टायां न स्यादिति, स्मृतिसद्भावकाल एव प्रारम्या मया सल्लेखनेति चिन्त्यम् । '**जाव य**'

कहा है । भक्त त्यागकी मति होनेका कारण केवल आयुका कम रह जाना ही नहीं हैं किन्तु अन्य भी कारण हैं ॥१५८॥

विशेषार्थ—स्मृति माहात्म्यसे आशय है—जिनागमके रहस्यका उपदेश सुननेसे जो उसका संस्कार रहा, उसके प्रभावसे 'मैं मरते समय अवश्य विधिपूर्वक सल्लेखना करूँगा' ऐसा जो विचार किया था, उसका स्मरण भी भक्त प्रत्याख्यानका कारण होता है ।

गा०—पहले कहे गये कारणोंमे से किसी एक सल्लेखनाके कारणके उपस्थित होने पर उसी प्रकार निश्चयसे भक्त प्रत्याख्यानमें मति करे ॥१५९॥

टी०—पहले सल्लेखनाके जो कारण 'असाध्य बीमारी' आदि कहे हैं उनमेसे किसी एक कारणके उपस्थित होने पर भी वैसे ही भक्त प्रत्याख्यानका विचार करना चाहिए जैसा आयुके अल्प रहने पर किया है ॥१५९॥

आराधकके मनकी दृढता बतलाते हैं—

गा०—जब तक स्मृति नष्ट नहीं होती, जब तक मेरे आतापन आदि योग पराधीन नहीं होते, जब तक श्रद्धा रहती है, इन्द्रियोंका अपने विषयोंसे सम्बन्ध हीन नहीं होता ॥१६०॥

टी०—पहले अनुभवमे आये विषयको ग्रहण करने वाली और 'वह वस्तु' इस प्रकार प्रवृत्ति वाली स्मृति होती है । यह मतिज्ञानका विकल्प है । यहाँ रत्नत्रयकी आराधना विषयक स्मृति ग्रहण की है । वस्तुके यथार्थ स्वरूपके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं और उसके यथार्थ स्वरूपके जाननेको ज्ञान कहते हैं । तथा समताको चारित्र कहते है । श्रुतके द्वारा जाने गये रत्नत्रय रूप परिणाममें जो स्मृतिज्ञान होता है उसे यहाँ स्मृति कहा है । व्यवहारका मूल स्मृति है । स्मृतिके नष्ट होने पर व्यवहार नहीं होता । अतः स्मृतिके रहते हुए कालमे ही मुझे सल्लेखना प्रारम्भ

यावच्च । 'जोगा' योगाः आतापनादयः । 'ण मे परायत्ता' न मे परायत्ताः शक्तिवैकल्यात् । विचित्रेण तपसा निर्जरां विपुलां कर्तुकामस्य मम तपोऽतिचारे सा न भवतीति यावन्निरतिचारं इदं तपस्तावत्सल्लेखनां करोमीति कार्या चिन्ता । 'जाव य सद्धा जायदि' यावच्छ्रद्धा जायते रत्नत्रयमाराधयितुं । 'तावखमं मे कादुमिदि' वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः । उपशमकालकरणलब्धयो हि दुर्लभाः प्राणिनां सुहृदो विद्वान्स इव । मूलं ताः श्रद्धायाः, न च विनष्टा सा पुनर्लभ्यते , न च तामन्तरेणातिशयवतामाहारत्यागः सुखेन संपाद्यते । 'इंदियजोगा' इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां रूपादिभिर्विषयैः सम्बद्धा 'अपरिहीणा' हीना न भवन्ति । दृक्श्रोत्रेन्द्रियाणामपाटवे दर्शनश्रवणाभ्यां परिहार्योऽसंयम. कथ परिह्रियते । दृष्ट्वा श्रुत्वा स इदमयोग्यमिति वेत्ति नान्यथा ॥१६०॥

जाव य खेमसुभिक्खं आयरिया जाव णिज्जवणजोग्गा ।
अत्थि ति गारवरहिदा णाणचरणदंसणविसुद्धा ॥१६१॥

'जाव य खेमसुभिक्खं' यावच्च क्षेमसुभिक्षं, स्वचक्रोपद्रवस्य व्याधेर्मार्याश्चाभावः क्षेम इत्युच्यते । प्रचुरधान्यता सुभिक्षत्वम् । एतदुभयमन्तरेण दुर्लभा निर्यापकाः, तानन्तरेण चतुष्काराधना । 'आयरिया जाव' आचार्या यावत् 'अत्थि' सन्ति । कीदृग्भूता 'णिज्जवणजोग्गा' निर्यापकत्वयोग्या. । 'तिगारवरहिदा' गारवत्रयरहिता ऋद्धिरससातगुरुका ये न भवन्ति । ऋद्धिप्रियो ह्यसयतमपि जनं निर्यापकत्वेन स्थापयति । स्वयं च नासंयमभीरुर्भवति । असयमकारणं अनुमनन च न परिहरतीति । रसासातगुरुको क्लेशासहो आराध-

---

करनी चाहिए ऐसा विचार करे। जब तक मेरे आतापन आदि योग शक्तिकी कमीसे पराधीन नहीं होते। मैं अनेक प्रकारके तपसे बहुत निर्जरा करना चाहता हूँ किन्तु तपमें दोष लगने पर बहुत निर्जरा नहीं हो सकती। इसलिए जब तक तप निरतिचार है तब तक सल्लेखना कर लेना चाहिए, ऐसी चिन्ता करना उचित है। जब तक श्रद्धा रत्नत्रयकी आराधना करनेकी है 'तब तक मैं करनेमें समर्थ हूँ' ऐसा आगे कहेंगे, उसके साथ सम्बन्ध लगाना चाहिए। जैसे विद्वान् मित्र दुर्लभ हैं वैसे ही प्राणियोंको उपशमलब्धि, काललब्धि और करणलब्धि दुर्लभ हैं। वे लब्धियाँ श्रद्धाका मूल हैं। एक बार उस श्रद्धाके नष्ट हो जाने पर उसका पुनः प्राप्त होना दुर्लभ है। श्रद्धाके बिना अतिशय शालियोंका भी आहारत्याग सुखपूर्वक सम्पन्न नही होता। चक्षु आदि इन्द्रियोका रूपादि विषयोंके साथ सम्बन्धको इन्द्रिययोग कहते हैं। वे जब तक हीन नही होते, चक्षु और कर्ण इन्द्रियके अपने विषयको ग्रहण करनेमें असमर्थ होने पर देखने और सुननेसे दूर होने वाला असंयम कैसे दूर किया जा सकता है। देख और सुनकर 'यह अयोग्य है' ऐसा ज्ञान होना है, अन्यथा नही होता ॥१६०॥

गा०—जब तक क्षेम और सुभिक्ष है, जब तक आचार्य निर्यापकत्वके योग्य तीन गारवोंसे रहित निर्मल ज्ञान चारित्र और दर्शनवाले हैं ॥१६१॥

टी०—जब तक क्षेम और सुभिक्ष है। अपने देश और परदेशकी सेनाके उपद्रव और मारी रोगके अभावको क्षेम कहते हैं। और धान्यकी बहुतायतको सुभिक्ष कहते हैं। इन दोनोंके बिना निर्यापकोंका मिलना दुर्लभ है और उनके बिना चार प्रकारकी आराधना दुर्लभ है। तथा आचार्य निर्यापकत्वके योग्य जब तक हैं तथा ऋद्धिगारव, रसगारव और सातगारवसे जो रहित होते हैं। जो आचार्य ऋद्धिप्रिय होता है वह असंयमी जनको भी निर्यापक बना देता है। और स्वयं भी असंयमसे नहीं डरता। तथा ऐसी अनुमति, जो असयमभे कारण होती है, देनेका त्याग नहीं

कस्य शरीरपरिकर्म कथं कुरुतः ? किं च स्वयं सरागो वैराग्यं परस्य संपादयत्येवेति न नियोगोऽस्ति। 'णाणचरणदंसणविसुद्धा' ज्ञानचारित्रदर्शनेषु विशुद्धाः निर्मलाः। जीवादियाथात्म्यगोचरता ज्ञानस्य शुद्धिः। दर्शनस्यापि समीचीनज्ञानसहभाविता, अरक्तद्विष्टता च चारित्रशुद्धिः। शुद्धज्ञानचरणदर्शनशुद्धा चारित्रशुद्धा भण्यन्ते। यथा प्रकृष्टशुक्लगुणयोगाच्छुक्लतम इत्युच्यते पटादि ॥१६१॥

ताव खमं मे कादुं सरीरणिक्खेवणं विदुपसत्थं।
समयपडायाहरणं भत्तपइण्णं णियमजण्णं ॥१६२॥

'ताव खमं मे कादुं' तावद्युक्तं कर्तुं मम। किं ? 'सरीरणिक्खेवणं' शरीरनिक्षेपणं शरीरत्यजनं। 'विदुपसत्थं' विद्वज्जनस्तुतं आत्महितत्वात्। 'समयपडायाहरणं' समयः सिद्धान्तः, तस्मिन् कीर्तिता पताका आराधना पताकेव पताका उपमार्थः। यथा पताका वस्त्रादिरचिता जयादिकं प्रकटयति। एवमियं आराधनापि भवनिर्मुक्तिं प्रकटयति। तस्या हरण ग्रहण। 'भत्तपइण्णं' भक्तप्रत्याख्यानं 'णियमजण्णं' व्रतयज्ञं। ननु शरीरत्यागोऽन्यः, अन्या ज्ञान-श्रद्धान-तपःसु परिणतिरन्यद् भक्तत्यजनं, अन्यानि च व्रतानि तत्कथं समानाधिकरणनिर्देशः ? अत्रोच्यते-प्रत्येकमभिसम्बन्धः कार्यः। 'ताव खमं मे कादुं' इत्यनेन शरीरनिक्खेवणं इत्यादीनां। ततोऽयमर्थः—शरीरत्यजनं, सम्यग्दर्शनादिपरिणमन, भक्तप्रत्याख्यानं, व्रतयज्ञश्च तावत्कर्तुं मम युक्तमिति ॥१६२॥

करता। जो आचार्य रसप्रेमी और सुख प्रेमी हैं वे सल्लेखना करनेवाले आराधकके शरीरकी सेवा कैसे करेंगे ? दूसरे, जो स्वयं सरागी है वह दूसरेको वैराग्य उत्पन्न कराता हो ऐसा कोई नियम नहीं है। तथा आचार्य ज्ञान, दर्शन और चारित्रमें विशुद्ध होना चाहिए। जीवादिके यथार्थ स्वरूपको जानना ज्ञानकी शुद्धि है। समीचीन ज्ञानका सहभावी होना दर्शनकी शुद्धि है। और राग-द्वेषका न होना चारित्रकी शुद्धि है। जिनका ज्ञान दर्शन चारित्र शुद्ध होता हैं वे शुद्ध ज्ञान दर्शन चारित्र वाले कहे जाते हैं। जैसे उत्कृष्ट शुक्ल गुणके सम्बन्धसे वस्त्र आदि 'शुक्लतम'—अत्यन्त सफेद कहे जाते हैं ॥१६१॥

गा०—तब तक मुझे शरीरका त्याग, विद्वानोंसे स्तुत, आगममें कही गई आराधना रूपी पताकाका ग्रहण, व्रत यज्ञ तथा भक्त प्रत्याख्यान करना युक्त है ॥१६२॥

टी०—भक्त प्रत्याख्यान तब तक मुझे करना उचित है, यह पूर्व गाथाओसे सम्बद्ध है। यह भक्त प्रत्याख्यान शरीरके त्यागरूप है क्योंकि शरीरको त्यागनेके लिए ही किया जाता हैं। विद्वानोंसे प्रशंसनीय है क्योंकि आत्माके हित रूप है। तथा समय अर्थात् सिद्धान्तमे आराधनाको पताका कहा है। जैसे वस्त्रादिसे बनी पताका जयको प्रकट करती है वैसे ही यह आराधना भी संसारसे निर्मुक्तिको प्रकट करती है। भक्त प्रत्याख्यान उस पताको ग्रहण करने रूप है।

शंका—शरीरका त्याग अन्य है, ज्ञान श्रद्धान और तप करना अन्य है, भोजनका त्याग अन्य है और व्रत अन्य हैं। ये सब भिन्न हैं तब कैसे इनका समानाधिकरण रूपसे निर्देश किया है ?

समाधान—'तब तक मुझे करना युक्त है। इसके साथ शरीर त्याग आदि प्रत्येकका सम्बन्ध करना चाहिए। तब ऐसा अर्थ होता है—शरीरका त्याग, सम्यग्दर्शन आदि रूप परिणमन, भक्त प्रत्याख्यान और व्रतयज्ञ मुझे तब तक करना युक्त है ॥१६२॥

व्यावर्णितस्य परिणामस्य गुणमाहात्म्यकथनायोत्तरगाथा—

एवं सदिपरिणामो जस्स दढो होदि णिच्छिदमदिस्स ।
तिव्वाए वेदणाए वोच्छिज्जदि जीविदासा से ॥१६३॥

एवं सदिपरिणामो व्यावर्णितस्मृतिपरिणामो य [1] स्मार्तज्ञानमेव परिणाम. । **'जस्स दढो होज्ज'** [2]यस्य दृढो भवेत् । **'णिच्छिदमदिस्स'** निश्चितमतेः । करिष्याम्येव शरीरनिक्षेपण इति कृतनिश्चयस्य । **'जीविदासा वोच्छिज्जइ'** जीविते आशा व्युच्छिद्यते । **'तिव्वाए वेदणाए'** तीव्रायामपि वेदनायामुदीर्णायां । एतत्प्रतीकारं कृत्वा जीवामीति चिन्ता न भवति । **'से'** तस्येति जीविताशाव्युच्छेदो गुणः सूचित. । परिणामं गद ॥१६३॥

'उवधि जहणा' इति पदं व्याचष्टे प्रबन्धेन—

संजमसाधणमेत्तं उवधिं मोत्तूण सेसयं उवधिं ।
पजहदि विसुद्धलेस्सो साधू मुत्तिं गवेसंतो ॥१६४॥

'संजमसाहणमेत्तं'—सयम. साध्यते येनोपकरणेन तावन्मात्र कमण्डलुपिच्छमात्र । **'उवधिं'** परिग्रहं **'मोत्तूण'** मुक्त्वा । **'सेसयं'** अवशिष्ट । **'उवधिं'** अवशिष्ट उपधिर्नाम पिच्छान्तर कमण्डल्वन्तरं वा तदानी सयमसिद्धौ न कारणमिति संयमसाधनं न भवति । येन साप्रत सयम. साध्यते तदेव सयमसाधन अथवा ज्ञानोपकरण अवशिष्टोपधिरुच्यते ! **'पजहइ'** प्रकर्षेण योगत्रयेण त्यजति । **'विसुद्धलेस्सो'** विशुद्धलेश्य । **'साहू'** साधुः । **'मुत्तिं'** मुक्ति कर्मणामपायं । **'गवेसंतो'** मृगयन् । लोभकषायेणाननुरंजिता योगवृत्तिरिह विशुद्धलेश्या

ऊपर कहे परिणामके गुणोका माहात्म्य कहनेके लिए गाथा कहते है –

गा०—ऊपर कहा स्मृति परिणाम 'मै शरीरत्याग करूँगा ही' ऐसा निश्चय करनेवालेके दृढ होता है । उसके तीव्र वेदना होनेपर जीवनकी आशा नष्ट हो जाती है ॥१६३॥

टी०—'मै शरीरका त्याग करूँगा ही' ऐसा जो दृढ निश्चय कर लेता है तीव्र भी वेदनाके होनेपर मै उसका प्रतीकार करके जीवित रहूँ ऐसी चिन्ता उसे नही होती । अतः 'जीवनकी आशाका विनाश' उसका गुण सूचित किया है ॥१६३॥

'उवधिजहण' अर्थात् परिग्रहत्यागका विस्तारसे कथन करते हैं—

गा०—मुक्तिको खोजनेवाला विशुद्ध लेश्यासे युक्त साधु सयमके साधनमात्र परिग्रहको छोडकर शेष परिग्रहको प्रकर्ष अर्थात् मन-वचन-कायसे त्याग देता है ॥१६४॥

टी०—जिस उपकरणसे संयमकी साधना की जाती है वह उपकरण कमण्डलु और पीछीमात्र है । उनको छोड़कर जो शेष परिग्रह है—दूसरी पीछी दूसरा कमण्डलु, वह उस समय संयमकी सिद्धिमे कारण न होनेसे संयमका साधन नहीं है । जिससे वर्तमानमे सयमकी साधना होती है वही संयमका साधन है । अथवा शेष परिग्रहमे ज्ञानके उपकरण शास्त्र आदि कहे हैं क्योंकि समाधिके समय उनका उपयोग नहीं रहता । मुक्ति अर्थात् कर्मोंका विनाश करनेका इच्छुक साधु पीछी कमण्डलुमात्र परिग्रहके सिवाय शेष परिग्रहको मन-वचन-कायसे छोड़ता है । वह साधु विशुद्धलेश्यासे युक्त होता है । यहाँ लोभकषायसे अननुरंजित (नहीं रंगी हुई अर्थात् लोभरहित)

---

१. यस्मात्तज्ज्ञा–आ० मु० २. यस्य स्मृतेर्दृ–आ० मु० ।

गृहीता । सा हि परिग्रहत्यागे प्रवर्तयत्यात्मानमिति ॥१६४॥

वसत्यादिकं तर्हि त्याज्यतया नोपदिष्टमिति आशङ्क्यते इति तत्त्यागमुपदिशति—

अप्पपरियम्म उवधिं बहुपरियम्मं च दोवि वज्जेइ ।
सेज्जा संथारादी उस्सग्गपदं गवेसंतो ॥१६५॥

'अप्पपरियम्म उवधिं' अल्पपरिकर्म निरीक्षणप्रमार्जनविधूननादिकं यस्मिन्तं परिग्रहं । 'बहु' महत् परिकर्म यत्र तं च । 'दो वि' द्वावपि 'वज्जेदि' वर्जयति मनोवाक्कायै । 'सेज्जासंथारादी' वसतिसंस्तरादिकं । 'उस्सग्गपदं' उत्सर्जनं त्याग तदेव पदं । परिग्रहत्यागपदान्वेषणकारीति यावत् । गाथाद्वयेनातिक्रान्तेन द्रव्योपधित्यागो व्याख्यात. । इयता परिसमाप्तः परिग्रहत्याग ॥१६५॥

पंचविहं जे सुद्धिं अपाविदूण मरणमुवणमन्ति ।
पंचविहं च विवेगं ते खु समाधिं ण पावेन्ति ॥१६६॥

'पंचविहं जे सुद्धिं' इत्यादिना किं प्रतिपाद्यते पूर्वमसूचितमिति । अत्रोच्यते—योग्योपादनमेवायोग्यत्यागस्तत्परिहार इत्युपधित्याग एवाख्यायते उत्तरग्रन्थेनापि । 'पंचविहं' पञ्चप्रकारां । 'सुद्धिं' शुद्धिं । 'अपाविदूण' अप्राप्य । 'जे' ये । 'मरणं' मृति । 'उवणमंति' प्राप्नुवन्ति । 'पंचविहं' पञ्चविध च 'विवेगं' विवेक, 'परिहरणं' पृथग्भावं, अप्राप्य मृतिमुपयान्ति । खु शब्द एवकारार्थः । स च क्रियापदात्परतो योज्यः ।

मन-वचन-कायकी वृत्तिको विशुद्धलेश्या कहा है; क्योंकि वह जीवको परिग्रहके त्यागमें प्रवृत्त करती है ॥१६४॥

यहाँ कोई शंका करता है कि वसति आदिको तो त्याज्य नही कहा ? इससे उसके त्यागका उपदेश करते हैं—

गा०—परिग्रहत्याग पदका अन्वेषण करनेवाला साधु अल्पपरिकर्मवाले और बहुत परिकर्मवाले दोनो ही प्रकारके परिग्रहोंको जिनमें वसति संस्तर आदि भी हैं, मन-वचन-कायसे त्याग देता है ॥१६५॥

टी०—जिसमें देखना, साफ करना, झाड़ना आदि कम करना होता है वह परिग्रह अल्पपरिकर्मवाला होता है। और जिसमें यह बहुत करना होता है वह बहुत परिकर्मवाला है। परिग्रहत्यागपदका खोजी साधु दोनोंको ही मन-वचन-कायसे त्यागता है। अतः वसति संस्तर आदि भी त्याग देता है। इन दो गाथाओंसे द्रव्यपरिग्रहके त्यागका कथन किया। यहाँ तक परिग्रहत्यागका प्रकरण समाप्त होता है ॥१६५॥

गा०—जो पाँच प्रकारकी शुद्धियोंको और पाँच प्रकारके विवेकको प्राप्त किये विना मरणको प्राप्त होते हैं, वे समाधिको नहीं ही प्राप्त होते हैं ॥१६६॥

टी०—शंका—'पञ्चविहं जे सुद्धिं' इत्यादिके द्वारा पहले सूचित किये विना क्या कह रहे हैं ?

समाधान—योग्यका ग्रहण ही अयोग्यका त्याग है। अतः आगेके ग्रन्थसे भी परिग्रहका त्याग ही कहा है। जो पाँच प्रकारकी शुद्धि और पाँच प्रकारके विवेक अर्थात् भिन्नपनेको प्राप्त किये बिना मरते हैं वे समाधिको प्राप्त नहीं ही होते। गाथामें आये 'खु' शब्दका अर्थ 'ही' है और

समाधिं न प्राप्नुवन्त्येवेति । उपधिपरित्यागाभावे अभिमतसमाध्यभावो दोष आख्यातः ॥१६६॥

पंचविहं जे सुद्धिं पत्ता णिखिलेण णिच्छिदमदीया ।
पंचविहं च विवेगं ते हु समाधिं परमुवेंति ॥१६७॥

के समाधिं प्राप्नुवंतीत्यत्र आह–'**पंचविहं**' पञ्चविधां, '**जे सुद्धिं पत्ता**' ये शुद्धिं प्राप्ताः । '**णिखिलेण**' साकल्येन । '**णिच्छिदमदीया**' निश्चितमतयः । '**पंचविहं**' पञ्चविधं च '**विवेगं**' विवेकं '**ते हु समाहिं परमुवेंति**' ते स्फुटं समाधिं परमुपयान्ति ॥१६७॥

का एषा पंचविधा शुद्धिरित्याह–

आलोयणाए सेज्जासंथारुवहीण भत्तपाणस्स ।
वेज्जावच्चकराण य सुद्धी खलु पंचहा होइ ॥१६८॥

'**आलोयणाए**' आलोचनायाः शुद्धिः, शय्यासंस्तरयोः शुद्धिः, उपकरणशुद्धिः, भक्तपानशुद्धिः, वैयावृत्यकरणशुद्धिरिति पञ्चविधा । मायामृषारहितता आलोचनाशुद्धिः । मनोगतवक्रता माया । व्यलीकता चासौ मृषा । मायाकषायः स चाभ्यन्तरपरिग्रहः '**चत्तारि तह कसाया**' इति वचनात् । मृषा कथं परिग्रह इति चेत् उपधीयते अनेनेत्युपधिरिति शब्दव्युत्पत्तौ उपधीयते उपादीयते कर्म अनेन व्यलीकेनेत्युपधिरित्युच्यते । यत्र यस्यादरः कर्महेतौ तत्सर्वमुपधिरेवेति भावः । उद्गमोत्पादनैषणादोषरहितता ममेदं इत्यपरिग्राह्यता च वसतिसंस्तरयोः शुद्धिस्तामुपगतेन उद्गमादिदोषोपहतयोर्वसतिसंस्तरयोस्त्यागः कृत इति भवत्युपधि-

---

उसे क्रियापद 'पावेंति' के परे लगाना चाहिए । परिग्रहत्यागके अभावमें इष्ट समाधिका अभाव नामक दोष कहा है ॥१६६॥

गा०—पूर्णरूपसे निश्चित मति वाले जो पाँच प्रकारकी शुद्धिको और पाँच प्रकारके विवेक को प्राप्त हुए है, वे निश्चयसे परम समाधिको प्राप्त होते हैं ॥१६७॥

टी०—कौन समाधि प्राप्त करते हैं यह इस गाथामें कहा है ॥१६७॥

पाँच प्रकारकी शुद्धि कहते हैं—

गा०—आलोचना की शुद्धि, शय्याकी, संस्तरकी और परिग्रहकी शुद्धि, भक्तपानकी शुद्धि और वैयावृत्य करने वालोकी शुद्धि, निश्चयसे शुद्धि पाँच प्रकारको होती है ॥१६८॥

टी०—माया और मृषासे रहित होना आलोचनाकी शुद्धि है । मनमे कुटिलताका होना माया है । असत्य भाषणको मृषा कहते हैं ।

माया कषाय है और वह अभ्यन्तर परिग्रह है । 'चार कषाय हैं' ऐसा आगमका वचन है ।

शङ्का—मृषा कैसे परिग्रह है ?

समाधान—'उपधीयतेऽनेनेत्युपधिः' इस शब्द व्युत्पत्तिके करने पर 'अनेन' अर्थात् असत्य भाषणके द्वारा 'उपधीयते' कर्मका ग्रहण होता है अतः मृषा उपधि है । जिस कर्मके हेतुमें जिसका आदर है वह सब उपधि ही है यह कहनेका अभिप्राय है ।

उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषोंसे रहित होना तथा 'यह मेरा है' इस प्रकार परिग्रहका भाव न होना वसति और संस्तरकी शुद्धि है । उस शुद्धिको जिसने स्वीकार किया उसने उद्गम

त्यागः । उपकरणादीनामपि उद्गमादिविरहितता शुद्धिस्तस्यां सत्या उद्गमादिदोषदुष्टाना असंयमसाधनानां ममेदं भावमूलाना परिग्रहाणां त्यागोऽस्त्येव । संयतवैयावृत्त्यक्रमज्ञता वैयावृत्त्यकारिशुद्धिः सत्या तस्या असंयता अक्रमज्ञाश्च[1] न मम वैयावृत्त्यकरा इति स्वीक्रियमाणास्त्यक्ता भवन्ति ॥१६८॥

अहवा दंसणणाणचरित्तसुद्धी य विणयसुद्धी य ।
आवासयसुद्धी वि य पंच वियप्पा हवदि सुद्धी ॥१६९॥

'**अहवा**' अथवा । '**दंसणणाणचरित्तसुद्धी य, विनयसुद्धी य, आवासयसुद्धी वि य**' आवश्यकशुद्धिश्चेति '**पंचवियप्पा**' पञ्चविकल्पा '**हवइ सुद्धी**' भवति शुद्धिः । निःशङ्कितत्वादिगुणपरिणतिर्दर्शनशुद्धिः तस्यां सत्यां शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सादीनां अशुभपरिणामानां परिग्रहाणां त्यागो भवति । काले पठनमित्यादिका ज्ञान-शुद्धिः, अस्यां सत्यां अकालपठनाद्या क्रिया ज्ञानावरणमूला परित्यक्ता भवन्ति । पञ्चविंशतिभावनाश्चारित्र-शुद्धिः । सत्यां तस्यां अनिगृहीतमनःप्रचारादिरशुभपरिणामोऽभ्यन्तरपरिग्रहस्त्यक्तो भवति । दृष्टफलानपेक्षिता विनयशुद्धिः । तस्यां सत्यामुपकरणादिलाभलोभो निरस्तो भवति । मनसावद्ययोगनिवृत्तिः जिनगुणानुरागः वन्द्यमानश्रुतादिगुणानुवृत्तिः, कृतापराधविषया निन्दा, मनसा प्रत्याख्यानं, शरीरासारतानुपकारित्वभावना, चेत्यावश्यकशुद्धिरस्यां सत्यां अशुभयोगो जिनगुणाननुरागः श्रुतादिमाहात्म्येऽनादरः, अपराधाजुगुप्सा, अप्रत्याख्यानं, शरीरममता चेत्यमी भावदोषाः परिग्रहा निराकृता भवन्ति ॥१६९॥

आदि दोषोंसे दूषित वसति और संस्तरका त्याग कर दिया इस प्रकार उपधित्याग होता है। उपकरण आदि की भी शुद्धि उद्गम आदि दोषोंसे रहित होना है। उसके होने पर उद्गम आदि दोषोंसे दूषित, असंयमके साधन और 'यह मेरा है' इस भावके मूलकारण परिग्रहोंका त्याग है ही। संयमी होना और वैयावृत्यके क्रमका ज्ञाता होना वैयावृत्यकारीकी शुद्धि है। उसके होने पर असंयमी और क्रमको न जानने वाले मेरे वैयावृत्य करने वाले नहीं हैं' ऐसा स्वीकार करने पर उनका त्याग होता है ॥१६८॥

गा०—अथवा दर्शन शुद्धि, ज्ञान शुद्धि, चारित्र शुद्धि, विनय शुद्धि और आवश्यक शुद्धि इस प्रकार शुद्धिके पाँच भेद होते हैं ॥१६९॥

टी०—निःशंकित आदि गुणोंका धारण करना दर्शन शुद्धि है। उसके होने पर शंका, कांक्षा, विचिकित्सा आदि अशुभ परिणाम रूप परिग्रहोंका त्याग होता है। 'कालमें पढ़ना' आदि ज्ञान शुद्धि है। उसके होने पर अकाल पठन आदि क्रिया, जो ज्ञानावरणके बन्धकी कारण हैं, उनका त्याग होता है। पच्चीस भावनाएँ चारित्र शुद्धि है। उसके होने पर मनकी चंचलताको न रोकना आदि अशुभ परिणाम, जो अभ्यन्तर परिग्रह है उनका त्याग होता है। दृष्ट फलकी अपेक्षा न करके विनय करना विनय शुद्धि है। उसके होने पर उपकरण आदिके लाभका लोभ दूर होता है। सावद्य योगका त्याग, जिन देवके गुणोंमें अनुराग, नमस्कार करनेके योग्य श्रुत आदि के गुणोंका पालन करना, किये हुए अपराधकी निन्दा, मनसे प्रत्याख्यान करना, शरीरकी असारता और उसके अनुपकारीपनेका चिन्तन, ये आवश्यक शुद्धि है। उसके होने पर अशुभ योग, जिन देवके गुणोंमें अनुरागका अभाव, श्रुत आदिके महात्म्यमें अनादर, अपराधके प्रति ग्लानिका न होना, प्रत्याख्यानका न होना, और शरीरसे ममता. ये दोष परिग्रह है, इनका निरास होता

---

१. श्च मम—आ० ।

पञ्चविधविवेकप्रख्यापनायोत्तरा गाथा—

इंदियकसायउवधीण भत्तपाणस्स चावि देहस्स ।
एस विवेगो भणिदो पंचविघो दव्वभावगदो ॥१७०॥

'**इंदियकसाय**' इति । इन्द्रियविवेकः, कषायविवेक, भक्तपानविवेक., उपधिविवेक., देहविवेकः इति एष विवेकः पञ्चप्रकारो निरूपित पूर्वागमेषु । स पुन. पञ्चप्रकारोऽपि द्विविध । द्रव्यकृतो भावकृत इति । रूपादिविषयेषु चक्षुरादीनामादरेण कोपेन वा अप्रवर्तन । इद पश्यामि शृणोमीति वा । तथा तस्या निविड-कुचतटं पश्यामि, नितम्बरोमराजिं वा विलोकयामि, पृथुतर जघन स्पृशामि, कलं गीत सावधान शृणोमि, मुखकमलपरिमलं जिघ्रामि, बिम्बाधरं समास्वादयामि इति वचनानुच्चारणं वा द्रव्यत इन्द्रियविवेक. । भावत इन्द्रियविवेको नाम जातेऽपि विषयविषयिसम्बन्धे रूपादिगोचरस्य विज्ञानस्य भावेन्द्रियाभिधानस्य राग-कोपाख्या विवेचन, रागकोपसहचारिरूपादिविषयमानसज्ञानापरिणतिर्वा । द्रव्यतः कषायविवेको नाम कायेन वाचा चेति द्विविध. । भ्रूलतासङ्कोचन, पाटलेक्षणता, अधरावमर्दन, शस्त्रनिकटीकरण, इत्यादिकायव्यापारा-करण । हन्मि, ताडयामि, शूलमारोपयामि इत्यादिवचनाप्रयोगश्च परपरिभवादिनिमित्तचित्तकलङ्काभावो भावतः क्रोधविवेकः । तथा मानकषायविवेकोऽपि वाक्कायाभ्या द्विविध । गात्राणा स्तब्धताकरण, शिरस उन्नमनं, उच्चासनारोहणादिकं च यन्मानसूचनपर तस्य कायव्यापारस्याकरणं । मत्तः को वा श्रुतपारग. सुचरित. सुतपोधनश्चेति वचनाप्रयोगश्च । एवमेवैतेभ्योऽह प्रकृष्ट इति मनसाहङ्कारवर्जनं भावतो

है ॥१६९॥

पाँच प्रकारके विवेकका कथन करते हैं—

गा०—इन्द्रिय विवेक, कषाय विवेक, उपधिविवेक, भक्तपान विवेक और देहका विवेक इस प्रकार यह विवेक पाँच प्रकारका पूर्वागम में कहा है। तथा यह पाँच प्रकारका विवेक द्रव्य और भावके भेदसे दो प्रकार है ॥१७०॥

टी०—रूप आदि विषयोंमें चक्षु आदि इन्द्रियोंका आदर भावसे या क्रोधवश प्रवृत्ति न करना, यह देखता हूँ, अथवा यह सुनता हूँ, उसके घने स्तनोंको देखता हूं, अथवा नितम्ब और रोमपंक्तिको देखता हूँ, स्थूल जघनको स्पर्श करता हूँ, मनोहर गीत सावधानता पूर्वक सुनता हूँ, मुख रूपी कमलकी सुगन्ध सूंघता हूँ, ओष्ठका रसपान करता हूँ, इत्यादि वचनोंका उच्चारण न करना द्रव्य इन्द्रिय विवेक है। विषय और विषयी अर्थात् पदार्थ और इन्द्रियका सम्बन्ध होने पर भी रूपादिका जो ज्ञान होता है जिसे भावेन्द्रिय कहते हैं, उस ज्ञानके होने पर भी राग द्वेष न करना अथवा राग द्वेषके सहचारी रूपादि विषय रूपसे मानसज्ञानका परिणत न होना भाव इन्द्रिय विवेक है। द्रव्य कषाय विवेक के दो भेद हैं शरीरसे और वचन से। भौंको संकोचना, आँखोंका लाल होना, ओठ काटना, शस्त्र उठाना इत्यादि काय व्यापारका न करना काय द्रव्य कषाय विवेक है। मारता हूँ, ताड़न करता हूँ, सूली पर चढ़ाता हूँ इत्यादि वचन न बोलना वचन क्रोध कषाय विवेक है। दूसरे के द्वारा किये गये तिरस्कार आदिके निमित्तसे चित्तमें मलिनताका न होना भावसे क्रोध विवेक है। तथा मान कषाय विवेकके भी वचन और कायकी अपेक्षा दो भेद हैं। शरीरको स्तब्ध करना, सिर को ऊँचा करना, उच्चासन पर बैठना आदि जो मान सूचक काय व्यापार हैं उनका न करना काय मान कषाय विवेक है। मुझसे बड़ा कौन शास्त्रका पंडित है, चारित्रवान और तपस्वी हैं, इस प्रकारके वचन न बोलना वचन मान कषाय विवेक है। इसी

मानकषायविवेकः । वाक्कायाभ्यां मायाविवेको द्विप्रकारः । अन्यत् कुर्वत इवान्यस्य यद्वचनं तस्य त्यागो मायोपदेशस्य वा, मायां करोमि न कारयामि, नाभ्युपगच्छामि इति वा कथनं वाचा मायाविवेकः । अन्यत्कुर्वत इवान्यस्य कायेनाकरणं कायतो मायाविवेकः । लोभकषायविवेकोऽपि द्विविधः । यत्रास्य लोभस्तमुद्दिश्य करप्रसारणं, द्रव्यदेशानपायिता, तदुपादातुकामस्य कायेन निषेधनं हस्तसंज्ञया निवारण, शिरश्चालनया वा एतस्य कायव्यापारस्य अकरणं कायेन लोभविवेक. शरीरेण वा द्रव्यानुपादान । एतन्मदीयं वस्तुग्रामादिकं वा अहमस्य स्वामीति वचनानुच्चारण वा लोभविवेक । नाहं कस्यचिदीशो न च मम किञ्चिदिति वचनं वा । ममेदंभावरूपमोहजपरिणामापरिणतिर्भावतो लोभविवेक ॥१७०॥

अहवा सरीरसेज्जा संथारुवहीण भत्तपाणस्स ।
वेज्जावच्चकराण य होइ विवेगो तहा चेव ॥१७१॥

'**अहवा**' अथवेति । विवेकः प्रकारान्तरेणाचेद्यते । '**सरीरसेज्जासंथारुवहीणभत्तपाणस्स**' शरीरविवेकः वसतिसंस्तरविवेकावुपकरणविवेक, भक्तपानविवेक । '**वेज्जावच्चकराण य**' वैयावृत्यकराणा च विवेको भवति । '**तहा चेव**' तथैव द्रव्यभावाभ्यां इति यावत् । तत्र शरीरविवेक. शरीरेण निरूप्यते । ससारिण शरीराद्विवेक कथमिति चेत् । शरीरेण स्वशरीरेण स्वशरीरोपद्रवापरिहरण शरीरविवेक । शरीर उपद्रवन्त नरं तिर्यञ्च देव वा न हस्तेन निवारयति । मा कृथा ममोपद्रवमिति दशमशकवृश्चिकभुजगसारमेयादीन हस्तेन, पिच्छाद्युपकरणेन, दण्डादिभिर्वाऽपमारयति । छत्रपिच्छकटकप्रावरणादिना वा न शरीररक्षा करोति ।

प्रकार इनसे मै उत्कृष्ट हूँ ऐसा मनसे अहकार न करना भावसे मान कषाय विवेक है। माया विवेक भी वचन और कायकी अपेक्षा दो प्रकार है। दिखाना तो ऐसा मानों कुछ अन्य बोलते हैं और बोलना कुछ अन्य, इसका त्याग अथवा माया पूर्ण उपदेशका त्याग, अथवा न मै माया करता हूँ, न कराता हूँ, न अनुमोदना करता हू ऐसा बोलना वचन माया विवेक है । अन्य करते हुए उससे अन्यका कायसे न करना काय माया विवेक है । लोभ कषाय विवेक भी दो प्रकारका है। जिस वस्तुका लोभ हो उसको लक्ष्य करके हाथ पसारना, जो उसे लेना चाहे उसे शरीरसे मना करना या हाथके सकेत से रोकना अथवा सिर हिलाकर मना करना, इस काय व्यापारका न करना काय लोभ विवेक है। अथवा शरीरसे वस्तुका ग्रहण न करना काय लोभ विवेक है। यह वस्तु ग्राम आदि मेरा है, मै इसका स्वामी हूँ इत्यादि वचनका उच्चारण न करना, अथवा न मैं किसी का स्वामी हूँ और न कुछ मेरा है ऐसा बोलना वचन लोभ विवेक है। यह मेरा है इस भावरूप मोहजन्य परिणामका न होना भाव लोभ विवेक है ॥१७०॥

गा०—अथवा शरीर विवेक, वसति विवेक, संस्तर विवेक, उपधि विवेक, भक्तपान विवेक, और वैयावृत्य करने वालोंका विवेक, द्रव्य और भाव रूप होता है ॥१७१॥

टी०—प्रकारान्तरसे विवेकके भेद कहते हैं। शरीर विवेक शरीर के द्वारा किया जाता है।

शङ्का—संसारी जीवका शरीरसे विवेक कैसे सभव है ?

समाधान—अपने शरीरमें होने वाले उपद्रवोका दूर न करना, शरीर विवेक है। शरीरपर उपद्रव करने वाले मनुष्य, तिर्यञ्च अथवा देव को हाथसे नहीं रोकता कि मेरे ऊपर उपद्रव मत करो। डांस, मच्छर, बिच्छू, सर्प, कुत्ते आदिको हाथसे, पिच्छी आदि उपकरणसे अथवा दण्ड वगैरहसे दूर नहीं करता। छाता, पीछी, चटाई अथवा अन्य किसी आवरणसे शरीरकी रक्षा

शरीरपीडां मम मा कृथा इत्यवचनं। मां पालयेति वा, शरीरमिदमन्यदचेतनं चैतन्येन सुखदुःखसंवेदनेन वाऽविशिष्टमिति वचनं वाचा विवेकः। वसतिसंस्तरयोर्विवेको नाम कायेन वसतावनासनं प्रागध्युषितायां, संस्तरे वा प्राक्तने अशयनं अनासनं। वाचा त्यजामि वसतिं संस्तरमिति वचनं। कायेनोपकरणानामनादानं, अस्थापनं क्वचिदरक्षा च उपधिविवेकः। वाचा परित्यक्तानीमानि ज्ञानोपकरणादीनि इति वचनं वाचा उपधिविवेकः। भक्तपानयोरनशनं अपानं वा कायेन भक्तपानविवेकः। एवंभूतं भक्तं पानं वा न गृह्णामि इति वचनं वाचा भक्तपानविवेकः। वैयावृत्यकराः स्वशिष्यादयो ये तेषां कायेन विवेकः तैः सहासंवासः। मा कृथा वैयावृत्यं इति वचनं, मया त्यक्ता यूयमिति वचनं। सर्वत्र शरीरादौ अनुरागस्य ममेदं भावस्य वा मनसा अकरणं भावविवेकः ॥१७१॥

परिग्रहपरित्यागक्रमं उपदिशति—

सव्वत्थ दव्वपज्जयममत्तसंगविजढो पणिहिदप्पा।
णिप्पणयपेमरागो उवेज्ज सव्वत्थ समभावं ॥१७२॥

सव्वत्थ इत्यादिना। 'सव्वत्थ' सर्वत्र देशे। 'पणिहिदप्पा' प्रणिहितात्मा प्रकर्षेण निहितः निक्षिप्तः वस्तुयाथात्म्यज्ञाने आत्मा येन स प्रतिनिहितात्मा। 'दव्वपज्जयममत्तसंगविजढो' द्रव्येषु जीवपुद्गलेषु तत्पर्यायेषु च ममताख्यो यः संगः परिग्रहस्तेन परित्यक्तः। प्रणयः स्नेहः प्रेम प्रीतिः, राग आसक्तिः। क्व ? द्रव्यपर्यायेषु जीवद्रव्ये पुत्रदारमित्रादौ, तेषां नीरोगत्वधनवत्त्वादौ पर्याये, आत्मनो वा देवत्वे, चक्रवर्तित्वेऽहमिन्द्रत्वे वा। तथा शरीरे आहारादिके भोगसाधने, तदीयरूपरसगन्धस्पर्शपर्यायेषु वा, एतेभ्यः

नहीं करता। यह कायसे शरीर विवेक है। मेरे शरीरको पीडा मत दो, अथवा मेरी रक्षा करो, ऐसा न बोलना, अथवा यह शरीर अचेतन है, मुझसे भिन्न है, चैतन्यसे और सुख दुःखके संवेदनसे रहित है ऐसा बोलना वचनसे शरीर विवेक है। जिसमें पहले रहे है उस वसति में न रहना कायसे वसति विवेक है। पूर्वके संस्तर पर न सोना न बैठना कायसे संस्तर विवेक है। मैं वसति या संस्तर को त्यागता हूँ यह वचनसे वसति और संस्तर विवेक है। 'उपकरणोंका त्याग करता हूँ' ऐसा बोलना वचनसे उपधि विवेक है, भक्तपानको न खाना न पीना कायसे भक्तपान विवेक है। 'इस प्रकारके भोजन और पानको ग्रहण नहीं करता' ऐसा कहना वचनसे भक्तपान विवेक है। वैयावृत्य करने वाले अपने शिष्यों आदिके साथ वास न करना कायसे विवेक है। 'वैयावृत्य मत करो' 'मैंने तुम्हारा त्याग किया ऐसा कहना' वचनसे विवेक है। सर्वत्र शरीर आदिमें अनुरागका 'यह मेरा है' इस प्रकार का भाव मनमें न करना भावविवेक है ॥१७१॥

परिग्रह के त्यागका क्रम बतलाते हैं—

गा०—सर्व देशमें प्रतिनिहित आत्मा द्रव्य और पर्यायोंमें ममतारूपी परिग्रहसे रहित, प्रणय, प्रेम और रागसे रहित सर्वत्र समभावको प्राप्त होता है ॥१७२॥

टी०—जिसने वस्तुके यथार्थ स्वरूप के ज्ञानमें आत्माको प्रकर्षरूपसे निहित किया है वह प्रतिनिहितात्मा है अर्थात् जो वस्तु स्वरूपके जाननेमें लीन रहता है और द्रव्य अर्थात् जीव पुद्गलमें और उनकी पर्यायोंमें ममता नहीं करता। और जीव द्रव्य अर्थात् पुत्र स्त्री मित्रादि में उनकी नीरोगता, धनवत्ता आदि पर्यायोंमें अथवा आत्माकी देवपना, चक्रवर्तीपना, अहमिन्द्र-पना आदि पर्यायोंमें तथा शरीरमें, आहारादिमें; भोगके साधनमें और उनकी रूप, रस, गन्ध,

परिणामेभ्यो निर्गतो 'णिप्पणयपेमराग' इत्युच्यते। 'उवेज्ज' प्रतिपद्येत। 'समभावं' समचित्तता। द्रव्ये पर्याये वा रागकोपावन्तरेण तत्तस्वरूपग्रहणमात्रप्रवृत्तिज्ञनिना समचित्तता॥ उवधी गदा ॥१७२॥

परिग्रहपरित्यागादनन्तरोऽधिकारः श्रितिर्नाम, एतद्व्याख्यातुकाम श्रितिशब्दस्यार्थद्वयं व्याचष्टे भावश्रितिर्द्रव्यश्रितिरिति, अप्रकृत श्रितिशब्दार्थं निराकर्तुमिष्टं दर्शयितुम्—

जा उवरि उवरि गुणपडिवत्ती सा भावदो सिदी होदि।
दव्वसिदी णिस्सेणी सोवाणं आरुहंतस्स ॥१७३॥

'**जा**' या। '**उवरि उवरि**' उपर्युपरि। '**गुणपडिवत्ती**' गुणप्रतिपत्तिः। ज्ञानश्रद्धानसमानभावाना गुणानां प्रवृत्ताना उपर्युपरि गुणनात्तथाभूतानामेव प्रतिपत्तिर्या सा। '**भावदो**' भावेन। '**सिदी होदि**' श्रितिर्भवति। भावश्रिति सैवेति यावत्। अथ का द्रव्यश्रिति ? अस्योत्तरमाह-'**दव्वसिदी**' श्रीयते इति श्रितिः द्रव्यं च तत् श्रितिश्च सा द्रव्यश्रितिः। यदाश्रीयते द्रव्यं निश्रेयणीसोपानादिकं तदपि श्रितिशब्देनोच्यते। '**आरुहंतस्स**' आरोहत ॥१७३॥

अनयो: का[1] परिगृहीतेत्यत्राह—

सल्लेहणं करेंतो सव्वं सुहसीलयं पयहिदूण।
भावसिदिमारुहित्ता विहरेज्ज सरीरणिव्वण्णो ॥१७४॥

स्पर्श पर्यायोंमे प्रणय अर्थात् स्नेह, प्रेम और राग अर्थात् आसक्ति रूप परिणामोसे रहित है वह सर्वत्र समभाव अर्थात् समचित्तताको प्राप्त होता है। द्रव्य अथवा पर्यायमें राग द्वेष के बिना उनके स्वरूपको ग्रहण मात्र करनेकी प्रवृत्तिको अर्थात् ज्ञानताको समचित्तता कहते है ॥१७२॥

उपधि त्याग समाप्त हुआ।

परिग्रह त्यागके अनन्तर श्रिति नामक अधिकार है। उसका व्याख्यान करनेके इच्छुक ग्रन्थकार श्रिति शब्दके दो अर्थ कहते है भाव श्रिति और द्रव्य श्रिति। श्रिति शब्दके अप्रकृत अर्थका निराकरण और इष्ट अर्थ का कथन करते है—

गा०—जो ऊपर-ऊपर गुणोकी प्रतिपत्ति है वह भावसे श्रिति है। ऊपर चढने वाले के नसैनी सीढी आदि द्रव्य श्रिति है ॥१७३॥

टी०—ज्ञान श्रद्धान समभाव आदि गुणोंका ऊपर-ऊपर उन्नत होना गुण प्रतिपत्ति है और वह भाव श्रिति है। भाव अर्थात् परिणामसे श्रिति भाव श्रिति अर्थात् परिणाम सेवा है। 'श्रीयते' जिसका आश्रय लिया जाये वह श्रिति है। द्रव्यरूप श्रिति द्रव्य श्रिति है। ऊपर चढने वाला नसैनी सीढी आदि जिस द्रव्यका आश्रय लेता है उसको भी श्रिति शब्दसे कहते हैं ॥१७३॥

यहाँ इन दोनोंमेसे किसका ग्रहण किया है, यह कहते है—

गा०—सल्लेखना करता हुआ शरीरसे विरक्त साधु सब सुखशीलताको मन वचन कायसे त्यागकर भावश्रिति पर आरोहण करके विहार करे ॥१७४॥

---

१. का या गृ–आ० मु०।

"**सल्लेहणं**' सल्लेखना । '**करेंतो**' कुर्वन् । '**सव्वं सुहसीलयं**' सर्वा सुखभावना आसनशयनभोजनादि-विषया । '**पयहिदूण**' प्रकर्षेण त्यक्त्वा योगत्रयेणेति यावत् । '**भावसिदिमारुहित्ता**' श्रद्धानादिपरिणामश्रेणीं प्रतिपद्य । '**विहरेज्ज**' प्रवर्तेत । '**सरीरणिव्विण्णो**' शरीरनिःस्पृहः । किमनेन शरीरेण, सुलभेनासारेण, अशुचिना, कृतघ्नेन, भारेण रोगाणामाकरेण, जरामरणप्रतिहतेन दुःखविधायिनेति ।।१७४।।

दव्वसिदिं भावसिदिं अणुओगवियाणया विजाणंता ।
ण खु उड्ढगमणकज्जे हेट्ठिल्लपदं पसंसंति ।। १७५।।

दव्वसिदिं भावसिदिं अणुओगवियाणया विजाणंता' इत्यस्मिन्सूत्रे पदघटना । '**उड्ढगमणकज्जे हेट्ठिल्लपदं ण खु पसंसंति**' इति । ऊर्ध्वगमने कार्ये अधोधःपादनिक्षेपं नैव प्रशमन्ति । '**विजाणंता**' विशेषेण जानन्तः । का '**दव्वसिदिं भावसिदिं**' च द्रव्यभावश्रियो स्वरूप उपादेयां श्रितिज्ञा[1] इति यावत् । न केवलं श्रितिमात्रज्ञाः किन्तु '**अणुओगवियाणया**' अनुयोगशब्द सामान्यवचनोऽपि इह चरणानुयोगवृत्तिर्गृहीतस्तेनायमर्थ आचाराङ्गज्ञा अथवा चतुर्विधानुयोगज्ञा श्रुतमाहात्म्यवन्त न प्रशमन्ति । एतदुक्तं भवति—शुभपरिणामवता तदतिशय एव प्रवर्तितव्यं, न जघन्यपरिणामप्रवाहे निपतितव्यं, यतोऽतिशयितश्रुतज्ञानलोचना यतयो निन्दति जघन्यपरिणामान् । कुतो ? मन्दायमानशुभपरिणाम क्रमेण न बहलविशालकर्मतिमिरमपाकर्तुमर्हति नाशाभिमुख प्रदीप इव । यथा नाशमन्मुख प्रदीपोऽनितेजसा प्रवर्तमानो मन्द मन्द ज्वलन्नाशमुपैति शनैः शनैस्तमसाच्छाद्यते तथा मन्दायमानपरिणामोऽपीत्यर्थ । अशुभपरिणाममन्ततेर्मूल भवति । तेन कर्मणा स्थितिरनुभवश्च प्रकर्षमुपैति ततो व्यवस्थिता सैव दीर्घसमारिता । समीचीनज्ञानमाहात्म्येऽपि शुभपरि-

गा०-टी०—इस सुलभ, असार, अपवित्र, कृतघ्न, भाररूप, रोगोंका घर और जन्म मरणसे युक्त, दुःखदायी शरीरसे क्या लाभ ऐसा विचार साधु शरीरमे निस्पृह होकर सल्लेखना धारण करता है और बैठना, सोना, भोजन आदिकी सब सुख भावनाको छोड श्रद्धानादि परिणामोंका आश्रय लेता है ॥१७४॥

गा०—द्रव्यश्रितिके भावश्रितिके स्वरूपका विशेष रूपसे जानने वाले तथा आचारांगके ज्ञाता ऊर्ध्वगमन रूप कार्यमें नीचे पैर रखना प्रशंसनीय नही ही मानते ॥१७५॥

टी०—अनुयोग शब्द अनुयोग सामान्यका वाची होने पर भी यहाँ चरणानुयोगका वाचक ग्रहण किया है अत उसका अर्थ आचारांगके ज्ञाता होना है । अथवा चार प्रकारके अनुयोगोंके ज्ञाता भी होता है । द्रव्यश्रितिके और भावश्रितिके स्वरूपको जानने वाले तथा चरणानुयोगके ज्ञाता ऊपर जानेके लिये नीचे-नीचे पैर रखना प्रशसनीय नही मानते । आशय यह है कि शुभ परिणाम वालोको शुभ परिणामोकी उत्कृष्टतामे ही लगना चाहिये, जघन्य परिणामोके प्रवाहमे नही गिरना चाहिये; क्योंकि अतिशय युक्त श्रुतज्ञान रूपी चक्षुसे सम्पन्न यतिगण जघन्य परिणामो की निन्दा करते है । क्योकि जिसके शुभ परिणाम उत्तरोत्तर मन्द होते जाते है वह घने विशाल कर्मरूपी अन्धकारको नाशके अभिमुख दीपककी तरह दूर नही कर सकता । जैसे बुझता हुआ दीपक तीव्र प्रकाश देता है किन्तु मन्द-मन्द जलकर बुझ जाता है और धीरे-धीरे अन्धकारसे ढक जाता है । उसी तरह मन्द होता हुआ शुभ परिणाम भी अशुभ परिणामोकी परम्पराका जनक होता है और उससे कर्मोकी स्थिति और अनुभाग उत्तरोत्तर बढता है । उससे वही दीर्घ संसारि-

१. ज्ञाना इति आ० मु० ।

ध्यानानलः प्रकृष्यमाणो विशोषितकर्मपादपरसस्तमुन्मूलयतीति ॥१७५॥

श्रितेरपायस्थानपरिहाराख्यानायोत्तरगाथा—

गणिणा सह संलाओ कज्जं पइ सेसएहिं साहूहिं ।
मोणं से मिच्छजणे भज्जं सण्णीसु सजणे य ॥१७६॥

'गणिणा सह' सावधारणमिदं गणिनैव सह । 'संलाओ' प्रश्नप्रतिवचनप्रबन्धः, नान्यैः सह चिरभाषणं कार्यम् । आचार्येण सह संलापः शुभपरिणामस्य हेतुरित्यनुज्ञायते । इतरे तु प्रमादिनो यत्किञ्चिद् ब्रुवन्तोऽशुभपरिणामं विदध्यु । 'कज्जं पइ' कार्यं स्वं प्रति । 'सेसगेहिं साधूहिं' शेषैः साधुभिः सम्भाषणं कार्यं, न प्रबन्धरूपा कथा कार्या । 'मोणं' मौनमेव । 'से' तस्य शुभपरिणामश्रेणीमारूढस्य । 'मिच्छजणे' मिथ्यादृष्टि-जने । स्वार्थे बद्धपरिकरस्य किं तेनानुपकारिणा हितोपदेशाग्राहिणा जनेन । 'भज्जं' भाज्यं विकल्प्य मौन । 'सण्णीसु' मिथ्यादृष्टिष्वप्युपशान्तेषु । 'सजणे य' स्वजने च । मिथ्यादृष्टौ अस्यामवस्थाया मदीयं वचन श्रुत्वा सम्यग्दर्शनादिकमिमे गृह्णन्तीति यद्यस्ति सम्भावना ब्रूयाद् धर्मं न चेन्मौनमेव ॥१७६॥

उपगतशुभपरिणामस्य प्रवृत्तिक्रममाचष्टे—

सिदिमारुहित्तु कारणपरिभुत्तं उवधिमणुवधिं सेज्जं ।
परिकम्मादिउवहदं वज्जित्ता विहरदि विदण्हू ॥१७७॥

'सिदिमारुहित्तु' शुभपरिणामश्रेणिमारुह्य । कारणभुत्तं किञ्चित्कारणमुपदिश्य श्रुतग्रहणं, परेषां वा

पना प्राप्त होता है । सम्यग्ज्ञान रूपी वायुसे प्रेरित शुभ परिणाम रूप आग बढ़ती-बढ़ती कर्म रूपी वृक्षके रसको सुखाकर उसे जडसे नष्ट कर देती है ॥१७५॥

श्रितिके विनाश स्थानोंसे बचनेके उपाय कहते हैं—

गा०—शुभ परिणामोंकी श्रेणि पर आरूढ साधुको आचार्यके ही साथ वार्तालाप करना चाहिये । कार्य हो तो शेष साधुओंसे वार्तालाप करे । मिथ्यादृष्टिजनोंमे मौन रहे । शान्त परिणामी मिथ्यादृष्टियोंमें और अपने ज्ञातिजनोंमें मौन करे, न भी करे ॥१७६॥

टी०—आचार्यके साथ ही 'सलाप' अर्थात् प्रश्नोत्तर आदि करना चाहिये । दूसरोके साथ लम्बा वार्तालाप नही करना चाहिये । आचार्यके साथ संलाप शुभ परिणाम का कारण है इसलिये उसकी अनुज्ञा है । अन्य लोग तो प्रमादी होनेसे जो कुछ भी बोलकर अशुभ परिणाम कर देते है । शेष साधुओंके साथ संभाषण करना चाहिये किन्तु लम्बी कथा नही करना चाहिये । मिथ्यादृष्टि जनसे बात नही करना चाहिये क्योंकि वह तो स्वार्थमें डूबा है । हितोपदेशको नही सुनता । ऐसे अनुपकारी व्यक्तिसे क्या काम ? जो मिथ्यादृष्टि होते हुए भी शान्त परिणामी हैं और अपने ज्ञातिबन्धु हैं उनसे वार्तालाप किया जा सकता है । ये मेरे वचन सुनकर सम्यग्दर्शन आदिको ग्रहण करेंगे, यदि ऐसी सम्भावना है तो धर्मका उपदेश दें, नही तो मौन ही रहे ॥१७६॥

शुभ परिणामके धारी मुनिकी प्रवृत्तिका क्रम कहते हैं—

गा०—क्रमका ज्ञाता मुनि शुभ परिणामो की श्रेणिपर चढ़कर किसी कारणवश व्यवहार में आई परिग्रहको और ईषत् उपधिरूप वसतिको तथा जो लीपने-पोतने अयोग्य है, उसे त्याग कर तपश्चरण करता है ॥१७७॥

टी०—शुभ परिणामोंकी परम्परासे जो मुनि ऊपर चढ़ रहा है वह ऐसे परिग्रहको त्याग

श्रुतोपदेशं, आचार्यादिवैयावृत्त्यादिकं वा, '**परिभुत्त**' व्यवहृतं । '**उवधिं**' परिग्रहमौषधं अतिरिक्तज्ञानसंयमोपकरणानि वा । '**अणुवधिं**' ईषत्परिग्रहं । अन्यत्रेषदर्थवृत्ति' अनुदरा कन्येति यथा । कोसावनुपधिरित आह— '**सेज्जं**' सेविज्जदि जदिणा इति व्युत्पत्तौ वसतिरुच्यते, तेन **सेज्जं** वसतिं । **परिकम्मादिउवहदं**' यतयोऽत्र वसन्तीति प्रमार्जनप्रलेपनादिपरिकर्मणा उपहतं अयोग्यं । '**परिवज्जित्ता**' वर्जयित्वा । '**विहरदि**' आचरति । '**विवहू**' क्रमज्ञः ॥१७७॥

श्रित्यनन्तरं किं करोतीत्यत्राह—

तो पच्छिमंमि काले वीरपुरिससेवियं परमघोरं ।
भत्तं परिजाणंतो उवेदि अब्भुज्जदविहारं ॥१७८॥

'**तो**' तस्याः श्रितेः । '**पच्छिमंमि काले**' पश्चिमे काले । '**वीरपुरिससेवियं**' वीरैः पुरुषैराचरितं । '**परमघोरं**' अतिदुष्करं । '**भत्तं परिजाणंतो**' आहारं परित्यक्तुकाम । '**उवेदि**' उपैति । किं ? **अब्भुज्जदविहारं**' सम्यग्दर्शनादिपरिणामाभिमुख्ये उद्यन्तं विहारं ॥१७८॥

कीदृगसावभ्युद्यतो विहार इत्यत्राचष्टे—

इत्तिरियं सव्वगणं विधिणा वित्तिरिय अणुदिसाए दु ।
जहिदूण संकिलेसं भावेइ असंकिलेसेण ॥१७९॥

'**इत्तिरियं**' कियतः कालस्य । '**सव्वगणं**' संयतानां, आर्यिकाणां, श्रावकाणां, इतरासां च समितिं ।

देता है जो कारणवश व्यवहारमें आया है जैसे स्वयं शास्त्राध्ययनके लिये या दूसरोंको शास्त्रका उपदेश देनेके लिये ज्ञान और संयमके उपकरण शास्त्र आदि व्यवहारमें आये हों जो कि स्वयं अपने लिये आवश्यक नहीं है । तथा आचार्य आदिकी वैयावृत्यके लिये औषध आदि व्यवहारमें आई हो । ऐसा परिग्रह कारणभुक्त परिग्रह है । तथा कारणभुक्त अनुपधिको भी त्याग दे । अनुपधिमें अन्का अर्थ ईषत् या किञ्चित् है । यह अनुपधि है 'सेज्ज' । 'जो यतिके द्वारा सेवित होती है' इस व्युत्पत्तिके अनुसार सेज्जाका अर्थ वसति है । तथा 'इसमें यति गण रहेंगे' इस अभिप्रायसे जिस वसतिकी सफाई लिपाई पुताई की गई है वह भी त्याज्य है । इन सबको त्यागकर वह मुनि तपश्चरण करता है ॥१७७॥

श्रितिके अनन्तर वह क्या करता है यह कहते है—

गा०—उस श्रितिके अन्तिम समयमें वीर पुरुषोंके द्वारा आचरित अतिकठिन आहारको त्याग देनेका इच्छुक वह मुनि सम्यग्दर्शन आदि परिणामोंकी अभिमुखतामें तत्पर विहारको प्राप्त होता है । अर्थात् रत्नत्रयकी मुख्यताको लिये हुए आचरण करता है ॥१७८॥

वह अभ्युद्यत विहार कैसा है, यह कहते है—

गा०—तत्काल गुरुके पश्चात् जो संघका पालन करता है उसे, विधिपूर्वक समस्त संघको सौंपकर संक्लेशको छोड़कर असंक्लेशसे आत्माको भाता है ॥१७९॥

टी०—सर्वगणसे मतलब है मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका तथा अन्य जनोंका समूह ।

१. णामादिमु–आ० मु० ।

'विसिरिय' दत्त्वा । कथं **'विधिणा'** विधिना । कथं ? सर्वस्य गणस्य मध्ये तं व्यवस्थाप्य स्वयं बहिः स्थित्वा 'एष निरतिचाररत्नत्रयः आत्मानं युष्मानपि समर्थः संसारसागरादुद्धर्तुं, अनुज्ञातश्च मया सूरिरयमिति । तत एतदुपदेशानुसारेण भवद्भिः प्रवर्तितव्य इति । **'अनुदिसाए हु'** 'अनु' पश्चादर्थे दिशिर्विधाने गुरो पश्चाद्दिशति विधत्ते चरणक्रमं यः सोऽभिधीयते अनुदिसशब्देन । **'अहिऊण'** त्यक्त्वा । **'संकिलेसं'** संक्लेश परोपकारसम्पादनायासं । **'भावेइ'** भावयति । **'असंकिलेसेण'** न विद्यते संक्लेशोऽस्मिन्नित्यसंक्लेशः शुभपरिणामस्तेन भावयति आत्मानं ॥१७९॥

जावंतु[1] केइ संगा उदीरया होंति रागदोसाणं ।
ते वज्जितो जिणदि हु रागं दोसं च णिस्संगो ॥१८०॥

त्यक्तव्यसंक्लेशभावनाकल्पस्याख्यानायाचष्टे—

कन्दप्पदेवखिब्भिस अभिओगा आसुरी य सम्मोहा ।
एसा हु संकिलिट्ठा पञ्चविहा भावणा भणिदा ॥१८१॥

कंदप्प इत्यादिना । गतिकर्म चतुर्विधं नरकगतिस्तिर्यग्गतिर्मनुष्यगतिर्देवगतिरित्यत्र देवगतिर्नैकप्रकारा असुरदेवगतिनागदेवगत्यादिप्रपञ्चेन । कन्दर्पदेवगतेः, किल्बिषदेवगतेरभियोग्यदेवगतेः, असुरदेवगतेः, सम्मोहदेवगतेश्च कारणभूता आत्मपरिणामाः । कारणे कार्योपचारोऽन्नप्राणवत् । यथान्नं वै प्राणा इति

'अनुदिसाए' मे अनुका अर्थ है पश्चात् और दिशका अर्थ है विधान । गुरुके पीछे जो चारित्रके क्रमका विधान करता है उसे अनुदिश कहते हैं । सल्लेखनार्थी उसको सर्वसंघके मध्यमें स्थापित करके स्वयं बाहर होता है । उस समय वह कहता है—इसका रत्नत्रय निर्दोष है । यह अपना और तुम्हारा भी संसार सागर से उद्धार करनेमें समर्थ है । मन इसे आचार्य बनने की अनुज्ञा दी है । अतः इसके उपदेशके अनुसार आपको चलना चाहिये । संघके भारसे मुक्त होकर वह परोपकार करनेका प्रयत्न रूप संक्लेश छोड देता है, अर्थात् परोपकार करना छोड देता है और जिसमें संक्लेश नहीं है ऐसे असंक्लेश अर्थात् शुभ परिणाममें आत्माकी भावना भाता है ॥१७९॥

गा०—जितना कोई परिग्रह रागद्वेषकी उदीरणा करने वाला होता है, उसे छोडता हुआ निस्संग होकर राग और द्वेष को निश्चयमें जीतता है ॥१८०॥

विशेष—इस पर विजयोदया टीका नहीं है । आशाधरने भी इस पर टीका नहीं की किन्तु इतना लिखा है कि टीकाकार इस गाथाको नहीं मानता ।

छोडने योग्य संक्लेश भावनाके भेद कहते हैं—

गा०—कन्दर्पदेवगति, किल्विषदेवगति, आभियोग्यदेवगति, असुरदेवगति और सम्मोहदेवगतिके कारण भूत आत्म परिणाम यह निश्चयसे पाँच प्रकारकी संक्लिष्ट भावना कही है ॥१८१॥

टी०—गतिकर्मके चार भेद हैं—नरक गति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति । इनमें से देवगतिके असुरदेवगति, नागदेवगति आदिके विस्तारसे अनेक भेद हैं । कन्दर्पदेवगति, किल्विषदेवगति, आभियोग्य देवगति, असुरदेवगति और सम्मोहदेवगतिके कारणभूत आत्मपरिणामोंको उस उस गतिके नामसे कहा है । यहाँ कारणमें कार्यका उपचार किया है जैसे 'अन्न ही प्राण है' । यहाँ

---

१. एतां टीकाकारो नेच्छति—मूलारा० ।

प्राणकारणेऽन्ने प्राणोपचारा. । कार्यगतेन व्यपदेशेन कन्दर्पभावना, किल्बिषभावना, अभियोग्यभावना, असुर-भावना, सम्मोहभावनाश्चेति पञ्चप्रकारा भावना निरूपिता' सर्वविद्भि . ॥१८१॥

तत्र कन्दर्पभावनानिरूपणायोत्तरगाथा—

कंदप्पकुक्कुआइय चलसीलो णिच्चहासणकहोय ।
विब्भाविंतो य परं कंदप्पं भावणं कुणइ ॥१८२॥

कन्दप्पकुक्कुआइयचलसीलो रागोद्रेकात्प्रहाससम्मिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोग कंदर्पः । रागातिशयवतो हसत' परमुद्दिश्याशिष्टकायप्रयोगः कौत्कुच्य एवं भवत मातर करोमीति । कदर्पकौत्कुच्याभ्या चलसील', **'णिच्चहासणकहो य'** सदा हास्यकथाकथनोद्यतः । **'विब्भाविंतो य परं'** पर विस्मापयन् कुहुक किञ्चिदुपदर्श्य **'कंदप्पं भावणं कुणदि'** कदर्पभावना करोति । रागोद्रेकजनितहासप्रवर्तितो वाग्योग. परमविस्मयकारी वा कंदर्पभावनेत्युच्यते । असकृत्प्रवर्तमान ॥१८२॥

किल्बिषभावनाख्यानायाचष्टे—

णाणस्स केवलीणं धम्मस्साइरिय सव्वसाहूणं ।
माइय अवण्णवादी खिब्भिसियं भावणं कुणइ ॥१८३॥

णाणस्स इत्यादिक । **'माई अवण्णवादी'** इत्येनाभ्या प्रत्येक मवन्धनीयम् । ज्ञानमिह श्रुत परिगृहीत श्रुतज्ञानविषया माया यस्य विद्यत स ज्ञानसम्बन्धी मायावान् ज्ञानभक्तिरहितो बाह्यविनयवृत्ति । **'केवलिणं'**

प्राणके कारण अन्नमें प्राणका उपचार किया है । उन्ही परिणामोका कार्य जो कन्दर्प आदि गति है उसी कन्दर्पशब्दसे कन्दर्प भावना, किल्विप भावना, आभियोग्य भावना, असुर भावना, सम्मोह भावना ये पाँच प्रकार की भावनाएँ सर्वज्ञ देवने कही है ॥१८१॥

आगेकी गाथा मे कन्दर्प भावनाका कथन करते है—

गा०—कन्दर्प कौत्कुच्य आदिसे चलशील, और सदा हास्य कथा करनेमें तत्पर, दूसरेको विस्मयमे डालने वाला कन्दर्प भावनाको करता है ॥१८२॥

टी०—रागकी अत्यधिकतामे हँसीसे मिला हुआ असभ्य वचन बोलना कन्दर्प है । रागकी अधिकतासे हँसते हुए दूसरे को लक्ष्य करके शरीरसे कुचेष्टा करना कौत्कुच्य है । इन दोनोको जो करता है, सदा हास्य कथा करता है, और कुछ कौतुक दिखाकर दूसरेको अचरजमे डालता है, वह कन्दर्प भावना करता है । आशय यह है कि रागकी अधिकतासे होने वाले हास्य पूर्वक वचन योग और काय योग तथा दूसरेको कुतूहल पूर्वक अचरजमे डालना कन्दर्प भावना है ॥१८२॥

किल्विष भावनाको कहते हैं—

गा०—जो ज्ञानके, केवलियोंके, धर्मके, आचार्यो और सर्व साधुओंके विषयमें मायाचार करता है, झूठा दोष लगाता है वह किल्विषक भावनाको करता है ॥१८३॥

टीका—'माइय अवण्णवादी' ये दोनो पद प्रत्येकके साथ लगाना चाहिये । 'ज्ञान' से यहाँ श्रुतज्ञान ग्रहण किया है । जो श्रुतज्ञानके विषयमें माया रखता है वह ज्ञान सम्बन्धी मायाचारी है । ज्ञानमें भक्ति नही है, बाहरसे विनय करता है । केवलियोंमें आदर तो दिखलाता है किन्तु

केवलिष्वादरवानिव यो वर्तते । तदर्चनायां मनसा तु न रोचते स केवलिनां मायावान् । धर्मश्चारित्रं तत्र मायया प्रवृत्तः । आचार्याणां साधूनां च वञ्चकः । किल्बिषभावनां किल्विषभावनां । 'कुणइ' करोति ॥१८३॥

अभियोग्यभावनां निरूपयत्युत्तरगाथा—

मंताभिओगकोदुगभूदीयम्मं पउंजदे जो हु ।
इड्ढिरससादहेदुं अभिओगं-भावणं कुणइ ॥१८४॥

'**मंताभिओगकोदुगभूईकम्मं**' मन्त्राभियोगक्रिया, कुतूहलोपदर्शनक्रियां, बालादीनां रक्षार्थं भूति कर्म च । '**पयुंजदे**' करोति य । '**अभियोगं भावणं कुणइ**' अभियोग्या भावना करोति । किं ? सर्व एव मन्त्राभियोगादौ प्रवृत्तो नेत्याह । '**इड्ढिरससादहेदुं मंताभियोगकोदुगभूईकम्मं जो पउंजदे सो अभियोगभावणं कुणइ**' । द्रव्यलाभस्य, मृष्टाशनस्य, सुखस्य वा हेतुं मन्त्राद्यभियोगकर्म प्रयुङ्क्ते य स एव अभियोग्यभावनां करोति[1] नेतरः । स्वस्य परस्य वा आयुरादिपरिज्ञानार्थं कौतुक उपदर्शयन्, वैयावृत्य प्रवर्तयामीति वा । उद्यत., ज्ञान-दर्शन चारित्रपरिणामादरवर्तनान्न दुष्यतीति भाव ॥१८४॥

चतुर्थी भावनां वदन्ति—

अणुबद्धरोसविग्गहसंसत्ततवो णिमित्तपडिसेवी ।
णिक्किवणिराणुतावी आसुरिअं भावणं कुणदि ॥१८५॥

उनकी पूजा मनमें नही रुचती । वह केवलियोके सम्बन्धमे मायावी है । धर्म अर्थात् चारित्रके विषयमे जो मायाचार करता है वह धर्मका मायावी है । तथा जो आचार्यों और साधुओंको ठगता हे वह किल्विष भावनाको करता है ॥१८३॥

आगेकी गाथासे अभियोग्य भावनाको कहते हैं—

गा०—जो द्रव्यलाभ, मिष्टरस और सुखके लिए मंत्राभियोग—भूत आदि बुलाना, कौतुक—अकालमें वर्षा आदि दिखलाना और बच्चोकी रक्षाके लिये भभूत देना आदि करता है वह अभियोग्य भावना करता है ॥१८४॥

टी०—द्रव्यलाभ, मीठा भोजन और सुखके लिये जो मन्त्राभियोग क्रिया, कुतूहल दिखाने-की क्रिया और बालक आदिकी रक्षाके लिये भूतिकर्म करता है वह अभियोग्य भावनाको करता है । जो द्रव्यलाभ आदिके लोभसे मन्त्रादि करता है वही अभियोग्य भावना करता है, सब नहीं । जो अपनी या दूसरोंकी आयु आदि जाननेके लिये मंत्र प्रयोग करता है, धर्मकी प्रभावनाके लिये कौतुक दिखलाता है या वैयावृत्य करनेकी भावनामे तत्पर रहता है वह ज्ञान दर्शन और चारित्र परिणामोंमें आदर भाव रखनेसे दोषका भागी नही है, यह भाव है ॥१८४॥

चौथी आसुरी भावनाको कहते है—

गा०—अनुबद्ध क्रोध और कलहसे जिसका तप संयुक्त है, ज्योतिष आदिसे आजीविका करता है, निर्दय है, दूसरेको कष्ट देकर भी पश्चात्ताप नही करता वह आसुरी भावनाको करता है ॥१८५॥

---

१. ति तेन य. स्वस्य—आ० मु० ।

'अणुबंधरोसविग्गहसंसत्ततवो णिमित्तपडिसेवी' रोषस्य विग्रहस्य रोषविग्रहौ अनुबन्धौ रोषविग्रहौ अनुबन्धरोषविग्रहौ अनुबन्धरोषविग्रहाभ्यां संसक्तं संबद्धं अनुबन्धरोषविग्रहसंसक्तं तपो यस्य स तथोक्तः । 'णिमित्ताजीवी य' यः स आसुरीभावनां करोति इति केचित्कथयन्ति । अनुबद्धो भवान्तरानुयायी रोषो यस्य सोऽनुबद्धरोषः । विग्रहेण कलहेन संसक्तं तपो यस्य सः विग्रहसंसक्ततपःशब्देन भण्यते । अनुबद्धौ रोषविग्रहौ यस्येत्यनुबद्धरोषविग्रहः । सम्यगतीव संसक्तं संबद्धं परिग्रहेण तपो यस्य स संसक्ततपोऽभिलापवाच्यः । णिक्किव-णिराणुतावी, यः निर्दयः प्राणिषु, कृत्वापि परपीडां अनुतापरहितश्चासुरीं भावना करोति ।।१८५।।

संमोहभावना निरूप्यते—

उम्मग्गदेसणो मग्गदूसणो मग्गविप्पडिवणी य ।
मोहेण य मोहिंतो संमोहं भावण कुणइ ।।१८६।।

उम्मग्गदेसणं मिथ्यादर्शनं, अविरतिं, वा य उपदिशति, आप्ताभासानागमास्तत्प्रणीतांश्च हितत्वेनाचष्टे । यो वा तत्त्वज्ञो हिंसादिकं कुर्वन्नपि न पापेन लिप्यते । ज्ञान हि सर्वं पापं दहति इति प्रतिपादयता हिंसादिभ्यो भयं निराकुर्वता हिंसादिषु जीवा प्रवर्तिता भवन्ति । स एक उन्मार्गस्योपदेष्टा । यज्ञे प्राणिवधो न पापाय शास्त्रचोदितत्वाद्दानादिवत् । किं च पशवो हि यागार्थमेवादौ सृष्टा याजका यजमाना पशवश्च मन्त्रमाहात्म्यात्स्वर्गं लभन्ते इति । अयमेकः उन्मार्गोपदेश । 'मग्गदूसणो' संवरस्य निर्जरायाश्च निरवशेषकर्मापायस्य वा हेतुभूताः समीचीनज्ञानदर्शनचारित्रपरिणामा मार्ग इति उच्यते । अव्याबाधसुखस्य परंपरा-

---

टी०—अनुबद्ध रोष और विग्रहसे जिसका तप सम्बद्ध है और जो निमित्ताजीवि है वह आसुरी भावनाको करता है ऐसा कोई आचार्य कहते है। अनुबद्ध अर्थात् आगामी भवमें जानेवाला जिसका क्रोध है अर्थात् ऐसा उत्कट क्रोध है जो दूसरे भवमें साथ जाता है वह व्यक्ति अनुबद्ध रोष है, जिसका तप विग्रह अर्थात् कलहसे सम्बद्ध है वह 'विग्रह संसक्त तप' शब्दसे कहा जाता है। जिसका रोष और विग्रह अनुबद्ध है वह अनुबद्ध रोष विग्रह है। और जिसका तप परिग्रहसे अतीव सम्बद्ध है वह 'संसक्त तप' शब्दसे कहा जाता है। जो प्राणियोंमें दया नहीं करता तथा दूसरोंको पीड़ा पहुँचा कर भी पछताता नही है, वह आसुरी भावना करता है ।।१८५।।

सम्मोह भावनाको कहते है—

गा०—जो मिथ्यात्व या असंयमका उपदेश देता है, मार्गको दूषण लगानेवाला है और रत्नत्रयका विरोधी है, अज्ञानसे मूढ है वह सम्मोह भावनाको करता है ।।१८६।।

टी०—उम्मग्गदेसण अर्थात् जो मिथ्यादर्शन अथवा अविरतिका उपदेश देता है, आप्ताभासोंको और उनके द्वारा रचित शास्त्रोंको हितकारी कहता है, जो तत्त्वज्ञ है वह हिंसा आदि करते हुए भी पापसे लिप्त नहो होता, ज्ञान सब पापको भस्म कर देता है ऐसा कहनेवाला हिंसा आदि पापका भय दूर करके जीवोंको हिंसा आदिमें लगाता है। वह उन्मार्गका उपदेशक है। यज्ञमें किया गया प्राणिवध पापका कारण नही है क्योंकि वेदमें कहा है जैसे दान पापका कारण नही है। प्रारम्भमें यज्ञके लिये ही पशुओंकी सृष्टि की गई थी। जो यज्ञ करते हैं, कराते हैं और पशु, ये सब मरकर मन्त्रके माहात्म्यसे स्वर्गमें जाते हैं। यह भी उन्मार्गका उपदेष्टा है। 'मग्गदूसणो'—संवर और निर्जराके तथा समस्त कर्मोंके विनाशके हेतु सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र रूप परिणाम मार्ग कहे जाते हैं; क्योंकि बाधारहित सुखके परम्परासे कारण हैं,

कारणत्वाच्च । तस्य मार्गस्य दूषणं नाम ज्ञानादेव मोक्षः किं दर्शनचारित्राभ्यां ? चारित्रमेवोपायः किं ज्ञानेनेति कथयन्मार्गस्य दूषको भवति । अथवा मार्गप्रख्यापनपरं श्रुतं मार्गस्तस्य दूषको यो अपव्याख्यानकारी । **'मग्गविप्पडिवण्णी य'** मार्गे रत्नत्रयात्मके विप्रतिपन्नः एष न मुक्तेर्मार्ग इति यस्तद्विरुद्धाचरणः । मोहेन च अज्ञानेन च संशयविपर्यासरूपेण । **'मुज्झन्तो'** मुह्यन् । **सम्मोहेसु** तीव्रकामरागेषु कुत्सितेषु देवेषु उपपद्यते ॥१८६॥

भावनानां फलं दर्शयति भयोपजननाय—

एदाहिं भावणाहिं य विराधओ देवदुग्गदिं लहइ ।
तत्तो चुदो समाणो भमिहिदि भवसागरमणंतं ॥१८७॥

'एदाहिं भावणाहिं य' एताभिः भावनाभिः । **'देवदुग्गइं लहदि'** देवेषु दुष्टा या गतिस्तां गच्छति । **'विराधगो'** रत्नत्रयाच्च्युतः । **'तत्तो चुदो समाणो'** तस्या देवदुर्गतेश्च्युतः सन् । **'भमिहिदि'** भ्रमिष्यति भवसागरमन्तातीतं ॥१८७॥

एदाओ पंच वि वज्जिय इणमो छट्ठीए विहरदे धीरो ।
पंचसमिदो तिगुत्तो णिस्संगो सव्वसंगेसु ॥१८८॥

'एदाओ पंच वि वज्जिय' एताः पञ्च भावनाः परित्यज्य **'इणमो'** अयं यतिः धीरः । **'छट्ठीए'** षष्ठ्या भावनया । **'विहरदे'** प्रवर्तते । षष्ठ्या भावनायां प्रवर्तितुं एवंभूतो योग्यः इत्याचष्टे—**'पंचसमिदो'** समितिपञ्चकवृत्तिः । **'तिगुत्तो'** गुप्तित्रयालंकृतः । **'णिस्संगो'** संगरहितः । **'सव्वसंगेसु'** सर्वपरिग्रहेषु ॥१८८॥

का सा षष्ठीभावना ? अत्राचष्टे—

तवभावणा य सुदसत्तभावणेगत्तभावणा चेय ।
धिदिबलविभावणाविय असंकिलिट्ठावि पंचविहा ॥१८९॥

उस मार्गको दूषण लगाना । यथा—ज्ञानसे ही मोक्ष होता है, दर्शन और चारित्रसे क्या लाभ । अथवा चारित्र ही मोक्षका उपाय है, ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है । ऐसा कहनेवाला मार्गका दूषक होता है । अथवा मार्गका ज्ञान करानेवाला श्रुतमार्ग है उसका जो दूषक है—मिथ्या व्याख्यान करता है । 'मग्गविप्पडिवणी'—रत्नत्रयात्मक मार्गमें विप्रतिपन्न है । यह मुक्तिका मार्ग नहीं है ऐसा मानकर उसके विरुद्ध आचरण करता है और मोह अर्थात् संशय विपर्ययरूप अज्ञानसे मोहित है । वह तीव्रकामी और रागी नीच देवोंमें उत्पन्न होता है ॥१८६॥

भय उत्पन्न करनेके लिये भावनाओंका फल बतलाते हैं—

गा०—रत्नत्रयसे च्युत हुआ व्यक्ति इन भावनाओंसे देवोंमें जो दुष्टगति है उसे प्राप्त करता है । उस देवदुर्गतिसे च्युत होकर अन्तरहित संसार समुद्रमें भ्रमण करता है ॥१८७॥

गा०—इन पाँचों ही भावनाओंको त्याग कर यह धीर यति छठी भावनामें प्रवृत्त होता है । जो पाँच समितियोंको पालता है, तीन गुप्तियोंसे सुशोभित है और सब परिग्रहोंमें आसक्ति रहित है । अर्थात् छठी भावनामें प्रवृत्त होनेके योग्य ऐसा यति ही होता है ॥१८८॥

छठी भावनाको कहते हैं—

'**तवभावणा**' तपसोऽभ्यासः । '**सुदभावणा**' ज्ञानस्य भावना । '**सत्तभावणा**' अभीरुत्वभावना । '**एगत्तभावणा**' एकत्वभावना । '**धिदिबलविभावणावि य**' धृतिबलभावना चेति । '**असंकिलिट्ठावि पंचविधा**' असंक्लिष्टा भावनाः पञ्चप्रकाराः । ननु च ताः पञ्चभावनास्तत्र किमुच्यते '**छट्ठी य भावणा चेति**' असंक्लिष्टभावनात्वसामान्यापेक्षया एकतामारोप्य षष्ठीत्युच्यते । विशेषरूपापेक्षया तपोभावनादिविवेक । अत एव सूत्रकारोऽपि एकतां दर्शयति **असंकिलिट्ठा वि पंचविहा**' इति ॥१८९॥

तपोभावना समाधे' कथमुपाय इत्यत्राचष्टे—

तवभावणाए पंचेंदियाणि दंताणि तस्स वसमेंति ।
इंदियजोगायरिओ समाधिकरणाणि सो कुणइ ॥१९०॥

'**तवभावणाए**' तपोभावनया असकृद्वशमत्यागेन द्रव्यभावरूपेण । '**पंचेंदियाणि**' पञ्चापि इन्द्रियाणि । '**तस्स**' तपोभावनारतस्य । '**वसमेंति**' वशमुपयान्ति । '**यतो**' यस्मात्, '**दंताणि**' दान्तानि निगृहीतदर्पाणि । **इंदियजोगायरिओ**' इन्द्रियाणां शिक्षाविधाय्याचार्योऽसौ । '**समाधिकरणानि**' रत्नत्रयसमाधानक्रिया । '**सो**' स, '**कुणइ**' करोति । एतदुक्तं भवति । दान्तानि इन्द्रियाणि तपसा न कामरागमभ्यानयन्ति । क्षुधादिभिरुपद्रुतात्मा न वामलोचनासुरतक्रीडादौ करोत्यादरमिति प्रतीतमेव । ननु चानशनादौ प्रवृत्तस्याहारदर्शने तद्वार्ताश्रवणे तदासेवायां चादरो नितान्तं प्रवर्तते ततोऽयुक्तमुच्यते तपोभावनया दान्तानीन्द्रियाणीति । इन्द्रियविषय-

---

गा०—असंक्लिष्ट अर्थात् सक्लेशरहित भावना भी पाँच प्रकारकी है—तप भावना, श्रुतभावना, सत्त्व भावना, एकत्व भावना और धृतिबल भावना ॥१८९॥

टी०—तपका अभ्यास तप भावना है। ज्ञानकी भावना श्रुतभावना है। निर्भयताकी भावना सत्त्व भावना है। एकत्व भावना और धृतिबल भावना ये पाँच असंक्लिष्ट भावना है।

शंका—ये तो पाँच भावना है तब छठी भावना कैसे कहा ?

समाधान—असंक्लिष्ट भावनापना इन सबमे समान है, इस अपेक्षा इनमें एकत्वका आरोप करके छठी भावना कहा है। विशेषकी अपेक्षा तपो भावना आदि भेद होता है। इसीसे ग्रन्थकार भी 'असंकिलिट्ठा वि पंचविहा' लिखकर एकताको बतलाते हैं ॥१८९॥

तपभावना समाधिका उपाय कैसे है यह कहते है—

गा० द्रव्य और भावरूप तपकी भावनासे पाँचो इन्द्रियाँ दमित होकर उस तप भावनावालेके वशमें हो जाती हैं। इन्द्रियोको शिक्षा देनेवाला वह आचार्य रत्नत्रयका समाधान करनेवाली क्रियाएँ करता है ॥१९०॥

टी०—इसका भाव यह है कि तपसे दमित इन्द्रियाँ साधुमें कामराग उत्पन्न नही करती। जो भूख आदिसे पीड़ित है वह स्त्रीके साथ रतिक्रीडा आदि करनेमें रुचि नही रखता यह प्रसिद्ध ही है।

शङ्का—जो उपवास आदि करता है उसका आहारके देखनेमें, आहारकी चर्चा सुननेमें और उसके सेवनमें अत्यन्त आदर होता ही है। अतः यह कहना अयुक्त है कि तप भावनासे इन्द्रियाँ दमित होती हैं ?

रागकोपपरिणामानां कर्मास्रवहेतुतया अहितत्वप्रकाशनपरिज्ञानपुरःसरतपोभावनया विषयसुखपरित्यागात्मकेन अनशनादिना दान्तानि भवन्ति इन्द्रियाणि । पुनः पुनः सेव्यमानं विषयसुखं रागं जनयति । न भावनान्तरान्तर्हितमिति मन्यते ॥१९०॥

तपोभावनारहितस्य दोषमाचष्टे उत्तरप्रबन्धेन सदृष्टान्तोपन्यासेन—

इंदियसुहसाउलओ घोरपरीसहपराजियपरस्सो ।
अकदपरियम्म कीवो मुज्झदि आराहणाकाले ॥१९१॥

'इंदियसुहसाउलओ' इन्द्रियसुखस्वादलम्पटो । **'घोरपरीसहपराजियपरस्सो'** परीषहैः घोरैः दुःसहैः क्षुदादिभिः पराजितोऽभिभूत सन् यः पराङ्मुखतां गतो रत्नत्रयस्य । **'अकदपरियम्म कीवो'** अकृतं परिकर्म तपआराधनाया येनासौ अकृतपरिकर्मा । **'कीवो'** दीन । **'मुज्झदि'** मुह्यति विचित्ततामाप्नोति । **'आराहणाकाले'** आराधनायाः काले ॥१९१॥

अत्र दृष्टान्तमाह—

जोग्गमकारिज्जंतो अस्सो सुहलालिओ चिरं कालं ।
रणभूमीए वाहिज्जमाणओ जह ण कज्जयरो ॥१९२॥

'जोग्गमकारिज्जंतो' वाक्चालनभ्रमणलङ्घनादिका शिक्षां अकार्यमाण. । **'अस्सो'** अश्व । **'सुहलालिओ'** सुखलालित । **'चिरं कालं रणभूमीए'** युद्धभूमौ । **'वाहिज्जमाणओ'** वाह्यमानः । **'जह ण कज्जकरो'** यथा कार्यं न करोति तथा यतिरपि ॥१९२॥

सुगमत्वान्न व्याख्यायते गाथात्रयम तवभावणा—

पुव्वमकारिदजोगो समाधिकामो तहा मरणकाले ।
ण भवदि परीसहसहो विसयसुहे मुच्छिदो जीवो ॥१९३॥

समाधान—इन्द्रियके विषयमें होनेवाले राग द्वेषरूप परिणाम कर्मोके आस्रवमें हेतु होते हैं इसलिये वे अहितकारी हैं। इस परिज्ञानपूर्वक तपोभावनासे किये गये अनशन आदिसे जो कि विषय सुखके परित्यागरूप है, इन्द्रियाँ दमित होती हैं। बार बार सेवन किया गया विषय सुख रागको उत्पन्न करता है। किन्तु भावनासे दमित हुआ नहीं करता ॥१९०॥

जो तपभावनासे रहित है उसका दोष दृष्टान्तपूर्वक आगेकी गाथासे कहते हैं—

गा०—जो इन्द्रिय सुखके स्वादमें आसक्त है, भूख आदिकी दुःसह परीषहोंसे हारकर रत्नत्रयसे विमुख हुआ है, जिसने परिकर्म-आराधनाके योग्य तप नहीं किया है वह दीन आराधनाके कालमें विचित्त हो जाता है उसका मन इधर-उधर भटकता है ॥१९१॥

इसमें दृष्टान्त देते हैं—

गा०—जैसे जिस घोड़ेको शब्दके संकेत पर चलने, भ्रमण, लंघन आदिकी शिक्षा नहीं दी गई है और चिरकाल तक सुखपूर्वक लालन पालन किया गया है वह घोड़ा युद्धभूमिमें सवारीके लिये ले जाया गया कार्य नहीं करता वैसे ही यति भी जानना ॥१९२॥

आगेकी तीन गाथाएँ सुगम हैं अतः उनकी टीका नहीं है—

जोग्गं कारिज्जंतो अस्सो दुहभाविदो चिरं कालं ।
रणभूमीए वाहिज्जमाणओ कुणदि जह कज्जं ॥१९४॥
पुव्वं कारिदजोगो समाधिकामो तहा मरणकाले ।
होदि हु परीसहसहो विसयसुहपरम्मुहो जीवो ॥१९५॥

श्रुतभावनामाहात्म्यं प्रकटयति—

सुदभावणाए णाणं दंसणतवसंजमं च परिणवइ ।
तो उवओगपइण्णा सुहमच्चविदो समाणेइ ॥९६॥

'**सुदभावणाए**'—श्रूयते इति श्रुतमित्यस्या व्युत्पत्तौ शब्दश्रुतमुच्यते । तस्य भावना नाम तदर्थविषयज्ञानासकृत्प्रवृत्ति । ननु शब्दश्रुतस्यासकृत्पठनं श्रुतभावना स्यात्, ज्ञानं ततोऽर्थान्तरं ? अत्रोच्यते—श्रुतकार्ये ज्ञाने श्रुतशब्दो वर्तते इति । न दोषो वा । गच्छतीति गौरिति व्युत्पत्तावपि नाश्वादौ गोशब्दो वर्तते । किन्तु रूढिवशात्सास्नादिमत्येव । एवमिहापि श्रूयते इति व्युत्पादितोऽपि न सकले श्रोत्रोपलभ्ये वचनसन्दर्भे प्रवर्तते, अपि तु स्वसमयरूढिवशाद् गणधरोपरचिते एव । तथैव श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमनिमित्ते ज्ञाने एव वर्तते । तस्यास्य श्रुतज्ञानस्य भावनया । '**णाणं दंसणतवसंजमं च परिणमइ**' समीचीनज्ञानदर्शनतपःसंयमपरिणति

गा०—जिसने पूर्व कालमे तप नही किया और विषय सुखमे आसक्त रहा वह जीव मरते समय समाधिकी कामना करता हुआ उस प्रकार परीषहको सहन करनेवाला नही होता ॥१९३॥

गा०—जैसे योग्य शिक्षाको प्राप्त अश्व चिरकाल तक दुःखसे भावित हुआ, अर्थात् कष्ट सहनेका अभ्यासी युद्धभूमिमे सवारीमे ले जाने पर कार्य करता है ॥१९४॥

गा०—उसी प्रकार पूर्वमें तप करनेवाला विषय सुखसे विमुख जीव मरते समय समाधिका इच्छुक हुआ निश्चयसे परीषहको सहनेवाला होता है ॥१९५॥

श्रुतभावनाका माहात्म्य प्रकट करते हैं—

गा०—श्रुतभावनासे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, तप और संयमरूप परिणमन करता है । ज्ञान भावनासे उपयोगकी प्रतिज्ञाको सुखपूर्वक अचलित होता हुआ समाप्त करता है ॥१९६॥

टी०—'श्रूयते' जो सुना जाता है वह श्रुत है 'ऐसी व्युत्पत्ति करनेपर श्रुतसे शब्दश्रुत कहा जाता है । उसकी भावनाका मतलब है—शब्दके अर्थविषयक ज्ञानमें बार-बार प्रवृत्ति करना अर्थात् उसका अभ्यास करना श्रुतभावना है ।

शंका—शब्दरूप श्रुतका बार-बार पढ़ना श्रुतभावना है । ज्ञान उससे भिन्न है ?

समाधान—श्रुतका कार्य ज्ञान है अतः उसे भी श्रुतशब्दसे कहते हैं । इसमें कोई दोष नही है । जो 'गच्छति' चलती है वह गौ है ऐसी व्युत्पत्ति करनेपर भी अश्व आदिको 'गौ' शब्दसे नहीं कहा जाता । किन्तु रूढ़िवश गलकम्बलवाले पशुको ही गौ कहा जाता है । इसी प्रकार यहाँ भी 'श्रूयते जो सुना जाता है वह श्रुत है ऐसी व्युत्पत्ति करनेपर भी कानसे जो कुछ वचन समूह सुना जाता है उस सबको श्रुत नहीं कहते । किन्तु अपनी आगमिक रूढ़िवश, गणधरके द्वारा रचे गये शब्दसमूहको ही श्रुत कहते है । उसी प्रकार श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमके निमित्तसे होनेवाले ज्ञानको ही श्रुत कहते हैं । उस श्रुतज्ञानकी भावनासे समीचीनज्ञान दर्शन तप और

प्रतिपद्यते । ज्ञानभावनापरो ज्ञानपरिणतो भवतु कथमसौ दर्शनादौ परिणामान्तरे प्रवृत्तो भवति ? न हि क्रोधपरिणतो मायायां प्रवृत्तो भवतीति चेन्नैष दोषः । यद्यन्नान्तरीयकं तस्मिन्सति तद्भवत्येव सर्वथा कृतकत्वेऽनित्यत्वं । ज्ञानं चान्तरेण न भवन्ति सम्यग्दर्शनादयः । अत्रेदं चोद्यं—असंयतसम्यग्दृष्टेरस्ति ज्ञानं तस्य तपःसंयमौ किमुत स्तः ? संयमसद्भावे कथमसंयतता ? तस्मान्न तौ स्तः । कथमिदं सूत्रं ? नायमस्य सूत्रस्यार्थो ज्ञानभावनायां सत्यां भवत्येव सर्व एव इति, किन्तु ज्ञानभावनायां सत्यामेव भवन्ति नासत्याम् । तपःसंयमौ कार्यत्वेन स्थितौ चारित्रमोहक्षयोपशमविशेषसहायापेक्षिणा ज्ञानेन प्रवर्त्येते, न चावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति । धूममजनयतोऽप्यग्नेर्दर्शनात् काष्ठाद्यपेक्षस्य । 'तो' ततः ज्ञानभावनातः । 'उवओगपदिण्णं' ज्ञानदर्शनतपःसंयमपरिणामप्रबन्धे प्रवर्तयाम्यात्मानं इति या उपयोगप्रतिज्ञा तां । 'सुहं' असंक्लेशेन । 'समाणेदि' समापयति । 'अच्चविदो' अचलितः ॥१९६॥

जदणाए जोग्गपरिभाविदस्स जिणवयणमणुगदमणस्स ।
सदिलोवं कादुं जे ण चयंति परीसहा ताहे ॥१९७॥

'जदणाए' यत्नेन । 'जोग्गपरिभाविदस्स' युज्यते अनेन अनशनादिना निर्जरार्थं यतिरिति बाह्य तपः

संयमरूप परिणतिको प्राप्त होता है।

शंका—जो ज्ञानभावनामें लीन है वह ज्ञानरूप परिणत होता है किन्तु वह दर्शन आदि अन्य परिणामरूप परिणत कैसे हो सकता है ? जो क्रोध रूपसे परिणत है वह मायारूपसे परिणत नही हो सकता ?

समाधान—यह दोष उचित नही है। जो जिसके विना नही होता वह उसके होनेपर अवश्य होता है। जैसे जो बनाया हुआ है वह अनित्य अवश्य है। ज्ञानके विना सम्यग्दर्शन आदि नही होते।

शंका—यहाँ यह तर्क होता है कि असंयत सम्यग्दृष्टीके ज्ञान है तब क्या उसके तप और संयम है ? यदि संयम है तो वह असंयत कैसे है ? अतः उसके तप और सयम नही है ? तब यह सूत्रगाथा कैसे ठीक है ?

समाधान—इस सूत्रगाथाका यह अर्थ नही है कि ज्ञानभावनाके होनेपर सब तप सयम आदि होते ही हैं। किन्तु ज्ञानभावनाके होनेपर ही होते है, उसके अभावमे नही होते। तप और संयम कार्य है अतः चारित्रमोहके क्षयोपशम विशेषकी अपेक्षा सहित ज्ञानके होनेपर होते हैं। कारणके होनेपर कार्य अवश्य होता ही है ऐसा नियम नही है। काष्ठ आदिकी आग बिना धूमके भी देखी जाती है।

ज्ञानभावनासे उपयोग प्रतिज्ञाको बिना क्लेशके अचल होकर समाप्त करता है—पूर्ण करता है। 'मैं ज्ञान दर्शन तप संयमरूप परिणामोंमें अपनेको प्रवृत्त करता हू' यह उपयोग प्रतिज्ञा है ॥१९६॥

गा०—तब यत्नसे अपनेको तपसे भावित करनेवालेके तथा जिनागमके अनुगत चित्तवालेके स्मृतिका लोप करनेमें परीषह समर्थ नहीं होती ॥१९७॥

टी०—यति निर्जराके लिए इस अनशन आदिसे 'युज्यते' युक्त होता है वह योग है। इस

योगशब्देनाभोच्यते । तेनायमर्थः । तपसा भावितस्येति । 'जिणवयणमणुगदमणस्स' जिनवचनानुगतचेतसः । 'सदिलोवं' स्मृतिलोपं । रत्नत्रयपरिणामप्रबन्धसम्पादनोद्योगस्य स्मृतिर्या तस्या विनाशं । 'कादुंजे' कर्तुं । 'ण चयंति' न शक्नुवन्ति । के ? परिस्सहा' क्षुदादिवेदनाः । 'ताहे' तदा । एतदुक्तमनया गाथया—अभ्यस्यमानं श्रुतज्ञानं निर्मलं पटीयो भवति । पाटवाभ्यासबलेन च स्मृतिरखेदेन प्रवर्तते । स्मृतिमूलो हि योगो वाक्काय-व्यापार इति । सुदं गदं ॥१९७॥

सत्त्वभावनाया गुणं स्तौति उत्तरगाथया—

देवेहिं भीसिदो वि हु कयावराधो व भीमरूवेहिं ।
तो सत्तभावणाए वहइ भरं णिब्भओ सयलं ॥१९८॥

बहुसो वि जुद्धभावणाय ण भडो हु मुज्झदि रणम्मि ।
तह सत्तभावणाए ण मुज्झदि मुणी वि उवसग्गे ॥१९९॥

'देवेहिं' देवैस्त्रासितोऽपि । हु स्फुटं । कृतापराधोऽपि भीमरूपैः । वा अथवा । तो ततः । सत्त्वभावनया मोहदुःखात् । 'वहइ भरं णिब्भओ सयलं' वहति भरं संयमस्य निर्भयः सकलं । मृतेर्भीमरूपदर्शनाच्च भीतिरुपजायते । भीतस्य प्रच्युतरत्नत्रयस्य तदतिदुरवापं । तदनवाप्त्या न कर्म निर्मूलनं शक्यं कर्तुं । अना-

---

व्युत्पत्तिके अनुसार यहाँ योग शब्दसे बाह्य तप कहा है । अत 'जोग्गपरिभाविदस्स' का अर्थ तपसे भावित होता है । जो यत्नपूर्वक तप करता है और अपने चित्तको जिनागमका अनुसारी बनाता है उसकी स्मृतिका—अर्थात् रत्नत्रयरूप परिणामोंके प्रबन्ध सम्पादनमें उद्योग करनेकी जो उसकी स्मृति है कि मुझे रत्नत्रयरूप परिणामोंको सम्पन्न करनेमें उद्योग करना है उस स्मृतिक लोप परीषह नहीं कर सकतीं । इस गाथासे यह कहा है कि सतत अभ्यास करनेसे श्रुतज्ञाना निर्मल और प्रबल होता है । प्रबल अभ्यासके बलसे स्मृति विना खेदके अपना काम करती है । योग अर्थात् वचन और कायके व्यापारका मूल स्मृति है ॥१९७॥

श्रुतभावनाका कथन समाप्त हुआ ।

आगेकी गाथासे सत्त्वभावनाके गुणका कथन करते हैं—

गा०—देवोंके द्वारा पीड़ित किया गया भी अथवा भयंकर जीवोंके द्वारा सताया गया यति सत्त्वभावनाके द्वारा दुःख सहन करनेसे निडर होकर संयमके समस्त भारको वहन करता है ॥१९८॥

टी०—मरणसे और भयंकररूपके देखनेसे भय उत्पन्न होता है । डरकर यदि रत्नत्रयको छोड़ बैठा तो पुनः उसकी प्राप्ति बहुत कठिन है । और रत्नत्रयको प्राप्त किये विना कर्मका निर्मूलन करना शक्य नहीं है । तथा कर्मोंका विनाश न होनेपर वे आत्माको नाना प्रकारके कष्ट देते हैं । इसलिए भय ही अनेक अनर्थोंका मूल है ऐसा निश्चय करके सबसे पहले भयको ही भगाना चाहिए ॥१९८॥

गा०—अनेक प्रकारकी भी युद्ध सम्बन्धी भावनासे जैसे योद्धा युद्धमें नहीं ही मोहित होता अर्थात् युद्धसे नहीं डरता । वैसे ही मुनि भी सत्त्वभावनासे उपसर्ग आनेपर मोहित नहीं होता ॥१९९॥

सावितप्रलयानि च कर्माणि विचित्र यातयन्त्यात्मानं । ततो भीतिरेवानेकानर्थमूलमिति निश्चित्य सा प्रागेव निरसनीया । तथाहि—॥१९९॥

खणणुत्तावणवालणवीयणविच्छेयणाविरोहत्तं ।
चिंतिय दुहं अदीहं मुज्झदि णो सत्तमाविदो दुक्खे ॥२००॥
बालमरणाणि साहू सुचिंतिदूणप्पणो अणंताणि ।
मरणे समुट्ठिए विहि मुज्झइ णो सत्तभावणाणिरदो ॥२०१॥

पृथिवीकायिका सन् खननदहनविलेखनकुट्टनभञ्जनलोठनपेषणचूर्णनादिभिर्बाधा परिप्राप्तोऽस्मि । अपश्च शरीरत्वेनोपादाय घर्मरश्मिकरनिकरापातेन, दहनज्वालाकलापकवलिततनुतया पर्वतदरीसमुन्नतदेशेभ्योऽतिवेगेन शिलाघनवसुन्धरासु पतनेन, आम्ललवणक्षारादिरससमवेतद्रव्यसम्मिश्रणेन, धगधगायमानेऽग्नौ प्रक्षेपणेन, तरुतटशिलापातेन पादकरतलाभिघातेन, तरणोद्यतानां विशालघनोरःस्थलावपीडनेन, अवलोकमानमहानागतरणमज्जनहस्तक्षोभणादिना च महती वेदना अधिगतोऽस्मि ।

तथा समीरणं तनुतया परिगृह्य द्रुमगुल्मशिलोच्चयादीनां प्राणभृता नितान्तकठिनकायाना चाभिघातेन समीरणान्तरावमर्दनेन, ज्वलनस्पर्शनेन च दुःखासिकामनुभूतोऽस्मि ।

तथा परिगृहीताग्निशरीरो विध्यापनेन पांसुभस्मसिकतादिप्रक्षेपणेन, मुशलमात्रजलधारापातेन, दण्डकाष्ठादिभिस्ताडनेन, लोष्ठपाषाणादिभिश्चूर्णनेन प्रभञ्जनभञ्जनेन विपदमाश्रितोऽस्मि ।

फलपलाशपल्लवकुसुमादिकाय स्वीकृत्य त्रोटनभक्षणमर्दनपेषणदहनादिभिस्तथा गुल्मलतापादपादिक

गा०—खोदना, जलना, बहना छेदना, रोपनाको विचारकर सत्त्वभावनायुक्त मुनि दुःखमे अल्पकालीन दुःखसे मोहित नही होता अर्थात् नही डरता ॥२००॥

गा० - सत्त्वभावनामे लीन साधु अपने अनन्त बालमरणोंको सम्यकरूपसे विचारकर मरणके उपस्थित होनेपर भी मोहित नही होता ॥२०१॥

टी०—पृथ्वीकायमे जन्म लेकर मैने खोदने, जलने, जोतने, कूटने, तोडने, लोटने, पीसने और चूर्णकी तरह पीसे जानेका कष्ट उठाया है। जलको शरीररूपसे ग्रहण करके मैने सूर्यकी किरणोंके समूहके गिरनेसे, आगकी ज्वालाके समूहके द्वारा मेरे शरीरको निगल लेनेसे, पर्वतकी गुफा जैसे ऊँचे स्थानोंसे शिला और कठोर पृथिवी पर अतिवेगसे गिरनेसे, खट्टे, नमकीन, खारे आदि रसोसे युक्त द्रव्योके मिलनेसे, धक्-धक् जलती हुई आग पर फेकनेसे, वृक्ष, किनारे और शिलाओंके गिरनेसे, पैर और हथेलीके अभिघातसे, तैरनेमें उद्यत मनुष्योंके विशाल और दृढ़ छातीसे पीड़ित होनेसे, विशालकाय हाथियोके तैरने डूबने और सूंडके द्वारा क्षोभित होनेसे मैने बड़ी वेदना भोगी है। तथा वायुको शरीररूपसे ग्रहण करके वृक्ष, झाड़ी, पर्वत आदि प्राणियोकी अत्यन्त कठोर कायाके अभिघातसे, दूसरी वायुके द्वारा दबाये जानेसे, और आगके स्पर्शनसे मैने दुखोंका अनुभव किया है। तथा अग्निको शरीररूपसे ग्रहण करके बुझानेसे, धूल भस्म रेत आदि मेरे ऊपर फेंकनेसे, मूसल जैसी जलधारा डालनेसे, दण्ड काष्ठ आदिसे पीटनेसे, लोष्ठ पत्थर आदिसे चूर्णित करनेसे और वायुसे पीड़ित होनेसे मैं विपत्तियोका स्थान बन चुका हूँ। फल, पलाश, पत्र, फूल आदिके शरीरको स्वीकार करके तोड़ना, खाना, मलना, पीसना और जलाने आदिसे

वल्लयादेश्छेदनेन, भेदनेनोत्पाटनेन, रोहणेन, कर्षणेन, दहनेन च क्लेशभाजनतामुपयातोऽस्मि ।

तथा कुन्थुपिपीलिकादित्रसो भूत्वा वेगप्रयायिरथचक्राक्रमणेन, खरतुरगादिपरुषखुरसन्ताडनेन, जल-प्रवाहप्रकर्षणेन, दावानलेन, द्रुमपाषाणादिपतनेन, मनुजचरणावमर्दनेन, बलवता भक्षणेन च चिरं क्लिष्टोऽस्मि ।

तथा खरकरभबलीवर्दादिभावमापद्य गुरुतरभारारोपणेन, बन्धनेन, कर्कशतरकशादण्डमुशलादिताड-नेनाहारनिरोधनेन, शीतोष्णवातादिसंपातेन, कर्णच्छेदनेन, दहनेन, नासिकावेधनेन, विदारणेन, परश्वादिनि-शितासिधाराप्रहारेण चिरमुपद्रुतोऽस्मि । तथा भग्नपादं, कृशतया व्याध्यभिभवेन वा पतितं इतस्ततः परा-वर्तमानं, क्रूरतमव्याघ्रशृगालसारमेयादिभिर्भक्ष्यमाणं, काकगृध्रकङ्कादिभिः कवलीक्रियमाणं, तरलतरतार-काक्षियुगलं, कस्त्रातुमासीत् । ततो यतो गुरुतरभारोद्वहनजातक्वथितव्रणसमुद्भवकृमिकुलेन, काकादिभिश्चा-नारतमुपद्रुतोऽस्मि ।

तथा मनुजभवेऽपि करणवैकल्याद्दारिद्र्यादसाध्यव्याध्युपनिपातात्, प्रियालाभादप्रिययोगात्परप्रेष्यकरणा-त्परपराभवात्, द्रविणार्जनाशया दुष्करकर्मादानमूलषट्कर्मोद्योगाच्च, विचित्रा विपदमुगतोऽस्मि ।

तथैवामरभवेऽपि दूरमपसर लघु प्रयाहि, प्रभोः प्रस्थानवेला वर्तते, प्रयाणपटहं ताडय, ध्वजं धारय, सुरासदेवीजनं पालय, तिष्ठ स्वामिनोऽभिलषितेन वाहनरूपेण, किं विस्मृतोऽस्यनल्पपुण्यपण्यशतमखस्य दासे-रतां यत्तूष्णीं तिष्ठसि । पुरो न धावसीति देवमहत्तरपरुषतरभारतीशलाकाना श्रवणतोदनेन शतमुखान्त.-

तथा झाड़ी, बेल, वृक्ष आदिको छेदने, भेदने, उखाड़ने, खींचने और जलानेसे मैं क्लेशका पात्र बना हूँ।

तथा कुंथु चींटी आदि त्रस पर्यायको धारण करके वेगसे जाते हुए रथके पहियेके आक्रमण-से, गधे घोड़े आदिके कठोर खुरके आघातसे, जलके प्रवाहके खिंचावसे, जंगलकी आगसे, वृक्ष, पत्थर आदिके गिरनेसे, मनुष्यके चरणोंसे रौंदे जानेसे और बलवानोंके द्वारा खाये जानेसे मैंने चिरकाल तक कष्ट भोगा है। तथा गधा ऊँट बैल आदिका शरीर धारण करके भारी बोझा लादनेसे, सवारी करनेसे, बाँधनेसे, अत्यन्त कठोर कोड़े, दण्डे, और मूसल आदिसे पीटनेसे, भोजन न देनेसे, शीत उष्ण वायु आदिके चलनेसे, कान छेदनेसे, जलानेसे, नाक छेदनेसे, परशु आदिसे काटनेसे, तीक्ष्ण तलवारकी धारके प्रहारसे मैंने चिरकाल उपद्रव सहे हैं। तथा पैर टूट जाने पर, कमजोर होनेसे अथवा रोगसे पीड़ित होनेसे गिर पड़ने पर, इधर-उधर घूमने पर अतिक्रूर व्याघ्र, सियार, कुत्ते आदिसे खाये जाने पर, कौवे, गिद्ध, कंक आदि पक्षियोंके द्वारा अपना आहार बनाये जाने पर, आखोंसे आँसू बहाते हुए भी कौन मेरी रक्षा करता था। अतः भारी बोझा लादनेसे उत्पन्न हुए घावों में पैदा हुए कीटोंसे और उनको खाने वाले कौओंसे मैं निरन्तर सताया गया हूँ। तथा मनुष्यभवमें भी इन्द्रियोंकी कमी होनेसे, गरीबीसे, असाध्य रोगके होनेसे, इष्ट वस्तुके न मिलनेसे, अप्रियके संसर्गसे दूसरेकी चाकरी करनेसे, दूसरेके द्वारा तिरस्कृत होनेसे, धन कमानेकी इच्छासे दुष्कर कर्मबन्धके कारण षट्कर्मोंको करनेसे अनेक प्रकारकी विपत्तियोंको मैंने भोगा है। उसी प्रकार देवपर्यायमे भी—दूर हटो, जल्दी चलो, स्वामीके प्रस्थान करनेका समय है। प्रस्थान करनेके नगारे बजाओ, ध्वजा लो, निरास देवियोंकी देखभाल करो, स्वामीको इष्ट वाहनका रूप धारण करके खड़े रहो, क्या अति पुण्यशाली इन्द्रकी दासताको भूल गये जो चुपचाप खड़े हो, आगे नहीं दौड़ते। इस

१. स्नान—अ० आ०।

पुरत्रप्रविभ्रमविलोकनोद्भूताभिलाषबहलजनितसन्तापेन षण्मासावस्थितेरायुषः परिज्ञानेन च महद्दुखमापादि दुःखं। एवं नरकभवेपि। इत्यमनन्तकालमनुभूतदुःखस्य मम को विषादो, दुःखोपनिपाते। न च विपण्णं स्यजन्ति दुःखानि, स्वकारणायत्तसन्निधानानि तानीति सत्वभावना। यदशुभशरीरदर्शनाद् भीतिः सापि नो युक्ता। तानि शरीराणि असकृन्मया गृहीतानि दृष्टानि च। का तत्र परिचितेभ्यो भीतिरिति चित्तस्थिरीक्रिया सत्वभावना ॥२०१॥

एयत्तभावणाए ण कामभोगे गणे सरीरे वा।
सज्जइ वेरग्गमणो फासेदि अणुत्तरं धम्मं ॥२०२॥

एकत्वभावना नाम जन्मजरामरणावृत्तिजनितदुःखानुभवने न दुःखं मदीयं संविभजति कश्चित्। दुःखसंविभजनगुणेन स्वजन इत्यनुरागः तदकरणेन च परजन इति च द्वेषो युज्यते। न चेदस्ति सुखं मय्याधातुमक्षमः इति न तत्सुखेनापि स्वजनपरजनविवेकः। तस्मादेक एवाहं न मे कश्चित्। नाप्यहं कस्यचिदिति चिन्ता कार्या। तस्या गुणमाचष्टे 'एयत्तभावणाए' एकत्वभावनया हेतुभूतया। 'न सज्जदि' नासक्ति करोति। क्व? कामभोगे, गणे शिष्यादिवर्गे, शरीरे वा सुखे वा। कामं स्वेच्छया भुज्यन्ते इति कामभोगाः। सुखसाधनतया संकल्पितभक्तपानादयो वामलोचनादिवर्गश्च तत्र न संगं करोति। बाह्यद्रव्यसंसर्ग-

---

प्रकार देवोंके प्रधानोंके अति कठोर वचन रूपी कीलोंसे कानोंके छेदनेसे, इन्द्रके अन्तपुरकी देवांगनाओंके प्रचुर विलासको देखकर उत्पन्न हुई ऐसी सुन्दर देवांगनाओंकी अभिलाषारूपी आगसे उत्पन्न हुए संतापसे, और आयुके छह मासके शेष रहनेके परिज्ञानसे महान दुःख होता है। इसी प्रकार नरक पर्यायमें भी जानना। इस प्रकार मैंने अनन्तकाल दुःखका अनुभव किया है। तब दुःख आने पर विषाद क्यों? विषाद करनेसे दुःख छोड़ता नहीं है। दुःख तो अपने कारणोंके होनेसे होता है। यह सत्त्वभावना है। यदि अशुभ शरीरके देखनेसे भय होता है तो वह भी ठीक नहीं है। ऐसे शरीर मैंने बहुत बार धारण किये हैं और देखे हैं। परिचितोंसे भय कैसा? इस प्रकार चित्तको स्थिर करना सत्त्वभावना है ॥२०१॥

गा०—एकत्व भावनासे कामभोगमें, संघमें अथवा शरीरमें आसक्ति नहीं करता। वैराग्यमें मन रमाये हुए सर्वोत्कृष्ट चारित्रको अपनाता है ॥२०२॥

टी०—एकत्व भावनाका स्वरूप इस प्रकार है—जन्म, जरा, और मरणके बार-बार होनेसे उत्पन्न हुए दुःखको भोगनेमें कोई मेरे दुःखमें भाग नहीं लेता। अतः दुःखमें भाग लेनेसे यह स्वजन है इसलिए उसमें अनुराग और जो दुःखमें भाग नहीं लेता वह परजन है इसलिए उससे द्वेष करना उचित नहीं है। यदि कोई दुःखमें भाग नहीं लेता तो मुझमें सुख ही पैदा करदे सो भी बात नहीं है। अतः जो मुझमें सुख पैदा करे वह स्वजन है और जो सुख पैदा नहीं करता वह परजन है ऐसा भेद सुखको लेकर भी नहीं होता। अतः मै अकेला ही हूँ। कोई मेरा नहीं है। और न मैं ही किसीका हूँ ऐसा विचार करना चाहिए। उसका लाभ कहते हैं कि एकत्व भावनासे काम भोगमें, शिष्यादिके समूहरूप गणमें, शरीर अथवा सुखमें आसक्ति नहीं होती।

'काम' अर्थात् अपनी इच्छासे जो भोगे जाते हैं वे कामभोग हैं। सुखका साधन होनेसे मनमें संकल्पित खान-पान आदि और स्त्री आदि वर्ग कामभोग हैं। उसमें वह आसक्ति नहीं

जनिताः प्रीतिविशेषाः सुखशब्दवाच्यास्ते तृष्णामेवातिशयवतीं आनयंति चेतोव्याकुलकारिणीं, न चेतःस्वास्थ्यं संपादयितुमीशा इति । न तु उपयोग्याः कामभोगा, रत्नत्रयसंपत्तिरेव जनस्योपयोगिनी, न तया भोगसंपदा-स्माकं किञ्चिदस्ति कृत्यं । मदीयपरिणामावलंबिनौ हि बन्धमोक्षौ मम । ततः किं तेन गणेन । शरीरमप्य-किञ्चित्करं । न चेत्कर्माणि किञ्चित्कुर्युः । बाह्यं जीवाजीवात्मकं द्रव्यं रागकोपनिमित्तं, इदमुपकारकमनु-पकारकमिति वा संकल्प्यमानं नान्यथा । ततः संकल्पमीदृग्भूतं विहाय शुद्धात्मस्वरूपज्ञानपरिणामप्रबन्धः असहायात्मस्वरूपविषय इति एकत्वभावनोच्यते । सत्यामस्यां न क्वचित्सङ्ग[1] ततः 'वेरग्गमुवगदो' वैराग्यमुपगतः । 'फासेइ' स्पृशति । 'अणुत्तरं धम्मं' अतिशयितं चारित्रं । एतेन संसारबीजस्य सङ्गस्य निवृत्तिरशेषकर्मापाय-हेतोश्चारित्रस्य च प्राप्ति गुण एकत्वभावनाजन्य इत्याख्यातं भवति । एकत्वभावना मोहमज्ञानरूपं अप्यपनयति यथा जिनकल्पिको निरस्तमोहः संवृत्तः ॥२०२॥

भयणीए विघम्मिज्जंतीए एयत्तभावणाए जहा ।
जिणकप्पिदो ण मूढो खवओ वि ण मुज्झइ तघेव ॥२०३॥

यथा जिनकल्पिको जिनकल्पकं प्रपन्नो नागदत्तो नाम मुनिर्भगिन्याऽयोग्यं कारयन्त्यामपि एकत्वभावनया । 'ण मूढो' मोहं न गतः । तथैव क्षपकोऽपि न मुह्यतीति गाथार्थः । एकत्वभावना ॥२०३॥

पञ्चमी धृतिबलभावना दुःखोपनिपाते अकातरता धृतिः सैव बलं धृतिबलं तस्य भावनाभ्यासः असकृदकातरतया वृत्तिः । तया धृतिबलभावनया दुःखदपरीषहचम्वा युध्यतीति निगदति—

करता । बाह्य पदार्थोंके सम्बन्धसे उत्पन्न हुए प्रीति विशेषको सुख शब्दसे कहते हैं। वे चित्तको व्याकुल करने वाली अति तृष्णाको ही पैदा करते हैं। वे चित्तको स्वस्थ करनेमे समर्थ नहीं हैं। कामभोग भोगने योग्य नही हैं। रत्नत्रयरूप संपत्ति ही मनुष्यके लिए उपयोगी है। उस भोग-सम्पदासे हमें कुछ नहीं करना है। मेरे परिणामों पर अवलम्बित बन्ध और मोक्ष ही मेरे हैं। अतः गणसे मुझे क्या ? शरीर भी अकिञ्चित्कर है। यदि ऐसा न होता तो कर्म क्या करते। बाह्य जीव अजीव आदि द्रव्योंमें यह उपकारक है और यह उपकारक नही है ऐसा संकल्प करनेसें ही राग-द्वेष होते हैं, और संकल्प न करनेसे नही होते। इसलिए इस प्रकारका संकल्प त्यागकर शुद्ध आत्म स्वरूपके ज्ञानरूप परिणामोंका प्रबन्ध और परकी सहायतासे रहित आत्म स्वरूपका चिन्तन एकत्व भावना कहाता है। उसके होने पर किसी भी पदार्थमे ममत्व नही होता। अतः वैराग्य धारण करके उत्कृष्ट चारित्रको अपनाता है। इससे यह कहा है कि संसारका बीज जो ममत्वभाव है उससे निवृत्ति और समस्त कर्मोंके विनाशका कारण जो चारित्र है उसकी प्राप्ति एकत्व भावना-से होने वाले गुण हैं। एकत्व भावना अज्ञानरूप मोहको भी दूर करती है। जैसे जिनकल्पी मोहको दूर करते हैं ॥२०२॥

गा०—जैसें अयोग्य आचरण करनेवाली अपनी बहनमे जिनकल्पको धारण करनेवाला नागदत्त नामक मुनि एकत्व भावनासे मोहको प्राप्त नहीं हुआ। वैसे ही क्षपक भी मोहको प्राप्त नहीं होता ॥२०३॥

एकत्व भावना समाप्त हुई। पाँचवी धृतिबल भावना है। उसका अर्थ है दुःख आनेपर कातर नही होना। धृति अर्थात् धैर्य ही हुआ बल। उसकी भावना अर्थात् अभ्यास, निरन्तर कात-

---

१. सगं करोति वे–आ० मु०।

कसिणा परीसहचमू अब्भुट्ठइ जइ वि सोवसग्गावि ।
दुद्धरपहकरवेगा भयजणणी अप्पसत्ताणं ॥२०४॥

'कसिणा' कृत्स्ना । 'परीसहचमू' परीषहसेना क्षुदादिद्वाविंशतिदुःखपृतनेति यावत् । 'अब्भुट्ठइ' आभिमुख्येनोत्तिष्ठति । 'जइवि' यद्यपि 'सोवसग्गा वि' चतुर्विधेनोपसर्गेण सह वर्तमानापि । 'दुद्धरपहकरवेगा' दुर्धरसंकटवेगा । 'अप्पसत्ताणं भयजणणी' अल्पसत्वाना भयजननी ॥२०४॥

धिदिधणिदवद्धकच्छो जोधेइ अणाइलो तमच्चाई ।
धिदिभावणाए सूरो संपुण्णमणोरहो होई ॥२०५॥

'तं' तां पृतनां । 'जोधेइ' योधयति । कया सह ? 'धिदिभावणाए' धृतिभावनया । क ? 'धिदिधणिदवद्धकच्छो' धृत्या नितरां बद्धकक्ष । 'सूरो' शूर । 'अणाइलो' अनाकुलो विक्रमवान् । फलमाचष्टे तस्य 'संपुण्णमणोरहो होइ' संपूर्णमनोरथो भवति ॥२०५॥

एयाए भावणाए चिरकालं हि विहरेज्ज सुद्धाए ।
काऊण अत्तसुद्धिं दंसणणाणे चरित्ते य ॥२०६॥

'एयाए भावणाए' एतया पञ्चप्रकारया भावनया सह । 'चिरकालं विहरेज्ज' चिरं प्रवर्तेत । 'सुद्धाए' शुद्धया । 'काऊण' कृत्वा । 'अत्तसोधिं' आत्मशुद्धिं । 'दंसणणाणे चरित्ते य' रत्नत्रये निरतिचारो भूत्वा ॥२०६॥

व्यावर्णितभावनानन्तरा सल्लेखनेत्यधिकारसंबन्धमाचष्टे—

एवं भावेमाणो भिक्खू सल्लेहणं उवक्कमइ ।
णाणाविहेण तवसा बज्झेणब्भंतरेण तहा ॥२०७॥

एवं भावेमाणो 'एवं' उक्तेन प्रकारेण 'भावेमाणो' भावनापरः । 'भिक्खू सल्लेहणं' सल्लेखनां तनूकरण । 'उवक्कमइ' प्रारभते । केन ? 'णाणाविहेण' नानाप्रकारेण । 'तवसा' तपसा 'बज्झेणब्भंतरेण तहा'

रता रहित वृत्ति । उस धृति बल भावनासे दुःखदायी परीषहकी सेनासे मुनि युद्ध करता है, यह कहते हैं—

गा०—दुःखदायी संकटके वेग सहित, अल्प शक्तिवालोंको भय पैदा करनेवाली भूख आदि बाईस परीषहोंकी समस्त सेना जिसके साथमें चार प्रकारके उपसर्ग भी हैं, यदि सम्मुख खड़ी हो ॥२०४॥

गा०—धैर्यके साथ दृढ़तापूर्वक कमरको बाँधनेवाला शूर विना किसी घबराहटके धृति भावनासे उस सेनासे अत्यन्त युद्ध करता है । फलस्वरूप उसका मनोरथ सम्पूर्ण होता है ॥२०५॥

गा०—इस शुद्ध पाँच प्रकारकी भावनासे आत्माकी शुद्धि करके सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयमें चिरकालतक विहार करना चाहिए ॥२०६॥

भावनाओंका वर्णन करनेके अनन्तर सल्लेखना अधिकारके साथ उनका सम्बन्ध कहते हैं—

गा०—उक्त प्रकारसे भावना भानेवाला भिक्षु नाना प्रकारके बाह्य और अभ्यन्तर तपसे सल्लेखनाको प्रारम्भ करता है ॥२०७॥

बाह्याभ्यन्तरेण च ॥२०७॥

भेदमकृत्वा व्यावर्णयितुं अशक्या सल्लेखनेति भेदमाचष्टे—

सल्लेहणा य दुविहा अब्भंतरिया य बाहिरा चेव ।
अब्भंतरा कसायेसु बाहिरा होदि हु सरीरे ॥२०८॥

'संल्लेहणा य दुविहा' सल्लेखना च द्विप्रकारा। 'अब्भंतरिया य बाहिरा चेव' अभ्यन्तरा बाह्या चेति। 'अब्भंतरा कसायेसु' अभ्यन्तरा सल्लेखना क्रोधादिकषायविषया। 'बाहिरा होदि हु सरीरे' बाह्या भवति सल्लेखना शरीरविषया ॥२०८॥

बाह्यसल्लेखनोपायनिरूपणार्थं उत्तरप्रबंध—

सव्वे रसे पणीदे णिज्जूहित्ता दु पत्तलुक्खेण ।
अण्णदरेणुवधाणेण सल्लिहइ य अप्पयं कमसो ॥२०९॥

'सव्वे रसे' सर्वान्रसान्। प्रकर्षं नीता. प्रणीताः तान् अतिशयवत[1] इत्यर्थ सुसंस्कृतान् बलवर्द्धनानि-त्यर्थः। 'णिज्जूहित्ता' त्यक्त्वा। 'अण्णदरेणुवधाणेण' अन्यतरेणावग्रहेण। 'अप्पगं' आत्मानं शरीरं। 'कमसो' क्रमशः। 'सल्लिहदि' तनूकरोति ॥२०९॥

बाह्यं तपो व्याचष्टे—

अणसण अवमोयरियं चाओ य रसाण वुत्तिपरिसंखा ।
कायकिलेसो सेज्जा य विवित्ता बाहिरतवो सो ॥२१०॥

'अणसणं' अनशनं। 'ऊवमोदरियं' अवमोदर्यं। 'चाओ य रसाणं' त्यागो रसानां। 'वुत्तिपरिसंखा' वृत्तिपरिसंख्यानं। 'कायकिलेसो' कायक्लेशः। 'सेज्जा विवत्ता' विविक्तशय्या। 'बाहिरतवो सो' बाह्य तपस्तत् ॥२१०॥

तत्र अनशनतपोभेदनिरूपणार्था गाथा—

अद्धाणसणं सव्वाणसणं दुविहं तु अणसणं भणियं ।
विहरंतस्स य अद्धाणसणं इदरं च चरिमंते ॥२११॥

भेद किये बिना सल्लेखनाका वर्णन करना अशक्य है इसलिए पहले उसके भेद कहते हैं—

गा०—सल्लेखनाके दो भेद हैं अभ्यन्तर और बाह्य। अभ्यन्तर सल्लेखना क्रोध आदि कषायकी होती है, बाह्य सल्लेखना शरीरके विषयमें होती है ॥२०८॥

बाह्य सल्लेखनाके उपाय बतलाते है—

गा०—बलको बढ़ानेवाले सब रसोंको त्यागकर प्राप्त हुए रूखे आहारसे कोई एक नियम विशेष लेकर अपने शरीरको क्रमसे कृश करता है ॥२०९॥

बाह्य तपको कहते हैं—

गा०—अनशन, अवमौदर्य, रसोंका त्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, कायक्लेश और विविक्त शय्या ये बाह्य तप है ॥२१०॥

---

१. वत इत्यर्थ. णिज्जू—आ० मु०।

'अद्धाणसणं' अद्धाशब्दः कालसामान्यवचनोऽप्यत्रेह चतुर्थादिषण्मासपर्यन्तो गृह्यते। तत्र यदनशनं तदद्धानशनं। 'सव्वाणसणं चेदि' सर्वानशनं चेति। 'दुविधमणसणं तु' तु शब्दोऽवधारणार्थः द्विप्रकारमेवानशनं। सर्वशब्दः प्रकारकात्स्न्ये वर्तते। यथा सर्वमन्नं भुंक्ते। परित्यागोत्तरकालो जीवितस्य यः सर्वकालः तस्मिन्ननशनं अशनत्यागः सर्वानशनं। कदा तदुभयमित्यत्र कालविवेकमाह—'विहरंतस्स य' ग्रहणप्रतिसेवनकालयोर्वर्तमानस्य। 'अद्धाणसणं' अद्धानशनं। इतरं च इतरत् सर्वानशन। 'चरिमंते' चरिमान्ते। परिणामकालस्यान्ते ॥२११॥

अद्धानशनविकल्पं प्रतिपादयति—

होइ चउथं छट्ठट्ठमाइ छम्मासखवणपरियंतो।
अद्धाणसणविभागो एसो इच्छाणुपुव्वीए ॥२१२॥

'अद्धाणसणविभागो होइ' इति पदघटना। अद्धानशनविभागो भवति। 'चउत्थं छट्ठट्ठमाइं छम्मासखमणपरियंतो' चतुर्थषष्ठाष्टमादिषण्मासक्षपणपर्यन्तः। 'इच्छाणुपुव्वीए' आत्मेच्छा[1] क्रमेण ॥२१२॥

अवमोदर्यं निरूपयितुकाम [2]आहारप्रमाणं प्रायोवृत्त्या प्रवृत्त दर्शयति—

बत्तीसं किर कवला आहारो कुक्खिपूरणो होइ।
पुरिसस्स महिलियाए अट्ठावीसं हवे कवला ॥२१३॥

अनशन तपके भेद गाथा द्वारा कहते है—

गा०—अद्धानशन और सर्वानिशन इस प्रकार अनशन दो ही प्रकारका कहा है। ग्रहण और प्रतिसेवनाकालमे वर्तमानके अद्धानशन होता है और मरण समय में सर्वानिशन होता है ॥२११॥

टी०—अन्यत्र अद्धाशब्द कालसामान्यका वाचक है। किन्तु यहाँ अद्धानशनमें अद्धाशब्द चतुर्थ आदिसे लेकर छहमास पर्यन्त जितने भेद अनशनके होते हैं उन सबके लिए ग्रहण किया है। उन उपवासोंमें जो अनशन होता है वह अद्धानशन है। सर्वशब्द सब प्रकारोंमें आता है। जैसे सब प्रकारका अन्न खाता हूँ। संन्यास ग्रहण करनेके पश्चात् जबतक जीवन रहे उस सब कालमें जो भोजनका त्याग है वह सर्वानशन है। इस तरह अनशन दो ही प्रकारका है। ये दोनों कब होते हैं इसके लिए कालका भेद किया है। ग्रहण कालमें अर्थात् दीक्षा ग्रहणसे लेकर संन्यास धारण करनेसे पूर्वके कालमें तथा प्रतिसेवना काल अर्थात् दोषोंकी विशुद्धिके लिए अद्धानशन होता है और परिणाम कालके अन्तमें अर्थात् मरण समयमें सर्वानशन होता है ॥२११॥

गा०—चतुर्थ षष्ठ आदिसे छह मासके उपवास पर्यन्त यह अद्धानशनके भेद होते हैं। ये मुनिगण अपनी इच्छाके अनुसार करते हैं ॥२१२॥

अवमौदर्यका निरूपण करनेकी इच्छासे प्रायः प्रचलित आहारका परिमाण बतलाते हैं—

गा०—बत्तीस ग्रास प्रमाण आहार पुरुषके पेटको पूरा भरनेवाला होता है। स्त्रियोंके कुक्षिपूरक आहारका परिमाण अट्ठाइस ग्रास होता है ॥२१३॥

---

1. आत्मेच्छाप्रसरेन–आ० मु०। 2. आहारप्रवृत्ति दर्शयति आ०। आहारपरिमाणं प्रायो–मु०।

'बत्तीसं किर कवला' पुरुषस्य कुक्षिपूरणो भवत्याहार । द्वात्रिंशत्कवलमात्र 'इत्थिआए' स्त्रियाः कुक्षिपूरणो भवत्याहारः अष्टाविंशतिकवलमात्रानि । 'तत्तो' तस्मादाहारात् ॥२१३॥

एगुत्तरसेढीए जावय कवलो वि होदि परिहीणो ।
ऊमोदरियतवो सो अद्धकवलमेव सिच्छं च ॥२१४॥

'एगुत्तरसेढीए' एककवलोत्तरश्रेण्या 'परिहीणो' परिहीन । 'ऊमोदरियतवो' अवमौदर्याख्यं तप क्रिया यावदेककवलावशेषतया न्यूनं 'अद्धकवलं' अर्धकवल यावदवशिष्टं । समप्रविभक्त कवलमर्धकवलशब्देनोच्यते । यावदेकसिक्थकं वा अवशिष्टं । आहारस्याल्पतोपलक्षणमिद अन्यथा कथमेकसिक्थकमात्रभोजनोद्यतो भवेत् । ननु आहारो न्यूनः कथ तप इत्युच्यते इति केचित्कथयन्ति । आधूनतापरिहारस्य तपसो हेतुत्वात्तप इत्युच्यते अवमोयरियं । तथा च निरुक्ति—अवमं न्यून उदरमस्यावमोदर. । अवमोदरस्य भाव कर्म च अवमौदर्यमिति ॥२१४॥

रसपरित्यागो निरूप्यते—

चत्तारि महावियडीओ होंति णवणीदमज्जमंसमहू ।
कंखापसंगदप्पासंजमकारीओ एदाओ ॥२१५॥

'चत्तारि महावियडीओ' चतस्रो महाविकृतयः । महत्याश्चेतसो विकृतेः कारणत्वात् महाविकृतय इत्युच्यन्ते । 'होंति' भवन्ति । 'णवणीदमज्जमंसमहू' नवनीतं, मद्य, मांसं, मधु च । कीदृश्यस्ताः ? 'कंखा-

---

गा०—पुरुष और स्त्रीके उक्त आहारमेसे एक दो आदि ग्रासकी हानिके क्रमसे जब तक एक ग्रास मात्र भी शेष होता है वह अवमौदर्य तप है । जब तक अर्धग्रास ही अवशिष्ट रहे या एक सिक्थ शेष रहे तब तक भी अवमौदर्य तप है ॥२१४॥

टी०—एक ग्रासके बराबर दो भाग करने पर एक भागको अर्धकवल कहते है । एक चावल मात्र जो कहा है वह आहारकी अल्पताका उपलक्षण है । अन्यथा कोई मात्र एक चावलका भोजन करनेके लिए कैसे तत्पर हो सकता है ।

शंका—थोड़ा आहार लेना तप कैसे है ? ऐसा कोई कहते हैं ।

समाधान—पेट भर खानेका त्याग तपका हेतु होनेसे अवमौदर्यको तप कहा जाता है । अवमौदर्यकी निरुक्ति है—'अवम' अर्थात् न्यून (कमभरा) उदर है जिसका वह अवमोदर है और अवमोदरका भाव अथवा कर्म अवमौदर्य है ॥२१४॥

रस परित्याग तपका निरूपण करते है—

गा०—चार महाविकृतियाँ होती हैं, मक्खन, मद्य, मांस और मधु । ये गृद्धि, प्रसंग, दर्प, और असंयमको करते हैं ॥२१५॥

टी०—चित्तमें महान विकार पैदा करनेसे इन्हें महाविकृति कहते हैं । नवनीत कांक्षा अर्थात् गृद्धिको उत्पन्न करता है । मद्य प्रसंग अर्थात् पुनः पुन. अगम्या स्त्रीके साथ भोगविलास कराता है । मांस इन्द्रियोंमें मद पैदा करता है । मधु असंयमको उत्पन्न करता है असंयमके दो भेद

'असंयमस्यासंयमकारीओ पुवाओ' । कांक्षा गार्ध्यं, प्रसंगः पुनःपुनस्तत्र वृत्तिः, दर्पः दृप्तेन्द्रियता, असंयमः रसविषयानुरागात्मकः इन्द्रियासंयमः, रसजजन्तुपीडा प्राणासंयमः, एतान्दोषानिमाः कुर्वन्ति ॥२१५॥

आणाभिकंखिणावज्जभीरुणा तवसमाधिकामेण ।
ताओ आवज्जीवं णिज्जूढाओ पुरा चेव ॥२१६॥

'आणाभिकंखिणा' । अत्रैवं पदघटना–**'ताओ'** ताः महाविकृतयः । **'आवज्जीवं'** जीवितावधिकं । **'णिज्जूढाओ'** परित्यक्ताः । **'पुरा चेव'** सल्लेखनाकालात्पूर्वमेव । केन परित्यक्ताः ? **'आणाभिकंखिणा'**–इदमित्थं त्वया कर्तव्यमिति कथन आज्ञा । सर्वविदा आज्ञप्ता भव्याः परित्याज्या नवनीतादय. । तदासेवा असंयमः कर्मबन्धहेतुरिति । अस्यामाज्ञायां कांक्षावता आदरवता सर्वज्ञाज्ञाऽसंपादनादेव दुरन्तससारमध्यपतनं ममासी-द्भविष्यति च तेन तदाज्ञादरः कार्य इत्यभ्युद्यतेन । **'अवज्जभीरुणा'** अवद्यं पाप तेन । अयमर्थः पापभीरुणा । **'तवसमाधिकामेण'** तपस्येकाग्रतामभिलषता । अतो नवनीतादित्यागोऽपि रसत्याग एव ॥२१६॥

इह सल्लेखनाकाले मयैषा त्यागो गृहीत इत्याचष्टे—

खीरदधिसप्पितेल्लगुडाण पत्तेगदो व सव्वेसिं ।
णिज्जूहणमोगाहिम पणकुसणलोणमादीणं ॥२१७॥

'खीरदधिसप्पितेल्लगुडाणं' क्षीरस्य, दध्न', घृतस्य, तैलस्य, गुडस्य, च **'णिज्जूहणं'** त्यागः । कथं ? **'पत्तेगदो व'** प्रत्येकं एकैकस्य वा त्याग' । **'सव्वेसिं'** सर्वेषां वा क्षीरादीनां त्यागः रसपरित्याग. । **'ओगाहिम पणकुसण लोणमादीण'** अपूपानां, पत्रशाकानां, सूपस्य, लवणादीना वा त्यागो रसपरित्यागः ॥२१७॥

हैं—इन्द्रिय असंयम और प्राणि असयम । मधुके रसके विषयमे अनुरागकी आतुरता रूप इन्द्रिय असयम होता है और मधुमे उत्पन्न जन्तुओंका घात होनेसे प्राण असंयम होता है ॥२१५॥

गा०—सर्वज्ञकी आज्ञाके प्रति आदरवान, पाप भीरु और तपमें एकाग्रताके अभिलाषीने वे महाविकृतियाँ सल्लेखनाके समयसे पूर्व ही जीवन पर्यन्तके लिये (णिज्जूढाओ) त्याग दी है ॥२१६॥

टी०—यह काम इस प्रकार तुम्हें करना चाहिये, ऐसा कहना आज्ञा है । सर्वज्ञकी आज्ञासे भव्य जीवोंके लिये नवनीत आदि छोडने योग्य है । उनका सेवन असंयम हैं जो कर्मबन्धका कारण है । इस आज्ञाका पालन न करनेसे ही मेरा दुरन्त ससारके मध्यमें पतन हुआ और होगा । इसलिये उस आज्ञाका आदर करना चाहिये इस प्रकार जो उद्यत हुआ है और अवद्य अर्थात् पाप से जो डरता है तथा जो तपमें एकाग्रताका अभिलाषी है वह तो पहले ही जीवन पर्यन्तके लिये इन विकृतियोंको त्याग चुका है । अतः नवनीत आदिका त्याग भी रस त्याग ही है ॥२१६॥

अब इस सल्लेखनाके समय मैंने इन नीचे कही वस्तुओंका त्याग किया, यह कहते हैं—

गा०—दूध, दही, घी, तेल, गुडका और घृत पूर, पुवे, पत्रशाक, सूप और लवण आदिका सबका अथवा एक-एकका त्याग रस परित्याग है । अर्थात् सल्लेखना कालमें दूध आदि सबका या उनमेंसे यथायोग्य दो तीन चारका त्याग रस परित्याग है ॥२१७॥

अरसं च अण्णवेलाकदं च सुद्धोदणं च लुक्खं च ।
आयंबिलमायामोदणं च विगडोदणं चेव ॥२१८॥

'अरसं' च स्वादरहितं । 'अण्णवेलाकदं च' वेलान्तरकृत च शीतलमिति यावत् । 'सुद्धोदणं च' सुद्धौदनं च केनचिदप्यमिश्रं । 'लुक्खं च' रूक्षं च स्निग्धताप्रतिपक्षभूतेन स्पर्शेन विशिष्टमिति यावत् । 'आयंबिलं' असंस्कृतसौवीरमिश्रं । 'आयामोदणं' अप्रचुरजल सिक्थाढ्यमिति केचिद्वदन्ति । अव[1]श्रावणसहितमित्यन्ये । 'विगडोदणं' अतीव[2] पक्वं । उष्णोदकसम्मिश्रं इत्यपरे ॥२१८॥

इच्चेवमादि विविहो णायव्वो हवदि रसपरिच्चाओ ।
एस तवो [3]भजिदव्वो विसेसदो सल्लिहंतेण ॥२१९॥

'इच्चेवमादिविविहो' एवमादिविविधो नानाप्रकारो । 'णादव्वो हवइ रसपरिच्चाओ' ज्ञातव्यः सर्वेषां रसपरित्यागः । 'एस तवो भजिदव्वो' एतद्रसपरित्यागाख्य तपः । 'भजिदव्वो' सेव्य । 'विसेसदो' विशेषेण । 'सल्लिहंतेण' कायसल्लेखना कुर्वता । 'चाओ रसाणं' ॥२१९॥

वृत्तिपरिसंख्याननिरूपणाय गाथाचतुष्टयमुत्तरम्—

गत्तापच्चागदं उज्जुवीहि गोमुत्तियं च पेलवियं ।
सम्बूकावट्टंपि पदंगवीघी य गोयरिया ॥२२०॥

गा०—स्वाद रहित अन्य समयमें बनाया गया अर्थात् ठण्डा भोजन, और शुद्ध भात जिसमें कोई अन्य शाक वगैरह न मिला हो, और रूखा भोजन जिसमे घी आदि न हो, आचाम्ल अर्थात् काजी मिश्रित भात, थोडा जल और बहुत चावल वाला भात, और बहुत अधिकपका भात ॥२१८॥

टी०—आयामोदण' का अर्थ कोई तो थोडा जल और चावल बहुत ऐसा भात करते है । अन्य कुछ अवश्रावण सहित (?) कहते है । विगडोदणका अर्थ दूसरे व्याख्याकार गर्मजलसे मिश्रित भात करते है ॥२१८॥

गा०—इत्यादि अनेक प्रकारका रस परित्याग सबको जानने योग्य है । शरीर सल्लेखना करने वालेको यह रस परित्याग नामक तप विशेष रूपसे सेवन करना चाहिये ॥२१९॥

रस परित्याग तपका वर्णन समाप्त हुआ । आगे चार गाथाओंसे वृत्तिपरि संख्यान तपका कथन करते हैं

टी०—'गत्तापच्चागदं'—जिस मार्गसे पहले गया उसीसे लौटते हुए यदि भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं ग्रहण करूँगा । 'उज्जुवीहिं'—सीधे मार्गसे जानेपर मिली तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं ग्रहण करूँगा । 'गोमूत्तियं' बैलके मूतते हुए जानेसे जैसा आकार बनता है मोड़ेदार, वैसे जाते हुए यदि भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नही ग्रहण करूँगा । 'पेल्लवियं'—वस्त्र सुवर्ण आदि रखनेके लिए बांस के पत्ते आदिसे जो सन्दूक बनता है, जिसपर ढकना भी हो, उसके समान चौकोर भ्रमण करते हुए भिक्षा मिली तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं ।

'संबूकावट्ट'—शंखके आवर्तके समान गाँवके अन्दर आवर्ताकार भ्रमण करके बाहरकी

---

१ अवसावण आ. मु. । २. अतीवतीव्रपक्वं आ. मु. । ३. कायव्वो अ० आ० ।

'गत्तापच्चागदं'। यया वीथ्या गतः पूर्वं तयैव प्रत्यागमनं कुर्वन्यदि भिक्षा लभते गृह्णाति नान्यथा। 'उज्जुवीहिं' ऋज्व्या वीथ्या गतो यदि लभते गृह्णाति नेतरथा। गोमूत्रिकाकारं भ्रमणं वा संपादयन्। 'पेलवियं' वंशदलादिभिर्निष्पादितं वस्त्रसुवर्णादिनिक्षेपणार्थं पिधानसहितं यत्तद्वच्चतुरस्राकारं भ्रमणं। 'संबूका-वट्टं पि य' शंबूकावर्तं इव। 'पदंगवीधी य' पतंगमाला पतङ्गवीथीत्युच्यते। सा यथा भ्रमति तथा भ्रमणं। 'गोयरिया' गोचर्या भिक्षायां भ्रमणं। एवंभूतेन भ्रमणेन लब्धा भिक्षां गृह्णामि नान्यथेति कृतसंकल्प'सा वृत्तिपरिसंख्यानं ॥२२०॥

पाडयणियंसणभिक्खा परिमाणं दत्तिघासपरिमाणं।
पिंडेसणा य पाणेसणा य जागूय पुग्गलया ॥२२१॥

'पाडयणियंसणभिक्खापरिमाणं' इमं एव पाटकं प्रविश्य लब्धां भिक्षा गृह्णामि नान्यं। एकमेव पाटकं पाटकद्वयमेवेति। अस्य गृहस्य परिकरतया अवस्थिता भूमिं प्रविशामि न गृहमि[1]त्थमभिग्रह. णियंसणमित्युच्यते इति केचिद्वदन्ति। अपरे पाटस्य भूमिमेव प्रविशामि न पाटगृहाणि इति संकल्प' पाडगणिगंमणमित्युच्यते इति कथयन्ति। भिक्षापरिमाणं एकां भिक्षां द्वे एव वा गृह्णामि नाधिकामिति। 'दत्तिघासपरिमाणं' एकेनैव दीयमान द्वाभ्यामेवेति दानक्रियापरिमाणं। आनीतायामपि भिक्षाया इयत एव ग्रासान्गृह्णामि इति वा परिमाण। 'पिंडेसणा' पिण्डभूतमेवासनं गृह्णामि। 'पाणेसणाओ' द्रवबहुलतया यत्पीयते अशन। जागूय' यवागू। 'पोग्गलिया वा' धान्यान्येव निष्पावचणकमसूरकादीनि भक्षयामि इति ॥२२१॥

संसिट्ठ फलिह परिखा पुप्फोवहिदं व सुद्धगोवहिदं।
लेवडमलेवडं पाणायं च णिस्सित्थगं ससित्थं ॥२२२॥

और भ्रमण करते हुए भिक्षा मिली तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं।

'पदंगवीधी'—पक्षियोंकी पंक्ति जैसे भ्रमण करती है उस तरह भ्रमण करते हुए यदि भिक्षा मिली तो मैं ग्रहण करूँगा। 'गोयरिया'—गोचरी भिक्षाके अनुसार भ्रमण करते हुए भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूँगा। इस प्रकारके सकल्प करनेको वृत्ति परिसंख्यान कहते हैं २२०॥

गा०-टी०—'पाडयनियंसण'—इसी ही फाटकमें प्रवेश करके मिली हुई भिक्षाको ग्रहण करूँगा, अन्य फाटकमें नहीं। एक ही फाटकमें प्रवेश करूँगा या दो में ही प्रवेश करूँगा। 'अमुक घरसे लगी हुई भूमिमें प्रवेश करूँगा, घरमें नही जाऊँगा ? इस प्रकारकी प्रतिज्ञाको णियंसण कहते हैं। ऐसा कोई कहते हैं। दूसरोंका कहना है कि पाटकी भूमिमें ही प्रवेश करूँगा, पाटके घरोंमें प्रवेश नहीं करूँगा इस प्रकारके संकल्पको 'पाटकाणियंसण' कहते हैं। 'भिक्षा परिमाण'—एक ही भिक्षा या दो ही भिक्षा ग्रहण करूँगा, अधिक नही। 'दत्तिघास परिमाण'—एक के ही द्वारा देने पर या दो के ही द्वारा देनेपर भिक्षा ग्रहण करूँगा। अथवा दाताके द्वारा लाई गई भिक्षामेंसे भी इतने ही ग्रास ग्रहण करूँगा ऐसा परिमाण करना। पिंडेसणा'—पिण्ड रूप भोजन ही ग्रहण करूँगा। 'पाणेसणा'—जो बहुत द्रव होनेसे पीने योग्य होगा वही ग्रहण करूँगा। 'जागूय' यवागू ही ग्रहण करूँगा। 'पुग्गलया'—चना मसूर आदि धान्य ही ग्रहण करूँगा ॥२२१॥

---

१. त्थना गृ—आ० मु०। २. मित्यवग्रहः।

'संसिट्ठं' शाककुल्माषादिव्यञ्जनसम्मिश्रंसंसृष्टमेव । 'फलिह' समन्तादवस्थितशाकं मध्यावस्थितौदनं । 'परिखा' परितो व्यञ्जन मध्यावस्थितान्नं । 'पुप्फोवहिदं च' व्यञ्जनमध्ये पुष्पबलिरिव अवस्थितसिक्थकं । 'सुद्धगोवहिद' शुद्धेन निष्पावादिभि¹रमिश्रेणान्नेन 'उवहिदं' ससृष्टं शाकव्यञ्जनादिकं । 'लेवडं' हस्तलेपकारि । 'अलेवडं' यच्च हस्ते न सज्जति । 'पाणगं' यच्च हस्ते न सज्जति । 'पाणगं' पानं च कीदृक् ? 'णिसित्थगसित्थं' सिक्थरहितं पान तत्सहितं च ॥२२२॥

पत्तस्स दायगस्स य अवग्गहो बहुविहो ससत्तीए ।
इच्चेवमादिविविहा णादव्वा वुत्तिपरिसंखा ॥२२३॥

'पत्तस्स' एवंभूतेन भाजनेनैवानीत गृह्णामि सौवर्णेन, कंसपात्र्या, राजतेन मृण्मयेन वा । 'दायगस्स य' स्त्रियैव तत्रापि बालया, युवत्या, स्थविरया सालङ्कारया, निरलङ्कारया, ब्राह्मण्या, राजपुत्र्या इत्येवमादि अभिग्रहोऽवग्रहः । 'बहुविहो' बहुविध । 'ससत्तीए' स्वशक्त्या । 'इच्चेवमादि' एवंप्रकारा । 'विविहा' विविधा । 'णादव्वा' ज्ञातव्या । 'वुत्तिपरिसंखा' वृत्तिपरिसंख्या ॥२२३॥

कायक्लेशनिरूपणायोत्तरप्रबन्ध—

अणुसूरी पडिसूरी य उद्ढसूरी य तिरियसूरी य ।
उब्भागेण य गमणं पडिआगमणं च गंतूणं ॥२२४॥

'अणुसूरि' पूर्वस्या दिशः पश्चिमाशागमनं क्रूरातपे दिने । 'पडिसूरी' अपरस्या दिशः आदित्याभिमुखं गमनं । 'उड्ढसूरी य' उर्ध्वं गते सूर्ये गमन । 'तिरियसूरी य' तिर्यगवस्थित दिनकरं कृत्वा गमनं । 'उब्भागेण गमणं' स्वावस्थितग्रामाद् ग्रामान्तर प्रति भिक्षार्थं गमन । 'पडिआगमणं च गन्तूणं' प्रत्यागमन

गा०-टी०—'संसिट्ठ'—जो शाक कुल्माष आदि व्यंजनसे मिला हुआ हो। 'फलिह'—जिसके चारो ओर शाक रखा हो और बीचमे भात हो। 'परिखा'—चारो ओर व्यंजन हो बीचमे अन्न रखा हो। 'पुप्फोवहिद'—व्यंजनोके मध्यमे पुष्पावलीके समान चावल रखे हो। 'सुद्धगोवहिद'—शुद्ध अर्थात् विना कुछ मिलाये अन्नसे 'उपहित' अर्थात् मिले हुए शाक व्यंजन आदि। 'लेवड' जिससे हाथ लिप जाये। 'अलेवड' जो हाथसे न लिप्त हो। सिक्थ सहित पेय और सिक्थ रहित पेय। ऐसा भोजन मिलेगा तो ग्रहण करूँगा ऐसा संकल्प करना है ॥२२२॥

गा०-टी०—'पत्तस्स'—इसी प्रकार सोने, चाँदी, कांसी या मिट्टीके पात्रसे ही लाया गया भोजन ग्रहण करूँगा। 'दायगस्स'—स्त्रीसे ही, उसमें भी बालिकासे या युवतीसे या वृद्धासे अथवा अलंकार सहित स्त्री या अलंकार रहित स्त्रीसे या ब्राह्मणीसे या राजपुत्रीसे दिया गया आहार ही ग्रहण करूँगा। इस तरह बहुत प्रकार के अभिग्रह अपनी शक्तिके अनुसार होते हैं। ये सब विविध वृत्ति परिसंख्यान जानना चाहिये ॥२२३॥

काय क्लेशका कथन करते हैं—

गा०-टी०—'अणुसूरि'—जिस दिन कड़ी धूप हो सूरजको पीछे करके पूरब दिशासे पश्चिम दिशाकी ओर जाना। 'पडिसूरि'—पश्चिम दिशासे सूरजकी ओर मुख करके गमन करना। 'उड्ढसूरी'—सूरजके ऊपर आ जाने पर गमन करना, 'तिरियसूरी'—सूरजका एक ओर रखते हुए गमन करना। 'उब्भागेण गमण'—जिस ग्राममें मुनि ठहरे हो उस ग्रामसे दूसरे गाँवमे भिक्षाके

---

१. दिभरमि—अ० आ०।

च [1]गत्वा ॥२२४॥

स्थानयोगनिरूपणा—

साधारणं सवीचारं सणिरुद्धं तहेव वोसट्टं ।
समपादमेगपादं गिद्धोलीणं च ठाणाणि ॥२२५॥

'साधारणं' प्रमृष्टस्तम्भादिकमुपाश्रित्य स्थानं । 'सवीचारं' ससंक्रमं पूर्वावस्थिताद्देशाद्गत्वापि स्थापितस्थानः । 'सणिरुद्धं' निश्चलमवस्थानं । 'तहेव' तथैव । 'वोसट्टं' कायोत्सर्गः । 'समपाद' समौ पादौ कृत्वा स्थानं । 'एगपाद' एकेन पादेन अवस्थानं । गिद्धोलीणं गृध्रस्योर्ध्वगमनमिव बाहू प्रसार्यावस्थानं ॥२२५॥

आसनयोगनिरूपणा—

समपलियंकणिसेज्जा समपदगोदोहिया य उक्कुडिया ।
मगरमुह हत्थिसुण्डी गोणिसेज्जद्धपलियङ्का ॥२२६॥

'समपलियंकणिसेज्जा' सम्यक्पर्यंकनिषद्या । 'समपद' स्फिक्पिठस [2]मकरणेनासनं । 'गोदोहिगा' गोदोहने आसनमिवासनं । 'उक्कुडिया' ऊर्ध्वं संकुचितमासनं । 'मगरमुह' मकरस्य मुखमिव कृत्वा पादावस्थानं । 'हत्थिसुण्डी' हस्तिहस्तप्रसारणमिव एकं पादं प्रसार्यासनं । हस्तं प्रसार्येत्यपरे । 'गोणिसेज्ज अद्धपलियंकं' गोनिषद्या गवामासनमिव अर्धपर्यंकं ॥२२६॥

वीरासणं च दण्डायउड्ढसाई य लगडसाई य ।
उत्ताणो मच्छिय एगपाससाई य मडयसाई य ॥२२७॥

लिये जाना । 'गंतूण पडिआगमण'—जाकर लौट आना ये सब काय क्लेश तप है ॥२२४॥

स्थान योगका कथन करते हैं—

गा०-टी०—'साधारण'—चिकने स्तम्भ आदिका आश्रय लेकर खड़े होना । सवीचार—पूर्व स्थानसे दूसरे स्थान पर जाकर कुछ काल तक खडे रहना । 'सणिरुद्ध'—अपने स्थान पर ही निश्चल स्थित होना । 'वोसट्ट'—कायोत्सर्ग करना । समपाद—दोनों पैर बराबर करके खडे होना । 'एगपाद'—एक ही पैर से खडे होना । 'गिद्धोलीण'– जैसे गिद्ध उडते समय अपने दोनो पंख फैलाता है उस तरह दोनों हाथ फैलाकर खड़े होना ॥२२५॥

आसन योगका कथन करते है—

गा०-टी०—'समपलियंकणिसेज्जा'—सम्यक् पर्यंकासनसे बैठना । 'समपद'—जांघे और कटि भागको सम करके बैठना । 'गोदोहिगा' गौ दुहते समय जैसा आसन होता है वैसे आसनसे बैठना । 'उक्कुडिया'—ऊपरको संकुचित आसनसे बैठना अर्थात् दोनों पैरोंको जोड़ भूमिको न छूते हुए बैठना । 'मगरमुह'—मगरके मुखकी तरह पैर करके बैठना । 'हत्थिसुंडी—हाथीके सूँड फैलानेकी तरह एक पैर फैलाकर बैठना । दूसरों का कहना है कि हाथ फैलाकर बैठना हत्थिसूँडी है । 'गोणिसेज्ज' दोनों जंघाओंको संकोच कर गायकी तरह बैठना । और अर्धपर्यंकासन । ये सब कायक्लेश के आसन हैं ॥२२६॥

---

१. कृत्वा अ० । २. समकरणेना–मु० ।

'वीरासणं' जंघे विप्रकृष्टदेशे कृत्वासनं । दण्डवदायतं शरीरं कृत्वा शयनं । स्थित्वा शयनं च ऊर्ध्वशायीत्युच्यते । **'लगडसाई'** संकुचितगात्रस्य शयनं । उत्ताणो उत्तानं शयनं । अवमस्तकशयनं एकपार्श्वशयनं च ॥२२७॥

अब्भावगाससयणं अणिट्ठ्वणा अकंडुगं चेव ।
तणफलयसिलाभूमी सेज्जा तह केसलोचो य ॥२२८॥

'अब्भावगाससयणं' बहिर्निरावरणदेशे शयनं । **'अणिट्ठिवणगं'** निष्ठीवनाकरणं । **'अकंडुवणं च'** अकण्डूयनं । **'तणफलगसिलाभूमीसेज्जा'** तृणादिषु शय्या । **'तहा'** तथा । **'केसलोओ य'** केशलोचश्च ॥२२८॥

अब्भुट्ठणं च रादो अण्हाणमदंतघोवणं चेव ।
कायकिलेसो एसो सीदुण्हादावणादी य ॥२२९॥

'अब्भुट्ठणं च रादो' रात्रावशयनं जागरणमित्यर्थः । **'अण्हाणं'** अस्नानं । **'अदन्तधोवणं चेव'** दन्तानामशोधनं । **'कायकिलेसो'** कायक्लेशः । **'एसो'** एष । **'सीदुण्हादावणादी य'** शीतातपनमुष्णातपनमित्येवमादिकं ॥२२९॥

विविक्तशयनासननिरूपणा—

जत्थ ण विसोत्तिग अत्थि दु सद्दरसरूवगन्धफासेहिं ।
सज्झायज्झाणवाघादो वा वसधी विवित्ता सा ॥२३०॥

'जत्थ न विसोत्तिग' यस्यां वसतौ न विद्यतेऽशुभपरिणामः । **सद्दरसरूवगन्धफासेहिं** शब्दरसरूपगन्धस्पर्शैः करणभूतैः मनोज्ञैरमनोज्ञैर्वा । **'सा विवित्ता वसधी'** विविक्ता वसतिः । **'सज्झायज्झाणवाघादो'** स्वाध्यायध्यानयोर्व्याघातो वा नास्ति सा विविक्ता भवति ॥२३०॥

गा०-टी०—दोनों जंघाओंको दूर रखकर आसन वीरासन है। आगे शयनके भेद करते हैं—दण्डेके समान शरीरको लम्बा करके सोना। खडे होकर सोना। इसे ऊर्ध्वशायी कहते हैं। 'लगण साई'—शरीरको संकुचित करके सोना। उत्ताण—ऊपरको मुख करके सोना। ओमच्छिय-मस्तक नीचे करके सोना अर्थात् नीचे मुख करके सोना। एक करवटसे सोना। मडयसाइ—मृतककी तरह निश्चेष्ट सोना ॥२२७॥

गा०-टी०—'अब्भवगास सयणं'—बाहर खुले आकाशमें सोना। 'अणिट्ठिवणगं'—थूकना नहीं। अकंडूतगं—खुजाना नहीं। तथा तृण, काठका पटिया, शिला, या भूमिपर सोना और केसलोच ॥२२८॥

गा०-टी०—रातमें शयन नहीं करना अर्थात् जागना। स्नान नहीं करना। दाँतोंको नहीं धोना, उनकी सफाई नहीं करना। और शीतकालमें तथा गर्मीमें आतपन योग करना इत्यादि यह कायक्लेश है ॥२२९॥

विविक्त शयनासन तपका कथन करते हैं—

गा०—जिस वसतिमें मनोज्ञ या अमनोज्ञ शब्द, रस, रूप गन्ध और स्पर्शके द्वारा अशुभ परिणाम नहीं होते। अथवा स्वाध्याय और ध्यानमें व्याघात नहीं होता वह विविक्त वसति है ॥२३०॥

वियडाए अवियडाए समविसमाए बहिं च अन्तो वा ।
इत्थिणउंसयपसुवज्जिदाए सीदाए उसिणाए ॥२३१॥

'वियडाए' उद्घाटितद्वारायां । 'अवियडाए' अनुद्घाटितद्वारायां वा । 'समविसमाए' समभूमिसमन्वितायां विषमभूमिसमन्वितायां वा । 'बहिं च' बहिर्भागे वा । 'अन्तो वा' अभ्यन्तरे वा । 'इत्थिणउंसयपसुवज्जिदाए' स्त्रीभिर्नपुंसकैः पशुभिश्च वर्जितायां वसतौ । 'सीदाए' शीतायां । 'उसिणाए' उष्णायां ॥२३१॥

उग्गमउप्पादणएसणाविसुद्धाए अकिरियाए दु ।
वसति असंसत्ताए णिप्पाहुडियाए सेज्जाए ॥२३२॥

'उग्गमउप्पादणएसणाविसुद्धाए' उद्गमोत्पादनैषणादोषरहितायां । तत्रोद्गमो दोषो निरूप्यते । वृक्षच्छेदस्तदानयनं इष्टकापाकः, भूमिखननं, पाषाणसिकतादिभिः पूरणं, धरायाः कुट्टनं, कर्दमकरणं, कीलानां करणं, अग्निनायसस्तापनं कृत्वा प्रताड्य क्रकचैः काष्ठपाटनं, वासीभिस्तक्षणं, परशुभिश्छेदनं इत्येवमादिव्यापारेण षण्णां जीवनिकायानां बाधां कृत्वा स्वेन वा उत्पादिता, अन्येन वा कारिता वसतिराधाकर्मशब्देनोच्यते । यावन्तो दीनानाथकृपणा आगच्छन्ति लिङ्गिनो वा तेषामियमित्युद्दिश्य कृता, पाषंडिनामेवेति वा श्रमणानामेवेति, निर्ग्रन्थानामेवेति सा उद्देसिगा वसदित्ति भण्यते । आत्मार्थं गृहं कुर्वता अपवरकं संयतानां भवत्विति कृतं अब्भोवब्भमित्युच्यते । आत्मनो गृहार्थमानीतैः काष्ठादिभिः सह बहुभिः श्रमणार्थमानीताल्पेन मिश्रिता यत्र गृहे तत्पूतिकमित्युच्यते । पाषण्डिनां गृहस्थानां वा क्रियमाणे गृहे पश्चात्संयतानुद्दिश्य काष्ठादिमिश्रणेन निष्पादितं वेश्म मिश्रम् । स्वार्थमेव कृतं संयतार्थमिति स्थापितं ठविदं इत्युच्यते । संयतः स च यावद्भिर्दि-

---

गा०—वह वसति खुले द्वार वाली हो अथवा बन्द द्वार वाली हो । उसकी भूमि सम हो अथवा ऊँची नीची हो । वह बाहरके भागमें हो अथवा अन्दरके भागमें हो । स्त्री नपुसक और पशुओंसे रहित हो ठंडी हो या गर्म हो ॥२३१॥

गा० उद्गम उत्पादन और एषणा दोषोंसे रहित, दु प्रमार्जन, आदि संस्कारसे रहित, जीवोंकी उत्पत्तिसे रहित, शय्यारहित वसतिकामें अन्दर या बाहरमे विविक्त शयनासन तपके धारी मुनि निवास करते हैं ॥२३२॥

टी०—उद्गमदोषको कहते है—वृक्षको काटना, उसको लाना, ईंटे पकाना, भूमि खोदना, उसे पत्थर रेत वगैरहसे भरना, पृथ्वीको कूटना, कीचड़ तैयार करना, कीले बनाना, आगसे लोहा गरम करके उसे पीटकर करोतोंसे लकडी चीरना । बिसौलोंसे छीलना, फरसोंसे काटना, इत्यादि व्यापारसे छहकायके जीवोंको बाधा पहुँचाकर अपने द्वारा बनाई या दूसरेसे बनवाई वसति अधःकर्मनामक दोषसे युक्त है । जितने दीन अनाथ दरिद्र अथवा वेषधारी आयेंगे उनके उद्देससे बनाई, अथवा यह पाषंडियोंके ही लिए है, या श्रमणोके ही लिए है या निर्ग्रन्थोंके ही लिए है, ऐसी वसति उद्देसिग दोषसे युक्त होती है । अपने लिए घर बनाते हुए यह कोठरी संयमियों-के लिए रहे ऐसा संकेतपूर्वक बनाई वसतिका अब्भोलब्भ कहलाती है । अपना घर बनानेके लिए लाए गये बहुतसे काष्ठ आदिके साथ थोड़ा-सा सामान श्रमणोंके लिए लाकर दोनोंके मेलसे बनी वसति पूतिक कही जाती है । पाषण्डियों अथवा गृहस्थोंके लिए घर बनवाकर पीछे मुनियोंका उद्देश करके उसमें काष्टआदि मिलाकर बनवाई वसति मिश्रदोषसे दूषित है । अपने ही लिए

नैरागमिष्यति तत्प्रवेशदिने गृहसंस्कारं सकलं करिष्यामः इति चेतसि कृत्वा यत्संस्कारित वेश्म तत्पाहुडिगमित्युच्यते। तदागमानुरोधेन गृहसंस्कारकालापन्ह्रासं कृत्वा वा संस्कारिता वसतिः। यद्गृहं अन्धकारबहुलं तत्र प्रकाशसंपादनाय यतीनां छिद्रीकृतकुड्यं, अपाकृतफलकं, सुविन्यस्तप्रदीपकं वा तत्पादुकारशब्देन भण्यते। द्रव्यक्रीतं भावक्रीतं इति द्विविधं क्रीतं वेश्म, सचित्त गोबलीवर्द्दादिकं दत्वा संयतार्थंक्रीतं, अचित्तं वा घृतगुडखंडादिकं दत्वा क्रीतं द्रव्यक्रीतं। विद्यामन्त्रादिदानेन वा क्रीतं भावक्रीतं। अल्पमृणं कृत्वा वृद्धिसहितं अवृद्धिकं वा गृहीतं संयतेभ्यः पामिच्छं उच्यते। मदीये वेश्मनि तिष्ठतु भवान् युष्मदीयं तावद्गृहं यतिभ्य प्रयच्छेति गृहीत परिगट्टमित्युच्यते। कुड्याद्यर्थं कुटीरककटादिक स्वार्थं निष्पन्नमेव यत्संयतार्थमानीतं तदभ्यहिडमुच्यते। तद्द्विविधमाचरितमनाचरितमिति। दूरदेशाद् ग्रामान्तराद्वानीतमनाचरितं इतरदाचरितं। इष्टकादिभिः, मृत्पिडेन, वृत्या, कवाटेनोपलेन वा स्थगित अपनीय दीयते यत्तदुद्भिन्न। निश्रेण्यादिभिरारुह्य इत आगच्छत युष्माकमियं वसतिरिति या दीयते द्वितीया तृतीया वा भूमिः सा मालारोहमित्युच्यते। राजामात्यादिभिर्भयमुपदर्श्य परकीय यद्दीयते तदुच्यते अच्छेज्जं इति। अनिसृष्टं पुनर्द्विविधं। गृहस्वामिना अनियुक्तेन या दीयते वसति यदस्वामिनापि बालेन परवशवर्तिना दीयते सोभयाप्यनिसृष्टेति उच्यते। उद्गमदोषा निरूपिताः।

उत्पादनदोषो निरूप्यते—पंचविधाना धात्रीकर्मणा अन्यतमेनोत्पादिता वसति। काचिद्दारकं स्नप-

---

बनाये घरको संयमियोंके लिए स्थापित करना ठविद दोष है। अमुक मुनि जितने दिनोमें आवेंगे, उनके प्रवेश करनेके दिन घरकी सब सफाई आदि करायेंगे, ऐसा चित्तमे विचारकर बनवाया घर 'पाहुडिग' कहा जाता है। अथवा मुनिके आनेके अनुरोधसे घरका संस्कार करनेका जो समय नियत किया था उस समयसे पूर्व संसार करना पाडुडिग दोष है। जिस घरमे बहुत अन्धकार रहता है उसमें मुनियोके लिए बहुत प्रकाश लानेके उद्देशसे दीवारमे छेद करना, लकड़ीका पटिया हटाना, दीपक रखना पादुकारदोष है। खरीदा हुआ दो प्रकारका होता है द्रव्यक्रत और भावक्रत। सचेतन गाय बैल वगैरह देकर मुनिके लिए खरीदा गया अथवा अचित्त घी गुड खाँड़ आदि देकर खरीदा गया घर द्रव्यक्रत है। विद्या मंत्र आदि देकर खरीदा गया घर भावक्रत है। बिना ब्याजका अथवा ब्याज पर थोडा सा ऋण लेकर मुनियोके लिए लिया गया घर पामिच्छ कहा जाता है। आप मेरे घरमें रहे, अपना घर यतियोको देदे इस प्रकार ग्रहण किया घर परियट्ट कहाता है। अपनी दीवार आदिके (?) लिए जो तैयार या उसे मुनिके लिए लाना अभ्यहिड कहाता है। उसके दो भेद हैं आचरित और अनाचरित। जो दूर देशमे या अन्य ग्रामसे लाया गया वह अनाचरित है शेष आचरित है। जो घर इट आदिमे, मिट्टीके ढेले से, बाड़से, कपाटसे या पत्थरसे ढपा है इनको हटाकर दिया गया वह घर उद्भिन्न दोषसे युक्त है। सीढी वगैरहसे ऊपर चढकर 'यहाँ आओ, आपकी यह वसति है' इस प्रकारसे जो दूसरे या तीसरे खण्डकी भूमि दी जाती है उसे मालारोहण कहते है। राजा मंत्री आदिके द्वारा भय दिखलाकर जो दूसरेकी वसति दी जाती है। वह अच्छेज्ज है। अनिसृष्टके दो भेद है। घरके स्वामीके द्वारा जो नियुक्त नहीं है ऐसे व्यक्तिके द्वारा जो वसति दी जाये वह अनिसृष्ट है। और जो पराधीन बालक स्वामी के द्वारा दी जाए वह भी अनिसृष्ट है। ये उद्गमदोष कहे।

उत्पादन दोष कहते है—धायके पाँच काम हैं—कोई बालकको नहलाती है। कोई उसे

यति, भूषयति, क्रीडयति, आशयति स्वापयति वा। वसत्यर्थमेवोत्पादिता वसतिर्धात्रीदोषदुष्टा। ग्रामान्तरान्नगरान्तराच्च देशादन्यदेशतो वा संबन्धिना वार्तामभिधायोत्पादिता दूतकर्मोत्पादिता। अंग, स्वरो, व्यञ्जनं, लक्षणं, छिन्नं, भौमं, स्वप्नोऽन्तरिक्षमिति एवंभूतनिमित्तोपदेशेन लब्धा वसतिर्निमित्तदोषदुष्टा। आत्मनो जाति, कुलं, ऐश्वर्यं वाभिधाय स्वमाहात्म्यप्रकटनेनोत्पादिता वसतिराजीवशब्देनोच्यते। भगवन्सर्वेषां आहारदानाद्वसतिदानाच्च पुण्यं किमु महदुपजायते इति पृष्टो न भवतीत्युक्ते गृहिजन प्रतिकूलवचनरुष्टो वसतिं न प्रयच्छेदिति एवमिति तदनुकूलमुक्त्वा योत्पादिता सा वणिगवा शब्देनोच्यते। अष्टविधया चिकित्सया लब्धा चिकित्सोत्पादिता। क्रोधोत्पादिता च। गच्छतामागच्छतां च यतीनां भवदीयमेव गृहमाश्रय इतीयं वार्ता दूरादेवास्माभिः श्रुतेति पूर्वं स्तुत्वा या लब्धा, वसनोत्तरकालं च गच्छन्प्रशंसा करोति पुनरपि वसतिं लप्स्ये इति। एवं उत्पादिता संस्तवदोषदुष्टा। विद्यया, मन्त्रेण, चूर्णप्रयोगेण वा गृहिणं वशे स्थापयित्वा लब्धा, मूलकर्मणा वा भिन्नकन्यायोनिसंस्थापना मूलकर्म। विरक्तानां अनुरागजननं वा। उत्पादनास्योऽभिहितो दोषः षोडशप्रकारः।

अथ एषणादोषान्दश प्राह—

किमियं योग्या वसतिर्नेति शङ्किता। तदानीमेव सिक्ता सत्यालिप्ता सती वा छिद्रस्रुतजलप्रवाहेण वा, जलभाजनलोठनेन वा तदानीमेव लिप्ता वा म्रक्षितेत्युच्यते। सचित्तपृथिव्या अपां, [1]वायो हरितानां, बीजानां

भूषण पहिनाती है। कोई खेल खिलाती है, कोई भोजन कराती है, कोई सुलाती है, इनमेंसे कोई एक कर्म करके प्राप्त की गई वसति धात्रीदोषसे दूषित है। अन्य ग्राम, अन्य नगर या देशान्तमें रहनेवाले सम्बन्धियोंकी कुशलवार्ता कहकर प्राप्त की गई वसति दूतकर्मके द्वारा उत्पादित होनेसे दूतकर्म दोषसे दुष्ट है। अंग, स्वर, व्यञ्जन, लक्षण, छिन्न, भौम, स्वप्न और अन्तरिक्ष, इस प्रकार निमित्तोंके उपदेशसे—गृहस्थोंको शुभाशुभ बतलाकर प्राप्त की गई वसति निमित्त नामक दोषसे दुष्ट है। अपनी जाति, कुल अथवा ऐश्वर्यको कहकर अपना बड़प्पन प्रकट करके प्राप्त की गई वसति आजीव शब्दसे कही जाती है। भगवन्! सबको आहार देने और वसति देनेसे क्या महान् पुण्य होता है? ऐसा गृहस्थ पूछे तो, 'नहीं होता' ऐसा कहनेपर गृहस्थ प्रतिकूल वचनसे रुष्ट होकर वसति नहीं देगा' इस विचारसे उनके अनुकूल कहकर प्राप्त की गई वसति 'वणिगवा' शब्दसे कही जाती है। आठ प्रकारकी चिकित्साके द्वारा प्राप्त की गई वसति चिकित्सा दोषसे दुष्ट है। क्रोधादिके द्वारा प्राप्त की गई वसति क्रोध आदि दोषसे दुष्ट है। आने जानेवाले यात्रियोंके लिए आपका ही घर आश्रय है यह बात हमने दूर देशसे ही सुनी है, इस प्रकार पहले स्तुति करके प्राप्त की गई अथवा निवास करनेके पश्चात् जाते समय प्रशंसा करना कि पुनः आनेपर वसति प्राप्त हो तो वह संस्तव दोषसे दुष्ट है। विद्या, मन्त्र या चूर्णके प्रयोगसे गृहस्थको वशमें करके प्राप्त की गई वसति विद्यादोष, मन्त्रदोष और चूर्णदोषसे दुष्ट है, मूलकर्मके द्वारा प्राप्त की गई अथवा विरागियोंको राग उत्पन्न करके प्राप्त हुई वसति मूलकर्म दोषसे दुष्ट है।

उत्पादन नामक सोलह प्रकारका दोष कहा।

दस एषणा दोष कहते हैं—

यह वसति योग्य है या नहीं, ऐसी शंका करना शंकित दोष है। जो वसति तत्काल ही सींची गई या लीपी गई है अथवा छिद्रसे बहनेवाले जलके प्रवाहसे या जलपात्रके लुढ़कानेसे

---

1. वाल्या आ०। अपां हरि-मु०।

सानां उपरि स्थापिते पीठफलकादिकं अत्र शय्या कर्तव्येति या दीयते वसति सा निक्षिप्तं भण्यते । हरित-कंटकसचित्तमृत्तिकापिधानमाकृष्य या दीयते सा पिहिता । काष्ठचेलकण्टकप्रावरणाद्याकर्षणं कुर्वता पुरोयायिनोपदर्शिता वसतिः साहारणशब्देनोच्यते । मृतजातसूतकयुक्तगृहिजनेन, मत्तेन, व्याधितेन, नपुंसकेन, पिशाचगृहीतेन, नग्नया वा दीयमाना वसतिर्दायकदुष्टा । स्थावरैः पृथिव्यादिभिः त्रसैः पिपीलिकामत्कुणादिभिः सहितोन्मिश्रा । वितस्तिमात्राया भूमेरधिकाया अपि भुवो ग्रहणं प्रमाणातिरेकदोषः । शीतवातातपाद्युपद्रवसहिता वसतिरियमिति निन्दां कुर्वतो वसनं धूमदोषः । निर्वाता, विशाला, नात्युष्णा शोभनेयमिति तत्रानुरागः इङ्गाल इत्युच्यते । एवमेतैरुद्गमादिदोषैरनुपहता वसतिः शुद्धा तस्याः । 'अकिरियाए' दुःप्रमार्जनादिसंस्काररहितायाः । 'असंसत्ताए' जीवसंभवरहितायाः । 'णिप्पाहुडियाए' शय्यारहितायाः । सेज्जाए वसतौ । अन्तर्बहिर्वा वसइ वसति । यतिर्विविक्तशय्यासनरतः ॥२३२॥

अथ का विविक्ता वसतिरित्यत्राह—

सुण्णघरगिरिगुहारुक्खमूलआगंतुगारदेवकुले ।
अकदप्पब्भारारामघरादीणि य विवित्ताइं ॥२३३॥

शून्य गृहं, गिरेर्गुहा, वृक्षमूलं, आगन्तुकानां वेश्म, देवकुलं, शिक्षागृहं केनचिदकृतं अकृतप्राग्भार-

---

उसी समय लीपी गई है उसे म्रक्षित कहते हैं। सचित पृथिवी, वायु, जल हरे बीज, और त्रस-जीवोंके ऊपर स्थापित पीठ, काष्ठफलक आदिको यहाँ शय्या करें ऐसा कहकर जो वसति दी जाती है उसे निक्षिप्त कहते है। हरित काँटे, सचित मिट्टीके आवरणको हटाकर जो वसति दी जाती है वह पिहित दोषसे युक्त है। काष्ट, वस्त्र, कण्टकके आवरण आदिका खीचते हुए आगे आनेवाले मनुष्यके द्वारा दिखलाई गई वसति साधारण शब्दसे कही जाती है। जिसे मरण अथवा जननका शौच लगा है ऐसे गृहस्थके द्वारा या मत्त, रोगी, नपुंसक, जिसे पिशाचने पकडा हुआ है या बालिकाके द्वारा दी गई वसति दायक दोषसे दूषित है। स्थावर पृथिवी आदि, त्रस चोंटी खटमल आदिसे सहित वसति उन्मिश्रा है। जितने बालिस्त प्रमाणभूमि साधुको चाहिए उससे एक बालिश्त भूमि भी अधिक लेना प्रमाणातिरेक नामक दोष है। यह वसति शीतवायु, धूप आदि उपद्रववाली है ऐसी निन्दा करते हुए भी उसी वसतिमे रहना धूमदोष है। यह वसति विशाल है इसमें हवा नही आती, अधिक गर्म भी नही है, सुन्दर है इस प्रकार उससे अनुराग करना इंगाल दोष है। वसति इन दोषोंसे रहित होनी चाहिए ॥२३२॥

विशेषार्थ—साधुको देने योग्य आहार, औषध, वसति, सस्तर, उपकरण आदि दाताकी जिन मार्गविरुद्ध क्रियाओंसे उत्पन्न होते है वे उद्गम आदि सोलह दोष है। और मार्गविरुद्ध जिन क्रियाओंसे भोजन आदि बनाये जाते हैं वे सोलह उत्पादन दोष है। ये बत्तीस भी आधाकर्मरूप होनेसे दोष कहे जाते हैं। यतिके भोजन आदिके लिए छहकायके जीवोंको बाधा देना अथवा ऐसे कारणसे उत्पन्न भोजन आदि आधाकर्म कहे जाते है। एषणादोष दस है। मूलाचारमें इन दोषोंका कथन है।

विविक्त वसति कौन है यह कहते हैं—

टी०—शून्य घर, पहाड़की गुफा, वृक्षका मूल, आनेवालोंके लिए बनाया घर, देवकुल,

शाल्येनोच्यते । आरामगृहं क्रीडार्थमायातानां आवासाय कृतं । एता विविक्ता वसतयः ॥२३३॥

अत्र वसने दोषाभावमाचष्टे—

कलहो बोलो झंझा वामोहो संकरो ममत्तिं च ।
ज्झाणाज्झयणविघादो णत्थि विवित्ताए वसधीए ॥२३४॥

'**कलहो बोलो**' । ममेयं वसतिस्तवेयं वसतिरिति कलहो न केनचित् अन्यजनरहितत्वात् । '**बोलो**' शब्दबहुलता । '**झंझा**' संक्लेशो । '**वामोहो**' वैचित्त्यं । '**संकरो**' अयोग्यैरसंयतैः सह मिश्रणं । '**ममत्तं च**' ममेदंभावश्च । '**णत्थि**' नास्ति । '**ज्झाणज्झयणविघादो**' ध्यानस्याध्ययनस्य च व्याघातः । उक्तः कलहादिर्न विद्यते । क्व ? '**विवित्ताए वसधीए**' विविक्तायां वसतौ । एकस्मिन्प्रमेये निरुद्धज्ञानसंततिर्ध्यानं । अनेकप्रमेय-संचारी स्वाध्यायः ॥२३४॥

इय सल्लीणमुवगदो सुहप्पवत्तेहिं तत्थ जोएहिं ।
पंचसमिदो तिगुत्तो आदट्ठपरायणो होदि ॥२३५॥

'**इय**' एवं । '**सल्लीणं**' एकात्मता '**उवगदो**' उपगतः । केन ? '**जोगेहिं**' योगैः तपोभिर्ध्यानैर्वा । **सुहप्पवत्तेहिं** सुखप्रवृत्तैः सुखेनाक्लेशेन प्रवृत्तैः । '**पंचसमिदो**' समितिपंचकोपेतः । '**तिगुत्तो**' कृताशुभमनोवाक्काय-निरोधः । '**आदट्ठपरायणो होदि**' आत्मप्रयोजनपरो भवति । एतेन कथ्यते—विविक्तवसतिस्थायी यतिर्निष्प्रतिद्वन्द्वध्यानैः शुभैस्तपोभिर्वा स्वास्थ्यमुपगतः संवरं निर्जरां च स्वप्रयोजनं संपादयति इति ॥२३५॥

संवरपूर्विका निर्जरा स्तोतुमाह—

जं णिज्जरेदि कम्मं असंवुडो सुमहदावि कालेण ।
तं संवुडो तवस्सी खवेदि अंतोमुहुत्तेण ॥२३६॥

शिक्षाघर, किसीके द्वारा न बनाया गया स्थान, आरामघर—क्रीड़ाके लिए आये हुओंके आवासके लिये जो बनाया गया है ये सब विविक्त वसतियाँ हैं ॥२३३॥

इनमे रहनेमे कोई दोष नही है, यह कहते हैं—

गा०—विविक्त वसतिमे कलह, शब्द बहुलता, संक्लेश, चित्तका व्यामोह, अयोग्य असंयमियोके साथ सम्बन्ध, यह मेरी है ऐसा भाव, तथा ध्यान और अध्ययनमे व्याघात नही है ॥२३४॥

टी०—विविक्त वसतिमें यह मेरी वसति है यह तेरी वसति है इस प्रकार कलह नही होना क्योंकि वहाँ अन्य लोग नही होते । इसीसे ऊपर कहे अन्य दोष भी नहीं होते । ध्यान अध्ययनमे बाधा नही होती । एक पदार्थमें ज्ञानसन्ततिके निरोधको ध्यान कहते है और अनेक पदार्थोंमें संचारको स्वाध्याय कहते हैं ॥२३४॥

गा०—इस प्रकार विविक्त वसतिमे निवास करनेसे विना क्लेशके सुखसे होनेवाले तप अथवा ध्यानके द्वारा बाह्यतपमें एकात्मताको प्राप्त यति पाँच समितियोसे युक्त हुआ अशुभ मन वचनकायका निरोध करके आत्माके कार्यमें तत्पर होता है ॥२३५॥

टी०—यहाँ कहा है कि विविक्त वसतिमें रहनेवाला यति निर्विघ्न ध्यानके द्वारा अथवा शुभतपके द्वारा स्वास्थ्यको प्राप्त होकर संवर और निर्जरारूप अपने प्रयोजनको करता है ॥२३५॥

'जं णिज्जरेदि कम्मं' यत्कर्म निर्जरयति तपसा बाह्येन । कः ? 'असंवुडो' असंवृत अशुभयोगनिरोधरहितः । 'सुमहदावि कालेण' सुष्ठु महता कालेनापि । 'तं' तत्कर्म 'खवेदि' क्षपयति । 'अंतोमुहुत्तेण' अतिस्वल्पेन कालेन । कः ? 'संवुडो' संवृत गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयपरिणतः । 'तवस्सी' तपस्वी अनशनादिमान् ॥२३६॥

एवमवलायमाणो भावेमाणो तवेण एदेण ।
दोसेणिग्घादंतो पग्गहिददरं परक्कमदि ॥२३७॥

एवमुक्तेन क्रमेण एतेन । 'तवेण भावेमाणो' तपसा भावयन्नात्मानमुद्यतः । 'अवलायमाणो' अपलायमानः । कुतो दुर्धरात्तपसः । एवमवलोयमाणो इति क्वचित्पाठः । तत्रायमर्थः—किल एवमेदेण तवेण भावेमाणो इति पदसंबन्धः । एवमेतेन तपसा भावयमानः अपलोयमाणो द्रव्यकर्म विनाशयन् इति । तदयुक्तं – अशब्दार्थत्वात् । 'दोसे' दूषयति रत्नत्रयमिति दोषा अशुभपरिणामाः तान् घातयन् । 'पग्गहिददरं' नितरां । 'परक्कमदि' चेष्टते मुक्तिमार्गे ॥२३७॥

यतिना निर्जरार्थिना एवंभूतं तपोऽनुष्ठेयं इति कथयति ।

सो णाम बाहिरतवो जेण मणो दुक्कदं ण उट्ठेदि ।
जेण य सड्ढा जायदि जेण य जोगा ण हायंति ॥२३८॥

'सो णाम बाहिरतवो' तन्नाम बाह्यं तपः । किं ? 'जेण मणो दुक्कडं ण उट्ठेदि' येन तपसा क्रियमाणेन मनो दुष्कृतं प्रति नोत्तिष्ठते । 'जेण य सड्ढा जायदि' येन च क्रियमाणेन तपसा तपस्यभ्यन्तरे श्रद्धा जायते । 'जेण य जोगा ण हायंति' येन च क्रियमाणेन पूर्वगृहीता योगा न हीयन्ते । तत्तथाभूतं तपोऽनुष्ठेयमिति यावत् ॥२३८॥

संवरपूर्वक निर्जराकी प्रशंसा करते हैं—

गा०—असंवृत्त अर्थात् अशुभयोगका निरोध न करनेवाला यति महान् कालके द्वारा भी जिस कर्मकी बाह्य तपके द्वारा निर्जरा नहीं करता उस कर्मको संवृत् अर्थात् गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषहजयको करनेवाला तपस्वी अति स्वल्पकालमें क्षय करता है ।२३६॥

गा०—उक्तक्रमसे इस तपसे अपनेको तत्पर करता हुआ दुर्धरतपसे न डरकर रत्नत्रयको दूषित करनेवाले अशुभ परिणामोंको घातता है और अत्यन्त मुक्तिके मार्गमें चेष्टा करता है ॥२३७॥

टी०—कहींपर 'एवमवलोयमाणो' ऐसा पाठ है । 'एदेण तवेण भावेमाणो' पदके साथ उसका सम्बन्ध करके ऐसा अर्थ करते है—इस प्रकार इस तपसे भावना करता हुआ 'अपलोयमाण' अर्थात् द्रव्यकर्मका विनाश करता है । यह युक्त नहीं है क्योंकि यह शब्दार्थ नहीं है ॥२३७॥

निर्जराके इच्छुक यतिको इस प्रकार तप करना चाहिए, यह कहते हैं—

गा०—उसीका नाम बाह्य तप है, जिस तपके करनेसे मन पापकी ओर नहीं जाता । और जिस तपके करनेसे अभ्यन्तर तपमें श्रद्धा उत्पन्न हो और जिसके करनेसे पूर्वमें गृहीत योग-व्रत विशेष हीन नहीं होते । इस प्रकारका तप करना चाहिए ॥२३८॥

बाहिरतवेण होदि हु सव्वा सुहसीलदा परिच्चत्ता।
सल्लिहिदं च सरीरं ठविदो अप्पा य संवेगे ॥२३९॥

बाह्यतपोऽनुष्ठाने गुणं कथयत्युत्तरैः सूत्रैः। '**बाहिरतवेण**' बाह्येन तपसा हेतुभूतेन। '**सव्वा सुहसीलदा परिचत्ता होदि**' सर्वा सुखशीलता परित्यक्ता भवति। सुखभावना रागं जनयति। रागः स्वयं च कर्मबंधहेतुदोषं चानयति। बंधः कर्मस्थितिहेतु सैवमर्था[1] निरस्ता भवति इति मन्यते। '**सल्लिहिदं च सरीरं**' भवति। शरीरं दुःखनिमित्तं तत्यक्तुकामस्य तनूकरणमुपायः तदनुष्ठितं भवतीति यावत्। '**ठविदो**' स्थापितः। '**अप्पा य**' स्वयं च, '**संवेगे**' समारभीरुतायां। ननु च संसारभीरुता हेतुस्तपसो न तपो हेतुस्तस्याः, ततोऽयुक्तमभाणि सूत्रकारेण बाह्येन तपसा संवेगे स्थापितः। लोकेनायं संविग्नचित्त इति स्थाप्यते बाह्ये तपसि वर्तमानस्ततो युक्तमुच्यते ॥२३९॥

दंताणि इंदियाणि य समाधिजोगा य फासिदा होंति।
अणिगूहिदवीरियओ जीविदतण्हा य वोच्छिण्णा ॥२४०॥

'**दंताणि**' दान्तानि '**इंदियाणिय**' इन्द्रियाणि च। '**होंति**' भवन्ति। अनशनावमोदर्यवृत्तिपरिसंख्यानेन जिह्वा दान्ता भवति इति। विविक्तशय्यासनेन इतराणि इन्द्रियाणि दान्तानि भवन्ति। मनोज्ञेन्द्रियविषयरहितायां वसतावस्थानान्तानि निगृहीतानि भवन्ति। **समाधिजोगा य फासिदा होंति** रत्नत्रयैकाग्र्यं समाधिः। समाधिषु योगाः समाधियोगाः। योगाः सम्बन्धास्ते च '**फासिदा होंति**' स्पृष्टा भवन्ति। रत्नत्रयसमाधानसम्बन्धाः स्पृष्टा भवन्ति। अशनादिकं त्यजता विषयरागो निरस्तो भवति। विषयरागव्याकुलो हि रत्नत्रये न घटते। असति तस्मिन्व्याकुलोऽशुभपरिणामैकमुखो भवति इति मन्यते। '**अणिगूहिदवीरियदा**' अनिगूढवीर्यता

आगेकी गाथासे बाह्यतपको करनेके गुण कहते हैं—

गा०-टी०—बाह्य तपसे सब सुख शीलता छूट जाती है। क्योंकि सुख शीलता रागको उत्पन्न करती है। राग-रागको बढाता है और कर्मबन्धके कारण दोषोको लाता है। बन्ध-कर्मकी स्थितिमें हेतु है। इस तरह बाह्य तपसे अनर्थ करनेवाली यह सुखशीलता नष्ट होती है। शरीर दुःखका कारण है। उसको छोडनेका उपाय है शरीरको कृश करना। बाह्य तपसे शरीर कृश होता है और स्वयं आत्मा ससारसे भीरुतामें स्थापित होती है।

शंका—न तो संसारसे भीरुता तपका हेतु है और न तप संसारसे भीरुताका हेतु है अतः ग्रन्थकारने यह अयुक्त कहा है कि बाह्य तपसे संवेगमें स्थापित होता है ?

समाधान—जो बाह्य तप करता है उसे लोग मानते हैं कि इसका चित संसारसे विरक्त है। अतः ग्रन्थकारका कथन युक्त है ॥२३९॥

गा०-टी०—इन्द्रियाँ दान्त होती हैं। अनशन, अवमौदर्य और वृत्ति परिसंख्यान तप करनेसे जिह्वा दान्त होती है। विविक्त शय्यासन तपसे शेष इन्द्रियाँ दान्त होती हैं। जहाँ इन्द्रियोंको प्रिय लगनेवाले विषय नहीं हैं ऐसी वसतिमें रहनेसे इन्द्रियोंका निग्रह होता है। रत्नत्रयमें एकाग्रताको समाधि कहते हैं। समाधिमें योग अर्थात् सम्बन्ध स्पष्ट होते हैं। भोजन आदिका त्याग करनेसे विषयोंसे राग नहीं रहता। जो विषयरागसे सताया हुआ है वह रत्नत्रयमें नही लगता। रत्न-

१. सैवमर्थं नि–आ०। सैवमर्थान्नि–मु०।

च भवति । वीर्याचारे प्रवृत्तश्च भवति । 'जीविदतण्हा य' या जीविते तृष्णा च 'वोच्छिण्णा' व्युच्छित्ति गता । न हि जीविताशावान् अशनादिकं त्यक्तुमीहते । जीविते तृष्णावान्यत्किंचित्कृत्वा असंयमादिकं प्राणानेव धारयितुमुद्यतो भवति न रत्नत्रये ॥२४०॥

दुक्खं च भाविदं होदि अप्पडिबद्धो य देहरससुक्खे ।
मुसमूरिदा कसाया विसएसु अणायरो होदि ॥२४१॥

'दुःखं च भाविदं होइ' दुःखं च भावितं भवति । दुःखभावना च कथमुपयोगिनी असंक्लेशेन दुःखसहने कर्मनिर्जरा जायते । क्रमेण च आयमाना निर्जरा निरवशेषकर्मापायस्योपाय इत्येवमुपयोगिनी इति मन्यते । अपि चासकृद्भावितदुःखो निश्चलो भवति[1] ध्याने । 'अप्पडिबद्धो य होइ' अप्रतिबद्धश्च भवति । 'देहरससोक्खे' शरीररससौख्ये । एतेषु त्रिषु प्रतिबद्धता समाधेर्विघ्न स निरस्तो भवतीति भाव । 'मुसुमूरिदा कसाया' उन्मृदिताः कषायाः भवन्ति । कथं अनशनादिना कषायनिग्रहः कृतो भवति ? क्षमामार्दवार्जवसन्तोषभावनादिप्रतिपक्षभूता विनाशयन्ति कषायान्नेतरदिति चेत् अयमभिप्रायः—अशनाद्यलाभे, स्वल्पलाभे, अशोभनाना वा लाभे क्रोधकषाय उत्पद्यते । तथा प्रचुरलाभाद्रसवद्भक्षालाभाच्च लब्धिमानहमेवेति मानकषायः । अस्मदीयभिक्षागृहं यथान्ये न जानन्ति तथा प्रविशामीति चिन्ता मायाकषाय । अशने रसे प्राचुर्यविशिष्टे चासक्तिर्लोभकषाय. । तथा वसत्यप्रदाने कोप , तल्लाभे च मानकषाय. प्राग्वत् । अन्येऽप्यागच्छन्तीति न मम वस[2]तिरस्त्यवकाशो[3]वाऽत्रेति वचनान्मायाकषाय । अहमस्य स्वामीति लोभ । इत्थं

त्रयमें न लगनेसे व्याकुल होकर अशुभ परिणामोंमें ही लगता है। अपनी शक्तिको छिपाता नही है और वीर्याचारमें प्रवृत्त होता है। जीवनकी जो तृष्णा है वह भी नष्ट हो जाती है। जिसे जीनेकी तृष्णा है वह भोजनादिकका त्याग करना नही चाहता। जीवनकी तृष्णावाला जो कुछ भी असंयम आदि करके प्राणधारण करनेमे ही तत्पर रहता है, रत्नत्रयमें नही लगता ॥२४०॥

गा०—टी०—दुःखका सहन होता है। बिना किसी सक्लेशके दुःख सहनेसे कर्मोकी निर्जरा होती है। और क्रमसे होनेवाली निर्जरा समस्त कर्मोंके विनाशका उपाय है इसलिए दुःखभावना उपयोगी है। दूसरे, बार-बार दुःखकी भावना करने वाला ध्यानमे निश्चल होता है। शरीर, रस और सुखमें अप्रतिबद्ध—अनासक्त होता है। इन तीनोंमें आसक्ति समाधिमें विघ्न करती है। अतः उसका निरास होता है। कषायोंका मर्दन होता है।

शंका—अनशन आदिसे कषायका निग्रह कैसे होता है ? कषायोकी विरोधी क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोष भावना आदि कषायोंको नष्ट करते हैं, अन्य नही।

समाधान—अभिप्राय यह है कि भोजन आदि न मिलने पर, या कम मिलने पर अथवा अरुचिकर मिलने पर क्रोध कषाय उत्पन्न होती है। तथा प्रचुर लाभमें और स्वादयुक्त भिक्षाके लाभसे मैं 'लब्धि सम्पन्न हूँ' ऐसी मान कषाय उत्पन्न होती है। मेरे भिक्षा लेनेके घरको दूसरे न जान सकें इस तरह घरमें प्रवेश करूँ, यह चिन्ता माया कषाय है। रसीले अत्यधिक भोजनमें आसक्ति लोभ कषाय है। तथा वसति नहीं देने पर क्रोध और उसके मिलने पर मानकषाय होती है जैसा पहले भोजनके सम्बन्धमे कह आये हैं। दूसरे भी आने वाले हैं इस वसतिमें स्थान नहीं है

१. तीतिध्या—आ० मु० । २. वसतेर—आ० मु० । ३. शश्चात्र—आ० मु० ।

कषायनिमित्तवस्तुत्यागाच्च कषायाणामवसरः इति । 'विसएसु' विषयेषु स्पर्शनादिषु । 'अणादरो होइ' अनादरो भवति औदासीन्यं जायते । तदौदासीन्यात् तदादरनिमित्तकर्मसंवरो भवतीति भावः । अशनस्य हि [1]शुक्लादिरूपे मृदुस्पर्शे, सौगन्ध्ये, रसे वादरस्त्यक्तो भवति अशनं त्यजता । तथा क्षीरादिकमपि त्यजता क्षीरादिरूपेषु ॥२४१॥

कदजोगदाददमणं आहारणिरासदा अगिद्धी य ।
लाभालाभे समदा तितिक्खणं बंभचेरस्स ॥२४२॥

'कदजोगदा' सर्वत्यागस्य पश्चाद्भाविनः योगश्च कृतो भवति बाह्येन तपसा । 'आदवमणं' आत्मनो दमनं आहारे सुखे च योऽनुरागस्तस्य प्रशमनात् । 'आहारणिरासदा' आहारे नैराश्यं सम्पादितं प्रतिदिनं आहारगताशापरित्यागाभ्यासात् । सर्वत्यागकालेऽपि सुकरा भवत्याहारनिराशतेति भावः । 'अगिद्धी य' अगृद्धिश्च अलम्पटता च । क्व ? आहारे । न ह्याहारे गृद्धिमान्लब्ध्वा तं त्यजति । लाभालाभे समदा लाभालाभयोः समता । लाभे च मन्याहारस्य हर्षाकरणात् अलाभे च तथाऽकोपात् । यः स्वयमेव लब्धमपि त्यजति स कथमिव परेषामदाने दुर्मनीभवति । 'तितिक्खणं बंभचेरस्स' ब्रह्मचर्यं च सोढं भवति । रसवदाहारत्यागादभिनवेऽसति शुक्रसंचये अनशने च संचितप्रलये मति न स्त्रीष्वनुरागो भवति इति भावः । तथा गलितशुक्राणां पुंसां वैमुख्यं अगनासु प्रतीतमेव ॥२४२॥

ऐसा कहना माया कषाय है । मै इस वसतिका स्वामी हूँ यह लोभ कषाय है । इस तरह जो वस्तु कषायमें निमित्त हैं उनका त्याग करनेसे कषायका अवसर नहीं रहता । (विसएसु अणादरो होई) स्पर्शन आदि विषयोमें अनादर होता है अर्थात् उदासीनता होती है । विषयोमें उदासीनतासे विषयोंमें आदर भाव रखनेके निमित्तसे बन्धने वाले कर्मोका संवर होता है यह भाव है । भोजनके त्यागसे भोजनके शुक्ल आदि रूपमे, कोमल स्पर्शमें, सुगन्धमे अथवा रसमें आदरका त्याग हो जाता है । तथा दूध आदिका भी त्याग करनेसे दूध आदिके रूप रस आदिमें आदरका त्याग हो जाता है ॥२४१॥

गा०–टी०—'कद जोगदा'—बाह्य तपसे मरणकालमे जो सर्व आहारका त्याग करना होता है उसका अभ्यास होता है । 'आत्मदमण'—आहार और सुखमें जो अनुराग है उसका प्रशमन होनेसे आत्माका दमन होता है । आहारणिरासदा'—प्रतिदिन आहार सम्बन्धी आशाके त्यागके अभ्याससे आहारके विषयमें निराशा सम्पन्न होती है । अभिप्राय यह है कि समस्त आहारका त्याग करने के कालमें भी आहार सम्बन्धी इच्छाका विनाश सुकर होता है । 'अगिद्धीय'—और आहारमें लंपटता नहीं रहती । जिसकी आहारमें गृद्धि है वह आहार पाकर उसे छोड़ नहीं सकता । 'लाभालामे समदा'—लाभ और अलाभमें समता रहती है । आहारका लाभ होने पर हर्ष नहीं करता और अलाभमें क्रोध नहीं करता । जो स्वयं भी प्राप्त आहारको छोड़ देता है वह दूसरोंके न देने पर अपना मन खराब कैसे कर सकता है । तितिक्खण बंभचेरस्स'—ब्रह्मचर्यको धारण करता है । रसोले आहारके त्यागसे नवीन वीर्यसंचय नहीं होता और अनशनसे संचितवीर्य क्षय होता है तब स्त्रीमें अनुराग नहीं होता । तथा जिन पुरुषोंमें वीर्यहीनता होती हैं उनके प्रति स्त्रियोंकी विमुखता प्रसिद्ध ही है ॥२४२॥

---

1. हि भक्तादिरूपे–आ० ।

णिद्दाजओ य दढझाणदा विमुत्ती य दप्पणिग्घादो ।
सज्झायजोगणिव्विग्घदा य सुहदुक्खसमदा य ॥२४३॥

'णिद्दाजओ य' निद्राजयश्च । प्रतिदिनमश्नतः रसवदाहारसेवापरस्य बहुभोजिनश्च निवाते सुखस्पर्शे निरुपद्रवे च देशे शयानस्य निद्रा महती जायते, यया परवशो निश्चेतन इव भवत्यशुभपरिणामप्रवाहे च पतति, न च रत्नत्रयेण घटयति, तस्या जयो । 'दढझाणदा' दृढध्यानता च दुःखोपनिपाताच्चलति ध्यानाद भावितदुःखो यतिः । कृततपोभावनस्तु क्षुदादिपरीषहोपनिपातेऽपि सहते । 'विमुत्ती य' विमुक्तिर्विशिष्ट-त्यागः अनशनादावुद्यतेन शरीरमेव त्यक्तं भवति तदेव दुस्त्यजं । 'दप्पणिग्घादो' असयमकरणो यो दर्पस्तस्य निर्घातश्च कृतो भवति । 'सज्झायजोगणिव्विग्घदा य' वाचनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशैर्योगः सबन्धो यस्तस्य विघ्नाभावश्च । आहारार्थं भ्रमतः कथं स्वाध्याय क्रियते ? बहुभोजनश्च उत्तान स्वपिति आसितुमप्य-समर्थः । रसवदाहारभोजी आहारोष्मणा दह्यमान इतस्तत परावर्तते । अविविक्ताया वसतौ वर्तमानः परेषा वचः शृण्वस्तैः सह संभाषण कुर्वन्नाधीते । विविक्तदेशस्थायी पुनर्निर्व्याकुल स्वाध्याये घटते । 'सुह-दुःखसमदा य' सुखेन हृष्यति दुःखेन दुष्यति इति रागद्वेषावन्तरेण सुखदुःखानुभव सुखदुःखसमता । अशन रसाश्च सुखसाधनभूतांस्त्यजता सुखे रागस्त्यक्तो भवति । क्षुदादिजनितवेदनोपनिपाते असक्लेशात् दुःखे न च द्वेषोऽस्यास्तीति । 'बाहिरतवेण होदि हु' इत्यनेन पञ्चसूत्र निर्दिष्टानां[1] प्रत्येक संबन्ध ॥२४३॥

गा०—टी०—'णिद्दाजओय'—निद्राजय होता है। जो प्रतिदिन भोजन करता है, रसीले आहार के सेवनमें तत्पर रहता है, बहुत भोजन करता है, उसे वायुके प्रकोपसे रहित, सुखकारक स्पर्शवाले उपद्रवहीन देशमें सोने पर गहरी नीद आती है, जिसके अधीन होकर वह चेतनाहीन जैसा हो जाता है और अशुभ परिणामोंके प्रवाहमे गिर जाता है। वह रत्नत्रयमे नही लगता। उस निद्रा-का जय होता है। 'दढझाणदा' दृढ़ ध्यान होता है। जिस यतिको दुःख सहनेका अभ्यास नहीं होता, वह दुःख पड़ने पर ध्यानसे विचलित हो जाता है। किन्तु तपका अभ्यासी भूख आदि परी-षह आने पर सहता है। 'विमुत्तीय' विमुक्ति अर्थात् विशिष्ट त्याग करता है क्योकि जो अनशन आदिमे तत्पर रहता है वह तो शरीर ही को छोड़ देता है और शरीर ही को छोड़ना कठिन होता है। 'दप्पणिघादो'—असयमको करने वाला जो दर्प है उसका भी पूरी तरहसे घात होता है। 'सज्झायजोगणिव्विग्घदाय'—वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेशके साथ जो सम्बन्ध है उसमें कोई विघ्न नहीं होता। आहारके लिए भ्रमण करने वाला साधु कैसे स्वाध्याय कर सकता है। बहुत भोजन करने वाला तो ऊपरको मुख करके सोता है बैठ भी नहीं सकता। रसीला आहार खाने वाला आहारकी ऊष्मासे इधर-उधर करवटे बदलता है। जो बहुजन संकुल वसतिमें रहता है वह दूसरोंकी बातें सुनकर उनके साथ बातचीत करता है, स्वाध्याय नही करता। किन्तु एकान्त स्थानमें रहने वाला व्याकुलता रहित होकर स्वाध्याय करता है। 'सुह-दुक्खसमदाय'—सुखसे हर्षित होना और दुःखसे दुःखी होना राग-द्वेष है। उनके बिना सुख-दुःख का अनुभव सुख-दुःख समता है। सुखके साधनभूत भोजन और रसोंको जो त्यागता है वह सुखमें रागको त्यागता है। भूख प्यासका कष्ट होने पर संक्लेश न होनेसे उसे दुःखमें द्वेष नहीं होता।

१. त्रीनिर्दि—अ० मु०।

आदा कुलं गणो पवयणं च सोभाविदं हवदि सव्वं ।
अलसत्तणं च विजढं कम्मं च विणिद्धुयं होदि ॥२४४॥

'आदा कुलं गणो पवयणं च सव्वं सोभाविद हवदित्ति' पदघटना । बाह्येन तपसा स्वय कुलमात्मनो, गणं, स्वशिष्यसन्तानस्य शोभामुपनीतो भवति । **'अलसत्तणं च'** अलसत्वं च । **'विजढं'** त्यक्तं भवति । *दुर्धरतप:समुद्योगात् 'कम्मं च विणिद्धुयं' कर्म च संसारमूलं विशेषेण निर्धूतं भवति ॥२४४॥*

बहुगाणं संवेगो जायदि सोमत्तणं च मिच्छाणं ।
मग्गो य दीविदो भगवदो य अणुपालिया आणा ॥२४५॥

'बहुगाणं' बहूना । **'संवेगो जायदि'** ससारभीरुता जायते । यथा सन्नद्धमेकं दृष्ट्वा नूनमत्र भयमस्ति किंचिदहमपि सन्नह्यामीति जन. प्रवर्तते । एव तपस्युद्यतमवलोक्य ससारभयादयमेव क्लिश्यति तदस्माकमप्यनिवारितमेवेति बिभेति । भीतश्च प्रतिक्रिया प्रारभते । **'सोमत्तणं च मिच्छाणं'** मिथ्यादृष्टीना सौम्यता सुमुखता वा जायते । दुर्द्धरमिदं महत्तपो यतीना इति प्रसन्ना भवंतीति यावत् । **'मग्गो य दीविदो'** मार्गश्च मुक्ते. प्रकाशितो भवति यतीना बाह्येन तपसा करणभूतेन । न तपसा विना कर्मणा निर्जराऽस्तीति **'भगवदो य अणुपालिदा आणा'** भगवत आज्ञा चानुपालिता भवति यतिना बाह्येन तपसा करणेन ॥२४५॥

देहस्स लाघवं संवेगो जायदि सोमत्तणं च मिच्छाणं ।
जवणाहारो संतोसदा य जहसंभवेण गुणा ॥२४६॥

'देहस्स लाघवं' शरीरस्य लाघवगुणो बाह्येन तपसा भवति । लघुशरीरस्य आवश्यकक्रिया. सुकरा भवन्ति । स्वाध्यायध्याने चाक्लेशसम्पाद्ये भवत । **'णेहस्स लूहणं'** शरीरस्नेहविनाशन च गुण. । शरीरस्नेहादेव

उक्त पाँच गाथामे जो कुछ कहा है उसका सम्बन्ध 'बाह्यतपसे होता है' इस वाक्यके साथ लगाना चाहिए ॥२४३॥

टी०—बाह्य तपसे आत्मा, अपना कुल, गण, अपनी शिष्य परम्परा शोभित होती है । आलस्य छूट जाता है । और दुर्धर तप करनेसे संसारका मूल कर्म विशेषरूपसे नष्ट होता है ॥२४४॥

टी०—यतिके बाह्य तप करनेसे बहुतसे लोगोको ससारसे भय उत्पन्न होता है । अवश्य ही यहाँ कुछ भय है मैं भी तैयारी करता हूँ । इस प्रकार लोग तपमे प्रवृत्त होते है । तपमे उद्यत जनको देखकर 'यह संसारके भयसे इस प्रकारका कष्ट उठाता है । हम भी इससे बच नही सकते ऐसा मान ससारसे डरता है और डरकर उसका प्रतीकार करता है । तपस्वीको देखकर मिथ्यादृष्टियोंमें भी सौम्यता आ जाती है । यतियोंका यह महान तप दुर्द्धर है इस प्रकार अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हैं । यतियोंके बाह्य तप करनेसे मुक्तिका मार्ग प्रकाशित होता है । क्योकि तपके बिना कर्मोंकी निर्जरा नही होती । और भगवान्‌की आज्ञाका अनुपालन होता है ॥२४५॥

टी०—बाह्य तपसे शरीरमें हलकापन आता है । जिसका शरीर हल्का होता है वह आवश्यक क्रियाओंको सरलतासे करता है । तथा स्वाध्याय और ध्यान बिना कष्टके होते हैं ।

मनोऽसंयमे प्रवर्तते । शरीरमेवानर्थहेतुरिति तपोऽपि न करोति । तेनाहितः शरीरस्नेहो विनाशितो भवति । 'उवसमो तहा परमो' तथा चोत्कृष्टश्चोपशमो भवति रागादेदु:करे तपसि वर्तमानस्य । किं च मम रागेण उपद्रवकारिणा । सति रागे हि नवकर्मबन्धो जायते । चिरन्तनकर्मरसोपबृंहणं च । सति चेत्थं मदीयः क्लेशो निष्फलो भवेदिति मनःप्रणिधानादुपशमः । 'जवणाहारो' परिमिताहारता इति केचिदाचक्षते । तत्र च गुणो नीरोगतादिकमिति । तथा चाहुर्मिताशिनः षड्गुणा भजन्ते इति । अपरे शरीरस्थितिमात्रहेतुराहारः जवणाहारशब्द शरीरवाच्यः इति स्थिताः ॥२४६॥

एवमित्यादिनोपसंहरति—

एवं उग्गमउप्पादणेसणासुद्धभत्तपाणेण ।
मिदलहुयविरसलुक्खेण य तवमेदं कुणदि णिच्चं ॥२४७॥

'एवमेवं तवो णिच्चं कुणदित्ति' पदघटना । 'एवं' व्यावर्णितरूपेण । 'एदं' एतत् बाह्य तपः । 'कुणदि' करोति । 'णिच्च' नित्यं । 'उग्गमउप्पादणेसणासुद्धभत्तपाणेण' उद्गमोपादनैषणादोषरहितेन, भक्तेन पानेन च । *कीदृग्भूतेन ? "मिदलहुगविरसलुक्खेण' परिमितेन लघुना, विरसेन, रूक्षेण । एवंभूत शुद्धमाहार भुक्त्वा* तपः [1]कुर्यान्नाशुद्धमिति भावः ।

उल्लीणोल्लीणेहिं य अहवा एक्कंतवड्ढमाणेहिं ।
मल्लिहइ मुणी देहं आहारविधिं पयणुगिंतो ॥२४८॥

'उल्लोणोल्लीणेहिं य' प्रवर्द्धमानेन हीयमानेन च तपसा चतुर्थषष्ठादिक्रमेणानशनतपोवृद्धि । एकद्वि-

---

शरीरसे स्नेहका विनाश होता है यह भी एक गुण है। शरीरके स्नेहसे ही मनुष्य असयमका आचरण करता है। शरीर ही अनर्थका कारण है। इसीके स्नेहवश मनुष्य तप नहीं करता। अतः तपसे अहितकारी शरीरस्नेहका नाश होता है। दुष्कर तप करनेवालेके रागादिका उत्कृष्ट उपशम होता है। वह मनमें विचारता है, इस उपद्रवकारी रागसे मुझे क्या ? रागके होनेपर नवीन कर्मका बन्ध होता है, और पूर्वबद्धकर्मोंमें रसकी वृद्धि होती है। ऐसा होनेपर मेरा कष्ट सहन निष्फल है। ऐसे विचारसे उपशम होता है। 'जवणाहारो'—इसका अर्थ कोई 'परिमित आहार' करते हैं। उसमें नीरोगता आदि गुण हैं। कहा है 'परिमित भोजनमें छह गुण होते हैं।' अन्य कुछ शरीरकी स्थितिमात्रमें हेतु जो आहार है वह जवणाहार है ऐसा कहते हैं ॥२४६॥

उक्त चर्चाका उपसहार करते हैं—

गा०—कहे अनुसार उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषसे रहित भोजन और पानसे और परिमित, लघु, रसरहित और रूक्ष भाजन पानसे यह बाह्य तप नित्य यति करता है। इसका भाव है कि इस प्रकारका शुद्ध आहार खाकर तप करना चाहिए। अशुद्ध आहार करके नहीं ॥२४७॥

गा०—वर्द्धमान या हीयमान अनशन आदि तपोसे अथवा सर्वथा वर्द्धमान तपोंके द्वारा आहारकी विधिको अल्प करता हुआ मुनि शरीरको कृश करता है ॥२४८॥

टी० —चतुर्थ, षष्ठ आदिके क्रमसे अनशन तपकी वृद्धि होती है। एक दो आदि ग्रास कम

[1]. कुर्यान्नाशुद्ध—अ० । कुर्युः सुशुद्ध—आ० ।

कवलादिन्यूनतया अवमोदर्यवृद्धिः । एकस्य रसस्य द्वयोस्त्रयाणामित्यादिना क्रमेण रसपरित्यागवृद्धि । एकपाटकं, गृहसप्तकं, गृहत्रयं वा प्रविशामीति, भिक्षाग्रासपरिमाणन्यूनताकरणेन वा वृत्तिपरिसंख्यानवृद्धिः । दिवसे आतपनं कृत्वा रात्रौ प्रतिमावग्रहकरणमित्यादिना कायक्लेशवृद्धि । एवं श्रमे महति संजाते क्रमेण अनशनादीनां न्यूनताकरणं । 'अहवा' अथवा । 'एयंतवड्ढमाणेहिं' एकान्तेन वर्धमानैः तपोभिः । 'सल्लिहइ' संलिखति । 'मुणी' मुनिः । 'देहं' । आहारविधिं' अशनादिविधि । 'वयणुगितो' अल्पीकुर्वन् ॥२४८॥

प्रकारान्तरेण सल्लेखनोपायमाचष्टे—

अणुपुव्वेणाहारं संवट्टंतो य सल्लिहइ देहं ।
दिवसुग्गहिएण तवेण चावि सल्लेहणं कुणइ ॥२४९॥

'अणुपुव्वेण' क्रमेण । आहारं संवट्टंतो य आहारं न्यूनयित्वा । सल्लिहइ देहं तनूकरोति । दिवसुग्गहिगेण तवेण चावि एकैकदिन प्रतिगृहीतेन तपसा च, एकस्मिन्दिनेऽनशनं, एकस्मिन्दिने वृत्तिपरिसंख्यानं इति । सल्लेहणं कुणइ सल्लेखना करोति ॥२४९॥

विविहाहिं एसणाहिं य अवग्गहेहिं विविहेहिं उग्गेहिं ।
संजममविराहिंतो जहाबलं सल्लिहइ देहं ॥२५०॥

'विविहाहिं' नानाप्रकारैः । 'एसणाहिं य' भोजनैः रसवर्जितैरल्पैः शुष्कैराचाम्लैर्वा । 'अवग्गहेहिं' नानाप्रकारैरवग्रहैः । 'उग्गेहिं' उग्रैः । 'संजममविराधेंतो' संयमं द्विप्रकारं अविनाशयन् । 'जहाबलं' स्वबलानतिवृत्त्या देहं तनूकरोति ॥२५०॥

सदि आउगे सदि बले जाओ विविधाओ [1]भिक्खुपडिमाओ ।
ताओ वि ण बाधंते जहाबलं सल्लिहंतस्स ॥२५१॥

करनेसे अवमौदर्यकी वृद्धि होती है। एक रसका, फिर दो रसका, फिर तीन रसका, इत्यादि क्रमसे त्याग करनेसे रसपरित्यागकी वृद्धि होती है। मैं एक पाटकमें या सात घरमें या तीन घरमें प्रवेश करूँगा। अथवा भिक्षाके ग्रासोंका परिमाण कम करनेसे वृत्तिपरिसंख्यान तपकी वृद्धि होती है। दिनमें आतापन योग करके रात्रिमें प्रतिमा योग धारण करने आदिसे कायक्लेशकी वृद्धि होती है। इस प्रकार करनेसे महान् श्रम होनेपर क्रमसे अनशन आदिमें कमी करता है। या फिर बढ़ाता ही जाता है और आहारको कम करके मुनि शरीरको कृश करता है ॥२४८॥

प्रकारान्तरसे सल्लेखनाका उपाय कहते हैं—

गा०—क्रमसे आहारको कम करते हुए शरीरको कृश करता है। और एक एक दिन ग्रहण किये तपसे, एक दिन अनशन, एक दिन वृत्तिपरिसंख्यान इस प्रकार सल्लेखनाको करता है ॥२४९॥

गा०—नाना प्रकारके रस रहित भोजन, अल्प भोजन, सूखा भोजन, आचाम्ल भोजन आदिसे और नाना प्रकारके उग्र नियमोसे दोनों प्रकारके संयमोको नष्ट न करता हुआ यति अपने बलके अनुसार देहको कृश करता है ॥२५०॥

---

१. मासिय दुय तिय चउ पंच मास छम्मास सत्त मासी य ।
तिण्णेव सत्तराइं राइंदिय राइपडिमाओ ॥' —मूलाराधनादर्पणे ।

'सदि आउगे' आयुषि सति । 'सदि बले' सति बले । 'जाओ' याः 'विविहाओ' विचित्राः । 'भिक्खु-पडिमाओ' भिक्षुप्रतिमाः । 'ताओ वि' ताश्च । 'ण बाधंते' न पीडा जनयति महती । कस्य ? 'अहाबलं सल्लिहंतस्स' यथाबलं तनूकुर्वतः बलमन्तरेण कुर्वतः प्रारब्धमहाक्लेशस्य योगभङ्गः संक्लेशश्च महान् जायते इति भावः ॥२५१॥

शरीरसल्लेखनाहेतुषु उपन्यस्तेषु के उत्कृष्टा इत्यत्राह—

सल्लेहणा सरीरे तवोगुणविधी अणेगहा भणिदा ।
आयंबिलं महेसी तत्थ दु उक्कस्सयं विंति ॥२५२॥

'सल्लेहणा सरीरे' शरीरसल्लेखनानिमित्त शरीरे सल्लेखना इत्युच्यते । 'तवोगुणविधी' तपःसंज्ञितो गुणविकल्पः । 'अणेगहा भणिदा' अनेकधा निरूपित. अतीतसूत्रे । 'तत्थ' तत्र । 'महेसी' महर्षय. । 'आयं-बिलं दु' आचाम्लाशनमेव । 'उक्कस्सगं' उत्कृष्टमिति । 'बेंति' ब्रुवन्ति ॥२५२॥

टी०—आयुके होते हुए और बलके होते हुए अपनी शक्तिके अनुसार शरीरको कृश करने वाले यतिके जो विविध भिक्षु प्रतिमाएँ है, वे भी महान् कष्ट नही देती । जो शक्तिके बिना करता है उसे प्रारम्भ मे ही महान् क्लेश होनेसे योगका भग तथा महा सक्लेश परिणाम होते है ॥२५१॥

विशेषार्थ—आशाधरजीने एक गाथाके द्वारा उसका अर्थ करते हुए भिक्षु प्रतिमाओका कथन किया है जो इस प्रकार है—

आत्माकी सल्लेखना करने वाला, धैर्यशाली, महासत्त्वसे सम्पन्न, परीषहोका जेता, उत्तम सहननसे विशिष्ट, क्रमसे धर्मध्यान और शुक्ल ध्यानको पूर्ण करता हुआ मुनि जिस देशमे रहता है उस देशके लिये दुर्लभ आहारका व्रत ग्रहण करता है कि यदि एक मासमे ऐसा आहार मिला तो मैं भोजन करूँगा, अन्यथा नहीं करूँगा । उस मासके अन्तिम दिन वह प्रतिमा योग धारण करता है । यह एक भिक्षु प्रतिमा है । इस प्रकार पूर्वोक्त आहारसे सौगुने उत्कृष्ट अन्य-अन्य भोजन सम्बन्धी नियम लेता है । ये नियम दो, तीन, चार, पाँच, छं और सात मासको लेकर होते है । अर्थात् दो या तीन आदि सात मासमें ऐसा आहार मिलेगा तो आहार करूँगा । सर्वत्र नियमोंके अन्तिम दिन प्रतिमा योग धारण करता है । ये सात भिक्षु प्रतिमा है । पुनः पूर्व आहार से सौगुना उत्कृष्ट दुर्लभ अन्य-अन्य आहारका नियम सात-सात दिनका तीन बार ग्रहण करता है । अर्थात् सात दिनमें ऐसा मिला तो ग्रहण करूँगा । ये तीन भिक्षु प्रतिमा हैं । फिर रात दिन प्रतिमायोगसे स्थित रहकर पीछे रात्रि प्रतिमायोग धारण करता है । ये दो भिक्षु प्रतिमा हैं । इनके धारण करनेपर पहले अवधि मनःपर्यय ज्ञानको प्राप्त करनेके पीछे सूर्योदय होनेपर केवल-ज्ञानको प्राप्त करता है । इस तरह बारह भिक्षु प्रतिमायोगसे स्थित होकर पश्चात् रात्रि प्रतिमा-योग धारण करता है ॥२५१॥

ऊपर जो शरीरकी सल्लेखनाके हेतु कहे हैं उनमें कौन उत्कष्ट हैं, यह कहते हैं—

गा०—शरीरकी सल्लेखनाके निमित्त अनेक प्रकार तप नामक गुणके विकल्प पूर्व गाथाओं के द्वारा कहे हैं । उनमेंसे महर्षि आचाम्लको ही उत्कृष्ट कहते हैं ॥२५२॥

---

१. शनाय च आ० । —शनात्यं च मु० ।

शरीरसल्लेखनोपायोत्कृष्टमाचाम्लाशनमित्युक्तं तत्कीदृगिति चोदिते आह—

छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं भत्तेहिं विदियअट्ठेहिं ।
मिदलहुग आहारं करेदि आयंबिलं बहुसो ॥२५३॥

'छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं भत्तेहिं विविधअट्ठेहिं' द्वित्रिचतुःपञ्चदिनोपवासैः उत्कृष्टैः । 'मिदलहुगं आहारं करेदि' परिमितं लघ्वाहारं करोति । 'आयंबिलं' आचाम्लं । 'बहुसो' बहुशः ॥२५३॥

भक्तप्रत्याख्यानस्यास्य वर्ण्यमानस्य कियत्काल इत्यत्रोत्तरं—

उक्कस्सएण भत्तपइण्णाकालो जिणेहिं णिद्दिट्ठो ।
कालम्मि संपहुत्ते बारसवरिसाणि पुण्णाणि ॥२५४॥

'उक्कस्सएण' उत्कर्षेण । 'भत्तपइण्णाकालो' भक्तप्रत्याख्यानकालः । 'जिणेहिं णिद्दिट्ठो' जिनैर्निर्दिष्टः । 'कालम्मि' काले । 'संपहुत्ते' महति सति । 'बारसवरिसाणि' सम्पूर्णद्वादशवर्षमात्रान् ॥२५४॥

उक्तेषु द्वादशवर्षेषु एवं कर्तव्यमिति क्रमं सल्लेखनायं दर्शयति—

जोगेहिं विचित्तेहिं दु खवेइ संवच्छराणि चत्तारि ।
वियडी णिज्जूहित्ता चत्तारि पुणो वि [1]सोसेदि ॥२५५॥

'जोगेहिं' कायक्लेशैः । 'विचित्तेहिं दु' विचित्रैर्नियतैः । 'खवेदि' क्षपयति । 'संवच्छराणि चत्तारि' वर्षचतुष्टयं । यत्किंचिद्भुक्त्वा । 'वियडी णिज्जूहित्ता' रसादीन्क्षीरादीन्परित्यज्य । 'चत्तारि' वर्षचतुष्टयं । 'पुणो वि' पुनरपि । [2]'सोसेदि' तनूकरोति तनुम् ॥२५५॥

शरीरकी सल्लेखनाके उपायोंमे आचाम्लको उत्कृष्ट कहा, वह कैसा होता है, यह कहते हैं—

गा०—उत्कृष्ट दो दिन, तीन दिन, चार दिन और पाँच दिनके उपवासके बाद अधिकतर परिमित और लघु आहार आचाम्लको करते हैं ॥२५३॥

विशेषार्थ—'अदिविकट्ठेहिं' के स्थानमे वियदि अट्ठेहिं' पाठ भी मिलता है। उसका अर्थ 'विशेष अतिकष्ट' ऐसा होता है। इस गाथाका तात्पर्य यह है षष्ठ आदि उपवासोंसे सक्लेशको न प्राप्त होता यति मित और लघु कांजी का आहार प्रायः करता है। उसे सलेखनाके हेतुओमे उत्कृष्ट कहते हैं ॥२५३॥

जिस भक्त प्रत्याख्यानका वर्णन चल रहा है उसका काल कितना है? इसका उत्तर देते है—

गा०—यदि आयुका काल अधिक शेष हो तो जिन भगवान्ने उत्कृष्टसे भक्त प्रत्याख्यानका काल पूर्ण बारह वर्ष कहा है ॥२५४॥

उक्त बारह वर्षमें ऐसा करना चाहिये, इस प्रकार सल्लेखनाका क्रम बतलाते है—

गा०—नाना प्रकारके कायक्लेशोंके द्वारा चार वर्ष बिताता है। दूध आदि रसोंको त्याग-कर फिर भी चार वर्ष तक शरीरको सुखाता है ॥२५५॥

---

१. मोमेइ अ० । २. मोसेदि अ० ।

आयंबिलणिव्वियडीहिं दोण्णि आयबिलेण एक्कं च ।
अद्धं णादिविगट्ठेहिं अदो अद्धं विगट्ठेहिं ॥२५६॥

'आयबिलणिव्वियडीहिं' आचाम्लेन निर्विकृत्या च । 'दोण्णि' वर्षद्वयं क्षपयति । 'आयंबिलेण' आचाम्लेनैव । 'एक्कं च' एकं वर्षं । 'अद्धं' अवशिष्टस्य वर्षस्य षण्मासान् । 'णादिविगट्ठेहिं' अत्यनुत्कृष्टैस्तपोभिः क्षपयति । 'अदो अद्धं विकट्ठेहिं' अतः परं षण्मासान् उत्कृष्टैस्तपोभिः ॥२५६॥

व्यावर्णितेनैव क्रमेण आचरितव्यमिति नियोगो न विद्यते इत्याचष्टे—

भत्तं खेत्तं कालं धादुं च पडुच्च तह तवं कुज्जा ।
वादो पित्तो सिंभो व जहा खोभं ण उवयंति ॥२५७॥

'भत्तं' आहारं शाकबहुलं, रसबहुलं, कुल्माषप्रायं, निष्पावचणकादिमिश्रं, शाकव्यञ्जनादिरहितं वा । 'खेत्तं' अनूपजाङ्गलसाधारणविकल्पं । 'कालं' घर्मशीतसाधारणभेदं । धातुमात्मनः शरीरप्रकृतिं च । 'पडुच्च' आश्रित्य । 'तह' तथा । 'तवं कुज्जा' तपः कुर्या'ज्जहा खोभं ण उवयंति' । यथा क्षोभं नोपयान्ति । 'वादो पित्तो सिंभो वा' वातपित्तश्लेष्मत्रिकं ॥२५७॥

शरीरसल्लेखनाक्रममभिधायाभ्यन्तरसल्लेखनाक्रममभिधातु अभ्यन्तरसल्लेखनया सह सम्बन्धं कथयन्ति—

एव सरीरसल्लेहणाविहिं बहुविहा व फासेंतो ।
अज्झवसाणविसुद्धिं खणमवि खवओ ण मुंचेज्ज ॥२५८॥

'एव'मुक्तेन क्रमेण । 'शरीरसल्लेहणाविहिं' नानाप्रकारं । 'फासेंतो वि' स्पृशन्नपि । 'अज्झवसाण-

---

गा०—आचाम्ल और निर्विकृतिके द्वारा दो वर्ष बिताता है। आचाम्लके द्वारा एक वर्ष बिताता है। मध्यम तपके द्वारा शेष वर्षके छह माह और उत्कृष्ट तपके द्वारा शेष छह मास बिताता है ॥२५६॥

विशेषार्थ—शेष चार वर्षोंमे से दो वर्ष काजी और रस व्यजन आदिसे रहित भात वगैरह खाकर बिताता है। एक वर्ष केवल कांजी आहार लेता है। अन्तिम बारहवें वर्षके प्रथम छह महीनोंमे मध्यम तप करता है। अन्तिम छह महीनोमें उत्कृष्ट तप करता है ॥२५६॥

आगे कहते हैं कि ऊपर कहे क्रमके अनुसार ही आचरण करनेका नियम नहीं है—

गा०—आहार, क्षेत्र, काल अपनी शारीरिक प्रकृतिको विचार कर इस प्रकार तप करना चाहिये जिस प्रकार वात पित्त और कफ क्षोभको प्राप्त न हों ॥२५७॥

टी०—आहारके अनेक प्रकार है—शाक बहुल—जिसमे शाक ज्यादा है, रस बहुल—जिसमें घी दूध आदि रस अधिक हैं। कुल्माषप्राय—जिसमें कुलथी अधिक है। कच्चे चने आदि से मिला आहार और शाक व्यंजन आदिसे रहित आहार। क्षेत्र भी अनेक प्रकारके हैं जिसमे पानीकी प्रचुरता है, वर्षा अधिक होती है, कही वर्षा कम होती है। काल गर्मी सर्दी और साधारण होता है। इन सबका तथा अपनी प्रकृतिका विचार करके तप करना चाहिये जिससे स्वास्थ्य खराब न हो ॥२५७॥

शरीरकी सल्लेखनाका क्रम कहकर अभ्यन्तर सल्लेखनाका क्रम कहनेके लिये अभ्यन्तर सल्लेखनाके साथ सम्बन्ध कहते है—

गा०—उक्त क्रमसे नाना प्रकारकी शरीर सल्लेखनाकी विधिको करते हुए भी परिणामों

'विसुद्धिं' परिणामविशुद्धि । 'खवगो खणमवि ण मुंचेज्ज' क्षपकः क्षणमपि न त्यजेत् ॥२५८॥

अभ्यन्तरशुद्धयभावे दोषं कथयति—

अज्झवसाणविसुद्धीए वज्जिदा जे तवं विगट्ठंपि ।
कुव्वंति बहिल्लेस्सा ण होइ सा केवला सुद्धी ॥२५९॥

'अज्झवसाणविसुद्धीए वज्जिदा' अध्यवसानविशुद्धया वर्जिताः । 'जे' ये । 'तवं' तपः । 'विगट्ठंपि कुव्वंति' उत्कृष्टमपि कुर्वन्ति । 'बहिल्लेस्सा' बहिर्लेश्याः पूजासत्काराद्याहितचित्तवृत्तयः । 'ण होदि तेसिं केवला सुद्धी' दोषोन्मिश्रका भवतीति शुद्धिरिति यावत् ॥२५९॥

केवला शुद्धिः कस्य तर्हि भवतीत्याह—

अविगट्ठं पि तवं जो करेइ सुविसुद्धसुक्कलेस्साओ ।
अज्झवसाणविसुद्धो सो पावदि केवलं सुद्धिं ॥२६०॥

'अविकट्ठं वि' अनुत्कृष्टमपि तपो यः करोति । सुविशुद्धशुक्ललेश्यासमन्वितः विशुद्धपरिणामः स केवलां शुद्धिं प्राप्नोति इति गाथार्थः ॥२६०॥

प्रस्तुतां द्वितीयां कषायसल्लेखनामुक्तयाध्यवसायविशुद्धया योजयति—

अज्झवसाणविसुद्धी कसायकलुसीकदस्स णत्थित्ति ।
अज्झवसाणविसुद्धी कसायसल्लेहणा भणिदा ॥२६१॥

'अज्झवसाणविसुद्धी' परिणामविशुद्धि । 'कसायकलुसीकदस्स' कषायैः कलुषीकृतस्य । 'णत्थि' नास्ति यस्मात् इति तस्मात् । 'अज्झवसाणविसुद्धी' परिणामविशुद्धि । 'कसायसल्लेहणा भणिया' कषायसल्लेखनेति गदिता ॥२६१॥

की विशुद्धिको क्षपक एक क्षणके लिये भी न छोडे ॥२५८॥

अभ्यन्तर शुद्धिके अभावमे दोष कहते है—

गा०—परिणामोकी विशुद्धिको छोडकर जो उत्कृष्ट भी तप करते हैं उनकी चित्तवृत्ति पूजा सत्कार आदिमे ही लगी होती है । उनके अशुभ कर्मके आस्रवसे रहित शुद्धि नही होती । अर्थात् दोषोसे मिली हुई शुद्धि होती है ॥२५९॥

तब केवल शुद्धि किसके होती है, यह कहते है—

गा०—जो अतिविशुद्ध शुक्ललेश्यासे युक्त और विशुद्ध परिणामवाला अनुत्कृष्ट भी तप करता है वह केवल शुद्धिको पाता है । यह गाथाका अर्थ है ॥२६०॥

प्रस्तुत दूसरी कषाय सल्लेखनाको उक्त अध्यवसान विशुद्धिसे जोड़ते है—

गा०—जिसका चित्त कषायसे दूषित है उसके परिणाम विशुद्धि नही होती । इसलिये परिणाम विशुद्धिको कषाय सल्लेखना कहा है ॥२६१॥

विशेषार्थ—जिस मुनिका चित्त क्रोधाग्निके द्वारा कलुषित है उस मुनिके परिणाम विशुद्ध नहीं हैं । अतः उसके कषाय सल्लेखना नही है । कषायके कृश करनेको कषाय सल्लेखना कहते हैं । और कषायके कृश हुए बिना परिणाम विशुद्ध नही होते । अतः परिणाम विशुद्धिके साथ कषाय सल्लेखना का साध्य साधन भाव सम्बन्ध है ॥२६१॥

शुभपरिणामप्रवाहवृत्तेन चतुष्कषायसल्लेखना कृता भवति इत्यभिधाय सामान्येन चतुर्णामपि कषायाणां तनूकरणे उपायं प्रतिपक्षपरिणामचतुष्कं कथयति—

कोध खमाए माणं च मद्दवेणाज्जवेण मायं च ।
संतोसेण य लोहं जिणदु खु चत्तारि वि कसाए ॥२६२॥

कोधं क्षमयेत्यादिना कषायविनाशने उपायस्तदुत्पत्तित्याग. ॥२६२॥

उत्पद्यमानो हि कषायो वृद्धिमुपैतीति कथयति—

कोहस्स य माणस्स य मायालोभाण सो ण एदि वसं ।
जो ताण कसायाणं उप्पत्तिं चेव वज्जेइ ॥२६३॥

'कोहस्स य' अत्रैवं पदघटना । 'जो तेसिं कसायाणमुप्पत्तिं चेव वज्जेदि' यस्तेषां कषायाणामुत्पत्तिं एव परिहरति । 'कोधस्स य माणस्स य मायालोभाण सो ण एदि वसं' क्रोधमानमायालोभाना स नोपैति वशं । यस्तेषामुत्पत्तिमपेक्षते स तद्वशगः कथं कषायसल्लेखना कुर्यादिति भाव. ॥२६३॥

कषायोत्पत्तिं परिहर्तुमिच्छता किं कर्तव्यमित्यत आह—

तं वत्थुं मोत्तव्वं जं पडि उप्पज्जदे कसायग्गि ।
तं वत्थुमल्लिएज्जो जत्थोवसमो कसायाणं ॥२६४॥

'तं वत्थुं मोत्तव्वं' तद्वस्तु मोक्तव्यं । 'जं पडि उप्पज्जदे' यन्निमित्तं उत्पद्यते 'कसायग्गी' कषायाग्नि. । 'तं वत्थुमल्लिएज्जो' तद्वस्तूपाश्रयणं कुर्यात् । 'जत्थ' यत्रोपाश्रयणे । 'उवसमो कसायाणं' कषायाणामुपशमो भवति ॥२६४॥

जइ कहवि कसायग्गी समुट्ठिदो होज्ज विज्झवेदव्वो ।
रागद्दोसुप्पत्ती विज्झादि हु परिहरंतस्स ॥२६५॥

'जइ कहवि कसायग्गी' यदि कथंचित्कषायाग्निः । 'समुट्ठिदो होज्ज' समुत्थितो भवेत् । 'विज्झवे-

---

जो शुभ परिणामोंके प्रवाहमें बहता है वही चार कषायोंकी सल्लेखना करता है यह कहकर, सामान्य से चारों कषायों को कृश करनेका उपाय उनके प्रतिपक्षी चार प्रकारके परिणाम हैं, यह कहते हैं—

टी०—क्रोधको क्षमासे, मानको मार्दवसे माया को आर्जवसे और लोभको सन्तोषसे, इस प्रकार चारों ही कषायोंको जीतो ॥२६२॥

आगे कहते हैं कि उत्पन्न हुई कषाय बढती है—

टी०—जो उन कषायोंकी उत्पत्तिको ही रोक देता है वह मुनि क्रोध, मान, माया, लोभके वशमें नही होता ॥२६३॥

जो कषायकी उत्पत्तिसे बचना चाहता है उसे क्या करना चाहिए यह कहते हैं—

गा०—उस वस्तुको छोड़ देना चाहिए जिसको लेकर कषायरूपी आग उत्पन्न होती है। और उस वस्तुको अपनाना चाहिए जिसके अपनानेसे कषायोंका उपशम हो ॥२६४॥

गा०—यदि थोड़ी भी कसायरूप आग उठती हो तो उसे बुझा दे। जो कषायको दूर करता है उसके राग-द्वेषकी उत्पत्ति शान्त हो जाती है ॥२६५॥

टी०—नीच जनकी संगतिकी तरह कषाय हृदयको जलाती है। अशुभ अंगोपांग नामकर्म-

ज्झदो' विध्यापयितव्यः। 'रागद्दोसुप्पत्ती' रागद्वेषयोरुत्पत्ति। 'विज्झादि हु' शाम्यत्येव। 'परिहरंतस्स' परिहरतः। कषायाग्निः प्रशान्ति नीयते। तद्दोषापेक्षणेन नीचजनसाङ्गत्यमिव हृदयं दहति, अशुभाङ्गोपाङ्ग-नामकर्मवद्विरूपाननं करोति। रज इव चक्षुषो रागमानयति। महासमीरण इव तनुं कम्पयति। सुरापानमिव यत्किंचिन्निगदयति[2]। समीचीनज्ञानलोचनं मलिनयति। दर्शनवनमुत्पाटयति। चारित्रसरः शोषयति। तपः-पल्लवं भस्मयति। अशुभप्रकृतिलतां स्थिरयति। शुभकर्मफलं विरसयति। प्रत्यग्रमनोमलं ढौकयति। हृदयं कठिनयति। प्राणभृतो घातयति। भारतीमसत्यां प्रवर्तयति। गुरूनपि गुणान्लङ्घयति। यशोधनं नाशयति। परानपवादयति। महतोऽपि गुणान्स्थगयति। मैत्रीमुन्मूलयति। कृतमप्युपकारं विस्मारयति। अपकारमध्या-पयति। महति नरकगर्ते पातयति। दुःखावर्ते निमज्जयतीत्यनेकानर्थाविहत्वभावनया ॥२६५॥

रागद्वेषप्रशान्त्युपायकथनाय गाथा[3]—

जावंति केइ संगा उदीरया होंति रागदोसाणं।
ते वज्जंतो जिणदि हु रागं दोसं च णिस्संगो ॥२६६॥

'जावंति केइ संगा' यावन्त केचन परिग्रहा। **'उदीरगा होंति रागदोसाणं'** उत्पादका भवन्ति राग-द्वेषयोः। **'ते वज्जंतो'** तान्परिग्रहान्निराकुर्वन्। **'जिणदि हु'** जयत्येव। **'रागं दोसं च'** रागद्वेषौ। **'णिस्संगो'** नि:परिग्रह. ॥२६६॥

के उदयसे जो मुख विरूप होता है वैसे ही कषायके उदयमें मनुष्यका मुख क्रोधसे विरूप हो जाता है। जैसे धूल पड़नेसे आँख लाल हो जाती है उसी तरह क्रोधसे आँख लाल हो जाती है। जैसे महावायुसे शरीर काँपने लगता है वैसे ही क्रोधसे मनुष्य काँपने लगता है। जैसे शराबी शराब पीकर जो चाहे बकता है वैसे ही क्रोधमें मनुष्य जो चाहे बोल देता है। जैसे जिसपर भूतका प्रकोप होता है वह कुछ भी करता है वैसे ही क्रोधी मनुष्य जो चाहे करता है। कषाय समीचीन ज्ञानरूपी दृष्टिको मलिन कर देती है। सम्यग्दर्शनरूपी वनको उजाड देती है। चारित्र-रूपी सरोवरको सुखा देती है। तपरूपी पत्रोको जला देती है। अशुभकर्मरूपी बेलकी जड़ जमा देती है। शुभकर्मके फलको रसहीन कर देती है। अच्छे मनको मलिन करती है। हृदयको कठोर बनाती है। प्राणियोंका घात करती है। वाणीको असत्यकी ओर ले जाती है। महान् गुणोका भी निरादर करती है। यशरूपी धनको नष्ट करती है। दूसरोंको दोष लगाती है। महापुरुषोंके भी गुणोंको ढाँकती है, मित्रताकी जड खोदती है। किये हुए भी उपकारको भुलाती है। महान् नरकके गढ़ेमें गिराती है। दुःखोके भँवरमे फँसाती है। इस प्रकार कषाय अनेक अनर्थ करती है। ऐसी भावनासे कषायको शान्त करना चाहिए ॥२६५॥

आगे गाथाके द्वारा रागद्वेषकी शान्तिके उपाय कहते हैं—

गा०—जितने भी परिग्रह रागद्वेषको उत्पन्न करते हैं, उन परिग्रहोंको छोड़नेवाला अपरि-ग्रही साधु राग और द्वेषको निश्चयसे जीतता है ॥२६६॥

---

१. विज्झादिषु अ०। विज्झादिसु आ०। २. यति। आविष्टग्रह इव यत्किंचन कारयति समी—मु०। ३. गाथार्थः, अ०।

एवमुदयमुपयाति कषायाग्निः स चैत्थमपकारं करोत्येवं प्रशान्ति नेतव्य इत्येतद्गाथात्रयोदाहरणेनोच्यते—

पडिचोदणासहणवायखुभिदपडिवयणइंधणाइद्धो ।
चंडो हु कसायग्गी सहसा संपज्जलेज्जाहि ॥२६७॥

'पडिचोदणा' प्रतिचोदनायाः असहनमेव वातः तेन क्षुभितः, प्रतिवचनेन्धनैरिद्ध. क्रूरः कषायाग्निः सहसा प्रज्वलति ॥२६७॥

जलिदो हु कसायग्गी चरित्तसारं डहेज्ज कसिणं पि ।
सम्मत्तं[1] पि विराधिय अणंतसंसारियं कुज्जा ॥२६८॥

'जलिदो हि कसायग्गी' ज्वलितश्च कषायाग्नि. । 'चरित्तसारं' चारित्राख्यं सारं दहत्येव । सम्यक्त्वं विनाश्यानन्तससारपरिभ्रमणे रतं कुर्यादेव ॥२६८॥

तम्हा हु कसायग्गी पावं उप्पज्जमाणयं चेव ।
इच्छामिच्छादुक्कडवंदणसलिलेण विज्झाहि ॥२६९॥

'तम्हा हु' तस्मात्खलु कषायाग्नि पापमुत्पद्यमानमेव प्रशमयेत् । केन "इच्छामि भगवतः शिक्षां, मिथ्या भवतु मम दुष्कृतं, नमस्तुभ्यं" इत्येवंभूतेन सलिलेन ॥२२९॥

तह चेव णोकसाया सल्लिहियव्वा परेणुवसमेण ।
सण्णाओ गारवाणि य तह लेस्साओ य असुहाओ ॥२७०॥

इस प्रकार कषायरूपी अग्निका उदय होता है और वह इस प्रकार अपकार करती है, तथा इस प्रकारसे उसे शान्त करना चाहिए, यह तीन गाथाओंसे कहते हैं—

टी०—शिष्यकी अयोग्य प्रवृत्तिको रोकनेके लिए गुरुके द्वारा शिक्षा दिये जानेपर शिष्यने जो प्रतिकूल वचन कहे वह गुरुको सहन नही हुए । वही हुई वायु । उस वायुसे गुरुके मनमे आग भडक उठी । उसके पश्चात् गुरुने शिष्यको पुन समझाया तो शिष्यने पुनः प्रतिकूल वचन कहे । उसने गुरुकी कोपाग्निमें ईंधनका काम किया तो आग भड़क उठी । अथवा गुरुने शिष्यको शिक्षा दी । शिष्य उससे क्रुद्ध हुआ । शिष्यकी क्रोधरूप वायुसे क्षुब्ध होकर गुरुने पुनः उसे शिक्षा दी । उस शिक्षाने शिष्यकी क्रोधाग्निको भडकानेमें ईंधनका काम किया । ऐसे भयानक कषायाग्नि सहसा भड़कती है ॥२६७॥

गा०—जलती हुई कषायरूप आग समस्त चारित्र नामक सारको जला देती है । सम्यक्त्वको भी नष्ट करके अनन्त संसारके परिभ्रमणमे लगा देती है ॥२६८॥

टी०—इसलिए पापरूप कषायाग्निको उत्पन्न होते ही बुझा देना चाहिए उसको बुझानेका जल है—मैं भगवान् जिनेन्द्रदेवकी शिक्षाकी इच्छा करता हूँ । मेरा खोटा कर्म मिथ्या हो, मैं नमस्कार करता हूँ ॥२६९॥

---

१. 'सम्मत्तम्मि विराधिद'—अ० ।

'तह चेव णोकसाया' तथैव नोकषायाः तनूकर्तव्याः। 'परेणुवसमेण' परेणोपशमेन। संज्ञा, गारवाणि, अशुभाश्च लेश्याः, हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुरुषनपुंसकवेदाः नोकषाया इत्युच्यन्ते। आहारभयमैथुनपरिग्रहाभिलाषाः संज्ञाः। ऋद्धौ तीव्राभिलाषो, रसेषु, सुखे च गा[1]रवशब्देन उच्यते ॥२७०॥

कषायवत्स्वार्थभ्रंशकरत्वाविशेषान्नोकषायादीनामपि मुमुक्षोः सल्लेखनीयत्वमाख्याति—

परिवड्ढिदोवधाणो विगडसिराण्हारुपासुलिकडाहो।
सल्लिहिदतणुसरीरो अज्झप्परदो हवदि णिच्चं ॥२७१॥

'परिवड्ढिदोवधाणो' परिवर्द्धितावग्रहः। अन्येषां पाठः '[2]परिवड्ढिदावधाणो परिवर्धितावधानः। ''विगडसिराण्हारुपासुलिकडाहो' प्रकटीभूता महत्यः अल्पाश्च सिराः पार्श्वास्थिसहतयः कटाक्षदेशाश्च यस्य। 'सल्लिहिदतणुसरीरो' सम्यक्तनूकृत शरीरं यस्य सः। 'अज्झप्परदो' अध्यात्मं ध्यानं तत्र रतः। 'होइ' भवति। 'णिच्चं' नित्यं ॥२७१॥

एवं कदपरियम्मो सब्भंतरबाहिरम्मि सल्लिहणे।
संसारमोक्खबुद्धी सव्वुवरिल्लं तवं कुणदि ॥२७२॥

'एवं कदपरियम्मो' एवमुक्तेन क्रमेण कृतपरिकरः। 'सब्भंतरबाहिरम्मि सल्लिहणे' अभ्यन्तरसल्लेखनासहिताया बाह्यसल्लेखनायां। 'संसारमोक्खबुद्धी' संसारत्यागे कृतबुद्धिः 'सव्वुवरिल्लं तवं' सर्वेभ्यस्तपोभ्यः उत्कृष्टं तपश्च[3]रति। सल्लेहणा सम्मत्ता ॥२७२॥

सल्लेखनानन्तरं कार्यमुपदिशति—

वोढुं गिलादि देहं पच्चोढव्वमिणमुचिमारोत्ति।
तो दुक्खभारभीदो कदपरियम्मो गणमुवेदि ॥२७३॥

गा०-टी०—इसी तरह उत्कृष्ट उपशमभावके द्वारा नोकषाय, संज्ञा, गारव और अशुभ लेश्याओंका घटाना चाहिए। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद पुरुषवेद, नपुंसक वेद इन्हें नोकषाय कहते हैं। आहार, भय, मैथुन और परिग्रहकी चाहका नाम संज्ञा है। ऋद्धिकी तीव्र अभिलाषा, रस और सुखकी चाहको गारव कहते हैं ॥२७०॥

गा०-टी०—जो प्रतिदिन अपने नियमोंको बढ़ाता है, जिसकी बड़ी और छोटी सिरायें, दोनों ओरकी हड्डियां और नेत्रोंकी हड्डियां स्पष्ट दिखाई देती हैं—शरीरको सम्यक्रूपसे कृश करनेवाला वह यति नित्य आत्मामें लीन रहता है ॥२७१॥

गा०-टी०—उक्त क्रमके अनुसार अभ्यास करनेवाला अभ्यन्तर सल्लेखना सहित वाह्य सल्लेखना करनेपर संसारके त्यागका दृढ़ निश्चय करके सब तपोंसे उत्कृष्ट तप करता है ॥२७२॥

सल्लेखना समाप्त हुई।

सल्लेखनाके अनन्तर होनेवाले कार्यका उपदेश देते हैं—

---

१. गौरव–अ०, आ०। २. परिवधाणो–अ०। ३. श्चरइ चरति–अ०।

'वोढुं गिलामि देहं' शरीरोद्वहनहर्षरहितः । 'पच्चोढव्वं इणमसुइभारोत्ति' परित्यागार्हमिव अशुचिभारभूतं शरीरमिति कृतचित्तः । 'तो' पश्चाद् 'दुःखभारभीदो' दुःखभाजनाच्छरीराद्भीतः । 'कयपरिकम्मो' कृतसमाधिमरणपरिकरः । 'गणं' शिष्यवृन्दं । 'उवेदि' ढौकते । अन्येषा पाठ. 'वोढुं गिलामि देहं' इति । ते व्याख्यानयन्ति—शरीरं वोढुं अकृतादरोऽस्मि । पच्चोढव्वमिणमसुइभारोत्ति परित्याज्यमिदं अशुचिभारभूतं शरीरमिति कृतनिश्चय· ॥२७३॥

सल्लेहणं करेंतो जदि आयरिओ हवेज्ज तो तेण ।
ताए वि अवत्थाए चिंतेदव्वं गणस्स हियं ॥२७४॥

'सल्लेहणं करेंतो' सल्लेखना कर्तुमुद्यतः । 'जइ' यदि 'आयरिओ हवेज्ज' आचार्यो भवेत् । 'तो' ततः । 'तेण' तेन । 'ताए वि' तस्यामपि । 'अवत्थाए' अवस्थायां । 'चिंतेयव्वं' चिन्तनीयं । 'गणस्स' गणस्य । 'हियं' हितं ॥२७४॥

कालं संभावित्ता सव्वगणमणुदिसं च वाहरिय ।
सोमतिहिकरणणक्खत्तविलग्गे[1] मंगलोगासे ॥२७५॥

'कालं संभावित्ता' आत्मन· आयु स्थितिं विचार्य । 'सव्वगणं' सर्वगणं । 'अणुदिसं च' बालाचार्यं च । 'वाहरिय' व्याहृत्य । 'सोमतिहिकरणणक्खत्तविलग्गे' सौम्ये दिने, करणे, नक्षत्रे, विलग्ने 'मंगलोगासे' शुभे देशे ॥२७५॥

गच्छाणुपालणत्थं आहोइय अत्तगुणसमं भिक्खू ।
तो तम्मि गणविसग्गं अप्पकहाए कुणदि धीरो ॥२७६॥

गा०–टी०—यह अपवित्र और भाररूप शरीर त्यागने योग्य है ऐसा निश्चय करके जो शरीरको धारण करनेसे ग्लानि करता है उसे शरीरके धारण करनेमे कोई हर्ष नही होता । पीछे दुःखके घर इस शरीरसे डरकर समाधिमरणकी तैयारी करता हुआ अपने शिष्योके पास जाता है ।

दूसरे आचार्य 'वोढुं गिलामि देह' ऐसा पाठ पढते हैं वे उसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—मुझे शरीर धारण करनेमें कोई रुचि नहीं है यह अशुचि और भारभूत शरीर छोडने योग्य है ऐसा मैंने निश्चय किया है ॥२७३॥

गा०–टी०—सल्लेखना करनेवाले दो प्रकारके होते हैं—एक आचार्य, दूसरे साधु । यदि आचार्य हो तो उसे उस अवस्थामें भी गणका हित विचारना चाहिए । अर्थात् आचार्य यदि सल्लेखना धारण करनेका निश्चय करे तो उसे अपने संघके सम्बन्धमें भी विचार करना चाहिए कि उसकी क्या व्यवस्था की जाये ॥२७४॥

गा०–टी०—अपनी आयुकी स्थिति-विचारकर समस्त संघको और बालाचार्यको बुलाकर शुभ दिन, शुभकरण, शुभनक्षत्र और शुभलग्नमें तथा शुभ देशमें ॥२७५॥

गा०–टी०—गच्छका अनुपालन करनेके लिए गुणोंसे अपने समान भिक्षुका विचार करके

---

१. गो तह मं–अ० ।

'गच्छाणुपालणत्थं' गच्छानुपालनार्थं । 'आहोइय' विचार्य । 'अत्तगुणसमं' आत्मनो गुणैः समानं । 'भिक्खु' भिक्षुं । 'तो' ततः । 'तम्मि' तस्मिन् । 'गणविसग्गं' गणत्यागं । 'अप्पकहाए' अल्पया कथया । 'कुणइ धीर' करोति धीरः । अन्ये तु वदन्ति 'अप्पणो' कथयेति ॥२७६॥

किमर्थमेवं प्रयतते सूरिः ?

अव्वोच्छित्तिणिमित्तं सव्वगुणसमोयरं तयं णच्चा ।
अणुजाणेदि दिसं सो एस दिसा वोत्ति बोधित्ता ॥२७७॥

'अव्वोच्छित्तिणिमित्तं' धर्मतीर्थस्य ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकस्य व्युच्छित्तिर्मा भूदित्येवमर्थं । 'सव्वगुणसमोयरं' सर्वगुणसमन्वितं । 'तगं' तकं 'णच्चा' ज्ञात्वा, 'अणुजाणेदि' अनुज्ञां करोति । 'दिसं' आचार्यः 'सो' सः एषः । दिसा आचार्य 'वोत्ति' युष्माकमिति । 'बोधित्ता' बोधयित्वा । दिसा समत्ता' ॥२७७॥

क्षमाग्रहणक्रमं निरूपयति—

आमंतेऊण गणिं गच्छम्मि य तं गणिं ठवेदूण ।
तिविहेण खमावेदि हु स बालउड्ढाउलं गच्छं ॥२७८॥

'आमंतेऊण गणिं' आमन्त्र्य आचार्यं । 'गच्छम्मि य' गणे । 'तं गणिं ठवेदूण' तं आत्मनानुज्ञातं स्थापयित्वा, स्वयं पृथग्भूत्वा । 'तिविधेण खमावेदि हु स बालउड्ढाउलं गच्छं' मनोवाक्कायैर्ग्राहयति क्षमां स बालवृद्धं संकीर्णं गणं ॥२७८॥

जं दीहकालसंवासदाए ममकारणेहरागेण ।
कडुगफरुसं च भणिया तमहं सव्वं खमावेमि ॥२७९॥

'जं दीहकालसंवासदाए' दीर्घकाल सह सवासेन यज्जातं ममत्वं, स्नेहो, द्वेषो, रागश्च तेन । 'जं' यत् 'कडुगफरुसं च भणिया' कटुक परुष वा वच भणिता 'तं' तत् युष्मान् । 'सव्वं खमावेमि' सर्वान् क्षमा ग्राहयामि ॥२७९॥

पश्चात् वह धीर आचार्य थोड़ीसी बातचीत पूर्वक उस पर गणका त्याग करता है ॥२७६॥

आचार्य ऐसा क्यों करते है ? यह कहते हैं—

गा०-टी०—ज्ञानदर्शन चारित्रात्मक धर्मतीर्थकी व्युच्छित्ति न हो, इसलिए उसे सब गुणोसे युक्त जानकर यह तुम्हारा आचार्य है ऐसा शिष्योंको समझाकर आप इस गणका पालन करे ऐसा उस नवीन आचार्यको अनुज्ञा करते है ॥२७७॥

दिसा प्रकरण समाप्त हुआ ।

अब क्षमाग्रहणका क्रम कहते हैं—

गा०-टी०—आचार्यको बुलाकर गणके मध्यमे उस अपने द्वारा स्वीकृत गणीको स्थापित करके और स्वय अलग होकर बाल और वृद्ध मुनियोसे भरे उस गणसे वह पुराने आचार्य मन वचन कायसे क्षमा माँगते है ॥२७८॥

गा०-टी०—दीर्घकाल तक साथ रहनेसे उत्पन्न हुए ममता, स्नेह, द्वेष और रागसे जो कटुक

गणेन संपाद्य क्रममाचष्टे—

वंदिय णिसुढिय पडिदो तादारं सव्ववच्छलं तादिं ।
धम्मायरियं णिययं खामेदि गणो वि तिविहेण ॥२८०॥

'वंदिय णिसुढिय पडिदो' अभिवन्द्य संकुचितपतितः । 'तादारं' संसारदुःखात्त्रातारं । 'सव्ववच्छलं' सर्वेषां वत्सलं । 'तादिं' यतिं । 'धम्मायरियं' दशविधे उत्तमक्षमादिके धर्मे, स्वयं प्रवृत्तं अन्येषां प्रवर्तकं । 'णिययं' आत्मीयं । 'खामेदि गणो वि तिविहेण' क्षमा ग्राहयति गणस्त्रिविधेन । क्षमावणा समत्ता ॥२८०॥

अनुशासननिरूपणार्थं उत्तरप्रबन्धः—

संवेगजणियहासो सुत्तत्थविसारदो सुदरहस्सो ।
आदट्ठचिंतओ वि हु चिंतेदि गणं जिणाणाए ॥२८१॥

'संवेगजणिदहासो' संसारभीरुतया करणभूतया उत्पादितहासः । परिग्रहेऽस्मिंस्त्यक्ते अभ्यन्तराश्च रागादयः निमित्तापायादपयान्ति । तदपगमात्तन्मूलस्थितीनि कर्माणि प्रलयमुपव्रजन्ति । तेषु नष्टेष्वेव चतुर्गति-भ्रमणं नंक्ष्यति[1] इति जात हर्षः । 'सुत्तत्थविसारदो' सूत्रे जिनप्रणीते तदर्थे च विसारदो निपुण. 'सुदरहस्सो' श्रुतप्रायश्चित्तग्रंथः । 'आदट्ठचिंतओ वि हु' आत्मप्रयोजनचिंतापरोऽपि । 'चिंतेदि गणं जिणाणाए' जिनाना-माज्ञया गणचिन्तां करोति ॥२८१॥

और कठोर वचन कहे गये आपसे मैं उन सबकी क्षमा माँगता हूँ ॥२७९॥

गणके द्वारा किये जाने वाले कार्यको कहते है—

गा०–टी०—वन्दना करके, पृथ्वीपर पाँचों अंगोंको स्थापित करके अर्थात् पञ्चांग नमस्कार करके संसारके दुःखोंसे रक्षा करने वाले सबको प्रिय अपने दश प्रकारके उत्तम क्षमादिरूप धर्ममें स्वयं प्रवृत्त और दूसरोंको प्रवृत्त करने वाले आचार्यसे गण भी मन वचन कायसे क्षमा माँगता है ॥२८०॥

क्षमाका प्रकरण समाप्त हुआ।

आगे अनुशासनका कथन करते हैं—

गा०–टी०—संसारसे डरनेके कारण जिसे हर्ष प्रकट हुआ है अर्थात् इस परिग्रहका त्याग करने पर अभ्यन्तर रागादि अपने निमित्तका विनाश होनेसे चले जायेंगे क्योंकि बाह्य परिग्रह रागादिके उत्पत्तिमें निमित्त हैं अतः निमित्तके न रहनेसे नैमित्तिक रागादि भी नहीं रहेंगे। और रागादिके न रहनेसे रागादिके कारण बन्धने वाले कर्म नष्ट हो जायेंगे। उनके नष्ट होने पर चार गतियोंमें भ्रमण नष्ट हो जायेगा, इसलिए जिसे हर्ष उत्पन्न हुआ है, और जिन भगवान्‌के द्वारा कहे गये सूत्र और उसके अर्थमें जो निपुण है, जिसने प्रायश्चित्त शास्त्र सुना है वह आचार्य अपने प्रयोजनकी चिन्ता करते हुए भी जिन भगवान्‌की आज्ञासे गणकी चिन्ता करता है। अर्थात् यद्यपि आचार्य संल्लेखना धारण करनेके लिए अपना गण त्यागकर दूसरे गणमें जानेके लिए तत्पर है फिर भी गणकी चिन्ता करके उसे उपदेश देते हैं ॥२८१॥

---

१. इति निश्चित हर्षः आ० मु०।

णिद्धमहुरगंभीरं गाहुगपल्हादणिज्जपत्थं च ।
अणुसिट्ठिं देइ तहिं गणाहिवइणो गणस्स वि य ॥२८२॥

'णिद्ध' स्नेहसहिता । 'महुरं' माधुर्यसमन्विता । 'गभीर' सारार्थवत्तया गृहीतगाम्भीर्यां । 'गाहुगं' ग्राहिका सुखावबोधा । 'पल्हादणिज्जपत्थं च' चेतःप्रल्हादविधायिनी । 'पत्थं' पथ्या हितां । 'अणुसिट्ठि देइ' अनुशिष्टिं ददाति । 'तहिं' तस्मिन्पूर्वोक्ते काले देशे च । 'गणाहिवइणो गणस्स वि य' गणाधिपतये गणाय च ॥२८२॥

वड्ढंतओ विहारो दंसणणाणचरणेसु कायव्वो ।
कप्पाकप्पठिदाणं सव्वेसिमणागदे मग्गे ॥२८३॥

'वड्ढंतओ विहारो कायव्वो' वर्धमानविहार कार्य । क्व ? 'सव्वेसि कप्पाकप्पट्ठियाणं अणागदे मग्गे' सर्वेषां प्रवृत्तिनिवृत्तिस्थिनाना मुक्तिमार्गे । प्रमत्तसयतादिगुणस्थानापेक्षया विचित्रो यतिधर्मः दंसणवदसामायिकादिविकल्पेन प्रवृत्तिधर्मोऽपि विचित्ररूप । तस्य सकलस्योपादान सर्वेषामित्यनेन । कोऽसौ मार्ग इत्याशंकायामाह—सामान्येन 'दंसणणाणचरणेसु' सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेषु । चतुर्विकल्पगणोद्देशेनायमुपदेशः ॥२८३॥

सूरये कथयन्ति—

संखित्ता वि य पवहे जह वच्चइ वित्थरेण वड्ढंती ।
उदधितेण वरणदी तह सीलगुणेहिं वड्ढाहि ॥२८४॥

'संखित्ता वि य' संक्षिप्तापि च 'पवहे' प्रवाहे प्रवहत्यस्मादिति प्रवाहः उत्पत्तिस्थान तत्र संक्षिप्तापि सती वरनदी । 'जह वच्चइ' यथा व्रजति । 'वित्थरेण' पृथुलतया । 'वड्ढंती' वर्द्धमाना । 'उदधितेण' यावत्समुद्रं । 'तह सीलगुणेहि वड्ढाहि' तथा शीलगुणैस्त्वं वर्धस्व ॥२८४॥

मज्जाररसिदसरिसोवमं तुमं मा हु काहिसि विहारं ।
मा णासेहिसि दोण्णि वि अप्पाणं चेव गच्छं च ॥२८५॥

गा०–टी०—उस पूर्वोक्त शुभ तिथि आदिसे युक्त काल और देशमें गणाधिपति और गणको भी स्नेह सहित, माधुर्यसे युक्त, सारवान होनेसे गम्भीर सुखसे समझमे आने वाली, चित्तको आनन्द दायक और हितकारी शिक्षा देते है ॥२८२॥

गा०–टी०—सब प्रवृत्ति और निवृत्ति मे स्थित मुनियों और गृहस्थोको मुक्तिके मार्गमें सम्यग्दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्रमें वर्धमान विहार उत्तरोत्तर उन्नत अनुष्ठान करना चाहिए । यति धर्म प्रमत्त संयत आदि गुणस्थानोंकी अपेक्षा अनेक प्रकार है । प्रवृत्ति रूप गृहस्थ धर्म भी दर्शन, व्रत सामायिकके भेदसे अनेक प्रकार है । उस सबका ग्रहण यहाँ 'सब' शब्दसे किया है । यह चारों प्रकारके संघको लक्ष्य करके आचार्य उपदेश देते है ॥२८३॥

नये आचार्यको कहते है—

गा०टी०—उत्पत्ति स्थानमे छोटी सी भी उत्तम नदी जैसे विस्तारके साथ बढ़ती हुई समुद्र तक जाती है उसी प्रकार तुम शील और गुणोंसे बढ़ो ॥२८४॥

'मज्जाररसिदसरिसोवमं' मार्जारस्य रसितं रटनं मार्जाररसितं तेन सह सादृश्यं उपमा परिच्छेदो यस्य विहारस्य तन्मार्जाररसितसदृशोपमं विहारं चरणं। 'तुमं' भवान्। 'मा हु काहिसि' मा कार्षीः। मार्जारस्य रसितं प्राङ्महत् क्रमेणापचीयते तद्वद्रत्नत्रयभावनातिशयवती प्राक् क्रमेण मन्दायमाना न कर्तव्येति यावत्। 'मा णासेहिसि दोण्णि वि अप्पाणं चेव गच्छं च'—आत्मनो गणस्य च विनाशं मा कृथाः। प्रथममेवातिदुर्धरचारित्रतपोभावनायां प्रवृत्तो भवान् गणं च तथा प्रवर्त्यमानो दुश्चरतया नश्यति ॥२८५॥

जो सघरं पि पलित्तं णेच्छदि विज्झविदुमलसदोसेण।
किह सो सद्दहिदव्वो परघरदाहं पसामेदुं ॥२८६॥

'जो सघरं पि' य स्वगृहं अपि। दह्यमानमालस्यान्न वाञ्छति विध्यापयितुं कथमसौ श्रद्धातव्यः परकीयगृहदाहं प्रशमयितुं उद्योगं करोतीति ॥२८६॥

तस्माद्भवतैवं प्रवर्तितव्यमित्याचष्टे—

वज्जेहि चयणकप्पं सगपरपक्खे तहा विरोधं च।
वादं असमाहिकरं विसग्गिभूदे कसाए य ॥२८७॥

'वज्जेहि चयणकप्पं' वर्जय अतिचारप्रकारं ज्ञानदर्शनचारित्रविषय। अवाचनाकाले अस्वाध्यायकाले वा पठनं। क्षेत्रशुद्धिं, द्रव्यशुद्धिं, भावशुद्धिं वा विना। निह्नवः, ग्रन्थार्थयोरशुद्धिः, अबहुमानं इत्यादिको ज्ञानातिचारः। शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दर्शनातिचाराः। समितिभावनारहितता चारित्रातिचारः। एते च्यवनकल्पेनोच्यन्ते। 'सगपरपक्खे तहा विरोहं च' धर्मस्थेषु, मिथ्यादृष्टिषु च विरोधं वर्जयेत्। चेतः समाधानविनाशकारणं वादं च वर्जनीयं। वादे प्रवृत्तो यथात्मनो जयः पराजयः परस्य वा

गा०-टी०—तुम विलावके शब्दके समान आचरण मत करना। विलावका शब्द पहले जोरका होता है फिर क्रमसे मन्द हो जाता है उसी तरह रत्नत्रयकी भावनाको पहले बड़े उत्साहसे करके पीछे धीरे-धीरे मन्द मत करना। और इस तरह अपना और संघ दोनोका विनाश न करना। प्रारम्भमें ही कठोर तपकी भावनामें लगकर आप और गणको भी उसीमें लगाकर दुश्चर होनेसे विनाशको प्राप्त होंगे ॥२८५॥

गा०-टी०—जो जलते हुए अपने घरको भी आलस्यवश बचाना नहीं चाहता। उसपर कैसे विश्वास किया जा सकता है कि वह दूसरेके जलते घरको बचायेगा ॥२८६॥

इसलिए आपको ऐसा करना चाहिए, यह कहते हैं—

गा०-टी०—ज्ञान दर्शन और चारित्रके विषयमें अतिचारोंको दूर करो। जो वाचना और स्वाध्यायका काल नहीं है उसमें क्षेत्र शुद्धि, द्रव्य शुद्धि, और भाव शुद्धिके बिना वाचना आदि करना, निह्नव, ग्रन्थ और अर्थकी अशुद्धि, आदरका अभाव इत्यादि ज्ञान विषयक अतिचार हैं। शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टिकी प्रशंसा और संस्तव ये सम्यग्दर्शनके अतिचार हैं। समितिकी भावना न होना चारित्रका अतीचार है। ये सब 'च्यवनकल्प' कहे जाते हैं। धार्मिको और मिथ्यादृष्टियोंके साथ विरोध नहीं करना चाहिए। चित्तकी शान्तिको भंग करने वाला वाद भी नहीं करना चाहिए। वाद करने वाला जिस प्रकार अपनी जय और दूसरेकी पराजय हो यही

भवति तदेवान्वेषते न तत्त्वसमाधानवान् । 'विसग्गिभूदे कसाये य' कषाया हि क्रोधादय स्वस्य परस्य च मृत्युं उपानयन्ति इति विषभूता., हृदयं दहन्तीति दहनभूतास्ताश्च वर्जय ।

तथा चोक्तं— त्रिलोकमल्लाः कुलशीलशत्रवो, मलानि दुर्मोक्ष्यतमानि चापि ते ।
यशोहरा हानिकरास्तपस्विनां, भवन्ति दौर्भाग्यकरा हि देहिनाम् ॥ १ ॥—[ ]
न केवलं ते परलोकलोपिनः, इमं च लोकं क्षपयन्ति दारुणाः ।
न धर्ममात्रस्य च विघ्नहेतवो, धनस्य कामस्य च ते विघातकाः ॥ २ ॥ इति—[ ]

णाणम्मि दंसणम्मि य चरणम्मि य तीसु समयसारेसु ।
ण चएदि जो ठवेदुं गणमप्पाणं गणधणी सो ॥२८८॥

'णाणम्मि दसणम्मि य' रत्नत्रये गणमात्मानं च यो न स्थापयितु समर्थो नैवासौ गणधर । ण च एदि न समर्थ । बहवो मम वशवर्तिन. सन्ति एतावता भव तो गणित्वगर्वो माभूदिति भाव ॥२८८॥

कीदृक्तर्हि गणधरो भवतीति चेदेवंभूत इत्याचष्टे—

[1]णाणम्मि दंसणम्मि य चरणम्मि य तीसु समयसारेसु ।
चाएदि जो ठवेदुं गणमप्पाणं गणधरो सो ॥२८९॥

स्पष्टार्था गाथा ॥२८९॥

पिंडं उवहिं सेज्जं अविसोहिय जो हु भुंजमाणो हु ।
मूलट्ठाणं पत्तो मूलोत्ति य समणपेल्लो सो ।।२९०॥

प्रयत्न करता है तत्त्वका समाधान नहीं करता। क्रोधादि कषाय अपनी और दूसरेकी मृत्युमे कारण होती है इसलिए वे विषरूप है और हृदयको जलाती है इसलिए आगके समान हैं। उन्हे छोडना चाहिए। कहा भी है—

ये कषाये तीन लोकमे मल्लके समान हैं। कुल और शीलके शत्रु है। वे ऐसे मल है जिनको दूर करना सबसे कठिन है। ये कषायें तपस्वियोकी हानि करने वाली और उनके यशको हरने वाली हैं तथा प्राणियोके दुर्भाग्यको करने वाली है। 'वे कषाये केवल परलोकको ही नष्ट नही करतीं, किन्तु इस लोकको भी हीन करती हैं। वे केवल धर्ममें ही विघ्न नही डालती किन्तु अर्थ और काम की भी घातक है' ॥२८७॥

टी०—आगमके सारभूत तीन दर्शन ज्ञान और चारित्र रत्नत्रयमे जो गणको और अपनेको स्थापन करनेमें समर्थ नही है वह गणधर नही है। मेरे अधीन बहुतसे मुनि है इसलिए आपमे गणी होनेका घमण्ड नही होना चाहिए ॥२८८॥

तब गणधर कैसा होता है यह कहते हैं—

गा०—आगमके सारभूत तीन सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्रमें अपनेको और गणको स्थापित करनेमें जो समर्थ होता है वह गणधर है ॥२८९॥

---

१. वतो न ग—अ०। २. अ० आ० प्रत्योः इयं गाथा 'णाणम्मि दंसणम्मि इति लिखिता, न सर्वा ।

पिंडं उवहि सेज्जं उग्गमउप्पादणेसणादीहिं ।
चारित्तरक्खणट्ठं सोधिंतो होदि सुचरित्तो ॥२९१॥

'पिंडं' आहारं, 'उवहिं' उपकरणं, 'सेज्जं' वसतिं । सोधिंतो शोधयन् । 'उग्गमउप्पादणेसणादीहिं' उद्गमोत्पादनैषणाविभिर्दोषैः । किमर्थं शोधयति ? 'चारित्तरक्खणट्ठं' चारित्ररक्षणार्थं उद्गमादिदोषं परिहरति । सुसंयत इति लोके यशो मे भविष्यतीति वा, स्वसमयप्रकाशने लाभो ममेत्थं भवतीति वा चेतस्यकृत्वेति भाव. । एवंभूतः सुचरित्रो भवतीति यतिः ॥२९१॥

एसा गणधरमेरा आयारत्थाण वण्णिया सुत्ते ।
लोगसुहाणुरदाणं अप्पच्छंदो जहिच्छाए ॥२९२॥

'एसा गणधरमेरा' एषा गणधरमर्यादा । 'सुत्ते वण्णिदा' सूत्रे निरूपिता । केषा ? 'आयारत्थाणं' आचारस्थाना । पञ्चविधे आचारे ये स्थितास्तेषा गणिना व्यवस्था सूत्रे वर्णिता । 'लोगसुहाणुरदाणं' लोकानुवर्तिनां सुखेप्सूनां च । यथेच्छया असंयतजनसंसर्गं सुखादरश्च शास्त्रे निषिद्ध. । तत्र ये वर्तन्ते स्वेच्छया तेषा 'अप्पच्छंदो' आत्मेच्छा एव केवला न तेषा गणधरमर्यादा सूत्रे वर्णिता । अथवा लोकसुखं नाम मृष्टाहारभोजनं, यथाकामं, मृदुशय्यासनं, मनोज्ञे वेश्मनि वसनं च तत्र रताना विषयातुराणामित्यर्थ ॥२९२॥

सीदावेइ विहारं सुहसीलगुणेहिं जो अबुद्धीओ ।
सो णवरि लिंगधारी संजमसारेण णिस्सारो ॥२९३॥

'सीदावेदि' मदं करोति । 'विहारं' चारित्रं रत्नत्रये प्रवृत्ति । 'सुहसीलगुणेहि' सुखसमाधानाभ्यासैः । 'जो अबुद्धिओ' यो बुद्धिरहितः । 'सो[2] णवरि लिंगधारी' स वृथालिंगी भवति, द्रव्यलिंगं धारयति । 'संजमसारेण णिस्सारो' संयमाख्येन इंद्रियप्राणसंयमविकल्पेन सारेण निःसार. केवलनग्न. स इति ।[3] एतदुक्तं भवति ॥२९३॥

गा०—आहार, उपकरण और वसतिका शोधन किये बिना जो उसका सेवन करता है वह साधु मूल स्थान नामक दोषको प्राप्त होता है और वह भ्रष्टश्रमण[4] है ॥३९०॥

आहार, उपकरण और वसतिका जो उद्गम, उत्पादन और एषणा आदि दोषोंसे चारित्रकी रक्षाके लिए शोधन करता है वह सम्यक् संयमी है । मेरा लोकमें यश होगा कि यह सुसंयमी है अथवा अपने आगमका प्रकाश करनेसे मुझे लाभ होगा ऐसा वह अपने मनमें नही सोचता । ऐसा यति ही सम्यक् चारित्र वाला होता है ॥२९१॥

गा०-टी०—पाँच प्रकारके आचारमें स्थित जो गणी है उन गणियोंकी यह गणधर मर्यादा सूत्रमेंकही है । जो लोकके अनुसार चलने वाले सासारिक सुखके इच्छुक है अथवा लोकसुख यानी मिष्टाहारका यथेच्छ भोजन, कोमल शय्या पर शयन. मनोहर घरमें निवास, इनमें जो रत हैं अर्थात् जो स्वेच्छाचारी है उनकी गणधर मर्यादा सूत्रमें नही कही है ॥२९२॥

गा०-टी०—जो बुद्धिहीन साधु सुखशील गुणोंके कारण रत्नत्रयमें प्रवृत्तिरूप चारित्रमें उदासीन रहता है वह केवल द्रव्यलिंगका धारी है और इन्द्रिय संयम तथा प्राणसंयमसे शून्य है ॥२९३॥

---

१ व्यावर्णिता–आ० मु० । २. सो नवरिलिंगी भवति द्रव्य–अ० । ३. निःसारः एत–आ० मु० । ४. इस गाथा पर टीका नहीं है ।

पिंडं उवधिं सेज्जामविसोधिय जो खु भुंजमाणोदु।
मूलट्ठाणं पत्तो बालोत्तिय णो समणबालो ॥२९४॥

य उद्गमादिदोषोपहृतमाहारं, उपकरणं, वसतिं वा गृह्णाति तस्य नेन्द्रियसंयमः, नैव प्राणसंयमः, न यतिर्न गणधर इति निगद्यते ॥२९४॥

कुलगामणयररज्जं पयहिय तेसु कुणइ ममत्तिं जो।
सो णवरि लिंगधारी संजमसारेण णिस्सारो ॥२९५॥

'**कुलगामणयररज्जं**' कुलं, ग्रामं, नगरं, राज्यं च। '**पयहिय**' परित्यज्य। **तेसु कुणदि ममत्तिं जो**' ग्रामादिषु पुनः यः करोति ममतां। मदीयं कुलं, अस्मदीयो ग्रामः, नगरं, राज्यं चेति। यो हि यत्र ममतां करोति तस्य यदि शोभनं जातं तुष्यति अन्यथा द्वेष्टि, संक्लिश्यति वा। ततो रागद्वेषयोर्लाभे च वर्तमानः [1]असंयतेष्वादरवात् (वत्त्वात्) कथमिव संयतो भवतीति भावः ॥२९५॥

[2]अपरिस्साई सम्मं समपासी होहि सव्वकज्जेसु।
संरक्ख सचक्खुंपि व सबालउड्ढाउलं गच्छं ॥२९६॥

'**अपरिस्साई**' गुरुरयमिति शंका विहाय निगदितानामपराधानां प्रकटनं मा कृथा। '**समपासी चेव होहि कज्जेसु**' कार्येषु सम्यक् समदर्शयेव च भव। '**संरक्ख सचक्खुंपि व**' परिपालय स्वनेत्रं इव। किं? '**सबालउड्ढाउलं गच्छ**' सबालैर्वृद्धैराकीर्णं गणं ॥२९६॥

णिवदिविहूणं खेत्तं णिवदी वा जत्थ दुट्ठओ होज्ज।
पव्वज्जा च ण लब्भदि संजमघादो व तं वज्जे ॥२९७॥

'**णिवदि विहूणं खेत्तं परिहर**' नृपतिरहित क्षेत्रं त्यज। '**णिवदि वा जत्थ दुट्ठओ होज्ज**' नृपतिर्वा यस्मिन् देशे दुष्टो भवेत्तच्च क्षेत्रं परित्यज। '**पव्वज्जा च ण लब्भदि जत्थ**' प्रव्रज्या च न लभ्यते यत्र क्षेत्रे।

गा०-टी०—जो उद्गम आदि दोषोंसे सहित आहार, उपकरण अथवा वसतिको स्वीकार करता है उसके न प्राणिसंयम है और न इन्द्रिय संयम है। वह केवल नग्न है। न वह यति है और न गणधर है ॥२९४॥

गा०-टी०—जो कुल, ग्राम, नगर और राज्यको छोड़कर भी उससे ममत्व करता है कि मेरा कुल है, हमारा गाँव है या नगर है राज्य है, वह भी केवल नग्न है। जो जिससे ममता करता है उसका यदि अच्छा होता तो उसे सन्तोष होता है अन्यथा द्वेष करता है अथवा संक्लेश करता है। इस तरह राग-द्वेष करने पर असंयतोंमें आदरवान होनेसे वह कैसे संयमी हो सकता है ॥२९५॥

गा०-टी०—'हमारा यह गुरु आलोचित दोषोको दूसरेसे नहीं कहता। ऐसा मानकर शिष्योंके द्वारा प्रकट किये अपराधोंको किसी अन्यसे मत कहो। कार्योंमें समदर्शी ही रहो। और बाल और वृद्ध यतियोंसे भरे गणकी अपनी आँखकी तरह रक्षा करो ॥२९६॥

गा०-टी०—जिस क्षेत्रमें कोई राजा न हो उस क्षेत्रको त्याग दो। अथवा जिस क्षेत्रका राजा

---

१. असंयतो भवतीति–आ० मु०। २. गाथा २९५-२९६ ग०।

शिष्या यत्र न जायंते तत्त्व । 'संजमघादो व जत्थं' संयमस्य चोपघातो यत्र क्षेत्रे 'तं वज्जो' त्यजेति गणिशिक्षा ।। गणिसिक्खा ।।२९७।।

गणं शिक्षयत्युत्तरप्रबंधेन—

कुणह अपमादमावासएसु संजमतवोवधाणेसु ।
णिस्सारे माणुस्से दुल्लहबोहिं वियाणित्ता ।।२९८।।

'कुणह अपमादमावासगेसु' कुरुताप्रमादमावश्यकेषु । 'संजमतवोवधाणेसु' संयमस्य, तपसश्चाश्रयेषु । अभ्यर्हितः संयम इति पूर्वनिपातः । संयमं विना न तपः शक्नोति कर्तुं मुक्तिमिति सामायिकादौ प्रवर्तमानस्य संयमो भवति । असंयमं त्यजतीति, सावद्यक्रियानिवृत्तौ सत्यां कर्माणि तपतीति तपो भवति । नान्यथेति तपसोऽप्याश्रयः । 'णिस्सारे माणुस्से' साररहिते मानुष्ये अनित्यतया अशुचितया मनुजाना असारं । तत्र 'दुर्लभां बोधिं' दुर्लभां दीक्षाभिमुखां बुद्धिं । 'वियाणित्ता' ज्ञात्वा ।।२९८।।

समिदा पंचसु समिदीसु सव्वदा जिणवयणमणुगदमदीया ।
तिहिं गारवेहिं रहिदा होइ तिगुत्ता य दंडेसु ।।२९९।।

सम्यक्प्रवृत्ताः 'होह' भवत । 'पंचसु समिदिसु' पञ्चसु समितिषु । 'सव्वदा' सर्वदा । 'जिणवयणमणुगदमदीया' जिनवचनमनुगतबुद्धयः । 'तिहिं गारवेहि रहिया' गारवत्रयरहिता 'तिगुत्ता य' गुप्तित्रयसमन्विताः भवत । 'य दंडेसु' अशुभमनोवाक्कायेषु ।।२९९।।

सण्णाउ कसाए वि य अट्टं रुद्दं च परिहरह णिच्चं ।
दुट्ठाणि इंदियाणि य जुत्ता सव्वप्पणो जिणह ।।३००।।

दुष्ट हो उस क्षेत्रको त्याग दो । जिस क्षेत्रमें प्रव्रज्या प्राप्त न हो अर्थात् शिष्य न बने, अथवा जिस क्षेत्रमें संयमका घात हो उस क्षेत्रको त्याग दो ।।२९७।।

आचार्य शिक्षा समाप्त हुई ।

आगे गण (संघ) को शिक्षा देते हैं—

गा०–टी०—मनुष्य जन्म अनित्य और अशुचि होनेसे सार रहित है । उसमे दीक्षा धारण करनेकी बुद्धि होना दुर्लभ है ऐसा जानकर आवश्यकोंमें, जो संयम और तपके आश्रय है, प्रमाद मत करो । यहाँ पूज्य होनेसे संयमको तपसे पहले रखा है क्योंकि संयमके बिना अकेला तप मुक्ति नहीं प्राप्त करा सकता । सामायिक आदिमें प्रवर्तमान मुनिके संयम होता है । असंयमको वह त्यागता है । सावद्य क्रियाकी निवृत्ति होने पर कर्मोंको तपनेसे तप होता है । संयमके बिना तप नहीं होता । अतः आवश्यक कर्म तपके भी आश्रय हैं । इसलिए साधुको उनमें प्रमाद नहीं करना चाहिए ।।२९८।।

गा०—हे मुनिगण ! आप सर्वदा पाँच समितियोंके पालनमें तत्पर रहे । अपनी बुद्धिको जिनागमकी अनुगामिनी बनाओ । तीन गारव मत करो और अशुभ मन वचन कायके विषयमें तीन गुप्तियोंका पालन करो ।।२९९।।

गा०—नित्य आहारादि विषयक संज्ञाओंको, कषायोंको और आर्त तथा रौद्रध्यानको दूर करो । तथा ज्ञान और तपसे युक्त होकर अपनी सर्वशक्तिसे दुष्ट इन्द्रियोंको जीतो ।।३००।।

'सण्णाओ' संज्ञा आहारादिविषया. । 'कसाए वि' कषायानपि । 'अट्टं रुद्दं च' आर्तं रौद्रं च ध्यानं । 'परिहरत' निराकुरुत । 'णिच्चं' नित्यं । 'दुट्ठाइं इंदियाइं' दुष्टानीन्द्रियाणि च । 'जुत्ता' युक्ता ज्ञानेन तपसा च । 'सव्वप्पणा जिणह' सर्वशक्त्या इन्द्रियजयं कुरुत ॥३००॥

धण्णा हु ते मणुस्सा जे ते विसयाउलम्मि लोयम्मि ।
विहरंति विगदसंगा णिराउला णाणचरणजुदा ॥३०१॥

'धण्णा हु ते मणुस्सा' धन्यास्ते मनुष्या. । के ? 'जे विसयाउलम्मि लोयम्मि' ये शब्दादिभिराकीर्णे जगति । 'विगदसंगा' निःसंगाः क्वचिदपि विषये स्पर्शादौ । 'णिराउला' । 'णाणचरणजुदा' ज्ञानेन चारित्रेण च युताः । ज्ञानचारित्रयुताना प्रशसा तत्रादरज[1]ननार्था गणस्य ॥३०१॥

सुस्सूसया गुरूणं चेदियभत्ता य विणयजुत्ता य ।
सज्झाए आउत्ता गुरुपवयणवच्छला होह ॥३०२॥

'सुस्सूसया गुरूणं' सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रै. गुणैर्गुरुतया गुरव इत्युच्यन्ते आचार्योपाध्यायसाधव. । तेषां शुश्रूषाकारिणो भवत । शुश्रूषापरेण भाव्यं । लाभादिकमनपेक्ष्य तेषां गुणेष्वनुराग कृतो भवति । गुणानुरागाद्दर्शनशुद्धिस्तदीयरत्नत्रयानुमनन च भवति । सुकरो ह्युपायः पुण्यार्जने अनुमनन नाम । 'चेदियभत्ता य' चैत्यानि जिनसिद्धप्रतिबिंबानि कृत्रिमाकृत्रिमाणि तेषु भक्ता. । यथा शत्रूणा मित्राणां वा प्रतिकृतिदर्शनाद्द्वेषो रागश्च जायते । यदि नाम उपकारोऽनुपकारो वा न कृतस्तया प्रतिकृत्या तत्कृतापकारस्योपकारस्य वा अनुस्मरणे निमित्ततास्ति तद्वज्जिनसिद्धगुणा अनन्तज्ञानदर्शनसम्यक्त्ववीतरागत्वादयस्तत्र यद्यपि न सन्ति, तथापि तद्गुणानुस्मरणं सपादयन्ति सादृश्यात्तच्च गुणानुस्मरण अनुरागात्मकं ज्ञानदर्शने सन्निधापयति । ते च

गा०—वे मनुष्य धन्य हैं जो शब्दादि विषयोंसे व्याप्त जगत्में किसी भी स्पर्शादि विषयमें आसक्ति नहीं रखते और निराकुल होकर ज्ञान और चारित्रसे युक्त होते हैं। जो ज्ञान और चारित्रसे युक्त होते हैं उनकी प्रशंसा करनेसे संघका उनके विषयमें आदरभाव उत्पन्न होता है ॥३०१॥

गा०टी०—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र नामक गुणोंसे महान् होनेसे आचार्य उपाध्याय और साधुको गुरु कहते हैं। उनकी सेवामें तत्पर रहना चाहिए। लाभ आदिकी अपेक्षा न करके उनके गुणोंमें अनुराग करना चाहिए। गुणोंमें अनुराग करनेसे सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि होती है और उनके रत्नत्रयकी अनुमोदना होती है। अनुमोदना पुण्य उपार्जन करनेका सरल उपाय है। चैत्य अर्थात् जिन और सिद्धोंकी कृत्रिम और अकृत्रिम प्रतिबिम्बोंमें भक्ति करना चाहिए। जैसे शत्रुओं और मित्रोंकी प्रतिकृति देखनेसे द्वेष और राग उत्पन्न होता है। यद्यपि वे प्रतिकृतियाँ कोई अपकार या उपकार नहीं करती, तथापि उन शत्रुओं और मित्रोंने जो अपकार या उपकार किये होते हैं उनके स्मरणमें उनकी प्रतिकृतियां निमित्त होती है। उसी तरह यद्यपि प्रतिबिम्बोंमें जिन और सिद्धोंके गुण अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, सम्यक्त्व वीतरागता आदि नहीं होते, तथापि उनके समान होनेसे उनके गुणोंका स्मरण कराती हैं। और वह गुणोंका स्मरण जो

---

१. जननार्थं गणस्य—आ० । जननसमर्था गणस्य मु० ।

संवरनिर्जरे महत्यौ संपादयतः । तस्माच्चैत्यभक्तिमुपयोगिनीं कुरुत । 'विनयत्युदा च' विलयं नयति कर्म-मलमिति विनयः । ज्ञानदर्शनतपश्चारित्रविनया उपचारविनयश्चेति पञ्च¹प्रकारेण विनये युक्ता भवत । शास्त्रोक्तवाचनास्वाध्यायकालयोरध्ययनं श्रुतस्य श्रुतं प्रयच्छतश्च भक्तिपूर्वं कृत्वा, अवग्रहं परिगृह्य, बहुमानं कृत्वा, निह्नवं निराकृत्य, अर्थव्यञ्जनतदुभयशुद्धिं संपाद्य एवं भाव्यमानं श्रुतज्ञानं संवरं निर्जरां च करोति । अन्यथा ज्ञानावरणस्य कारणं भवेत् ।

शंकाकांक्षाविनिरासो दर्शनविनयः ।

स च प्रयत्नेन भवद्भिः संपाद्योऽन्यथा शंकादिपरिणामा मिथ्यात्वमानयन्ति । दर्शनमोहनीयस्य चास्रवा भवन्ति । ततो मिथ्यादर्शननिमित्तकर्मवशादनन्तसंसारपरिभ्रमणं दुःखभीरूणा भवता जायते । रूपरसगंध-स्पर्शशब्देषु मनोज्ञामनोज्ञेषु सन्निहितेषु अनन्तकालाभ्यासाद्रागोऽप्रीतिश्च जायते । तथा कषायाश्च बाह्यम-भ्यन्तरं च निमित्तमाश्रित्य प्रादुर्भवन्ति । ते चोत्पद्यमानाश्चारित्रं विनाशयन्ति । कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमो हि चारित्रं । रागादयश्च कर्मादाननिमित्तक्रियास्तथा अशुभमनोवाक्कायक्रियाश्च कर्मादाननिमित्ताः । तथा षड्-जीवनिकायबाधापरिहारमन्तरेण गमनं । मिथ्यात्वेऽसंयमे वा प्रवर्तकं वचनं साक्षात्पारंपर्येण वा जीवबाधा-करणं भोजनं अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादाननिक्षेपौ शरीरमलोत्सर्गो जीवपीडाहेतुरेता कर्मपरिग्रहनिमित्ताः

अनुरागात्मक होता है, ज्ञान और दर्शनमें लगाता है। और वे ज्ञान और दर्शन महान् संवर और निर्जरा करते हैं। इसलिए उपयोगी चैत्य भक्ति करना चाहिए। कर्ममलको जो विलय करती है वह विनय है। ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय, तपविनय और उपचार विनय, इन पांच प्रकारकी विनयमें संलग्न रहो। शास्त्रमें जो वाचना और स्वाध्याय काल कहा है, उन कालोंमें श्रुतका अध्ययन, और श्रुतका दान भक्तिपूर्वक करके अवग्रह स्वीकार करके, बहुमान करके, निह्नवको दूर करके, अर्थशुद्धि, व्यंजन शुद्धि और अर्थ व्यंजन दोनोंकी शुद्धि करके। इस प्रकार आठ अंगोंके साथ भाया गया श्रुत ज्ञान संवर और निर्जरा करता है। ऐसा नही करनेसे ज्ञाना-वरणका कारण होता है।

शङ्का कांक्षा आदिको दूर करना दर्शन विनय है। आपको प्रयत्नपूर्वक शंका आदिको दूर करना चाहिए। ऐसा न करनेसे शंका आदि परिणाम मिथ्यात्वको लाते हैं और दर्शन-मोहनीयकर्मके आस्रवमें कारण होते हैं। उससे मिथ्यादर्शनमें निमित्त मिथ्यात्वकर्मके कारण आप जैसे दुःख भीरुजनोंको अनन्त संसारमें परिभ्रमण करना पड़ता है। मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्दके मिलनेपर अनन्तकालके अभ्यासवश राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं। तथा बाह्य और अभ्यन्तर निमित्तका आश्रय पाकर कषायें उत्पन्न होती हैं। और वे उत्पन्न होकर चारित्रको नष्ट करती हैं। कर्मोंके ग्रहणमें निमित्त क्रियाओंके रोकनेको चारित्र कहते हैं। रागादि कर्मोंको ग्रहणमें निमित्त क्रिया है। अशुभ मन वचन और कायकी क्रिया भी कर्मोंके ग्रहणमें निमित्त होती है। तथा छहकायके जीवसमूहको बाधा न पहुंचाये विना गमन करना, मिथ्यात्व और असंयममें प्रवर्तक वचन बोलना, साक्षात् या परम्परासे जीवोंको बाधा करनेवाला भोजन करना, विना देखे और विना साफ किये वस्तुओंको ग्रहण करना और रखना, विना देखी और विना साफ की गई भूमिमें मलमूत्र त्यागना ये सब क्रियाएँ जीवोंको कष्ट पहुंचानेवाली हैं अतः

---

१. प्रकारे वि–आ० मु० ।

क्रियाः । आसां परिवर्जनं चारित्रविनयः । अशुभक्रियापरिवर्जनं विना चारित्रं नाम किमारम्भवतां तस्मात्तदुद्योगं कुरुत । अनशनादिकतपोजनितक्लेशसहनं तपोविनयः । सति संक्लेशे महानास्रवो भवेदल्पा निर्जरा । उपचारविनयाद्विनीत इति पूज्यते बुधैरन्यथा अविनीत इति निन्द्यते किं च उपचारविनयं मनोवाक्कायविकल्पं यो न करोति, स गुरून्मनसावजानाति, नाभ्युत्तिष्ठति, नानुगच्छति. नाञ्जलिं करोति, न स्तौति, न विज्ञप्तिं करोति, गुरोरग्रत आसनमारोहति, याति पुरस्तेषां, निन्दति, परुषं वदति, आक्रोशति वा स नीचैर्गोत्रं बध्नाति । तेन श्वपाकचाण्डालादिकुलेषु गर्हितेषु, सारमेयग्रामसूकरादिषु वा जायते । न च रत्नत्रयं गुरुभ्यो लभते । विनीतं हि शिक्षयन्ति गुरवः, प्रयत्नेन मानयन्ति च ततो विनयपरा भवत । अविनये दोषं विनये च गुणं महान्तमवबुध्य 'सज्झाए आउत्ता होह' शोभनं अध्ययनं स्वाध्यायः । जीवादितत्त्वपरिज्ञानं, तदुपायभूतश्च ग्रन्थः तस्मिन्स्वाध्याये आउत्ता आयुक्ता भवत निद्रां, हास्यं क्रीडां, आलस्यं, लोकयात्रां च त्यक्त्वा । तथा चोक्तम्—

> "णिद्दं च बहु मण्णेज्ज हासं खेडं विवज्जए।
> जोगं समणधम्मस्स जुंजे अणलसो सदा ॥" इति । [ ]

'गुरुपवयणवच्छल्ला होह' गुरुप्रवचनवत्सला भवत ॥३०२॥

दुस्सहपरीसहेहिं य गामवचीकंटएहिं तिक्खेहिं ।
अभिभूदा वि हु संता मा धम्मधुरं पमुच्चेह ॥३०३॥

कर्मोंके ग्रहणमे निमित्त हैं । इनको त्यागना चारित्र विनय है । इन कही गई अशुभ क्रियाओंको त्यागे विना आरम्भ करनेवालोंके चारित्र कैसे हो सकता है । अतः इसमें उद्योग करना चाहिए । अनशन आदि तपसे होनेवाला कष्ट सहना तपविनय है । संक्लेश परिणाम होनेपर महान् आस्रव होता है और थोड़ी निर्जरा होती है । उपचार विनय करनेसे विद्वानोंसे पूजित होता है । नहीं करनेपर अविनयी कहा जाता है और निन्दाका पात्र होता है । तथा मन वचन कायसे जो उपचार विनय नही करता वह मनसे गुरुओंकी अवज्ञा करता है, उनके आनेपर खड़ा नहीं होता, उनके जानेपर पीछे-पीछे गमन नही करता, हाथ नही जोड़ता, स्तुति नही करता, विज्ञप्ति नही करता, गुरुके सामने आसन पर बैठता है, उनके आगे चलता है, निन्दा करता है, कठोर वचन बोलता है, चिल्लाता है, ऐसा करनेवाला नीच गोत्रका बन्ध करता है और मरकर श्वपाक चाण्डाल आदि नीचकुलोंमे और कुत्ता सुअर आदिमें जन्म लेता है । उसे गुरुओंसे रत्नत्रयकी प्राप्ति नहीं होती । गुरु विनीतको शिक्षा देते हैं और प्रयत्नपूर्वक उसका सन्मान करते हैं । इसलिए अविनयमे दोष और विनयमें महान् गुण जानकर विनयी होना चाहिए । तथा स्वाध्यायमें लगना चाहिए । सुन्दर अध्ययनको स्वाध्याय कहते है । जीवादितत्त्वोका परिज्ञान और उसके उपायभूत ग्रन्थोंकी स्वाध्यायमें निद्रा, हास्य, क्रीड़ा, आलस्य और लोकयात्राको त्यागकर लगना चाहिए । कहा भी है—'बहुत सोना नही चाहिए । हास्य क्रीड़ा छोड़ना चाहिए । सदा आलस्य त्यागकर श्रमणधर्मके योग्य कार्यमे लगना चाहिए ।' तथा गुरुमें प्रवचनवात्सल्य रखना चाहिए ॥३०२॥

गा०—दुःसह परीषहोंसे और तीक्ष्ण आक्रोशवचनरूपी काँटोंसे पराभूत होकर भी धर्मकी धुराके भारको मत त्यागो ॥३०३॥

'दुस्सहपरीसहेहिं य' दुःसहैः परिषहैश्च । 'गामवचीकंडएहिं तिक्खेहिं' आक्रोशवचनकण्टकैस्तीक्ष्णैश्च । 'अभिभूदा वि य संता' पराभूता अपि संतः । 'मा धम्मधुरं पमुच्चेह' मा कृथा धर्मभारत्यागं । ननु च "दुस्सहपरीसहेहिं य अभिभूदा मा धम्मधुरं पमुच्चेह" इत्यनेनैव आक्रोशपरीषहसहनं उपदिष्टं ? किमनेन 'गामवचीकंडएहिं' इत्यनेन ? । अयमभिप्रायः सूत्रकारस्य-सोढक्षुधादिवेदनोऽपि न स[2]हतेऽनिष्टं वचस्ततोऽति-दुष्करमपि तत्सोढव्यं इति दर्शनाय पृथगुपादानम् ॥३०३॥

तपस्युद्योगः सर्वप्रयत्नेन त्यक्तालस्यैर्भवद्भिः इत्युपदिशति—

तित्थयरो चदुणाणी सुरमहिदो सिज्झिदव्वयधुवम्मि ।
अणिगूहिदबलविरिओ तवोविधाणम्मि उज्जमदि ॥३०४॥

'तित्थयरो' तीर्थंकरः तरंति संसारं येन भव्यास्तत्तीर्थं । केचन तरंति श्रुतेन गणधरैर्वालंबनभूतैरिति श्रुतं गणधरा वा तीर्थमित्युच्यते । तदुभयकरणात्तीर्थंकरः । अथवा 'तिसु तिट्ठदित्ति तित्थ' इति व्युत्पत्तौ तीर्थशब्देन मार्गो रत्नत्रयात्मकः उच्यते तत्करणात्तीर्थंकरो भवति । 'चदुणाणी' मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञान-वान् । 'सुरमहिदो' सुरैश्चतुःप्रकारैः पूजितः स्वर्गावतरणजन्माभिषेकपरिनिष्क्रमणेषु । 'सिज्झिदव्वगधुवम्मि' नियोगभाविन्या सिद्धावपि । तथापि 'अणिगूहियबलविरिओ' अनुपह्नुतबलवीर्यः । 'तवोविहाणम्मि' तपः-समाधाने । 'उज्जमदि' उद्योगं करोति ॥३०४॥

किं पुण अवसेसाणं दुक्खक्खयकारणाय साहूणं ।
होइ ण उज्जम्मिदव्वं सपच्चवायम्मि लोयम्मि ॥३०५॥

'किं पुण अवसेसाणं' किं पुनर्न प्रयतितव्यं अवशिष्टैः साधुभिः । 'दुक्खक्खयकारणाय' दुःखविनाशन-

---

टी०—शङ्का—'दुःसह परीषहोंसे अभिभूत होकर भी धर्मकी धुराको मत त्यागो । इतना कहनेसे आक्रोश परीषहका सहनेका उपदेश दे दिया, फिर 'तीक्ष्ण आक्रोश वचन' आदिके कहने-की क्या आवश्यकता है ?

समाधान—ग्रन्थकारका अभिप्राय यह है कि भूख आदिकी वेदनाको सहनेवाला भी अनिष्टवचन नहीं सहता । अतः अति दुष्कर भी आक्रोश वचनको सहना चाहिए । यह बतलानेके लिए पृथक् ग्रहण किया है ॥३०३॥

आगे उपदेश देते है कि आलस्य त्यागकर आपको पूरे प्रयत्नसे तपमें उद्योग करना चाहिए—

गा०—टी०—जिसके द्वारा भव्यजीव संसारको तिरते हैं वह तीर्थ हैं । कुछ भव्य श्रुत अथवा आलम्बनभूत गणधरोके द्वारा संसारको तिरते हैं अतः श्रुत और गणधरोंको भी तीर्थ कहते हैं । इन दोनो तीर्थोंको जो करते हैं वे तीर्थंकर हैं । अथवा 'तिसु तिट्ठदित्ति तित्थं' इस व्युत्पत्तिके अनुसार तीर्थ शब्दसे रत्नत्रयरूप मार्ग कहा जाता है । उसके करनेसे तीर्थंकर होता है । वे मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्ययज्ञानके धारी होते हैं । स्वर्गसे गर्भमें आनेपर, जन्माभिषेक और तपकल्याणमे चार प्रकारके देव उनकी पूजा करते हैं । उनको सिद्धिकी प्राप्ति नियमसे होती है फिर भी वे अपने बल और वीर्यको न छिपाकर तपके विधानमें उद्यम करते हैं ॥३०४॥

गा०—टी०—तब दुःखका विनाश करनेके लिए शेष साधुओंका तो कहना ही क्या है ।

---

१. अभिभूता अ० । २. सहतोऽतिदुष्क–अ० ।

निमित्तं । सापाये लोके आयुषः, शरीरस्य, बलस्य नीरोगतायाश्च विनाशे अविदितकाले सति, दावानलसमाने मृत्यावायाति, लोकवनमिदं अशेषं भस्मसात्कर्तुं अद्य इत्यपि सुचिरं निमेषमात्रेणापि मृत्युरेयात्[1] मासमर्द्धमासमृतुमयनं संवत्सरं वा प्रति वचनाधिकारः कस्माद्यावन्नायाति मृत्युस्तावत्तपस्युद्योगः कार्यः । न हि मृत्योर्देशनियमोऽस्ति । स्थल एव प्रचारो यथा शकटादीनां, समीरणपथ एव ज्योतिषां, सलिल एव मीनमकरादीनां । कष्टतमस्य पुनरस्य मृत्योः स्थले, जले, वियति च विहृतिः । दहनस्य, सुधासूतेर्वा सुराधिपतेः, प्रभंजनस्य शीतस्योष्णस्य वा, हिमान्या वा अप्रवेशदेशाः सन्ति न तथा मृत्योः । यथा वा निदानमान व्याधीनां पित्तानिलश्लेष्मरूपमेव मृत्यो पुनरखिलमेव निदानं । वातस्य पित्तस्य कफस्य, शीतोष्णयोर्वर्षाहिमातपानां शक्यः प्रतीकारविधिर्न पुनः संसारे मृत्यो । हिमोष्णवर्षादीनां च कालो विदितोऽस्ति न तद्वदस्य । न वा हितमस्य किंचिद्विद्यते । यथा राहुवदनकुहरे प्रवेशो निशापतेः । असत्यपि मृत्यूपनिपाते जीवतोऽपि कुरोगाशनिभ्यो महद्भयं । यथा वियतो निपतत्यबुद्ध एवाशनिः । आयर्बलं रूपादयश्च । गुणास्तावदेव यावन्नोपैति रोगो देहं । यस्तु तन्त्वलग्नस्य फलस्य तावदपातो यावन्न श्वसन. । व्याधौ बाध्यमाने देहे न सुखेन शक्यते श्रेयः कर्तुं, यथा वेश्मनि दह्यमाने समन्तान्न शक्यतं प्रतीकार । असत्सु वा रोगेषु रागशत्रुः सुहृन्मुखेन[2] शत्रुरिव प्रवृद्धः यदा नरस्य चित्तं बाधते न तदा समेऽधिकारः । पित्तोदयो वैद्यशुभप्रयोगैः प्रशाम्येदपि, रागोदयस्य

इस विनाशशील लोकमें आयु, शरीर, बल और नीरोगताके विनाशका काल अज्ञात है। दावानलके समान मृत्यु इस समस्तलोकरूपी वनको जला डालनेके लिए आज या देरमें या क्षणमात्रमें अथवा एकमास, एकपक्ष, ऋतु दो, मास, छहमास अथवा एक वर्षमें कब आ जायेगी यह कहना कठिन है। जबतक मृत्यु नही आती तबतक तपमें उद्योग करना चाहिए। मृत्युका कोई देश नियत नही है। जैसे गाड़ी आदि स्थलपर ही चलती है। ज्योतिषीदेव आकाशमें ही चलते है, मीन मगर आदि पानीमे ही चलते है। किन्तु यह सबसे अधिक दुःखदायी मृत्यु जल, थल और आकाशमें विहार करती है। ऐसे देश हैं जहाँ आग, चन्द्रमा, इन्द्र, वायु, शीत, उष्ण अथवा बर्फका प्रवेश नहीं है। किन्तु ऐसा कोई देश नही जहाँ मृत्युका प्रवेश नही है। जैसे रोगोंका निदान वात पित्त कफ ही है। किन्तु मृत्युका निदान तो सब ही है। वात, पित्त, कफ, शीत, उष्ण, वर्षा, हिम, आतप इन सबका प्रतीकार करनेकी विधि है। किन्तु संसारमें मृत्युका कोई इलाज नहीं है। शीतऋतु, ग्रीष्मऋतु, वर्षाऋतु आदिका काल तो ज्ञात है किन्तु मृत्युका काल ज्ञात नहीं है। जैसे चन्द्रमा राहुके मुखमें प्रवेश करके उससे दूर जाता है उस तरह मृत्युके मुखमें प्रवेश करके निकलना सम्भव नही है। मृत्यु न भी आये और जीवन बना रहे तब भी कुरोगरूपी वज्रपातका महाभय रहता है। जैसे आकाशसे अचानक वज्रपात होता है वैसे ही अचानक रोगका आक्रमण होता है। आयु, बल और रूपादि गुण तभी तक हैं जबतक शरीरमें रोग नहीं होता। तन्तुसे लगा फल तभी तक नहीं गिरता जबतक वायुको झोंका नहीं आता। शरीरके रोगसे पीड़ित होनेपर सुखपूर्वक आत्मकल्याण नहीं किया जा सकता। जैसे घरके चारों ओरसे जलनेपर प्रतीकार सम्भव नहीं होता। अथवा रोगोंके नहीं होनेपर रागरूपी शत्रु मित्रके रूपमें शत्रुकी तरह बढ़कर जब मनुष्यके चित्तको पीड़ा देता है तब समभाव कठिन होता है। पित्तका विकार वैद्यके कुशल प्रयोगोंसे शान्त हो भी सकता है। किन्तु प्राणीके लिए अहितकर रागके उदयको समाप्त

---

१. रेयान्न मा–आ० मु० ।   २. मुखे श–अ० ।

आत्महितस्य हन्तुं प्रशमः सुदुर्लभः। यदैव च तस्य प्रशमोपलब्धिः पूर्वोक्तकर्मप्रशान्तौ तदैव श्रेयस्कृतौ शक्तिः पित्तोपशान्तौ कार्यचित्तो च। इत्थं मृत्युव्याधयो राग इत्येते प्रत्यवाया जगति तांश्चेतसि कृत्वा, यदा ते न सन्ति तदोद्योगः कार्यः ॥३०५॥

सत्तीए भत्तीए विज्जावच्चुज्जदा सदा होह।
आणाए णिज्जरित्ति य सबालउड्ढाउले गच्छे ॥३०६॥

'सत्तीए भत्तीए' शक्त्या भक्त्या च। 'विज्जावच्चुज्जदा' वैयावृत्ये उद्यता.। 'सदा होह' नित्यं भवत। 'आणाए णिज्जरित्तिय' सर्वज्ञानामाज्ञा वैयावृत्यं कर्तव्यमिति तदाज्ञया हेतुभूतया, वैयावृत्यं हि तपः निर्जरा भवतीति च। 'सबालउड्ढाउले' सह बालैर्वर्धमाना ये वृद्धास्तैराकीर्णे गणे ॥३०६॥

वैयावृत्यं [1]कर्तुमित्युक्तं तदिदमिति—

सेज्जागासणिसेज्जा उवधी पडिलेहणाउवग्गहिदे।
आहारोसहवायणविकिंचणुव्वत्तणादीसु ॥३०७॥

'सेज्जागासणिसेज्जा उवधी पडिलेहणा उवग्गहिदे' शय्याकाशस्य, निषद्यास्थानस्य, उपकरणानां च प्रतिलेखना[2], उपग्रह उपकारः। किंविषय.? 'आहारोसहवायणविकिंचणुव्वत्तणादीसु' योग्यस्य आहारस्य औषधस्य वा दानं स्वाध्यायोत्सारणं अशक्तस्य शरीरमलनिरास। 'उवत्तणे' पार्श्वात्पार्श्वान्तेरस्योत्थापनं ॥३०७॥

अद्धाणतेण सावयरायणदीरोधगासिवे ऊमे।
वेज्जावच्चं उत्तं संगहसारक्खणोवेदं ॥३०८॥

'अद्धाण तेण सावयरायणदीरोधगासिवे ऊमे' अध्वना श्रमेण श्रान्ताना पादादिमर्द्दन। स्तेनैरुपद्रुय-

---

करनेके लिए प्रशमभाव दुर्लभ है। जैसे पित्तके शान्त होनेपर चित्त काममें लगता है वैसे ही जिस समय पूर्वोक्त कर्मका उपशम होनेपर प्रशमभावकी प्राप्ति होती है, उसी समय आत्मकल्याण करनेकी शक्ति आती है। इस प्रकार संसारमें मृत्यु, व्याधि और राग ये बाधक है। उनको चित्तमें लाकर जब वे न हों तब तपमें उद्योग करना चाहिए ॥३०५॥

गा०—बालमुनि और वृद्ध मुनियोंसे भरे हुए गणमें सर्वज्ञकी आज्ञासे सदा अपनी शक्ति और भक्तिसे वैयावृत्य करनेमें तत्पर रहो। सर्वज्ञदेवकी आज्ञा है कि वैयावृत्य करना चाहिये। वैयावृत्य तप है और तपसे निर्जरा होती है ॥३०६॥

वैयावृत्य करनेके लिये कहा है। उस वैयावृत्य को बतलाते है—

गा०—सोनेके स्थान, बैठनेके स्थान और उपकरणोंकी प्रतिलेखना करना, योग्य आहार योग्य औषधका देना, स्वाध्याय कराना, अशक्त मुनिके शरीरका मल शोधन करना, एक करवट से दूसरी करवट लिटाना ये उपकार वैयावृत्य हैं ॥३०७॥

गा०—जो मुनि मार्गके श्रमसे थक गये हैं उनके पैर आदि दबाना, जिन्हे चोरों ने सताया

---

१. कर्तुमभ्युद्युक्तं प्रतीदमिति ब—आ०, मु०। २. नाया उ—आ०।

माणानां तथा श्वापदैः, दुष्टैर्वा भूमिपालैः, नदीरोधकैः मार्या च तदुपद्रवनिरासः विद्यादिभिः। 'ऊमे' दुर्भिक्षे सुभिक्षदेशनयनं। 'वेज्जावच्चं वुत्तं' वैयावृत्त्यमुक्तम्। 'संगहसारक्खणोवेदं' संग्रहसंरक्षणाभ्यामुपेतः ॥३०८॥

वैयावृत्याकरणं निन्दति—

अणिगूहिदबलविरिओ वेज्जावच्चं जिणोवदेसेण।
जदि ण करेदि समत्थो संतो सो होदि णिद्धम्मो ॥३०९॥

अनिगूहितेत्यादिना—अनिगूढवीर्यो यो वैयावृत्यं जिनोपदिष्टं क्रमेण न करोति। शक्तोऽपि सन् स निर्धर्मो भवति धर्मान्निष्क्रान्तो भवति इति सूत्रार्थः ॥३०९॥

दोषान्तराणि व्याचष्टे—

तित्थयराणाकोवो सुदधम्मविराधणा अणायारो।
अप्पापरोपवयणं च तेण णिज्जूहिदं होदि ॥३१०॥

'तित्थयराणाकोवो' तीर्थंकराणामाज्ञाकोपः। 'सुदधम्मविराहणा' श्रुतोपदिष्टधर्मनाशनं। 'अणाचारो' आचाराभाव. वैयावृत्याख्ये तपसि अवृत्ते। 'अप्पापरोपवयणं च तेण णिज्जूहिदं होदि' आत्मा साधुवर्ग प्रवचनं च त्यक्त भवति। तपस्यनुद्योगादात्मा त्यक्तो भवति, आपद्युपकाराकरणाद्यतिवर्गः, श्रुतोपदिष्टस्याकरणादागमश्च त्यक्त ॥१०॥

गुणान्वैयावृत्यकरणे कथयति गाथाद्वयेन—

गुणपरिणामो सड्ढा वच्छल्लं भत्तिपत्तलंभो य।
संधाणं तव पूया अव्वोच्छित्ती समाधी य ॥३११॥

'गुणपरिणामो' यतिगुणपरिणतिः। 'सड्ढा' श्रद्धा। 'वच्छल्लं' वात्सल्यं। 'भत्ती' भक्तिः। 'पत्तलंभो

है, जंगली जानवरोंसे, दुष्ट राजासे, नदीको रोकने वालों से और मारी रोगसे जो पीडित हैं, विद्या आदिसे उनका उपद्रव दूर करना, जो दुर्भिक्षमें फँसे हैं उन्हे सुभिक्ष देशमे लाना, आप न डरें इत्यादि रूप से उन्हे धैर्य देना तथा उनका संरक्षण करना वैयावृत्य कहा है ॥३०८॥

वैयावृत्य न करने की निन्दा करते हैं—

गा०—अपने बल और वीर्यको न छिपाने वाला जो मुनि समर्थ होते हुए भी जिन भगवान के द्वारा कहे हुए क्रम के अनुसार यदि वैयावृत्य नहीं करता है तो वह धर्मसे वहिष्कृत होता है यह इस गाथा का अभिप्राय है ॥३०९॥

वैयावृत्य न करनेसे तीर्थङ्करोंकी आज्ञाका भंग होता है। शास्त्रमे कहे गये धर्मका नाश होता है। आचारका लोप होता है और उस व्यक्तिके द्वारा आत्मा, साधुवर्ग और प्रवचन का परित्याग होता है। तप में उद्योग न करनेसे आत्मा का त्याग होता है। आपत्ति मे उपकार न करनेसे मुनिवर्गका त्याग होता है और शास्त्र विहित आचरण न करनेसे आगमका त्याग होता है ॥३१०॥

दो गाथाओ से वैयावृत्य करनेमें गुणों को कहते हैं—

गा०—वैयावृत्य करनेका पहला गुण है 'गुण परिणाम' अर्थात् जो वैयावृत्य करता है

य' पात्रस्य लाभः । 'संधाणं' संधानं । 'तव' तपः । पूया पूजा । 'अव्वुच्छित्ती य तित्थस्स' अव्युच्छित्तिश्च तीर्थस्य । 'समाधी य' समाधिश्च ॥३११॥

आणा संजमसाखिल्लदा य दाणं च अविदिगिंछा य ।
वेज्जावच्चस्स गुणा पभावणा कज्जपुण्णाणि ॥३१२॥

'आणा संजमसाखिल्लदा य' आज्ञा संयमसाहाय्य च । 'दाणं च' दान च । सर्वज्ञोपदिष्टवैयावृत्यकरणादाज्ञा संपादिता । आज्ञासंपादनमाज्ञासंयमः । परस्य वैयावृत्यकृत उपकार । रत्नत्रयस्य निरतिचारस्य दानं । 'संजमसाखिल्लदा य' संयमसाहाय्यमिति चार्थः । 'अविदिगिंछा य' अविचिकित्सा च । 'वेज्जावच्चस्स गुणा' वैयावृत्यस्य गुणाः । 'पभावणा' प्रभावना च । 'कज्जपुण्णाणि' कार्यनिर्वहणानि च ॥३१२॥

गुणपरिणामो इत्येतत्पदं व्याचष्टे—

मोहग्गिणादिमहदा घोरमहावेयणाए फुट्टंतो ।
डज्झदि हु धगधगंतो ससुरासुरमाणुसो लोओ ॥३१३॥

'मोहग्गिणा' अज्ञानाग्निना । 'अदिमहदा' अतिमहता, सकलवस्तुविषयतया महदज्ञान तेन । 'डज्झदि' दह्यते । 'घोरमहावेदणाए' घोरया महत्या वेदनया । 'फुट्टंतो' विशीर्यमाणः । 'धगधगंतो' धगधगायमान । 'ससुरासुरमाणुसो लोगो' देवासुरमानुषैः सह वर्तमानो लोक ॥३१३॥

एदम्मि णवरि मुणिणो णाणजलोवग्गहेण विज्झविदे ।
डाहुम्मुक्का होंति हु दमेण णिव्वेदणा चेव ॥३१४॥

'एदम्मि' एतस्मिल्लोके दह्यमाने । 'णवरि' पुन । 'मुणिणो णिव्वेदणा चेव होंति' मुनय एव निर्वेदना

उसकी पीड़ित साधुके गुणों में वासना होती है कि मै भी ऐसा बनूँ । और जिस साधु की वैयावृत्य की जाती है उसकी सम्यक्त्व आदि गुणोमे विशेष प्रवृत्ति होती है । इसके सिवाय श्रद्धा, वात्सल्य, भक्ति, पात्रका लाभ, सन्धान-अपने मे जो गुण पूजा छूट गये हैं उनका पुनः आरोपण, तप, धर्म तीर्थ की परम्परा का विच्छेद न होना तथा समाधि, ये गुण है ॥३११॥

गा०—सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट वैयावृत्य करनेसे सर्वज्ञकी आज्ञाका पालन होता है । आज्ञा पालनसे आज्ञा संयम होता है । वैयावृत्य करने वालेका उपकार होता है । निर्दोष रत्नत्रय का दान होता है । संयम में सहायता होती है । विचिकित्सा—ग्लानि दूर होती है । धर्म की प्रभावना होती है और कार्यका निर्वाह होता है ॥३१२॥

'गुण परिणाम' पद का व्याख्यान करते है—

गा०—अति महान मोहरूपी आगके द्वारा सुर असुर और मनुष्यो सहित यह वर्तमान लोक धक्-धक् करते हुए जल रहा है । घोर महावेदनासे उसके अंग टूट फूट रहे है ॥३१३॥

विशेषार्थ—'यह मेरा है और मैं इसका हूँ' इत्यादि प्रत्यय रूप अज्ञान समस्त वस्तुओंके सम्बन्धमे होनेसे उसे अतिमहान कहा है । तथा लोकसे बहिरात्मा प्राणियों का समूह लिया गया है ।

गा०—इस लोकके जलने पर भी मुनियों को कोई वेदना नहीं है । क्योंकि ज्ञानरूपी जलके

भवन्ति । कथं ? 'णाणजलोवग्गहेण' ज्ञानजलोपग्रहेण । 'विज्झविदे' नष्टे मोहाग्नौ । 'डाहुम्मुक्का' दाहोन्मुक्ताः । 'समेण' रागद्वेषप्रशमेन च । एतदुक्तं भवति—समीचीनज्ञानजलप्रवाहोन्मूलिताज्ञानवह्निप्रसरत्वं नाम यतीनां गुणः निर्वेदनत्वं चेति ॥३१४॥

णिग्गहिदिंदियदारा समाहिदा समिदसव्वचेट्ठंगा ।
धण्णा णिरावयक्खा तवसा विधुणंति कम्मरयं ॥३१५॥

'णिग्गहिदिंदियदारा' इन्द्रियं द्विविधं द्रव्येन्द्रियं भावेन्द्रियं इति । तत्र द्रव्येन्द्रियं पुद्गलस्कन्धा आत्मप्रदेशाश्च तदाधारा । भावेन्द्रियं ज्ञानावरणक्षयोपशम इन्द्रियजनितो रूपाद्युपयोगश्च । तत्रेहोपयोगेन्द्रियं गृहीतं तत्साहचर्याद्रागद्वेषावमनोज्ञे मनोज्ञे च विषये प्रवृत्तौ इह पापकर्मनिमित्ततया इन्द्रियद्वारशब्देनोच्येते । तेनायमर्थः—निगृहीतेन्द्रियविषयरागद्वेषा इति । 'समाहिदा' रत्नत्रये समवहितचित्ताः । 'समिदसव्वचेट्ठंगा' सम्यक्प्रवृत्तसर्वेहा । 'धण्णा' पुण्यवन्तः । 'णिरावयक्खा' निश्चला इति केचिद्वदन्ति । अन्ये निरपेक्षाः । सत्कार लाभं चानपेक्षमाणा इति कथयन्ति । 'तवसा विधुणंति कम्मरयं' तपसा कर्मरजोविधूननं कुर्वन्ति । निगृहीतेन्द्रियत्वं, रत्नत्रयैकाग्रता, निरवद्यचेष्टावत्ता, सत्कारादेर्निरपेक्षता, तपसि वृत्तता, कर्मरजोविधूननं च यतिगुणा एतया गाथया सूचिता ॥३१५॥

इय दढगुणपरिणामो वेज्जावच्चं करेदि साहुस्स ।
वेज्जावच्चेण तदो गुणपरिणामो कदो होदि ॥३१६॥

'इयं' एव 'दढगुणपरिणामो' यतिगुणेषु व्यावर्णितेषु दृढपरिणामः । 'साधुस्स वेज्जावच्चं करेद'

प्रवाहसे—आत्मा और शरीर आदिके भेद ज्ञानरूपी जलके प्रवाहसे मोहरूपी आगके नष्ट हो जाने से तथा रागद्वेषके शान्त हो जानेसे वे दाह से मुक्त हैं। आशय यह है कि सम्यग्ज्ञान रूपी जलके प्रवाहसे अज्ञानरूपी आगके फैलावको समाप्त कर देना और वेदना रहित होना अर्थात् ज्ञानानन्दमय होना यतियों का गुण है ॥३१४॥

गा०-टी०—इन्द्रियके दो भेद है द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। पुद्गल स्कन्धोंके और उनके आधार भूत आत्म प्रदेशोके इन्द्रियाकार रचनाको द्रव्येन्द्रिय कहते है। और ज्ञानावरणके क्षयोपशम और इन्द्रियसे होने वाले रूपादि विषयक उपयोगको भावेन्द्रिय कहते हैं। इनमेंसे यहाँ उपयोगरूप इन्द्रियका ग्रहण किया है, क्योंकि उसकी सहायतासे मनको प्रिय और अप्रिय लगने वाले विषयों में राग द्वेष होते है। पापकर्ममें निमित्त होनेसे यहाँ इन्द्रियद्वार कहा है अतः यह अर्थ होता है जिन्होंने इन्द्रियोंके विषयोंमें होने वाले रागद्वेषका निग्रह कर दिया है। जिनका चित्त रत्नत्रयमें लीन रहता है। जो ईर्याभाषा आदि चेष्टाएँ सम्यक् रूप करते हैं और जो 'णिरावयक्खा' है। इसका अर्थ कोई 'निश्चल' कहते हैं और कोई निरपेक्ष कहते हैं अर्थात् जो सत्कार और लाभ की अपेक्षा नही करते। वे पुण्यशाली मुनि तपसे कर्म रूपी धूलिको नष्ट करते है। इस प्रकार इन्द्रियों का निग्रह करना, रत्नत्रयमें एकाग्र होना, निर्दोष चेष्टाएँ करना, सत्कार आदि की अपेक्षा न करना, तप में लीन रहना और कर्म रूपी रजका दूर करना ये यतियोके गुण इस गाथाके द्वारा कहे है ॥३१५॥

गा०-टी०—इस प्रकार ऊपर कहे यतिके गुणोंमें जिसका परिणाम दृढ होता है वह साधु की वैयावृत्य करता है। वैयावृत्य करने से गुण परिणाम होता है। आशय यह है कि इस यतिमें

साधोर्वैयावृत्यं करोति । 'वेज्जावच्चेण' वैयावृत्त्येन । 'तवो' तेन 'गुणपरिणामो कदो होदि' गुणपरिणामः कृतो भवति । एतदुक्तं भवति—अस्य यतेरेते गुणाः, इमे नश्यन्ति यदि नोपकारं कुर्यात् इति यश्चेतसि करोति स तेषु गुणेषु परिणतो भवति । यस्य चोपकारः कृतस्तस्य च गुणेषु परिणतिः कृता भवति । अतः स्वपरोपकारनिमित्तं वैयावृत्यं इति आख्यातं ॥३१६॥

जह जह गुणपरिणामो तह तह आरुहइ धम्मगुणसेढिं ।
वड्ढदि जिणवरमग्गे णवणवसंवेगसड्ढावि ॥३१७॥

'जह जह' यथा यथा गुणपरिणामो भवति । 'तह तह आरुहइ धम्मगुणसेढिं' तथाऽऽरोहति चारित्र-गुणश्रेणीः । 'वड्ढइ' वर्धते । 'जिणवरमग्गे' जिनेन्द्रमार्गे । किं वर्द्धते ? 'णवणवसंवेगसड्ढावि' प्रत्यग्र-संसारभीरुता श्रद्धापि । इह गुणशब्देन गुणनिर्भासं स्मार्तं प्रत्ययं उच्यते । तेनायमर्थः—यथा यथा यति-गुणानां स्मरणं तथा तथा चारित्रगुणानां स्मरणं तथा तथा चारित्रगुणानुपारोहति । विस्मृतयतिगुणो न तत्र प्रयतते । तेषां गुणानां स्मरणात्तत्र रुचिरुपजायते । गुणानुरागिणो हि भव्याः । संसारभीतिः श्रद्धा च प्रवर्तमाना दृढयति यतिं रत्नत्रये । एतया गाथया सूत्रिता श्रद्धा व्याख्याता ॥३१७॥

गुणानामनुस्मरणात्तत्र रुचिर्भवति रुचौ प्रवृद्धायां वात्सल्यं नाम दर्शनस्य गुणो भवतीत्याचष्टे—

सड्ढाए वड्ढियाए वच्छल्लं भावदो उवक्कमदि ।
तो तिव्वधम्मराओ सव्वजगसुहावहो होइ ॥३१८॥

'सड्ढाए वड्ढियाए' श्रद्धया वर्द्धितया । 'वच्छल्लं भावदो उवक्कमदि' वात्सल्यं भावतः मनसा प्रारभते । 'तो' ततः । 'तिव्वधम्मराओ' धर्मे तीव्रो रागः । 'सव्वजगसुहावहो होदि' सर्वेषु जगत्सु यत्सुखं

ये गुण हैं । यदि मैं इनकी सेवा न करूंगा तो ये गुण नष्ट हो जायेंगे । ऐसा जो चितमे विचारता हैं वह उन गुणोंमे परिणत होता हैं । और जिसकी सेवा की है उसकी गुणो मे परिणति होती है । अर्थात् वैयावृत्य करने वाला स्वय उन गुणोसे सुवासित होता है और जिसका वेयावृत्य किया जाता है वह यति अपने गुणोसे च्युत नही होता । अत अपने और दूसरोंके उपकारके लिए वैयावृत्य कहा है ॥३१६॥

गा०–टी०—जैसे-जैसे गुण परिणाम होता है वैसे वैसे चारित्र रूप गुणोकी सीढी पर चढता है, और जिनेन्द्रके मार्गमें नई-नई संसार भीरुता और श्रद्धा भी बढ़ती है । यहाँ गुण शब्दसे गुणोंको विषय करने वाला स्मरण ज्ञान कहा गया है। तब यह अर्थ होता हैं—जैसे-जैसे यतिके गुणोंका स्मरण होता है वैसे-वेसे चारित्र गुण पर आरोहण करता है । जो यतिके गुणोको भूल जाता है वह उसमें प्रयत्न नहीं करता । उनके गुणोंका स्मरण करनेसे उनमे रुचि पैदा होती है । भव्य जीव गुणोंकी अनुरागी होते हैं । संसारसे भय और श्रद्धा यतिको रत्नत्रयमें दृढ़ करती है । इस गाथासे श्रद्धा गुणका कथन किया ॥३१७॥

आगे कहते है कि गुणोंके स्मरणसे उनमें रुचि होतो है । रुचि बढने पर सम्यग्दर्शनका वात्सल्य नामक गुण होता है—

गा०—श्रद्धाके बढ़ने पर मुनि मनसे वात्सल्य करते हैं । उससे धर्ममें तीव्र राग होता है । धर्ममें तीव्र राग समस्त जगतमें जो इन्द्रिय जन्य और अतीन्द्रिय सुख है उसे लाता है । अथवा

ऐन्द्रियमतीन्द्रियं वा तदावहत्याकर्षति धर्मे तीव्रो रागः । तीव्रधर्मरागो वा यतिरात्मनः सकलं सुखमावहति । वात्सल्य इत्येतद्व्याख्यातं गाथयाऽनया ॥३१८॥

वैयावृत्यस्य च भक्तिर्नाम यो गुणस्तं व्याचष्टे—

अरहंतसिद्धभत्ती गुरुभत्ती सव्वसाहुभत्ती य ।
आसेविदा समग्गा विमला वरधम्मभत्ती य ॥३१९॥

'**अरहंतसिद्धभत्ती**' तत्रार्हन्तो नामातिक्रान्ते तृतीये भवे दर्शनविशुद्ध्यादिपरिणामविशेषबद्धतीर्थकरत्वनामकर्मातिशयाः, स्वर्गावतरणादिपरदुरवापपञ्चमहाकल्याणभागिनः, घातिकर्मप्रलयाधिगतसकलद्रव्यत्रिकालगोचरस्वरूपावभासनपटुनिरतिशयज्ञानदर्शनमोहोन्मूलनोपजातवीतरागसम्यक्त्वा, चारित्रमोहोत्पाटनलब्धवीतरागभावा, वीर्यान्तरायकर्मप्रक्षयाविर्भूतानन्तवीर्या, परीतसंसारभव्यजनोद्धरणबद्धप्रतिज्ञाः, अष्टमहाप्रातिहार्यचतुस्त्रिंशदतिशयविशेषा । सिद्धा नाम मिथ्यात्वादिपरिणामोपनीतकर्माष्टकबन्धनिर्मुक्ताः अजरामराव्याबाधा उपमातीतानन्तसुखा आज्वल्यमाननिरावरणज्ञानतनवः पुरुषाकारावाप्तपरमात्मावस्था । एतयोरर्हत्सिद्धयोर्भक्तिः । गुरुशब्देनात्राचार्योपाध्यायौ गृहीतौ तयोर्भक्ति । '**सव्वसाहुभत्ती य**' सर्वसाधुभक्तिश्च । '**आसेविदा**' आसेविता भवति । '**समग्गा**' समस्ता '**विमला वरधम्मभत्तीय**' प्रधाने धर्मे रत्नत्रयात्मके भक्तिश्च आसेविता भवति । अर्हदाद्युपदिष्टवैयावृत्यकरणात्तेषां भक्तिः कृता भवति । रत्नत्रयवतामुपकारकरणात्तदादरत एव तत्र भक्ति । वैयावृत्य भक्तिमापादयति अर्हदादिष्विन्युक्तं ॥३१९॥

धर्ममे तीव्रराग रखने वाला यति सब सुखको प्राप्त होता है । इस गाथासे वात्सल्यका कथन किया ॥३१८॥

वैयावृत्यका भक्ति नामक जो गुण है उसे कहते हैं—

गा०—टी०—इस भवमे पूर्व तीसरे भवमे दर्शन विशुद्धि आदि परिणाम विशेषसे जिसने तीर्थंकरत्व नामक अतिशयशाली कर्मका बन्ध किया है, जो स्वर्गावतरण आदि पाँच महाकल्याण का भागी है जो कल्याणक किसी अन्यको प्राप्त नहीं होते, घातिकर्मोंके विनाशसे जिसने त्रिकालवर्ती सब द्रव्योंके स्वरूपको प्रकाशित करनेमें पटु निरतिशय ज्ञान प्राप्त किया है, दर्शन मोह के क्षय से जिन्हें वीतराग सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है, चारित्रमोहके क्षयसे जिसने वीतरागता प्राप्त की है, वीर्यान्तराय कर्मके प्रक्षयसे जिनमें अनन्तवीर्य प्रकट हुआ है, जिनके संसारका अन्त आ गया है उन भव्यजीवोंका उद्धार करनेकी प्रतिज्ञासे जो बद्ध हैं, जो आठ महाप्रातिहार्य और चौतीस अतिशय विशेषसे युक्त है, वे अर्हन्त है । मिथ्यात्व आदि परिणामोंसे आये आठ कर्मोंके बन्धनसे जो छूट चुके हैं, जो अजर अमर, अव्याबाध गुणसे युक्त है अनुपम अनन्त सुखसे शोभित हैं जिनके सदा प्रज्वलित रहने वाला आवरण रहित ज्ञानमय शरीर है, जो पुरुषाकार है और जिन्होंने परमात्म अवस्थाको पालिया है वे सिद्ध हैं । इन अर्हन्तों और सिद्धोंकी भक्ति अर्हन्त सिद्ध भक्ति है । गुरु शब्दसे यहाँ आचार्य और उपाध्यायका ग्रहण किया है । उनकी भक्ति गुरु भक्ति है । और सर्वसाधुओंकी भक्ति तथा प्रधान धर्म रत्नत्रयमे सम्पूर्ण निर्मल भक्ति । इन अर्हन्त आदि का ऊपर कहा वैयावृत्य करनेसे उनकी भक्ति की गई जानना । रत्नत्रयके धारकोंका उपकार करनेसे उनका आदर ही उनकी भक्ति है । अभिप्राय यह है कि वैयावृत्यसे अर्हन्त आदिमे भक्ति व्यक्त होती है ॥३१९॥

इदानीं तस्या माहात्म्यं स्तौति—

संवेगजणियकरणा णिस्सल्ला मंदरुव्व णिक्कंपा ।
जस्स दढा जिणभत्ती तस्स भयं णत्थि संसारे ॥३२०॥

'संवेगजणियकरणा' संसारभीरुताजनितोत्पादा । करणशब्द सामान्यवचनोऽपि उत्पत्तिक्रियावृत्तिरत्र-गृहीतः । **'णिस्सल्ला'** मिथ्यात्वेन, मायया, निदानेन च रहिता । **'मंदरुव्व णिक्कंपा'** मदर इव निश्चला । **'जस्स दढा जिणभत्ती'** यस्य जिने भक्तिर्दृढा । **'तस्स भयणत्थि संसारे'** तस्य भय नास्ति ससारात् । जिन-शब्देना चात्रार्हदादयः सर्व एवोच्यन्ते—कर्मैकदेशाना समस्ताना च जयात् । धर्मोऽपि कर्माण्यभिभवति इति द्रव्यलाभादिकमुद्दिश्य प्रवृत्तेस्तत्कथयति । **'संवेगजणियकरणा'** इत्यनेन ससारभयनिराकरणोपायभूता जिन-भक्तिरिति ज्ञात्वा प्रवृत्तेति यावत् । वैनयिकमिथ्यादृष्टे सर्वत्र भक्ति प्रवर्तते इति तन्निरासाय णिस्सल्ला इत्युच्यते । **'मंदरुव्व णिक्कंपा'** इत्यनेन सर्वकालवृत्तिताख्याता । सासादनसम्यग्दृष्टेर्जाताप्यल्पकाला न संसारा-न्निस्सारयतीति ॥३२० ।

वैयावृत्यस्य पात्रलाभगुणमाचष्टे—

पंचमहव्वयगुत्तो णिग्गहिदकसायवेदणो दंतो ।
लब्भदि हु पत्तभूदो णाणासुदरयणणिधिभूदो ॥३२१॥

'पंचमहव्वयगुत्तो' पञ्चभिर्महाव्रतै कृतास्रवनिरोध । **'णिग्गहियकसायवेयणो'** निगृहीतकषायवेदन कषायस्तु तपयत्यात्मानमिति वेदना । **'दंतो'** दान्त शान्तरागजदोष । परिज्ञानाद्वैराग्यभावनात. प्रशान्त-राग इति कृत्वा दान्त इत्युच्यते । **'लब्भदि हु पत्तभूदो'** लभ्यते पात्रभूतः । **'णाणासुदरयणणिधिभूदो'** नाना-

---

अब उस भक्तिका माहात्म्य कहते हैं—

गा०—टी०—'संवेग जणिय करण'मे 'करण' शब्द क्रिया सामान्यका वाची होने पर भी यहाँ उसका अर्थ उत्पत्तिरूप क्रिया लिया है । अत ससारके भयमे जो उत्पन्न होती है, मिथ्यात्व माया और निदान नामक शल्योसे रहित सुमेरुकी तरह निश्चल, ऐसी दृढ जिन भक्ति जिसके है उसे संसारसे भय नहीं है । कर्मोके एक देशको अथवा सब कर्मोको जीतनेसे यहां 'जिन' शब्दसे अर्हन्त आदि सभी लिये है । 'धर्म भी कर्मोको निरस्त करता है इसलिये जिन शब्दसे धर्म भी कहा जाता है । किन्तु वह धर्म द्रव्यलाभके उद्देशसे न होकर जिन भक्ति ससारका भय दूर करनेका उपाय है । यह जानकर होना चाहिये । वैनयिक मिथ्यादृष्टिकी भक्ति सबमे होती है उसके निरा-करणके लिये नि.शल्य कहा है । मेरुकी तरह निश्चल कहनेसे वह भक्ति सर्वकालमे होनी चाहिये ऐसा कहा है । सासादन सम्यग्दृष्टोके अल्पकालीन भक्ति होती है किन्तु वह समारसे नही निकालती ॥३२०॥

वैयावृत्यका एक गुण पात्रलाभ है । उसे कहते है—

गा०टी०—वैयावृत्य करनेसे, पाँच महाव्रतो के द्वारा कर्मोके आस्रवको रोकने वाला, कषाय वेदनाका निग्रह करने वाला, कषाय आत्माको सतप्त करती है इससे वेदना कहा है, दान्त अर्थात् जिसके राग जन्य दोष शान्त हो गये हैं, वस्तु तत्वको जाननेसे वैराग्य भावना होती है और वैराग्य भावनासे राग शान्त होता है इससे दन्त कहा है, तथा जो नाना प्रकारके शास्त्रोंरूपी रत्नोंका निधि है नाना शास्त्रोका ज्ञाता है, ऐसा पात्र प्राप्त होता है' अर्थात् वैयावृत्य

श्रुतरत्ननिधिभूतः ॥२२१॥

दंसणणाणे तव संजमे य संधाणदा कदा होइ ।
तो तेण सिद्धिमग्गे ठविदो अप्पा परो चेव ॥३२२॥

'दंसणणाणे' दर्शनज्ञानयोः । 'तवसंजमे य' तपश्चारित्रयोश्च । 'संधाणदा होदि' कुतश्चिन्निमित्ता द्विच्छिन्नानां दर्शनादीनां संधानं कृतं भवति वैयावृत्त्येन । 'तो' तस्मात् तेनैव वैयावृत्त्यकारिणा । 'सिद्धिमग्गे' रत्नत्रये । 'ठविदो अप्पा परो चेव' स्थापित आत्मा परश्च । अनया संधानमित्येतत्सूत्रपदव्याख्यानम् ॥२२२॥

तव इत्येतद्व्याख्यातुमाह—

वेज्जावच्चकरो पुण अणुत्तरं तवसमाधिमारूढो ।
पप्फोडिंतो विहरदि बहुभवबाधाकरं कम्मं ॥३२३॥

'वेज्जावच्चकरो पुण' वैयावृत्यकर पुन 'अणुत्तरं तवसमाधि मारूढो' उत्कृष्ट वैयावृत्याख्ये तपसि समाधिमेकाग्रतामुपाश्रित । 'पप्फोडिंतो विहरदि' विधूनयन्विहरति । 'बहुभवबाधाकरं' कम्मं' बहुभवेषु बाधाः संपादयत्कर्म ॥३२३॥

जिणसिद्धसाहुधम्मा अणागदातीदवट्टमाणगदा ।
तिविहेण सुद्धमदिणा सव्वे अभिपूइया होंति ॥३२४॥

'जिणसिद्ध साहुधम्मा' तीर्थकृत., सिद्धा , साधवो, धर्मश्च । 'अणागदातीदवट्टमाणगदा' सर्वे त्रिकाल वर्तिनः 'सव्वे तिविहेण पूजिदा होंति' सर्वे मनोवाक्कायैः पूजिता भवन्ति । 'सुद्धमदिणा' शुद्धचेतसा । तीर्थकृदादयस्तदाज्ञासपालनात्पूजिता', दशविधे धर्मे तपसोऽन्तर्भावाद्वैयावृत्यस्य च तदन्तर्गतत्वाद्वैयावृत्ये आदरात् तत्प्रवृत्तेश्च धर्म' पूजितो भवति ॥३२४॥

करने वालेको वैयावृत्यके लिये ऐसे सत्पात्र मुनी प्राप्त होते है यह एक महान् लाभ है ॥३२१॥

गा०—टी०—किसी निमित्तसे सम्यग्दर्शन आदिमे त्रुटि हो गई हो तो वैयावृत्य करनेसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्तप और सम्यक् चारित्रमे पुन' नियुक्ति हो जाती है । अतः उसी वैयावृत्यकारीके द्वारा स्वयं आत्मा तथा जिसकी वह वैयावृत्य करता है उसकी रत्नत्रय में पुन स्थिति होती है । इससे दोनों का ही लाभ है । इस गाथाके द्वारा 'संधान' पदका व्याख्यान किया है ॥३२२॥

तप गुणको कहते है—

गा०—वैयावृत्य करनेवाला मुनि उत्कृष्ट वैयावृत्य नामक तपमे एकाग्र होकर अनेक भवोंमें कष्ट देनेवाले कर्मोंकी निर्जरा करता हुआ विहार करता है ॥३२३॥

गा०—शुद्धचित्तसे वैयावृत्य करनेवालेके द्वारा भूत, भविष्यत् और वर्तमानकालके सब तीर्थंकर, सिद्ध, साधु और धर्म मन-वचन-कायसे पूजित होते हैं । तीर्थंकरोंकी आज्ञाका पालन करनेसे सभी तीर्थंकर आदि इसके द्वारा पूजित होते हैं । तथा दस प्रकारके धर्मों में एक तपधर्म भी है और वैयावृत्य उसका एक भेद है अतः वैयावृत्यमें आदरभाव रखने तथा वैयावृत्य करनेमे धर्म पूजित होता है ॥३२४॥

वैयावृत्यं दशविधं आचार्योपाध्यायतपस्विशिक्षकग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञभेदेन । तत्राचार्यवैयावृत्यमाहात्म्यकथनायाचष्टे—

आइरियधारणाए संघो सव्वो वि धारिओ होदि ।
संघस्स धारणाए अव्वोच्छित्ती कया होई ॥३२५॥

'आइरियधारणाए' आचार्यधारणात्, **'संघो सव्वो वि धारिदो होदि'** सर्वं संघोऽवधारितो भवति । कथं ? आचार्यो हि रत्नत्रयं ग्राहयति । गृहीतरत्नत्रयांस्तेषु द्रढयति । अतिचाराञ्जातानप्यपनयति । तदुपदेशबलेनैव गुणसंहतिरूपतां धत्ते संघो नान्यथेति संघो धारितो भवति । संघधारणाया गुणमाचष्टे । **संघस्स धारणाए अवोच्छित्ती कदा होदि'** धर्मतीर्थस्याभ्युदयनिःश्रेयससुखसाधनस्य अव्युच्छित्तिः कृता भवति । उपाध्यायादयः सर्वं एव साधयन्ति निरवशेषकर्मापायमिति साधुशब्देनोच्यन्ते ॥३२५॥

तेष्वन्यतमस्य साधोर्धारणायां गुणं कथयति—

साधुस्स धारणाए वि होइ तह चेव धारिओ संघो ।
साधू चेव हि संघो ण हु संघो साहुवदिरित्तो ॥३२६॥

'साधुस्स धारणाए' एकस्य साधोर्वैयावृत्यकरणेन धारणाया । **'होदि'** भवति । **'तह चेव'** तथैव आचार्यधारणात् संघधारणात् । **'धारिदो संघो'** धारितो यतिसमुदाय । कथमेकस्य धारणाया समुदायधारणा, समुदायावयवयोर्भेदादित्याशंकायामाह—**'साधू चेव हि संघो'** साधव एव हि संघः । **'ण हि संघो साधुवदिरित्तो'** नैव संघो नामार्थान्तरभूतोऽस्ति साधुव्यतिरिक्तः । कथंचित्समुदायावयवयोरव्यतिरेक इति मन्यते गाथा-

---

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शिक्षक, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञके भेदसे वैयावृत्यके दस भेद हैं। उनमेंसे आचार्य वैयावृत्यका माहात्म्य कहते हैं—

गा०–टी०—आचार्यका धारण करनेसे समस्त संघ धारित होता है। क्योंकि आचार्य रत्नत्रय ग्रहण कराते हैं और जो साधु रत्नत्रयको धारण किये होते हैं उन्हे उसमे दृढ करते हैं। उत्पन्न हुए अतिचारोंको दूर करते है। आचार्यके उपदेशके प्रभावसे ही संघ गुणोके समूहको धारण करता है अतः आचार्यके धारणसे संघका धारण होता है। आचार्यके विना संघका धारण सम्भव नहीं है। संघके धारणसे अभ्युदय और मोक्षके सुखका साधन जो धर्म है उस धर्मतीर्थका विच्छेद नहीं होता। उपाध्याय आदि सभी समस्तकर्मोंके विनाशकी साधना करते हैं इसलिए साधु शब्दसे उन सबका ग्रहण होता है ॥३२५॥

विशेषार्थ—धारणाका अर्थ है अपने धर्मकर्मकी शक्तिको भ्रष्ट करनेके निमित्तोंको दूर करके उसको शक्ति प्रदान करना। इसीको वैयावृत्य भी कहते है।

उक्त आचार्यादिमेंसे किसी एक साधुकी धारणाके गुण कहते हैं—

गा०–टी०—जैसे आचार्यकी धारणासे संघकी धारणा होती है वैसे ही एक साधुकी धारणासे अर्थात् वैयावृत्य करनेसे साधु समुदायकी धारणा होती है।

शंका—एक साधुकी धारणासे सब साधु समुदायकी धारणा कैसे हो सकती है ? क्योंकि समुदाय और व्यक्तिमें तो भेद है ? इसके उत्तरमें कहते हैं—

समाधान—साधु ही संघ है। साधुओंसे भिन्न कोई संघ नामक वस्तु नहीं है। समुदाय

द्वयेनानेन । अव्युच्छित्तिर्व्याख्याता ॥३२६॥

सिद्धिसुखे चेतसि एकाग्रता समाधिरित्युच्यते तदुपगूहनं कृतं भवतीत्याचष्टे—

गुणपरिणामादीहिं अणुत्तरविहीहिं विहरमाणेण ।
जा सिद्धिसुहसमाधी सा वि य उवगूहिया होदि ॥३२७॥

'गुणपरिणामादीहिं य' गुणपरिणामः, श्रद्धा, वात्सल्यं, भक्तिः, पात्रलाभः, संधान, तप., पूजा, तीर्थाव्युच्छित्तिरित्येतैः । **'अणुत्तरविधीहिं'** प्रकृष्टैः क्रमैः । **'विहरमाणेण'** आचरता । **'जा सिद्धिसुहसमाधी'** या सिद्धिसुखैकाग्रता । **'सा वि य उवगूहिया होइ'** साप्यालिङ्गिता भवति । कारणे ह्यादर. कार्ये समाधानमन्तरेण न प्रवर्तते । न हि साध्ये घटे चेतस्यसति तदुपायमूलदण्डादिकारणकलापे जनः प्रवर्तते । इह च गुणपरिणामादय उपायाः सिद्धिसुखस्य न च सिद्धिसुखैकाग्रतामन्तरेण ते युज्यन्ते इति भावः ॥३२७॥

अणुपालिदा य आणा संजमजोगा य पालिदा होंति ।
णिग्गहियाणि कसायिंदियाणि साखिल्लदा य कदा ॥३२८॥

'अणुपालिदा या आणा' अनुपालिता च आज्ञा भवति वैयावृत्य कुर्वता । केषां ? तीर्थकृदादीना । एतेन **'आणा'** इत्येतत्सूत्रपद व्याख्यातं भवति । **'संजम जोगा य पालिदा होंति'** इत्यनेन सयमपदव्याख्या कृता संयमेन सह सम्बन्धः आचार्यादीनाम् । **'पालिदा होंति'** रक्षिता भवन्ति । व्याध्याद्यापद्गताना रोगपरीषहान्सक्लेशेन धारयितुमसमर्थानाम् । अथवा सयमयोगाश्च तपासि अनशनादितपोविशेषा. रक्षिता भवन्ति स्वस्य परेषां च, करणानुमननाभ्या स्वस्यापन्निरासेन स्वस्थतोपजातसामर्थ्यादीना संयमसंपादनात् । परेषां सहायता

और उसके अवयव व्यक्तिमें कथञ्चित् अभेद होता है यह इन गाथाओंके द्वारा माना है ॥३२६॥
अव्युच्छित्तिका कथन समाप्त हुआ ।

सिद्धि सुखमें चित्तकी एकाग्रताको समाधि कहते हैं । वैयावृत्यसे उसका उपगूहन होता है, यह कहते हैं—

गा०—श्रद्धा, वात्सल्य, भक्ति, पात्रलाभ, सन्धान, तप, पूजा, तीर्थकी अव्युच्छित्ति (अविनाश) इत्यादि गुणोंका उत्कृष्ट क्रमके साथ आचरण करनेवाले मुनिको जो सिद्धि सुखमें एकाग्रता है, वह भी प्राप्त होती है; क्योंकि कार्यमे समाधान हुए विना कारणमे आदर नहीं होता । यदि चित्तमें घट बनानेकी भावना न हो तो उसके उपायभृत जो दण्ड आदि कारण है उनमे मनुष्य प्रवृत्त नही होता । यहाँ गुणपरिणाम आदि सिद्धिसुखके उपाय हैं, सिद्धिसुखमें एकाग्रताके विना वे उपाय नहीं हो सकते । यह अभिप्राय है ॥३२७॥

गा०-टी०—'जो वैयावृत्य करता है वह तीर्थंकरोंकी आज्ञाका पालन करता है । इस कथनसे गाथाके 'आणा' पदका व्याख्यान किया है । 'संयमयोगका पालन होता है' इस कथनसे संयमपदका व्याख्यान किया है क्योंकि आचार्य आदिका संयमके साथ सम्बन्ध है । जो आचार्य आदि व्याधि आदिसे पीड़ित होते हैं और विना संक्लेशके रोगपरीषहको सहनेमे असमर्थ होते हैं उनकी वैयावृत्य करनेसे संयमकी रक्षा होती है । अथवा 'संयमयोग' अर्थात् अनशन आदि तपके भेदोंकी रक्षा होती है । अपने भी और दूसरोंके भी तपकी रक्षा होती है । दूसरोंसे वैयावृत्य कराकर अथवा वैयावृत्य करनेकी अनुमोदना करके स्वास्थ्यको प्राप्तकर अपने तपकी रक्षा करता है तथा दूसरोंकी

व्याचष्टे—जम्हा इति वाक्यशेषाध्याहारेण सूत्रपदानि सम्बन्धनीयानि। यस्मान्निगृहीतानि कषायेन्द्रियाणि तद्दोषोपदेशं कुर्वता तस्मात् 'साखिल्लदा य कदा' सहायता कृता ॥३२८॥

अदिसयदाणं दत्तं णिव्विदिगिंच्छा दरिसिदा होइ।
पवयणपभावणा वि य णिव्वूढं संघकज्जं च ॥३२९॥

'अदिसयदाणं दत्तं' अतिशयदानं दत्तं भवति रत्नत्रयदानात्। 'णिव्विदिगिंछा य दरिसिया होइ' सम्यग्दर्शनस्य गुणो निर्विचिकित्सा नाम सा प्रकटिता भवति। द्रव्यविचिकित्सा निरस्ता शरीरमलाना निराकरणात् जुगुप्सा विना। 'पवयणपभावणा वि य' प्रवचनमागमस्तदुक्तार्थानुष्ठानात् प्रवचनप्रभावना कृता भवति। 'णिव्वूढं संघकज्जं च' संघेन कर्तव्यं कार्यं च निश्चयेन संपादितं भवति। एतेन 'कज्जपुण्णाणि' इत्येतद्व्याख्यातम् ॥३२९॥

वैयावृत्यस्य फलमाहात्म्यं दर्शयति—

गुणपरिणामादीहिं य विज्जावच्चुज्जदो समज्जेदि।
तित्थयरणामकम्मं तिलोयसंखोभयं पुण्णं ॥३३०॥

'गुणपरिणामादीहिं य'। अत्रैवं पदसम्बन्धः 'वेज्जावच्चुज्जदो' वैयावृत्ये उद्यतः। 'गुणपरिणामादीहि' गुणपरिणामादिभिः कारणभूतैः। 'पुण्णं तित्थयरणामकम्मं समज्जेदि' पुण्यं तीर्थकरनामकर्म समर्जयति। कीदृक्? 'तिलोयसंखोभयं' त्रैलोक्यसंक्षोभकरणक्षमम् ॥३३०॥

एदे गुणा महल्ला वेज्जावच्चुज्जदस्स बहुया य।
अप्पट्ठिदो हु जायदि सज्झायं चेव कुव्वंतो ॥३३१॥

'एदे गुणा महल्ला' एते गुणा महान्तः 'वेज्जावच्चुज्जदस्स' वैयावृत्त्योद्यतस्य। 'बहुया य' बहवः।

आपत्तिको दूर करके, उनके स्वास्थ्य लाभ करके शक्ति प्राप्त करनेपर उनके संयमकी रक्षा होती है। दूसरोंकी सहायताका कथन गाथाके उत्तरार्द्धसे करते हैं। उसमें 'जम्हा' पदका अध्याहार करके इस प्रकार अर्थ होता है—यतः वैयावृत्य करनेवाला कषाय और इन्द्रियोंके दोष बतलाकर कषाय और इन्द्रियोंका निग्रह करता है, अतः वह दूसरोंको सहायता प्रदान करता है ॥३२८॥

गा०-टी०—वैयावृत्य करनेवाला उक्त प्रकारसे दूसरे साधुओंको रत्नत्रयका दान करता है इसलिए वह सातिशयदानका दाता होता है। तथा वैयावृत्यसे सम्यग्दर्शनका निर्विचिकित्सा नामक गुण प्रकाशित होता है। शरीरका मलमूत्र आदि बिना ग्लानिके उठानेसे द्रव्यविचिकित्सा दूर होती है। आगममें कहे हुए धर्मका पालन करनेसे प्रवचनकी प्रभावना भी होती है। और संघका जो करने योग्य कार्य है उसका भी सम्पादन होता है। इस गाथासे 'कज्जपुण्णाणि' पदका व्याख्यान किया है ॥३२९॥

वैयावृत्यके फलका माहात्म्य कहते हैं—

गा०—वैयावृत्यमें तत्पर साधु गुणपरिणाम आदि कारणोंके द्वारा उस तीर्थङ्कर नामक पुण्यकर्मका बन्ध करता है जो तीनो लोकोंमें हलचल पैदा करता है ॥३३०॥

गा०—वैयावृत्यमें तत्पर साधुके बहुतसे महान् गुण होते हैं। जो केवल स्वाध्याय ही

'अप्पहिदओ हु आयदि' आत्मप्रयोजनपर एव आयते। 'सज्झायं चेव कुव्वंतो' स्वाध्यायमेव कुर्वन्। वैयावृत्यकरस्तु स्वं परं चोद्धरतीति मन्यते ॥३३१॥

वज्जेह अप्पमत्ता अज्जासंसग्गमग्गिविससरिसं।
अज्जाणुचरो साधू लहदि अकित्तिं खु अचिरेण ॥३३२॥

'वज्जेह' वर्जयत अग्निना विषेण सदृशः आर्याजनसंसर्गं। प्रमादरहितैर्भवद्भिस्त्याज्यः अज्जाणुचरो' आर्यानुचरः। 'साधू' साधुर्लहदि अकित्ति लभते अयशः 'अचिरेण' अचिरेण। चित्तसंतापकारितया अग्निसदृशता। संयमजीवितविनाशनाद्विषसदृशता। पापस्य अयशसश्च प्रायेण भीरुर्लोकोऽपि साध्वाचारः मिथ्यादृष्टिरसंयतोऽपि किं पुनर्विदितवेदितव्यस्य परिहार्यमशेषं उद्यतः परिहर्तुं यतिजनः पापमयशश्च न परिहरेत्। तथा च श्लोकः—

कायो पातिनि का रक्षा यशो रक्ष्यमपाति यत्।
नरः पतितकायोऽपि यशःकायेन धार्यते ॥ [ ] ॥३३२॥

थेरस्स वि तवसिस्स वि बहुस्सुदस्स वि पमाणभूदस्स।
अज्जासंसग्गीए जणजंपणयं हवेज्जादि ॥३३३॥

'थेरस्स' स्थविरस्य। 'तवसिस्स वि' अनशनादितपस्युद्यतस्यापि। 'बहुसुदस्स वि' बहुश्रुतस्यापि। 'पमाणभूदस्स' प्रमाणभूतस्य। 'अज्जासंसग्गीए जणजंपणयं हवेज्जादि' आर्यापरिचयाज्जनापवादो भवति ॥३३३॥

किं पुण तरुणो अबहुस्सुदो य अणुकिट्ठतवचरित्तो।
अज्जासंसग्गीए जणजंपणयं ण पावेज्ज ॥३३४॥

करता है वह तो अपने ही प्रयोजनमें लगा रहता है। किन्तु वैयावृत्य करनेवाला अपना और दूसरोंका उपकार करता है। अर्थात् केवल स्वाध्याय करनेवाले साधुसे वैयावृत्य करनेवाला विशिष्ट होता है। स्वाध्याय करनेवाले साधुपर विपत्ति आवे तो उसे वैयावृत्य करनेवालेका ही मुख ताकना होता है ॥३३१॥

गा०–टी०—हे साधुजनो! आपको प्रमादरहित होकर आग और विषके तुल्य आर्याओंके संसर्गको छोडना चाहिए। आर्याके साथ रहनेवाला साधु शीघ्र ही अपयशका भागी होता है। आर्याका संसर्ग चित्तको सन्तापकारी होनेसे आगके समान है और संयमरूपी जीवनका विनाशक होनेसे विषके समान है। साधु आचारवाले मिथ्यादृष्टि असंयमी लोग भी प्राय पाप और अपयशसे डरते हैं। फिर जो सब कुछ जानते हैं और समस्त त्यागने योग्य पदार्थोंके त्यागमें तत्पर रहते हैं वे साधुजन पाप और अपयशके कामसे क्यों नहीं दूर रहेंगे? कहा भी है—शरीर नष्ट होनेवाला है उसकी रक्षा सम्भव नहीं है। यशकी रक्षा करने योग्य है जो नष्ट नहीं होता। शरीरके छूट जानेपर मनुष्य यशरूपी शरीरसे जीवित रहता है ॥३३२॥

गा०—वृद्ध, अनशन आदि तपमें तत्पर तपस्वी, बहुश्रुत और प्रमाण माना जानेवाला भी साधु आर्याजनके संसर्गसे लोकापवादका भागी होता है ॥३३३॥

'किं पुण ण पावेज्ज अयंजपणयं' किं पुनर्न प्राप्नुयाज्जनापवाद वा ? प्राप्नोति नियोगत । केन ? **'अज्जासंसग्गीए'** आर्यागोष्ठया । कः ? **"तरुणो अबहुस्सुदो अणुक्किट्ठतवचरित्तो य'** तरुणो यतिरबहुश्रुतोऽनुत्कृष्टतपश्चारित्रश्च ॥३३४॥

जदि वि सयं थिरबुद्धी तहा वि संसग्गिलद्धपसराए ।
अग्गिसमीवे व घदं विलेज्ज चित्तं खु अज्जाए ॥३३५॥

'जदि वि सयं थिरबुद्धी' यद्यपि स्वयं स्थिरबुद्धि । **'तहा वि'** तथापि । **'संसग्गिलद्धपसराए'** संसर्गाल्लब्धप्रसरायाः । **'अज्जाए'** आर्याया. । **'चित्तं विलेज्ज'** चित्तं द्रवति । किमिव ? **'अग्गिसमीवे व घदं'** अग्निसमीपस्थं घृतमिव । न केवलमार्याजन एव परिहरणीयः किं तु—॥३३५॥

सव्वत्थ इत्थिवग्गम्मि अप्पमत्तो सया अवीसत्थो ।
णित्थरदि बंभचेरं तव्विवरीदो ण णित्थरदि ॥३३६॥

'सव्वत्थ इत्थिवग्गम्मि' सर्वस्मिन्नेव स्त्रीवर्गे बालाकन्यामध्यमास्थविरासुरूपाविरूपेति विचित्रभेदे । **'अप्पमत्तो'** अप्रमत्त प्रमादरहित । सदा **'अवीसत्थो'** विश्वासरहित । **'णित्थरइ'** निस्तरति **'बंभचेरं'** ब्रह्मचर्यं । **'तद्विवरीदो'** तद्विपरीतः प्रमत्तः विश्वासवांश्च । **'ण णित्थरदि'** न निस्तरति ॥३३६॥

आर्यानुचरणे दोषं प्रकटयति—

सव्वत्तो वि विमुत्तो साहू सव्वत्थ होइ अप्पवसो ।
सो चेव होदि अज्जाओ अणुचरंतो अणप्पवसो ॥३३७॥

'सव्वत्तो वि विमुत्तो साहू सव्वत्थ होइ अप्पवसो' सर्वस्माद्वास्तुक्षेत्रादिकाद्विमुक्त साधु सर्वत्र भवति स्ववशः **'सो चेव'** स एवात्मवश । **'होइ'** भवति । **'अणप्पवसो'** अनात्मवश. । किं कुर्वन् ? **'अज्जाओ अणुचरंतो'** आर्या अनुचरन् ॥३३७॥

गा०—तब जो अवस्थामें तरुण हैं, बहुश्रुत भी नहीं हैं और न जो उत्कृष्ट तपस्वी और चारित्रवान् हैं वे आर्याजनके संसर्गसे लोकापवादके भागी क्यों नही होंगे ? ॥३३४॥

गा०—मुनि यद्यपि स्वय स्थिर चित्तवाला हो फिर भी उसके संसर्गसे चित्तमें उल्लास पाकर आर्याका मन उसी प्रकार द्रवित होता है जैसे आगके समीपमें घी द्रवित होता है ॥३३५॥

गा०—तथा केवल आर्याओंका संसर्ग ही त्याज्य नही है, बल्कि जो बाला, कन्या, तरुणी, वृद्धा, सुरूप, कुरूप सभी प्रकारके स्त्रीवर्गमें प्रमाद रहित होता है और कभी भी उनका विश्वास नहीं करता वही साधु ब्रह्मचर्यको जीवन पर्यन्त पार लगाता है। जो उससे विपरीत होता है अर्थात् स्त्रियोंके सम्बन्धमें प्रमादी और विश्वासी होता है वह ब्रह्मचर्यको पार नहीं कर पाता ॥३३६॥

आर्याके अनुचरणमें दोष बतलाते हैं—

गा०—जो साधु घर, जमीन आदि समस्त परिग्रहोंसे मुक्त है वह सर्वत्र अपनेको वशमें रखता है। किन्तु वही साधु आर्याका अनुगामी होकर आत्मवशी नहीं रहता ॥३३७॥

खेलपडिदमप्पाणं ण तरदि जह मच्छिया विमोचेदुं ।
अज्जाणुचरो ण तरदि तह अप्पाणं विमोचेदु ॥३३८॥

'खेलपडिदमप्पाणं' श्लेष्मपरीतमात्मानं । **'जह ण तरइ मच्छिया विमोचेदुं'** यथा न तरति मक्षिका विमोचयितुम् । **'तह् अज्जाणुचरो ण तरइ अप्पाणं विमोचेदुं'** तथा आर्यानुचरो न शक्नोति आत्मानं विमोचयितुम् ॥३३८॥

साधुस्स णत्थि लोए अज्जासरिसी खु बंधणे उवमा ।
चम्मेण सह अवेंतो ण य सरिसो जोणिकसिलेसो ॥३३९॥

'साधुस्स णत्थि लोए अज्जासरिसी खु बंधणे उवमा' साधोर्नास्ति लोके आर्यासदृशी बन्धने उपमा । **'चम्मेण सह अवेंतो'** चर्मणा सह अपगच्छन् । **'ण य सरिसो जोणिगसिलेसो'** नैव सदृशः चर्मकारश्लेषः । न केवलं आर्याजनो दूरत एव परिहार्य अपि तु अन्यदपि वस्तु ॥३३९॥

अण्णं पि तहा वत्थुं जं जं साधुस्स बंधणं कुणदि ।
तं तं परिहरह तदो होहदि दढसंजदा तुज्झ ॥३४०॥

'अण्णं पि तहा वत्थु' अन्यदपि तथाभूत वस्तु । **'जं जं साधुस्स बंधण कुणइ'** यद्यत्साधोर्बन्धनं करोति अस्वतन्त्रता करोति । **'तं तं परिहरह'** तत्तत्परिहारे उद्योग कुरुत । **'तत:'** वस्तुत्यागात् । **'होहदि दढसंजदा तुज्झ'** भवतां दृढसंयतता गुणो भवत्येवमिति यावत् । बाह्यवस्तुनिमित्तो ह्यसंयमस्तत्त्यागे त्यक्तो भवति ॥३४०॥

पासत्थादीपणयं णिच्चं वज्जेह सव्वधा तुम्हे ।
हंदि हु मेलणदोसेण होइ पुरिसस्स तम्मयदा ॥३४१॥

'पासत्थादीपणयं' पार्श्वस्थादिपञ्चकं पार्श्वस्थ., अवसन्न., संसक्त, कुशीलो, मृगचरित्रः इति पञ्च । तान् दूरतो निराकुरुत । अपरित्यागदोषमाह—**'मेलणदोसेण तम्ममदा होइ'** संसर्गदोषेण पार्श्वस्थादिमयता ॥३४१॥

तन्मयता प्रतिपत्तिक्रमाख्यानायाता गाथा—

गा०—जैसे मनुष्यके कफमें फँसी हुई मक्खी उससे अपनेको छुड़ानेमें असमर्थ होती है। वैसे ही आर्याका अनुगामी साधु उससे अपनेको छुडानेमें असमर्थ होता है ॥३३८॥

गा०—साधुका आर्याके साथ सहवास ऐसा बन्धन है जिसकी कोई उपमा नहीं है। चर्मके साथ ही उतरने वाला वज्रलेप भी उसके समान नहीं है ॥३३९॥

गा०—साधुको केवल आर्याजनोंके संसर्गसे ही दूर नहीं रहना चाहिए किन्तु अन्य भी जो-जो वस्तु साधुको परतन्त्र करती है उस-उस वस्तुको त्यागनेमें तत्पर रहो। उसके त्यागसे तुम्हारा संयम दृढ होगा। बाह्य वस्तुके निमित्तसे होने वाला असंयम उस वस्तुके त्यागसे त्यागा जाता है ॥३४०॥

गा०—पार्श्वस्थ, अवसन्न, संसक्त, कुशील और मृगचरित्र इन पाँच प्रकारके कुमुनियोंसे तुम सदा दूर रहो। उनसे मेल रखनेसे पुरुष उनके समान पार्श्वस्थ आदि रूप हो जाता है ॥३४१॥

लज्जं तदो विहिंसं णिव्विसंकदं चेव ।
पियधम्मो वि कमेणारुहंतओ तम्मओ होइ ।।३४२।।

पार्श्वस्थादिसंसर्गं कर्तुं वाञ्छन्नपि 'लज्जं' लज्जा उपारोहति । 'ततः' पश्चाद्विहिंस असंयमजुगुप्सां करोति । कथमहमेवंविधं व्रतभङ्गं करोमि दुरन्तसंसारपतनहेतुमिति । पश्चाच्चारित्रमोहोदयात्परवशः 'पारंभं' प्रारभते । कृतप्रारम्भो यतिरारम्भपरिग्रहादिषु निस्संकदं चेव निर्विशङ्कतामुपैति । 'पियधम्मोवि' धर्मप्रियोऽपि । 'कमेणारुहंतगो' क्रमेण प्रतिपद्यमानो लज्जादिकं । 'तम्मओ होदि' पार्श्वस्थादिरूपो भवति ।।३४२।।

यद्यपि वाक्कायाभ्यां न प्रयतते तथापि मानसी पार्श्वस्थादिता प्रतिपद्यत इत्याचष्टे—

संविग्गस्सवि संसग्गीए पीदी तदो य वीसंभो ।
सदि वीसंभे य रदी होइ रदीए वि तम्मयदा ।।३४३।।

'संविग्गस्स वि' संसारभीरोरपि यते । 'संसग्गीए' पार्श्वस्थादिसंसर्गेण । पीदी होदि' प्रीतिर्भवति । 'तदो य' प्रीते सकाशात् । 'वीसंभो होदि' विस्रम्भो भवति । 'सदि वीसंभे य रदी' विस्रम्भे सति रतिर्भवति । पार्श्वस्थादिषु 'रदीए वि तम्मयदा' रत्या च तन्मयता ।।३४३।।

संसर्गवशादगुणदोषौ भवतोऽचेतनेष्वपीति दृष्टान्तेन बोधयति—

जइ भाविज्जइ गंधेण मट्टिया सुरभिणा व इदरेण ।
किह जोएण ण होज्जो परगुणपरिभाविओ पुरिसो ।।३४४।।

'जदि' यदि । 'भाविज्जइ' भाव्यते वास्यते । 'गंधेण' गन्धेन, 'मट्टिया' मृत्तिका । 'सुरहिणा व इदरेण' सुरभिणा च इतरेण वा । 'कह जोएण ण होज्जो' कथं सबन्धेन न भवेत् । 'परगुणपरिभावओ पुरिसो' परेषां पार्श्वस्थादीनां गुणैः परिभावितः पुरुषः ।।३४४।। परगुणग्रहणायाह—

पार्श्वस्थ आदिके संसर्गसे कैसे पार्श्वस्थ आदिरूप हो जाता है यह बतलाते हैं—

गा०—पार्श्वस्थ आदिका संसर्ग करनेकी इच्छा रखते हुए भी लज्जा करता है। पश्चात् असंयमके प्रति ग्लानि करता है कि मै कैसे इस प्रकार व्रत भंग करूँ, यह तो दुरन्त संसारमे गिराने वाला है। पश्चात् चारित्र मोहके उदयमे परवश होकर असयमका प्रारम्भ करता है। असंयमका प्रारम्भ करके यति आरम्भ परिग्रह आदिमे निःशंक होकर प्रवृत्ति करता है। इस प्रकार धर्मका प्रेमी भी मुनि क्रमसे लज्जा आदि करते हुए पार्श्वस्थ आदि रूप हो जाता है।।३४२।।

यद्यपि उनकी संगतिसे वचन और कायसे तो उनके आचारमें प्रवृत्ति नही करता तथापि मनसे पार्श्वस्थ आदि रूप हो जाता है यह कहते हैं—

गा०—संसारसे भयभीत भी मुनि पार्श्वस्थ आदिके संसर्गसे उनसे प्रीति करने लगता है। प्रीति करनेसे उनके प्रति विश्वासी हो जाता है। उनका विश्वास करनेसे उनका अनुरागी हो जाता है और उनमें अनुराग करनेसे पार्श्वस्थादिमय हो जाता है।।३४३।।

संसर्गसे अचेतन वस्तुओमे भी गुण और दोष उत्पन्न हो जाते हैं, यह दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—

गा०—यदि सुगन्ध अथवा दुर्गन्धके संसर्गसे मिट्टी भी सुगन्धित अथवा दुर्गन्धयुक्त हो

जो जारिसीय मेत्ती केरइ सो होइ तारिसो चेव ।
वासिज्जइ च्छुरिया सा रिया वि कणयादिसंगेण ॥३४५॥

दृष्टान्तत्वेनोपन्यस्ता मृत्तिका छुरिका च । तथा चोक्तं सुरभिणा च द्रवेण इति ॥३४५॥

दुज्जणसंसग्गीए पजहदि णियगं गुणं खु सुजणो वि ।
सीयलभावं उदयं जह पजहदि अग्गिजोएण ॥३४६॥

'दुज्जणसंसग्गीए' दुष्टजनसंसर्गेण । **'पजहदि णियगं गुणं खु सुजणो वि'** विजहाति स्वगुणं सुजनोऽपि । **'सीयलभावं जहा उदकं पजहदि'** शैत्य भाव यथा जहात्युदकं । **'अग्गिजोएण'** अग्निसम्बन्धेन । साधुः स्वगुणं जहात्यनलसम्बद्धजलमिवेति सहजगुणत्यागे दृष्टान्तः ॥३४६॥

अशोभनगुणेन संसर्गात् तद्वत् स्वयमप्यशोभनगुणो भवतीति कथयति—

सुजणो वि होइ लहुओ दुज्जणसंमेलणाए दोसेण ।
माला वि मोल्लगरुया होदि लहू मडयसंसिट्ठा ॥३४७॥

'सुजणो वि होइ लहुओ' सुजनोऽपि भवति लघु । **'दुज्जणसंमेलणाए दोसेण'** दुर्जनगोष्ठीदोषेण । **मालावि मोल्लगरुया'** मालापि सुमनसा मौल्येन लघ्वी । **'होइ'** भवति । **'मडयसंसिट्ठा'** मृतकस्य संश्लिष्टा ॥३४७॥

अदुष्टोऽपि दुष्ट इति शङ्क्यते यति पार्श्वस्थादिगोष्ठ्या इत्येतद्दृष्टान्तेनाचष्टे—

दुज्जणसंसग्गीए संकिज्जदि संजदो वि दोसेण ।
पाणागारे दुद्धं पियंतओ बंभणो चेव ॥३४८॥

दुज्जणसंसग्गीए इति स्पष्टार्था गाथा ॥३४८॥

जाती है तो संसर्गसे पुरुष पार्श्वस्थ आदिके गुणोंसे तन्मय क्यों न होगा ? ॥३४४॥

गा०—जो जिस प्रकारकी वस्तुसे मैत्री करता है वह वैसा ही हो जाता है । स्वर्ण आदिके संसर्गसे लोहेकी छुरी भी उसी रूप हो जाती है ॥३४५॥

गा०—दुष्टजनके संसर्गसे सज्जन भी अपना गुण छोड़ देता है । जैसे आगके सम्बन्धसे जल अपने शीतल स्वभावको छोड देता है । आगके सम्बन्धसे जलकी तरह साधु भी अपना गुण छोड़ देता है । यह स्वाभाविक गुणके त्यागमे दृष्टान्त है ॥३४६॥

अशोभनीय गुण वाले मनुष्यके संसर्गसे मनुष्य उसीकी तरह स्वयं भी अशोभनीय गुणवाला हो जाता है, यह कहते हैं—

गा०—दुर्जनोंकी गोष्ठीके दोषसे सज्जन भी अपना बड़प्पन खो देता है । फूलोंकी कीमती माला भी मुर्दे पर डालनेसे अपना मूल्य खो देती है ॥३४७॥

पार्श्वस्थ आदिके साथ संसर्ग करनेसे अच्छे भी यतिको लोग बुरा होनेकी शंका करते हैं, यह दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

गा०—दुर्जनके संसर्गसे लोग संयमीके भी सदोष होनेकी शंका करते हैं। जैसे मद्यालयमें बैठकर दूध पीने वाले ब्राह्मणके भी मद्यपायी होनेकी शंका करते हैं ॥३४८॥

परदोसगहणलिच्छो परिवादरदो जणो खु उस्सूणं ।
दोसत्थाणं परिहरह तेण जणजंपणोगासं ॥३४९॥

'परदोसगहणलिच्छो' परदोषग्रहणेच्छावान् । 'परिवादरदो' परोक्षे परदोषवचनें रत. । 'जणो' जनः । 'उस्सूणं खु' नितरामेव । तेण दोसत्थाणं परिहरह' तेन दोषस्थानपरिहार कुरुत । 'जणजंपणोगासं' जन-जल्पनावकाशं ॥३४९॥

दुर्जनगोष्ठी अनर्थमावहत्यैहलौकिकमित्येतत्कथयति—

अदिसंजदो वि दुज्जणकएण दोसेण पाउणइ दोसं ।
जह घूगकए नोसे हंसो य हओ अपावो वि ॥३५०॥

अदिसंजदो वि इत्यनया । अतीव सयतोऽपि दुर्जनकृतेन दोषेण प्राप्नोति । 'दोसं' अनर्थं । यथोलूक-कृतदोषनिमित्तं अपापोऽपि हंसो हतः ॥३५०॥

दुर्जनगोष्ठ्या दोषान्तरमाचष्टे—

दुज्जणसंसग्गीए वि भाविदो सुयणमज्झयारम्मि ।
ण रमदि रमदि य दुज्जणमज्झे वेरग्गमवहाय ॥३५१॥

'दुज्जणसंसग्गीए वि भाविदो' दुर्जनगोष्ठ्या भावित. । 'सुजणमज्झयारम्मि' सुजनमध्ये । 'ण रमदि' न रमते । 'रमदि य दुज्जणमज्झे' रमते दुर्जनमध्ये । 'वेरग्गमवहाय' वैराग्य परित्यज्य ॥३५१॥

सुजनसमाश्रयणे गुणख्यापनायोत्तरसूत्राणि—

जहदि य णियय दोसं पि दुज्जणो सुयणवइयरगुणेण ।
जह मेरुमल्लियंतो काओ णिययच्छविं जहदि ॥३५२॥

'जहदि य' जहाति निजमपि दोषं दुर्जन: सुजनमिश्रगुणेन । यथा मेरुसमाश्रयणे काको जहाति सहजा-

---

गा०—लोग दूसरोके दोषोंको पकडनेके इच्छुक होते है और परोक्षमें दूसरोके दोषोंको कहनेमें रस लेते हैं । इसलिए जो दोषोंका स्थान है उससे अत्यन्त दूर रहो क्योंकि; ऐसा न करनेसे लोगोंको अपवाद करनेका अवसर मिल जाता है ॥३४९॥

'दुर्जनोंकी संगति अनर्थकारी है यह एक लोक प्रचलित कथाके द्वारा कहते हैं—

गा०—महान् संयमी भी दुर्जनके द्वारा किए गये दोषसे अनर्थका भागी होता है । जैसे उल्लूके द्वारा किए गये दोषके लिए निर्दोष भी हंस मारा गया ॥३५०॥

दुर्जनोंकी संगतिका अन्य दोष कहते हैं—

गा०—दुर्जनोंकी संगतिसे प्रभावित मनुष्यको सज्जनोंका सत्संग रुचिकर नहीं लगता । वह वैराग्यको त्यागकर दुर्जनोंमें ही रमता है ॥३५१॥

सज्जनोंके सत्संगमें गुणोंका कथन आगेकी गाथाओंसे करते हैं—

गा०—सज्जनोंकी संगतिके गुणसे दुर्जन अपना दोष भी छोड़ देता है । जैसे सुमेरु पर्वतका

मपि छायामशोभनां तद्वत् । सन्तोऽपि दोषा नश्यन्ति सुजनाश्रयेण ततस्ते समाश्रयणीया इति भावः ॥३५२॥

सुजनसमाश्रयणे अभ्युदयफलं, पूजालाभं कथयति गाथा—

कुसुममगंधमवि जहा देवयसेसत्ति कीरदे सीसे ।
तह सुयणमज्झवासी वि दुज्जणो पूइओ होइ ॥३५३॥

कुसुममित्यादिका । यथा सौगन्ध्यरहितमपि कुसुमं देवताशेषेति क्रियते शिरसि तथा साधुजनमध्यवासी दुर्जनोऽपि पूजितो भवति ॥३५३॥

द्रव्यसंयमे वाक्कायनिमित्तास्रवनिरोधरूपे प्रवृत्तिगुण कथयति—

संविग्गाणं मज्झे अप्पियधम्मो वि कायरो वि णरो ।
उज्जमदि करणचरणे भावणभयमाणलज्जाहिं ॥३५४॥

संविग्गाणं मज्झे इत्यनया । संसारभीरूणां मध्ये वसन्नयद्यपि धर्मप्रियो न भवति । कातरश्च[1] दुःखे तथापि उद्युङ्क्ते पापक्रियानिवृत्तौ भावनया, भयेन, मानेन, लज्जया च ॥३५४॥

ससारभीरोरपि यते सुजनसमाश्रयणेन गुणमभिदधाति—

संविग्गोवि य संविग्गदरो संवेगमज्झयारम्मि ।
होइ जह गंधजुत्ती पयडिसुरभिदव्वसंजोए ॥३५५॥

संविग्गोऽपि इत्यनया । प्रागपि ससारभीरुर्जन मविग्नमध्यनिवासी संविग्नतरो भवति । यथा गन्धयुक्तिः कृतको गन्ध प्रकृतिसुरभिद्रव्यगन्धसंसर्गे सुरभितरो भवति ॥३५५॥

आश्रय लेने पर कौवा अपनी असुन्दर छविको छोड देता है । इसका भाव यह है कि सज्जनोंकी सत्संगतिसे विद्यमान भी दोष नष्ट हो जाते हैं अतः सज्जनोंका आश्रय लेना चाहिए ॥३५२॥

सज्जनोका आश्रय लेने पर अभ्युदय रूप फल और पूजाका लाभ होता है, यह कहते है—

गा०—जैसे सुगन्धसे रहित भी फूल 'यह देवताका आशीर्वाद है' ऐसा मानकर सिर पर धारण किया जाता है उसी प्रकार सुजनोके मध्यमे रहने वाला दुर्जन भी पूजित होता है ॥३५३॥

वचन और कायके निमित्तसे होने वाले आश्रवके रोकनेको द्रव्य संयम कहते है । उस द्रव्य संयममें प्रवृत्तिका लाभ कहते हैं—

गा०—जिसको धर्मसे प्रेम नही है तथा जो दुःखसे डरता है वह मनुष्य भी संसार भीरु यतियोंके मध्यमें रहकर भावना, भय, मान और लज्जासे पापके कार्योंसे निवृत्त होनेका उद्योग करता है ॥३५४॥

संसारसे भीत यति भी सज्जनोंका सत्सग करनेसे लाभान्वित होता है यह कहते है—

गा०—जो मनुष्य पहलेसे ही संसारसे विरक्त है वह विरागियोंके मध्यमें रहकर और भी अधिक विरागी हो जाता है । जैसे बनावटी गन्धसे युक्त द्रव्य स्वभावसे ही सुगन्धित द्रव्यकी गन्धके संसर्गसे और भी अधिक सुगन्धित हो जाता है ॥३५५॥

---

१. श्चदुःखे आ० । -श्चाभक्षौ भा० ।

बहुव इत्येतावता चारित्रक्षुद्रा न भवद्भिः समाश्रयणीयाः एक इति वा न सुगुणः परिहार्य इत्येतदाचष्टे—

पासत्थसदसहस्सादो वि सुसीलो वरं खु एक्को वि ।
जं संसिदस्स सीलं दंसणणाणचरणाणि वड्ढंति ॥३५६॥

'**पासत्थसदसहस्सादो वि**' पार्श्वस्थग्रहणं चारित्रक्षुद्रोपलक्षणार्थं । चारित्रक्षुद्राच्छतसहस्रादपि एकोऽपि सुशीलो वरम् । य संयममाश्रितस्य शील, दर्शन, ज्ञान, चारित्रं च वर्द्धते, स भवद्भिराश्रयणीय इति भावार्थ. ॥३५६॥

संजदजणावमाणं पि वर खु दुज्जणकदादु पूजादो ।
सीलविणासं दुज्जणसंसग्गी कुणदि ण दु इदरं ॥३५७॥

संयता परिभवन्ति माम सुचरित तत पार्श्वस्थादीनेवाश्रयामि इति न चेत कार्यमित्याचष्टे—'**संजदजणावमाणं पि वरं**' संयतजनापमानमपि वर । '**दुज्जणकदादु पूजादो**' दुर्जनकृताया पूजाया । कथ ? '**दुज्जणसंसग्गी सीलविणासं कुणदि**' दुर्जनसंसर्ग शीलविनाशं करोति । '**ण दु इदरं**' न तु इतरं । संयतजनावमान तु नैव शीलविनाश करोति ॥३५७॥

प्रस्तुतोपसंहारगाथा—

आसयवसेण एवं पुरिसा दोसं गुणं व पावंति ।
तम्हा पसत्थगुणमेव आसयं अल्लिएज्जाह ॥३५८॥

'**आसयवसेण**' आश्रयवशेन । एवमुक्तेन क्रमेण । '**पुरिसा दोसं गुणं व पावंति**' पुरुषा दोषं गुणं वा प्राप्नुवन्ति । '**तम्हा पसत्थगुणमेव आसयं अल्लिएज्जाह**' तस्मात् प्रशस्तगुणमेव आश्रय आश्रयेत् ॥३५८॥

चारित्रमे क्षुद्र यति बहुत भी हो तो आपको उनका सग नही करना चाहिए। और गुणशाली एक हो तो उसकी उपेक्षा नही करना चाहिए यह कहते हैं—

गा०—पार्श्वस्थ अर्थात् चारित्रमें क्षुद्र यति लाख भी हो तो उनसे एक भी सुशील यति श्रेष्ठ है जो अपने संगीके शील, दर्शन, ज्ञान और चारित्रको बढाता है। आपको उसीका आश्रय लेना चाहिए। गाथामें आगत 'पार्श्वस्थ' शब्द जो चारित्रमें क्षुद्र है उन सबके उपलक्षणके लिए है ॥३५६॥

गा०—संयमीजन मुझ चारित्रहीनका तिरस्कार करते हैं अतः मै पार्श्वस्थ आदि चारित्रहीन मुनियोके ही पास रहूँ। ऐसा मनमे विचार नही करना चाहिए; क्योंकि दुर्जनके द्वारा की गई पूजासे संयमीजनोके द्वारा किया गया अपमान श्रेष्ठ है। इसका कारण यह है कि दुर्जनका ससर्ग शीलका नाशक है किन्तु संयमीजनो द्वारा किया गया अपमान शीलका नाशक नहीं है ॥३५७॥

प्रस्तुत चर्चाका उपसंहार करते है—

गा०—उक्त प्रकारसे अच्छे बुरे आश्रयके कारण पुरुष दोष और गुणको प्राप्त करते हैं। इसलिए प्रशस्त गुणयुक्त आश्रयका ही आश्रय लेना चाहिए ॥३५८॥

पत्थं हिदयाणिट्ठं पि भण्णमाणस्स सगणवासिस्स ।
कडुगं व ओसहं तं महुरविवायं हवइ तस्स ॥३५९॥

'पत्थं हिदयाणिट्ठं पि भण्णमाणस्स सगणवासिस्स' पथ्यं हित हृदयस्य अनिष्टमपि वदत आत्मीयगणे वसतः । 'कडुगं व ओसहं तं महुरविवायं हवइ तस्स' 'कटुकमौषधमिवापि तन्मधुरविपाक भवति । तस्य परस्य अनिष्टेन कथितेन किमस्माकं स्वं प्रयोजनम् । किन्न वेत्ति स्वयं इति नोपेक्षितव्यम् । परोपकारः कार्य एवेति कथयति । तथाहि—तीर्थकृत. विनेयजनसंबोधनार्थं एव तीर्थविहार कुर्वन्ति । महत्ता नामैव यत्—परोपकारावद्धपरिकरता । तथा चोक्तं—

क्षुद्राः संति सहस्रशः स्वभरणव्यापारमात्रोद्यता ।
स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणी ॥
दुष्पूरोदरपूरणाय पिबति स्रोतःपतिं वाडवो ।
जीमूतस्तु निदाघसंभृतजगत्संतापविच्छित्तये ॥ [ ] ॥३५९॥

इतरेणापि श्रवणयोरनिष्टमपि तद्ग्राह्य इति कथयति—

पत्थं हिदयाणिट्ठं पि भण्णमाणं णरेण घेत्तव्वं ।
पेल्लेदूण वि छूढं बालस्स घदं व तं खु हिदं ॥३६०॥

हृदयस्यानिष्टमपि पथ्य नरेण बुद्धिमता ग्राह्यं हित इति चेतो निधाय । 'पेल्लेदूण वि छूढं' अवष्टभ्यापि प्रवेशित घृतं बालाना हित भवति यथा तद्वदिति यावत् ॥३६०॥

अप्पपसंसं परिहरह सदा मा होह जसविणासयरा ।
अप्पाणं थोवंतो तणलहुहो होदि हु जणम्मि ॥३६१॥

गा०—टी०—अपने गणके वासी साधुको हितकारी किन्तु हृदयको अनिष्ट भी लगनेवाले वचन बोलना चाहिए, क्योंकि वे वचन कड़ुवी औषधीकी तरह उसके लिए मधुर फलदायक होते है। दूसरेको अनिष्टवचन बोलनेसे हमारा अपना क्या प्रयोजन है, क्या वह स्वयं नही जानता। ऐसा मान उसकी उपेक्षा नही करना चाहिए। परोपकार करना ही चाहिए। जैसे तीर्थंकर शिष्यजनोंके सम्बोधनके लिए ही विहार करते हैं। महत्ता नाम इसीका है कि परोपकार करनेमें तत्पर रहना। कहा भी है—

'अपने ही भरण-पोषणमें लगे रहनेवाले क्षुद्रजन तो हजारों है किन्तु परोपकार ही जिसका स्वार्थ है ऐसा पुरुष सज्जनोंमें अग्रणी विरल ही होता है। बड़वानल अपना कभी न भरनेवाला पेट भरनेके लिए समुद्रका जल पीता है। किन्तु मेघ ग्रीष्मसे सतप्त जगत्के सन्तापको दूर करनेके लिए समुद्रका जल पीता है ॥३५९॥

आगे कहते हैं कि कानोंको अप्रिय भी गुरुका वचन ग्रहण करना चाहिए—

गा०—हृदयको अनिष्ट भी वचन गुरुके द्वारा कहे जाने पर मनुष्यको पथ्य रूपसे ग्रहण करना चाहिए। जैसे बच्चेको जबरदस्ती मुँह खोलकर पिलाया गया घी हितकारी होता है उसी तरह वह वचन भी हितकारी होता है ॥३६०॥

'अप्पपसंसं परिहरह' आत्मप्रशंसां त्यजत सदा। 'मा होह' मा भवत। 'जसविणासयरा' यशसा विनाशका। सद्भिर्गुणै प्रख्यातमपि यशो भवतां नश्यति आत्मप्रशंसया। 'अप्पाणं थोवंतो' आत्मानं स्तुवन्। 'तणलहुओ होदि हु जणम्मि' तृणवल्लघुर्भवति सुजनमध्ये ॥३६१॥

संता वि गुणा कत्थंतयस्स णस्संति कंजिए व सुरा।
सो चेव हवदि दोसा जं सो थोएदि अप्पाणं ॥३६२॥

संता वि विद्यमाना अपि 'कथंतयस्स' ममैते गुणा इति कथयतः। 'गुणा णस्संति' गुणा नश्यन्ति। कंजिएव सुरा सौवीरेण सुरेव। 'सो चेव हवइ दोसो' स एव भवति दोषः। 'जं सो थोएदि अप्पाणं' यदात्मानं स्तौति स. ॥३६२॥

स्वगुणस्तवनाकरणे यदि ते नश्यन्ति तर्हि स्तोतव्या स्युर्न तथा नश्यन्ति इत्याचष्टे—

संता हि गुणा अकहिंतयस्स पुरिसस्स ण वि य णस्संति।
अकहिंतस्स वि[1] जह गहवइणो जगविस्सुदो तेजो ॥३६३॥

संता विद्यमाना अपि। 'अकहिंतयस्स' अभाषमाणस्य। 'पुरिसस्स' पुरुषस्य। 'गुणा ण वि य णस्संति' नैव नश्यन्ति। यदि न स्वयं स्तौति स्वगुणान्न प्रख्यातिमुपयान्तीत्येतच्च नेति वदति। 'अकहिंतस्स वि' अस्तुवतोऽपि 'गहवइणो' ग्रहपते आदित्य[2]स्य 'जगविस्सुदो तेजो' जगति विश्रुतं तेजः ॥३६३॥

आत्मन्यसतां गुणानां उत्पादकं स्तवनमिति[3] च न युज्यत इत्याह—

गा०—अपनी प्रशंसा करना सदाके लिए छोड दो। अपने यशको नष्ट मत करो क्योंकि समीचीन गुणोके कारण फैला हुआ भी आपका यश अपनी प्रशंसा करनेसे नष्ट होता है। जो अपनी प्रशंशा करता है वह सज्जनोके मध्यमे तृणकी तरह लघु होता है ॥३६१॥

गा०—'मेरेमे ये ये गुण है' ऐसा कहने वालेमे विद्यमान भी गुण उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे कांजीके पीनेसे मदिराका नशा नष्ट हो जाता है। वह जो अपनी प्रशंसा करता है यही उसका दोष है ॥३६२॥

आगे कहते हैं कि अपने गुणोकी प्रशंसा न करनेसे यदि वे गुण नष्ट होते हों तो उनकी प्रशंसा करना उचित है किन्तु वे नष्ट नही होते—

गा०—जो पुरुष अपने गुणोकी प्रशंसा स्वयं नही करता उसके विद्यमान गुण नष्ट नही होते। यदि वह अपने गुणोंको प्रशंसा नही करता तो उसके गुणोकी प्रख्याति नही होती, ऐसी बात नही है। सूर्य अपने गुणोको स्वयं नही कहता। फिर भी उसका प्रताप जगत्मे प्रसिद्ध है ॥३६३॥

आगे कहते है कि अपनी प्रशंसा करनेसे अपनेमें अविद्यमान भी गुण प्रकट होते हैं ऐसा कहना युक्त नही है—

---

१ वि गहवइणो णो जगविस्सदो–आ०। २. त्यस्य णो जग विस्सुवो तेजो न जगति विश्रुत तेजः–आ० मु०। ३ ति वचन–आ० मु०।

ण य जायंति असंता गुणा विकत्थंतयस्स पुरिसस्स ।
घंति हु महिलायंतो व पंडवो पंडवो चेव ॥३६४॥

'ण य जायंति असंता गुणा' नैवोत्पद्यन्ते असंतो गुणा. । **विकत्थंतयस्स** स्तुवत । **'घंति'** नितरां **'महिलायंतो व'** वामलोचनेव आचरन्नपि । **'पंडगो पंडगो चेव'** पंढ एव भवति न युवतिः ॥३६४॥

संतं सगुणं किंत्तिज्जंतं सुजणो जणम्मि सोदूण ।
लज्जदि किह पुण सयमेव अप्पगुणकित्तणं कुज्जा ॥३६५॥

'संतं सगुणं कित्तिज्जंतं' विद्यमानमपि स्वगुणं कीर्त्यमान । **'सुजणो जणम्मि सोदूण'** साधुजनस्य मध्ये श्रुत्वा । **'लज्जइ'** व्रीडामुपैति । **'किह पुण'** कथं पुन **'सयमेव अप्पगुणकित्तणं कुज्जा'** स्वयमेवात्मनो गुणकीर्तनं कुर्यात् ॥३६५॥

स्वगुणासंकीर्तने गुणमाचष्टे—

अविकत्थंतो अगुणो वि होइ सगुणो व सुजणमज्झम्मि ।
सो चेव होदि हु गुणो जं अप्पाणं ण थोएइ ॥३६६॥

'अविकत्थंतो अगुणो वि होइ' अकीर्तयन् स्वयमगुणोऽपि भवति । **'सगुणो व'** गुणवानिव । **'सुजणमज्झम्मि'** सुजनमध्ये । परस्परव्याहतमिदं वच 'अगुणस्स गुण' इति एतस्यामाशंकायामाह—**'सो चेव होदि गुणो'** स एव गुणो भवति । **'जं अप्पाणं ण थोएदि'** यदात्मान न स्तौति । समीचीनज्ञानदर्शनादिगुणाभावान्निर्गुणः, आत्मप्रशंसाऽकरणगुणेन गुणवानिति भावार्थ ।

> **यदि सन्ति गुणास्तस्य निकषे सन्ति ते स्वयम् ।**
> **न हि कस्तूरिकागन्धः शपथेन विभाव्यते ॥** [ ] ॥३६६॥

वायाए जं कहणं गुणाण तं णासणं हवे तेसिं ।
होदि हु चरिदेण गुणाणकहणमुब्भासणं तेसिं ॥३६७॥

गा०—अपने गुणोकी प्रशंसा करने वाले पुरुषमे अविद्यमान गुण प्रशंसा करनेसे उत्पन्न नही होते । स्त्रीकी तरह खूब हाव-भाव करने पर भी नपुसक नपुंसक ही रहता है, युवति नही बन जाता ॥३६४॥

गा०—सज्जन मनुष्योंके बीचमे अपने विद्यमान भी गुणकी प्रशंसा सुनकर लज्जित होता है । तब वह स्वयं ही अपने गुणोंकी प्रशंसा कैसे कर सकता है ॥३६५॥

अपने गुणोंकी प्रशंसा न करनेके गुण कहते है—

गा०—अपनी प्रशंसा न करनेवाला स्वयं गुणरहित होते हुए भी सज्जनोंके मध्यमें गुणवान्‌की तरह होता है । गुणरहितको गुणवान कहना तो परस्पर विरुद्ध है, ऐसी आशंका करनेपर कहते है—वह जो अपनी प्रशंसा नहीं करता यही उसका गुण है । भावार्थ यह है कि सम्यग्ज्ञान-दर्शन आदि गुणोंका अभाव होनेसे वह गुणरहित है किन्तु अपनी प्रशंसा न करनेके गुणसे गुणवान् है । 'यदि उसमें गुण हैं तो वे स्वयं कसौटीपर कसे जायेंगे । कस्तूरीकी गन्धके लिए शपथ करना नहीं होता ॥३६६॥

'वायाए जं कहणं' वाचा गुणानां यत्कथन । 'तं णासणं हवे तेसिं' तन्नाशनं भवेत्तेषां गुणानां । 'चरिदेहिं गुणाण कहणं' चरितैरेव गुणानां कथनं 'तेसिमुब्भासणं होइ' गुणानां प्रकटनं भवति । एतदुक्तं भवति—गुणाम्प्रकटयितुकामस्य यद्वाचा कथनं गुणेष्वात्मन प्रवृत्तिरेव गुणप्रकाशन इति ॥३६७॥

¹चरितेन गुणप्रकाशनस्य माहात्म्यं कथयति—

²वायाए अकहेंता सुजणे विकतहेंया य चरिदेहिं ।
सगुणे पुरिसाण पुरिसा होंति उवरीव लोगम्मि ॥३६८॥

'वायाए अकहिंता' वाचया अकथयन्त । 'सुजणे' साधुजनमध्ये । 'चरिदेहिं विकहितगा य' चरितै. प्रतिपादयन्त । 'सगुणे' आत्मीयान्गुणान् । 'पुरिसाण पुरिसा लोगम्मि उवरीव होंति' पुरुषाणामुपरीव भवन्ति पुरुषा लोके ॥३६८॥

सगुणम्मि जणे सगुणो वि होइ लहुगो णरो विकत्थितो ।
सगुणो वा अकहिंतो वायाए होंति अगुणेसु ॥३६९॥

'सगुणम्मि जणे' गुणवति जने । 'सगुणो वि णरो' गुणवानपि नर । 'लहुगो होवि' लघुर्भवति । क' ? 'सगुणं णरो विकत्थतो' स्वगुण नरो वाचा निरूपयन् । किमिव 'सगुणो वा' गुणवानिव । 'वाचा अकत्थेंतो' वचनेन अप्रकटयन् । 'अगुणेसु' निर्गुणमध्ये ॥३६९॥

चरिएहिं कत्थमाणो सगुणं सगुणेसु सोभदे सगुणो ।
वायाए विकहिंतो अगुणो व जणम्मि अगुणम्मि ॥३७०॥

'चरिएहिं कत्थमाणो' चरितैरेव प्रकटयन् । किं 'सगुणं' स्वगुण । 'सगुणो सोभदे' गुणवान् जनः शोभते । क्व 'सगुणेसु' गुणवत्सु । किमिव 'वायाए विकथतो' वचसा ब्रुवन् । 'अगुणोव्व' निर्गुण इव । 'अगुणम्मि' निर्गुणमध्ये ॥३७०॥

गा०—वचनसे गुणोको कहना उनका नाश करना है। और आचरणसे गुणोका कथन उनको प्रकट करना है। अभिप्राय यह है कि जो गुणोको प्रकट करना चाहता है उसे वचनसे न कहकर गुणोमे अपनी प्रवृत्तिसे ही गुणोका प्रकाशन करना चाहिए ॥३६७॥

अपने आचरणमे गुणोको प्रकट करनेका माहात्म्य कहते है—

गा०—जो वचनसे न कहकर साधुजनके मध्यमे अपने आचरणसे अपने गुणोको कहते है पुरुष लोकमे सब पुरुषोसे ऊपर होते है ॥३६८॥

गा०—गुणवान पुरुषोमे गुणवान भी मनुष्य यदि अपने गुणोको कहता है सो लघु होता है। जैसे निर्गुणोके मध्यमे अपने गुणोको न कहने वाला गुणवान होता है ॥३६९॥

गा०—गुणवानोमे गुणवान मनुष्य अपने गुणको अपने आचरणसे प्रकट करता हुआ ही शोभता है। जैसे निर्गुण मनुष्योमे निर्गुण मनुष्य वचनसे अपने गुणोको कहता हुआ शोभित होता है ॥३७०॥

---

१. नेय उत्थानिका । —आ० मु० ।

२ 'वायाए अकहिता सुजणे वरिदेहिं कहगगा होंति ।
विकहितगा य सगुणे पुरिसा लोगम्मि उवरीव ॥' —आ० मु० ।

सगणे व परगणे वा परपरिपवादं च मा करेज्जाह ।
अच्चासादणविरदा होह सदा वज्जभीरू य ॥३७१॥

'**सगणे व परगणे वा परपरिवादं च मा करेज्जाह**' आत्मीये गणे परगणे वा परापवादं मा कृथाः । '**अच्चासादणविरदा य होह**' अत्यासादनतो विरता भवत । '**सदा वज्जभीरू य**' पापभीरवश्च भवत ॥३७१॥

परनिन्दया दोषमाचष्टे—

आयासवेरभयदुक्खसोयलहुगत्तणाणि य करेइ ।
परणिंदा वि हु पावा दोहग्गकरी सुयणवेसा ॥३७२॥

स्पष्टार्था गाथा ॥३७२॥

परनिन्दा किमर्थं क्रियते गुणित्वे स्थापयितुमात्मानमिति चेत्, तन्निराकरोति—

किच्चा परस्स णिंदं जो अप्पाणं ठवेदुमिच्छेज्ज ।
सो इच्छदि आरोग्गं परम्मि कडुओसहे पीए ॥३७३॥

'**किच्चा परस्स णिंदं**' परनिन्दां कृत्वा । '**जो अप्पाणं ठवेदुमिच्छेज्ज**' य आत्मानं गुणितायां स्थापयितुमिच्छेत् । '**सो इच्छदि**' स वाञ्छति । किं '**आरोग्गं**' नीरोगता । '**परम्मि कडुओसधे पीदे**' कटुकौषधपायिन्यस्मिन् ॥३७२॥

सत्पुरुषक्रमं व्याचष्टे—

दट्ठूण अण्णदोसं सप्पुरिसो लज्जिओ सयं होइ ।
रक्खइ य सयं दोसंव तयं जणजंपणभएण ॥३७४॥

'**दट्ठूण अण्णदोसं**' अन्यस्य दोषं दृष्ट्वा । '**सप्पुरिसो लज्जिओ सयं होदि**' सत्पुरुषः स्वयं लज्जामुपैति । '**रक्खइ सयं दोसं व**' स्वदोषमिव च रक्षति । '**जणजंपणभयेण**' जननिन्दाभयेन ॥३७४॥

गा० अपने गणमें अथवा दूसरे गणमें दूसरोकी निन्दा नही करना चाहिये । तथा अति आसादनासे विरत रहो और सदा पापसे डरो ॥३७१॥

पर निन्दाका दोष कहते हैं—

गा०—परनिन्दा आयास, वैर, भय, दुःख, शोक और लघुताको करती है पापरूप है, दुर्भाग्यको लाती है और सज्जनोंको अप्रिय है ॥३७२॥

जो कहते हैं कि अपनेको गुणी कहलानेके लिये परनिन्दा की जाती हैं उनका निराकरण करते हैं—

गा०—जो परकी निन्दा करके अपनेको गुणी कहलानेकी इच्छा करता है वह दूसरेके द्वारा कडुवी औषधी पीनेपर अपनी नीरोगता चाहता है । अर्थात् जैसे दूसरेके औषधी पीनेपर आप नीरोग नहीं हो सकता । वैसे ही दूसरेकी निन्दा करके कोई स्वयं गुणी नहीं बन सकता ॥३७३॥

गा०—सत्पुरुष दूसरोंके दोष देखकर स्वय लज्जित होता है । लोकापवादके भयसे वह अपनी तरह दूसरोंके भी दोषोंको छिपाता है ॥३७४॥

अप्पो वि परस्स गुणो सप्पुरिसं पप्प बहुदरो होदि ।
उदए व तेल्लबिंदू किह सो जंपिहिदि परदोसं ॥३७५॥

'अप्पो वि परस्स गुणो' परस्य गुण स्वल्पोऽपि । 'सप्पुरिसं पप्प' सत्पुरुषं प्राप्य । 'बहुदरो होइ' अतिमहान् भवति । 'उदए व तेल्लबिन्दू' उदके तैलबिन्दुरिव । 'किह सो जंपिहिदि परदोसं' कथमसौ इत्थंभूतः जल्पति परस्य दोषं ॥३७५॥

एसो सव्वसमासो तह जतह जह हवेज्ज सुजणम्मि ।
तुज्झं गुणेहिं जणिदा सव्वत्थ वि विस्सुदा कित्ती ॥३७६॥

'एसो सव्वसमासो' एष सर्वस्योपदेशस्य संक्षेप । 'तह जतह' तथा यतध्वं । 'जह हवेज्ज सुजणम्मि' यथा भवेत्सुजने । 'तुज्झं गुणेहिं जणिदा सव्वत्थ वि विस्सुदा कित्ती' युष्माक गुणैर्जनिता सर्वत्रापि विश्रुता कीर्तिः ॥३७६॥

कासौ संयतानां कीर्तिरिति शकायामुच्यते—

एस अखंडियसीलो बहुस्सुदो य अपरोवतावी य ।
चरणगुणसुट्ठिदोत्तिय धण्णस्स खु घोसणा भमदि ॥३७७॥

'एस अखंडियसीलो' एष अखण्डितसमाधि. । 'बहुस्सुदो य' बहुश्रुतश्च । 'अपरोवतावी य' अपरोपता[1]-पकारी च । 'चरणगुणसुट्ठिदोत्ति य' सुचारित्रगुणे सुस्थित इति । 'धण्णस्स खु' पुण्यवत. । 'घोसणा भम'इ' यशो विचरति ॥३७७॥

एवं गुरूपदेशं श्रुत्वा गणः—

बाढत्ति भाणिदूणं एदं णो मंगलेत्ति य गणो सो ।
गुरुगुणपरिणदभावो आणंदंसुं णिवाणेइ ॥३७८॥

'बाढत्ति भाणिदूण' बाढमित्युक्त्वा । 'एद णो मंगलोत्ति य' एतद्भवता वचन अस्माकं मगलं नितरा इत्युक्त्वा । 'गुरुगुणपरिणदभावो' गुरोर्गुणेषु परिणतचित्त । 'आणंदसुं णिवाडेइ' आनन्दाश्रु निपात-

गा०—दूसरेका छोटासा भी गुण सत्पुरुषको पाकर अतिमहान हो जाता है। जैसे तेलकी बूँद पानीमें फैलकर महान हो जाती है। तब वह सत्पुरुष दूसरेके दोषको कैसे कह सकता है ॥३७५॥

गा०—यह समस्त उपदेश का सार है। ऐसा यत्न करो जिससे सज्जनोमें तुम्हारे गुणोसे उत्पन्न हुई कीर्ति सर्वत्र फैले ॥३७६॥

संयमी जनोंकी वह कीर्ति क्या है, यह बतलाते हैं—

गा०—यह साधु अखण्डित समाधिके धारी हैं, बहुश्रुत हैं, दूसरोको कष्ट नहीं देते, और चारित्रगुणमें अच्छी तरह स्थित हैं। पुण्यशालीका यह यश सर्वत्र फैलता है ॥३७७॥

गा०—इस प्रकार गुरुका उपदेश सुनकर संघ 'हमे स्वीकार है' ऐसा कहकर आपके ये वचन हमारे लिये अत्यन्त मंगल कारक है ऐसा कहता है। तथा गुरुके गुणोंमें मन लगाकर

१. ताप इव कारी। —आ०। २ चरइ। —अ० आ०।

यान्ति ॥३७८॥

भगवं अणुग्गहो मे जं तु सदेहोव्व पालिदा अम्हे ।
सारणवारणपडिचोदणाओ धण्णा हु पावेंति ॥३७९॥

'भगवं अणुग्गहो मे' भगवन्ननुग्रहोऽस्माकं । 'जं तु सदेहोव्व पालिदा अम्हे' यत्त्वच्छरीरमिव पालिता वयम् । 'सारणवारणपडिचोदणाओ' एवं कुरुत, 'मैवं कृथा' इति शिक्षा । 'धण्णा हु पावेंति' धन्या' प्राप्नुवन्ति ॥३७९॥

अम्हे वि खमावेमो जं अण्णाणा पमादरागेहिं ।
पडिलोमिदा य आणा हिदोवदेसं करिंताणं ॥३८०॥

'अम्हे वि खमावेमो' वयमपि क्षमा ग्राहयाम । 'अण्णाणा' अज्ञानात् । 'पमादरागेहिं' प्रमादाद्रागाच्च । 'जं पडिलोमिदा अम्हे' भवता प्रतिकूलवृत्तयो यद्वयं जाता. । 'आणाहिदोवदेसं करंताणं' आज्ञा हितोपदेशं कुर्वताम् ॥३८०॥

सहिदय सकण्णयाओ कदा सचक्खू य लद्धसिद्धिपहा ।
तुज्झ वियोगेण पुणो णट्ठदिसाओ भविस्सामो ॥३८१॥

'सहिदय सकण्णयाओ' सहृदया सकर्णकाश्च जाताः । 'कदा सचक्खू य' कृताः सलोचना' । 'लद्धसिद्धिपहा' लब्धसिद्धिमार्गा. । 'तुज्झ वियोगेण पुणो' भवद्भ्यो वियोगेन पुनः । 'णट्ठदिसाओ' नष्टदिक्काः । 'भविस्सामो' भविष्याम ॥३८१॥

सव्वजयजीवहिदए थेरे सव्वजगजीवणाथम्मि ।
पवसंते य मरंते देसा किर सुण्णया होंति ॥३८२॥

'सव्वजयजीवहिदगे' सर्वस्मिञ्जगति ये जीवा तेषा हिते । 'थेरे' ज्ञानतपोवृद्धे । 'सव्वजग जीव-

---

आनन्दके आँसू गिराता है ॥३७८॥

गा०—भगवन् ! आपका हमपर बड़ा अनुग्रह है। आपने अपने शरीरकी तरह हमारा पालन किया है। तथा 'यह करो' और 'यह मत करो' इत्यादि शिक्षा दी है। भाग्यशाली ही ऐसी शिक्षा प्राप्त करते हैं ॥३७९॥

गा०—आपकी आज्ञा और हितका उपदेश करनेपर हमने जो अज्ञान प्रमाद और रागवश उसके प्रतिकूल आचरण किया, उसके लिये हम भी आपसे क्षमा माँगते हैं ॥३८०॥

गा०—आपने हमें हृदय युक्त अर्थात् विचारशील बनाया। हमें सकर्ण बनाया अर्थात् आपके उपदेश सुनकर कानोंका फल प्राप्त किया। आपने हमें आँखें प्रदान की अर्थात् हमें शास्त्र स्वाध्यायमें लगाया। तथा आपके प्रसादसे हमने मोक्षका मार्ग प्राप्त किया। अब आपके वियोगसे हम दिशाहीन हो जायेंगे। हमें कोई मार्ग दिखाने वाला नहीं रहेगा ॥३८१॥

गा०—समस्त जगत्के जीवोंका हित करने वाले, ज्ञान और तपसे वृद्ध तथा समस्त जगत्

---

१. मा कुरुत मु० ।

णाथम्मि' सर्वजगतो जीवानां नाथे। 'पवसंते य मरंते' प्रवासं मृतिं वा प्रतिपद्यमाने। 'देसा किर सुण्णया होंति' देशाः किल शून्या भवन्ति ॥३८२॥

सव्वजयजीवहिदए थेरे सव्वजगजीवणाथम्मि।
पवसंते य मरंते होदि हु देसोंधयारोव्व ॥३८३॥
सीलड्ढगुणड्ढेहिं दु बहुस्सुदेहिं अवरोवतावीहिं।
पवसंते य मरंते देसा ओखंडिया होंति ॥३८४॥

'सीलड्ढगुणड्ढेहिं दु बहुस्सुदेहिं अवरोवतावीहिं' शीलाढ्यैर्बहुश्रुतैः अपरोपतापिभि। 'पवसंते य मरंते' मृतिं प्रवासं वा प्रतिपद्यमानैः। 'देसा ओखंडिया होंति' जनपदा अवखंडिता भवन्ति। गतार्थोत्तरा गाथा ॥३८४॥

सव्वस्स दायगाणं समसुहदुक्खाण णिप्पकंपाणं।
दुक्खं खु विसहिदुं जे चिरप्पवासो वरगुरूणं ॥३८५॥

'सव्वस्स दायगाणं' ज्ञानदर्शनचारित्रतपोदानोद्यताना। 'समसुहदुक्खाण' सुखदुःखयो समानाना। 'णिप्पकंपाणं' परीषहेभ्यो निश्चलाना। 'वरगुरूणं' महता गुरूणा। 'चिरप्पवासो' चिरकालप्रवासो वियोगः। 'दुक्खं खु विसहिदुं जे' सोढुमतीव दुष्करं ॥३८५॥

एव परिसमाप्य अनुशासनाधिकारं परगणचर्यां निरूपयति—

एवं आउच्छित्ता सगणं अब्भुज्जदं पविहरंतो।
आराधणाणिमित्तं परगणगमणे मइं कुणदि ॥३८६॥

'एवं आउच्छित्ता' आपृच्छ्य। 'सगणं' स्वगण। 'अब्भुज्जदं पविहरन्तो' प्रकर्षेण रत्नत्रये प्रवर्तमानः। 'आराहणाणिमित्तं' आराधनानिमित्त। 'परगणगमणे मइं कुणइ' परगणगमने मतिं करोति ॥३८६॥

के जीवोंके स्वामीके अन्यत्र चले जानेपर अथवा मरणको प्राप्त होनेपर देश शून्य हो जाते हैं ॥३८२॥

गा०—समस्त जगत्के जीवोंके हितकारी, ज्ञान और तपसे वृद्ध तथा सब जगत्के जीवोंके स्वामीके अन्यत्र चले जाने या मरणको प्राप्त होनेपर देशमें अन्धकार-सा छा जाता है ॥३८३॥

गा०—शीलसे सम्पन्न और गुणोंसे समृद्ध, बहुश्रुत तथा दूसरोंको सताप न देने वाले महर्षियोंके प्रवासमें जानेपर या मरणको प्राप्त होनेपर सब देश उजाड़ सा प्रतीत होते हैं ॥३८४॥

गा०—जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपका दान करनेमें तत्पर रहते हैं, सुख और दुःख में समभाव रखते हैं तथा परीषहोंसे विचलित नहीं होते उन महान् गुरुओंके वियोगका दुःख सहना अति कठिन है ॥३८५॥

इस प्रकार अनुशासन अधिकार को समाप्त करके परगणचर्याका कथन करते हैं—

गा०—इस प्रकार अपने गण से पूछकर रत्नत्रयमें उत्कृष्ट रूपसे प्रवृत्ति करनेमें तत्पर आचार्य आराधना करनेके लिये दूसरे गणमें जानेका विचार स्थिर करते हैं ॥३८६॥

किमर्थं परगणप्रवेशं करोतीति इत्याशङ्कायां स्वगणावस्थाने दोषमाचष्टे—

सगणे आणाकोवो फरुसं कलहपरिदावणादी य ।
णिब्भयसिणेहकालुणियज्झाणविग्घो य असमाधी ॥३८७॥

'सगणे आणाकोवो' आत्मीये गणे आज्ञाकोप । 'फरुसं कलहपरिदावणादी य' परुषवचनं कलहो, दु:खादीनि च । 'णिब्भयसिणेहकालुणियज्झाणविग्घो य' निर्भयता, स्नेह: कारुण्यं, ध्यानविघ्न । 'असमाही' असमाधिश्च ॥३८७॥

उड्डाहकरा थेरा कालहिया खुड्डया खरा सेहा ।
आणाकोवं गणिणो करेज्ज तो होज्ज असमाही ॥३८८॥

'उड्डाहकरा थेरा' अयश: संपादका: स्थविरा: । 'कालहिया' कलहकरा: । 'खुड्डगा' क्षुल्लका: । 'खरा सेहा' परुषा अमार्गज्ञा: । 'आणाकोवं गणिणो करेज्ज' आज्ञाकोपं सूरे: कुर्यु: । 'तो होज्ज असमाही' तस्मादाज्ञाकोपाद्भवेदसमाधि: ॥३८८॥

स्वगणे स्थविरादिकृतमसमाधिकरमाज्ञाकोपं दर्शयति—

परगणवासी य पुणो अव्वावारो गणी हवदि तेसु ।
णत्थि य असमाहाणं आणाकोवम्मि वि कदम्मि ॥३८९॥

परगणेऽप्यमी सन्त्येव स्थविरादयस्तत्राप्यसमाधानं स्यादेवास्येति शङ्का निरस्यति । 'परगणवासी य' य: परगणे वसति गणी सो । 'अव्वावारो'ऽव्यापार: तेषु शिक्षाव्यापाररहित । तेन आज्ञाकोपो न विद्यते

किसलिये दूसरे गणमें जाते हैं? ऐसी आशंका होने पर अपने गणमें रहनेके दोष कहते हैं—

गा०—अपने गणमें रहनेपर आज्ञाकोप, कठोर वचन, कलह, दुख आदि, निर्भयता, स्नेह, करुणा, ध्यानमे विघ्न और असमाधि ये नौ दोष होते हैं।

विशेषार्थ—अपने संघमे रहने पर किसी को आज्ञा दे और वह न माने तो परिणामोंमें क्रोधभाव हो जाय। जो कोई गलती करे तो उसे अपना जान कठोर वचन बोला जाय। किसीको हितकी प्रेरणा करें और वह न माने तो कलह पैदा हो जाय। किसीको दोष करते देखकर मनमें संताप पैदा हो सकता है। रोगवश अपने ही परिणाम बिगड़ जाये तो किसीका भय न होनेसे अयोग्य आचरण भी कर सकता है। मरते समय परिचित साधुओंमें स्नेह भाव आ सकता है। या किसी को दु:खी देखकर करुणा भाव हो सकता है। ध्यानमें बाधा पड़ सकती है और समाधि नहीं बन सकती। ये दोष अपने गणमें रहकर समाधि करनेमें हैं ॥३८७॥

गा०—तथा अपने गणमें ही रहे तो किसी भी बातको लेकर वृद्ध मुनि अपयश कर सकते हैं। किसीको शिक्षा देनेपर क्षुद्र अज्ञानी कलह करते हैं। मार्गको नहीं जानने वाले और कठोर स्वभाववाले मुनि आचार्यकी आज्ञा न माने तो आचार्यको कोप उत्पन्न होनेसे समाधि बिगड़ जाती है ॥३८८॥

गा०—दूसरे गणमें भी ये वृद्ध मुनि आदि होते ही है, अत: वहाँ भी उनकी असमाधि हो सकती है, इस शंका को दूर करते हैं—जो आचार्य अपना गण त्यागकर दूसरे गणमें रहता है उसे

आज्ञाभङ्गो नास्तीत्यर्थः । 'णत्थि य असमाधाणं' नास्ति च असमाधिः । 'आण.कोवम्मि वि कदम्मि' आज्ञा-भङ्गे कृतेऽपि ममानुपकारिणो वचनमिमे किमर्थं कुर्वन्ति इति चेतः प्रणिधानात् ॥३८९॥

आज्ञाकोपदोषं अभिधाय द्वितीयं व्याचष्टे—

खुड्डे थेरे सेहे असंवुडे दट्ठूण कुणइ वा परुसं ।
ममिकारेण भणेज्जो भणिज्ज वा तेहिं परुसेण ॥३९०॥

'खुड्डे थेरे सेहे' क्षुल्लकान्स्थविरानमार्गज्ञाश्च । 'असंवुडे' असंवृतान् असंयतान् । 'दिट्ठूण' दृष्ट्वा । 'कुणदि वा परुसं' करोति वा परुषं । 'ममिकारेण भणेज्जो' ममत्वेन वदेद्वा परुषं । 'भणिज्ज वा तेहिं परुसेण' भण्येत वा गणी तैः परुषं वच' ॥३९०॥

कलहं पूर्वार्द्धेन व्याचष्टे—

पडिचोदणासहणदाए होज्ज गणिणो वि तेहिं सह कलहो ।
परिदावणादिदोसा य होज्ज गणिणो व तेसिं वा ॥३९१॥

'पडिचोदणासहणदाए' गुरुशिक्षासहनेन । 'होज्ज कलहो तेहिं गणिणो वि' भवेत्कलहस्तैः क्षुल्लकादिभिः सह गणिनः । 'परिदावणादिदोसा होज्ज' दुःखादिदोषा भवेयुः । 'गणिणो व तेसिं व' गणिनस्तेषां क्षुल्लकादीनां वा कलहः ॥३९१॥

कलहपरिदावणादीय इत्येतत्सूत्रपदं प्रकारान्तरेणापि व्याचष्टे—

कलहपरिदावणादी दोसे व अमाउले करंतेसु ।
गणिणो हवेज्ज सगणे ममत्तिदोसेण असमाधी ॥३९२॥

'कलहपरिदावणादी दोसे व' कलहं परितापादिदोषं वा । 'अमाकुले करंतेसु' गणेन सह कुर्वत्सु क्षुल्लकादिषु । 'गणिणो हवेज्ज सगणे ममत्तिदोसेण असमाधी' गणिनो भवेन्ममतादोषेण असमाधिः ॥३९२॥

वहाँ शिक्षा आदि देनेका काम नही रहता। इससे वहाँ आज्ञा भगका प्रश्न नही रहता। आज्ञा भंग होने पर भी वह मनमें विचारता है कि मैने इनका कोई उपकार तो किया नहीं, तब ये मेरी आज्ञाका पालन क्यों करेंगे? अतः आज्ञा भंग होने पर भी असमाधि नहीं होती ॥३८९॥

आज्ञाकोप दोषको कहकर दूसरे दोषको कहते हैं—

गा०—गुणोसे हीन क्षुद्र मुनियों, तपसे वृद्ध स्थविरों और रत्नत्रय रूप मार्गको न जानने वालोंको असंयमरूप प्रवृत्ति करते हुए देखकर 'ये हमारे शिष्य हैं, संघके हैं' इस प्रकारके ममत्व भावसे उनके प्रति कठोर वचन कहा जाये अथवा वे क्षुद्र आदि उन्हे कठोर वचन कहे, यह दूसरा दोष है ॥३९०॥

पूर्वार्द्धसे कलह दोष कहते हैं—

गा०—गुरुकी शिक्षाको सहन न करनेसे आचार्यकी भी उन क्षुद्र आदिके साथ कलह हो सकती है। और उससे आचार्यको अथवा उन क्षुद्र आदि मुनियोंको दुःख आदि दोष होते हैं ॥३९१॥

'कलहपरिदावणीदीय' इस गाथाका प्रकारान्तरसे कथन करते है—

गा०—वे क्षुद्र आदि गणमें कलह परिताप आदि दोष करें तो उसे देखकर ममत्व भावसे आचार्यको असमाधि हो सकती है ॥३९२॥

परितावणादि इत्येतत्सूत्रपदं अन्यथा व्याचष्टे—

रोगादंकादीहिं य समणे परिदावणादिपत्तेसु ।
गणिणो हवेज्ज दुक्खं असमाही वा सिणेहो वा ॥३९३॥

'रोगादंकादीहिं य' अल्पैर्महद्भिर्व्याधिभिः । 'परिदावणादिपत्तेसु' परितापनादिप्राप्तेषु । 'समणे' आत्मीयशिष्यवर्गे । 'गणिणो हवेज्ज दुक्खं' आचार्यस्य भवेद्दुःखं । 'असमाही वा सिणेहो वा' असमाधिर्वा स्नेहो वा ॥३९३॥

तण्हादिएसु सहणिज्जेसु वि सगणम्मि णिब्भओ संतो ।
जाएज्ज व सेएज्ज व अकप्पिदं किं पि वीसत्थो ॥३९४॥

'तण्हादिएसु सहणिज्जेसु वि' पिपासादिकेषु परीषहेषु सहनीयेष्वपि । 'सगणम्मि णिब्भओ संतो' स्वगणे निर्भयः सन् । 'जाएज्ज व सेवेज्ज व' याचते वा सेवते वा । 'अकप्पियं' अयोग्यं किञ्चित्प्रत्याख्यातमशनं पानं वा । 'वीसत्थो' विश्वस्तः भयलज्जाविरहितः ॥३९४॥

सिणेह इत्यस्य व्याख्या—

उड्ढे सअंकवड्ढिय बाले अज्जाउ तह अणाहाओ ।
पासंतस्स सिणेहो हवेज्ज अच्चंतियविओगे ॥३९५॥

उड्ढे सअंकवड्ढिय इत्यादिका वृद्धान्यतीन्स्वांकवर्धितबालान् यतीस्तथा आर्यिका, अनाथा. पश्यतः स्नेहो भवेदात्यन्तिके वियोगे ॥३९५॥

कोलुगिण इत्येतद्व्याचष्टे—

खुड्डा य खुड्डियाओ अज्जाओ वि य करेज्ज कोलुणियं ।
तो होज्ज ज्झाणविग्घो असमाधी वा गणधरस्स ॥३९६॥

'परितावणादि' इस गाथा पदको दूसरे प्रकारसे कहते हैं—

गा०—अपने शिष्य वर्गके छोटी बड़ी व्याधियोंसे पीड़ित होने पर आचार्यको दुःख हो सकता है। अथवा स्नेह पैदा हो सकता है और उससे समाधिकी हानि हो सकती है ॥३९३॥

गा०—अपने गणमें रहकर समाधि करने पर प्यास आदि की परीषह सहने योग्य होने पर भी निर्भय होकर और भय तथा लज्जा को त्याग अयोग्य की भी याचना अथवा सेवन कर सकता। जो त्याग दिया है खानपान, उसको भी माँग सकता है या उसका सेवन कर सकता है, क्योंकि वहाँ उसे कोई भय नहीं है सब उसीके शिष्यगण हैं ॥३९४॥

स्नेह का कथन करते हैं—

गा०—वृद्ध यतियोंको, जिन्हें बचपनसे अपनी गोदमें बैठाकर पाला है उन बाल यतियोंको, आर्यिकाओंको अनाथ होते देखकर मरते समय सर्वदाके लिए वियोग होने पर स्नेह पैदा हो सकता है ॥३९५॥

'कोलुगिण' पदका व्याख्या न करते हैं—

'खुड्डा य खुड्डियाओ' क्षुल्लका, क्षुल्लिकाः आर्या कुर्युरारटनं। ततो ध्यानविघ्नोऽसमाधिर्वा गणधरस्य भवतीति ॥३९६॥

कारण्यं विवृणोति—

भत्ते वा पाणे वा सुस्सूसाए व सिस्सवग्गम्मि।
कुव्वंतम्मि पमादं असमाधी होज्ज गणवदिणो ॥३९७॥

'भत्ते वा पाणे वा' भक्ते पाने वा शुश्रूषाया वा प्रमादं शिष्यवर्गे कुर्वति गणपतेरसमाधिर्भवति ॥३९७॥

एदे दोसा गणिणो विसेसदो होंति सगणवासिस्स।
भिक्खुस्स वि तारिसयस्स होंति पाएण ते दोसा ॥३९८॥

'एदे दोसा गणिणो विसेसदो होंति' एते दोषा विशेषतो भवन्ति स्वगणे वसतः। 'भिक्खुस्स वि तारिसयस्स' भिक्षोरपि तादृशस्य उपाध्यायस्य, प्रवर्तकस्य वा भवन्ति प्रायेण ते दोषा ॥३९८॥

एदे सव्वे दोसा ण होंति परगणणिवासिणो गणिणो।
तम्हा सगणं पयहिय वच्चदि सो परगणं समाधीए ॥३९९॥

एदे सव्वे दोसा ण होंति' एते सर्वे दोषा न भवन्ति। 'परगणणिवासिणो गणिणो' परगणनिवासिनो गणधरस्य। तस्मात्स्वगणं परित्यज्य व्रजति परगणं समाधये ॥३९९॥

संते सगणे अम्हं रोचेदूणागदो गणमिमोत्ति।
सव्वादरसत्तीए भत्तीए वट्टइ गणो से ॥४००॥

'संते सगणे' सत्यपि स्वगणे अस्मद्गणे आत्तरुचिरागतो गणमिममिति सर्वादरेण भक्त्या च गणो वर्तते ॥४००॥

गा०—क्षुल्लक, क्षुल्लिकाएँ अर्थात् बालमुनि और आर्यिका भी गुरुका वियोग होते देख रो पड़ते हैं तो आचार्यके ध्यानमें विघ्न और असमाधि होती है ॥३९६॥

गा०—खानपान और सेवा टहलमें शिष्यवर्गके प्रमाद करने पर आचार्यकी असमाधि हो सकती है। अर्थात् आचार्यको यह विकल्प पैदा हो सकता है कि हमने इनका उपकार किया और यह हमारी सेवा भी नहीं करते। इससे ध्यानमें विघात होनेसे समाधि बिगड़ सकती है ॥३९७॥

गा०—ये दोष विशेष रूपसे अपने गणमें रहकर समाधि करनेवाले आचार्यके होते हैं। अन्य भी जो भिक्षु उपाध्याय या प्रवर्तक अपने गणमें रहकर समाधि मरण करते हैं उनके भी प्रायः ये दोष होते हैं ॥३९८॥

गा०—ये सब दोष दूसरे गणमें निवास करनेवाले आचार्यके नहीं होते। इसीलिए वह अपना गण छोड़ परगणमें समाधिके लिए जाता है ॥३९९॥

गा०—अपने गणके होते हुए यह हमारे गणमें रुचि रखकर यहाँ आया है ऐसा मानकर दूसरा गण पूर्ण आदरके साथ शक्ति और भक्तिसे उसकी सेवामें लगता है ॥४००॥

गीदत्थो चरणत्थो पच्छेदूणागदस्स खवयस्स ।
सव्वादरेण जु णिज्जवगो होदि आयरिओ ॥४०१॥

'गीदत्थो चरणत्थो' गृहीतार्थः ज्ञानी चरणस्थः । 'पच्छेदूणागदस्स' प्रार्थयित्वागतस्य । 'खवगस्स' क्षपकस्य । 'सव्वादरेण जुत्तो' सर्वादरेण युक्तः 'णिज्जवगो होइ आयरिओ' निर्यापको भवत्याचार्यः ॥४०१॥

संविग्गवज्जभीरुस्स पादमूलम्मि तस्स विहरंतो ।
जिणवयणसव्वसारस्स होदि आराधओ तादी ॥४०२॥

'संविग्गवज्जभीरुस्स' संसारभीरोः, पापकर्मभीरोश्च तस्य गुरोः पादमूले वर्तमानो जिनवचनसर्वसारस्य भवत्याराधकः । 'तादि' यतिः । 'संते सगणे', 'गीदत्थो', 'संविग्गवज्जभीरु' इत्येतत्सूत्रत्रयेण परगणे चर्यायां गुणो व्याख्यातः । परगणचर्या ॥४०२॥

मार्गणानिरूपणार्थमुत्तरप्रबन्धः—

[1]पंचच्छसत्तसदाणि जोयणाणं तदो य अहियाणि ।
णिज्जावयमणुण्णादं गवेसदि समाधिकामो दु ॥४०३॥

पंचच्छसत्तसदाणि पञ्चषट्सप्तयोजनशतानि ततोऽभ्यधिकानि वा गत्वा अन्वेषते निर्यापकं । शास्त्रेण-अनुज्ञातं समाधिकामो यतिः ॥४०३॥

स्पष्टार्थोत्तरगाथा—

एक्कं व दो व तिण्णि य वारसवरिसाणि वा अपरिदंतो ।
[2]णिज्जवयमणुण्णादं गवेसदि समाधिकामो दु ॥४०४॥

गा०—उस प्रार्थना पूर्वक आये हुए क्षपकका निर्यापक आचार्य ज्ञानी, चारित्र निष्ठ तथा उस क्षपकके प्रति पूर्ण आदर भावसे युक्त होता है ॥४०१॥

गा०—संसार और पापकर्मसे डरने वाले उस निर्यापक आचार्यके चरणोंमें विहार करता हुआ वह क्षपक यति समस्त जिनागमके सार रूप आराधनाका आराधक होता है ॥४०२॥

'संते सगणे', 'गीदत्थो', 'संविग्गवज्जभीरु' इन तीन गाथा सूत्रोंके द्वारा परगणमें चर्या करनेका गुण कहा है। इस प्रकार परगणमें चर्या करनेका गुण कहा है ॥४०२॥

आगे मार्गणाका कथन करते हैं—

गा०—समाधिका इच्छुक यति पाँच सौ, छह सौ, सात सौ योजन अथवा उससे अधिक जाकर शास्त्रसम्मत निर्यापकको खोजता है ॥४०३॥

गा०—समाधिका इच्छुक यति एक अथवा दो अथवा तीन आदि बारह वर्ष पर्यन्त खेद-खिन्न न होता हुआ जिनागम सम्मत निर्यापकको खोजता है ॥४०४॥

---

१. पंचच्छ सत्त जोयण सदाणि तत्तोऽहियाणि वा गतुं । णिज्जावगमण्णे सदि समाधिकामो अणुण्णाद—आ० मु० । २. जिणवयणम—आ० मु० ।

निर्यापकान्वेषणार्थं गच्छतः क्रममुदाहरति—

गच्छेज्ज एगरादियपडिमा अज्झयणपुच्छणाकुसलो ।
थंडिल्लो संभोगिय अप्पडिबद्धो य सव्वत्थ ॥४०५॥

'**गच्छेज्ज एगरादियपडिमा अज्झेण पुच्छणाकुसलो**' गच्छेदेकरात्रिभवावग्रहे अध्ययने परप्रश्ने च कुशलः । एकरात्रिभवा भिक्षुप्रतिमा निरूप्यते । उपवासत्रयं कृत्वा चतुर्थ्यां रात्रौ ग्रामनगरादेर्बहिर्देशे श्मशाने वा प्राङ्मुखः, उदङ्मुखश्चैत्याभिमुखो वा भूत्वा चतुरङ्गुलमात्रपदान्तरो नासिकाग्रनिहितदृष्टिस्त्यक्तकायस्तिष्ठेत् । सुष्ठु प्रणिहितचित्तः चतुर्विधोपसर्गसहः न चलेन्न पतेत् यावत्सूर्यं उदेति । स्वाध्याय कृत्वा गव्यूतिद्वय गत्वा गोचरक्षेत्रवसतिं गत्वा तिष्ठति । यत्र विप्रकृष्टो मार्गस्तत्र सूत्रपौरुष्यामर्थपौरुष्या वा मंगल कृत्वा याति एवं स्वाध्यायकुशलता । प्रश्नकुशलतोच्यते—चैत्यसंयतानार्यिकाः श्रावकाश्च, बालमध्यमवृद्धाश्च पृष्ट्वा कृतगवेषणो याति इति प्रश्नकुशल' । यत्र भिक्षा कृता तत्र स्थण्डिलान्वेषण कुर्यात् । कायशोधनार्थं संभोगयोग्यं, यतिं, सघाटकत्वेन गृह्णीयात् । स्वयं वा तस्य संघाटको भवेत् । एवं स्थण्डिलान्वेषणं संभोगयोग्ययतिना सहवृत्ती च यो यत्नपरः **स्थंडिलसंभोगी य** इत्युच्यते । अंतरालग्रामनगरादिसन्निवेशस्थयतिगृहिसत्कारसन्मानप्राघूर्णकभक्तादौ सर्वत्र अप्रतिबद्धत्वात् '**अप्पडिबद्धो य सव्वत्थ**' इत्युच्यते ॥४०५॥

निर्यापकको खोजनेके लिए आते हुए क्षपकका क्रम कहते है—

गा०—एक रात्रि प्रतिमामें, अध्ययन में और दूसरेसे प्रश्न करनेमे कुशल वह क्षपक स्थंडिलसंभोगी और सर्वत्र अप्रतिबद्ध होता है ॥४०५॥

टी०—एक रात्रिक भिक्षु प्रतिमाको कहते हैं। तीन उपवास करके चतुर्थ रात्रिमें ग्राम-नगर आदिके बाहर वनमें अथवा स्मशानमें पूरब अथवा उत्तर अथवा जिनप्रतिमाकी ओर मुख करके, दोनों पैरोंके मध्यमें चार अंगुलका अन्तर रखकर, अपनी दृष्टि नाकके अग्रभाग पर रखते हुए शरीरसे ममत्व त्याग कर स्थित होवे। अपने चित्तको अच्छी तरहसे समाहित करते हुए चार प्रकारके उपसर्गको सहकर जब तक सूर्यका उदय न हो तब तक न विचलित हो, न पतित हो। फिर स्वाध्याय करके दो गव्यूतिप्रमाण गमन करके भिक्षाके क्षेत्रकी वसतिमें जाकर ठहरे। जहाँ मार्ग दूर हो वहाँ सूत्रपौरुषी अथवा अर्थपौरुषीमें मंगलाचरण करके गमन करता है। अर्थात् एक रात्रिक भिक्षु प्रतिमाकी समाप्ति पर स्वाध्याय करके भिक्षाके लिए गमन करता है। यदि भिक्षाका स्थान दूर हो तो स्वाध्यायकी स्थापना करके केवल मंगलाचरण करके भिक्षा स्थानके लिए गमन करता है यह उसकी स्वाध्याय कुशलता है। आगे प्रश्नकुशलता कहते हैं—जिनालयमें स्थित संयमियों, आर्यिका और श्रावकोंसे तथा बाल, प्रौढ़ और वृद्ध पुरुषोंसे भिक्षास्थान ज्ञात करके गमन करता है यह उसकी प्रश्न कुशलता है। जहाँ भिक्षा ग्रहण की वहीं मलत्यागके लिए स्थंडिल भूमिकी खोज करे। जिस यतिके साथ सामाचारी की जा सकती है ऐसे यतिको सहायक रूपसे ले ले या स्वयं उसका सहायक हो जावे। इस प्रकार स्थंडिल भूमिकी खोजमें और सामाचारीके योग्य यतिके साथ रहनेमें जो प्रयत्नशील होता है उसे स्थंडिल सम्भोगी कहते है। तथा वह क्षपक रास्तेमें आनेवाले ग्रामनगर आदिमें बने स्थानोंमें ठहरे हुए यति, गृहस्थ, उनके सत्कार, सम्मान और अतिथि भोजन आदिमें सर्वत्र अप्रतिबद्ध होता है। उनमें उसकी अनासक्ति

---

१. संभोगी यतिरित्यु—आ० मु०।

आलोयणापरिणदो सम्मं संपत्थिदो गुरुसयासं ।
जदि अंतरा दु अमुहो हवेज्ज आराहओ होज्ज ॥४०६॥

'आलोयणापरिणदो' रत्नत्रयातिचारान्मनोवाक्कायविकल्पान्मदीयान्गुरौ निवेदयिष्यामीति कृतसंकल्पः । सम्यं आलोचनादोषान्परित्यज्य 'संपत्थिदो' यातुमुद्यतः । 'गुरुसयासं' गुरुसमीपं । 'जदि अंतरा दु' यद्यन्तराल एव । 'अमुहो हवेज्ज' पतितजिह्वो भवेत् । 'आराहओ होज्ज' आराधको भवति ॥४०६॥

आलोचणापरिणदो सम्मं संपच्छिओ गुरुसयासं ।
जदि अंतरम्मि कालं करेज्ज आराहओ होइ ॥४०७॥

'आलोचणापरिणदो' स्वापराधकथनावहितचित्तः गुरुसमीपमागच्छतो यद्यन्तराल एव कालं कुर्यात् । 'आराधगो होइ' आराधको भवति ॥४०७॥

आलोयणापरिणदो सम्मं संपच्छिदो गुरुसयासं ।
जदि आयरिओ अमुहो हवेज्ज आराहओ होइ ॥४०८॥

तथा आलोचनापरिणतः गुर्वन्तिकं प्रस्थितः आराधको भवति । यद्याचार्यो वक्तुमशक्तो जातः ॥४०८॥

आलोयणापरिणदो सम्मं संपच्छिदो गुरुसयासं ।
जदि आयरिओ कालं करेज्ज आराहओ होइ ॥४०९॥

आचार्यकालकरणेऽप्याराधको भवति इति सूत्रार्थः ॥४०९॥

कथं आराधकता तस्य ? न कृता आलोचना नाचरितं गुरूपदिष्टं प्रायश्चित्तमित्यारेकायामाचष्टे—

सल्लं उद्धरिदुमणो संवेगुव्वेगतिव्वसड्ढाओ ।
जं जादि सुद्धिहेदुं सो तेणाराहओ होइ ॥४१०॥

होती है ॥४०५॥

गा०—'मन वचन कायके विकल्प रूप रत्नत्रयमें लगे अतिचारोंको, आलोचनाके दोषोंको त्यागकर मै सम्यग् रूपसे गुरुसे निवेदन करूँगा' ऐसा संकल्प करके जो गुरुके समीप जानेके लिए निकला, वह यदि मार्गमें ही अपनी बोलनेकी शक्ति खो बैठे तो भी वह आराधक होता है ॥४०६॥

गा०—मैं गुरुके पास जाकर अपने दोषोंकी सम्यक् आलोचना करूँगा, यह संकल्प करके जो गुरुके पास जानेके लिए निकला है वह यदि मार्गमें ही मर जाय तो भी आराधक है ॥४०७॥

गा०—आलोचना करनेका संकल्प करके जो गुरुके पास जाने के लिए चला है। यदि आचार्य बोलनेमें असमर्थ हों तो भी वह आराधक है ॥४०८॥

गा०—जो गुरुके सन्मुख अपना अपराध निवेदन करनेके लिए गुरुके पास जानेके लिए निकला है, यदि आचार्य मर जायें तो भी वह आराधक है ॥४०९॥

जिसने गुरुके सन्मुख अपने अपराधकी आलोचना नहीं की और न गुरुके द्वारा कहा गया प्रायश्चित्त ही किया वह कैसे आराधक होता है ? इस शंकाका समाधान करते हैं—

गा०-टी०—किये गये अपराधकी आलोचना न करने पर मायाशल्य होता है। और माया-

सत्यं उद्धरिदुमणो कृतापराधालोचनाया मायाशल्यं भवति । सति मायाशल्ये न रत्नत्रयशुद्धिरिति मत्वा शल्यमुद्धर्तुमनाः । 'संवेगुव्वेगतिव्वसड्ढाओ' संसारभीरुता संवेगः, शरीरस्याशुचितामसारतां, दुःखदायुतां चावलोक्य, तथेन्द्रियसुखानामतृप्तिकारिता, तृष्णाभिवृद्धिनिमित्तता च तथोद्वेगः । तौ संवेगोद्वेगौ, तीव्रा मरणकाले रत्नत्रयाराधना श्रद्धा च यस्य विद्यते स उच्यते संवेगुव्वेगतिव्वसड्ढाओ इति । अथवा संवेगोद्वेगाभ्यां प्रवर्तिता तीव्रा श्रद्धा यस्य रत्नत्रयाराधनाया स एव भण्यते । 'जं जादि सुद्धिहेदु' यस्माच्छुद्धिनिमित्तं याति 'सो तेण आराहओ होदि' स तेन आराधको भवति ॥४१०॥

निर्यापकसूर्यन्वेषणार्थं गच्छतो गुणमाचष्टे—

आयारजीदकप्पगुणदीवणा अत्तसोधिणिज्झंझा ।
अज्जवमद्दवलाघवतुट्ठीपल्हादणं च गुणा ॥४११॥

'आयारजीदकप्पगुणदीवणा' आचारस्य जीदसंज्ञितस्य कल्पस्य च गुणप्रकाशना । एतानि हि शास्त्राणि निरतिचाररत्नत्रयतामेव दर्शयन्ति । तदर्थमेवान्वेषक प्रयतते । 'अत्तसोधि' आत्मन शुद्धि । णिज्झंझा संक्लेशाभाव । न हि सक्लेशवानित्य दूरं प्रयातुमीहते । स्वदोषप्रकटनान्माया त्यक्ता भवत्येव, तत एव माननिरासो मार्दवं । शरीरपरित्यागाहितबुद्धितया लाघवं । कृतार्थोऽस्मीति तुष्टिर्भवति । प्रस्थितस्य प्रल्हादनं हृदयसुखं च स्वपरोपकाराभ्या गमित कालः, इत उत्तर मदीय एव कार्ये प्रधाने उद्युक्तो भविष्यामि इति चिन्तया ॥४११॥

इत्थं गुर्वन्वेषणार्थमायात दृष्ट्वा तद्गणवासिना सामाचारक्रम व्याहरति—

आएसं एज्जंतं अब्भुट्ठिंति सहसा हु दट्ठूण ।
आणासंगहवच्छल्लदाए चरणे य णादुं जे ॥४१२॥

शल्यके होने पर रत्नत्रयमें शुद्धि नही होती। ऐसा मानकर जो शल्यको निकालनेका भाव रखता है। तथा संसारसे भयभीत होनेको संवेग कहते हैं। और शरीरकी अशुचिता, असारता और दुःखदायकताको देखकर तथा इन्द्रियजन्य सुखोको अतृप्ति करनेवाले तथा तृष्णाको बढानेवाले जानकर उनमे विरक्ति होना उद्वेग है। जिसके संवेग और उद्वेग होते है तथा मरणकालमे रत्नत्रयकी तीव्र आराधना और श्रद्धा होती है उसे 'संवेग-उद्वेग-तीव्र श्रद्धावाला' कहते हैं। अथवा संवेग और उद्वेग द्वारा जिसकी रत्नत्रयकी आराधनामे तीव्र श्रद्धा होती है वह संवेग उद्वेग तीव्र श्रद्धावाला होना है। ऐसा वह क्षपक शुद्धिके लिए गुरुके पास जाता है इससे वह आराधक होना है ॥४१०॥

गा०-टी०—निर्यापक आचार्यकी खोजमे जाते हुए क्षपकके गुण कहते है—आचार और जीतकल्प (आचार विशेषका प्रतिपादक ग्रन्थ) के गुणोंका प्रकाशन होता है। ये शास्त्र निरतिचार रत्नत्रयको ही बतलाते हैं। उसीके लिए क्षपक निर्यापककी खोज करता है। आत्माकी शुद्धि होती है। सक्लेशका अभाव होता है क्योंकि जो सक्लेश परिणाम वाला होता है वह इस प्रकार दूर गमन नहीं करता। तथा गुरुके पास जाकर अपने दोषोंको प्रकट करनेसे मायाचारका त्याग होता ही है। इसीमे मानका निरास मार्दव भी होता है। शरीरको त्यागनेका भाव होनेसे लाघव होता है। मैं कृतार्थ हूँ इस प्रकार सन्तोष होता है। 'मैंने अपने और परके उपकारमें समय बिताया। अब आगे अपने ही कार्यमें प्रधान रूपसे उद्यत रहूँगा' ऐसे विचारसे हृदयमें सुख होता है। इस प्रकार गुरुके पास जानेके गुण हैं ॥४११॥

'आएसं' प्राघूर्णकं । 'एज्जंतं' आयान्तं । 'दट्ठूण' दृष्ट्वा । 'सहसा अब्भुट्ठिंति' शीघ्रमभ्युत्थानं कुर्वन्ति यतयः । 'आणासंगहवच्छल्लदाए' अब्भुट्ठेयो समणो सुसाणविसारदो उवासेज्ज' इति जिनाज्ञासंपादनार्थं आगच्छन्तं संग्रहीतुं । वत्सलतया च तस्मिं 'चरणे य णायुंज' चरित्रं समाचारक्रम तदीयं ज्ञातु च अभ्युत्थानं कुर्वन्ति । क्वचित्पाठः "चरणे य णामेदु" इति च चर णावनमनार्थं इति तन्न[^2] ग्राह्यम् ॥४१२॥

आगंतुगवच्छव्वा पडिलेहाहिं तु अण्णमण्णेहिं ।
अण्णोण्णचरणकरणं जाणणहेदुं परिक्खंति ॥४१३॥

'आगंतुगवच्छव्वा' आगन्तुको वास्तव्यश्च । 'पडिलेहाहिं तु' दृष्ट्वा । 'अण्णमण्णेहिं' अन्योन्यं । 'अण्णोण्णकरणचरणं' अन्योन्यस्य चरणं करणं वा । 'परिक्खन्ति' परीक्षन्ते । किमर्थं । 'जाणणहेदुं' ज्ञातुं । समितयो गुप्तयश्चरणशब्देनोच्यन्ते करणमित्यावश्यकानि गृहीतानि । आचार्याणामुपदेशभेदात्सामाचारोऽनेकप्रकारो दुरवगमः तं ज्ञातुं सहावस्थानयोग्यो न वायमिति ज्ञातु वा ॥४१३॥

क्व परीक्ष्यन्ते इत्यत्राह—

आवासयठाणादिसु पडिलेहणवयणगहणणिक्खेवे ।
सज्झाए य विहारे भिक्खग्गहणे परिच्छंति ॥४१४॥

'आवासयठाणादिसु' अवश्यमेव संवरनिर्जरार्थिभिः कर्तव्यानि सामायिकादीनि आवश्यकान्युच्यन्ते तेषां

इस प्रकार गुरुकी खोजमें आये हुए क्षपकको देखकर उस गणके वासी साधुओंकी सामाचारीका क्रम कहते हैं—

गा०—अतिथिको आता हुआ देखकर यतिगण शीघ्र खड़े हो जाते हैं। जिनागमकी आज्ञाका पालन करनेके लिए, आने वालेको ग्रहण करनेके लिए और वात्सल्य भावके लिए तथा उसका कैसा आचारादि है यह जाननेके लिए वे उठकर खड़े होते हैं। कहीं पर 'चरणे य णामेदुं' पाठ है। उसका अर्थ होता है—'अतिथिके चरणोंमें नमन करनेके लिए खड़े होते हैं। यह यहाँ ग्रहण करने योग्य नहीं है ॥४१२॥

गा०-टी०—आने वाला मुनि और उस गणके वासी मुनि प्रतिलेखनाके द्वारा देखकर परस्परमें एक दूसरेके चरण और करणको जाननेके लिए परीक्षा करते हैं। यहाँ चरण शब्दसे समिति और गुप्ति कही हैं। और करण शब्दसे आवश्यकोंका ग्रहण किया है। आचार्योंके उपदेशमें भेद होनेसे साधुओंका समाचार अनेक प्रकारका है। इससे वह दुरवगम है। उसका जानना कठिन है उसको जाननेके लिए वे परस्परमें परीक्षा करते हैं। अथवा यह हमारे साथ रहनेके योग्य है अथवा नहीं, यह जाननेके लिए परीक्षा करते हैं ॥४१३॥

कैसे परीक्षा करते हैं, यह कहते हैं—

गा०—आवश्यक स्थान आदिमें, प्रतिलेखन, वचन, ग्रहण, निक्षेप, स्वाध्याय, विहार और भिक्षाग्रहणमें परीक्षा करते हैं ॥४१४॥

टी०—संवर और निर्जराके इच्छुकोंको अवश्य ही करने योग्य सामायिक आदिको आव-

---

[^1]: १. चरणे य णामेदुं-चरणावनमनार्थं-मूलारा०।
[^2]: २. तन्न ग्राह्यम्-मु०।

स्थानं स्थिति. आवश्यकपरिणतिकाल । 'दुओणदं जहाजादं बारसावत्तमेव च । चदुस्सिरं तिसुद्धं'—(मूलाचार ७।१०४) मित्यादिका क्रिया आदिशब्देन गृहीता । तेषु आवश्यकस्थानादिषु । 'पडिलेहणवयणगहणणिक्खेवे' प्रतिलेखने चक्षुषा उपकरणेन वा, वचने, उपकरणाना ग्रहणे निक्षेपे, च 'सज्झाए' स्वाध्याये, 'विहारे' जंघाविहारे, 'भिक्खग्गहणे' भिक्षाग्रहणे च 'परिच्छंति' परीक्षन्ते । किमय सामायिकादीन्यावश्यकानि करोति ? कुर्वन्नपि वा यथाकालं करोति न वा ? किं वा द्रव्यसामायिकादौ प्रवर्तते उत भावसामायिकादौ ? द्रव्यसामायिकादिक भवति सामायिकादिक पठत , कायेन चोक्ता क्रिया कुर्वतः । सावद्ययोगप्रत्याख्याने, तीर्थकृद्गुणानुस्मरणे, आचार्योपाध्यायादीना वा गुणानुस्मृतौ, स्वातिचारनिन्दागर्हयो', प्रत्याख्येयप्रत्याख्याने, शरीरममतानिरासे वा, परिणतिर्भावसामायिकादिकं । तत्र प्रवृत्तो न वेति परीक्षा । चक्षुषा पूर्वमिद प्रतिलेखनं योग्य न वेति कि पश्यति न वा । उपकरणेन मृदुना लघुना प्रमार्जनं किं करोति न करोति वा । अथवा त्वरित प्रमार्जयति, अवपीडयति, दूरा[1]देस्थानात् पातयति, प्रमार्जनेन विरोधिनो जीवान्मिश्रयति । आहाराभिमुखान्, आहारग्राहिणो गृहीताण्डकान्, स्वनिवासदेशस्थान्, मूर्छामुपगतान्प्रमार्जयति न वेति परीक्षा । वचने परीक्षा—परुष वच , परनिन्दात्मप्रशंसाप्रवृत्त, आरम्भपरिग्रहयो प्रवर्तकं, मिथ्यात्वसंपादक, मिथ्याज्ञानकारि, व्यलीक, गृहस्थाना वचो वा वदति न वेति । यतो यदादेयं यद्वा यत्र निक्षिपति तदुभयप्रमार्जनपूर्वकं कि गृह्णाति निक्षिपति वा नेति परीक्षा । कालादिशुद्धि कृत्वा पठति किं वा न, अथवा इम ग्रन्थं पठति,

---

श्यक कहते हैं। उनका स्थान अर्थात् स्थिति यानी आवश्यक रूप परिणतिका काल । आदि शब्दसे 'दो बार नमस्कार, यथाजात, बारह आवर्त, चार बार सिरका नमन, मन वचन कायकी शुद्धि' इत्यादि क्रिया ग्रहण की हैं। चक्षु अथवा उपकरणसे प्रतिलेखना करने पर, वार्तालापमें उपकरणोंके ग्रहण और रखनेमें, स्वाध्यायमें, पैदल चलनेमें, और भिक्षा ग्रहणमें परीक्षा करते है कि यह सामायिक आदि करता है या नही ? करता है तो समय पर करता है या नही ? अथवा द्रव्य सामायिक आदि करता है या भाव सामायिक आदि करता है। सामायिक आदि पाठ पढ़ते हुए और शरीरसे उक्त क्रिया करते हुए द्रव्य सामायिक आदि होते है। सावद्य योगका त्याग करनेपर, तीर्थंकरके गुणोंका स्मरण करनेपर, अथवा आचार्य उपाध्याय आदिके गुणोका स्मरण करनेपर, अपने अतिचारोंकी निन्दा गर्हा करनेपर, त्यागने योग्यका त्याग करनेपर, अथवा शरीरसे ममत्वको दूर करनेपर भाव सामायिक आदि होते हैं। उसमें प्रवृत्त होता है या नही, यह परीक्षा है। यह प्रतिलेखन योग्य है या नही ? ऐसा आँखोंसे पहले देखता है या नही, कोमल हल्के उपकरणसे प्रमार्जन करता है या नही ? अथवा क्या जल्दीमें प्रमार्जन करता है। क्या जीवोको पीड़ा पहुँचाता है ? क्या दूर स्थानसे उपकरणादि गिराता है ? क्या प्रमार्जनके द्वारा विरोधी जीवोको मिलाता है ? जो जीव आहारमे लगे हैं, या आहार ग्रहण कर रहे है, जिन्होने मुँहमें अण्डे लिए हुए है, जो अपने निवास देशमें स्थित है, मूर्छाको प्राप्त है ऐसे जीवोका प्रमार्जन-रक्षण करता है या नही, यह परीक्षा है। वचन परीक्षा—कठोर वचन, परकी निन्दा अपनी प्रशसा करने वाले वचन, आरम्भ और परिग्रहमें प्रवृत्ति कराने वाले वचन, मिथ्यात्वके सम्पादक वचन, मिथ्याज्ञान कराने वाले वचन, झूठे वचन अथवा गृहस्थोंके योग्य वचन बोलता है क्या ? जहाँसे जो ग्रहण करता है अथवा जहाँ जो रखता है उन दोनोंके प्रमार्जन पूर्वक ग्रहण और निक्षेप करता है या नहीं, यह परीक्षा है। कालादिकी शुद्धि पूर्वक ग्रन्थ पढ़ता है या नहीं ? अथवा किस ग्रन्थको पढ़ता

---

१ दूरावस्थानात्–आ० । दूरावस्थान्–मु० ।

कथं वास्यार्थं व्याचष्टे । स्वनिवासदेशाद्दूरे हस्तमात्रादिपरिमाणे स्थण्डिले, निर्जन्तुके निश्छिद्रे, समे, अविरोधे मार्गजनेनानवलोक्ये किं स्वशरीरमलं त्यजति उताहो विपरीते इति विहारे परीक्षा। भिक्षाग्रहणे परीक्षा नाम भ्रामर्या या काञ्चिद्भिक्षां गृह्णाति लब्धामुत नवकोटिपरिशुद्धामिति ॥४१४॥

आगन्तुको यतिर्गुरुमुपाश्रित्य सविनयं संघाटकदानेन भगवन्ननुग्राह्योऽस्मीति विज्ञापना करोति । ततो गणधरेणापि समाचारज्ञो दातव्यः संघाटक इति निगदति—

आएसस्स तिरत्तं णियमा संघाडओ दु दादव्वो ।
सेज्जा संथारो वि य जइ वि असंभोइओ होइ ॥४१५॥

'आएसस्स तिरत्तं' प्राघूर्णकस्य च त्रिरात्रं । 'णियमा संघाडओ दु दादव्वो' निश्चयेन संघाटको दातव्य एव । 'सेज्जा संथारो वि य' वसतिः संस्तरश्च दातव्यः । 'जइ वि असंभोइओ होइ' । यद्यप्यपरीक्षितत्वात्सहानाचरणीयो भवति । तथापि संघाटको दातव्यो भवति । युक्ताचारश्चेत्संगृह्यते ॥४१५॥

दिनत्रयोत्तरकाल किं कार्यं गुरुणेत्याशङ्कायां वदति—

तेण परं अवियाणिय ण होदि संघाडओ दु दादव्वो ।
सेज्जा संथारो वि य गणिणा अवि जुत्तजोगिस्स ॥४१६॥

'तेण गणिणा' तेन गणिना । 'परं' दिनत्रयात् । 'अवियाणिय' अविचार्य । स्वदत्तसंघाटं यतिवचनश्रवणोत्तरकालं । तु शब्द एवकारार्थे प्रवर्तते स च दादव्वो इत्येतस्मात्परतो द्रष्टव्य । न दातव्य एव संघाटकः । 'सेज्जा संथारो वा' वसति संस्तरो वा न दातव्यः । जुत्तजोगिस्सवि[1] युक्ताचारस्यापि न

है और कैसे उसका अर्थ करता है ? अपने निवास देशसे दूर, एक हाथ आदि प्रमाण, जन्तुरहित, छिद्ररहित, सम और जिसमें किसीका विरोध नहीं, रास्ता चलते लोग जिसे देख नही सकते ऐसे स्थंडिल प्रदेशमें यह अपने शरीर मलको त्यागता है या इससे विपरीतमें त्यागता है यह विहारकी परीक्षा है। भिक्षाग्रहणमें परीक्षाका मतलब है कि भ्रामरीमें यह जैसी तैसी भिक्षा ग्रहण करता है या नौ कोटिसे शुद्ध भिक्षा ग्रहण करता है।।४१४॥

आने वाला यति गुरुके पास सविनय उपस्थित होकर निवेदन करता है कि भगवान् साहाय्य प्रदान करके मुझपर अनुग्रह करें। उसके पश्चात् आचार्यको भी आचारके ज्ञाता उस आगन्तुक यतिको साहाय्य देना चाहिए। ऐसा कहते हैं—

गा०—उस आगन्तुक यतिको नियमसे तीन रात तक साहाय्य देना चाहिए। तथा रहनेको वसति और संस्तर देना चाहिए। यद्यपि अभी उसकी परीक्षा नही ली है इससे वह साथमे आचरण करने योग्य नहीं है फिर भी यदि उसका आचार उचित है तो उसे साहाय्य देना चाहिए ॥४१५॥

गा०—तीन दिनके पश्चात् गुरु क्या करे, यह कहते हैं—तीन दिनके पश्चात् उस आचार्यको उस यतिके वचनको सुननेके पश्चात् जो साहाय्य दिया था वह साहाय्य बिना विचारे नही देना चाहिए। 'दु' शब्दका अर्थ एवकार (ही) है और उसे 'दादव्वो' के आगे रखना चाहिए। अतः उसे साहाय्य नहीं ही देना चाहिए, वसति अथवा सस्तर नहीं देना चाहिए। उसका आचार उचित भी हो तो भी उसे परीक्षा किये बिना साहाय्य आदि नही देना चाहिए। जब युक्ताचारको

१. 'अविजुत्तजोगिस्स'–आ० मु०।

वातव्यः संघाटकादिः परीक्षामन्तरेण किं पुनरितरस्येत्याशय ॥४१६॥

अविचार्य तेन सहावस्थानेको दोषो येनैव यत्न क्रियते इत्यारेकाया दोषमाच·टे—

उग्गमउप्पाद'णेसणासु सोघी ण विज्जदे तस्स ।
अणगारमणालोइय दोसं संभुज्जमाणस्स ॥४१७॥

'उग्गमउप्पादणेसणासु उद्गमोत्पादनैषणादोषपरिहारो न विद्यते तस्य गणिन । 'अणगारं' यति । 'अणालोइय दोसं' अनालोचितदोष । 'संभुज्जमाणस्स' सगृह्णत । उद्गमादिदोषोपहतमाहार वसति, उपकरणं वा सेवते य. यतिः तेन सह संवासात् संवासानुमति कुर्वता नानुमतिस्त्यक्ता भवति इति ॥४१७॥

उव्वादो तद्दिवसं विस्सामित्ता गणिमुवट्ठादि ।
उद्धरिदुमणोसल्लं विदिए तदिए व दिवसम्मि ॥४१८॥

'उव्वादो' श्रान्तः स्थित्वा । तं दिवसं आगतदिनं । 'विस्समित्ता' विश्राम्य । 'गणिमुवट्ठादि' आचार्यं ढौकते । 'उद्धरिदुमणोसल्लं' उद्धर्तु मन.शल्यं अतिचारं । 'विदिए तदिए व दिवसम्मि' द्वितीये तृतीये वा दिने । मार्गणापुरस्सरा क्रिया सर्वा मार्गणेत्युपन्यस्ता ॥४१८॥

कीदृग्गुण सूरिरनेनोपाश्रित इत्याचष्टे—

आयारवं च आधारवं च ववहारवं पकुव्वीय ।
आयावायविदंसी तहेव उप्पीलगो चेव ॥४१९॥

'आयारवं च' आचारवान् । 'आधारवं च' आधारवान् । 'ववहारवं च' व्यवहारवान् । 'पकुव्वीय' कर्ता । 'तहेव आयावायविदंसी' तथा आयापायदर्शनोद्यत । 'उप्पीलगो चेव' अवपीडक ॥४१९॥

भी नहीं देना चाहिए तब अन्यकी तो बात ही क्या है, यह इसका अभिप्राय है ॥४१६॥

यहाँ कोई शङ्का करता है कि बिना विचारे उसके साथ रहनेमें क्या दोष है जो इतनी सावधानी करते हैं, इसका उत्तर देते हैं—

गा०—जो यति अपने दोषोंकी आलोचना नहीं करता, तथा जो उद्गम आदि दोषोंसे दूषित आहार, वसति अथवा उपकरणका सेवन करता है, उसके साथ संवास करनेसे उस आचार्यके उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषोका परिहार रूप शुद्धि नहीं होगी। यदि वह आचार्य अन्य मुनियोंको उसके साथ रहनेकी अनुमति देता है तो भी उसकी अनुमोदनाका भागी होता है ॥४१७॥

गा०—मार्गके श्रमसे थका हुआ वह आगन्तुक मुनि अपने आनेके दिन तो विश्राम लेता है और दूसरे दिन मनमें शल्यकी तरह चुभने वाले दोषों को दूर करनेके लिये आचार्यके समीप आता है। गुरुकी मार्गणा अर्थात् खोज पूर्वक की जानेवाली सब क्रियाएँ मार्गणा कही जाती हैं इसलिये यहाँ उनका मार्गणारूपसे कथन किया है ॥४१८॥

गा०—वह आगन्तुक किन गुणोंसे युक्त आचार्यका आश्रय लेता है, यह कहते हैं—आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, कर्ता, तथा रत्नत्रयके लाभ और विनाश को दिखाने वाला और अवपीडक ॥४१९॥

---

१. पएस—आ० मु०।

अपरिस्साई णिव्वावओ य णिज्जावओ पहिदकित्ती ।
णिज्जवणगुणोवेदो एरिसओ होदि आयरिओ ॥४२०॥

'अपरिस्साई' अपरिस्रावी । 'णिव्वावओ' निर्वापकः । 'पहिदकित्ती' प्रथितकीर्तिः । 'णिज्जवण गुणोवेदो' निर्यापनगुणसमन्वितः । 'एरिसओ होदि आयरिओ' ईदृग्भवत्याचार्यः ॥४२०॥

आचारवत्त्वव्याख्यानायागता गाथा—

आयारं पंचविहं चरदि चरावेदि जो णिरदिचारं ।
उवदिसदि य आयारं एसो आयारवं णाम ॥४२१॥

'आयारं पंचविहं' पञ्चप्रकारं आचारं । 'चरदि' विनातिचारं चरति । परं वा निरतिचारे पञ्चविधे आचारे प्रवर्तयति । 'उवदिसदि य आयारं' उपदिशति च आचारं । 'एसो आयारवं णाम' एष आचारवान्नाम । एतदुक्तं भवति—आचाराङ्गं स्वयं वेत्ति ग्रन्थतोऽर्थतश्च, स्वयं पञ्चविधे आचारे प्रवर्तते प्रवर्तयति च । प [आ]चारवान् इति । पञ्चविधे स्वाध्याये वृत्तिर्ज्ञानाचारः । जीवादितत्त्वश्रद्धानपरिणतिः दर्शनाचारः । हिंसादिनिवृत्तिपरिणतिश्चारित्राचारः । चतुर्विधाहारत्यजनं, न्यूनभोजनं, वृत्तेः परिसंख्यान, रसानां त्यागः, कायसन्तापनं विविक्तावास इत्येवमादिकस्तपःसंज्ञित आचारः । स्वशक्त्यनिगूहनं तपसि वीर्याचारः । एते पञ्चविधा आचाराः ॥४२१॥

प्रकारान्तरेण आचारवत्त्वं कथयति—

दसविहठिदिकप्पे वा हवेज्ज जो सुट्ठिदो सयायरिओ ।
आयारवं खु एसो पवयणमादासु आउत्तो ॥४२२॥

'दसविहठिदिकप्पे वा' दशविधे स्थितिकल्पे वा । 'हवेज्ज जो सुट्ठिदो सया' भवेद्यः सुस्थितः सदा ।

गा०—अपरिस्रावी, निर्वापक, निर्यापक, प्रसिद्ध कीर्तिशाली और निर्यापन गुणसे युक्त ऐसा आचार्य होता है ॥४२०॥

आगे उक्त गुणोंमेंसे आचारवत्त्व गुणका व्याख्यान करते हैं—

गा०—पाँच प्रकारके आचारका जो अतिचार लगाये बिना पालन करता है तथा दूसरों को पाँच प्रकारके आचारके निरतिचार पालनमें लगाता है, और आचारका उपदेश देता है यह आचारवान् नामक गुण है ॥४२१॥

टी०—इसका अभिप्राय यह है कि ग्रन्थ रूपसे और अर्थरूपसे स्वयं आचारांगको जानता है। स्वयं पाँच प्रकारके आचारका पालन करता है और दूसरोंसे पालन कराता है इस तरह पाँच आचारवान् है। पाँच प्रकारके स्वाध्यायमें लगना ज्ञानाचार है, जीवादि तत्त्वोंके श्रद्धानरूप परिणत होना दर्शनाचार है। हिंसादिसे निवृत्ति रूप परिणति चारित्राचार है। चार प्रकारके आहारका त्याग, भूखसे कम भोजन करना, भिक्षाके लिये जाते समय गृह आदिका परिमाण करना, रसोंका त्याग, कायक्लेश, एकान्तमें निवास इत्यादि तप नामक आचार है, 'तपमें अपनी शक्तिको न छिपाना वीर्याचार है। ये पाँच प्रकारके आचार हैं ॥४२१॥

दूसरे प्रकारसे आचारवत्त्वको कहते हैं—

गा०—जो आचार्य सदा दस प्रकारके स्थितिकल्पमें सम्यक् रूपसे स्थित है वह आचार-

'आयरिओ' आचार्यः । **'आयारवं खु'** आचारवान् । 'एसो' एषः । **'पवयणमादासु आउत्तो'** प्रवचनमातृकासु समितिषु गुप्तिषु च आयुक्तः ॥४२२॥

अभिहितकल्पनिर्देशार्था गाथा—

आचेलक्कुद्देसियसेज्जाहररायपिंडकिरियम्मे ।
वदजेट्ठपडिक्कमणे मासं पज्जोसवणकप्पो ॥४२३॥

'आचेलक्कुद्देसिय' चेलग्रहणं परिग्रहोपलक्षणं, तेन सकलपरिग्रहत्याग आचेलक्यमित्युच्यते । दशविधे धर्मे त्यागो नाम धर्मः । त्यागश्च सर्वसंगविरतिरचेलतापि सैव । तेनाचेलो यतिस्त्यागाख्ये धर्मे प्रवृत्तो भवति । अकिंचनाख्ये अपि धर्मे समुद्यतो भवति निष्परिग्रहः । परिग्रहार्थो ह्यारम्भप्रवृत्तिर्निष्परिग्रहस्यासत्यारम्भे कुतोऽसंयमः । तथा सत्येऽपि धर्मे समवस्थितो भवति । पर परिग्रहनिमित्तं व्यलीकं वदति । असति बाह्ये क्षेत्रादिके अभ्यन्तरे च रागादिके परिग्रहे न निमित्तमस्त्यनृताभिधानस्य । ततो ब्रुवन्नेवमचेल सत्यमेव ब्रवीति । लाघवं च अचेलस्य भवति । अदत्तविरतिरपि संपूर्णा भवति । परिग्रहाभिलाषे सति अदत्तादाने प्रवर्तते नान्यथेति । अपि च रागादिके त्यक्ते भावविशुद्धिमयं ब्रह्मचर्यमपि विशुद्धतमं भवति । संगनिमित्तो हि क्रोधस्तदभावे चोत्तमा क्षमा व्यवतिष्ठते । सुरूपोऽहमाढ्य इत्यादिको दर्पस्त्यक्तो भवति अचेलेनेति मार्दवमपि तत्र सन्निहितं । 'अजिह्मभावस्य स्फुटमात्मीयं भावमादर्शयतोऽचेलस्यार्जवता च भवति मायाया मूलस्य परिग्रहस्य त्यागात् । चेलादिपरिग्रहपरित्यागपरो यस्मात् विरागभावमुपगतः शब्दादिविषयेष्वसक्तो भवति ।

वान् है । वह आचार्य प्रवचनकी माता समिति और गुप्तियोमें तत्पर रहता है ॥४२२॥

दस कल्पोंका कथन करते हैं—

गा०—आचेलक्य, औद्देशिकका त्याग, शय्या गृहका त्याग, राजपिण्डका त्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठता, प्रतिक्रमण, मास और पर्युषणा ये दस कल्प है ॥४२३॥

टी०—चेल वस्त्रको कहते हैं । चेलका ग्रहण परिग्रहका उपलक्षण है । अतः समस्त परिग्रहके त्यागको आचेलक्य कहते है । दस धर्मोंमें एक त्याग नामक धर्म है । समस्त परिग्रहसे विरति को त्याग कहते है वही अचेलता भी है । अतः अचेल यति त्याग नामक धर्ममें प्रवृत्त होता है । जो निष्परिग्रह है वह अकिंचन नामक धर्ममे तत्पर होता है । परिग्रहके लिये ही आरम्भमें प्रवृत्ति होती है । जो परिग्रहका त्याग कर चुका वह आरम्भ क्यों करेगा । अतः उसके असयम कैसे हो सकता है ? तथा जो परिग्रह रहित है वह सत्य धर्ममें भी सम्यक् रूपसे स्थित होता है । क्योंकि परिग्रहके निमित्त ही दूसरेसे झूँठ बोलना होता है । बाह्य परिग्रह क्षेत्र आदि और अभ्यन्तर परिग्रह रागादिके अभावमें झूँठ बोलनेका कारण नही है । अत. बोलनेपर अचेल मुनि सत्य ही बोलता है । अचेलके लाघव भी होता है । अचेलके अदत्तका त्याग भी सम्पूर्ण होता है क्योंकि परिग्रह की इच्छा होनेपर बिना दी हुई वस्तुको ग्रहण करनेमे प्रवृत्ति होती है । अन्यथा नही होती । तथा रागादिका त्याग होने पर भावोंकी विशुद्धि रूप ब्रह्मचर्य भी अत्यन्त विशुद्ध होता है । परिग्रहके निमित्त से क्रोध होता है । परिग्रहके अभावमे उत्तम क्षमा रहती है । मैं सुन्दर हूँ, सम्पन्न हूँ इत्यादि मद अचेलके नहीं होता अतः उसके मार्दव भी होता है । अचेल अपने भावको बिना किसी छल कपट के प्रकट करता है अतः उसके आर्जव धर्म भी होता है, क्योंकि मायाके मूल परिग्रहका उसने त्याग किया है । यतः वस्त्र आदि परिग्रहके त्यागमें तत्पर मुनि विराग

ततो विमुक्तोऽयं शीतोष्णदंशमशकादिपरिषहा[1]नामुरोकरणात्, निश्चेलतामभ्युपगच्छता तपोऽपि घोरमनुष्ठितं भवति । एवमचेलत्वोपदेशेन दशविधधर्माख्यानं कृतं भवति संक्षेपेण ।

अथवान्यथा प्रक्रम्यते अचेलतागुणप्रशंसा । संयमशुद्धिरेको गुणः । स्वेदरजोमलावलिप्ते चेले तद्योनिकास्तदाश्रयाश्च त्रसाः सूक्ष्माः स्थूलाश्च जीवा उत्पद्यन्ते, ते बाध्यन्ते चेलग्राहिणा । संसक्तं वस्त्रं तावदपनयामीति चेत्तर्हि हिंसा स्यात् । विवेचने च ते म्रियन्ते तत्र [2]संसक्तचेलवतः स्थाने, शयने, निषद्यायां, पाटने, छेदने, बन्धने, वेष्टने, प्रक्षालने, संघट्टने, आतपप्रक्षेपणे च जीवानां बाधेति महानसंयमः । अचेलस्यैवंविधासंयमाभावात् संयमविशुद्धिः । इन्द्रियविजयो द्वितीयः । सर्पाकुले वने विद्यामन्त्रादिरहितो यथा पुमान् दृढप्रयत्नो भवति एवमिन्द्रियनियमने अचेलोऽपि प्रयतते । अन्यथा शरीरविकारो लज्जनीयो भवेदिति । कषायाभावश्च गुणोऽचेलतायाः । स्तेनभयाद्गोमयादिरसेन लेपं कुर्वन्निगूहयित्वा कथंचिन्मायां करोति । उन्मार्गेण वा स्तेनवञ्चनां कर्तुं यायात् । गुल्मवल्ल्याद्यन्तर्हितो वा स्यात् । चेलादिर्ममास्तीति मानं चोद्वहते । बलादपहरणात्तेन[3] सह कलहं कुर्यात् । लाभाद्वा लोभः प्रवर्तते । इति चेलग्राहिणाममी दोषाः । अचेलतायां पुनरित्थंभूतदोषानुत्पत्तिः ध्यानस्वाध्याययोरविघ्नता च । सूचीसूत्रकर्पटादिपरिमार्गणसीवनादिव्याक्षेपेण तयोर्विघ्नो भवति । निःसंगस्य तथाभूतव्याक्षेपाभावात् । सूत्रार्थपौरुषीषु निर्विघ्नता, स्वाध्यायस्य ध्यानस्य च भावना । ग्रन्थत्यागश्च गुणः ।

भावको प्राप्त होकर शब्द आदि विषयोंमें आसक्त नहीं होता । तथा परिग्रहसे मुक्त होने से शीत, उष्ण, डास, मच्छर आदि परीषहोंको सहता है । अतः वस्त्र त्यागको स्वीकार करनेसे घोर तप भी होता है । इस प्रकार अचेलताके उपदेशसे संक्षेपसे दस प्रकारके धर्मों का कथन होता है ।

अथवा अचेलता गुणकी प्रशंसा अन्य प्रकारसे कहते हैं । अचेलतामें संयम की शुद्धि एक गुण है । पसीना, धूलि और मैलसे लिप्त वस्त्रमें उसी योनि वाले और उसके आश्रयसे रहने वाले त्रस जीव तथा सूक्ष्म और स्थूल जीव उत्पन्न होते हैं, वस्त्र धारण करनेसे उनको बाधा पहुँचती है । यदि कहोगे कि ऐसे जीवोंसे संबद्ध वस्त्रको अलग कर देंगे तो उनकी हिंसा होगी, क्योंकि उन्हें अलग कर देनेसे वे वहाँ मर जायेंगे । जीवोंसे संसक्त वस्त्र धारण करने वालेके उठने, बैठने, सोने, वस्त्र को फाड़ने, काटने, बाँधने, वेष्ठित करने, धोने, कूटने, और धूपमें डालने पर जीवोंको बाधा होनेसे महान् असंयम होता है । जो अचेल है उसके इस प्रकार का असंयम न होनेसे संयम की विशुद्धि होती है । दूसरा गुण है इन्द्रियोंको जीतना । जैसे सर्पोंसे भरे जंगलमें विद्या मंत्र आदिसे रहित पुरुष दृढ प्रयत्न—खूब सावधान रहता है उसी प्रकार जो अचेल होता है वह भी इन्द्रियोंको वशमें करनेका पूरा प्रयत्न करता है । ऐसा न करने पर शरीरमें विकार हुआ तो लज्जित होना पडता है । अचेलता का तीसरा गुण कषाय का अभाव है । चोरोंके डरसे वस्त्रको गोबर आदिके रससे लिप्त करके छिपानेपर कथंचित् मायाचार करना होता है अथवा चोरोंको धोखा देनेके लिए कुमार्गसे जाना पड़ता है या झाड़ झंखाड़में छिपना होता है । मेरे पास वस्त्र हैं ऐसा अहंकार होता है । यदि कोई बलपूर्वक वस्त्र छीने तो उसके साथ कलह करता है । वस्त्रलाभ होनेसे लोभ होता है । इस प्रकार वस्त्र धारण करने वालोंके ये दोष हैं । वस्त्रत्यागकर अचेल होनेपर इस प्रकारके दोष उत्पन्न नहीं होते और ध्यान तथा स्वाध्यायमें किसी प्रकारका विघ्न नहीं होता । सुई धागा, वस्त्र आदिकी खोज तथा सीने आदिमें लगनेसे स्वाध्याय और ध्यानमें

---

१. मा' सुरासुरोदीर्णाः सोढाश्चोपसर्गाः नि—आ० मु० ।

२. संसक्ता. चे—आ० मु० ।

३. णात्स्तेनेन—मु० ।

बाह्यचेलादिग्रन्थत्यागोऽभ्यन्तरपरिग्रहत्यागमूलः। यथा तुषनिराकरणमभ्यन्तरमलनिरासोपायः अतुषं धान्यं नियमेन शुद्ध्यति। भाज्या तु सतुषस्य शुद्धिः। एवमचेलवति नियमादेव भाज्या सचेले। वीतरागद्वेषता च गुणः। सचेलो हि मनोज्ञे वस्त्रे रक्तो भवति। दुष्यत्यमनोज्ञे। बाह्यद्रव्यालम्बनौ हि रागद्वेषौ तावसति परिग्रहे न भवतः। किं च शरीरे अनादरो गुणः शरीरगतादरवशेनैव हि जनोऽसंयमे परिग्रहे च वर्तते। अचेलेन तु तदादरस्त्यक्त, वातातपादिबाधासहनात्। स्ववशता च गुणः देशान्तरगमनादौ सहायाप्रतीक्षणात्। पिच्छमात्रं गृहीत्वा हि त्यक्तसकलपरिग्रहः पक्षीव यातीति। सचेलस्तु सहायपरवशः चौरभयात् भवति परवशमानसश्च कथं संयमं पालयेत्। चेतोविशुद्धिप्रकटनं च गुणोऽचेलतायां। कौपीनादिना प्रच्छादयतो भावशुद्धिर्न ज्ञायते। निश्चेलस्य तु निर्विकारदेहतया स्फुटा विरागता। निर्भयता च गुणः। ममेदं किमपहरन्ति चौरादयः, किं ताडयन्ति, बध्नन्तीति वा भयमुपैति सचेलो नाचेलो, भयातुरो वा किं न कुर्यात्। सर्वत्र विश्रब्धता च गुण.। निष्परिग्रह न किंचनापि शङ्कते। सचेलस्तु प्रतिमार्गयायिनं अन्य वा दृष्ट्वा न तत्र विश्वासं करोति। को वेत्ययं, किं करोति इति। अप्रतिलेखनता च गुणः। चतुर्दशविध उपधि गृह्णतां बहुप्रतिलेखनता न तथाचेलस्य। परिकर्मवर्जनं च गुण। उद्वेष्टनं, मोचनं, सीवनं, बधन, रजन इत्यादिकमनेक परिकर्म

विघ्न होता है। जो निःसंग है उसके इस प्रकारकी बाधा नही होती। सूत्र पौरुषी और अर्थ-पौरुषीमें निर्विघ्नता रहती है तथा स्वाध्याय और ध्यान की भावना होती है।

अचेलतामें एक गुण परिग्रहका त्याग है। बाह्य वस्त्र आदि परिग्रहका त्याग अभ्यन्तर परिग्रहके त्यागका मूल है। जैसे धानके छिलकेको दूर करना उसके अभ्यन्तर मलको दूर करनेका उपाय है। बिना छिलकेका धान्य नियमसे शुद्ध होता है। किन्तु जिसपर छिलका लगा है उसकी शुद्धि नियमसे नही होती। इसी प्रकार जो अचेल है उसकी अभ्यन्तर शुद्धि नियमसे होती है किन्तु जो सचेल है उसकी शुद्धि भाज्य है। अचेलता में रागद्वेषका अभाव एक गुण है जो वस्त्र धारण करता है वह मनको प्रिय सुन्दर वस्त्रसे राग करता है और मनको अप्रिय वस्त्रसे द्वेष करता है। राग और द्वेष बाह्य द्रव्यके अवलम्बनसे होते हैं। परिग्रहके अभावमें राग द्वेष नही होते। तथा शरीरमे अनादर भी अचेलताका गुण है। शरीरमें आदर होनेसे मनुष्य असंयम और परिग्रहमें प्रवृत्ति करता है। जो अचेल होता है उसका शरीरमे आदरभाव नही होता। तभी तो वह वायु धूप आदिका कष्ट सहता है। अचेलतामें स्वाधीनता भी एक गुण है क्योंकि देशान्तर में जाने आदिमें सहायकी प्रतीक्षा नहीं करनी होती। समस्त परिग्रहका त्यागी पीछी मात्र लेकर पक्षी की तरह चल देता है। जो सचेल होता है वह सहायके परवश होता है तथा चोरके भयसे उसका मन भी परवश होता है वह संयमको कैसे पाल सकता है। तथा अचेलतामे चित्तकी विशुद्धिको प्रकट करनेका भी गुण है। लंगोटी वगैरहसे ढाँकनेसे भावशुद्धिका ज्ञान नही होता। किन्तु वस्त्र रहितके शरीरके विकार रहित होनेसे विरागता स्पष्ट दीखती है। अचेलतामें निर्भयता गुण है। चोर आदि मेरा क्या हर लेंगे, क्यों वे मुझे मारेंगे या बाँधेंगे। किन्तु सवस्त्र डरता है और जो डरता है वह क्या नही करता। सर्वत्र विश्वास भी अचेलता का गुण है। जिसके पास कोई परिग्रह नही वह किसी पर भी शंका नही करता। किन्तु जो सवस्त्र है वह ता मार्ग में चलने वाले प्रत्येक जन पर अथवा अन्य किसी को देखकर उस पर विश्वास नही करता। यह कौन है क्या करता है यह शका होती है। अचेलतामें प्रतिलेखनाका न होना भी एक गुण है। चौदह प्रकारकी परिग्रह रखनेवालों को बहुत प्रतिलेखना करना होती है, अचेलको वैसी प्रतिलेखना नहीं करना पड़ती। परिकर्मका नहीं होना भी एक गुण अचेलका है। सवस्त्रको लपेटना, छोड़ना,

सचेलस्य । स्वस्य वस्त्रप्रावरणादेः स्वयं प्रक्षालनं सीवनं वा कुत्सितं कर्म, विभूषा, मूर्च्छा च । लाघवं च गुणः । अचेलोऽल्पोपधिः स्थानासनगमनादिकासु क्रियासु वायुवदप्रतिबद्धो लघुर्भवति नेतरः । तीर्थंकराचरितत्वं च गुणः—संहननबलसमग्रा मुक्तिमार्गप्रख्यापनपरा जिनाः सर्वे एवाचेला भूता भविष्यंतश्च । यथा मेर्वादिपर्वतगताः प्रतिमास्तीर्थंकरमार्गानुयायिनश्च गणधरा इति तेऽप्यचेलास्तच्छिष्याश्च तथैवेति सिद्धमचेलत्वं । चेलपरिवेष्टिताङ्गो न जिनसदृशः । व्युत्सृष्टप्रलम्बभुजो निश्चेलो जिनप्रतिरूपतां धत्ते । अनिगूढबलवीर्यता च गुणः । परीषहसहने शक्तोऽपि सचेलो न परीषहान्सहते इति । एवमेतद्गुणावेक्षणादचेलता जिनोपदिष्टा । चेलपरिवेष्टिताङ्ग आत्मानं निर्ग्रन्थं यो वदेत्तस्य किमपरे पाषण्डिनो न निर्ग्रन्थाः ? वयमेव न ते निर्ग्रन्था इति वाङ्मात्रं नाद्रियते मध्यस्थैः । इत्थं चेले दोषा अचेलतायां वा अपरिमिता गुणा इति अचेलता स्थितिकल्पत्वेनोक्ता ।

अथैवं मन्यसे पूर्वागमेषु वस्त्रपात्रादिग्रहणमुपदिष्टम् । तथा ह्याचारप्रणिधौ भणितं[1]—"पडिलेहेज्ज पात्रकंबलं धुवमिति । असत्सु पात्रादिषु कथं प्रतिलेखना ध्रुवं क्रियते ।" आचारस्यापि द्वितीयाध्यायो लोकविचयो नाम, तस्य पञ्चमे उद्देशे एवमुक्तं[2]—"पडिलेहणं पादपुंछणं, उग्गहं, कडासणं, अण्णदरं

सीना, बाँधना, रगना इत्यादि अनेक परिकर्म करने होते हैं। अपने वस्त्र, ओढने वगैरह को स्वयं धोना, सीना ये कुत्सित कर्म तथा शरीरको भूषित करना ममत्व आदि परिकर्म करने होते हैं। लाघव गुण भी अचेलतामें है। अचेलके पास थोड़ा परिग्रह होता है। उठना बैठना जाना आदि क्रियाओंमें वह वायुकी तरह बेरोक और लघु होता है, सवस्त्र ऐसा नहीं होता। तीर्थंकरोंके मार्गका आचरण करना भी अचेलताका गुण है। संहनन और बलसे पूर्ण तथा मुक्तिके मार्गका उपदेश देनेमें तत्पर सभी तीर्थंकर अचेल थे तथा भविष्यमें भी अचेल ही होंगे। जैसे मेरु आदि पर्वतों पर विराजमान जिन प्रतिमा और तीर्थंकरोके मार्गके अनुयायी गणधर भी अचेल होते हैं। उनके शिष्य भी उन्ही की तरह अचेल होते हैं। इस प्रकार अचेलता सिद्ध होती है। जिसका शरीर वस्त्रसे वेष्ठित है वह तीर्थंकरके समान नहीं है। जो दोनों भुजाओंको लटका कर खड़ा है और वस्त्र रहित है वह जिनके समान रूपका धारी होता है। अपने बल और वीर्यको न छिपाना भी अचेलताका गुण है। सवस्त्र परीषहोको सहनेमें समर्थ होते हुए भी परीषहों को नहीं सहता। इस प्रकार उक्त गुणोंके कारण अचेलता जिनदेवके द्वारा कही गई है। जो अपने शरीरको वस्त्रसे वेष्टित करके अपनेको निर्ग्रन्थ कहता है उसके अनुसार अन्य मतानुयायी साधु निर्ग्रन्थ क्यों नही हैं। हम ही निर्ग्रन्थ हैं वे निर्ग्रन्थ नहीं हैं यह तो कहना मात्र है। मध्यस्थ पुरुष इसे नही मानते। इस प्रकार वस्त्रमें दोष और अचेलतामें अपरिमित गुण होनेसे अचेलताको स्थितिकल्परूपसे कहा है।

यदि आप मानते हैं कि पूर्व आगमोंमें वस्त्र पात्र आदिके ग्रहणका उपदेश है। जैसे आचार प्रणिधिमें कहा है—'पात्र और कंबलकी प्रतिलेखना अवश्य करना चाहिये।' यदि पात्रादि नहीं होते तो उनकी प्रतिलेखना आवश्यक कैसे की जाती। आचारांगका भी दूसरा अध्याय लोक विचय नामक है। उसके पाँचवें उद्देशमें कहा है—'प्रतिलेखना, पैर पूँछना, उग्गह (एक उपकरण),

---

१. प्रतिलिखे-मु०।

२. 'वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं उग्गहणं च कडासणं एएसु चेव जाणिज्जा'।—आचा० २।५।९०।

कडासणं पालेज्ज इति । तथा वत्थेसणाए वुत्तं 'तत्थ एसे हिरिमणे सेगं वत्थं वा धारेज्ज पडिलेहणगं विदियं, तत्थ एसे जुग्गिदे देसे दुवे वत्थाणि धारिज्ज पडिलेहणगं तदियं । तत्थ एसे परिस्सहं अणधिहासस्स (अणहियासस्स) तगो वत्थाणि धारेज्ज पडिलेहणं चउत्थं ।'' तथा पादेसणाए कथितं ''हिरिमणे वा जुग्गिदे चावि अण्णगे वा तस्स णं कप्पदि वत्थादिकं पादचारित्तए इति'' । पुनश्चोक्तं तत्रैव—''अलाबुपत्तं वा, दारुगपत्तं वा मट्टिगपत्तं वा अप्पपाणं, अप्पबीजं अप्पसरिदं तथा अप्पकारं पात्रलाभे सति पडिग्गहिस्सामीति'' । वस्त्रपात्रे यदि न ग्राह्ये कथमेतानि सूत्राणि नीयन्ते । भावनाया चोक्तं—''वरिसं चीवरधारि तेन परमचेलके तु जिणे'' इति । तथा सूत्रकृतस्य पुंडरीके अध्याये कथितं 'ण कहेज्जो धम्मकहं वत्थपत्तादिहेदुमिति ।

निसेधेऽप्युक्तं—''कसिणाइं[3] वत्थकंबलाइं जो भिक्खु पडिग्गाहिदि आपज्जदि मासिगं लहुगं'' इति । एवं सूत्रनिर्दिष्टे चेले अचेलता कथं इत्यत्रोच्यते—आर्यिकाणामागमे अनुज्ञातं वस्त्रं कारणापेक्षया । भिक्षूणां ह्रीमानयोग्य शरीरावयवो दुश्चर्माभिलम्बमाननबीजो वा परीषहसहने वा अक्षमः स गृह्णाति ।

कटासन (चटाई) इनमेंसे कोई एक उपधि पाता है। तथा वस्त्रैषणामें कहा है—'जो लज्जाशील हो वह एक वस्त्र धारण करे, दूसरा प्रतिलेखना। देश विशेषमे दो वस्त्र धारण करे, तीसरा प्रतिलेखना धारण करे। जो परीषह सहनेमें असमर्थ हो वह तीन वस्त्र और चतुर्थ प्रतिलेखना धारण करे।'

तथा पात्रैषणामे कहा है—'जो लज्जाशील आदि है और पादचारी है उसके लिये वस्त्रादि योग्य हैं।' पुनः उसीमें कहा है—

'तुम्बीका पात्र, लकडीका पात्र अथवा मिट्टीका पात्र, पात्रलाभ होनेपर ग्रहण करूँगा जो अल्पबीज आदि हो।

यदि वस्त्र पात्र ग्रहण करने योग्य न होते तो ये सूत्र कैसे होते? भावनामे कहा है—भगवान् जिनने एक वर्ष तक देव दूष्य वस्त्र धारण किया। उसके पश्चात् अचेलक (निर्वस्त्र) रहे। तथा सूत्र कृतांगके पुण्डरीक अध्ययनमें कहा है—'वस्त्र पात्र आदिकी प्राप्तिके लिये धर्मकथा नहीं कहनी चाहिये।' निशीथ सूत्रमें कहा है—'जो भिक्षु पूर्ण वस्त्र कम्बल ग्रहण करता है वह मासिक लघु प्रायश्चित्त के योग्य है।' इस प्रकार सूत्र ग्रन्थोमें चेलका निर्देश होते हुए अचेलता कैसे संभव है?

इसका उत्तर देते हैं—कारणकी अपेक्षा आर्यिकाओंको आगममें वस्त्रकी अनुज्ञा है। भिक्षुओंमेंसे यदि किसीके शरीरका अवयव लज्जा योग्य हो, अथवा लिंगके मुँह पर चर्म न हो या अण्डकोष लम्बे हों, अथवा परीषह सहनेमें असमर्थ हो तो वह वस्त्र ग्रहण करता है। आचारांग में कहा है—

'आयुष्मान्' मैंने सुना, भगवान्ने ऐसा कहा। यहाँ संयमके अभिमुख स्त्री पुरुष दो प्रकार के होते हैं—एक सर्वश्रमणागत, एक नो सर्वश्रमणागत। उनमेंसे जो सर्वश्रमणागत, स्थिर अंग हाथ-पैरवाले तथा सब इन्द्रियोंसे पूर्ण होते हैं उनको एक भी वस्त्र धारण करना योग्य नहीं है केवल एक पीछी रखते हैं। तथा कल्प सूत्रमें कहा है—'लज्जाके कारण और शरीरके अंगके ग्लानियुक्त होने पर तथा परीषहोंको सहनेमें असमर्थ होने पर वस्त्र धारण करे।'

---

१. वत्थेसणाए अ० आ०। २. जुग्गिदे दे–मु०।

३. जे भिक्खकसिणाई वत्थाइं धरेइं धरेतं वा सातिज्जति ॥—निशीथसू० १।२३।

तथा चोक्तमाचारांगे 'सुदं मे आउस्सतो भगवदा एवमक्खादं । इह खलु संयमाभिमुखा दुविहा इत्थीपुरिसा जादा' भवंति । तं जहा—सव्वसमणागदे णोसव्वसमणागदे चेव । तत्थ जे सव्वसमणागदे थिरांगहत्थपाणिपादे सव्विंदियसमण्णागदे तस्स णं णो कप्पदि एगमवि वत्थं धारिदुं एवं परिहिदुं एव अण्णत्थ एगेण पडिलेहगेण इति'' । तथा चोक्तं कल्पे—'हिरिहेतुकं व होइ देहदुगुंछंति देहे जुग्गिदगे । धारेज्ज सियं वत्थं परिस्सहाणं च ण विहासीति (वसहई)''

द्वितीयमपि सूत्र कारणमपेक्ष्य वस्त्रग्रहणमित्यस्य प्रसाधकं आचारे विद्यते—''[1]अहं पुण एवं जाणेज्ज उपातिक्कंते हेमंतेहिं सुपडिवण्णे से अथापडिजुण्णमुवधिं पदिट्ठावेज्ज'' इति । हिमसमये शीतबाधासह' परिगृह्य चेलं तस्मिन्निष्क्रान्ते ग्रीष्मे समायाते प्रतिष्ठापयेदिति कारणापेक्ष ग्रहणमाख्यात । परिजीर्णविशेषोपादानाद्दृढानामपरित्याग इति चेत् अचेलतावचनेन विरोध' । प्रक्षालनादिकसंस्कारविरहात्परिजीर्णता वस्त्रस्य कथिता न तु दृढस्य (स्या) त्यागकथनार्थं । पात्रप्रतिष्ठापना सूत्रेणोक्तेति संयमार्थं पात्रग्रहण सिध्यति इति मन्यसे नैव, अचेलता नाम परिग्रहत्यागः पात्रं च परिग्रह इति तस्यापि त्याग सिद्ध एवेति । तस्मात्कारणापेक्षं वस्त्रपात्रग्रहणं । यदुपकरणं गृह्यते कारणमपेक्ष्य तस्य ग्रहणविधिः गृहीतस्य च परिहरणमवश्यं वक्तव्यम् । तस्माद्वस्त्रं पात्रं चार्थाधिकारमपेक्ष्य सूत्रेषु बहुषु यदुक्तं तत्कारणमपेक्ष्य निर्दिष्टमिति ग्राह्यम् । यच्च भावनायामुक्तं-वरिसं चीवरधारी तेण परमेचलगो जिणोत्ति ।—तदुक्तं विप्रतिपत्तिबहुलत्वात् । कथं ? केचिद्वदन्ति 'तस्मिन्नेव दिने तद्वस्त्रं वीरजिनस्य विलम्बनकारिणा गृहीतमिति' । अन्ये 'षण्मासाच्छिन्नं तत्कण्टकशाखादिभिरिति' । 'साधिकेन

आचारांगमें दूसरा सूत्र भी कारणकी अपेक्षा वस्त्र ग्रहणका साधक है—

'यदि ऐसा जाने हेमन्त बीत गया, ग्रीष्म ऋतु आ गई और वस्त्र जीर्ण नही हुआ तो स्थापित कर दे।' अर्थात् ठंडके समय शीतकी बाधा न सहने पर वस्त्र ग्रहण कर ले। उसके चले जाने पर और ग्रीष्मके आनेपर वस्त्रको कहीं रख दे। इस प्रकार कारणकी अपेक्षा वस्त्रका ग्रहण कहा है।

शङ्का—जीर्ण विशेषण देनेसे दृढ़ वस्त्र हो तो न छोडे ?

समाधान—तब तो अचेलता कथनके साथ विरोध आता है। धोना आदि संस्कार न किये जानेसे वस्त्रको जीर्ण कहा है, मजबूत वस्त्रका त्याग न करनेके लिए नही कहा।

शङ्का—सूत्रके द्वारा पात्रकी प्रतिष्ठापना कही है। अतः संयमके लिए पात्रका ग्रहण सिद्ध होता है ?

समाधान—नहीं, अचेलताका अर्थ है परिग्रहका त्याग। और पात्र परिग्रह है अतः उसका भी त्याग सिद्ध ही है। अतः कारणकी अपेक्षा वस्त्र पात्रका ग्रहण कहा है। और जो उपकरण कारणकी अपेक्षा ग्रहण किया जाता है उसके ग्रहण ग्रहणकी विधि और गृहीत उपकरणका त्याग अवश्य कहना ही चाहिए। इसलिए बहुतसे (श्वेताम्बरीय) सूत्रोंमें जो अर्थाधिकारकी अपेक्षा वस्त्र पात्रका कथन किया है वह कारण विशेषकी अपेक्षा कहा है—ऐसा ग्रहण करना चाहिये।

और जो भावनामें कहा है कि 'जिन एक वर्षतक वस्त्रधारी रहे उसके बाद अचेलक रहे।' उसमें बहुत विवाद हैं। कोई कहते हैं कि उसी दिन वह वस्त्र वीर भगवान्‌के किसी व्यक्तिने ले लिया था। दूसरोंका कहना है कि वह वस्त्र छह मासमें काँटे शाखा आदिसे छिन्न हो गया।

---

१. आचा आ० मु० । २. 'अह पुणं एवं जाणिज्जा-उवाइक्कते हेमंते गिम्हे पडिवन्ने, अहापरिजुन्नाइं । वत्थाइं परिट्ठविज्जा'—आचारा० ७।४।२०९ ।

वर्षेण तद्वस्त्रं खंडलकब्राह्मणेन गृहीतमिति केचित्कथयन्ति। केचिद्वातेन पतितमुपेक्षितं जिनेनेति। अपरे वदन्ति 'विलम्बनकारिणा जिनस्य स्कन्धे तदारोपितमिति'। एवं विप्रतिपत्तिबाहुल्यान्न दृश्यते तत्त्वं। सचेललिङ्गप्रकटनार्थं यदि चेलग्रहणं जिनस्य कथं तद्विनाश इष्टः। सदा तद्धारयितव्यम्। किं च यदि नश्यतीति ज्ञातं निरर्थकं तस्य ग्रहणं। यदि न ज्ञातमज्ञानमस्य प्राप्नोति। अपि च चेलप्रज्ञापना वाञ्छिता चेत् "आचेल[1]क्को धम्मो पुरिमचरिमाणं" इति वचो मिथ्या भवेत्। तथा नवस्थाने यदुक्तं "यथाहमचेलो तथा होउ पच्छिमो इदि होक्खदित्ति" तेनापि विरोधः। किं च जिनानामितरेषां वस्त्रत्यागकालो वीरजिनस्येव किं न निर्दिश्यते, यदि वस्त्रं तेषामपि भवेत्। एवं तु युक्तं वक्तुं 'सर्वत्यागं कृत्वा स्थिते जिने केनचि[2]दस वस्त्र निक्षिप्तं उपसर्गः स इति।

इदं चाचेलताप्रसाधनपरं शीतदंशमशकतृणस्पर्शपरीषहसहनवचनं परीषहसूत्रेषु। न हि सचेलं शीतादयो बाधन्ते। इमानि च सूत्राणि अचेलतां दर्शयन्ति—

'परिचत्तेसु वत्थेसु ण पुणो चेलमादिए।' अचेलपवरे भिक्खू जिणरूवधरे सदा॥
सचेलगो सुखी भवदि असुखी चावि अचेलगो। अहं तो सचेलो होक्खामि इदि भिक्खू ण चिंतए॥

कोई कहते है कि एक वर्षसे कुछ अधिक होने पर उस वस्त्रको खंडलक नामके ब्राह्मणने ले लिया था। कुछ कहते हैं कि हवासे वह वस्त्र गिर गया और जिनदेवने उसकी उपेक्षा कर दी। अन्य कहते हैं कि उस पुरुषने उस वस्त्रको वीर भगवान्के कन्धेपर रख दिया। इस प्रकार बहुत विवाद होनेसे इसमें कुछ तत्त्व दिखाई नहीं देता। यदि वीर भगवान्ने सवस्त्र वेष प्रकट करनेके लिए वस्त्र ग्रहण किया था तो उसका विनाश इष्ट कैसे हुआ। सदा उस वस्त्रको धारण करना चाहिये था। तथा यह वस्त्र विनष्ट होने वाला है ऐसा उन्हे ज्ञात था तो उसका ग्रहण निरर्थक था। यदि उन्हे यह ज्ञात नही था तो वीर भगवान् अज्ञानी ठहरते है। तथा यदि चेलप्रज्ञापना इष्ट थी तो 'प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करका धर्म अचेल था' यह वचन मिथ्या ठहरता है। तथा नव स्थानमें कहा है—'जैसे मै अचेल हुआ वैसे ही अन्तिम तीर्थङ्कर अचेल होंगे।' उससे भी विरोध आता है। तथा अन्य तीर्थङ्करोने भी वस्त्र धारण किया था तो वीर भगवान् की तरह उनका भी वस्त्र त्यागनेके कालका निर्देश क्यों नही है? इसलिए ऐसा कहना युक्त है कि जब वीर भगवान् सर्वस्व त्याग कर ध्यानमें लीन हुए तो किसीने उनके कन्धे पर वस्त्र रख दिया। यह तो उपसर्ग हुआ।

परीपहोंका कथन करनेवाले सूत्रोंमे जो शीत, डास-मच्छर, तृणस्पर्श परीषहोंके सहनेका कथन है वह अचेलताको सिद्ध करता है। वस्त्रधारीको शीत आदि बाधा नही पहुँचाते। तथा ये सूत्र भी अचेलताको बतलाते हैं—'वस्त्रोंका त्याग कर देने पर भिक्षु पुनः वस्त्र ग्रहण नही करता। सदा भिक्षु अचेल होकर जिनरूपको धारण करता है। भिक्षु ऐसा विचार नही करता कि सवस्त्र सुखी होता है और अवस्त्र दुःखी होता है इसलिए मै वस्त्र धारण करूँगा।' वस्त्र रहित साधुको कभी शीत सताता है तो वह घामकी चिन्ता नहीं करता, आलस त्याग सहन करता है। मेरे

---

१. 'आचेलक्को धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।' बृ. कल्पम् भा० गा० ६३६९।
२. इस्त्रं वस्तु नि—आ० मु०।

अचेलय लूहस्स (रुक्ख लूहस्स) सीदं फुसदि एगदा ।
णादवं से विसिंहोब्भो अग्गिसेवस्स आदिसो (?) ॥
ण मे णिवारणं अत्थि छादणं ता ण विज्जदि ।
अहं तावग्गि सेवामि इति भिक्खू ण चितए ॥
अचेलगाण लूहस्स संजदस्स तवस्सिणो ।
तणेसु सयमाणस्स णं से होदि विराधिदो ॥
एदेण ताव कप्पेण संवुडंगतिणंसित ।
देसावाए जो संपसिद्धं णिच्चं पुण दीहकप्पेहिं ॥

एतान्युत्तराध्ययने—

आचेलक्को य जो धम्मो जो वायं सन्तरुत्तरो ।
देसिदो वड्ढमाणेण पासेण य महप्पणा ॥
एगधम्मे पवत्ताण दुविधा लिंगकप्पणा ।
उभयेसिं पविट्ठाणमहं संसयमागदा ॥

इति वचनाच्चरमतीर्थस्यापि अचेलता सिद्धयति ।

णग्गस्स य मुंडस्स य दीहलोमणखस्स य ।
मेहुणादो विरत्तस्स किं विभूसा करिस्सदि ॥

इति दशवैकालिकायामुक्तं । एवमाचेलक्यं स्थितिकल्प. ।

श्रमणानुद्दिश्य कृतं भक्तादिकं उद्देसिगमित्युच्यते । तच्च षोडशविधं आधाकर्मादिविकल्पेन । तत्परिहारो द्वितीयः स्थितिकल्पः । तथा चोक्तं कल्पे—

सोलसविधमुद्देसं वज्जेदव्वंति पुरिमचरिमाणं ।
तित्थगराण तित्थे ठिदिकप्पो होदि विदिओ दु ॥

सेज्जाधरशब्देन त्रयो भण्यन्ते वसतिं यः करोति । कृतां वा वसतिं परेण भग्नां पतितैकदेशां वा

पास शीत दूर करनेका कोई साधन नहीं है न कोई छाजन ही है । मैं आगका सेवन करूँ' ऐसा भिक्षु विचार नहीं करता । जो तपस्वी अचेल होनेसे भारमुक्त है वह संयमकी विराधना नहीं करता । उत्तराध्ययन सूत्रमें केसी गौतमसे प्रश्न करता है—जो यह वर्धमान भगवान्ने अचेलक धर्म कहा है और भगवान् पार्श्वने 'सान्तरोत्तर' धर्म कहा है । एक ही धर्मके मानने वालोंमें दो प्रकारके लिंगकी कल्पनासे मैं संशयमें पड़ा हूँ । इस कथनसे अन्तिम तीर्थंकी भी अचेलता सिद्ध होती है ।

दशवैकालिक सूत्रमें कहा है—नग्न, मुण्डित और दीर्घ नख और रोम वाले तथा मैथुनसे विरक्त साधुको आभूषणोंसे क्या प्रयोजन है । इस प्रकार आचेलक्य स्थितिकल्प है ।

२. श्रमणोंके उद्देशसे बनाये गये भोजनादिको औद्देशिक कहते हैं । अधःकर्म आदिके भेदसे उसके सोलह प्रकार हैं । उसका त्याग दूसरा स्थितिकल्प है । कल्पमें कहा है—प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरोंके तीर्थमें सोलह प्रकारका उद्दिष्ट छोड़ने योग्य है । यह दूसरा स्थितिकल्प है ।

३. 'शय्याधर' शब्दसे तीन कहे जाते हैं—जो वसति बनाता है, दूसरेके द्वारा बनाई गई

संस्करोति, यदि वा न करोति न संस्कारयति केवलं प्रयच्छत्यत्रास्वेति। एतेषां पिण्डो नामाहारः, उपकरणं वा प्रतिलेखनादिकं शय्याधरपिण्डस्तस्य परिहरणं तृतीयः स्थितिकल्पः। सति शय्याधरपिण्डग्रहेण[1] प्रच्छन्नमयं योजयेदाहारादिकं। [2]धर्मफललोभाद्यो वा आहारं दातुमक्षमो दरिद्रो लुब्धो वा न चासौ वसतिं प्रयच्छेत्। सति वसती आहारादाने लोको मा निन्दति-स्थिता वसतावस्य[3] यतयो न चानेन मन्दभाग्येन तेषां आहारो दत्त इति। यतेः स्नेहः स्यादाहारं वसतिं च प्रयच्छति तस्मिन् बहूपकारितया। तत्पिण्डाग्रहणे तु नोक्तदोषसंस्पर्शः।

राजपिण्डाग्रहणं चतुर्थः स्थितिकल्पः। राजशब्देन इक्ष्वाकुप्रभृतिकुले जाताः। राजते प्रकृतिं रञ्जयति इति वा[4] राजा राजसदृशो महर्द्धिको भण्यते। तस्य पिण्डः तत्स्वामिको राजपिण्डः। स त्रिविधो भवति। आहारः, अनाहारः, उपधिरिति। तत्राहारश्चतुर्विधो अशनादिभेदेन। तृणफलकपीठादिः अनाहारः, उपधिर्नाम प्रतिलेखन वस्त्रं पात्रं वा। एवंभूतस्य राजपिण्डस्य ग्रहणे को दोष इति चेत् अत्रोच्यते-द्विविधा दोषा आत्मसमुत्थाः परकृताश्चेति। द्विविधा परसमुत्थाः मनुजतिर्यक्कृतविकल्पेनेति। तिर्यक्कृता द्विविधा ग्रामारण्यपशुभेदात्। ते द्विप्रकारा अपि द्विभेदा दुष्टा भद्राश्चेति। हया, गजा, गावो, महिषा, मेण्ढाः, श्वानश्च ग्राम्याः दुष्टाः।

वसतिको टूटने पर या उसका एक हिस्सा गिर जाने पर जो उसकी मरम्मत कराता है, जो न करता है न मरम्मत कराता है केवल देता है कि यहाँ ठहरिये। उनका पिण्ड अर्थात् भोजन, उपकरण अथवा प्रतिलेखना आदि शय्याधर पिण्ड कहाता है। उसका त्याग तीसरा स्थितिकल्प है। शय्याधरका पिण्ड ग्रहण करने पर वह धर्मके फलके लोभसे छिपाकर आहार आदिकी योजना कर सकता है। अथवा जो दरिद्र या लोभी होनेसे आहार देनेमें असमर्थ है वह ठहरनेका स्थान नहीं देगा क्योंकि वसतिमे ठहराकर आहार न देने पर लोक मेरी निन्दा करेंगे कि इसकी वसतिमे यतिगण ठहरे और इस अभागेने उन्हें आहार नहीं दिया। तथा आहार और वसति देने वाले पर यतिका स्नेह हो सकता है कि इसने हमारा बहुत उपकार किया है। किन्तु शय्याधरका आहार ग्रहण न करने पर उक्त दोष नहीं होते। ४ राजपिण्डका ग्रहण न करना चतुर्थ स्थितिकल्प है। राज शब्दसे इक्ष्वाकु आदि कुलमें उत्पन्न हुओंका ग्रहण किया जाता है। जो 'राजते' शोभित होता है या जनताका रंजन करता है वह राजा है। राजाके समान सम्पत्तिशाली भी राजा कहलाता है। उसका पिण्ड अर्थात् जिस पिण्डका वह स्वामी होता है, वह राजपिण्ड है। उसके तीन भेद हैं—आहार, अनाहार और उपधि। अशन आदिके भेदसे आहारके चार भेद हैं। तृणोंका फलक, आसन आदि अनाहार है। प्रतिलेखन, वस्त्र पात्रको उपधि कहते हैं।

शङ्का—इस प्रकारके राजपिण्डके लेनेमें क्या दोष है?

समाधान—दो प्रकारके दोष हैं एक आत्मसमुत्थ-स्वयं किया, और दूसरा परसमुत्थ। परसमुत्थके दो भेद हैं—एक मनुष्यकृत और एक तिर्यञ्चकृत। तिर्यञ्चकृतके दो भेद हैं—एक ग्रामीण पशुके द्वारा किया गया और एक जंगली पशुके द्वारा किया गया। इन दोनों प्रकारोंके भी दो भेद हैं—दुष्टके द्वारा और भद्रके द्वारा किया गया। गाँवके घोडे, हाथी, गाय, भैंस, मेढे, कुत्ते दुष्ट होते हैं। दुष्टोंसे संयमियोंका उपघात होता है। भद्र हुए तो संयमीको देखकर भागने पर गिरकर

---

१. पिंडधरण-अ० आ०।

२. फलेभाद्वे वा-अ०। फलेभोद्यो वा-आ०।

३. वमतावचना यत-अ०। वसत्यवसत्यवसाधतें-आ०।

४. वा राज्ञा सदृशः अ०।

दुष्टेभ्यः संयतोपघातः। भद्राः पलायमानाः स्वयं दुःखिताः पातेन अभिघातेन वा व्रतिनो मारयन्ति वा धावनोल्लङ्घनादिपराः प्राणिनः। आरण्यकास्तु व्याघ्रकप्याद्वीपिनो, वानरा वा राजगृहे बन्धनमुक्ता यदि क्षुद्रास्तत आत्मविपत्तिर्भद्रास्चेत्सत्यकायने पूर्वदोषः। मानुषास्तु ईश्वराः तलवरा म्लेच्छाः, भटाः, प्रेष्याः, दासाः दास्यः, इत्यादिकाः। तैराकुलत्वात् दुःप्रवेशनं राजगृहं प्रविशन्तं मत्ताः, प्रमत्ताः, प्रमुदिताश्च दासादयः उपहसन्ति, आक्रोशन्ति वारयन्ति उल्लङ्घयंति वा। अवरुद्धा याः स्त्रियो मैथुनसंज्ञया बाध्यमानाः पुत्रार्थिन्यो वा बलात्स्वगृहं प्रवेशयन्ति भोगार्थम्। विप्रकीर्णं रत्नसुवर्णादिकं परे गृहीत्वा अत्र संयता आयाता इति दोषमध्यारोपयन्ति। राजा विश्वस्तः श्रमणेषु इति श्रमणरूपं गृहीत्वागत्य दुष्टा खलीकुर्वन्ति। ततो रुष्टा अविवेकिनः दूषयन्ति श्रमणान्मारयन्ति बध्नन्ति। या एते परसमुद्भवा दोषाः। आत्मसमुद्भवास्तूच्यन्ते। राजकुले आहारं न शोधयति अदृष्टमाहृतं च गृह्णाति। विकृतिसेवनादिङ्गालदोषः, मन्दभाग्यो वा दृष्ट्वानर्घ्यं रत्नादिकं गृह्णीयाद्वामलोचना वा 'सुरूपा' समवलोक्यानुरक्तस्तासु भवेत्। तां विभूतिं, अन्तःपुराणि, पण्याङ्गना वा विलोक्य निदानं कुर्यात्। इति दोषसंभवो यत्र तत्र राजपिण्डग्रहणप्रतिषेधो न सर्वत्र प्रकल्प्यते। ग्लानार्थं[2] राजपिण्डोऽपि दुर्लभं द्रव्यं। अगाढकारणे वा श्रुतस्य व्यवच्छेदो माभूदिति।

चरणस्थेनापि विनयो गुरूणां महत्तराणां शुश्रूषा च कर्तव्येति पञ्चमः कृतिकर्मसंज्ञितः स्थितिकल्पः।

या चोट खाकर स्वयं दुःखी होते हैं अथवा दौडते हुए व्रतियोंको मारते हैं। जगलके रहने वाले व्याघ्र, सिंह, बन्दर यदि राजाके आँगनमें खुले घूमते हो और क्षुद्र हो तो उनसे अपने पर विपत्ति आ सकती है। यदि भद्र हुए तो यतिको देखकर दौड़ने पर स्वयं चोट खा सकते है या यतियोंको चोट पहुँचा सकते हैं। मनुष्य स्वामी, कोतवाल, म्लेच्छ, योद्धा, सेवक दास दासी आदि अनेक है। राजाका घर इन सबसे भरा होनेसे उसमें प्रवेश करना कठिन है। मत्त, प्रमत्त, और हर्षसे उत्फुल्ल दास आदि यतिको देखकर हँसते हैं, चिल्लाते हैं, रोकते हैं, अवज्ञा करते हैं। कामसे पीडित स्त्रियाँ अथवा पुत्र प्राप्तिकी इच्छुक स्त्रियाँ बलपूर्वक भोगके लिए साधुको अपने घरमें ले जाती हैं। राजगृहमे पड़े हुए रत्न सुवर्ण आदिको दूसरे ग्रहण करके यह दोष लगा सकते है कि यहाँ साधु आये थे। राजाका श्रमणो पर विश्वास है ऐसा जानकर दुष्ट लोग श्रमणका रूप रखकर दुष्ट काम कर सकते हैं। तब रुष्ट होकर अविवेकी पुरुष श्रमणोको दोष देते हैं, उन्हे मारते और बाँधते हैं। ये परसे उत्पन्न हुए दोष हैं।

अब आत्मासे हुए दोष कहते हैं—राजकुलमे आहारका शोधन नही होता, बिना देखा और छीना हुआ आहार ग्रहण करना होता है। सदोष आहार लेनेसे इगाल दोष होता है। कोई अभागा साधु बहुमूल्य रत्नादि देखकर उठा सकता है अथवा सुन्दर स्त्रियोको देखकर उनपर अनुरक्त हो सकता है। उस विभूति, अन्तःपुर और बाजारू स्त्रियोंको देखकर निदान कर सकता है कि मुझे भी ये वस्तुएँ प्राप्त हों। इस प्रकारके दोष जहाँ समव हों वहाँ राजाका आहार नही लेना चाहिए। सर्वत्र लेनेका निषेध नहीं है। रोगीके लिए राजपिण्ड भी दुर्लभ होता है। अथवा कोई ऐसा कारण उपस्थित हो कि साधुका मरण बिना भोजनके होता हो और साधुके मरनेसे श्रुतका विच्छेद होता हो तो राजपिण्ड ले सकते है कि श्रुतका विच्छेद न हो।

५ चारित्रमें स्थित साधुके द्वारा भी महान् गुरुओंकी विनय सेवा करना पाँचवा कृतिकर्म नामक स्थितिकल्प है।

---

१. वानुकपा- आ० मु०। २. गीतार्थे-आ०।

ज्ञातजीवनिकायस्य दातव्यानि नियमेन व्रतानि इति षष्ठः स्थितिकल्पः। अचेलतायां स्थितः उद्दे-शिकराजपिण्डपरिहरणोद्यतः गुरुभक्तिकृद्विनीतो व्रतारोपणार्हो भवति। उक्तं च—

> आचेलक्के य ठिदो उद्देसादी य परिहरदि दोसे।
> गुरुभत्तिओ विणीओ होदी वदाणं सदा अरिहो ॥ [ ]

इति व्रतदानक्रमोऽयं स्वयमासीनेषु गुरुषु, अभिमुखं[1] स्थिताभ्यो विरतिभ्यः, श्रावकश्राविकावर्गाय च व्रतं प्रयच्छेत्। स्वयं स्थित सूरि स्ववामे देशे स्थिताय विरताय व्रतानि दद्यात्। उक्तं च—

> विरदी सावगवग्गं च णिविट्ठं ठविय तं च सपडिमुखे।
> विरद च ठिदो वामे ठविय गणिदो उपट्ठावो उवट्ठवेज्ज ॥ [ ]

इति ज्ञात्वा श्रद्धाय पापेभ्यो विरमण व्रत वृत्तिकरण छादनं संवरो विरतिरित्येकार्था.। उक्तं च—

> णाऊण अब्भुवेच्चय पावाण विरमणं वद होई।
> विदिकरणं छादण संवरो विरदित्ति एगट्ठो ॥ [ ]

इति। आद्यपाश्चात्यतीर्थयो रात्रिभोजनविरमणषष्ठानि पंच महाव्रतानि। तत्र प्राणवियोगकरणं प्राणिनः प्रमत्तयोगात्प्राणवधस्ततो विरतिरहिंसाव्रत। व्यलीकभाषणेन दुःखं प्रतिपद्यन्ते जीवाः इति मत्वा दयावतो यत्सत्याभिधान तद्द्वितीय व्रत। ममेदमिति सकल्पोपनीतद्रव्यवियोगे दुःखिता भवन्ति इति तद्दयया

---

६ जीवोके भेद-प्रभेदोको जानने वालेको ही नियमसे व्रत देना चाहिए। यह छठा स्थिति-कल्प है। जो अचेलतामे स्थित हो, उद्दिष्ट और राजपिण्डका त्याग करनेमे तत्पर हो, गुरुकी भक्ति करने वाला हो, विनयी हो, वही व्रत देनेके योग्य होता है। कहा है—

'जो अचेलकपनेमे स्थित है और उद्दिष्ट आदि दोषोका सेवन नही करता, गुरुका भक्त और विनीत है वह सदा व्रतोको धारण करनेका पात्र होता है।' यह व्रत देनेका क्रम है— गुरु-जनोंके स्वय रहते हुए आचार्य स्वय स्थित होकर सामने स्थित विरत स्त्रियोको श्रावक श्राविका वर्गको व्रत प्रदान करें। तथा अपने वाम देशमे स्थित विरतोको व्रत प्रदान करे। कहा है—

'विरत स्त्रियोंको और श्रावक वर्गको अपने सामने स्थित करके और विरत पुरुषोंको अपने वाम भागमें स्थापित करके गणि व्रत प्रदान करें।' इस प्रकार जानकर तथा श्रद्धा करके पापोंसे विरत होना व्रत है। वृत्तिकरण छादन, संवर और विरति, ये सब शब्द एकार्थक हैं। कहा है—'जानकर और स्वीकार करके पापोंसे विरत होना व्रत है। वृत्तिकरण, छादन, संवर, विरति ये सब एकार्थक है।'

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरके तीर्थमें रात्रिभोजन त्यागनामक छठे व्रतके साथ पाँच महा-व्रत होते हैं। प्रमादयुक्तभावके सम्बन्धसे प्राणिके प्राणोंका वियोग करना हिंसा है और उससे विरति अहिंसा व्रत है। झूठ बोलनेसे जीव दुःखी होते हैं ऐसा मानकर दयालु पुरुषका सत्य बोलना दूसरा व्रत है। जिसमें 'यह मेरा है' ऐसा संकल्प है उस द्रव्यके चले जानेपर जीव दुःखी होते हैं। इसलिए उसपर दया करके बिना दी हुई वस्तुके ग्रहणसे विरत होना तीसरा व्रत है।

---

१ स्थितेभ्यो-अ०।

अदत्तस्यादानाद्विरमणं तृतीयं व्रतम् । सर्षपपूर्णायां नाल्यां तप्तायसशलाकाप्रवेशनमिव योनिद्वारस्थानेकजीवपीडा-लिङ्गप्रवेशेनेति तद्बाधापरिहारार्थं तीव्रो रागाभिनिवेशः कर्मबन्धस्य महतो मूलं इति ज्ञात्वा श्रद्धावतः मैथुनाद्विरमणं चतुर्थं व्रतम् । परिग्रहः षड्जीवनिकायपीडाया मूलं मूर्च्छानिमित्तं चेति सकलग्रन्थत्यागो भवति इति पञ्चमं व्रतम् । तेषामेव पंचानां व्रतानां पालनार्थं रात्रिभोजनविरमणं षष्ठं व्रतम् । सर्वजीवविषयम-हिंसाव्रतं अदत्तपरिग्रहत्यागौ सर्वद्रव्यविषयौ द्रव्यैकदेशविषयाणि शेषव्रतानि । उक्तं च--

'पढमम्मि सव्वजीवा तदिये चरिमे य सव्वदव्वाइं ।
सेसा महव्वदा खलु तदेक्कदेसम्मि दव्वाणं ॥ [आवश्यक ७९१ गा०]

पञ्चमहाव्रतधारिण्याश्चिरप्रव्रजिताया अपि ज्येष्ठो भवति अधुनाप्रव्रजितः पुमान् इत्येष सप्तमः स्थितिकल्पः पुरुषज्येष्ठत्वं । पुरुषत्वं नाम संग्रहं उपकारं, रक्षां च कर्तुं समर्थः । पुरुषप्रणीतश्च धर्मः इति तस्य ज्येष्ठता । ततः सर्वाभिः संयताभिः विनयः कर्तव्यो विरतस्य । येन च स्त्रियो लघ्व्यः परप्रार्थनीयाः, पररक्षापेक्षिण्यः, न तथा पुमांस इति च पुरुषस्य ज्येष्ठत्वं । उक्तं च—

जेणित्थी हु लघुसिगा परप्पसज्झा य पच्छणिज्जा य ।
भीरु अरक्खणज्जेत्ति तेण पुरिसो भवदि जेट्ठो ॥ [ ]

अचेलतादिकल्पस्थितस्य यद्यतिचारो भवेत् प्रतिक्रमणं कर्तव्यमित्येषोऽष्टमः स्थितिकल्पः । नामस्थापना-द्रव्यक्षेत्रकालभावविकल्पेन षड्विधं प्रतिक्रमणं । भट्टिणी भट्टदारिगा इत्ययोग्यनामोच्चारणं कृतवतस्तत्परि-

---

सरसोंसे भरी हुई नलीमें तपाई हुई लोहकी कीलके प्रवेशकी तरह योनिद्वारमें स्थित अनेक जीवोंको लिंगके प्रवेशसे पीड़ा होती है। उस पीडाको दूर करनेके लिए 'रागका तीव्र अभिनिवेश महान् कर्मबन्धका मूल है' ऐसा जानकर और श्रद्धा करके मैथुनसे विरत होना चतुर्थ व्रत है। परिग्रह छह्कायके जीवोंको पीडा पहुँचानेका मूल है और ममत्वभावमें निमित्त है ऐसा जानकर समस्त परिग्रहका त्याग पाँचवाँ व्रत है। उन्हीं पाँच व्रतोका पालन करनेके लिए रात्रि भोजनका त्याग छठा व्रत है। अहिंसाव्रतका विषय सब जीव हैं अर्थात् सब जीवोंकी हिंसाका त्याग उसमें है। बिना दी हुई वस्तुका त्याग और परिग्रहका विषय भी सब द्रव्य है। अर्थात् अचौर्यव्रती बिना दिया हुआ कोई भी ऐसा द्रव्य नहीं लेता जिसका कोई स्वामी है। परिग्रहका त्यागी भी सब द्रव्योंका त्याग करता है। किन्तु शेष व्रत द्रव्योंके एकदेशको विषय करते हैं। कहा है—

'प्रथम व्रतमें सब जीव, तीसरे और अचौर्यव्रतमें सब द्रव्य तथा शेष महाव्रत द्रव्योंके एकदेशमें होते हैं।'

७ चिरकालसे दीक्षित और पाँच महाव्रतोंकी धारी आर्यिकासे तत्काल दीक्षित भी पुरुष ज्येष्ठ होता है। इस प्रकार पुरुषको ज्येष्ठता सातवाँ स्थितिकल्प है। पुरुषत्व कहते हैं संग्रह, उपकार और रक्षा करनेमें समर्थ होना। धर्म पुरुषके द्वारा कहा गया है इसलिए पुरुषकी ज्येष्ठता है। इसलिए सब आर्यिकाओंको साधुकी विनय करनी चाहिए। यतः स्त्रियाँ लघु होती हैं, परके द्वारा प्रार्थना किये जाने योग्य होती हैं। दूसरेसे अपनी रक्षाकी अपेक्षा करती हैं। पुरुष ऐसे नहीं होते इसलिए पुरुषकी ज्येष्ठता है। कहा है—'यतः स्त्री लघु होती है, दूसरेके द्वारा प्रसाध्य होती है, प्रार्थनीय होती है, डरपोक होती है, अरक्षणीय होती है इसलिए पुरुष ज्येष्ठ होता है।'

८. अचेलता आदि कल्पमें स्थित साधुके यदि अतिचार लगता है तो उसे प्रतिक्रमण करना चाहिए। यह आठवाँ स्थितिकल्प है। नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे छह

हरणं नामप्रतिक्रमणं । असंयतमिथ्यादृष्टिजीवप्रतिबिंबपूजादिषु प्रवृत्तस्य तत्प्रतिक्रमणं स्थापनाप्रतिक्रमणं । सचित्तमचित्तं मिश्रमिति त्रिविकल्पं द्रव्यं तस्य परिहरणं द्रव्यप्रतिक्रमणं । त्रसस्थावरबहुलस्य स्वाध्यायध्यानविघ्नसंपादनपरस्य वा परिहरणं क्षेत्रप्रतिक्रमण । संध्यास्वाध्यायाकालादिषु गमनागमनादिपरिहार कालप्रतिक्रमणं । मिथ्यात्वासंयमकषाययोगेभ्यो निवृत्तिर्भावप्रतिक्रमणं । प्रतिक्रमणसहितो धर्मः आद्यपाश्चात्ययोर्जिनयोः आतापराधप्रतिक्रमणं मध्यवर्तिनो जिना उपदिशन्ति ।[1]

'आलोयणादुविवसिय राविग इत्तिरियभिक्खचरिया य ।
पक्खिय चाउम्मासिय संवच्छर उत्तमट्ठेय ॥ एते आलोचनाकल्पाः ।'
पडिकमणं राविग देवसिगं इत्तिरियभिक्खचरिया य ।
पक्खिय चाउम्मासिय संवच्छर उत्तमट्ठेय य ॥ [ ]

अमी प्रतिक्रमणभेदा आद्यन्ततीर्थंकरप्रणीते पञ्चयमे धर्मे, इतरत्र च चतुर्यमे प्रतिक्रमणस्य कालनियम उक्तः । यदायमतिचारं प्राप्तस्तदा प्रतिक्रमणमध्यात्मिक दर्शनं । उक्तं च—

'समणो मायेसणो विय दूरायादो य सव्वसमणो वि ।
[2]सुमणे वि यदि य सदुवो जावरमाणो वि अगदो वि ॥
ठावणिओ आयरिय णाणज्झामित्ति मज्झिमजिणेसु ।
ण पडिक्कमणं तेण दु जे णातिक्कमदि सो णेव ॥ [ ]

प्रकारका प्रतिक्रमण होता है। भट्टिणी, भर्तृदारिका इत्यादि अयोग्य नामका उच्चारण करनेपर उसका परिहार करना नाम प्रतिक्रमण है। असंयत मिथ्यादृष्टि जीवके प्रतिबिम्बकी पूजा आदि करनेवाला जो उसका प्रतिक्रमण करता है वह स्थापना प्रतिक्रमण है। सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारका द्रव्य होता है उसका परिहार द्रव्य प्रतिक्रमण है। जो क्षेत्र त्रस और स्थावर जीवोंसे भरा है, स्वाध्याय और ध्यानमे विघ्न करनेवाला है उसका परिहार क्षेत्र प्रतिक्रमण है। सन्ध्याके समय, स्वाध्यायके समय तथा असमयमे गमन आगमन आदिका परिहार कालप्रतिक्रमण है। मिथ्यात्व असयम, कषाय और योगसे निवृत्ति भावप्रतिक्रमण है। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरका धर्म प्रतिक्रमण सहित है अर्थात् प्रतिक्रमण करना ही चाहिए। और मध्यके बाईस तीर्थंकर दोष लगनेपर ही प्रतिक्रमणका उपदेश करते हैं। आलोचना देवसिक, रात्रिक, इत्तिरिय, भिक्षाचर्या, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सावत्सरिक, उत्तमार्थ—ये दस आलोचनाकल्प हैं।

देवसिक प्रतिक्रमण, रात्रिक प्रतिक्रमण, इत्तिरिय, भिक्षाचर्या, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थ ये प्रतिक्रमणके भेद हैं। आदि और अन्तिम तीर्थंकरके द्वारा कहे पाँच महाव्रतरूप धर्ममें और अन्य तीर्थंकरोंके द्वारा कहे चार यमरूप धर्ममें प्रतिक्रमणके कालका नियम कहा है। जब साधु अतिचार लगाता है तब प्रतिक्रमण आध्यात्मिक दर्शन है। कहा है—

[इन गाथाओंका शुद्धपाठ न मिलनेसे अर्थका स्पष्टीकरण नहीं हो सका है।] चौबीस तीर्थंकरोंमेंसे मध्यके बाईस तीर्थंकरोंके साधुओंके लिए प्रतिक्रमण आवश्यक नहीं है। दोष

---

१. पडिकमणं देवसिअं राइअं च इत्तरिअमावकहियं च ।
पक्खिअ चाउम्मासिअ संवच्छरि उत्तमट्ठेअ ॥—आव० ४ अ० । (अभि० रा०, पडिक्क०)

२. सुमिणंतियं दियसयं ।

सद्दादिसु वि पविसी आदिय अंतम्मि सो पडिक्कमदि ।
मज्झिमगा अण्णेंति य असमूढमणा हुवे उभयं ॥
इरियं गोयर सुमिणादि सव्वमाचरदु मा व आचरदु ।
पुरिम चरिमेसु सव्वो सव्वं णियमा पडिक्कमदि ॥ [मूलाचार ७।३१]

मध्यमतीर्थंकरशिष्या दृढबुद्धयः, एकाग्रचित्ताः, अमोघलक्ष्यास्तस्माद्यदाचरितं तद्गर्हया शुद्धयति । इतरे तु चलचित्ता न लक्षयन्ति स्वापराधास्तेन सर्वं प्रतिक्रमण उपदिष्टं जिनाभ्यां अंधघोटकदृष्टान्तन्यायेन ।

ऋतुषु षट्सु एकैकमेव मासमेकत्र वसतिरन्यदा विहरति इत्यय नवम स्थितिकल्प । एकत्र चिर-कालावस्थाने नित्यमुद्गमदोषं च न परिहर्तुं क्षम. । क्षेत्रप्रतिबद्धता, सातगुरुता, अलसता, सौकुमार्यभावना, ज्ञातभिक्षाग्राहिता च दोषाः । पज्जोसमणकल्पो नाम दशम । वर्षाकालस्य चतुर्षु मासेषु एकत्रैवावस्थान भ्रमणत्यागः । स्थावरजंगमजीवाकुला हि तदा क्षिति । तदा भ्रमणे महानसंयम वृष्ट्या शीतवातपातेन च वात्मविराधना । पतेद् वाप्यादिषु स्थाणुकण्टकादिभिर्वा प्रच्छन्नैर्जलेन कर्दमेन वा बाध्यत इति विंशत्यधिक

लगनेपर ही प्रतिक्रमण करते हैं। इसी बातको इन गाथाओमें कहा है। शब्दादि विषयोमें प्रवृत्ति होनेपर आदि और अन्तिम तीर्थंकरोके साधु प्रतिक्रमण करते ही है। मध्यम तीर्थंकरोंके साधु करते भी हैं और नही भी करते।

ईर्यासमिति, गोचरी और स्वप्न आदिमें अतिचार लगे या न लगे। किन्तु प्रथम तीर्थंकर और अन्तिम तीर्थंकरके शिष्य सब प्रतिक्रमण दण्डकोको पढते हैं अर्थात् अतिचार नही लगनेपर भी उन्हें प्रतिक्रमण करना होता है।'

मध्यम बाईस तीर्थंकरोंके शिष्य दृढ बुद्धिवाले, एकाग्रचित्त और अव्यर्थ लक्षवाले होते हैं। इसलिए अपने आचरणकी गर्हा करनेसे शुद्ध होते हैं। किन्तु प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरके शिष्य चंचल चित्त होनेसे अपने अपराधोंको लक्षमें नही लेते। इसलिए प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरने सबके लिए प्रतिक्रमण करनेका उपदेश दिया है। इसमें अन्ध घोडेका दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे घोड़के अन्धे होनेपर अनजान वैद्यपुत्रने अपने पिताके अभावमें उसपर सब दवाइयोंका प्रयोग किया तो घोडा ठीक हो गया। इसी तरह अपने दोषोसे अनजान साधु भी प्रतिक्रमणसे शुद्ध होता है।

९. छह ऋतुओंमें एक-एक महीना ही एक स्थानपर रहना और अन्य समयमे विहार करना नवम स्थितिकल्प है। एक स्थानमें चिरकाल ठहरनेपर नित्य ही उद्गमदोष लगता है। उसे टाला नहीं जा सकता। तथा एक ही स्थानमे बहुत समयतक रहनेसे क्षेत्रसे बँध जानेका, सुखशीलता, आलसीपना, सुकुमारताको भावना तथा जाने हुएसे भिक्षा ग्रहण करनेके दोष लगते हैं।

१० पज्जोसमण नामक दसवाँ कल्प है। उसका अभिप्राय है वर्षाकालके चारमासोंमें भ्रमण त्यागकर एक ही स्थानपर निवास करना। उस कालमें पृथिवी स्थावर और जंगम जीवोंसे व्याप्त रहती है। उस समय भ्रमण करनेपर महान् असंयम होता है। तथा वर्षा और शीतवायुके बहनेसे आत्माकी विराधना होती है। वापी आदिमें गिरनेका भय रहता है। जलादिमें छिपे

दिवसमात्रं एकत्रावस्थानमित्ययमुत्सर्गः । कारणापेक्षया तु हीनमधिकं वावस्थानं, संयतानां आषाढशुद्धदशम्यां स्थितानां उपरिष्टाच्च कार्तिकपौर्णमास्यास्त्रिंशद्दिवसावस्थानं । वृष्टिबहुलतां, श्रुतग्रहणं, शक्त्यभाववैयावृत्यकरणं प्रयोजनमुद्दिश्य अवस्थानमेकत्रेति उत्कृष्टः कालः । मार्यां, दुर्भिक्षे, ग्रामजनपदचलेन वा गच्छनाशनिमित्ते समुपस्थिते देशान्तरं याति । अवस्थाने सति रत्नत्रयविराधना भविष्यतीति । पौर्णमास्यामाषाढ्यामतिक्रान्तायां प्रतिपदादिषु दिनेषु याति । यावच्च त्यक्ता विंशतिदिवसा एतदपेक्ष्य हीनता कालस्य । एष दशमः स्थितिकल्पः ।

हुए ठूंठ, कण्टक आदिसे अथवा जल कीचड़ आदिसे कष्ट पहुँचता है। इसलिए एक सौ बीस दिनतक एकस्थानपर रहना उत्सर्गरूप नियम है। कारणवश कम या अधिक दिन भी ठहरते हैं। आषाढ शुक्लादशमीको ठहरनेवाले साधु आगे कार्तिककी पूर्णमासीके पश्चात् तीस दिन ठहर सकते हैं। वर्षाकी अधिकता, शास्त्रपठन, शक्तिका अभाव, वैयावृत्य करनेके उद्देश से एकस्थानपर ठहरनेका यह उत्कृष्टकाल है। इस बीचमें यदि मारी रोग फैल जाये, दुर्भिक्ष पड जाये या गच्छका विनाश होनेके निमित्त मिल जायें तो देशान्तर चले जाते हैं क्योंकि वहाँ ठहरनेपर भविष्यमें रत्नत्रयकी विराधना हो सकती है।

आषाढकी पूर्णमासी बीतने पर प्रतिपदा आदिके दिन देशान्तर गमन करते हैं। इस तरह बीस दिन तक कम होते हैं। इस अपेक्षा कालकी हीनता होती है। यह दसवां स्थितिकल्प है।

विशेषार्थ—श्वेताम्बर परम्परामें भी ये ही दस कल्प माने गये हैं। किन्तु उनमेंसे चार स्थितकल्प हैं और छह अस्थितकल्प है। शय्यातर पिण्ड, चातुर्याम, पुरुषकी ज्येष्ठता और कृतिकर्म य चार कल्प स्थित हैं। अर्थात् मध्यम बाईस तीर्थंकरोंके साधु और महा विदेहोंके साधु शय्यातर पिण्ड ग्रहण नही करते, चतुर्याम रूप धर्मका पालन करते हैं, पुरुषकी ज्येष्ठता पालते हैं अर्थात् चिरदीक्षित आर्यिका भी उसी दिनके दीक्षित साधुको नमस्कार करती है। तथा सब कृतिकर्म करते है। आचेलक्क, औद्देशिक, प्रतिक्रमण, राजपिण्ड, मास और पर्युषण ये छह कल्प मध्यम तीर्थंकरोंके तथा महाविदेहके साधुओंके लिए अनवस्थित हैं। यदि वस्त्र धारण करनेसे वस्त्रको लेकर रागद्वेष उत्पन्न होता है तो अचेल रहते हैं अन्यथा सचेल रहते हैं। साधुओंके उद्देशसे बनाया भोजन उद्दिष्ट होनेसे सदोष होता है। किन्तु उक्त तीर्थंकरों और महाविदेहोंके साधु अपने उद्देशसे बना भोजन नहीं लेते। अन्य साधुओंके उद्देशसे बना भोजन ले लेते हैं। प्रतिक्रमण भी दोष लगने पर करते हैं, अन्यथा नही करते। राजपिण्डमें यदि कहे गये दोष होते है तो ग्रहण नही करते। यदि एक क्षेत्रमें रहने पर दोष न हो तो पूर्वकोटी काल भी रहते हैं। दोष हो तो मास पूर्ण नहीं होने पर भी चल देते हैं। पर्युषणामें भी यदि वर्षामें विहार करने पर दोष हो तो एक क्षेत्रमें रहते हैं दोष न हो तो वर्षाकालमें भी विहार करते हैं। श्वेताम्बर परम्परामें प्राकृतमें दसवें कल्पका नाम 'पज्जोसवणा' है उसका संस्कृत रूप पर्युषणाकल्प है। इसीसे भादोंके दश लक्षण पर्वको पर्युषण पर्व भी कहते हैं। श्वेताम्बर परम्परामें भी इसका उत्कृष्ट काल आसाढ़ी पूर्णिमासे कार्तिकी पूर्णिमा तक चार मास है। जघन्य काल सत्तर दिन है। भाद्रपद शुक्ला पंचमीसे कार्तिककी पूर्णिमा तक सत्तर दिन होते हैं। सम्भवतः इसीसे दिगम्बर परम्परामें पर्युषण पर्व भाद्रपद शुक्ला पंचमीसे प्रारम्भ होता है। इस कालमें साधु विहार नहीं करते।

एदेसु दससु णिच्चं समाहिदो णिच्चवज्जभीरू य ।
खवयस्स विसुद्धं सो जधुत्तचरियं उवविधेदि ॥४२४॥

'एदेसु दससु णिच्चं' एतेषु दशस्थितिकल्पेषु नित्यं । 'समाहिदो' समाहित । 'णिच्चवज्जभीरू य' नित्यं पापभीरुः । 'खवगस्स' क्षपकस्य । 'विसुद्धं जधुत्तचरियं' यथोक्तां चर्यां । 'सो उवविधेदि' स विदधाति ॥४२४॥

निर्यापकस्य सूरेराचारवत्त्वे क्षपकस्य गुणं व्याचष्टे—

पंचविधे आयारे समुज्जदो सव्वसमिदचेट्ठाओ ।
सो उज्जमेदि खवयं पंचविधे सुट्ठु आयारे ॥४२५॥

'पंचविधे आयारे समुज्जदो' पंचप्रकारे आचारे समुद्यत । 'समिदसव्वचेट्ठाओ' सम्यक् प्रवृत्ता सर्वाश्चेष्टा यस्य सः । 'सुट्ठु उज्जमेदि' सुष्ठु उद्योगं कारयति । 'खवगं' क्षपकं । क्व ? 'पंचविधे' आचारे ॥४२५॥

य. आचारवान्न भवति तदाश्रयणे दोषमाचष्टे—

सेज्जोवधिसंथारं भत्तं पाणं च चयणकप्पगदो ।
उवकप्पिज्ज असुद्धं पडिचरए वा असंविग्गे ॥४२६॥

'सेज्जं' वसतिं । 'उवधिं' उपकरणं । 'संथारभत्तपाणं च' संस्तर भक्तपानं च । 'असुद्धं' उद्गमादिदोषोपहतं । 'उवकप्पेज्ज' उपकल्पयेत् । क. 'चयणकप्पगदो' ज्ञानाचारादिकादोषच्च्यवनमुपगत 'पडिचरए वा' प्रतिचारकान्वा योजयेत । 'असंविग्गे' असंविग्नान् । एवमसंयमे कृते महान्कर्मबन्धो भविष्यति ततोऽस्माकं महती संसृतिरनेकापन्मूलेति भयरहितान् ॥४२६॥

सल्लेहणं पयासेज्ज गंधं मल्लं च समणुजाणिज्जा ।
अप्पाउग्गं व कधं करिज्ज सइरं व जंपिज्ज ॥४२७॥

'सल्लेहणं पगासेज्ज' सल्लेखना प्रकाशयेत् लोकस्य । 'गंधं मल्लं च समणुजाणेज्ज' गन्ध माल्य वानुजानीयात् । गन्धमाल्यानयनमभ्युपगच्छेत् । 'अप्पाउग्गं व कहं कहेज्ज' अप्रयोग्या वा कथा कथयेत्

गा०—इन दस कल्पोंमें जो सदा समाधान युक्त रहता है और नित्य पापसे डरता है वह आचार्य क्षपक ऊपर कहे विशुद्ध आचरणको पालन कराता है ॥४२४॥

निर्यापकाचार्यके आचारवान होने पर क्षपकका लाभ बतलाते हैं—

गा०—जो आचार्य पाँच प्रकारके आचारमें तत्पर रहता है और जिसकी सब चेष्टाएँ सम्यग्रूपसे होती हैं वह क्षपकसे पाँच प्रकारके आचारमें उद्योग कराता है ॥४२५॥

जो आचार्य आचारवान नहीं होता, उसका आश्रय लेनेमें दोष कहते हैं—

गा०—ज्ञानाचार आदिसे थोड़ा सा च्युत हुआ आचार्य उद्गम आदि दोषोंसे दूषित अशुद्ध वसति, उपकरण, संस्तर और भक्तपानकी व्यवस्था करेगा । तथा ऐसे परिचारक मुनियोंको नियुक्त करेगा जिन्हें यह भय नहीं है कि इस प्रकारका असंयम करने पर महान् कर्मबन्ध होगा और उससे हमारा संसार बढ़ेगा जो अनेक आपत्तियोंका मूल है ॥४२६॥

गा०—तथा वह क्षपककी सल्लेखनाको लोगों पर प्रकाशित कर देगा । सुगंध माला आदि सेवनकी अनुमति दे देगा । क्षपकके अशुभ परिणाम करने वाली अयोग्य कथा वार्ता करेगा । और

क्षपकस्याशुभपरिणामविधायिनीं । 'सइरं वा' स्वैरं वा । 'जंपेज्ज' जल्पेत् । आराधकस्यायत इदं युक्तं न वेत्यविचार्य वदेद्वा ॥४२७॥

ण करेज्ज सारणं वारणं च खवयस्स चयणकप्पगदो ।
उद्देज्ज वा महल्लं खवयस्स वि किंचणारंभं ॥४२८॥

'ण करेज्ज' न कुर्यात् । किं 'सारणं' रत्नत्रये वृत्ति । 'वारणं च' निषेधं न कुर्यात् । तेभ्यः प्रच्यवमानस्य । 'खवगस्स क्षपकस्य । कः ? 'चयणकप्पगदो च्यवनकल्पगतः । 'उद्देज्ज वा महल्लं' आरम्भं कारयेद्वा महान्तं आरम्भं पट्टशाला, पूजा, विमानं वा । 'खवयस्स वि' क्षपकस्यापि कंचन ॥४२८॥

आयारत्थो पुण से दोसे सव्वे वि ते विवज्जेदि ।
तम्हा आयारत्थो णिज्जवओ होदि आयरिओ ॥४२९॥

'आयारत्थो पुण' आचारस्थः पुन. सूरि. तान्सर्वान्वर्जयति दोषान् । 'तम्हा' तस्मात् । गुणेषु प्रवर्तमानो दोषेभ्यो व्यावृत्तश्च । 'आयारत्थो आयरिओ णिज्जवओ होदि' आचारस्थ एवाचार्यो निर्यापको भवति नापर' । व्याख्यातमाचारवत्त्वम् ॥४२९॥

आधारवत्त्वव्याख्यानायोत्तरप्रबन्धः—

चोद्दसदसणवपुव्वी महामदी सायरोव्व गंभीरो ।
कप्पववहारधारी होदि हु आधारवं णाम ॥४३०॥

'चोद्दसदसणवपुव्वी' चतुर्दशपूर्वी, दशपूर्वी, नवपूर्वी वा । 'महामदी' महामति । 'सायरोव्व गंभीरो' सागर इव गम्भीर. । 'आधारवं णाम कप्पववहारधारी वा' कल्पव्यवहारज्ञो वा आधारवान् ज्ञानी । दुष्परिणामा एते मनोवाक्कायविकल्पा , शुभा वा पुण्यास्रवभूताः । शुद्धा वा शुभाशुभकर्मसंवरहेतव., इति बोधयति ।

यह उचित है या नहो यह विचार किये बिना क्षपकके आगे स्वच्छन्दता पूर्वक बात करेगा ॥४२७॥

गा० तथा स्वय आचार च्युत आचार्य क्षपकके रत्नत्रयसे डिगने पर रत्नत्रयमें प्रवृत्ति और रत्नत्रयसे च्युत होनेका निषेध नहीं करेगा । तथा क्षपकसे कोई महान् आरम्भ पूजा, विमानयात्रा, पट्टकशाला आदि करायेगा ॥४२८॥

गा०—किन्तु आचारवान् आचार्य इन सब दोषोंको नहीं करता । इसलिए जो गुणोंमें प्रवृत्ति करता है और दोषोंसे दूर रहता है ऐसा आचारवान् आचार्य ही निर्यापक होता है, दूसरा नहीं । इस प्रकार आचारवत्त्वका कथन किया ॥४२९॥

आगे आधारवत्त्वका कथन करते हैं—

गा०-टी०—जो चौदह पूर्व, दस पूर्व अथवा नौ पूर्वका धारी हो, महाबुद्धिशाली हो, सागर की तरह गम्भीर हो, कल्प व्यवहार अर्थात् प्रायश्चित्त शास्त्रका ज्ञाता हो वह ज्ञानी आधारवान् होता है । वह समझाता है कि मन वचन कायके विकल्प रूप ये परिणाम अशुभ हैं, शुभ परिणाम पुण्यकर्मके आस्रवके कारण हैं और शुद्ध परिणाम शुभ और अशुभ कर्मोंके संवरमें कारण हैं । तथा वह रात दिन श्रुतका उपदेश करते हुए शुभ और शुद्ध परिणामोंमें क्षपकको लगाता है । इसलिए वह दर्शन, चारित्र और तपका आधारवाला होनेसे आधारवान होता है । ज्ञान आधार है और

शुभेषु शुद्धेषु वा प्रवर्तयति श्रुतमन्तरमुपदिशन्नतोऽसौ दर्शनस्य, चारित्रस्य, तपसश्च आधारवत्त्वात्। ज्ञानमाधार[1]स्तद्वानाधारवान् ॥४३०॥

यस्तु ज्ञानवान्न भवति तदाश्रयणे दोषमाचष्टे—

[2]णासेज्ज अगीदत्थो चउरंगं तस्स लोगसारंगं।
णट्ठम्मि य चउरंगे ण उ सुलहं होइ चउरंगं ॥४३१॥

'णासेज्ज अगीदत्थो' नाशयेदगृहीतसूत्रार्थः। 'तस्स' तस्य क्षपकस्य। 'चउरंगं' चत्वारि ज्ञानदर्शनचारित्रतपांसि अङ्गानि यस्य मोक्षमार्गस्य तं चतुरङ्गं। लोके यत्सारं निर्वाणं तस्याङ्गं उपकारकं। चतुरङ्गं यदि नाम नष्टं तथापि तच्चतुरङ्गं पुनर्लभ्येत इति शङ्कामिमां निरस्यति। 'णट्ठम्मि य चउरंगे' नष्टे इह जन्मनि चतुरङ्गे मुक्तिमार्गे। 'ण उ सुलहं होदि चउरंगं' नैव सुखेन लभ्यते तच्चतुरङ्गं। विनाशितचतुरङ्गो मिथ्यात्वपरिणतः कुयोनिमुपगतः कथमिव लभते चतुरङ्गं इत्यभिप्रायः ॥४३१॥

क्षपकस्य चतुरङ्गं कथमगृहीतार्थो नाशयतीत्यारेकायामित्थमसौ नाशयतीति दर्शयति—

संसारसायरम्मि य अणंतबहुतिव्वदुक्खसलिलम्मि।
संसरमाणो दुक्खेण लहदि जीवो मणुस्सत्तं ॥४३२॥
तह चेव देसकुलजाइरूवमारोग्गमाउगं बुद्धि।
सवणं गहणं सड्ढा य संजमो दुल्लहो लोए ॥४३३॥

जो ज्ञानवान् है वह आधारवान् है ॥४३०॥

जो ज्ञानवान् नही है उसका आश्रय लेनेमें दोष कहते है—

गा०-टी०—जिसने सूत्रके अर्थको ग्रहण नहीं किया है ऐसा आचार्य उस क्षपकके चतुरंगको नष्ट कर देता है। ज्ञान दर्शन चारित्र तप ये चार अंग जिस मोक्षमार्गके होते हैं वह चतुरंग है। लोकमे जो सारभूत निर्वाण है उसका चतुरंग-मोक्षमार्ग उपकारक है। वह नष्ट कर देता है। शायद कोई कहे कि यदि चतुरंग नष्ट हुआ तो पुनः प्राप्त हो जायेगा ? इस शंकाका निरास करते हैं—इस जन्ममें चतुरग मोक्षमार्गके नष्ट होने पर चतुरंग सुलभ नही है—सुखसे नही मिलता। क्योंकि जो चतुरंगको नष्ट कर देता है वह मिथ्यात्व रूप परिणत होकर कुयोनिमें चला जाता है। तब वह कैसे चतुरंगको प्राप्त कर सकता है यह उक्त कथनका अभिप्राय है ॥४३१॥

सूत्रके अर्थको ग्रहण न करने वाला आचार्य क्षपकके चतुरंगको कैसे नष्ट करता है ? ऐसी आशंका करने पर बतलाते हैं कि वह इस प्रकार नष्ट करता है—

गा०—जिसमें अनन्त अत्यन्त तीव्र दुःखरूप जल भरा है उस ससार सागरमें भ्रमण करते हुए जीव बड़े कष्टसे मनुष्य भव प्राप्त करता है ॥४३२॥

गा०—उस संसारमें देश, कुल, जाति, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, धर्मका सुनना, उसे ग्रहण करना, उस पर श्रद्धा होना तथा संयम ये सब दुर्लभ हैं ॥४३३॥

---

१. स्तद्वानाधारवान् श्रद्धानाधारवान् आ० मु०। २. इयं गाथा व्यवहारसूत्रे (उ० ३, गा० ३७७) अस्ति।

एवमवि दुल्लहपरंपरेण लद्धूण संजमं खवओ ।
ण लहिज्ज सुदी संवेगकरी अबहुसुयसयासे ॥४३४॥

सम्मं सुदिमलहंतो दीहद्धं मुचिमुवगमित्ता वि ।
परिवडइ मरणकाले अकदाधारस्स पासम्मि ॥४३५॥

सक्का वंसी छेत्तुं तत्तो उक्कड्ढिओ पुणो दुक्खं ।
इय संजमस्स वि मणो विसएसुक्कड्ढिदुं दुक्खं ॥४३६॥

आहारमओ जीवो आहारेण य विराधिदो संतो ।
अट्टदुहट्टो जीवो ण रमदि णाणे चरित्ते य ॥४३७॥

सुदिपाणयेण अणुसट्ठिभोयणेण य पुणो उवग्गहिदो ।
तण्हाछुहाकिलंतो वि होदि झाणे अवक्खित्तो ॥४३८॥

पढमेण व दोवेण व बाहिज्जंतस्स तस्स खवयस्स ।
ण कुणदि उवदेसादिं समाधिकरणं अगीदत्थो ॥४३९॥

'पढमेण वा' क्षुधा । 'दोवेण वा' पिपासया वा । 'बाधिज्जंतस्स तस्स' बाध्यमानस्य तस्य । 'खवयस्स' क्षपकस्य । 'ण कुणदि उवदेसादिं' न करोत्युपदेशादि । 'समाधिकरणं' समाधिः क्रियते येनोपदेशादिना तं । 'अगीदत्थो' अगृहीतार्थः ॥४३९॥

गा०—इस प्रकार परम्परा रूपसे दुर्लभ संयमको पाकर क्षपक अल्पज्ञानी आचार्यके पासमे वैराग्य करने वाली देशना नहीं प्राप्त करता ॥४३४॥

गा०—सम्यक् उपदेश प्राप्त न करनेसे चिरकाल तक असंयमके त्यागपूर्वक संयमको धारण करके आधारवत्त्व गुणसे रहित आचार्यके पासमें मरते समय संयमसे गिर जाता है ॥४३५॥

गा०—जैसे छोटेसे बाँसको छेदना शक्य है। किन्तु बाँसोंके झाड़मेंसे खींचकर निकालना बहुत कठिन है। इसी तरह संयमीका भी मन विषयोंसे हटाना अल्प ज्ञानी गुरुके लिए कठिन है। आशय यह है कि यद्यपि क्षपकने रागद्वेषको जीतनेकी प्रतिज्ञा की तथापि शरीरकी सल्लेखना करनेपर जब भूख प्यासकी परीषह सताती है तो वह श्रुतज्ञानमें उपयोग लगाये विना अल्पज्ञ आचार्यके पासमें राग-द्वेषमें पड़कर चारित्रका आराधक नहीं रहता ॥४३६॥

गा०—यह जीव आहारमय है, अन्न ही इसका प्राण है। आहारके न मिलनेपर आर्त और रौद्रध्यानसे पीडित होकर ज्ञान और चारित्रमें मन नहीं लगाता ॥४३७॥

गा०—किन्तु ज्ञानी आचार्यके द्वारा श्रुतका पान करानेसे और योग्य शिक्षारूप भोजनसे उपकृत होनेपर भूख प्याससे पीड़ित होते हुए भी ध्यानमें स्थिर होता है ॥४३८॥

गा०—भूख और प्याससे पीड़ित उस क्षपकको अल्पज्ञानी आचार्य समाधिके साधन उपदेश आदि नहीं करता ॥४३९॥

सो तेण विडज्झंतो पप्पं भावस्स भेदमप्पसुदो ।
कलुणं कोलुणियं वा जायणकिविणत्तणं कुणइ ॥४४०॥

'**सो तेण विडज्झंतो**' स क्षपकस्तेन प्रथमेन द्वितीयेन वा । '**विडज्झंतो**' विविधं दह्यमान । '**पप्पं भावस्स भेदमप्पसुदो**' प्राप्य शुभपरिणामस्य भेदं '**विडज्झंतो**' '**अप्पसुदो**' अल्पश्रुतः । '**कलुणं कोलुणियं च कुणदि**' यथा शृण्वतां करुणा भवति तथा करोति । '**जायणं च कुणदि**' याञ्चा वा करोति । '**किविणत्तणं कुणदि**' दीनतां वा करोति ॥४४०॥

उक्कूवेज्ज व सहसा पिएज्ज असमाहिपाणयं चावि ।
गच्छेज्ज व मिच्छत्तं मरेज्ज असमाधिमरणेण ॥४४१॥

'**उक्कूवेज्ज व सहसा**' पूत्कुर्याद्वा सहसा । '**पिएज्ज**' पिबेद्वा । '**असमाधिपाणगं चावि**' असमाधिपानक-मुच्यते यत्स्वयं स्थित्वा स्वहस्ताभ्यां काले प्रायोग्यपानं ततोऽन्यदस्थित्वा अकाले च यत्पान तदसमाधिपानक-मुच्यते । '**गच्छेज्ज व मिच्छत्तं**' मिथ्यात्वं वा गच्छेत् । कष्टोऽयं धर्म किमनेन श्रमविधायिनेति निन्दापरेण चेतसा । '**मरेज्ज असमाधिमरणेण**' मृतिमुपेयात् असमाधिना ॥४४१॥

संथारपदोसं वा णिब्भच्छिज्जंतओ णिगच्छेज्जा ।
कुव्वंते उड्डाहो णिच्छुब्भंते विकिंते वा ॥४४२॥

'**संथारपदोसं वा कुणदि**' इति शेषः, संस्तरं वा दुष्यति । '**णिब्भच्छिज्जंतगो णिगच्छेज्ज**' रोदनं पूत्कारं वा कुर्वन्त यदि निर्भर्त्सयन्ति निर्यायात् । '**कुव्वंते**' पूत्कुर्वति सति क्षपके । '**उड्डाहो**' अयशो धर्मस्य भवति । '**णिच्छुब्भंते**' बहिर्निःसरणे । '**विकिंते वा**' पृथक्करणे वा । '**उड्डाहो होदि**' धर्मदूषणो भवति । एवमगृहीतार्थः प्रतिकारानभिज्ञो नाशयति क्षपकम् ॥४४२॥

गृहीतार्थः पुनः किं करोतीति चेदाह—

गीदत्थो पुण खवयस्स कुणदि विधिणा समाधिकरणाणि ।
कण्णाहुदीहिं उव-गहिदो य पज्जलइ ज्झाणग्गी ॥४४३॥

गा०—वह अल्पज्ञानी क्षपक भूख प्याससे पीड़ित हो शुभभावको छोड़ देता है और ऐसा रुदन करता है कि सुननेवालोंको दया आती है, याचना करता है और दीनता प्रकट करता है ॥४४०॥

गा०—अथवा सहसा चिल्लाने लगता है अथवा असमाधिपानक पीता है। स्वयं खड़े होकर अपने दोनों हाथोंसे भोजनके कालमें जो योग्यपान किया जाता है उससे अन्य बिना खड़े हुए असमयमें जो पान किया जाता है उसे असमाधिपानक कहते हैं। तथा यह धर्म कष्टदायक है इससे केवल श्रम ही होता है ऐसे निन्दायुक्त चित्तसे मिथ्यात्वको प्राप्त होता है असमाधिपूर्वक मरणको प्राप्त होता है ॥४४१॥

गा०—अथवा वह संस्तरको दोष देता है। रोने चिल्लानेपर उसका तिरस्कार करो तो बाहर भाग जायेगा। उसके रोने चिल्लानेपर, या बाहर निकल जानेपर अथवा संघसे निकाल देनेपर धर्ममें दूषण लगता है। इस प्रकार अज्ञानी आचार्य प्रतीकार न जानता हुआ क्षपकका जीवन नष्ट कर देता है ॥४४२॥

गृहीतार्थज्ञानी आचार्य क्या करता है यह कहते हैं—

---

१. उवगोइदो आ० मु० ।

'गीदत्थो पुण' गृहीतार्थः पुनः। 'खवगस्स' क्षपकस्य। 'कुणदि' करोति। 'विधिणा' क्रमेण। 'समाधिकरणाणि' समाधानक्रियाः। 'कण्णाहुदीहिं' कर्णाहुतिभिः। 'उवगहिदो' उपगृहीतः। 'पज्जलदि' प्रज्वलति। 'झाणग्गी' ध्यानाग्निः ॥४४३॥

खवयस्सिच्छासंपादणेण देहपडिकम्मकरणेण ।
अण्णेहिं वा उवाएहिं सो हु समाहिं कुणइ तस्स ॥४४४॥

'खवयस्सिच्छासंपादणेण समाधिं कुणदि' क्षपकस्येच्छासम्पादनेन समाधिं करोति। यदिच्छत्यसौ तद्दत्वा 'समाधिं' रत्नत्रये समवधानं तस्य करोति इति यावत्। 'देहपडिकम्मकरणेण' शरीरबाधाप्रतिकारक्रियया। 'अण्णेहिं वा उवाएहिं' [1]अन्यैर्वा सामवचनोपकरणदानचिरंतनक्षपकोपाख्यानादिभिरुपायैः समाधिं करोति ॥४४४॥

णिज्जूढं पि य पासिय मा भीही देइ होइ आसासो ।
संघेइ समाधिं पि य वारेइ असंवुडगिरं च ॥४४५॥

'णिज्जूढं पि य पासिय' निर्यापकैर्यतिभिः परित्यक्तं दृष्ट्वा किं भवता परीषहासहनेन चलचित्तेनास्माकं ? त्यक्तोऽस्यस्माभिरिति। 'मा भीहि देइ' मा भैषीरित्यभयं ददाति। 'होदि' भवति। 'य आसासो' च आश्वासः। 'संधेइ' संधत्ते 'समाधिं पि य' रत्नत्रयैकाग्र्यमविच्छिन्नं। 'वारेदि असंवुडगिरं च' वारयत्यसंवृतानां वचनं नैवं वक्तव्यो भवद्भिरयं महात्मा। को हि नामायमिव शरीरं आहारं दुस्त्यजं त्यक्तुं क्षम इति प्रोत्साहयन् ॥४४५॥

जाणदि फासुयदव्वं उवकप्पेदुं तहा उदिण्णाणं ।
जाणइ पडिकारं वादपित्तसिंभाण गीदत्थो ॥४४६॥

'जाणदि य' जानाति च। 'फासुयदव्वं' योग्यं द्रव्यं। 'उवकप्पेदुं' विधातुं। 'तहा उदिण्णाणं' तयो-

---

गा०—किन्तु गृहीतार्थ आचार्य विधिपूर्वक क्षपकका समाधान करनेकी क्रिया करता है। उसके कानोंमें धर्मोपदेशकी आहुति देता है उससे उपगृहीत होकर ध्यानरूपी अग्नि भड़क उठती है ॥४४३॥

गा०—वह क्षपककी इच्छा पूर्ति करके—जो वह चाहता है वह देकर—समाधि करता है अर्थात् रत्नत्रयमें उसका मन स्थिर करता है। तथा शारीरिक बाधाका प्रतिकार करके और अन्य उपायोंसे जैसे शान्तिदायक वचन, उपकरणदान और प्राचीन क्षपकोंके दृष्टान्त आदिसे समाधि करता है ॥४४४॥

गा०—निर्यापक अर्थात् सेवा करनेवाले यतियोंने जिस क्षपकको यह कहकर 'कि आप परीषह सहन नहीं करते और आपका चित्त चंचल है हमे आपसे अब कुछ भी प्रयोजन नहीं है, छोड़ दिया है, उसको भी देखकर बहुश्रुत आचार्य 'मत डरो' इस प्रकार अभय देते हैं। आश्वासन देते हैं, और रत्नत्रयमें एकाग्रता बनाये रखते हैं। तथा असंयतवचनोंका निवारण करते हैं कि इस महात्माको आपको ऐसा नही कहना चाहिए। इनके समान कठिनतासे छोड़नेके योग्य शरीर और आहारको कौन छोड़नेमें समर्थ है। इस प्रकार प्रोत्साहन देते हैं ॥४४५॥

गा०—शास्त्रके अर्थको हृदयंगम करनेवाले आचार्य उदीर्ण हुई भूख प्यासकी वेदनाको

---

१. अन्यैर्वा उपायैः तस्य समाधिं करोति–अ०।

दीर्णानां क्षुधादीनां विनाशने समर्थं । 'जाणदि पडिकारं' जानाति प्रतिकारं । 'वादपित्तसिंभाणं' वातपित्तश्लेष्मणां । 'गीदत्थो' गृहीतार्थः ॥४४६॥

अहव सुदिपाणयं से तहेव अणुसिट्ठिभोयणं देइ ।
तण्हाछुहाकिलिंतो वि होदि ज्झाणे अवक्खित्तो ॥४४७॥

'अहव सुदिपाणयं' अथवा श्रुतिपानं । 'से देदि' तस्मै ददाति । 'अणुसिट्ठिभोयणं देदि' अनुशासनभोजनं वा । तेन पानेन भोजनेन च । 'तण्हाछुहाकिलिंतो वि' क्षुधा तृषा वा बाध्यमानोऽपि । 'ज्झाणे अवक्खित्तो होदि' ध्याने अव्याक्षिप्तचित्तो भवति ॥४४७॥

दोषान्तरमप्याचष्टे—अगृहीतार्थसकाशे वसतः क्षपकस्य—

संसारसागरम्मि य णंते बहुतिव्वदुक्खसलिलम्मि ।
संसरमाणो जीवो दुक्खेण लहइ मणुस्सत्तं ॥ ४४८ ॥

'संसारसागरम्मि य' संसार सागर इव तस्मिन्संसारसागरे द्रव्यक्षेत्रकालभवभावेषु परिवर्तमानः संसारसागर । तत्र द्रव्यससारो नाम शरीरद्रव्यस्य ग्रहणमोक्षणाभ्यावृत्तिरसकृत् । तद्यथा—प्रथमायां पृथिव्यां सप्तधनूषि त्र्यो हस्ता षडङ्गुलाधिका. प्रमाण नारकाणा शरीरस्य । अधोऽधस्तद्द्विगुणोच्छ्रयता यावत्पञ्चधनुःशतानि । एवंविकल्पेषु शरीरेषु एकैकं शरीरमनन्तवारं गृहीतमतीते काले भव्यानां तु भाविनि काले भाज्यमनन्तवारग्रहण । अभव्याना तु भविष्यति कालेऽप्यनन्तानि तथाविधानि शरीराणि । एष द्रव्यससार स्थूलतः ।

नष्ट करनेमें समर्थ प्रासुकद्रव्योंको देना जानते हैं। तथा वात पित्त कफका प्रकोप होनेपर उनका प्रतिकार करना भी जानते हैं ॥४४६॥

गा०—अथवा वह आचार्य क्षपकको शास्त्रोपदेशरूपी पेय और अनुशासनरूप भोजन देते हैं। उस पान और भोजनसे भूख और प्याससे पीड़ित भी क्षपक ध्यानमें एकाग्रचित्त होता है ॥४४७॥

अल्पज्ञानी आचार्यके पास रहने वाले क्षपकके अन्य दोष भी कहते हैं—

गा०—बहुत तीव्र दुःख रूपी जलसे भरे अनन्त संसार रूपी सागरमें संसरण करता हुआ जीव बड़े कष्टसे मनुष्य भव प्राप्त करता है ॥४४८॥

टी०—ससारके पाँच प्रकार हैं—द्रव्य संसार, क्षेत्र संसार, काल ससार, भव संसार और भाव संसार। शरीर द्रव्यका बार-बार ग्रहण और त्याग द्रव्य संसार है। प्रथम नरकमें नारकियोंके शरीरका प्रमाण सात धनुष, तीन हाथ छह अंगुल है। नीचे-नीचेके नरकोंमें उसकी दुगुनी ऊँचाई होते होते अन्तमें पाँच सौ धनुष ऊँचाई है। इस प्रकारके भेद वाले शरीरोंमें जीवोंने अतीत कालमें एक-एक शरीर अनन्त बार ग्रहण किया। भविष्य कालमें भव्य जीवोंका अनन्तबार ग्रहण करना भाज्य है अर्थात् जो मुक्त हो जायेंगे वे अनन्त बार ग्रहण नहीं कर सकेंगे, शेष कर सकेंगे। किन्तु अभव्य जीव तो भविष्य कालमें भी उन शरीरोंको अनन्त बार ग्रहण करेंगे। यह द्रव्य संसारका कथन स्थूलरूपसे है।

क्षेत्रसंसार उच्यते—सीमन्तकादीनि अप्रतिष्ठान्तानि चतुरशीतिनरकशतसहस्राणि। तत्रैकैकस्मिन् नरके अनन्ता जन्ममरणयोर्वृत्तिरतीते काले। भविष्यति तु भाज्या भव्यान्प्रति। अभव्यानां तु भविष्यत्यप्यनन्ताः।

कालसंसार उच्यते—उत्सर्पिण्याः कस्याश्चित्प्रथमसमये प्रथमनरके उत्पन्नो, मृत्वान्यत्रोत्पन्नः, पुनः कदाचिदुत्सर्पिण्या द्वितीयादिसमये उत्पन्न एवं तृतीयादिसमयेषु। एवं उत्सर्पिणी समाप्तिं नीता। तथा अवसर्पिण्या अपि। एवमितरेष्वपि नरकेषु। एवमुत्सर्पिण्यवसर्पिणीकालयोरनन्तवृत्तिः। भवसंसार उच्यते—

प्रथमायां पृथिव्यां दशवर्षसहस्रायुर्जातः पुनः समयेनैकैकेन अधिकानि दशवर्षसहस्राणि। एवं द्विसमयाद्यधिकक्रमेण सागरोपमपर्यंतमायुः समाप्तिं नीतम्। द्वितीयायां समयाधिकं सागरोपमादिं कृत्वा द्वितीयादिसमयाधिकक्रमेण यावत्सागरोपमत्रयपरिसमाप्तिः। तृतीयायां समयाधिक त्रिसागरोपमादिकं कृत्वा द्वितीयादिसमयाधिकक्रमेण यावत्सागरोपमसप्तकपरिसमाप्तिः। चतुर्थ्यां समयाधिकसप्तसागरोपमादारभ्य द्वितीयादिसमयाधिकक्रमेण यावद्दशसागरोपमपरिसमाप्तिः। पञ्चम्यां समयाधिकदशसागरोपमादारभ्य द्वितीयादिसमयाधिकक्रमेण यावत्सप्तदशसागरोपमपरिसमाप्तिः। षष्ठ्यां समयाधिकसप्तदशसागरोपमादारभ्य द्वितीयादिसमयाधिकक्रमेण यावद्द्वाविंशतिसागरोपमपरिसमाप्ति.। सप्तम्या समयाधिकद्वाविंशतिसागरोपमादारभ्य यावत्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमपरिसमाप्तिः। एवमेतेष्वायुर्विकल्पेषु परावृत्तिः भवसंसार।

क्षेत्र संसार कहते हैं—प्रथम नरकके सीमन्तकसे लेकर सातवें नरकके अप्रतिष्ठ बिलें पर्यन्त चौरासी लाख बिलें हैं। उनमेंसे एक-एक बिलेमें अतीत कालमें अनन्त बार जन्म मरण जीवोंने किया है। भविष्यमें भव्य जीवोंका अनन्त बार जन्म मरण भाज्य है। अभव्य जीवोंका तो भविष्यमें भी अनन्त जन्म मरण होंगे।

काल संसार कहते हैं—किसी उत्सर्पिणीके प्रथम समयमें प्रथम नरकमें जीव उत्पन्न हुआ। मरने पर अन्यत्र उत्पन्न हुआ। फिर कभी उत्सर्पिणीके दूसरे आदि समयमें उत्पन्न हुआ। इसी तरह तीसरे आदि समयोंमें उत्पन्न हुआ। इस प्रकार उत्सर्पिणी कालके सब समयोंमें जन्म लेकर उत्सर्पिणी समाप्त की। इसी प्रकार अवसर्पिणी भी समाप्त की। इस तरह अन्य नरकोंमें उत्पन्न हुआ। इस प्रकार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालमें अनन्त बार जन्मा मरा।

भव संसार कहते हैं—प्रथम नरकमें दस हजार वर्षकी आयु लेकर जन्मा और मरा। पुनः एक एक समय अधिक दस हजार वर्षकी आयु लेकर जन्मा और मरा। ऐसा करते करते क्रमसे एक सागर प्रमाण आयु पूर्ण की। फिर दूसरे नरकमें एक समय अधिक एक सागरकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ मरा। इस तरह एक एक समय बढ़ाते हुए तीन सागर प्रमाण आयु पूर्ण की। तीसरे नरकमें एक समय अधिक तीन सागरकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ और एक एक समय बढ़ाते हुए सात सागरकी आयु पूर्ण की। फिर चतुर्थ नरकमें एक समय अधिक सात सागरकी आयु लेकर जन्मा मरा। फिर एक एक समय बढ़ाते बढ़ाते दस सागरकी आयु पूर्ण की। फिर पाँचवें नरकमें एक समय अधिक दस सागरकी आयु लेकर जन्मा मरा। फिर एक एक समय बढ़ाते बढ़ाते सतरह सागरकी आयु पूर्ण की। फिर छठे नरकमें एक समय अधिक सतरह सागरसे लेकर एक एक समय बढ़ाते-बढ़ाते बाईस सागरकी आयु पूर्ण की। फिर सातवेंमें एक समय अधिक बाईस सागरसे लेकर तैंतीस सागरकी आयु पूर्ण की' इस प्रकार इन आयुके विकल्पोंके परावर्तनको भव संसार कहते हैं।

भवसंसारस्तु सर्वजनसुखाधिगम्य इति नेह प्रतन्यते। एवंभूते संसारसागरे अनन्ते। 'बहुतिव्वदुक्खसलिलम्मि' शारीरं, आगन्तुकं, मानसं, स्वाभाविकमिति विकल्पेन बहूनि तीव्राणि दुःखानि सलिलानि यस्मिन् तस्मिन् संसरमाणो परिवर्तमानः। जीवो 'दुक्खेण' कष्टेन। 'लभइ' लभते। किं 'मणुयत्तं' मनुष्यत्वं। मनुष्यक्षेत्रस्याल्पत्वात् सर्वजगति तिरश्चामुत्पत्तेर्मनुजतानिर्वर्तकानां कर्मणां कारणभूता ये परिणामास्तेषां दुर्लभत्वाच्च। के ते परिणामा इत्यत्रोच्यते—

सर्व एव हि जीवपरिणामा मिथ्यात्वासंयमकषायाख्यास्त्रिप्रकारा भवन्ति। तीव्रो मध्यमो मन्द इति। कुतः कर्मनिमित्ता हि मिथ्यात्वादयः कर्माणि च तीव्रमध्यममन्दानुभवविशिष्टानि। तेन कारणभेदतः कार्याणां परिणामानां विचित्रता। तत्र ये हिंसादयः परिणामा मध्यमास्ते मनुजगतिनिर्वर्तकाः वालिकाराज्या, दारुणा, गोमूत्रिकया, कर्दमरागेण च समानाः यथासंख्येन क्रोधमानमायालोभाः परिणामाः। जीवघातं कृत्वा हा दुष्ठं कृतं, यथा दुःखं मरणं वास्माकं अप्रियं तथा सर्वजीवानां। अहिंसा शोभना वयं तु असमर्था हिंसादिकं परिहर्तुमिति च परिणामः। मृषा परदोषसूचनं, परगुणानामसहनं वञ्चनं वाऽसज्जनाचारः। साधूनामयोग्यवचने दुर्व्यापारे च प्रवृत्तानां का नाम साधुतास्माकमिति परिणामः। तथा शस्त्रप्रहारादप्यनर्थं परद्रव्यापहरणं, द्रव्यविनाशो हि सकलकुटुम्बविनाशो। नेतरत्र तस्माद्दुष्टु[1] कृतं परधनहरणमिति परिणाम.। परदाराविलङ्घनमस्माभिः कृतं तदतीवाशोभनं। यथास्मद्दाराणां परैर्ग्रहणे दुःखमात्मसाक्षिकं तद्वत्तेषामिति परिणामः। यथा गङ्गादिमहानदीनां अनवरतप्रवेशेऽपि न तृप्तिः सागरस्यैवं द्रविणेनापि जीवस्य सन्तोषो नास्तीति परि-

---

भाव संसारको तो सभी सुखपूर्वक जान लेते हैं। अतः यहाँ उसका विस्तार नहीं किया। इस प्रकारके अनन्त संसार सागरमें मनुष्य पर्याय पाना दुर्लभ है। क्योंकि मनुष्य क्षेत्र अल्प है। तिर्यञ्च तो सब जगत्में उत्पन्न होते हैं। मनुष्य पर्यायमें जन्म लेनेके कारणभूत जो परिणाम हैं वे दुर्लभ हैं। वे परिणाम कौनसे हैं यह कहते हैं—मिथ्यात्व असंयम और कषाय रूप सभी जीव परिणाम तीन प्रकारके हैं—तीव्र, मध्यम, मन्द, क्योंकि मिथ्यात्व आदि परिणाम कर्मके निमित्तसे होते हैं और कर्म तीव्र मन्द और मध्यम अनुभाग शक्तिसे युक्त होते हैं। अतः कारणके भेदसे उनके कार्य परिणामोंमें भी विचित्रता होती है। उनमेंसे जो हिंसा आदि रूप परिणाम मध्यम होते हैं वे मनुष्य गतिके कारण होते हैं। ऐसे परिणाम हैं बालूकी लकीरके समान क्रोध, लकड़ीके समान मान, गोमूत्रिकाके समान माया और कीचड़के रागके समान लोभ। जीवघात करके पछताना, हा बुरा किया। जैसे दुःख और मरण हमें अप्रिय हैं उस तरह सभी जीवोंको अप्रिय हैं। अहिंसा उत्तम है किन्तु हमलोग हिंसा आदिको त्यागनेमें असमर्थ हैं। इस प्रकारके परिणाम मनुष्यगतिके कारण हैं। दूसरेको झूठा दोष लगाना, दूसरेके गुणोंको न सहना, ठगना ये दुर्जनोंके आचार हैं। साधुओंके अयोग्य वचन और खोटे व्यापारमें लगे हम लोगोंमें साधुता कैसे संभव है इस प्रकारके परिणाम मनुष्यगतिके कारण हैं। दूसरेके द्रव्यका हरण करना शस्त्र प्रहारसे भी बुरा है। द्रव्यका विनाश समस्त कुटुम्बका विनाश है। इसलिए दूसरेका धन हरना खोटा काम है। इस प्रकारके परिणाम मनुष्यगतिके कारण हैं। हमने जो परस्त्री आदिका सेवन किया यह बुरा किया। जैसे हमारी स्त्रियोंको दूसरे पकड़ें तो हमें दुःख होता है उसी तरह दूसरोंको भी होता है। इस प्रकारके परिणाम मनुष्य गतिके कारण हैं। जैसे गंगा आदि महा नदियोंके द्वारा रात दिन जल आने पर भी सागरकी तृप्ति नहीं होती, इसी तरह धनसे भी जीवोंको सन्तोष नहीं होता।

---

१. दोषसूचन—आ०। २. दुष्टु—आ०।

भ्रमः । एवमादिपरिणामानामसुलभता अनुभवसिद्धैव । इत्थं दुर्लभमनुजत्वं साधुवचने परुषमिव वचः । घर्मरश्मिमण्डले तम इव, चण्डकोपे दयेव, लुब्धे सत्यवचनमिव, मानिनि परगुणस्तवनमिव, वामलोचनाया-मार्जवमिव, खलेषूपकारज्ञतेव, आप्ताभासमतेषु वस्तुतत्त्वावबोध इव । तह चेव मनुजत्वमिव । 'देसकुलरूवमा-रोग्गमाउगं बुद्धी' देशः, कुलं, रूपं, आरोग्यं, आयुर्बुद्धिश्च । 'सवणं गहणं सद्धा य' संजमो श्रवणं, ग्रहणं श्रद्धा संयमश्चेत्येते 'दुल्लहा' दुर्लभा लोके । तत्र देशदुर्लभतोच्यते । कर्मभूमिजा, भोगभूमिजा अन्तर्द्वीपजाः सम्मूर्छिमाः इति चतुःप्रकारा मनुजाः । पञ्च भरताः, पञ्चैरावताः, पञ्च विदेहाः इति पञ्चदशकर्मभूमयः । पञ्च हैमवतवर्षाः, पञ्च हरिवर्षाः, पञ्च देवकुरवः, पञ्च उत्तरकुरवः, पञ्च रम्यकाः, पञ्च हैरण्यवतवर्षाः त्रिंशद्भोगभूमयः । लवणकालोदधिसमुद्रयोरन्तरद्वीपाः । चक्रिस्कन्धावारप्रस्रवोच्चारभूमयः शुक्रसिंहाणकश्लेष्म-कर्णदन्तमलानि चाङ्गुलासंख्यातभागमात्रशरीराणां सम्मूर्च्छिमानां जन्मस्थानानि । तत्र भोगभूमिमन्तरद्वीपं च परिहृत्य कर्मभूमिषूत्पत्तिर्दुर्लभा । कर्मभूमिषु च बर्बरचिलातकपारसीकादिदेशपरिहारेण अङ्गवङ्गमगधादिदेशेषु उत्पत्तिः । लब्धेऽपि देशे चाण्डालादिकुलपरिहारेण तपोयोग्ये कुले जातौ । जातिर्मातृवंशः । सुकुलं कथं दुर्लभं इति चेदत्रोच्यते । जातिं, कुलं, रूपं, ऐश्वर्यं, ज्ञानं, तपो, बलं वा प्राप्य अगर्वितत्व अन्येऽप्येतैर्गुणैरधिकाः स्वबुद्ध्यानमनं, परानवज्ञाकरणं, गुणाधिकेषु नीचैर्वृत्ति, परेण पृष्टस्यापि अन्यदोषाकथनं, आत्मगुणस्यास्तवनं, इत्येतैः परिणामैः उच्चैर्गोत्रं कर्म आपाद्यते तेन कुलेषु पूज्येषु जायते जन्तुरयं पुनर्न तथा प्रवर्तते जडमतिः । किंत्वेतद्विपरीतेषु परिणामेषु वर्तमानो नीचैर्गोत्रमेव बध्नाति असकृत्तेन पूज्यं कुलं दुर्लभं । उक्तं च—

इस प्रकारके परिणामोंकी दुर्लभता अनुभवसे सिद्ध है। इस प्रकार मनुष्य जन्म वैसे ही दुर्लभ है जैसे साधुके मुखमें कठोर वचन सूर्यमण्डलमें अन्धकार, प्रचण्ड क्रोधीमें दया, लोभीमें सत्यवचन, मानीमें दूसरेके गुणोंका स्तवन, स्त्रीमें सरलता, दुर्जनोंमें उपकारकी स्वीकृति, आप्ताभासोंके मतों में वस्तु तत्त्वका ज्ञान दुर्लभ है। देश, कुल, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, ग्रहण, श्रवण और संयम ये लोकमें उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं।

उनमेंसे देशकी दुर्लभता कहते हैं—मनुष्य चार प्रकारके हैं—कर्मभूमिया, भोगभूमिया, अन्तर्द्वीपज और सम्मूर्छिम। पाँच भरत, पाँच ऐरावत, पाँच विदेह ये पन्द्रह कर्मभूमिया हैं। पाँच हैमवत वर्ष, पाँच हरिवर्ष, पाँच उत्तरकुरु, पाँच देवकुरु, पाँच रम्यक, पाँच हैरण्यवत, ये तीस भोगभूमियाँ हैं। लवणसमुद्र और कालोदधि समुद्रमें अन्तर्द्वीप हैं। चक्रवर्तीकी सेनाके निवास-स्थानकी मलमूत्र त्यागनेकी भूमियाँ, वीर्य, नाक, थूक, कान और दाँतका मैल, ये अंगुलके असंख्यात भाग शरीरवाले सम्मूर्छन जीवोंके जन्मस्थान हैं। उनमेंसे भोगभूमि और अन्तरद्वीपको छोड़ कर्मभूमियोंमे उत्पत्ति दुर्लभ है। कर्मभूमियोंमें बर्बर, चिलातक, पारसीक आदि देशोंको छोड़ अंग, बंग, मगध आदि देशोंमें उत्पत्ति दुर्लभ है। योग्य देश मिलनेपर भी चाण्डाल आदि कुलोंको छोड़ तपके योग्य कुल जाति मिलना दुर्लभ है। मातृवंशको जाति कहते हैं।

शङ्का—सुकुल कैसे दुर्लभ है ?

समाधान—जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, ज्ञान, तप और बलको पाकर अन्य भी इन गुणोंसे अधिक हैं ऐसा अपनी बुद्धिसे मानकर गर्व न करना, दूसरोंकी अवज्ञा न करना, अपनेसे जो गुणोंमें अधिक हों उनसे नम्र व्यवहार करना, दूसरेके पूछनेपर भी किसीके दोष न कहना, अपने गुणोंकी प्रशंसा न करना, इस प्रकारके परिणामोंसे उच्चगोत्रका बन्ध होता है। उससे पूज्य कुलोंमें जन्म होता है। किन्तु यह अज्ञानी जीव उस प्रकारकी प्रवृत्ति नहीं करता, बल्कि उक्त

जात्या मत्तो यः कुलाद्यापि रूपादैश्वर्याद्वा ज्ञानतो वा बलाद्वा ।
प्राप्यार्थं वा यस्तपो वा परेषु निन्दायुक्तः स्तौति चात्मानमेव ॥ १ ॥
अन्यावज्ञानादरातिक्रमाभ्यां कर्ता मानं योऽतिमात्रं बिभर्ति ।
नीचैर्गोत्रं नाम कर्मैव बाल्याद्बध्नात्यवृत्तं निन्दितं जन्मवासे ॥ २ ॥
यस्तु प्राप्याप्युत्तमत्वं कुलादेरन्यान्बुद्ध्या मन्यमानो विशिष्टान् ।
अन्यान्कांश्चिन्नावजानाति धीरान्नीचैर्वृत्त्या युज्यते चाधिकेषु ॥ ३ ॥
पृष्टोऽप्यन्येषामन्यदोषान्नब्रवीति नात्मानं वा स्तौति निर्मुक्तमानः ।
उच्चैर्गोत्रं नाम कर्मैव धीमान् बध्नातीष्टं जन्मवासे प्रजानाम् ॥ ४ ॥ इति । [ ]

नीरोगतापि दुर्लभा, असकृदसद्वेद्यकर्मबन्धनात् । बन्धाच्छेदात्ताडनान्मारणाद्दाहाद्रोधाच्चासद्वेद्यमेव बध्नाति । तथा चाभ्यधायि—

अन्येषां यो दुःखमज्ञोऽनुकम्पां त्यक्त्वा तीव्रं तीव्रसंक्लेशयुक्तः ।
बन्धच्छेदैस्ताडनैर्मारणैश्च दाहै रोधैश्चापि नित्यं करोति ॥
सौख्यं काङ्क्षन्नात्मनो दुष्टचित्तो नीचो नीचं कर्म कुर्वन्सदैव ।
पश्चात्तापं तापिता यः प्रयाति बध्नात्येवोऽसातवेद्यं सदैवम् ॥ इति । [ ]

रोगाभिभवान्नष्टबुद्धिचेष्टः कथमिव हितोद्योगं कुर्यात् ।

तथा चाभाणि—

प्राप्नोत्युपात्ताविह जीवतोऽपि महाभयं रोगमहाशनिभ्यः ।
यथाशनिः प्राग्निपतत्यमुष्मो रोगस्तथागत्य निहन्ति देहम् ॥ १ ॥

परिणामोंसे विपरीत परिणाम करके बार-बार नीचगोत्रका बन्ध करता है इससे पूज्य कुल दुर्लभ है। कहा है—

जो जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, ज्ञान या बलका मद करता है, धन अथवा तपको प्राप्त करके दूसरोंकी निन्दा और अपनी प्रशंसा करता है, अन्यकी अवज्ञा, अनादर और तिरस्कार करके खूब घमण्ड करता है वह बचपनसे ही नीचगोत्र नामक कर्मका बन्ध करके नीचकुलमें जन्म लेता है। और जो उत्तमकुल आदि प्राप्त करके दूसरोंको अपनेसे विशिष्ट मानता है, किसीकी भी अवज्ञा नहीं करता। अपनेसे अधिकोंमें नम्रव्यवहार करता है। पूछनेपर भी दूसरोंके दोष नहीं कहता और अपनी प्रशंसा नहीं करता। वह मानरहित व्यक्ति उच्चगोत्रका बन्ध करता है जो जनताको इष्ट है।

नीरोगता भी दुर्लभ है क्योंकि जीव निरन्तर असातावेदनीयकर्मका बन्ध करता है। बन्धन, छेदन, ताड़न, मारण, दाह, और रोधसे असातावेदनीय ही कर्म बँधता है। कहा है—जो अज्ञानी तीव्र संक्लेशसे युक्त हो, दया त्याग दूसरोंको बन्धन, छेदन, ताड़न, मारण, दाह और रोधसे नित्य तीव्र दुःख देता है, जो दुष्टचित्त नीच पुरुष अपनेको सुख चाहता हुआ सदैव नीचकर्म करता है और सताये हुएसे सताये जानेपर पछताता है वह सदैव असातवेदनीयको बाँधता है।

रोगसे ग्रस्त होनेपर उसकी बुद्धि और चेष्टा नष्ट हो जाती है तब वह कैसे अपने हितका उद्योग कर सकता है? कहा है—

इस लोकमें जीवन प्राप्त करके भी वह रोगरूपी महान् वज्रपातसे महाभयग्रस्त रहता

बलायुषी रूपगुणाश्च तावद्यावन्न रोगः समुपैति देहम् ।
फलस्य[1] लम्बस्य हि तावदु तस्थोस्तावन्न पातः श्वसनो न यावत् ॥
तस्मिन्स्वदेहे परितापकाले क्षेमः प्रकर्तुं न सुखेन शक्यम् ।
गृहे समन्तान्न हि दह्यमाने शक्तः प्रकर्तुं पुरुषोऽत्र किंचित् ॥ इति । [ ]

सदा परप्राणिघातोद्यतस्तदीयप्रियतमजीवितविनाशनात् प्रायेणाल्पायुरेव भवति । आयुषश्छेदने बहूनि निमित्तानि—जलं, ज्वलनः, मारुतः, सर्पाः, वृश्चिकाः, रोगा, उच्छ्वासनिश्वासनिरोध, आहारालाभः, वेदनेत्येवमादीनि । ततो दीर्घमायुर्न सुलभं मनुजभवे । सामान्यवचनोऽप्यायुःशब्दः दीर्घे मनुजायुषि वर्तमानो गृहीतोऽन्यथायुर्मात्रस्य संसारिणः सुलभत्वात् । लब्धेष्वपि देशादिषु बुद्धिर्दुर्लभा । परलोकान्वेषणपरा बुद्धिरत्र बुद्धिशब्देनोच्यते न ज्ञानमात्रवाची । तद्धि सुलभं ज्ञानावरणेनावरुद्धबोधवीर्यस्य जलधर[2]पटावरुद्धमण्डलस्य छायामात्रमिव दिनपतेरपि केवलं भवति ज्ञानम् । किंचिन्मिथ्यात्वोदयाद्विपर्यस्तमुदेति विज्ञानं । नैवात्मा नाम कश्चित्कर्ता शुभाशुभयोः कर्मणोः । नापि तत्फलानुभवनिरतः, नापि परलोकं प्राप्य कर्मवशवर्तिना कश्चिदिति । तथाप्यथापि—

लोको नायं नापरो नापि चात्मा धर्माधर्मौ पुण्यपापे न चापि ।
स्वर्गो दृष्टः केन केनाथवा ते घोरा दृष्टा नारकाणां निवासाः ॥
बन्धः को वा कोऽथवा सोऽस्ति मोक्षो, मिथ्या सर्वं कल्पितं निरर्थम् ।
प्राप्ताः कामाः सेवितव्या यथेष्टं त्यक्त्वा दूरे कोऽभिलाष ॥ [ ]

है। जैसे आकाशसे अचानक वज्रपात होता है वैसे रोग अचानक आकर शरीरका घात करता है। बल, आयु, रूपादिगुण तभी तक हैं जब तक शरीरमें रोग नहीं होता। पेड़की डालमें लगा फल तभी तक नहीं गिरता जब तक हवा नहीं चलती। उसे अपने शरीरमें पीड़ा होने पर सुखपूर्वक कल्याण करना शक्य नहीं है। घरके चारों ओरसे न जलने पर ही पुरुष कुछ कर सकता है। घर भस्म हो जाने पर कुछ नही कर सकता।

जो सदा दूसरे प्राणियोंके घातमें तत्पर रहता है वह उनके प्रियतम जीवनका विनाश करनेसे प्रायः अल्प आयु वाला होता है। आयुके नष्ट होनेके बहुतसे निमित्त है—जल, आग, वायु, साँप, बिच्छु, रोग, श्वासोच्छ्वासका रुकना, भोजनका न मिलना, वेदना आदि। अतः मनुष्य भवमें दीर्घ आयु सुलभ नही है। यह आयुशब्द सामान्य आयुका वाचक होने पर भी दीर्घ मनुष्यायुके अर्थमे ग्रहण किया है। अन्यथा आयु मात्र तो ससारी जीवोमें सुलभ है। देश आदि प्राप्त होने पर भी बुद्धिकी प्राप्ति दुर्लभ है। यहाँ बुद्धि शब्दसे परलोककी खोजमें तत्पर बुद्धि ग्रहण की है, ज्ञान मात्रको वाचक बुद्धि नहीं। ज्ञानमात्र तो सुलभ है। जैसे सूर्यमण्डलके मेघकी घटासे ढक जानेपर हलकी छाया रहती है वैसे ही ज्ञान शक्तिके ज्ञानावरणसे ढक जानेपर साधारण ज्ञान रहता है। मिथ्यात्वका उदय होनेसे ज्ञान विपरीत हो जाता है। यथा—आत्मा नहीं है न कोई शुभ अशुभ कर्मका कर्ता है और न कोई उसके फलका भोक्ता है। न कोई कर्मके परवश होकर परलोक जाता है। कहा है—

'न कोई इह लोक है, न कोई परलोक है। न आत्मा है, न धर्म अधर्म हैं, न पुण्य पाप हैं। किसने स्वर्ग देखा है और किसने वे भयानक नारकियोंके निवास देखे हैं? कौन बन्ध है और कौन

१. फलस्य शाखा अतवृन्ततस्तो। २. रपटाव—आ०। रपफ्लाव—मु०।

इति । तथा [1]चान्ये—षोडशवर्षिका स्त्री विंशतिवार्षिकः पुमान् तयोः परस्परं प्रेमपूर्वहावभावविभ्रम-कटाक्षकिलिकिंचितादिभावपूर्वकः संयोग एव स्वर्गः नान्यः ।

स्त्रीमुद्रां मकरध्वजस्य जयिनीं सर्वार्थसंपत्करीं
एतां ये प्रविहाय यान्ति कुधियः स्वर्गापवर्गेच्छया ।
तद्दोषैर्विनिहत्य ते सुतरां नग्नीकृता मुण्डिताः
केचित्रक्तपटीकृताश्च जटिलाः कापालिकाश्चापरे ॥ [शृं० श० पृ० ४५]

तथान्यैरभिहित—जलबुद्बुदवज्जीवा , परलोकिनोऽभावात्परलोकाभाव. इति च । सत्यामपि बुद्धौ समीचीनज्ञानलोचनवता, सकलप्राणिभृद्गोचरकृपापरिष्वक्तचेतसा लाभसत्कारादिनिरपेक्षेण, चतुर्गतिपरि-भ्रमणप्रभवयातनासहस्रमवलोक्य प्राणभृता परमामनुकम्पामुपगतेन हा जनो विचेतनः मिथ्यादर्शनाद्यशुभपरिणाम-कदम्बकमिदमस्माभिरशुभगतिनिर्वर्तनप्रवणमवहातव्यमित्यजानानस्तत्रैवासकृत्प्रवर्तमानो दुःखरत्नाकरमपारमुप-विशत्यशरणो वराक इति कृतसंकल्पेन यतिजनेन संसर्गो दुर्लभः । कुतः ? दर्शनमोहोदयाज्ज्ञानावरणोदयाच्च न यतिगुणान्वेत्ति श्रद्धत्ते वा जन । तत एव न ढौकते यतीन्न वा सुगुणमविद्वुषस्तदुपसर्पणमुपपद्यते । अपि च चारित्रमोहोदयाद्[2]संयतैरतिरसितरा प्राणिनस्ततोऽसौ हिंसादिक स्वय करोति, कारयति अनुमोदते । हिंसादिषु

मोक्ष है । यह सब मिथ्या और व्यर्थकी यन्त्रणा है । जो काम भोग प्राप्त हैं उन्हें यथेष्ट सेवन करना चाहिए । सामने वर्तमानको छोड़ दूरवर्तीकी अभिलाषा क्यों ? ।'

तथा अन्य भी कहते हैं—सोलह वर्षकी स्त्री और बीस वर्षके पुरुषका परस्परमें प्रेमपूर्वक हाव भाव, विलास, कटाक्ष, शृङ्गारादि भावपूर्वक संयोग ही स्वर्ग है । इसके सिवाय कोई दूसरा स्वर्ग नहीं है । कहा है—'कामदेवको जीतनेवाली और समस्त अर्थ सम्पदाको करने वाली स्त्री मुद्रा है । जो कुबुद्धि स्वर्ग और मोक्षकी इच्छासे इसे छोड़कर जाते हैं वे उसके दोषोंसे सताये जाकर जल्द ही सिर मुण्डाकर नग्न हो जाते हैं । कुछ लाल वस्त्र धारण करते हैं और कुछ जटायें बढ़ाते हैं । कुछ हाथमें मनुष्यकी खोपड़ी लेकर कापालिक हो जाते हैं ।' तथा कुछ दूसरोंने भी कहा है—जीव जलके बुलबुलेके समान हैं और जब कोई परलोकी आत्मा नही है तो परलोक भी नही है ।

यतिजनोंका चित्त समस्त प्राणियों पर कृपा भावसे युक्त होता है, उन्हे लाभ सत्कार पुरस्कार आदिकी अपेक्षा नहीं होती । चार गतियोंमें परिभ्रमणसे होनेवाली हजारों यातनाओंको देखकर प्राणियोंमें अत्यन्त दयालु हो उन्होंने संकल्प किया—'हा, यह अज्ञानी जन—अशुभगतिमे ले जानेमें समर्थ यह मिथ्यादर्शन आदि अशुभ परिणामोंका समूह हमें त्यागना चाहिए' ऐसा नही जानते और बार-बार उसीमें प्रवृत्ति करते हुए बेचारे अशरण होकर दुःखके अपार समुद्रमें प्रवेश करते हैं ।' उनमें बुद्धि होते हुए भी यतिजनके साथ उनका सम्बन्ध नहीं हो पाता, क्योंकि दर्शनमोहके उदय और ज्ञानावरणके उदयसे मनुष्य यतिजनोंके गुण न तो जानता है और न उनपर श्रद्धा करता है । इसीसे न तो यतियोंकी ओर देखता है और उनके गुणोंको न जाननेसे उनके पास नही जाता । तथा चारित्र मोहका उदय होनेसे असंयमी जनोंके प्रति उसका अत्यधिक प्रेम होता है इससे वह प्राणियोंको स्वयं हिंसा करता है, दूसरोंसे कराता है और कोई स्वयं हिंसा करता है तो

---

१. तथा चान्येरत आरभ्य स्त्रीमुद्रा इत्यादि श्लोक पर्यन्तं नास्ति आ० । २. संयतोऽतितरा–आ० मु० ।

वर्तमानेष्वेव रतिं बध्नाति न हिंसादिपरिहारोद्यतेषु । विना रतिं कथं तैः संसर्गस्तत्सेवा वा । सा हि—

संसारोच्छेदकरी प्रशमकरी ज्ञानबुद्धिवृद्धिकरी ।
कीर्तिकरी पुण्यकरी संसेवा साधुवर्गस्य ॥
दर्शनमात्रमपि सतां संसारोच्छेदने भवति बीजं ।
किं पुनरधिकारकृता संसेवा साधुवर्गस्य ॥
तत्सेवा यदि न स्यान्न स्याद् ज्ञानागमो विना ज्ञानात् ।
हितकर्मप्रतिपत्तिर्न स्यान्न स्यात्ततो मोक्षः ॥
साधूपसेवनं यदि पारम्पर्येण मोक्षमानयति ।
हानिश्रमौ च नृणां कौ साधूपसेवमानानाम् ॥
श्रेयः कथं न यतयो विबुधा श्रेयोर्थिना मनुष्येण ।
अक्षयमिह[1] ये श्रेयो मुधाश्रितेभ्यः प्रयच्छन्ति ॥
इति सततमपोह्यमानमोहाविहपरलोकहितैषिणा नरेण ।
जगदधिकतपोविभूतियुक्ता यतिवृषभा विनयेन सेवितव्याः ॥

यदृच्छया जातेऽपि यतिजनससर्गे न गुणः न चेद्धितं शृणुयात् । यथा न वर्षस्य पात एव गुणो नरस्य अपि तु भुवि बीजवापः । तद्वच्छ्रवणं गुणो यतिसमोपगमनेन । तदेवं श्रवणं दुर्लभं कथयति । समीपमुपगतोऽपि निद्रायति ।

समीपस्थाना वचो यत्किंचित् शृणोति, न रोचते, वा तद्धर्ममाहात्म्यप्रकाशनं मोहोदयात् । न जानाति

उसकी अनुमोदना करता है। जो हिंसा आदिमें लगे रहते हैं उन्हींसे प्रेम करता है। जो हिंसासे बचनेमें तत्पर हैं उनमे उसकी प्रीति नहीं होती। बिना प्रीति हुए कैसे उनके साथ सम्बन्ध हो सकता है अथवा कैसे उनकी सेवा कर सकता है?

ऐसे यतिजनोकी सेवा संसारका विनाश करती है, शान्ति प्रदान करती है, ज्ञान और बुद्धिको बढाती है, यश तथा पुण्यको लाती है।

सज्जनोंका दर्शनमात्र भी ससारके विनाश करनेमें बीज होता है फिर साधुवर्गकी अधिकार पूर्वक की गई सम्यक् सेवा का तो कहना ही क्या है? यदि उनकी सेवा न की जाये तो ज्ञानकी प्राप्ति नही हो सकती। ज्ञानके बिना हितकारी कर्मोंका ज्ञान नहीं होता और हितके ज्ञान बिना मोक्ष नही होता। यदि साधुजनोंकी सेवा परम्परासे मोक्ष लाती है तो साधुओंकी सेवा करनेवाले मनुष्योकी हानि और श्रम कैसे सम्भव है? कल्याणका इच्छुक ज्ञानी मनुष्य यतियोंका आश्रय क्यो न लेवे, जो निष्प्रयोजन भी आश्रय लेनेवालोंको अक्षय कल्याण प्रदान करते हैं। इसलिए इस लोक और परलोकमें हित चाहने वाले मनुष्यको निरन्तर मान और मोहको त्यागकर जगत्मे अधिक तपकी विभूतिसे युक्त श्रेष्ठ यतियोंकी विनयपूर्वक सेवा करनी चाहिए।

अचानक यतिजनोंका संसर्ग होनेपर भी यदि उनसे हितकी बात न सुने तो कोई लाभ नहीं है। जैसे वर्षाके होनेसे ही मनुष्यका लाभ नहीं है किन्तु जमीनमें बीज बोने पर लाभ है। उसी तरह यतिजनके समागमका लाभ उनसे हितकी बात सुननेसे है। इस प्रकार आचार्य उपदेश सुननेको दुर्लभ कहते हैं। मनुष्य समीपमें आकर भी सोता है। समीपमें स्थित जनोंके वचन

---

१ य महाश्रियो ये मुधा—आ०।

वा मतिमान्द्यादत एव तत्र नानुरागोऽस्य । अन्तरेण चानुरागं कथं श्रोतुमुत्सहेत् । तथा चाभाणि—

'साधूनां शिवमतिमार्गदेशकानां संप्राप्तो निलयमपि प्रमाददोषात् ।
आस्ते यो जनवचनानि तत्र शृण्वन् गत्वासौ ह्रदमपि पङ्क एव मग्नः ॥' इति [ ]

सत्यपि श्रवणे ग्रहणं विज्ञानं प्ररूपितस्यार्थस्य दुष्करं । सौक्ष्म्याज्जीवादिवस्तुतत्त्वस्य कदाचिदप्य-श्रुतत्वात् श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षाभावाच्च । ज्ञाते धर्मतत्त्वे तत्र श्रद्धा दुर्लभा । सोऽयं जिनप्रणीतो धर्मः अहिंसालक्षणः, सत्याधिष्ठानः, परद्रव्यापहरणपरिवर्जनात्मकः, नवविधब्रह्मचर्यगुप्तः, परित्यक्ताशेषमूर्छः, विनय-मूलः, समीचीनज्ञानपुरःसरः, क्षमामार्दवार्जवसंतोष'गुणः, नरकवर्तनीवज्रार्गलभूतः, तिर्यग्गतिलताकुठारः, कठोराशनिर्दुःखाचलशिखराणां, मोहमहामहीरुहोत्पाटनपटुमातरिश्वा जरादवानलशिखामुखप्रशमनमुखरो घनाघनः प्रावर्षकः प्रावृषेण्यः, मरणहरिणविशसनपटुकवचण्डपुण्डरीकः, क्रूररोगोरगाणां विनतासुतः, संपत्सुरापगायां हिमाचलः, यः सेतुरगाधशोकपङ्कस्य, पिता सुभगतायाः, ऐश्वर्यरत्नानामाकरः, कुयोनिवनवि-प्रनष्टानां पृथुलशिवपुरं, इति श्रद्धानं अतिदुर्लभं दर्शनमोहोदयात् । उपशमात् क्षयोपशमात्, क्षयाद्वा दर्शन-मोहस्य जातेऽपि श्रद्धाने संयमो दुर्लभतरः प्रत्याख्यानावरणोदयात् । उक्तं च—

थोड़ा बहुत सुनता है किन्तु रुचते नही । अथवा मोहके उदयसे उनके धर्मके महत्त्वका प्रकाशन उसे नहीं रुचता । अथवा बुद्धिकी मन्दतासे समझता नही है । इसीसे उसका उस उपदेशमें अनु-राग नही होता । और अनुरागके बिना सुननेका उत्साह कैसे हो सकता है । कहा है—'जो मोक्षमार्गके उपदेशक साधुओंके निवास स्थान पर जाकर भी प्रमादवश वहाँ लोगोंकी बातचीत सुनता हुआ बैठता है वह तालाब पर जाकर भी कीचड़में ही फँस जाता है ।

उपदेश सुनकर भी उसमें कहे गये अर्थका ग्रहण, उसका ज्ञान कठिन है; क्योंकि एक तो जीवादि वस्तु तत्त्व सूक्ष्म है, दूसरे पहले कभी सुना नही, तीसरे श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमका प्रकर्ष नही है । धर्मतत्त्वको जानने पर भी उसमे श्रद्धा दुर्लभ है । वह यह जिन भगवानके द्वारा कहा गया धर्म अहिंसा रूप है, सत्य उसका आधार है, उसमे परद्रव्यका अपहरण त्यागना होता है, नौ प्रकारके ब्रह्मचर्यसे वह रक्षित है, उसमे समस्त ममत्वभाव छोड़ना होता है । विनय उसका मूल है । समीचीन ज्ञानपूर्वक वह धर्म होता है । क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोष उसके गुण है । नरकके मार्गके लिए वज्रकी साकल रूप है । तिर्यञ्चगतिरूपी बेलके लिए कुठार है । दुःखरूप पर्वतोंके शिखरोंके लिए कठोर वज्र है । मोहरूपी महावृक्षको उखाड़नेमें चतुर प्रचण्ड वायु है । जरारूपी जंगलकी आगकी लपेटोंको शान्त करनेके लिए वर्षाकालीन मेघ है । मृत्युरूपी हरिण-का वध करनेके लिए प्रचण्ड बाघ है । क्रूर रोगरूपी सर्पोंके लिए गरुड है । सम्पत्तिरूपी गंगाकी उत्पत्तिके लिए हिमवान पर्वत है । गम्भीर शोक रूपी कीचड़से पार उतरनेके लिए पुल है । सौभाग्यका पिता है । ऐश्वर्य रूपी रत्नोंकी खान है, कुयोनिरूपी वनमें भटकते हुए लोगोंके लिए विशाल मोक्ष नगर है ।' इस प्रकारका श्रद्धान दर्शनमोहका उदय होनेसे अति दुर्लभ है । दर्शन-मोहका उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयसे श्रद्धान होनेपर भी प्रत्याख्यानावरणका उदय होनेसे संयम उससे भी अधिक दुर्लभ है । कहा है—

---

१. गुणभूषणः आ० मु० ।

दुर्ज्ञेयो भवति नरैव तत्त्वधर्मो ज्ञात्वापि प्रयतनमत्र कष्टमेव ।
तज्ज्ञात्वा धृतिमुपलभ्य दृष्टतत्त्वः, सद्धर्मे क्षणमपि मा कृथाः प्रमादम् ॥
भूत्वायं सुकरतरोऽपि पापकार्यात् धर्मोऽमूत्क्षणमपि दुष्करो मनुष्ये ।
आश्चर्यं किमपि न चात्र सन्ति मूढाः स्यादेतद् ध्रुवमिह कर्मणां गुरुत्वम् ॥
काकिण्यामपि जनयन्गुणं महान्तं तद्धेतो श्रममतुलं करोति यत्नात् ।
न त्वज्ञ· सुरमनुजर्द्धिमोक्षमूले सद्धर्मे हृदयमपि स्थिरीकरोति ॥
यत्पापे भृशमहिते करोति चेष्टामालस्यं परमहिते च याति धर्मे ।
युक्त. तदपि न तथा भवेत्पृथिव्यां संसारं ननु पुरुषः कथं लभेत ॥ इति । [　　　]

एवमपि 'परंपरेण' दुर्लभपरंपरया । 'लद्धूण वि' लब्ध्वापि । 'संयमं' संजम । 'खवगो' क्षपक । किं न 'लभेज्ज सुदिं' न लभते श्रुतिं । 'संवेगकरीं' संसारभयजननी । 'अबहुस्सुदसकासे' अबहुश्रुतस्य सूरे पार्श्वे । तस्माच्छ्रुतवानाचार्य आश्रयणीयः इति प्रस्तुतेन संबन्ध. ॥

'सम्मं सुदिमलभंतो' समीचीना श्रुतिमलभमान' । कदा ? मरणकाले । 'अबहुस्सुदसमासे' अबहुश्रुतस्य पार्श्वे । 'चिरमवि' चिरं कालं । 'मुत्तिमुवगमित्तावि' मुक्तिशब्देनात्र प्राणेन्द्रियविषयासंयमत्याग. परिगृह्यते । तेनायमर्थः—चिरप्रवर्तितसंयमोऽपीति । 'परिवडदि' प्रच्यवते । कुतः ? संयमात् । संयमहानिकथनेन चारित्राराधनाया अभाव आख्यायते । संयमात्प्रच्यवते कथमिति चेत्—मनोज्ञानाममनोज्ञाना च विषयाणा सर्वत्र सदा च सान्निध्यात् अभ्यन्तरकारणस्य कर्मणोऽपि रागद्वेषमोहपरिणामा. प्रादुर्भवन्तीति ते दुर्निवारा इति वदन्ति ।

मनुष्यके द्वारा धर्मका तत्त्व जानना कठिन है । जानकर भी उसमे प्रयत्नशीलता कष्टकर है । उस धर्मको जानकर, तत्त्व दृष्टिसे सम्पन्न मनुष्यों धैर्य धारण करके समीचीन धर्मके विषयमें एक क्षणके लिए भी प्रमाद मत करो । पापकार्यसे अति सुकर होने पर भी यह धर्म मनुष्योंको क्षणभरके लिए दुष्कर होता है । इसमें कोई आश्चर्य नही है । यह निश्चय ही कर्मोंकी गुरुताका फल है । यह मनुष्य एक कौड़ीमे भी महान् गुण मानकर उसके लिए अतुल श्रम करता है । किन्तु अज्ञानी देव और मनुष्योंकी ऋद्धिके मूल समीचीन धर्ममें अपने मनको भी स्थिर नही करता । अत्यन्त अहितकारी पापमे तो चेष्टा करता है और परमहितकारी धर्ममें आलस्य करता है । यह ठीक ही है । यदि ऐसा न होता तो पुरुष इस पृथिवी पर संसार कैसे पाता, कैसे सर्वत्र भ्रमण करता ।'

इस तरह उत्तरोत्तर दुर्लभ संयमको धारण करके भी क्षपक अल्पज्ञानी आचार्यके पास संसारसे भयभीत करनेवाला उपदेश नही प्राप्त कर सकता । इसलिए शास्त्रज्ञ आचार्यका आश्रय लेना चाहिए, ऐसा प्रस्तुत कथनके साथ सम्बन्ध लगाना चाहिए । अल्पज्ञानी आचार्यके पास समीचीन उपदेश न पाकर चिरकाल तक मुक्तिको—यहाँ मुक्तिशब्दसे प्राणी और इन्द्रियोंके विषयमें असंयमका त्याग लिया जाता है । अतः उसका अर्थ होता है—संयमको धारण करके भी मरते समय संयमसे गिर जाता है । संयमकी हानि कहनेसे उसके चारित्र आराधनाका अभाव कहा है । संयमसे क्यों गिरता है । यह कहते हैं—

मनको प्रिय और अप्रिय लगनेवाले विषयोंके सदा सर्वत्र समीप रहनेसे तथा अभ्यन्तर कारण कर्मका उदय होनेसे रागद्वेष और मोहरूप परिणाम उत्पन्न होते हैं और वे दुर्निवार होते

'अप्पं वंसी छेत्तुं' अल्पवंशः वंशीत्युच्यते गाढावलग्नता हि तत्र संभवति शक्यते वंशी च्छेत्तुं । 'तत्तो' गुल्मात् 'अवकड्ढिदुं' अवक्रष्टुं । 'पुणो' पश्चात् । 'दुक्करं' दुष्करं । 'इय' एवं । 'संजदस्स वि' संयतस्यापि मनः । 'विसएसु' रूपादिविषयं । 'अवकड्ढिदुं' अपक्रष्टुं । 'दुक्करं' दुष्करं । रागद्वेषेभ्यो व्यावर्तयितुं अशक्यं । एतदुक्तं भवति—रागद्वेषविजयं यदि नाम प्रतिज्ञा कृता तथापि कृतशरीरसल्लेखनस्य क्षुदादिपरीषहैरुपद्रुत य मन्दवीर्यस्य[1] न श्रुतज्ञानप्रणिधानन्तच्चान्तरेण रागद्वेषयोः प्रवृत्तेर्न चारित्राधकता स्यात् । बहुश्रुतः पुनः यथास्य रागद्वेषौ न जायेत तथोपदिशति भोगनिर्वेजनीं शरीरनिर्वेजनीं वा कथामित्थं—

एकान्तदुःखं निरयप्रतिष्ठा तिर्यक्षु देवेषु च मानुषेषु ।
क्वचित्कदाचित्तु कथंचिदेव सौख्यस्य संज्ञात्र शरीरिणां स्यात् ॥ १ ॥
एकेन जन्मस्वटताऽप्रमेयं शरीरिणा दुःखमवाप्यते यत् ।
अनन्तभागोऽपि न तस्य हि स्यात् सर्वं सुखम् सर्वशरीरसंस्थं ॥ २ ॥
तत्रैकजीवः सुखभागमेकं भवेत्कियन्तं जननार्णवेऽस्मिन् ।
संचूर्णमानः परितो वराको वनेऽतिभीतो हरिणो यथैकः ॥ ३ ॥
भवेष्वनन्तेषु सुखे तथापि शरीरिणैकेन समापनीये ।
एकप्रसूतौ यदवाप्यते तत्कियद्भवेत्तस्य विमृश्यमाने ॥ ४ ॥
अत्यल्पमप्यस्य तदस्तु तावत्सदुःखराशौ पतितं तदीयम् ।
स्यात्तद्रसं स्वादुरसं यथाम्बु प्राप्याम्बुदानां लवणार्णवाम्बु ॥ ५ ॥
यच्चाप्यदः सौख्यमितीष्यतेऽत्र पूर्वोत्थदुःखप्रतिकार एषः ।
विना हि दुःखात्प्रथमप्रसूतात् न लक्ष्यते किंचन सौख्यमत्र ॥ ६ ॥

हैं। जैसे बाँसका झुण्ड गाढरूपसे बृहद् रहता है उसमेसे छोटा बाँस तो खीचा जा सकता है। किन्तु पीछे उसको अलग करना बहुत कठिन है। उसी तरह संयमीका भी मन रूपादिविषयोंमें फँसनेपर निकालना कठिन होता है अर्थात् रागद्वेषसे हटाना अशक्य होता है। कहनेका आशय यह है कि यद्यपि रागद्वेषको जीतनेकी प्रतिज्ञा की है फिर भी शरीरकी सल्लेखना करनेपर भूख आदिकी परीषहसे पीडित और मन्दशक्ति उस क्षपकके श्रुतज्ञानकी ओर उपयोग नहीं होता। और उसके विना रागद्वेषमे प्रवृत्ति होनेसे चारित्रकी आराधना नहीं होती। किन्तु बहुश्रुत आचार्य उसको रागद्वेष पैदा न हों इस प्रकारकी भोग और शरीरसे वैराग्य करानेवाली कथा इस प्रकार कहता है—

नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवोंमें सर्वथा दुःख ही है। उनमें प्राणियोंको सुखकी संज्ञा कभी, कहीं किञ्चित् ही होती है। एक प्राणी नाना जन्मोंमें भ्रमण करते हुए जो अपरिमित दुःख भोगता है उसका अनन्तभाग भी सब सुख सब शरीरोंमे मिलकर भी नही होता। तब इस जन्मरूपी समुद्रमें एक जीव उस सुखका कितना भाग भोगता है? जैसे वनमे एक अत्यन्त डरा हुआ बेचारा हरिण सब ओरसे त्रस्त हुआ रहता है वैसी ही दशा जीवकी संसारमें है। अनन्तभवोंमें एक प्राणी के द्वारा प्राप्त सुख की जब यह स्थिति है तो उसका विचार करनेपर एक जन्ममें जो सुख प्राप्त होता है वह कितना होगा। अत्यन्त अल्प भी यह सुख दुःखके समुद्रमें गिरकर दुःखरूप ही हो जाता है। जैसे मीठा भी मेघोंका पानी लवण समुद्रके जलमें पड़कर खारा हो जाता है। तथा उसमें जो सुखका आभास होता है वह सुख नही है किन्तु पहले उत्पन्न हुए दुःखका प्रतीकार है।

---

१. स्य श्रुतज्ञानप्रणिधानात्–आ०।

प्रपीयते ह्यम्बु तृषाप्रशान्त्यै क्षुन्नाशनायाशनमद्यते च ।
वेश्मांबुवातातपवारणाय गुह्यप्रतिच्छादनमम्बरं च ॥ ७ ॥
शीतापनुत्प्रावरणं च दृष्टं शय्या च निद्राश्रमनोदनाय ।
यानानि चाध्वश्रमवारणार्थं स्नानं श्रमस्वेदमलापनुत्यै ॥ ८ ॥
स्थानश्रमस्यौषधमासनं च दुर्गन्धनाशाय च गन्धसेवा ।
वैरूप्यनाशाय च भूषणानि कलाभियोगोऽरतिबाधनाय ॥ ९ ॥
तथेह सर्वं परिचिन्त्यमानं भोगाभिधानं सुरमानुषाणाम् ।
दुःखप्रतीकारनिमित्तमेव भैषज्यसेवेव रुजार्दितस्य ॥१०॥
पित्तप्रकोपेन विदह्यमाने द्रव्याणि शीतानि निषेवमाणः ।
मन्येत भोगा इति तानि योऽज्ञः कुर्वीत सोऽन्नादिषु भोगसंज्ञाः ॥११॥
यतश्च नैकान्तसुखप्रदानि द्रव्याणि तोयप्रभृतीनि लोके ।
अतश्च दुःखप्रतिकारबुद्धिं तेषु प्रकुर्यान्न तु भोगसंज्ञाम् ॥१२॥
क्षुधाभिभूतस्य हि यत्सुखाय तदेव तृप्तस्य विषायतेऽन्नम् ।
उष्णार्दितः काङ्क्षति यानि चेह तान्येव विद्वेषकराणि शीते ॥१३॥

किं च स्वचक्रविक्रमाक्रान्तदेवमानवविद्याधरचक्राणां निकटोपनिविष्टाक्षयनवनिधीनां, समधिगतचतुर्दशरत्नानां, चक्रलाञ्छनानां, दशाङ्गभोगानुभवचतुराणां तथा सुधाशनानामप्यनेकसमुद्रोपमजीविनां, अप्रच्यवप्रत्यग्रयौवनानां, सहजस्वेच्छानुसारिदिव्याभरणमाल्यवसनसंपत्सौभाग्यस्कन्धेन मनोनयनवल्लभरूपप्रसूनोज्ज्वलेन

पहले हुए दुःखके बिना उसमें किञ्चित् भी सुख प्रतीत नही हो सकता। प्यासकी शान्तिके लिए पानी पिया जाता है और भूखकी शान्तिके भोजन किया जाता है। पानी, हवा और घामसे बचनेके लिए मकान होता है और गुह्यभागको ढकनेके लिए वस्त्र होता है। ठंडसे बचनेके लिए ओढ़ना होता है। निद्रा तथा थकान दूर करनेके लिए शय्या होती है। मार्गके श्रमसे बचनेके लिए सवारी होती है। थकान, पसीना और मल दूर करनेके लिए स्नान होता है। बैठनेके श्रमका इलाज आसन है। दुर्गन्ध दूर करनेके लिए सुगन्धका सेवन होता है। विरूपताको दूर करनेके लिए आभूषण पहने जाते है। अरतिको दूर करनेके लिए कलाएँ है। इस प्रकार विचार करने पर देव और मनुष्योंके जो ये भोग हैं वे सब दुःखको दूर करनेमें ही निमित्त हैं। जैसे रोगसे पीड़ित रोगी औषधिका सेवन करता है। पित्तके प्रकोपसे शरीरके जलने पर जो शीत पदार्थोंके सेवनको भोग मानता है वही अज्ञानी अन्न आदिको भोग नामसे कहता है। किन्तु यत. लोकमे जल आदि पदार्थ एकान्तसे सुख देनेवाले नही हैं अत उनको दुःखका प्रतीकार करनेवाला ही कहना चाहिए, भोग नामसे नही कहना चाहिए। जो अन्न भूखसे पीड़ितको सुख देता है वही अन्न पेटभरे व्यक्तिको विषके समान लगता है। गर्मीसे पीड़ित मनुष्य जिन पदार्थोंकी इच्छा करता है, शीतसे पीड़ित उन्हींसे द्वेष करता है।

तथा अपने चक्ररत्नसे देव, मनुष्य और विद्याधरोंके समूहको वशमें करनेवाले, अक्षय नौ निधियोंके स्वामी और चौदह रत्नोंसे सम्पन्न चक्रवर्तियों की, जो दस प्रकारके भोगोंको भोगनेमें चतुर हैं, भोगोंसे तृप्ति नहीं होती। तथा अनेक सागरोकी आयुवाले अमृतभोजी देवोंकी भी भोगोंसे तृप्ति नहीं होती जो देवांगनारूपी लताओंके वनसे घिरे रहते हैं। वे देवांगना लताएँ भी कैसी हैं? जो जन्मजात अपने इच्छानुसार दिव्य आभरण, माला, वस्त्र सम्पदारूपी सौभाग्य

विलासपल्लवेन, सौकुमार्याङ्कुरेण दिगङ्गनामुखवासायमानसौरभेण विद्रुमाधरपल्लवेन, निबिडोन्नतवृत्तस्तनफलेन, मनोभवदक्षिणानिलप्रेरणान्दोलितेन, ललितभुजशाखाप्रतानेन, स्फुरत्तपनीयमयरशनावेदिकापरीतकामनीरपरिपूरितविशालजघनसरोविभूषणेन, मुखरनूपुरभ्रमरकृतकलकलेन देवकन्यालतावनेन परिवृतानामपि परैर्भोगैस्तृप्तिर्न किं पुनरितरमानवानां। अपि च तीव्रतरपुंवेदोदयानलजनितचेतोविदाहानां नैवौषधं वामलोचनासंगमः तापप्रकर्षानुबंधत्वात्। रूपयौवनविलासचातुर्यसौभाग्यादीनां प्रकर्षापकर्षरूपेणावस्थितत्वादङ्गनासु। तास्ताः पश्यतोऽपि उत्कण्ठानुपरतमुपजायमाना विदाहमावहति दुर्वहं। तास्त्यक्त्वा चेमं यान्ति मृतिं वा ढौकन्ते, परैर्बलिभिर्वापह्रियन्ते। स्वयं वा दुर्विमोचतमपातकयमपाशेनाकृष्यमाणो विहाय तानि विवृतमुखो, निर्निमेषनयनो नितान्तरोदनाच्छादितलोहितलोचना जहाति। तासां तनवोऽपि स्फटिकमालेवोपाश्रितगुणग्राहिण्यः ताश्चास्थिररागाः संध्यासमयजलदलेखेव दुर्लभाश्च। स्त्रीवस्त्रगन्धमाल्यादीं[1] च लब्धानप्य पहरन्ति बलिनः इति महद्भयं, न च ते[2]ऽर्पयन्ति। तदर्जनार्थं षट्कर्मसु प्रयतितव्यं। तानि च संदिग्धफलानि बहुतरायासमूलानि हिंसादिसावद्यक्रियापरतन्त्राणि, दुर्गतिवर्धनानि इत्येवमात्मिका भोगनिर्वेदनी। शरीरं पुनरिदमशुचिनिधानं, आत्मनो महान् भारः, न चात्रास्ति किंचित्सारभूतं। सन्निहितानेकापायं व्याधिसत्त्वानां क्षेत्रं, जराडाकिनीपितृगृहं। किं

स्कन्धवाली हैं, मन और नेत्रोंको प्रिय रूप सौन्दर्यरूपी पुष्पोंसे शोभित हैं, विलासरूपी पत्तोंसे वेष्ठित हैं, सौकुमार्य उनका अंकुर है, दिशारूपी अंगनाओंके मुखकी सुवास जैसी उनकी सुगन्ध है, मूँगेके समान उनके ओष्ठरूपी पल्लव हैं, घने ऊँचे गोल स्तनरूपी फल हैं, कामदेवरूपी दक्षिण वायुकी प्रेरणासे वे हिलती हैं, ललित भुजारूपी उनका शाखाविस्तार है, चमकदार सोनेकी करधनीरूपी वेदिकासे घिरे और कामजलसे भरे विशाल जघनरूपी सरोवरसे भूषित है, बजते हुए नूपुररूपी भौंरोंकी गुंजारसे गुंजित हैं। ऐसी देवांगनाओंसे घिरे हुए देवोंकी भी जब भोगोंसे तृप्ति नहीं होती तब अन्य मनुष्योंका तो कहना ही क्या है? तथा जिनका चित्त तीव्रतर पुरुषवेदके उदयरूपी अग्निसे जल रहा है, स्त्रियोंका संगम उनकी औषधी नहीं है। उससे तो उनका सन्ताप और भी अधिक बढ़ेगा; क्योंकि स्त्रियोंमें रूप, यौवन, विलास, चतुरता, सौभाग्य आदि कमती बढ़ती पाया जाता है। उन-उन स्त्रियोंको देखकर निरन्तर उत्कण्ठा उत्पन्न होकर ऐसी दाह होती है जिसको सहना कठिन होता है। वे स्त्रियाँ पतिको छोड़कर चली जाती हैं, या मर जाती हैं अथवा दूसरे बलवान् पुरुष उन्हे हर लेते हैं। अथवा जिससे छूटना किसी भी तरह सम्भव नहो है उस मृत्युके फन्देसे खिचकर मनुष्य, मुँह खोले, आँखें पथराये हुए स्वयं, अत्यन्त रुदन करनेसे लाल आंख हुई स्त्रीको स्वयं छोड़कर चला जाता है। उन स्त्रियोंके शरीर भी स्फटिककी मालाकी तरह जो पासमें आता है उसीके गुणोंको ग्रहण करनेवाले होते हैं। जैसे सन्ध्याकालीन मेघोंका रंग अस्थिर होता है वैसे ही स्त्रियोंका अनुराग भी अस्थिर होता है। तथा वे दुर्लभ होती हैं क्योंकि स्त्री, वस्त्र, गन्धमाला आदिको बलवान् हर लेते हैं और देते नहीं हैं। इस प्रकार बड़ा भय रहता है। स्त्रीकी प्राप्तिके लिए छह कर्मोंको करना पड़ता है। उनका फल संदिग्ध होता है। उनके लिए बड़ा परिश्रम करना पड़ता है। तथा वे षट्कर्म हिंसा आदि सावद्य क्रियाके अधीन होते हैं उनमें हिंसा आदि होती है। अतः वे दुर्गतिको बढ़ाते हैं। इत्यादि कथा भोगोंसे वैराग्य उत्पन्न करती है। तथा यह शरीर अपवित्रताकी खान है, आत्माके लिए बड़ा भाररूप है। इसमें कुछ भी सार नहीं है इसके साथ अनेक संकट लगे हैं। व्याधिरूपी धानके

१. प्याहर—आ० मु०। २. तर्पयन्ति आ० मु०।

च मान्ये कुले जातो विशालकीर्तिः गुणवानपि प्रहीणविभवो नीचं कर्म, पुरो धावनं, प्रेषणकरणं, लघुच्छिष्ट-भोजनं वा करोति शरीरपोषणाय ।

> नान्तर्गतोऽस्य न बहिर्न च तस्य मध्ये सारोऽस्ति येन मनसा परिगम्यमानः ।
> तस्मिन्नसारजनकांक्षितकामसारे कोऽन्यः करिष्यति मनः प्रतिबुद्धसारः ॥
> वायुप्रकोपजनितैः कफपित्तजैश्च रोगैः सदा दुरितजैः प्रविमथ्यमानः ।
> देहोऽप्ययेवमतिदुःखनिमित्तभूतो नाशं प्रयाति कुरुतेति कुरुध्व धर्मं ॥
> संघाततां प्रशिथिलास्थि रजःप्रमादं स्नायुप्रबद्धमशुभं प्रततं शिराभिः ।
> लिप्तं च मांसरुधिरोदककर्दमेन रोगाहतं स्पृशति को हि शरीरगेहं ॥ [ ]
> इत्येवमादिका शरीरनिर्वेजनी ।

गीदत्थपादमूले होंति गुणा एवमादिया बहुगा ।
ण य होइ संकिलेसो ण चावि उप्पज्जदि विवत्ती ॥४४९॥

'गीदत्थपादमूले' गृहीतार्थस्य बहुश्रुतस्य पादमूले । 'होंति बहुगा गुणा' 'गीदत्थो पुण खवयस्स' इत्येव-मादिसूत्रपञ्चकनिर्दिष्टाः । 'ण य होइ संकिलेसो' नैव भवति संक्लेशः 'ण चावि उप्पज्जइ विवत्ती' न चोत्पद्यते विपद्रत्नत्रयस्य । तस्मादाचारवानाचार्यः उपाश्रयणीय· इत्युपसंहारः इति आचारव ॥४४९॥

व्यवहारवत्त्वनिरूपणायोत्तरगाथा—

लिए यह खेत है। जरारूपी डाकिनीके लिए श्मसान है। मान्यकुलमें जन्म लेकर विशाल यश अर्जन करके गुणी मनुष्य भी सम्पत्ति नष्ट हो जानेपर शरीर-पोषणके लिए नीचकर्म करता है, आगे-आगे दौड़ता है, मालिकका सन्देश ले जाता है उसका जूठा भोजन करता है। कहा है—

उस शरीरके अन्दर, बाहर और मध्यमें कोई सार नहीं हैं जिससे मन उसे स्वीकार करे। असारजनोंके द्वारा पसन्द किये जानेवाला काम ही जिसमें सार है उस शरीरके सारको जानने-वाला कौन व्यक्ति अपना मन लगायेगा। यह शरीर वायुके प्रकोपसे उत्पन्न हुए और कफ तथा पित्तके प्रकोपसे और पापकर्मसे उत्पन्न हुए रोगोंसे सदा मथा जाता है। इस तरह यह अति दुःख का निमित्त होता और नाशको प्राप्त होता है इसलिए धर्मका आचरण करो।

यह शरीररूपी घर रज और वीर्यके मेलसे बना है। इसकी अस्थियाँ ढीली-ढाली हैं। स्नायुओंसे बँधा है, अशुभ है, सिराओंसे वेष्ठित है, माँस और रुधिररूपी कीचड़ तथा जलसे लीपा गया है। रोगोंसे घिरा है इसे कौन छूना पसन्द करेगा।

इत्यादि कथा शरीरसे वैराग्य उत्पन्न करती है ॥४४८॥

गीतार्थ अर्थात् बहुश्रुत आचार्यके पादमूलमे रहनेक 'गीदत्थो पुण खयगो' इत्यादि पाँच गाथासूत्रोमें कहे गये बहुत गुण-लाभ होते हैं। उस क्षपकके परिणामोमें सक्लेश नही होता और न रत्नत्रयको लेकर ही कोई विपत्ति आती है अर्थात् उसके रत्नत्रयका विनाश नहीं होता। अतः आधारवान् आचार्यका आश्रय लेना चाहिए। इस प्रकार आचारवत्त्व गुणका कथन हुआ ॥४४९॥

आगे व्यवहारवत्त्वगुणका निरूपण करते हैं—

पंचविहं ववहारं जो जाणइ तच्चदो सवित्थारं ।
बहुसो य दिट्ठकयपट्ठवणो ववहारवं होइ ॥४५०॥

'**पंचविहं ववहारं**' पञ्चप्रकारं प्रायश्चित्तं । '**जो जाणदि तच्चदो सवित्थारं**' यो जानाति तत्त्वतः सविस्तरं । '**बहुसो य दिट्ठकयपट्ठवणो**' बहुशश्च दृष्टकृतप्रस्थापनः । आचार्याणां प्रायश्चित्तदानं दृष्टं, स्वयं चान्येषां दत्तप्रायश्चित्तः । '**ववहारवं होदि**' व्यवहारवान् भवति । पूर्वार्द्धेन प्रायश्चित्तज्ञानता दर्शिता, कर्मदर्शनं कर्माभ्यासश्च प्रख्यापितः । अशास्त्रज्ञो यत्किंचिद्दात्यात्मनोऽभिलषितं न तेन परः शुद्ध्यति, शास्त्रज्ञोऽप्यदृष्ट[1]कर्माकर्मसु विषादमेति । ततो ज्ञानं, कर्मदर्शनं, कर्माभ्यास इति त्रयो गुणाः यस्य स व्यवहारवानित्युच्यते ॥४५०॥

कः पञ्चविधो व्यवहारः, को वा विस्तर इत्याशङ्कायां तदुभयं निरूपयति—

आगमसुद आणाधारणा य जीदो य हुंति ववहारा ।
एदेसिं सवित्थारा परूवणा सुत्तणिद्दिट्ठा ॥४५१॥

'**आगमसुद आणाधारणा य जीदो य हुंति ववहारा**' आगमः, श्रुतं, आज्ञा, धारणा, जीत इति व्यवहाराः पञ्च । '**एदेसिं**' एतेषां आगमादीनां । परूवणा कीदृशी ? '**सवित्थारा**' विस्तारसहिता । '**सुत्तणिद्दिट्ठा**' सूत्रेषु चिरंतनेषु निर्दिष्टा । प्रायश्चित्तस्य सर्वजनानामग्रतोऽकथनीयत्वाच्छास्त्रान्तरे च निर्दिष्टत्वादिह नोच्यते ॥४५१॥ उक्तं च—

सव्वेण वि जिणवयणं सोदव्वं [2]सड्ढिदेण पुरिसेण ।
छेदसुदस्स हु अत्थो ण होदि सव्वेण सोदव्वो ॥ इति ॥ [ ]

गा०—जो पाँच प्रकारके व्यवहार अर्थात् प्रायश्चित्तको तत्त्वरूपसे विस्तारके साथ जानता है तथा जिनने अनेक आचार्योंका प्रायश्चित्त देना देखा है और स्वयं भी दूसरोंको प्रायश्चित्त दिया है वह आचार्य व्यवहारवान् होता है। गाथाके पूर्वार्द्धसे आचार्यका प्रायश्चित्तका ज्ञाता होना दर्शाया है तथा प्रायश्चित्तकर्मका दर्शन और प्रायश्चित्तकर्मका अभ्यास होना कहा है। जो प्रायश्चित्त शास्त्रका ज्ञाता नहीं होता वह अपनी इच्छानुसार कुछ भी प्रायश्चित्त देता है किन्तु उससे दूसरेके दोषकी विशुद्धि नहीं होती। प्रायश्चित्तशास्त्रका ज्ञाता होते हुए भी यदि उसने अन्य आचार्योंको प्रायश्चित्त देते न देखा हो तो प्रायश्चित्त देते समय खेदखिन्न होता है। इसलिए प्रायश्चित्तशास्त्रका ज्ञान, प्रायश्चित्तकर्मका देखना तथा प्रायश्चित्त देनेका अभ्यास ये तीन गुण जिसमें होते है उस आचार्यको व्यवहारवान् कहते है ॥४५०॥

पाँच प्रकारका व्यवहार कौन-सा है ? और उसका विस्तार क्या है? ऐसी आशंका होनेपर दोनोंको कहते हैं—

गा०—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारण और जीव ये पाँच प्रकारका व्यवहार है। इन आगम आदिका विस्तारसे कथन प्राचीन सूत्रोंमें कहा है। प्रायश्चित्त सब जनोके आगे नही कहा जाता, तथा अन्य शास्त्रोंमें उसका कथन है इसलिए यहाँ नहीं कहा। कहा है—'समस्त श्रद्धालु पुरुषोंको जिनागम सुनना चाहिए। किन्तु छेदशास्त्रका अर्थ सबको नही सुनाना चाहिए' ॥४५१॥

---

१. अदृष्ट कर्मसु—आ० । २. सुद्दिदेण—आ० ।

व्यवहारवानसौ परालोचितापराधस्य कथं प्रायश्चित्तं ददातीत्याशङ्कायां प्रायश्चित्तदानक्रमनिरूपणार्थं गाथाद्वयम्—

दव्वं खेत्तं कालं भावं करणपरिणाममुच्छाहं ।
संघदणं परियायं आगमपुरिसं च विण्णाय ॥४५२॥

'**दव्वं खेत्तं कालं भावं करणपरिणाममुच्छाहं**' द्रव्यमित्यादीनां विज्ञायेत्यनेन संबन्धः। तत्र द्रव्यं त्रिविध सचित्तमचित्त मिश्रमिति। पृथिवी, आपस्तेजो वायुः, प्रत्येककायाः, त्रसाश्चेति सचित्तद्रव्यमित्युच्यते। तृण-फलकादिकं जीवैरनुन्मिश्र अचित्त। संसक्त उपकरणं मिश्रं। एवं त्रिविधा द्रव्यप्रतिसेवना। वर्षासु क्रोशार्द्ध-गमनमिष्टं अर्धयोजनं वा। ततोऽधिकक्षेत्रगमनं क्षेत्रप्रतिसेवना। अथवा [1]प्रतिषिद्धक्षेत्रगमनं, विरुद्धराज्य-

---

विशेषार्थ—पं० आशाधरजीने अपनी मूलाराधना टीकामें इनका अर्थ इस प्रकार किया है—ग्यारह अंगोंमे कहे गये प्रायश्चित्तको आगम कहते हैं। चौदह पूर्वोंके कहेको श्रुत कहते हैं। अन्य स्थानमें स्थित अन्य आचार्यके द्वारा अन्य स्थानमे स्थित अन्य आचार्यके द्वारा आलोचित अपने गुरुके दोषको ज्येष्ठ शिष्यके हाथ भेजना आज्ञा है। कोई एकाकी मुनि पैरोंमे चलनेकी शक्ति न होनेसे दोष लगनेपर वहीं रहते हुए पूर्वनिश्चित प्रायश्चित्तको करता है यह धारणा है। बहत्तर पुरुषोंके स्वरूपको लेकर वर्तमान आचार्योंने जो शास्त्रमे कहा है वह जीत है। श्वेताम्बरीय आगमोमें भी व्यवहारके ये ही पाँच भेद किये हैं। आगमव्यवहारी छह हैं—केवल-ज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी, दसपूर्वी और नौपूर्वी। शेष पूर्वधारी और ग्यारह अंगके धारी श्रुतसे व्यवहार करते हैं। आगमव्यवहारी आगमसे ही व्यवहार करता है अन्यसे नहीं करता। यह भी चर्चा आती है कि केवलीका व्युच्छेद हो जानेपर चौदह पूर्वधरोंका भी विच्छेद हो गया अतः प्रायश्चित्तदायक न रहनेसे प्रायश्चित्तका विच्छेद हो गया। किन्तु इसका निराकरण किया है। जो व्यवहार एक बार प्रवृत्त हुआ, दुबारा और तिबारा प्रवृत्त हुआ उसे महाजनने स्वीकार किया। वही पाँचवाँ जीतकल्प व्यवहार है। जीत अर्थात् अवश्य ही कल्प-आचार जीतकल्प है। द्रव्य क्षेत्र काल भाव, संहनन आदिकी हानिको लक्षमे रखकर दिया गया प्रायश्चित्त जीत है ॥४५१॥

वह व्यवहारवान् आचार्य दूसरेके आलोचित दोषका प्रायश्चित्त कैसे देता है? ऐसी आशंका किये जाने पर दो गाथासे प्रायश्चित्त देनेके क्रमका निरूपण करते है—

गा०—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, करण, परिणाम, उत्साह, शरीरबल, प्रवज्याकाल, आगम और पुरुषको जानकर प्रायश्चित्त देते हैं ॥४५२॥

टी०—द्रव्यके तीन भेद है—सचित्त, अचित्त और मिश्र। पृथिवी, जल, आग, वायु, प्रत्येककाय, अनन्तकाय और त्रस इन्हे सचित्त द्रव्य कहते है। जीवोसे रहित तृण, फलक आदि अचित्त द्रव्य है। जीवोंसे सम्बद्ध उपकरण मिश्र हैं। इस प्रकार द्रव्य प्रतिसेवनाके तीन भेद हैं। वर्षामें आधा कोस अथवा आधा योजन जाना सम्मत है। उससे अधिक क्षेत्रमें जाना क्षेत्र प्रति-

---

1. प्रतिद्वेष–आ०।

गमनं, छिन्नाध्वगमनं, ततो रक्षणीयागमनं तस्याद्धौ यथा क्रान्तः। उन्मार्गेण वा गमनं। अन्तःपुरप्रवेशः। अननुज्ञातगृहभूमिगमनं। इत्यादिना क्षेत्रप्रतिसेवा। आवश्यककालादस्मिन्काले आवश्यककरणं वर्षावग्रहातिक्रमः इत्यादिका कालप्रतिसेवना। दर्पः, प्रमादः, अनाभोगः, भयं, प्रदोषः इत्यादिकेषु परिणामेषु प्रवृत्तिर्भावसेवा। एवमपराधनिदानं ज्ञात्वा अथवा प्रायश्चित्तं प्रकृतेर्द्रव्यादिकं ज्ञात्वा रसबहुलं, धान्यबहुलं, शाकबहुलं यवागूशाकमात्रं वा पानकमेव वेत्याहारे द्रव्यपरिज्ञानं। प्रायश्चित्तमाचरतः अनूपजांगलसाधारणक्षेत्रपरिज्ञानं। घर्मशीतसाधारणकालज्ञानं। क्षमामार्दवार्जवसंतोषकादिकं भावं क्रोधादिकं वा। करणपरिणामं प्रायश्चित्तक्रियायां परिणामं। सहवासार्थं किमयं प्रायश्चित्ते प्रवृत्तः उत यशोर्थं, लाभार्थमुत कर्मनिर्जरार्थं इति। 'उच्छाहं' उत्साहं। 'संघयणं' शरीरबलं। 'परियायं' प्रव्रज्याकालं। 'आगमं' अल्पं श्रुतमस्य बहु वेति। पुरिसं [1]जावतरोमथासरंगो इत्येवमादिकं विकल्पं च ज्ञात्वा ॥४५२॥

मोत्तूण रागदोसे ववहारं पट्ठवेइ सो तस्स।
ववहारकरणकुसलो जिणवयणविसारदो धीरो ॥४५३॥

'मोत्तूण' त्यक्त्वा। 'रागदोसे' रागं द्वेषं च मध्यस्थः सन्निति यावत्। 'ववहारं पट्ठवेदि सो तस्स' प्रायश्चित्तं ददाति स सूरिस्तस्मै। 'ववहारकरणकुसलो' प्रायश्चित्तदानकुशलः। 'जिणवयणविसारदो' जिनप्रणीते आगमे निपुणः। धीरो धृतिमान् ॥४५३॥

सेवना है। अथवा वर्जित क्षेत्रमें जाना, विरुद्ध राज्यमें जाना, कटे-टूटे मार्गसे जाना, ऐसे मार्गका आधा भाग जानेपर वहाँसे अरक्षणीय मानकर लौट आना अथवा उन्मार्गसे जाना, अन्तःपुरमें प्रवेश करना, जहाँ जानेकी आज्ञा नहीं है ऐसी गृहभूमिमें जाना, इत्यादिके द्वारा क्षेत्र प्रतिसेवना करना। आवश्यककालमें छह आवश्यक न करके अन्यकालमें करना, वर्षाकालके नियमका उल्लंघन करना, इत्यादि काल प्रतिसेवना है। घमण्ड, प्रमाद, अनाभोग, भय, प्रदोष आदि परिणामोंमें प्रवृत्ति भाव सेवा है। इस प्रकार द्रव्य प्रतिसेवना आदिके द्वारा अपराधका निदान जानकर प्रायश्चित्त देना चाहिए। अथवा प्रकृतिके द्रव्यादिको जानकर प्रायश्चित्त देना चाहिए। आहारके सम्बन्धमें ज्ञान होना द्रव्यपरिज्ञान है, रसबहुल—जिसमें रसकी अधिकता हो, धान्यबहुल—जिसमें अन्नकी अधिकता हो, शाकबहुल—जिसमें शाकसब्जीकी अधिकता हो, यवागू—हलवा लपसी, शाकमात्र अथवा पानकमात्र। आहारके साथ दोषीकी प्रकृति जानकर उसे आहार बतलाना चाहिये। प्रायश्चित्त देते समय क्षेत्रका भी ज्ञान होना चाहिये कि यह क्षेत्र जलबहुल है या जलकी कमी वाला है अथवा साधारण है। कालका भी ज्ञान होना चाहिये कि यह गर्मीके दिन हैं या शीतके दिन हैं अथवा साधारण हैं। क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोष आदि भाव हैं। अथवा क्रोधादि भाव हैं। करण परिणामका अर्थ है प्रायश्चित्त करनेके परिणाम। यह प्रायश्चित्त क्यों लेना चाहता है? क्या यह साथ रहनेके लिए प्रायश्चित्तमें प्रवृत्त हुआ है अथवा यश, लाभ या कर्मोंकी निर्जराके लिए प्रवृत्त हुआ है। उसका प्रायश्चित्तमे उत्साह कैसा है, शरीरमें बल कितना है, दीक्षा लिए कितना काल हुआ है, शास्त्रज्ञान थोड़ा है या बहुत है। और वैराग्यमें तत्पर है या नहीं ॥४५२॥

गा०—प्रायश्चित्त देनेमें कुशल और जिन भगवान्‌के द्वारा कहे गये आगममे निपुण धीर वह आचार्य रागद्वेषको त्याग अर्थात् मध्यस्थ होकर उसको प्रायश्चित्त देता है ॥४५३॥

---

१. जाव जाव तरो—आ०। जावावरो भयासरंगो—मु०।

अज्ञात्वा प्रायश्चित्तग्रन्थं यो ददाति तस्य दोषं संकीर्तयत्युत्तरगाथया—

ववहारमयाणंतो ववहरणिज्जं च ववहरंतो खु ।
उस्सीयदि भवपंके अयसं कम्मं च आदियदि ॥४५४॥

'ववहारं अयाणंतो' प्रायश्चित्तं ग्रन्थतोऽर्थतश्च कर्मतश्चाविद्वान् । 'ववहरणिज्जं च' व्यवह्रियते अतिचारविनाशार्थिनेति व्यवहरणीयमालोचनादिकं प्रायश्चित्त इति नवधा । 'ववहरंतो' प्रयच्छन् । उस्सीयदि अवसीदति । क्व ? 'भवपंके' संसारपङ्के । 'अयसं आदियदि' अयशः तुण्डाचार्योऽयं यत्किंचन ददाति नायं परं शोधयति, संसारभीरुयतिजनं वृथैव क्लेशयति इति । 'कम्मं च आदियदि' बध्नाति कर्म दर्शनमोहनीयाख्यं उन्मार्गोपदेशात् सन्मार्गविनाशनाच्च । तस्मादज्ञो न दद्यात्प्रायश्चित्तमिति सूत्रार्थः । आचार्याणामियं शिक्षा । वयमाचार्या यदस्माभिर्दत्तं तदिदं [1]कुर्वन्तोति यत्किंचन न वक्तव्यम् । श्रुतरहस्या प्रायश्चित्तदाने [2]यदलमिति ॥४५४॥

जह ण करेदि तिगिंच्छं वाधिस्स तिगिंच्छओ अणिम्मादो ।
ववहारमयाणंतो ण सोधिकामं वि सुज्झेइ ॥४५५॥

यदि नाम मुखरा मुग्धानेकशिष्यजनपरिवृतत्वमात्रेणोपजाताहंकारा मूर्खलोकेनादृता सन्ति सूरयस्ते भवद्भिः शुद्धयर्थं न ढौकनीया इति शिक्षयति— 'जह ण करेदि तिगिंच्छं'–यथा न करोति चिकित्सां वाहिस्स व्याधेः । 'तिगिंच्छगो' वैद्यो । 'अणिम्मादो' अनिपुण । 'तहा' तथा । 'ववहारमजाणंतो' प्रायश्चित्तमजानन्सूरि । 'सोधिकामं' रत्नत्रयशुद्धयभिलाष । ण सोधेदि खु न शोधयत्येव ॥४५५॥

जो प्रायश्चित्त शास्त्रको जाने बिना प्रायश्चित्त देता है उसका दोष कहते हैं—

गा०–टी०—जो प्रायश्चित्त शास्त्रको ग्रन्थरूपसे, अर्थरूपसे और कर्मरूपसे नहीं जानता, तथा अतिचारके विनाशके इच्छुक मुनिके द्वारा जिसका व्यवहार किया जाता है वह व्यवहरणीय है। आलोचना आदि नौ प्रकारका प्रायश्चित्त, उसे जो देता है वह आचार्य संसाररूपी कीचड़में फँसकर दुःख उठाता है तथा अपयश पाता है। लोग कहते हैं यह तुण्डाचार्य है जो कुछ भी प्रायश्चित दे देता है, दूसरेके दोषकी विशुद्धि नहीं करता। संसारसे भीरु साधुओंको व्यर्थ ही कष्ट देता है। तथा उन्मार्गका उपदेश देनेसे और सन्मार्गका नाश करनेसे दर्शनमोहनीय नामक कर्मका बन्ध करता है। अतः अज्ञानीको प्रायश्चित्त नहीं देना चाहिये यह इस गाथाका अभिप्राय है। यह आचार्योंकी शिक्षा है। हम आचार्य हैं। हमने जो प्रायश्चित्त दिया है उसे करो, इस प्रकार जो कुछ भी नहीं बोलना चाहिये। प्रायश्चित्त शास्त्रके ज्ञाता ही प्रायश्चित्त देनेमें समर्थ होते हैं ॥४५४॥

जो वाचाल आचार्य मूढ़ अनेक शिष्योंसे घिरे रहने मात्रसे गर्वित हैं और मूर्ख लोग जिनका आदर करते हैं, प्रायश्चित्तके लिए उनके पास नहीं जाना चाहिये यह शिक्षा देते हैं—

गा०—जैसे अनिपुण वैद्य व्याधिकी चिकित्सा नहीं करता, वैसे ही प्रायश्चित्तको न जाननेवाला आचार्य रत्नत्रयकी विशुद्धिके इच्छुकको शुद्ध नहीं करता ॥४५५॥

---

१. कुर्वितीति आ० । कुर्विति मु० । २. यतव्यमिति आ० मु० ।

तम्हा णिव्विसिदव्वं ववहारविदो हु पादमूलम्मि ।
तत्थ हु विज्जा चरणं समाधि सोधी य णियमेण ॥४५६॥

'तम्हा णिव्विसिदव्वं' तस्मात्स्थातव्यं । 'ववहारवदो हु' व्यवहारवतः एव । 'पादमूलम्मि' पादमूले । 'तत्थ हु' तत्र व्यवहारवित्पादमूले । 'विज्जा' विद्या ज्ञानं भवति । 'चरणं समाधी य' चारित्रं समाधिश्च । 'सोधी य' शुद्धिश्च । 'णियमेण' निश्चयेन भवति । ववहारवं ॥४५६॥

पकुव्वी एतद्व्याचष्टे—

जो णिक्खमणपवेसे सेज्जासंथारउवधिसंभोगे ।
ठाणणिसेज्जागासे अगदूण विकिंचणाहारे ॥४५७॥

'जो णिक्खमणपवेसे' यो यः सूरिः क्षपकस्य वसतेर्निःक्रमणे प्रवेशे वा । 'सेज्जासंथारउवधिसंभोगे' वसतेः, संस्तरस्य, उपकरणस्य शोधने । 'ठाणणिसेज्जागासे' स्थाने, निषद्यावकाशे, 'अगदूणविकिंचणाहारे' शय्यायां, शरीरमलाहरणे, भक्तपानढौकने च ॥४५७॥

अब्भुज्जदचरियाए उवकारमणुत्तरं वि कुव्वंतो ।
सव्वादरसत्तीए वट्टइ परमाए भत्तीए ॥४५८॥

'अब्भुज्जदचरियाए' क्षपकस्य अभ्युद्यतचर्यया 'उपकारं' अनुग्रहं हस्तावलम्बनादिकं । 'अणुत्तरं पकुव्वंतो' उत्कृष्टं प्रकुर्वन् । 'सव्वादरसत्तीए' सर्वादरशक्त्या । 'भत्तीए' भक्त्या । 'परमाए' उत्कृष्टया । 'वट्टदि' वर्तते । स प्रकुर्वकः सूरिर्भवति इति संबन्धः ॥४५८॥

इय अप्पपरिस्सममगणित्ता खवयस्स सव्वपडिचरणे ।
वट्टंतो आयरिओ पकुव्वओ णाम सो होइ ॥४५९॥

'इय' एवं । 'अप्पपरिस्सम' आत्मपरिश्रमं । 'अगणित्ता' अपरिगणय्य । 'खवयस्स' आराधकस्य । 'सव्वपडिचरणे' सर्वशुश्रूषायां । 'वट्टंतो' वर्तमानः । 'आयरिओ' आचार्यः । 'पकुव्वओ णाम' प्रकारको नाम 'सो होदि' स भवति । पकुव्वी गदं ॥४५९॥

इसलिये क्षपकको प्रायश्चित्तके ज्ञाता आचार्यके पादमूलमें ही ठहरना चाहिये। उनके पादमूलमें रहनेसे ज्ञान, चारित्र, समाधि और शुद्धि निश्चयसे होती है ॥४५६॥

इस प्रकार व्यवहारवान्का कथन समाप्त हुआ। प्रकुर्वित्व गुणका कथन करते हैं—

गा०—जो आचार्य क्षपकके वसतिसे निकलने अथवा उसमें प्रवेश करनेमें, वसति संस्तर और उपकरणके शोधनमें, खड़े होने, बैठने, सोने, शरीरसे मल दूर करनेमें, खानपान लानेमें, इन पण्डितमरण सम्बन्धी चर्यामें समस्त आदर शक्तिसे और उत्कृष्ट भक्तिसे हस्तावलम्बन आदि द्वारा उत्कृष्ट उपकार करते हैं, वह आचार्य प्रकुर्वक होते हैं ॥४५७-४५८॥

गा०—इस प्रकार अपने श्रमको परवाह न करके जो आचार्य क्षपकको सब प्रकारसे सेवा करते हैं वह प्रकारक नामसे कहे जाते हैं ॥४५९॥

---

१. प्रकुर्वको मु० ।

क्षपकश्चिक्षापरा गाथा—

खवओ किलामिदंगो पडिचरयगुणेण णिव्वुदिं लहइ ।
तम्हा णिव्विसिदव्वं खवएण पकुव्वयसयासे ॥४६०॥

'खवओ' क्षपकः । 'किलामिदंगो' ग्लानशरीरः । 'पडिचरयगुणेण' शुश्रूषागुणेनैव, 'णिव्वुदिं लहदि' सुखं लभते । यस्मात् । तम्हा—तस्मान् णिव्विसिदव्वं-निर्वेष्टव्यं । 'खवगेण' क्षपकेण । पकुव्वयसयासे विनयकारिणः समीपे । पकुव्वीगदं ॥४६०॥

आयोपायविदंसीत्येतद्व्याख्यानायोत्तरप्रबन्ध.—

खवयस्स तीरपत्तस्स वि गुरुगा होंति रागदोसा हु ।
तम्हा छुहादिएहिं य खवयस्स विसोत्तिया होइ ॥४६१॥

'खवगस्स' क्षपकस्य । 'तीरपत्तस्स वि' तीरं प्राप्तस्यापि । 'रागदोसा गुरुगा होंति' रागद्वेषौ गुरू तीव्रौ भवतः । 'तम्हा' तस्मात् 'छुहादिएहिं य' क्षुत्पिपासादिभिः परीषहैश्च कारणभूतैः । 'खवगस्स' क्षपकस्य 'विसोत्तिया होइ' अशुभपरिणामो जायते ॥४६१॥

थोलाइदूण पुव्वं तप्पडिवक्खं पुणो वि आवण्णो ।
खवओ तं तह आलोचेदुं लज्जेज्ज गारविदो ॥४६२॥

'थोलाइदूण पुव्वं' प्रव्रज्यादिक्रमेण तद्दिनपर्यवसानं रत्नत्रयातिचारं निवेदयामीति पूर्वं प्रतिज्ञाय । 'तप्पडिवक्ख'' तस्यापराधप्रत्याख्यापनस्य प्रतिपक्षेन निवेदनं । 'आवण्णो' आपन्नः प्राप्तः । 'खवगो तं तह आलोचेदुं लज्जेज्ज गारविगो' क्षपकस्तमपराधं तथा स्वाचरितक्रमेण गदितुं जिन्हेति संभावनागुरुः ॥४६२॥

तो सो हीलणभीरू पूयाकामो ठवेणइत्तो य ।
णिज्जूहणभीरू वि य खवओ वि न दोसमालावे ॥४६३॥

'तो' पश्चात् । सो' क्षपक. । 'हीलणभीरू' ज्ञातमदीयापराधा इमे मामवजानन्ति इति अवज्ञाभीरुः ।

गा०—यतः रोगसे ग्रस्त क्षपक आचार्यके सेवागुणसे सुख प्राप्त करता है, अत क्षपकको सेवा करनेवाले आचार्यके समीप ठहरना चाहिये ॥४६०॥

प्रकारकका कथन समाप्त हुआ ।

आय अपाय विदर्शित्व गुणका कथन करते हैं—

गा०—यद्यपि क्षपक संसार समुद्रके किनारे पहुंच जाता है फिर भी उसे तीव्र रागद्वेष होते हैं । अतः भूख प्यासकी परीषहोके कारण क्षपकके अशुभ परिणाम होते हैं ॥४६१॥

गा०—क्षपक पूर्वमें प्रतिज्ञा करता है कि दीक्षा लेनेके दिनसे समाधि धारण करनेके दिन तक रत्नत्रयमे जो दोष लगे हैं उन सबको मैं गुरुके सामने निवेदन करूँगा । ऐसी प्रतिज्ञा करके भी जब अपराध निवेदनका समय आता है तो अपना बड़प्पन जानकर क्षपक उस अपराधको जिस प्रकार वह किया गया उसी प्रकारसे कहनेमे लज्जा करता है ॥४६२॥

गा०—पश्चात् वह क्षपक डरता है कि मेरे अपराधको जानकर ये सब मेरी अवज्ञा

'पूजाकामो य' वन्दनाभ्युत्थानं इत्यादिकायां पूजायामभिलाषवान् । सापराधं न पूजयन्तीति । 'ठवणइत्तो य' आत्मानं सुचरितत्वे स्थापयितुकामश्च । 'णिज्जूहणभीरू वि य' मामिमे सापराधं त्यजन्तीति त्यागभीरुश्च । 'चयणो वि' स्वापराधं शरीरं च त्यजामीति प्रवृत्तोऽपि । 'आलोचेज्ज दोसं' न कथयेद् गुरोरात्मीयं दोषं ॥४६३॥

तस्स अवायोपायविदंसी खवयस्स ओघपण्णवओ ।
आलोचेंतस्स अणुज्जगस्स दंसेइ गुणदोसे ॥४६४॥

'तस्स खवगस्स गुणदोसे दंसेदित्ति पदसंबन्धः । तस्य अनालोचकस्य आलोचनायां गुणमितरत्र दोषं च दर्शयति । कः ? 'आयोपायविदंसी' आयोपायविदर्शी सूरिः । अपायो रत्नत्रयस्य विनाशः उपायो लाभ. । उपशब्दोऽनर्थकः इति कृत्वा रत्नत्रयस्य आउ शुद्धिर्लाभः तदुभयदर्शी । 'ओघपण्णवगो' सामान्यं प्रज्ञपयन् यो न कथयति स्वापराधं तस्यायं दोष इति । 'आलोचेंतस्स वि' अपि शब्दोऽत्र लुप्तनिर्दिष्टो आलोचनां कुर्वतोऽपि । 'अणुज्जगस्स' मायावतः ॥४६४॥

मायायां दोषं याथात्म्यकथने गुणं च दर्शयति । एवं दोषप्रकटनं कर्तव्यमित्याचष्टे—

दुक्खेण लहइ जीवो संसारमहण्णवम्मि सामण्णं ।
तं संजमं खु अबुहो णासेइ ससल्लमरणेण ॥४६५॥

'दुक्खेण लहइ जीवो' क्लेशेन लभते जीवः । किं ? 'सामण्णं' श्रामण्यं चारित्रं संयमं । क्व ? 'संसार-महण्णवम्मि' चतुर्गतिपरिभ्रमणमहार्णवे दुष्प्रापपारतया संसारो महार्णव इव । 'खु' शब्द. 'णासेइ' इत्यतः परतो अवधारणार्थो द्रष्टव्यः । तं संयमं नाशयत्येव 'अबुधः' अविद्वान् । 'ससल्लमरणेण'—यद्यपि शल्यमनेक-प्रकारं मिथ्यामायानिदानशल्यभेदेन तथापीह प्रकरणवशान्मायाशल्यं गृह्यते, मायाशल्यसहितेन मरणेनेत्यर्थः ।

करेंगे । उसकी अभिलाषा अपनी पूजा कराने की है कि मेरी वन्दना करें, मेरे लिए उठकर खड़े होवें । किन्तु अपराध ज्ञात होने पर तो पूजा नहीं करेंगे । वह अपनेको सम्यक् आचारमें स्थापित करना चाहता है । किन्तु अपराधी जानकर यह मुझे त्याग देंगे, इससे डरता भी है । अतः अपने अपराध और शरीरको त्यागनेके लिए तत्पर होते हुए भी वह गुरुसे अपने दोषोंको नहीं कहता ॥४६३॥

गा०—उस अपने दोषोंकी आलोचना न करनेवाले अथवा आलोचना करते हुए भी मायाचार पूर्वक आलोचना करनेवाले क्षपकको आय और उपायको दिखलाने वाले आचार्य आलोचनाके गुण और आलोचना न करनेके दोष सामान्यसे बतलाते हैं कि जो अपना अपराध नहीं कहता उसको यह दोष होता है ॥४६४॥

टी०—रत्नत्रयके विनाशको अपाय और रत्नत्रयके लाभको उपाय कहते हैं । 'उप' शब्द व्यर्थ है' ऐसा मानकर रत्नत्रयका 'आऊ' अर्थात् शुद्धि और लाभ दोनोंको दिखानेवाले आचार्य आयोपायविदर्शी होते हैं ॥४६४॥

गा०-टी०—इस संसारका पार पाना बड़ा कठिन है इसलिये चारों गतिमें भ्रमण रूप संसारको महासमुद्रकी उपमा दी है । उसमें भ्रमण करते हुए 'श्रामण्य' अर्थात् चारित्रको—संयमको जीव बड़े कष्टसे प्राप्त करता है । अज्ञानी उस समयको सशल्य मरणसे नष्ट कर देता है । यद्यपि मिथ्यात्व, माया और निदानके भेदसे शल्यके अनेक भेद हैं । तथापि यहाँ प्रकरणवश मायाशल्य

ननु समानतायाः प्रस्तुतत्वात् सामण्णं इत्यनेन तत् परित्यज्य कथमन्यदुपन्यस्तं 'तं संजममिति'। अस्यायमभिप्रायः[1] श्रमणशब्दस्य द्रव्येऽप्रवृत्तिनिमित्तं यच्छ्रामण्यं किं च तत्संयमः। तथाहि सावद्यक्रियापरो नायं श्रमण इति लोको वदति। ततो युक्तमेव भावशल्यमात्मन्यवस्थितमिव[2] दोषमावहतीति दृष्टान्तमुखेन कथयति—॥४६५॥

जह णाम दव्वसल्ले अणुद्धदे वेदणुद्दिदो होदि।
तह भिक्खू वि ससल्लो तिव्वदुहट्टो भयोव्विग्गो ॥४६६॥

'जह णाम' यथा नाम स्फुटं। 'दव्वसल्ले' शरकण्टकादौ 'अणुद्धदे' अनुद्धृते अनिराकृते। 'वेदणुद्दिदो होदि' वेदनार्तो भवति। 'तह' तथा। 'भिक्खु वि' भिक्षुरपि। 'ससल्लो' भावशल्यवान्। 'तिव्वदुहिदो होदि' तीव्रदुःखितो भवति। 'भयोव्विग्गो' भयेन चलो भवति। एवमनुद्धृतशल्यो गमिष्यामि कां गतिमिति भयमस्य जायते। एवमयं दृष्टान्तेनाविरोधयति ॥४६६॥

कंटकसल्लेण जहा वेधाणी चम्मखीलणाली य।
रप्फइयजालगत्तागदो य पादो पडदि पच्छा ॥४६७॥

'कंटकसल्लेण जहा' कण्टकाख्येन शल्येन करणभूतेन यथा। 'वेधाणी चम्मखीलणाली य' व्यधनचर्मकीलनालिकाश्च भवन्ति। 'रप्फइयजालगत्तागदो य' कुथितवल्मीकच्छिद्राणि प्राप्तः स पादः 'पडदि' पतति पश्चात्तथा ॥४६७॥

एवं तु भावसल्लं लज्जागारवभएहिं पडिबद्धं।
अप्पं पि अणुद्धरियं वदसीलगुणे वि णासेइ ॥४६८॥

लिया है। मायाशल्य सहित मरणसे अज्ञानी संयमको नष्ट करता है।

शङ्का—यहाँ तो 'सामण्ण' शब्दसे समानता ली गई है। उसे छोड़कर 'संयम' क्यों कहा ?

समाधान—इसका अभिप्राय यह है कि द्रव्यमें प्रवृत्ति न करनेमें निमित्त जो श्रामण्य है वही संयम है। लोग कहते ही हैं कि यह पापकार्योंमें प्रवृत्ति करता है अत श्रमण नहीं है। अतः आत्मामें स्थित भावशल्य दोषकारी है यह कहना उचित ही है ॥४६५॥

इसे दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

गा०—जैसे शरीरमें लगे बाण, काँटा आदि द्रव्यशल्यको न निकालनेपर मनुष्य कष्टसे पीड़ित होता है। उसी प्रकार भावशल्यसे युक्त भिक्षु भी तीव्र दुखित होता है और भयसे विचल होता है कि शल्यको दूर न करनेपर मैं किस गतिमें जाऊँगा। इस प्रकार दृष्टान्तसे अविरोध दिखलाया है ॥४६६॥

गा०—जैसे पैरमें काँटा घुसनेपर पहले पैरमें छिद्र होता है फिर उसमें माँसका अंकुर उग आता है और वह नाडीतक पहुंचता है। पीछे उस पैरमें साँपकी बाँबी जैसे दुर्गन्ध युक्त छिद्र हो जाते हैं ॥४६७॥

---

१. प्रायः तद्विति संजमं श्रामण्यमेवेति निरूपितं ज्ञातव्यमिति ततो युक्त—आ०। २. मिह दो—आ०।

'एवं तु' एवमेव । 'भावसल्लं' परिणामशल्यं । 'लज्जागारवभयेहिं पडिबद्धं' स्वापराधनिगूहन लज्जातो भवति । भयेन अपराधे कथिते कुप्यन्ति गुरवस्त्यजन्ति वा मां महद्वा प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्तीति[1] । भयात् । तपस्व्ययं सुसंयत इति महती प्रसिद्धिः सा विनश्यतीति गौरव[illegible]प्रतिबद्धमायाशल्यं । 'अप्पं पि' अल्पमपि । शल्यं 'अणुद्धरियं' अनुद्धृतं । 'वदसीलगुणे' व्रतानि शीलानि [illegible] विनाशयति ॥४६८॥

तो भट्ठबोधिलाभो अणंतकालं भवण्णए भीमे ।
जम्मणमरणावत्ते ओणिसहस्साउले भमदि ॥४६९॥

'तो' पश्चात् । 'भट्ठबोधिलाभो' विनष्टदीक्षाभिमुखबुद्धिलाभ. । 'अणंतकाल भमइ' अनन्तकाल भ्रमति । क्व ? 'भवण्णवे' भवार्णवे । 'भीमे' भयंकरे । 'जम्मणमरणावत्ते' जन्ममरणावर्ते । 'जोणिसहस्साउले' चतुरशीतियोनिसहस्राकुले ॥४६९॥

तत्थ य कालमणंतं घोरमहावेदणासु ओणीसु ।
पच्चंतो पच्चंतो दुक्खसहस्साइं पप्पेदि ॥४७०॥

'तत्थ य' तत्र च भवार्णवे । 'अणंतकालं दुक्खसहस्साइं पप्पेदि इति पदघटना । अनन्तकालं दुःख-सहस्राणि अनुभवति । 'घोरमहावेदणासु जोणीसु पच्चंतो' घोरमहावेदनासु योनिषु पच्यमान. ॥४७०॥

तं न खमं खु पमादा मुहुत्तमवि अत्थिदुं ससल्लेण ।
आयरियपादमूले उद्धरिदव्वं हवदि सल्लं ॥४७१॥

'तं' तस्मात् । 'मुहुत्तमवि अत्थिदुं ससल्लेण न खमो खु' मुहूर्तमात्रमपि आसितुं शल्यसहितेन रत्न-त्रयेण सह न शक्यः प्रमादवशाद्यति संसारभीरु । 'आयरियपादमूले' उक्तगुणस्याचार्यस्य पादमूले । 'उद्धरि-दव्वं हवदि सल्लं' शल्यमुद्धर्तव्यं भवति ॥४७१॥

गा०-टी०—इसी प्रकार लज्जा भय और गारवसे प्रतिबद्ध थोडा-सा भी भावशल्य यदि दूर न किया जाये तो व्रत शील और गुणोंको नष्ट करता है । लज्जावश साधु अपने अपराधको छिपाता है । या अपराध प्रकट करनेपर गुरुजन क्रुद्ध होंगे, मुझे त्याग देंगे अथवा बडा प्रायश्चित्त देंगे इस भयसे दोषको छिपाता है । अथवा मेरी जो महती प्रसिद्धि है कि यह तपस्वी उत्तम संयमी है वह नष्ट हो जायेगी इस भयसे दोषको छिपाता है । यह मायाशल्य है । इसे यदि दूर नहीं किया गया तो क्षपकके व्रत शील गुण नष्ट हो जाते हैं ॥४६८॥

गा०—पीछे दीक्षा धारण करके जो बुद्धिलाभ किया था वह नष्ट हो जाता है और चौरासी हजार योनियोंसे भरे, और जन्ममरणरूपी भँवरोंसे युक्त भयंकर भवसमुद्रमें अनन्तकालतक भ्रमण करता है ॥४६९॥

गा०—और उस भवसमुद्रमें भयंकर महावेदनावाली योनियोंमें भ्रमण करता हुआ अनन्त-कालतक हजारों दुःख भोगता है ॥४७०॥

गा०—इसलिए संसारसे भीत यतिको प्रमादवश एक मुहूर्तमात्रके लिए भी शल्यसहित रत्नत्रयके साथ रहना उचित नहीं है । उक्त गुणवाले आचार्यके पादमूलमें उसे अपने शल्यको निकाल देना चाहिए ॥४७१॥

1. -दीर्घ[illegible]सुतपास्त्वयं तु—आ० ।

तम्हा जिणवयणरुई जाइजरामरणदुक्खवित्तत्था।
अज्जवमद्दवसंपण्णा भयलज्जाउ पमोत्तूण ॥४७२॥

'**तम्हा**' तस्मात्। '**जिणवयणरुई**' जिनागमे श्रद्धावन्तः। '**जाइजरामरणदुक्खवित्तत्था**' जातिजराम-रणदुःखवित्रस्ताः। '**अज्जवमद्दवसंपण्णा**' आर्जवेन मार्दवेन च युक्ताः। '**भयलज्जाओ**' भयं लज्जां वा। '**मोत्तूण**' मुक्त्वा ॥४७२॥

उप्पाडित्ता धीरा मूलमसेसं पुणब्भवलयाए।
संवेगजणियकरणा तरंति भवसायरमणंतं ॥४७३॥

'**उप्पाडित्ता**' उत्पाट्य। धीराः। किं ? मूलं। कथं ? '**असेसं**' निरवशेषं। कस्य मूलं ? '**पुणब्भवल-याए**' पुनर्भवलतायाः। किं तन्मूलं ? शल्यं। '**संवेगजणियकरणा**' संसारभीरुतोत्पादितक्रियाः। '**तरंति**' तरन्ति। '**भवसायरमणंतं**' भवसागरमनन्तं ॥४७३॥

उक्तवस्तूपसंहारार्था गाथा—

इय जइ दोसे य गुणे ण गुरू आलोयणाए दंसेइ।
ण णियत्तइ सो तत्तो खवओ ण गुणे य परिणमइ ॥४७४॥

'**इय**' एवं। '**जदि गुरु ण दंसेदि**' यदि गुरुर्न दर्शयेत् क्षपकस्य। किं '**आलोयणाए गुणे**' स्वापराधक-थनस्य गुणान्। '**दोसे य**' दोषांश्च यदि न दर्शयेत्। आलोयणाए इति वाक्यशेषः। '**सो खवओ ण णियत्तदि**' असौ क्षपको न निवर्तते। कुतः ? '**तत्तो**' पूर्वोक्तदोषान्मायाशल्यात्। '**गुणे य ण परिणमदि**' गुणे च निःशल्यत्वे न परिणमते ॥४७४॥

तम्हा खवएणाओपायविदंसिस्स पायमूलम्मि।
अप्पा णिव्विसिदव्वो धुवा हु आराहणा तत्थ ॥४७५॥

'**तम्हा**' तस्मात् आयोपायदर्शिनः पादमूले यस्माद्दोषान्निवर्तते क्षपको गुणे च परिणमते तदुभयार्थी च। '**तम्हा**' तस्मात् '**खवगेण**' क्षपकेन '**आयोपायविदंसिस्स**' गुणदोषदर्शिनः। '**पायमूलम्हि**' पादमूले। '**अप्पा णिव्वि-**

गा०—अतः जिनागमके श्रद्धालु और जन्म जरा मरणके दुःखसे भीत क्षपकको भय और लज्जाको छोड़ आर्जव और मार्दवसे युक्त होना चाहिए ॥४७२॥

गा०—धीर क्षपक पुनर्जन्मरूपी लताके मूल सम्पूर्ण शल्यको उखाड़कर संसारके भयसे उत्पन्न किये चारित्रको धारण करके अनन्तभवसागरको तिर जाते हैं ॥४७३॥

उक्त कथनका उपसंहार करते हैं—

गा०—इस प्रकार यदि गुरु क्षपकको आलोचना अर्थात् अपने अपराधको कहनेके गुण और दोष न बतलावे तो वह क्षपक पूर्वोक्त मायाशल्य दोषसे निवृत्त न हो और निःशल्य नामक गुणसे युक्त न हो ॥४७४॥

गा०—यतः आय-उपायके दर्शी आचार्यके पादमूलमें रहनेसे क्षपक दोषसे निवृत्त होता

सिज्जो' आत्मा स्थापयितव्यः । तत्र गुणमाचष्टे 'गुणा य आराहणा तत्थ' निश्चिता रत्नत्रयाराधना तत्र । आयोपायः ॥४७५॥

अवपीडकत्वं व्याख्यातुकामः संबध्नाति पूर्वेण उपायदर्शित्वेन—

आलोचणगुणदोसे कोई सम्मं पि पण्णविज्जंतो ।
तिव्वेहिं गारवादिहिं सम्मं णालोचए खवए ॥४७६॥

'आलोचणगुणदोसे' आलोचनाया गुणदोषान् । 'कोई' कश्चित् । 'सम्मंपि पण्णविज्जंतो' सम्यगवबोध्यमानोऽपि । 'खवगो णालोचए सम्मं' क्षपकः सम्यक् न कथयेत् । केन हेतुना ? 'तिव्वेहिं गारवादिहिं' तीव्रैर्गारवादिभिः आदिशब्देन लज्जाभयक्लेशासहत्वं च गृह्यते ॥४७६॥

एवमनालोचयतोऽपि भावः प्रशान्ति नेतव्यो निर्यापकेनेत्येतद्व्याचष्टे—

णिद्धं मधुरं हिदयंगमं च पल्हादणिज्जमेगंते ।
तो पल्हावेदव्वो खवओ सो पण्णवंतेण ॥४७७॥

'णिद्धं' स्नेहवत् । 'मधुरं' श्रुतिसुखं । 'हिदयंगमं' हृदयानुप्रवेशि । 'पल्हादणिज्जं' सुखदं । 'एगंते' एकान्ते । 'पल्हावेदव्वो' शिक्षयितव्यः । 'खवगो' क्षपकः । 'सो' सः । आत्मापराधं यो न कथयति । 'पण्णवंतेण' प्रज्ञापयता सूरिणा । आयुष्मन् ! उपलब्धसन्मार्गरत्नत्रयनिरतिचारकरणे समाहितचित्त ! अतिचारं निवेदय लज्जां, भयं, गारवं च विहाय । गुरुजनो हि मात्रा पित्रा च सदृशः, तेषां कथने का लज्जेति । स्वदोषमिव न प्रख्यापयन्ति परेषां यतीनां । यतिधर्मस्य वा अवर्णवादं प्रयत्नेन विनाशयितुमुद्यताः किमयशः प्रथयन्ति ।

है और गुणसे युक्त होता है। अत क्षपकको गुणदोष दिखलानेवाले आचार्यके पादमूलमें अपनेको रखना चाहिए। ऐसा करनेसे रत्नत्रयकी आराधना होना निश्चित है ॥४७५॥

आयोपायका कथन समाप्त हुआ।

अब अवपीडक गुणका कथन करनेकी इच्छासे उसका उक्त उपायदर्शित्व गुणके साथ सम्बन्ध जोड़ते हैं—

गा०—कोई क्षपक आलोचनाके गुण और दोषोंको अच्छी तरह समझनेपर भी तीव्र गारव, आदिके कारण सम्यक्रूपसे अपने दोषोंको नहीं कहता। यहाँ आदि पदसे लज्जा, भय और कष्टको सहन न करना लिए गये हैं ॥४७६॥

इस प्रकार आलोचना न करनेवाले क्षपकके भावको निर्यापक आचार्यको शान्त करना चाहिए, यह कहते हैं—

गा०-टी०—जो अपना अपराध नहीं कहता उस क्षपकको समझानेवाले आचार्यको एकान्तमें स्नेहसे भरे, कानोंको सुखकर और हृदयमें प्रवेश करनेवाले सुखदायक वचनोंसे शिक्षा देना चाहिए। प्राप्त सम्मार्ग रत्नत्रयके निरतिचार पालनमें सावधान आयुष्मन्! लज्जा, भय और मान छोड़कर दोषोंको निवेदन करो। गुरुजन माता-पिताके समान होते हैं उनसे कहनेमें लज्जा कैसी? वे अपने दोषकी तरह दूसरे यतियोंके भी दोष किसीसे नहीं कहते। जो यतिधर्म

समीचीनदर्शनस्य मुक्तिमार्गे प्रधानस्य मलं हि यतिजने दूषणं । अतिचारहिमान्या हृतं च रत्नत्रयकमलवनं न शोभते । परनिन्दा नीचैर्गोत्रस्यास्रवः । स्वयं च निन्द्यते बहुषु जन्मसु निन्दकः । परस्य मनःसंतापं दुस्सहं सम्पादयतो असद्वेद्यकर्मबन्धः स्यात् । साधुजनोऽपि निन्दति स्वधर्मतनयं किमर्थमयं एव अयशःपङ्केन लिम्पतीति । एवमनेकानर्थावहपरदोषप्रकटनं कः सचेतनः करोतीति ॥४७७॥

णिद्धं महुरं हिदयंगमं च पल्हादणिज्जमेगंते ।
कोइ तु पण्णविज्जंतओ वि णालोचए सम्मं ॥४७८॥

एवं प्रज्ञापनायां सत्यामपि यो नालोचयति इत्युत्तरसूत्रार्थं ।

तो उप्पीलेदव्वा खवयस्सोप्पीलएण दोसा से ।
वामेइ मंसमुदरमवि गदं सीहो जह सियालं ॥४७९॥

'**तो**' पश्चात् । '**उप्पीलिदव्वा**' अवपीडयितव्या । के ? '**दोसा**' दोषा । कस्य ? '**से**' तस्य । '**खवगस्स**' क्षपकस्य । केन ? '**उप्पीलएण**' अवपीडकेन सूरिणा । अपसरास्मत्सकाशात्, किमस्माभिर्भवतः प्रयोजनं ? यो हि स्वशरीरलग्नमलप्रक्षालनेच्छः स ढौकते काचच्छायानुसारिसलिलं सरः । यो वा महारोगोरगग्रस्तस्तदपनयनाभिलाषवान् स वैद्यं ढौकते । एवं रत्नत्रयातिचारान्निराकर्तुमभिलषता समाश्रयणीयो गुरुजनः । भवतश्च रत्नत्रयशुद्धिकरणे नैवादरः किमनया क्षपकत्वविडम्बनया । न चतुर्विधाहारपरित्यागमात्रायत्ता सल्लेखनेयं ।

पर मिथ्या दोषारोपणको नष्ट करनेमे तत्पर रहते है वे क्या अपयश फैला सकते हैं ? मोक्षमार्गमे प्रधान सम्यग्दर्शन है और यतिजनमे दूषण लगाना सम्यग्दर्शनका अतिचार है। रत्नत्रयरूपी कमलोका वन यदि अतिचाररूपी हिमपातसे नष्ट हो तो वह शोभित नही होता। परनिन्दासे नीचगोत्र कर्मका आस्रव होता है। जो दूसरोकी निन्दा करता है वह स्वय अनेक जन्मोमें निन्दाका पात्र बनता है। दूसरेके मनको असह्य सन्ताप देनेवालेके असातावेदनीयकर्मका बन्ध होता है। साधुजन भी निन्दा करते हैं कि अपने धर्मपुत्रको यह इस प्रकार अपयशरूप कीचडसे क्यो लिप्त करता है। इस तरह दूसरोके दोषोको प्रकट करना अनेक अनर्थोंका मूल है। कौन समझदार उसे करना पसन्द करेगा ॥४७७॥

गा०—स्निग्ध मधुर, हृदयग्राही और सुखकर वचनोके द्वारा एकान्तमे समझानेपर भी कोई क्षपक अपने दोषोको सम्यक्रूपसे नही कहता ॥४७८॥

गा०— तब जैसे सिंह स्यारके पेटमे गये मांसको भी उगलवाता है वैसे ही अवपीडक आचार्य उस क्षपकके अन्तरमे छिपे हुए मायाशल्य दोषोको बाहर निकालता है ॥४७९॥

टी०—हमारे सामनेसे दूर हो जाओ। आपको हमसे अब क्या प्रयोजन है ? जो अपने शरीरमे लगे मलको धोना चाहता है वह काचके समान निर्मल जलवाले सरोवरके पास जाता है। अथवा जो महान् रोगरूपी सर्पसे डँसा गया है और उसे दूर करना चाहता है वह वैद्यके पास जाता है। इसी प्रकार जो रत्नत्रयमें लगे अतिचारोंको दूर करना चाहता है उसे गुरुजनके पास जाना चाहिए। आपको अपने रत्नत्रयकी शुद्धि करनेमें आदर नही है तब इस क्षपकका रूप धारण करनेसे क्या लाभ ? यह सल्लेखना केवल चार प्रकारके आहारका त्याग करनेमात्रसे

अपि तु कषायसल्लेखनमात्रता । संवरो निर्जरा च, कषाया नूतनकर्मादाने, बन्धे, स्थितिविधाने चोद्यताः परिहरणीयाः । तेषु च कषायेषु मायातिनिकृष्टा तिर्यग्योनिनिर्वर्तनप्रवणा । तां त्यक्तुमसमर्थस्यापि प्रविष्टस्य भवतः संसारोदधेस्तिर्यग्भवावर्तं । ततो निःसरणमतिदुष्करं । वस्त्रमात्रपरित्यागेनैव निर्ग्रन्थताभिमानोद्वहनमन्यथात्वं, तथैवं तिर्यञ्चोऽपि निर्ग्रन्थाः स्युः । चतुर्दशप्रकारस्याभ्यन्तरपरिग्रहस्य त्यागाद्भावनैर्ग्रन्थ्यं समवतिष्ठते । तदेव हि मुक्तेरुपायः । भावनैर्ग्रन्थ्यस्य उपाय इति दशविधबाह्यग्रन्थत्याग उपयोगी मुमुक्षोः । न हि जीवपुद्गलद्रव्यसन्निधानमात्राधीनः कर्मबन्धः । अपि तु तन्निमित्तजीवपरिणामालम्बनः । अतिचारवन्ति दर्शनादीनि न मुक्तेरुपायः । 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इति किन्न भवतः श्रुतिगोचरमायातं जैनं वचः ? समीचीनता हि दर्शनज्ञानचारित्राणां निरतिचारता । सा च गुरूपदिष्टप्रायश्चित्ताचरणे । गुरवोऽपि कृतालोचनायैव प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्ति । ततो भवान्दूरभव्यः अभव्यो वा । आसन्नभव्यत्वे सति किमेवं महामायाशल्यं भवति ? नैव यतिजनवन्दनार्होऽसि । 'समणं वंदेज्ज मेधावी संजदं सुसमाहिदं' इति वचनात् । जीवितमरणयोर्लाभालाभयोर्निन्दाप्रशंसयोश्च समानचित्ततया समानो भवति । अतिचारनिवेदने मा निन्दन्ति न प्रशंसन्तीति भवता नालोच्यते । तत्कथं समानोऽसि ? कथं वा वन्द्यः ?

'सीहो जहा सियालं उदरगदं पि मंसं णामेदि' सिंहो यथा शृगालमुदरप्रविष्टमपि मांसमुद्गारयति तद्वन्मायाशल्यमन्तर्लीनं निस्सारयत्यवपीडकः ॥४७९॥

नहीं होती। किन्तु इसके लिए कषायको कृश करना चाहिए। तभी यह सल्लेखना होती है। तथा संवर और निर्जरा भी करना चाहिए। कषाय तो नवीन कर्मोंके ग्रहण, बन्ध और उनके स्थितिबन्धको करती है अतः वह त्यागने योग्य है।

उन कषायोंमें माया अत्यन्त खराब है वह तिर्यञ्चगतिमें ले जाती है। आप उसे छोड़नेमें असमर्थ हैं अतः आप संसार समुद्रके तिर्यञ्चभवरूपी भँवरमें फँस गये हैं। वहाँसे निकलना अत्यन्त कठिन है। वस्त्रमात्रके त्यागसे अपनेको निर्ग्रन्थ माननेका अभिमान करना भी झूठा है। यदि कोई इतनेसे ही निर्ग्रन्थ हो तो पशु भी निर्ग्रन्थ कहे जायेंगे। चौदह प्रकारकी अभ्यन्तर परिग्रहके त्यागसे भावनैर्ग्रन्थ्य होता है। वही मुक्तिका उपाय है। भावनैर्ग्रन्थ्यका उपाय है दस प्रकारकी बाह्यपरिग्रहका त्याग। वह मुमुक्षुके लिए उपयोगी है। जीव और पुद्गलद्रव्यके सम्बन्धमात्रसे कर्मबन्ध नहीं होता, किन्तु उसके निमित्तसे होनेवाले जीवके परिणामोंके निमित्तसे कर्मबन्ध होता है। अतिचार सहित सम्यग्दर्शन आदि मुक्तिके उपाय नहीं है। 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षका मार्ग है।' क्या यह जिनागमका वचन आपके कानोंमें नहीं गया ? निरतिचार होना ही दर्शन ज्ञान और चारित्रकी समीचीनता है। और वह निरतिचारता गुरुके द्वारा कहे प्रायश्चित्तको करनेपर ही होती है। गुरु भी उसीको प्रायश्चित्त देते हैं जो आलोचना करता है। अतः आप या तो दूर भव्य हैं या अभव्य हैं। यदि निकट भव्य होते तो इस प्रकारका महामायारूप शल्य क्यों होता। तुम यतिजनोंके द्वारा वन्दना करने योग्य नहीं हो। क्योंकि आगममें कहा है—

'बुद्धिमान्‌को संयमी और सम्यक्‌रूपसे समाहित श्रमणकी वन्दना करनी चाहिए।' जीवनमरणमें, लाभ अलाभमें, निन्दा प्रशंसामें जिसका चित्त समान रहता है वही श्रमण या समण होता है। 'दोष कहनेपर लोग मेरी निन्दा करेंगे, प्रशंसा नहीं करेंगे' इसलिए आप आलोचना नहीं करते। तब आप कैसे समण (समान) हैं और कैसे वन्दनीय हैं। इस प्रकार

इदृगवपीडको भवतीत्याचष्टे—

उज्जस्सी तेजस्सी वच्चस्सी पहिदकित्तियायरिओ ।
सीहाणुओ य भणिओ जिणेहिं उप्पीलगो णाम ॥४८०॥

यो यद्धितकामस्स तं बलात्तत्र प्रवर्तयति । यथा हिता माता बालं घृतपाने इत्येतदुत्तरसूत्रेणाचष्टे—

पिल्लेदूण रडंतं पि जहा बालस्स मुहं विदारित्ता ।
पज्जेइ घदं माया तस्सेव हिदं विचिंतंती ॥४८१॥

'**पिल्लेदूण मुहं विदारित्ता घदं पज्जेदि**' *यथा जननी बालहितचिन्तोद्यता पूत्कुर्वन्तमपि बालं अवष्टभ्य मुखं विदार्य घृतं पाययति* ॥४८१॥

दार्ष्टान्तिकेनायोजयति—

तह आयरिओ वि अणुज्जयस्स खवयस्स दोसणीहरणं ।
कुणदि हिदं से पच्छा होहिदि कडु ओसहं वत्ति ॥४८२॥

'**तह**' तथा । आयरिओ' आचार्योऽपि । '**अणुज्जयस्स खवगस्स**' अनृजोः क्षपकस्य । '**दोसणीहरणं कुणइ**' मायाशल्यनिर्गमं करोति । '**कडुगोसधं वत्ति**' कटुकमौषधमिव । '**से**' तस्य । '**पच्छाहिदं होदि**' पश्चाद्धितं भवतीति ॥४८२॥

यो न निर्भर्त्सयति दोषं दृष्ट्वापि प्रियमेव वक्ति स गुरुः शोभन इति न भवद्भिर्मन्तव्यमित्युपदिशति—

जिब्भाए वि लिहंतो ण भद्दओ जत्थ सारणा णत्थि ।
पाएण वि ताडिंतो स भद्दओ जत्थ सारणा अत्थि ॥४८३॥

कहकर अवपीड़क आचार्य उसके मुखसे दोष उगलवाते है ॥४७९॥

अवपीडक आचार्य ऐसे होते हैं, यह कहते है—

गा०—जो ओजस्वी-बलवान्, तेजस्वी-प्रतापवान् वर्चस्वी-प्रश्नोका उत्तर देनेमे कुशल, प्रसिद्ध कीर्तिशाली और सिंहके समान आचार्य होते है उन्हे जिनभगवान्ने उत्पीड़क नामसे कहा है ॥४८०॥

जो जिसका हित चाहता है वह उसे बलपूर्वक उसमे लगाता है जैसे हित चाहनेवाली माता बालकको बलपूर्वक घी पिलाती है यह आगेकी गाथामे कहते है—

गा०—जैसे बालकके हितकी चिन्तामे तत्पर माता चिल्लाते हुए भी बालकको पकड़कर उसका मुँह फाड़कर घी पिलाती है ॥४८१॥

उक्त दृष्टान्तको दार्ष्टान्तके साथ जोडते है—

गा०—उसी प्रकार आचार्य भी कुटिल क्षपकके मायाशल्यरूप दोषको निकालते है । और वह कडुवी औषधिकी तरह पीछे उस क्षपकके लिए हितकारो होता है ॥४८२॥

जो क्षपकके दोष देखकर भी उसका तिरस्कार नही करता, प्रियवचन ही बोलता है वह गुरु उत्तम है ऐसा आप न सोचना, यह उपदेश क्षपकको देते है—

'जिब्भाए वि लिहंतो' जिह्वया स्वादयन्नपि 'ण भद्दगो' नैव भद्रकः । 'जत्थ सारणा णत्थि' यस्मिन्गुरौ दोषनिवारणा नास्ति । 'पाएण वि ताडिंतो' पादेन ताडयन्नपि 'स भद्दगो' स सूरिर्भद्रकः । 'सारणा जत्थ अत्थि' सारणा यत्र गुरौ विद्यते ॥४८३॥

सारणकस्य सूरेर्भद्रताप्रकटनाय गाथा—

सुलहा लोए आदट्ठचिंतगा परहिदम्मि मुक्कधुरा ।
आदट्ठं व परट्ठं चिंतंता दुल्लहा लोए ॥४८४॥

'सुलहा लोए आदट्ठचिंतगा' सुलभाः प्रचुराः । 'लोए' लोके । 'आदट्ठचिंतगा' स्वकार्ये तत्पराः । 'परहिदम्मि मुक्कधुरा' परहितकरणे अलसाः । 'आदट्ठं व' आत्मप्रयोजनमिव । 'परट्ठं चिंतंता' परप्रयोजनचिन्तासमुद्यताः लोके दुर्लभाः ॥४८४॥

आदट्ठमेव चिंतेदुमुट्ठिदा जे परट्ठमवि लोगे ।
कडुय फरुसेहिं साहेंति ते हु अदिदुल्लहा लोए ॥४८५॥

'आदट्ठमेव चिंतेदुमुट्ठिदा' आत्मीयमेव प्रयोजनं चिन्तयितुमुत्थिताः । 'जे' ये 'परट्ठमवि' परप्रयोजनमपि 'कडुगफरुसेहिं' कटुकैः परुषैः प्रवचनैः 'साधेंति' साधयन्ति लोके । 'अतिदुल्लहा' अतीव दुर्लभा. ॥४८५॥

सूरिर्यदि नावपीडयेत् नासौ क्षपको मायाशल्यान्निवर्तते । निर्मायत्वे निरतिचाररत्नत्रये च गुणे न प्रवर्तते इति आचार्यसपाद्यमुपकारं प्रकटीकरोति—

खवयस्स जइ ण दोसे उग्गालेइ सुहुमे व इदरे वा ।
ण णियत्तइ सो तत्तो खवओ ण गुणे य परिणमइ ॥४८६॥

'खवगस्स ण सुहुमे व इदरे वा दोसे जइ ण उग्गालेइ' क्षपकस्य सूक्ष्मान् स्थूलान्वा दोषान्यदि नोद्गारयति । 'सो खवगो तत्तो ण णियत्तइ' स क्षपकस्तेभ्य. सूक्ष्मेभ्य' स्थूलेभ्यो वा दोषेभ्यो न निवर्तते । 'णेव गुणे

जो गुरु शिष्यके दोषोका निवारण नही करता, वह जिह्वासे मधुर बोलनेपर भी भद्र नही है। और जो गुरु दोषोका निवारण करता हुआ पैरसे मारता भी है वह भद्र है ॥४८३॥

दोषोंका निवारण करनेवाले आचार्यको भद्रता बतलाते हैं—

गा०—अपने काममें तत्पर किन्तु दूसरोंका हित करनेमें आलसी मनुष्य लोकमें बहुत हैं किन्तु अपने कार्यकी तरह दूसरोंके कार्यकी चिन्ता करनेवाले मनुष्य लोकमे दुर्लभ हैं ॥४८४॥

गा०—जो अपने ही कार्यकी चिन्तामें तत्पर होते हुए दूसरोके कार्यको भी कठोर औः कटुकवचनोंसे साधते है वे पुरुष लोकमें अत्यन्त दुर्लभ है ॥४८५॥

गा०—आचार्य यदि क्षपकको पीड़ित न करे तो वह मायाशल्यसे न निकले । और मायाशल्यसे निकले बिना निरतिचार रत्नत्रय गुणमें प्रवृत्त न हो ॥४८६॥

इस प्रकार आचार्यके द्वारा किये जानेवाले उपकारको प्रकट करते हैं—

यदि आचार्य क्षपकके सूक्ष्म अथवा स्थूल दोषोंको न उगलवाये तो वह क्षपक उन सूक्ष्म अथवा स्थूल दोषोंसे निवृत्त न हो और न गुणमें प्रवृत्त हो । और दोषोंको दूर किये विना तथा

चरियम्मी' निराकृतदोषो गुणे वाऽपरिणतो कथमाराधकः स्यादाराधनार्थमायातोऽप्यसत्यवपोडके । उप्पीलत्ति गदं ॥४८६॥

तम्हा गणिणा उप्पीलणेण खवयस्स सव्वदोसादु ।
ते उग्गालेदव्वा तस्सेव हिदं तधा चेव ॥४८७॥

उप्पीलओत्ति गदं ।

एवं अवपीडकता व्याख्यायावसरप्राप्तामपरिश्रावितां व्याचष्टे—

लोहेण पीदमुदयं व जस्स आलोचिदा अदीचारा ।
ण परिस्सवंति अण्णत्तो सो अप्परिस्सवो होदि ॥४८८॥

'लोहेण पीदमुदगं व' एवमत्र पदसंबन्धः । 'जस्स आलोइदा दोसा ण परिस्सवन्ति अण्णत्तो' यस्मै कथिता दोषा न परिस्रवन्त्यन्यतः । किमिव 'लोहेण पीदमुदगंव' लोहेन सतप्तेन पीतमिवादक । 'सो' स । एवंभूतोऽपरिस्सवो होदि अपरिस्रावो भवति ॥४८८॥

दंसणणाणादिचारे वदादिचारे तवादिचारे य ।
देसच्चाए विविधे सव्वच्चाए य आवण्णो ॥४८९॥

दंसणणाणादिचारे य वदादिचारे' श्रद्धानस्यातिचार शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवा, ज्ञानस्य अतिचाराः अकाले पठनं, श्रुतस्य श्रुतधरस्य वा विनयाकरण अनुयोगादीना ग्रहणे तत्प्रायोग्यावग्रहाग्रहणं, उपाध्याय निह्नवः, व्यञ्जनाना न्यूनताकरण, आधिक्यकरण, अर्थस्य अन्यथाकथन वा । तपसोऽनशना-

---

गुणमें लगे विना आराधक कैसे हो सकता है ? आराधनाके लिए गुरुके पास आकर भी यदि गुरु अवपीडक न हो तो उक्त बात नहीं बन सकती है ॥४८६॥

गा०—इसलिए उत्पीडक आचार्यको क्षपकके सब दोष उगलवाना चाहिए। क्योंकि क्षपकका हित इसीमे है ॥४८७॥

उत्पीडक गुणका कथन समाप्त हुआ ।

इस प्रकार अवपीडक गुणका व्याख्यान करके अवसर प्राप्त अपरिश्रावी गुणको कहते हैं—

गा०—जैसे तपाये हुए लोहेके द्वारा पिया गया जल बाहर नही जाता वैसे ही जिस आचार्यसे कहे गए दोष अन्य मुनियोपर प्रकट नही होते, वह आचार्य अपरिस्राव गुणसे युक्त होता है ॥४८८॥

गा०—किसीके सम्यग्दर्शनमे अतिचार लगा हो, अथवा ज्ञानमे अतिचार लगा हो, या व्रतोंमें अतिचार लगा हो, या तपमें अतिचार लगा हो, यह एकदेशसे अथवा सर्वदेशसे अतिचार लगा हो तो ॥४८९॥

टी०—सम्यग्दर्शनके अतिचार हैं—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टिकी प्रशंसा और संस्तव । ज्ञानके अतिचार हैं—असमयमें स्वाध्याय, श्रुत अथवा श्रुतके धारीकी विनय न करना, अनुयोग आदिको ग्रहण करनेमें उसके योग्य अवग्रह न करना, गुरुका नाम छिपाना, व्यंजन शब्द छोड़ जाना या अधिक जो उसमें नही हैं, बोलना, और अर्थका अन्यथा कथन

वेरतिचारः—स्वयं न भुङ्क्ते अन्यं भोजयति, परस्य भोजनमनुजानाति मनसा वचसा कायेन च, स्वयं क्षुधा पीडित आहारमभिलषति, मनसा पारणां मम कः प्रयच्छति, क्व वा लप्स्यामीति चिन्ता अनशनातिचारः । रसवदाहारमन्तरेण परिश्रमो मम नापैति इति वा । षड्जीवनिकायबाधायां अन्यतमेन योगेन वृत्तिः प्रचुर-निद्रतया । संक्लेशकमनर्थमिदमनुष्ठितं मया, संतापकारीदं नाचरिष्यामि इति संकल्पः । अवमोदर्यातिचारः मनसा बहुभोजनादरः परं बहु भोजयामीति चिन्ता । भुङ्क्ष्व यावद्भवतस्तृप्तिरिति वचनं भुक्तं मया बह्वि-त्युक्ते सम्यक्कृतमिति वा वचनं, हस्तसंज्ञया प्रदर्शनं कण्ठदेशमुपस्पृश्य । वृत्तिपरिसंख्यानस्यातिचारः गृहसप्तक-मेव प्रविशामि, एकमेव पाटं दरिद्रगृहमेव । एवंभूतेन दायकेन दायिकया वा दत्तं ग्रहीष्यामीति वा कृत-संकल्पः गृहसप्तकादिकादधिकप्रवेशः; पाटान्तरप्रवेशश्च परं भोजयामीत्यादिकः । कृतरसपरित्यागस्य रसाति-सक्तिः, परस्य वा रसवदाहारभोजनं, रसवदाहारभोजनानुमननं, वातिचारः । कायक्लेशस्यातपनस्यातिचारः उष्णार्दितस्य शीतलद्रव्यसमागमेच्छा, सन्तापापायो मम कथं स्यादिति चिन्ता, पूर्वानुभूतशीतलद्रव्यप्रदेशानां स्मरणं, कठोरातपस्य द्वेषः, शीतलाद्देशादकृतप्रमार्जनस्य आतपप्रवेशः, आतपसंतप्तशरीरस्य वा अप्रमृष्ट-गात्रस्य छायानुप्रवेशः इत्यादिकः । वृक्षस्य मूलमुपगतस्यापि हस्तेन, पादेन, शरीरेण वा अप्कायानां पीडा ।

करना । तप अनशन आदिके अतिचार हैं—स्वयं भोजन न करते हुए भी दूसरोंको भोजन कराना, मनवचनकायसे दूसरेको भोजनकी अनुमति देना, स्वयं भूखसे पीड़ित होनेपर मनसे आहारकी अभिलाषा करना, मुझे पारणा कौन करायेगा, अथवा कहाँ पारणा होगी, इत्यादि चिन्ता अनशन तपके अतिचार हैं। अथवा रसीले आहारके बिना मेरी थकान दूर नहीं होती, प्रचुर निद्रामें पड़कर छहकायके जीवोंकी बाधामें मन या वचन या कायसे प्रवृत्ति होना। मैंने यह संक्लेशकारी उपवास व्यर्थ ही किया, यह सन्तापकारी है इसे नहीं करूँगा इस प्रकारका संकल्प भी अनशनका अतीचार है।

अवमौदर्यतपके अतिचार—मनसे बहुत भोजनमें आदर, दूसरेको बहुत भोजन करानेकी चिन्ता, जबतक आपकी तृप्ति हो तबतक भोजन करो ऐसा कहना, 'मैंने बहुत भोजन किया' ऐसा कहनेपर 'आपने अच्छा किया' ऐसा कहना, हाथके संकेतसे कंठ देशको स्पर्श करके बतलाना कि मैंने आकण्ठ भोजन किया।

वृत्तिपरिसंख्यानतपके अतिचार—सात घरमें ही प्रवेश करूँगा, या एक ही मुहाल्में जाऊँगा, वा दरिद्रके घर ही जाऊँगा, इस प्रकारका दाता पुरुष या दात्री स्त्रीके द्वारा दिया गया आहार ग्रहण करूँगा। ऐसा संकल्प करके दूसरेको भोजन कराना है इस भावसे सात घरसे अधिक घरोंमें प्रवेश करना और एक मुहालसे दूसरे मुहालमें जाना।

रसपरित्यागतपके अतिचार—रसोंमें अति आसक्ति, दूसरेको रसयुक्त आहारका भोजन कराना, अथवा रसयुक्त आहारके भोजनकी अनुमति। ये अतिचार हैं।

कायक्लेशतपके अतिचार—गर्मीसे पीड़ित होनेपर शीतलद्रव्यकी प्राप्तिकी इच्छा होना, मेरा सन्ताप कैसे दूर हो यह चिन्ता होना, पूर्वमें भोगे हुए शीतलद्रव्यों और शीतल प्रदेशोंको याद करना, कठोर धूपसे द्वेष करना, शीतल प्रदेशसे अपने शरीरको पीछीसे शोधे बिना धूपमें या गर्मस्थानमें प्रवेश करना, अथवा घामसे सन्तप्त शरीरको पीछीसे शोधे बिना छायामें प्रवेश करना आदि। वृक्षके मूलमें आकर हाथ, पैर अथवा शरीरसे जलकायिक जीवोंको पीड़ा देना,

कथं ? शरीरावलग्नजलकणप्रमार्जनं हस्तेन पादेन वा शिलाफलकादिगतोदकापनयनं मृदुकार्द्रायां[1] भूमौ शयन निम्ने जलप्रवाहगमनदेशे वा अवस्थानम्, अवग्राहे वर्षापातः कदा स्यादिति चिन्ता, वर्षति देवे कदास्योपरमः स्यादिति वा, छत्रकटकादिधारण वर्षानिवारणायेत्यादिक । तथा अभ्रावकाशस्यातिचार. सचित्तायां भूमौ त्रस[3]सहितहरितसमुत्थितायां विवरवत्यां शयनं । अकृतभूमिशरीरप्रमार्जनस्य हस्तपादसंकोचप्रसारणे, पार्श्वान्तरसञ्चरण, कण्डूयनं वा । हिमसमीरणाभ्यां हतस्य कदैतदुपशमो भवतीति चिन्ता, वंशदलादिभिरुपरिनिपतितहिमापकर्षण, अवश्यायघट्टना वा प्रचुरवातापातदेशोऽयमिति सक्लेश, अग्निप्रावरणादीना स्मरणमित्यादिक । प्रायश्चित्तातिचारनिरूपणा—तत्रालोचनातिचारा 'आकंपिय अणुमाणियमित्यादिकाः । स्वभूतातिचारेऽस्य मनसा अजुगुप्सा । अज्ञानत , प्रमादात्कर्मगुरुत्वादालस्याच्चेद अशुभकर्मबन्धननिमित्तं अनुष्ठितं, दुष्टं कृतमिति एवमादिकप्रतिक्रमणातिचार । उक्तोभयातिचारसमवायस्तदुभयातिचार । भावतोऽविवेको विवेकातिचार । व्युत्सर्गातिचार[4] कृत. शरीरममताया न निवृत्ति अशुभध्यानपरिणति । कायोत्सर्गदोषाश्च तप[5] अतिचारे उक्ता । एव छेदस्यातिचार न्यूनो जातोऽहमिति सक्लेशः । भावतो रत्नत्रयानादान मूलातिचार । सर्वो द्विप्रकार इत्याचष्टे—'देसच्चाए विविधे' देशातिचार नानाप्रकार मनोवाक्कायभेदात्कृतकारितानुमत-

शरीरमे लगे जलके कणोको हाथ वगैरहसे पोंछना, हाथ या पैरसे शिलातल आदिपर पडे जलको दूर करना, कोमल गीली भूमिपर सोना, जलके बहनेके निचले प्रदेशमे ठहरना, निश्चित स्थानपर रहते हुए 'कब वर्षा होगी' ऐसी चिन्ता करना अथवा वर्षा होनेपर 'कब रुकेगी' ऐसी चिन्ता करना, वर्षासे बचनेके लिए छाता आदि धारण करना ।

अभ्रावकाशके अतिचार—सचित्त भूमिपर जिसमे त्रससहित हरितकाय हो, तथा छिद्रवाली भूमिपर सोना, भूमि और शरीरको पोछीसे शुद्ध किये विना सोते हुए हाथ पैर संकोचना फैलाना, करवट लेना अथवा शरीर खुजाना । बर्फ और वायुसे पीडित होनेपर 'कब ये बन्द होगे' ऐसी चिन्ता करना, बांसके पत्ते वगैरहसे शरीरपर गिरे बर्फको हटाना, अथवा बर्फसे घट्टन करना, इस प्रदेशमे अधिक वायु चलती है ऐसा सक्लेश करना, अथवा शीत दूर करनेके साधन आग, ओढनेके वस्त्र आदिका स्मरण करना ।

प्रायश्चित्तके अतिचार—आलोचना प्रायश्चित्तके अतिचार 'आकम्पिय अणुमाणिय' इत्यादि आगे कहे गये हैं । अपने लगे अतिचारोमे मनसे ग्लानिका न होना अतिचार है । अज्ञानसे, प्रमादसे, कर्मोंकी गुरुतासे, और आलस्यसे मैंने यह अशुभकर्मके बन्धमे निमित्त कार्य किया, यह बुरा किया, यह जुगुप्सा है । उसका न होना प्रतिक्रमण प्रायश्चित्तका अतिचार है । उक्त आलोचना और प्रतिक्रमणके अतिचार तदुभय प्रायश्चित्तके अतिचार है । भावपूर्वक विवेकका न होना विवेक प्रायश्चित्तका अतिचार है । शरीरसे ममत्व न हटना, और अशुभध्यानरूप परिणति तथा कायोत्सर्गके दोष व्युत्सर्ग प्रायश्चित्तके अतिचार हैं । तपके अतिचार पहले कहे हैं । मेरी दीक्षा छेदनेमे मैं छोटा हो गया, यह संक्लेश छेदप्रायश्चित्तका अतिचार है । भावपूर्वक रत्नत्रयको ग्रहण न करना मूलनामक प्रायश्चित्तका अतिचार है ।

अतिचारके दो प्रकार हैं—देशातिचार और सर्वातिचार । मनवचनकाय और कृत-कारित

१ मृत्तिकार्द्रा–आ० मु० । २ अभ्रावकाशस्य–अ० । ३. त्रसरहितकायचित्ताया विव–अ० । ४ र कृतो भवत –आ० । ५ तप अतिचारा उक्ता–आ० । तप अतिचारे उक्त मु० । र. कृतो भवति मु० ।

महाविकल्पात्म । 'समवलाले व' सर्वातिचारे च 'आपण्णो' आपन्नः ॥४८९॥

आयरियाणं वीसत्थदाए भिक्खू कहेदि सगदोसे ।
कोई पुण णिद्धम्मो अण्णेसिं कहेदि ते दोसे ॥४९०॥

'आइरियाणं' आचार्याणां । 'भिक्खु' भिक्षुः । 'कहेदि' कथयति । 'वीसत्थदाए' विश्वासेन । किं ? 'सगदोसे' स्वातिचारान् । 'कोई पुण' कश्चित्पुनराचार्यपाशः । 'णिद्धम्मो' निष्क्रान्तो बहिर्भूतो जिनप्रणीताद्धर्मात् । 'अण्णेसिं' अन्येभ्यः । 'कहेदि ते दोसे' कथयति तान् आलोचितान्दोषान् । अनेन किलायमपराधः कृत इति ॥४९०॥

तेण रहस्सं भिंदंतएण साधू तदो य परिचत्तो ।
अप्पा गणो य संघो मिच्छत्ताराधणा चेव ॥४९१॥

'तेण' तेन । 'रहस्सं भिंदंतएण' प्रच्छन्नालोचितदोषप्रकाशनकारिणा । 'साहु' साधु । 'तदो य परिचत्तो' ततस्तु परित्यक्त । स्वदोषप्रकाशने मया कृते लज्जावानयं दुःखितो भवति । आत्मानं वा घातयेत् । कुपितो वा रत्नत्रयं त्यजेत् इति स्वचित्तेऽकुर्वता परित्यक्तो भवति । 'अप्पा परिचत्तो', 'गणो परिचत्तो, संघो परिचत्तो', इति प्रत्येकाभिसबन्धः । 'मिच्छत्ताराहणा चेव' मिथ्यात्वाराधना दोषो भवति ॥४९१॥

इत्थं साधुः परित्यक्तो भवतीत्याचष्टे—

लज्जाए गारवेण व कोई दोसे परस्स कहिदोवि ।
विपरिणामिज्ज उधावेज्ज व [1]गच्छेज्ज वाध मिच्छत्तं ॥४९२॥

'लज्जाए' लज्जया । 'गारवेण व' गुरुतया वा । 'कोई' कश्चित् । 'दोसे' दोषान् । 'परस्स' परस्मै । 'कहिदो वि' कथितोऽपि । 'विपरिणामेज्ज' पृथग्भवेत् । नायं मम गुरुः प्रियो यदि स्यात्किं मदीयान्दोषान्नि-

---

अनुमोदनाके भेदसे देशातिचारके अनेक भेद हैं ॥४८९॥

गा०—भिक्षु विश्वासपूर्वक अपने दोषोंको आचार्योंसे कहता है। कोई आचार्य जो जिन भगवान्‌के द्वारा कहे गये धर्मसे भ्रष्ट होता है, वह भिक्षुके द्वारा आलोचित दोषोंको दूसरोंसे कह देता है कि इसने यह अपराध किया है अर्थात् ऐसे करनेवाला आचार्य जिनधर्मसे बाह्य होता है ॥४९०॥

गा०—उस आलोचित दोषको प्रकट करनेवाले आचार्यने ऐसा करके उस साधुका ही त्याग कर दिया। क्योंकि उसने अपने चित्तमें यह विचार नहीं किया कि मेरे द्वारा इसके दोष प्रकट कर देनेपर यह लज्जित होकर दुखी होगा, अथवा आत्मघात कर लेगा, अथवा क्रुद्ध होकर रत्नत्रयको ही छोड़ देगा। तथा उस आचार्यने अपनी आत्माका त्याग किया, गणका त्याग किया, संघका त्याग किया। इतना ही नहीं, उसके मिथ्यात्वकी आराधना दोष भी होता है ॥४९१॥

उस आचार्यने साधुका परित्याग कैसे किया, यह कहते हैं—

गा०—निर्यापकाचार्यके द्वारा दूसरेसे साधुके गुप्त दोष कहनेपर कोई क्षपक लज्जावश या मानकी गुरुतावश विपरीत परिणाम कर सकता है। यह मेरा गुरु नहीं है। यदि मैं इसे

1. गच्छाहि वा मिच्छा–मु० । 'गच्छहि वा मिच्छा',⋯गच्छेज्ज मिच्छत्तमितिपाठे—मूलारा० ।

नश्यति । मदीया बहिश्चराः प्राणा गुरुरयमिति या संभावना साद्य नष्टेति चिन्ता विपरिणामः 'उज्झेज्ज वा' त्यजेद्वा रत्नत्रयं दोषप्रकटनेन कुपितः । 'गच्छेज्ज वा' गणान्तरं प्रविशेत् ॥४९२॥

आत्मपरित्यागं व्याचष्टे—

कोई रहस्सभेदे कदे पदोसं गदो तमायरियं ।
उद्दावेज्ज व गच्छं भिंदेज्ज व होज्ज पडिणीओ ॥४९३॥

'कोई' कश्चित् । 'रहस्सभेदे कदे' रहस्यभेदे कृते । 'पदोसं गदो' प्रद्वेषं गतः । 'तमायरियं' तमाचार्यं । 'उद्दावेज्ज व' मारयेत् । 'गच्छं भिंदेज्ज' गणभेदं कुर्यात् । किमनेन सूरिणा स्नेहरहितेन, यथा ममापराधं प्रकटितवान् एवं युष्मानपि निवेदितापराधान्दूषयिष्यतीति ब्रुवन् । 'होज्ज पडिणीओ' प्रत्यनीको भवेत् ॥४९३॥

गणत्यागं कथयति—

जह धरिसिदो इमो तह अम्हं पि करिज्ज धरिसणमिमोत्ति ।
सव्वो वि गणो विप्परिणमेज्ज छंडेज्ज वायरियं ॥४९४॥

'जह धरिसिदो इमो' यथा दूषितोऽयं । 'तह' तथा । 'अम्हं पि करेज्ज धरिसणमिमोत्ति' [1]अस्मद् दूषणं कुर्यात् अयमिति । 'विप्परिणमेज्ज' पृथग्भवेत् । 'छंडेज्ज वायरियं' त्यजेद्वाचार्यं । [2]ननु अनेन सूत्रेण गण आचार्यं त्यजतीति कथ्यते तेन गणस्त्यक्त इति पूर्वसूत्रेण तनोऽनयोर्न संगतिरित्यत्रोच्यते । यत एव सूरिणा

प्रिय होता तो यह मेरे दोष क्यों कहता । यह गुरु मेरे बाहरमें चलते-फिरते प्राण है ऐसा जो मैं सोचता था वह आज नष्ट हो गया, इस प्रकारकी चिन्ता विपरीत परिणाम है । अथवा दोष प्रकट कर देनेसे कुपित होकर रत्नत्रयको छोड सकता है ॥४९२॥

उस आचार्यने आत्माका त्याग कैसे किया, यह कहते हैं--

गा०—रहस्यभेद करनेपर कोई क्षपक द्वेषी बनकर उस आचार्यको मार सकता है । अथवा गणमें भेद डाल सकता है कि इस स्नेहरहित आचार्यसे क्या लेना देना है ? जैसे इसने मेरा अपराध प्रकट कर दिया उसी प्रकार तुम्हें भी अपराध निवेदन करने पर दोष लगायेगा । ऐसा कहकर अन्य साधुओंको विरोधी बनाकर गणमें भेद डाल सकता है । अथवा विरोधी हो सकता है ॥४९३॥

उस आचार्यने गणका त्याग कैसे किया, यह कहते हैं—

गा०—जैसे इस आचार्यने अमुक साधुका दोष प्रकट किया उसी प्रकार यह हमारा दोष भी प्रकट कर देगा, ऐसा सोचकर समस्त गण गणसे अलग हो सकता है अथवा आचार्यका त्याग कर सकता है ।

टी०—शंका—इस गाथामें तो कहा है कि गण आचार्यको छोड़ देता है और पूर्व गाथामें कहा है कि आचार्यने गणका त्याग किया । इन दोनों कथनोंकी संगति नहीं बैठती ?

---

१. 'अस्मान् दूषितान् कुर्यात्'—आ० मु० । २. ननु अनेन सूत्रेण—आ० ।

दोष[1]प्रख्यापनपरेण त्यक्तोऽसौ तत एव गणस्तं त्यजति ॥४९४॥

संघस्त्यक्तो भवतीत्येतद् व्याचष्टे—

तह चेव पवयणं सव्वमेव विप्परिणयं भवे तस्स ।
तो से दिसावहारं करेज्ज णिज्जूहणं चावि ॥४९५॥

'**तह चेव पवयणं सव्वमेव**' तथैव प्रवचनं संघः सर्व एव प्रोच्यते रत्नत्रयं यस्मिन्निति शब्दव्युत्पत्तौ संघवाची भवति प्रवचनशब्दः । '**विप्परिणयं**' विरुद्धतया परिणतं प्रवृत्तं । '**हवे तस्स**' भवेत्तस्य । '**तो**' ततः । '**से**' तस्य । '**दिसावहरणं करेज्ज**' कुर्यात् आचार्य[2]पहरणं कुर्यात् संघ '**णिज्जूहणं वापि करेज्ज**' इति पद-संबन्धः । परित्यागं वा कुर्यात् ॥४९५॥

मिथ्यात्वाराधनाप्रतिपादनार्था गाथा—

जदि धरिसणमेरिसयं करेदि सिस्सस्स चेव आयरिओ ।
धिद्धि अपुट्ठधम्मो समणोत्ति भणेज्ज मिच्छजणो ॥४९६॥

'**जइ धरिसणमेरिसयं**' यदि दूषणं एवंभूत । '**करेदि**' करोति । '**सिस्सस्स चेव**' शिष्यस्यैव । कः आचार्यः । '**धिद्धि अपुट्ठधम्मो समणोत्ति भणिज्ज**' धिग्धिग् अपुष्टधर्मान् श्रमणान् । इति '**भणेज्ज मिच्छजणे**' वदेन्मिथ्यादृष्टिर्जनः ॥४९६॥

प्रस्तुतापरिस्रावितोपसंहारगाथा प्रतिज्ञार्था—

इच्चेवमादिदोसा ण होंति गुरुणो रहस्सधारिस्स ।
पुट्ठेव अपुट्ठे वा अपरिस्साइस्स धीरस्स ॥४९७॥

'**इच्चेवमादि दोसा इति**' । अप्परिस्सवं तु गद ॥४९७॥

समाधान—यतः दोषोंको प्रकट करनेवाले आचार्यने गणका त्याग किया अतः गण भी उसे छोड़ देता है ॥४९४॥

सघ कैसे त्यागा, यह कहते हैं—

गा०—जिसमें रत्नत्रय 'प्रोच्यते' कहा जाता है वह प्रवचन है इस व्युत्पत्तिके अनुसार प्रवचन शब्दका अर्थ यहाँ संघ है। सभी संघ आचार्यके विरुद्ध हो सकता है और उसके आचार्य पदको छीन सकता है अथवा उसका त्याग कर सकता है ॥४९५॥

दोष प्रकट करनेसे मिथ्यात्वकी आराधना कैसे होती है, यह कहते हैं—

गा०—यदि आचार्य अपने शिष्यको ही इस प्रकार दोष प्रकट करके दूषित करते हैं तो इन अपुष्ट धर्मवाले श्रमणोंको धिक्कार है ऐसा मिथ्यादृष्टि लोग कहेंगे ॥४९६॥

प्रस्तुत अपरिस्रावि गुणके कथनका उपसंहार करते हैं—

गा०—जो आचार्य पूछनेपर अथवा बिना पूछे शिष्यके द्वारा प्रकट किये दोषोंको दूसरोंसे नहीं कहता वह रहस्यको गुप्त रखनेवाला आचार्य अपरिस्रावी होता है और उसे ऊपर कहे दोष जरा भी नहीं छूते ।४९७।

अपरिस्रावी गुणका कथन पूर्ण हुआ ।

---

१. द्वेषप्रत्याख्यान मु० । दोषप्रत्याख्यान—आ० । २. आचार्यत्वमपे हरणं—आ० ।

'**णिव्ववगो**' इत्येतत्सूत्रपदव्याख्यानायोत्तरप्रबन्ध —

संथारभत्तपाणे 'यस्य येनाभिसंबन्धो दूरस्थस्यापि तस्य स.' इति कृत्वा—

संथारभत्तपाणे अमणुण्णे वा चिरं व कीरंते ।
पडिचरगपमादेण य सेहाणमसंवुडगिराहिं ॥४९८॥

संथारभत्तपाणे अमणुण्णे वा चिरं व कीरन्ते कुविदो हवेज्ज खवगो मेरं वा भेत्तुमिच्छेज्ज । इति क्रियाभि. पदसंबन्धोऽत्र कार्य । सस्तरे भक्तपाने वा । '**अमणुण्णं**' अमनोज्ञे । '**कीरंतो**' क्रियमाणे । '**कुविदो**' कुपितो भवेत्क्षपक । **मेरं वा** मर्यादा वा । भेत्तुमिच्छेत् । '**चिरं व कीरंते**' चिराद्वा सस्तरकरणे भक्तपानानयने वा । '**पडिचरगपमादेण वा**' निर्यापकाना वैयावृत्यकरणे य प्रमादस्तेन वा कुपितो भवेत् । मर्यादा वा आत्मीया भेत्तु इच्छेत् । '**सेहाणमसंवुडगिराहिं**' अगृहीतार्थाना असवृताभि परुषाभि प्रतिकूलाभिर्वा कुपितो भवेत् ॥४९८॥

सीदुण्हछुहातण्हाकिलामिदो तिव्ववेदणाए वा ।
कुविदो हवेज्ज खवओ मेरं वा भेत्तुमिच्छेज्ज ॥४९९॥

'**सीदुण्हछुहातण्हा किलामिदो**' शीतेनोष्णेन क्षुधा तृषया पीडित कुपितो भवेत् । '**तिव्ववेयणाए वा**' तीव्रवेदनया वा कुपितो मर्यादोल्लङ्घनेच्छुर्भवेत् ॥४९९॥

णिव्ववएण तदो से चित्तं खवयस्स णिव्ववेदव्वं ।
अक्खोभेण खमाए जुत्तेण पणट्ठमाणेण ॥५००॥

'**णिव्ववएण**' सन्तोषमुत्पादयता सूरिणा । '**तदो**' तत । '**से खवयस्स**' तस्य कुपितस्य मर्यादा भेत्तुमिच्छतो वा । '**चित्तं णिव्ववेदव्वं**' चित्तं प्रशान्ति नेय । '**अक्खोभेण**' चलनरहितेन व्यवस्थावता । '**खमाए जुत्तेण**' क्षमया युक्तेन । '**पणट्ठमाणेण**' प्रनष्टमानेन । न हि रोषी मानी वा सूरि परचित्तकलङ्कं प्रशमयितु ईहते ततो नि.कषायेण भाव्यमिति भाव: ॥५००॥

गाथाके 'णिव्ववगो' पदका व्याख्यान करते हैं—

गा०—सस्तर और भोजनपान क्षपकको मनके अनुकूल न होने पर, अथवा उसमे देरी करने पर अथवा निर्यापकोंके वैयावृत्य करनेमे प्रमाद करने पर अथवा सल्लेखना विधिसे अनजान नये साधुओंके कठोर और प्रतिकूल वचनोसे क्षपक कुपित हो सकता है अथवा अपनी मर्यादाका उल्लघन कर सकता है ॥४९८॥

गा०—अथवा शीत, उष्ण, भूख, प्याससे पीडित होनेसे अथवा तीव्र वेदनासे क्षपक कुपित हो सकता है और मर्यादाको तोड़नेकी इच्छा करता है ॥४९९॥

गा०—तब विचलित न होनेवाले, क्षमाशील और मानरहित आचार्यको सन्तोष वचन कहते हुए उस कुपित अथवा मर्यादाको तोड़नेके इच्छुक क्षपकके चित्तको शान्त करना चाहिये ॥५००॥

टी०—क्रोधी अथवा घमण्डी आचार्य दूसरेकी चित्तकी अशान्तिको शान्त करना नहीं पसन्द करता । इसलिए आचार्यको कषायसे रहित होना चाहिए, यह इस गाथाका भाव है ॥५००॥

एवंभूतो निर्वापयतीत्येतद्व्याचष्टे—

अंगसुदे य बहुविधे णो अंगसुदे य बहुविधविभत्ते ।
रदणकरंडयभूदो खुण्णो अणिओगकरणम्मि ॥५०१॥

'अंगसुदे य' श्रुतं पुरुषः मुखचरणाद्यङ्गस्थानीयत्वादङ्गशब्देनोच्यते आचारादिकं द्वादशविधं तस्मिन्नङ्गश्रुते । 'बहुविहे' नानाप्रकारे । आचारं, सूत्रकृतं, स्थानं, समवायः, व्याख्याप्रज्ञप्तिः । 'णो अंगसुदे य' अङ्गबाह्ये वा । 'बहुविधविभत्ते' सामायिकं, चतुर्विंशतिस्तवो, वन्दना, प्रतिक्रमणं, वैनयिकं, कृतिकर्म, दशवैकालिका उत्तराध्ययनं, कल्पव्यवहारः, कल्प्यं, महाकल्प्यं, पुण्डरीकं, महापुण्डरीकं इत्यादिना विचित्रभेदेन विभक्ते । 'रयणकरंडयभूदो' रत्नकरण्डकभूतः । 'खुण्णो अणियोगकरणम्मि' यद्यत्प्रस्तुतं च वस्तु तत्र तत्र सदादिकाद्यनुयोगयोजनायां कुशल । अनेन ज्ञानमाहात्म्यं सूचितं ॥५०१॥

वत्ता कत्ता य मुणी विचित्तसुदधारओ विचित्तकहो ।
तह य अपायविदण्हू मइसंपण्णो महाभागो ॥५०२॥

'वत्ता' वक्ता । 'कत्ता य' कर्ता च विनयवैयावृत्त्ययोः । 'विचित्तसुदधारगो' विचित्रं श्रुतं प्रथमानुयोगः, करणानुयोगश्चरणानुयोगो, द्रव्यानुयोग इत्यनेन विकल्पेन । 'विचित्तकहो' विचित्रायाः कथायाः निरूपणा अस्य स विचित्रकथः । ननु च 'अंगसुदे य बहुविधे णो अंगसुदे य बहुविधविभत्ते' इत्यनेनैव गतत्वात् किमनेन 'विचित्तसुदधारगो' इत्यनेन ? नैष दोष. । पूर्वसूत्रे श्रुतकेवली निर्वापकत्वेनोक्त । अनया तु असमस्तश्रुताचा-

---

आगे कहते है कि इस प्रकारका आचार्य क्षपकका चित्त शान्त करता है—

गा०-टी०—श्रुत एक पुरुषके समान है। आचार्य आदि बारह उस श्रुतपुरुषके मुख, पेर आदि अंगोंके स्थानापन्न होनेसे अंग शब्दसे कहे जाते हैं। आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति इत्यादिके भेदसे वह अंगश्रुत नाना प्रकारका है।

नो अंगश्रुत अर्थात् अंगबाह्य भी सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्प्य, महाकल्प्य, पुण्डरीक, महापुण्डरीक इत्यादि विचित्र भेदसे विभक्त हैं। जो आचार्य इन सब श्रुत भेदोके लिए रत्न रखनेके पिटारेके समान हैं अर्थात् जैसे पिटारेमें रत्न सुरक्षित रहते हैं वैसे ही वह इन श्रुतरूपी रत्नोंका अभ्यास करके उन्हें अपने हृदयमें धारण करता है। तथा जो जो प्रस्तुत विषय है उस उस विषयमे सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व आदि अनुयोगोंकी योजना करनेमें कुशल होता है वही आचार्य क्षपककी अशान्तिको शमन कर सकता है। इससे आचार्यके ज्ञान माहात्म्यको सूचित किया है ॥५०१॥

गा०-टी०—तथा वह वक्ता अर्थात् व्याख्यान करनेमें कुशल, विनय और वैयावृत्यका कर्ता और प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगके भेदसे नाना प्रकारके श्रुतका धारक और विविध प्रकारका निरूपण करनेवाला तथा रत्नत्रयके अतिचारोंका ज्ञाता और स्वाभाविक बुद्धिसे सम्पन्न तथा जितेन्द्रिय महात्मा होता है।

शंका—पूर्व गाथामें आचार्यको अंगश्रुतका और विविध अंगबाह्यका ज्ञाता कहा ही है। फिर यहाँ विचित्र श्रुतका धारक क्यों कहा ?

योऽपि एवंभूतो निर्यापको भवतीत्याख्यायते तेन न पुनरुक्तता। 'तह य' तथा च। 'आयारविदण्हू' रत्नत्रयातिचारज्ञः। 'अइसंपण्णो' स्वाभाविक्या बुद्धया समन्वितः। 'महाभागो' स्ववशो महात्मा ॥५०२॥

पयदे णिस्सेसं गाहुगं च आहरणहेदुजुत्तं च।
अणुसासेदि सुविहिदो कुविदं सण्णिव्ववेमाणो ॥५०३॥

'अणुसासेदि' अनुशास्ति। 'पयदे' वक्तुं प्रारब्धे वस्तुनि। 'णिस्सेसं गाहुगं' समस्तमवबोधयत्यनुशासनं करोति। 'आहरणहेदुजुत्तं च' दृष्टांतेन हेतुना च युक्तं। एतस्माद्धेतोरिदमेवंविति युक्त्यानुशास्ति 'सुविहिदो' यतिः। 'कुविदं' कुपितं 'सण्णिव्ववेमाणो' सम्यक् प्रशमयन् सम्यक्प्रसादमुपनयन् ॥५०३॥

णिद्धं मधुरं गंभीरं मणप्पसादणकरं सवणकंतं।
देइ कहं णिज्जवगो सदीसमण्णाहरणहेउं ॥५०४॥

"णिद्धं" प्रियवचनबहुलतया स्निग्धं। 'मधुरं' अनतिकठोराक्षरतया मधुरं। 'गंभीरं' अर्थगाढतया। 'मणप्पसादणकरं' मनःप्रल्हादविधायिनीं। 'सवणकंतं' श्रुतिसुखं। 'देदि कधं' कथां कथयति। 'णिज्जवगो' निर्यापकः। 'सदीसमण्णाहरणहेदु' स्मृतिसमानयनकारणं। पूर्वाभ्यस्तश्रुतार्थगोचरस्मरणं इह स्मृतिरिति गृह्यते मतिवचनो वा। 'मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्'–[त० सू० १।] इति वचनात्। तेन बुद्धिसमानयनकारणमित्यर्थः इति केचित् ॥५०४॥

णिज्जावगो इत्येतत्सूत्रपदं व्याचष्टे—

जह पक्खुभिदुम्मीए पोदं रदणभरिदं समुद्दम्मि।
णिज्जवओ धारेदि हु जिदकरणो बुद्धिसंपण्णो ॥५०५॥

'जह पक्खुभिदुम्मीए' यथा प्रचलिततरङ्गे। 'समुद्दम्मि' समुद्रे। 'पोदं' पोत नावं। 'रदणभरिदं' रत्नैर्भरितं। 'णिज्जवओ' निर्यापकः। 'धारेदि हु' धारयति। 'जिदकरणो' परिचितक्रियः। 'बुद्धिसंपण्णो' बुद्धिसंपन्नः बुद्धिमान् ॥५०५॥

समाधान—पूर्व गाथामें श्रुतकेवलीको निर्यापक रूपसे कहा है और इसमें समस्त श्रुतका जो ज्ञाता नहीं है ऐसा आचार्य भी निर्यापक होता है यह कहा है। इससे पुनरुक्त दोष नहीं है ॥५०२॥

गा०—जिस वस्तुका निवेदन करना प्रारम्भ करे तो उसके समस्त हेय उपादेय रूपका बोध दृष्टान्त और युक्तिसे करावे कि इस हेतुसे यह ऐसा ही है। ऐसा आचार्य कुपित हुए क्षपकको सम्यक् रूपसे प्रसन्न करके उसे शिक्षा देता है ॥५०३॥

गा०—निर्यापक आचार्य प्रियवचनोंकी बहुतायत होनेसे स्निग्ध, अधिक कठोर अक्षर न होनेसे मधुर, अर्थकी प्रगाढता होनेसे गम्भीर, मनको प्रसन्नता और कानोंको सुख देनेवाली कथा कहते हैं जिससे क्षपकको पहले अभ्यास किये हुए श्रुतके अर्थका स्मरण होता है। यहाँ स्मृतिसे कोई व्याख्याकार मतिका ग्रहण करते हैं क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रमें मति, स्मृति संज्ञा, चिन्ता अभिनिबोधको अर्थान्तर कहा है। अतः वे अर्थ करते हैं कि उस कथासे क्षपकमें बुद्धिका आगमन होता है, उसकी बुद्धि जाग्रत हो जाती है ॥५०४॥

आगे गाथाके णिज्जावग (निर्यापक) पदका व्याख्यान करते हैं—

तह संजमगुणभरिदं परिस्सहुम्मीहिं खुभिदमाइद्धं ।
णिज्जवओ धारेदि हु महुरेहिं हिदोवदेसेहिं ॥५०६॥

'तह संजमगुणभरिदं' तथा संयमेन गुणैश्च सम्पूर्णं । संयमस्य सर्वेभ्यो गुणेभ्यः प्रधानत्वात् संयमशब्दस्य पूर्वनिपातः । 'परिस्सहुम्मीहिं' क्षुत्पिपासादुःखानि परीषहास्ते ऊर्मय इवानुक्रमेणोद्गच्छन्तीति ऊर्मिव्यपदेशं लभन्ते । परीषहोर्मिभिः 'खुभिदं' चलितं । 'आइद्धं' तिर्यग्भूतं यतिपोतं । 'णिज्जवओ धारेदि हु' निर्यापकसूरिर्धारयति । 'महुरेहिं हिदोवदेसेहिं' मधुरैर्हितोपदेशैः ॥५०६॥

धिदिबलकरमादहिदं महुरं कण्णाहुदिं जदि ण देइ ।
सिद्धिसुहमावहंती चत्ता आराहणा होइ ॥५०७॥

'धिदिबलकरं' धृतिबलकारिणीं । स्मृतेः स्थैर्यं धृतिस्तस्या अवष्टम्भकारिणीं । 'आदहिदं' आत्महितां । 'महुरं' मधुरां । 'कण्णाहुदिं' कर्णाहुतिं । 'जदि ण देदि' यदि न दद्यात् । सिद्धिसुखमावहन्तीति । सिद्धिसुखानयनकारिणी । 'आराहणा' आराधना । 'चत्ता होदि' त्यक्ता भवति ॥५०७॥

प्रस्तुतोपसंहारगाथा—

इय णिव्ववओ खवयस्स होइ णिज्जावओ सदायरिओ ।
होइ य कित्ती पथिदा एदेहिं गुणेहिं जुत्तस्स ॥५०८॥

'इय' एवं । 'णिव्ववओ' निर्यापकः । 'खवगस्स' क्षपकस्य । 'णिज्जावओ होदि' निर्यापको भवति । 'सदायरिओ' सदाचार्यः निर्यापकत्वगुणसमन्वितः क्षपकस्योपकारी भवतीत्युक्त्वा स्वार्थमपि तस्य सूरेर्दर्शयति । 'होदि य कित्ती पथिदा' भवति च कीर्तिः प्रथिता । 'एदेहिं गुणेहिं जुत्तस्स' आचारवत्त्वादिभिर्गुणैर्युक्तस्य ॥५०८॥

गा०—जैसे नौका चलानेका अभ्यासी बुद्धिमान् नाविक तरंगोंसे क्षुभित समुद्रमें रत्नोंसे भरे जहाजको धारण करता है ॥५०५॥

गा०—वैसे ही निर्यापक आचार्य संयम और गुणोंसे पूर्ण, किन्तु परीषह रूप लहरोंसे चंचल और तिरछे हुए क्षपकरूप जहाजको मधुर और हितकारी उपदेशोंसे धारण करता है उसका संरक्षण करता है ॥५०६॥

टी०—संयम सब गुणोंसे प्रधान है इसलिए संयम शब्दको गुणसे पहले रखा है। तथा भूख-प्यासका दुःख परीषह है। वे लहरोंकी तरह एकके बाद एक क्रमसे उठती हैं इसलिए परीषहोंको लहरें या तरंगें कहा है ॥५०६॥

गा०—यदि आचार्य स्मृतिकी स्थिरता रूप धैर्यको बल देने वाली और आत्माका हित करनेवाली मधुर वाणी क्षपकके कानोंमें न सुनाये तो मोक्ष सुखको लानेवाली आराधनाको क्षपक छोड़ बैठे ॥५०७॥

प्रस्तुत चर्चा का उपसंहार करते हैं।

गा०—इस प्रकार निर्यापकत्व गुणसे युक्त आचार्य क्षपकका निर्यापक होता है। वह उसका उपकारी होता है। इतना कहकर उस निर्यापकाचार्यका भी इसमें स्वार्थ बतलाते हैं कि

इय अट्ठगुणोवेदो कसिणं आराधणं उववियेदि ।
खवगो वि तं भयवदी उवगूहदि जादसंवेगो ॥५०९॥

'इय' एवं । 'अट्ठगुणोवेदो' आचारवानित्याद्यष्टगुणोपेतः सूरिः । 'कसिणं' कृत्स्नां । 'आराधणं' आराधनां । 'उववियेदि' ढौकयति । 'खवगो वि' क्षपकोऽपि । 'तं' तां 'भगवदि' भगवतीं सकलबाधापनयन-माहात्म्यवतीं । 'उवगूहदि' आलिंगति । 'जादसंवेगो' उत्पन्नसंसारभीरुत्वः । सुट्ठिदं सम्मत्तम् ॥५०९॥

एवं सुट्ठिदं इत्येतद्व्याख्यातं, इत उत्तरं उवसम्पा इत्येतद्व्याख्यायते—

एवं परिमग्गित्ता णिज्जवयगुणेहिं जुत्तमायरियं ।
उवसंपज्जइ विज्जाचरणसमग्गो तगो साहू ॥५१०॥

'एवं परिमग्गित्ता' अन्विष्य । कं ? 'आयरियं' आचार्यं । कीदृग्भूतं ? 'णिज्जवयगुणेहिं' निर्यापक-गुणैराचारवत्त्वादिभिः समन्वितं । 'उवसंपज्जदि' ढौकते । कः ? 'तगो' सः । 'साहू' साधुः । 'कीदृग्भूतः' ? विज्जाचरणसमग्गो ज्ञानेन चारित्रेण समग्रः सम्पूर्णः ॥५१०॥

गुरुकुले आत्मनिसर्गः उवसपानाम समाचारः । तत्क्रमं निरूपयति—

तियरणसव्वावासयपडिपुण्णं किरिय तस्स किरियम्मं ।
विणएणमंजलिकदो वाइयवसमं इमं भणदि ॥५११॥

'तियरणसव्वावासयपडिपुण्णं किरिय तस्स किरियम्मं' । तस्य निर्यापकस्य सूरेः कृतिकर्म वन्दनां कृत्वा । कीदृशं 'तियरणसव्वावासयपडिपुण्णं' मनोवाक्कायात्मसर्वावश्यकप्रतिपूर्णं । सामायिकं, चतुर्विंशति-स्तवो वन्दना, प्रतिक्रमणं, प्रत्याख्यानं, कायोत्सर्गः, इत्येते मनोवाक्कायविकल्पेन त्रिविधाः षडावश्यकसंज्ञिताः । मनसा सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिः, वचसा 'सव्वं सावज्जजोगं पच्चक्खामि' इति वचनं । कायेन सावद्यक्रियानु-

---

इन आचारवत्त्व आदि गुणोंसे युक्त निर्यापकाचार्यकी कीर्ति सब जगह फैलती है ॥५०८॥

गा०—इस प्रकार आचारवान् आदि आठ गुणोसे सहित आचार्य समस्त आराधनाको प्राप्त होता है। क्षपक भी संसारसे विरक्त होकर समस्त बाधाओको दूर करनेसे माहात्म्यशाली उस भगवती आराधनाका आलिंगन करता है उसे अपनाता है ॥५०९॥

इस प्रकार सुस्थित गुणका व्याख्यान हुआ। इससे आगे उपसंपदाका कथन करते हैं—

गा०—इस प्रकार ज्ञान और चारित्रसे सम्पूर्ण क्षपक निर्यापकके आचारवत्त्व आदि गुणोसे युक्त आचार्यको खोजकर उनके निकट जाता है ॥५१०॥

गुरुकुलमें आत्मोत्सर्ग करनेको 'उवसपा' नामक समाचार कहते है। यहाँ उसके क्रमका कथन करते हैं—

गा०—मन वचन कायसे छह आवश्यकोंको पूर्णरूपसे करके निर्यापकाचार्यकी वन्दना करता है और विनयपूर्वक दोनो हाथोंको जोड़ उनकी अजली बनाकर उन आचार्य श्रेष्ठसे इस प्रकार कहता है ॥५११॥

टी०—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक मन वचन कायके भेदसे तीन भेदरूप होते है। मनसे सर्व सावद्ययोगकी निवृत्ति, वचनसे

चारणं, मनसा चतुर्विंशति तीर्थकृतां गुणानुस्मरणं 'लोगस्सुज्जोययरे' इत्येवमादीनां गुणानां वचनं । ललाट-विन्यस्तकरमुकुलता जिनेभ्यः कायेन । वन्दनीयगुणानुस्मरणं मनोवन्दना । वाचा तद्गुणमाहात्म्यप्रकाशन-परवचनोच्चारणं । कायवन्दना प्रदक्षिणीकरणं कृतानतिश्च । मनसा कृतातिचारान्निवृत्तिः । हा दुष्कृतमिति वा मनःप्रतिक्रमणं । सूत्रोच्चारणं वाक्प्रतिक्रमणं । कायेन तदनाचरणं कायप्रतिक्रमणं । मनसातिचारादीन्न करिष्यामि इति मनःप्रत्याख्यानं । वचसा तन्नाचरिष्यामि इति उच्चारणं । कायेन तन्नाचरिष्यामि इत्यङ्गीकारः । मनसा शरीरे ममेदंभावनिवृत्तिः मानसः कायोत्सर्गः । कायं वोसरामीति वचनं वाचा कायोत्सर्गः । प्रलम्ब-भुजस्य, चतुरङ्गुलमात्रपादान्तरस्य निश्चलावस्थानं कायेन कायोत्सर्गः । कायापायनिरासमकृत्वा एकान्ते गुरावासीने प्रसन्नचेतसि शनैरागत्य शरीरं भूमिं च प्रतिलेख्य अदूरे असमीपे आसित्वा कृताञ्जलिः भगवन्कृति-कर्मवन्दनामिच्छामीति आलोच्य अनुज्ञातः शनैरुत्थाय मूर्धन्यस्तकर अविलम्बितमनुद्रुतं सामायिकं पठेत् । सूत्रानुगतं, अविचलं, अविकृतं स्थितः कृतकायोत्सर्गश्चतुर्विंशतिस्तवमभिधाय सूरिणानुरक्तमना गुरुस्तवनं पठेत् इत्येषा कृतिकर्मवन्दना । वन्दनोत्तरकालं 'विणएण' विनयेन 'पंजलिकदो' मुकुलीकृताञ्जलिः । 'वाहय-वसभं' आचार्यवृषभं 'इणं' इदं । वक्ष्यति ब्रवीति इति ॥५११॥

तुज्झेत्थ बारसंगसुदपारया सवणसंघणिज्जवया ।
तुज्झं खु पादमूले सामण्णं उज्जवेज्जामि ॥५१२॥

'तुज्झेत्थ' यूयमत्र । 'बारसंगसुदपारया' द्वादश आचारादीनि अङ्गानि यस्य तत् द्वादशाङ्गं श्रुतं सागर इव तस्य पारं गताः । 'समणसंघणिज्जवया' श्राम्यन्ति तपस्यन्ति इति श्रमणाः तेषां समुदायः श्रमणसंघः

'मैं सर्व सावद्ययोगको त्यागता हूँ' ऐसा कहना, कायसे सावद्य क्रियाओंका न करना। मनसे चौबीस तीर्थंकरोंके गुणोंका स्मरण, वचनसे 'लोगस्सुज्जोयकरे' इत्यादि स्तुतिका पढ़ना, कायसे दोनों हाथ मुकुलित करके मस्तकसे लगाना। वंदनीय गुणोंका स्मरण करना मनोवन्दना है। वचनसे उनके गुणोंके माहात्म्यको प्रकट करने वाले वचनोंका उच्चारण करना वचन वन्दना है। प्रदक्षिणा करके नमस्कार करना काय वन्दना है। मनसे किये हुए दोषोंकी निवृत्ति या हाँ, मैंने बुरा किया' ऐसा सोचना मनःप्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण सूत्रका पढ़ना वाक् प्रतिक्रमण है। कायसे उन दोषोंका न करना काय प्रतिक्रमण है। मनसे मैं अतिचार आदि नहीं करूँगा ऐसा संकल्प मनःप्रत्याख्यान है। मैं उन्हे नहीं करूँगा ऐसा कहना वचन प्रत्याख्यान है। कायसे नही करूँगा ऐसा स्वीकार करना काय प्रत्याख्यान है। मनसे शरीरमें 'यह मेरा है' ऐसा भाव न होना मानस कायोत्सर्ग है। वचनसे मैं कायका त्याग करता हूँ ऐसा कहना वचन कायोत्सर्ग है। दोनों हाथोंको लटकाकर और दोनों पैरोंके मध्यमें चार अंगुलका अन्तर रखते हुए निश्चल खड़ा होना कायसे कायोत्सर्ग है। कायके अपायका निरास न करके (?) जब गुरु एकान्त में बैठे हों और प्रसन्न मन हों तब धीरेसे आकर शरीर और भूमिकी प्रतिलेखना करके, गुरुसे न तो दूर और न समीप बैठकर हाथोंकी अंजलि बनाकर निवेदन करे कि भगवन्! कृतिकर्म वन्दना करना चाहता हूँ। इस प्रकार आलोचना करके गुरुकी अनुज्ञा मिलने पर धीरेसे उठकर दोनों हाथ मस्तकसे लगा न बहुत धीरे, न बहुत जल्दीमें सामायिक पाठ पढ़े। शास्त्रके अनुसार विकार रहित निश्चल खड़े होकर कायोत्सर्ग करे। फिर चौबीस तीर्थंकरोंका स्तवन करे। फिर आचार्यमें अनुराग पूर्वक गुरु स्तवन पढ़े। यह कृतिकर्म वन्दना है। वन्दनाके अनन्तर विनयपूर्वक दोनोंहाथ जोड़ आचार्यसे इस प्रकार निवेदन करे॥५११॥

तस्य निर्यापका.। 'तुम्हं खु पादमूले' युष्माकं पादमूले 'उज्जोवेज्जामि' उद्योतयिष्यामि। 'सामण्णं' श्रामण्यं ॥५१२॥

आलोचनां सूरये प्रकटयति—

पव्वज्जादी सव्वं कादूणालोयणं सुपरिसुद्धं ।
दंसणणाणचरित्ते णिस्सल्लो विहरिदुं इच्छे ॥५१३॥

'पव्वज्जादी सव्वं' दीक्षाग्रहणादिका सर्वां। 'कादूणालोयणं' कृत्वालोचना 'सुपरिसुद्धं' दोषरहितां। 'दंसणणाणचरित्ते' दर्शनज्ञानचरित्र। 'णिस्सल्लो' शल्यरहितो भूत्वा। 'विहरिदुं' विहर्तुं आचरितु। 'इच्छे' इच्छामि ॥५१३॥

एवं कदे णिसग्गे तेण सुविहिदेण वायओ भणइ ।
अणगार उत्तमट्ठं साधेहि तुमं अविग्घेण ॥५१४॥

'एवं कदे णिसग्गे' स्वभारत्यागे कृते। केन 'तेण सुविहिदेण' तेन सुचरितेन क्षपकेण। 'वायओ भणइ' वाचक. सूरिर्वदति। 'अणगार' त्यक्तद्रव्यभावागारत्वादनगार तस्य संबोधन। 'उत्तमट्ठं' उत्तम प्रयोजन रत्नत्रय द्रव्य 'साधेहि' साधय। 'तुमं' त्वं। 'अविग्घेण' अविघ्नेन ॥५१४॥

धण्णोसि तुमं सुविहिद एरिसओ जस्स णिच्छओ जाओ ।
संसारदुक्खमहणीं घेत्तुं आराहणपडायं ॥५१५॥

'धण्णोसि तुमं' धन्योऽसि। पुण्यवानसि 'तुमं' भवान्। 'सुविहिद' यते। 'एरिसओ जस्स णिच्छओ जाओ'। उपलक्षणपर मनोज्ञाहारग्रहणे ईदृग्यस्य निश्चयो जात। 'संसारदुक्खमहणी' संसारे चतुर्गतिपरिभ्रमणे यानि दुःखानि तन्मर्दनोद्यता। 'घेत्तुं' ग्रहीतु। 'आराहणपडायं' आराधनापताका। रत्नत्रयाराधनया कर्माण्यपयान्ति। तदपगमात्तद्दुःखनिवृत्ति इति भाव.॥५१५॥ उपसपा।

गा०—आप द्वादशांग श्रुत सागरके पारगामी हो। आचार आदि बारह जिसके अंग हैं वह द्वादशांग श्रुत समुद्रके समान है आपने उसे पार कर लिया है। तथा जो श्राम्यन्ति अर्थात् तपस्या करते है वे श्रमण है। उनका समुदाय श्रमणसंघ है उसके आप निर्यापक है। मैं आपके चरणोमे बैठकर अपने श्रामण्यको उद्योतित करूँगा ॥५१२॥

गा०—अपनी इच्छा आचार्यके सामने प्रकट करता है—दीक्षा ग्रहण करनेसे लेकर जो दोष किए है उनकी दोषरहित आलोचना करके मै दर्शन, ज्ञान और चारित्रको शल्यरहित होकर पालन करना चाहता हूँ ॥५१३॥

गा०—इस प्रकार उस उत्तम चरित वाले क्षपकके द्वारा अपना भार त्यागने पर वाचक आचार्य कहते हैं—हे द्रव्य और भावरूप अगार (घर) का त्याग करने वाले अनगार! तुम बिना किसी विघ्न बाधाके उत्तम अर्थ रत्नत्रय रूप द्रव्यकी साधना करो ॥५१४॥

गा०—हे सुविहित श्रमण! तुम धन्य हो—पुण्यशाली हो, जो तुमने चार गतियोंमें परिभ्रमण रूप संसारमें जो दुःख हैं, उन दुःखोंको नष्ट करने पर तत्पर आराधना पताकाको ग्रहण

अच्छाहि ताव सुविहिद वीसत्थो मा य होहि उव्वादो ।
पडिचरएहिं समंता इणमट्ठं संपहारेमो ॥५१६॥

'अच्छाहि ताव सुविहिद' आस्स्व तावदत्र । 'वीसत्थं' विस्रब्धः । 'मा य होहि उव्वादो' व्याकुलित-चित्तो मा च भूः । 'पडिचरएहिं समं' प्रतिचारकैः सह । 'इणमट्ठं' इदं प्रयोजनं । 'संपहारेमो' संप्रधारयामः । 'उवसंपा' निरूपिता ॥५१६॥

इत उत्तरं पडिच्छा इति सूत्रपदव्याख्या—

तो तस्स उत्तमट्ठे करणुच्छाहं पडिच्छदि विदण्हू ।
खीरोदणदव्वुग्गहदुगुंछणाए समाधीए ॥५१७॥

'तो' पश्चात् । 'तस्स' तस्य क्षपकस्य । 'उत्तमट्ठकरणुच्छाहं' रत्नत्रयाराधनाक्रियोत्साहं । 'पडिच्छदि' परीक्षते । 'विदण्हू' मार्गज्ञः । कथं ? 'खीरोदणदव्वुग्गहदुगुंछणाए' क्षीरौदनद्रव्यग्रहणं मनोज्ञाहारग्रहणं[1] जुगुप्सा-परेण । 'समाधीए' समाधिनाहारगत लौल्यमस्य किं विद्यते न वेति परीक्षते । इयमेका परीक्षा । समाधिनिमित्तं पडिच्छा ॥५१७॥

खवयस्सुवसंपण्णस्स तस्स आराधणा अविक्खेवं ।
दिव्वेण णिमित्तेण य पडिलेहदि अप्पमत्तो सो ॥५१८॥

'खवगस्स' क्षपकस्य । 'उवसंपण्णस्स' आत्मान्तिकमुपाश्रितस्य । 'तस्स' तस्य । 'आराहणा अविक्खेवं' आराधनाया अविक्षेपं । 'पडिलेहदि' परीक्षते । कः ? 'सो' स सूरिर्निर्यापकः । 'अप्पमत्तो' प्रमादरहितः । केण ? 'दिव्वेण' देवतोपदेशेन । 'णिमित्तेण' निमित्तेन वा इयमेका परीक्षा ॥५१८॥

करनेका निश्चय किया । रत्नत्रयकी आराधनासे कर्मोंका विनाश होता है । उनका विनाश होनेसे दु:खसे छुटकारा होता है ॥५१५॥

गा०—हे सुविहित ! विश्वस्त होकर तब तक बैठो । अपना चित्त व्याकुल मत करो । हम वैयावृत्य करने वालोंके साथ इस विषय पर विचार करते हैं ॥५१६॥

'उवसंपा' का कथन पूर्ण हुआ ।

आगे गाथाके 'पडिच्छा' (परीक्षा) पदका व्याख्यान करते हैं—

गा०—उसके पश्चात् मार्गको जाननेवाले आचार्य क्षपकके रत्नत्रयकी आराधना करनेमें उत्साहकी परीक्षा करते हैं कि उसके आराधना करनेका उत्साह है या नहीं है । तथा दूध भात आदि द्रव्यको ग्रहण करनेमें इसकी लोलुपता है या ग्लानि है ऐसी परीक्षा करते हैं । यहाँ दूधभात मनोज्ञ आहारका उपलक्षण है । अतः आहारके सम्बन्धमें उसकी परीक्षा करते हैं । यह परीक्षा समाधिके निमित्त की जाती है ॥५१७॥

परीक्षाका कथन समाप्त हुआ ।

गा०—आराधनाके निमित्तसे अपने पास आये क्षपककी आराधना निर्विघ्न होनेके लिए

---

1. ग्रहणोपलक्षणं मु० । 'खीरोदणदव्वुग्गहदुगुंछणाए' क्षीरौदनद्रव्यं मनोज्ञाहारोपलक्षणं तस्य अवग्रहो ग्रहणं तत्र विचिकित्सा निन्दा तया ।'—मूलारा० ।

रज्जं खेत्तं अधिवदिगणमप्पाणं च पडिलिहित्ताणं ।
गुणसाधणो पडिच्छदि अप्पडिलेहाए बहुदोसा ॥५१९॥

'रज्जं खेत्तं अधिवदिगणमप्पाणं च' राज्यं, क्षेत्रं, देश ग्रामनगरादिकं अधिपतिं गणमात्मानं च । 'पडिलिहित्ताणं' परीक्ष्य । 'गुणसाधणो' गुणान्सम्यक्त्वादीन् साधयति य: सूरिः स । 'पडिच्छदि' प्रतिगृह्णाति । क । क्षपक । अन्यत्र गुणसाधण इति पाठ । गुणान्साधयितुं उद्यत साधुं प्रतिगृह्णाति । 'अप्पडिलेहाए' उक्तायाः परीक्षाया अभावे । 'बहुदोसा' बहवो दोषा भवन्ति । के ते इति चेदुच्यन्ते । निरस्ताहारतृष्णो न वेति यदि न परीक्षित : आहारे तृष्णावानक्तंदिनं तमेव चितयतीति कथमाराधक । क्षुत्पिपासापरीषहावष्टम्भासहनात्पूत्कुर्वन् धर्मदूषण कुर्यात् । आराधनाया व्याक्षेपो भवति न वेत्यपरीक्ष्य यदि तं न त्याजयति तस्यापि न कार्यसिद्धि स्वय च निन्द्यते जनेन । राज्यक्षेत्रादीना शुभाशुभपरीक्षा येन कृता सोऽशुभं चेत्पश्यति तस्य राज्यादेरन्य स राज्यक्षेत्रादिक अन्यदुद्दिश्य त गृहीत्वा याति । तथा च तस्योपकारको भवति । अपरीक्षायां तु राज्यादिभ्रंशे स च क्षपक स्वय च क्लिश्यति गणस्य चोपद्रवं यदि पश्यति, आत्मनो वा न आरभते कार्यं । अपरीक्षितकारी सूरिन तस्योपकारको न चात्मन इति दोषा. ॥५१९॥

परीक्षानन्तर आपृच्छा इत्येतत्सूत्रपद व्याचष्टे—

आचार्य प्रमादरहित होकर दिव्य निमित्तज्ञानके द्वारा परीक्षा करते हैं कि इसकी आराधना निर्विघ्न होगी या नही होगी ॥५१८॥

गा०—टी०—सम्यक्त्व आदि गुणोका साधक वह आचार्य राज्य, क्षेत्र, अधिपति, गण, और अपनी शरीरको परीक्षा करके क्षपकको ग्रहण करता है । अन्यत्र 'गुणसाधणं' पाठ मिलता है । उसके अनुसार आचार्य गुणोकी साधनाके लिए उद्यत साधुको ग्रहण करता है । उक्त परीक्षा न करनेमे बहुत दोष है ।

उन्हें ही कहते है—क्षपककी आहार विषयक तृष्णा दूर हुई है या नहीं, ऐसी परीक्षा यदि नही की और क्षपक आहारमे तृष्णा रखनेवाला हुआ, तो रात दिन आहार की ही चिन्ता करनेपर कैसे आराधक हो सकता है । भूख प्यासकी परीषहोको न सहनेसे चिल्ला-चिल्लाकर धर्मको दूषित करेगा । आराधनामे विघ्न आयेगा या नही, इसकी परीक्षा न करके यदि उस विघ्नको दूर नही किया जाय तो क्षपकका भी कार्य सिद्ध न हो और स्वयं आचार्य लोगोंकी निन्दाका पात्र बने । जो आचार्य राज्य क्षेत्र आदिकी अच्छे बुरेकी परीक्षा करता है वह यदि क्षपक और राज्य आदिका अशुभ देखता है तो उस क्षपकको लेकर अन्य राज्य और अन्य क्षेत्र आदिमे चला जाता है । ऐसा करनेसे वह क्षपकका उपकार करता है । परीक्षा न करनेपर यदि राज्य आदिमे उत्पात हुआ तो क्षपक और आचार्य दोनोको कष्ट उठाना पड़ता है । यदि गणका या अपना अनिष्ट देखता है तो आचार्य कार्यका प्रारम्भ नहीं करता । अतः बिना परीक्षा किए कार्य करनेवाला आचार्य न क्षपकका उपकार करता है और न अपना उपकार करता है ॥५१९॥

परीक्षाके अनन्तर 'आपृच्छा' का कथन करते हैं—

---

१ चेन्न प–आ० ।

पडिचरए आपुच्छिय तेहिं णिसिट्ठं पडिच्छदे खवयं ।
तेसिमणापुच्छाए असमाधी होज्ज तिण्हंपि ॥५२०॥

आपुच्छा । 'पडिचरए' प्रतिचारकान्यतीन् । 'आपुच्छिय' आपृच्छ्य रत्नत्रयाराधने अस्मानयं सहायाम्कामयन् प्राघूर्णको यतिः साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणं च तीर्थकरनामकर्मणो मूलमिति भवद्भिरिदमवगतमेव, ततो वदत किमस्माभिरयमनुग्राह्यो न वेति, परार्थमन्तः परार्थबद्धपरिकरा हि प्रायेण लौकिका अपि किमुत यतयः । सकलमासन्नभव्यलोकं संसारपङ्कादुत्तरायमाणायुत्तारयितुमुद्यताः ।

'अप्पहियं कायव्वं जइ सक्कइ परहियं च कायव्वमिति' वचनाच्च ।

एतदनुग्रहोद्योगः किं कार्यं इति प्रष्टव्यं इति कथयति । 'तेहिं' परिचारकैः । 'णिसिट्ठं' निसृष्टं अभ्युपगत । 'पडिच्छदे' प्रतिगृह्णाति । 'खवगं' क्षपकं । 'तेसिमणापुच्छाए' परिचारकाणामपरिप्रश्ने तु । 'असमाही होज्ज तिण्हंपि' सूरे. क्षपकस्य संघस्य च असमाधिः संक्लेशो भवेत् । अस्माभिरयमपरिगृहीत इति विनये वैयावृत्ये वा अनुयोगादिना मम[1] न किञ्चित् कुर्वन्ति इति क्षपकस्य संक्लेशो भवति । गुरोरपि संक्लेशो भवति, मयास्योपकारे प्रारब्धे सहायभावमिमे नोपयान्ति इति । परिचारकाणां च संक्लेशो बहुजनसाध्यं कार्यमस्माद्गुरुर्नानुमोदयति । न बलाबलमस्माकं परीक्षते इति ॥५२०॥

पडिच्छणा इत्येतत्सूत्रपदं व्याचष्टे—

एगो संथारगदो जजइ सरीरं जिणोवदेसेण ।
एगो सल्लिहदि मुणी उग्गेहिं तवोविहाणेहिं ॥५२१ ॥

'एगो संथारगदो एकः संस्तरमारूढः । 'जजइ सरीरं' यजते शरीरं । 'जिणोवदेसेण' जिनानामुपदे-

---

गा०-टी०—आचार्य परिचर्या करनेवाले यतियोंसे पूछता है—यह क्षपक रत्नत्रयकी साधनामें हमारी सहायता चाहता है। साधु समाधि और वैयावृत्य करना तीर्थंकर नामकर्मके बन्धके कारण हैं यह आप जानते ही हैं। अतः कहिये, हमलोग इसपर अनुग्रह करें या न करें ? प्रायः लौकिकजन भी परोपकारी और परोपकारके लिए सदा तत्पर रहनेवाले होते हैं। तब यतिजनोंका तो कहना ही क्या है ? वे तो समस्त निकट भव्यजीवोंको गहरे संसार पंकसे निकालनेमें तत्पर रहते हैं। आगममें भी कहा है—'आत्माका हित करना चाहिए। यदि शक्य हो तो परहित भी करना चाहिए।' अतः क्या इसके कल्याणका उद्योग करना चाहिए या नहीं। इस प्रकार आचार्यके पूछनेपर यदि वे स्वीकार करते हैं तो आचार्य क्षपकको स्वीकार करते हैं। परिचारक यतियोंसे न पूछनेपर आचार्य, क्षपक और संघ तीनोंको ही संक्लेश होता है। हम लोगोंने इस क्षपकको स्वीकार नहीं किया ऐसा मानकर यतिगण यदि उसकी विनय या वैयावृत्य न करें तो क्षपकको संक्लेश होता है कि ये मेरा कुछ भी नहीं करते। गुरुको भी संक्लेश होता है कि मैंने इसका उपकार करना प्रारम्भ किया किन्तु वे इसमें सहायता नहीं करते। परिचारक यतियोंको भी संक्लेश होता है कि यह कार्य बहुत जनोंके करनेका है किन्तु हमारा गुरु यह नहीं मानता और न हमारे बलाबलकी परीक्षा करता है ॥५२०॥

आगे 'पडिच्छणा' पदको कहते हैं—

गा०—एक मुनि तो संस्तरपर चढ़कर जिनेन्द्रके उपदेशसे शरीरको आराधनामें लगाता

---

१. मम भक्ति विकु—आ० । मम न भक्ति कु—मु० ।

सेन । 'एगो सल्लिहदि मुणी' एको मुनिस्तनूकरोति शरीरं । 'उग्गेहिं तवोविहाणेहिं' उग्रैस्तपोविधानैः ॥५२१॥

तदिओ णाणुण्णादो जजमाणस्स हु हवेज्ज वाघादो ।
पडिदेसु दोसु तीसु य समाधिकरणाणि हायन्ति ॥५२२॥

'तदिओ णाणुण्णादो' तृतीयो यतिर्नानुज्ञातः तीर्थकृद्भिः एकेन निर्यापकेनानुग्राह्यत्वेन । कुतो यस्मात् । 'जजमाणस्स हु हवेज्ज वाघादो' यजमानस्य भवेदेव व्याघात इति । कुतो व्याघात इत्यत्राह । 'पडिदेसु दोसु तीसु य' संस्तरे पतितयोर्द्वयोस्त्रिषु च क्षपकेषु 'समाधिकरणाणि हायंति' चित्तसमाधानक्रिया विनयवैयावृत्त्यादयो हीयन्ते यस्माद्यजमानस्य व्याघातः ॥५२२॥

यस्मादेक एव यजमानो भवति—

[1]तम्हा पडिचरयाणं सम्मदमेयं पडिच्छदे खवयं ।
भणदि य तं आयरियो खवयं गच्छस्स मज्झम्मि ॥५२३॥

'तम्हा' तस्मात् । 'एगं' एकं । 'पडिच्छदे' अनुजानाति । 'खवगं' क्षपकमेकं । 'पडिचरयाणं सम्मदं' प्रतिचारकाणां इष्टं । 'भणदि य' भणति च । 'तं' क्षपकं । कः ? 'आयरिओ' आचार्यः । क्व ? 'गच्छस्स मज्झम्मि' गणस्य मध्ये । क्षपकस्य शिक्षा । किमर्थं ? गणोऽपि मार्गज्ञो यथा स्यात् इति । पडिच्छणे-गदस्स ॥५२३॥

एवमसौ क्षपकं भणतीति कथयति—

फासेहि तं चरित्तं सव्वं सुहसीलयं पयहिदूण ।
सव्वं परीसहचमुं अधियासंतो धिदिबलेण ॥५२४॥

'फासेहि' प्रतिपद्यस्व । 'तं' भवान् । किं ? 'चरित्तं' चारित्रं । 'सव्वं सुहसीलयं' सर्वां सुखशीलतां । 'पयहिदूण' त्यक्त्वा । सुखशीलतया हि चारित्रं मन्दं भवति पिण्डस्योपकरणस्य वसतेश्चाशोधनात् । मनोज्ञाहार-

है । एक मुनि उग्रतप करके शरीरको कृश करता है ॥५२१॥

गा०-टी०—तीर्थंकरने एक निर्यापक आचार्यके द्वारा अनुग्राह्य तीसरे यतिकी अनुज्ञा नहीं दी है अर्थात् एक आचार्यकी देख-रेखमें एक साथ एक दो ही मुनि सल्लेखना कर सकता है क्योंकि तपरूपी अग्निमें अपने शरीर आहुति देनेवाले मुनिकी समाधिमें विघ्न आता है । इसका कारण यह है कि यदि दो या तीन क्षपक संस्तर पर पड़ जायें तो चित्तको समाधान देनेवाली विनय वैयावृत्य आदिमें कमी आती है ॥५२२॥

गा०—अतः आचार्य एक ही क्षपकको स्वीकार करते हैं जो परिचर्या करनेवाले यतियोंको इष्ट होता है । तथा आचार्य गणके मध्यमें क्षपकको शिक्षा देते हैं जिससे गण भी समाधिको जान जाये ॥५२३॥

गा०—हे क्षपक ! तुम धैर्यके बलसे सम्पूर्ण सुखशीलताको त्यागकर सम्पूर्ण परीषहोंकी सेनाको सहन करते हुए चारित्रको धारण करो । सुखशीलतासे चारित्र मन्द होता है क्योंकि

1. तम्हा खवयं एयं पडिचरगणसम्मदं पडिच्छेइ । भणदि य तं आइरिओ सगच्छमज्झम्मि खव-यस्स ॥—आ० ।

लम्पटो न भिक्षां शोधयति नाप्युपकरणं । कुशील उद्गमादिदोषं न परिहरति मनोज्ञोपकरणभक्ताभिलाष-त्वात् । कष्टासहो यस्य कस्यचिद्वसतावास्ते ॥५२४॥

इन्द्रियजयं कषायजयं च कुर्वित्युपदिशति—

सद्दे रूवे गंधे रसे य फासे य णिज्जिणाहि तुमं ।
सव्वेसु कसाएसु य णिग्गहपरमो सदा होह ॥५२५॥

'सद्दे रूवे गंधे' इत्यनया । ननु शब्दादयो विषयास्तेषां जयो नाम कः ? तद्विषयो हि रागो बन्धहेतु-त्वात् तत्प्रतिपक्षवैराग्यभावनया जेतव्यत्वेनोपदेष्टव्यः । अत्रोच्यते—सोपस्कारत्वात्सूत्राणां सद्दे, रूवे, गन्धे, रसे य फासे य रागं तुमं जिणाहि इति पदसम्बन्धः । अथवा शब्दादीनां विषयाणां वशे न स्थित इति कृत्वा जेता भण्यते । यथा पुरुषो जितोऽनयेत्युच्यते या पुरुषवशानुवर्तिनी न भवति । 'सव्वेसु कसाएसु य' सर्वेषु कषायेषु वा क्रोधादिषु । 'णिग्गहपरमो' निग्रहप्रधानः क्षमादिभावनया सदा भव ॥५२५॥

एवं कृतेन्द्रियकषायजयेन मया पश्चात्किं कर्तव्यमित्यत्रोत्तरमाचष्टे—

हंतूण कसाए इंदियाणि सव्वं च गारवं हंता ।
तो मलिदरागदोसो करेहि आलोयणासुद्धिं ॥५२६॥

सुखशील मुनि भोजन, उपकरण और वसतिका शोधन नहीं करता । जो स्वादिष्ट भोजनका लम्पट होता है न वह भिक्षाका शोधन करता है और न उपकरणका शोधन करता है । तथा सुखशील मुनि उद्गम आदि दोषका परिहार नहीं करता, उसका मन तो मनोज्ञ भोजन और उपकरणमें रहता है । कष्ट न सहकर जिस किसीकी वसतिमें ठहर जाता है ॥५२४॥

आगे इन्द्रिय और कषायोंको जीतनेका उपदेश देते हैं—

गा०—टी०—हे यति ! तुम शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श इन पाँच इन्द्रियोंके विषयोंको जीतो ।

शङ्का—शब्द आदि इन्द्रियोंके विषय हैं उनको जीतना कैसे ? उन विषयोंमें राग बन्धका कारण है । अतः उनके विरोधी वैराग्य भावनाके द्वारा उनको जीतनेका उपदेश देना चाहिए ?

समाधान—सूत्र उपस्कार सहित होते हैं अत. शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शमें जो राग है उसे तुम जीतो ऐसा पदका सम्बन्ध होता है । अथवा जो शब्दादि विषयोंके वशमें नहीं है उसे जीतनेवाला कहते हैं । जैसे जो स्त्री पुरुषकी अनुगामिनी नहीं होती उसके सम्बन्धमें कहा जाता है कि इसने पुरुषको जीत लिया ।

तथा सब क्रोधादि कषायोंमें क्षमा आदि भावनाके द्वारा सदा निग्रह करनेमें तत्पर रहो ॥५२५॥

इस प्रकार इन्द्रिय और कषायको जीतनेपर मुझे क्या करना चाहिए, क्षपकके इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—

---

१. कुशीलः उद्गमादिदोषां परिहरति—आ० ।

'हंतूण' हत्वा । 'कसाए' कषायान् । 'इंदियाणि' इंद्रियाणि च हत्वा । 'सव्वं च गारवं हंता' सर्वं च गारवं हत्वा ऋद्धिरससातभेदास्त्रिविकल्पं । 'तो' पश्चात् । 'अभिमदरागदोसो' मृदितरागद्वेषः । 'करेहि' कुरु । 'आलोयणासुद्धिं' आलोचनाख्यां शुद्धिं । रागद्वेषौ असत्यवचनस्य हेतू इति परित्याज्याविति कथितौ । रागान्न पश्यति नरो दोषान् । द्वेषाद् गुणान्न गृह्णीते । तस्माद्रागद्वेषौ व्युदस्य कार्याणि कार्याणि ॥५२६॥

निरतिचारं मदीयं रत्नत्रयं ततः किं गुरोर्निवेदयामीति न मन्तव्यमित्याचष्टे—

छत्तीसगुणसमण्णागदेण वि अवस्समेव कायव्वा ।
परसक्खिया विसोधी सुट्ठुवि ववहारकुसलेण ॥५२७॥

'छत्तीसगुणसमण्णागदेण वि' षट्त्रिंशद्गुणसमन्वितेनापि । 'अवस्समेव होइ कायव्वा' अवश्यमेव भवति कर्तव्या । का ? 'विसोही' विशुद्धिः मुक्त्युपायातिचाराणामपाकृतिः ॥५२७॥

आयारवमादीया अट्ठगुणा दसविधो य ठिदिकप्पो ।
बारस तव छावासय छत्तीसगुणा मुणेयव्वा ॥५२८॥

'सुट्ठुवि ववहारकुसलेण' सुष्ठु अपि प्रायश्चित्तकुशलेनापि । अष्टौ ज्ञानाचारा दर्शनाचाराश्चाष्टौ, तपो द्वादशविधं, पंच समितय, तिस्रो गुप्तयश्च षट्त्रिंशद्गुणाः ॥५२८॥

गा०—कषाय और इन्द्रियोंको नष्ट करके तथा ऋद्धि, रस, और सातके भेदसे सम्पूर्ण गारवको नष्ट करके, पश्चात् राग और द्वेषका मर्दन करके आलोचनाकी शुद्धि करो। राग और द्वेष झूठ बोलनेमें कारण होते हैं इसलिए उन्हे छोड़ने योग्य कहा है। रागवश मनुष्य दोषोंको नहीं देखता, और द्वेषवश गुणोको ग्रहण नही करता। इसलिए रागद्वेषको दूर करके कार्य करना चाहिए ॥५२६॥

मेरे रत्नत्रय निरतिचार हैं अतः गुरुसे क्या निवेदन करूँ ? ऐसा मानना योग्य नही, ऐसा कहते हैं—

गा०—छत्तीस गुणोके धारण और व्यवहारमे कुशल आचार्यको भी अवश्य अन्य मुनिकी साक्षीसे अपने रत्नत्रयकी विशुद्धि—अतिचारोंका शोधन करना होता है। आठ ज्ञानाचार, आठ दर्शनाचार, बारह प्रकारका तप, पाँच समिति, तीन गुप्ति ये छत्तीस गुण हैं ॥५२७॥

गा०—आचारवत्त्व आदि आठ गुण, दस प्रकारका स्थितिकल्प, बारह तप, छह आवश्यक, ये छत्तीस गुण जानना चाहिए ॥५२८॥

विशेषार्थ—दोनों प्रतियोंमें यह गाथा इससे पूर्वकी गाथाकी विजयोदया टीकाके मध्यमें दी है। किन्तु विजयोदया टीकामे जो छत्तीस गुण गिनाये है वे इस गाथामे भिन्न है। दोनों प्रतियोंमें यद्यपि इसपर क्रमांक नं० ५२२ है किन्तु इससे आगेकी गाथापर भी यही नम्बर है। इससे प्रतीत होता है कि इस गाथाको मूलमें नही गिना गया है। प० आशाधरजीने अपनी टीकामें छत्तीस गुण संस्कृत टीकामें विजयोदयाके अनुसार बतलाकर प्राकृतटीकाके अनुसार अट्ठाईस मूलगुण और आचारवत्त्व आदि आठ इस तरह छत्तीस बतलाए हैं। 'यदि वा' लिखकर दस आलोचना गुण, दस प्रायश्चित्त गुण, दस स्थितिकल्प, छह जीतगुण इस तरह छत्तीस गुण बतलाकर लिखा है कि यह गाथा प्रक्षिप्त ही प्रतीत होती है ॥५२८॥

सव्वे वि तिण्णसंगा तित्थयरा केवली अणंतजिणा।
छदुमत्थस्स विसोधिं दिसंति ते वि य सदा गुरुसयासे ॥५२९॥

सर्वेषां तीर्थकृतामियमाज्ञा—गुरोर्निवेद्यात्मापराधं तदुक्तं प्रायश्चित्तं कृत्वा शुद्धिः कार्येति। 'सव्वेवि तित्थयरा' सर्वेऽपि तीर्थकराः। 'तिण्णसंगा' उल्लङ्घितपरिग्रहाणाधपङ्का। 'सव्वे वि केवली' सर्वेऽपि केवलिनः। परिप्राप्तस्वर्गावतरणादिकल्याणत्रयाः केवलज्ञानावरणक्षयादधिगतविश्वज्ञानाः केवलिनः। 'अणंतजिणा' अनन्तसंसारकारकत्वाच्चारित्रसर्वघातिमिथ्यात्वं[1] सम्यग्मिथ्यात्वं द्वादशकषायाश्च अनन्तं तज्जयादनन्तजिना आचार्योपाध्यायसाधवः। तेऽपि सर्वे 'सदा गुरुसयासे सोधिं दिसंति' सदा गुरुसमीपे रत्नत्रयशुद्धिं वर्णयन्ति। कस्य? 'छदुमत्थस्स' छद्मस्थस्य सम्बन्धिनीमिति केचिद्वदन्ति। रत्नत्रयपरिणामात्मको [2]रत्नत्रयशुद्धया शुद्धो। भवतीति छद्मस्थस्य विशुद्धिरित्युच्यते इति वाऽन्यथा ॥५२९॥

यो न वेत्त्यतिचारजातमलनिराकरणक्रम सोऽन्यस्मै कथयेद्यस्तु स्वयं वेत्ति स कस्मात् परस्मै कथयति-तदुक्तं चाचरतीत्याह—

जह सुकुसलो वि वेज्जो अण्णस्स कहेदि आदुरो रोगं।
वेज्जस्स तस्स सोच्चा सो वि य पडिकम्ममारभइ ॥५३०॥

'जह सुकुसलो वि वेज्जो' यथा सुष्ठु कुशलोऽपि वैद्यः। व्याधिनिरासे 'आदुरो' आतुरः। 'अण्णस्स कहेइ' अन्यस्मै कथयति। 'रोगं' व्याधिं। एवंभूतो मम व्याधिः, चिकित्सां कुर्विति। 'वेज्जस्स तस्स सोच्चा' तस्य वैद्यस्य श्रुत्वा वचनं। 'सो वि य' सोऽपि च आतुरो[3] वैद्यः। 'पडिकम्ममारभदि' प्रतिक्रियामारभते ॥५३०॥

सब तीर्थंकरोंकी यह आज्ञा है कि गुरुसे अपने अपराधको निवेदन करके, वे जो प्रायश्चित्त कहे उसे करके शुद्धि करना चाहिए। यही कहते हैं—

गा०-टी०—परिग्रहरूपी अथाह कीचड़को लाँघनेवाले सभी तीर्थंकर, स्वर्गसे अवतरण, जन्म और दीक्षा इन तीन कल्याणकोंको प्राप्त करके, केवलज्ञानावरणके क्षयसे समस्त विश्वको जाननेवाले केवलज्ञानी, तथा अनन्तसंसारका कारण होनेसे चारित्रका सर्वघात करनेवाले मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और बारह कषायको अनन्त कहा है। उनको जीतनेसे आचार्य, उपाध्याय और साधु अनन्तजिन कहे जाते हैं। ये सभी सदा गुरुके समीपमें रत्नत्रयकी शुद्धि करनेको कहते हैं। यह शुद्धि छद्मस्थ अवस्थासे सम्बन्ध रखती है ऐसा कोई कहते हैं। अथवा रत्नत्रयके परिणामवाला आत्मा रत्नत्रयकी शुद्धिसे शुद्ध होता है इससे उसे छद्मस्थकी विशुद्धि कहते हैं ॥५२९॥

जो मुनि अतिचारसे उत्पन्न मलको दूर करनेका क्रम नहीं जानता उसका दूसरे आचार्यादिसे कहना उचित है। किन्तु जो स्वयं जानता है वह दूसरेसे क्यों कहता है और क्यों उसके कहे अनुसार आचरण करता है इस शंकाका उत्तर देते हैं—

गा०—जैसे अत्यन्त निपुण भी वैद्य रोगी होनेपर अपना रोग दूसरे वैद्यसे कहता है और उस वैद्यकी चिकित्सा सुनकर वह रोगी वैद्य उसका कहा इलाज प्रारम्भ करता है ॥५३०॥

---

१. मिथ्यात्वं द्वाद—आ०मु०। २. त्रयशुद्धया भवतीति छद्मस्थस्य विशुद्धिरित्युक्तवानयं आ०मु०। ३. अनातुरो आ० मु०।

एवं जाणंतेण वि पायच्छित्तविधिमप्पणो सव्वं ।
कादव्वादपरविसोधणाए परसक्खिगा सोधी ॥५३१॥

'एवं जाणंतेण वि' विजानतापि । किं? 'पायच्छित्तविधिं' प्रायश्चित्तक्रमं । 'अप्पणो' आत्मनः । 'सव्वं' सर्वं । 'कादव्वा' कर्तव्या । 'परसक्खिगा सोधी' शुद्धिः । 'आदपरविसोधणाए' आत्मनः परा उत्कृष्टा विशोधना यथा स्यादित्येवमर्थं स्वसाक्षिका परसाक्षिका च विशुद्धिरुत्कृष्टेति मन्यते ।

प्राय इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत् ।
[1]तच्चित्तग्राहकं कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृतं ॥ [ ]

इति वचनात् । शुद्धिरतिचाराणां अनेन कृतेति परे मानयन्ति । निरतिचाररत्नत्रयोऽयमिति परे भव्या एतदुपदेशेनास्माभिः प्रवर्तितव्यमिति ढौकन्ते । अन्यथा तद्गुणातिशयानवगमनान्न तदनुयायिनो भवन्ति । ततः कथमनेन परानुग्रहः कृतः स्यात् । कर्तव्यः स्वपरानुग्रहः ।

तथा चोक्तं—अप्पहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं ॥ इति । तथापि—

श्रेयोऽर्थिना हि जिनशासनवत्सलेन कर्तव्य एव नियमेन हितोपदेशः—[वरांग० १।१३] । इति । वैद्य इव । अथवा आत्मनः [2]परस्परविशोधनार्थं परसाक्षिकं । मम शुद्धिं दृष्ट्वा परोऽप्ययमेव क्रम इति परसाक्षिकायां शुद्धौ प्रयतते । अन्यथा सर्वे स्वसाक्षिकामेव कुर्युः । तथा च न शुद्ध्यन्ति । गतानुगतिको हि प्रायेण लोकः ॥५३१॥

यस्मात्परसाक्षिका शुद्धिः प्रधाना—

तम्हा पव्वज्जादी दंसणणाणचरणादिचारो जो ।
तं सव्वं आलोचेहि णिरवसेसं पणिहिदप्पा ॥५३२॥

गा०—इसी प्रकार सम्पूर्ण प्रायश्चित्त विधिको जानते हुए भी मुनिको अपनी उत्कृष्ट विशुद्धिके लिए परकी साक्षीपूर्वक शुद्धि करना चाहिए । क्योंकि अपनी और दूसरेकी साक्षीपूर्वक विशुद्धि उत्कृष्ट मानी जाती है । कहा है—'प्रायश्चित्त' शब्दमें प्रायका अर्थ लोक है और उसका मन चित्त उस चित्तका ग्राहक अथवा उस चित्तको शुद्ध करनेवाले कर्मको प्रायश्चित्त कहा है ॥५३१॥

टी०—प्रायश्चित्त करनेसे दूसरे मानते हैं कि इसने अतिचारोंकी शुद्धि कर ली । इसका रत्नत्रय निरतिचार है । अन्य भव्यजीव उसके पास इस विचारसे आते हैं कि हमें भी इनके उपदेशानुसार प्रवृत्ति करना चाहिए । यदि दोषोंकी विशुद्धि साधु न करे उसके गुणोंके अतिशयको न जाननेसे भव्यजीव उसके अनुयायी नहीं होते । तब साधु कैसे दूसरोंका उपकार कर सकता है । कहा भी है कि 'अपना हित करना चाहिए । अपना हित करते हुए शक्य हो तो परका हित करना चाहिए ।' तथा और भी कहा है—'कल्याणके इच्छुक जिनशासनके प्रेमीको नियमसे हितका उपदेश करना चाहिए । जैसे वैद्य दूसरोंका हित करता है । अथवा अपनी और परकी शुद्धिके लिए परकी साक्षीपूर्वक शुद्धि करना चाहिए । मेरी शुद्धिको देखकर दूसरे भी ऐसा ही करेंगे, इसलिए साधु परकी साक्षीपूर्वक शुद्धि करता है । ऐसा न करनेसे सब केवल अपनी ही साक्षीपूर्वक शुद्धि करने लगेंगे । और ऐसा करनेपर वे शुद्ध नहीं हो सकेंगे । लोग तो प्रायः देखा-देखी करनेवाले होते हैं ॥५३१॥

---

१. चित्तशुद्धिकरं कर्म आ० मु० । २ परस्य वि–मु० ।

'तम्हा' तस्मात् । 'पव्वज्जादी' प्रव्रज्यादिकं । 'दंसणणाणचरणादिचारो जो' दर्शनज्ञानचरणातिचारो यः । 'तं सव्वं' सर्वं अतिचारं । 'आलोचेहि' कथय । 'पणिहिदप्पा' प्रणिहितचित्तो भूत्वा । 'णिरवसेसं' सर्वमित्यनेनैवावगतत्वात् निरवशेषमित्येतत्किमर्थं इति चेत्—ज्ञानदर्शनचारित्रविषयाणामतिचाराणां कतिपयानां सामस्त्येऽपि सर्वशब्दस्य प्रवृत्तिरस्तीति निरवशेषग्रहणं प्रत्येकं ज्ञानाद्यतिचाराणां ग्रहीतुमुपन्यस्तमिति न दोषः ॥५३२॥

कथं निरवशेषालोचना कृता भवतीत्याशंकायामाह—

काइयवाइयमाणसियसेवणं दुप्पओगसंभूयं ।
जइ अत्थि अदीचारं तं आलोचेहि णिस्सेसं ॥५३३॥

'काइयवाइयमाणसियसेवणा' कायेन, वाचा, मनसा च प्रवृत्तिं प्रतिसेवनां । 'दुप्पओगसंभूया' दुःप्रयोगसंभूतां 'तं' तां । 'आलोचेहि' कथय । 'णिस्सेसं' निःशेषं । 'जइ अत्थि अदीचारो' यद्यस्त्यतिचारः ॥५३३॥

अमुगंमि इदो काले देसे अमुगत्थ अमुगभावेण ।
जं जह णिसेविदं तं जेण य सह सव्वमालोचे ॥५३४॥

चरणं अतिक्रम्याचरणं । 'इदो' अस्माद्दिनादतिक्रान्ते । 'अमुगम्मि काले' अमुकस्मिन्काले । 'देसे' अमुष्मिन्देशे । 'अमुगभावेण' अनेन भावेन । 'जं' यत् । 'जधा णिसेविदं' यथा निषेवितं । 'जेण य सह' येन च सह । 'तं सव्वमालोचे' तत्सर्वं कथयेद्देशभेदात् कालभेदात् परिणामभेदात्, सहायभेदात् च दोषाणां गुरुलघुभावः । गुरुलघुभावानुसारेण वा गुरु लघु वा प्रायश्चित्तं दीयते । तत्सर्वं कथयति ॥५३४॥

शिक्षयत्यालोचनाक्रमं सूरि—

गा०—यतः परकी साक्षीपूर्वक की गई शुद्धि ही प्रधान है अतः दीक्षासे लेकर अबतक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमें जो अतिचार लगे हैं वे सब निरवशेष सावधान चित्त होकर कहो।

शङ्का—सब कहनेसे ही सबका ज्ञान हो जाता है फिर निरवशेष क्यों कहा ?

समाधान—ज्ञान दर्शन और चारित्रविषयक कुछ अतिचारोंको पूरी तरहसे कहनेमें भी सर्वशब्दकी प्रवृत्ति है, इसलिए 'निरवशेष' का ग्रहण ज्ञानादिके प्रत्येक अतिचारको ग्रहण करनेके लिए किया है। अतः कोई दोष नहीं है ॥५३२॥

निरवशेष आलोचना कैसे की जाती है? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—मनवचन और कायकी प्रवृत्ति करते हुए यदि उनके दुष्प्रयोगसे अतिचार लगा हो तो उसकी पूरी तरहसे आलोचना करो ॥५३३॥

गा०—इस दिनसे लेकर अमुक कालमें, अमुक देशमें, अमुक भावसे जो दोष, जिसके साथ जिस प्रकारसे किया हो वह सब कहना चाहिए। देशभेद, कालभेद, परिणामभेद, और सहायकके भेदसे दोषोंमें गुरुपना और लघुपना होता है। और दोषोंकी गुरुता और लघुताके अनुसार गुरु या लघु प्रायश्चित्त दिया जाता है। इसलिए क्षपक सब कहता है ॥५३४॥

आचार्य आलोचनाके क्रमकी शिक्षा देते हैं—

आलोयणा हु दुविहा ओघेण य होदि पदविभागी य ।
ओघेण मूलपत्तस्स पयविभागी य इदरस्स ॥५३५॥

'आलोयणा हु दुविहा होदि' द्विप्रकारैवालोचना भवति । 'ओघेण पदविभागी य' सामान्येन विशेषेण च । वचो हि सामान्यं विशेषं चावलम्ब्य प्रवर्तते । कस्य सामान्येन आलोचना कस्य वा विशेषेणेत्यत आह– 'ओघेण मूलपत्तस्स' सामान्यालोचना मूलाख्यं प्रायश्चित्तं प्राप्तस्य । 'पदविभागी' विशेषालोचना । 'इदरस्स' मूलमप्राप्तस्य ॥५३५॥

सामान्यालोचनार्हं सामान्यालोचनास्वरूपं च कथयति—

ओघेणालोचेदि हु अपरिमिदवराधिसव्वघादी वा ।
अज्जोपाए इच्छं सामण्णमहं खु तुच्छोत्ति ॥५३६॥

'ओघेणालोचेदि हु' सामान्येन कथयति । 'सोऽपरिमिदवराधी सव्वघादी वा' बहवो अपराधा यस्य मिथ्यात्वं व्रतभङ्गो वा । परसाक्षिकायां शुद्धौ मायाशल्यं निरस्तं भवति । मानकषायो निर्मूलितो भवति । गुरुजनः पूजितो भवति । तत्परतन्त्रतया वृत्तेर्मार्गप्रभावना च कृता स्यात् । 'अज्जोपाए' अद्यप्रभृति । 'इच्छ सामण्णं' इच्छामि श्रामण्यं । 'अहं खु तुच्छोत्ति' अहं स्वल्पको रत्नत्रयेणेति इयं सामान्यालोचना ॥५३६॥

विशेषालोचनामाचष्टे—

गा०—आलोचना दो प्रकारकी होती है—एक सामान्यसे और दूसरी विशेष से । क्योंकि सामान्य और विशेषका अवलम्बन लेकर ही वचनकी प्रवृत्ति होती है । किस दोषकी सामान्यसे आलोचना होती है और किसको विशेषसे होती है ? यह कहते हैं—जिसको मूल नामक प्रायश्चित्त दिया जाता है वह सामान्यसे आलोचना करता है और जिसको मूल प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता वह विशेष रूपसे आलोचना करता है ॥५३५॥

विशेषार्थ—जिसकी मूलसे ही दीक्षा छेद दी जाती है वह अपने दोषोंकी सामान्य आलोचना करता है किन्तु जो सम्यक्त्व आदिमें दोष लगाता है वह अपने दोषकी विशेष आलोचना करता है । यहाँ सामान्यसे मतलब है किसी गुणविशेषमें लगे दोषकी आलोचना न करके सामान्य मुनिधर्म मात्रमें लगे दोषकी आलोचना करना, और किसी गुणविशेषमें लगे दोषकी आलोचना विशेष आलोचना है ।

सामान्य आलोचनाके योग्य कौन होता है और सामान्य आलोचनाका स्वरूप कहते हैं—

गा०—जो अपरिमित अपराधी है जिसने बहुत अपराध किए हैं या जिसने सब सम्यक्त्व व्रत आदि का घात किया है वह सामान्य आलोचना करता है । मैं आज से मुनि दीक्षा लेना चाहता हूँ । मैं रत्नत्रय से तुच्छ हूँ । यह सामान्य आलोचना का स्वरूप है । आचार्य आदि साक्षी पूर्वक शुद्धिमें मायाशल्य दूर होता है । मान कषाय जड़ से उखड़ जाती है । गुरुजनके प्रति आदर भाव व्यक्त होता है । उनके अधीन रह कर व्रताचरण करनेसे मोक्षमार्गकी ख्याति होती है ॥५३६॥

विशेष आलोचनाको कहते हैं—

पव्वज्जादी सव्वं कमेण जं जत्थ जेण भावेण ।
पडिसेविदं तहा तं आलोचिंतो पदविभागी ॥५३७॥

'पव्वज्जादी सव्वं' प्रव्रज्यादिकं सर्वं । 'कमेण जं जत्थ जेण भावेण पडिसेविदं' क्रमेण यद्यत्र कालत्रये वा देशे येन भावेन प्रतिसेवितं । 'तहा तं' तथा तत् । आलोचिंतो निरूपयन्निति । यदि पदविभागी विशेषालोचना भवति ॥५३७॥

शल्यानिराकरणे दोषं शल्यापाये च गुणं दृष्टान्तेन दर्शयति—

जह कंटएण विद्धो सव्वंगे वेदणुद्दुदो होदि ।
तम्हि दु समुद्धिदे सो णिस्सल्लो णिव्वुदो होदि ॥५३८॥

'जह कंटएण विद्धो' यथा कण्टकेन विद्ध. । 'सव्वंगे' सर्वस्मिन् शरीरे । 'वेदणुद्दुदो होइ' वेदनयोपद्रुतो भवति । 'तम्हि समुट्ठिदे' तस्मिन्कण्टके उद्धृते । 'सो' दुःखितः । 'णिस्सल्लो' निःशल्यो शल्येन रहितः । 'णिव्वुदो' निर्वृतो । 'होदि' भवतीति सुखी भवतीति यावत् ॥५३८॥

दार्ष्टान्तिकयोजना—

एवमणुद्धुददोसो माइल्लो तेण दुक्खिदो होइ ।
सो चेव वंददोसो सुविसुद्धो णिव्वुदो होइ ॥५३९॥

'एवं' कण्टकेन विद्ध इव । 'अणुद्धुददोसो' अनुद्धृतदोषः । 'माइल्लो' मायावान् । स्वापराधाकथनानुद्धृतदोषेण । 'दुक्खिदो होदि' दुःखितो भवति । 'सो चेव वंददोसो' स एव वान्तदोषः । 'सुविसुद्धो णिव्वुदो होदि' निर्वृतो भवति ॥५३९॥

मिच्छादंसणसल्लं मायासल्लं णिदाणसल्लं च ।
अहवा सल्लं दुविहं दव्वे भावे य बोधव्वं ॥५४०॥

'मिच्छादंसणसल्लं' मिथ्यादर्शनशल्यं । 'मायासल्लं' मायाशल्यं । 'णिदाणसल्लं' निदानशल्यं च । 'अहवा सल्लं दुविहं' अथवा शल्यं द्विप्रकारं । 'दव्वे भावे य' द्रव्यशल्यं भावशल्यमिति । 'बोधव्वं' बोद्धव्यम् ॥५४०॥

गा०—दीक्षासे लेकर सब कालमें सब क्षेत्रमें जिस भावसे और जिस क्रमसे जो दोष किया हो उसकी उसी प्रकार आलोचना करना पदविभागी अर्थात् विशेष आलोचना है ॥५३७॥

शल्यको दूर न करनेमें दोष और दूर करनेमें गुण दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—

गा०—जैसे कण्टकसे विधा हुआ सर्वशरीरमें पीड़ासे पीड़ित होता है और उस कण्टकके निकल जानेपर वह दुःखी मनुष्य शल्यसे रहित हो सुखी होता है ॥५३८॥

गा०—उसी प्रकार जो काँटेकी तरह दोषको नहीं निकालता वह मायावी अपने अपराधको न कहने रूप दोषसे दुःखी रहता है। और वही दोषको प्रकट करनेपर विशुद्ध होकर सुखी होता है ॥५३९॥

गा०—शल्यके तीन भेद हैं—मिथ्यादर्शनशल्य, मायाशल्य और निदानशल्य, अथवा शल्यके दो भेद जानना—द्रव्यशल्य और भावशल्य ॥५४०॥

तिविहं तु भावसल्लं दंसणणाणे चरित्तजोगे य ।
सच्चित्ते य अचित्ते य मिस्सगे वा वि दव्वम्मि ॥५४१॥

'तिविहं तु' त्रिविधं एव । 'भावसल्लं' परिणामशल्यं । 'दंसणणाणे चरित्तजोगे य' दर्शने, ज्ञाने, चारित्रयोगे वा । दर्शनस्य शल्यं शंकादि । ज्ञानस्य शल्यं अकाले पठन अविनयादिकं च । चारित्रस्य शल्यं समितिगुप्त्योरनादरः । [[1]योगस्य तपस. प्रागुक्तानशनाद्यतिचारजातं । असयमपरिणमनं वा । तपसश्चारित्रे अन्तर्भावविवक्षया त्रिविहमित्युक्तम्] 'दव्वम्मि सल्लं तिविहं' द्रव्ये शल्य त्रिविध । 'सचित्ते अचित्ते मिस्सगे य' सचित्तद्रव्यशल्यं दासादि । अचित्तद्रव्यशल्यं सुवर्णादि । 'मिस्सगे वा' विमिश्रद्रव्यशल्य ग्रामादि । एतत्त्रिविधं द्रव्यशल्यमित्युच्यते—चारित्राचारस्य शल्यस्य कारणत्वात् ॥५४१॥

भावशल्यानुद्धरणे दोषमाचष्टे—

एगमवि भावसल्लं अणुद्धरित्ताण जो कुणइ कालं ।
लज्जाए गारवेण य ण सो हु आराधओ होदि ॥५४२॥

'एगमवि' एकमपि भावाना रत्नत्रयाणा शल्य । अतिचार । 'अणुद्धरित्ताण' अनुद्धृत्य । 'जो कुणदि कालं' यः करोति मरणं । कस्मान्नोद्धरति ? 'लज्जाए' लज्जया । 'गारवेण य' गारवेण वा । 'सो ण हु आराधओ होदि' स आराधको नैव भवति । निरतिचारता हि तेषां यतीनां आराधना ॥५४२॥

जाते अपराधे तदानीमेव कथितव्यं न कालक्षेपः कार्य इति शिक्षयति—

कल्ले परे व परदो काहं दंसणणाणचरित्तसोधित्ति ।
इय संकप्पमदीया गयं पि कालं ण याणंति ॥५४३॥

'कल्ले' श्वःप्रभृतिके काले । अहं करिष्यामि 'दंसणचरित्तसोधित्ति' दर्शनज्ञानचारित्रशुद्धिमिति । 'इय संकप्पमदीया' एव कृतसंकल्पमतयः । 'गयंपि कालं ण याणंति' गतमतिक्रान्तमपि आयुःकालं नैव जानन्ति ।

गा०—टी०—भावशल्यके तीन भेद हैं—दर्शनशल्य, ज्ञानशल्य, चारित्रयोगशल्य । शंका आदि दर्शनके शल्य हैं । अकालमें पढ़ना, विनय न करना आदि ज्ञानके शल्य हैं । समिति और गुप्तिमें अनादर चारित्रके शल्य हैं । पहले कहे अनशन आदिके अतिचार अथवा असंयमरूप परिणाम योग अर्थात् तपके शल्य हैं । तपका अन्तर्भाव चारित्रमे होता है इस विवक्षासे यहाँ भावशल्य तीन कहे हैं । द्रव्यशल्य भी तीन हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र । दास आदि सचित्त द्रव्यशल्य हैं । सुवर्ण आदि अचित्त द्रव्यशल्य हैं । गाँव आदि मिश्र द्रव्यशल्य है । इन तीनोंको द्रव्यशल्य कहते हैं क्योंकि ये चारित्राचारके शल्यके कारण हैं ॥५४१॥

भावशल्यको दूर न करनेमें दोष कहते हैं—

गा०—जो साधु लज्जा अथवा गारवसे एक भी भाव अर्थात् रत्नत्रयके शल्य अर्थात् अतिचारको निकाले बिना मरण करता है, वह मुनि आराधक नहीं है । निरतिचारता ही यतियोंकी आराधना है ॥५४२॥

आगे शिक्षा देते हैं कि अपराध होनेपर तत्काल कहना चाहिए, देर नहीं करना चाहिए—

गा०—टी०—कल या परसों मैं दर्शन, ज्ञान और चारित्रकी शुद्धि करूँगा । ऐसा संकल्प

---

१. कोष्टान्तर्गत पाठो नास्ति—अ० आ० प्रत्योः ।

ततः सशल्यं मरणं तेषां भवति। अत एवोक्तं—'उप्पण्णाणुप्पण्णा माया अणुपुव्वसो णिहंतव्वा' इति ॥—[मूलाचार ७।१२५ ॥] व्याधयः शत्रवः। कर्माणि, चोपेक्षितानि बद्धमूलानि पुनर्न सुखेन विनाश्यन्ते। अथवा अतिचारकालं गतं चिरातिक्रान्तं नैव जानन्ति। ये हि अतिचाराः प्रतिदिनं जातास्तेषां कालं, सन्ध्या रात्रिर्दिनं इत्यादिकं। पश्चादालोचनाकाले गुरुणा [1]पृष्टा वा न वक्तुं जानन्ति विस्मृतत्वाच्चिरातीतस्य। अथागतं स्वतीचारकालं तस्यातिचारस्य। अपिशब्देन क्षेत्रभावौ वातिचारस्य हेतू न जानन्ति न स्मरन्ति। सामान्यवाच्यपि जानाति। इह स्मृतिज्ञान[2]गोचर इति केषांचिद्व्याख्या ॥५४३॥

सशल्यमरणे को दोष इत्याशङ्कायामाचष्टे—

रागद्दोसाभिहदा ससल्लमरणं मरंति जे मूढा।
ते दुक्खसल्लबहुले भमंति संसारकांतारे ॥५४४॥

'रागद्दोसाभिहदा' रागद्वेषाभ्यामभिहताः। 'ससल्लमरणं' सशल्यमरणं। 'मरंति' म्रियन्ते। 'जे मूढा' ये मूढास्ते 'ससारकांतारे भमंति'। ते संसाराटव्यां भ्रमन्ति। कीदृशि? 'दुक्खसल्लबहुले' दुःखानि शल्यवत् दुर्द्धरत्वाच्छल्य इत्युच्यन्ते। दुःखशल्यसङ्कुले ॥५४४॥

शल्योद्धरणे गुणं व्याचष्टे—

तिविहं पि भावसल्लं समुद्धरित्ताण जो कुणदि कालं।
पव्वज्जादी सव्वं स होइ आराधओ मरणे ॥५४५॥

'तिविहंपि' त्रिविधमपि। 'भावसल्लं' भावशल्यं। 'समुद्धरित्ताण' समुद्धृत्य। 'जो कुणदि कालं' यः कालं करोति। कीदृग्भूतं? 'पव्वज्जादी' प्रव्रज्यादिकं। 'सव्वं' सर्वं। 'स होदि' स भवति। 'आराधओ' आराधको दर्शनादीनां। 'मरणे' भवपर्यायप्रच्यवे ॥५४५॥

करनेवाले बीतते हुए आयुकालको नहीं जानते। इसीसे उनका मरण शल्य सहित होता है। इसीसे कहा है—'जैसे ही मायाशल्य उत्पन्न हो, उत्पन्न होते ही उसे आनुपूर्वीक्रमसे नष्ट कर देना चाहिए।' व्याधि, शत्रु और कर्मकी यदि उपेक्षा की जाये तो उनकी जड़ जम जाती है फिर सुखपूर्वक उनका विनाश नहीं होता। अथवा अपराधकी उपेक्षा करनेवाले साधु दोष लगनेके कालको बहुत दिन बीत जानेपर भूल जाते हैं। जो अतिचार प्रतिदिन होते हैं उनका काल सन्ध्यामें अतिचार लगा था या रातमें या दिनमें, इत्यादि भूल जाते हैं। पीछे आलोचना करते समय गुरुके पूछनेपर नहीं कह पाते क्योंकि बहुत काल बीतनेसे भूल जाते हैं। अथवा बीते अतीचारके कालको और 'अपि' शब्दसे अतिचारके हेतु क्षेत्र और भावको नहीं जानते, उन्हें उनका स्मरण नहीं होता। ऐसी किन्हींकी व्याख्या है ॥५४३॥

शल्यसहित मरणमें दोष कहते हैं—

गा०—राग और द्वेषसे पीड़ित जो मूढ़ मुनि शल्यसहित मरते हैं वे दुःखरूपी शल्योंसे भरे संसाररूपी वनमें भटकते हैं। शल्यकी तरह दुर्द्धर होनेसे दुःखोंको शल्य कहा है ॥५४४॥

शल्यको निकालनेमें गुण कहते हैं—

गा०—जो दीक्षा लेनेके दिनसे लेकर तीन प्रकारके सब भावशल्यको निकालकर मरण

---

१. पृष्टातावन्न आ० मु०। २. ज्ञानगोच—ज्ञानागारव आ० मु०।

जे गारवेहिं रहिदा णिस्सल्ला दंसणे चरित्ते य ।
विहरंति मुत्तसंगा खवंति ते सव्वदुक्खाणि ॥५४६॥

'जे गारवेहिं रहिदा' ये गौरवैविरहिता । 'णिस्सल्ला दंसणे चरित्ते य' नि.शल्या सन्तो दर्शने चरित्रे च । 'विहरन्ति' प्रवर्तन्ते । 'मुत्तसंगा' निरस्तमूर्च्छा । ते 'सव्वदुक्खाणि खवंति' ते सर्वाणि दुःखानि क्षपयन्ति ॥५४६॥

तं एवं जाणंतो महंतयं लाभयं सुविहिदाण ।
दंसणचरित्तसुद्धो णिस्सल्लो विहर तो धीर ॥५४७॥

'तं' भवान् । 'एवम्' उक्तप्रकारेण । 'जाणंतो' जानन् । 'महंतगं' महान्त लाभ । 'सुविहिदाणं' सुसंयताना । 'दंसणचरित्तसुद्धो' दर्शने चारित्रे च शुद्धि । तयो शुद्धिर्ज्ञानदर्शनशुद्धिमन्तरेण न भवतीति त्रयाणा शुद्धिरुक्ता । 'णिस्सल्लो' शल्यरहित सन् । 'विहर' चर । 'तो' तस्माद् 'धीर' धैर्योपेत ॥५४७॥

तम्हा सतूलमूलं अविछूढमविप्पुदं अणुव्विग्गो ।
णिम्मोहियमणिगूढं सम्मं आलोचए सव्वं ॥५४८॥

'तम्हा' तस्मात् यस्मात्सशल्यमरणे दोष । नि शल्यमरणे च सकलदु खनिवृत्ति दु खकारणाना कर्मणाम[1]भावात् । 'तम्हा' तस्मात । 'सम्मं सव्वमालोचे' सम्यक् सर्वमतिचार कथयेत् । दु खनिवृत्त्यर्थ[2] मति । कथमालोचयेदित्याशङ्कायामालोचनाविशेषमाह–'सतूलमूलं' तूलमूलाभ्या सहित । 'सव्वं' निरवशेष । 'अविछूढं'-अविस्मृत । 'अविप्पुदं' अद्रुत । 'अणुव्विग्गो' निर्भय । 'णिम्मोहिय' मोहरहित । 'अणिगूढं' अनिगूढ ॥५४८॥

जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं व उज्जुअं भणइ ।
तह आलोचेदव्वं मायामोसं च मोत्तूण ॥५४९॥

करते हैं वे मरते समय दर्शन आदिके आराधक होते हैं ॥५४५॥

गा०—जो तीन प्रकारके गारव और तीन प्रकारके शल्योंसे रहित हो ममत्वभावको त्याग दर्शन ज्ञान और चारित्रमें विहार करते हैं वे सब दुःखोंका क्षय करते हैं ॥५४६॥

गा०—हे धीर ! निरतिचार रत्नत्रयका पालन करनेवाले संयमियोंके ऊपर कहे महान् लाभको जानते हुए तुम दर्शन और चारित्रकी शुद्धि करके शल्यरहित होकर मोक्षमार्गमें प्रवर्तन करो। दर्शन और चारित्रकी शुद्धि ज्ञान और दर्शनकी शुद्धिके बिना नहीं होती। इसलिए दर्शन और चारित्रकी शुद्धिसे दर्शन ज्ञान चारित्र तीनोंकी शुद्धि कही है ॥५४७॥

गा०—यतः शल्यसहित मरणमें दोष है और निःशल्य मरणमें दुःखके कारण कर्मोंका अभाव होनेसे समस्त दुःखोंसे छुटकारा होता है। इसलिए दुःखसे निवृत्तिके लिए दीक्षाके दिनसे लेकर आज तक जो अतिचार लगे हैं वे सब बिना भूल किये, धीरे-धीरे, बिना किसी भय और मोहके सम्यक्‌रूपसे प्रकट करो ॥५४८॥

---

1. भावः–आ० मु० । 2. त्यर्थायति.–अ० । त्यर्थं इति मु० ।

'जह बालो जंपंतो' यथा बालो जल्पन् । **'कज्जमकज्जं व'** कार्यमकार्यं वा । **'भणदि'** वदति । **'उज्जुगं'** ऋजुना क्रमेण । **'तह'** तथा । **'आलोचेदव्वं'** वक्तव्योऽपराध । **'मायामोसं च मोत्तूण'** मनोगतां वक्रतां, वचनगतां, मृषां च मुक्त्वा ॥५४९॥

उपसंहरति प्रस्तुतम्—

दंसणणाणचरित्ते कादूणालोचणं सुपरिसुद्धं ।
णिस्सल्लो कदसुद्धी कमेण सल्लेहणं कुणसु ॥५५०॥

'दंसणणाणचरित्ते' दर्शनज्ञानचरित्रविषयां । **'आलोयणं काढूण'** अपराधमभिधाय । **'सुपरिसुद्ध'** **'णिसल्लो'** मायाशल्यरहितः । **'कयसुद्धो'** कृतगुरुनिरूपितप्रायश्चित्त. । **'कमेण सल्लेहणं कुणसु'** क्रमेण सल्लेखना कुरु ॥५५०॥

तो सो एवं भणिओ अब्भुज्जदमरणणिच्छिदमदीओ ।
सव्वंगजादहासो पीदीए पुलइदसरीरो ॥५५१॥

एव शिक्षितोऽसौ क्षपक **'तो'** तत । **'सो'** आराधक. । **'एवं भणिदो'** एव शिक्षित सूरिणा । **'अब्भुज्जदमरणणिच्छिदमदीओ'** अभ्युद्यते मरणे निश्चितबुद्धि । **'सव्वंगजादहासो'** सर्वांगजातहर्षः । **'पीदीए पुलगिदसरीरो'** प्रीत्या पुलकितशरीर ॥५५१॥

पाचीणोदीचिमुहो चेदियहुत्तो व कुणदि एगंते ।
आलोयणपत्तीयं काउस्सग्गं अणाबाधे ॥५५२॥

'पाचीणोदीचिमुहो' प्राङ्मुख. उदङ्मुखः । **'चेदियहुत्तो व'** चैत्याभिमुखो वा भूत्वा । **'कुणदि काउस्सग्गं'** करोति कायोत्सर्गं । कीदृ [भू]त ? **'आलोयणपत्तीगं'** आलोचनाप्रत्यय आलोचनानिमित्त । कायोत्सर्गं स्थित्वा दोषा यतः स्मर्यन्ते कथयि[तुं], तस्मात्कायोत्सर्गं आलोचनाहेतु. । क्व त करोति ? **'एगंते'** एकान्ते जनरहित-

---

गा०—जैसे बालक बोलते हुए कार्य हो या अकार्य हो, सरलभावसे ही कहता है कुछ छिपाता नही है । वैसे ही साधुको भी मनोगत कुटिलता और वचनगत झूँठको त्यागकर अपना अपराध कहना चाहिए ॥५४९॥

प्रस्तुत चर्याका उपसंहार करते हैं—

गा०—अतः दर्शन ज्ञान और चारित्रसम्बन्धी अपने अपराधोंको कहकर, मायाशल्यसे रहित होकर, गुरुके द्वारा कहा गया प्रायश्चित्त करके क्रमसे सल्लेखना करो ॥५५०॥

गा०—इस प्रकार गुरुके द्वारा शिक्षित किया गया वह क्षपक समाधिमरण करनेका निश्चय करता है । उसके सब अंगोंमें हर्षकी लहर दौड़ती है और प्रीतिसे शरीर रोमांचित हो जाता है ॥५५१॥

गा०-टी०—वह पूरब, उत्तर या जिनबिम्बकी ओर मुख करके जनरहित एकान्त प्रदेशमें जहाँ किसी प्रकारकी बाधाकी सम्भावना नहीं है ऐसे जनरहित एकान्तमें स्थानमे आलोचनाके निमित्त कायोत्सर्ग करता है । यतः कायोत्सर्गसे खड़े होनेपर गुरुसे कहनेके लिए दोषोंका स्मरण

देशे । 'अमार्गे' अमार्गे बहुजनमध्ये एकमुखं न भवति चित्तं । मार्गे स्थितः परकार्यव्याघातकृद्भवति इति मत्वा एकान्ते । अमार्गश्च कायोत्सर्गदेश आख्यातः ॥५५२॥

कायोत्सर्गं किमर्थं करोति आलोचयितुकामः इत्याशङ्कायां कायोत्सर्गस्य उपयोगमाचष्टे—

एवं खु वोसरित्ता देहे वि उवेदि णिम्ममत्तं सो ।
णिम्ममदा णिस्संगो णिस्सल्लो जाइ एयत्तं ॥५५३॥

'एवं खु' इत्यादिका । एवमित्यनन्तरसूत्रनिर्दिष्टक्रमेण । प्राङ्मुख उदङ्मुखश्चैत्याभिमुखो वा । एकान्ते मार्गे । वोसरित्ता त्यक्त्वा किं ? न हि त्याज्यमन्तरेण त्यागो युज्यते । देहमिति चेत् 'देहे वि उवेदि णिम्ममत्तं सो' इति न घटते निर्ममत्वं ननु त्यागः । भिन्नयोः पूर्वापरकालविषययोः क्रिययोर्यत्र एकः कर्ता तत्र पूर्वकाल-क्रियावचनात् क्त्वा विधीयते । अत्रोच्यते वचसा त्यागः 'वोसरित्ता' इत्यनेन उच्यते । मनसा ममायं न भवति देह इति त्याग पश्चात्तन्यते । तेन वाङ्मन करणभेदात्त्यागो भिद्यते । 'णिम्ममदा णिस्संगो' निर्ममतया निस्संगो निष्परिग्रहः । 'णिस्सल्लो' नि परिग्रहत्वादेव निःशल्यः । 'एयत्तं जादि' एकत्वभावना[1] प्रतिपद्यते ॥५५३॥

होता है अतः कायोत्सर्ग आलोचनाका कारण है । बहुतसे लोगोंके मध्यमें चित्त एकाग्र नही होता तथा रास्तेमे खडे होकर कायोत्सर्ग करनेसे दूसरोके कार्यमें बाधा आती है । ऐसा मानकर कायोत्सर्गका स्थान एकान्त और मार्गरहित कहा है ॥५५२॥

आलोचना करनेवाला कायोत्सर्ग क्यो करता है ऐसी शंका होनेपर कायोत्सर्गका उपयोग कहते हैं—

गा०-टी०—इस प्रकार आलोचनाके लिए एकान्त स्थानमें पूरबके सन्मुख अथवा उत्तरके सन्मुख अथवा जिनबिम्बके सन्मुख होकर 'मै शरीरका त्याग करता हूँ' इस प्रकार वचनसे त्याग करके 'यह शरीर मेरा नही है' इस प्रकार मनसे त्याग करता है । अतः वचन और मनके भेदसे त्यागके दो भेद होते हैं । इस प्रकारसे शरीर ममत्व त्यागकर निर्ममत्वको प्राप्त होता है और निर्ममत्वको प्राप्त होनेसे बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रहसे रहित होता है । परिग्रह रहित होनेसे ही निःशल्य होकर एकत्वभावनाको प्राप्त होता है ।

शङ्का—'त्याज्यके विना त्याग नही होता । यदि देहका त्याग करता है तो देहमे भी निर्ममत्व होता है' यह कथन नही घटता । क्योंकि शरीरमे निर्ममत्व ही शरीरका त्याग है । आगे पीछे होनेवाली दो भिन्न क्रियाओंका कर्ता जहाँ एक ही होता है वहाँ पूर्वकालकी क्रियासे 'क्त्वा' (करके) प्रत्यय किया जाता है । शकाकारका अभिप्राय यह है कि गाथामें कहा है कि देहका त्याग करके देहमें निर्ममत्व होता है । किन्तु देहका त्याग और देहमे निर्ममत्व यह भिन्न कार्य नही है निर्ममत्व ही त्याग है । अतः देहका त्याग करके देहमे निर्ममत्व होता है ऐसा कहना ठीक नही है ।

समाधान—'वोसरित्ता' शब्दसे वचनसे त्याग कहा है । उसके पश्चात् ही 'यह शरीर मेरा नहीं है' इस प्रकार मनसे त्याग होता है । अतः वचन और मनके भेदसे त्यागमे भेद होनेसे उक्त कथन घटित होता है ।

---

१ वनाया प्र—अ० ।

तो एयत्तमुवगदो सरेदि सव्वे कदे सगे दोसे ।
आयरियपादमूले उप्पाडिस्सामि सल्लत्ति ॥५५४॥

'एगत्तमुवगदो' एकत्वभावनामुपगतः । निरतिचारज्ञानदर्शनचारित्राण्येवाहं । शरीरमिदमन्यदनुपकारि मम दुःखनिमित्तत्वात्, तद्विनाशे मम किं विनश्यति, कथयितव्योऽयमरातिरिति मन्यमानः, प्रायश्चित्ताचरणे न खिद्यते । मायां च कर्मोदयनिमित्तां हातुं ईहतो मम शुद्धरूपस्येयमशुद्धिरिति । **'तो'** ततः । **'सरेदि'** स्मरति । **'सव्वे'** सर्वेषां । **'कदे'** कृतानां । **'सगे'** स्वकानां । **'दोसे'** दोषाणां । किमर्थं स्मरति ? **'आयरियपादमूले'** आचार्यपादमूले । **'उप्पाडिस्सामि'** उत्पाटयिष्यामि । **'सल्लंति'** दर्शनातिचारमिति ॥५५४॥

स्मृत्वा किं करोति पश्चादित्याशङ्कायामित्याचष्टे—

इय उजुभावमुपगदो सव्वे दोसे सरित्तु तिक्खुत्तो ।
लेस्साहिं विसुज्झंतो उवेदि सल्लं समुद्धरिदुं ॥५५५॥

'इय' एवं । **'उजुभावं उवगदो'** ऋजुभावं उपगतः । **'सव्वे दोसे'** सर्वेषां दोषाणां । **'तिक्खुत्तो सरित्तु'** त्रिःस्मृत्वा । **'लेस्साहिं विसुज्झंतो'** लेश्याभिर्विशुद्धाभिर्विशुद्ध्यन् । **'उवेदि'** ढौकते आचार्यं । **'सल्लं'** शल्यं । **'समुद्धरिदुं'** सम्यगुद्धर्तुं ॥५५५॥

आलोयणादिया पुण होइ पसत्थे य सुद्धभावस्स ।
पुव्वण्हे अवरण्हे व सोमतिहिरिक्खवेलाए ॥५५६॥

'आलोयणादिका' आलोचनप्रतिक्रमणादिका क्रियाः । अथवा **'आलोयणं'** आलोचना । **'दिया'** दिवसे । **'पुण'** पश्चात् । **'होइ'** भवति । क्व ? **'पसत्थे'** प्रशस्ते क्षेत्रे । अनेन क्षेत्रशुद्धिरुक्ता । विसुद्धभावस्स विशुद्धि-

---

विशेषार्थ—इस समय मे आलोचना करता हूं । मेरे सम्यक्त्व आदिमें कोई भी दोष नहीं है । इस प्रकार दोषकी शंकासे मुक्त होकर मैं एक असहाय अथवा नित्य हूँ । यह शरीर मुझसे भिन्न है । दुःखका कारण होनेसे मेरा उपकारी नहीं है । मै तो निरतिचार रत्नत्रयस्वरूप ही हूँ । अतः देहके नाशसे मेरा कुछ भी नष्ट नही होता । मैं तो शुद्ध चिद्रूप हूँ । इस प्रकार एकत्व भावनामय होता है ॥५५३॥

गा०-टी०—एकत्व भावनामय होकर प्रायश्चित्तका आचरण करनेमें खिन्न नहीं होता । कर्मके उदयके निमित्तसे होनेवाली मायाको छोड़नेमें तत्पर होता है । मै शुद्धस्वरूप हूँ । मेरी यह माया अशुद्धि है ऐसा मानता है । अतः यह सम्यग्दर्शनका अतिचार है । मै आचार्यके पादमूलमें अपने दोषोंको जड़मूलसे दूर करूंगा, इस भावनासे अपने द्वारा किये गये सब दोषोंको स्मरण करता है ॥५५४॥

दोषोंके स्मरण करनेके पश्चात् क्या करता है यह कहते हैं—

गा०—इस प्रकार सरलभावको प्राप्त हुआ क्षपक सम्पूर्ण दोषोंको तीन बार स्मरण करके लेश्याओंसे विशुद्ध होता हुआ शल्योंको दूर करनेके लिए आचार्यके पास जाता है ॥५५५॥

गा०—आलोचना प्रतिक्रमण आदि क्रिया विशुद्ध परिणामवाले क्षपकके प्रशस्त क्षेत्रमें

परिणामस्य भावशुद्धिरनेन कथिता। 'पुव्वण्हे' पूर्वाह्णे। 'अवरण्हे व' अपराह्णे वा। 'सोमतिहिरिक्खवेलाए' सौम्ये दिने, नक्षत्रे, वेलायां च ॥५५६॥

एवमादिषु अप्रशस्तेषु देशेषु आलोचनां न प्रतीच्छेत् इति आचार्यशिक्षापरं वचन—

णिप्पत्तकंटइल्लं विज्जुहदं सुक्खरुक्खकडुदड्ढं।
सुण्णघररुद्ददेउलपत्थररासिट्ठियापुंजं ॥५५७॥

'णिप्पत्तकंटइल्लं' निष्पत्रं कण्टकाकुलं। 'विज्जुहदं' अशनिनाहत[1]। 'सुक्खरुक्खकडुदड्ढं' शुष्कवृक्षं, कटुकरसं, 'दड्ढं' दग्धं। 'सुण्णघररुद्ददेउलपत्थररासिट्ठियापुंजं' शून्यं गृहं, रुद्रदेवकुलं, पाषाणराशि, इष्टकापुञ्जं ॥५५७॥

तणपत्तकट्ठछारिय असुइ सुसाणं च भग्गपडिदं वा।
रुद्दाणं खुद्दाणं अधिउत्ताणं च ठाणाणि ॥५५८॥

'तणपत्तकट्ठछारिय असुइसुसाणं च' तृणवत्पत्रवत्काष्ठवत् यत्स्थान। 'असुचिसुसाणं वा' अशुचिश्मशानं वा। भग्नानि पतितानि वा भाजनानि गृहाणि वा यस्मिन् स्थाने तद्भग्नपतित। 'अधिउत्ताणं च ठाणाणि' देवतानां स्थानानि। कीदृशीनां ? 'रुद्दाणं' रौद्राणा। 'खुद्दाणं' क्षुद्राणा स्वल्पकाना ॥५५८॥

अण्णं व एवमादी य अप्पसत्थं हवेज्ज जं ठाणं।
आलोचणं ण पडिच्छदि तत्थ गणी से अविग्घत्थं ॥५५९॥

'अण्णं व' अन्यद्वा स्थानं एवमादिक। 'अप्पसत्थं' अप्रशस्त। 'हवेज्ज' भवेत्। 'जं ठाणं' यत्स्थानं। 'तत्थ' तस्मिन्स्थाने। 'आलोचणं ण पडिच्छदि' आलोचनां न प्रतीच्छति। 'गणी' गणधरः। किमर्थं ? 'से' तस्य क्षपकस्य। 'अविग्घत्थं' अविघ्नार्थं। एतेष्वालोचनायां कृतायां प्रारब्धकार्यसिद्धिर्न भवतीति मत्वा ॥५५९॥

पूर्वाह्ण अथवा अपराह्णकालमें शुभदिन, शुभनक्षत्र और शुभवेलामें होती है। यहाँ प्रशस्त क्षेत्रसे क्षेत्रशुद्धि कही है। विशुद्धपरिणामसे भावशुद्धि कही है तथा शुभदिन आदिसे कालशुद्धि कही है ॥५५६॥

आगे आचार्य शिक्षा देते हैं कि इस प्रकारके अप्रशस्त देशोंमे आलोचना नही करनी चाहिए—

गा०—जहाँ वृक्ष पत्ररहित हो, कण्टक भरे हो, वज्रपात हुआ हो, सूखे वृक्ष हों, कटुक रसवाले हों, दावानलसे जल गये हों तथा शून्य घर, रुद्रदेवका मन्दिर, पत्थरो और ईंटोंका ढेर हो ॥५५७॥

गा०—तृण, पत्र और काष्टसे भरा स्थान, स्मशान, जहाँ टूटे पात्र और खण्डहर हों, चामुण्डा आदि रौद्र देवताओका स्थान, नीचजनोंका स्थान ॥५५८॥

गा०—अन्य भी जो इस प्रकारके अप्रशस्त स्थान हों, वहाँ आचार्य उस क्षपकको निर्विघ्नताके लिए आलोचना नही कराते, क्योकि इन स्थानोंमे आलोचना करनेपर प्रारब्ध कार्यकी सिद्धि नहीं होती ऐसा वे मानते हैं ॥५५९॥

---

१. अशनेनाहतं अ०।

क्व तर्हि आलोचनां प्रतीच्छतीत्यत्राह—

अरहंतसिद्धसागरपउमसरं खीरपुप्फफलभरियं ।
उज्जाणभवणतोरणपासादं णागजक्खघरं ॥५६०॥

'**अरहंतसिद्धसागरपउमसरं**' अर्हद्भिः सिद्धैश्च साहचर्यात्स्थानं अर्हत्सिद्धशब्दाभ्यामिह गृहीतं । अर्हत्सिद्धप्रतिमासाहचर्याद्वा । सागरादिसमीपं स्थानं सामीप्यात्सागरादिशब्देनोच्यते । '**खीरपुप्फफलभरियं**' क्षीरपुष्पफलभरिततरुसामीप्यात् स्थानं क्षीरपुष्पफलभरितमित्युच्यते । '**उज्जाणभवणतोरणपासादं**' उद्यान-भवनं, तोरणं, प्रासाद. । '**णागजक्खघरं**' नागानां यक्षाणां च गृहं ॥५६०॥

अण्णं च एवमादिय सुपसत्थं हवइ जं ठाणं ।
आलोयणं पडिच्छदि तत्थ गणी से अविग्घत्थं ॥५६१॥

सूरिरेवं स्थित्वा आलोचना प्रतिगृह्णातीति कथयति—

पाचीणोदीचिमुहो आयदणमुहो व सुहणिसण्णो हु ।
आलोयणं पडिच्छदि एक्को एक्कस्स विरहम्मि ॥५६२॥

'**पाचीणोदीचिमुहो आयदणमुहो व**' । प्राङ्मुखः उदङ्मुख. । आयतनशब्द स्थानसामान्यवचनोऽपि जिनप्रतिमास्थानवाच्यत्र गृहीतस्तेन जिनायतनाभिमुखो वा । '**सुहणिसण्णो हु**' सुखेनासीन । '**आलोयणं**' आलो-चना । '**पडिच्छदि**' शृणोति । '**एक्को**' एक एव सूरिरेकस्यैवालोचना । '**विरहम्मि**' एकान्ते । तिमिरापसारण-परस्य घर्मरश्मेरुदयदिगिति उदयार्थी तद्वदस्मत्कार्याभ्युदयो यथा स्यादिति लोक. प्राङ्मुखो भवति । सूरेस्तु

तब कहाँ आलोचना स्वीकार करते हैं। यह कहते है—

गा०-टी०—यहाँ अरहंत और सिद्ध शब्दसे अर्हन्तो और सिद्धोंके साहचर्यसे युक्त अथवा अर्हन्त और सिद्धोंकी प्रतिमाके साहचर्यसे युक्त स्थान लिया गया है। सागर आदि शब्दसे सागर आदिके समीपका स्थान लिया गया है। क्षीर, पुष्प और फलोंसे भरे वृक्षोके समीप होनेसे स्थान-को 'क्षीर पुष्पफल भरित' कहा है। अतः अरहतका मन्दिर, सिद्धोंका मन्दिर, समुद्रके समीप, कमलोंके सरोवरके समीप, या जहाँ दूध वाले वृक्ष हो, पुष्पफलोंसे भरे वृक्ष हो, उद्यानमे स्थित भवन हो, तोरण, प्रासाद, नागो और यक्षोंके स्थान ॥५६०॥

गा०—अन्य भी जो सुन्दर स्थान हों वहाँ आचार्य क्षपकको निर्विघ्न समाधिके लिए आलोचना स्वीकार करते है ॥५६१॥

आगे कहते है कि आचार्य इस प्रकार स्थित होकर आलोचना ग्रहण करते हैं—

गा०—पूरबकी ओर अथवा उत्तरकी ओर अथवा जिनमन्दिरकी ओर मुख करके सुख-पूर्वक बैठकर आचार्य एकान्त स्थानमें अकेले ही एक ही क्षपककी आलोचना सुनते है।

टी०—गाथामें आया आयतन शब्द यद्यपि स्थान सामान्यका वाची है फिर भी यहाँ जिन प्रतिमाके स्थानका वाची ग्रहण किया है।

शङ्का—पूरब दिशा अन्धकारको दूर करनेमें तत्पर सूर्यके उदयकी दिशा है इसलिए अपने उदयका इच्छुक व्यक्ति उसीकी तरह हमारे कार्यका अभ्युदय हो इसलिए पूरबकी ओर मुख

कोऽभिप्रायो येन प्राङ्मुखो भवति । प्रारब्धपरानुग्रहणकार्यसिद्धेरङ्गं तद्दिगभिमुखता तिथिवारादिवदिति । उदङ्मुखता तु स्वयंप्रभादितीर्थकृतो विदेहस्थान् चेतसि कृत्वा तदभिमुखतया कार्यसिद्धिरिति । चैत्यायतनाभिमुखताऽपि शुभपरिणामतया कार्यसिद्धेरङ्गं । निर्व्याकुलमासीनस्य यत् श्रवणं तदालोचयितुः सम्माननं । यथा कथंचिच्छ्रवणे मयि अनादरो गुरोरिति नोत्साहः परस्य स्यात् । एक एव शृणुयात्सूरिर्लज्जापरो बहूनां मध्ये नात्मदोषं प्रकटयितुमीहते । चित्तखेदश्चास्य भवति, तथा कथयतः एकस्यैवालोचनां शृणुयात् दुरवधारत्वायुगपदनेकवचनसंदर्भस्य । तद्दोषनिग्रहं नायं वराकः 'पडिच्छदि' । प्रतीच्छति इत्यनेनैवावगतत्वाद्विरहम्मि इति वचनं निरर्थकं । यद्यन्येऽपि तत्र स्युर्न एकेनैव श्रुतं स्यात् । न लज्जत्ययमस्य अपराधश्चास्य अनेनावगत एवेति नान्यस्य सकाशे शृणुयात् इति एतत्सूच्यते । 'विरहम्मि' एकान्ते इति आचार्यशिक्षेति ।।५६२।।

शिष्यस्य आलोचनाक्रममाचष्टे—

काऊण य किरियम्मं पडिलेहणमंजलीकरणसुद्धो ।
आलोएदि सुविहिदो सव्वे दोसे पमोत्तूण ।।५६३।।

'**काऊण य किदिकम्मं**' कृतिकर्म वन्दना पूर्वं कृत्वा । '**पडिलेहणमंजलीकरणसुद्धो**' प्रतिलेखनासहितः

करता है । आचार्य किस अभिप्रायसे पूरबकी ओर मुख करके बैठते हैं ?

समाधान—शुभ तिथि वार आदिकी तरह पूरबकी ओर मुख करना, प्रारम्भ किए गये क्षपक पर अनुग्रह करनेके कार्यकी सिद्धिका अंग है इसलिए आचार्य पूर्वाभिमुख बैठते हैं । विदेह क्षेत्र उत्तर दिशामे है । अतः विदेह क्षेत्रमे स्थित स्वयप्रभ आदि तीर्थंकरोंको चित्तमे स्थापित करके उनके अभिमुख होनेसे कार्यकी सिद्धि होती है इस भावनासे उत्तर दिशाकी ओर मुख करते हैं । जिनालयके अभिमुख होना भी शुभ परिणामरूप होनेसे कार्यसिद्धिका अंग है । व्याकुलता रहित हो बैठकर सुनना आलोचना करने वालेका सन्मान है । जिस किसी प्रकारसे सुननेपर क्षपक समझेगा कि गुरुका मेरे प्रति आदरभाव नही है, इससे उसे उत्साह नही होगा । आचार्यको अकेले ही सुनना चाहिए क्योंकि लज्जालु क्षपक बहुत जनोके बीचमे अपना दोष प्रकट करना नही पसन्द करता । सबके सामने कहते हुए उसके चित्तको खेद भी होना है । आचार्यको एक समयमें एककी ही आलोचना सुनना चाहिए क्योंकि एक साथ अनेक क्षपकोंके वचनोको अवधारण करना कठिन होता है । लोग कहेंगे कि गुरु इसके दोषोका निग्रह करना नही चाहता ।

शंका—उक्त कथनसे ही यह ज्ञान हो जाता है कि गुरु एकाकी आलोचना सुनते हैं । फिर गाथामें 'विरहम्मि' वचन निरर्थक है ?

समाधान—'विरहम्मि' या 'एकान्तमे' पदसे यह सूचित किया है यदि अन्य भी वहाँ हों तो वह एकके द्वारा ही सुना गया नही होगा । सुनने वाले कहेंगे कि यह लज्जित नही होता । इसने इसका अपराध जान ही लिया । अतः अन्यके पास होते हुए आचार्यको आलोचना नही सुनना चाहिए ।।५६२।।

क्षपककी आलोचनाका क्रम कहते है—

१. व गत—आ० मु० ।

प्राञ्जलीकरणशुद्धः । 'आलोएदि' कथयति । 'सुविहिदो' सुचारित्रः । 'सव्वे दोसे' पूर्वदोषान् । 'पमोत्तूण' त्यक्त्वा । आलोचना ॥५६३॥

आलोचनाक्रमं निरूप्य गुणदोसा इत्येतद्व्याख्यानायोत्तरप्रबन्धः—

आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च ।
छण्णं सद्दाउलयं बहुजण अव्वत्त तस्सेवी ॥५६४॥

'आकंपिय' अनुकम्पामात्मनि सम्पाद्य आलोचना । 'अणुमाणिय' गुरोरभिप्रायमुपायेन ज्ञात्वालोचना । 'जं दिट्ठं' यद् दृष्टं दोषजातं परैस्तस्यालोचना । 'बादरं च' यत्स्थूलमतिचारजातं तस्यालोचना । 'सुहुमं च' यत्सूक्ष्ममतिचारजातं तस्यालोचना । 'छण्णं' प्रच्छन्नं अदृष्टलोचना । 'सद्दाउलयं' शब्दा आकुला यस्या आलोचनाया सा शब्दाकुला । बहुजनशब्दः सामान्यविषयोऽपीह गुरुजनबाहुल्ये वर्तते । गुरोरालोचनायाः प्रस्तुतत्वाद्बहूना गुरूणां आलोचना क्रियते सा बहुजनशब्देनोच्यते । 'अव्वत्त' अव्यक्तस्य क्रियमाणा आलोचना । 'तस्सेवी' तानात्मचरितान्दोषान्यः सेवते स तत्सेवी तस्य आलोचना । इदं सूत्रं । अस्य व्याख्यानायोत्तरप्रबन्धः ॥५६४॥

आकम्पिय इत्येतत्सूत्रपदं व्याचष्टे—

भत्तेण व पाणेण व उवकरणेण किरियकम्मकरणेण ।
अणुकंपेऊण गणिं करेइ आलोयणं कोइ ॥५६५॥

'भत्तेण व पाणेण व' स्वयं भिक्षालब्धिसमन्वितत्वात्प्रवर्तको भूत्वा आचार्यस्य प्रासुकेन उद्गमादिदोष-

---

गा०—सुविहित अर्थात् सुचारित्र सम्पन्न क्षपक दक्षिण पार्श्वमें पीछीके साथ हाथोंकी अंजलिको मस्तकसे लगाकर मन वचन कायकी शुद्धि पूर्वक प्रथम गुरुकी वन्दना करके सब दोषोंको त्याग आलोचना करता है ॥५६३॥

विशेषार्थ—पं० आशाधरजीने अपनी टीकामें लिखा है कि गुरुकी वन्दना सिद्धभक्ति और योगभक्तिपूर्वक की जाती है ऐसा वृद्धोंका मत है। किन्तु श्रीचन्द्राचार्य सिद्ध भक्ति, चारित्र-भक्ति और शान्तिभक्ति पूर्वक कहते हैं ॥५६३॥

आलोचनाका क्रम कहकर उसके गुण-दोष कहते हैं—

गा०-टी०-१ आकम्पित-अपने पर गुरुकी कृपा प्राप्त करके आलोचना करना। २ अनुमानित-उपायसे गुरुका अभिप्राय जानकर आलोचना करना। ३. दूसरोंने जो दोष देखा उसकी आलोचना करना। ४ बादर-स्थूल अतिचारकी आलोचना करना। ५ सूक्ष्म अतिचारकी आलोचना करना। ६ छन्न-कोई न देखे इस प्रकार आलोचना करना। ७ शब्दाकुलित-शब्दोंकी भरमार होते समय आलोचना करना। ८ बहुजन शब्द सामान्य वाची होते हुए भी यहाँ गुरुजनोंकी बहुलतामें लिया गया है। गुरुसे आलोचना करनेका प्रकरण होनेसे बहुतसे गुरुओंसे आलोचना करना बहुजन है। ९ अव्यक्तसे आलोचना करना। १० तत्सेवी-जो अपने समान दोषोंका भागी है उससे आलोचना करना। इसका व्याख्यान आगे करेंगे ॥५६४॥

आकम्पित दोषको कहते हैं—

गा०—स्वयं भिक्षालब्धिसे युक्त होनेके कारण प्रवर्तक होकर आचार्यकी उद्गम आदि

रहितेन भक्तेन वा पानेन वा वैयावृत्यं कृत्वा, उपकरणेण कमण्डलुपिच्छादिना । 'किदिकम्मकरणेन' कृतिकर्म-वन्दनया वा । 'आकंपेदूण' अनुकम्पामुत्पाद्य । 'गणि' आचार्य ! 'कोइ आलोयणं करेइ' कश्चित्स्वापराधं कथयति ॥५६५॥

तस्यालोचयतो मनोव्यापारं दर्शयति—

आलोइदं असेसं होहिदि काहिदि अणुग्गहंमेत्ति ।
इय आलोचंतस्स हु पढमो आलोयणादोसो ॥५६६॥

'आलोइदं असेसं होहिदि' निरवशेषं आलोचितं भविष्यति । **'काहिदि'** करिष्यति । **'अणुग्गहं इमोत्ति'** अनुग्रहं ममेति । भक्तादिदानेन कृतोपकारस्य मम तुष्टो गुरुर्न महत्प्रायश्चित्तं प्रयच्छति । अपि तु स्वल्पमेव । महत्प्रायश्चित्तदानभयाभावात्स्थूलं सूक्ष्मं वातिचारं सर्वं कथयामीति । **'इय'** एव । **'आलोचेंतस्स खु'** एवं मनसि कृत्वा आलोचयत. । **'पढमो'** प्रथम । **'आलोयणा दोसो'** आलोचनादोष । कोऽसौ ? अविनयो नाम । यत्किंचिल्लब्ध्वा गुरवस्तुष्यन्ति लघुप्रायश्चित्तदायिनो भविष्यन्तीति स्वबुद्धया असद्दोषाध्यारोपणान्मानसोऽविनयः । अन्ये तु वर्णयन्ति आलोचना च दोषश्च आलोचनादोष । अशुभाभिसन्धिपुरःसरा आलोचना[2] इति यावत् ॥५६६॥

दृष्टान्तमुखेन दुष्टतामालोचनाया दर्शयति—

केदूण विसं पुरिसो पिएज्ज जह कोइ जीविदत्थीओ ।
मण्णंतो हिदमहिदं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥५६७॥

'केदूण विसं पुरिसो' इत्यादिना । **'जह कोइ पुरिसो जीविदत्थी विसं केदूण पिबेज्ज'** इति सम्बन्ध । यथा कश्चित्पुरुषो जीवितार्थी विष कृत्वा पिबति । **'अहिदं'** अहितं कृत्वा । विषपान **'हिदं मण्णतो'** हितमिति

दोषोसे रहित प्रासुक भक्तसे अथवा पानसे अथवा कमंडलु पीछी आदि उपकरणसे अथवा कृतिकर्म वन्दनासे वैयावृत्य करके अपने पर आचार्यको कृपा उत्पन्न करके कोई साधु अपना अपराध कहता है ॥५६५॥

उसके आलोचना करते समय मनकी प्रवृत्ति दिखलाते है—

गा०—टी०—भोजन आदिके दानके द्वारा उपकार करनेसे मुझपर प्रसन्न होकर गुरु महान् प्रायश्चित्त नही देंगे, बल्कि थोड़ा ही देंगे । अतः महान् प्रायश्चित्तका भय न होनेसे मै स्थूल और सूक्ष्म सब अतिचार कहूँगा । इस प्रकार मनमे विचार कर आलोचना करने वालेके अविनय नामक प्रथम आलोचना दोष होता है । जो कुछ प्राप्त करके गुरु प्रसन्न होंगे और वे लघु प्रायश्चित्त देंगे ऐसा अपनी बुद्धिसे असत् दोषका अध्यारोपण करना मानसिक अविनय है । अन्य टीकाकार कहते है—आलोचना और दोष आलोचना दोष है । अशुभ अभिप्रायपूर्वक आलोचना दोष है ॥५६६॥

दृष्टान्त द्वारा आलोचनाकी दुष्टता दिखलाते है—

गा०—टी०—जैसे कोई जीनेका अभिलाषी पुरुष विष खरीद कर पीता है वह अहित करके

---

१. अणुग्गह ममेत्ति आ० । अणुग्गह मिमोत्ति—मु० मूलारा० । २. चना द्रष्टारमालोचनादपि—आ० मु० ।

मन्यमानः । 'तथिमा' तथा इयं । 'सल्लुद्धरणसोधी' मायाशल्योद्धरणशुद्धिः । सामान्यवचनोऽपि शल्यशब्दोऽत्र मायाशल्ये वृत्तः । तस्य उद्धरणं नाम स्वकृतापराधकथनं । आलोचनाशल्योद्धरणमेव शुद्धिरुच्यते ज्ञानदर्शनचारित्रतपसां नैर्मल्यहेतुत्वात् । जीवितार्थिनः हितबुद्धया [1]गृहीताक्रीतविषपानं उपमानं तद्वतीयमालोचना । भक्तपानादिदानेन वन्दनया वा क्रीत्वा गुरु स्वबुद्धया क्रियमाणा न शुद्धि सम्पादयति विषपानमिव जीवितं[2] क्रयणलब्धा च दुष्टता उपमानोपमेययो साधारणो धर्मस्तथाप्युपमानमुपमेयं तयोश्च साधारणं धर्ममाश्रित्य सर्वत्रोपमानोपमेयता । चन्द्रमुखी कन्या इत्यादौ चन्द्र उपमानं, उपमेयं मुखं, वृत्तता सर्वजनमनोवल्लभता च साधारणो धर्मः ॥५६७॥

उपमानान्तरेणापि उपमेयं आलोचनां प्रथयति—

वण्णरसगंधजुत्तं किंपाकफलं जहा दुहविवागं ।
पच्छा णिच्छयकडुयं तथिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥५६८॥

वण्णरस इत्यादि । 'किंपाकफलं वण्णरसगंधजुत्तमवि जहा दुहविवागं' । किंपाकाख्यस्य तरो. फलं । वर्णादिशून्यस्य तरो फलस्या[1]भावादवचनसिद्धेवर्णादियुक्तवचनमतिशयितवर्णादिपरिग्रहं सूचयति । तेनायमर्थ.—नयनप्रियरूपं, मधुरसयुक्तं, घ्राणसुखदं सेवितमिति वाक्यशेष. । 'दुहविपाक' दुःखविपाकं । 'पच्छा' अनुभवांतरकाल । 'णिच्छयकडुग' निश्चयेन कटुक । 'तधिमा' त यथा । 'सल्लुद्धरणसोधी' आलोचनाशुद्धि.

विषपानको हित मानता है । वैसा ही यह माया शल्यको निकालकर शुद्धिका अभिलाषी साधु है । यद्यपि यहाँ शल्य शब्द सामान्य शल्यका वाची है फिर भी यहाँ मायाशल्यका वाचक लिया है । उसका उद्धरण अर्थात् अपने किये अपराधको कहना । शल्यका उद्धरण ही शुद्धि कहा जाता है क्योंकि वह ज्ञान दर्शन और चारित्र तपकी निर्मलतामें कारण है । जोनेके अभिलाषीने हितबुद्धिसे ग्रहण किया खरीदे हुए विषका पान उपमान है । उसीके समान यह आलोचना है । भक्त पान आदि देकर या वन्दनाके द्वारा गुरुको खरीदकर अपनी बुद्धिसे की गई आलोचना शुद्धि नहीं करती जैसे विषपान जीवन नही देता । खरीदकर प्राप्त करना और दुष्टता उपमान और उपमेयका साधारण धर्म है । उपमान उपमेय और उन दोषोंमे पाये जाने वाले साधारण धर्मको लेकर सर्वत्र उपमान उपमेय व्यवहार होता है । जैसे 'चन्द्रमुखी कन्या' आदिमे चन्द्र उपमान है मुख उपमेय है । और गोलपना तथा सब लोगोंके मनको प्रिय होना दोनोंका साधारण धर्म है ॥५६७॥

अन्य उपमानके द्वारा उपमेय आलोचनाको कहते है—

गा०—टी०—किंपाक नामक वृक्षका फल वर्णरसगन्धसे युक्त होनेपर भी जैसे परिणाममें दुःख देता है । वृक्षका फल वर्ण आदिसे शून्य नहीं होता अत. उसका रूपादिमान होना सिद्ध है । फिर भी जो उसे वर्णादियुक्त कहा है वह विशिष्टरूप रसगन्ध आदिका सूचक है । अत यह अर्थ होता है—किंपाक वृक्षका फल नेत्रोंको अत्यन्त प्रियरूपवाला होता है । मधुररससे युक्त होता है और नाकको सुखदायक होता है । परन्तु सेवन करनेपर दुःखकारी होता है उसे खानेसे मृत्यु हो जाती है । अतः सेवन करनेके पश्चात् निश्चयसे कटुक होता है । यह आलोचना शुद्धि

---

१. गृहीता अहिता त्रीत–अ० मु० । २ जीवितविक्रयण लब्धं पान दु–आ० मु० । १. स्याभावादवचन–आ० ।

किंपाकफलोपसेवा उपमानं, उपमेयं आलोचना, दुःखविपाकता साधारणो धर्मः ॥५६८॥

किमिरागकंबलस्स व सोधी अदुरागवत्थसोधीव ।
अवि सा हवेज्ज किहइ ण[1] इमा सल्लुद्धरणसोधी ॥५६९॥

'किमिरागकंबलस्स व' कृमिभुक्ताहारवर्णतन्तुभिस्त कंबल. कृमिरागकबलः । 'तस्स सोधी' विशुद्धिरिव पीतनीलरक्तादीनां अन्यतमवर्णस्य शुक्लतेव । 'अदुरागवत्थसोधीव' जतुवर्णवस्त्रशुद्धिरिव वा यथासौ यत्नेन प्रवर्तमानापि न भवत्येवमियमपीति सधर्मता । 'अहवा' अथ वा । 'अवि सा' कृमिरागकम्बलशुद्धिर्जन्तुरागवस्त्रशुद्धिर्वा 'हवेज्ज' भवेत् । [2]इमा इयं सल्लुद्धरणसोधी मायाशल्योद्धरणशुद्धिर्न भवत्येव ॥५६९॥ इति अणुकंपिय ।

द्वितीयमालोचनादोषमाचष्टे—

धीरपुरिसचिण्णाइं पवददि अदिधम्मिओ व सव्वाइं ।
धण्णा ते भगवंता कुव्वंति तवं विकट्ठं जे ॥५७०॥

'धीरपुरिसचिण्णाइं' धीरैः पुरुषैराचरितानि । 'पवदति' प्रवदति । 'अदिधम्मिगो व' अतीव धार्मिक इव । 'सव्वाइं' सर्वाणि । 'धण्णा' धन्याः पुण्यवन्त. । 'ते भगवंता' माहात्म्यवन्त. । 'जे' ये । 'कुव्वंति' कुर्वन्ति । 'तवं' तप. । 'विकट्ठ' उत्कृष्टं इति वदति ॥५७०॥

भी उसीके समान है। यहाँ किंपाकफलका सेवन उपमान है। आलोचना उपमेय है। परिणाममें दुःख होना दोनोंका साधारण धर्म है ॥५६८॥

गा०-टी०—कीडोंके द्वारा खाये गये आहारके रंगमें रगे धागोंसे बने कम्बलको कृमिराग कम्बल कहते हैं। उसकी विशुद्धिकी तरह, जैसे पीला-नीला-लाल आदिमेंसे कोई एकवर्ण सफेद नहीं होता उसकी तरह कृमिराग कम्बलकी विशुद्धि नही होती। अथवा लाखके रगमें रगे वस्त्रकी शुद्धि बहुत प्रयत्न करनेपर भी नही होती। उसी तरह मायाशल्ययुक्त आलोचनासे भी शुद्धि नही होती। अथवा कृमिराग कम्बलकी शुद्धि और लाखके रंगमें रगे वस्त्रकी शुद्धि हो भी जावे किन्तु यह मायाशल्यके निकलनेरूप शुद्धि नही होती ॥५६९॥

विशेषार्थ—पं० आशाधरजीने अपनी टीकामें कृमिराग कम्बलकी कई व्याख्या दी हैं एक तो उक्त सस्कृत टीका विजयोदया की है। दूसरी टिप्पन की है—कृमिके द्वारा त्यागे गये रक्त आहारसे रजित तन्तुओंसे बना कम्बल कृमिरागकम्बल है। तीसरी व्याख्या प्राकृतटीका की है। उसमें कहा है—उत्तरापथमें चर्मरंग (?) म्लेच्छ देशमे म्लेच्छ जोकोंके द्वारा मनुष्यका रक्त लेकर बरतनोंमे रखते हैं। उस रक्तमें कुछ दिनोंमें कृमि उत्पन्न हो जाते है तब उससे धागोंको रंगकर कम्बल बुनते हैं। उसे कृमिरागकम्बल कहते है। वह अत्यन्त लाल रंगका होता है। आगमें जलानेपर भी वह कृमिराग नही जाता।

दूसरे आलोचना दोषको कहते है—

गा०—आलोचना करनेवाला मुनि अत्यन्त धार्मिककी तरह कहता है—धीर पुरुषोंके द्वारा आचरित उत्कृष्ट तपको जो करते हैं वे धन्य हैं, माहात्म्यशाली हैं ॥५७०॥

---

१. ण माया स—आ० । २. इण इयं ।

थामावहारपासत्थदाए सुहसीलदाए देहेसु ।
वददि णिहीणो हु अहं जं ण समत्थो अणसणस्स ॥५७१॥

'थामावहारपासत्थदाए' बलनिगूहनेन पार्श्वस्थतया च । 'सुहसीलदाए य' सुखशीलतया च । 'तदो' ततः । 'सो' सः । 'वददि' कथयति । 'णिहीणो' जघन्यः । 'अहं' अहकं । 'जं' यस्मात् । 'ण समत्थो' असमर्थोऽस्म्यतः । 'अणसणस्स' अनशनस्य ॥५७१॥

जाणह य मज्झ थामं अंगाणं दुब्बलदा अणारोग्गं ।
णेव समत्थोमि अहं तवं विकट्ठं पि कादुं जे ॥५७२॥

'जाणह य' अस्मद्बलं युष्माभिरवसितमेव । 'अंगाणं दुब्बलदा' उदराग्निदौर्बल्यं । 'अणारोग्गं' रोगवत्तां च । 'अहं तवं विकट्ठं कादुं णेव समत्थोमि' अहं तप उत्कृष्टं कर्तुं नैव समर्थोऽस्मि ॥५७२॥

आलोचेमि य सव्वं जइ मे पच्छा अणुग्गहं कुणह ।
तुज्झ सिरीए इच्छं सोधी जह णिच्छरेज्जामि ॥५७३॥

'आलोचेमि य सव्वं' सर्वमतिचारजातं आलोचयामि । 'जदि पच्छा अणुग्गहं कुणह' मम यदि पश्चादनुग्रहः क्रियते भवद्भिः । 'तुज्झ सिरिए' भवतां श्रिया । 'इच्छं' इच्छामि । 'सोधी' सुद्धिं । 'णिच्छरेज्जामि' निस्तारयिष्याम्यात्मानं ॥५७३॥

अणुमाणेदूण गुरुं एवं आलोचणं तदो पच्छा ।
कुणइ ससल्लं सो से विदिओ आलोयणा दोसो ॥५७४॥

'एवं अणुमाणेदूण' एवं अनुमानेन ज्ञात्वा । गुरुः प्रार्थितः करिष्यति स्वल्पप्रायश्चित्तदानेन ममानुग्रहं इति । 'पच्छा आलोयणं कुणइ' पश्चादालोचनां करोति । 'ससल्लं' [2]शल्यसहितं । 'सो' सः । 'से' तस्य । 'विदिओ' द्वितीय 'आलोयणादोसो' आलोचनादोष. ॥५७४॥

गुणकारि ओत्ति भुंजइ जहा सुहत्थी अपच्छमाहारं ।
पच्छा विवायकडुगं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥५७५॥

गा०—अपनी शक्तिको छिपाने, पार्श्वस्थ मुनि होने तथा शरीरमें सुखशील होनेसे वह कहता है—मैं तो एक जघन्य प्राणी हूँ, उपवास करनेमें असमर्थ हूँ ॥५७१॥

गा०—आप मेरे बलको जानते ही हैं । यह भी जानते हैं कि मेरी उदराग्नि दुर्बल है, मैं रोगी हूँ । अतः मैं उत्कृष्ट तप करनेमें असमर्थ हूँ ॥५७२॥

गा०—मैं समस्त अतिचारोंकी आलोचना करूँ यदि आप उन्हे सुनकर मुझपर कृपा करें अर्थात् लघु प्रायश्चित्त दें । मैं आपकी कृपासे शुद्ध होना चाहता हूँ और शुद्ध होकर अपना निस्तार करूँगा ॥५७३॥

गा०—प्रार्थना करनेपर लघु प्रायश्चित्त देकर गुरु मेरेपर अनुग्रह करेंगे, ऐसा अनुमानसे जानकर पीछे वह शल्यसहित आलोचना करता है । यह दूसरा आलोचना दोष है ॥५७४॥

---

१. गहणिदोब्बलदंब—अ० । मूलाराध० । २. शल्य सहितं—आ० मु०

'गुणकारिओत्ति भुंजइ' गुणमुपकारं करोति इति भुङ्क्ते । **'जहा सुहत्थी'** यथा सुखार्थी । **'अपच्छमाहारं'** अपथ्यमाहारं । कीदृग्भूतं **'पच्छाविवागकडुगं'** भोजनोत्तरकालं विपाककटुकं । **'तधिमा'** तथा इमाः । **'सल्लुद्धरणसोधी'** शल्योद्धरणशुद्धि अपथ्यमाहारं स्वबुद्धया गुणकारीति संकल्प्य यदि नाम भुङ्क्ते तथापि विपाककटुक एवासौ । एवं गुर्वभिप्रायानुमानेन [1]प्रवृत्ता हितबुद्धया गृहीताप्यालोचना अनर्थावहेति । न हि संकल्पवशाद्वस्तुनोऽन्यथाभावः । नापथ्यस्याहारस्य पथ्यतास्ति संकल्पमात्रेण । अणुमाणिय ॥५७५॥

> **जं होदि अण्णदिट्ठं तं आलोचेदि गुरुसयासम्मि ।**
> **अदिट्ठं गूहंतो माइल्लो होदि णायव्वो ॥५७६॥**

'जं अण्णदिट्ठं होदि' यदन्यदृष्टं भवति अपराधजातं । **'तं आलोचेदि'** कथयति । **'गुरुसयासंमि'** गुरुसमीपे । **'अदिट्ठं'** परैरदृष्टं । **'गूहंतो'** प्रच्छादयन् । **'माइल्लो इति णावव्वो होदि'** मायावानिति ज्ञातव्यो भवति ॥५७६॥

> **दिट्ठं व अदिट्ठं वा जदि ण कहेइ परमेण विणएण ।**
> **आयरियपायमूले तदिओ आलोयणादोसो ॥५७७॥**

'दिट्ठं व अदिट्ठं वा' परैर्दृष्टमदृष्टं वापराधं । **'परमेण विणएण जदि ण कहेइ'** प्रकृष्टेन विनयेन यदि न कथयेत् । क्व **'आयरियपायमूले'** आचार्यपादमूले । **'तदिओ आलोयणादोसो'** तृतीय आलोचनादोषः ॥५७७॥

> **जह वालुयाए अवडो पूरदि उक्कीरमाणओ चेव ।**
> **तह कम्मादाणकरी इमा हु सल्लुद्धरणसुद्धी ॥५७८॥**

'जह वालुयाए' यथा वालुकाभि. । **'पूरदि'** पूर्यते । **'अवडो'** वालुकामध्यकृतो गर्त. । **'उक्कीरमाणगो चेव'** उत्कीर्यमाणोऽपि सन् । **'तह कम्मादाणकरी'** तथा कर्मग्रहणकारिणी । **'इमा सल्लुद्धरणसोधी'** इयमालो-

---

गा०—जैसे सुखका इच्छुक पुरुष अपथ्य भोजनको अपनी बुद्धिसे गुणकारी मानकर खाता है तथापि भोजन करनेके पश्चात् उसका परिपाक दुःखदायी होता है। उसीके समान यह अनुमानित दोषसहित शल्यको दूर करके शुद्धि करनेवाला है। अर्थात् अनुमानसे गुरुके अभिप्रायको जानकर हितबुद्धिसे की गई भी आलोचना अनर्थकारी होती है। संकल्पसे वस्तुका अन्यथाभाव नहीं होता। संकल्पमात्रसे अपथ्य आहार पथ्य नहीं हो सकता ॥५७५॥

अनुमानित दोषका कथन हुआ।

गा०—जो अपराध दूसरे ने देख लिया है, गुरुके पासमें उसकी आलोचना करता है। और जो अपराध दूसरोंने नहीं देखा है उसे छिपाता है। वह मायावी है ऐसा जानना ॥५७६॥

गा०—दूसरेके द्वारा देखे गये अथवा न देखे गये, अपराधको यदि आचार्यके पादमूलमें अत्यन्त विनयपूर्वक नहीं कहता तो यह तीसरा आलोचना दोष है ॥५७७॥

गा०—जैसे रेतके मध्यमें गढ़ा खोदने पर वह गढ़ा खोदते खोदते ही रेतसे भर जाता है,

---

१. प्रवृत्तः आ०, प्रवृत्तो मु० । प्रवृत्तहित—मूला० ।

चनाख्या शुद्धिः । मायाशल्यनिराकरणार्थमालोचनायां प्रवृत्तोऽन्यया माययात्मानं प्रच्छादयति । यथा बालुका-विक्षेपो गर्तसंस्कारार्थो वालुकाभिरापूरयति गर्तमिति ॥५७८॥

बादरमालोचेंतो जत्तो जत्तो वदाओ पडिभग्गो ।
सुहुमं पच्छादेंतो जिणवयणपरंमुहो होइ ॥५७९॥

'बादरमालोचेंतो' । अत्रैवं पदसम्बन्धः, 'जत्तो जत्तो वदाओ पडिभग्गो' यस्माद्यस्माद्व्रतात्प्रतिभग्नः । तत्र 'बादरं आलोचेंतो' स्थूलं कथयन् । 'सुहुमं पच्छादेंतो' सूक्ष्मदोषं प्रच्छादयन् । 'जिणवयणपरंमुहो होइ' जिनवचनपराङ्मुखो भवति ॥५७९॥

सुहुमं व बादरं वा जइ ण कहेज्ज विणएण सुगुरूणं ।
आलोचणाए दोसो एसो हु चउत्थओ होदि ॥५८०॥

स्थूलस्य सूक्ष्मस्य वातिचारजातस्यानालोचना चतुर्थो दोष. इति 'सुहुमं व' इत्यस्यार्थ ॥५८०॥

जह कंसियभिंगारो अंतो णीलमइलो बहिं चोक्खो ।
अंतो ससल्लदोसा तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥५८१॥

बादरं ॥४॥ 'जह कंसियभिंगारो' यथा कांस्यरचितो भृङ्गारः । 'अंतो' अभ्यन्तरे । 'णीलमइलो' नील. सन्मलिनः । 'बहिं चोक्खो' बहि. शुद्धः । 'अंतो ससल्लदोसा' अन्तः सशल्यदोषा इमालोचना शुद्धि ॥५८१॥

चंकमणे य ट्ठाणे णिसेज्जउवट्टणे य सयणे य ।
उल्लामाससरक्खे य गब्भिणी बालवत्थाए ॥५८२॥

'चंकमणे' अवश्यायनहुलेन पथा व्याकुलितचित्तो मनागीर्यायामनुपयुक्तो गतवान् । 'ठाणे णिसेज्ज उवट्टणे य सयणे य' प्रमार्जनमकृत्वा स्थान, निषद्या, शय्या च कृता । 'उल्लामाससरक्खे य' [1]आर्द्रगात्राधिक

उसी प्रकार यह आलोचना शुद्धि कर्मोंको लाने वाली है इससे नवीन कर्मोंका बन्ध होता है। आशय यह है कि मायाशल्यके दूर करनेके लिए साधु आलोचना करता हुआ भी अन्य मायासे अपनेको आच्छादित करता है। जैसे गढा बनानेके लिए उसमेसे रेत निकाली जाती है किन्तु उसमें और रेत भर जाती है ॥५७८॥

गा०—जिन-जिन व्रतोंमें जो दोष लगे हों उनमेंसे जो साधु स्थूल दोषोंकी तो आलोचना करता है और सूक्ष्म दोषोंको छिपाता है वह साधु जिनागमसे विमुख होता है ॥५७९॥

गा०—यदि साधु विनयपूर्वक सुगुरुसे सूक्ष्म अथवा बादर दोषको नही कहता तो यह आलोचनाका चतुर्थ दोष है ॥५८०॥

गा०—जैसे कांसेका बना भृगार अन्दरसे नीला और मलिन होता है तथा बाहरसे स्वच्छ होता है वैसे ही यह आलोचना शुद्धि मायाशल्य दोषसे युक्त होती है ॥५८१॥

गा०-टी०—साधु गुरुसे निवेदन करता है—ओससे भीगे हुए मार्गसे ईर्यासमितिकी ओर ध्यान न रखते हुए मैं चला था। उस समय मेरा चित्त व्याकुल था। या प्रतिलेखना किए विना

---

१. आर्द्रायां गा०—आ० मु०।

स्पृष्टं । 'सरक्खे व' सचित्तधूलिसहिते स्थाने स्थितं सुप्तमासितं वा । 'गब्भिणी' गर्भिण्या । 'बालवत्थाए' बालवत्सया वा । दीयमानं गृहीतं इति ॥५८२॥

इय जो दोसं लहुगं समालोचेदि गूहदे थूलं ।
भयमयमायाहिदओ जिणवयणपरंमुहो होदि ॥५८३॥

'इय' एवं । 'जो' यः । 'दोसं' अतिचारं । कीदृग्भूतं ? 'लहुगं' स्वल्पं । 'आलोचेदि' कथयति । 'विणिगूहदि' विनिगूहयति । किं ? 'थूलं' स्थूलं । 'भयमयमायाहिदओ' भयमयमायासहितचित्तः । महतो दोषान्यदि ब्रवीमि महत्प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्तीति भयं, त्यजन्ति मामिति वा । वृथा निरतिचारचरित्रसर्वसमानभङ्गासहः स्थूलान्न शक्नोति वक्तुं । कश्चित्प्रकृत्यैव मायावी सोऽपि न निवदति । 'जिणवयणपरंमुहो होदि' जिनवचनपराङ्मुखो भवति ॥५८३॥

सुहुमं व बादरं वा जइ ण कहेज्ज विणएण स गुरूणं ।
आलायणाए दोसो पंचमओ गुरुसयासे से ॥५८४॥

मायाशल्यस्यागस्य जिनवचनोपदर्शितस्य अकरणात् प्रसिद्धार्था ॥५८४॥

उत्तर गाथा—

रसपीदयं व कडयं अहवा कवडुक्कडं जहा कडयं ।
अहवा जदुपूरिदयं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥५८५॥

'रसपीदगं व कडयं' रसोपलेमात्मनाग्बहि पीतवर्णकटकमिव । 'अथवा कवडुत्तरं' तनुसुवर्णपत्राच्छादितमिव वा अन्तर्निस्सार । 'अथवा जदुपूरिदगं' अन्तश्छिद्र जतुपूर्णकटकमिव । पीनता रसोपलिप्तस्य यथा तथाल्पा शुद्धिरिति प्रथमो दृष्टान्त । गुरुतरपापप्रच्छादनमात्रताप्रकाशनाय द्वितीयो दृष्टान्त । गुरुतर-

---

मे बैठा, या सोया या खड़ा हुआ । या जलादिसे मैने शरीरको छुआ । या सचित्त धूलिसे सहित स्थानमें मैं खड़ा हुआ या बैठा या सोया । अथवा आठ आदि मासका गर्भ धारण करने वाली या जिसे प्रसव किए एक माह भी नही बीता था ऐसी स्त्रीसे मैंने आहार ग्रहण किया ॥५८२॥

गा०—इस प्रकार जो अपने सूक्ष्म दोषको कहता है और भय, मद, माया सहित चित्त होनेसे स्थूल दोषको छिपाता है। यदि मै महान् दोष कहता हूँ तो गुरु मुझे महान् प्रायश्चित्त देंगे या मुझे त्याग देंगे यह भय है। मेरा चारित्र निरतिचार है ऐसा गर्व करके स्थूल दोषोको नही कहता ।

कोई स्वभावसे ही मायावी होनेसे अपने दोषोंको नही कहता । ऐसा करने वाला साधु जिनागमसे विमुख होता है ॥५८३॥

गा०—यदि साधु विनयपूर्वक गुरुके सामने सूक्ष्म अथवा स्थूल दोषको नही कहता तो यह आलोचनाका पाँचवाँ दोष है क्योंकि उसने जिनागममें कहा मायाशल्यका त्याग नही किया ॥५८४॥

गा०-टी०—जैसे सोनेके रसके लेपसे लोहेका कड़ा बाहरसे पीला दिखाई देता है। अथवा जैसे सोनेके पतले पत्रसे ढका लोहेका कडा अन्दरसे निःसार होता है। अथवा लाखसे भरा कड़ा जैसा होता है उन्हीके समान यह आलोचना शुद्धि है। यहाँ तीन दृष्टान्तोंके द्वारा सूक्ष्म दोषकी आलोचनाकी निन्दा की गई है। जैसे सोनेके रससे लिप्त कडा ऊपरसे पीला होता है उसी प्रकार

मयःप्रभृति निस्सारं वस्तु बाह्ये तु सुवर्णपत्रकेन प्रच्छादितं यथा तथा स्वल्पानपराधान्कथयति । पापभीरुता-प्रकर्षोदयं मुनिरित्थं संयत. कथं महत्यतिचारे प्रवर्तत इति प्रत्ययजननाय अंतः[1]साररहितता तृतीयेनोच्यते । सुहुमं ॥५८५॥

जदि मूलगुणे उत्तरगुणे य कस्सइ विराहणा होज्ज ।
पढमे विदिए तदिए चउत्थए पंचमे च वदे ॥५८६॥

यदि मूलगुणे उत्तरगुणे च कस्यचिद्विद्यते मूलगुणे, चारित्रे, तपसि वा अनशनादावुत्तरगुणे अतिचारो भवेत् । अहिंसादिके व्रते ॥५८६॥

को तस्स दिज्जइ तवो केण उवाएण वा हवदि सुद्धो ।
इय पच्छण्णं पुच्छदि पायच्छित्तं करिस्सत्ति ॥५८७॥

'को तस्स दिज्जइ तवो' किं तस्मै दीयते तप. ? **'केण उवाएण होदि वा सुद्धो'** केनोपायेन वा शुद्धो भवतीति । **'पच्छण्णं'** प्रच्छन्नं । **'पुच्छदि'** पृच्छति । आत्मानमुद्दिश्य मयायमपराध. कृतस्तस्य किं प्रायश्चित्त इति न पृच्छति । किमर्थमेवं प्रच्छन्नं पृच्छति । ज्ञात्वा प्रायश्चित्तं करिस्सति करिष्यामि ॥५८७॥

इय पच्छण्णं पुच्छिय साधू जो कुणइ अप्पणो सुद्धिं ।
तो सो जिणेहिं वुत्तो छट्ठो आलोयणा दोसो ॥५८८॥

'इय' एव । **'पच्छण्णं'** प्रच्छन्नं । **'पुच्छिय'** पृष्ट्वा । **'जो साहू'** य. साधु. । **'अप्पणो सोधिं कुणदि'** आत्मनः शुद्धिं करोति । **'सो छट्ठो आलोयणा दोसो वुत्तो जिणेहिं'** । षष्ठोऽसावालोचनादोषस्तस्य भवतीति जिनैरुक्त ॥५८८॥

अल्प शुद्धि होती है यह प्रथम दृष्टान्तका भाव है । गुरुतर पापको ढाँकने मात्रको प्रकट करनेके लिए दूसरा दृष्टान्त है । भारी लोहा वगैरह वस्तु निस्सार होती है, बाहरमें उसे सोनेके पत्रसे जैसे ढाक देते हैं उसी प्रकार वह सूक्ष्म अपराधोंको कहता है । ऐसा वह यह विश्वास उत्पन्न करनेके लिए करता है कि गुरु समझें कि यह मुनि पापसे इतना भयभीत है कि सूक्ष्म पापको भी नहीं छिपाता तब बड़ा पाप कैसे कर सकता है ? तीसरे दृष्टान्तके द्वारा इसे अन्तःसार रहित कहा है ॥५८५॥

गा०—यदि किसीके मूलगुण चारित्र अथवा उत्तर गुण अनशन आदि तपमें या अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह त्याग व्रतमें अतिचार लग जाये ॥५८६॥

गा०—तो उसे कौन सा तप दिया जाता है ? वह किस उपायसे शुद्ध होता है ? ऐसा प्रच्छन्न रूपसे पूछता है । अर्थात् अपनेको लक्ष करके कि मुझसे यह अपराध हुआ है उसका क्या प्रायश्चित्त है ऐसा नहीं पूछता । किन्तु यह जानकर प्रायश्चित्त करूँगा इस भावसे पूछता है ॥५८७॥

गा०—इस प्रकार प्रच्छन्नरूपसे पूछकर जो साधु अपनी शुद्धि करता है उसको छठा आलोचना दोष होता है ऐसा जिनदेवने कहा है ॥५८८॥

---

1. अंतस्सार-अ० ।

धादो हवेज्ज अण्णो जदि अण्णम्मि जिमिदम्मि संतम्मि ।
तो परववदेसकदा सोधी अण्णं विसोधेज्ज ॥५८९॥

'**धावो हवेज्ज अण्णो**' तृप्तो भवेदन्य । '**जदि अण्णम्मि जिमिदम्मि सतम्मि**' यद्यन्यस्मिन्भुक्तवति सति । '**तो**' ततः । '**परववदेसकदा सोधी**' परव्यपदेशकृता शुद्धि । '**अण्णं विसोधेज्ज**' अन्य विशोधयेत् ॥५८९॥

तवसंजमम्मि अण्णेण कदे जदि सुग्गदिं लहदि अण्णो ।
तो परववदेसकदा सोधी सोधिज्ज अण्णंपि ॥५९०॥

स्पष्टोत्तरा गाथा ।

भयतण्हादो उदयं इच्छइ चंदपरिवेसणा कूरं ।
जो सो इच्छइ सोधी अकहंतो अप्पणो दोसे ॥५९१॥

'**भयतण्हादो**' इत्यत्र पदघटनेत्थं । '**जो अप्पणो दोसे अकधेंतो सोधी इच्छइ सो भयतण्हादो उदगं इच्छइ, चंदपरिवेसणे कूरं इच्छइ य**' । य आत्मनो दोषाननभिधाय गुरूणा शुद्धिमिच्छति स मृगतृष्णिकात उदकं वांछति, चन्द्रपरिवेशादशनमिच्छति । निष्फलतासाधर्म्यादिय दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभाव. । छन्नं ॥५९१॥

पक्खियचाउम्मासियसंवच्छरिएसु सोधिकालेसु ।
बहुजणसद्दाउलए कहेदि दोसे जहिच्छाए ॥५९२॥

'**पक्खियचाउम्मासिय**' पक्षाद्यतिचारशुद्धिकालेषु । '**बहुजणसद्दाउलए**' बहुजनशब्दसंकटे । '**जधिच्छाए दोसे कधेदि**' यथेच्छया दोषानात्मीयान्कथयति ॥५९२॥

गा०—यदि अन्यके भोजन करनेपर अन्यको तृप्ति हो तो दूसरेके नामसे की गई विशुद्धि उससे अन्यकी शुद्धि कर सकती है ॥५८९॥

गा०—अन्यके द्वारा तपसयम करनेपर यदि अन्य व्यक्ति सुगतिको प्राप्त हो सकता हो तो दूसरेके नामसे किया गया प्रायश्चित्त भी दूसरेको शुद्ध कर सकता है ॥५९०॥

गा०—जो अपने दोषोंको न कहकर गुरुसे शुद्धि चाहता है वह मरीचिकासे जल और चन्द्रके परिवशसे भोजन प्राप्त करना चाहता है। अर्थात् जैसे मरीचिकासे जल और चन्द्रके परिवेशसे भोजन नही प्राप्त होता उसी तरह अपने दोषोंको कहे विना शुद्धि नही होती। इस तरह निष्फलताकी समानता होनेसे दोनोमे दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकभाव है ॥५९१॥

विशेषार्थ—चन्द्रपरिवेशसे भोजन न मिलनेका अर्थ श्रीचन्द्रके टिप्पणमे इस प्रकार किया है—राजाने चन्द्रनामक रसोइयेको निकाल दिया। यह जानकर उसके परिवारने भोजन करना छोड़ दिया। एक दिन जब राजा भोजनके लिए बैठा तो आकाशमें चन्द्रका परिवेश देखकर लोगोंने कहा चन्द्रका परिवेष (प्रवेश) हो गया। यह सुनकर परिवारने समझा कि राजकुलमे चन्द्रनामक रसोइयेका प्रवेश हो गया। वह भोजनके लिए गया किन्तु भोजन नही मिला ॥५९१॥

गा०—पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रायश्चित्तके समय जब सब मुनिगण अपने-अपने दोष निवेदन करते हैं और इस तरह बहुतसे मनुष्योंके शब्दोंका कोलाहल होता है उस समय जा मुनि अपनी इच्छानुसार दोषको कहता है ॥५९२॥

इय अव्वत्तं जइ सावेंतो दोसे कहेइ सगुरूणं ।
आलोचणाए दोसो सत्तमओ सो गुरुसयासे ॥५९३॥

'यदि इय अव्वत्तं सावेंतो दोसे कहेइ सगुरूणं' यद्येवमव्यक्तं श्रावयन्दोषान्कथयति स्वगुरुभ्यः । 'सत्तमगो आलोयणादोसो' सप्तम आलोचनादोषः । 'गुरुसयासे' गुरुसमीपे प्रवृत्तो भवति ॥५९३॥

अरहट्टघडीसरिसी अहवा चुंदच्छुदोवमा होइ ।
भिण्णघडसरिच्छा वा इमा हु सल्लुद्धरणसोधी ॥५९४॥

'अरहट्टघडीसरिसी' अरगर्तघटीसदृशी यथा घटी पूर्णाप्यपूर्णा । एवमपराधकथनं स्वमुखेन प्रवृत्तमपि अप्रवृत्तमेव गुरुणा अश्रुतत्वात् । 'अहवा चुंदच्छुदोवमा होइ' अथवा मंथनचर्मपालिका इव, सा यथा मुक्तापि बध्नाति एवमिय वाङ् मुखकुहरमुक्तापि मायाशल्यसहितेति बध्नाति । 'भिन्नघडसरिच्छा वा' भिन्नघटसदृशी वा । यथा भिन्नो घटो घटकार्यं जलधारणं जलाद्यानयनं वा कर्तुमसमर्थ एवमियमालोचना न निर्जरा संपादयतीति साधर्म्यं । सद्दाउलय ॥५९४॥

आयरियपादमूले हु उवगदो वंदिऊण तिविहेण ।
कोई आलोचेज्ज हु सव्वे दोसे जहावत्ते ॥५९५॥

'आयरियपादमूले उवगदो' आचार्यपादमूलमुपगतः । 'तिविधेन वंदित्तूण' मनोवाक्कायशुद्धया वन्दना कृत्वा । 'कोई' कश्चित् । 'आलोएज्ज हु' कथयेत् । 'सव्वे दोसे जहावत्ते' सर्वान्दोषान्स्थूलान्सूक्ष्मांश्च [1]यथावृत्तान्मनोवाक्कायक्रियारूपान् कृतकारितानुमतभेदान् ॥५९५॥

तो दंसणचरणाधारएहिं सुत्तत्थमुव्वहंतेहिं ।
पवयणकुसलेहिं जहारिहं तवो तेहिं से दिण्णो ॥५९६॥

गा०—यदि अपने गुरुओंको स्पष्टरूपसे सुनाई न दे इस प्रकार दोषोको कहता है तो गुरुके निकट शब्दाकुल नामक सातवें आलोचना दोषका भागी होता है ॥५९३॥

गा०-टी०—जैसे रहटमें लगी हुई पानी भरनेकी घटिकाएँ भरकर भी रीति होती जाती हैं उसी प्रकार वह आलोचना करनेवाला मुनि है। वह अपने मुखसे अपराध प्रकट करनेके लिए प्रवृत्त हुआ भी अप्रवृत्त ही है क्योकि गुरुने उसे नही सुना। अथवा वह मन्थन चर्मपालिकाके समान है। जैसे मथानी डोरीसे छूटते हुए भी डोरीसे बँधती जाती है उसी प्रकार उसकी आलोचनावाणी मुखरूपी गर्तसे छूटकर भी मायाशल्यसे सहित होनेसे कर्मसे बद्ध करती है। अथवा फूटे घटके समान है। जैसे फूटा घड़ा घटका कार्य जलधारण अथवा जल आदिका लाना करनेमें असमर्थ होता है। उसी प्रकार यह आलोचना निर्जरारूप कार्यको नही करती। यह इन दृष्टान्तोंमें और दार्ष्टान्तिमें समानता है। यह शब्दाकुलित नामक सातवाँ आलोचना दोष है ॥५९४॥

गा०—कोई साधु आचार्यके पादमूलमें आकर, मनवचनकायकी शुद्धिपूर्वक वन्दना करके मनवचनकाय और कृतकारित अनुमोदनाके भेदरूप सब स्थूल और सूक्ष्म दोषोंको कहता है ॥५९५॥

---

1. यथावृत्तं अ० ।

'तो' पश्चात् आलोचनोत्तरकालं । **'दंसणचरणाधारएहिं'** समीचीनदर्शनचारित्रधारणोद्यतैः । **'सुत्तत्थमुव्वहंतेहिं'** सूत्रार्थमुद्वहद्भिः । **'पवयणकुसलेहिं'** सूत्रार्थमुद्वहद्भिरित्यनेनैव गतत्वात्किमनेन 'प्रवचनकुशलैः' इति । अयमभिप्रायः—प्रायश्चित्तग्रन्थवृत्ति' प्रवचनशब्दः तेन प्रायश्चित्तकुशलैरित्यर्थः । अन्यशास्त्रज्ञो ऽपि न शोधयति न चेत्प्रायश्चित्तज्ञः इति प्राधान्यकथनार्थं पृथगुपादानं । **'तेहिं'** तैः । **'से'** तस्मै । **'जधारिहं तवो दिण्णो'** अपराधानुरूपं तपो दत्तं । तपोग्रहणं प्रायश्चित्तोपलक्षणार्थं तेन प्रायश्चित्त दत्त इत्यर्थः ॥५९६॥

[2]णवमम्मि य जं पुव्वे भणिदं कप्पे तहेव ववहारो ।
अंगेसु सेसएसु य पइण्णए चावि तं दिण्णं ॥५९७॥

तेसिं असद्दहंतो आइरियाणं पुणो वि अण्णाणं ।
जइ पुच्छइ सो आलोयणाए दोसो हु अट्ठमओ ॥५९८॥

'तेसिं' तेषा । **'आयरियाणं'** आचार्याणा वचन । **'असद्दहंतो'** अश्रद्दधानः । **'पुणो वि जदि'** पुनरपि यदि पृच्छत्यन्यानसौ । **'अट्ठमगो आलोयणादोसो'** सोऽष्टम आलोचनादोष ॥५९७-९८॥

पगुणो वणो ससल्लं जध पच्छा आदुरं ण तावेदि ।
बहुवेदणाहिं बहुसो तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥५९९॥

'पगुणो वणो' प्रगुणं वा व्रण उपचित । **'ससल्लं'** शल्यसहित । **'पच्छा'** पश्चात् । **'आदुरं'** व्याधित । **'किमु न तावेदि'** किमु न तापयति तापयत्येव । **'बहुवेदणाहिं'** बह्वीभिर्वेदनाभि । **'बहुसो'** बहुशः[3] । **'तधिमा'**

गा०-टी०—आलोचनाके पश्चात् सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रके धारण करनेमे तत्पर, सूत्रोके अर्थको वहन करनेवाले और प्रवचन कुशल आचार्योंने उसे अपराधके अनुरूप तप दिया । यहाँ तपका ग्रहण प्रायश्चित्तके उपलक्षणके लिए है अतः आचार्योंने उसे प्रायश्चित्त दिया ।

शङ्का—सूत्रके अर्थको वहन करनेसे प्रवचनकुशलका भाव आ जाता है फिर उसे अलग ग्रहण क्यों किया ?

समाधान—इसका अभिप्राय यह है कि यहाँ प्रवचन शब्दका अर्थ प्रायश्चित्तग्रन्थ है । अत· उसका अर्थ होता है प्रायश्चित्तशास्त्रमे कुशल । अन्य शास्त्रोंका ज्ञाता होते हुए भी यदि प्रायश्चित्तका ज्ञाता नही है तो दोषका शोधन नही कर सकता । इसलिए प्रायश्चित्तकी प्रधानता कहनेके लिए 'वचनकुशल' पदका अलगसे ग्रहण किया है ॥५९६॥

गा०—प्रत्याख्यान नामक नवम पूर्वमें तथा कल्प और व्यवहार नामक अग बाह्यमें, तथा शेष अंगो और प्रकीर्णकोंमें जो प्रायश्चित्तका कथन है तदनुसार ही आचार्यने उसे प्रायश्चित्त दिया ॥५९७॥

गा०—किन्तु वह साधु उन आचार्योंके वचनोंपर श्रद्धान न करके फिर भी यदि अन्य आचार्योंसे पूछता है तो यह आलोचनाका आठवाँ दोष है ॥५९८॥

गा०—ऊपरसे अच्छा हुआ किन्तु भीतरमे कील सहित घाव पीछे बढ़कर क्या बहुत कष्ट

---

१. ज्ञो न ददाति न चेत् आ० मु० । २. अ० ज० प्रति में यह गाथा नही है । ३. शः । यथा तथा इमा स—अ० आ० ।

तथा इयं । 'सल्लुद्धरणसोधी' आलोचनाशुद्धिः । मायामृषापरित्यागेन कृता अतिशोभना सदृवृत्ता दोषा[1] गुरुदत्तप्रायश्चित्ताश्रद्धानशल्यसमन्वितत्वाद्दुःखावह[2]त्वात् । बहुजण ॥५९९॥

आगमदो वा बालो परियाएण व हवेज्ज जो बालो ।
तस्स सगं दुच्चरियं आलोचेदूण बालमदी ॥६००॥

'आगमदो वा बालो' आगमेन ज्ञानेन वा बालः । 'परियाएण व हवेज्ज जो बालो' चारित्रबालो वा यो भवेत् । यः स 'तस्स' तस्मै । 'सगं दुच्चरियं' आत्मीयमतिचारं । 'आलोचेदूण बालमदी' उक्त्वा बालबुद्धि· ॥६००॥

आलोचिदं असेसं सव्वं एदं मएत्ति जाणादि ।
बालस्सालोचेंतो णवमो आलोचणा दोसो ॥६०१॥

'आलोचिदं' कथितं । 'असेसं सव्वं' निरवशेषं सर्वं । मनोवाक्कायकृतोऽतिचारः सर्वशब्देन उच्यते । कृतकारितानुमतविकल्पा अशेषा इत्याख्यायन्ते । 'मएत्ति जाणादि' मयेति जानाति । 'बालस्सालोचेंतो' ज्ञानबालाय चारित्रबालाय वा कथयति । 'णवमो आलोयणादोसो' नवम आलोचनादोषः ॥६०१॥

कूडहिरण्णं जह णिच्छएण दुज्जणकदा जहा मेत्ती ।
पच्छा होदि अपत्थं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥६०२॥

कूडहिरण्णं जह पच्छा अपत्था णिच्छएण होदित्ति पदघटना । यथा कूटहिरण्य धनमिति गृहीतं पश्चादपथ्यं निश्चयतो भवति अभिमतद्रव्यग्रहणे अनुपायत्वात् । एवमपि इयमपि बालस्य क्रियमाणालोचना अनुरूपप्रायश्चित्तप्राप्ती अनुपायत्वात् सदृशी । न ज्ञानबाल· परार्थयोग्यप्रायश्चित्तं दातुं क्षम । 'दुज्जणकदा व मेत्ती'

नहीं देता ? देता ही है । उक्त आलोचना भी उसी धावकी तरह है । यद्यपि यह आलोचना माया और असत्यको त्यागकर की जानेसे अति सुन्दर है, दोष रहित है । तथापि गुरुके द्वारा दिए गये प्रायश्चित्तके प्रति अश्रद्धान रूपी शल्यसे युक्त होनेसे दुःखदायी है । यह बहुजन नामक दोष है ॥५९९॥

गा०—जो मुनि आगम अर्थात् ज्ञानसे बालक है अथवा जो चारित्रसे बालक है अर्थात् जिसे शास्त्रज्ञान भी नहीं है और चारित्र भी जिसका हीन है उसके सन्मुख जो अज्ञानी अपने दोषकी आलोचना करता है ॥६००॥

गा०—और मैंने अपने मन वचन काय तथा कृत कारित अनुमोदनासे किए सब दोष कह दिये, ऐसा जानता है । इस प्रकार ज्ञान बालक और चारित्र बालक मुनिसे दोषोंका निवेदन करना नौवाँ आलोचना दोष है । इसे अव्यक्त दोष कहते है ॥६०१॥

गा०-टी०—जैसे नकली सोनेको धन समझकर ग्रहण करे तो पीछेसे वह निश्चय ही अहितकर होता है क्योंकि उससे यदि कुछ इच्छित वस्तु खरीदना चाहे तो नहीं खरीद सकते । इसी प्रकार बालमुनिके सन्मुख की गई आलोचना भी अनुरूप प्रायश्चित्तकी प्राप्तिका उपाय न होनेसे नकली सोनेके ही समान अहितकारी है । क्योंकि ज्ञानसे बालमुनि परमार्थके योग्य प्रायश्चित्त

---

१. संवृतदोषापि—मूलारा० । २ दुःखावहा—आ० ।

जहा पच्छा होइ अपत्थं इति सम्बन्धः कार्यः । दुर्जने कृता मैत्री यथा न पथ्य, दु.ख प्रयच्छतीति एवं चारित्र-बालस्य संयमोभयविकलस्य कृतापि प्रायश्चित्तालाभमूला अनेकानर्थावहेति भाव. ।।६०२।।

पासत्थो पासत्थस्स अणुगदो दुक्कडं परिकहेइ ।
एसो वि मज्झसरिसो सव्वत्थवि दोससंचइओ ।।६०३।।

'पासत्थो पासत्थस्स' पार्श्वस्थः पार्श्वस्थमनुगतः । 'दुक्कडं परिकहेदि' दुष्कृत परिकथयति । 'एसो वि' एषोऽपि । 'मज्झसरिसो' मत्सदृश । 'सव्वत्थ वि' सर्वेष्वपि व्रतेषु । 'दोससंचइओ' दोषसंचयोद्यतः ।।६०३।।

जाणइ य मज्झ एसो सुहसीलत्तं च सव्वदोसे य ।
तो एस मे ण दाहिदि पायच्छित्तं महल्लत्ति ।।६०४।।

'एसो मज्झ सुहसीलत्तं जाणदि' एष मम दुःखासहत्व वेत्ति । [1]'सव्वदोसे य जाणदि' सर्वाश्च व्रतातिचारानवगच्छति । 'तो' तस्मात् । 'एस मे न दाहिदि' एष मे न दास्यति । 'महल्लं पायच्छित्तत्ति' महत्प्रायश्चित्तमिति मत्वा कथयतीति सम्बन्ध. ।।६०४।।

आलोचिदं असेसं सव्वं एदं मएत्ति जाणादि ।
सो पवयणपडिकुद्धो दसमो आलोचणा दोसो ।।६०५।।

स्पष्टार्था ।।६०५।।

उत्तर गाथा—

जह कोइ लोहिदकयं वत्थं धोवेज्ज लोहिदेणेव ।
ण य तं होदि विसुद्धं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ।।६०६।।

'जह कोइ लोहिदकयं' करोति क्रियासामान्यवाची इह लेपे वर्तते तेनायमर्थ—यथा कश्चिल्लोहितेन लिप्तं वस्त्र । 'धोवेज्ज' प्रक्षालयेत् । 'लोहिदेणेव' लोहितेनैव । 'ण य तं हवदि विसुद्धं' नैतद् भवति विसुद्धं ।

देनेमें समर्थ नही होता । अथवा जैसे दुर्जनसे की गई मित्रता हितकर नहीं होती, दुःखदायक होती है उसी प्रकार प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयमसे रहित चारित्र बालमुनिके सन्मुख की गई भी आलोचना प्रायश्चित्तका लाभ न होनेसे अनेक अनर्थोंको लानेवाली है ।।६०२।।

गा०—पार्श्वस्थमुनि पार्श्वस्थमुनिके पास जाकर अपने दोषोंको कहता है । वह जानता है कि यह भी मेरे समान है । सब व्रतोंमें दोषोंसे भरा है ।।६०३।।

गा०—यह मेरी सुखशीलताको जानता है कि मैं दुःख सहन नही कर सकता । मेरे सब व्रतोंके दोषोंको भी यह जानता है । अतः यह मुझे बडा प्रायश्चित्त नही देगा । यह मानकर वह उससे अपने दोष कहता है ।।६०४।।

गा०—यह पार्श्वस्थमुनि मेरे द्वारा कहे सब दोषोंको जानता है ऐसा मानकर उससे प्रायश्चित्त लेना आगमसे निषिद्ध है । और यह आलोचनाका दसवाँ दोष है ।।६०५।।

गा०—जैसे कोई रुधिरसे सने हुए वस्त्रको रुधिरसे ही धोता है तो वह विशुद्ध नहीं होता ।

---

१. सव्वदोसे य जानाति सर्वदोषांश्च । तो—मु० ।

'तथिमा सल्लुद्धरणसोधी' आलोचनाशुद्धिः दोषं न निरस्यति । तद्विलक्षणं वस्तु यथा निर्मलजलं पङ्कं वस्त्रस्य न तु लोहितेन लिप्तं वस्त्रं शोधयति तथाभूतमेव लोहितं । एवमतीचाराशुद्धिः अशुद्धरत्नत्रयोद्देशप्रवृत्तेः अशुद्धयालोचनया न निराक्रियते इति साधर्म्यनियोजना ॥६०६॥

पवयणणिण्हवयाणं जह दुक्कडपावयं करेंताणं ।
सिद्धिगमणमइदूरं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥६०७॥

'पवयणणिह्नुवयाणं' जिनप्रणीतवचननिह्नवकारिणा । 'दुक्कडपावयं करेंताणं' दुष्करपापकारिणा । 'जह सिद्धिगमणमइदूरं' यथा सिद्धगमनमतिदुष्करं । तस्सेवी वदं ॥६०७॥

सो दस वि तदो दोसे भयमायामोसमाणलज्जाओ ।
णिज्जूहिय संसुद्धो करेदि आलोयणं विधिणा ॥६०८॥

'सो' क्षपक. । 'तदो' ततः आलोचनया दुष्टया शुद्धेरभावात् । 'दोसे णिज्जूहिय' दोषांस्त्यक्त्वा । 'दस वि' दशापि । 'भयमायामोसमाणलज्जाओ' भयं माया मनोगतां मृषा वचनगतां, मानं लज्जा च त्यक्त्वा । 'संशुद्धो' सम्यक्शुद्धः । विधिना आलोयणं करेदि' विधिना आलोचनां करोति ॥६०८॥

कोऽसावालोचनाविधिरित्याशंक्याहः—

णट्टचलवलियगिहिभासमूगदद्दुरसरं च मोत्तूण ।
आलोचेदि विणीदो सम्मं गुरुणो अहिमुहत्थो ॥६०९॥

'णट्टचलवलियगिहिभासमूगदद्दुरसरं च' हस्तनर्तनं, भ्रूक्षेपं, चलनं गात्रस्य, वलितं, गृहिवचनं, मूकवत्संज्ञाकरण, घर्घरस्वरं च मुक्त्वा । 'आलोचेदि' कथयति । 'विणीदो' कृताञ्जलिपुटोऽवनतशिरस्कः । 'अद्दुदं' अद्रुत । अविलम्बितं । स्पष्ट । 'गुरुणो अहिमुहत्थो' गुरोरभिमुखः ॥६०९॥

उसी तरह यह आलोचना शुद्धि दोषको दूर नहीं करती । उसके विपरीत निर्मल जल वस्त्रमें लगे कीचड़को दूर करता है । किन्तु रुधिरसे लिप्त वस्त्रको रुधिर शुद्ध नहीं कर सकता । इसी प्रकार अशुद्ध रत्नत्रयवाले मुनिसे की गई अशुद्ध आलोचनासे अतीचार सम्बन्धी अशुद्धि दूर नहीं होती । इस प्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्तमें समानता जानना ॥६०६॥

गा०—जैसे जिन भगवान्‌के वचनोंका लोप करनेवाले और दुष्कर पाप करनेवालोंका मुक्तिगमन अति दुष्कर है उसी प्रकार पार्श्वस्थ मुनिसे दोषोंको कहनेवालोंकी शुद्धि अति दुष्कर है । यह तत्सेवी नामक दसवें दोषका कथन हुआ ॥६०७॥

गा०—सदोष आलोचनासे शुद्धि नहीं होती, इसलिए निर्यापकाचार्यके पादमूलमें उपस्थित क्षपक दसों दोषोंको तथा भय, माया, असत्यवचन, मान और लज्जाको त्यागकर सम्यक्प्रकारसे शुद्ध होकर विधिपूर्वक आलोचना करता है ॥६०८॥

वह आलोचनाकी विधि क्या है, यह कहते हैं—

गा०—हाथका नचाना, भौं मटकाना, शरीरको मोड़ना, गृहस्थकी तरह बोलना, गूँगेकी तरह संकेत करना और घर्घर स्वरको त्याग कर, दोनों हाथोंकी अंजली बनाकर, सिर नवाकर गुरुके सामने उनकी बायीं ओर एक हाथ दूर गवासनसे बैठकर, न अति जल्दीमें और न अति रुकरुक कर स्पष्ट आलोचना करता है ॥६०९॥

पुढविदगागणिपवणे य बीयपत्तेयणंतकाए य।
विगतिगचदुपंचिंदियसत्तारंभे अणेयविहे ॥६१०॥

'पुढविदगागणिपवणे य' पृथिव्यामुदकेऽग्नौ पवने च। 'बीअपत्तेयणंतकाए य' बीजे प्रत्येककाये च वनस्पतौ। 'विगतिगचदुपंचिंदियसत्तारंभे' द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियसत्त्वविषये चारम्भे। 'अणेगविधे' अनेकप्रकारे। पृथिव्या मृत्तिकोपलशर्करासिकतालवणा[1]भ्रकमित्यादिकायाः खननं, विलेखन, दहनं, कुट्टन, भञ्जनं इत्यादिकयारम्भः। उदककरकावश्यायतुषारादीनां अब्भेदाना पानं, स्नानमवगाहनं, तरण हस्तेन, पादेन, गात्रेण वा मर्दनं इत्यादिकं। [2]अग्निज्वाला, प्रदीप. उल्मुकं इत्यादिकस्य तेजसः उपर्युदकस्य, पाषाणस्य, मृत्तिकायाः सिकताया वा प्रक्षेपणं, पाषाणकाष्ठादिभिर्हननं इत्यादिकं। झंझामण्डलिकादौ वायौ वातिव्यंजनेन, तालवृन्तेन, शूर्पेण, चेलादिना वा समीरणोत्थापनादिक. वाते वाभिगमन। बीजाना प्रत्येककायाना अनन्तकायाना च वृक्षवल्लीगुल्मलतातृणपुष्पफलादीनां दहन, छेदनं, मर्दनं, भञ्जनं, स्पर्शनं, भक्षणमित्यादिक। द्वीन्द्रियादीनां मारणं, छेदनं, ताडनं, बन्धनं, रोधनमित्यादिकं ॥६१०॥

पिंडोवधिसेज्जाए गिहिमत्तणिसेज्जवाकुसे लिंगे।
तेणिक्कराइभत्ते मेहुणपरिग्गहे मोसे ॥६११॥

'पिंडोवधिसेज्जाए' पिण्डे, उपकरणे, वसतौ च उद्गमोत्पादनैषणादानातिचार। 'गिहिमत्तणिसेज्जवाकुसे लिंगे'। गृहस्थानां भाजनेषु कुम्भकरकशरावादिषु कस्यचिन्निक्षेपणं, तैर्वा कस्यचिदादान च चारित्रातिचारः। दुःप्रतिलेख्यत्वाच्छोधयितुमशक्यत्वाच्च। पीठिकायामासन्धा, खट्वाया, मञ्चे वा आसनं निषद्यो-

---

गा०—टी०—पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येककायिक वनस्पति, साधारणकायिक वनस्पति, दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीवसम्बन्धी अनेक प्रकारके आरम्भ की आलोचना करता है। मिट्टी, पत्थर, शर्करा, रेत, नमक इत्यादिका खोदना, हलसे जोतना, जलाना, कूटना, तोड़ना आदि पृथिवी सम्बन्धी आरम्भ हैं। जल, बर्फ, ओस, तुषार आदि पानीके भेदोंका पीना, स्नान, अवगाहन, तैरना, हाथ पैर या शरीरसे मर्दन करना आदि जलसम्बन्धी आरम्भ है। आग, ज्वाला, दीपक, उल्मुक इत्यादि आगके ऊपर पानी, पत्थर, मिट्टी, अथवा रेत फेंकना या पत्थर लकड़ी आदिसे आगको पीटना आगसम्बन्धी आरम्भ है। झंझा और माण्डलिक आदि वायुको ताड़के पत्रसे, सूपसे, लकड़ी आदिसे रोकना, या पंखे आदिसे हवा करना, वायुके सन्मुख गमन करना ये सब वायुकायसम्बन्धी आरम्भ हैं। बीज, प्रत्येक काय और अनन्तकाय वृक्ष, लता, बेल, झाड़ी, तृण, पुष्पफल आदिको जलाना, छेदना, मसलना, तोड़ना, छूना, खाना आदि वनस्पतिकाय सम्बन्धी आरम्भ है। दो इन्द्रिय आदि जीवोंको मारना, छेदना, पीटना, बाँधना, रोकना आदि दो इन्द्रिय आदि सम्बन्धी आरम्भ हैं। ये सब आरम्भ मुझसे हुए हैं ॥६१०॥

गा०—टी०—भोजन, उपकरण और वसतिमें उद्गम, उत्पादन और एषणासम्बन्धी अतिचार होते हैं। गृहस्थोंके पात्र घट, झारी, सकोरा आदिमें किसी वस्तुका निक्षेपण करना अथवा उनके द्वारा किसी वस्तुका ग्रहण चारित्रसम्बन्धी अतिचार हैं क्योंकि उन पात्रोंकी प्रति-

---

१. णाभ्रकमि—आ० मु०। लवणवज्रादिकाया मूलारा०। २. अग्नेर्ज्वाला आ० मु०।

क्ष्यते । पीठिकादिष्वनेकच्छिद्राकुलासु दुःप्रेक्ष्याः प्राणिनो दृष्टाश्च नापकर्तुं शक्यन्ते । ततोऽहिंसाव्रतातिचारः । तथा चोक्तम्—

पीठिकासंदपल्लंके [1]मंचए मासए तथा । अणाचरिदमज्जाणं आसिदुं सइदुं पि वा ॥
गंभीरवासिणो पाणा दुप्पेक्खा दुव्विकिंचणा । तम्हा दुप्पडिलेहं च वज्जए पढमव्वए ॥ [ ]

अथवा गोचरप्रविष्टस्य गृहेषु निषद्याया कस्तत्र दोष इति चेत् ब्रह्मचर्यस्य विनाशः स्त्रीभिः सह संवासात् ? असकृत्तदीयकुचतटबिम्बाधरादिसमवलोकनाद् भोजनार्थिना च विघ्नः । कथमिव यतिसमीपे भुजिक्रियां सम्पादयामः । अशुचि वेद [2]चेत्कथमस्यामासन्धा तु तावदमी इति क्रुध्यन्ति वा गृहस्थाः । किमर्थमयमत्र दाराणां मध्ये निषण्णो यतिर्भुङ्क्ते न यातीति । स्नानमुद्वर्तनं, गात्रप्रक्षालनं च बाकुसमित्युच्यते । स्नानेन उष्णोदकेन शीतजलेन सौवीरकादिना वा विलस्था धात्रीक्षुद्रविवरस्था इतरेऽपि स्वल्पकाया कुन्थुपिपीलिकादयो वा नश्यन्ति । तथा चोक्तम्—

सुहुमा संति पाणा खु पासेसु अ बिलेसु अ ।
सिण्हायंतो यतो भिक्खू विकट्टेणोपपीडए ॥
ण सिण्हायंति तम्हा ते सीदुसणोदगेण वि ।
जावज्जीवं वदं घोरं अण्हाणममधिट्ठिदं ॥

लेखना कठिन है तथा उनकी शुद्धि अशक्य होती है। पीढेपर, आसनपर, खाट या मंचपर बैठना निषद्या है। अनेक छिद्रवाली पीठिका आदिमें रहनेवाले जन्तुओको देखना अशक्य होता है और देख भी लिया जाये तो उन्हे दूर करना शक्य नही होता। और उससे अहिसाव्रतमे अतिचार लगता है। कहा भी है—

पीढ़ा, आसंद, पलका, मंच आदि आसनोपर स्नान न करनेवाले साधुओका बैठना या शयन करना उचित नहीं है। गहराईमे रहनेवाले जीवजन्तु देखे नही जाते। उनका बचाव कष्ट साध्य होता है। इसलिए अहिसा नामक प्रथम व्रतमे 'ठीकसे नही देखना' छोडना चाहिए।

अथवा गोचरीके लिए जाकर घरमें प्रवेश करना और वहाँ बैठना निषद्या है।

शङ्का—इसमें क्या दोष है ?

समाधान—स्त्रियोंके साथ रहनेसे ब्रह्मचर्यका विनाश होता है। क्योकि बार-बार उनके कुचों और ओष्ठोंपर दृष्टि जाती है। तथा भोजन करनेके इच्छुक गृहस्थोको बाधा होती है। वे सोचते हैं—हम यतियोंके सामने कैसे भोजन करे ? अथवा उन्हें क्रोध हो सकता है कि इस अपवित्र पलके पर ये क्यों बैठे हैं ? यह यति यहाँ स्त्रियोके मध्यमें बैठकर क्यो भोजन करता है, जाता क्यों नहीं है।

स्नान, उबटन और शरीर धोनेको बाकुस कहते हैं। गर्मजल, ठडे जल अथवा सौवीरक आदिसे स्नान करनेसे पृथ्वीके बिलोमें स्थित प्राणी अथवा अन्य कुन्थु चीटी आदि क्षुद्रजीव मर जाते हैं। कहा है—

'बिलोंमें तथा आस-पासमे सूक्ष्मजन्तु रहते है। यदि भिक्षु स्नान करे तो वे पीड़ित होते हैं। इसलिए वे भिक्षु ठंडे या गर्मजलसे या काँजीसे स्नान नही करते। वे जीवन पर्यन्त घोर अस्नानव्रतको धारण करते हैं।'

---

१. मंचयासालये—अ० मु० । २. वेदमस्यायां अ० ।

लोध्रगन्धादिभिः उद्वर्तनं च नाचरन्ति । लिङ्गविकाशनक्रिया तास्थ्याल्लिङ्गशब्देनोच्यते । 'तेणिक्करा-राविभत्ते' अदत्तादानं रात्रिभोजनं च । अदत्तादाने कृते तत्स्वामिनः प्राणापहार एव कृतो भवति । बहिश्चराः प्राणा धनानि प्राणभृतां राजानो दण्डयन्तीह । रात्रौ च भोजनं अनेकासंयममूलं । रात्रौ भ्रमणे बहुजीवनिकायबधो । अयोग्यस्य प्रत्याख्यातस्य च भोजनं । दातृपरीक्षासम्भवः । करस्य, भाजनस्योच्छिष्टनिपतनदेशस्य, दायिकागमनमार्गस्य तस्यात्मनश्चावस्थानदेशस्य अपरीक्षा । 'मेहुणपरिग्गहे चेव' मैथुनं परिग्रहश्चैव । 'मोसे' मृषा च ॥४११॥

णाणे दंसणतववीरिये य मणवयणकायजोगेहिं ।
कदकारिदेणुमोदे आदपरपओगकरणे य ॥६१२॥

'णाणे' ज्ञाने । 'दंसणतववीरिए' श्रद्धाया तपसि वीर्ये च योऽतिचारः । 'मणवयणकायजोगेहिं' मनोवाक्कायक्रियाभिः । मनसा सम्यग्ज्ञानस्यावज्ञा, किमनेन ज्ञानेन, तपश्चारित्रमेव फलदाय्यनुष्ठेयमिति । सम्यग्ज्ञानस्य वा मिथ्याज्ञानमिदमिति दूषणं । मनसा वाचा कायेन वा स्वारुचिप्रकाशनं, मुखवैवर्ण्येन नैतदेवमिति शिरःकम्पनेन वा । शङ्काकाङ्क्षादि दर्शनेऽतिचारः । तपस्यसंयमः । वीर्ये स्वशक्तिगूहन । स चातीचार सर्वस्त्रिप्रकार इति कथयति । 'कदकारिदे अणुमोदे' कृतः, कारितोऽनुमतश्च । 'आदपरपओगकरणे य' आत्मनैव कृत कारितोऽनुमतश्च, परयोगक्रियया कृतः कारितोऽनुमतो वा ॥६१२॥

वे भिक्षु लोध्र वगैरह सुगन्धित द्रव्योका उबटन भी शरीरपर नही लगाते है । लिंगशब्दसे लिंगको विकसित करनेकी क्रिया ली गई है । वह भी भिक्षु नही करते ।

तेणिक्क चोरीको कहते हैं । भिक्षु बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण और रात्रिभोजन नही करते । बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण अर्थात् चोरी करनेपर उसके स्वामीका प्राण ही हर लिया जाता है क्योकि धन मनुष्योका बाहिरी प्राण होता है । इसी लोकमे राजा उसे दण्ड देते हैं । तथा रात्रिमे भोजन अनेक असंयमोंका मूल है । रात्रिमें साधु भ्रमण करे तो छहकायके प्राणियोका घात होता है । तथा रात्रिमे दृष्टिगोचर न होनेसे त्यागी हुई तथा अयोग्य वस्तु भी खानेमे आ जाती है । दाताकी परीक्षा भी असम्भव होती है । हाथमे स्थित भोजन, जूठन गिरनेका स्थान, आहार देनेवालेके आने जानेका मार्ग, उसके तथा अपने खड़े होनेके प्रदेशकी परीक्षा भी रातमे नहीं होती । मैथुन, परिग्रह और असत्यके वे त्यागी होते हैं ॥६११॥

गा०–टी०—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, तप और वीर्यके सम्बन्धमे मन वचन कायकी क्रियाके द्वारा अतिचार हुए हैं—

मनसे सम्यग्ज्ञानकी अवज्ञा करना, इस ज्ञानसे क्या लाभ है, तप और चारित्र ही फलदायक है । उन्हें ही करना चाहिए । अथवा सम्यग्ज्ञानको यह मिथ्याज्ञान है, ऐसा दूषण लगाना । अथवा मनसे वचनसे कायसे अपनी अरुचि प्रकट करना । अथवा मुखकी विरूपतासे या सिर हिलाकर 'यह ऐसा नहीं है' यह प्रकट करना सम्यग्ज्ञानके अतिचार है । सम्यग्दर्शनमें शंका कांक्षा आदि अतिचार कहे हैं । तपमें असंयम अतिचार है । वीर्यमें अपनी शक्तिका छिपाना अतीचार है । वह सब अतिचार कृत कारित अनुमोदनाके भेदसे तीन प्रकार है । तथा स्वयं ही करना कराना अनुमोदना करना और परके द्वारा करना, कराना, अनुमोदना करना इस तरह कृत कारित अनुमोदनाके भी दो प्रकार हैं ॥६१२॥

अद्धाण रोहगे जणवए य रादो दिवा सिवे ऊमे ।
दप्पादिसमावण्णे उद्धरदि कमं अभिदंतो ॥६१३॥

'अद्धाण रोहगे जणवदे' यस्यावस्थिते जनपदे यावन्तो मार्गास्तेषां रोधके परचक्रे जाते यदि निस्सर्तुं न लभते संक्लिष्टा भिक्षा चर्या तत्र अयोग्यस्य सेवा कृता आत्मना तामपि कथयति । 'रादो दिवा' रात्रौ अयमतिचारो जातो दिवसे इति वा कथनं । मार्यां उपद्रुते संघे विद्यया मन्त्रेण वा तन्निषेधनायामयमतिचारो जात इति वा । दुर्भिक्षे वा महति अवमोदर्यंभग्नेन यदात्मना सेवितं, अन्ये वाऽयोग्यभिक्षाग्रहणे इत्थं प्रवर्तिता इति वा कथनं । 'दप्पादिसमावण्णे' दर्पादिभिः समापन्नः ।

दप्पपमादअणाभोगआपणा आउरे य तितिणिदा ।
संकिदसहसाकारे य भयपदोसे य मीमंसं ॥
अण्णाणणेहगारव अणप्पवसअलस उपधि सुमिणंते ।
पलिकुंचणं ससोधी करेंति वीसंतवे भेदे ॥

इति दर्पादिः । अत्र दर्पोऽनेकप्रकारः क्रीडासंघर्षः, व्यायामकुहकं, रसायनसेवा, हास्यं, गीतशृंगारवचनं, प्लवनमित्यादिको दर्पः । प्रमादः पञ्चविधः—विकथाः, कषाया, इन्द्रियविषयासक्तता, निद्रा, प्रणयश्चेति । अथवा प्रमादो नाम संक्लिष्टहस्तकर्म, कुशीलानुवृत्तिः, बाह्यशास्त्रशिक्षणं, काव्यकरणं, समितिष्वनुपयुक्तता । छेदनं भेदनं, पेषणमभिघातो, व्यधनं, बन्धनं, स्फाटनं, प्रक्षालनं, रञ्जनं, वेष्टनं, ग्रथनं, पूरण, समुदायकरणं, लेपनं, क्षेपणं, आलेखनमित्यादिकं संक्लिष्टहस्तकर्म, स्त्रीपुरुषलक्षणं निमित्तं, ज्योतिर्ज्ञानं, छंदः, अर्थशास्त्रं, वैद्यं, लौकिकवैदिकसमयाश्च बाह्यशास्त्राणि । उपयुक्तोऽपि सम्यगतीचारं न वेत्ति सोऽनाभोगकृतः, व्याक्षिप्तचेतसा

गा०-टी०—देशसे बाहर जानेके जितने मार्ग हैं, शत्रुसेनाके द्वारा उन सबके बन्द कर देनेपर साधु निकल नहीं पाता । उस समय परवश होकर साधुको भिक्षाचर्या करनेमें जो संक्लेश हुआ हो, अथवा अपने द्वारा अयोग्य पदार्थका सेवन हुआ है उसे भी गुरुसे कहता है । रातमें यह अतिचार हुआ, दिनमें यह अतिचार हुआ, यह भी कहता है । अथवा संघमें भारी रोगका उपद्रव होनेपर विद्या या मंत्रके द्वारा उसे रोकनेमें यह अतिचार लगा, यह भी कहता है । महान् दुर्भिक्ष पड़नेपर अवमौदर्य तपको भंग करके स्वयंने जो सेवन किया हो, अथवा दूसरे साधुओंको अमुक प्रकारसे अयोग्य भिक्षाके ग्रहण करनेमें प्रवृत्त किया हो, वह भी कहता है । दर्प, प्रमाद, अनाभोग, आपात, आर्तता, तित्तिणिदा, शंकित, सहसा, भय, प्रदोष, मीमांसा, अज्ञान, स्नेह, गारव, अनात्मवशता, आलस्य, उपधि, स्वप्नान्त, पलिकुंचन, और स्वयंशुद्धि ये बीस दर्पादि कहे हैं । इनका विवरण—

इनमेंसे दर्पके अनेक प्रकार हैं—१. खेलकूदमें संघर्ष, व्यायाम, इन्द्रजाल, रसायन सेवन, हास्य, गीत, शृङ्गार, दौड़ना, तैरना आदिको लेकर घमंड करना । २ प्रमादके पाँच भेद हैं—विकथा, कषाय, इन्द्रियोंके विषयमें आसक्ति, निद्रा और प्रणय (स्नेह) । अथवा संक्लिष्ट हस्तकर्म, कुशीलानुवृत्ति, बाह्यशास्त्रोंकी रचना करना, काव्यरचना और समितियोंमें उपयोग न लगाना ये पाँच प्रमाद हैं । छेदना, भेदना, पीसना, अभिघात, बींधना, खोदना, बाँधना, फाड़ना, धोना, रंगना, वेष्ठित करना, गूँथना, पूरना, समुदाय करना, लीपना, फेंकना, चित्रकारी करना ये सब संक्लिष्ट हस्तकर्म हैं । स्त्री पुरुषके लक्षण जिसमें बतलाये हों ऐसा शास्त्र, निमित्तशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, छन्दशास्त्र, अर्थशास्त्र, वैद्यकशास्त्र तथा लौकिक और वैदिकशास्त्र बाह्यशास्त्र हैं—

वा कृतः। नदीपूरः, अग्न्युत्थापनं, महावातापातः, वर्षाभिघातः, परचक्ररोध इत्यादिका आपाताः। रोगार्तः, शोकार्तो, वेदनार्त इत्यार्तता त्रिविधा। रसासक्तता [1]मुखरता चेति द्विप्रकारता तित्तिणिदा शब्दवाच्या। सचित्तं किमचित्तमिति शङ्किते द्रव्ये भञ्जनभेदनभक्षणादिभिराहारस्योपकरणस्य, वसतेर्वा उद्गमादिदोषोपहतिरस्ति न वेति शङ्कायामप्युपादानं। अशुभस्य मनसो वाचो वा झटिति प्रवृत्तिः सहसेत्युच्यते।

एकान्तायां वसतौ व्यालमृगव्याघ्रादयस्तेना वा प्रविशन्ति इति भयेन द्वारस्थगने जातोऽतिचारस्तीव्रकषायपरिणामः प्रदोष इत्युच्यते। उदकराज्यादिसमानतया प्रत्येकं चतुर्विकल्पाश्चत्वारः कषायाः। आत्मनः परस्य वा बललाघवादिपरीक्षा मीमांसा तत्र जातोऽतिचारः। प्रसारितकराकुञ्चितम् आकुञ्चितकरप्रसारणं धनुषाद्यारोपणं उपलाद्युत्क्षेपणं, धावनं, वृतिकण्टकाद्युल्लङ्घनं, पशुसर्पादीनां मन्त्रपरीक्षणा[2]य वा धारणं, औषधवीर्यपरीक्षणार्थमञ्जनस्य, चूर्णस्य वा प्रयोगः, द्रव्यसंयोजनया त्रसानामेकेन्द्रियाणां च समूर्च्छना परीक्षा। अज्ञानामाचरणं दृष्ट्वा स्वयमपि तथा चरति तत्र दोषानभिज्ञः। अथवाऽज्ञानिनोपनीतमुद्गमादिदोषोपहत उपकरणादिकं सेवते इति अज्ञानात्प्रवृत्तोऽतीचारः। शरीरे, उपकरणे, वसतौ, कुले, ग्रामे, नगरे, देशे, बन्धुषु, पार्श्वस्थेषु वा ममेदंभावः स्नेहरसेन प्रवर्तित अ[3]तीचारः। मम शरीरमिदं शीतो वातो बाधयति कटादि-

---

३ उपयोग लगानेपर भी सम्यक्‌रूपसे अतीचारको नही जानना अथवा चित्त चंचल होनेसे अतीचारको न जानना अनाभोगकृत है। ४ नदीमें बाढ़ आना, आग लग जाना, महती आँधी आना, वर्षाकी अत्यधिकता, शत्रुसेनाका आक्रमण इत्यादि आपात है। ५. आर्तताके तीन प्रकार हैं—रोगसे पीड़ित, शोकसे पीड़ित, कष्टसे पीड़ित। ६ रसमे आसक्ति और बकवादमे आसक्ति इन दोनोंको तित्तिणदा कहते है। ७. यह सचित्त है या अचित्त ऐसी आशंका होनेपर भी उसको तोड़ना-फोड़ना खाना, अथवा आहार, उपकरण और वसतिमें उद्गम आदि दोष हैं या नही, ऐसी शंका होते हुए भी ग्रहण करना शंकित है। ८ अशुभ मन और वचनकी झटपट प्रवृत्ति सहसा है।

९ एकान्त वसतिमें सिंह मृग सर्प और चोर आदि प्रवेश करते है इस भयसे द्वार बन्द कर देना भय है। १०. तीव्र कषाय युक्त परिणामको प्रदोष कहते है। क्रोध मान माया लोभ ये चार कषाय हैं इनमेंसे प्रत्येकके चार-चार भेद हैं जैसे जलकी रेखा, धूलकी रेखा, पृथ्वीकी रेखा और पत्थरकी रेखाके समान क्रोध होता है।

११. अपने या दूसरेके बल लाघव आदिकी परीक्षाको मीमांसा कहते हैं। फैले हुए हाथको मोड़ने, मोड़े हुए हाथको फैलाने, धनुष आदिके चढ़ाने, पत्थर आदिके फेकने, दौडने, बाड कण्टक आदिको लाँघने, मन्त्र परीक्षाके लिए पशु सर्प आदिको धारण करने, औषधकी शक्तिकी परीक्षाके लिए अंजन अथवा चूर्णका प्रयोग करने, द्रव्योंके संयोगसे त्रस जीवों और एकेन्द्रिय जीवोकी उत्पत्ति करने आदिकी परीक्षा मीमांसा है।

१२ अज्ञानी जनोंका आचरण देखकर स्वयं भी वैसा करता है उसमें दोष नही जानता। अथवा अज्ञानीके द्वारा लाये गये उद्गम आदि दोषोंसे दूषित उपकरण आदिका सेवन करता है। यह अज्ञानवश हुआ अतिचार है।

१३. शरीरमें, उपकरणमें, वसतिमें, कुलमे, ग्राममें, नगरमें, देशमें, बन्धुमें और पार्श्वस्थ

---

१. मुखरतता—आ०। २. णार्थं वा—आ० मु०। ३. आचारः—मु०।

निरन्तर्धानं, अग्निसेवा [1]शीतापनोदनार्थं प्रावरणग्रहणं वा, उद्वर्तनं, म्रक्षणं वा। उपकरणं विनश्यतीति तेन स्वकार्याकरणं यथा पिच्छविनाशभयादप्रमार्जनं इत्यादिकं। म्रक्षणं तैलादिना, कमण्डल्वादीनां प्रक्षालनं वा, वसतितृणादिभक्षणस्य भञ्जनादेर्वा ममतया निवारणं, बहूनां यतीनां प्रवेशनं मदीयं कुलं न सहते इति भाषणं, प्रवेशे कोपः, बहूनां न दातव्यमिति निषेधनं, कुलस्यैव वैयावृत्यकरणं। निमित्ताद्युपदेशश्च तत्र म[2]मतया ग्रामे नगरे देशे वा अवस्थाननिषेधनं। यतीनां सम्बन्धिनां सुखेन सुखमात्मनो दुःखेन दुःखमित्यादिरतिचारः। पार्श्वस्थानां वन्दना, उपकरणादिदानं वा तदुल्लङ्घनासमर्थता। गुरुता ऋद्धित्यागासहता, ऋद्धिगौरवं, परिवारे कृतादरः। परकीयमात्मसात्करोति प्रियवचनेन उपकरणदानेन। अभिमतर[3]सात्यागोऽनभिमतानादरश्च नितरां रसगौरवं। निकामभोजने, निकामशयनादौ वा आसक्तिः। सातगौरवं अनात्मवशतया प्रवर्तितातिचारः। उन्मादेन, पित्तेन पिशाचादेशेन वा परवशता। अथवा ज्ञातिभिः परिगृहीतस्य बलात्कारेण गन्धमाल्यादिसेवा प्रत्याख्या[4]तभोजनं, रात्रिभोजनं मुखवासताम्बूलादिभक्षणं वा स्त्रीभिर्नपुंसकैर्वा बलादब्रह्मकरणं। चतुर्षु स्वाध्यायेषु आवश्यकेषु वा आलस्यं। उपधिशब्देन मायोच्यते प्रच्छन्नमनाचारे वृत्तिः। ज्ञात्वा दातृकुलं पूर्वमन्येभ्यः

मुनियोंमें ममत्वभाव स्नेह है। उससे हुआ अतीचार स्नेह कहाता है। मेरे इस शरीरको शीत कष्ट देता है। इसलिए चटाई वगैरहसे शीतको रोकना, आग तापना, शीत दूर करनेके लिए कुछ प्रावरण ग्रहण करना, उबटन लगाना, तेलकी मालिश करना। उपकरण नष्ट हो जायेगा इसलिए उससे अपना कार्य न करना, जैसे पिच्छीके नाशके भयसे उससे प्रमार्जन न करना, कमंडलु आदिको धोना। वसतिके तृण आदि खानेको अथवा उसके टूटने आदिको ममत्व भावसे रोकना, मेरे कुलमे बहुत यतियोंका प्रवेश सह्य नही है ऐसा कहना, प्रवेश करने पर कोप करना, बहुत यतियोंका प्रवेश देनेका निषेध करना, अपने कुलकी ही वैयावृत्य करना, निमित्त आदिका उपदेश देना, ममत्व होनेसे ग्राम नगर अथवा देशमे ठहरनेका निषेध न करना, सम्बन्धी यतियोंके सुखसे अपनेको सुखी और दुःखसे दुःखी मानना इत्यादि अतिचार हैं। पार्श्वस्थ आदि मुनियोंकी वन्दना करना, उन्हे उपकरण आदि देना, उनका उल्लंघन करनेमें असमर्थ होना, इत्यादि अतीचारोंकी आलोचना करता है।

१४ ऋद्धिके त्यागमे असमर्थ होना ऋद्धिगारव है। मुनि परिवारमें आदरभाव होनेसे प्रिय वचन और उपकरण दानके द्वारा दूसरोंका अपनाता है। इष्ट रसका त्याग न करना और अनिष्ट रसमें अनादर होना रसगारव है। अति भोजन अथवा अतिशयनमें आसक्ति सात गौरव है। ये गारव सम्बन्धी अतिचार है।

१५ अपने वशमें स्वयं न होनेसे अतिचार होते हैं। उन्मादसे, पित्तके प्रकोपसे अथवा पिशाच आदिके कारण परवशता होती है। अथवा जातिके लोगोंके द्वारा बलपूर्वक पकड़कर गन्ध माल्य आदिका सेवन, त्यागी हुई वस्तुका भोजन, रात्रि भोजन, मुखवास, ताम्बूल आदिका भक्षण कराया गया है। स्त्रियों अथवा नपुंसकोंके द्वारा बलपूर्वक अब्रह्म सेवन कराया गया हो।

१६. चार प्रकारकी स्वाध्याय अथवा आवश्यकोंमें आलस्य किया हो।

१७ उपधि शब्दसे माया कही है अर्थात् छिपकर अनाचार करना। दाताका घर जानकर

---

१. ग्रीष्मातपनो–आ० मु०। २. मतस्य ग्रा–आ०। ३. रसत्या–अ० आ०। ४. ख्यान भो–अ० आ०।

प्रवेशः । कार्यापदेशेन यथा परे न जानन्ति तथा वा । भद्रकं भुक्त्वा विरसमशनं भुक्तमिति कथनं । ग्लानस्याचार्यस्य वा वैयावृत्यं करिष्यामि इति किञ्चिद्गृहीत्वा स्वयं तस्य सेवा । स्वप्नेनाऽयोग्यप्रतिसेवा सुमिणमित्युच्यते । द्रव्यक्षेत्रकालभावाश्रयेण प्रवृत्तस्यातिचारस्यान्यथा कथनं पलिकुञ्चनशब्देनोच्यते । कथं ? सचित्तसेवां कृत्वा अचित्तं सेवितमिति । अचित्तं सेवित्वा सचित्तं सेवितमिति वदति । तथा स्वावस्थाने कृतमध्वनि कृतमिति, सुभिक्षे कृतं दुर्भिक्षे कृतमिति, दिवसे कृतं रात्रौ कृतमिति, अकषायतया संपादितं तीव्रक्रोधादिना संपादितमिति । यथावत्कृतालोचनो यतिर्यावत्सूरिः प्रायश्चित्तं न प्रयच्छति तावत्स्वयमेवेदं मम प्रायश्चित्तं इति स्वयं गृह्णाति स स्वयं शोधकः । एवं मया स्वशुद्धिरनुष्ठितेति निवेदनं । एवमेतैर्दर्पादिभिः समापन्नोऽतिचारं 'उद्धरदि' कथयति । 'कमं' स्वकृतातिचारक्रमं । 'अभिदंतो' अनिराकुर्वन् ॥६१३॥

इय पयविभागियाए व ओघियाए व सल्लमुद्धरिय ।
सव्वगुणसोधिकंखी गुरूवएसं समायरइ ॥६१४॥

'इय' एवं । पदविभागियाए व विशेषालोचनया वा । 'ओघियाए व' सामान्यालोचनया वा । 'सल्लं' मायाशल्यं । 'उद्धरिय' उद्धृत्य । 'सव्वगुणसोधिकंखी' सर्वेषां गुणानां दर्शनज्ञानचारित्रतपसां शुद्धिमभिलषन् । 'गुरूवएसं' गुरुणोपदिष्टं प्रायश्चित्तं । 'समादियदि' सम्यगादत्ते । रोषं दैन्यमश्रद्धानं च त्यक्त्वा ॥६१४॥

परिहार्यालोचनादोषानुक्त्वा गुरुसकाशे आलोचना निन्दना गुणवतीति वदति—

दूसरे साधुओंसे पहले ही किसी बहानेसे भिक्षाके लिए पहुँचना जिससे दूसरे न जान सकें। या अच्छा भोजन करके यह कहना कि मैंने नीरस भोजन किया है। मैं रोगीकी या आचार्यकी वैयावृत्य करूँगा, इस बहानेसे कुछ वस्तु ग्रहण करके स्वयं उसका सेवन करना।

१८. स्वप्नमें अयोग्य वस्तुके सेवनको सुमिण कहते हैं।

१९ द्रव्य क्षेत्र काल और भावसे हुए अतिचारको अन्य रूपसे कहना पलिकुंचन शब्दसे कहा जाता है। जैसे सचित्तका सेवन करके कहना कि मैंने अचित्तका सेवन किया है। अचित्तका सेवन करके कहना कि सचित्तका सेवन किया है। तथा अपने स्थान पर किये गये दोषको 'मार्गमें किया है' ऐसा कहना। सुभिक्षमें किये गये दोषको दुर्भिक्षमें किया कहना। दिनमें किये को रातमे किया कहना। अकषाय पूर्वक कियेको कषायपूर्वक किया कहना।

२० विधिपूर्वक आलोचना करके आचार्यके प्रायश्चित्त देनेसे पहले स्वयं ही 'यह मेरा प्रायश्चित्त है' इस प्रकार जो स्वयं प्रायश्चित्त ग्रहण करता है उसे स्वयं शोधक कहते हैं। उसे आचार्यसे निवेदन करना चाहिए मैंने इस प्रकार स्वयं शुद्धि की है।

इस प्रकार क्षपक अपने द्वारा किये गये दोषोंके क्रमका उल्लंघन न करके दर्पादिसे हुए अतिचारोंको गुरुसे कहता है ॥६१३॥

गा०—इस प्रकार विशेष आलोचना अथवा सामान्य आलोचनाके द्वारा मायाशल्यको दूर करके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप इन सब गुणोंकी शुद्धिका इच्छुक क्षपक गुरुके द्वारा कहे प्रायश्चित्तको रोष, दीनता और अश्रद्धाको त्यागकर स्वीकार करता है ॥६१४॥

त्यागने योग्य आलोचना दोषोंको कहकर गुरुके समीपमें आलोचना और निन्दनाके गुण कहते हैं—

कदपावो वि मणुस्सो आलोयणणिंदओ गुरुसयासे ।
होदि अचिरेण लहुओ उरुहियभारोव्व भारवहो ॥६१५॥

'कदपावो वि मणुस्सो' कृतपापोऽपि मनुष्यः समर्जिताशुभकर्मसंचयोऽपि मनुष्यः । अथवा पापस्याशुभ-कर्मणः कारणभूताऽसंयमादिरिह् पापशब्देनोच्यते, तेनायमर्थः—कृतपापोऽपि कृतासंयमादिकोऽपि । 'आलोयण-णिंदओ' कृतालोचनः कृतनिन्दितश्च । क्व ? 'गुरुसयासे' गुरुसमीपे । 'होदि' भवति । 'अचिरेण लहुओ' लघुतमः 'उरुहियभारोव्व' अवतारितभार इव । 'भारवहो' भारस्य वोढा ॥६१५॥

भावशुद्धयर्थां आलोचना असत्यां भावशुद्धौ को वा दोष इत्याह—

सुबहुस्सुदा वि संता जे मूढा सीलसंजमगुणेसु ।
ण उवेंति भावसुद्धिं ते दुक्खणिहेलणा होंति ॥६१६॥

'सुबहुस्सुदा वि संता' सुष्ठु बहुश्रुता अपि सन्तः । 'जे मूढा' ये मूढाः । 'सीलसंजमगुणेसु' शीले क्षमादिके धर्मे, संयमे, व्रतेषु गुणेषु ज्ञानदर्शनतपःसु च । 'भावसुद्धिं' परिणामेन शुद्धिं । 'ण उवेंति' नोपयान्ति ते । 'दुक्खणिहेलणा' दुःखैर्निष्पीड्या । 'होंति' भवन्ति ॥६१६॥

कृतायामालोचनायां गुरुणा किं कर्तव्यमित्यत आह—

आलोयणं सुणित्ता तिक्खुत्तो भिक्खुणो उवायेण ।
जदि उज्जुगोत्ति णिज्जइ जहाकदं पट्ठवेदव्वं ॥६१७॥

'आलोयणं' आलोचनां । 'सुणित्ता' श्रुत्वा । 'तिक्खुत्तो' त्रिः पृष्ट्वा । 'भिक्खुणो' भिक्षोः । 'उवायेण' उपायेन । 'जदि उज्जुगोत्ति य' यदि ऋजुरयमिति । 'णज्जइ' ज्ञायते । वचनेन आचरणेन वा ज्ञायते प्रायेण ऋजुता । 'जहा' यथा । 'कद' कृतं पापं शुद्धमदिति शेषः शुद्धयति तथा 'पट्ठवेदव्वं' प्रायश्चित्तं दातव्यं ।

गा०—'कृतपाप' अर्थात् अशुभकर्मका संचय करनेवाला भी मनुष्य । अथवा पाप अर्थात् अशुभकर्मके कारणभूत असंयम आदिको यहाँ पापशब्दसे कहा है । तब यह अर्थ होता है—असंयम आदि करनेवाला भी मनुष्य गुरुके समीप आलोचना और निन्दा करके शीघ्र ही हलका हो जाता है जैसे बोझको उतारनेपर बोझा ढोनेवाला हलका हो जाता है ॥६१५॥

भावोंकी शुद्धिके लिए आलोचना की जाती है । भावशुद्धिके अभावमें दोष कहते हैं—

गा०—जो मूढ़ मुनि बहुत अच्छे बहुश्रुत विद्वान् होकर भी क्षमा आदि धर्ममें, संयममें, व्रतोंमें, ज्ञान दर्शन और तप गुणोंमें भावशुद्धि नहीं रखते वे दुःखोंसे पीड़ित होते है ॥६१६॥

आलोचना करनेपर गुरुको क्या करना चाहिए, यह कहते हैं—

गा०—आलोचना सुनकर गुरु भिक्षुसे तीन बार उपायसे पूछते हैं—तुम्हारा अपराध क्या है मैं भूल गया या मैंने सुना नहीं । इत्यादि उपायसे गुरु तीन बार पूछते हैं । यदि 'वचन' कहनेके ढंगसे और आचरणसे जानते हैं कि यह सरल हृदय है तो जिस प्रकार किया पापशुद्ध हो

---

१. ते तनुभवनेन आचर—आ० ।

अनृजोर्भावशुद्धयभावान्न व्यवहारिण. प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्ति सूरय.। भावशुद्धिमन्तरेण पापानपायात् रत्नत्रयस्य निरतिचारत्वाभावात् ॥६१७॥

ऋज्वी इतरा वा आलोचना कीदृशी यस्यां सत्यां प्रायश्चित्तं दीयते न च दीयते इत्यत्र आचष्टे—

आदुरसल्ले मोसे मालागररायकज्ज तिक्खुत्तो ।
आलोयणाए वक्काए उज्जुगाए य आहरणे ॥६१८॥

'आतुरसल्ले' आतुरो व्याधितः स वैद्येन वारत्रयं पृच्छयते। किं मुक्तं? किमाचरितं? कीदृशी वा रोगस्य वृत्तिरिति। शल्यमपि शरीरलग्नं त्रिः परीक्ष्यते। शुद्धता व्रणस्य जाता न वेति। **'रायकज्जं तिक्खुत्तो'** राज्ञा आज्ञप्तं कार्यं किमेवं करिष्यामीति त्रि' पृच्छयते। **'आलोयणाए'** आलोचनाया। **'वक्काए'** वक्रायाः। **'उज्जुगाए'** ऋज्व्याश्च। **'आहरणे'** दृष्टान्तः। यदि वारत्रयमप्येकरूपेण वक्ति ततो ऋज्वी अन्यथा अन्यदन्यदाचष्टे वक्रेति ग्राह्य ॥६१८॥

पडिसेवणातिचारे जदि[1] णो जंपदि जधाकमं सव्वे ।
ण करेंति तदो सुद्धिं आगमववहारिणो तस्स ॥६१९॥

'पडिसेवणातिचारे' प्रतिसेवनानिमित्तानतीचारान्। तत्र प्रतिसेवा चतुर्विधा द्रव्यक्षेत्रकालभावविकल्पेन। द्रव्यप्रतिसेवा त्रि प्रकारा सचित्तमचित्तं मिश्रमिति द्रव्यस्य त्रिविधत्वात्। चित्त ज्ञानं तथा च प्रयोग'—चित्तमात्र जगतत्त्व ज्ञानमात्रमिति यावत। ज्ञानस्यात्मनः कथञ्चिदव्यतिरेकात्तात्स्थ्याद्वा चित्तशब्देनाभि-

---

उस प्रकार प्रायश्चित्त देना चाहिए। जो सरल हृदय नहीं होता उसके भावशुद्धि नही होती। इसलिए व्यवहार कुशल आचार्य उसे प्रायश्चित्त नहीं देते। भावशुद्धिके विना पाप दूर नही होता। इसलिए उसके रत्नत्रय निरतिचार नहीं होते॥६१७॥

सरल या वक्र आलोचना कैसी होती है जिसके होनेपर प्रायश्चित्त दिया जाता है या नही दिया जाता, यह कहते हैं—

गा०-टी०—वैद्य रोगीसे तीन बार पूछता है—तुमने क्या खाया था, क्या किया था, रोगकी क्या दशा है? शरीरमें लगे घावकी भी तीन बार परीक्षा की जाती है कि घाव भरा या नही? चोरी होनेपर तीन बार पूछा जाता है कि क्या-क्या चोरीमें गया है, कैसे चोरी हुई है? मालाकारसे भी तीन बार पूछा जाता है कि तेरी मालाका क्या मूल्य है। राजाने जिसे कार्य करनेकी आज्ञा दी है वह तीन बार पूछता है कि क्या इस प्रकार करूँ? इसी प्रकार आलोचनाकी परीक्षा भी तीन बार की जाती है। अपना अपराध पुन. कहो? ये सरल और वक्र आलोचनाके सम्बन्धमें पाँच दृष्टान्त हैं। यदि तीनों बार भी एकरूपसे ही कहता है तो सरल आलोचना है। यदि अन्य अन्यरूपसे कहता है तो वक्र आलोचना है ऐसा समझना चाहिए॥६१८॥

गा०-टी०—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे प्रतिसेवनाके चार भेद हैं। द्रव्यप्रतिसेवनाके तीन प्रकार हैं क्योंकि सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे द्रव्यके तीन प्रकार हैं। चित्त ज्ञानको कहते हैं। कहा जाता है—जगत् तत्त्व चित्तमात्र है अर्थात् ज्ञानमात्र है। ज्ञान आत्मासे

---

१. णाउं'टेदि अ०।

चार्न । सह चित्तेनात्मना वर्तते इति सचित्तं जीवशरीरत्वेनावस्थितं पुद्गलद्रव्यं । न विद्यते चित्तं आत्मा यस्मिन्पुद्गले तदचित्तं । मिश्रं नाम सचित्ताचित्तपुद्गलसंहतिः । पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः जीवपरिगृहीताः सचित्तशब्देनोच्यन्ते । अचित्तं जीवेन परित्यक्तं शरीरं [1]तयोरुपादाय क्षेत्रादिप्रतिसेवना च योज्या । 'जदि णो[2] जंपदि' न कथयेद्यदि । 'जहाकमं' यथाक्रमं । 'सव्वे' सर्वान् स्थूलान्सूक्ष्मांश्चातिचारान् । 'ण करंति' न कुर्वन्ति । 'तवो' तत । 'तस्स सोधिं' तस्य शुद्धिं । 'आगमववहारिणो' आगमानुसारेण व्यवहरन्तः ।

एत्थ दु उज्जुगभावा ववहरिदव्वा भवंति ते पुरिसा ।
संका परिहरिदव्वा सेसे [3]पदहि अहिं विसुद्धा ॥ [ ]

इति वचनात् सर्वमतिचारं निवेदयत एव ऋजुता, तस्यैव प्रायश्चित्तदानं ॥६१९॥

पडिसेवणादिचारे जदि [4]आजंपदि जहाकमं सव्वे ।
कुव्वंति तहो सोधिं आगमववहारिणो तस्स ॥६२०॥

स्पष्टा गाथा ॥६२०॥

यतिना निर्दोषायामालोचनायां कृतायां गणिना किं कर्तव्यमित्याशङ्किते तद्व्यापारं कथयति—

सम्मं खवएणालोचिदम्मि छेदसुदजाणगो गणी सो ।
तो आगममीमंसं करेदि सुत्ते य अत्थे य ॥६२१॥

कथञ्चित् अभिन्न होता है अथवा आत्मामें रहता है इसलिए उसे चित्त शब्दसे कहते हैं। जो चित्त अर्थात् आत्माके साथ रहता है वह सचित्त है। अर्थात् जीवके शरीररूपसे स्थित पुद्गलद्रव्य सचित्त है। और जिस पुद्गलमें चित्त अर्थात् आत्मा नहीं है वह अचित्त है। सचित्त और अचित्त पुद्गलोंका समूह मिश्र है। जीवके द्वारा ग्रहण किये गये अर्थात् जिनमें जीव वर्तमान है उन पृथिवी, जल, आग, वायु और वनस्पतिको सचित्त कहते हैं। जीवके द्वारा त्यागे हुए शरीरको अचित्त कहते है। इन सचित्त अचित्तको लेकर क्षेत्र प्रतिसेवना, काल प्रतिसेवना और भाव प्रतिसेवना लगा लेना चाहिए। इन प्रतिसेवनाके निमित्तसे हुए सब सूक्ष्म और स्थूल दोषोंको यथाक्रम यदि नहीं कहता तो आगमके अनुसार व्यवहार करने वाले आचार्य उसकी शुद्धि नहीं करते। आगममें कहा है—

'जो पुरुष सरल भावसे अपने दोष कहते हैं वे प्रायश्चित्त द्वारा विशुद्धि करने योग्य होते हैं। और जिनके विषयमें शंका हो वे प्रायश्चित्त देनेके योग्य नहीं हैं।'

अतः सब अतिचारोंको कहने वालेके ही सरलता होती है। उसीको प्रायश्चित्त देना चाहिए ॥६१९॥

गा०—प्रतिसेवना सम्बन्धी सब अतिचारोंको क्रमानुसार यदि कहता है तो आगमके अनुसार व्यवहार करने वाले आचार्य उसकी शुद्धि करते हैं ॥६२०॥

यतिके निर्दोष आलोचना करने पर आचार्यको क्या करना चाहिए? ऐसी आशंका करने पर उसे कहते हैं—

---

१. तयोरुपादानं क्षेत्रादि प्रतिसेवना योज्या—आ०मु०। २. जदि णाकुंटिदि—अ०। ३. पादहि अ०। ४. आउंटेदि अ०।

'खवगेण सम्मं आलोचिदम्मि' क्षपकेन सम्यगालोचिते । 'छेदसुदजाणगो गणी सो' छेदसूत्रज्ञ सूरिः सः । 'तो' पश्चात् । 'आगममीमंसं' आगमविचारं । 'करेदि' करोति । कथं ? 'सुत्ते य अत्थे य' सूत्रे च अर्थे च । इदं सूत्रं अस्य चायमर्थ इति अपराधस्यैवंभूतस्य इदं प्रायश्चित्तमनेन सूत्रेण चेदं निर्दिष्टं इति प्राग्निरूपयति ॥६२१॥

परिणामश्च निरूपयितव्यस्तदीयः किमर्थमित्यत आह—

पडिसेवादो हाणी वड्ढी वा होइ पावकम्मस्स ।
परिणामेण दु जीवस्स तत्थ तिव्वा व मंदा वा ॥६२२॥

'पडिसेवादो जादस्स पावकम्मस्स परिणामेण हाणी वड्ढी वा होदि' । कीदृशी ? तिव्वा वा मन्दा वा इति पदघटना । प्रतिसेवनातो जातस्य पापकर्मणः परिणामेन पाश्चात्येन करणेन हानिर्वा वृद्धिर्वा भवति । तीव्रा हानिस्तीव्रा वृद्धि । मन्दा वा हानिर्मन्दा वा वृद्धि ॥६२२॥

तदुभयव्याख्यानाय गाथाद्वयमुत्तरम्—

सावज्जसंकिलिट्ठो गालेइ गुणे णवं च आदियदि ।
पुव्वकदं च दढं सो दुग्गदिभ[1]ववंधणं कुणदि ॥६२३॥

'सावज्जसंकिलिट्ठो' सावद्य[2]संक्लेशो द्विप्रकार. । सह अवद्येन पापेन वर्तत इति सावद्य एक । अन्यस्तु संक्लेशश्चित्तबाधा । न तु सावद्यः । ज्ञानं विमलं किं मम न जायते, सम्पूर्णं चारित्रं शरीरं वा किमर्थमिदमति-

---

गा०—क्षपकके द्वारा सम्यक् आलोचना करने पर छेद सूत्र अर्थात् प्रायश्चित्त शास्त्रका ज्ञाता आचार्य सूत्र और उसके अर्थको लेकर आगमका विचार करता है कि यह सूत्र है और इसका यह अर्थ है । इस प्रकारके अपराधका यह प्रायश्चित्त इस सूत्रमें कहा है, ऐसा पहले विचार करता है ॥६२१॥

दोषके अनुसार प्रायश्चित्तका विचार करने वाले आचार्यको अतिचारके समय तथा उसके बाद होने वाले क्षपकके परिणामोंका भी विचार करना चाहिए क्योंकि—

गा०—प्रतिसेवना अर्थात् असंयम आदिका सेवन करनेसे उत्पन्न हुए पापकर्मकी पीछे हुए शुभ या अशुभ परिणामोंसे तीव्र हानि अथवा तीव्र वृद्धि, मन्द हानि अथवा मन्द वृद्धि होती है । अर्थात् असंयम सेवन करते समय जैसे तीव्र अशुभ परिणामसे तीव्र पाप बन्ध और मन्द अशुभ परिणामसे मन्द पापबन्ध हुआ था वैसे ही आलोचनाके पश्चात् तीव्र शुभ परिणाम होनेसे पापकी तीव्र हानि और मन्द शुभ परिणाम होनेसें पापकी मन्द हानि होती है इसका विचार भी आचार्य करते है ॥६२२॥

इन दोनों का व्याख्यान आगे दो गाथाओंसे करते हैं—

गा०-टी०—सावद्य संक्लेश दो प्रकारका है । एक वह जो अवद्य अर्थात् पापके साथ होता है । दूसरा संक्लेश है चित्तकी बाधा । वह सावद्य रूप नहीं होता । जैसे मेरा ज्ञान निर्मल क्यों

---

१. भयबधणं—मूलारा० । २. सावद्यसंक्लेशसहित. क्लेशो—आ० ।

दुर्बलं तपोयोगासहमिति एवमादिकस्तत्परिणामः सावद्यविशेषणं सावद्यसंक्लिष्टः। **'णासेदि गुणे'** नाशयति गुणान् दर्शनज्ञानचारित्राणि। **'णवं च आदियदि'** कर्म च आदत्ते अभिनवं। **'पुव्वकदं च दढं कुणदि'** पूर्वार्जितं च दृढीकरोति कषायपरिणामनिमित्तत्वात् स्थितिबन्धस्य। **'दुग्गदिभयकारणं'** दुर्गतयः नारकत्वादयः विचित्रवेदना-सहस्रसंकुलास्तासु भयं वर्द्धयति, यत्कर्माशुभं तदावर्त्तं स्थिरयति ॥६२३॥

पडिसेवित्ता कोई पच्छत्तावेण डज्झमाणमणो।
संवेगजणिदकरणो देसं घाएज्ज सव्वं वा ॥६२४॥

'पडिसेवित्ता कोई' कश्चित्कृतासंयमादिसेवनोऽपि। **'पच्छत्तावेण डज्झमाणमणो'** पश्चात्तापेन दह्यमान-चित्तः। **'संवेगजणिदकरणो'** संसारभीरुताजनितसंयमनक्रियः। **'देसं सव्वं वा घाएज्ज'** आत्माभिनवसंचितकर्म-पुद्गलस्कंधैकदेशनिर्जरां वा करोति, समस्तं वा तद् घातयेत्। यदि मध्यमो मन्दो वा परिणामो देशं घात-यति। अथ तीव्रः समस्तं इति भावः ॥६२४॥

तो णच्चा सुत्तविदू णालियधमगो व तस्स परिणामं।
जावदिएण विसुज्झदि तावदियं देदि जिदकरणो ॥६२५॥

'तो' तस्मात्। **'णच्चा'** ज्ञात्वा। **'सुत्तविदू'** प्रायश्चित्तसूत्रज्ञः सूरिः। किं? **'तस्स परिणामं'** कृता-पराधस्य परिणाम। कथं परकीयः परिणामो ज्ञायते इति चेत् सहवासेन तीव्रक्रोधस्तीव्रमान इत्यादिकं सुज्ञात-मेव तत्कार्योपलम्भात्, तमेव वा परिपृच्छ्य, कीदृग्भवतः परिणामोऽतिचारसमकालं वृत्त इति। किमिव? **'णालि-यधमगोव्व'** नालिकया यो धमति सुवर्णकारः सोऽग्नेर्बलाबलं विदित्वा धमनं करोति, एवं सूरिरपि अस्य कर्म तनुतरं महद्वेति विदित्वा। **'जावदिएण'** यावता प्रायश्चित्तेन। **'विसुज्झदि'** विशुद्धयति। **'तावदियं'** तावत्परि-माणं प्रायश्चित्तं अल्पं महद्वा। **'देदि'** ददाति। **'जिदकरणो'** परिचितप्रायश्चित्तदानक्रियः ॥६२५॥

नही होता ? या मेरे सम्पूर्ण चारित्र क्यों नहीं है ? मेरा शरीर क्यों इतना दुर्बल है कि तपोयोग-को सहन नही करता ? इत्यादि संक्लेश चित्त बाधारूप है। उससे अलग करनेके लिए सावद्य विशेषण देकर 'सावद्य संक्लिष्ट' कहा है। यह सावद्य संक्लेश सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र गुणोका नाश करता है। नवीन कर्मका बन्ध करता है। पूर्व संचित कर्मोको दृढ़ करता है। क्योंकि स्थिति बन्ध कषाययुक्त परिणामके निमित्तसे होता है। नाना प्रकारके हजारो वेद-नाओंसे व्याप्त नारक आदि दुर्गतियोंके भयको बढ़ाता है। अशुभ कर्मको स्थिर करता है ॥६२३॥

गा०–टी०—कोई असंयम आदिका सेवन करके भी पश्चात्तापके द्वारा अपने चित्तको जलाता है अर्थात् उसे अपने कर्म पर पश्चात्ताप होता है और वह संसारसे भयभीत होकर संयम-का पालन करता है। तब वह अपने द्वारा संचित नवीन कर्म पुद्गल स्कन्धोके एक देशकी निर्जरा करता है अथवा समस्त कर्म पुद्गल स्कन्धका घात करता है। यदि परिणाम मध्यम या मन्द होते हैं तब एक देशकी निर्जरा करता है। और तीव्र होते हैं तो समस्तका घात करता है ॥६२४॥

गा०–टी०—अतः प्रायश्चित्त शास्त्रका ज्ञाता और प्रायश्चित्त देनेकी क्रियासे परिचित, आचार्य उस अपराधी भिक्षुके परिणामोंको जानकर जितने प्रायश्चित्तसे उसकी विशुद्धि हो उतना ही थोड़ा या बहुत प्रायश्चित्त देते हैं। जैसे सुवर्णकार आगका बलाबल जानकर तदनुसार उसे धौंकनी से धौंकता है। उसी प्रकार आचार्य भी उसका अपराध थोड़ा या बहुत है यह जानकर प्रायश्चित्त देते हैं। दूसरेके परिणाम आचार्य कैसे जानते हैं ? इसका उत्तर है कि साथ रहनेसे यह

आउव्वेदसमग्गो तिगिंछिदे मदिविसारदो वेज्जो ।
रोगादंकाभिहदं जह णिरुजं आदुरं कुणइ ॥६२६॥

'आउव्वेदसमग्गो' निर्ज्ञातसमस्तायुर्वेदः । 'तिगिंछिदे' चिकित्सायां । 'मदिविसारदो' बुद्धया निपुणः । 'वेज्जो' वैद्यः । 'रोगातंकाभिहदं' महता अल्पेन वा व्याधिना पीडित । 'आदुरं' व्याधितं । 'जह' यथा । 'णिरुजं कुणदि' विशुद्धं करोति ॥६२६॥

एवं पवयणसारसुयपारगो सो चरित्तसोधीए ।
पायच्छित्तविदण्हू कुणइ विसुद्धं तयं खवयं ॥६२७॥

'एवं पवयणसारसुयपारगो' प्रवचने यत्सारभूत श्रुतं तस्य पारगत । 'पायच्छित्तविदण्हू' प्रायश्चित्त-क्रमज्ञः । 'चरित्तसोधीए' चारित्रशुद्धया । 'तयं खवयं' तकं क्षपकं । 'विसुद्धं कुणदि' विशुद्ध करोति ॥६२७॥

स्थविरे व्यावर्णितगुणे असत्यन्योऽपि भवति निर्यापक इति शङ्कायां कथयति—

एदारिसंमि थेरे असदि गणत्थे तहा उवज्झाए ।
होदि पवत्ती थेरो गणधरवसहो य जदणाए ॥६२८॥

'एदारिसम्मि' व्यावर्णितगुणे । 'थेरे' स्थविरे अविद्यमाने । 'गणत्थे' गणस्थे । 'तहा' तथा । 'उवज्झाए' उपाध्याये वाऽसति । 'होदि' भवति । 'णिज्जवओ' निर्यापक. । 'पवत्ती' प्रवर्तक । 'थेरो' स्थविरश्चिरप्रव्र-जितो मार्गज्ञो । 'गणधरवसहो य' बालाचार्यो वा । 'जदणाए' यत्नेन प्रवर्तमान । एवमालोचनायां गुणदोष-निरूपणा समाप्ता ॥६२८॥

सो कदसामाचारी सोज्झं कट्टु विधिणा गुरुसयासे ।
विहरदि सुविसुद्धप्पा अब्भुज्जदचरणगुणकंखी ॥६२९॥

'सो कदसामाचारी' स क्षपक कृतसमाचार । 'सोज्झं' शुद्धिं । 'कट्टु' कृत्वा 'विधिणा' विधिना ।

ज्ञात हो जाता है कि यह तीव्र क्रोधी या तीव्र मानी है । अथवा उसीसे पूछनेसे कि दोष करते समय आपके परिणाम कैसे थे, ज्ञात हो जाता है ॥६२५॥

गा०—अथवा जैसे समस्त आयुर्वेदका ज्ञाता और चिकित्सामें निपुण बुद्धि वाला वैद्य महती अथवा अल्प व्याधिसे पीडित रोगीको नीरोग करता है ॥६२६॥

गा०—उसी प्रकार प्रवचनके सारभूत श्रुतका पारगामी और प्रायश्चित्तके क्रमका ज्ञाता आचार्य चारित्रकी शुद्धिके द्वारा उस क्षपकको विशुद्ध करता है ॥६२७॥

उक्त गुणवाला आचार्य न होने पर क्या अन्य भी निर्यापक हो सकता है ? इसका समाधान करते हैं—

गा०—उक्त गुणवाले आचार्यके तथा उपाध्यायके संघमे न होने पर सावधानता पूर्वक प्रवृत्ति करने वाला प्रवर्तक अथवा स्थविर अथवा बालाचार्य निर्यापक होता है । जो अल्प शास्त्रज्ञ होते हुए भी सर्व संघकी मर्यादा चर्याको जानता है उसे प्रवर्तक कहते हैं । जिसे दीक्षा लिए बहुत काल बीत गया है तथा जो मार्गको जानता है उसे स्थविर कहते है ॥६२८॥

'गुरुसयासे' गुरुसमीपे । 'विहरदि' प्रवर्तते । 'सुविसुद्धप्पा' सुष्ठु विशुद्धात्मा । 'अब्भुज्जदचरणगुणकंखी' अभ्युद्यतचारित्रगुणकांक्षासमन्वितः ॥६२९॥

एवं वासारत्ते फासेदूण विविधं तवोकम्मं ।
संथारं पडिवज्जदि हेमंते सुहविहारम्मि ॥६३०॥

'एवं वासारत्ते' वर्षाकाले 'फासेदूण' स्पृष्ट्वा । 'विविधं' नानाप्रकारं । 'तवोकम्मं' तपःकर्म। 'संथारं' संस्तरं । 'पडिवज्जदि' प्रतिपद्यते । 'हेमंते' शीतकाले । 'सुहविहारम्मि' सुखविहारे । अनशने समुद्यतस्य महान्परिश्रमो न भवति तत्र काले इति सुखविहारमित्युच्यते ॥६३०॥

सव्वपरियाइयस्स य पडिक्कमित्तु गुरुणो णिओगेण ।
सव्वं समारुहित्ता गुणसंभारं पविहरिज्जा ॥६३१॥

'सव्वपरियाइयस्स' सर्वस्य ज्ञानदर्शनचारित्रपर्यायस्य अतिचारान् । 'पडिक्कमित्तु' प्रतिनिवृत्तो भूत्वा । 'गुरुणिओगेण' गुरूपदेशेन । 'गुणसंभारं' गुणानां समूहं । 'सव्वं' कृत्स्नं 'समारुहित्ता' सम्यगारुह्य । 'पविहरिज्ज' प्रवर्तेत । आलोचनागुणदोषा ॥६३१॥

कीदृशी वसतिर्योग्या का वा नेत्येतद्व्याचष्टे उत्तरेण ग्रन्थेन तथा योग्यां निरूपयति—

गंधव्वणट्टजट्टस्सचक्कजंतग्गिकम्मफरुसे य ।
णत्तियरजया पाडहियडोंबणडरायमग्गे य ॥६३२॥

'गंधव्वणट्टजट्टस्सचक्कजंतग्गिकम्मफरुसे य' गायकानां, नर्तकानां, गजानामश्वानां च शालायां, तिलमर्दनकुम्भकारशालायां च यन्त्रशालायां रजकपाटहिकडोंबनटगृहाणां समीपे । राजमार्गस्य वा समीपभूतायां वसतौ ॥६३२॥

गा०—वह क्षपक सामाचारी करके विधिपूर्वक प्रायश्चित्त द्वारा अपने दोषोंकी विशुद्धि करता है। और अच्छी तरहसे आत्माको विशुद्ध करके स्वीकृत चारित्रमें गुणोंकी इच्छा करता हुआ गुरुके पासमें साधना करता है ॥६२९॥

गा०—इस प्रकार वर्षाकालमें नाना प्रकारके तप करके सुख विहार वाले हेमन्त ऋतुमें संस्तरका आश्रय लेता है। हेमन्त ऋतुमें अनशन आदि करने पर महान् परिश्रम नहीं होता, सुखपूर्वक हो जाता है इसलिए उसे सुखविहार कहा है ॥६३०॥

गा०—समस्त ज्ञान दर्शन और चारित्रके अतिचारोंसे शुद्ध होकर, गुरुके उपदेशसे समस्त गुणोंके समूहको धारण करके क्षपकको समाधि मरणमें लगना चाहिए ॥६३१॥

आगे कौन वसतिका योग्य है और कौन अयोग्य है यह कहते हैं। प्रथम अयोग्यका कथन करते हैं—

गा०—गायनशाला, नृत्यशाला, गजशाला, अश्वशाला, कुम्भकारशाला, यन्त्रशाला, शंख हाथी दाँत आदिका काम करने वालोंका स्थान, कोलिक, धोबी, बाजा बजाने वाले, डोम, नट और राजमार्गके समीपका स्थान ॥६३२॥

चारणकोट्टगकल्लालकरकचे पुष्फदयसमीपे य ।
एवंविधवसधीए होज्ज समाधीए वाघादो ॥६३३॥

'**चारणकोट्टगकल्लालकरकचे**' चारणकोट्टकशालायां, रजकशालायां, रसवणिक्शालायां । पुष्पवाटस्य वा जलाशयस्य वा समीपभूताया । '**एवंविधवसधीए**' ईदृश्यां वसतौ वसत. । '**होज्ज वाघादो**' भवति व्याघातः । कस्य ? '**समाधीए**' समाधेश्चित्तैकाग्र्यस्य । इन्द्रियविषयाणा मनोज्ञाना शब्दाना रूपादीनां च सन्निधानाच्छब्दबहुलत्वाच्च ध्यानविघ्नो भवतीति प्रतिषिध्यते व्यावर्णिता वसति ॥६३३॥

क्व तर्हि कथ तिष्ठत्यस्योत्तरमाचष्टे—

पंचिदियप्पयारो मणसंखोभकरणो जहिं णत्थि ।
चिट्ठदि तहिं तिगुत्तो ज्झाणेण सुहप्पवत्तेण ॥६३४॥

'**पंचिदियप्पयारो**' पञ्चानामिन्द्रियाणां स्वविषयाभिमुख्येनादरात् प्रकृष्टं गमनं । '**जहिं**' यस्या वसतौ नास्ति । कीदृगिन्द्रियप्रचारो '**मणसंखोभकरणो**' मन संक्षोभकारी । '**तहिं**' तस्या वसतौ । '**चिट्ठदि**' तिष्ठति । '**तिगुत्तो**' कृतमनोवाक्कायसरक्षकः । '**ज्झाणेण**' ध्यानेन । '**सुहप्पवत्तेण**' सुखप्रवृत्तेन ॥६३४॥

मन संक्षोभहेतु पञ्चानामिन्द्रियाणां प्रचारो यस्या वसतौ नास्ति तस्यां सर्वस्यां तिष्ठति न वेत्याचष्टे—

उग्गमउप्पादणएसणाविसुद्धाए अकिरियाए हु ।
वसइ असंसत्ताए णिप्पाहुडियाए सेज्जाए ॥६३५॥

'**उग्गमउप्पादणएसणाविसुद्धाए**' उद्गमोत्पादनैषणादोषरहिताया । '**अकिरियाए हु**' [1]आत्मानमुद्दिश्य उपलेपनमार्जनक्रियारहिताया । '**वसदि**' वसति आस्ते । '**असंसत्ताए**' तत्रस्थैरागन्तुकैश्च सत्त्वैर्वर्जिताया ।

गा०-टी०—चारणशाला, पत्थरका काम करनेवालोंका स्थान, कलालोंका स्थान, आरासे चीरने वालोंका स्थान, पुष्पवाटिका, मालाकारका स्थान, जलाशयके समीपका स्थान वसतिके योग्य नहीं है। ऐसी वसतिकामें रहनेसे समाधिका व्याघात होता है। इन्द्रियोंके विषय मनोज्ञ शब्द रूप आदिके सम्बन्धसे तथा शब्दोंकी बहुलता—होहल्लेसे ध्यानमें विघ्न होता है। इसलिए ऊपर कही वसतिकाओंका निषेध किया है ॥६३३॥

तब कहाँ रहते हैं ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—जहाँ मनको संक्षोभ करने वाला पाँचों इन्द्रियोंका अपने विषयोंमे उत्सुकतापूर्वक गमन संभव नही है उस वसतिकामें साधु क्षपक मन वचन कायको गुप्त करके, सुखपूर्वक ध्यान करता हुआ निवास करता है ॥६३४॥

मनको संक्षोभका कारण-पाँचों इन्द्रियोंका विषयोंमें गमन जहाँ नहीं है ऐसी सब वसतिकाओंमें क्या निवास करता है ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—जो वसति उद्गम उत्पादन और एषणा दोषसे रहित होती है, अपने उद्देशसे जिसमें लिपाई पुताई आदि नहीं कराई गई है जिसमें उसी वसतिकामे रहने वाले तथा बाहरसे

---

१. आत्मना उप-आ० मु० ।

'णिप्पाहुडियाए' संस्काररहितायां । 'सेज्जाए' वसतौ ॥६३५॥

निर्दोषा वसतिस्तर्हि क्व आश्रयितव्या इत्यत्र वसतिं व्यावर्णयति—

सुहणिक्खवणपवेसणघणाओ अवियडअणंधयाराओ ।
दो तिण्णि वि [1]वसधीओ घेत्तव्वाओ विसालाओ ॥६३६॥

'सुहणिक्खवणपवेसणघणाओ' अक्लेशप्रवेशनिर्गमन[2]घना । 'अवियडअणंधयाराओ' अविवृतद्वारा अनन्धकाराश्च जघन्यतो द्वे शाले ग्राह्ये । एकत्र क्षपको वसति, अन्यस्यां अन्ये यतयो बाह्यजनाश्च धर्मश्रवणार्थमायाताः । विवृतद्वारतया शीतवातादिप्रवेशात्त्वगस्थिमात्रतनोर्दुस्सहं दुःखं स्यात् । शरीरमलत्यागोऽपि कथमप्रच्छन्ने क्रियेत । अन्धकारबहुले असंयमः स्यात् । असुखनिष्क्रमणप्रवेशनायां आत्मविराधना संयमविराधना च ॥६३६॥

अन्यच्चाचष्टे—

घणकुड्डे सकवाडे गामबहिं बालवुड्ढगणजोग्गे ।
उज्जाणघरे गिरिकंदरे गुहाए व सुण्णहरे ॥६३७॥

'घणकुड्डे' दृढकुड्ये । 'सकवाडे' कपाटसहिते । 'गामबहिं' ग्रामबाह्ये देशे । 'बालवुड्ढगणजोग्गे' बालानां वृद्धानां गणस्य चतुर्विधस्य योग्ये उद्यानगृहे । 'गुहाए' गुहायां । वा 'सुण्णघरे' शून्यगृहे वा । 'संथारो होदित्ति' क्रियापदाभिसम्बन्धः ॥६३७॥

आने वाले प्राणी आकर वास नहीं करते, तथा जो संस्कार रहित वसति है उसमें साधु निवास करते हैं ॥६३५॥

तब कैसी निर्दोष वसतिमें रहना चाहिए, इसके उत्तरमें वसतिका वर्णन करते हैं—

गा०-टी०—जिसमें विना कष्टके सुखपूर्वक प्रवेश और निर्गमन होता हो, जिसका द्वार खुला न हो तथा जिसमें अन्धकार न हो। ऐसी दो अथवा तीन विशालवसतिका ग्रहण करनी चाहिए। जघन्यसे दो वसति लेना चाहिए। एकमें क्षपक रहता है। दूसरीमें अन्य यति और धर्म सुननेके लिए आये बाहरके आदमी रहते हैं। [यदि तीन ग्रहण करते हैं तो एकमें क्षपक, एकमें अन्य यति और एकमें धर्मोपदेश होता है] यदि वसतिका द्वार खुला हो तो शीतवायु आदिके प्रवेशसे हाडचाममात्र शेष रहे क्षपकको दुःसह दुःख होता है। खुले स्थानमें वह मलमूत्रका त्याग भी कैसे करेगा? अन्धेरी वसतिमें असंयम होगा - जीवजन्तु दृष्टिगोचर नहीं होंगे। सुखपूर्वक आना जाना सम्भव न होनेसे अपनी भी विराधना होती है और संयम की भी विराधना होती है ॥६३६॥

और भी कहते हैं—

गा०—जिसकी दीवार मजबूत हो, कपाट सहित हो, गाँवके बाहर ऐसे प्रदेशमें हो जहाँ बच्चे बूढ़े और चार प्रकारका संघ जा सकता हो, ऐसी वसतिमें, उद्यानघरमें, गुफामें अथवा शून्यघरमें क्षपकका संथरा होता है ॥६३७॥

---

१. सालाओ—मु० । २. मना आर्य—आ० मु० ।

आगंतुघरादीसु वि कडएहिं य चिलिमिलीहिं कायव्वो।
खवयस्सोच्छागारो धम्मसवणमंडवादी य ॥६३८॥

'**आगंतुघरादीसु वि**' आगन्तुकैः स्कन्धावारायातैः सार्थिकैः कृतेषु गृहादिषु 'संथारो होदित्ति' वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः। उक्तानां वसतीनामलाभे '**कडएहिं खवयस्सोच्छागारो कायव्वो**' कटकैः क्षपकस्य अवस्थितये प्रच्छादनं कार्यं। '**धम्मसवणमंडवादी य**' धर्मश्रवणमण्डपादिकं च। अनेन बहुतरासंयमनिमित्तवसतित्यागः, संयमसाधनवसतिविकल्पश्च कथितः। सेज्जा ॥६३८॥

एवंभूतायां वसतौ संस्तर इत्थंभूत इत्याचष्टे—

पुढवीसिलामओ वा फलयमओ तणमओ य संथारो।
होदि समाधिणिमित्तं उत्तरसिर अह व पुव्वसिरो ॥६३९॥

'**पुढवीसंथारो होदि**' पृथ्वीसंस्तरो भवति। '**सिलामओ वा**' शिलामयो वा। '**फलकमओ वा**' फलकमयो वा। '**तणमओ वा**' तृणमयो वा '**समाधिणिमित्त**' समाध्यर्थं। '**उत्तरसिरमथ पुव्वसिर**' पूर्वोत्तमाग उत्तरोत्तमांगो वा संस्तरः कार्यः। प्राची दिगभ्युदयिकेषु कार्येषु प्रशस्ता। अथवोत्तरा दिक् स्वयंप्रभाद्युत्तरदिग्गततीर्थकरभक्त्युद्देशेन ॥६३९॥

भूमिसंस्तरनिरूपणाय गाथा—

अघसे समे असुसिरे अहिसुयअविले य अप्पपाणे य।
असिणिद्धे घणगुत्ते उज्जोवे भूमिसंथारो ॥६४०॥

'**अघसे**' अमृद्वी। '**समे**' अनिम्नोन्नता। '**असुसिरे**' असुषिरा '**अविला**'। '**अहिसुया**' उद्देहिकारहिता। '**अप्पपाणे**' निर्जन्तुका। '**असिणिद्धे**' अनार्द्रा। '**घणगुत्ते**' घना गुप्ता। '**उज्जोवे**' उद्योतवती भूमि

गा०—सेनाके पड़ावके साथ आये हुए व्यापारियोंके द्वारा बनाये गये घरोंमें और आदि शब्दसे इस प्रकारके श्रमणोंके योग्य उद्यानगृह आदिमें क्षपकका सन्थरा करना चाहिए। उक्त प्रकारकी वसतियोंके न मिलनेपर क्षपकके रहनेके लिए बाँसके पत्तोंसे आच्छादित और प्रकाशके लिए झीरी सहित घर बना देना चाहिए। तथा धर्म सुननेके लिए मण्डप आदि भी बना देना चाहिए। इससे बहुत असंयममें निमित्त वसतिका त्याग और संयममें साधन वसतिका निर्माण कहा ॥६३८॥

गा०—इस प्रकारकी वसतिमें इस प्रकारका संस्तर होना चाहिए, यह कहते है—समाधिके निमित्त संथरा पृथिवीमय, या शिलामय या फलकमय—लकड़ीका, अथवा तृणोंका होता है। उसका सिर उत्तर की ओर अथवा पूरब की ओर होना चाहिए, क्योंकि लोकमें मांगलिककार्योंमें पूरब दिशा अच्छी मानी जाती है उसीमें सूर्यका उदय होता है। अथवा उत्तर दिशामें विदेह क्षेत्रमें स्थित तीर्थंकरोंके प्रति भक्ति प्रदर्शित करनेके उद्देशसे उत्तरदिशा भी शुभ मानी जाती है ॥६३९॥

पृथ्वीमय संस्तरका कथन करते हैं—

गा०-टी०—जो भूमि कठोर हो, ऊँची नीची न हो, सम हो, छिद्र रहित हो, चींटी आदिसे

'भूमिसंथारो' भूमिसंस्तरः । मृद्वी भूमिर्बाध्यते गात्रकरचरणमर्दनेन । असमाने तयात्मनो बाधा । सुषिरे बिले वा प्रविष्टा निर्गतास्तत्रस्थाः पीड्यन्ते । आर्द्रा चेदप्कायिकानां पीडा । अनुद्योते अपश्यतः कथमसंयमपरिहारः । अन्ये तु सप्तम्यन्ततां व्याचक्षते । अमृद्वयां अनिम्नोन्नतायामसुषिरायां इति तदयुक्तं । आधेयस्य संस्तरस्य अन्यस्याभावात् । अपि च पुढवी सिलामओ वा इति वचनेन पृथिवीरूपतया संस्तरस्योक्ते ॥६४०॥

विद्धत्थो य अफुडिदो णिक्कंपो सव्वदो असंसत्तो ।
समपट्ठो उज्जोवे सिलामओ होदि संथारो ॥६४१॥

विद्धत्थो य विध्वस्तः दाहात्कुट्टनाद्घर्षणाद्वा । 'अफुडिदो' अस्फुटितः । 'णिक्कंपो' निश्चलः । 'सव्वदो' समन्तात् । 'असंसत्तो' जीवरहित । पाषाणमत्कुणादिरहित इति यावत् । 'समपट्ठो' समपृष्ठः । 'उज्जोए' उद्योते । 'सिलामओ होदि संथारो' शिलामयो भवति संस्तरः ॥६४१॥

भूमिसमरुंदलहुओ अकुक्कुचोकंग[1] अप्पमाणो य ।
अच्छिद्दो य अफुडिदो लण्हो वि य फलयसंथारो ॥६४२॥

'भूमिसमरुंदलहुओ' भूम्यवलग्नः, महान् लघुः । [2]'अकुक्कुचोगंगि अप्पमाणो य' अचलः, एकशरीरः, निर्जन्तुकः । 'अच्छिद्दो य' अच्छिद्रः । 'अफुडिदो' अस्फुटितः । 'लण्हो' मसृणः । 'फलगसंथारो' फलकसंस्तरः ॥६४२॥

रहित हो, जन्तुरहित हो, क्षपकके शरीरके बराबर प्रमाणवाली हो, गीली न हो, मजबूत और गुप्त हो, प्रकाशसहित हो वही भूमि संस्तररूप होती है। कोमल भूमि शरीर हाथ पैरके दबावसे दब जाती है। ऊँची-नीची भूमिमें क्षपकको कष्ट होता है। बिल होनेसे उनमें रहनेवाले या उनसे निकलनेवाले जीवोंको पीडा होती है। गीली होनेसे जलकायिक जीवोंको पीडा पहुँचती है। प्रकाशरहित भूमिमें कुछ दिखाई न देनेसे असंयमसे बचाव नहीं होता।

अन्य व्याख्याकार उक्त शब्दोंकी सप्तमी विभक्तिपरक व्याख्या करते हैं कि कठोर भूमिमें, छिद्ररहितमें संस्तर होना चाहिए आदि। किन्तु यह युक्त नहीं है क्योंकि आधेय संस्तर भूमिसे भिन्न नहीं है भूमि ही संस्तररूप होती है। तथा 'पुढवीसिलामओवा' गाथाके इस पदसे संस्तरको पृथ्वीरूप कहा है।

विशेषार्थ—यदि भूमिमें चींटी आदिका वास होता है तो संन्यासकालमें वे क्षपकको काट सकती है। जन्तुसहित होनेपर प्राणिसंयमकी विराधना होती है। क्षपकके शरीरके प्रमाणसे अधिक होनेपर व्यर्थ प्रतिलेखना आदि करना होती है। शरीरके प्रमाणसे कम होनेपर क्षपकको शरीर संकोचनेसे दुःख होता है। यदि भूमि दृढ़ न हो तो शरीरके भारसे दबनेपर उसके अन्दर जन्तु हों तो उन्हें बाधा होती है और क्षपकको भी कष्ट होता है। प्रकट भूमि होनेपर मिथ्यादृष्टिजनोंका सम्पर्क होता है ॥६४०॥

गा०—शिलामय संस्तर आगसे, कूटनेसे अथवा घिसनेसे प्रासुक हुआ हो, टूटा-फूटा न हो, निश्चल हो, सब ओरसे जीवरहित हो, अर्थात् पत्थरमें रहनेवाले खटमल आदिसे रहित हो। समतल हो, ऊँचा-नीचा न हो। प्रकाशयुक्त हो। ऐसा शिलामय संस्तर होता है ॥६४१॥

गा०—फलकसंस्तर सब ओरसे भूमिसे लगा हो, विस्तीर्ण हो, हलका हो, उठाने लाने ले

---

१. अकुडिलएगंगि आ० मु०। १. अचलत एवेगंगि—आ०।

णिस्संधी य अपोल्लो णिरुवहदो समधिवास्सणिज्जंतु ।
सुहपडिलेहो मउओ तणसंथारो हवे चरिमो ॥६४३॥

'णिस्संधी य' ग्रन्थिरहितः । 'अपोल्लो' अच्छिद्रः । 'णिरुवहदो' निरुपहतः अचूर्णितः । समधिवास्स-णिज्जन्तु मृदुस्पर्शो निर्जन्तुकश्च । 'सुहपडिलेहो सुखेन प्रतिलेखनीयः सुखेन शोध्य इति यावत् । 'मउगो' मृदुः । 'तणसंथारो हवे चरिमो' तृणसंस्तरो भवेदन्त्यः ॥६४३॥

जुत्तो पमाणरइओ उभयकालपडिलेहणासुद्धो ।
विधिविहिदो संथारो आरोहव्वो तिगुत्तेण ॥६४४॥

'जुत्तो' युक्तो योग्यः । 'पमाणरइदो' प्रमाणसमन्वितः । नात्यल्पो नातिमहान् । 'उभयकालपडि-लेहणासुद्धो' सूर्योदयास्तमनकालद्वये प्रतिलेखनेन शुद्धः । 'विधिविहिदो संथारो' शास्त्रनिर्दिष्टक्रमकृतसंस्तर. । 'आरोहव्वो' आरोढव्य. । केन ? 'तिगुत्तेण' त्रिगुप्तेन कृताशुभमनोवाक्कायनिरोधेन ॥६४४॥

णिसिदित्ता अप्पाणं सव्वगुणसमण्णिदंमि णिज्जवए ।
संथारम्मि णिसण्णो विहरदि सल्लेहणाविधिणा ॥६४५॥

'णिसिदित्ता' स्थापयित्वा त्यक्त्वा । 'अप्पाणं' आत्मानं । 'सव्वगुणसमण्णिदम्मि' सर्वगुणसमन्विते णिज्जवगे' निर्यापके । 'संथारम्मि' संस्तरे । 'णिसण्णो' निषण्णो । 'विहरदि' चेष्टते । 'सल्लेहणा विहिणा' सल्लेखना द्विप्रकारा बाह्याभ्यन्तरा चेति । द्रव्यसल्लेखना भावसल्लेखना च । आहारं परिहाय शरीरसल्लेखना

जानेमें सुकर हो, अचल हो—शब्द न करता हो, एकरूप हो, जन्तुरहित हो, छिद्ररहित हो, टूटा-फूटा न हो, चिकना हो । ऐसा फलक संस्तर होता है ॥६४२॥

विशेषार्थ—पं० आशाधरजीने अपनी टीकामें 'अप्पपाणो' के स्थानमे 'अप्पमाणो' पाठ रखकर उसका अर्थ पुरुष प्रमाण किया है अर्थात् फलक क्षपकके शरीरके प्रमाण होना चाहिए ॥६४२॥

गा०—तृणसंस्तर गाँठरहित तृणोसे बना हो, तृणोंके मध्यमें छिद्र न हों, टूटे तृण न लगे हों, मृदुस्पर्शवाला हो, जन्तुरहित हो, सुखपूर्वक शुद्धि करनेके योग्य हो, और कोमल हो । ऐसा अन्तिम तृणसंस्तर होता है ॥६४३॥

विशेषार्थ—पं० आशाधरजी ने अपनी टीकामें 'समधिवास्स' का अर्थ 'सम्यक् रूपसे अधिवास करनेके योग्य' किया है अर्थात् जिसपर लेटनेसे खाज पैदा न हो ॥६४३॥

गा० - इस प्रकार संस्तर योग्य हो, प्रमाणयुक्त हो—न बहुत छोटा हो, और न बहुत बड़ा हो, दोनों समय अर्थात् सूर्योदय और सूर्यास्तके समय प्रतिलेखना द्वारा शुद्ध किया गया हो, और शास्त्रमें निर्दिष्ट क्रमके अनुसार बनाया गया हो । ऐसे संस्तर पर अशुभ मन वचन कायका निरोध करके क्षपकको आरोहण करना चाहिए ॥६४४॥

गा०-टी०—सर्वगुणोंसे सम्पन्न निर्यापकाचार्य पर अपनेको समर्पित करके क्षपक संस्तर पर आरोहण करता है और सल्लेखनाको विधिसे विचरता है। सल्लेखनाके दो प्रकार हैं—बाह्य और अभ्यन्तर । अथवा द्रव्य सल्लेखना और भावसल्लेखना । आहारको त्यागकर शरीरकी सल्ले-

करोति । सम्यग्दर्शनादिभावनया मिथ्यात्वादिपरिणामांस्तनूकरोति । [1]एवं वसतिसंस्तरोति एवं वसतिसंस्तरौ निरूपितौ ॥६४५॥

निर्यापकान्निरूपयति—

पियधम्मा दढधम्मा संविग्गा वज्जभीरुणो धीरा ।
छंदण्हू पच्चइया पच्चक्खाणम्मि य विदण्हू ॥६४६॥

'पियधम्मा' प्रियो धर्मो येषां ते भवन्ति प्रियधर्माणः । 'दढधम्मा' धर्मे स्थिराः । 'संविग्गा' संविग्नाः संसारभीरवः । 'वज्जभीरुणो' पापभीरवो । 'धीरा' धृतिमन्तः । 'छंदण्हू' अभिप्रायज्ञाः । 'पच्चइगा' प्रत्ययिताः । 'पच्चक्खाणम्मि य विदण्हू' प्रत्याख्यानक्रमज्ञाः । धर्मश्चारित्रं तेन प्रियचारित्रा यतयः । ततश्चारित्रे क्षपकमपि वर्तयितुमुत्सहन्ते तत्साहाय्यतां च कर्तुं । यद्यपि चारित्रेऽनुरागवन्तः सम्यग्दृष्टितया तथापि चारित्रमोहोदयाददृढचारित्रा भवन्ति इति विशेषणमुपादत्ते दृढचारित्रा इति । अदृढचारित्रा हि न असंयमं परिहरेयुः । कस्मादसंयमं परिहरन्ति पापभीरवो यस्मात् ? संविग्ना विचित्रव्यसननि[2]धानभूतचतुर्गतिभ्रमणभयव्याकुलाः । धीरा इत्यनेन परीषहसहा इत्याख्यायते । परिषहैः पराजितो न संयमं परिपालयतीति मन्यते । क्षपकेण अनुक्तमपि तदिङ्गितेनावगततत्प्रयोजना वैयावृत्त्ये वर्तन्ते । [3]नानभिप्रायज्ञा इति वर्णयितुं छन्दण्हू इत्युक्तं । प्रत्ययितव्या गुरुभिर्नामी असंयमं कुर्वन्ति क्षपके वैयावृत्त्योद्यता इति साकारनिराकारप्रत्याख्यानक्रमज्ञाः ॥६४६॥

खना करता है । और सम्यग्दर्शन आदि भावनासे मिथ्यात्व आदि परिणामोंको कृश करता है । इस प्रकार वसति और संस्तरका कथन किया ॥६४५॥

अब निर्यापकोंका कथन करते हैं—

गा०—जिन्हे धर्म प्रिय है, जो धर्ममें स्थिर हैं, संसारसे भीरु हैं, पापसे डरते हैं, धैर्यवान् हैं, अभिप्रायको जानते हैं, विश्वासके योग्य हैं, प्रत्याख्यानके क्रमको जानते हैं, ऐसे यति निर्यापक होते हैं ॥६४६॥

टी०—यहाँ धर्मसे चारित्रका अभिप्राय है । अतः निर्यापक यतियोंको चारित्र प्रिय होता है । इससे वे क्षपकको भी चारित्रमें प्रवृत्ति करनेके लिए उत्साहित करते हैं और उसकी सहायता करते हैं । यद्यपि सम्यग्दृष्टि होनेसे यति चारित्रमें अनुराग रखते हैं तथापि चारित्र मोहका उदय होनेसे चारित्रमें दृढ़ नहीं होते । इसलिए 'दृढ़ चारित्र' विशेषण दिया है । जिनका चारित्र दृढ़ नहीं होता वे असंयमका परिहार नहीं करते । पापभीरु होनेसे असंयमका परिहार करते हैं क्योंकि वे विचित्र दुःखोंकी खानरूप चार गतियोंमें भ्रमणके भयसे व्याकुल होते हैं । तथा 'धीर' पदसे परीषहोंका सहने वाले कहा है । जो परीषहोंसे हार जाता है वह संयमका पालन नहीं करता ऐसा माना जाता है । क्षपकके न कहने पर भी उसके संकेत मात्रसे उसका अभिप्राय जानकर वैयावृत्यमें प्रवृत्त होते हैं इसलिए निर्यापक अभिप्रायको न जानने वाले नहीं होते । यह बतलानेके लिए 'छदण्हु' कहा है । तथा गुरुओंके द्वारा विश्वास योग्य होते हैं कि ये असंयम नहीं करते और क्षपककी वैयावृत्यमें तत्पर रहते हैं । वे साकार और निराकार प्रत्याख्यानके क्रमको जानते हैं । अर्थात् उक्त गुण युक्त होने पर भी जिन्होंने पहले किसी क्षपककी समाधि नहीं देखी है ऐसे यतियों-

---

१. 'एवं'''संस्तरोति' इति पाठो नास्ति आ० मु० । २. विधान—अ० । ३. नानाभि—अ० मु० ।

कप्पाकप्पे कुसला समाधिकरणुज्जुदा सुदरहस्सा ।
गीदत्था भयवंतो अडदालीसं तु णिज्जवया ॥६४७॥

'**कप्पाकप्पे कुसला**' योग्यमिदमयोग्यमिति भक्तपानपरीक्षाया कुशलाः । '**समाधिकरणुज्जुदा**' क्षपकचित्तसमाधानकरणोद्यता । '**सुदरहस्सा**' श्रुतप्रायश्चित्तग्रन्था । '**गीदत्था**' गृहीतसूत्रार्थाः । भगवन्ते भगवन्त स्वपरोद्धरणमाहात्म्यवन्त. । '**अडदालीसं तु**' अष्टचत्वारिंशत्संख्या । '**णिज्जवया**' निर्यापका यतयः ॥६४७॥

निर्यापका इमं इममुपकारं कुर्वन्तीति कथनायोत्तरप्रबन्ध.—

आमासणपरिमासणचंकमणसयण-णिसीदणे ठाणे ।
उव्वत्तणपरियत्तणपसारणा-उंटणादीसु ॥६४८॥

'**आमासणपरिमासणचंकमणसयणणिसीदणे ठाणे**' क्षपकस्य शरीरैकदेशस्य स्पर्शनं आमर्शन, समस्तशरीरस्य हस्तेन स्पर्शन परिमर्शन । चक्रमणमितस्ततो गमन शयन । '**णिसीदणे ठाणे**' निषद्यास्थानमित्येतेषु । '**उव्वत्तणपरियत्तणपसारणाउंटणादीसु**' उद्वर्त्तने पार्श्वात्पार्श्वान्तरसचरणे । हस्तपादादिप्रसारणे आकुञ्चनमित्यादिषु च ॥६४८॥

संजदकमेण खवयस्स देहकिरियासु णिच्चमाउत्ता ।
चदुरो समाधिकामा ओलग्गंता पडिचरंति ॥६४९॥

'**संजदकमेण**' प्रयत्नेनैव । '**खवगस्स**' क्षपकस्य । '**देहकिरियासु**' शरीरक्रियासु व्यावर्णितासु । '**णिच्च**' प्रतिदिन । **आवुत्ता**' आयुक्ता. । '**चदुरो**' चत्वारो यतय । समाधिकामा क्षपकस्य समाधिकरणमभिलषन्त । '**ओलग्गंता**' उपासना कुर्वन्त । '**पडिचरन्ति**' प्रतिचारका भवन्ति ॥६४९॥

को गुरु क्षपककी परिचर्यामें नियुक्त नही करते । किन्तु जो विश्वस्त होते है उन्हे ही नियुक्त करते हैं ॥६४६॥

गा०—जो यह योग्य है और यह अयोग्य है इस प्रकार भोजन और पानकी परीक्षामे कुशल होते हैं, क्षपकके चित्तका समाधान करनेमें तत्पर रहते है, जिन्होने प्रायश्चित्त ग्रन्थोंको सुना है जो सूत्रके अर्थको हृदयसे स्वीकार किये है, अपने और दूसरोके उद्धार करनेके माहात्म्यसे शोभित हैं । ऐसे अडतालीस निर्यापक यति होते हैं ॥६४७॥

निर्यापक क्या-क्या करते हैं, यह कहते हैं—

गा०—क्षपकके शरीरके एकदेशके स्पर्शन करनेको आमर्शन कहते है । और समस्त शरीरका हस्तसे स्पर्शन करनेको परिमर्शन कहते हैं । इधर-उधर जानेको चक्रमण कहते हैं । अर्थात् परिचारक मुनि क्षपकके शरीरको अपने हाथसे सहलाते है, दबाते है । चलने फिरनेमे सहायता करते हैं । सोने, बैठने, उठनेमें सहायता करते हैं । उद्वर्तन अर्थात् एक करवटसे दूसरी करवट लिवाते हैं । हाथ पैर फैलानेमे संकोचनेमें सहायता करते है ॥६४८॥

गा०—चार परिचारक यति मुनिमार्गके अनुसार क्षपककी ऊपर कही शारीरिक क्रियाओंमें प्रतिदिन लगे रहते हैं । वे क्षपककी समाधिकी कामना करते हुए उपासनापूर्वक परिचर्या करते हैं ॥६४९॥

'चत्तारि जणा धम्मं कहंति विकहाओ वज्जित्ता' इति पदसम्बन्धः चत्वारो धर्मं कथयन्ति विकथाः परित्यज्य । कास्ता विकथा भवन्ति—

भत्तित्थिरायजणवदकंदप्पत्थणडणट्टियकहाओ ।
वज्जित्ता विकहाओ अज्झप्पविराधणकरीओ ॥६५०॥

'भत्तित्थिराय जणवदकंदप्पत्थणडणट्टियकहाओ' भत्तं भज्यते सेव्यते इति भक्तं चतुर्विधाहारः । भक्तस्य, स्त्रीणां, राज्ञां, जनपदानां रागोद्रेकात्प्रहाससम्मिश्राशिष्टवाक्प्रयोगः कन्दर्पः तस्य अर्थस्य, नटानां, नर्तिकानां च याः कथास्ताः । 'अज्झप्पविराधणकरीओ' आत्मानमधिवर्तते इत्याध्यात्मिकं । आत्मनस्तत्त्वनिश्चयनिरूपणं ध्यानं (?) तस्य 'विराधणकरीओ' विराधनाकारिणीः ॥६५०॥

कथं तर्हि कथयन्ति—

अक्खलिदममिडिदमव्वाइद्धमणुच्चमविलंबिदममंदं ।
कंतममिच्छामेलिदमणत्थहीणं अपुणरुत्तं ॥६५१॥

'अक्खलिदं' अस्खलितं अन्यथा शब्दोच्चारण शब्दस्खलना, विपरीतार्थनिरूपणा अर्थस्खलना । 'अमिडिदं' अनाम्रेडितं । असंमुग्ध । 'अव्वाइद्धं' अव्याहतं अप्रतिहतं प्रत्यक्षादिना । 'अणुच्चं' नातिमहद्ध्वनिसमेतं । 'अविलंबितं' नातिशनैः । 'अमंदं' नात्यल्पघोषं । 'कंतं' श्रोत्रमनोहरं । 'अमिच्छामेलिदं' मिथ्यात्वेनानुन्मिश्रं । 'अणत्थहीणं' अभिधेयशून्यं यन्न भवति । 'अपुणरुत्तं' उक्तस्य अविशेषेण भूयोऽभिधानं पुनरुक्तं यथा तत्पौनरुक्तं न भवति ॥६५१॥

णिद्धं मधुरं हिदयंगमं च पल्हादणिज्ज पत्थं च ।
चत्तारि जणा धम्मं कहंति णिच्चं विचित्तकहा ॥६५२॥

चार परिचारक मुनि विकथा त्यागकर धर्मकथा कहते हैं ऐसा आगे कहेंगे । यहाँ विकथाओंको कहते हैं—

गा०—जो भोगा या सेवन किया जाता है वह भक्त है अर्थात् चार प्रकारका आहार । आहारकी कथा, स्त्रीकी कथा, राजाकी कथा, देशोंकी कथा । रागके उद्रेकसे हँसीसे मिश्रित अशिष्ट वचन बोलना कन्दर्प है । उसकी कथा, नटोंकी और नाचनेवालियोंकी कथा विकथा हैं । ये अध्यात्मकी विराधना करती है । जो आत्मासे सम्बद्ध हो उसे आध्यात्मिक कहते हैं । आत्मतत्त्वके यथार्थ कथनको अध्यात्म कहते हैं । ये कथाएँ उसका विघात करती है ॥६५०॥

गा०-टी०—वे मुनि अस्खलित धर्मकथा कहते हैं । कुछका कुछ शब्द बोलना शब्दस्खलन है । विपरीत अर्थ करना अर्थस्खलन है । इस स्खलनसे रहित कथा कहते हैं । एक बातको दुहराते नहीं । सन्देहमें डालनेवाला कथन नहीं करते । प्रत्यक्ष आदिसे अविरुद्ध कथन करते हैं । बहुत जोरसे नहीं बोलते । न बहुत रुक-रुककर बोलते हैं । बहुत मन्द आवाजसे भी नहीं बोलते । कानोंको प्रिय वचन बोलते हैं । मिथ्यात्वकी बात नहीं करते । ऐसी बात नहीं कहते जिसका कुछ अर्थ ही न हो । जो बात कही हो उसे ही पुनः कहना पुनरुक्त है । वे पुनरुक्त कथन नहीं करते ॥६५१॥

'पियइ' प्रियं । 'मधुरं' ललितपदवर्णरचनं । 'हिदयंगमं' श्रोत्रहृदयानुप्रवेशि । 'पल्हादणिज्ज पत्थं च' सुखदं पथ्यं च । 'कहेंति' कथयन्ति 'णिच्चं' अनुपरतं । 'विचित्तकहा' विचित्रकथा नानाकथाकुशला. ॥६५२॥

कीदृशी क्षपकस्य कथा भवितव्या इत्यत्राचष्टे—

खवयस्स कहेदव्वा दु सा कहा जं सुणित्तु सो खवओ ।
जहिदविसोत्तियभावो गच्छदि संवेगणिव्वेगं ॥६५३॥

'खवयस्स' क्षपकस्य । 'सा कहा' सा कथा । 'कहेदव्वा' कथयितव्या । 'सो खवगो' असौ क्षपकः । 'जं' यां कथां । 'सुणित्तु' श्रुत्वा । 'जहिदविसोत्तियभावो' त्यक्ताशुभपरिणाम । 'गच्छदि संवेगणिव्वेगं' संसार-भीरुतां शरीरभोगनिर्वेदं च प्रतिपद्यते ॥६५३॥

आक्खेवणी य संवेगणी य णिव्वेयणी य खवयस्स ।
पावोग्गा होंति कहा ण कहा विक्खेवणी जोग्गा ॥६५४॥

आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी, निर्वेजनी चेति चतस्रः कथाः । तासां मध्ये का योग्या ? का वायोग्येत्य-त्रोत्तरं ब्रवीति । 'आक्खेवणी य' इति आक्षेपणी, संवेजनी, निर्वेजनी च कथा क्षपकस्य श्रोतुं, आख्यातुं च योग्या । विक्षेपणी तु कथा न योग्या इति सूत्रार्थः ॥६५४॥

तासां कथानां स्वरूपनिर्देशायोत्तरं गाथाद्वय—

आक्खेवणी कहा सा विज्जाचरणमुवदिस्सदे जत्थ ।
ससमयपरसमयगदा कथा दु विक्खेवणी णाम ॥६५५॥

'आक्खेवणी कहा सा' सा आक्षेपणी कथा भण्यते । 'जत्थ' यस्यां कथायां । 'विज्जाचरणमुवदिस्सदे' ज्ञानं चारित्रं चोपदिश्यते । एवंभूतानि मत्यादीनि ज्ञानानि सामायिकादीनि वा चारित्राण्येवंस्वरूपाणि इति । 'ससमयपरसमयगदा कथा दु विक्खेवणी णाम' या कथा स्वसमयं परसमयं वाश्रित्य प्रवृत्ता सा विक्षेपणी

गा०—नाना कथाओंमें कुशल वे चार परिचारक यति प्रिय, मधुर अर्थात् ललितपद और वर्णवाली, श्रोताके हृदयमें प्रवेश करनेवाली सुखदायक हितकारी कथा निरन्तर कहते हैं ॥६५२॥

गा०—क्षपकको किस प्रकारकी कथा कहनी चाहिए, यह कहते है—क्षपकको ऐसी कथा कहनी चाहिए जिसे सुनकर वह अशुभ परिणामोंको छोडे और संसारसे तथा शरीरसे विरक्त होवे ॥६५३॥

गा०—चार प्रकारकी कथाएँ होती हैं—आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेजनी । इनमेंसे कौन योग्य है और कौन अयोग्य है ? इसका उत्तर देते हैं—आक्षेपणी, विक्षेपणी और निर्वेजनी कथा क्षपकके सुनने और कहनेके योग्य है किन्तु विक्षेपणी कथा योग्य नहीं है ॥६५४॥

आगे दो गाथाओंसे उनका स्वरूप कहते हैं—

गा०-टी०—जिसमें ज्ञान और चारित्रका उपदेश हो उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं । यथा, मति आदि ज्ञान इस प्रकारके होते हैं अथवा सामायिक आदि चारित्रोंका ऐसा स्वरूप है ।

१. जहदि विसूतिय भावं–अ० ।

कथ्यते। सर्वथा नित्यं, सर्वथा क्षणिकं, एकमेवानेकमेव वा, सदेव असदेव वा, विज्ञानमात्रमेव शून्यमेवे-त्यादिकं परसमयं पूर्वपक्षीकृत्य प्रत्यक्षानुमानेन आगमेन च विरोधं प्रदर्श्य कथंचिन्नित्यं, कथंचिदनित्यं, कथं-चिदेकं, कथंचिदनेकं, इत्यादिस्वसमयनिरूपणा च विक्षेपणी ॥६५५॥

संवेयणी पुण कहा णाणचरित्ततववीरियइड्ढिगदा।
णिव्वेयणी पुण कहा सरीरभोगे भवोघे य ॥६५६॥

'संवेयणी पुण कहा' संवेजनी पुनः कथा। 'णाणचरित्ततववीरियइड्ढिगदा' ज्ञानचारित्रतपोभावना-जनितशक्तिसम्पन्निरूपणपरा। 'णिव्वेयणी पुण कहा' निर्वेजनी पुनः कथा सा। 'सरीरभोगे भवोघे य' शरीरे, भोगे, भवसन्ततौ च पराङ्मुखताकारिणी। शरीराण्यशुचीनि, रसादिसप्तधातुमयत्वात् शुक्रशोणितबीजत्वात्, अशुच्याहारपरिवर्धितत्वात् अशुचिस्थाननिर्गतत्वात् च। न केवलमशुच्यसारमपि अनित्यकायस्वभावाः प्राणभृतः इति शरीरतत्त्वश्रवणात्[1]। तथा भोगा दुर्लभाः स्त्रीवस्त्रगन्धमाल्यभोजनादयो लब्धा अपि कथंचिन्न तृप्तिं जनयन्ति। अलाभे तेषां, लब्धानां वा विनाशे शोको महानुदेति। देवमनुजभवावपि दुर्लभौ, दुःखबहुलौ अल्प-सुखौ इति निरूपणात्। तथा ॥६५६॥

विक्खेवणी अणुरदस्स आउगं जदि हवेज्ज पक्खीणं।
होज्ज असमाधिमरणं अप्पागमियस्स खवगस्स ॥६५७॥

'विक्खेवणी अणुरदस्स' विक्षेपण्यां परसमयनिरूपणायां अनुरक्तस्य। 'आउगं' आयुष्कं। 'जदि हवेज्ज' यदि भवेत्। 'पक्खीणं' प्रक्षीणं। 'होज्ज' भवेत् 'असमाधिमरणं'। 'अप्पागमियस्स खवगस्स' अल्पश्रुतस्य

जिस कथामें स्वसमय और परसमयकी चर्चा होती है वह विक्षेपणी है। वस्तु सर्वथा नित्य है, या सर्वथा क्षणिक है, अथवा एक ही है या अनेक ही है, अथवा सत् ही है या असत् ही है, अथवा विज्ञानमात्र ही है या शून्य ही है, इत्यादि परसमयको पूर्वपक्ष बनाकर प्रत्यक्ष अनुमान और आगमसे उसमें विरोध दर्शाकर वस्तुको कथंचित् नित्य, कथंचित् अनित्य, कथंचित् एक, कथंचित् अनेक इत्यादि स्वसमयका कथन करना विक्षेपणी कथा है ॥६५५॥

गा०-टी०—ज्ञान चारित्र और तपोभावनासे उत्पन्न शक्तिसम्पदाका निरूपण करनेवाली कथा संवेजनी है। शरीर भोग और भवसन्ततिकी ओरसे विमुख करनेवाली कथा निर्वेजनी है। जैसे, शरीर अशुचि है क्योंकि वह रस आदि सात धातुओंसे बना है, रज और वीर्य उसके बीज हैं। अशुचि आहारसे वह बढ़ता है और अशुचि स्थानसे निकलता है। शरीर केवल अपवित्र ही नहीं है वह निस्सार भी है; क्योंकि प्राणियोंका शरीर स्वभावसे अनित्य है ऐसा शरीरके विषयमें सुना जाता है। तथा स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला, भोजन आदि दुर्लभ भोग किसी तरह प्राप्त होनेपर भी तृप्ति नहीं देते। उनके प्राप्त न होनेपर अथवा प्राप्त होकर नष्ट होनेपर महान् शोक होता है। तथा देव और मनुष्यभव भी दुर्लभ हैं, दुःखसे भरे हैं, सुख अल्प है। इस प्रकारका कथन निर्वेजनी कथा है ॥६५६॥

गा०—विक्षेपणी कथामें अनुरक्तक्षपकमें यदि क्षपककी आयु समाप्त हो जाये तो अल्प-

---

१. तत्त्वश्रवणात्–आ० मु०।

क्षपकस्य । यदेव पूर्वपक्षीकृतं दूषणाभिधानाय तदेव तत्त्वमित्यध्यवसायादसमीचीनज्ञानदर्शनस्य रत्नत्रयैकाग्र्यं नास्तीति मन्यते ।।६५७।।

बहुश्रुतस्य तदुपयोगिनी विक्षेपणीतीमां शङ्कां निरस्यति—

आगममाहप्पगओ वि कहा विक्खेवणी अपाउग्गा ।
अब्भुज्जदम्मि मरणे तस्स वि एदं अणायदणं ।।६५८।।

'आगममाहप्पगदो वि' बहुश्रुतस्यापि । **'विक्खेवणी'** विक्षेपणी । **'अपाउग्गा'** अप्रायोग्या । **'अब्भुज्जदंमि मरणे'** रत्नत्रयाराधनपरे मरणे । **'तस्स वि'** बहुश्रुतस्यापि **'एदं'** एतत् । **'अणायदणं'** अनायतनं अनाधार. ।।६५८।।

अब्भुज्जदंमि मरणे संथारत्थस्स चरमवेलाए ।
तिविहं पि कहंति कहं तिदंडपरिमोडया तम्हा ।।६५९।।

'अब्भुज्जदंमि मरणे' निकटभूते मरणे । कस्य **'संथारत्थस्स चरिमवेलाए'** सस्तरस्थस्य अन्तकाले । **'तिविहं वि' कहंति** कथं सवेजनी, निर्वेजनी आक्षेपणी वा कथा कथयन्ति । **'तिदंडपरिमोडया'** अशुभमनोवाक्काया दण्डशब्देनोच्यन्ते तद्भेदनकारिण सूरयः । **'तम्हा'** तस्मात् अनायतनत्वाद्विक्षेपण्या. ।।६५९।।

जुत्तस्स तवधुराए अब्भुज्जदमरणवेणुसीसंमि ।
तह ते कहेंति धीरा जह सो आराहओ होदि ।।६६०।।

'जुत्तस्स' युक्तस्य । **'तवधुराए'** तपोभारेण । **'अब्भुज्जदमरणवेणुसीसम्मि'** समीपीभूतमरणवंशस्य शिरसि स्थितस्य क्षपकस्य । **'ते धीरा तह कहेंति'** ते धीरास्तथा कथयन्ति । **'जध सो आराधगो होदि'** यथासावाराधको भवति रत्नत्रयस्य ।।६६०।।

ज्ञानी क्षपकका असमाधिपूर्वक मरण होगा; क्योकि विक्षेपणीमें दूषण देनेके लिए पहले परमतका कथन होता है । अल्पज्ञानी क्षपक उसे तत्त्व समझ बैठे तो मिथ्याज्ञान और मिथ्या श्रद्धान होनेसे रत्नत्रयकी एकाग्रता नही रहती ।।६५७।।

तो क्या बहुशास्त्राभ्यासी क्षपकके लिए विक्षेपणी कथा उपयोगी है ? इस शंकाका निरसन करते है—

गा०—बहुश्रुत भी क्षपकके लिए विक्षेपणी कथा उपयोगी नही है; क्योंकि मरणके समय रत्नत्रयकी आराधनामें तत्पर रहना होता है । अत उसके लिए भी यह कथा अनायतन है वह उसका आधार नहीं है ।।६५८।।

गा०—जब सस्तरपर स्थित क्षपकका अन्तकाल होता है और मरण निकट होता है तब अशुभ मनवचनकायको निर्मूल करनेवाले साधु सवेजनी, निर्वेजनी और आक्षेपणी इन तीन ही कथाओंको कहते हैं । अत विक्षेपणी कथा अनायतनरूप है ।।६५९।।

गा०—जो तपका भार उठाये हुए है अर्थात् तपस्यामें लीन है और निकटवर्ती मरणरूपी बाँसके अग्रभागपर खड़ा है उस क्षपकको वे धीर परिचारक ऐसा उपदेश देते हैं जिसमें वह रत्नत्रयका आराधक होता है । अर्थात् क्षपककी स्थिति उस नटके समान है जो सिरपर बोझ

चत्तारि जणा भत्तं उवकप्पेंति अगिलाए पाओग्गं ।
छंदियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ॥६६१॥

'चत्तारि जणा' चत्वारो यतय । 'भत्तं' अशन । 'पाओग्गं' प्रायोग्यं उद्गमादिदोषानुपहृतं । 'उवकप्पेंति' आनयन्ति । 'अगिलाए' ग्लानिमन्तरेण । कियन्तं कालमानयाम इति संक्लेशं विना । 'छंदियं' क्षपकेण इष्टं असनं पानं वा । क्षुत्पिपासापरीषहप्रशान्तिकरणक्षममित्येतावता तेनेष्ट न तु लौल्यात् । 'अवगददोसं' वातपित्तश्लेष्मणामजनकं । क आनयन्ति ? 'अमाइणो' मायारहिताः अयोग्यं योग्यमिति ये नानयन्ति । 'लद्धिसंपण्णा' मोहान्तरायक्षयोपशमाद्भिक्षालब्धिसमन्विता । अलब्धिमान्क्षपकं क्लेशयति । मायावी अयोग्यं योग्यमिति कल्पयेत् ॥६६१॥

चत्तारि जणा पाणयमुवकप्पंति अगिलाए पाओग्गं ।
छंदियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ॥६६२॥

चत्तारि जणा पाणगा इति स्पष्टार्था गाथा—सूरिणा अनुज्ञातौ निवेदितात्मानौ द्वौ द्वौ पृथग्भक्तं पृथक्पानं चानयतः ॥६६२॥

चत्तारि जणा रक्खन्ति दवियमुवकप्पियं तयं तेहिं ।
अगिलाए अप्पमत्ता खवयस्स समाधिमिच्छंति ॥६६३॥

तैरानीतं भक्तं पानं वा चत्वारो रक्षन्ति प्रमादरहिताः त्रसा यथा न प्रविशन्ति, यथा वापरे न पातयन्ति ॥६६३॥

उठाये बाँसके अग्रभागपर अपनी कलाका प्रदर्शन करता है अत. परिचारक ऐसा ही प्रयत्न करते हैं जिससे वह सफल हो ॥६६०॥

गा०—चार परिचारक यति उस क्षपकके लिए उसको इष्ट खान-पान बिना ग्लानिके लाते हैं। उन्हे ऐसा संक्लेश नही होता कि कबतक हम इसके लिए लावे। तथा खान-पान उद्गम आदि दोषोंसे रहित होता है। और वात पित्त कफको उत्पन्न करनेवाला नही होता। क्षपक भी लिप्सावश आहार पसन्द नही करता। किन्तु भूख और प्यास परीषहको शान्त करनेमें समर्थ खान-पानकी इच्छा करता है। जो यति आहार लाते हैं वे मायावी नही होते, अयोग्य आहारको योग्य नहीं कहते। मायावी अयोग्यको योग्य कह सकता है। तथा वे मोह और अन्तरायकर्मोका क्षयोपशम होनेसे भिक्षालब्धिसे युक्त होते हैं। उन्हे भिक्षा अवश्य मिल जाती है। अलब्धिमान् मुनि भिक्षा न मिलनेपर खाली हाथ लौटकर क्षपकको कष्ट पहुँचाता है ॥६६१॥

गा०—चार परिचारक मुनि क्षपकके लिए विना ग्लानिके उद्गम आदि दोषोंसे रहित, वात पित्त कफको पैदा न करनेवाला तथा क्षपककी प्यास परिषहको शान्त करनेवाला पानक लाते हैं। वे लानेवाले यति मायारहित और भिक्षालब्धिसे सम्पन्न होते हैं। आचार्यकी अनुज्ञासे स्वयं अपनेको उपस्थित करनेवाले दो-दो परिचारक भोजन और पान अलग-अलग लाते हैं ॥६६२॥

गा०—चार यति उन यतियोंके द्वारा लाये गये खान-पानकी विना किसी प्रकारकी ग्लानिके प्रमादरहित होकर रक्षा करते हैं कि उसमें त्रसादि न गिरे अथवा कोई उसमें त्रसादि

काइयमादी सव्वं चत्तारि पदिट्ठवन्ति खवयस्स ।
पडिलेहंति य उवधोकाले सेज्जुवधिसंथारं ॥६६४॥

'काइयमादी सव्वं' पुरीषप्रभृतिकं मलं सर्वं । क्षपकस्य चत्वारः । 'पदिट्ठवंति' प्रतिष्ठापयन्ति । 'पडिलेहंति य' प्रतिलिखन्ति च । 'उवधो काले' उदयास्तमनकालयोः । 'सेज्जुवधिसंथारं' वसतिमुपकरणं, संस्तरं च ॥६६४॥

खवगस्स घरदुवारं सारक्खंति जदणाए दु चत्तारि ।
चत्तारि समोसरणदुवारं रक्खंति जदणाए ॥६६५॥

'खवगस्स' क्षपकस्य । 'घरदुवारं' गृहद्वारं । 'सारक्खंति' पालयन्ति । 'जदणाए' यत्नेन । 'चत्तारि' चत्वारः । असंयतान् शिक्षकांश्च निषेद्धुं द्वारपालायन्ते । 'चत्तारि' चत्वारः । 'समोसरणदुवारं' समवशरण-द्वार । 'जदणाए' यत्नेन । 'आरक्खंति' पालयन्ति ॥६६५॥

जिदणिद्दा तल्लिच्छा रादो जग्गंति तह य चत्तारि ।
चत्तारि गवेसंति खु खेत्ते देसप्पवत्तीओ ॥६६६॥

'जिदणिद्दा' जितनिद्रा 'तल्लिच्छा' निद्राजयलिप्सव । 'रादो' रात्री । 'जग्गंति' जागरं कुर्वन्ति । 'तह य' तत्र क्षपकमकाशे । 'चत्तारि' चत्वारः । 'गवेसंति खु' परीक्षां कुर्वन्ति । 'खेत्ते' क्षेत्रे स्वाध्युषिते । 'देसपवत्तीओ' देशस्य क्षेमवार्ता ॥६६६॥

वाहिं असद्दवडियं कहंति चउरो चदुव्विधकहाओ ।
ससमयपरसमयविदू परिसाए समोसदाए दु ॥६६७॥

जन्तु न गिरा दे। वे सब क्षपककी समाधिके इच्छुक होते हैं कि उसकी समाधि निर्विघ्न पूर्ण हो ॥६६३॥

गा०—चार मुनि क्षपकके सब मलमूत्र उठानेका कार्य करते हैं। और सूर्यके उदय तथा अस्त होनेके समय वसति, उपकरण और संथरेकी प्रतिलेखना करते हैं ॥६६४॥

गा०—चार यति सावधानतापूर्वक क्षपकके घरके द्वारकी रक्षा करते हैं। ऐसा वे असंयमी जनों और शिक्षकोंको अन्दर प्रवेश करनेसे रोकनेके लिए करते हैं। चार मुनि सावधानतापूर्वक समवसरण द्वार अर्थात् धर्मोपदेश करनेके घरके द्वारकी रक्षा करते है ॥६६५॥

गा०—निद्राको जीत लेनेवाले और निद्राको जीतनेके इच्छुक चार यति रातमे क्षपकके पास जागते हैं। और चार मुनि अपने रहनेके क्षेत्रमें देशकी अच्छी बुरी प्रवृत्तियोंकी परीक्षा करते हैं। अर्थात् जिस क्षेत्रमे क्षपक समाधि मरण करता है उस देशके अच्छे बुरे समाचारोंकी खबर रखकर उनकी परीक्षा करते हैं कि समाधिमें कोई बाधा आनेका तो खतरा नहीं है ॥६६६॥

विशेषार्थ—गाथामें 'तल्लिच्छा' पाठ है और विजयोदयामें उसका अर्थ निद्राको जीतनेके इच्छुक किया है। किन्तु पं० आशाधरजीने अपनी टीकामें 'तण्णिट्ठा' पाठ रखकर उसका अर्थ क्षपककी सेवामें तत्पर किया है। जितनिद्राके साथ यह पाठ संगत प्रतीत होता है ॥६६६॥

'बाहिं' बहिः क्षपकावासात् । 'असद्दवडिदं' यावत् दूरे स्थितानां शब्दो न श्रूयते तत्र स्थित्वा । 'चउरो' चत्वारः पर्यायेण । 'कहाओ' चतुर्विधाः कथाः पूर्वव्यावर्णिताः । कीदृग्भूतास्ते कथका अत आह— 'ससमयपरसमयविदू' स्वपरपक्षसिद्धान्तज्ञाः । 'परिसाए' परिषदे । 'समोसदाए' प्राक् समागतायै ।।६६७।।

वादी चत्तारि जणा सीहाणुग तह अणेयसत्थविदू ।
धम्मकहयाण रक्खाहेदुं विहरंति परिसाए ।।६६८।।

'वादी' वादिनः । 'चत्तारि जणा' चत्वारः । 'सीहाणुग' सिंहसमानाः । 'अणेगसत्थविदू' अनेकशास्त्रज्ञाः । धम्मकहयाण धर्मं कथयतां । 'रक्खाहेदु' रक्षार्थं । 'विहरंति' इततस्तो यान्ति । 'परिसाए' परिषदि ।।६६८।।

उपसंहरन्ति प्रस्तुतं—

एवं महाणुभावा पग्गहिदाए समाधिजदणाए ।
तं णिज्जवंति खवयं अडयालीसं हि[1] णिज्जवया ।।६६९।।

'एवं महाणुभावा' एवं माहात्म्यवन्तः । 'पग्गहिदाए' प्रकृष्टया । 'समाधिजदणाए' समाधौ क्षपकस्य प्रयत्नवृत्त्या । 'तं णिज्जवंति खवयं' तं निर्यापयन्ति क्षपकं । 'अडयालीसं हि' अष्टचत्वारिंशत्प्रमाणाः । 'णिज्जवया' निर्यापकाः ।।६६९।।

व्यावर्णितगुणा एव निर्यापका इति न ग्राह्यं, किन्तु भरतैरावतयोर्विचित्रकालस्य परावृत्तेः कालानुसारेण प्राणिनां गुणाः प्रवर्तन्ते तेन यदा यथाभूताः शोभनगुणाः सम्भवन्ति तदा तथाभूता यतयो निर्यापकत्वेन ग्राह्या इति दर्शयति—

जो जारिसओ कालो भरदेरवदेसु होइ वासेसु ।
ते तारिसया तदिया चोद्दालीसं पि णिज्जवया ।।६७०।।

गा०—क्षपकके आवासके बाहर स्वसिद्धान्त और परसिद्धान्तके ज्ञाता चार यति क्रमसे एक एक करके सभामें धर्म सुननेके लिए आये हुए श्रोताओंको पूर्ववर्णित चार कथाएँ इस प्रकार कहते हैं कि दूरवर्ती मनुष्य उनका शब्द न सुन सके । अर्थात् क्षपकको सुनाई न दे इतने धीरेसे बोलते हैं । उससे क्षपकको किसी प्रकारकी बाधा नहीं होती ।।६६७।।

गा०—अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता और वाद करनेमें कुशल चार मुनि धर्मकथा करनेवालोंकी रक्षाके लिए सभामें सिंहके समान विचरते हैं । अर्थात् धर्मकथामें कोई विवादी विवाद खड़ा कर दे तो वाद करनेमें कुशल मुनि उसका उत्तर देनेके लिए तत्पर रहते हैं ।।६६८।।

प्रस्तुत चर्चाका उपसंहार करते हैं—

गा०—इस प्रकार माहात्म्यशाली अड़तालीस निर्यापक यति क्षपककी समाधिमें उत्कृष्ट प्रयत्नशील रहते हुए उस क्षपकको संसार समुद्रसे निकलनेके लिए प्रेरित करते हैं ।।६६९।।

ऊपर कहे गुणवाले यति ही निर्यापक होते हैं ऐसा अर्थ नहीं लेना । किन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्रमें कालका विचित्र परिवर्तन होता रहता है । और कालके अनुसार प्राणियोंके गुण भी बदलते रहते हैं । अतः जिस कालमें जिस प्रकारके शोभनीय गुण सम्भव हैं

---

१. मंपिणिज्ज—आ० । सं पणिज्ज—अ० ।

'जो जारिसओ कालो इत्यादिना' यो यादृक्कालो। 'भरहेरवदेसु वासेसु' भरतैरावतेषु क्षत्रवेषु। पञ्चभरताः पञ्चैरावतास्ते निर्यापकास्तारिसका तादृग्भूताः कालानुगुणा इति यावत्। 'तइया' तस्मिन्काले ग्राह्या इत्यर्थः ॥६७०॥

एवं चदुरो चदुरो परिहावेदव्वगा य जदणाए।
कालम्मि संकिलिट्ठंमि जाव चत्तारि साधेंति ॥६७१॥

णिज्जावया य दोण्णि वि होंति जहण्णेण कालसंसयणा।
एक्को णिज्जावयओ ण होइ कइया वि जिणसुत्ते ॥६७२॥

स्पष्टार्थोत्तरगाथाद्वयमिति न व्याख्यायते।

जघन्यतो द्वौ निर्यापकौ इति किमर्थमुच्यते। एको जघन्यतो निर्यापकः कस्मान्नोपन्यस्त इत्याशङ्कायां एकस्मिन्निर्यापके दोषमाचष्टे—

एगो जइ णिज्जवओ अप्पा चत्तो परो पवयणं च।
वसणमसमाधिमरणं उड्डाहो दुग्गदी चावि ॥६७३॥

एको यदि निर्यापकः। 'अप्पा चत्तो' आत्मा त्यक्तो भवति निर्यापकेण, परः क्षपकस्त्यक्तो भवति। 'पवयणं च' प्रवचनं च त्यक्तं भवति। 'वसणं' व्यसनं दुःखं भवति। 'असमाधिमरणं' समाधानमन्तरेण मृतिः स्यात्। 'उड्डाहो' धर्मदूषणा भवति। 'दुग्गदी चावि' दुर्गतिश्च भवति ॥६७३॥

एवं निर्यापकेणात्मा त्यक्तो भवति, एवं क्षपक इत्येतत्कथयन्ति—

खवगपडिजग्गणाए भिक्खग्गहणादिमकुणमाणेण।
अप्पा चत्तो तव्विवरीदो खवगो हवदि चत्तो ॥६७४॥

उस कालमें उन गुणवाले यति निर्यापकरूपसे ग्राह्य हैं यह कहते हैं—

गा०—पाँच भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्रोमे जब जैसा काल हो तब उसी कालके अनुकूल गुणवाले चवालीस निर्यापक स्थापित करना चाहिए ॥६७०॥

गा०—इस प्रकार ज्यों-ज्यों काल खराब होता जाये त्यों-त्यों देशकालके अनुसार साव-धानतापूर्वक चार-चार निर्यापक कम करते जाना चाहिए। अन्तमे चार निर्यापक ही समाधि-मरणको सम्पन्न करते हैं। अधिक काल खराब होनेपर कमसे कम दो निर्यापक भी होते है। किन्तु जिनागममें किसी भी अवस्थामे एक निर्यापक नहीं कहा ॥६७१-६७२॥

जघन्यसे दो निर्यापक क्यों कहे? जघन्यसे एक निर्यापक क्यों नही कहा? ऐसी आशंकामें एक निर्यापकमें दोष कहते हैं—

गा०—यदि एक निर्यापक होता है तो निर्यापकके द्वारा आत्माका भी त्याग होता है, क्षपकका भी त्याग होता है और प्रवचनका भी त्याग होता है। तथा दुःख उठाना होता है। क्षपकका असमाधिपूर्वक मरण होता है, धर्ममे दूषण लगता है और दुर्गति होती है ॥६७३॥

एक निर्यापकके द्वारा आत्मा और क्षपक इस प्रकार त्यक्त होते है, यह कहते हैं—

खवयपडिजग्गणाए इत्यनया गाथया अयैवं पदघटना 'भिक्खग्गहणादिमकुव्वमाणेण' भिक्षाग्रहणं, निद्रां, कायमलत्यागं वाऽकुर्वता निर्यापकेण 'खवयपडिजग्गणाए' क्षपककार्यकरणे। 'अप्पा चत्तो' आत्मा त्यक्तो भवति। अशनाग्रहणान्निद्राया अभावात् कायमलानां चानिराकरणान्महती निर्यापकस्य पीडा। 'तब्बिवरीदो यदि' निर्यापको भिक्षां भ्रमति निद्राति शरीरमलनिरासार्थं याति, 'खवगो चत्तो भवति' क्षपकस्त्यक्तो भवति ॥६७४॥

खवयस्स अप्पणो वा चाए चत्तो दु होइ जइधम्मो।
णाणस्स य वुच्छेदो पवयणचाओ कओ होदि ॥६७५॥

'खवयस्स अप्पणो वा चाए' क्षपकस्यात्मनो वा त्यागे। 'चत्तो दु होदि जइधम्मो' त्यक्तो भवति यतिधर्मः। यतेर्धर्मो वैयावृत्यकरणं स परित्यक्तो भवति क्षपकमपहाय गमने। अगमने तु आवश्यकानि यतिधर्मेषु त्यक्तानि भवन्ति शक्तिवैकल्यात्। 'णाणस्स य वुच्छेदो' ज्ञानस्यापि व्युच्छेदो भवति, निर्यापकेन सह मृतिमुपयाति। 'तदो' तस्मात्। 'पवयणचागो होदि' प्रवचनत्यागो भवति। प्रवचनशब्देनागम उच्यते। प्राज्ञा हि केचिदेव[1] भवन्तीति चेदेकका निर्यापका अनशनादिनातिखिन्ना मृतिमुपेयुः क. शास्त्राण्युपदिशेत्[2] कश्च धारयेद्वेति प्रवचनत्याग. ॥६७५॥

व्यसनं व्याचष्टे—

चायम्मि कीरमाणे वसणं खवयस्स अप्पणो चावि।
खवयस्स अप्पणो वा चायम्मि हवेज्ज असमाधि ॥६७६॥

'चायम्मि कीरमाणे' त्यागे क्रियमाणे। 'वसणं खवगस्स' क्षपकस्य दुःख भवति, प्रतिकाराभावात्। 'अप्पणो वा वसणं' निर्यापकस्य वा व्यसनं भवति अशनादित्यागात्। असमाधिमरणं व्याचष्टे—'चागम्मि'

गा०–टी०—क्षपकका कार्य करते रहनेसे निर्यापक भिक्षाग्रहण, निद्रा और मलमूत्रका त्याग नहीं कर सकता। अतः वह आत्माका त्याग करता है क्योंकि भोजन न करने से निद्रा नहीं आती। और शारीरिक मल न त्यागनेसे निर्यापकको कष्ट होता है। यदि निर्यापक भिक्षाके लिए भ्रमण करता है तथा सोता है और शरीरमल त्यागने जाता है तो क्षपकका त्याग करता है ॥६७४॥

गा०–टी०—अपना अथवा क्षपकका त्याग करनेपर यतिधर्मका त्याग होता है। अर्थात् यतिका धर्म वैयावृत्य करना है। क्षपकको छोड़कर जानेपर उसका त्याग होता है। न जानेपर यतिधर्ममें आवश्यक प्रधान हैं उनका त्याग होता है। ज्ञानका भी व्युच्छेद होता है क्योंकि निर्यापकके साथ वह भी मर जाता है। और ऐसा होनेसे प्रवचनका त्याग होता है। यहाँ प्रवचन शब्दसे आगम कहा है। विद्वान् तो विरल ही होते हैं। अकेला निर्यापक उपवास आदिसे अतिखिन्न होकर यदि मर जाये तो कौन शास्त्रोंका उपदेश देगा और कौन शास्त्रोंको याद रखेगा। अतः प्रवचनका त्याग होता है ॥६७५॥

गा०—क्षपकको त्यागने पर क्षपकको दुःख होता है क्योंकि उसका कोई प्रतिकार नही

---

1. देवं भणंतीति चे–आ०। 2. देवधारयेद्व–आ०।

त्यागे सति । 'खवयस्स असमाधि' क्षपकस्य असमाधिमरणं भवति, चित्तसमाधिं कुर्वतः समीपे अभावात् । 'अण्णदो वा' निर्यापकस्य वा । 'हवेज्ज' भवेत्, असमाधिः अशनादित्यागजनितदुःखव्याकुलस्य ॥६७६॥

उड्डाहो इत्येतत् सूत्रं व्याचष्टे—

सेवेज्ज वा अकप्पं कुज्जा वा जायणाइ उड्डाह ।
तण्हाछुधादिभग्गो खवओ सुण्णम्मि णिज्जवहे ॥६७७॥

'सेवेज्ज वा अकप्पं' अयोग्यसेवां कुर्यात्, अस्थितभोजनादिकं पार्श्ववर्तिष्वसति । 'कुज्जा वा' कुर्याद्वा । 'जायणाइ उड्डाहं' मिथ्यादृष्टीना गत्वा याचते क्षुधा वा तृषा वा अभिभूतोऽहं अशनं पानं वा देहीति । 'सुण्णम्मि णिज्जवगे' असति निर्यापके ॥६७७॥

दुग्गदि एतद्व्याचष्टे—

असमाधिणा व कालं करिज्ज सो सुण्णगम्मि णिज्जवगे ।
गच्छेज्ज तदो खवओ दुग्गदिमसमाधिकरणेण ॥६७८॥

'असमाधिणा वा' असति निर्यापके समीपस्थे समाधिमन्तरेण कालं कुर्यात् । ततस्तेन असमाधिमरणेन । 'खवगो दुग्गदिं गच्छेज्ज' क्षपको दुर्गतिं यायात् अशुभध्यानात् ॥६७८॥

सल्लेहणं सुणित्ता जुत्ताचारेण णिज्जवेज्जंतं ।
सव्वेहिं वि गंतव्वं जदीहिं इदरत्थ भयणिज्जं ॥६७९॥

'सल्लेहणं' सल्लेखना । 'सुणित्ता' श्रुत्वा । 'जुत्ताचारेण' युक्ताचारेण सूरिणा 'णिज्जवेज्जंतं' प्रवर्त्यमानां । सर्वैरपि गन्तव्यं यतिभिरितरत्र निर्यापके सूरौ मन्दचारित्रे भाज्यं। यान्ति न यान्ति वा यतयः ॥६७९॥

सल्लेहणाए मूलं जो वच्चइ तिव्वभत्तिरायेण ।
भोत्तूण य देवसुहं सो पावइ उत्तमं ठाणं ॥६८०॥

है। और भोजनादि त्यागनेसे निर्यापकको दुःख है। तथा क्षपकको त्यागने पर क्षपकका असमाधिमरण होता है क्योंकि उसके समीपमें कोई चित्तको समाधान देने वाला नहीं है। अथवा निर्यापक की असमाधि होती है क्योंकि वह भोजन आदिके त्यागसे उत्पन्न दुःखसे व्याकुल होता है ॥६७६॥

गा०—यदि एक निर्यापक आहारादिके लिए गया तो उसके अभावमें क्षपक अयोग्य सेवन करेगा अर्थात् बैठकर भोजनादि करेगा। अथवा मिथ्यादृष्टियोंके पास जाकर याचना करेगा कि मैं भूख या प्याससे पीड़ित हूँ। मुझे खानेको या पीनेको दो ॥६७७॥

गा०—समीपमें निर्यापक न होने पर क्षपक समाधिके बिना मरण कर सकता है। और उस असमाधिमरणसे अशुभ ध्यानवश दुर्गतिमें जा सकता है ॥६७८॥

गा०—युक्त आचार वाले आचार्यके द्वारा क्षपककी सल्लेखना हो रही है यह सुनकर सब यतियोंको वहाँ जाना चाहिए। किन्तु यदि निर्यापक आचार्य मन्द चारित्र वाला हो तो यति चाहें तो आ सकते हैं, न चाहे तो न आयें ॥६७९॥

एगम्मि भवग्गहणे समाधिमरणेण जो मदो जीवो ।
ण हु सो हिंडदि बहुसो सत्तट्ठभवे पमोत्तूण ॥६८१॥

[1]सोदूण उत्तमट्ठस्स साधणं तिव्वभत्तिसंजुत्तो ।
जदि णोवयादि का उत्तमट्ठमरणम्मि से भत्ती ॥६८२॥

सोदूण श्रुत्वा उत्तमार्थसाधनं । तीव्रभक्तिसंयुक्तो यदि न गच्छेत् । नैव तस्य उत्तमार्थमरणे भक्तिः ॥६८२॥

उत्तमार्थमरणभक्त्यभावे दोषमाचष्टे—

जस्स पुण उत्तमट्ठमरणम्मि भत्ती ण विज्जदे तस्स ।
किह उत्तमट्ठमरणं संपज्जदि मरणकालम्मि ॥६८३॥

'जस्स पुण' यस्य पुनः उत्तमार्थमरणे भक्तिर्न विद्यते तस्य मरणकाले कथमुत्तमार्थमरणं सम्पद्यते इति दोषः सूचितः ॥६८३॥

सद्दवदीणं पासं अल्लियदु असंवुडाण दादव्वं ।
तेसिं असंवुडगिराहिं होज्ज खवयस्स असमाधी ॥६८४॥

'असंवुडाण पासं सद्दवदीणं अल्लियदु ण दादव्वं' । असंवृतानां क्षपकसमीपं ढौकनं न दातव्यं । यावद्देश-स्थानां तेषां वचो न श्रूयते । कस्मादसंवृतजनसमीपागमनं निषिध्यते इत्याचष्टे—'तेसिं असंवुडगिराहिं होज्ज खवयस्स असमाधी' । तेषामसंवृताभिर्वाग्भिर्भवेत्क्षपकस्य असमाधिः । क्षीणो हि जनो यत्किंचिच्छ्रुत्वा कुप्यति संक्लेशमुपयाति वा ॥६८४॥

गा०—जो यति तीव्र भक्तिरागसे सल्लेखनाके स्थान पर जाते हैं वे देवगतिका सुख भोग कर उत्तम स्थान मोक्षको प्राप्त करते हैं ॥६८०॥

गा०—जो जीव एक भवमें समाधिमरण पूर्वक करता है वह सात आठ भवसे अधिक काल तक संसारमें परिभ्रमण नहीं करता ॥६८१॥

विशेषार्थ—इन पर टीका नहीं है । पं० आशाधरने लिखा है—यहाँ ये दो गाथा परम्परा-से सुनी जाती हैं । इन्हें विजयोदयाके कर्ता आचार्य नहीं स्वीकार करते हैं ।

गा०—उत्तमार्थ—समाधिका साधन कोई मुनि करता है ऐसा सुनकर भी जो तीव्र भक्तिसे युक्त होकर यदि नहीं जाता तो उसकी समाधिमरणमें क्या भक्ति हो सकती है ? ॥६८२॥

समाधिमरणमें भक्ति न होनेमें दोष कहते हैं—

गा०—जिसकी समाधिमरणमें भक्ति नहीं है उसका मरते समय समाधिपूर्वक मरण नहीं होता ॥६८३॥

गा०-टी०—वचन गुप्ति और वचन समितिसे रहित जो हल्ला-गुल्ला करने वाले लोग हैं उन्हें क्षपकके समीप नहीं आने देना चाहिए । यदि आवें तो वहीं तक आवें जहाँसे उनके वचन क्षपकको सुनाई न देवें । ऐसे असंवृत जनोंका क्षपकके समीप आनेका निषेध करनेका प्रयोजन यह

---

१. एते गाथे श्री विजयो नेच्छति ।

भत्तादीणं ¹तत्ती गीदत्थेहिं वि ण तत्थ कादव्वा ।
आलोयणा वि हु पसत्थमेव कादव्विया तत्थ ॥६८५॥

'भक्तादीनां 'तत्ती' भक्तादिकथा । गृहीतार्थैरपि यतिभिस्तत्र क्षपकसकाशे न कर्तव्येति । 'आलोयणा वि हु' आलोचनागोचरातिचारविषया । 'तत्थ' क्षपकसमीपे । 'पसत्थमेव कादव्वा' यथासौ न शृणोति तथा कार्या । बहुषु युक्ताचारेषु सत्सु ॥६८५॥

पच्चक्खाणपडिक्कमणुवदेसणिओगतिविहवोसरणे ।
पडुवणापुच्छाए उवसंपण्णो पमाणं से ॥६८६॥

प्रत्याख्यानं प्रतिक्रमणादिकं² । कस्य सकाशे सर्वं कर्तव्यमिति यावत् । यदि शक्तोऽसौ, न चेत्तदनुज्ञा-तस्य समीपे ॥६८६॥

तेल्लकसायादीहिं य बहुसो गंडूसया दु घेत्तव्वा ।
जिब्भाकण्णाण बलं होहिदि तुंडं च से विसदं ॥६८७॥

'तेल्लकसायादीहिं य' तैलेन कषायादिभिश्च । 'बहुसो' बहुशो । 'गंडूसया दु' गंडूषाः । 'घेत्तव्वा' ग्राह्याः । तत्र गुणं वदति—'जिब्भाकण्णाण बलं' जिह्वायाः कर्णयोश्च बलं शक्तिः वचने श्रवणे च । 'होहिदि'

है कि उनके मर्यादा रहित वचनोंको सुनकर क्षपककी समाधिमें बाधा हो सकती है, क्योंकि कम-जोर व्यक्ति ऐसे वैसे वचन सुनकर क्रुद्ध हो सकता है अथवा संक्लेशरूप परिणाम कर सकता है ॥६८४॥

विशेषार्थ—टीकामें 'असंवुडाण पासं सद्दवदीणं अल्लियदु ण दादव्वं' ऐसा पाठ है। तथा 'सद्दवदीणं' का अर्थ नहीं किया है। आशाधर जीने 'शब्दपतीनां शब्दव्रतीनां' लिखकर उसका अर्थ 'कल-कल करने वाले' किया है।

गा०—आगमके अर्थके ज्ञाता यतियोंको भी क्षपकके पासमें भोजन आदिकी कथा नहीं करनी चाहिए और आलोचना सम्बन्धी अतिचारोंकी भी चर्चा नहीं करनी चाहिए। यदि करना ही हो तो बहुतसे युक्त आचार वाले आचार्योंके रहते हुए प्रच्छन्न रूपसे ही करना चाहिए जिससे क्षपक उसे न सुन सके ॥६८५॥

गा०—प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, उपदेश, नियोग—आज्ञादान, जलके सिवाय तीन प्रकारके आहारका त्याग, प्रायश्चित्त, आदि सब प्रथम स्वीकार किये आचार्यके पास ही करना चाहिए, क्योंकि जिसे उस क्षपकने अपना निर्यापक बनाया है वही उसके लिए प्रमाण होता है। किन्तु वह निर्यापकाचार्य ऐसा करनेमें असमर्थ हो तो उसकी अनुज्ञासे अन्य भी प्रमाण होता है ॥६८६॥

विशेषार्थ—युक्त आचार वाले अनेक आचार्योंके होते हुए भी क्षपकको प्रत्याख्यान आदि प्रथम स्वीकार किये निर्यापकके पास ही करना चाहिए यह आशय उक्त गाथाका है।

गा०—तेल और कसैले आदिसे क्षपकको बहुत बार कुल्ले करना चाहिए। इससे जीभ

---

१. भत्ती–आ० । २. दिकं से तस्य सकाशं–आ० मु० ।

भविष्यति । 'सुंदं च से विसदं होदित्ति' पदसम्बन्धः । कुम्फवैसद्यं अपि क्षपकस्य भविष्यति । निर्यापकव्यावर्णना समाप्ता ॥६८७॥

निज्जावयपगासणा इत्येतद्वदति—

दव्वपयासमकिच्चा जइ कीरइ तस्स तिविहवोसरणं ।
कह्मिवि भत्तविसेसंमि उस्सुगो होज्ज सो खवओ ॥६८८॥

'दव्वपयासमकिच्चा' द्रव्यस्याहारस्य प्रकाशनं तं प्रति ढौकनं अकृत्वा । 'जइ कीरइ' यदि क्रियते । 'तस्स' तस्य क्षपकस्य । 'तिविहवोसरणं' त्रिविधाहारत्यागः । 'कह्मिवि' कस्मिंश्चिदपि । 'भत्तविसेसंमि' भक्तविशेषे । 'उस्सुगो होज्ज सो खवओ' उत्सुको भवेत्स क्षपकः । आहारौत्सुक्यं च चित्तं व्याकुलयति ॥६८८॥

तम्हा तिविहं वोसरिहिदित्ति उक्कस्सयाणि दव्वाणि ।
सोसित्ता संविरल्लिय चरिमाहारं पयासेज्ज ॥६८९॥

पासित्तु कोइ तादी तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥६९०॥

'पासित्तु' दृष्ट्वा आहारमुपदर्शितं । 'कोइ' कश्चित् । 'तादी' यतिः । 'तीरं पत्तस्स' तीरं प्राप्तस्य । 'इमेहिं' अमीभिर्मनोज्ञैराहारैः । 'किं मेत्ति' किं ममेति । 'वेरग्गमणुप्पत्तो' भोगवैराग्यमनुप्राप्त उपगतः । 'संवेगपरायणो होदि' संसारभयत्यागे[1] प्रधानो भवति ॥६९०॥

आसादित्ता कोई तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥६९१॥

और कानोंको बल मिलता है और मुख साफ होता है ॥६८७॥

इस प्रकार निर्यापकका कथन समाप्त हुआ ।

अब निर्यापकके द्वारा आहारके प्रकाशनका कथन करते हैं—

गा०—आहारका प्रकाशन अर्थात् क्षपकके सामने विविध भोजनोंको उपस्थित न करके यदि तीन प्रकारके आहारका त्याग कराया जाता है तो क्षपक किसी भी भोजन विशेषमें उत्सुक बना रह सकता है । और आहारमें उत्सुकता चित्तको व्याकुल करती है ॥६८८॥

गा०—अत: उत्तम-उत्तम भोजन पात्रोंमें अलग-अलग उसके सामने रखकर जब वह सन्तुष्ट हो जाये तो अन्तिम आहार उपस्थित करे । ऐसा करनेसे क्षपक तीनों प्रकारके आहारको छोड़ देगा ॥६८९॥

विशेषार्थ—टीकाकारने यह गाथा नहीं मानी ।

गा०—कोई यति दिखाये गये आहारोंको देखकर 'मरणको प्राप्त मुझे इन मनोज्ञ आहारोंसे क्या प्रयोजन' ऐसा विचार भोगोंसे विरक्त होकर संसारके भयको त्यागनेमें प्रमुख होता है ॥६९०॥

---

१. भयत्यागे—आ० मु० ।

देसं भोच्चा हा हा तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥६९२॥

सव्वं भोच्चा धिद्धी तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होइ ॥६९३॥

मनोज्ञविषयसेवा हि पौनःपुन्येन प्रवर्तमाना अभिलाषं जनयति जन्तोः । स चानुरागः कर्मपुद्गलादाने हेतुः, ततो भीमं[1] भवाम्भोधिप्रवेशनं भवभृतामिति स्पष्टार्थं गाथात्रयं[2] । उत्तर प्रकाशना समाप्ता यथा-तथा ॥६९३॥

हाणी इति सूत्रपदं व्याचष्टे—

कोई तमादइत्ता मणुण्णरसवेदणाए संविद्धो ।
तं चेवणुबंधेज्ज हु सव्वं देसं च गिद्धीए ॥६९४॥

'कोई' कश्चिद्यतिः । 'तं' दर्शितमाहारं । 'आदइत्ता' भुक्त्वा । 'मणुण्णरसवेदणाए' मनोज्ञरसानुभवनेन । 'संविद्धो' मूर्च्छितः । 'तं चेवणुबंधेज्ज हु' तमेवास्वादित मनोज्ञाहारमनुबध्नीयात् । दर्शितेष्वेकं वा, 'गिद्धीए' गृद्ध्या ॥६९४॥

तत्थ अवाओवायं दंसेदि विसेसदो उवदिसंतो ।
उद्धरिदु मणोसल्लं सुहुमं सण्णिव्ववेमाणो ॥६९५॥

गा०—कोई क्षपक भोजनका स्वाद मात्र लेकर 'मरणको प्राप्त' मुझे इस मनोज्ञ भोजनसे क्या, ऐसा विचार विरक्त हो, संसारके भयको त्यागनेमे तत्पर होता है ॥६९१॥

गा०—कोई क्षपक थोड़ा सा खाकर 'मरणको प्राप्त मुझे इस मनोज्ञ आहारसे क्या' ऐसा विचार विरक्त हो संसारके भयको त्यागनेमें तत्पर होता है ॥६९२॥

गा०–टी०—कोई सब आहारको भोगकर 'मुझे बार-बार धिक्कार है । मरणको प्राप्त मुझे इस मनोज्ञ आहारसे क्या प्रयोजन' इस प्रकार विरक्त हो संसारके भयसे मुक्त होनेमे तत्पर होता है ।

बार-बार मनोज्ञ विषयोंका सेवन यदि चलता रहे तो उससे जीवमें उसकी अभिलाषा बनी रहती है । और वह अनुराग कर्म पुद्गलोंके ग्रहणमे कारण होता है और उससे प्राणिगण संसार समुद्रमें पड़े रहते हैं । यह स्पष्ट करनेके लिए ये तीन गाथा कही है ॥६९३॥

आहारका प्रकाशन समाप्त हुआ ।

हानिका कथन करते हैं—

गा०—कोई क्षपक उस दिखाये आहारको खाकर मनोज्ञ रसके स्वादसे मूर्च्छित होकर तृष्णावश उस खाये आहारमें से सबको अथवा किसी एक वस्तुको ही खानेकी इच्छा करता है ॥६९४॥

---

१. तो भीमं-अ-आ० मु० । २ त्रयोत्तरं अ० ।

'तम्मि' तत्राहारासक्तौ जातायां । 'अवायमोवायं' इन्द्रियसंयमस्यापायं, असंयमस्य च ढौकनं । 'दंसेदि' वर्णयति । 'विसेसदो' विशेषेण । 'उवदिसंतो' उपदिशन् । 'उद्धरिदुं' उद्धर्तुं । 'मणोसल्लं' मनःशल्यं । 'सुहुमं' सूक्ष्मं । 'सम्मं पण्णवेमाणो' सम्यक् प्रशमयन् ॥६९५॥

सोच्चा सल्लमणत्थं उद्धरदि असेसमप्पमादेण ।
वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो खवओ ॥६९६॥

'सोच्चा' श्रुत्वा वैराग्यकथां । 'सल्लं' शल्यं । 'उद्धरदि' उत्पाटयति । 'असेसं' अशेषं । 'अप्पमादेण' प्रमादं विना । 'वेरग्गमणुप्पत्तो' वैराग्यमनुप्राप्तः । 'संवेगपरायणः' संवेगपरः । क्षपकः शल्योद्धरणपरो भवति ॥६९६॥

अणुसज्जमाणए पुण समाधिकामस्स सव्वमुवहरिय ।
एक्केक्कं हावेंतो ठवेदि पोराणमाहारे ॥६९७॥

'अणुसज्जमाणए पुण' कृतेऽप्याहाराभिलाषस्य दोषोपदर्शने । 'अणुसज्जमाणे' आहारे अनुरागवति क्षपके । 'समाधिकामस्स' समाधिमरणमिच्छतः । 'सव्वमुवहरिय' सर्वमाहारमुपसंहृत्य । कथं ? 'एक्केक्कं हावेंतो' एकैकं आहारं हापयन् सूरिः । 'ठवेदि' स्थापयति क्षपकं । 'पोराणमाहारे' प्राक्तने आहारे ॥६९७॥

अणुपुव्वेण य ठविदो संवट्टेदूण सव्वमाहारं ।
पाणयपरिक्कमेण दु पच्छा भावेदि अप्पाणं ॥६९८॥

'ठविदो' स्थापितः सूरिणा प्राक्तनाहारे क्षपकः पश्चात्किं करोतीत्यत आह—'सव्वमाहारं', अशनं स्वाद्यं, खाद्यं च ।[1] 'अणुक्कमेण' क्रमेण । 'संवट्टेदूण' उपसंहृत्य । 'पाणयपरिक्कमेण दु' पानकाख्येन परिकरेण । 'अप्पाणं' आत्मानं । 'पच्छा भावेदि' पश्चाद्भावयति । हानिर्व्याख्याता । हाणित्ति ॥६९८॥

कतिप्रकारं पानकमित्यारेकायामाचष्टे—

गा०—इस प्रकार आहारमे आसक्ति होने पर आचार्य उस क्षपकके मनसे सूक्ष्म शल्यको निकालनेके लिए इन्द्रिय संयमका विनाश और असंयमकी प्राप्ति बतलाते हुए विशेषरूपसे उपदेश देते हैं और इस तरह उसे सम्यक् रूपसे शान्त करते हैं ॥६९५॥

गा०—वैराग्यका उपदेश सुनकर वैराग्यको प्राप्त हुआ क्षपक प्रमाद छोड़कर समस्त अनर्थकारी शल्यको निकाल देता है और संवेगमें तत्पर होता है ॥६९६॥

गा०—आहारकी अभिलाषामें दोष दिखानेपर भी यदि क्षपक आहारमें अनुरागी रहता है तो आचार्य समाधिमरणके इच्छुक क्षपकको सब आहार दिखलाकर एक-एक आहार छुड़ाते हुए उसे अपने पूर्व आहार पर ले आते हैं ॥६९७॥

गा०—आचार्यके द्वारा पूर्व आहारपर स्थापित होनेके पश्चात् क्षपक क्रमसे अशन खाद्य स्वाद्य सब आहारोंका त्याग करके पीछे अपनेको पानक आहारमें लगाता है ॥६९८॥

हानिका कथन समाप्त हुआ ।

पानकके भेद कहते हैं—

---

१. अणुपुव्वेण अनुक्रमेण—मूलारा० ।

सत्थं बहलं लेवडमलेवडं च ससित्थयमसित्थं ।
छव्विहपाणयमेयं पाणयपरिकम्मपाओग्गं ।।६९९।।

'सत्थं' स्वच्छं एकं पानकं उष्णोदकं सौवीरकं । तिन्तिणीकाफलरसप्रभृतिक च अन्यद्बहल । दध्यादिकं 'लेवडं' लेपसहितं । 'अलेवडं' अलेपसहितं यन्न हस्ततलं विलिपति । 'ससित्थगं' सिक्थसहित, 'असित्थगं' सिक्थरहितं । 'छव्वा' षोढा । 'पाणयमेयं' एतत्पानकं । 'पाणयपरिकम्मपाओग्गं' पानकाख्यपरिकर्मप्रायोग्यं ।।६९९।।

आयंबिलेण सिंभं खीयदि पित्तं च उवसमं जादि ।
वादस्स रक्खणट्ठं एत्थ पयत्तं खु कादव्वं ।।७००।।

'आयंबिलेण' आचाम्लेन । 'सिंभं खीयदि' श्लेष्मा क्षयमुपयाति । 'पित्तं च' पित्तं च । 'उवसमं जादि' उपशममुपयाति । 'वादस्स' वातस्य । 'रक्खणट्ठं' रक्षणार्थं । 'एत्थ' अत्र । 'पयत्तं खु कादव्वं' प्रयत्न. कर्तव्यः ।।७००।।

पानभावनोत्तरकालभाविनं व्यापारं दर्शयति—

तो पाणएण परिभाविदस्स उदरमलसोधणिच्छाए ।
मधुरं पज्जेदव्वो मंदं व विरेयणं खवओ ।।७०१।।

'तो' पश्चात् । 'पाणएण' पानेन । 'परिभाविदो' भावितः क्षपक. । 'मधुरं पज्जेदव्वो' मधुर पाययितव्यः । किमर्थं ? 'उदरमलसोधणिच्छाए' उदरगतमलनिरासाय ।।७०१।।

आणाहवत्थियादीहिं वा वि कादव्वमुदरसोधणयं ।
वेदणमुप्पादेज्ज हु करिसं अत्थंतयं उदरे ।।७०२।।

'आणाहवत्थियादीहिं' अनुवासनादिभिः । 'कादव्वं' कर्तव्यं । 'उदरसोधणयं' उदरस्थमलमुदरशब्देनोच्यते तस्य निराक्रिया उदरमलशोधना । किमर्थमेवं प्रयासेन महता मलं निराक्रियते इत्यत्राचष्टे । 'वेदणमुप्पादेज्ज

गा०—पानकके छह भेद हैं—एक भेद स्वच्छ है । जैसे गर्मजल सौवीरक । इमली आदि फलोंके रसको बहल कहते हैं । यह दूसरा भेद है । दही आदि लेवड है जो हाथसे लिप्त हो जाता है । यह तीसरा भेद है । जो हाथसे लिप्त न हो वह चौथा भेद अलेवड है । सिक्थ सहित पेय पाँचवाँ भेद है और सिक्थरहित पेय छठा भेद है । ये छह प्रकारका पानक पानक परिकर्मके योग्य है ।।६९९।।

गा०—आचाम्लसे कफका क्षय होता है, पित्त शान्त होता है और वातसे रक्षा होती है । इसलिए आचाम्लके सेवनका प्रयत्न करना चाहिए ।।७००।।

पानककी भावनाके पश्चात्का कार्य बतलाते हैं—

गा०—पानकका सेवन करनेवाले क्षपकको पेटके मलकी शुद्धिके लिए माँडकी तरह मधुर विरेचन पिलाना चाहिए ।।७०१।।

गा०—अनुवासन और गुदाद्वारमें बत्ती आदि चढ़ाकर पेटके मलकी शुद्धि करना चाहिए ।

खु' वेदनामुत्पादयेदेव । 'उदरे कोधिदम्मि' पुरीषं 'अत्यंतम्' स्थितं ॥७०२॥

एवं कृतोदरशोधनस्य क्षपकस्य योग्यं व्यापारं निर्यापकसूरिसंपाद्यमाचष्टे—

आवज्जीवं सव्वाहारं तिविहं च वोसरिहिदित्ति ।
णिज्जवओ आयरिओ संघस्स णिवेदणं कुज्जा ॥७०३॥

'आवज्जीवं' जीवितावधिकं । 'सव्वाहारं' सर्वाहारं । 'तिविहं' त्रिविधं अशनं, खाद्यं, स्वाद्यं च । 'वोसरिहिदित्ति' त्यजतीति । 'णिज्जवगो आयरिओ' निर्यापकः सूरिः । 'संघस्स णिवेदणं कुज्जा' सङ्घं निवेदयेत् ॥७०३॥

खामेदि तुम्ह खवओत्ति कुंचओ तस्स चेव खवगस्स ।
दावेदव्वो णेदूण सव्वसंघस्स वसधीसु ॥७०४॥

'खामेदि' क्षमां ग्राहयति । 'तुम्ह' युष्मान् । 'खवगोत्ति' क्षपक इति । 'तस्स चेव खवगस्स' तस्यैव क्षपकस्य । 'कुंचगो' प्रतिलेखनं । 'दावेदव्वो' दर्शयितव्यं । 'णेदूण' नीत्वा । 'सव्वसंघस्स वसधीए' सर्व-सङ्घस्य वसतीषु ॥७०४॥

तेन सङ्घेन ज्ञातक्षपकाभिप्रायेण कर्तव्यमित्याचष्टे—

आराधणपत्तीयं खवयस्स य णिरुवसग्गपत्तीयं ।
काओसग्गो संघेण होइ सव्वेण कादव्वो ॥७०५॥

'आराधणपत्तीयं' रत्नत्रयाराधना क्षपकस्य यथा स्यादित्येवमर्थं । 'खवगस्स णिरुवसग्गपत्तीयं' क्षपकस्योपसर्गा मा भूवन्नेवमर्थं च । 'काओसग्गो' कायोत्सर्गः । 'संघेण सव्वेण' सर्वेण सङ्घेन । 'होदि कादव्वो' कर्तव्यो भवति ॥७०५॥

गाथामें आये उदर शब्दसे पेटका मल लेना चाहिए। उसको निकालना उदरमलका शोधन है। ऐसे महान् प्रयासके द्वारा पेटके मलको निकालनेका यह कारण है कि उदरमें रहा हुआ मल कष्ट देता है ॥७०२॥

इस प्रकार क्षपकके उदरके मलकी शुद्धि हो जानेपर निर्यापकाचार्य क्षपकके योग्य जो कार्य करते हैं उसे कहते हैं—

गा०—निर्यापकाचार्य संघसे निवेदन करते हैं कि अब यह क्षपक जीवनपर्यन्तके लिए अशन, खाद्य और स्वाद्य तीनों प्रकारके सब आहारका त्याग करता है ॥७०३॥

गा०—तथा यह क्षपक आप सबसे क्षमा माँगता है। इसके प्रमाणके लिए आचार्य उस क्षपककी पिच्छिका लेकर सर्वसंघकी वसतियोंमें दिखलाते हैं। अर्थात् क्षपक सबके पास क्षमा माँगने स्वयं नहीं जा सकता, इसलिए उसकी पीछी सर्वत्र ले जाकर दिखलाते हैं कि वह आप सबसे क्षमा माँगता है ॥७०४॥

क्षपकका अभिप्राय जानकर संघको क्या करना चाहिए, यह कहते हैं—

गा०—क्षपककी रत्नत्रयकी आराधनापूर्ण हो और उसमें कोई विघ्न न आवे, इसके लिए सर्वसंघको कायोत्सर्ग करना चाहिए ॥७०५॥

खवयं पच्चक्खावेदि तदो सव्वं च चदुविधाहारं ।
संघसमवायमज्झे सागारं गुरुणिओगेण ॥७०६॥

'खवगं' क्षपकं । 'पच्चक्खावेदि' प्रत्याख्यानं कारयति, निर्यापकः सूरिः । 'तदो' पश्चात् । 'सव्वं' सर्वं । 'चदुविधमाहारं' चतुर्विधाहारं । 'संघसमवायमज्झे' सङ्घसमुदायमध्ये । 'सागारं' साकारं । 'गुरुणिओगेण' इतरं गुर्वनुज्ञया ॥७०६॥

अहवा समाधिहेदुं कायव्वो पाणयस्स आहारो ।
तो पाणयंपि पच्छा वोसरिदव्वं जहाकाले ॥७०७॥

'अहवा' अथवा । 'समाधिहेदुं' समाधिचित्तैकाग्र्यं, तदर्थं । 'कायव्वो' कर्तव्यः 'पाणयस्स आहारो' पानकस्य विकल्पः । 'तो' पश्चात् । 'पाणयंपि' पानकमपि । 'वोसरिदव्वं' त्यक्तव्यं । 'जहाकाले' यथाकाले नितरां शक्तिहानिकाले । पूर्वगाथया चतुर्विधाहारत्यागः कार्य इति, योऽतिशयेन परीषहबाधाक्षमस्तं प्रयुक्तं । अनया तु यो न तथा भवति तं प्रति त्रिविधाहारत्याग इति निर्दिश्यते ॥७०७॥

कीदृग्पानं तस्य योग्यमित्यत्राह—

जं पाणयपरियम्मम्मि पाणयं छव्विहं समक्खादं ।
तं से ताहे कप्पदि तिविहाहारस्स वोसरणे ॥७०८॥

'जं' यत् । 'पाणयपरियम्मम्मि' पानकाख्ये परिकरे । 'पाणगं' पान । 'छव्विहं' षड्विधं । 'समक्खादं' समाख्यातं । स्वच्छं बहुलमित्यादिकं । 'तं' तत्पानं । 'से' तस्य । 'ताहे' तदा । 'कप्पदि' योग्यं भवति । 'तिविहाहारस्स' अशनस्य, खाद्यस्य, स्वाद्यस्य च त्यागे । पच्चक्खाणं ॥७०८॥

तो आयरियउवज्झायसिस्ससाधम्मिगे कुलगणे य ।
जो होज्ज कसाओ से तं सव्वं तिविहेण खामेदि ॥७०९॥

'तो' प्रत्याख्यानोत्तरकाले । 'आयरियउवज्झायसिस्ससाधम्मिगे' आचार्ये, उपाध्याये, शिष्ये, सधर्मिणि । 'कुलगणे' य कुले गणे च । 'जो होज्ज कसाओ' यो भवेत्कषायः क्रोधो, मानो, लोभो वा । 'तं सव्वं' निरव-

---

गा०—उसके पश्चात् निर्यापकाचार्य संघके समुदायके मध्यमें चारों प्रकारके आहारका सविकल्पक त्याग करता है और क्षपक गुरुकी आज्ञासे ऐसा करता है ॥७०६॥

गा०—अथवा समाधि अर्थात् चित्तकी एकाग्रताके लिए पानकको छोड़कर शेष सब आहारका त्याग करता है और अत्यन्त शक्तिहीन होनेपर पानकका भी त्याग करता है ॥७०७॥

विशेषार्थ—पूर्वगाथामें चार प्रकारके आहारका त्याग उस क्षपकके लिए कहा है जो अत्यन्त परीषहकी बाधाको सहनेमें समर्थ होता है और इस गाथासे जो ऐसा नहीं होता उसके लिए तीन प्रकारके आहारका त्याग कहा है ॥७०७॥

उसके योग्य पानक किस प्रकारका है यह बतलाते हैं—

गा०—पानकके प्रकरणमें जो छह प्रकारका पानक कहा है, तीन प्रकारके आहारका त्याग करनेपर वह उस क्षपकके योग्य होता है ॥७०८॥

गा०—आहार त्याग करनेके पश्चात् आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मी, कुल और गणके

क्रोधं । 'तिविहेण' त्रिविधेन । 'खामेदि' क्षपयति निराकरोति ॥७०९॥

अब्भहियजादहासो मत्थम्मि कदंजली कदपणामो ।
खामेइ सव्वसंघं संवेगं संजणेमाणो ॥७१०॥

'अब्भहियजादहासो' नितरामुपजातचित्तप्रसादः । कर्तव्यं मुमुक्षुणा यत्तत्सकलं मयानुष्ठितं इति । 'मत्थम्मि कदंजली' मस्तकन्यस्ताञ्जलिः । 'कदपणामो' कृतप्रमाण । 'खामेदि' क्षमां ग्राहयति । 'सव्वसंघं' सर्वं श्रमणगणं । 'संवेगं' धर्मानुरागं । 'संजणेमाणो' सम्यगुत्पादयन् सर्वस्य सङ्घस्य ॥७१०॥

मणवयणकायजोगेहिं पुरा कदकारिदे अणुमदे वा ।
सव्वे अवराधपदे एस खमावेमि णिस्सल्लो ॥७११॥

'मणवयणकायजोगेहिं' मनोवाक्काययोगैः । 'पुरा' पूर्वं । 'कदकारिदे अणुमदे वा' कृतकारितानुमतांश्च । 'सव्वे अवराधपदे' सर्वानपराधविशेषान् । 'एस' एषः । 'खमावेमि' क्षमां ग्राहयामि । 'णिस्सल्लो' शल्यरहितोऽहमिति ॥७११॥

अम्मापिदुसरिसो मे खमदु खु जगसीयलो जगाधारो ।
अहमवि खमामि सुद्धो गुणसंघायस्स संघस्स ॥७१२॥

'अम्मापिदुसरिसो' मात्रा पित्रा च सदृशो । 'मे' मम 'खमदु' क्षमा करोतु । 'जगसीयलो' जगतः सर्वप्राणिलोकस्य शीतल । 'जगाधारो' आसन्नभव्यलोकस्य आधारः । 'अहमवि खमामि' परकृतमपराधं मनसि न करोमि । 'सुद्धो' शुद्धः क्रोधादिकलङ्कविरहात् । 'गुणसंघायस्स' गुणसमुदायस्य 'संघस्स' सङ्घस्य । क्षमणा ॥७१२॥

संघो गुणसंघाओ संघो य विमोचओ य कम्माणं ।
दंसणणाणचरित्ते संघायंतो हवे संघो ॥७१३॥

सम्बन्धमें क्षपकके अन्दर जो क्रोध, मान, माया या लोभ कषाय होती है उसे सबको वह मनवचनकायसे निकाल देता है ॥७०९॥

गा०—मुमुक्षुका जो कर्तव्य है वह मत्र मैंने किया, इस विचारसे उस क्षपकके चित्तमें अत्यन्त प्रसन्नता होती है और धर्मानुरागको प्रकट करते हुए दोनों हाथोंकी अंजलि मस्तकसे लगाकर प्रणामपूर्वक समस्त मुनिसंघसे वह क्षमा माँगता है ॥७१०॥

गा०—कि मनवचनकाय और कृतकारित अनुमोदनासे पूर्वमें किये गये सब अपराधों की मैं निःशल्य होकर क्षमा माँगता हूँ ॥७११॥

गा०—गुणोंका समूहरूप यह संघ समस्त प्राणियोंको सुख देनेवाला है, निकट भव्यजीवोंका आधार है। वह संघ मुझे माता-पिताके समान क्षमा प्रदान करें। मैं भी क्रोधादि दोषोसे शुद्ध होकर किये हुए अपराधको मनसे निकाल देता हूँ ॥७१२॥

गा०—गुणोंके समूहका नाम संघ है। यह संघ कर्मोसे छुड़ाता है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके मेलसे संघ होता हैं ॥७१३॥

इय खामिय वेरग्गं अणुत्तरं तवसमाधिमारूढो ।
पप्फोडिंतो विहरदि बहुभवबाधाकरं कम्मं ॥७१४॥

वट्टंति अपरिदंता दिवा य रादो य सव्वपरियम्मे ।
पडिचरया गणहरया कम्मरयं णिज्जरेमाणा ॥७१५॥

'वट्टंति' वर्तन्ते । 'अपरिदंता' अपरिश्रान्ताः । 'दिवा य रादो य' दिने रात्रौ च । 'सव्वपरियम्मे' सर्वपरिचरणे । 'पडिचरया' निर्यापकाः । गणहरया गणान् धर्मस्थान् धारयन्तीति गणधराः 'कम्मरयं' कर्माख्यं रजः 'णिज्जरेमाणा' निर्जरयन्तः ॥७१५॥

जं बद्धमसंखेज्जाहिं रयं भवसदसहस्सकोडीहिं ।
सम्मत्तुप्पत्तीए खवेइ तं एयसमयेण ॥७१६॥

'जं' यत् । 'बद्धं रयं' बद्धं रजः कर्म । यथा रजश्छादयति परस्य गुणं शरीरादेः कण्डूखर्जुप्रभृतिकं दोषमावहति तद्वद्बोधादिगुणमवच्छादयति च विचित्रा विपदः तेन रज इव रज इत्युच्यते । 'भवसदसहस्स कोडीहिं' भवशतसहस्रकोटिभिः । तद्रजः 'खवेंति' क्षपयन्ति । केन ? 'सम्मत्तुप्पत्तीए' श्रद्धानोत्पत्त्या । 'एगसमयेण' एकेनैव समयेन । तथा चोक्तं—सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोह क्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जरा इति ॥ [तत्त्वा० ९।४५] ॥७१६॥

एयसमएण विधुणदि उवउत्तो बहुभवज्जियं कम्मं ।
अण्णयरम्मि य जोग्गे पच्चक्खाणे विसेसेण ॥७१७॥

'एयसमयेण विधुणदि' अल्पेन कालेन निर्धुनाति । 'उवउत्तो' परिणतः । क्व ? 'अण्णयरम्मि जोग्गे' यस्मिन्कस्मिंश्चित् तपसि । किं ? 'बहुभवज्जियं' अनेकभवसंचितं । 'कम्मं' कर्म । 'पच्चक्खाणे उवजुत्तो विसेसेण

गा०—इस प्रकार सर्वसंघको क्षमा प्रदान करके उत्कृष्ट वैराग्यको धारणकर, तप और समाधिमें लीन हुआ क्षपक भवभवमें कष्ट देनेवाले कर्मोंकी निर्जरा करता है ॥७१४॥

गा०—धार्मिकोंका संरक्षण करनेवाले निर्यापक मुनिगण रात दिन बिना थके उस क्षपककी समस्त परिचर्यामें लगे रहते हैं । और इस प्रकार कर्मोंकी निर्जरा करते हैं ॥७१५॥

गा०—असंख्यात लक्षकोटिभवोंमे जो कर्मरज बाँधा है उसे सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होनेपर एक समयमें ही जीव नष्ट कर देता है ॥७१६॥

टी०—जैसे रज अर्थात् धूल शरीर आदिके सौन्दर्यको ढाँक देती है और शरीरमें दाद खाज आदि दोष उत्पन्न करती है वैसे ही कर्म जीवके ज्ञानादिगुणोको ढाँकता है और अनेक कष्ट देता है इसलिए उसे रजके समान होनेसे रज कहा है । असंख्यातभवोंमें संचित कर्मरज सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेपर एक समयमें ही निर्जीर्ण हो जाती है । तत्त्वार्थसूत्रमें कहा है—सम्यग्दृष्टी, श्रावक, प्रमत्तविरत, अनन्तानुबन्धीका विसंयोजक, दर्शनमोहका क्षपक, उपशम श्रेणिवाला, उपशान्तमोही, क्षपकश्रेणिवाला, क्षीणमोही और अरहन्तके उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा होती है ॥७१६॥

गा०—जिस किसी तपमें लीन हुआ आत्मा अनेकभवोमें संचितकर्मोंको अल्पसमयमें ही

'णिज्जरदि' यावज्जीवं चतुर्विधाहारत्यागे वरिमतः विशेषेण निरस्यति ॥७१७॥

एवं पडिक्कमणाए काउसग्गे य विणयसज्झाए ।
अणुपेहासु य जुत्तो संथारगओ धुणदि कम्मं ॥७१८॥

'एवं' उक्तेन क्रमेण । 'पडिक्कमणाए' प्रतिक्रमणे । 'काउस्सग्गे य' कायोत्सर्गे च । 'विणयसज्झाए' विनयस्वाध्याययोः । 'अणुपेहासु य जुत्तो' अनुप्रेक्षासु च युक्तः । 'संथारगओ' संस्तरारूढः । 'कम्मं धुणदि' कर्म क्षपयति । सुगमं सर्वं ॥७१८॥

इत उत्तरं अनुशासन प्रक्रम्यते इति निगदति—

णिज्जवया आयरिया संथारत्थस्स दिंति अणुसिट्ठिं ।
संवेगं णिव्वेगं जणंतयं कण्णजावं से ॥७१९॥

'णिज्जवया आइरिया' निर्यापका: सूरयः । 'अणुसिट्ठिं दिंति' श्रुतज्ञानानुसारेण शिक्षां प्रयच्छन्ति । 'संथारत्थस्स' संस्तरस्थस्य । 'संवेगं' संसारभीरुतां । 'णिव्वेगं' वैराग्यं च । 'जणंतयं' उत्पादयन्तं । 'कण्णजावं' कर्णजापं । 'से' तस्मै क्षपकाय ॥७१९॥

णिस्सल्लो कदसुद्धी विज्जावच्चकरवसधिसंथारं ।
उवधिं च सोधइत्ता सल्लेहण भो कुण इदाणिं ॥७२०॥

'णिस्सल्लो' मिथ्यादर्शन, माया, निदानं इति त्रीणि शल्यानि तेभ्यो निःक्रान्तः । तत्त्वश्रद्धानेन, ऋजुतया, भोगनिस्पृहतया वा 'कदसुद्धी' कृता शुद्धिर्निर्मलता रत्नत्रये येन स कृतशुद्धिः । 'विज्जावच्चकरवसधिसंथारं' विविधा आपत् विपत् इत्युच्यते । व्याधय, उपसर्गाः, परीषहा, असंयमो, मिथ्याज्ञानं इत्यादिभेदेन तस्यामापदि यत्प्रतिविधानं तद्वैयावृत्यं तत्करोति य आत्मनः स वैयावृत्यकरस्तं । वसतिसंथारं

निर्जीर्ण कर देता है । और जो जीवनपर्यन्त चारों प्रकारके आहारका त्याग करता है वह विशेषरूपसे कर्मोंकी निर्जरा करता है ॥७१७॥

गा०—इस प्रकार संस्तरपर आरूढ क्षपक प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, विनय, स्वाध्याय और बारह भावनाओंमें लगनेपर कर्मोंकी निर्जरा करता है ॥७१८॥

आगे कहते हैं कि क्षपकको सूरि शिक्षा देते हैं—

गा०—निर्यापक आचार्य संस्तरपर आरूढ क्षपकको श्रुतज्ञानके अनुसार उसके कानमें शिक्षा देते हैं । वह शिक्षा संसारसे भय और वैराग्यको उत्पन्न करती है ॥७१९॥

कानमें क्या शिक्षा देते हैं, यह कहते हैं—

गा०—हे क्षपक ! निःशल्य होकर, रत्नत्रयको निर्मल करके तथा वैयावृत्य करनेवाले, वसति संस्तर और पीछी आदि उपधिका शोधन करके अब सल्लेखना करो ॥७२०॥

टी०—मिथ्यादर्शन, माया, निदान ये तीन शल्य हैं । तत्त्वश्रद्धानसे मिथ्यादर्शनको, सरलतासे मायाको और भोगोंकी निस्पृहतासे निदानको दूर करके निःशल्य बनो । व्याधि, उपसर्ग, परीषह, असंयम, मिथ्याज्ञान आदिके भेदसे विविध आपदाओंको विपदा कहते हैं । उस विपदाके आनेपर उसके प्रतिकार करनेको वैयावृत्य कहते हैं । जो क्षपककी वैयावृत्य करता है

वसतिसंस्तर । उपधि पिच्छादिक च । 'सोधयित्ता' विशोध्य । 'सल्लेहणं' सल्लेखनां । 'कुण' कुरु । 'इदाणिं' इदानीं । किं ? संयमासंयमविवेकज्ञाः असंयमं त्रिधा मनोवाक्कायैः परिहरन्ति न वेति परीक्ष्य अयोग्यवैया-वृत्यकराणां त्यागः । योग्यानां चानुज्ञा । पूर्वापराह्णयोर्वसतेः, संस्तरस्योपकरणानां च शुद्धिं कुरुतेति आज्ञा-पयता तच्छुद्धिः कृता भवति ॥७२०॥

मिच्छत्तस्स य वमणं सम्मत्ते भावणा परा भत्ती ।
भावणमोक्काररदिं णाणुवजुत्ता सदा कुणसु ॥७२१॥

'मिच्छत्तस्स य वमणं' मिथ्यात्वस्य वमनं । 'सम्मत्ते भावणा' तत्त्वश्रद्धाने असकृद्वृत्तिः । 'परा भत्ती' । उत्कृष्टा भक्तिः । 'भावणमोक्काररदी' नमस्कारो द्विविधः द्रव्यनमस्कारो भावनमस्कार इति । नमस्तस्मै इत्यादि शब्दोच्चारणं, उत्तमाङ्गावनतिः, कृताञ्जलिता च द्रव्यनमस्कारः । नमस्कर्तव्यानां गुणानुरागो भाव-नमस्कारस्तत्र रतिः । 'णाणुवयोगं' श्रुतज्ञानोपयोगं च । सदा 'कुणसु' कुर्विति । सूत्रमिदं ॥७२१॥

पंचमहव्वयरक्खा कोहचउक्कस्स णिग्गहं परमं ।
दुद्दंतिंदियविजय दुविहतवे उज्जमं कुणसु ॥७२२॥

'पंचमहव्वयरक्खा' पञ्चानां महाव्रतानां रक्षा । 'कोहचउक्कस्स' रोषचतुष्कस्य । 'णिग्गहं' निग्रहं । 'परमं' प्रकृष्टं । 'दुद्दंतिंदियविजय' दुर्दान्तेन्द्रियविजयं । 'दुविहतवे' द्विप्रकारे तपसि । 'उज्जमं' उद्योगं । 'कुणसु' कुरु ॥७२२॥

'मिच्छत्तस्स य वमणं' इत्येतत्सूत्रपदं व्याचष्टे—

वह वैयावृत्य करनेवाला है । हे क्षपक ! वैयावृत्य करनेवाला, वसति, संस्तर और पीछी आदिका शोधन करके तुम सल्लेखना करो । इसका अभिप्राय यह है क्षपक यह देखे कि वैयावृत्य करने-वाले मुनि संयम और असंयमके भेदको जानते हैं या नहीं ? वे मनवचनकायसे असयमका परिहार करते हैं या नहीं ? यह परीक्षा करके अयोग्य वैयावृत्य करनेवालोंको हटा दें और योग्य वैयावृत्य करनेवालोंको स्वीकार करे । पूर्वाह्ण और अपराह्णमें वसति, सस्तर और उपकरणोकी शुद्धि करो ऐसी आज्ञा देनेपर उनकी शुद्धि मानी जाती है । इनकी शुद्धिपूर्वक तुम समाधि करो । अब तुम्हारा मरणसमय निकट है । ऐसा क्षपकके कानमें कहते हैं ॥७२०॥

गा०—मिथ्यात्वका त्याग करो । तत्त्वश्रद्धानकी भावना करो । अर्हन्त आदिमे उत्कृष्ट भक्ति करो । भावनमस्कारमे मन लगाओ । नमस्कारके दो भेद हैं—द्रव्यनमस्कार और भाव-नमस्कार । जिनदेवको नमस्कार हो इत्यादि शब्दोका उच्चारण करना, मस्तक झुकाना, दोनों हाथ जोड़ना, ये सब द्रव्यनमस्कार है और नमस्कार करने योग्य अर्हन्त आदिके गुणोंमें अनुराग होना भावनमस्कार है । उस भावनमस्कारमें मन लगाओ और सदा श्रुतज्ञानमें उपयोग लगाओ ॥७२१॥

गा०—पाँच महाव्रतोंकी रक्षा करो । क्रोध आदि चार कषायोका उत्कृष्ट निग्रह करो । दुर्दान्त इन्द्रियोको जीतो और दो प्रकारके तपमें उद्योग करो ॥७२२॥

'मिथ्यात्वका त्याग करो' गाथाके इस पदका व्याख्यान करते हैं—

संसारमूलहेदुं मिच्छत्तं सव्वधा विवज्जेहि ।
बुद्धी गुणण्णिदं पि हु मिच्छत्तं मोहिदं कुणदि ॥७२३॥

'संसारमूलहेदुं' संसारस्य मूलकारणं । 'मिच्छत्तं' अश्रद्धानं । 'सव्वधा' मनोवाक्कायैः । 'विवज्जेहि' वर्जय । 'बुद्धी' बुद्धि । 'गुणण्णिदं पि हु' गुणान्वितामपि । 'मिच्छत्तं' मिथ्यात्वं 'मोहिदं' मुग्धां । 'कुणदि' करोति । अत्रेदं विचार्यते । कथं प्रथमता मिथ्यात्वस्य ? न हीदं संभाव्यते असंयमादिभ्यो मिथ्यात्वं प्रथममुपजातमिति कुतः ? यथा मिथ्यात्वं स्वनिमित्तसन्निधानाद्भवति, एवमसंयमादयोऽपीति का तस्य प्रथमता ? अथ तद्धेतुरेव दर्शनमोहः प्रथमं भवति पश्चाच्चारित्रमोहादीनीत्येतदपि असत् सदा कर्माष्टकसद्भावात् । 'एवं प्रामाण्यते सूत्रकार' 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः' इति वचने मिथ्यात्वं बन्धहेतुषु पूर्वमुपन्यस्तं बन्धपुरःसरश्च संसारः, संसारमूलहेतुर्मिथ्यात्वमिति बुद्धि अर्थयाथात्म्यपरिच्छेदगुणसमन्वितामपि मिथ्यात्वं विपरीता करोति । अन्ये तु वदन्ति । 'बुद्धी गुणण्णिदा पि हु' शुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणादयो बुद्धेर्गुणास्तद्धेतुमपीति ॥७२३॥

अतद्रूपवस्तुनि तद्रूपावभासिता कथं विज्ञानस्येत्याशङ्कायां विपर्यस्तमपि ज्ञानमुदेति तन्निमित्तसद्भावादित्याचष्टे—

मयतण्हियाओ उदयत्ति मया मण्णंति जह सतण्हयगा ।
तह य णरा वि असब्भूदं सब्भूतं ति मण्णंति मोहेण ॥७२४॥

'मयतण्हिया' मृगतृष्णिकाशब्देन आदित्यरश्मयो भौमेनोष्मणा संपृक्ता उच्यन्ते । ता अजलभूताः । 'मया मण्णंति उदगंति' मृगा मन्यंते उदकमिति । 'सतण्हया' तृष्णासंतप्तलोचनाः । 'तह य' तथैव । मृगा

गा०—मिथ्यात्व संसारका मूल कारण है उसका मनवचनकायसे त्याग करो; क्योंकि मिथ्यात्व गुणयुक्त बुद्धिको भी मूढ़ बना देता है ॥७२३॥

टी०—शङ्का—यहाँ विचारणीय यह है कि मिथ्यात्वको प्रथमस्थान क्यों दिया गया है ? असंयम आदिसे मिथ्यात्व पहले उत्पन्न हुआ है यह सम्भावना भी सम्भव नहीं है क्योंकि जैसे मिथ्यात्व अपने निमित्तके होनेपर होता है वैसे ही असंयम आदि भी होते है तब वह प्रथम क्यों ? यदि कहोगे कि उसका हेतु दर्शनमोह पहले होता है पीछे चारित्रमोह आदि होते है तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि आठों कर्म सदा रहते हैं ?

समाधान—सूत्रकारने तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा है—'मिथ्यादर्शन अविरति, प्रमाद, कषाय और योग बन्धके कारण हैं।' यहाँ उन्होंने बन्धके कारणोंमें मिथ्यात्वको प्रथम स्थान दिया है और बन्धपूर्वक संसार होता है अतः संसारका मूल कारण मिथ्यात्व है। वह पदार्थको यथार्थ रूपसे जाननेका गुण रखने वाली बुद्धिको भी विपरीत कर देता है।

अन्य आचार्य ऐसा व्याख्यान करते हैं—सुननेकी इच्छा, सुनना, ग्रहण करना और धारण करना आदि बुद्धिके गुण हैं। ऐसी गुणयुक्त बुद्धिको भी मिथ्यात्व विपरीत कर देता है ॥७२३॥

जो वस्तु जिस रूप नहीं है उसे ज्ञान उस रूप कैसे दिखलाता है ? ऐसी आशंका होने पर आचार्य कहते हैं कि मिथ्यात्व रूप निमित्तके सद्भावमें ज्ञान विपरीत भी होता है—

गा०—सूर्यकी किरणें पृथ्वीकी ऊष्मासे मिलकर जलका भ्रम उत्पन्न करती हैं उसे मृग-

---

१. एवं सामान्यतः सू०—आ० मु० ।

इव नरा अपि। 'असब्भूदं सब्भूदंति मण्णंति मोहेण' असत्यमपि तत्त्वमित्यवगच्छन्ति दर्शनमोहेन हेतुना ॥७२४॥

परिहर तं मिच्छत्तं सम्मत्ताराहणाए दढचित्तो।
होदि णमोक्कारम्मि य णाणे वदभावणासु चिया ॥७२५॥

मिथ्यात्वजन्यमोहमाहात्म्यप्रख्यापनायाह—

मिच्छत्तमोहणादो धत्तूरयमोहणं वरं होदि।
वड्ढेदि जम्ममरणं दंसणमोहो दु ण दु इदरं ॥७२६॥

'मिच्छत्तमोहणादो' मिथ्यात्वजन्यान्मोहात्। 'धत्तूरयमोहणं' उन्मत्तरससेवाजनितमोहन। 'वरं होदि' शोभनं भवति। कथं? 'वड्ढेदि' वर्धयति। 'जम्ममरणं' जन्ममरणं च विचित्रासु योनिषु। किं? 'दंसणमोहो' दर्शनमोहजन्य कलङ्क। 'ण दु इदरं जम्ममरणं वड्ढेदि' नैव धत्तूरकमोहन जन्ममरणपरम्परां आनयति कतिपयदिनभाविमोहसम्पादनोद्यता-(-त्) अनन्तकालवर्तिवपरीत्यजननक्षममोहन अतिशयेन निकृष्टमिति भावः। ततो जन्मरणप्रवाहभीरुणा भवता त्याज्यं मिथ्यात्वं इति ॥७२६॥

ननु प्रागेव परित्यक्त मिथ्यात्व तत्कथ इदानी तस्यागोपदेश इत्यस्याशङ्कायामिदमुच्यते—

जीवो अणादिकालं पवत्तमिच्छत्तभाविदो संतो।
ण रमिज्ज हु सम्मत्ते एत्थ पयत्तं खु कादव्वं ॥७२७॥

'जीवो अणादिकालं पवत्तमिच्छत्तभाविदो सन्तो' जीवोऽनादिकालप्रवृत्तमिथ्यात्वभावित. सन्। 'ण रमिज्ज खु' नैव रमेत। 'सम्मत्ते' सम्यक्त्वे, 'एत्थ' अत्र सम्यक्त्वे। 'पयत्तं' प्रयत्नः 'कादव्वं खु' कर्तव्य एव।

तृष्णा कहते हैं। जैसे प्याससे पीड़ित मृग उसे पानी जानते हैं वैसे ही मनुष्य भी दर्शनमोहके कारण असत्त्वको भी तत्त्व जानता है ॥७२४॥

गा०—अतः हे क्षपक, सम्यक्त्वकी आराधनाके द्वारा उस मिथ्यात्वको दूर कर। ऐसा करनेसे पंचपमेष्ठीके नमस्कारमें ज्ञान और व्रतोंकी भावनामें चित्त दृढ़ होता है ॥७२५॥

मिथ्यात्वसे उत्पन्न हुए मोहका माहात्म्य कहते हैं—

गा०-टी०—मिथ्यात्वके उदयसे उत्पन्न हुए मोहसे धतूरेके सेवनसे उत्पन्न हुआ मोह (मूर्छा) उत्तम है; क्योंकि दर्शन मोहसे उत्पन्न हुआ मोह नाना योनियोंमें जन्ममरणको बढ़ाता है किन्तु धतूरेके सेवनसे उत्पन्न हुआ मोह जन्ममरणकी परम्पराको नहीं बढ़ाता। अतः कुछ दिनोंके लिए मोह उत्पन्न करने वाले धतूरेके मदसे अनन्त कालके लिए विपरीत बुद्धि उत्पन्न करनेमें समर्थ मिथ्यात्वका मोह अत्यन्त बुरा है। अत: जन्ममरणकी परम्परासे भीत आपको मिथ्यात्वका त्याग करना चाहिए ॥७२६॥

यहाँ यह शंका होती है कि मिथ्यात्वका त्याग तो पहले ही कर दिया यहाँ उसके त्यागका उपदेश क्यों? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—यह जीव अनादि कालसे चले आते हुए मिथ्यात्वसे भावित होता आया है इससे

अनन्तकाले परिभावितं मिथ्यात्वं दुस्त्यजं तदेव दुःखत्याज्यं। यथोरगश्चिरपरिचितं छिद्रं निवार्यमाणोऽपि बलात्प्रविशति इति कर्तव्यं सम्यक्त्वे दार्ढ्यं ॥७२७॥

अग्गिविसकिण्हसप्पादियाणि दोसं ण तं करेज्जण्हु।
जं कुणदि महादोसं तिव्वं जीवस्स मिच्छत्तं ॥७२८॥

'अग्गिविसकिण्हसप्पादियाणि' अग्निर्विषं कृष्णसर्पं इत्यादीनि। 'दोसं ण तं करेज्जण्हु' दोषं तं न कुर्युः। 'जं कुणदि' यं करोति। 'महादोसं' महान्तं दोषं। 'जीवस्स' जीवस्य। 'तिव्वं' तीव्रं। किं? 'मिच्छत्तं' मिथ्यात्वं अश्रद्धानं ॥७२८॥

अग्गिविसकिण्हसप्पादियाणि दोसं करंति एयभवे।
मिच्छत्तं पुण दोसं करेदि भवकोडिकोडीसु ॥७२९॥

अग्न्यादिभिः क्रियमाणस्य अल्पता मिथ्यात्वेन संपाद्यस्य च महत्ता दर्शयत्युत्तरगाथया। अग्न्यादीन्येकभवदुःखदानि मिथ्यात्वं पुनर्दोषं करोति भवानां कोटाकोटीषु ॥७२९॥

मिच्छत्तसल्लविद्धा तिव्वाओ वेदणाओ वेदंति।
विसलित्तकंडविद्धा जह पुरिसा णिप्पडीयारा ॥७३०॥

'मिच्छत्तसल्लविद्धा' मिथ्यात्वाख्येन शल्येन विद्धाः 'तिव्वाओ वेदणाओ' तीव्रा वेदनाः। 'वेदंति' अनुभवन्ति। 'विसलित्तकंडविद्धा' विषलिप्तेन शरेण विद्धा। 'जह' यथा। 'पुरिसा' पुरुषाः। 'णिप्पडीयारा' निष्प्रतीकाराः ॥७३०॥

अच्छीणि संघसिरिणो मिच्छत्तणिकाचणेण पडिदाइं।
कालगदो वि य संतो जादो सो दीहसंसारे ॥७३१॥

'अच्छीणि' अक्षिणी। 'संघसिरिणो' सङ्घश्रीसंज्ञितस्य। 'मिच्छत्तणिकाचणेण' मिथ्यात्वप्रकर्षेण। 'पडिदाणि' पतिते। 'इहैव' जन्मनि। 'कालगदो वि य संतो' मृत्वापि। 'जादो सो' जातोऽसौ। 'दीहसंसारे' दीर्घसंसारे ॥७३१॥

सम्यक्त्वमें वह नहीं रमता। इसलिए सम्यक्त्वमें प्रयत्न करना ही चाहिए। अनन्त कालमें अच्छी तरह भाया गया मिथ्यात्व बड़े कष्टसे छूटता है। जैसे सर्प रोकने पर भी अपने चिर परिचित बिलमें बलपूर्वक घुस जाता है। अतः सम्यक्त्वमें दृढ़ता कर्तव्य है ॥७२७॥

गा०—आग, विष, काला सर्प आदि जीवका उतना दोष नहीं करते जैसा महादोष तीव्र मिथ्यात्व करता है ॥७२८॥

आगेकी गाथासे आग आदिके द्वारा किये गये दोषकी अल्पता और मिथ्यात्वके द्वारा किये गये दोषकी महत्ता बतलाते हैं—

गा०—आग आदि तो एक भवमें ही दुःख देते हैं। किन्तु मिथ्यात्व करोड़ो भवोंमें दुःख देता है ॥७२९॥

गा०—मिथ्यात्व नामक शल्यसे बींधे गये जीव तीव्र वेदना भोगते हैं। जैसे विषैले बाणसे छेदे गये मनुष्योंका कोई प्रतीकार नहीं होता। अर्थात् वे अवश्य मर जाते हैं ॥७३०॥

यदि नाम उपगतमिथ्यात्वोऽस्मि तथापि दुर्धरं चारित्रमनुष्ठितं मया तदस्मान्निस्तरणे समर्थमित्याशा न कर्तव्येति निरूपयति—

कडुगम्मि अणिव्वलिदम्मि दुद्धिए कडुगमेव जह खीरं ।
होदि णिहिदं तु णिव्वलियम्मि य मधुरं सुगंधं च ॥७३२॥

'कडुगम्मि दुद्धिए' कटुकालाब्वां । 'अणिव्वलिदम्मि' अशुद्धायां । 'णिहिदं खीरं' निक्षिप्तं क्षीरं । 'जह कडुगमेव होदि' यथा कटुकरसमेव भवति । एवकारेण माधुर्यव्यावृत्तिः क्रियते । 'णिव्वलिदम्मि य' शुद्धायामलाब्वां । 'णिहिदं' निक्षिप्तं क्षीरं 'जह मधुरं होदि सुगंधं च' यथा मधुरं भवति सुरभि च ॥७३२॥

तह मिच्छत्तकडुगिदे जीवे तवणाणचरणविरियाणि ।
णासंति वंतमिच्छत्तम्मि य सफलाणि जायंति ॥७३३॥

'तह' तथा 'मिच्छत्तकडुगिदे' मिथ्यात्वेन कटूकृते जीवे । 'तवणाणचरणविरियाणि' तपो, ज्ञानं, चारित्रं; वीर्यमित्येतानि 'णासंति' नश्यन्ति [1]सम्यक्रूपविनाशात् । समीचीनं तपो, ज्ञानं, चरणं, वीर्यानिगूहनं च मुक्त्युपायो न तपःप्रभृतिमात्रं । स च सम्यक्श्रद्धाबलेनैव नान्यथा । 'वंतमिच्छत्तम्मि' निरस्तमिथ्यात्वे जीवे । सफलानि फलसमन्वितानि तपःप्रभृतीनि । 'जायन्ति' जायन्ते । [कि[2] तपसः फलं ? अभ्युदयसुखं, निःश्रेयससुखं वा । मिच्छत्तस्स य वमणं इत्येतद्व्याख्यातं । मिच्छत्त] ॥७३३॥

[3]सम्मत्तं भावणा इत्येतद्व्याचष्टे—

मा कासि तं पमादं सम्मत्ते सव्वदुक्खणासयरे ।
सम्मत्तं खु पदिट्ठा णाणचरणवीरियतवाणं ॥७३४॥

गा०—संघश्री नामक राजमन्त्रीकी आँखें तीव्र मिथ्यात्वके कारण फूट गईं और वह मर कर भी दीर्घ संसारी हुआ ॥७३१॥

शायद क्षपक विचारे कि यदि मैं मिथ्यादृष्टि हूँ तब भी मैंने दुर्धर चारित्रका पालन किया है अतः मैं संसार समुद्रको पार करनेमें समर्थ हूँ ? आचार्य कहते हैं कि ऐसी आशा नहीं करना—

गा०—जैसे अशुद्ध कडुवी तूम्बीमें रखा दूध कटुक ही होता है और शुद्ध तूम्बीमें रखा दूध मीठा तथा सुगन्धित होता है ॥७३२॥

गा०—वैसे ही मिथ्यात्वसे दूषित जीवमें तप, ज्ञान, चारित्र, वीर्य, ये सब नष्ट हो जाते हैं क्योंकि सम्यक् रूप नहीं होते । समीचीन तप, ज्ञान, चारित्र और वीर्य मुक्तिके उपाय हैं, केवल तप आदि मात्र मुक्तिका उपाय नहीं है । और समीचीन तप आदि श्रद्धाके बलसे ही होते हैं, श्रद्धाके अभावमें नहीं होते । अतः मिथ्यात्वको दूर कर देने वाले जीवमें तप आदि सफल होते हैं । तपका फल सांसारिक सुख अथवा मोक्षका सुख है । इस प्रकार मिथ्यात्वके वमनका कथन किया ॥७३३॥

अब सम्यक्त्वकी भावनाका कथन करते हैं—

---

१. सम्यक्स्वरूपविनाशात्–मूलारा० मु० । २. [ ] एतदन्तर्गतः पाठः 'अ' प्रतौ नास्ति ।
३. कि त्येतद्व्याचष्टे–अ० ।

'मा कासि' मा कार्षीः । 'तं' भवान् । 'पमादं' प्रमादं । 'सम्मत्ते' सम्यक्त्वे । 'सव्वदुःखणासयरे' सर्वदुःखनिर्मूलनोद्यते । कथं सम्यक्त्वं सर्वदुःखनाशकारि ? ननु ज्ञानादीन्यपि सर्वदुःखनिवृत्तिनिमित्तानि इत्यत आह—

'सम्मत्तं खु' श्रद्धानमेव तत्त्वस्य । 'पदिट्ठा' आधारः । 'णाणचरणवीरियतवाणं' ज्ञानस्य, चरणस्य, वीर्याचारस्य, तपसश्च । ननु सर्व एव परिणामः परिणामिद्रव्याधारो न परस्परमधिकरणतां याति ततः कथमुच्यते सम्यक्त्वमाधार इति । यथा परिणामिद्रव्यमन्तरेण ज्ञानादीनामनवस्थितिरेवं समीचीनता तेषां न दर्शनं विनेति दर्शनस्याधारता ॥७३४॥

णगरस्स जह दुवारं मुहस्स चक्खू तरुस्स जह मूलं ।
तह जाण सुसम्मत्तं णाणचरणवीरियतवाणं ॥७३५॥

'णगरस्स जह दुवारं' नगरस्य द्वारमिव नगरप्रवेशनोपायो यथा द्वारं । 'तहा' तथा 'सम्मत्तं' सम्यक्त्वं द्वारं । 'णाणचरणवीरियतवाणं' ज्ञानादीनां । एवं हि ज्ञानादीन्यनुप्रविष्टो भवति जीवो यदि परिणतो भवेत्सम्यक्त्वे तदन्तरेण सम्यग्ज्ञानाद्यनुप्रवेशस्यासंभवात् । न हि सातिशयमवध्यादि, यथाख्यातं चारित्रं, बहुतरनिर्जरानिमित्तं वा तपः प्रतिलभते जन्तुः सम्यक्त्वं विना । 'मुहस्स चक्खू जहा' मुखस्य चक्षुर्यथा शोभाविधायि तथ ज्ञानादीनां सम्यक्त्वं विधत्ते श्रद्धानं । 'तरुस्स मूलं जहा' तरोर्मूलं यथा स्थितिनिबन्धनं, तथा सम्यक्त्वं ज्ञानादिस्थितिनिमित्तं ॥७३५॥

भावाणुरागपेमाणुरागमज्जाणुरागरत्तो व्वा ।
धम्माणुरागरत्तो य होहि जिणसासणे णिच्चं ॥७३६॥

गा०–टी०—सब दुःखोंको जड़मूलसे उखाड़नेमें तत्पर सम्यक्त्वके विषयमें आप प्रमाद न करें । 'सम्यक्त्व ही सब दुःखोंका नाश करने वाला कैसे है ? ज्ञान आदि भी तो सब दुःखोंको दूर करनेमें निमित्त हैं ? ऐसा कोई कहे तो आचार्य कहते हैं—ज्ञान, चारित्र, वीर्याचार और तपका आधार तत्त्वका श्रद्धान ही है ।

शंका—सब परिणाम परिणामी द्रव्यके आधारसे रहते हैं । वे परस्परमें एक दूसरेके आधार नहीं होते । तब आप सम्यक्त्वको ज्ञानादिका आधार कैसे कहते हैं ?

समाधान—जैसे परिणामी द्रव्यके बिना ज्ञानादि नहीं रहते वैसे ही वे सम्यग्दर्शनके बिना समीचीन नहीं होते । इसलिए सम्यग्दर्शन उनका आधार होता है ॥७३४॥

गा०–टी०—जैसे नगरमें प्रवेश करनेका उपाय उसका द्वार होता है वैसे ही ज्ञान, चारित्र, वीर्य और तपका द्वार सम्यक्त्व है । यदि जीव सम्यक्त्व रूपसे परिणत होता है तो वह ज्ञानादिमें प्रवेश कर सकता है । सम्यक्त्वके बिना ज्ञानादिमें प्रवेश सम्भव नहीं है । सम्यक्त्वके बिना जीव सातिशय अवधि ज्ञान आदि, यथाख्यात चारित्र अथवा बहुत निर्जरामें निमित्त तपको प्राप्त नहीं कर सकता । तथा जैसे नेत्र मुखको शोभा प्रदान करते हैं वैसे ही सम्यक्त्वसे ज्ञानादि शोभित होते हैं । तथा जैसे जड़ वृक्षकी स्थितिमें कारण है वैसे ही सम्यक्त्व ज्ञानादिकी स्थितिमें निमित्त है ॥७३५॥

गा०—इस जगत्में लोग परपदार्थोंमें अनुराग रूप हैं, स्नेही जनोंमें प्रेमानुरागी हैं । कोई

दंसणभट्ठो भट्ठो दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झन्ति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ॥७३७॥
दंसणभट्ठो भट्ठो ण दु भट्ठो होइ चरणभट्ठो दु ।
दंसणममुयंतस्स दु परिवडणं णत्थि संसारे ॥७३८॥

'दंसणभट्ठो भट्ठो' दर्शनाद्भ्रष्टो भ्रष्टतमः । 'चरणभट्ठो वि' चारित्रभ्रष्टोऽपि दर्शनादभ्रष्टः । 'ण दु' न वा । 'भट्ठो होदित्ति' वाक्यशेषं कृत्वा संबन्धः । न तु तथा भ्रष्टो भवति चारित्रभ्रष्टः यथा दर्शनाद्भ्रष्टः । 'दंसणं' श्रद्धानं । 'अमुयंतस्स' अत्यजतः । चारित्राद्भ्रष्टस्यापि 'परिवडणं संसारे णत्थि खु' परिपतनं संसारे नास्त्येव । असंयमनिमित्तार्जितपापसंहतेरस्त्येव संसारः । किमुच्यते परिपतनं नास्तीति ? अयमभिप्रायः—परि समन्तात्सर्वासु गतिषु चतसृषु संचरणं नास्तीति । स्वल्पत्वात्संसारः सन्नपि नास्तीति व्यवह्रियते । तथा हि स्वल्पद्रविणोऽधन इत्युच्यते । दर्शनात्तु प्रभ्रष्टस्य अर्धपुद्गलपरिवर्तनं भवत्यतिमहत्संसारमिति निकृष्टतमो दर्शनाद्भ्रष्टः ॥७३८॥

एकंकस्य दर्शनस्य माहात्म्यं कथयति—

सुद्धे सम्मत्ते अविरदो वि अज्जेदि तित्थयरणामं ।
जादो दु सेणिगो आगमेसिं अरुहो अविरदो वि ॥७३९॥

'सुद्धे' शुद्धे । 'सम्मत्ते' सम्यक्त्वे । शङ्काद्यतिचाराभावात् । 'अविरदो वि' अप्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभानामुदयात् हिंसादिनिवृत्तिपरिणामरहितोऽपि । 'तित्थयरणामकम्मं' तीर्थंकरत्वस्य कारणं कर्म

भक्तानुरागी हैं । किन्तु तुम जिनशासनमें रहकर सदा धर्मानुरागी रहो ॥७३६॥

गा०—जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट है वह भ्रष्ट है क्योंकि सम्यग्दर्शनसे भ्रष्टका अनन्तानन्त कालमें भी निर्वाण नहीं होता । जो चारित्रसे भ्रष्ट है किन्तु सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट नहीं है उसका कुछ कालमें निर्वाण होगा । परन्तु जिसके सम्यग्दर्शन नहीं है उसका निर्वाण अनन्त कालमें भी नहीं होगा ॥७३७॥

गा०-टी०—जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट है वह अत्यन्त भ्रष्ट है । किन्तु चारित्रसे भ्रष्ट होने पर भी सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट नहीं है वह भ्रष्ट नहीं है । सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट जैसा होता है चारित्रसे भ्रष्ट वैसा नहीं होता । चारित्रसे भ्रष्ट होकर भी जो सम्यग्दर्शनको नहीं त्यागता उसका संसारमें पतन नहीं होता ।

शंका—असंयमके निमित्तसे उपार्जित पाप कर्मके होनेसे उसका संसार रहता ही है । आप कैसे कहते हैं कि उसका संसारमें पतन नहीं होता ?

समाधान—हमारे कथनका अभिप्राय यह है कि उसका चारों गतियोंमें भ्रमण नहीं होता । यद्यपि संसार रहता है किन्तु स्वल्प रहता है अतः 'नहीं रहता' ऐसा कहनेमें आता है जैसे स्वल्प धन वालेको निर्धन कहा जाता है । किन्तु जो सम्यग्दर्शन पाकर उससे भ्रष्ट हो जाता है उसका संसार अर्धपुद्गल परावर्तन प्रमाण रहनेसे महान् संसार होता है । अतः चारित्र भ्रष्टसे दर्शन भ्रष्ट अति निकृष्ट होता है ॥७३८॥

गा०-टी०—एकाकी सम्यग्दर्शनका माहात्म्य कहते हैं—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान

अर्जयति । विनयसंपन्नतादिरपि तीर्थंकरनामकर्मणो हेतुरेव ततः कोऽतिशयो दर्शनस्य इति चेत् दर्शने सत्येव तेषां तीर्थंकरनामकर्मणः कारणता, नान्यथेति मन्यते । 'जादो खु' जातः खलु । 'सेणिओ' श्रेणिकः । 'आगमेसिं' भविष्यति काले । अरुहो अर्हन् 'अविरदो वि' असंयतोऽपि सन् । ननु श्रेणिको भविष्यत्यर्हन् न त्वर्हत्त्वं तस्यातीतं तेन कथमुच्यते जात इति ? भविष्यदर्हत्त्वं न निष्पन्नं इति युक्तमुच्यते जात इति ॥७३९॥

कल्लाणपरंपरयं लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्ता ।
सम्मद्दंसणरयणं णग्घदि ससुरासुरो लोओ ॥७४०॥

'कल्लाणपरंपरयं' कल्याणपरम्परां इन्द्रत्वं, सकलचक्रलाञ्छनतां, अहमिन्द्रत्वं, तीर्थंकृत्त्वमित्यादिकं लभन्ते जीवाः । 'विसुद्धसम्मत्ता' विशुद्धसम्यक्त्वाः । 'सम्मद्दंसणरयणं' सम्यग्दर्शनरत्नं 'णग्घदि ससुरासुरो लोओ' सकलो लोको मूल्यतया दीयमानोऽपि न लभते सम्यक्त्वरत्नमित्यर्थः ॥७४०॥

सम्मत्तस्स य लंभे तेलोक्कस्स य हवेज्ज जो लंभो ।
सम्मद्दंसणलंभो वरं खु तेलोक्कलंभादो ॥७४१॥
लद्धूण वि तेलोक्कं परिवडदि हु परिमिदेण कालेण ।
लद्धूण य सम्मत्तं अक्खयसोक्खं हवदि मोक्खं ॥७४२॥

स्पष्टार्थतया न व्याख्यायते गाथाद्वयम् अनन्तरं सम्मत्ते भावणा इत्येतद्व्याख्यात । सम्मत्त ॥७४२॥

माया लोभके उदयसे हिंसा आदिकी निवृत्ति रूप परिणामोसे रहित अविरत भी शंका आदि अतिचारोंसे रहित शुद्ध सम्यक्त्वके होने पर तीर्थंकर पदके कारणभूत कर्मका उपार्जन करता है।

शंका—विनय सम्पन्नता आदि भी तीर्थंकर नाम कर्मके आस्रवमें कारण होते हैं तब उनसे सम्यग्दर्शनकी क्या विशेषता हुई ?

समाधान—सम्यग्दर्शनके होने पर ही विनय सम्पन्नता आदि तीर्थंकर नाम कर्मके कारण होते हैं, उसके अभावमें कारण नहीं होते। देखो, असंयमी भी श्रेणिक भविष्यमें तीर्थंकर हुआ।

शंका—श्रेणिक तीर्थंकर होगा, भविष्यकालमें, अभी वह हुआ नहीं है, फिर उसे 'हुआ' क्यों कहा ?

समाधान—श्रेणिकका अर्हन्तपना आगे होगा, अभी हुआ नहीं है इसलिए 'भविष्यमें हुआ' ऐसा कहा है ॥७३९॥

गा०—विशुद्ध सम्यग्दृष्टी जीव इन्द्रपद, चक्रवर्तिपद, अहमिन्द्रपद, तीर्थंकरपद आदि कल्याणपरम्पराको प्राप्त करते हैं। मूल्यके रूपमें समस्तलोक देनेपर भी सम्यक्त्वरत्न प्राप्त नहीं होता ॥७४०॥

गा०—सम्यक्त्वकी प्राप्तिके बदलेमें यदि तीनों लोक प्राप्त होते हों तो त्रैलोक्यकी प्राप्तिसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति श्रेष्ठ है ॥७४१॥

गा०—तीनों लोक प्राप्त करके भी कुछ काल बीतनेपर वे छूट जाते हैं। किन्तु सम्यक्त्वको प्राप्त करके अविनाशी सुखवाला मोक्ष प्राप्त होता है ॥७४२॥

सम्यक्त्वभावनाका कथन समाप्त हुआ।

परा भक्ती इत्येतद्व्याख्यानाय प्रबन्ध उत्तरः—

अरहंतसिद्धचेदियपवयणआयरियसव्वसाहूसु ।
तिव्वं करेहि भत्ती णिव्विदिगिंच्छेण भावेण ॥७४३॥

'अरहंतसिद्धचेदियपवयणआयरियसव्वसाहूसु' अर्हत्सिद्धेषु तत्प्रतिबिम्बेषु, प्रवचने, आचार्येषु सर्वसाधुषु च । 'तिव्वं भत्तिं करेहि' तीव्रां भक्तिं कुर्विति । 'णिव्विदिगिंछेण' विचिकित्सारहितेन । 'भावेण' परिणामेन ॥७४३॥

जिनभक्तिमाहात्म्यं कथयन्ति—

संवेगजणिदकरणा णिस्सल्ला मंदरोव्व णिक्कंपा ।
जस्स दढा जिणभत्ती तस्स भयं णत्थि संसारे ॥७४४॥

'संवेगजणिदकरणा' संसारभीरुतया उत्पादितात्मकामा । 'णिस्सल्ला' मिथ्यात्वेन, मायया, निदानेन, च रहिता । 'मंदरोव्व णिक्कंपा' मन्दर इव निश्चला । 'जस्स दढा जिणभत्ती' यस्य दृढा जिनभक्तिः । 'तस्स संसारे भयं णत्थि' तस्य संसारनिमित्तं भयं नास्ति ॥७४४॥

एया वि सा समत्था जिणभत्ती दुग्गइं णिवारेदि ।
पुण्णाणि य पूरेदुं आसिद्धिपरंपरसुहाणं ॥७४५ ॥

तह सिद्धचेदिए पवयणे य आइरियसव्वसाधूसु ।
भत्ती होदि समत्था संसारुच्छेदणे तिव्वा ॥७४६॥

विज्जा वि भत्तिवंतस्स सिद्धिमुवयादि होदि सफला य ।
किह पुण णिव्वुदिबीजं सिज्झहिदि अभत्तिमंतस्स ॥७४७॥

'विज्जा' विद्यापि । 'भत्तिवंतस्स' भक्तिमतः । 'सिद्धिमुवयादि' सिद्धिमुपयाति । 'होदि सफला य' फलवती च भवति । 'किह पुण' कथं पुनः । 'णिव्वुदिबीजं' निर्वृतेर्बीजं रत्नत्रयं 'सिज्झहिदि' सेत्स्यति ।

अब 'परा भक्ति' का व्याख्यान करते हैं—

गा०—हे क्षपक ! ग्लानिरहित भावसे अर्हन्त, सिद्ध, उनके प्रतिबिम्ब, प्रवचन, आचार्य और सर्वसाधुओंमें तीव्र भक्ति करो ॥७४३॥

जिन भक्तिका माहात्म्य कहते हैं—

गा०—संसारके भयसे उत्पन्न हुई, मिथ्यात्व माया और निदान शल्योंसे रहित तथा सुमेरुकी तरह निश्चल दृढ़ जिनभक्ति जिसकी है उसे संसारका भय नहीं है ॥७४४॥

गा०—एक ही जिनभक्ति दुर्गतिका निवारण करनेमें, पुण्यकर्मोंको पूर्ण करनेमें और मोक्षपर्यन्त सुखोंको परम्पराको देनेमें समर्थ है ॥७४५॥

गा०—तथा सिद्ध, परमेष्ठी, उनके प्रतिबिम्ब, प्रवचन, आचार्य और सर्वसाधुओंमें तीव्रभक्ति संसारका विनाश करनेमें समर्थ है ॥७४६॥

'अभक्तिमंतस्स' भक्तिरहितस्य क्व ? अर्हदादिषु ॥७४७॥

तेसिं आराधणणायगाण ण करिज्ज जो णरो भत्ति ।
धत्तिं पि संजमंतो सालिं सो ऊसरे ववदि ॥७४८॥

'तेसिं आराधणणायगाणं' अर्हदादीनां आराधनाया नायकानां । 'ण करिज्ज जो णरो भत्तिं' यो नरो भक्तिं न करोति । सो धत्तिं पि संजमंतो' नितरां संयमे उद्यतोऽपि शालीनूषरे देशे वपति । ऊषरे शालिवपनं अफलं यथा कः करोत्येवं दुश्चरं संयमं चरत्ययं अर्हदादिषु भक्तिरहितो मिथ्यादृष्टिः सन्निति भावः ॥७४८॥

बीएण विणा सस्सं इच्छदि सो वासमब्भएण विणा ।
आराधणमिच्छन्तो आराधणभत्तिमकरंतो ॥७४९॥

'बीजेण विणा सस्सं' शस्यमिच्छति बीजेन विना । 'वासमब्भएण विणा' वर्षं वाञ्छति अभ्रेण विना । कारणेन विना कार्यमिच्छतीति यावत् । 'आराधणं'[1] रत्नत्रयसंसिद्धिं इच्छति अकुर्वन्नाराधनाभक्तिं हेतुभूतां ॥७४९॥

विधिणा कदस्स सस्सस्स जहा णिप्पादयं हवदि वासं ।
तह अरहादिगभत्ती णाणचरणदंसणतवाणं ॥७५०॥

'विधिणा कदस्स' विधीयते जन्यते कार्यमनेनेति कारणसंदोहो विधिः । तेन कारणकलापेन कृतस्योप्तस्य । 'सस्सस्स' सस्यस्य । 'वासं जह णिप्पादयं हवदि' वर्षं यथा फलनिष्पत्तिं करोति । 'तह' तथैव । 'आरहगभत्ती' आराधकेषु अर्हदादिषु 'भत्ती' भक्तिः । 'णाणचरणदंसणतवाणं' ज्ञानस्य, दर्शनस्य, चारित्रस्य, तपसश्च निष्पादिका भवति ॥७५०॥

गा०—विद्या भी भक्तिमानको ही सिद्ध और सफल होती है। तब जो अर्हन्त आदिमें भक्ति नहीं रखता उसके मोक्षका बीज रत्नत्रय कैसे सिद्ध-प्राप्त हो सकता है ? ॥७४७॥

गा०—दर्शन आदि आराधनाओंके नायक अर्हन्त आदिकी जो मनुष्य भक्ति नहीं करता वह संयममें अत्यन्त तत्पर होते हुए भी धान्यको ऊसर भूमिमें बोता है ॥६४८॥

विशेषार्थ—इसका भाव यह है कि ऊसर भूमिमें कौन धान बोता है। क्योंकि उसका कोई फल नहीं है। उसी प्रकार यह अर्हन्त आदिमें भक्तिरहित अर्थात् मिथ्यादृष्टि होते हुए कठिन संयमका आचरण करे तो वह निष्फल है ॥७४८॥

गा०—आराधनाके नायकोंकी भक्ति न करके जो आराधना अर्थात् रत्नत्रयकी सिद्धि चाहता है वह बीजके बिना धान्य चाहता है और बादलोंके बिना वर्षा चाहता है ॥७४९॥

गा०—जिससे कार्य किये जाते हैं उसे विधि कहते हैं अतः विधिका अर्थ होता है—कारणोंका समूह। उस विधिसे बोये गये धान्यको वर्षा जैसे उत्पन्न करती है उसी प्रकार अर्हन्त आदिकी भक्ति ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और तपकी उत्पादक होती है ॥७५०॥

---

१. णिम्माधणं–अ० आ०।

भक्तिमाहात्म्यं फलातिशयोपदर्शनेन कथयितुकामोऽआख्यानमुपक्षिपति गाथायाम्—

वंदणभत्तीमित्तेण मिहिलाहिओ य पउमरहो ।
देविंदपाडिहेरं पत्तो जादो गणधरो य ॥७५१॥

'**वंदणभत्तीमित्तेण**' वन्दनानुरागमात्रेण चैव । '**मिहिलाहिओ य पउमरहो**' मिथिलानगराधिपति पद्मरथो नाम । '**देविंदपाडिहेरं पत्तो**' देवेन्द्रकृतां पूजां प्राप्तवान् । '**जादो गणधरो य**' गणधरश्च जातः । भत्ती ॥७५१॥

आराधणापुरस्सरमणण्णहिदओ विसुद्धलेस्साओ ।
संसारस्स खयकरं मा मोचीओ णमोक्कारं ॥७५२॥

'**आराधणापुरस्सरं णमोक्कारं मा मोचीओ**' आराधनाया अग्रसरं नमस्कारं मा मुञ्च । कीदृग्भूत ? '**संसारस्स खयकरं**' संसारस्य पञ्चविधपरिवर्तमानस्य क्षयकरं । '**अणण्णहिदओ**' अनन्यगतचित्त. सन् । '**विसुद्धलेस्साओ**' विशुद्धलेश्यया परिणत. । तत्र नमस्कार. नामस्थापनाद्रव्यभावविकल्पेन चतुर्द्धा व्यवस्थित. । तत्र नाम नमस्कारो नाम यस्य कस्यचिन्नमस्कार इति कृता संज्ञा इदमस्य नामधेय यथा स्यादिति नियुज्यमान एवं सर्वं सर्वत्र प्रवर्तते । एवं नमस्करणव्यापृतो जीवस्तस्य कृताञ्जलिपुटस्य यथाभूतेनाकारेणावस्थापिता मूर्ति. स्थापनानमस्कारः । नमस्कारप्राभृत नामास्ति ग्रन्थ यत्र नयप्रमाणनिक्षेपादिमुखेन नमस्कारो निरूप्यते, तं यो वेत्ति न च साम्प्रत तन्निरूप्येऽर्थे उपयुक्तोऽन्यगतचित्तत्वात् स नमस्कारयाथात्म्यग्राहिश्रुतज्ञानस्य कारणत्वादागमद्रव्यनमस्कार इत्युच्यते । नो आगमद्रव्यनमस्कारस्त्रिविधः, ज्ञायकशरीरभावितद्व्यतिरिक्तभेदात् । नमस्कार-

---

विशिष्ट फलके द्वारा भक्तिका माहात्म्य कहनेकी इच्छासे ग्रन्थकार उदाहरण उपस्थित करते हैं—

गा०—तीर्थंकरकी वन्दनाके अनुरागमात्रसे मिथिला नगरका स्वामी पद्मरथ देवेन्द्रके द्वारा पूजित हुआ और वासुपूज्य तीर्थंकरका गणधर हुआ ॥७५१॥

विशेषार्थ—मिथिलाका राजा पद्मरथ भगवान् वासुपूज्य तीर्थंकरकी वन्दनाके लिए गया । मार्गमें दो देवोंने उसकी परीक्षाके लिए घोर उपसर्ग किया । किन्तु वह विचलित नहीं हुआ । देवोंने उसकी दृढ़भक्तिसे प्रसन्न होकर उसकी पूजा की । और वह भगवान् वासुपूज्यके समवशरणमें जाकर दीक्षा ग्रहण करके उनका गणधर बन गया ॥७५१॥

गा०—नमस्कार मन्त्र आराधनाका अग्रेसर है, नमस्कारमन्त्रपूर्वक ही आराधना की जाती है । पाँच परावर्तनरूप संसारका क्षय करनेवाला है । सब ओरसे मनको हटाकर विशुद्ध लेश्यापूर्वक नमस्कार मन्त्रकी आराधना कर । इसे छोड़ना नहीं ॥७५२॥

टी०—नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे नमस्कार चार प्रकारका होता है । जिस किसीका नमस्कार नाम रखना नाम नमस्कार है । इसका यह नाम है इस प्रकारका व्यवहार सर्वत्र चलता है । इसी प्रकार नमस्कार करते हुए जीवकी दोनों हाथोंको जोड़े हुए आकारकी स्थापित मूर्ति स्थापना नमस्कार है । नमस्कार प्राभृत नामक ग्रन्थमें नय, प्रमाण, निक्षेप आदिके द्वारा नमस्कारका कथन है । जो उसे जानता है किन्तु वर्तमानमें उसमें कहे हुए अर्थमें उपयुक्त नहीं है, उसका मन अन्यत्र लगा है । वह व्यक्ति नमस्कारके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करनेवाले श्रुतज्ञानका कारण होनेसे आगमद्रव्य नमस्कार कहाता है । नो आगमद्रव्य नमस्कारके तीन भेद

प्राभृतज्ञस्य यच्छरीरं त्रिकालगोचरं तदन्तरेण श्रुतज्ञानं नोपजायते इति शरीरमपि कारणं तथापि नमस्कारशब्दो वर्तते । यत् तद् भूतशरीरं त्रिविकल्पं च्युतं, च्यावितं, त्यक्तमिति । आयुषो निःशेषगलनात्पतनं च्युतं एकं । चेतनस्य वा उपसर्गस्य बलाद् च्यावितं च्यावितमित्युच्यते । आयुषोऽन्तमवेत्य आत्मनैव यत्त्यक्तं तत्त्यक्तशब्देनोच्यते । तत्त्रिविकल्पं भक्तप्रत्याख्यानं, प्रायोपगमनं, इङ्गिनीमरणं इति । तेष्वन्यतमेन त्यक्तं विधिना कायकषायसल्लेखनापुरःसरं प्रव्रज्यातःप्रभृति निर्यापकगुरुसमाश्रयणदिवसमन्त्यं कृत्वा मध्ये प्रवृत्तान् ज्ञानदर्शनचारित्राणां अतिचारानालोच्य तदभिमतप्रायश्चित्तानुसारिणः द्रव्यभावसल्लेखनामुपगतस्य त्रिविधाहारप्रत्याख्यानादिक्रमेण रत्नत्रयाराधनं भक्तप्रत्याख्यानं । इङ्गिणीमरणप्रायोपगमने वक्ष्यमाणलक्षणे । तैः परित्यक्तं त्यक्तमुच्यते । यदेव तत्सति जीवे नमस्कारोपयोगवति जीववदेव कारणमासीन्नमस्कारोपयोगस्य तदेवेदमिति तथापि नमस्कारशब्दः प्रवर्तते । नमस्कारोपयोगरूपेण यो भविष्यति स भावीति भण्यते । स्थापना अर्हदादीनां नो आगमद्रव्यव्यतिरिक्तनोकर्मनमस्कारशब्देनोच्यते । आगमनमस्कारज्ञानं आगमभावनमस्कारः । नमस्क्रियमाणार्हदादिगुणानुरागवतः मुकुलीकृतकरकमलस्य, प्रणामो नो आगमभावनमस्कार इह गृह्यते ।

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानैरनुयोगद्वारैर्निरूप्यते । अर्हदादिगुणानुरागवतः आत्मनो वाक्कायक्रियास्तवनशिरोवनतिरूपो नमस्कारः । सम्यग्दृष्टिर्नो आगमभावनमस्कारस्य स्वामीति । मतिश्रुत-

---

हैं—ज्ञायकशरीर, भावि, तद्व्यतिरिक्त । नमस्कार प्राभृतके ज्ञाताका जो त्रिकालवर्ती शरीर है, उसके बिना भी श्रुतज्ञान नहीं होता, इसलिए शरीर भी कारण है अतः उसे भी नमस्कार शब्दसे कहते हैं । उनमेंसे जो भूत शरीर है उसके तीन भेद हैं—च्युत, च्यावित, त्यक्त । आयुकर्मके पूर्णरूपसे समाप्त होनेपर छूटा शरीर च्युत कहाता है । उपसर्गके कारण छूटा शरीर च्यावित कहाता है । आयुका अभाव जानकर स्वयं ही त्याग किया शरीर त्यक्त कहाता है । उस त्यक्त शरीरके तीन भेद हैं—भक्तप्रत्याख्यान, प्रायोपगमन, इंगिनीमरण । उनमेंसे किसी एक विधिसे शरीर और कषायकी सल्लेखनापूर्वक छोड़ा गया शरीर त्यक्त है । दीक्षा ग्रहण करनेसे लेकर निर्यापक गुरुके पास आश्रय लेनेके अन्तिम दिनतक लगे ज्ञान दर्शन और चारित्रके अतिचारोंकी आलोचना करके गुरुके द्वारा दिये गये प्रायश्चित्तको स्वीकार करके द्रव्यसल्लेखना और भावसल्लेखनापूर्वक तीन प्रकारके आहारके त्याग आदिके क्रमसे रत्नत्रयकी आराधना करना भक्तप्रत्याख्यान है । इंगिनीमरण और प्रायोपगमनका कथन आगे करेंगे । इन तीनोंके द्वारा त्यागा गया शरीर त्यक्त कहाता है । जब शरीरके रहनेपर जीव नमस्कारमें उपयोग लगाता था तब जीवकी तरह ही शरीर भी नमस्कारमें उपयोग लगानेमें कारण था । वही यह शरीर है इस प्रकार शरीरमें नमस्कार शब्दकी प्रवृत्ति होती है । जो भविष्यमें नमस्कारमें उपयोगरूपसे परिणत होगा उसे भावि कहते हैं । अर्हन्त आदिकी स्थापनाको नोआगमद्रव्य व्यतिरिक्त नोकर्म नमस्कार शब्दसे कहते हैं ।

नमस्कार विषयक आगमके ज्ञानको आगमभाव नमस्कार कहते हैं । जिन अर्हन्त आदिको नमस्कार करता है उनके गुणोंमें अनुरागपूर्वक दोनों हाथोंको जोड़ नमस्कार करनेवालेका जो नमस्कार है वह नोआगमभाव नमस्कार है ।

निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इन अनुयोग द्वारोंसे नमस्कारका कथन करते हैं ।

अर्हन्त आदिके गुणोंमें अनुरागी आत्माका वचनके द्वारा स्तवन और कायके द्वारा सिरको

ज्ञानावरणक्षयोपशमः, दर्शनमोहोपशमः, क्षयः, क्षयोपशमश्च बाह्यं साधनं, अभ्यन्तर आत्मा प्रत्यासन्नभव्यः आत्मनि वर्तते नमस्कारः । अन्तर्मुहूर्तस्थितिकः । अर्हदादिनमस्कार्यभेदेन पञ्चविधः । अर्हदादीनां प्रत्येकमनेक विकल्पत्वात् नमस्कारोऽपि तावद्धा भिद्यते ।।७५२।।

मणसा गुणपरिणामो वाचा गुणभासणं च पंचण्हं ।
काएण संपणामो एस पयत्थो णमोक्कारो ।।७५३।।

अत्र नमस्कारसूत्रेण 'णमो लोए सव्वसाहूणं' इत्यत्र लोकग्रहणं च सर्वग्रहणं प्रत्येकमभिसम्बध्यते । णमो लोए सव्वेसिं अरहंताणं, णमो लोए सव्वेसिं सिद्धाणं, णमो लोए सव्वेसिं आइरियाणं, णमो लोए सव्वेसिं उवज्झायाणं' इति । अरहंताणमित्यादि बहुवचननिर्देशादेव सर्वेषामर्हदादीनां ग्रहणं सिद्धमतो न कर्तव्य सर्वशब्दोपादानं इति चेत् । अर्द्धतृतीयद्वीपगतभरतेषु, ऐरावतेषु विदेहेषु च ये अर्हन्तः, सिद्धा, आचार्या, उपाध्यायाः, साधवश्चातीता, वर्तमाना, भविष्यन्तश्च तेषां ग्रहणार्थं सर्वशब्द उपात्तः । सादरविशेषख्यापनार्थं प्रत्येक नमःशब्दोपादानं ।।७५३।।

अरहंतणमोक्कारो एक्को वि हविज्ज जो मरणकाले ।
सो जिणवयणे दिट्ठो संसारुच्छेदणसमत्थो ।।७५४।।

'अरहंतणमोक्कारो' अर्हतां नमस्कारः । 'जो मरणकाले भवेज्ज एक्को वि' यो मरणकाले भवेदेकोऽपि । 'सो' सः । जिणवयणे दिट्ठो' जिनवचने दृष्ट । 'संसारोच्छेदणसमत्थो' संसारोच्छेदनसमर्थः ।।७५४।।

झुकाना नमस्कार है। नोआगमभाव-नमस्कारका स्वामी सम्यग्दृष्टी होता है। मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम तथा दर्शनमोहका उपशम, क्षय और क्षयोपशम उसका बाह्य साधन है और निकट भव्य आत्मा अभ्यन्तर साधन है। नमस्कार आत्मामें रहता है। उसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। नमस्कार करनेयोग्य अर्हन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधुके भेदसे नमस्कारके पाँच भेद हैं। अर्हन्त आदिमेंसे प्रत्येकके अनेक भेद होनेसे नमस्कारके भी उतने ही भेद होते हैं ।।७५२।।

गा०—अरहन्त आदि पाँचोका मनसे गुणानुस्मरण, वचनसे गुणानुवाद और कायसे नमस्कार यह नमस्कार पदका अर्थ है ।।७५३

टी०—नमस्कार मन्त्रमें आये 'णमो लोए सव्वसाहूणं' में जो लोक और सर्वशब्दका ग्रहण किया है उन्हें प्रत्येकके साथ लगाना चाहिए। लोकके सब अर्हन्तोंको नमस्कार हो। लोकमें सब सिद्धोंको नमस्कार हो। लोकके आचार्योंको नमस्कार हो। लोकके सब उपाध्यायोंको नमस्कार हो।

शङ्का—'अरहंताणं' इत्यादिमें बहुवचनके निर्देशसे ही सब अर्हन्तोंका ग्रहण सिद्ध है अतः सर्वशब्दका ग्रहण उचित नहीं है ?

समाधान—अढ़ाईद्वीपके भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्रोंमें जो अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु अतीतकालमें हुए, वर्तमानमें है और भविष्यमें होंगे उनके ग्रहणके लिए सर्व शब्द ग्रहण किया है। और विशेष आदर बतलानेके लिए प्रत्येकके साथ 'णमो' शब्द लगाया है ।।७५३।।

गा०—मरते समय यदि एक बार भी अर्हन्तोंको नमस्कार किया तो उसे जिनागममें

ननु सम्यक्त्वज्ञानचारित्रतपांसि संसारमुच्छिन्दन्ति यद्यपि न स्यान्नमस्कार इत्याशंकायामाह—

जो भावनमोक्कारेण विणा सम्मत्तणाणचरणतवा ।
ण हु ते होंति समत्था संसारुच्छेदणं कादुं ॥७५५॥

'जो भावणमोक्कारेण विणा' यो भावनमस्कारेण विना सम्यक्त्वं, ज्ञानं, चारित्रं, तपश्च । **'हु'** शब्द एवकारार्थः । **'ण हु ते संसारुच्छेदणं कादुं समत्था होंति'** न हि ते संसारोच्छेदनं कर्तुं समर्था भवन्ति ॥७५५॥

यद्येवं 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग' इति सूत्रेण विरुध्यते । नमस्कारमात्रमेव कर्मणां विनाशने उपाय इत्येकमुक्तिमार्गकथनादित्याशङ्कायामाह—

चदुरंगाए सेणाए णायगो जह पवत्तओ होदि ।
तह भावणमोक्कारो मरणे तवणाणचरणाणं ॥७५६॥

'चदुरंगाए सेणाए णायगो' चतुरङ्गायाः सेनाया नायको । **'जह पवत्तगो होदि'** यथा प्रवर्तको भवति । **'तह भावणमोक्कारो'** तथा भावनमस्कारः । **'मरणे'** मरणगोचर । **'तवणाणचरणाणं'** तपोज्ञानचरणाना । क्षायिकसम्यक्त्वज्ञानदर्शनवीर्यगुणात्मका अर्हन्त इत्येवं श्रद्धानात्मको भावनमस्कारः सम्यग्दर्शनत्वात् समीचीन तपो, ज्ञान, चारित्रं च प्रवर्तयति । न ह्याप्तगुणश्रद्धानं विना शब्दश्रुतस्य प्रामाण्यमयं व्यवस्थापयितुमीश । वक्तृप्रामाण्याद्विना वचनप्रामाण्यासिद्धे. । न [1]ह्यतीन्द्रियविषयज्ञानमयथार्थमिदमेतद्यथार्थमिति वा विवेक्तु शक्यते अस्मदादिना । अर्थयाथात्म्यवेदिनो वीतरागद्वेषस्य च यतो वचस्ततो यथार्थमेव विज्ञानं जनयति, नायथार्थमिति समीचीनज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानपुरस्सरतया चरणं तपश्च समीचीनं सत्कर्मापनोदे निमित्तं

ससारका उच्छेद करनेमें समर्थ कहा है ॥७५४॥

नमस्कारके विना भी सम्यक्त्व ज्ञान और चारित्र संसारका उच्छेद करते हैं ? ऐसी आशंकामें उत्तर देते हैं—

गा०—भाव नमस्कारके विना जो सम्यक्त्व ज्ञान और चारित्र होते हैं वे संसारका उच्छेद करनेमे समर्थ नही है ॥७५५॥

यदि ऐसा है तो 'सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र मोक्षका मार्ग है' इस सूत्रके साथ विरोध आता है क्योंकि आप नमस्कार मात्रको ही कर्मोंके विनाशका उपाय मानकर मुक्तिका एक ही मार्ग कहते हैं ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०-टी०—जैसे चतुरग सेनाका नायक प्रवर्तक होता है वैसे ही मरते समय भाव नमस्कार—क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक वीर्य गुण वाले अर्हन्त हैं इस प्रकार श्रद्धान रूप भाव नमस्कार सम्यग्दर्शन रूप होनेसे समीचीन ज्ञान तप और चारित्रका प्रवर्तक होता है । आप्तके गुणोके श्रद्धानके विना शब्दरूप श्रुतके प्रामाण्यकी व्यवस्था नही की जा सकती; क्योंकि वक्ताके प्रामाण्यके विना वचनोंका प्रामाण्य सिद्ध नही होता । अतीन्द्रिय विषयोंका ज्ञान अयथार्थ है और 'यह' आदि ज्ञान यथार्थ है, ऐसा विवेक हम लोग नही कर सकते । यतः अर्थके यथार्थ स्वरूपको जानने वाले और राग द्वेषसे रहित आप्तका वचन यथार्थ ज्ञानको ही उत्पन्न करता है, अयथार्थ ज्ञानको नहीं, इस प्रकारके सच्चे ज्ञानीका सम्यग्ज्ञान पूर्वक सम्यक्

---

१ ह्यतीन्द्रिय—आ० मु० ।

नाण्यथेति प्रवर्तकता भावनमस्कारस्य ततः [1]प्रधानत्वाद्भावनमस्कारः संसारोच्छेदकारीति व्यपदिश्यते ॥७५६॥

आराधणापडायं गेण्हंतस्स हु करो णमोक्कारो ।
मल्लस्स जयपडायं जह हत्थो घेत्तुकामस्स ॥७५७॥

आराधनापताकां ग्रहीतुकामस्य भावनमस्कार एव करो जयपताकां ग्रहीतुकामस्य मल्लस्य हस्त इवेत्युत्तरगाथार्थः ॥७५७॥

अण्णाणी वि य गोवो आराधित्ता मदो णमोक्कारं ।
चंपाए सेट्ठिकुले जादो पत्तो य सामण्णं ॥७५८॥

अर्हद्गुणज्ञानरहितोऽपि गोपो द्रव्यनमस्कारमाराध्य मृतश्चम्पापुरे श्रेष्ठिकुले जातः श्रामण्यं च प्राप्तवान् इति च द्रव्यनमस्कारोऽप्येवं विपुलं प्रयच्छति फलं किं न कुर्याद् भावनमस्कार इति भावः। भावनमस्कारो व्याख्यातः । णमोक्कारं ॥७५८॥

णाणोवओगरहिदेण ण सक्को चित्तणिग्गहो काउं ।
णाणं अंकुसभूदं मत्तस्स हु चित्तहत्थिस्स ॥७५९॥

णाणुवओगं इत्येतद्व्याख्यानायोत्तर प्रबन्धः—'णाणोवओगरहिदेण' ज्ञानपरिणामरहितेन पुंसा । 'ण सक्को चित्तणिग्गहो काउं' चित्तनिग्रहः कर्तुमशक्यः । कस्मात् ज्ञानमन्तरेण न शक्यश्चित्तनिग्रहः कर्तुमित्यारेकायां—ज्ञानं निग्रहकरणे साधकतमं ततस्तदन्तरेण न भवति चित्तनिग्रह इत्याचष्टे । 'णाणं अंकुसभूदं

चारित्र और सम्यक् तप विद्यमान कर्मोंको दूर करनेमें निमित्त होता है, अन्यथा नहीं होता। इसलिए भाव नमस्कार ज्ञान चारित्र और तपका प्रवर्तक होनेसे प्रधान है और संसारका उच्छेद करने वाला कहाता है ॥७५६॥

गा०—जैसे विजय पताकाको ग्रहण करनेके अभिलाषी मल्लके लिए हाथ है। हाथसे ही वह जय पताका ग्रहण करता है। वैसे ही आराधना पताका (ध्वजा) को ग्रहण करनेके इच्छुक आराधकका हाथ भाव नमस्कार है। भाव नमस्कार पूर्वक ही वह आराधनामें सफलता पाता है ॥७५७॥

गा०—सुभग नामका ग्वाला अज्ञानी था, उसे अर्हन्तके गुणोंका ज्ञान नहीं था। वह द्रव्यनमस्कारकी आराधना करके अर्थात् मुखसे णमोकर मन्त्रका जप करते हुए मरा और चम्पा नगरीमे एक श्रेष्ठीके वंशमें उत्पन्न हुआ। तथा मुनि पदको धारण कर मुक्त हुआ। इस प्रकार द्रव्यनमस्कारसे भी विपुल फलकी प्राप्ति होती है। तब भावनमस्कारका तो कहना ही क्या है। इस प्रकार भावनमस्कारका कथन समाप्त हुआ ॥७५८॥

अब ज्ञानोपयोगका कथन करते हैं—

गा०-टी०—ज्ञानोपयोगसे रहित मनुष्य अपने चित्तका निग्रह नहीं कर सकता।

शङ्का—ज्ञानके बिना चित्तका निग्रह क्यों नहीं कर सकता ?

समाधान—ज्ञान चित्तका निग्रह करनेमें साधकतम है अतः उसके बिना चित्तका निग्रह

---

१. प्रभावत्वा-आ० मु० ।

मत्तस्य तु चित्तहस्तिनस्त' ज्ञानमङ्कुशभूतं मत्तस्य चित्तहस्तिनः। इदमत्र चोद्यते—इह चित्तशब्देन किमुच्यते ? अन्यत्र सचित्तशीतसंवृत इत्यादौ चित्तं चैतन्यमिति गृहीतं। इहापि यदि तदेव तस्य निग्रहो नाम कः ? अत्रोच्यते—विपर्ययज्ञानमया अशुभध्यानलेश्यात्मया वा परिणतिः[1] प्राणभृतो यस्य तस्य निरोधो यथार्थज्ञान-परिणामेन क्रियते। परिणामो हि परिणामिनं निरुणद्धि, परिणामोऽस्मा[2]द्विरुद्धस्त्वया नादातव्यः इति। यथा मत्तो हस्ती न क्वचिदवतिष्ठते बन्धनमर्द्दनादिकं विना तद्वच्चित्तहस्त्यपि यत्र क्वचनाशुभपरिणामे प्रवर्तते इति ॥७५९॥

विज्जा जहा पिसायं सुट्ठु पउत्ता करेदि पुरिसवसं।
णाणं हिदयपिसायं सुट्ठु पउत्ता करेदि पुरिसवसं ॥७६०॥

'विज्जा सुट्ठु पउत्ता जहा पिसाय पुरिसवसं करेदि' विद्या सुष्ठु प्रयुक्ता सम्यगाराधिता यथा पिशाचं पुरुषस्य वश्यं करोति। 'तह णाणं सुट्ठुवजुत्तं वसं करेदि हिदयपिसायं'। तथा ज्ञानं सुष्ठु प्रयुक्तं वशं करोति किं ? हृदयपिशाच। चित्तं पिशाचवदयोग्यकारितया ज्ञानं समीचीनं असकृत्प्रवर्तमानं शुभे शुद्धे वा परिणामे प्रवर्तयति चेतनामिति यावत् ॥७६०॥

उवसमइ किण्हसप्पो जह मंतेण विधिणा पउत्तेण।
तह हिदयकिण्हसप्पो सुट्ठुवजुत्तेण णाणेण ॥७६१॥

'उवसमदि किण्हसप्पो' उपशाम्यति कृष्णसर्पः। 'जह' यथा। 'मंतेण सुप्पजुत्तेण' स्वाहाकारान्ता विद्या[3] नि स्वाहाकारो मन्त्रशब्देनोच्यते। मन्त्रेण सुष्ठु प्रयुक्तेन। 'तह' तथैव। 'हिदयकिण्हसप्पो उवसमदि' हृदयकृष्णसर्पं उपशाम्यति। 'सुट्ठुवजुत्तेण णाणेण' सुष्ठु प्रवृत्तेन ज्ञानपरिणामेन। अशुभनिग्रहहेतुता ज्ञानस्य

नही होता, यह कहते है—मदोन्मत चित्तरूपी हाथीके लिए ज्ञान अंकुश रूप है।

शङ्का—यहाँ चित्त शब्दसे क्या लिया है ? तत्त्वार्थ सूत्रमें 'सचित्त शीत संवृत' इत्यादि सूत्रमे चित्तसे चैतन्यका ग्रहण किया है। यहाँ भी यदि चैतन्य ही लिया है तो उसका निग्रह कैसा ?

समाधान—जिस प्राणीकी परिणति विपरीत ज्ञान रूप या अशुभ ध्यान और अशुभ लेश्या रूप होती है उसका निरोध यथार्थ ज्ञानरूप परिणामसे किया जाता है। परिणाम परिणामीको रोकता है जैसे तुम्हें हमारे विरुद्ध परिणाम नही करना चाहिए। अत. जैसे मत्त हाथी बन्धन मर्दन आदिके बिना वशमें नहीं होता वैसे ही चित्तरूपी हाथी भी जिस किसी भी अशुभ परिणाम मे प्रवृत्त होता है ॥७५९॥

गा॰—जैसे सम्यक् रीतिसे साधी गई विद्या पिशाचको पुरुषके वशमें कर देती है। वैसे ही सम्यक् रूपसे आराधित ज्ञान हृदय रूपी पिशाचको वशमें करता है। अयोग्य काम करनेसे चित्त पिशाचके समान है। बार-बार प्रयुक्त सम्यग्ज्ञान चेतनाको शुभ अथवा शुद्ध परिणाममे प्रवृत्त करता है ॥७६०॥

गा॰—जैसे विधिपूर्वक प्रयोग किये गये मंत्रसे कृष्ण सर्प शान्त हो जाता है। वैसे ही अच्छी तरहसे भावित ज्ञानसे हृदयरूपी कृष्ण सर्प शान्त हो जाता है। प्रथम गाथा (७५९) से

---

१. तिं प्राकृत यस्य निरोधः अ॰। २. स्माद्वि—अ॰ मु॰। ३. द्या इति स्वा—आ॰ मु॰।

आद्यया गाथयोक्ता। द्वितीयया चित्तस्य स्ववशकारित्वं ज्ञानभावनयोक्तं। अनया तु अशुभपरिणामप्रशान्तिकारिता ज्ञानभावनया निरूप्यते ॥७६१॥

आरण्णवो वि मत्तो हत्थी णियमिज्जदे वरत्ताए।
जह तह णियमिज्जदि सो णाणवरत्ताए मणहत्थी ॥७६२॥

'**आरण्णवो वि मत्तो हत्थी**' अरण्यचारी मत्तो हस्ती। '**णियमिज्जदे वरत्ताए**' नियम्यते निरुध्यते वरत्रेण यथा। तथा '**मणहत्थी णियमिज्जदे**' मनोहस्ती नियम्यते। '**णाणवरत्ताए**' ज्ञानवरत्रेण। प्राणिनामहितकारितया, दुर्निवारतया च मनो हस्तीवेति मनोहस्तीति भण्यते। ज्ञानमशुभप्रवाहं निरुणद्धि। इत्थनयोच्यते ॥७६२॥

ज्ञानवरत्रानियमितस्य मनसो व्यापार निरूपयत्युत्तरगाथा—

जह मक्कडओ खणमवि मज्झत्थो अत्थिदु ण सक्केइ।
तह खणमवि मज्झत्थो विसएहिं विणा ण होइ मणो ॥७६३॥

'**मक्कडओ खणमवि मज्झत्थो अत्थिदु ण जहा सक्कदि**' मर्कटकः क्षणमपि मध्यस्थो निर्विकार सन् स्थातु न शक्नोति। '**तहा मणो विसएहिं विणा मज्झत्थो खणमवि ण होदि**' तथा मनो विषयैः शब्दादिविषयनिमित्ता रागादय इह विषयशब्दवाच्या विषयकार्यत्वात्। ततोऽयमर्थः, अत्र रागद्वेषौ विना मध्यस्थ मनो भवति। ज्ञानभावनायामसत्या रागद्वेषयोर्वृत्तिरेव मनसो व्यापार इत्यर्थः। एतया ज्ञान मनसो माध्यस्थ करोतीत्याख्यायते। यस्मान्न मनसो माध्यस्थ्यमस्ति सन्निहितमनोज्ञामनोज्ञविषयरागद्वेषसहचारितया ॥७६३॥

तम्हा सो उड्डहणो मणमक्कडओ जिणोवएसेण।
रामेदव्वो णियदं तो सो दोसं ण काहिदि से ॥७६४॥

ज्ञानको अशुभका निग्रह करनेमे हेतु कहा। दूसरी गाथासे ज्ञान भावनाके द्वारा चित्त अपने वशमे होता है यह कहा। इस गाथासे ज्ञान भावनाके द्वारा अशुभ परिणामोकी शान्ति होती है यह कहा ॥७६१॥

गा०—जैसे चमड़ेके कोड़ेसे जगली भी मस्त हाथी वशमें किया जाता है। वैसे ही ज्ञान रूपी चर्मदण्डसे मन रूपी हाथी वशमे किया जाता है। प्राणियोका अहितकारी तथा दुर्निवार होनेसे मनको हाथीकी तरह कहा है। ज्ञान अशुभ प्रवाहको रोकता है यह इस गाथासे कहा है ॥७६२॥

आगे ज्ञानरूपी चर्मदण्डसे वशमें किये गये मनका व्यापार कहते है—

गा०—जैसे बन्दर एक क्षण भी निर्विकार होकर ठहर नहीं सकता, वैसे ही मन एक क्षण भी विषयोके विना नही रहता। यहाँ विषय शब्दसे शब्द आदिके निमित्तसे होने वाले रागादिको लिया है क्योंकि वे विषयोंसे उत्पन्न होते हैं। इसलिए ऐसा अर्थ होता है कि रागद्वेषके विना मन मध्यस्थ नही होता है। अर्थात् ज्ञान भावनाके अभावमे रागद्वेषमें प्रवृत्ति करना ही मनका व्यापार है। इस गाथासे कहा है कि ज्ञान मनको मध्यस्थ करता है। निकटवर्ती प्रिय और अप्रिय विषयोंमें रागद्वेष करनेसे मन मध्यस्थ नहीं होता ॥७६३॥

'तम्हा' तस्मात् । 'सो मणमक्कडओ' मनोमर्कटः । 'उद्दवहणो' इतस्ततः उल्लंघनपरः । 'रामेवव्वो णिच्चं' सर्वकालं रमयितव्यः । क्व 'जिणोवदेसम्मि' जिनागमे । 'तो' ततो जिनागमरतेः । 'सो' मनोमर्कटः । 'दोसं' रागद्वेषादिकं । 'ण काहिदि' न करिष्यति । 'से' तस्य ज्ञानाभ्यासकारिणः ॥७६४॥

यस्माज्ज्ञानाभ्यासे सति मनोमर्कटको दोषं अशुभपरिणामं न करोति—

तम्हा णाणुवओगो खवयस्स विसेसदो सदा भणिदो ।
जह विंधणोवओगो चंदयवेज्झं करंतस्स ॥७६५॥

'तम्हा णाणुवओगो' तस्माज्ज्ञानपरिणामः । 'खवयस्स विसेसदो सदा भणिदो' क्षपकस्य विशेषतः सदा निरूपितः । 'जह विंधणोवओगो' यथा व्यधनाभ्यासो विशेषतो भणितः । कस्य ? 'चंदयवेज्झं करंतस्स' चन्द्रकवेधं कुर्वतः ॥७६५॥

णाणपदीओ पज्जलइ जस्स हियए विसुद्धलेस्सस्स ।
जिणदिट्ठमोक्खमग्गे पणासणभयं ण तस्सत्थि ॥७६६॥

'णाणपदीओ' ध्यानप्रदीपः । 'पज्जलइ' प्रज्वलति । यस्य विशुद्धलेश्यस्य हृदये । तस्य संसारावर्ते पतित्वा विनष्टोऽस्मीति विनाशभयं नास्ति । 'जिणदिट्ठमोक्खमग्गे' जिनदृष्टे श्रुते । रत्नत्रयवृत्तिरपि मोक्षमार्ग-शब्द इह श्रुतवृत्तिर्ग्राह्यः ॥७६६॥

ज्ञानप्रकाशमाहात्म्यं कथयति—

णाणुज्जोवो जोवो णाणुज्जोवस्स णत्थि पडिघादो ।
दीवेइ खेत्तमप्पं सूरो णाणं जगमसेसं ॥७६७॥

'णाणुज्जोवो' ज्ञानोद्योत एव द्योतोऽतिशयित[1] । कस्तस्यातिशय इत्यत्र आह—'णाणुज्जोवस्स णत्थि पडिघादो' ज्ञानोद्योतस्य नास्ति प्रतिघातः । 'दीवेदि' प्रकाशयति । 'खेत्तमप्पं' स्वल्पं क्षेत्रं । क ? 'सूरो'

गा०—इसलिये इधर-उधर कूदने वाले मनरूपी बन्दरको जिनागममें सदा लगाना चाहिए । जिनागममें लगे रहनेसे वह मनरूपी बन्दर उस ज्ञानाभ्यास करने वालेमें रागद्वेष उत्पन्न नहीं कर सकेगा ॥७६४॥

गा०—यतः ज्ञानाभ्यास करने पर मनरूपी बन्दर अशुभ परिणामरूप दोष उत्पन्न नहीं करता । इसलिये क्षपकके लिये सदा ज्ञानोपयोग विशेष रूपसे कहा है । जैसे चन्द्रक यंत्रका वेध करने वालेके लिये सदा बीधनेका अभ्यास विशेष रूपसे कहा है ॥७६५॥

गा०—जिस विशुद्ध लेश्या वालेके हृदयमें ज्ञानरूपी दीपक जलता है उसको जिन भगवान्-के द्वारा कहे गये आगममें प्रवृत्त रहते हुए 'मैं संसारकी भँवरमें गिरकर नष्ट होऊँगा', ऐसा भय नहीं रहता ॥७६६॥

ज्ञानरूपी प्रकाशका माहात्म्य कहते हैं—

गा०—ज्ञानरूप प्रकाश ही यथार्थ प्रकाश है; क्योंकि ज्ञानरूपी प्रकाशमें रहनेवालेका

---

१. ज्ञानप्र—आ० ।

आदित्य । 'णाणं जगमसेसं' ज्ञानं जगदशेषं । 'दीवेदि' प्रकाशयति । समस्तवस्तुव्यापिज्ञानवदन्यः प्रकाशो नास्तीत्यर्थः ॥७६७॥

णाणं पयासओ सोधओ तवो संजमो य गुत्तियरो ।
तिण्हंपि समाओगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥७६८॥

'णाणं पयासगं' ज्ञानं प्रकाशयति 'संसारं' संसारकारणं, 'मुत्तिं' मुक्तिकारणं च ॥ 'सोधओ तवो' निर्जरानिमित्तं तपः । 'संजमो य गुत्तियरो' संयमश्च गुप्तिकरः । 'तिण्हंपि' त्रयाणामपि । 'समाओगे' संयोगे । 'मोक्खो' मोक्षः । 'जिणसासणे दिट्ठो' जिनशासने दृष्टः ॥७६८॥

णाणं करणविहूणं लिंगग्गहणं च दंसणविहूणं ।
संजमहीणो य तवो जो कुणदि णिरत्थयं कुणदि ॥७६९॥

णाणुज्जोएण विणा जो इच्छदि मोक्खमग्गमुवगंतुं ।
गंतुं कडिल्लमिच्छदि अंधलओ अंधयारम्मि ॥७७०॥

'णाणुज्जोएण विणा' ज्ञानोद्योतेन विना । 'जो इच्छदि' यो वाञ्छति । 'मोक्खमग्गमुवगंतुं' चारित्रं तपश्च इह मोक्षमार्ग इत्युच्यते चारित्रं तपश्चोपगन्तुं । 'गंतुं कडिल्लमिच्छदि' गन्तुं दुर्गमिच्छति । कः ? 'अंधलओ' अन्धः । 'अंधयारम्मि' अन्धकारे तमसि । यथा वृक्षतृणगुल्मादिनिचिते प्रदेशे गमनं अतिदुष्करं अप्रकाशे सति । तद्वद्धिंसादिपरिहारो जीवनिकायाकुले दुष्कर इति मन्यते ॥७७०॥

जइदा खंडसिलोगेण जमो मरणादु फेडिदो राया ।
पत्तो य सुसामण्णं किं पुण जिणउत्तसुत्तेण ॥७७१॥

'जइदा खण्डसिलोगेण' यदि तावत्खण्डेन श्लोकस्य । 'जमो राया मरणादो फेडिदो' यमो राजा मरणा-

---

पतन नहीं होता । सूर्य तो अल्पक्षेत्रको ही प्रकाशित करता है किन्तु ज्ञान समस्त जगत्को प्रकाशित करता है । आशय यह है समस्त वस्तुओंमें व्याप्त ज्ञानके समान अन्य प्रकाश नहीं है ॥७६७॥

गा०—ज्ञान संसार, संसारके कारण, मोक्ष और मोक्षके कारणोंको प्रकाशित करता है । तप निर्जराका कारण है । संयम गुप्तिकारक है । इन तीनोंके मिलनेपर जिनागममें मोक्ष कहा है ॥७६८॥

गा०—आचरणहीन ज्ञान, श्रद्धानके विना मुनि दीक्षाका ग्रहण और संयमके विना तप जो करता है वह सब निरर्थक करता है ॥७६९॥

गा०—ज्ञानरूप प्रकाशके विना मोक्षमार्गको जो प्राप्त करना चाहता है, यहाँ चारित्र और तपको मोक्षमार्ग कहा है अतः जो ज्ञानके बिना चारित्र और तपको प्राप्त करना चाहता है वह अन्धा अन्धकारमें दुर्गपर जाना चाहता है । जैसे प्रकाशके अभावमें वृक्ष, तृण, झाड़ी आदिसे भरे प्रदेशमें जाना अति कठिन है वैसे ही जीवोंसे भरे प्रदेशमें हिंसा आदिका बचाव कठिन है ॥७७०॥

दपसारितः । 'पत्तो य सुसामण्णं' प्राप्तश्च शोभनं श्रामण्यं । 'किं पुण जिणउत्तसुत्तेण' किं पुनर्जिनोक्तसूत्रेण प्राप्यफले आश्चर्यं । बाल्यमन्धाख्यानकं च । तदुक्तं—

[1]भवत्यन्धेनाज्ञेन जीवितार्थिना यत्किंचिदुक्तं वचनं श्रुत्वा हास्यपरेण राज्ञा भाव्यमानं यद्यापदपसारणे निमित्तं विश्ववेदिनां वचो भाव्यमानं किमभिलषितं न प्रापयति ॥ ७७१॥

स्वल्पस्यापि श्रुतस्य भावना मरणकाले महाफलं ददातीत्येवं तत्कथयति—

दढसुप्पो सूलहदो पंचणमोक्कारमेत्त सुदणाणे ।
उवजुत्तो कालगदो देवो जादो महड्ढिओ ॥७७२॥

'दढसुप्पो सूलहदो' दृढसूर्पो नाम चौरः शूलमारूढः । 'पंचणमोक्कारमेत्त सुदणाणे उवजुत्तो कालगदो' पञ्चनमस्कार एव श्रुतज्ञाने उपयुक्तः सन् कालगतः । 'महड्ढिगो देवो जादो' महर्द्धिको देवो जातः ॥७७२॥

ण य तम्मि देसयाले सव्वो बारसविधो सुदक्खंधो ।
सक्को अणुचिंतेदुं बलिणा वि समत्थचित्तेण ॥७७३॥

'सव्वो बारसविधो वि सुदक्खंधो तम्मि देसयाले ण य सक्को अणुचिंतेदुं बलिणा वि समत्थचित्तेण' सर्वो द्वादशविधोऽपि श्रुतस्कंधस्तस्मिन्मरणे देशे काले च नैव शक्योऽनुस्मर्तुं नितरामपि समर्थचित्तेन। बहुश्रुतस्यापि न ध्यानालम्बनं समस्तं श्रुतं किं तु किंचिदेव सूत्रं । तथा ह्युक्तं 'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमिति' [त० सू० ९।४५] ॥७७३॥

एक्कम्मि वि जम्मि पदे संवेगं वीदरायमग्गम्मि ।
गच्छदि णरो अभिक्खं तं मरणंते ण मोत्तव्वं ॥७७४॥

गा०-टी०—यदि श्लोकके एक खण्डके पाठसे राजा यम मृत्युसे बचा और शोभनीय मुनिपदको प्राप्त हुआ तो जिनभगवान्‌के द्वारा प्रतिपादित सूत्रकी स्वाध्यायसे प्राप्त होनेवाले फलमें क्या आश्चर्य है। इस विषयमें हरिषेणकृत वृहत् कथाकोशमें यममुनि की कथा है। कहा भी है—

जीवनके अर्थी अज्ञानी अन्धेके द्वारा कहे गये अनर्गलवचनको सुनकर राजाने हँसीमें उसे ग्रहण किया और वह उसकी आपत्ति दूर करनेमें निमित्त हुआ तो सर्वज्ञके वचनका अभ्यास किस इच्छित वस्तुको नहीं देता ? अर्थात् सब देता है ॥७७१॥

आगे कहते हैं कि थोडे से भी शास्त्र की भावना मरते समय महाफल देती है—

गा०—दृढ़सूर्प नामक चोरको सूली पर चढाया गया तो वह पंच नमस्कार मन्त्र-मात्र श्रुतज्ञानमें उपयोग लगाकर मरा अर्थात् पंच नमस्कार मंत्र का पाठ करते हुए मरा और मरकर महान् ऋद्धिका धारी देव हुआ ॥७७२॥

गा०—मरते समय बलवान भी सामर्थ्यसम्पन्न मनुष्य समस्त द्वादशांग श्रुत स्कन्धका अनुचिन्तन नहीं कर सकता। बहुत शास्त्रोंका ज्ञाता भी समस्त श्रुतका ध्यान मरते समय नहीं कर सकता। किन्तु किसी एक का ही ध्यान सम्भव है। कहा भी है—एक विषयमें चिन्ताके निरोध को ध्यान कहते हैं ॥७७३॥

---

१. भवेत्यान्धेनाज्ञेन—आ० ।

'तेण एकम्मि वि अम्मि पदे' यस्मिन्नेकस्मिन्नपि पदे युक्तः । 'संवेगं गच्छदि' रत्नत्रये श्रद्धामुपैति । 'अभिक्खं' पुनः पुनः । 'तं' तत्पदं । 'मरणंते' शरीराद्वियोगकाले । 'ण मोत्तव्वं' न मोक्तव्यं । णाणुवओग इत्येतद्व्याख्यातं । गाणं गदं ॥७७४॥

पञ्चमहव्वदरक्खा इत्येतद्व्याचिख्यासुराचार्योऽहिंसाव्रतं पालयेति कथयति—

परिहर छज्जीवणिकायवहं मणवयणकायजोगेहिं ।
जावज्जीवं कदकारिदाणुमोदेहिं उवजुत्तो ॥७७५॥

'परिहर छज्जीवणिकायवहं' षण्णा जीवनिकायानां वधं मा कृथा मनोवाक्काययोगैः प्रत्येकं कृत-कारितानुमतविकल्पैः । कालप्रमाणमाह—'जावज्जीवं' यावज्जीवं । सर्वजीवविषयसर्वप्रकारहिंसापरिहार-रूपत्वात् सर्वस्मिन्नेव भवपर्यायकाले प्रवृत्तत्वादहिंसाव्रतस्य महत्ता निवेदिता । 'छज्जीवणिकाय' इत्यत्र व्यक्तयो जीवनिकायाना परिगृहीता । 'मणवयणकायजोगेहिं कदकारिदाणुमोदेहिं' इत्यनेन हिंसाविकल्पाः संगृहीता । 'जावज्जीवमित्यनेन निरवशेषमनुजजीवितकालग्रहणं । 'उवजुत्तो समिदीसु' इति शेष उपयुक्तः समितिषु समाहितचित्तः । इह वा सावज्जकिरियापरिहारे इति शेष. । सावद्यक्रियापरिहारप्रणिहित-चित्त ॥७७५॥

जह ते ण पियं दुक्खं तहेव तेसिंपि जाण जीवाणं ।
एवं णच्चा अप्पोवमिवो जीवेसु होदि सदा ॥७७६॥

'जह ते ण पियं दुःखं' यथा तव न प्रिय दुःखं । 'तधेव तेसिं पि जीवाणं दुःखं न पियंति' तथैव तेषामपि जीवाना न दुःखं प्रियमिति । 'जाण' जानीहि । 'एवं णच्चा' एवं ज्ञात्वा । अप्पोवमिवो आत्मो-पमान । 'सदा होहि जीवेसु' सदा भव जीवेसु । परजीवदुःखाप्रियो भवेति यावत् ॥७७६॥

गा०—अतः जिस एक भी पदमें मन लगानेसे मनुष्यमें रत्नत्रयके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है उस पदको बार-बार विचारना चाहिये और मरते समय भी नही छोडना चाहिये ॥७७४॥

'पंच महाव्रत रक्षा' का व्याख्यान करनेके इच्छुक ग्रन्थकार अहिंसाव्रतके पालनका कथन करते हैं—

गा०-टी०—मन वचन काय और उनमें से प्रत्येकके कृत कारित और अनुमत भेदोंके साथ छह कायके जीवों की हिंसा जीवन पर्यन्त मत करो । क्योंकि सब जीवोंकी सब प्रकारकी हिंसाका त्याग अहिंसा महाव्रत है सभी भवोंमें इसका पालन करना, आवश्यक है । इससे अहिंसाव्रतकी महत्ता सूचित की है । 'छह जीव निकाय' पदसे जीव निकायोंके सब जीवोंका ग्रहण किया है । मन वचन काय और कृत कारित, अनुमोदनासे हिंसाके भेदोंका ग्रहण किया है अर्थात् हिंसा नौ प्रकार से होती है, 'यावज्जीवन' पदसे मनुष्यका सम्पूर्ण जीवन काल ग्रहण किया है । 'उपयुक्त' पदसे समितियों में सावधान चित्त व्यक्तिका ग्रहण किया है । जो व्यक्ति सावद्य कार्यों के परिहारमें दत्त-चित्त है वही जीवन पर्यन्त छह काय के सब जीवोंको मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से हिंसा नहीं करता ॥७७५॥

गा०—जैसे तुझे दुःख प्रिय नहीं है वैसे ही उन जीवोंको भी दुःख प्रिय नहीं है । ऐसा जानकर अपनी ही तरह सदा जीवोंमें व्यवहार करो अर्थात् किसी को दुःख मत दो ॥७७६॥

तण्हाछुहादिपरिदाविदो वि जीवाण घादणं किच्चा ।
पडियारं कादुं जे मा तं चिंतेसु लभसु सदिं ॥७७७॥

'तण्हाछुहादिपरिदाविदो वि' तृषा, क्षुधा, रोगेण, शीतेन, आतपेन बाधितोऽपि सन् । 'जीवाणं घादणं किच्चा' जीवानामुपघातं कृत्वा । 'पडियारं कादुं जे' तृडादीना प्रतिकारं कर्तुं । 'तं मा चिंतेहि' मा कार्षीश्चित्तं । 'लभसु सदिं' लभस्व स्मृतिं । पिबामि हिमशीतलं जल कर्पूरक्षोदवासित । अगाध वा सर. सुरभितरोत्पलरजोवगुंठित प्रविश्य मदान्धसिन्धुर इव निमज्जनोन्मज्जने करोमि । ललाटे, शिरसि, पृथुले चोरस्थले करकाप्रकरनिपातो यदि स्याद्भद्रं भवेत् । कल्हारसिकताधिकपल्लवशयनादिलाभे वा जीवामि इति वा । आतपति वा दिवानिशं तर्षं । अपसारिततीक्ष्णकरकरनिकुरुंबमिति व्यजनतालवृन्तसमुपनीतशीतमारुतापातेन श्रममशेषमपाकुर्वन्तु भवन्तः । हिमानी पततु । वान्तु वा मातरिश्वान इति वा । प्राहूपक्वानपूपान्सुरभिघृतार्द्रान् भक्षयामीति । सम्यक् क्वथितं क्षीरं शर्करामिश्रं सुखोष्णं पिबामीति वा । धगधगायमानं खादिरमग्निं कुरुत । शीतेन स्फुटन्ति ममाङ्गानि इत्येवमादिका प्रतिक्रिया मनसि न कार्येत्यर्थः । असद्वेद्याशनौ महति निपतति, को नु तस्य प्रतीकारः ? तदुपशमकालभाविन एव बाह्यद्रव्यसंपाद्या प्रतीकारा इति मनो निधेहि ॥७७७॥

रदिअरदिहरिसभयउस्सुगत्तदीणत्तणादिजुत्तो वि ।
भोगपरिभोगहेदुं मा हु विचिंतेहि जीववहं ॥७७८॥

'रदिअरदिहरिसभयउस्सुगत्तदीणत्तणादिजुत्तोऽवि' । शब्दादिविषया प्रीती रति । अमनोज्ञविषयसन्निधाने या विमुखता सा अरतिः । हास्यकर्मोदयनिमित्तः परिणामो हर्षः । भय, उत्सुकता, दीनतेत्येवमादिभिर्युक्तोऽपि । 'भोगपरिभोगहेदुं' भोगोपभोगार्थं वा जीववधं मा कृथा मनसि ॥७७८॥

गा०–टी०—भूख, प्यास, रोग, शीत अथवा आतपसे पीड़ित होने पर भी जीवोंका घात करके प्यास आदिका प्रतीकार करनेका विचार मत करो । मैं कपूरके चूर्णसे सुवासित तथा बर्फसे शीतल जलका पान करूँ ? अथवा अति सुगन्धित कमलकी रजसे व्याप्त गहरे तालाबमें घुसकर मदोन्मत्त हाथी की तरह डुबकियाँ लूँ । मस्तक, सिर और विशाल छाती पर यदि ओलोंकी वर्षा हो तो उत्तम हो । अथवा यदि कमल बालु और कोमल पल्लवों आदिकी शय्या मिले तो मैं जीवित रह सकूँ । रात दिन प्यास सताती है । सूर्यकी किरणोंके समूह को दूर करके पंखेकी शीतल वायु से मेरी सब थकान आप दूर करे । बर्फ गिरे । शीतल पवन बहे । सुगन्धित घीमे अगार पर पके पुओं को खाऊँगा । अथवा सम्यक् रूपसे उबाले गये और शक्कर मिलाये तथा सुखकर उष्णता को लिये दूधको पीऊँ । खैरकी लकड़ीकी धक् धक् करती हुई आग जलाओ, मेरे अग ठडसे ठिठुर रहे हैं । इस प्रकारका प्रतिकार मनमें नहीं लाना चाहिये । यह उक्त कथनका आशय है । महान् असाता वेदनीय रूप वज्रपात होने पर उसका क्या प्रतीकार हो सकता है ? उसका उपशमन काल आने पर ही बाह्य द्रव्योंके द्वारा प्रतीकार संभव है, ऐसा मनमें विचार होना चाहिये ॥७७७॥

गा०–टी०—शब्द आदि विषयोंमें प्रीतिको रति कहते हैं । अप्रिय विषयोंके प्राप्त होनेपर उनसे विमुख होनेको अरति कहते हैं । हास्यकर्मके उदयके निमित्तसे जो भाव होता है उसे हर्ष कहते हैं ।

१. द्यः स नो महानिति—आ० मु० ।

महुकरिसमज्जियमहुं व संजमं थोवथोवसंगलियं ।
तेलोक्कसव्वसारं णो वा पूरेहि मा जहसु ॥७७९॥

'महुकरिसमज्जियमहुं व' मधुकरीभिः समर्जितं मध्विव । 'संजमं' चारित्रं । 'थोवथोवसंगलियं' स्तोकस्तोकेनोपार्जितं । 'तेलोक्कसव्वसारं' त्रैलोक्यस्य सर्वसारं विष्टपत्रये यदतिशयवत् स्थानं, मानं, ऐश्वर्यं सुखं वा तस्य कारणत्वात् त्रैलोक्यसर्वसारं । 'मा जहसु' मा त्याक्षीः ॥७७९॥

दुक्खेण लभदि माणुस्सजादिमदिसवणदंसणाचरित्तं ।
दुक्खज्जियसामण्णं मा जहसु तणं व अगणतो ॥७८०॥

'दुक्खेण लभदि माणुस्सजादिमदिसवणदंसणचरित्तं' दुःखेन लभते मनुष्यजन्म जंतुः । सूत्रे यद्यपि मणुस्सजादिशब्दः सामान्यवाच्युपात्तस्तथापि विशेष[1]मत्रासौ वदति इति ग्राह्यं । मनुजा हि चतुःप्रकाराः—

कर्मभूमिसमुत्पाश्च भोगभूमिभवास्तथा ।
अंतरद्वीपजाश्चैव तथा सम्मूर्छिमा इति ॥
असिर्मषिः कृषिः शिल्पं वाणिज्यं व्यवहारिता ।
इति यत्र प्रवर्तन्ते नृणामाजीवयोनयः ॥
प्रपाल्य संयमं यत्र तपःकर्मपरा नराः ।
सुरसंग[2]तीं वा सिद्धिं प्रयान्ति हतशत्रवः ॥
एताः कर्मभुवो ज्ञेयाः पूर्वोक्ता दश पञ्च च ।
यत्र संभूय पर्याप्तिं यान्ति ते कर्मभूमिजाः ॥
मद्यतूर्याम्बराहारपात्राभरणमाल्यदैः ।

इन रति, अरति, हर्ष, भय, उत्सुकता, दीनता आदि भावोसे युक्त होने पर भी अपने भोग अथवा उपभोगके लिये मनमें जीव हिंसाका विचार मत करो ॥७७८॥

गा०—मधु-मक्खियाँ जिस प्रकार थोड़ा-थोड़ा करके मधुका संचय करती हैं उसी प्रकार थोड़ा-थोड़ा करके संचित किया गया संयम तीनों लोकोमे जो सातिशय स्थान मान ऐश्वर्य अथवा सुख है उस सबका कारण होनेसे सारभूत है । उसे यदि पूर्ण नहीं कर सकते तो उसका त्याग तो मत करो ॥७७९॥

गा०-टी०—प्राणी बड़े दुःखसे मनुष्य जन्म पाता है । गाथामे यद्यपि मनुष्य जाति शब्द सामान्य वाची है तथापि यह विशेष मनुष्यको कहता है, ऐसा अर्थ लेना चाहिये । मनुष्य चार प्रकारके होते हैं—कर्म भूमिमें उत्पन्न हुए, भोग भूमिमें उत्पन्न हुए, अन्तर्द्वीपोंमे उत्पन्न हुए तथा सम्मूर्छन जन्मसे उत्पन्न हुए । जहाँ मनुष्य असि, मषि, कृषि, शिल्प, व्यापार और सेवाके द्वारा जीवन यापन करते हैं, तथा जहाँ मनुष्य संयमका पालन करके तपस्यामें तत्पर होकर देवगति प्राप्त करते हैं अथवा कर्म शत्रुओंको मारकर मोक्ष जाते हैं वे कर्मभूमियाँ हैं। वे कर्मभूमियाँ पन्द्रह हैं । उनमें जन्म लेकर वे कर्मभूमिज मनुष्य पर्याप्तियाँ पूर्ण करते हैं । और

---

१. यमवसाययति इति आ० ।—यमवसाययति इति मु० ।

२. संगतिवत् सि—आ० ।—संगतिं वा सि—मु० ।

गृहदीपज्योतिराद्यैस्तरुभिस्तत्र जीविकाः ॥
पुरग्रामादयो यत्र न निवेशा न पार्थिवाः ।
न कुलं कर्म शिल्पानि न वर्णाश्रमसंस्थितिः ॥
यत्र नार्यो नराश्चैव मैथुनीभूय नीरुजाः ।
रमन्ते पूर्वपुण्यानां प्राप्नुवन्तः परं फलं ॥
यत्र प्रकृतिभद्रत्वात् दिवं यान्ति मृता अपि ।
ता भोगभूमयश्चोक्तास्तत्र स्युर्भोगभूमिजाः ॥
अभाषका एकोरुका लाङ्गूलिकविषाणिकाः ।
आदर्शमुखहस्त्यश्वविद्युदुल्कमुखा अपि ॥
हयकर्णा गजकर्णाः कर्णप्रावरणास्तथा ।
इत्येवमादयो ज्ञेया अन्तरद्वीपजा नराः ॥
समुद्रद्वीपमध्यस्थाः कन्दमूलफलाशिनः ।
वेदयन्ते मनुष्यायुस्ते मृगोपमचेष्टिताः ॥
कर्मभूमिषु चक्रास्त्रहलभृद्भूरिभूभुजां ।
स्कंधावारसमूहेषु प्रस्रावोच्चारभूमिषु ॥
शुक्रसिंघाणकश्लेष्मकर्णदन्तमलेषु च ।
अत्यन्ताशुचिदेशेषु सद्यःसम्मूर्छनेन ये ॥
भूत्वाङ्गुलस्यासंख्येयभागमात्रशरीरकाः ।
आशु नश्यन्त्यपर्याप्तास्ते स्युः सम्मूर्छिमा नराः ॥

एतेषु कर्मभूमिजमानवानां एव रत्नत्रयपरिणामयोग्यता नेतरेषां इति तदेव मनुजजन्म गृह्यते । लब्धेऽपि

जहाँ मनुष्य मद्य, तूर्य, वस्त्र, आहार, पात्र, आभरण, माला, घर, दीप और ज्योति प्रदान करने वाले दस प्रकारके कल्प वृक्षोंसे जीवन यापन करते है, जहाँ पुर ग्राम आदि नही होते, न राजा होते हैं न कुल, न कर्म और न शिल्प होता है, न वर्ण और आश्रमका चलन होता है, जहाँ स्त्री और पुरुष निरोग रहकर पति पत्नी की तरह रमण करते हुए पूर्व जन्ममें किये पुण्य कर्मका फल भोगते हैं, और जो स्वभावसे ही भद्र होनेके कारण मरकर भी स्वर्गमे जाते है वे भोगभूमियाँ कही हैं। उनमें जन्म लेने वाले मनुष्य भोगभूमिज होते हैं। अभाषका—जो भाषा नही जानते-मूक रहते हैं, एकोरुका—जिनके एक पैर होता है, लांगूलिका जिनके पूँछ होती है, विषाणिका—जिनके सींग होते हैं, आदर्शमुखा—जिनका मुख दर्पण की तरह होता है, हस्तिमुखा—हाथी की तरह मुख वाले, अश्वमुख—घोडेकी तरह मुखवाले, विद्युन्मुख, बिजलीकी तरह मुखवाले, उल्का-मुख, हयकर्ण—घोडेकी तरह कानवाले, गजकर्ण—हाथीकी तरह कान वाले, कर्ण प्रावरण—कान ही जिनका आवरण है, इत्यादि अन्तर्द्वीपज मनुष्य होते हैं। ये समुद्रके द्वीपोके मध्यमें रहते है, कन्दमूल फल खाते हैं, तथा हिरनोंकी तरह चेष्टा करते हुए मनुष्यायु भोगते हैं। कर्म भूमियोंमें चक्रवर्ती, बलदेव, राजाओंकी सेनाके पड़ावोंमे मलमूत्र त्यागनेके स्थानोंमें, वीर्य, नाकके मल, कफ, कान और दाँतोंके मलमे और अत्यन्त गन्दे प्रदेशोंमें शीघ्र ही सम्मूर्छन जन्मसे उत्पन्न होकर तत्काल ही अपर्याप्त दशामें मरणको प्राप्त होनेवाले सम्मूर्छन मनुष्य होते हैं। उनका शरीर अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र होता है। इन चार प्रकारके मनुष्योंमेसे कर्मभूमि मनुष्योंमें ही रत्नत्रय

तस्मिन् ज्ञानावरणोदयाद्धिताहितपरीक्षायां समर्था बुद्धिर्न सुलभा । तया विना लब्धमपि मनुजजन्म विफलमेव दृष्टिरहितमिवायतं लोचनं, द्रविणसंपदं विना कुलीनत्वमिव, सुभगतामन्तरेण रूपमिव, यथार्थतारहितं वचनमिव, सत्यामपि मतौ यदि नाप्तानां वचः श‍ृणुयात् सापि विफलैव सरोजरहिता सरसीव । इहापि श्रवणं आप्तवचनगोचरमेव गृहीतं, श्रवणमपि श्रद्धानरहितं सुलभमेव । इदं यथा येन प्रतिपादितं तथैवेति श्रद्धानं दुर्लभं दर्शनमोहोदयात् । सत्यपि श्रद्धाने चारित्रमोहोदयात् ज्ञातेऽभिलषिते मार्गे प्रवृत्तिर्दुर्लभा । एवं 'दुरवजिद-सामण्णं' दुःखेनाजितश्रामण्यं । मा खलु मा त्याक्षीः । 'तणं व अगणिंतो' तृणमिव अगणयन् ॥७८०॥

जीवघातदोषमाहात्म्यं कथयति गाथाद्वयेन—

तेलोक्कजीविदादो वरेहि एक्कदरमत्ति देवेहिं ।
भणिदो को तेलोक्कं वरिज्ज संजीविदं मुच्चा ॥७८१॥
जं एवं तेलोक्कं णग्घदि सव्वस्स जीविदं तम्हा ।
जीविदघादो जीवस्स होदि तेलोक्कघादसमो ॥७८२॥

त्रैलोक्यजीवितयोरेकं गृहाणेति देवैःप्रोक्तः कस्त्रैलोक्यं वृणीते [1]स्वजीवितं त्यक्त्वा, जीवनमेव ग्रहीतुं वाञ्छति । यस्मादेवं त्रैलोक्यस्य मूल्यं जीवितं सर्वप्राणिनस्तस्माज्जीवितघातो । जीवस्य [जीवितस्य] जीवादन्यत्रावृत्ते[2]र्जीवस्येहवचनमनर्थकमिति चेन्न, उत्तरेण सम्बन्धात् । जीवस्य हतुस्त्रैलोक्यघातसमो महान्दोषो भवतीति यावत् ॥७८१॥

रूप परिणामों की योग्यता होती है, शेष तीन में नहीं होती । इसलिये यहाँ उसी मनुष्य जन्मका ग्रहण होता है । उस मनुष्य जन्मको प्राप्त करके भी ज्ञानावरण कर्मके उदयसे हित अहितका विचार करनेमें समर्थ बुद्धि सुलभ नहीं है । उसके बिना प्राप्त भी मनुष्य जन्म उसी प्रकार व्यर्थ है जैसे देखनेकी शक्तिसे रहित लम्बी आँखें, धन सम्पत्तिके बिना कुलीनता, सौभाग्यके बिना रूप, और यथार्थतासे रहित वचन व्यर्थ हैं । बुद्धिके होनेपर भी यदि आप्त पुरुषोंका वचन न सुने तो वह बुद्धि भी कमलोंसे रहित सरोवरकी तरह निष्फल ही है । यहाँ श्रवण भी आप्तके वचन विषयक ही ग्रहण किया है । श्रद्धान रहित सुनना भी सुलभ ही है । 'जिसने जैसा कहा है वैसा ही है' इस प्रकारका श्रद्धान दर्शन मोहके उदयमें दुर्लभ है । श्रद्धान होने पर भी चारित्र मोहके उदयसे जाने हुए और रुचने वाले मार्गमें प्रवृत्ति दुर्लभ है । इस प्रकार बड़े कष्टसे प्राप्त मुनिधर्मको तृणकी तरह मानकर त्यागना नहीं ॥७८०॥

टी०—आगे दो गाथाओंसे जीवघातसे हुए दोषका महत्त्व बतलाते हैं—

गा०—तीनों लोक और जीवनमेंसे एकको स्वीकार करो ? ऐसा देवोंके द्वारा कहे जानेपर कौन प्राणी अपना जीवन त्यागकर तीनों लोकोंको ग्रहण करेगा ? अतः इस प्रकार सब प्राणियोंके जीवनका मूल्य तीनों लोक है अतः जीवका घात करनेवालोंको तीनों लोकोंका घात करनेके समान दोष होता है ।

शङ्का—जीवितपना जीवको छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता अतः 'जीवस्स' यह वचन व्यर्थ है ?

समाधान—गाथामें आये जीवस्सका सम्बन्ध आगेके कथनसे है—जीवके घातकको तीनों लोकोंके घातके समान दोष होता है ॥७८१–७८२॥

---

१. ते जीवस्य जी–मु० । २. त्यैव व–अ० ।

अहिंसाव्रतमहत्तां निवेदयन्ति—

णत्थि अणूदो अप्पं आयासादो अणूणयं णत्थि ।
जह जह जाण महल्लं ण वयमहिंसासमं अत्थि ॥७८३॥

'णत्थि अणूदो अप्पं' नास्त्यणोरल्पं अन्यत्किंचिद्द्रव्यं । 'आयासादो अणूणयं णत्थि' । आकाशाद्वा अन्यन्महन्नास्ति यथा तथान्यद्व्रतं अहिंसातो महन्नास्ति ॥७८३॥

जह पव्वदेसु मेरू उच्चावो होइ सव्वलोयम्मि ।
तह जाणसु उच्चायं सीलेसु वदेसु य अहिंसा ॥७८४॥

'जह पव्वदेसु' सर्वस्मिन्लोके पर्वतेभ्यो मेरुर्यथाच्चैस्तथा अहिंसा शीलेषु व्रतेषु च उन्नततमेति जानीहि ॥७८४॥

व्रतानां, शीलानां, गुणानां च अधिष्ठानमहिंसेति वदन्ति—

सव्वो हि जहायासे लोगो भूमीए सव्वदीउदधी ।
तह जाण अहिंसाए वदगुणसीलाणि तिट्ठंति ॥७८५॥

यथा सर्वलोक ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्विकल्प आकाशाधिकरण । भूमौ च समवस्थिता. सर्वे द्वीपा उदधयश्च । तथैव 'जाण' जानीहि । व्रतगुणशीलान्यहिंसायां तिष्ठन्ति इति ॥७८५॥

कुव्वंतस्स वि जत्तं तुंबेण विणा ण ठंति जह अरया ।
अरएहिं विणा य जहा णट्ठं णेमी दु चक्कस्स ॥७८६॥

'कुव्वंतस्स वि जत्तं' यत्नं कुर्वतोऽपि । तुम्बमन्तरेण यथा न तिष्ठन्त्यराणि । अरैर्विना नेम्यवस्थानं चक्रस्य यथा नास्ति ॥७८६॥

तह जाण अहिंसाए विणा ण सीलाणि ठंति सव्वाणि ।
तिस्सेव रक्खणट्ठं सीलाणि वदीव सस्सस्स ॥७८७॥

'तह जाण' तथैव जानीहि । अहिंसा विना सर्वाणि शीलानि न तिष्ठन्ति इति । अहिंसाया एव रक्षार्थं शीलानि वृतिरिव सस्यस्य ॥७८७॥

गा०—जैसे अणुसे छोटा कोई अन्य द्रव्य नहो है और आकाशसे बड़ा कोई नहो है वैसे ही अहिंसासे महान् कोई अन्य व्रत नहो है ॥७८३॥

गा०—जैसे सब लोकमें मेरु सब पर्वतोंसे ऊँचा है वैसे ही शीलों और व्रतोंमें अहिंसा सबसे ऊँची है ॥७८४॥

अहिंसा व्रतों शीलों और गुणोंका अधिष्ठान है, ऐसा कहते हैं—

गा०—जैसे ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोकके भेदसे सब लोक आकाशके आधार हैं और सब द्वीप और समुद्र भूमिके आधार हैं वैसे ही व्रत गुण और शील अहिंसाके आधार रहते हैं ॥७८५॥

गा०—लाख प्रयत्न करनेपर भी जैसे चक्रेके आरे तुम्बीके विना नहीं ठहरते और आरोंके विना नेमि नहीं ठहरती, वैसे ही अहिंसाके विना सब शील नहीं ठहरते । उसीकी रक्षाके लिए शील हैं जैसे धान्यकी रक्षाके लिए बाड़ होती है ॥७८६–७८७॥

अहिंसाव्रतमन्तरेणेतरेषां नैष्फल्यमाचष्टे—

सीलं वदं गुणो वा णाणं णिस्संगदा सुहच्चाओ ।
जीवे हिंसंतस्स हु सव्वे वि णिरत्थया होंति ॥७८८॥

शीलादीनि हि संवरनिर्जरां चोद्दिश्यानुष्ठीयन्ते । हिंसायां तु सत्यां न स्तः फलभूते संवरनिर्जरे मुक्त्युपायभूते इति निष्फलता मन्यते ॥७८८॥

सव्वेसिमासमाणं हिदयं गब्भो व सव्वसत्थाणं ।
सव्वेसिं वदगुणाणं पिंडो सारो अहिंसा हु ॥७८९॥

'सव्वेसिमासमाणं' सर्वेषामाश्रमाणां हृदयं शास्त्राणां गर्भः । सर्वेषां व्रतानां गुणानां च पिण्डीभूतसारो भवत्यहिंसा ॥७८९॥

जम्हा असच्चवयणादिएहिं दुक्खं परस्स होदित्ति ।
तप्परिहारो तम्हा सव्वे वि गुणा अहिंसाए ॥७९०॥

'जम्हा असच्चवयणादियेहिं' यस्मादसत्यवचनेन, अदत्तादानेन, मैथुनेन, परिग्रहेण च परस्य दुःखं भवति । तस्मात्तेषां असत्यवचनादीनां परिहार इति सर्वेऽपि अहिंसाया गुणा ।

गोबंभणित्थिवधमेत्तणियत्ति जदि हवे परमधम्मो ।
परमो धम्मो किह सो ण होइ जा सव्वभूददया ॥७९१॥

'गोबंभणित्थिवधमेत्तणिवत्ति' गवां, ब्राह्मणानां, स्त्रीणां च वधमात्रनिवृत्तिर्यदि भवेदुत्कृष्टो धर्मः परमो धर्मः कथं न भवति या सर्वजीवदया ॥७९१॥

हिंसानिवृत्तिं उपायेन कारयन्ति कृतापकारानपि बान्धवान्स्नेहान्न मारयितुमीहते जनः । [1]तवपुरस-

---

अहिंसाव्रतके विना शील आदिकी निष्फलता बतलाते हैं—

गा०—जीवोंकी हिंसा करनेवालेके शील, व्रत, गुण, ज्ञान, निःसंगता और विषय सुखका त्याग ये सभी ही निरर्थक होते हैं ॥७८८॥

विशेषार्थ—शील आदि संवर और निर्जराके उद्देशसे किये जाते हैं। हिंसाके होते हुए मुक्तिके उपायभूत संवर निर्जरारूप फल नहीं होते । इसलिए निष्फल कहा है ॥७८८॥

गा०—सब आश्रमोंका हृदय, सब शास्त्रोंका गर्भ और सब व्रतों और गुणोंका पिण्डीभूत सार अहिंसा ही है ॥७८९॥

गा०—यतः असत्य बोलनेसे, बिना दी हुई वस्तुके ग्रहणसे, मैथुनसे, और परिग्रहसे दूसरोंको दुःख होता है । इसलिए उन सबका त्याग किया जाता है । अतः वे सब सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह अहिंसाके ही गुण हैं ॥७९०॥

गा०—यदि गौ, ब्राह्मण और स्त्रियोंके वधमात्रसे निवृत्ति उत्कृष्ट धर्म है तो सब प्राणियोंपर दया परमधर्म क्यों नहीं है ? ॥७९१॥

लोग सावधानीपूर्वक हिंसासे बचते हैं। अपकार करनेवाले भी बन्धु-बान्धवोंको स्नेहवश

---

१. तव पुरस्तादवर स–आ० ।

कुलजन्मान्तरे पितृपुत्रादिभावमुपागतानां मारणमयुक्तं इति वदति—

सव्वे वि य संबंधा पत्ता सव्वेण सव्वजीवेहिं।
तो मारंतो जीवो संबंधी चेव मारेइ ॥७९२॥

'सव्वे वि य' सर्वेऽपि च। 'संबंधा' सम्बन्धाः प्राप्ताः। 'सव्वेण' सर्वेण जीवेन। 'सव्वजीवेहिं' सर्वजीवैः। 'तो' तस्मात्। जीवो मारणोद्यतः सम्बन्धिन एव घातयति ॥७९२॥

तच्च सम्बन्धिहननं लोके अतिनिन्दितं—

जीववहो अप्पवहो जीवदया होइ अप्पणो हु दया।
विसकंटओव्व हिंसा परिहरियव्वा तदो होदि ॥७९३॥

'जीववहो अप्पवहो' जीवानां घात आत्मघात एव। जीवानां क्रियमाणा दया आत्मन एव कृता भवति। सकृदेकजीवघातनोद्यतः स्वयमनेकेषु जन्मसु मार्यते। कृतैकजीवदयोऽपि स्वयमनेकेषु जन्मसु परै रक्ष्यते। इति विषलिप्तकण्टकवत् परिहार्या हिंसा दुःखभीरुणा ॥७९३॥

हिंसादोषमिहैव जन्मनि वर्णयति—

मारणसीलो कुणदि हु जीवाणं रक्खसुव्व उव्वेगं।
संबंधिणो वि ण य विस्संभं मारिंतए जंति ॥७९४॥

'मारणसीलो हु' मारणशील: परहननोद्यतः। राक्षस इव जीवानामुद्वेगं करोति। सम्बन्धिनोऽपि न विस्रम्भं उपयान्ति तस्मिन्वधके ॥७९४॥

वधबंधरोधधणहरणआदणाओ य वेरमिह चेव।
णिव्विसयमभोजित्तं जीवे मारंतगो लभदि ॥७९५॥

मारना नहीं चाहते। सब पूर्व नाना जन्मोमें पिता पुत्र आदि सम्बन्ध जिनके साथ रहा है, उन जीवोंको मारना अनुचित है, यह कहते हैं—

गा०—सब जीवोंके साथ सब जीवोंके सब प्रकारके सम्बन्ध पूर्वभवोंमें रहे हैं। अत. उनको मारनेवाला अपने सम्बन्धीको ही मारता है और सम्बन्धीको मारना लोकमें अत्यन्त निन्दित माना जाता है ॥७९२॥

गा०-टी०—जीवोंका घात अपना ही घात है। और जीवोंपर की गई दया अपनेपर ही की गई दया है। जो एक बार एक जीवका घात करता है वह स्वयं अनेक जन्मोंमें मारा जाता है। और जो एक जीवपर दया करता है वह स्वयं अनेक जन्मोंमें दूसरे जीवोंके द्वारा रक्षा किया जाता है। इसलिए दुःखसे डरनेवाले मनुष्यको विषैले काँटेकी तरह हिंसासे बचना चाहिए ॥७९३॥

इसी जन्ममें हिंसाके दोष दिखलाते हैं—

गा०—जो दूसरोंका घात करनेमें तत्पर होता है उससे प्राणी वैसे ही डरते हैं जैसे राक्षससे। उस हिंसकका विश्वास सम्बन्धीजन भी नहीं करते ॥७९४॥

[1]वध बन्ध उत्कोटकादिकं वधं बन्धं मारणं। रोधनं, धनहरणं। यातनाश्च वैरं विषयाद्द्राडनं अमो-क्षणं च रोषाद्ब्राह्मणादिहननात्। 'मारेत्तणो' हन्त्वा। 'लभदि' लभते ॥७९५॥

कुद्धो परं वधित्ता सयंपि कालेण मरइ जंतेण।
हदघादयाण णत्थि विसेसो मुत्तूण तं कालं ॥७९६॥

[2]'कुद्धो परं वधित्ता'—रुष्ट परं बधित्वा। स्वयमपि कालेन जन्तेण—गच्छता कालेन। मरदि—मृतिमुपैति। 'हदघादगाणं'—हतस्य घातकस्य च। णत्थि विसेसो—नास्ति विशेष। तं कालं मुत्तूण—तं कालं मुक्त्वा। पूर्वमसौ मृतः पश्चात्स्वयमिति ॥७९६॥

अप्पाउगरोगिदयाविरूवदाविगलदा अबलदा य।
दुम्मेहवण्णरसगंधदा य से होइ परलोए ॥७९७॥

'अप्पाउगरोगिदयाविरूवदाविगलदा अबलदा य' अल्पजीवितरोगिता विरूपता, विकलेन्द्रियता दुर्बलता। 'दुम्मेधवण्णरसगंधदा य' दुर्मेधता, दुर्वर्णता, दूरसदुर्गन्धता च। 'से' तस्य। 'होदि' भवति। 'परलोए' जन्मान्तरे ॥७९७॥

मारेदि एयमवि जो जीवं सो बहुसु जम्मकोडीसु।
अवसो मारिज्जंतो मरदि विधाणेहिं बहुएहिं ॥७९८॥

'मारेदि' हन्ति। 'एगमवि' एकमपि। 'जो जीवं' यो जीव। 'सो' सः। 'बहुसु जम्मकोडीसु' बह्वीषु जन्मकोटीषु। 'अवसो मरदि मारिज्जंतो' परवशो मरति मार्यमाणो। 'विधाणेहिं बहुगेहिं' बहुभि प्रकारै-र्मार्यमाणः ॥७९८॥

जावइयाइं दुक्खाइं होंति लोयम्मि चदुगदिगदाइं।
सव्वाणि ताणि हिंसाफलाणि जीवस्स जाणाहि ॥७९९॥

गा०—मारनेवाला इसी जन्ममें वध, बन्ध मारण, धनहरण, अनेक यातनाएँ, बैर, देश निष्कासन तथा क्रोधमें आकर ब्राह्मण आदिकी हत्या करनेपर जातिबहिष्कारका दण्ड पाता है ॥७९५॥

गा०—क्रोधी मनुष्य दूसरेको मारकर समय आनेपर स्वय भी मर जाता है। अत मरने-वाले और मारनेवालेमें कालके सिवाय अन्य भेद नहीं है। पहले वह जिसे मारता है वह मरता है और पीछे स्वयं भी मरता है ॥७९६॥

गा०—हिंसक परलोक अर्थात् जन्मान्तरमें अल्पायु, रोगी, कुरूप, विकलेन्द्रिय, दुर्बल, मूर्ख, बुरेरूप, बुरेरस और दुर्गन्धयुक्त होता है ॥७९७॥

गा०—जो एक भी जीवको मारता है वह करोड़ो जन्मोंमें परवश होकर अनेक प्रकारसे मारा जाकर मरता है ॥७९८॥

---

१. वधं मारणं, बंधं बन्धन, रोधं उत्कं.टादिकं, रोधन धनहरणं रिक्थोद्दालन यातनाश्च कदर्थनानि वैरं—आ० मु०। २. 'कुद्धो परं वधित्ता' क्रुद्धः सन् परमन्य बधित्वा स्वयमपि गच्छता कालेन म्रियते हतघात-कयोर्नास्ति विशेषः—आ० मु०।

'जावदियाइं' यावन्ति । **'दुक्खाइं'** दुःखानि । **'हुंति'** भवन्ति । **'चदुगदिगदाइं'** गतिचतुष्टयगतानि । **'सव्वाणि ताणि' 'हिंसाफलाणि'** सर्वाणि तानि हिंसाफलानि । **'जीवस्स जाणाहि'** जीवस्येति जानीहि ॥७९९॥

का हिंसा नाम यस्या इमे दोषा निरूप्यन्ते इत्याचष्टे—,

हिंसादो अविरमणं वहपरिणामो य होइ हिंसा हु ।
तम्हा पमत्तजोगो पाणव्ववरोवओ णिच्चं ॥८००॥

'हिंसादो अविरमणं' हिंसातोऽविरतिर्हिंसेति सम्बन्धनीयं । प्राणान् प्राणिनो[1] न व्यपरोपयामीति संकल्पाकरणं हिंसा इत्यर्थः । **'वधपरिणामो वा'** हन्मीति एवं परिणामो वा हिंसा । **'तम्हा'** तस्मात् । **'पमत्तयोगो'** प्रमत्तता सम्बन्धः । **पाणव्ववरोवओ** प्राणानपनयति । **'णिच्चं'** नित्यं । विकथा, कषाय इत्येवमादयः पञ्चदशपरिणामा आत्मनो भावप्राणानां परस्य च द्रव्यभावप्राणानां वियोजका इति हिंसेत्युच्यते । तथा चोक्तम्—

रत्तो वा दुट्ठो वा मूढो वा जं पयुंजदि पओगं ।
हिंसा वि तत्थ जायदि तम्हा सो हिंसगो होइ ॥ [ ]

रक्तो द्विष्टो मूढो वा सन् यं प्रयोगं प्रारभते तस्मिन्हिंसा जायते । न प्राणिनः प्राणानां वियोजनमात्रेण । आत्मनि रागादीनामनुत्पादकः सोऽभिधीयते अहिंसक इति । यस्माद्रागाद्युत्पत्तिरेव हिंसा । न हि जीवान्तरगतदेशतया अन्यतमप्राणवियोगापेक्षा हिंसा, तदभावकृता वा अहिंसा, किन्तु आत्मैव हिंसा आत्मा चैव अहिंसा । प्रमादपरिणत आत्मैव हिंसा अप्रमत्त एव च अहिंसा । उक्तं च—

अत्ता चेव अहिंसा अत्ता हिंसत्ति णिच्छओ समये ।
जो होदि अप्पमत्तो अहिंसगो हिंसगो इदरो ॥ [ ]

गा०—इस लोकमे चारों गतियोंमें जितने दुःख होते है वे सब उस जीवकी हिंसाके फल जानो ॥७९९॥

जिसके ये दोष कहे हैं वह हिंसा किसे कहते हैं, यह बतलाते हैं—

गा०-टी०—हिंसासे विरत न होना हिंसा है। अर्थात् 'मै प्राणीके प्राणोंका घात नही करूँगा' ऐसा संकल्प न करना हिंसा है। अथवा 'मै मारूँ' ऐसा परिणाम हिंसा है। इसलिए प्रमादीपना नित्य प्राणोंका घातक है। अर्थात् विकथा कषाय इत्यादि पन्द्रह प्रमादरूप परिणाम अपने भाव प्राणोंके और दूसरेके द्रव्यप्राण तथा भावप्राणोके घातक होनेसे हिंसा कहे जाते है। कहा भी है—

रागी, द्वेषी और मोही होकर जो कार्य करता है उसमें हिंसा होती है। प्राणियोके प्राणोंका घात हो जाने मात्रसे हिंसा नही होती। जो अपने रागादि भावोंको नही करता, उसे अहिंसक कहते हैं, क्योंकि रागादिकी उत्पत्ति ही हिंसा है। अन्य जीवके किसी प्राणके घातकी अपेक्षा हिंसा और उसका घात न होना अहिंसा नहीं है। किन्तु आत्मा ही हिंसा और आत्मा ही अहिंसा है। प्रमादभावसे युक्त आत्मा ही हिंसा है और अप्रमादी आत्मा ही अहिंसा है। कहा है—

निश्चयसे आगममें आत्माको ही अहिंसा और आत्माको ही हिंसा कहा है। जो अप्रमादी आत्मा है वह अहिंसक है और जो प्रमादभावसे युक्त है वह हिंसा है।

---

1. नो व्यपरोपयामीति सकल्पक—आ० मु०।

जीवपरिणामायत्तो बन्धो जीवो मृतिमुपैतु नोपैयाद्वा । तथा चाभाणि—

'अज्झवसिदेण बंधो सत्तो दु मरेज्ज णो मरिज्जेज्ज ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥ [–समय० २६२]

जीवांस्तदीयानि शरीराणि शरीरग्रहणस्थान योनिसंज्ञितं यो च वरोवगो वेत्ति तत्सम्भवकालं तत्पीडा-परिहारेच्छु'रशठस्तपःक्रियायां लोभसत्कारादनपेक्ष्य प्रवृत्तो भवत्यहिंसक । उक्तं च—

णाणी कम्मस्स खयत्थमुट्ठिदो णोट्ठिदो य हिंसाए ।
अददि असढो हि णत्थं अप्पमत्तो अवधगो सो ॥ [ ]

शुभपरिणामसमन्वितस्याप्यात्मनः स्वशरीरनिमित्तान्यप्राणिप्राणवियोगमात्रेण बन्ध स्यान्न कस्यचिन्मुक्तिः स्यात् । योगिनामपि वायुकायिकवधनिमित्तबन्धसद्भावात् । अभाणि च—

जदि सुद्धस्स य बंधो होहिदि बाहिरंगवत्थुजोगेण ।
णत्थि दु अहिंसगो णाम होदि वायादिवधहेदु ॥ [ ]

तस्मान्निश्चयनयाश्रये ण प्राण्यन्तरप्राणवियोगापेक्षा हिंसा ॥८००॥

हिंसागतक्रियाभेदान्निरूपयति—

पादोसिय अधिकरणिय कायिय परिदावणादिवादाए ।
एदे पंचपओगा किरियाओ होंति हिंसाओ ॥८०१॥

जीव मरे या न मरे, जीवके परिणामोंके अधीन बन्ध होता है कहा है—

जीव मरे या न मरे हिंसायुक्त परिणामसे बन्ध होता है। निश्चयनयसे यह जीवके बन्धका सार है।

जीव, उनके शरीर, शरीर ग्रहण करनेके स्थान जिसे योनि कहते हैं, उनका उत्पत्तिकाल, इन सबको जो जानता है और उनकी पीड़ाको दूर करना चाहता है तथा लोभ सन्मान आदिकी अपेक्षा न करके मायाचार रहित तपमें लीन है वह अहिंसक है। कहा है—

ज्ञानी कर्मके क्षयके लिए उद्यत होता है, हिंसाके लिए उद्यत नहीं होता। वह मायाचारसे रहित होता है। अतः अप्रमत्त होनेसे वह अहिंसक है। शुभपरिणामसे युक्त आत्माके भी यदि अपने शरीरके निमित्तसे अन्य प्राणियोंके प्राणोंका घात हो जानेमात्रसे बन्ध हो तो किसीकी मुक्ति ही न हो। क्योंकि योगियोंके भी वायुकायिक जीवोंके घातके निमित्तसे बन्धका प्रसंग आता है वे भी श्वास लेते हैं और उससे वायुकायिक जीवोंका घात होता है। कहा है—

यदि बाह्य वस्तुओंके सम्बन्धसे शुद्धपरिणामवाले जीवके भी बन्ध होता हो तो कोई अहिंसक हो ही नहीं सकता, क्योंकि शुद्धपरिणामीके श्वाससे वायुकायिक जीवोंका वध होता है।

इसलिए निश्चयनयकी दृष्टिसे दूसरे प्राणियोंके प्राणोंके घातकी अपेक्षामात्रसे हिंसा नहीं होती ॥८००॥

हिंसा सम्बन्धी क्रियाओंके भेदोंका कथन करते हैं—

---

१. अज्झवसिदो य बद्धो–आ० मु० । २. रसकृतप –आ० मु० ।

'पादोसियअधिकरणिय कायिय परिदावणादिवादाए' पादोसिय शब्देनेष्टदारवित्तहरणादिनिमित्तः कोपः प्रद्वेष इत्युच्यते। प्रद्वेष एव प्राद्वेषिको यथा विनय एव वैनयिकमिति। हिंसाया उपकरणमधिकरणमित्युच्यते। हिंसोपकरणादानक्रिया आधिकरणिकी। दुष्टस्य सत. कायेन वा चलनक्रिया कायिकी। परितापो दुःखं दुःखोत्पत्तिनिमित्ता क्रिया पारितापिकी। आयुरिन्द्रियबलप्राणानां वियोगकारिणी प्राणातिपातिकी। **'एदे पंच पओगा'** एते पञ्च प्रयोगाः। **'हिंसाकिरियाओ'** हिंसासम्बन्धिन्यः क्रियाः ॥८०१॥

तिहिं चदुहिं पंचहिं वा कमेण हिंसा समप्पदि हु ताहिं।
बंधो वि सिया सरिसो जइ सरिसो काइयपदोसो ॥८०२॥

'तिहिं चदुहिं पंचहिं वा' त्रिभिर्मनोवाक्कायैः, चतुर्भिः क्रोधमानमायालोभैः, पञ्चभिः स्पर्शनादिभिरिन्द्रियैर्वा। **'कमेण हिंसा समप्पदि हु'** क्रमेण हिंसा समाप्तिमुपैति। ताभिर्मनसा प्रद्वेषो वचसा द्विष्टोऽस्मीति वचनं वाग्द्वेष। कायेन मुखवैवर्ण्यादिकरणं कायद्वेष। मनसा हिंसोपकरणादानं, वाचा शस्त्र[2] उपगृह्णामीति हस्तादिताडन इति अधिकरणमपि त्रिविध। मनसा उत्तिष्ठामीति चिन्ता कायक्रिया। वचसा उत्तिष्ठामि इति, हन्तु ताडयितुमिति उक्ति। कायेन चलन कायिकी। मनसा दुःखमुत्पादयामीति चिन्ता, दु.खं भवत करोमि इति उक्तिर्वाचा पारितापिकी क्रिया। हस्तादिताडनेन दु.खोत्पादनं कायेन पारितापिकी क्रिया। प्राणान्वियोजयामीति चिन्ता मनसा प्राणातिपात, हन्मीति वच वाक्प्राणातिपात। कायव्यापारः कायिकप्राणातिपात. क्रोधनिमित्ता कस्मैश्चिदपीति, माननिमित्ता, मायानिमित्ता, लोभनिमित्ता, क्रोधादिना शस्त्रग्रहणं

गा०—'पादोसिय' शब्दसे इष्ट स्त्री, धन हरने आदिके निमित्तसे होनेवाला कोप प्रद्वेष कहलाता है। प्रद्वेष ही प्राद्वेषिक है जैसे विनय ही वैनयिक है। हिंसाके उपकरणको अधिकरण कहते हैं। हिंसाके उपकरणोंका लेन-देन अधिकरणिकी क्रिया है। दुष्टतापूर्वक हलन-चलन कायिकी क्रिया है। परितापका अर्थ दुःख है। दुःखकी उत्पत्तिमें निमित्त क्रिया पारितापिकी है। आयु इन्द्रिय और बल प्राणोंका वियोग करनेवाली क्रिया प्राणातिपातिकी है। पाँच प्रकारकी प्रयोग हिंसासे सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाएँ हैं ॥८०१॥

गा०-टी०—मन वचन काय इन तीनसे, क्रोध मान माया लोभ इन चारसे और स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियोंसे क्रमसे हिंसा होती है। मनसे द्वेष करना, वचनसे मै द्वेषयुक्त हूँ ऐसा कहना वचनद्वेष है। शरीरसे मुखको विकृत आदि करना कायद्वेष है। मनसे हिंसाके उपकरण स्वीकार करना, वचनसे मैं शस्त्र ग्रहण करता हूँ ऐसा कहना, कायसे हाथ आदि भाजना ये अधिकरणके तीन भेद है। मनसे विचारना 'मैं मारनेके लिए उठूँ' वचनसे कहना मैं मारनेके लिए उठता हूँ। और कायसे हलन-चलन ये तीन कायिकी क्रिया है। मनमें चिन्ता करना 'मै दुःख दूँ' यह मानसिक पारितापिकी क्रिया है। आपको दुःख दूँ ऐसा कहना वाचनिक पारितापिकी क्रिया है। हाथ आदिके द्वारा ताडन करनेसे दु.ख देना कायिक पारितापिकी क्रिया है। मै प्राणोंका वियोग करूँ ऐसा चिन्तन करना मानसिक प्राणातिपात है। मैं घात करता हूँ ऐसा कहना वाचनिक प्राणातिपात है। शरीरसे व्यापार करना कायिक प्राणातिपात है। यह किसीमे क्रोधके निमित्तसे, किसीमें मानके निमित्तसे, किसीमें मायाके निमित्तसे और किसीमे लोभके निमित्तसे होता है। क्रोध आदि-

---

१. काये भवा चा—आ०। २. स्त्रं नोप—अ०।

क्रोधादिनिमित्तः कायपरिस्पन्दः। क्रोधादिनिमित्तपरपरितापकरणं, प्राणातिपातो वा क्रोधादिना भवति। स्पर्शनादीन्द्रियनिमित्तो वा प्रद्वेषः, इन्द्रियसुखार्थं वा फलपल्लवप्रसूनादिछेदननिमित्तसाधनोपादानं, तत्सुखार्थमेव विषयप्रत्यासत्तिमभिप्रेत्य यतः कायपरिस्पन्दः। परस्य वा गाढालिङ्गननखक्षतादिना सन्तापकरणं, मांसाद्यर्थं वा प्राणिप्राणवियोजनमिति। किमेताभिर्हिंसाभिः संपाद्यः कर्मबन्धः समान उत न्यूनाधिकभावो बन्धस्येत्याशङ्कायामाचष्टे 'बंधोऽपि' कर्मबन्धोऽपि 'सिया सरिसो' स्यात्सदृशः। कथं ? 'जदि सरिसो' यदि सदृशः। 'कायिकपदोसो' कायिकी क्रिया प्रद्वेषश्च यदि समः स्यात्कारणसामान्यात्कार्यस्यापि बन्धस्य सादृश्यं, अन्यथा न सदृशता। तीव्रमध्यमन्दरूपाः परिणामाः तीव्रं, मध्यं, मन्दं च बन्धमापादयन्ति इति भावः ॥८०२॥

अधिकरणभेदं निरूपयति—

वीसं[1] पलिया पंचेत्थ मोदया चारि पंच दस पलिया।
तिण्णि चदु पंच सत्तमोदय तेसिं पि समो हवे बंधो॥
वीस पल तिण्णि मोदय पण्णरह पला तहेव चत्तारि।
बारह पलिया पंच दु तेसिं पि समो हवे बंधो॥८०३॥
जीवगदमजीवगदं समासदो होदि दुविहमधिकरणं।
अट्ठुत्तरसयभेदं पढमं विदियं चदुब्भेदं॥८०४॥

के वशमें होकर शस्त्र ग्रहण करना क्रोधादि निमित्तसे होने वाला काय परिस्पन्द है। क्रोध आदि-के निमित्तसे दूसरोंको दुःख देना अथवा प्राणोंका घात करना क्रोध आदिसे होता है। अथवा स्पर्शन आदि इन्द्रियोंके निमित्तसे प्रद्वेष होता है। इन्द्रिय सुखके लिए फल, पत्र, फूल आदि तोड़नेके लिए उसके साधन ग्रहण किये जाते हैं। इन्द्रिय सुखके लिए ही विषयोंको स्वीकार किया जाता है, शरीरसे हलन-चलन किया जाता है, गाढ़ आलिंगन तथा नख द्वारा नोचना आदिसे दूसरोंको सताप दिया जाता है। अथवा मास आदिके लिये प्राणीके प्राणोंका घात किया जाता है।

इस प्रकार प्राद्वेषिकी क्रिया, आधिकरिणिकी क्रिया, कायिकी क्रिया, पारितापिकी क्रिया और प्राणातिपातिकी क्रिया मन वचन काय, क्रोध मान माया लोभ और स्पर्शन रसन घ्राण, चक्षु श्रोत्रसे होती हैं।

शङ्का—इन क्रियाओंसे होने वाला कर्मबन्ध समान होता है या हीनाधिक होता है ?

समाधान—यदि कायिकी क्रिया और प्रद्वेष समान होता है तो समान कर्मबन्ध होता है। क्योंकि कारणमें समानता होनेसे कार्य बन्धमें भी समानता होती है, अन्यथा समानता नहीं होती। तीव्र मध्य या मन्दरूप परिणामोंसे तीव्र मध्य या मन्द बन्ध होता है॥८०२॥

अधिकरणके भेद कहते हैं—

[गाथा ८०३ दो रूपोमें मिलती है किन्तु उसका भाव स्पष्ट नहीं होता। पं० सदासुखजीने भी ऐसा ही लिखा है। अतः इनका अर्थ नहीं किया। किसी टीकाकारने भी इसकी व्याख्या नहीं की।]

1. आ० प्रति में दोनों गाथायें है न० दोनों पर ९६ ही है।

'जीवगदमजीवगदं इति' जीवगत इति जीवपर्याय उच्यते । न हि जीवद्रव्यत्वमात्रमेव हिंसाया उपकरणं भवति । किन्तु जीवस्य पर्यायः आत्मनस्य हिंसादेर्जीवपरिणामो युक्तोऽभ्यन्तरकारणं । अजीवगतः पर्यायः द्रव्यस्याश्रयः सदा सन्निहितकार्यः स्यात्कादाचित्कता कथमिव प्रम्पादयति । पर्यायस्तु स्वकारणसान्निध्यात्कदाचिदेवेति । यदा स्वयं सन्ति सन्निहितसहकारिकारणास्तदैव स्वकार्यं कुर्वन्ति नान्यदेति युक्ता कादाचित्कता कार्यस्येति भावः । 'समासदो दुविधमधिकरणं' संक्षेपतो द्विविधं हिंसाधिकरणं 'अट्ठुत्तरसदभेदं' अष्टोत्तरशतभेदं । 'पढमं जीवगदमधिकरणं' प्रथमं जीवगतमधिकरणं । 'विदियं' द्वितीयं अजीवगतमधिकरणं 'चदुब्भेदं' चतुर्विकल्पं ॥८०४॥

प्रथमस्य भेदान्निरूपयति—

संरंभसमारंभारंभं जोगेहिं तह कसाएहिं ।
कदकारिदाणुमोदेहिं तहा गुणिदा पढमभेदा ॥८०५॥

'संरंभसमारंभारंभजोगेहिं तह कसाएहिं' प्राणव्यपरोपणादौ प्रमादवतः संरम्भः । साध्याया हिंसादिक्रियायाः साधनानां समाहारः समारम्भः । सञ्चितहिंसाद्युपकरणस्य आद्यः प्रक्रम आरम्भः । योगशब्देन मनोवाक्कायव्यापारा उच्यन्ते । एतैः संरम्भसमारम्भारम्भयोगैः । 'तधा' तथा 'कसाएहिं' कषायैः 'कदकारिदाणुमोदेहिं' कृतकारितानुमोदितैः । 'तहा गुणिदा' तथा गुणिताः । 'पढमभेदा' जीवाधिकरणभेदाः । प्रयत्नपूर्वकत्वाच्चेतनावतो व्यापारस्यादौ संरंभस्य वचनं । अनुपाया साध्यसिद्धिर्न भवति प्रयत्नवतोऽपि ततः साधनसमाहरणं प्रयत्नादनन्तरमिति समारम्भो युक्तः । साध्यं पुनः उपसाधनसंहृतौ सत्यां प्रक्रमते क्रियामिति आरम्भः

गा०–टी०—अधिकरणके दो भेद हैं—जीवगत और अजीवगत । जीवगतका अर्थ है जीवपर्याय । केवल जीवद्रव्य हिंसामे सहायक नहीं होता किन्तु जीवकी पर्याय होती है । हिंसा आदिसे युक्त जीवका परिणाम हिंसाका अभ्यन्तर कारण होता है । इसी तरह अजीवगतसे अजीवपर्याय लेना चाहिए; क्योंकि अजीवद्रव्य तो सदा रहनेसे सदा कार्यकारी रहता है अतः कार्य सदा होता रहेगा । किन्तु पर्याय तो अपने कारणोंके होने पर ही होती है अतः कदाचित् होती है । जब सहकारी कारण होते हैं तभी अपना कार्य करते हैं, अन्य कालमे नहीं करते । अतः कार्य सदा न होकर कदाचित् होता है ।

इस तरह संक्षेपसे अधिकरणके दो भेद हैं । उनमेसे प्रथम जीवाधिकरणके एक सौ आठ भेद हैं और दूसरे अजीवाधिकरणके चार भेद हैं ॥८०४॥

जीवाधिकरणके भेद कहते हैं—

गा०–टी०—प्राणोंके घात आदिमें प्रमाद युक्त व्यक्ति जो प्रयत्न करता है वह संरंभ है । साध्य हिंसा आदि क्रियाके साधनोंको एकत्र करना समारंभ है । हिंसा आदिके उपकरणोंका संचय हो जाने पर हिंसाका आरम्भ करना आरम्भ है । योग शब्दसे मन वचन और कायका व्यापार लिया गया है । इन संरंभ, समारम्भ, आरम्भको, योग, कषाय और कृत कारित अनुमोदनासे गुणा करने पर जीवाधिकरणके भेद होते हैं ।

चेतन जीवका व्यापार प्रयत्नपूर्वक होता है इसलिए प्रथम संरम्भ कहा है । प्रयत्न करनेपर भी उपायोंके बिना कार्यसिद्धि नहीं होती, अतः संरम्भके पश्चात् समारम्भ कहा है । साधनोंके एकत्र होनेपर कार्य प्रारम्भ होता है । अतः समारम्भके पश्चात् आरम्भको रखा है । जीवके द्वारा

पश्चादुपन्यस्तः । स्वातन्त्र्यविशिष्टेन आत्मना यत् क्रियते तत् कृतं । परस्य प्रयोगमपेक्ष्य सिद्धिमुपयाति यत्तत्कारितं । स्वयं न करोति न च कारयति, किन्त्वभ्युपैति यत्तदनुमननं अभ्युपगमः । तत्र संरंभस्तावदुच्यते क्रोधनिमित्तं स्वतन्त्रस्य हिंसाविषय प्रयत्नावेश. क्रोधकृतकायसंरम्भः । मानकृतकायसंरम्भ', मायाकृतकायसंरम्भः, लोभकृतकायसंरम्भः । क्रोधकारितकायसंरम्भ., मानकारितकायसरम्भः मायाकारितकायसंरम्भः, लोभकारितकायसंरम्भः । क्रोधानुमतकायसरम्भः, मानानुमतकायसंरम्भः, मायानुमतकायसंरम्भः, लोभानुमतकायसंरम्भः । इति द्वादशधा संरम्भः । क्रोधकृतकायसमारम्भः, मानकृतकायसमारम्भः, मायाकृतकायसमारम्भ , लोभकृतकायसमारम्भ. । क्रोधकारितकायसमारम्भ , मानकारितकायसमारम्भ । मायाकारितकायसमारम्भ., लोभकारितकायसमारम्भ. । क्रोधानुमतकायसमारम्भः, मानानुमतकायसमारम्भ., मायानुमतकायसमारम्भः, लोभानुमत कायसमारम्भ. इति द्वादशधा समारम्भ । क्रोधकृतकायारम्भ., मानकृतकायारम्भ., मायाकृतकायारम्भ', लोभकृतकायारम्भः । क्रोधकारितकायारम्भ मानकारितकायारम्भ , मायाकारितकायारम्भ , लोभकारितकायारम्भ । क्रोधानुमतकायारम्भ', मानानुमतकायारम्भ , मायानुमतकायारम्भ., लोभानुमतकायारम्भश्च । इत्येव आरम्भोऽपि द्वादशधा । एव सपिंडिता. कायारम्भा षट्त्रिंशत् । एते सपिण्डिता. जीवाधिकरणास्रवभेदा अष्टोत्तरशतसख्या भवन्ति ॥८०५॥

संरंभो संकप्पो परिदावकदो हवे समारंभो ।
आरंभो उद्दवओ सव्वणयाणं विसुद्धाणं ॥८०६॥

स्वतन्त्रता पूर्वक जो किया जाता है वह कृत है । जो दूसरेके द्वारा सिद्ध होता है वह कारित है । न स्वयं करता है न कराता है किन्तु जो करता है उसे स्वीकार करता है वह अनुमत है । इनमेसे संरम्भके भेद कहते हैं—

क्रोधके निमित्तसे स्वतन्त्रता पूर्वक हिंसा विषयक प्रयत्न करना क्रोध कृत काय संरम्भ है । इसी तरह मान कृत काय संरम्भ, मायाकृत काय सरम्भ, लोभकृत काय संरम्भ, क्रोध कारित काय संरम्भ, मान कारित काय संरम्भ, माया कारित काय सरम्भ, लोभ कारित काय संरम्भ । क्रोधानुमत काय सरम्भ, मानानुमत काय सरम्भ, मायानुमत काय सरभ, लोभानुमत काय सरम्भ इस तरह बारह प्रकारका संरम्भ है । क्रोधकृत काय समारम्भ, मानकृत काय समारम्भ, मायाकृत काय समारम्भ, लोभ कृत काय समारम्भ । क्रोध कारित काय समारम्भ, मान कारित काय समारम्भ, माया कारित काय समारम्भ, लोभ कारित काय समारम्भ । क्रोधानुमत काय समारम्भ, मानानुमत काय समारम्भ, मायानुमत काय समारम्भ, लोभानुमत काय समारम्भ । इस तरह बारह प्रकारका समारम्भ है । क्रोधकृत काय आरम्भ, मानकृत काय आरम्भ, मायाकृत काय आरम्भ, लोभकृत काय आरम्भ, क्रोध कारित काय आरम्भ, मान कारित काय आरम्भ, माया कारित काय आरम्भ, लोभ कारित काय आरम्भ, क्रोधानुमत काय आरम्भ, मानानुमत काय आरम्भ, मायानुमत काय आरम्भ, लोभानुमत काय आरम्भ । इस प्रकार आरम्भ भी बारह प्रकारका है । ये मिलकर कायारम्भके छत्तीस भेद होते हैं । छत्तीस ही भेद वचन सम्बन्धी आरम्भके और छत्तीस ही भेद मन सम्बन्धी आरम्भके होते हैं । ये सब मिलकर जीवाधिकरण सम्बन्धी आस्रवके एक सौ आठ भेद होते है ॥८०५॥

गा०—संकल्पको संरम्भ कहते हैं । संताप देनेको समारम्भ कहते हैं और आरम्भ सब

अजीवाधिकरणस्य चतुरो भेदानाचष्टे—

णिक्खेवो णिव्वत्ति तहा य संजोयणा णिसग्गो य ।
कमसो चदु दुग दुग तिय भेदा होंति हु विदियस्स ॥८०७॥

'णिक्खेवो णिव्वत्ति तहा य संजोयणा णिसग्गो य' निक्षेपो निर्वर्तना संयोजना निसर्ग इति । 'कमसो' यथासंख्येन । 'चदु दुग दुग तिय भेदा' निक्षेपश्चतुःप्रकारः । निर्वर्तना द्विप्रकारा । संयोजना द्विप्रकारा । निसर्गस्त्रिविध इति सम्बध्यते ॥८०७॥

निक्षेपस्य चतुरो विकल्पानाचष्टे—

सहसाणाभोगिय दुप्पमज्जिद अपच्चवेक्खणिक्खेवो ।
देहो य दुप्पउत्तो तहोवकरणं च णिव्वत्ति ॥८०८॥

'सहसाणाभोगियदुप्पमज्जिद अपच्चवेक्खणिक्खेवो' सहसानिक्षेपाधिकरणं, अनाभोगनिक्षेपाधिकरणं, दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरणं, अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरणं चेति । निक्षिप्यते इति निक्षेपः । उपकरणं पुस्तकादि, शरीरं, शरीरमलानि वा सहसा शीघ्रं निक्षिप्यमाणानि भयात् कुतश्चित्कार्यान्तरकरणप्रयुक्तेन वा त्वरितेन षड्जीवनिकायबाधाधिकरणतां प्रतिपद्यन्ते । असत्यामपि त्वरायां जीवाः सन्ति न सन्तीति निरूपणामन्तरेण निक्षिप्यमाणं तदेवोपकरणादिकं अनाभोगनिक्षेपाधिकरणमुच्यते । दुष्प्रमृष्टमुपकरणादि निक्षिप्यमाणं दुष्प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरणं स्थाप्यमानाधिकरणं वा दुष्प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरणं । प्रमार्जनोत्तरकाले जीवाः सन्ति न सन्तीति अप्रत्यवेक्षितं यन्निक्षिप्यते तदप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरणं । निर्वर्तनाभेदमाचष्टे—'देहो य दुप्पउत्तो' दुःप्रयुक्तं शरीरं हिंसोपकरणतया निर्वर्त्यते इति निर्वर्तनाधिकरणं भवति । उपकरणानि च सच्छिद्राणि यानि जीवबाधा-

---

विशुद्ध व्रतोंका घातक है ॥८०६॥

अजीवाधिकरणके चार भेदोंको कहते हैं—

गा०—अजीवाधिकरणके चार भेद हैं—निक्षेप, निर्वतना, संयोजना और निसर्ग । क्रमानुसार निक्षेपके चार भेद हैं । निर्वतनाके दो भेद हैं । संयोजनाके दो भेद है और निसर्गके तीन भेद हैं ॥८०७॥

निक्षेपके चार भेद कहते हैं—

गा०-टी०—निक्षेपके चार भेद हैं—सहसानिक्षेपाधिकरण, अनाभोगनिक्षेपाधिकरण, दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण और अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण । रखनेको निक्षेप कहते हैं । उपकरण, पुस्तक आदि, शरीर अथवा शरीरके मल भयसे अथवा किसी अन्य कारणान्तरसे सहसा शीघ्र रखनेसे त्यागनेसे छहकायके जीवोंकी बाधाके आधार हो जाते है । यह सहसानिक्षेपाधिकरण है । जल्दी नहीं होनेपर भी 'पृथ्वी आदिपर जन्तु हैं या नहीं' यह देखे बिना ही उपकरण आदिको रखना अनाभोगनिक्षेपाधिकरण है । उपकरण आदिको असावधानतासे या दुष्टतासे साफ करके रखना अथवा जिस स्थानपर उन्हें रखना है उस स्थानकी दुष्टतासे सफाई करना, जिससे जीवोंको कष्ट पहुंचे, दुष्प्रमृष्ट निक्षेपाधिकरण है । स्थानकी सफाई करनेके पश्चात् वहाँ जीव हैं या नहीं यह देखे बिना उपकरणादि रखना अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण है । दुष्प्रयुक्त शरीर–शरीरकी असावधानतापूर्वक प्रवृत्ति हिंसाका कारण होती है उसे निर्वतनाधिकरण कहते हैं । छिद्रवाले

निमित्तानि निर्वर्त्यन्ते तान्यपि निर्वर्तनाधिकरणं । यस्मिन्सौवीरादिभाजने प्रविष्टा म्रियन्ते ॥८०८॥

संजोयणमुवकरणाणं च तहा पाणभोयणाणं च ।
दुट्ठणिसिट्ठा मणवचिकाया भेदा णिसग्गस्स ॥८०९॥

'संजोजणमुवकरणाणं' उपकरणानां पिच्छादीनां अन्योन्येन संयोजना । शीतस्पर्शस्य पुस्तकस्य कमण्डल्वादेर्वा आतपादितप्तेन पिच्छेन प्रमार्जनं इत्यादिकं । **'तहा'** तथा । **'पाणभोजणाणं च'** पानभोजनयोश्च पानं पानेन, पानं भोजनेन, भोजनं भोजनेन, भोजनं पानेनेत्येवमादिकं संयोजनं यस्य सम्मूर्च्छनं सम्भवति सा हिंसाधिकरणत्वेनात्रोपात्ता न सर्वा । **'दुट्ठुणिसिट्ठा मणवचिकाया'** दुष्टप्रवृत्ता मनोवाक्कायप्रभेदा निसर्गशब्देनोच्यन्ते ॥८०९॥

अहिंसारक्षणोपायमाचष्टे—

जं जीवणिकायवहेण विणा इंदियकयं सुहं णत्थि ।
तम्हि सुहे णिस्संगो तम्हा सो रक्खदि अहिंसा ॥८१०॥

'जं जीवणिकायवहेण' यस्माज्जीवनिकायघातं विना । **'इंदियसुहं'** इन्द्रियसुखं नास्ति । स्त्रीवस्त्रगन्धमाल्यादिसेवा विचित्रा जीवनिकायपीडाकारिणी आरम्भेण महतोपार्जनीयत्वात् । तस्मिन्निन्द्रियसुखे । णिस्संगो यस्स पात्यहिंसां नेन्द्रियसुखार्थी । तस्मादिन्द्रियसुखादरं मा कृथा इत्युपदिशति सूरि. ॥८१०॥

उपकरण जो जीवोको बाधा पहुंचाते हैं उनकी निर्वर्तना—रचना करना भी निर्वर्तनाधिकरण है । जैसे कांजी आदि रखनेके ऐसे सछिद्रपात्र बनाना जिसमें प्रविष्ट जीव मर जाते हैं ।

विशेषार्थ—सर्वार्थसिद्धिमे पूज्यपाद स्वामीने निर्वर्तनाधिकरणके दो भेद कहे हैं एक मूलगुणनिर्वर्तना, एक उत्तरगुण निर्वर्तना । शरीर वचन मन, उच्छ्वास निश्वासकी रचना मूलगुण निर्वर्तना है । लकड़ीके पट्टपर चित्रकर्म आदि रचना करना उत्तर गुणनिर्वर्तना है । इन क्रियाओसे जीवोंको कष्ट पहुँचता है । चित्रकर्ममें छेदन-भेदनकी भावना उत्पन्न होती है ॥८०८॥

संयोजनाधिकरण और निसर्गाधिकरणका स्वरूप कहते हैं—

गा०-टी०—पिच्छी आदि उपकरणोंको परस्परमे मिलाना । जैसे शीतस्पर्शवाली पुस्तक अथवा कमंडलु आदिको धूपसे तप्त पीछीसे साफ करना उपकरण संयोजना है । एक जलमें दूसरा जल मिलाना, एक भोजनमें दूसरा भोजन मिलाना अथवा भोजनमें पेय मिलाना आदि भक्तपान संयोजना है । यहाँ इतना विशेष जानना कि जिस पेय या भोजनमे सम्मूर्च्छन जीव होते है उसे ही हिंसाका अधिकरण स्वीकार किया है, सबको नहीं । दुष्टतापूर्वक मन वचन कायकी प्रवृत्तिको निसर्गाधिकरण कहते हैं ॥८०९॥

अहिंसाकी रक्षाके उपाय कहते हैं—

गा०-टी०—यत छहकायके जीवोंकी हिंसाके विना इन्द्रियजन्य सुख नही होता । विचित्र प्रकारके स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला आदिका सेवन जीवोंको पीड़ा करनेवाला होता है क्योंकि बहुत आरम्भसे उसकी प्राप्ति होती है । अत: जो इन्द्रियजन्य सुखमें आसक्त नहीं है वही अहिंसा की रक्षा करता है । जो इन्द्रिय सुखका अभिलाषी है वह नहीं रक्षा करता । अत: आचार्य कहते हैं कि इन्द्रियसुखका आदर मत करो ॥८१०॥

हिंसा कषायैः प्रवर्त्यते, ततोऽहिंसामिच्छता एते परिहर्तव्या इत्युत्तरसूत्रार्थः—

जीवो कसायबहुलो संतो जीवाण घायणं कुणइ ।
सो जीववहं परिहरइ सया जो णिज्जियकसाओ ॥८११॥

प्रमादो हिंसायाः प्रवर्तकः स परित्याज्योऽहिंसाव्रतार्थिना इति गाथार्थः—

आदाणे णिक्खेवे वोसरणे ठाणगमणसयणेसु ।
सव्वत्थ अप्पमत्तो दयावरो होइ हु अहिंसो ॥८१२॥

काएसु णिरारंभे फासुगभोजिम्मि णाणरइयम्मि ।
मणवयणकायगुत्तिम्मि होइ सयला अहिंसा हु ॥८१३॥

परित्यक्तारम्भे च प्रासुकभोजिनि ज्ञानभावनासहितमनसि गुप्तित्रयोपेते सम्पूर्णा भवत्यहिंसा इति सूत्रार्थः ॥८१३॥

आरंभे जीववहो अप्पासुगसेवणे य अणुमोदो ।
आरंभादीसु मणो णाणरदीए विणा चरइ ॥८१४॥

पृथिव्यादिविषयो व्यापार आरम्भः । तस्मिन्सति तदाश्रयप्राण्युपद्रव इति जीववधो भवति । उद्गमादिदोषोपहतस्य आहारस्य भोजने जीवनिकायवधानुमोदो भवति । ज्ञानरतिमन्तरेण आरम्भे कषाये च मनः प्रवर्तते ॥८१४॥

तम्हा इहपरलोए दुक्खाणि सदा अणिच्छमाणेण ।
उवओगो कायव्वो जीवदयाए सदा मुणिणो ॥८१५॥

हिंसा कषायसे होती है। अतः अहिंसाके अभिलाषीको कषाय त्यागना चाहिए, यह कहते हैं—

गा०—जो जीव कषायकी अधिकता रखता है वह जीवोंका घात करता है। और जो कषायोंको जीत लेता है वह सदा जीवोंकी हिंसासे दूर रहता है। अतः प्रमाद हिंसाका कारण है। अहिंसाव्रतके अभिलाषीको प्रमादको त्यागना चाहिए ॥८११॥

गा०—उपकरणोंको ग्रहण करनेमें, रखनेमें, उठने बैठने, चलने और शयनमें जो दयालु सर्वत्र यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है वह अहिंसक होता है ॥८१२॥

गा० जो आरम्भका त्यागी है, प्रासुक भोजन करता है, ज्ञानभावनामें मनको लगाता है और तीन गुप्तियोंका धारी है वही सम्पूर्ण अहिंसाका पालक है यह उक्त गाथासूत्रका अर्थ है ॥८१३॥

गा०-टी०—पृथिवी आदिके विषयमें जो खोदना आदि व्यापार किया जाता है उसे आरम्भ कहते हैं। उसके करने पर पृथिवी आदिमें रहने वाले जीवोंका घात होता है। उद्गम आदि दोषोंसे युक्त आहार ग्रहण करने पर जीव समूहके वधकी अनुमोदना होती है, ज्ञानमें लीनता न होने पर आरम्भ और कषायमें मनकी प्रवृत्ति होती है ॥८१४॥

तम्हा तस्मात् । आरम्भो भवता त्याज्यः, प्रासुकभोजनं भोज्यं, ज्ञाने अरतिश्च अपाकार्या इति क्षपक-शिक्षा । अहिंसा जीवदया तस्याः फलमुपवर्णयति—तम्हा इत्यनया उभयलोकगतदुःखपरिहारमिच्छता दया-भावना कार्या इति कथयति क्षपकस्य ॥८१५॥

स्वल्पकालवर्त्यपि अहिंसाव्रतं करोत्यात्मनो महान्तमुपकारमित्याख्यान कथयति—

पाणो वि पाडिहेरं पत्तो छूढो वि सुंसुमारहदे ।
एगेण एक्कदिवसकदेण हिंसावदगुणेण ॥८१६॥

'पाणो वि' चण्डालोऽपि 'पाडिहेरं' प्रातिहार्यं 'पत्तो' प्राप्त. । 'सुंसुमारहदे छूढो' शिशुमाराकुले न्हदे निक्षिप्तोऽपि । 'एक्केण हिंसावदगुणेण' एकेनैव अहिंसाव्रताख्येन गुणेन । 'अप्पकालकदेण' अल्पकालकृतेन । अहिंसा ॥८१६॥

द्वितीयव्रतनिरूपणाय उत्तरप्रबन्धः—

परिहर असंतवयणं सव्वं पि चदुव्विधं पयत्तेण ।
धत्तं पि संजमित्तो भासादोसेण लिप्पदि हु ॥८१७॥

'परिहर' परित्यज । 'असंतवयणं' असद् अशोभनं वचनं । यत्कर्मबन्धनिमित्त वचस्तदशोभनं । तथा चोक्तं—'असदभिधानमनृतं [त० सू० ७] । ननु वचनमात्मपरिणामो न भवति । द्रव्यान्तरं हि तत्पुद्गलाख्यं, आत्मपरिणामो हि परित्याज्यो यो बन्धस्य बन्धस्थितेर्वा निमित्तभूतो मिथ्यात्वमसयम कषायो योग इत्येवं-प्रकारः । तस्मादसद्वचनपरिहारोपदेशोऽनुपयोगी कस्मात्कृत इति अत्रोच्यते— असंयमो हि त्रिप्रकारः कृतः

गा०—अतः इस लोक और परलोकमें दुःखको नही चाहने वाले मुनिजनोको सदा जीव दयामें उपयोग लगाना चाहिए और उसके लिए आरम्भ त्यागना चाहिए, प्रासुक भोजन करना चाहिए और ज्ञानमें मन लगाना चाहिए। आचार्य क्षपकको यह उपदेश करते हैं ॥८१५॥

थोड़े समयके लिए पाला गया भी अहिसा व्रत आत्माका महान् उपकार करता है यह दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

गा०—यमपाल चण्डाल भी एक चतुर्दशीके दिन किसोको फाँसी न देनेके एक अहिंसाव्रतके गुणसे मगरमच्छोंसे भरे तालाबमें फेक दिए जाने पर प्रातिहार्यको प्राप्त हुआ—देवोने उसकी पूजा की ॥८१६॥

अहिंसाव्रतका कथन समाप्त हुआ ।

दूसरे सत्यव्रतका कथन आगे करते हैं—

गा०-टी०—असत् अर्थात् अशोभन वचन मत बोलो । जो वचन कर्मबन्धमें निमित्त होता है उसे अशोभन कहते हैं । कहा है—असत् वचन बोलना असत्य है ।

शंका—वचन आत्माका परिणाम नही हैं, पुद्गल नामक अन्य द्रव्य है । कर्मबन्ध या कर्म स्थितिके बन्धमें निमित्त मिथ्यात्व, असंयम, कषाय योग, इस प्रकारका आत्मपरिणाम त्यागने योग्य है । अतः असत् वचनके त्यागका उपदेश उपयोगी नहीं है उसे क्यों कहा ?

कारितोऽनुमतश्च। इममस्मिन्नसंयमे प्रवर्तयामि अनेन वचनेन प्रवृत्तं वानुजानामि। इत्यभिसन्धिमन्तरेण[1] तस्य वचनस्याप्रवृत्तेस्तद्वचनकारणभूतोऽभिसन्धिरात्मपरिणामो भवति कर्मनिमित्तमिति परिहार्यस्तस्य परिहारे तत्कार्यं वचनमपि परिहृतं भवति। न ह्यसति कारणे कार्यप्रतिपत्तिरित्यसद्वचनपरिहारोऽनेन क्रमेणोपन्यस्त इति। स्वयमसद्वचनैकदेशपरिहारेऽप्यपहृतमसद्वचनं भवति इत्याशङ्कां परिहरति सर्वमिति चतुर्विधमिति तदीय-भेदोपन्यासः। 'पयत्तेणेति' तत्र अप्रमत्ततामुपदिशति। 'बत्तं पि संजमंतो' नितरामपि संयममाचरन्नपि। 'भासादोसेण' भाषावचनं तन्निमित्तत्वाद्वाग्योगाख्य आत्मपरिणामो भाषाशब्देनोच्यते। भाषादुष्टः भाषादोषः। वाग्योगेन दुष्टेन निमित्तेन जातं यत्कर्म तेन। 'लिप्पदि' लिप्यत एव संबध्यत एव आत्मा। एतेन कर्मबन्ध-निमित्ततादोषकथनेन असद्वचनपरिहारे दाढर्यं करोति क्षपकस्य ॥८१७॥

प्रतिज्ञातं चातुर्विध्यं व्याचष्टे—

पढमं असंतवयणं संभूदत्थस्स होदि पडिसेहो।
णत्थि णरस्स अकाले मच्चुत्ति जधेवमादीयं ॥८१८॥

'पढमं असंतवयणं' चतुर्षु आद्यमसद्वचनं 'संभूदत्थस्स होदि पडिसेहो' सतोऽर्थस्य प्रतिषेधः। सतां[2] सतो न वचनं असद्वचनमित्येकोऽर्थः। तस्योदाहरणमाह—'णत्थि णरस्स अकाले मच्चुत्ति' एवमादिकं नास्त्यकाले मनुष्यस्य मृतिरिति एवमादिकं वचनं। आयुषः स्थितिकालः काल इत्युच्यते। तस्मात्कालादन्य कालोऽकालः। तस्मिन्नकाले। ननु च भोगभूमिनराणामनपवर्त्यमायुरत अकाले मरणं नास्त्येव अतो युक्तमुच्यते णत्थि णरस्स

समाधान—असंयमके कृत कारित और अनुमतके भेदसे तीन प्रकार हैं। इस पुरुषको इस असंयममें प्रवृत्त करता हूं अथवा असंयममें प्रवृत्त पुरुषकी इस वचनके द्वारा अनुमोदना करता हूं। इस अभिप्रायके बिना उस प्रकारका वचन नहीं बोला जाता। अतः उस प्रकारके वचनमें कारण-भूत आत्मपरिणाम कर्मबन्धमें निमित्त होता है अतः त्यागने योग्य है। उस परिणामके त्यागने पर उसका कार्य वचन भी त्यागा जाता है, क्योंकि कारणके अभावमें कार्य नहीं होता। इसलिए असत् वचनका त्याग कहा है। यदि कोई असत् वचनके एक देशका त्याग करे तब भी असत् वचनका त्याग हो जाता है क्या ? ऐसी आशंकाका परिहार करते हैं कि चारों ही प्रकारके असत्य वचनका त्याग प्रमाद छोड़कर करना चाहिए। क्योंकि अतिशय युक्त संयमका आचरण करता हुआ भी भाषादोषसे कर्मसे लिप्त होता है। यहाँ निमित्त होनेसे भाषा शब्दसे वचन योग रूप आत्मपरि-णाम कहा है। दुष्ट भाषाको भाषा दोष कहते हैं। अतः दुष्ट वचनयोगके निमित्तसे जो कर्म बन्ध होता है उससे आत्मा लिप्त होता है। इससे असत्य वचनको कर्मबन्धमें निमित्त होनेका दोष बतलाकर उसके त्यागमें क्षपकको दृढ़ करते हैं ॥८१७॥

असत्य वचनके चार भेद कहते हैं—

गा०-टी०—चार भेदोंमें सद्भूत अर्थका निषेध करना प्रथम असत्य वचन है। जैसे मनुष्य-की अकालमें मृत्यु नहीं होती इत्यादि वचन। आयुके स्थिति कालको काल कहते हैं। उस काल-से अन्य कालको अकाल कहते हैं। उसमें मरण नहीं होता। ऐसा कहना सद्भूतका निषेध रूप असत्य वचन है।

शङ्का—भोगभूमिके मनुष्योंकी आयु अनपवर्त्य होती है अतः मनुष्योंका अकालमें मरण

---

१. न वास्य—आ० मु०। २. सतां सदेतत् वचनं सद्वचनमि—आ०। सतां सतो नमस—अ०।

सकाले मच्चुत्ति । नरशब्दस्य सामान्यवाचित्वात्सर्वनरविषयः अकालमरणाभावोऽयुक्तः केषुचित्कर्मभूमिजेषु तस्य सतो निषेधादित्यभिप्रायः ॥८१८॥

अहवा सयबुद्धीए पडिसेधे खेत्तकालभावेहिं ।
अविचारिय णत्थि इह घडोत्ति तह एवमादीयं ॥८१९॥

'अथवा विचारबुद्धीए पडिसेधे खेत्तकालभावेहिं अविचारिय भावमिति शेषः' । स्वबुद्ध्या क्षेत्रकालभावैरभावमविचार्यमाणं अत्र नास्ति इदानी न विद्यते, [1]शुक्ल.कृष्णो न वेत्यनिरूप्य घटस्य भाव इत्थं अनेन-प्रकारेण 'णत्थि घडो जह एवमादियं' नास्ति घट इत्येवमादिक । सतो घटस्य अविशेषेण असंतवचनं असद्वचन-मित्युदाहरणान्तरमिदं ॥८१९॥

जं असभूदुब्भावणमेदं विदियं असंतवयणं तु ।
अत्थि सुराणमकाले मच्चुत्ति जहेवमादीयं ॥८२०॥

'जं असमूदुब्भावणमेदं विदियं असंतवयणं तु' यदसदुद्भावनं द्वितीयं असद्वचस्तस्योदाहरणमुत्तरं । 'अत्थि सुराणमकाले मच्चुत्ति जहेवमादीय' सुराणामकाले मृत्युरस्तीत्येवमादिक यथा असदेव अकालमरणमने-नोच्यते इत्यसद्वचनम् ॥८२०॥

नहीं होता अतः उक्त कथन उचित ही है ।

समाधान—गाथामें आगत 'नर' शब्द सामान्यवाची होनेसे सभी मनुष्योंके अकालमरण-का अभाव कहना अयुक्त है । किन्ही कर्मभूमिज मनुष्योंमें अकाल मरण होता है अत सत्का निषेध करनेसे उक्त कथनको असत्य कहा है ॥८१८॥

गा०—अथवा क्षेत्रकालभावसे अभावका विचार न करके—घट यहाँ नही है, इस समय नहीं है, या सफेद अथवा कृष्णरूप नही है, ऐसा न विचारकर अपनी बुद्धिसे घटका सर्वथा अभाव कहना असत्य वचन है ॥८१९॥

विशेषार्थ—किसी वस्तुका निषेध या विधि द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षासे होती है । न तो वस्तुका सर्वथा निषेध होता है और न सर्वथा विधि होती है । प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा अस्तिरूप है और परद्रव्य क्षेत्रकालभावकी अपेक्षा अस्तिरूप है जैसे घट अपने द्रव्यकी अपेक्षा अस्तिरूप है और अन्य घटोकी अपेक्षा नास्तिरूप हैं । तथा जिस क्षेत्रमें वह घट है उस क्षेत्रमें अस्तिरूप है, अन्य घटोके क्षेत्रमे नास्तिरूप है । जिस कालमे है उस कालमे अस्तिरूप है, अन्यकालोमें नास्तिरूप है । जिस भावमे स्थित है उस भावसे अस्तिरूप है अन्यभावकी अपेक्षा नास्तिरूप है । ऐसे द्रव्य क्षेत्र काल भावका विचार किये विना यह कह देना कि घट नही है यह असत्यवचनका दूसरा उदाहरण है ॥८१९॥

गा०—जो नही है उसे 'है' कहना दूसरा असत्यवचन है । जैसे देवोंके अकालमें मरण होता है ऐसा कहना । किन्तु देवोंमें अकालमरण नही होता । अतः यह असत्का उद्भावन करनेसे असत्यवचन है ॥८२०॥

---

१. शुक्ल कृष्णो भवत्यनिरूप्य–आ० ।

अहवा जं उब्भावेदि असंतं खेत्तकालभावेहिं ।
अविचारिय अत्थि इह घडोत्ति जह एवमादीयं ॥८२१॥

अथवा 'जं उब्भावेदि' यद्वचनं उद्भावयति । असन्तं घटं । कथमसन्तं ? खेत्तकालभावेहिं क्षेत्रान्तर-सम्बन्धित्वेन (अ) सन्तं इहत्यं घटं कालान्तरसम्बन्धेन अतीते अनागते वा असन्तं भावान्तरसम्बन्धित्वेन कृष्ण-त्वादिनाऽसन्तं । 'अविचारिय' अविचार्य इत्थं सत् इत्थमसत् इति अस्ति घट इत्येवमादिकं सर्वथास्तित्वमस-द्भावयतीति असद्वचनं ॥८२१॥

तदियं असंतवयणं संतं जं कुणदि अण्णजादीगं ।
अविचारित्ता गोणं अस्सोत्ति जहेवमादीयं ॥८२२॥

'तदीयं असंतवयणं' तृतीयमसद्वचनं । 'संतं जं कुणदि अण्णजादीयं' सदसत्करोति अन्यजातीयं । 'अवि-चारित्ता गोणं अस्सोत्ति जहेवमादीया' । अश्वमित्येवमादिकं । सतो बलीवर्दत्वात् अश्वत्वं असत्सत्य वचनं ॥८२२॥

चतुर्थमसद्वचनमाचष्टे—

जं वा गरहिदवयणं जं वा सावज्जसंजुदं वयणं ।
जं वा अप्पियवयणं असच्चवयणं चउत्थं च ॥८२३॥

'जं वा गरहिदवयणं' यद्वा गर्हित वचनं । 'जं वा सावज्जसंजुदं वयणं' यद्वा सावद्यसंयुतं वचनं । 'जं वा अप्पियवयणं' यद्वा अप्रियवचनं । 'तत् चउत्थं' चतुर्थं असंतवयणं असद्वचनं ॥८२३॥

तेषु वचनेषु गर्हितवचनं व्याचष्टे—

गा०—अथवा जो वचन क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा असत् घटका विचार न करके 'घट है' ऐसा कहता है वह असत्यवचन है ॥८२१॥

विशेषार्थ—यह पहले कहा है कि कोई वस्तु न सर्वथा सत् है और न सर्वथा असत् है। जो स्वद्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा सत् है वही पर द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा असत् है। जैसे जो घट इस क्षेत्रकी अपेक्षा सत् है वही अन्य क्षेत्रकी अपेक्षा असत् है। जो इस कालकी अपेक्षा सत् है वही अतीत और अनागतकालकी अपेक्षा असत् है, जो स्वभावकी अपेक्षा सत् है वही भावान्तरकी अपेक्षा असत् है। अतः घट इस रूपसे सत् है और इस रूपसे असत् है ऐसा विचार न करके 'घट है' इस तरह घटको सर्वथा सत् कहना असत्का उद्भावन होनेसे असत्य वचन है ॥८२१॥

गा०—एक जातिकी वस्तुको अन्य जातिकी कहना तीसरा असत्य वचन है। जैसे विना विचारे बैलको घोड़ा कहना ॥८२२॥

चतुर्थ असत्य वचनको कहते हैं—

गा०—जो गर्हित वचन है, सावद्ययुक्त वचन है, अप्रिय वचन है वह चतुर्थ असत्य वचन है ॥८२३॥

उनमेंसे गर्हित वचनको कहते हैं—

कक्कसवयणं णिट्ठुरवयणं पेसुण्णहासवयणं च ।
जं किंचि विप्पलावं गरहिदवयणं समासेण ॥८२४॥

'**कक्कसवयणं**' कर्कशवचनं नाम सगर्ववचनमिति केचिद्वदन्त्यन्ये असत्यवचनमिति । '**णिट्ठुरवयणं**' निष्ठुरवचनं । '**पेसुण्णहासवयणं च**' परदोषसूचनपरं वचनं पैशुन्यवचन हासावह वचन । '**जं किंचि विप्पलावं**' यत्किंचित्प्रलपनं च मुखरतया । '**गरहिदवयणं**' गर्हितवचनं । '**समासेण**' संक्षेपेण ॥८२४॥

सावद्यवचनं निरूपयति—

जत्तो पाणवधादी दोसा जायंति सावज्जवयणं च ।
अविचारित्ता थेणं थेणत्ति जहेवमादीयं ॥८२५॥

'**जत्तो पाणवधादी दोसा जायंतीति**' यस्माद्वचनाद्धेतो. प्राणवधादयो दोषा जायन्ते । '**सावज्जवयण त**' सावद्यं वचनं पृथिवीं खन[1], महिषी बोहक (?) पयसा, प्रसूनानि चिनु । इत्येवमादिकानि '**अविचारित्ता**' अविचार्य किमेवं वक्तुं युक्तं [2]न वेति । अथवा दोषोऽनेन वचसा न वेति अपरीक्ष्य चौर चौरोऽयमिति कथन ॥८२५॥

फरुसं कडुयं वयणं वेर कलहं च जं भयं कुणइ ।
उत्तासणं च हीलणमप्पियवयणं समासेण ॥८२६॥

हासभयलोहकोहप्पदोसादीहिं तु मे पयत्तेण ।
एवं असंतवयणं परिहरिदव्वं विसेसेण ॥८२७॥

'**हासभय**' हास्येन, भयेन, लोभेन, क्रोधेन, प्रदोषेणेत्येवमादिना कारणेन । '**एवं असंतवयणं**' एतद-सद्वचनं । '**तुमे**' त्वया । '**पत्तेण**' प्रयत्नेन । '**परिहरिदव्वं**' परिहर्तव्यं । '**विसेसेण**' विशेषेण ॥८२७॥

एवमसद्विवादं परिहार्यमुपदर्श्य सत्यवचनलक्षणमुक्तासद्वचनविलक्षणतया दर्शयति—

गा०—कर्कश वचन अर्थात् घमण्डयुक्त वचन, निष्ठुर वचन, दूसरेके दोषोका सूचन करने-वाले वचन, हास्यवचन और जो कुछ भी बकवाद करना, ये सब सक्षेपमे गर्हित वचन हैं ॥८२४॥

सावद्य वचन कहते हैं—

गा०—जिस वचनसे प्राणोंका घात आदि दोष उत्पन्न होते है वह सावद्यवचन है । जैसे पृथ्वी खोदो । नांदका पानी भैंसने पी लिया उसे पानीसे भरो । फूल चुनो आदि । अथवा ऐसा कहनेमें दोष है या नहीं, यह विचार न करके चोरको चोर कहना सावद्य वचन है ॥८२५॥

गा०—कठोर वचन, कटुक वचन, जिस वचनसे वैर, कलह और भय पैदा हो, अति त्रास देनेवाले वचन, तिरस्कार सूचक वचन ये संक्षेपमें अप्रियवचन हैं ॥८२६॥

गा०—हास्य, भय, लोभ, क्रोध और द्वेष आदि कारणोंसे बोले जानेवाले असत्य वचनोंको हे क्षपक, तुम्हे प्रयत्नपूर्वक विशेष रूपसे नही बोलना चाहिए ॥८२७॥

इस प्रकार असत्यवचनोंको त्यागने योग्य बतलाकर उक्त असत्यवचनोंसे विलक्षण सत्य-वचनोंका लक्षण कहते हैं—

---

१. खन । प्रहि पीतोदकं पयसा पूरय—आ० । खन । महिषी पीतोदका पयसा प्रपूरय, मु० ।
२. ममेति—आ० मु० ।

तव्विवरीदं सच्चं कज्जे काले मिदं सविसए य ।
भत्तादिकहारहियं भणाहि तं चेव य [1]सुणाहि ॥८२८॥

'तव्विवरीदं' असद्वचनविपरीतं । 'सच्चं' सत्यं । 'भणाहि' भण । 'कज्जे' कार्ये ज्ञानचारित्रादिशिक्षालक्षणे, असंयमपरिहारे परस्य वा सन्मार्गस्थापनाख्ये । काले आवश्यकादीनां कालादन्यः काल इत्यकालशब्देनोच्यते । अथवा कालशब्देन प्रस्ताव उच्यते । 'मिदं' परिमितं वचनं । 'सविसए य' भवतो ज्ञानस्य विषये प्रवृत्तं वचनं । 'भणाहि' भण । ज्ञानमेव वचनानीति यावत् । भत्तादिकहारहियं भक्तचोरस्त्रीराजकथाविरहितं । 'तं चेव य' तथाभूतमेव सत्यमेव वचनं । 'सुणाहि' शृणु । अयमयोग्यं न ब्रवीति एतावता सत्यव्रतं पालितमिति आशा न कार्या । परेणोच्यमानमसद्वचनं शृण्वतो मनोऽशुभतया च कर्मबन्धो महानिति भावः ॥८२८॥

सत्यवचनगुणं हृदयनिर्वाणं स्थापयति गाथोत्तरा स्पष्टा—

जलचंदणससिमुत्ताचंदमणी तह णरस्स णिव्वाणं ।
ण करंति कुणइ जह अत्थज्जुयं हिदमधुरमिदवयणं ॥८२९॥

न सत्यमित्येतावता वचनं वक्तव्यं, सत्यमव सदेव वक्तव्यमेव नेति ब्रवीति—

अण्णस्स अप्पणो वा वि धम्मिए विड्ढंतए कज्जे ।
जं पि अपुच्छिज्जंतो अण्णेहिं य पुच्छिओ जंप ॥८३०॥

'अन्यस्य अप्पणो वापि' अन्यस्य आत्मनो वा धार्मिके कार्ये विनश्यति सति अपृष्टोऽपि ब्रूहि । अनतिपातिनि कार्ये पृष्ट एव वद नापृष्टः इत्यर्थः ॥८३०॥

गा०-टी०—हे क्षपक, ज्ञान चारित्र आदिकी शिक्षारूप कार्यमें, असंयमका त्याग कराने या दूसरेको सन्मार्गमें स्थापित करनेके कार्यमें, आवश्यक आदिके कालसे भिन्नकालमें, और ज्ञानके विषयमें असत्यवचनसे विपरीत सत्यवचन बोलो । तथा भक्तकथा, स्त्रीकथा, चोरकथा और राजकथासे रहित वचन बोलो—इन कथाओंकी चर्चा मत करो । तथा इसी प्रकारके सत्य वचनोंको सुनो । अमुक-वक्ता अयोग्य बात नहीं बोलता अतः यह सत्यव्रतका पालक है ऐसी आशा मत करो । दूसरेके द्वारा कहे असत्यवचनको जो सुनता है उसका मन बुरा होता है और मनके बुरे होनेसे महान् कर्मबन्ध होता है ॥८२८॥

आगे सत्यवचनका गुण हृदयको सुख देना है, यह कहते हैं—

गा०—अर्थसे भरे हितकारी परिमित मधुर वचन इस जीवको जैसा सुख देते हैं वैसा सुख जल, चन्दन, चन्द्रमा, मोती और चन्द्रकान्तमणि भी नहीं देते ॥८२९॥

आगे कहते हैं कि सत्य होनेसे बोलना चाहिए ऐसी बात नहीं है और सदा सत्य बोलना ही चाहिए ऐसी भी बात नहीं है—

गा०—अपना या दूसरोंका धार्मिक कार्य नष्ट होता हो तो विना पूछे भी बोलना चाहिए । किन्तु यदि कार्य नष्ट न होता हो तो पूछनेपर ही बोलो, विना उनके द्वारा पूछे जानेपर मत बोलो ॥८३०॥

---

1. मुत्तामणिमाला तह—आ० ।

सच्चं वदंति रिसओ रिसीहिं विहिदाउ सव्व विज्जाओ ।
मिच्छस्स वि सिज्झंति य विज्जाओ सच्चवादिस्स ॥८३१॥

'सच्चं वदंति रिसओ' सत्यं वदन्ति यतयः । 'रिसीहिं विहिदाओ' यतिभिर्विहिताः सर्वविद्याः । 'मिच्छस्सवि' म्लेच्छस्यापि । 'सिज्झंति' सिध्यन्ति । 'विज्जाओ' विद्याः । 'सच्चवादिस्स' सत्यवादिन ॥८३१॥

ण डहदि अग्गी सच्चेण णरं जलं च तं ण बुड्डेइ ।
सच्चबलियं खु पुरिसं ण वहदि तिक्खा गिरिणदी वि ॥८३२॥

'ण डहदि अग्गी णरं' न दहत्यग्निः सत्येन नरं । 'जलं च तन्न बुड्डेदि' जलं च तन्न निमज्जति । 'सच्चबलियं' सत्यमेव बलं तदस्यास्ति तं 'न वहति' नाकर्षयति । 'तिक्खा गिरिनदीवि' तीव्रवेगा गिरिनद्यपि ॥८३२॥

सच्चेण देवदाओ णवंति पुरिसस्स ठंति य वसम्मि ।
सच्चेण य गहगहिदं मोएइ करेंति रक्खं च ॥८३३॥

'सच्चेण देवदाओ णवंति' सत्येन देवता नमस्यन्ति । 'पुरिसस्स ठंति य वसम्मि' पुरुषस्य च वशे तिष्ठन्ति । 'गहगहिदं सच्चेण मोएइ' पिशाचग्रहणं मोचयन्ति सत्येन । 'करेंति सच्चेण रक्खं च' कुर्वन्ति सत्येन ग्रहादिरक्षां ॥८३३॥

माया व होइ विस्सस्सणिज्जो पुज्जो गुरुव्व लोगस्स ।
पुरिसो हु सच्चवाई होदि हु [1]सणियल्लओ व पिओ ॥८३४॥

'माया व होदि विस्सस्सणिज्जो' मातेव भवति विश्वसनीय । 'पुज्जो गुरुव्व लोगस्स' पूज्यो गुरुवल्लोकस्य । कः ? 'सच्चवादी पुरिसो' सत्यवादी पुरुष. । 'पिओ होदि सणियल्लओव' प्रियो भवति बन्धुरिव ॥८३४॥

सच्चं अवगददोसं वुत्तूण जणस्स मज्झयारम्मि ।
पीदिं पावदि परमं जसं च जगविस्सुदं लहइ ॥८३५॥

गा०—ऋषिगण सत्य बोलते है। ऋषियोंने ही सब विद्याओंका विधान किया है। सत्यवादी यदि म्लेच्छ भी हो तो उसे विद्याएँ सिद्ध होती हैं ॥८३१॥

गा०—सत्यवादी मनुष्यको आग नही जलाती। पानी उसे नहीं डुबाता। जिसके पास सत्यका बल है उसे तीव्र वेगवाली नदी भी नहीं बहाती ॥८३२॥

गा०—सत्यसे देवता नमस्कार करते हैं। सत्यसे देवता पुरुषके वशमें होते हैं। सत्यसे पिशाच पकड़ा हुआ मनुष्य भी छूट जाता है और उसकी रक्षा देव करते हैं ॥८३३॥

गा०—सत्यवादी माताके समान विश्वासयोग्य, गुरुके समान पूज्य, और बन्धुके समान लोकप्रिय होता है ॥८३४॥

---

१. धुणि–आ० ।

'सच्चं वुत्तूण' सत्यवचनमुक्त्वा। कीदृग्भूतं? 'अवगददोसं' दोषरहितं। क्व? 'जणस्स मज्झयारम्मि' जनमध्ये। 'पीदिं पावदि' परमां प्रीतिं प्राप्नोति, परां 'जसं लभदि' यशश्च लभते। 'जगविस्सुदं' जगति विश्रुतं ॥८३५॥

सच्चम्मि तवो सच्चम्मि संजमो तह वसे सया वि गुणा।
सच्चं णिबंधणं हि य गुणाणमुदधीव मच्छाणं ॥८३६॥

'सच्चम्मि संजमो' सत्याधारी तपःसंयमौ, शेषाश्च गुणाः। 'सच्चं णिबंधणं गुणाणं' गुणानां निबन्धनं सत्यं। 'मच्छाणं उदधीव' मत्स्यानामुदधिरिव ॥८३६॥

सच्चेण जगे होदि पमाणं अण्णो गुणो जदि वि से णत्थि।
अदिसंजदो य मोसेण होदि पुरिसेसु तणलहुओ ॥८३७॥

'सच्चेण जगे होदि' सत्येन जगति भवति। 'पमाणं' प्रमाणं। यद्यप्यन्यो गुणो नास्ति। अतीव संयतोऽपि सतां मध्ये तृणवल्लघुर्भवति मृषावचनेनेति गाथार्थः ॥८३७॥

होदु सिहंडी व जडी मुंडी वा णग्गओ व [1]चीरधरो।
जदि भणदि अलियवयणं विलंबणा तस्स सा सव्वा ॥८३८॥

'होदु सिहंडी' भवतु नाम शिखावान्। 'जडी मुंडी वा' नग्नश्चीवरधरो वा यद्यलीकं वदति तस्य सा सर्वा विलम्बना ॥८३८॥

जह परमण्णस्स विसं विणासयं जह व जोव्वणस्स जरा।
तह जाण अहिंसादी गुणाण य विणासयमसच्चं ॥८३९॥

'जह परमण्णस्स' यथा परमान्नस्य विनाशकं विषं। यथा वा जरा यौवनस्य, तथा जानीहि अहिंसादिगुणानां विनाशकमसत्यं ॥८३९॥

गा०—जनसमुदायके बीच में दोषरहित सत्यवचन बोलनेसे मनुष्य जनताका प्रेम तथा जगत्में प्रसिद्ध उत्कृष्ट यश पाता है ॥८३५॥

गा०—तप, संयम तथा अन्यगुण सत्यके आधार हैं। जैसे समुद्र मगरमच्छोंका कारण है उसमें मगरमच्छ पैदा होते और रहते हैं वैसे ही सत्य गुणोंका कारण है ॥८३६॥

गा०—यदि मनुष्यमें अन्य गुण न हों तब भी वह एक सत्यके कारण जगमें प्रमाण माना जाता है। अति संयमी भी मनुष्य यदि असत्य बोलता है तो सज्जनोंके मध्यमें तृणसे तुच्छ होता है ॥८३७॥

गा०—भले ही मनुष्य शिखाधारी हो, जटाधारी हो, सिर मुड़ाए हो, नंगा रहता हो या चीवर धारण किये हो, यदि वह झूठ बोलता है तो यह सब उसकी विडम्बनामात्र है ॥८३८॥

गा०—जैसे विष उत्तमोत्तम भोजनका विनाशक है, बुढ़ापा यौवनका विनाशक है वैसे ही असत्य वचन अहिंसा आदि गुणोंका विनाशक है ॥८३९॥

---

१. चीवर-मु०।

मादाए वि वेसो पुरिसो अलिएण होइ एक्केण ।
किं पुण अवसेसाणं ण होइ अलिएण सत्तु व्व ॥८४०॥

'मादाए वि य' मातुरप्यविश्वास्यो भवत्यलीकेन एकेन पुरुषः । शेषाणां पुनर्न किं भवेदलीकेन शत्रुरिव ॥८४०॥

अलियं स किं पि भणियं घादं कुणदि बहुगाण सच्चाणं ।
अदिसंकिदो य सयमवि होदि अलियभासणो पुरिसो ॥८४१॥

'अलियं स किंपि भणियं' सकृदप्युक्तं अलीकं सत्यानि बहूनि नाशयति । अलीकवादी पुरुषः स्वयमपि शङ्कितो भवति नितरां ॥८४१॥

अप्पच्चओ अकित्ती भंसारदिकलहवेरभयसोगा ।
वधबंधभेय[1] धणणासा वि य मोसम्मि सण्णिहिदा ॥८४२॥

'अप्पच्चओ' अप्रत्ययः । अकीर्तिः, संक्लेशः, अरतिः, कलहो, वैरं, भय, शोकः, बधो, बन्धः, स्वजनभेदः, धननाशश्चेत्यमी दोषाः सन्निहिता मृषावचने ॥८४२॥

पापस्सासवदारं असच्चवयणं भणंति हु जिणिंदा ।
हिदएण अपावो वि हु मोसेण गदो वसू णिरयं ॥८४३॥

'पावस्सासवदारं' पापस्यागमद्वारमिति वदन्त्यसत्यं जिनेन्द्राः । हृदये अपापोऽपि मृषाभाषेण वसुर्गतो नरकं इत्याख्यानकं वाच्यं ॥८४३॥

परलोगम्मि वि दोसा ते चेव हवंति अलियवादिस्स ।
मोसादीए दोसे जत्तेण वि परिहरंतस्स ॥८४४॥

गा०—एक असत्य वचनसे मनुष्य माताका भी विश्वास-भाजन नहीं रहता । तब असत्य बोलनेसे शेषजनोंको वह शत्रुके समान क्यों नहीं प्रतीत होगा ॥८४०॥

गा०—एक बार भी बोला गया झूठ बहुत बार बोले गये सत्यवचनोंका घात कर देता है । लोग उसके सत्यकथनको भी झूठ मानने लगते हैं । झूठ बोलनेवाला मनुष्य स्वयं भी अतिभीत रहता है ॥८४१॥

गा०—असत्य भाषणमें अविश्वास, अपयश, संक्लेश, अरति, कलह, वैर, भय, शोक, वध, बन्ध, कुटुम्बमें फूट, धनका नाश इत्यादि दोष पाये जाते हैं ॥८४२॥

गा०—जिनेन्द्रदेव असत्यको पापास्रवका द्वार कहते हैं, उससे पापका आगमन होता है । राजा वसु हृदयसे पापी नहीं था फिर भी झूठ बोलनेसे नरकमें गया । इसकी कथा कथाकोशमें है ॥८४३॥

---

१. यणणामा–आ० ।—भेदणाणा सव्वे मो–मु० ।

'परलोगम्मि वि दोसा' परभवेऽपि दोषास्त एव अप्रत्ययादय एव भवन्त्यलीकवादिनः। यत्नेनापि परिहरतः। किं ? 'ओसादिमे दोसे' मृषादिकान्दोषान्। मृषा आदिर्येषां स्तेयाब्रह्मपरिग्रहाणां ते मृषादयः। अतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिरत्र ग्राह्यः। स्तेयादिदोषान्परिहरतोऽपीत्यर्थः ॥८४४॥

भवतु नाम अप्रत्ययमत्यादिका मृषावादस्य दोषाः कर्कशवचनादिना परभवे इह वाथ के दोषा इत्यत्राचष्टे—

इहलोइय परलोइय दोसा जे होंति अलियवयणस्स।
कक्कसवयणादीण वि दोसा ते चेव णादव्वा ॥८४५॥

'इहलोगिय परलोगिय दोसा' अस्मिञ्जन्मनि परत्र च ये दोषा भवन्ति अलीकवादिनः। कर्कशवचनादीनामपि त एव दोषा इति ज्ञातव्याः ॥८४५॥

उपसंहारगाथा—

एदेसिं दोसाणं मुक्को होदि अलिआदिवचिदोसे।
परिहरमाणो साधू तव्विवरीदे य लमदि गुणे ॥८४६॥

एतेभ्यो दोषेभ्यो मुक्तो भवति अलीकादिवचनदोषान्यः परिहरति साधुः लभते चापि ? दोषप्रतिपक्षभूतान्प्रत्ययितत्वादिगुणान्। प्रत्ययः, कीर्तिः, असंक्लेश, रतिः, कलहाभावः, निर्भयतादिकश्च। 'लभदि' ॥८४६॥

व्याख्याय सत्यव्रतं तृतीयव्रतं निगदति—

मा कुणसु तुमं बुद्धिं बहुमप्पं वा परादियं घेत्तुं।
दंतंतरसोधणयं कलिंचमेत्तं[1] पि अविदिण्णं ॥८४७॥

गा०—असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रहरूप दोषोंका प्रयत्नपूर्वक त्याग करनेवाले भी असत्यवादीके परलोकमें भी अविश्वास आदि दोष होते हैं। अर्थात् असत्यवादी मरकर भी इन दोषोंका भागी होता है ॥८४४॥

असत्य भाषणसे अविश्वास आदि दोष भले ही होते हों, किन्तु कर्कश आदि वचन बोलनेसे इस भव या परभवमें क्या हानि है ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—इस लोक और परलोकमें असत्यवादी जिन दोषोंका पात्र होता है, कर्कश आदि वचन बोलनेवाला भी उन्हीं दोषोंका पात्र होता है ॥८४५॥

गा०—जो साधु असत्य भाषण आदि दोषोंको दूर कर देता है वह ऊपर कहे दोषोंसे मुक्त होता है—उसमें वे दोष नहीं होते। तथा उन दोषोंसे विपरीत विश्वास, यश, असंक्लेश, रति कलहका अभाव, निर्भयता आदि गुणोंका भाजन होता है ॥८४६॥

सत्य महाव्रतका कथन समाप्त हुआ।

सत्य व्रतका कथन करके तीसरे व्रतका कथन करते हैं—

---

१. दं हरिंगसोधे मेत्तं आदि—आ० मु०।

'मा कुणसु तुमं बुद्धिं' मा कृथास्त्वं बुद्धि । कीदृशीं ? 'पराहियं घेत्तुं' परकीयं वस्तु ग्रहीतुं । परकीयवस्तु विशेषयमाचष्टे—'बहुमल्लं वा' महदल्पं वा । अल्पद्रव्यपरिमाणमभिधत्ते—'दंतंतरसोधणयं कलिंचमेत्तंपि' दन्तान्तरशुद्धिकारि तृणशलाकामात्रमपि । 'अविदिण्णं' अदत्तं ॥८४७॥

जह मक्कडओ धादो वि फलं दट्ठूण लोहिदं तस्स ।
दूरत्थस्स वि डेवदि जइ वि घित्तूण छंडेदि ॥८४८॥

'जह मक्कडओ' यथा मर्कटो वानरः । 'धादो वि' तृप्तोऽपि । 'दट्ठूण फलं' दृष्ट्वापि फलं । 'लोहिदं' रक्तं । 'तस्स दूरत्थस्स वि डेवदि' दूरस्थमपि फलमुद्दिश्योल्लंघनं करोति । 'जदि वि घित्तूण छंडेदि' यद्यपि गृहीत्वा त्यजति ॥८४८॥

दार्ष्टान्तिके योजयति—

एवं जं जं पस्सदि दव्वं अहिलसदि पाविदुं तं तं ।
सव्वजगेण वि जीवो लोभाइट्ठो न तिप्पेदि ॥८४९॥

'एवं जं जं पस्सदि' एवं यद्यत्पश्यति द्रव्यं । 'तं तं पाविदुमहिलसदि' तत्तद्द्रव्यं प्राप्तुमभिलषति । 'सव्वजगेण वि' सर्वेणापि जगता । 'लोभाइट्ठो जीवो ण तिप्पेदि' जीवो लोभाविष्टो न तृप्यति ॥८४९॥

जह मारुओ पवड्ढइ खणेण वित्थरइ अब्भयं च जहा ।
जीवस्स तहा लोभो मंदो वि खणेण वित्थरइ ॥८५०॥

'जह मारुओ पवड्ढइ' यथा मारुतः प्रवर्द्धते । 'खणेण' क्षणेन । 'वित्थरदि' विस्तीर्णो भवति । 'अब्भयं च जहा' यथा चाभ्रं । 'जीवस्स' जीवस्य । 'तह' तथा । लोभो मन्दोऽपि क्षणेनैव विस्तीर्णतामुपयाति ॥८५०॥

बाह्यद्रव्यसन्निधिमपेक्ष्य लोभकर्मण उदयो जायते तस्य लोभस्य वर्द्धते तद्वृद्धौ चाय दोष इति व्याचष्टे—

लोभे पवड्ढिदे पुण कज्जाकज्जं णरो ण चिंतेदि ।
तो अप्पणो वि मरणं अगणिंतो साहसं कुणइ ॥८५१॥

गा०—हे क्षपक ! तुम पराई बहुत या अल्प वस्तुको भी ग्रहण करनेकी भावना मत करो । दाँतका मल शोधनेके लिए एक तिनका भी बिना दिया मत ग्रहण करो ॥८४७॥

गा०—जैसे बन्दर पेट भरा होनेपर भी लाल पके फलको देखकर दूरसे ही फल ग्रहण करनेके लिए कूदता है, यद्यपि वह उसे फिर छोड़ देता है ॥८४८॥

गा०—वैसे ही मनुष्य जो जो वस्तु देखता है उस उसको प्राप्त करनेकी इच्छा करता है । लोभसे घिरा मनुष्य समस्त जगत्‌को पाकर भी सन्तुष्ट नहीं होता ॥८४९॥

गा०—जैसे मन्द वायु बढ़कर क्षणभरमें फैल जाती है या मेघ बढ़ते-बढ़ते आकाशमें फैल जाते हैं । वैसे ही जीवका थोड़ा-सा भी लोभ क्षणभरमें बढ़ जाता है ॥८५०॥

आगे कहते हैं कि बाह्य द्रव्यका सान्निध्य पाकर लोभकर्मका उदय होता है उससे मनुष्य-

'लोभे पवड्ढिदे पुण' लोभे प्रकर्षेण वृद्धिमुपगते पुनः । 'कज्जाकज्जं णरो ण चिंतेदि' कार्यं अकार्यं च न मनसा निरूपयति । इदं कर्तुं युक्तं न वेति । 'तो' ततः युक्तायुक्तविचारणाभावात् । 'अप्पणो मरणमवि अगणित्ता' आत्मनो मृत्युमप्यगणय्य । 'चोरिक्कं कुणदि' चौर्यं करोति । बन्दीग्रहणतालोद्घाटनसंप्रवेशादिकं च भयं मृत्योः कष्टतरमवस्थितमपि न गणयति नरश्चौर्ये प्रवृत्त इति भावः ॥८५१॥

न केवलमात्मन एवोपद्रवकारि चौर्यं अपि तु परेषामपि महतीमानयति विपदमिति कथयति—

सव्वो उवहिदबुद्धी पुरिसो अत्थे हिदे य सव्वो वि ।
सत्तिप्पहारविद्धो व होदि हिययंमि अदिदुहिदो ॥८५२॥

'सव्वो उवहिदबुद्धी' सर्वो जनः उपहितबुद्धिः स्थापितचित्तः । क्व ? 'अत्थे' वस्तुनि इदं भवत्विति । 'अत्थे हिदे य सव्वो वि' सर्वोऽपि जनो अर्थे हृते । 'अदिदुहिदो' अतीव दुःखितो भवति । किमिव ? 'सत्तिप्पहारविद्धोव हियये' शक्त्याख्येन शस्त्रेण हृदये विद्ध इव ॥८५२॥

अत्थम्मि हिदे पुरिसो उम्मत्तो विगयचेयणो होदि ।
मरदि व हक्कारकिदो अत्थो जीवं खु पुरिसस्स ॥८५३॥

'अत्थम्मि हिदे' अर्थे हृते परेणात्मीये 'पुरिसो' पुरुषः । 'उम्मत्तो विगयचेयणो होदि' उन्मत्तो विगतचेतनो भवति । चेतनाविशेषे ज्ञानपर्याये चेतनाशब्दो वर्तते नष्टज्ञानो भवतीति यावत् । अन्यथा चैतन्यस्य विनाशाभावात् । 'मरदि व' म्रियेत वा अर्थे हृते । अत्थे हक्कारकिदो अर्थे [1]हाकारं कुर्वन् । 'अत्थो जीवं खु पुरिसस्स' पुरुषस्य जीवितमर्थः ॥८५३॥

का लोभ बढ़ता है । लोभ बढ़नेपर यह दोष होता है—

गा०-टी०—लोभ बढ़नेपर मनुष्य 'यह करना योग्य है और यह योग्य नही है' इस प्रकार मनमें कार्य और अकार्यका विचार नहीं करता । युक्त अयुक्तका विचार न करनेसे अपनी मृत्युकी परवाह न करके चोरी करता है—ताले तोडकर घरोंमें प्रवेश करता है, जेल जाता है । इस प्रकार चोरीमें लगा मनुष्य मृत्युका कठोर भय उपस्थित होते हुए भी उसकी अवहेलना करता है ॥८५१॥

आगे कहते हैं कि चोरी केवल चोरी करनेवालेपर ही विपत्ति नहीं लाती किन्तु दूसरोंपर भी महती विपदा लाती है—

गा०—सभी मनुष्य धनासक्त हैं—उनका मन धनमें लगा रहता है । अतः धन चुरानेपर सभी जन हृदयमें शक्ति नामक अस्त्रसे आघात होनेकी तरह अत्यन्त दुःखी होते हैं ॥८५२॥

गा०-टी०—दूसरेके द्वारा अपना धन हरे जानेपर मनुष्य पागल हो जाता है, उसकी चेतना नष्ट हो जाती है । यहाँ चेतना शब्द चेतनाके भेद ज्ञानपर्यायमें प्रयुक्त हुआ है अतः उसका ज्ञान नष्ट हो जाता है ऐसा अर्थ लेना चाहिए, क्योंकि चेतनाका तो विनाश होता नही । तथा हाहाकार करके मर जाता है । ठीक ही कहा है—धन मनुष्यका प्राण है ॥८५३॥

---

१. हारवं—आ० मु० ।

अडईगिरिदरिसागरजुद्धाणि अडंति अत्थलोभादो ।
पियबंधु चेवि जीवं वि णरा चयंति धणहेदुं ॥८५४॥

'अडईगिरिदरिसागर' अटवीं, दरीं, गिरिं, सागरं, युद्धं प्रविशन्ति अर्थलोभात् । प्रियान्बन्धून् जीवितं च नरा जहति धननिमित्तं । सर्वेभ्यो धनं प्रियतमं यतस्तदर्थिनः सर्वं त्यजन्ति इति भावार्थो गाथायाः ॥८५४॥

अत्थे संतम्मि सुहं जीवदि सकलत्तपुत्तसंबंधी ।
अत्थं हरमाणेण य हिदं हवदि जीविदं तेसिं ॥८५५॥

'अत्थे संतम्मि सुहं' अर्थे सति सुखं 'जीवदि सकलत्तपुत्तसम्बन्धी' जीवति सह कलत्रैर्भार्याभिः, पुत्रैः बंधुभिश्च । अर्थं हरता तेषां कलत्रादीनां जीवितमेव हृतं भवति ॥८५५॥

चोरस्स णत्थि हियए दया य लज्जा दमो व विस्सासो ।
चोरस्स अत्थहेदुं णत्थि अकादव्वयं किं पि ॥८५६॥

'चोरस्स णत्थि हियए' चौरस्य नास्ति हृदये । दया, लज्जा, दमो, विश्वासो वा । चौरस्य नास्ति अकर्तव्यं किंचित् । अर्थार्थिन इति भावार्थः ॥८५६॥

लोगम्मि अत्थि पक्खो अवरज्झंतस्स अण्णमवराधं ।
णीयल्लया वि पक्खे ण होंति चोरिक्कसीलस्स ॥८५७॥

'लोगम्मि अत्थि पक्खो' लोकेऽस्ति पक्षोऽन्यमपराधं हिंसादिकं कुर्वतो बन्धवोऽपि न पक्षता प्रतिपद्यन्ते चौर्यकारिण ॥८५७॥

अण्णं अवरज्झंतस्स दिंति णियये घरम्मि ओगासं ।
माया वि य ओगासं ण देइ चोरिक्कसीलस्स ॥८५८॥

'अण्णं अवरज्झंतस्स' अन्य अपराधं कुर्वन ददति स्वावासे अवकाश । माताप्यवकाशं न ददाति चुरायां प्रवृत्तस्य ॥८५८॥

गा०—धनके लोभसे मनुष्य जगल पर्वत गुफा और समुद्रमें भटकता है, युद्ध करता है। धनके लिए मनुष्य प्रियजनोंका और अपने जीवनका भी त्याग करता है। सारांश यह है कि मनुष्यको धन सबसे प्रिय है उसके लिए वह सबको छोड़ देता है ॥८५४॥

गा०—धनके होनेपर मनुष्य स्त्री पुत्र और बन्धु बान्धवोंके साथ सुखपूर्वक जीवन यापन करता है। धनके हरे जानेपर उन स्त्री आदिका जीवन ही हर लिया जाता है ॥८५५॥

गा०—चोरके हृदयमे दया, लज्जा, साहस और विश्वास नही होते। चोर धनके लिए कुछ भी कर सकता है उसके लिए न करने योग्य कुछ भी नही है ॥८५६॥

गा०—हिंसा आदि अन्य अपराध करनेवालेके पक्षमे तो लोग रहते है किन्तु चोरी करनेवालेके पक्षमें बन्धु बान्धव भी नहीं होते ॥८५७॥

गा०—अन्य अपराध करनेवालेको लोग अपने घरमें आश्रय देते हैं। किन्तु चोरी करनेवालेको माता भी आश्रय नहीं देती ॥८५८॥

परदव्वहरणमेदं आसवदारं खु बेंति पावस्स ।
सोगरियवाहपरदारिएहि चोरो हु पापदरो ॥८५९॥

'परदव्वहरणमेदं' परद्रव्यापहरणमेतत् पापस्यास्रवद्वारं ब्रुवन्ति । शौकरिकात्, व्याधात्, परदाररतिप्रियाच्च चौरः पापीयान् ॥८५९॥

सयणं मित्तं आसयमल्लीणं पि य महल्लए दोसे ।
पाडेदि चोरियाए अयसे दुक्खम्मि य महल्ले ॥८६०॥

'सयणं मित्तं' बन्धून्मित्राणि आश्रयभूतं समीपस्थं च महति दोषे बन्धवधधनापहरणादिके पातयति चौर्यं । महत्ययशसि दुःखे च निपातयति ॥८६०॥

बंधवधजादणाओ छायाघादपरिभवभयं सोयं ।
पावदि चोरो सयमवि मरणं सव्वस्सहरणं वा ॥८६१॥

'बंधवधजादणाओ' बन्धं, वधं, यातनाश्च, छायाघातं, परिभवं, भयं, शोकं प्राप्नोति । स्वयमपि चौरो मरणं सर्वस्वहरणं वा ॥८६१॥

णिच्चं दिया य रत्तिं च संकमाणो ण णिद्दमुवलभदि ।
तेणं तओ समंता उव्विग्गमओ व पिच्छंतो ॥८६२॥

'णिच्चं दिया य रत्तिं च संकमाणो' नित्यं दिवारात्रिं शङ्कमानः न निद्रामुपलभते चौरः । समन्तात्प्रेक्षते उद्विग्नहरिण इव ॥८६२॥

उंदुरकदंपि सद्दं सुच्चा परिवेवमाणसव्वंगो ।
सहसा समुच्छिदमओ उव्विग्गो धावदि खलंतो ॥८६३॥

'उंदुरकदंपि सद्दं' मूषकचलनकृतमपि शब्दं श्रुत्वा प्रस्फुरत्सर्वगात्रः सहसोत्थभयोद्विग्नो धावति स्खलत्पदे पदे ॥८६३॥

गा०—यह परद्रव्यका हरण पापके आनेका द्वार कहा जाता है। मृग पशु पक्षियोंका घात करनेवाले और परस्त्रीगमनके प्रेमीजनोंसे चोर अधिक पापी होता है ॥८५९॥

गा०—चोरीका व्यसन बन्धु, मित्र, अपने आश्रित, और निकटमें रहनेवालोंको भी वध, बन्ध, धनका हरना आदि दोषोंमें डाल देता है वे भी ऐसे बुरे काम करने लगते हैं। तथा वे महान् अपयश और दुःखके भागी होते हैं ॥८६०॥

गा०—चोर स्वयं भी बन्ध, वध, कष्ट, तिरस्कार, भय, शोक, मरण और सर्वस्व हरणका भागी होता है ॥८६१॥

गा०—चोर दिन रात पकड़े जानेकी आशंकासे सोता नहीं है और भयभीत हरिनकी तरह चारों ओर देखा करता है ॥८६२॥

गा०—चूहेके द्वारा भी किये शब्दको सुनकर उसका सर्वांग थरथर काँपने लगता है, एक दम भयसे भीत हो, घबराकर दौड़ता है और पद-पदपर गिरता उठता है ॥८६३॥

घत्तिं पि संजमंतो घेत्तूण किलिंचमेत्तमविदिण्णं ।
होदि हु तणं व लहुओ अप्पच्चइओ य चोरो व्व ॥८६४॥

'घत्तिं पि संजमंतो' नितरामपि संयमं कुर्वन् । अदत्तं तृणमात्रमपि गृहीत्वा तृणवल्लघुर्भवति, अप्रत्ययितश्चोर इव ॥८६४॥

परलोगम्मि य चोरो करेदि णिरयम्मि अप्पणो वसदिं ।
तिव्वाओ वेदणाओ अणुभवहिदि तत्थ सुचिरंपि ॥८६५॥

'परलोगम्मि य चोरो करेदि' परलोके चौरः करोत्यात्मनो नरके वसतिं । कीदृग्भूतो यत्र नरकेषु सुचिरं दीर्घकालं पच्यमानः तीव्रवेदना अनुभवति ॥८६५॥

तिरियगदीए वि तहा चोरो पाउणदि तिव्वदुक्खाणि ।
पाएण णीयजोणीसु चेव संसरइ सुचिरंपि ॥८६६॥

'तिरियगदीए वि तहा' तिर्यग्गतावपि चौरः प्राप्नोति तीव्राणि दुःखानि । प्रायेण नीचयोनिष्वेव संसरति सुचिरमपि ॥८६६॥

माणुसभवे वि अत्था हिदा व अहिदा व तस्स णस्संति ।
ण य से धणमुवचीयदि सयं च ओलुद्दि धणादो ॥८६७॥

'माणुसभवे वि' मनुष्यभवेऽपि तस्य अर्था नश्यन्ति हृता वा अहृता वा । न चोपयाति संचयं धनं, तस्य उपचितेऽपि धने स्वयं तस्मादपयाति धनात् ॥८६७॥

परदव्वहरणबुद्धी सिरिभूदी णयरमज्झयारम्मि ।
होदूण हदो पहदो पत्तो सो दीहसंसारं ॥ ८६८॥

'परदव्वहरणबुद्धी' परद्रव्यहरणबुद्धिः । 'सिरिभूदी' श्रीभूतिर्नगरमध्ये ताडितः प्रहतश्च भूत्वा दीर्घसंसारं प्राप्तः ॥८६८॥

गा०—महान् संयमका धारी साधु भी बिना दिया तृणमात्र भी ग्रहण करके अविश्वसनीय चोरकी तरह तिनकेके समान लघु हो जाता है ॥८६४॥

गा०—चोर मरकर भी नरकमें वास करता है और वहाँ चिरकालतक तीव्र कष्ट भोगता है ॥८६५॥

गा०—तथा चोर तिर्यञ्चगतिमें भी तीव्र दुःख पाता है। वह प्रायः चिरकालतक नीच योनियोंमें ही जन्ममरण करता है ॥८६६॥

गा०—मनुष्यभवमें भी उसका धन किसीके द्वारा हरा जाकर अथवा बिना हरे नष्ट हो जाता है। वह धनका संचय नहीं कर पाता। धनका संचय हुआ भी तो वह स्वयं उस धनसे वंचित हो जाता है ॥८६७॥

गा०—परद्रव्यको हरनेमें आसक्त श्रीभूतिनामक ब्राह्मण नगरके मध्यमें मारा गया और मरकर दीर्घसंसारी हुआ इसकी कथा कथाकोशमें है ॥८६८॥

अदत्तादानदोषानुपवर्ण्य दत्तं योग्यं गृहाणेति व्याचष्टे—

एदे सव्वे दोसा ण होंति परदव्वहरणविरदस्स ।
तव्विवरीदा य गुणा होंति सदा दत्तभोइस्स ॥८६९॥

देविंदरायगहवइदेवदसाहम्मि उग्गहं तम्हा ।
उग्गहविहिणा दिण्णं गेण्हसु सामण्णसाहणयं ॥८७०॥

'देविंदरायगहवइ' देवेन्द्राणां, राज्ञां, गृहपतीनां, राष्ट्रकूटानां, देवतानां, सधर्मणां च परिग्रहं । 'उग्गह विहिणा' अवग्रहविधिना । 'दिण्णं' दत्तं । 'गिण्हसु' गृहाण । 'सामण्णसाहणयं' श्रामण्यसाधनं ज्ञानसंयमस्य वा साधनं । अदत्तं ॥८७०॥

चतुर्थं व्रतं निरूपयति—

रक्खाहि बंभचेरं अब्बंभं दसविधं तु वज्जित्ता ।
णिच्चं पि अप्पमत्तो पंचविधे इत्थिवेरग्गे ॥८७१॥

'रक्खाहि बंभचेरं' पालय ब्रह्मचर्यं । अब्रह्म दशप्रकारमपि वर्जयित्वा नित्यमप्रमत्तः पञ्चविधे स्त्रीवैराग्ये ॥८७१॥

ब्रह्मचर्यं पालयेत्युक्तं तदेव न ज्ञायते इत्यारेकायां तद्व्याचष्टे—

जीवो बंभा जीवम्मि चेव चरिया हविज्ज जा जदिणो ।
तं जाण बंभचेरं विमुक्कपरदेहतत्तिस्स ॥८७२॥

'जीवो बंभा' ब्रह्मशब्देन जीवो भण्यते । ज्ञानदर्शनादिरूपेण वर्धते इति वा । यावल्लोकाकाशं वर्धते लोकपूरणाख्यायां क्रियायां इति वा । 'जीवम्मि चेव' ब्रह्मण्येव चर्या । जीवस्वरूपमनन्तपर्यायात्मकमेव निरूप-

---

अदत्तादानके दोष बतलाकर योग्य दत्तवस्तुको ग्रहण करनेकी प्रेरणा करते हैं—

गा०—जो परद्रव्य हरनेका त्यागी होता है उसे ये सब दोष नहीं होते । तथा जो दत्त-वस्तुका ही उपभोग करता है उसमें उक्त दोषोंसे विपरीत गुण सदा होते हैं ॥८६९॥

गा०—हे क्षपक ! देवेन्द्र, राजा, गृहपति, देवता और साधर्मी साधुओंके द्वारा विधिपूर्वक दी गई परिग्रहको, जो ज्ञान और संयमकी साधक हो, ग्रहण कर ॥८७०॥

अदत्तविरत व्रतका कथन समाप्त हुआ ।

चतुर्थ व्रतका कथन करते हैं—

गा०—हे क्षपक ! दस प्रकारके अब्रह्मको त्याग कर ब्रह्मचर्यकी रक्षा कर । और पांच प्रकार के स्त्री वैराग्यमें सदा सावधान रह ॥८७१॥

ब्रह्मचर्यके पालन करनेको तो कहा । किन्तु ब्रह्मचर्य क्या है यही नहीं जानते । इसके लिए कहते हैं—

गा०-टी०—ब्रह्म शब्दसे जीव कहा जाता है । अथवा 'बृह' धातुसे ब्रह्म शब्द बना है उसका अर्थ होता है बढ़ना । ज्ञान दर्शन आदि रूपसे बढ़नेको ब्रह्म कहते हैं । अथवा जब सयोग केवली जिन लोकपूरण समुद्घात करते हैं तो उनके आत्म प्रदेश लोकाकाश प्रमाण बढ़कर फैल

यतो वृत्तिर्वा 'सं' तां 'जाण' जानीहि। 'बंभचेरं' ब्रह्मचर्यं। 'विमुक्कपरदेहतत्तिस्स' विमुक्तपरदेहव्यापारस्य ॥८७२॥

मनसा वचसा शरीरेण परशरीरगोचरव्यापारातिशयं त्यजतः दशविधाब्रह्मत्यागात् दशविधं ब्रह्मचर्यं भवतीति वक्तुकामो ब्रह्ममेवमाचष्टे—

इत्थिविसयाभिलासो वत्थिविमोक्खो य पणिदरससेवा।
संसत्तदव्वसेवा तदिंदियालोयणं चेव ॥८७३॥

'इत्थिविसयाभिलासो' स्त्रीसम्बन्धिनो ये इन्द्रियाणां विषयास्तासां रूप, तदीयोऽधररसः, तासां वक्त्रप्रभवो गन्धः तासां कलं गीतं, हासो, मधुरं वचः, मृदुस्पर्शश्च तत्र अभिलाषः। आत्मस्वरूपपरिज्ञानपरिणतिलक्षणं ब्रह्मचर्यं 'वहतीति आत्मा ब्रह्म ततोऽन्यो वामलोचनाशरीरगतो रूपादिपर्यायः सोऽत्र भण्यतेऽब्रह्मशब्देन तत्र चर्या नामाभिलाषपरिणतिः। 'वत्थिविमोक्खो' मेहनविकारानिवारणं[2]। 'पणिदरससेवा' वृष्याहारसेवना। 'संसत्तदव्वसेवा' स्त्रीभिः संसक्तानां सम्बद्धानां शय्यादीनां सेवा तदङ्गस्पर्शवदेव कामिनां तनुप्राप्तद्रव्यस्पर्शोऽपि प्रीतिं जनयति। 'तदिंदियालोयणं चेव' तासां वराङ्गावलोकनं च ॥८७३॥

सक्कारो संकारो अदीदसुमरणमणागदभिलासो।
इट्ठविसयसेवा वि य अब्बंभं दसविहं एदं ॥८७४॥

'सक्कारो' सत्कारः सम्मानना। स च तनुरागप्रवर्तितः। 'संकारो' संस्कारः तासां वस्त्रमाल्यादिभिः।

जाते हैं। इस प्रकारसे जो बढ़ता है वह ब्रह्म जीव है उस ब्रह्ममें ही चर्या ब्रह्मचर्य है। पराये शरीर सम्बन्धी व्यापारसे अर्थात् स्त्री रमणादिसे विरत मुनि अनन्त पर्यायात्मक जीव स्वरूप का ही अवलोकन करते हुए जो उसीमें रमण करता है वह ब्रह्मचर्य है ॥८७२॥

मन वचन कायसे पर शरीर सम्बन्धी व्यापार विशेषको जिसने त्याग दिया है उसके दस प्रकारके अब्रह्मका त्याग करनेसे दस प्रकारका ब्रह्मचर्य होता है यह कहनेकी इच्छासे आचार्य अब्रह्मके भेद कहते हैं—

गा०-टी०—स्त्री सम्बन्धी जो इन्द्रियोंके विषय हैं—उनका रूप, उनके अधरका रस, उनके मुखकी सुगन्ध, उनका मनोहर गायन, हास, मधुर वचन और कोमल स्पर्श, उनकी अभिलाषा करना अब्रह्मका प्रथम भेद है। आत्माके स्वरूपको जानकर उसीमें लीन होना ब्रह्मचर्य है। उसको वहन करनेसे आत्मा ब्रह्म है। उससे अन्य स्त्रीके शरीर सम्बन्धी जो रूप रसादि हैं उन्हे यहाँ अब्रह्म शब्दसे कहा है। उसमें चर्या अर्थात् अभिलाषा रूप परिणति अब्रह्मचर्य है। लिंगमे हुए विकारको दूर न करना दूसरा अब्रह्मका भेद है। इन्द्रियमद कारक आहार करना तीसरा भेद है। स्त्रियोंसे सम्बद्ध शय्या आदिका सेवन चतुर्थ भेद है। स्त्रियोंके शरीरके स्पर्शकी ही तरह उनके शरीरसे सम्बद्ध वस्तुओंका स्पर्श भी कामी जनोंको रागकारक होता है। स्त्रियोंके उत्तम अंगोंका अवलोकन पाँचवाँ भेद है ॥८७३॥

गा०—स्त्रियोंका सम्मान करना छठा भेद है। वस्त्र माला आदिसे उन्हें आभूषित करना

---

१. विहरति–अ०। २. कारनिवा–अ० आ०।

'अतीदाणुसरणं' अतीतकालरतिक्रीडास्मरणं । 'अणागदाभिलासो' भविष्यति काले एवं तया सह क्रीडां करिष्यामि इति रत्यभिलाषः । 'इट्ठविसयसेवा वि य' इष्टविषयसेवापि च । 'अब्बंभं दसविहं एवं' दशप्रकारमब्रह्म । अक्षीणरागस्य पराङ्गोपयोगाग्रहेतो भवतः । तेन संपूर्णोपयोगं, पराङ्गाकर्षणं[1] अब्रह्ममिति वीतरागतायां परं ब्रह्मचर्यं ततोऽपरिहार्यं दशविधमब्रह्मेति निरूपितं ॥८७४॥

> एवं विसग्गिभूदं अब्बंभं दसविहंपि णादव्वं ।
> आवादे मधुरमिव होदि विवागे य कडुयदरं ॥८७५॥

'एवं विसग्गिभूदं' विषाग्निना सदृशं एतदब्रह्म दशप्रकारमिति ज्ञातव्यं । आपाते मधुरमिव भवति विपाके तु कटुकतमं ॥८७५॥

स्त्रीविषयो रागोऽब्रह्म स च तत्प्रतिपक्षभूतवैराग्येण नाशयितुं शक्यते इति मत्वा वैराग्योपायकथनामाचष्टे—

> कामकदा इत्थिकदा दोसा असुचित्तवुड्ढसेवा य ।
> संसग्गदोसा वि य करंति इत्थीसु वेरग्गं ॥८७६॥

'कामकदा इत्थिकदा' कामकृताः स्त्रीकृताश्च दोषाः । अशुचित्वं, वृद्धसेवा, संसर्गदोषाश्च कुर्वन्ति स्त्रीषु वैराग्यं ॥८७६॥

कामकृतदोषनिरूपणा प्रबन्धेन उत्तरेण क्रियते—

> आवइया किर दोसा इहपरलोए दुहावहा होंति ।
> सव्वे वि आवहदि ते मेहुणसण्णा मणुस्सस्स ॥८७७॥

'आवदिया किर दोसा' इत्यादिना यावन्तः किल जन्मद्वये, 'दुहावहा' दुःखावहा भवन्ति दोषा हिंसादयस्तान्सर्वानपि आवहति मैथुनसंज्ञा मनुष्यस्य ॥८७७॥

सातवाँ भेद है । अतीत कालमें की गई रति क्रीडाका स्मरण करना आठवाँ भेद है । भविष्य कालमें मैं उसके साथ इस प्रकार क्रीड़ा करूँगा इस प्रकार अनागत रतिमें अभिलाषा नौवाँ भेद है । इष्ट विषयोंका सेवन दसवाँ भेद है । इस प्रकार अब्रह्मके ये दस भेद हैं ॥८७४॥

गा०—इस प्रकार विष और आगके समान अब्रह्मके दस भेद जानना । यह प्रारम्भमें मधुर प्रतीत होता है किन्तु परिणाममें अत्यन्त कटु होता है ॥८७५॥

स्त्री विषयक राग अब्रह्म है । वह अपने विरोधी वैराग्यसे ही नष्ट किया जा सकता है । ऐसा मानकर वैराग्यके उपायोंका कथन करते हैं—

गा०—काम विकारसे उत्पन्न हुए दोष, स्त्रियोंके द्वारा किये गये दोष, शरीरकी अशुचिता, वृद्ध जनोंकी सेवा, स्त्रीके संसर्गसे उत्पन्न हुए दोष, इनके चिन्तनसे स्त्रियोंमें वैराग्य उत्पन्न होता है ॥८७६॥

आगे कामजन्य दोष कहते हैं—

गा०—इस लोक और परलोकमें दुःखदायी जितने भी दोष हैं मनुष्यकी मैथुन संज्ञामें वे

---

१. मं ज्ञानं ब्रह्म—आ० मु० ।

सोयदि विलवदि परितप्पदी य कामादुरो विसीयदि य ।
रत्तिंदिया य णिद्दं ण लहदि पज्झादि विमणो य ॥८७८॥

'सोयदि विलवदि' शोचते, विलपति । परितप्यते । 'कामादुरो विसीयदि य' कामातुरो विषीदति च । नक्तं दिनं निद्रां न लभते । ध्यायति विमनस्को भवति ॥८७८॥

सयणे जणे य सयणासणे य गामे घरे व रण्णे वा ।
कामपिसायग्गहिदो ण रमदि य तह भोयणादीसु ॥८७९॥

'सयणे जणे य' स्वजने परजने, शयने, आसने, ग्रामे, गृहे, अरण्ये, भोजनादिक्रियासु च न रमते कामपिशाचगृहीतः ॥८७९॥

कामादुरस्स गच्छदि खणो वि संवच्छरो व पुरिसस्स ।
सीदंति य अंगाइं होदि अ उक्कंठिओ पुरिसो ॥८८०॥

'कामादुरस्स गच्छदि खणो वि' कामव्याधितस्य गच्छति क्षणोऽपि संवत्सर इव । अङ्गानि च सीदन्ति । भवत्युत्कण्ठितश्च पुरुषः ॥८८०॥

पाणिदलधरिदगंडो बहुसो चिंतेदि किं पि दीणमुहो ।
सीदे वि णिवाइज्जइ वेवदि य अकारणे अंगं ॥८८१॥

'पाणिदलधरिदगंडो' पाणितलधृतगंडः, 'बहुसो चिंतेदि' बहुशश्चिन्तां करोति । किमपि दीनमुखः । शीतेऽपि स्विद्यते । वेपते च अङ्गं कारणमन्यदन्तरेण ॥८८१॥

कामुम्मत्तो संतो अंतो डज्झदि य कामचिंताए ।
पीदो व कलकलो सो रदग्गिजाले जलंतम्मि ॥८८२॥

'कामुम्मत्तो' कामोन्मत्तः । कामचिन्तया चिरं दह्यते । पीततात्रद्रव इव । अरत्यग्नेर्ज्वालासु ज्वलन्तीषु ॥८८२॥

सब दोष वर्तमान हैं ॥८७७॥

गा०—कामसे पीड़ित मनुष्य शोक करता है, विलाप करता है, परिताप करता है, विषाद करता है, रात दिन नहीं सोता । इष्ट स्त्री आदिका स्मरण करता है और अन्यमनस्क होकर धर्म कर्म भी भूल जाता है ॥८७८॥

गा०—कामरूपी पिशाचके द्वारा पकड़े गये मनुष्यका मन स्वजनमें, अन्य मनुष्योंमें, शयनमें, आसनमें, ग्राममें, घरमें, वनमें और भोजन आदिमें नहीं रमता ॥८७९॥

गा०—कामसे पीड़ित मनुष्यका एक क्षण भी एक वर्षकी तरह बीतता है । उसके सब अंग वेदनाकारक होते हैं । और वह उत्कण्ठित होता है उसका मन उसीमें लगा रहता है खान-पानमें नहीं लगता । वह उसे रुचता नहीं ॥८८०॥

गा०—वह अपनी हथेलीपर गाल रखकर दीनमुखसे बहुत-सी व्यर्थ चिन्ता किया करता है । शीतकालमें भी पसीनेसे भीग जाता है । विना कारण ही उसके अंग काँपते हैं ॥८८१॥

कामादुरो णरो पुण कामिज्जंते जणे हु अलहंतो।
पयदि मरिदुं बहुधा मरुप्पवादादिकरणेहिं ॥८८३॥

'कामातुरो' कामातुरो नरः। स्वाभिलषिते जने अलभ्यमाने चेष्टते बहुधा मर्तुं। पर्वतोदधिनिपातेन तरुशाखावलम्बनेन, अग्निप्रवेशादिना वा ॥८८३॥

संकप्पंडयजादेण रागदोसचलजमलजीहेण।
विसयबिलवासिणा रदिमुहेण चिंतादिरोसेण ॥८८४॥

'संकप्पंडयजादेण' संकल्पाण्डप्रसूतेन। रागद्वेषचलयमलजिह्वेन। विषयबिलवासिना रतिमुखेन चिन्तातिरोषेण ॥८८४॥

कामभुजगेण दट्ठा लज्जाणिम्मोगदप्पदाढेण।
णासंति णरा अवसा अणेयदुक्खावहविसेण ॥८८५॥

'कामभुजंगेण' कामसर्पेण। लज्जात्वङ्निर्मोचनकारिसदर्पदंष्ट्रेण दष्टा अनेकदुःखावहविषेणावशा नरा नश्यन्ति ॥८८५॥

आसीविसेण अवरुद्धस्स वि वेगा हवंति सत्तेव।
दस होंति पुणो वेगा कामभुजंगावरुद्धस्स ॥८८६॥

'आसीविसेण' आशीविषेण सर्पाग्रजिना दष्टस्यापि सप्तैव वेगा भवन्ति। कामभुजङ्गेन दष्टस्य दशवेगा भवन्ति ॥८८६॥

तान्दशापि वेगान्क्रमेण दर्शयति—

गा०—कामसे उन्मत्त पुरुष अन्तरंगमें कामकी चिन्तासे जला करता है। जैसे आगसे तपा ताम्बेका द्रव पीकर मनुष्य अन्तरंगमें जलता है वैसे ही वह इच्छित स्त्रीके न मिलनेपर अन्तरंगमें जलती हुई अरतिरूप आगकी ज्वालामें जलता है ॥८८२॥

गा०—कामसे पीड़ित मनुष्य अपनी इच्छित स्त्रीके न मिलनेपर प्रायः पर्वतसे गिरकर या समुद्रमें डूबकर या वृक्षकी शाखासे लटककर अथवा आगमें कूदकर मरनेकी चेष्टा करता है ॥८८३॥

गा०—कामरूप सर्प मानसिक संकल्परूप अण्डेसे उत्पन्न होता है। उसके रागद्वेषरूप दो जिह्वाएँ होती हैं जो सदा चला करती हैं। विषयरूपी बिलमें उसका निवास है। रति उसका मुख है। चिन्तारूप अतिरोष है। लज्जा उसकी कांचली है उसे वह छोड़ देता है। मद उसकी दाढ़ है। अनेक प्रकारके दुःख उसका जहर हैं। ऐसे कामरूप सर्पसे डँसा हुआ मनुष्य नाशको प्राप्त होता है ॥८८४-८८५॥

गा०—सब सर्पोंमें प्रमुख आशीविष सर्प होता है। उसके द्वारा डसे मनुष्यके तो सात ही वेग होते हैं। किन्तु कामरूपी सर्पके द्वारा डसे मनुष्यके दस वेग होते हैं ॥८८६॥

उन दस वेगोंको क्रमसे कहते हैं—

पढमे सोयदि वेगे दट्ठुं तं इच्छदे बिदियवेगे ।
णिस्ससदि तदियवेगे आरोहदि जरो चउत्थम्मि ॥८८७॥

'पढमे सोयदि वेगे' प्रथमे वेगे शोचति । द्वितीये वेगे स तं द्रष्टुमिच्छति । निःश्वसिति च तृतीये वेगे । आरोहति ज्वरश्चतुर्थे वेगे ॥८८७॥

डज्झदि पंचमवेगे अंगं छट्ठे ण रोचदे भत्तं ।
मुच्छिज्जदि सत्तमए उम्मत्तो होइ अट्ठमए ॥८८८॥

'डज्झदि पंचमवेगे' पञ्चमवेगेऽङ्गं दह्यते । भक्तारुचिः षष्ठे वेगे । सप्तमवेगे मूर्च्छति । उन्मत्तो भवत्यष्टमे ॥८८८॥

णवमे ण किंचि जाणदि दसमे पाणेहिं मुच्चदि मदंधो ।
संकप्पवसेण पुणो वेगा तिव्वा व मंदा वा ॥८८९॥

नवमे नात्मानं वेत्ति । दशमे वेगे प्राणैर्विमुच्यते । मदान्धस्य संकल्पवशेन पुनस्तीव्रा मन्दा वा भवन्ति वेगाः ॥८८९॥

जेट्ठामूले जोण्हे सूरो विमले णहम्मि मज्झण्हे ।
ण डहदि तह जह पुरिसं डहदि विवड्ढंतओ कामो ॥८९०॥

'जेट्ठामूले' ज्येष्ठमासे शुक्लपक्षे विमले नभसि मध्याह्ने रविः स न दहति तथा यथा पुरुषं दहति प्रवर्द्धमानः कामः ॥८९०॥

सूरग्गी डहदि दिवा रत्तिं च दिवा य डहइ कामग्गी ।
सूरस्स अत्थि उच्छागारो कामग्गिणो णत्थि ॥८९१॥

'सूरग्गी डहदि दिवा' सूर्याग्निर्दहति दिवा, नक्तं दिवा दहति कामाग्निः । सूर्यस्याच्छादनकारी छत्रादिकमस्ति न कामाग्नेः ॥८९१॥

गा०—कामके प्रथम वेगमें सोचता है जिसको देखा या सुना उसके बारेमें चिन्ता करता है। दूसरे वेगमें उसे देखनेकी इच्छा करता है। तीसरे वेगमें दीर्घ निश्वास लेता है। चतुर्थ वेगमें शरीरमें ज्वर चढ़ जाता है ॥८८७॥

गा०—पाँचवें वेगमें अंग जलने लगते हैं। छठे वेगमें भोजन नहीं रुचता। सातवें वेगमें मूर्छित हो जाता है। आठवें वेगमें उन्मत्त हो जाता है ॥८८८॥

गा०—नौवें वेगमें अपनेको भी नहीं जानता। दसवें वेगमें मर जाता है। इस प्रकार कामान्ध पुरुषके संकल्पवश तीव्र या मन्द वेग होते हैं ॥८८९॥

गा०—ज्येष्ठमासके शुक्लपक्षमें मध्याह्नकालमें आकाशके निर्मल रहते हुए सूर्य वैसा नहीं जलाता जैसा पुरुषको प्रज्वलित काम जलाता है ॥८९०॥

गा०—सूर्य अग्नि तो केवल दिनको ही जलाती है किन्तु कामाग्नि रात दिन जलाती है। सूर्यके तापसे बचनेके उपाय तो छाता आदि हैं किन्तु कामाग्निका कोई उपाय नहीं है ॥८९१॥

विज्झायदि सूरग्गी जलादिएहिं ण तहा दु कामग्गी ।
सूरग्गी डहइ तयं अब्भंतरबाहिरं इदरो ॥८९२॥

'विज्झायदि सूरग्गी' विध्याति सूर्यजनितस्तापो जलादिभिर्न तथा जलादिभिः कामाग्निः प्रशाम्यति । सूर्यस्योष्णत्वं त्वचं दहति । कामाग्निरभ्यन्तरं बहिश्च दहति ॥८९२॥

जादिकुलं संवासं धम्मं णियबंधवम्मि अगणित्ता ।
कुणदि अकज्जं पुरिसो मेहुणसण्णापसंमूढो ॥८९३॥

'जादिकुलं' मातृपितृवंशं । 'संवासं' [1]सहवसतः । धर्मं बान्धवानपि अगणय्य पुरुषोऽकार्यं करोति मैथुनसंज्ञामूढः ॥८९३॥

कामपिसायग्गहिदो हिदमहिदं वा ण अप्पणो मुणदि ।
होइ पिसायग्गहिदो व सदा पुरिसो अणप्पवसो ॥८९४॥

'कामपिसायग्गहिदो' कामपिशाचगृहीतः हितमहितं वा न वेत्ति, पिशाचेन गृहीतः पुरुष इव सदा अनात्मवशो भवति ॥८९५॥

णीचो व णरो बहुगं पि कदं कुलपुत्तओ वि ण गणेदि ।
कामुम्मत्तो लज्जालुओ वि तह होदि णिल्लज्जो ॥८९५॥

'णीचो व णरो' नीच इव नरः कृतमपि बहुमुपकारं न गणयति । कुलपुत्रोऽपि सन्कामोन्मत्तो, लज्जावानपि पूर्वं विगतलज्जो भवति ॥८९५॥

कामी सुसंजदाण वि रूसदि चोरो व जग्गमाणाणं ।
पिच्छदि कामग्घत्थो हिदं भणंते वि सत्तू व ॥८९६॥

'कामी सुसंजदाण वि' कामी सुसंयतानामपि रुष्यति । जाग्रतां चोर इव कामग्रस्तः, प्रेक्षते हितं प्रतिपादयतः शत्रुरिवं ॥८९६॥

गा०—सूर्यसे उत्पन्न हुआ ताप तो जल आदिसे शान्त हो जाता है किन्तु कामाग्नि जलादिसे शान्त नहीं होती। सूर्यकी गर्मी तो चर्मको ही जलाती है किन्तु कामाग्नि शरीर और आत्मा दोनोंको जलाती है ॥८९२॥

गा०—मैथुन संज्ञासे मूढ़ हुआ मनुष्य मातृवंश, पितृवंश, साथमें रहनेवाले मित्रादि, धर्म, और बन्धु बान्धवोंकी भी परवाह न करके अकार्य करता है ॥८९३॥

गा०—कामरूपी पिशाचके द्वारा पकड़ा गया मनुष्य अपने हित अहितको नहीं जानता। पिशाचके द्वारा पकड़े गये मनुष्यकी तरह अपने वशमें नहीं रहता ॥८९४॥

गा०—जैसे नीच मनुष्य किये गये उपकारको भुला देता है वैसे ही कुलीन वंशका भी व्यक्ति कामसे उन्मत्त होकर पूर्वमें लज्जावान होते हुए निर्लज्ज हो जाता है ॥८९५॥

गा०—जैसे चोर जागते हुए व्यक्तियोंपर रोष करता है वैसे ही कामी संयमीजनोंपर रोष

1. सहवसनं—आ० मु० । संवासं सहवसतो जनान् मित्रादीन्—मूलारा० ।

आयरियउवज्झाए कुलगणसंघस्स होदि पडिणीओ ।
कामकलिणा दु घत्थो धम्मियभावं पयहिदूणं ॥८९७॥

'आयरियउवज्झायम' आचार्याणां अध्यापकानां, कुलस्य गुरुशिष्यवर्गस्य, गुरुधर्मभ्रातृशिष्याणां वा चातुर्वर्ण्यस्य वा संघस्य च भवति प्रतिकूलः कामकलिना ग्रस्तः धार्मिकत्वं विहाय ॥८९७॥

कामग्घत्थो पुरिसो तिलोयसारं जहदि सुदलाभं ।
तेलोक्कपूइदं पि य माहप्पं जहदि विसयंधो । ८९८॥

'कामग्घत्थो' कामग्रस्तः । त्रैलोक्यसर्वसारमपि श्रुतलाभं जहाति । त्रैलोक्येन पूजितमपि माहात्म्यं त्यजति विषयान्धः ॥८९८॥

तह विसयामिसघत्थो तणं व तवचरणदंसणं जहइ ।
विसयामिसगिद्धस्स हु णत्थि अकायव्वयं किंचि ॥८९९॥

'तह विसयामिसघत्थो' विषयामिषलंपटः । तृणमिव तपश्चरण दर्शनं च जहाति । विषयामिषलंपटस्य नास्त्यकार्यं किञ्चित् ॥८९९॥

अरहंतसिद्ध आयरिय उवज्झाय साहु सव्ववग्गाणं ।
कुणदि अवण्णं णिच्चं कामुम्मत्तो विगयवेसो ॥९००॥

अरहंतसिद्धआयरिय' अर्हतां, सिद्धानां, आचार्याणां, उपाध्यायाना, सर्वेषा यतीना चावर्णवादं करोति नित्यं विकृतवेषः ॥९००॥

अयसमणत्थं दु:खं इहलोए दुग्गदी य परलोए ।
संसारं पि अणंतं ण मुणदि विसयामिसे गिद्धो ॥९०१॥

करता है । तथा कामी हितकारी बात कहनेवालेको शत्रुके समान देखता है ॥८९६॥

गा०—कामरूपी कलिकालसे ग्रस्त मनुष्य धार्मिक भावको त्याग आचार्य, उपाध्याय, कुल—गुरुका शिष्य समुदाय, गण—गुरुके धर्मबन्धुओंका शिष्य समुदाय और चतुर्विध संघका विरोधी बन जाता है ॥८९७॥

गा०—कामसे ग्रस्त मनुष्य तीनों लोकोंके सारभूत श्रुतज्ञानके लाभको भी छोड़ देता है । वह विषयान्ध होकर तीनों लोकोंसे पूजित माहात्म्यको भी छोड़ देता है अर्थात् उसे शास्त्र स्वाध्यायमें रस नहीं रहता और कामके पीछे अपना महत्त्व भी भुला देता है ॥८९८॥

गा०—तथा विषयरूपी मांसमे आसक्त होकर तप चारित्र और सम्यग्दर्शनको तिनकेकी तरह त्याग देता है । ठीक ही है विषयरूपी मांसके लोभीके लिए कुछ भी अकार्य नहीं है, वह सब कुछ अनर्थ कर सकता है ॥८९९॥

गा०—कामसे उन्मत्त साधु साधुरूपको त्यागकर अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सब साधुजनोंका अवर्णवाद करता है, उनपर मिथ्या दोषारोपण करता है ॥९००॥

गा०—विषयरूपी मांसका लोभी मनुष्य अनर्थकारी अपयश, इस लोकके दुःख, परलोकमें दुर्गति और भविष्यमें संसारकी अनन्तताको नहीं जानता । अर्थात् वह इस बातको भुला देता है

'अयसमयसयं' अयशः अयर्श। दुःखं चेहलोके परलोके दुःखां गतिं, संसारमप्यनन्तं भाविनं न वेत्ति विषयामिषे मूढः ॥९०१॥

णिच्चं पि विसयहेदुं सेवदि उच्चो वि विसयलुद्धमदी।
बहुगं पि य अवमाणं विसयंधो सहइ माणीवि ॥९०२॥

'णिच्चं पि विसयहेदु' ज्ञानकुलादिभिरतीव न्यूनमपि सेवते कुलीनो बुद्धिमानपि विषयलुब्धमतिः। परिभवं महान्तमपि धनिभिः क्रियमाणं सहते विषयान्धः ॥९०२॥

णीचं पि कुणदि कम्मं कुलपुत्तदुगुंछियं विगदमाणो।
[1]वारत्तओ वि कम्मं अकासि जह लंखियाहेदुं ॥९०३॥

'णीचं पि कुणदि' नीचमपि करोति कर्म उच्छिष्टभोजनादिकं कुलीननिन्दितं विगताभिमानः। वारत्तिणो नाम यतिरतिगर्हितं कर्म कृतवान् तथा कुलीनः स्त्रीनिमित्तं ॥९०३॥

सूरो तिक्खो मुक्खो वि होइ वसिओ जणस्स सधणस्स।
विसयामिसम्मि गिद्धो माणं रोसं च मोत्तूणं ॥९०४॥

'सूरो तिक्खो मुक्खो वि होइ' शूरस्तीक्ष्णो मुख्योऽपि धनिनो जनस्य वशवर्ती भवति। विषयामिषाये लुब्धः मूढः अभिमानं रोषं मुक्त्वा ॥९०४॥

माणी वि असरिसस्स वि चडुयम्मं कुणदि णिच्चमविलज्जो।
मादापिदरे दासं वायाए परस्स कामेंतो ॥९०५॥

'माणी वि असरिसस्स वि' मानी असदृशस्यापि चाटु करोति। आत्मा आत्मीयां मातरं पितरं वा दास्यमापादयति। तथाहं दासो युष्मे भवामीति वचस्परं काम्यमानः ॥९०५॥

कि विषयासक्तिका फल संसारमें अपयश, इस लोकमें कष्ट, परलोकमें दुर्गति है तथा संसारका अन्त होना दुष्कर है ॥९०१॥

गा०—विषयोंका लोभी मनुष्य कुलीन और बुद्धिमान् होते हुए भी विषय सेवनके लिए ज्ञान और कुल आदिसे अत्यन्तहीन की भी सेवा करता है। वह विषयान्ध धनी पुरुषोंके द्वारा किये गये महान् तिरस्कारको भी सहन करता है ॥९०२॥

गा०—वह अपना सम्मान खोकर कुलीन पुरुषोंके द्वारा निन्दित उच्छिष्ट भोजन आदि नीचकर्म करता है। जैसे वारत्तक नामक कुलीन यतिने नर्तकीके लिए अत्यन्त निन्दित काम किया ॥९०३॥

गा०—विषयरूपी मांसका लोभी मनुष्य अभिमान और रोष त्यागकर सूरवीर, असहनशील और प्रमुख होते हुए भी धनी मनुष्यके वशमें हो जाता है ॥९०४॥

गा०—अभिमानी भी निर्लज्ज होकर अपनेसे नीच पुरुषका नित्य चाटुकर्म—पैर दबाना आदि करता है। अपने माता पिताको उसका दास दासी कहता है और कहता है कि मै तुम्हारे

1. वारत्तिओ आ० मु०। वारत्तओ वारत्तको नाम यतिः—मूलारा०।

वयणपडिवत्तिकुसलत्तणं पि णासइ णरस्स कामिस्स ।
सत्थप्पहव्व तिक्खा वि मदी मंदा तहा हवदि ॥९०६॥

'वयणपडिवत्तकुसलत्तणं पि' वचने प्रतिपत्तौ च कुशलतापि नश्यति कामिनो नरस्य । शास्त्रप्रहता शास्त्रे घटिता अतितीक्ष्णापि मति कुंठा भवति ॥९०६॥

होदि सचक्खू वि अचक्खु व बधिरो वा वि होइ सुणमाणो ।
दुट्ठकरेणुपसत्तो वणहत्थी चेव संमूढो ॥९०७॥

'होदि सचक्खू वि अचक्खु व' चक्षुष्मानपि अचक्षुरिव भवति । परं समीपस्थमपि यतो न पश्यति । 'बहिरो वा वि होदि' बधिर इव भवति । 'सुणमाणो' शृण्वन्नपि अव्यक्तश्रवणात् । 'दुट्ठकरेणुपसत्तो' दुष्टकरिणी-प्रसक्तः । 'वणहत्थी चेव' वनहस्तीव । 'संमूढः' ॥९०७॥

सलिलणिवुडोव्व णरो वुज्झंतो विगयचेयणो होदि ।
दक्खो वि होइ मंदो विसयपिसाओवहदचित्तो ॥९०८॥

'सलिलणिवुडो वुज्झंतो णरोव्व' सलिलनिमग्नः प्रवाहेणोह्यमानो नरो यथा । 'विगयचेयणो' विगत-चैतन्यो भवति । 'दक्खो वि होदि मंदो' दक्षोऽपि सर्वकार्येषु प्रवीणोऽपि जडो भवति । 'विसयपिसाओवहद-चित्तो' विषयपिशाचोपहतचित्तः विषया रूपादयश्चेतोविभ्रमहेतुत्वात्पिशाचा इवेति विषया. पिशाचा इत्युक्तः ॥९०८॥

बारसवासाणि वि संवसित्तु कामादुरो ण णासीय ।
पादंगुट्ठमसंतं गणियाए गोरसंदीवो ॥९०९॥

'बारसवासाणि' द्वादशवर्षमात्रं सहोषित्वापि । 'कामादुरोपि' कामातुरोऽपि । न ज्ञातवान्गोरसंदीपः । किं ? गणिकायाः पादांगुष्ठमसन्तं ॥९०९॥

घरमें दास बनकर रहूँगा ॥९०५॥

गा०—कामी मनुष्यकी वचन कुशलता और समझदारी नष्ट हो जाती है । शास्त्रमें प्रविष्ट अति तीक्ष्ण भी बुद्धि मन्द हो जाती है ॥९०६॥

गा०—दुष्ट हथनीमें आसक्त जंगली हाथीकी तरह मूढ़ कामी पुरुष नेत्रवाला होकर भी अन्धा होता है क्योंकि उसे समीपकी वस्तु भी नहीं दिखाई देती । तथा कानवाला होकर भी बहरा होता है ॥९०७॥

गा०—जैसे जलमें डूबा और प्रवाहमें बहता मनुष्य चेतनारहित होता है । वैसे ही जिसका चित्त विषयरूपी पिशाचके द्वारा गृहीत है वह मनुष्य सब कार्योंमें प्रवीण होते हुए भी मन्द होता है । यहाँ विषयोंको पिशाच कहा है क्योंकि रूपादि विषय चित्तको मोहमें डाल देते हैं इसलिए वे पिशाचके समान हैं ॥९०८॥

गा०—गोरसंदीप नामक कामपीड़ित मनुष्य बारह वर्ष तक गणिकाके साथ रहकर भी यह नहीं जान सका कि गणिकाके पैर में अँगूठा नहीं है ॥९०९॥

सीदं उण्हं तण्हं छुहं च दुस्सेज्जं भत्त पंथसमं ।
सुकुमारो वि य कामी सहइ वहइ भारमवि गरुयं ॥९१०॥

'सीदं उण्हं तण्हं' शीतं, उष्णं, तृष्णां, क्षुधां, दुःशयनं, दुराहारं कृतं, अध्वगमनश्रमं च सहते। कामी सुकुमारोऽपि गुरुमपि भारं वहति ॥९१०॥

गायदि णच्चदि धावदि कसइ ववदि लवदि तह मलेइ णरो ।
तुण्णेइ वुणइ जाचइ कुलम्मि जादो वि विसयवसो ॥९११॥

'गायदि णच्चदि' गायति, नृत्यति, धावति, कृषति, वपति, लुनाति, मर्दयति, सीव्यति, पट्टवस्त्रादिवपनं करोति। याचते कुलप्रसूतोऽपि सन्विषयमुपयत आत्मानं भार्यां च पोषयितुं ॥९११॥

सेवदि णियादि रक्खदि गोमहिसिमजावियं हयं हत्थि ।
ववहरदि कुणदि सिप्पं सिणेहपासेण दढबद्धो ॥९१२॥

'सेवदि णियादि' सेवति सस्यान्तर्गतं तृणादिकमेव। निजति, रक्षति गां, महिषी, अजा., आविकं, हयं, हस्तिनो वा। वाणिज्यं करोति। समस्तमेवुच्चं अतीव तत्कर्मादिकं करोति कामिनीगतस्नेहभावेन दृढबद्धः ॥९१२॥

वेढेइ विसयहेदुं कलत्तपासेहिं दुव्विमोएहिं ।
कोसेण कोसियारुव्व दुम्मदी णिच्च अप्पाणं ॥९१३॥

'वेढेइ विसयहेदुं' वेष्टयति विषयहेतुनिमित्तं। आत्मानं कलत्रपाशैर्मोचयितुमशक्यैः कोशेन कोशकारकीट इव दुर्मतिः ॥९१३॥

गा०—सुकुमार भी कामी पुरुष सर्दी, गर्मी, प्यास, भूख, खोटी शय्या, खराब भोजन, मार्गमें चलनेका श्रम सहता है और भारी बोझा ढोता है ॥९१०॥

गा०—उच्चकुलमें जन्मा भी मनुष्य विषयासक्त होकर गाता है, नाचता है, दौड़ता है, खेत जोतता है, अन्न बोता है, खेती काटता है, अनाज निकालता है, कपड़े सीता है, बुनता है ? यह सब काम विषय परवश होकर अपने और अपनी पत्नीके भरणपोषणके लिए करता है ॥९११॥

गा०—स्त्रीके स्नेहजालमें दृढ़तापूर्वक बँधा मनुष्य राजा आदिकी सेवा करता है, धानके खेतमें लगी घासको उपाड़ता है। गाय, भैंस, बकरी, भेड़े, घोड़ा, हाथी आदि पालता है। व्यापार करता है। शिल्पकर्म-चित्रकला आदि करता है ॥९१२॥

गा०—जैसे रेशमका कीड़ा अपने ही मुखमेंसे तार निकालकर उससे अपनेको बाँधता है। वैसे ही दुर्बुद्धि मनुष्य विषयोंके लिए स्त्रीरूप पाशके द्वारा, जिसका छूटना अशक्य है, नित्य अपनेको बाँधता है ॥९१३॥

---

१. -भ्वगमनं आ० मु०।

रागो दोसो मोहो कसायपेसुण्ण संकिलेसो य ।
ईसा हिंसा मोसा सूया तेण्णिक्क कलहो य ॥९१४॥

'रागो दोसो' रागो द्वेषः, अज्ञानं, कषायाः, परदोषसंस्तवनं, संक्लेशः, ईर्ष्या, हिंसा, मृषा, परगुणासहनं, स्तैन्यं कलहश्च ॥९१४॥

जंपणपरिभवणियडिपरिवादरिपुरोगसोगधणणासो ।
विसयाउलम्मि सुलहा सव्वे दुक्खावहा दोसा ॥९१५॥

'जंपणपरिभव' जल्पनं परिभवः वंचना परोक्षेऽपवादः । शत्रुः, रोग. शोको, धननाश इत्यादयः । विसयाउलम्मि सुलहा' विषयाकुले सुलभाः सर्वेऽपि दुःखावहा दोषाः ॥९१५॥

न केवलमात्मन एव उपद्रवः अपि तु परोपद्रवमपि करोति कामीति वदति—

अवि य वहो जीवाणं मेहुणसेवाए होइ बहुगाणं ।
तिलणालीए तत्ता सलायवेसो व जोणीए ॥९१६॥

'अवि य वहो जीवाणं' अपि च बहूनां जीवानां वधो भवति । मैथुनसेवया । 'जोणीए' योन्यां तिलैः पूर्णायां नालिकाया तप्तायःशलाकाप्रवेश इव ॥९१६॥

कामुम्मत्तो महिलं गम्मागम्मं पुणो अविण्णाय ।
सुलहं दुलहं इच्छियमणिच्छियं चावि पत्थेदि ॥९१७॥

'कामुम्मत्तो' कामोन्मत्तो । स्त्रियः शरीरमात्मनश्च[1] गम्यं भोग्यं उतस्विदगम्यमभोग्यमिति अविज्ञाय इदमित्यमशुचि इति । सुलभां दुर्लभां आत्मन्यभिलाषवती च प्रार्थयते ॥९१७॥

गा०—राग, द्वेष, मोह, कषाय, पैशुन्य—दूसरेके दोष कहना, संक्लेश, ईर्ष्या, हिंसा, झूठ, असूया—दूसरेके गुणोंको न सहना, चोरी, कलह, वृथा बकवाद, तिरस्कार, ठगना, पीठ पीछे बुराई करना, शत्रु, रोग, शोक, धननाश इत्यादि सब दुःखदायी दोष विषयासक्त व्यक्तिमें सुलभ होते हैं ॥९१४-९१५॥

आगे कहते हैं कि कामी पुरुष केवल अपना ही घात नहीं करता, दूसरोंका भी घात करता है—

गा०—जैसे तिलोंसे भरी नलिकामें तपाये हुए लोहेकी सलाईके प्रवेशसे तिलोंका घात होता है वैसे ही मैथुन सेवनसे योनिमें स्थित बहुतसे जीवोंका घात होता है ॥९१६॥

गा०—कामसे उन्मत्त पुरुष यह स्त्री भोगने योग्य है या अयोग्य है, सुलभ है या दुर्लभ है, मुझे चाहती है या नहीं चाहती, इत्यादि जाने बिना उसकी याचना करता है ॥९१७॥

---

१. श्च गम्य भोग्यं उतस्विदगम्यमभोग्य मिति अवि—मु० । गम्मागम्म स्त्रियाः शरीरमात्मनश्च गम्यं भोग्यं उतस्विदगम्यमभोग्यमिति ...टीकाकारः । अन्ये तु गम्यागम्यमित्यपि महिलाविशेषणमाहुः । तथा च तद्ग्रन्थः 'कामोन्मत्तो गम्यामगम्यरूपां च दुर्लभां सुलभाम् । अज्ञात्वा प्रार्थयते भोक्तुं सेच्छामथानिच्छाम्' ।
—मूलारा० ।

दट्ठूण परकलत्तं णिहिदा पत्थेइ णिग्घिणो जीवो।
ण य तत्थ किं पि सुक्खं पावदि पावं च अज्जेदि ॥९१८॥

'दट्ठूण परकलत्तं' परेषां कलत्रं दृष्ट्वा। कथं तावत् प्रार्थयते जीवो निरस्तलज्जो ममेयं भवतीति। एतस्यां प्रार्थनायामाभिगतायां दुःखं प्राप्नोति। पापं नियोगेनार्जयति ॥९१८॥

आहट्ठिदूण चिरमवि परस्स महिलं लभित्तु दुक्खेण।
उप्पित्थमवीसत्थं अणिव्वुदं तारिसं चेव ॥९१९॥

'आहट्ठिदूण चिरमवि' चिरकालमभिलष्यापि। 'परस्स महिलं' परस्य महिलां परस्य स्त्रियं। 'दुक्खेण लभित्तु' क्लेशेन लब्ध्वा। 'उप्पित्थं' व्याकुलवदविश्वस्तमनिर्वृतं चरणं इति क्रियाविशेषत्वेन नेयं। 'तारिसो चेव' यथा तदैवाप्राप्तेः पूर्वमतृप्तहृदयः पश्चादपि तथैवातृप्तहृदयत्वात्तादृश इत्युच्यते ॥९१९॥

कहमवि तमंधयारे संपत्तो जत्थ तत्थ वा देसे।
किं पावदि रइसुक्खं भीदो तुरिदो वि उल्लावो ॥९२०॥

'कथमपि तमंधयारे' केनचित्प्रकारेण परवञ्चनं कृत्वा[1]। अंधकारे[2] संप्राप्तः। ता यत्र तत्र वा देशे, शून्यगृहे शून्यायतने, अटव्यां च किं प्राप्नोति? रतिसौख्य। प्रकाशे स्वाभिलषितानवयवास्तस्याः पश्यतो मृदुनि शयनतले विगतमनोव्याकुलस्य सुखं भवति। नान्यथेति भावः। किं प्राप्नोति रतिसुखं भीतः सन् राजपुरुषेभ्यस्तस्य वा संबन्धिभ्यः। पश्यन्ति मां परे, बध्नन्ति मा, परपत्नी[3] निवासं भाषणं अपि तया त्वरित किं पुना रतम् ॥९२०॥

परमहिलं सेवंतो वेरं वधबंधकलहधणनासं।
पावदि रायकुलादो तिस्से णीयल्लयादो वा ॥९२१॥

गा०—पर स्त्रीको देखकर कामान्ध पुरुष लज्जा त्याग कैसे प्रार्थना करता है कि यह मेरी होवे : उसमें उसे कुछ भी सुख नहीं उल्टे, पापका ही उपार्जन करता है ॥९१८॥

गा०– चिरकाल तक अभिलाषा करनेपर कदाचित् बड़े कष्टसे परस्त्रीका लाभ भी हो जाये तो उसके मिलनेसे पूर्व वह जैसा व्याकुल, अविश्वस्त और अतृप्त रहता है मिलनेपर भी वैसा ही रहता है ॥९१९॥

गा०-टी०—किसी प्रकार दूसरोंको धोखा देकर अन्धकारमें किसी शून्य घरमें या जंगलमें उसे पाकर भी क्या रति सुख पाता है वह कामी। प्रकाशमें कोमल शय्यापर मनकी व्याकुलताके अभावमें उस नारीके इच्छित अंगोंको देखते हुए सुख होता है, अन्यथा नहीं होता। किन्तु राजपुरुषोंसे अथवा उस नारीके सम्बन्धियोंसे भयके होते हुए कि मुझे कोई देखे नहीं, कोई बाँधे नहीं, कि पर पत्नीके साथ निवास करता है, ऐसी स्थितिमें भाषण करनेकी भी जल्दी रहती है, रमण करनेकी तो बात ही क्या? तब क्या सुख मिल सकता है? ॥९२०॥

---

१. ज्ञात्वा–आ०। २. अन्धकारं–अ०। अन्धकारं आ०–अन्नकाल ज०। ३. त्नीति वा संभा०–आ० मु०।

'परमहिलं सेवंतो' परस्त्रियं सेवमानः, वैरं, वधं, बन्धं, कलहं, धननाशं च प्राप्नोति [1]राजमूलात् तस्याः स्वजनाद्वा ॥९२१॥

जदि दा जणेइ मेहुणसेवा [2]ण्वंस दारम्मि ।
अदितिव्वं कह पावं ण हुज्ज परदारसेविस्स ॥९२२॥

'जदि ता जणेइ' यदि तावज्जनयति मैथुनकर्मसेवा । किं ? पापं स्वभार्यायां । अतितीव्र कथं पापं न भवेत् 'परदारसेविस्स' परस्त्रीसेविनः अदत्तादानमब्रह्मेति द्वौ यतो दोषौ ॥९२२॥

मादा धूदा भज्जा भगिणीसु परेण विप्पियम्मि कदे ।
जह दुक्खमप्पणो होइ तहा अण्णस्स वि णरस्स ॥९२३॥

'मादा धूदा' मातरि दुहितरि भगिन्यां परेण विप्रिये कृते कर्मणि यथा दुःखमात्मनो भवति । तथाऽन्यस्यापि नरस्य दुःखं भवति । तन्मात्रादिविषये असद्व्यवहारे सति ॥९२३॥

एवं परजणदुक्खे णिरवेक्खो दुक्खबीयमज्जेदि ।
णीयं गोदं इत्थीणउंसवेदं च अदितिव्वं ॥९२४॥

'एवं परजणदुःखे' एवमन्यजनदुःखे निरपेक्षः परदाररतिप्रियो दुःखबीजं संचिनोति । किं ? असद्वेद्यं कर्म, नीचैर्गोत्रं, स्त्रीत्वं, नपुंसकत्वं च ॥९२४॥

जमणिच्छंती महिलं अवसं परिभुंजदे जहिच्छाए ।
तह य किलिस्सइ जं सो तं से परदारगमणफलं ॥९२५॥

'जमणिच्छंती महिलं' यन्नेच्छन्ती पुमांसं स्त्रीत्वेन अवशा यथेच्छया परिभुज्यमाना यत्क्लिश्यति तत्तस्या जन्मान्तराचरितपरदारगमनफलं ॥९२५॥

गा०—परस्त्रीका सेवन करने वालेके सब वैरी होते हैं। वह राजाके पुरुषोंसे अथवा उस स्त्रीके सम्बन्धियोंसे बध, बन्धन, कलह और धन नाशका कष्ट पाता है ॥९२१॥

गा०—यदि अपनी पत्नीमें भी मैथुन सेवनसे पाप कर्मका बन्ध होता है तो परस्त्री सेवीको अति तीव्र पापका बन्ध क्यों नहीं होगा; क्योंकि उसमें चोरी और अब्रह्म सेवन दो दोष हैं ॥९२२॥

गा०—अपनी माता, पुत्री और बहिनके प्रति यदि कोई अप्रिय व्यवहार करे तो जैसे हमे दुःख होता है वैसे ही दूसरोंकी माता आदिके विषयमें असद् व्यवहार करने पर दूसरों को भी दुःख होता है ॥९२३॥

गा०—इस प्रकार दूसरोंके दुःखका ध्यान न रखनेवाला परस्त्रीगामी पुरुष दुःखके बीज नीचगोत्र, स्त्रीवेद और नपुंसक वेदका अति तीव्र बन्ध करता है ॥९२४॥

गा०—इस जन्ममें जो स्त्री परवश होकर ऐसे पुरुषके द्वारा, जिसे वह नहीं चाहती, यथेच्छ भोगी जाती और कष्ट पाती है यह उसके पूर्वजन्ममें किये गये पर स्त्री-गमनका फल है ॥९२५॥

---

१. राजकुलात्–आ० । २. वा पावं समम्मि दारम्मि–आ० मु० ।

महिलावेसविलंवी जं णीचं कुणइ कम्मयं पुरिसो ।
तह वि ण पूरइ इच्छा तं से परदारगमणफलं ॥९२६॥

'महिलावेसविलंबी' स्त्रीवेषविलम्बनापरः पुरुषो यन्नीचं कर्म करोति । तथापि न पूर्यते इच्छा तत्तस्य परदारगमनफलम् ॥९२६॥

भज्जा भगिणी मादा सुदा य बहुएसु [1]भवसयसहस्सेसु ।
अयसायासकरीओ होंति विसीला य णिच्चं से ॥९२७॥

'भज्जा भगिणी मादा' भार्या भगिनी माता सुता च बहुषु भवसहस्रेषु अयशः आयासं कुर्वन्त्यो भवन्ति नित्यं विशीलास्तथा तस्य ॥९२७॥

होइ सयं पि विसीलो पुरिसो अदिदुब्भगो परभवेसु ।
पावइ वधबंधादि कलहं णिच्चं अदोसो वि ॥९२८॥

'होदि सयं पि' भवति स्वयमपि विशीलः, पुरुषो[2] दुर्भगश्च प्राप्नोति नित्यं च वधबन्धं आत्मा सकलहं च अदोषोऽपि ॥९२८॥

इहलोए वि महल्लं दोसं कामस्स वसगदो पत्तो ।
कालगदो वि य पच्छा कडारपिंगो गदो णिरयं ॥९२९॥

'इहलोए वि महल्लं कडारपिंगो' इहलोकेऽपि महान्तं दोषं प्राप्तः कामवशङ्गतः । कालं कृत्वा पश्चान्नरके प्रविष्टः कडारपिङ्गः । वाच्यमत्राख्यानकम् ॥९२९॥

एदे सव्वे दोसा ण होंति पुरिसस्स बंभचारिस्स ।
तव्विवरीया य गुणा हवंति बहुगा विरागिस्स ॥९३०॥

विशेषार्थ—पं० आशाधरजीने अपनी टीकामें 'अन्ये' कहकर इसका दूसरा अर्थ इस प्रकार लिखा है—जो पुरुष उसे न चाहनेवाली नारीको बलपूर्वक यथेच्छ भोगता है और भोगते हुए भी सुख नहीं पाता, यह उसके परस्त्री भोगका फल है जो कष्टरूप है ॥९२५॥

गा०—स्त्रीका वेश धारण करनेवाला जो पुरुष (नपुंसक) नीच कर्म करता है, और यहाँ वहाँ काम क्रीड़ा करके भी सन्तुष्ट नहीं होता, उसका यह नपुसकपना परस्त्रीगमनका फल है ॥९२६॥

गा०—परस्त्रीगामीकी भार्या, बहन, माता, पुत्री, लाखों जन्मोंमें अपयश और दुःख देनेवाली सदा व्यभिचारिणी होती हैं ॥९२७॥

गा०—परस्त्रीगामी स्वयं भी परभवोंमें (आगामी जन्मोंमें) दुराचारी और अभागा होता है और बिना अपराधके भी कलहपूर्वक नित्य वध, बन्ध आदिका कष्ट उठाता है ॥९२८॥

गा०—कामके वशीभूत होकर कडारपिंग इसी जन्ममें महान् दोषका भागी हुआ। पीछे मरकर नरकमें गया ॥९२९॥

---

१. भवसहस्सेसु–आ० । २. परेषु–अ० आ० ।

'एदे सव्वे' एते सर्वे दोषा न भवन्ति ब्रह्मचारिणः पुंसः। तद्विपरीताश्च गुणा भवन्ति बहवो विरागस्य ॥९३०॥

कामग्गिणा धगधगंतेण य डज्झंतयं जगं सव्वं।
पिच्छइ पिच्छयभूदो सीदीभूदो विगदरागो ॥९३१॥

'कामग्गिणा' कामाग्निना। धगधगायमानेन दह्यमानेन। दह्यमानं जगत्सर्वं प्रेक्षते प्रेक्षकभूतः स्वयं शिरतीभूतः। कः? वीतरागः ॥९३१॥

इत्थिकथा इत्येतद्व्याख्यानायोत्तरः प्रबन्धः। कामकथा—

महिला कुलं सवासं पदिं सुदं मादरं च पिदरं च।
विसयंधा अगणंती दुक्खसमुद्दम्मि पाडेइ ॥९३२॥

महिला दुःखसमुद्रे पातयति विषयांधा अगणयन्ती। किं? कुलं सहवासिनः पतिं, सुतं, मातरं च पितरं च ॥९३२॥

माणुण्णयस्स पुरिसदुमस्स णीचो वि आरुहदि सीसं।
महिलाणिस्सेणीए णिस्सेणीए व्व दीहदुमं ॥९३३॥

'माणुण्णयस्स' मानोन्नतस्य पुरुषद्रुमस्य शिर आरोहति नीचपुरुषोऽपि महिलानिःश्रेण्या निश्रेण्या दीर्घमिव द्रुमं ॥९३३॥

पव्वदमित्ता माणा पुंसाणं होंदि कुलबलधणेहिं।
बलिएहिं वि अक्खोहा गिरीव लोगप्पयासा य ॥९३४॥

'पव्वदमित्ता माणा' भवन्ति मानानि पुरुषाणां कुलबलधनैः। बलिभिः अक्षोभ्याणि गिरिवल्लोके प्रकाशभूतानि च ॥९३४॥

विशेषार्थ—कडारपिंगकी कथा सोमदेवके उपासकाध्ययनमें आई है।

गा०—ब्रह्मचारी पुरुषके ये सब दोष नहीं होते। प्रत्युत विरागीके इन दोषोंसे विपरीत बहुतसे गुण होते हैं ॥९३०॥

गा०—विरागी मुक्तात्माकी तरह प्रज्वलित कामाग्निसे जलते हुए सब जगत्को एक प्रेक्षकके रूपमें देखता है। अर्थात् वह केवल द्रष्टा ही रहता है उसके कष्टसे स्वयं पीड़ित नहीं होता ॥९३१॥

आगे 'इत्थी कथा'—स्त्री कथाका व्याख्यान करते हैं—

गा०—विषयसे अन्धी हुई स्त्री किसीकी परवाह न करके अपने कुलको, साथमें रहने वाले पति, पुत्र, माता और पिताको दुःखके समुद्रमें गिरा देती है ॥९३२॥

गा०—जैसे नसैनीके द्वारा छोटा आदमी भी ऊँचे वृक्ष पर चढ़ जाता है वैसे ही महिला रूपी नसैनीके द्वारा नीच पुरुष भी मानसे उन्नत पुरुष रूपी वृक्षके सिर पर चढ़ जाता है अर्थात् स्त्रीके कारण नीच पुरुषके द्वारा मर्योन्नत मनुष्यका भी सिर नीचा हो जाता है ॥९३३॥

गा०—कुल बल और धनसे पुरुषोंका अहंकार सुमेरुपर्वतके समान जगत्में विख्यात है।

ते तारिसया माणा ओमच्छिज्जंति दुट्ठमहिलाहिं ।
जह अंकुसेण [1]णिस्साइज्जइ हत्थी अदिबलो वि ॥९३५॥

'ते तारिसया माणा' तानि तथाभूतानि मानानि अवमन्यन्ते दुष्टस्त्रीभिः । यथा अङ्कुशेन निषण्णो कार्यते हस्ती अतिबलोऽपि ॥९३५॥

आसीय महाजुद्धाइं इत्थिहेदुं जगम्मि बहुगाणि ।
भयजणणाणि जणाणं भारहरामायणादीणि ॥९३६॥

'आसीय महाजुद्धाणि' आसन्महायुद्धानि जगति स्त्रीनिमित्तानि बहूनि भयजननानि जनानां भारत-रामायणादीनि ॥९३६॥

महिलासु णत्थि वीसंभपणयपरिचयकदण्णदा णेहो ।
लहुमेव परगयमणा [2] ताओ सकुलंपि जहंति ॥९३७॥

'महिलासु' स्त्रीषु न सन्ति विश्रंभः प्रणयः, परिचयः, कृतज्ञता, स्नेहश्च । सहसा परगतचित्तास्ताः स्वकुलं जहति ॥९३७॥

पुरिसस्स दु वीसंभं करेदि महिला बहुप्पयारेहिं ।
महिला वीसंभेदुं बहुप्पयारेहिं वि ण सक्का ॥९३८॥

'पुरिसस्स दु वीसंभं' पुरुषस्य विस्रम्भं जनयन्ति स्त्रियो बहुभिः प्रकारैर्युवतीविस्रम्भं नेतुं न शक्ताः पुमांसः ॥९३८॥

अदिलहुयगे वि दोसे कदम्मि सुकदसहस्समगणंती ।
पइ अप्पाणं च कुलं धम्मं च णासंति महिलाओ ॥९३९॥

'अदिलहुगगे वि दोसे' स्वल्पेऽपि दोषे कृते सुकृतशतमप्यगणय्य पतिं, आत्मानं, कुलं, धर्मं च नाशयन्ति युवतयः ॥९३९॥

उसे बलवान भी नहीं हिला सकते ॥९३४॥

गा०—किन्तु इस प्रकारके अहंकार भी दुष्ट स्त्रियोंके द्वारा नष्ट कर दिये जाते हैं। जैसे अंकुशसे अति बलवान हाथी भी बैठा दिया जाता है ॥९३५॥

गा०—स्त्रीके कारण इस जगत्में भारत रामायण आदिमें वर्णित अनेक महायुद्ध हुए जो लोगोंके लिये भयकारक थे ॥९३६॥

गा०—स्त्रियोंमें विश्वास, स्नेह, परिचय, कृतज्ञता नही है। वे पर पुरुषपर आसक्त होने-पर शीघ्र ही अपने कुलको अथवा कुलीन भी पतिको छोड़ देती हैं ॥९३७॥

गा०—स्त्री अनेक प्रकारोंसे पुरुषमें विश्वास उत्पन्न करती हैं किन्तु पुरुष अनेक उपायोंसे भी स्त्रीमें विश्वास उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होता ॥९३८॥

गा०—थोड़ा-सा भी अपराध होनेपर स्त्री सैकड़ों उपकारोंको भुलाकर अपना, पतिका,

१. णिसिआविज्जदि-मूलारा० । २ ताओ-आ० मु० ।

आसीविसो व्व कुविदा ताओ दूरेण [1]मिदुदपाबाओ ।
रुट्ठो चंडो राया व ताओ कुव्वंति कुलघादं ॥९४०॥

'आसीविसो व्व' आशीविष इव कुपितस्ता दूरेण ढौकितुं न शक्याः । रुष्टश्चण्डो राजेव ताः कुर्वन्ति कुलघातं ॥९४०॥

अकदम्मि वि अवराधे ताओ सीसत्थमिच्छमाणीओ ।
कुव्वंति वहं पदिणो सुदस्स ससुरस्स पिदुणो वा ॥९४१॥

'अकदम्मि वि' अकृतेऽपि । 'अवराधे' अपराधे । 'ताओ' ताः । 'सीसत्थमिच्छमाणीओ' स्वेच्छाप्रवृत्तिमभिलषन्त्यः । 'पदिणो वधं कुव्वंति' पत्युर्वधं कुर्वन्ति, 'सुदस्स' सुतस्य, 'ससुरस्स' श्वशुरस्यापि । 'पिदुणो वा' पितुर्वा वधं कुर्वन्ति ॥९४१॥

सक्कारं उवकारं गुणं च सुहलालणं च णेहो वा ।
मधुरवयणं च महिला परगदहिदया ण चिंतेइ ॥ ९४२॥

'सक्कारं' सत्कारं सन्मानं । 'उवयारं' उपकारं, 'गुणं' कुलरूपयौवनादिकं गुणं च पत्युः । 'सुहलालणं' सुखेन पोषणं च । 'णेहो वा' स्नेहं च 'मधुरवयणं च' मधुरवचनं च । 'महिला' युवतिः । 'परगदहिदया' परपुरुषानुरक्तचित्ता । 'ण चिंतेइ' न चिन्तयति ॥९४२॥

साकेदपुराधिवदी देवरदी रज्जसुक्खपब्भट्ठो ।
पंगुलहेदुं छूढो णदीए रत्ताए देवीए ॥९४३॥

'साकेदपुराधिवदी' साकेतपुरस्य स्वामी । 'देवरदी' देवरतिसंज्ञितः । 'रज्जसोक्खपब्भट्ठो' राज्येन सौख्येन च नितरां भ्रष्टः । 'पंगुलहेदु' पङ्गुलनिमित्तं गन्धर्वप्रवीणेन पङ्गुना सह जीवितुमभिलषन्त्या । 'छूढो' विक्षिप्तः । 'णदीए' नद्यां । 'रत्ताए देवीए' रक्तानामधेयया देव्या ॥९४३॥

कुलका और धनका नाश कर देती है ॥९३९॥

गा०—क्रुद्ध सर्पकी तरह उन स्त्रियोंको दूरसे ही त्यागना चाहिए । रुष्ट प्रचण्ड राजाकी तरह वे कुलका नाश कर देती हैं ॥९४०॥

गा०—वे स्वच्छन्द प्रवृत्तिकी इच्छासे बिना किसी अपराधके पति, पुत्र, श्वसुर अथवा पिताका घात कर देती हैं ॥९४१॥

गा०—परपुरुषमें जिसका चित्त लग जाता है वह स्त्री अपने पतिके, सन्मान, उपकार, कुल, रूप, यौवन आदि गुण, स्नेह, सुखपूर्वक लालन-पालन और मधुर वचनोंका भी विचार नहीं करती ॥९४२॥

गा०—अयोध्या नगरीका स्वामी देवरति राज्य सुखसे वंचित हो गया उसको रक्ता नामकी रानीने गान-विद्यामें प्रवीण एक लंगड़े व्यक्तिपर आसक्त होकर अपने पतिको नदीमें फेंक दिया ॥९४३॥

---

१. दूरेण अर्णावखप्पाबो—आ०

ईसालुयाए गोववदीए [2]गामकूडधूयिया चेव ।
छिण्णं पहदो सीसं मल्लेण पासे सीहबलो ॥९४४॥

'ईसालुयाए' ईर्ष्यावत्या । '[2]गोववदीए' गोपवतीनामधेया तया । 'गामकूडधूविया एव' ग्रामकूटस्य दुहितुः । 'सीसं छिण्णं' शिरश्छिन्नं । 'पहदो' प्रहतस्तया । 'भल्लएण' भल्लया । 'पासम्मि' पार्श्वदेशे । 'सीहबलो' सिंहबलसंज्ञितः ॥९४४॥

वीरमदीए सूलगदचोरदट्ठोट्ठियाए वाणियओ ।
पहदो दत्तो य तहा छिण्णो ओट्ठोत्ति आलविदो ॥९४५॥

'वीरवदीए' [3]वीरमतीसंज्ञिकया । 'सूलगदचोरदट्ठोट्ठियाए' शूलगतचोरदष्टौष्ठया । 'वाणियओ' वणिक्सुतः । 'पहदो' प्रहतः । 'दत्तो य' दत्तश्च । 'तहा' तथा । 'छिण्णो ओट्ठोत्ति' ओष्ठच्छेदोऽनेन कृतः इति च । 'आलविदो' भणितः ॥९४५॥

वग्घविसचोरअग्गीजलमत्तगयकण्हसप्पसत्तूसु ।
सो वीसंभं गच्छदि वीसंभदि जो महिलियासु ॥९४६॥

'वग्घविसचोरअग्गीजलमत्तगयकिण्हसप्पसत्तूसु' व्याघ्रे, विषे, चोरे, अग्नौ, जले, मत्तगजे, कृष्णसर्पे, शत्रौ च । 'सो विस्संभं गच्छदि' स विस्रम्भं गच्छति । 'विस्संभदि जो महिलियासु' विस्रम्भं यः करोति वनितासु ॥९४६॥

वग्घादीया एदे दोसो ण णरस्स तह करेज्जण्हू ।
जं कुणइ महादोसं दुट्ठा महिला मणुस्सस्स ॥९४७॥

गा०—ईर्ष्यालु कोपवतीने ग्रामकूटकी पुत्रीका सिर काट दिया और सिंहबलकी कोखमें भाला भोंक दिया ॥९४४॥

विशेषार्थ—देवरति और सिंहबलकी कथा बृहत्कथाकोशमें ८५-८६ नम्बरपर हैं। उसमें गोमती नाम है ॥९४४॥

गा०—वीरमती एक चोरसे फँसी थी। उसे सूली दी गई तो वह उससे मिलने गई। चोरने कहा—अपने मुखका पान दो। इस बहाने चोरने उसका ओठ काट लिया। उसने कहा कि मेरे पति दत्तने मेरा ओठ काट लिया ॥९४५॥

विशेषार्थ—बृहत्कथाकोशमें वीरवतीकी कथाका क्रमाङ्क ८७ है ॥९४५॥

गा०—जो स्त्रियोंका विश्वास करता है वह व्याघ्र, विष, चोर, आग, पानी, मत्त हाथी, कृष्ण सर्प, और शत्रुका विश्वास करता है अर्थात् स्त्रीपर विश्वास ऐसा ही भयानक है जैसा इनपर विश्वास करना भयानक है ॥९४६॥

---

१. ''''गामकूडधूविया सीसं । छिण्ण पहदो तथ भल्लएण पासम्मि''' ।—मु० । २. गोववदीए गोपवती''—मु० । गोववदीए गोपवती संज्ञया—मूलारा० । ३. वीरमती—आ० ।

व्याघ्रादिषु विश्रम्भणमनात्मापायो विश्रम्भणमं वनितास्विति कथयत्युत्तरगाथा। 'वग्घादीया' व्याघ्रादयः पूर्वसूत्रनिर्दिष्टाः। 'दोसं' दोषं। 'णरस्स' नरस्य। 'ण करिज्जण्हु' न कुर्युः। 'जं कुणदि महल्लं' यं करोति महान्तं दोषं। 'दुट्ठा महिला' दुष्टा वनिता। 'मणुस्सस्स' मनुष्यस्य ॥९४७॥

पाउसकालणदीओव्व ताओ णिच्चंपि कलुसहिदयाओ।
धणहरणकदमदीओ चोरोव्व सकज्जगुरुयाओ ॥९४८॥

'पाउसकालणदीओव्व' प्रावृट्कालस्य नद्य इव। 'ताओ' ताः। 'णिच्चं पि' नित्यमपि। 'कलुसहिदयाओ' कलुषहृदयाः। स्त्रीषु हृदयशब्देन चित्तमुच्यते। नदीष्वभ्यन्तरं। रागेण, द्वेषेण, मोहेन, ईर्ष्यया, असूयया, मायया वा कलुषीकृतमेव चित्तं तासां। 'चोरोव्व' चोर इव। 'सकज्जगुरुयाओ' स्वकार्ये गुर्व्यः। 'धणहरणकदमदीओ' धनापहरणे कृतबुद्धयः। चौरा अपि कथमस्माभिरिदमेतदीयमात्मसात्कृतं भवतीति कृतबुद्धयः। ता अपि मधुरवचनेन रतिक्रीडानुकूलतया वा पुरुषस्य द्रव्यमाहर्तुमुद्यताः ॥९४८॥

रोगो दारिद्दं वा जरा व ण उवेइ जाव पुरिसस्स।
ताव पिओ होदि णरो कुलपुत्तीए वि महिलाए ॥९४९॥

'रोगो दारिद्दं वा' व्याधिर्दारिद्र्यं वा। जरा वा। 'ण उवेदि' न ढौकते यावत्पुरुषं। 'ताव पिओ होदि णरो' तावत्प्रियो भवति नरः। 'कुलपुत्तीए वि' कुलपुत्र्या अपि। महिलाए कान्तायाः। कुलपुत्रीषु वाम्याः[1] किमस्ति ताभ्यो हि प्रायेण कुलपुत्र्यः पतिमेव देवतेति मन्यमानाः प्रियं त्यजन्तीति ॥९४९॥

जुण्णो व दरिद्दो वा रोगी सो चेव होइ से वेसो।
णिप्पीलिओव्व उच्छू मालाव मिलाय गदगंधा ॥९५०॥

व्याघ्रादिमें विश्वास करनेकी अपेक्षा स्त्रियोंमें विश्वास करना अधिक खतरनाक है यह कहते हैं—

गा०—पूर्वगाथामें कहे गये व्याघ्र आदि मनुष्यका उतना अहित नहीं करते, जितना महान् अहित दुष्ट स्त्री करती है ॥९४७॥

गा०-टी०—वर्षाकालकी नदियोंकी तरह स्त्रियोंका हृदय भी नित्य कलुषित रहता है। स्त्रियोंके पक्षमें हृदय शब्दका अर्थ चित्त है और नदियोंके पक्षमें अभ्यन्तर है। राग, द्वेष, मोह, ईर्ष्या, परनिन्दा अथवा मायाचारसे स्त्रियोंका चित्त सदा कलुषित रहता है। चोरकी तरह वे भी अपना कार्य करनेमें तत्पर रहती है और उनकी बुद्धि मनुष्यका धन हरनेमें रहती है। चोर भी यही विचारते रहते हैं कि कैसे हम इनका धन हरण करें। स्त्रियाँ भी मीठे वचनोंसे अथवा रतिक्रीड़ामें अनुकूल बनकर पुरुषका द्रव्य हरनेमें तत्पर रहती है ॥९४८॥

गा०—कुलीन महिलाएँ प्रायः पतिको ही देवता मानकर अपने प्रियको छोड़ देती हैं। किन्तु कुलीन नारियोंका भी मनुष्य तभी तक प्रिय रहता है जब तक उसे रोग या दारिद्र्य, बुढ़ापा नहीं सताता ॥९४९॥

---

१. वाम्याः अ०।

'वुड्ढो' वृद्धो वा 'दरिद्दो' दरिद्रः । 'रोगिल्लो' व्याधितः । 'सो चेव' स एव युवत्वे धनित्वे नीरोगत्वे वा यः प्रियः स एव 'होदि' भवति । 'से' तस्याः । 'सिदो' इक्षुः । 'णिप्पीलियइक्खूव्व' निष्पीडित इव 'उच्छू' इक्षुः । 'मालव्व मिलाणगंधा' मालेव म्लाना नष्टगन्धा । अपहृतरस इक्षुः शोभारहितनिर्गन्धमाला च यथाऽप्रिया । यौवनं, धनं, शक्तिश्च पुंसोऽतिशयस्तदपाये नैवाद्रियते स्त्रीभिः ॥९५०॥

महिला पुरिसमवण्णाए चेव वंचइ णियडिकवडेहिं ।
महिला पुण पुरिसकदं जाणइ कवडं अवण्णाए ॥९५१॥

'महिला पुरिसमवण्णाए' वनिता पुरुषमनादरेणैव वञ्चयति । निकृत्या कपटतया च स्त्रीभिः कृतां निकृतिं वञ्चनां शठतां च न जानन्ति पुमांसः । 'महिला पुण' वामलोचना पुनः 'जाणदि' जानाति । किं ? कपटजातं 'पुरिसकदं' पुरुषेण कृतं । 'अवण्णाए' अवज्ञया औदासीन्येनैव अवलोकनेनेति यावत् ॥९५१॥

नरो ह्येवं मन्यते प्रियोऽहमेतस्या इति न' च सा इत्याचष्टे—

जह जह मण्णेइ णरो तह तह परिभवइ तं णरं महिला ।
जह जह कामेइ णरो तह तह पुरिसं विमाणेइ ॥९५२॥

'जह जह मण्णेइ णरो' यथा यथा मानयति नरः तथा तथा परिभवति तं नरं युवतिः । 'जह जह कामेदि णरो' यथा यथा कामयते मनुष्यस्तथा तथा 'पुरिसं विमाणेदि' तथा तथा पुरुषं विमानयति ॥९५२॥

मत्तो गउव्व णिच्चं पि ताउ मदविंभलाओ महिलाओ ।
दासेव सगे पुरिसे किं पि य ण गणंति महिलाओ ॥९५३॥

'मत्तो गओव्व' मत्तगज इव । 'णिच्चं' नित्यं । 'ताओ मदविंभलाओ' मदेन विह्वला युवतयः । 'दासे व सगे पुरिसे' दासे वा स्वपुरुषे वा । 'किंचिवि' किञ्चिदपि विशेषजातं । 'ण गणंति' नैव गणयन्ति । कुलीनोऽयं मान्यो भर्ता स्वामी मम । दास्याः पुत्रोऽयं जघन्यः अहमस्य [2]स्वामिनीति विवेकं (न) करोति ॥९५३॥

गा०—टी०—युवावस्थामे, धनी अवस्थामें अथवा नीरोग अवस्थामे जो मनुष्य स्त्रियोंको प्रिय होता है वही मनुष्य वृद्ध, दरिद्र अथवा रोगी होने पर रस निकाली हुई ईखकी तरह अथवा गन्ध रहित मलिन मालाकी तरह अप्रिय होता है । अर्थात् रस निकाली हुई ईख और शोभा रहित गन्धहीन माला जैसे अप्रिय होती है वैसे ही यौवन धन और शक्ति पुरुष की विशेषताएँ हैं, उनके न रहने पर उसे स्त्रियाँ पसन्द नहीं करतीं ॥९५०॥

गा०—स्त्री पुरुषको छल कपटके द्वारा अनायास ही ठग लेती है, पुरुष स्त्रियोंके छल कपटको जान भी नहीं पाता । किन्तु पुरुषके द्वारा किये गये कपटको स्त्री तुरन्त जान लेती है उसे उसके लिये कुछ भी कष्ट उठाना नहीं होता ॥९५१॥

पुरुष समझता है कि मैं इसको प्रिय हूँ किन्तु स्त्री ऐसा नही समझती, यह कहते हैं—

गा०—जैसे जैसे पुरुष स्त्रीका आदर करता है वैसे वैसे स्त्री उसका निरादर करती है । जैसे जैसे मनुष्य उसकी कामना करता है वैसे वैसे वह पुरुषकी अवज्ञा करती है ॥९५२॥

गा०—मस्त हाथीकी तरह स्त्रियाँ सदा उन्मत्त रहती हैं । वे अपने दासमें और पतिमें कुछ

---

१. न चासौ प्रिय इ—आ० मु० । २. स्वामी वेति—अ० ।

अणिहुदपरमदहिदया ताओ वग्घीव दुट्ठहिदयाओ ।
पुरिसस्स ताव सत्तू व सदा पावं विचिंतंति ॥९५४॥

'अणिहुदपरमदहिदया ताओ' अनिभृतं परगतं हृदयमासामिति अनिभृतपरगतहृदया भवन्ति । अनिवारितपरासक्तचित्ततादोषः । 'वग्घीव दुट्ठहिदयाओ' दुष्टहृदयमासां अकृतेऽप्यपकारे यथा व्याघ्री परं मारयितुमेव कृतचित्तेति दुष्टहृदया एवमिमा अपि । 'पुरिसस्स ताव' पुरुषस्य तावत् । 'सत्तू व सदा पावं विचिंतंति' शत्रुरिव सदा पापमेव अशुभमेव चेतसि कुर्वन्ति । यथा यो रिपुः कश्चित्कस्यचित्सर्वदा धनमस्य [1]विनश्यतु, विपदोऽस्य [2]भवन्त्विति चिंतं करोति तथैव ता अपि ॥९५४॥

संझाव णरेसु सदा ताओ हुंति खणमेत्तरागाओ ।
वादोव महिलियाण हिदयं अदिचंचलं णिच्चं ॥९५५॥

'संझाव णरेसु सदा ताओ होंति' संध्या इव नरेषु सदा ता भवन्ति । 'खणमित्तरागाओ' अल्पकालरागाः । अस्थिररागता नाम दोषः प्रकटितः । यथा संध्याया रक्तता विनाशिनी । 'महिलियाणं हिदयं अदिचंचलं णिच्चं' स्त्रीणां हृदयं अतिचञ्चलं नित्यं । किमिव ? 'वादो व' वात इव ॥९५५॥

जावइयाइं तणाइं वीचीओ वालिगाव रोमाइं ।
लोए हवेज्ज तत्तो महिलाचिंताइं बहुगाइं ॥९५६॥

'जावइयाइं' यावन्ति तृणानि, 'वीचयः', वालुकाः, 'रोमाणि' च जगति ततो युवतीनां चिन्ता बह्व्यः ॥९५६॥

आगास भूमि उदधी जल मेरू वाउणो वि परिमाणं ।
मादुं सक्का ण पुणो सक्का इत्थीण चित्ताइं ॥९५७॥

भी अन्तर नहीं करतीं। यह मेरा मान्य कुलीन पति है और यह दासीका पुत्र नीच है, मैं इसकी स्वामिनी हूँ यह भेद नही करती ॥९५३॥

गा०-टी०—उनका चित्त निरन्तर पर पुरुषमे रहता है। तथा व्याघ्रीकी तरह उनका हृदय दुष्ट होता है। जैसे व्याघ्री कोई अपकार न करने पर भी दूसरेको मारनेका ही विचार रखती है उसी तरह ये स्त्रियाँ भी होती हैं। वे शत्रुके समान सदा पुरुषके अशुभका ही चिन्तन करती हैं। जैसे किसीका कोई शत्रु सदा चित्तमें सोचता रहता है—इसका धन नष्ट हो जाये, इस पर विपत्तियाँ आयें, वैसे ही स्त्रियाँ भी सदा बुरा विचारा करती हैं ॥९५४॥

गा०—सन्ध्याकी तरह स्त्रियोंका राग भी अल्प काल रहता है। जैसे सन्ध्याकी लालिमा विनाशीक है वैसी ही स्त्रियोंका अनुराग भी विनाशीक है। इससे अस्थिर रागता नामक दोष प्रकट किया है। तथा महिलाओंका हृदय वायु को तरह सदा अति चचल होता है ॥९५५॥

गा०—लोकमें जितने तृण हैं, (समुद्रमें) जितनी लहरें हैं, बालुके जितने कण हैं तथा जितने रोम हैं, उनसे भी अधिक स्त्रियोंके मनोविकल्प हैं ॥९५६॥

---

१. विनश्यति–अ० आ० । २. भवन्तीति–अ० आ० ।

'आगासभूमि' आकाशस्य भूमेरुदधेर्जलस्य, मेरोर्वायोश्च परिमाणमस्ति। स्त्रीणां चित्तं पुनर्मातुं न शक्यमस्ति ॥९५७॥

चिट्ठंति जहा ण चिरं विज्जुज्जलबुब्बुदो व उक्का वा।
तह ण चिरं महिलाए एक्के पुरिसे हवदि पीदी ॥९५८॥

'जहा ण चिरं चिट्ठंति' यथा न चिरं तिष्ठन्ति विद्युतः। जलबुद्बुदा उल्काश्च तथा वनितानां न कस्मिंश्चित्पुरुषे प्रीतिश्चिरं तिष्ठति ॥९५८॥

परमाणू वि कहंचिवि आगच्छेज्ज गहणं मणुस्सस्स।
ण य सक्का घेत्तुं जे चित्तं महिलाए अदिसण्हं ॥९५९॥

परमाणुरपि कथंचिन्मनुष्यस्य ग्रहणमागच्छेत्। वनितानां चित्तं पुनः ग्रहीतुं न शक्यमतिसूक्ष्मं ॥९५९॥

कुविदो व किण्हसप्पो दुट्ठो सीहो गओ मदगलो वा।
सक्का हवेज्ज घेत्तुं ण य चित्तं दुट्ठमहिलाए ॥९६०॥

'कुविदो व' कुपितः कृष्णसर्पः दुष्टः सिंहो, मदगजो वा ग्रहीतुं शक्यते। न तु ग्रहीतुं शक्यते दुष्टवनिताचित्तम् ॥९६०॥

सक्कं हविज्ज दट्ठुं विज्जुज्जोएण रूवमच्छिम्मि।
ण य महिलाए चित्तं सक्का अदिचंचलं णादुं ॥९६१॥

'सक्कं हवेज्ज' विद्युदुद्योतेन अक्षिस्थं रूपं द्रष्टुं शक्यं न पुनर्युवतिचित्तमतिचपलं अवगन्तुं शक्यम् ॥९६१॥

गा०—आकाशकी भूमि, समुद्रके जल, सुमेरु और वायुका भी परिमाण मापना शक्य है किन्तु स्त्रियोंके चित्तका मापना शक्य नहीं है ॥९५७॥

गा०—जैसे बिजली, पानीका बुलबुला और उल्का बहुत समय तक नहीं रहते, वैसे ही स्त्रियोंकी प्रीति एक पुरुषमें बहुत समय तक नहीं रहती ॥९५८॥

गा०—परमाणु भी किसी प्रकार मनुष्यकी पकड़में आ सकता है। किन्तु स्त्रियोंका चित्त पकड़में आना शक्य नहीं है वह परमाणुसे भी अति सूक्ष्म है ॥९५९॥

गा०—क्रुद्ध कृष्ण सर्प, दुष्ट सिंह, मदोन्मत्त हाथीको पकड़ना शक्य हो सकता है किन्तु दुष्ट स्त्रीके चित्तको पकड़ पाना शक्य नहीं है ॥९६०॥

गा०—बिजलीके प्रकाशमें नेत्रमें स्थित रूपको देखना शक्य है किन्तु स्त्रियोंके अति चंचल चित्तको जान लेना शक्य नहीं है ॥९६१॥

[1]अणुवत्तणाए गुणवयणेहिं य चित्तं हरंति पुरिसस्स ।
मादा व जाव ताओ रत्तं पुरिसं ण याणंति ॥९६२॥

[2]अलिएहिं हसियवयणेहिं अलियरुयणेहिं अलियसवहेहिं ।
पुरिसस्स चलं चित्तं हरंति कवडाओ महिलाओ ॥९६३॥

महिला पुरिसं वयणेहिं हरदि पहणदि य पावहिदएण ।
वयणे अमयं चिट्ठदि हियए य विसं महिलियाए ॥९६४॥

'महिला पुरिसं वयणेहिं' वनिता पुरुषं वचनैर्हरति । हन्ति च पापेन हृदयेन । वाक्ये मधु तिष्ठति । हृदये विषं युवतीनाम् ॥९६४॥

[3]तो जाणिऊण रत्तं पुरिसं चम्मट्ठिमंसपरिसेसं ।
उद्दाहंति वधंति य वडिसामिसलग्गमच्छं व ॥९६५॥

उदए पवेज्ज हि सिला अग्गी ण डहिज्ज सीयलो होज्ज ।
ण य महिलाण कदाई उज्जुयभावो णरेसु हवे ॥९६६॥

'उदए पवेज्ज दु' उदके तरेदपि शिला, अग्निरपि न दहेत्, शीतलो वा भवेत् । नैव वनितानां कदाचिन्नरेषु ऋजु भवति मनः ॥९६६॥

उज्जुयभावम्मि असन्तयम्मि किध होदि तासु वीसंभो ।
विस्संभम्मि असंते का होज्ज रदी महिलियासु ॥९६७॥

गा०—जब तक वे पुरुषको अपनेमें अनुरक्त नहीं जानतीं तब तक वे पुरुषके अनुकूल वर्तनके द्वारा तथा प्रशंसा परक वचनोंके द्वारा पुरुषके मनको उसी प्रकार आकृष्ट करती हैं जैसे माता बालकके मनको आकृष्ट करती है ॥९६२॥

गा०—बनावटी हास्य वचनोंसे, बनावटी रुदनसे, झूठी शपथोंसे कपटी स्त्रियाँ पुरुषके चंचल चित्तको हरती हैं ॥९६३॥

गा०—स्त्री वचनोंके द्वारा पुरुषको आकृष्ट करती है और पापपूर्ण हृदयसे उसका घात करती है। स्त्रीके वचनोंमें अमृत भरा रहता है और हृदयमें विष भरा होता है ॥९६४॥

गा०—जब वे जानती हैं कि हमारेमें अनुरक्त पुरुषके पास चाम हड्डी और मांस ही शेष है तो उसे वंसीमें लगे मांसके लोभसे फँसे मत्स्यकी तरह संताप देकर मार डालती हैं ॥९६५॥

गा०—शिला पानीमें तिर सकती है। आग भी न जलाकर शीतल हो सकती है किन्तु स्त्रीका मनुष्यके प्रति कभी भी सरल भाव नहीं होता ॥९६६॥

गा०—सरल भावके अभावमें कैसे उनमें विश्वास हो सकता है। और विश्वासके अभावमें स्त्रियोंमें प्रेम कैसे हो सकता है ॥९६७॥

१-२. एते द्वे अपि गाथे टीकाकारो नेच्छति । ३. एतां टीकाकारो नेच्छति ।

'उज्जुगभावम्मि' ऋजुभावे असति कथं भवति तासु विसम्भः। असति विस्रम्भे का वनितासु रतिः ॥९६७॥

गच्छिज्ज समुद्दस्स वि पारं पुरिसो तरित्तु ओघबलो।
मायाजलमहिलोदधिपारं ण य सक्कदे गंतुं ॥९६८॥

'गच्छिज्ज' गच्छेत् समुद्रस्य अपि परं पारं तीर्त्वा महाबलः। मायाजलवनितोदधिपारं नैव गन्तुं शक्नोति ॥९६८॥

रदणाउला सवग्घावगुहा गाहाउला व रम्मणदी।
मधुरा रमणिज्जावि य सढा य महिला सदोसा य ॥९६९॥

'रदणाउला' रत्नसंकीर्णा सव्याघ्रा गुहेव रम्या नदी ग्राहाकुलेव मधुरा रम्या शठा सदोषा च वनिता ॥९६९॥

दिट्ठंपि ण सब्भावं पडिज्जदि णियडिमेव उवेदि।
गोधाणुलुकमिच्छी करेदि पुरिसस्स कुलजावि ॥९७०॥

'दिट्ठं पि' दृष्टमपि न प्रतिपद्यते सद्भावं निकृतिमेवोपन्यस्यति ॥९७०॥

पुरिसं वधमुवणेदित्ति होदि बहुगा णिरुत्तिवादम्मि।
दोसे [1]संघादिंदि य होदि य इत्थी मणुस्सस्स ॥९७१॥

'पुरिसं वधमुवणेदित्ति' पुरुषं वधमुपनयतीति वधूरिति निरुच्यते। मनुष्यस्य दोषान्संहतान्करोतीति स्त्रीति निगद्यते ॥९७१॥

गा०—महाबलशाली मनुष्य समुद्रको भी पार करके जा सकता है। किन्तु मायारूपी जलसे भरे स्त्रीरूपी समुद्रको पार नहीं कर सकता ॥९६८॥

गा०—रत्नोंसे भरी किन्तु व्याघ्रके निवाससे युक्त गुफा और मगरमच्छसे भरी सुन्दर नदीकी तरह स्त्री मधुर और रमणीय होते हुए भी कुटिल और सदोष होती है ॥९६९॥

गा०—दूसरेने स्त्रीमें दोष देखा हो तो भी स्त्री यह स्वीकार नहीं करती कि मेरेमें यह दोष है। प्रत्युत यही कहती है कि मेरा यह दोष नहीं है या मैंने ऐसा नहीं किया है। इस विषयमें दृष्टान्त कहते हैं—जैसे गोह जिस भूमिको पकड़ लेती है, बलपूर्वक छुड़ाने पर भी उसे नहीं छोड़ती। उसी प्रकार स्त्री भी अपने द्वारा गृहीत पदको नहीं छोड़ती। अन्य भी अर्थ टीकाकारोंने किया है—जैसे गोह पुरुषको देखकर उससे अपनेको छिपाती है उसी प्रकार स्त्री भी पुरुषको देखकर अपनेको छिपाती है कि यह मुझे न देख सके। अथवा दूसरेने कोई अच्छा कार्य किया और स्त्रीने उसे देखा भी, फिर भी वह उसे स्वीकार नहीं करती, बल्कि व्यंग रूपसे उसको बुरा ही कहती है ॥९७०॥

गा०—स्त्री वाचक शब्दोंकी निरुक्तिके द्वारा भी स्त्रीके दोष प्रकट होते हैं—पुरुषका वध करती है इसलिये उसे वधू कहते हैं। मनुष्यमें दोषोंको एकत्र करती है इसलिये स्त्री कहते हैं ॥९७१॥

---

1. संघादेति—मूलारा०।

तारिसओ णत्थि अरी णरस्स अण्णोत्ति उच्चदे णारी ।
पुरिसं सदा पमत्तं कुणदित्ति य उच्चदे पमदा ॥९७२॥

'तारिसओ' तादृगन्यो नरस्य नारिरस्तीति नारीत्युच्यते । पुरुषं सदा प्रमत्तं करोतीति प्रमदेति निरुच्यते ॥९७२॥

[1]गलए लायदि पुरिसस्स अणत्थं जेण तेण विलया सा ।
जोजेदि णरं दुक्खेण तेण जुवदी य जोसा य ॥९७३॥
[2]अबलत्ति होदि जं से ण दढं हिदयम्मि धिदिबलं अत्थि ।
कुम्मरणोपायं जं जणयदि तो उच्चदि हि कुमारी ॥९७४॥
[3]आलं जणेदि पुरिसस्स महल्लं जेण तेण महिला सा ।
एयं महिलाणामाणि होंति असुभाणि सव्वाणि ॥९७५॥
णिलओ कलीए अलियस्स आलओ अविणयस्स आवासो ।
आयसस्सावसघो महिला मूलं च कलहस्स ॥९७६॥

'णिलओ कलीए' कलेर्निलयः । व्यलीकस्यालयः । अविनयस्याकरः । आयासस्यावकाशः । कलहस्य च मूलं युवतिः ॥९७६॥

सोगस्स सरी वेरस्स खणी णिवहो वि होइ कोहस्स ।
णिचओ णियडीणं आसवो महिला अकित्तीए ॥९७७॥

'सोगस्स सरी' [4]शोकनिम्नगाया नदी । वैरस्य खनिः । निवह कोपस्य । निचयो निकृतीनां । अकीर्तेराश्रयो युवतिः ॥९७७॥

गा०—मनुष्यका ऐसा 'अरि' शत्रु दूसरा नही है इसलिए उसे नारी कहते हैं। पुरुषको सदा प्रमत्त करती है इसलिये उसे प्रमदा कहते हैं ॥९७२॥

गा०—पुरुषके गलेमें अनर्थ लाती है। अथवा पुरुषको देखकर विलीन होती है इसलिए विलया कहते हैं। पुरुषको दुःखसे योजित करती है इससे युवती और योषा कहते हैं ॥९७३॥

गा०—उसके हृदयमें धैर्यरूपी बल नहीं होता अत. वह अबला कही जाती है। कुमरणका उपाय उत्पन्न करनेसे कुमारी कहते हैं ॥९७४॥

गा०—पुरुष पर आल—दोषारोप करती है इसलिए महिला कहते हैं। इस प्रकार स्त्रियोंके सब नाम अशुभ होते हैं ॥९७५॥

गा०—स्त्री रागद्वेषका घर है। असत्यका आश्रय है। अविनयका आवास है, कष्टका निकेतन है और कलहका मूल है ॥९७६॥

गा०—शोककी नदी है। वैरकी खान है। क्रोधका पुंज है। मायाचारका ढेर है। अपयश-का आश्रय है ॥९७७॥

१-२-३. एतद् गाथात्रयं टीकाकारो नेच्छति । ४. शोकस्य नदी, वैरस्यावनिः—आ० मु० ।

णासो अत्थस्स खओ देहस्स य दुग्गदीपमग्गो य ।
आवाहो य अणत्थस्स होइ पहवो य दोसाणं ॥९७८॥

'णासो अत्थस्स' अर्थस्य नाशः । देहस्य क्षयः । दुर्गतेर्मार्गः । अनर्थस्य कुल्या । दोषाणां प्रभवः ॥९७८॥

महिला विग्घो धम्मस्स होदि परिहो य मोक्खमग्गस्स ।
दुक्खाण य उप्पत्ती महिला सुक्खाण य विपत्ती[1] ॥९७९॥

'महिला विग्घो' वनिता विघ्नो भवति । 'धम्मस्स' धर्मस्य । 'परिघो' मोक्षमार्गस्य । दुःखानां चोत्पत्तिः । सौख्यानां च विपत्ति. ॥९७९॥

पासो व बंधिदुं जे छेत्तुं महिला असीव पुरिसस्स ।
सिल्लं व विंधिदुं जे पंकोव णिमज्जिदुं महिला ॥९८०॥

'पासो व बंधिदुं जे' पाश इव बंधितुं । सुगमा गाथा इति नादरो व्याख्याने ॥९८०॥

सूलो इव भित्तुं जे होइ पवोदुं तहा गिरिणदी वा ।
पुरिसस्स खुप्पदुं कद्दमोव मच्चुव्व मरिदुं जे ॥९८१॥
अग्गीवि य डहिदुं जे मदोव पुरिसस्स मुज्झिदुं महिला ।
महिला णिकत्तिदुं करकचोव कंडूव पउलेदुं ॥९८२॥
पाडेदुं परसू वा होदि तह मुग्गरो व ताडेदुं ।
अवहणणं पि य चुण्णेदुं जे महिला मणुस्सस्स ॥९८३॥

गा०—धनका नाश करने वाली है । शरीरका क्षय करती है । दुर्गतिका मार्ग है । अनर्थके लिए प्याऊ है और दोषोंका उत्पत्ति स्थान है ॥९७८॥

गा०—स्त्री धर्ममें विघ्नरूप है । मोक्षमार्गके लिए अर्गला (साकल) है, दुःखोंकी उत्पत्तिका स्थान है और सुखोंके लिए विपत्ति है ॥९७९॥

गा०—स्त्री पुरुषको बाँधनेके लिए पाशके समान है । मनुष्यको काटनेके लिए तलवारके समान है । बींधनेके लिये भालेके समान है और डूबनेके लिये पंकके समान है ॥९८०॥

गा०—स्त्री मनुष्यके भेदनेके लिए शूलके समान है । संसार रूपी समुद्रमें गिरनेके लिए नदीके समान है । खपानेके लिए दलदलके समान है । मारनेको मृत्युके समान है ॥९८१॥

गा०—जलानेको आगके समान है । मदहोश करनेके लिए मदिराके समान है । काटनेके लिए आरेके समान है । पकानेके लिए हलवाईके समान है ॥९८२॥

गा०—विदारण करनेके लिए फरसाके समान है । तोड़नेके लिए मुद्गरके समान है, चूर्ण करनेके लिए लुहारके घनके समान है ॥९८३॥

१. विवत्ती—मु०, मूलारा० ।

चंदो हविज्ज उण्हो सीदो सूरो वि थड्डमागासं ।
ण य होज्ज अदोसा भ:द्दिया वि कुलबालिया महिला ॥९८४॥

एए अण्णेय बहुदोसे महिलाकदे वि चिंतयदो ।
महिलाहितो विचित्तं उव्वियदि विसग्गिसरसीहिं ॥९८५॥

वग्घादीणं दोसे णच्चा परिहरदि ते जहा पुरिसो ।
तह महिलाणं दोसे दट्ठुं महिलाओ परिहरइ ॥९८६॥

महिलाणं जे दोसा ते पुरिसाणं पि हुंति णीयाणं ।
तत्तो अहियदरा वा तेसिं बलसत्तिजुत्ताणं ॥९८७॥

जह सीलरक्खयाणं पुरिसाणं णिंदिदाओ महिलाओ ।
तह सीलरक्खियाणं महिलाणं णिंदिदा पुरिसा ॥९८८॥

किं पुण गुणसहिदाओ इत्थिओ अत्थि वित्थडजसाओ ।
णरलोगदेवदाओ देवेहिं वि वंदणिज्जाओ ॥९८९॥

तित्थयरचक्कधरवासुदेवबलदेवगणधरवराणं ।
जणणीओ महिलाओ सुरणरवरेहिं महियाओ ॥९९०॥

गा०—कदाचित् चन्द्रमा उष्ण हो जाय, सूर्य शीतल हो जाय, आकाश कठोर हो जाय, किन्तु कुलीन स्त्री भी निर्दोष और भद्र परिणामी नहीं होती ॥९८४॥

गा०—स्त्रियोंके इन तथा अन्य बहुतसे दोषोका विचार करने वाले पुरुषोंका मन विष और आगके समान स्त्रियोंसे विमुख हो जाता है ॥९८५॥

गा०—जैसे पुरुष व्याघ्र आदिके दोष देखकर व्याघ्र आदिको त्याग देना है उनसे दूर रहता है, वैसे ही स्त्रियोंके दोष देखकर मनुष्य स्त्रियोंसे दूर हो जाता है ॥९८६॥

गा०—स्त्रियोंमें जो दोष होते हैं वे दोष नीच पुरुषोंमें भी होते हैं अथवा मनुष्योंमें जो बल और शक्तिसे युक्त होते है उनमें स्त्रियोसे भी अधिक दोष होते हैं ॥९८७॥

गा०—जैसे अपने शीलकी रक्षा करने वाले पुरुषोंके लिए स्त्रियाँ निन्दनीय हैं। वैसे ही अपने शीलकी रक्षा करने वाली स्त्रियोंके लिए पुरुष निन्दनीय हैं ॥९८८॥

गा०—जो गुणसहित स्त्रियाँ हैं, जिनका यश लोकमें फैला हुआ है, तथा जो मनुष्य लोकमें देवता समान हैं और देवोंसे पूजनीय हैं उनकी जितनी प्रशंसा की जाये, कम है ॥९८९॥

गा०—तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव और श्रेष्ठ गणधरोंको जन्म देने वाली महिलाएँ श्रेष्ठ देवों और उत्तम पुरुषोंके द्वारा पूजनीय होती है ॥९९०॥

एगपदिव्वइकण्णावयाणि धारिंति किंपि[1] महिलाओ।
वेधव्वतिव्वदुक्खं आजीवं णिंति काओ वि ॥९९१॥

सीलवदीवो सुव्वंति महीयले पत्तपाडिहेराओ।
सावाणुग्गहसमत्थाओ वि य काओवि महिलाओ ॥९९२॥

ओग्घेण ण वूढाओ जलंतघोरग्गिणा ण दड्ढाओ।
सप्पेहिं [2]सावदेहिं य परिहरिदाओव काओ वि ॥९९३॥

सव्वगुणसमग्गाणं साहूणं पुरिसपवरसीहाणं।
चरमाणं जणणित्तं पत्ताओ हवंति काओ वि ॥९९४॥

मोहोदयेण जीवो सव्वो दुस्सीलमइलिदो होदि।
सो पुण सव्वो महिला पुरिसाणं होइ सामण्णो ॥९९५॥

तम्हा सा [3]पल्लवणा पउरा महिलाण होदि अधिकिच्चा।
सीलवदीओ भणिदे दोसे किह णाम पावंति ॥९९६॥

इत्थिगदा ॥९९६॥

स्त्रीगतान्दोषानभिधाय अशुचिनिरूपणार्थं उत्तरप्रबन्धः—

देहस्स बीयणिप्पत्तिखेत्तआहारजम्मवुड्ढीओ।
अवयवणिग्गमअसुई पिच्छसु वाधी य अधुवत्तं ॥९९७॥

गा०—कितनी ही महिलाएँ एक पतिव्रत और कौमार ब्रह्मचर्य व्रत धारण करती हैं। कितनी ही जीवन पर्यन्त वैधव्यका तीव्र दुःख भोगती हैं ॥९९१॥ ऐसी भी कितनी शीलवती स्त्रियाँ सुनी जाती हैं जिन्हें देवोंके द्वारा सन्मान आदि प्राप्त हुआ तथा जो शीलके प्रभावसे शाप देने और अनुग्रह करनेमें समर्थ थीं ॥९९२॥ कितनी ही शीलवती स्त्रियाँ महानदीके जल प्रवाहमें भी नहीं डूब सकीं और प्रज्वलित घोर आगमें भी नहीं जल सकीं तथा सर्प व्याघ्र आदि भी उनका कुछ नहीं कर सके ॥९९३॥ कितनी ही स्त्रियाँ सर्व गुणोंसे सम्पन्न साधुओं और पुरुषोंमें श्रेष्ठ चरम शरीरी पुरुषोंको जन्म देने वाली माताएँ हुई हैं ॥९९४॥ सब जीव मोहके उदयसे कुशीलसे मलिन होते हैं। और वह मोहका उदय स्त्री-पुरुषोंके समान रूपसे होता है ॥९९५॥

गा०—अतः ऊपर जो स्त्रियोंके दोषोंका वर्णन किया है वह स्त्री सामान्यकी दृष्टिसे किया है। शीलवती स्त्रियोंमें ऊपर कहे दोष कैसे हो सकते हैं ॥९९६॥

इस प्रकार स्त्रियोंके गुण-दोषोंका वर्णन सम्पूर्ण हुआ। स्त्रियोंके दोषोंको कहनेके पश्चात् अशुचित्वका कथन करते हैं—

---

१. किंपिमाकाओ इति पाठान्तरं मूलारा०। २. सावज्जेहि वि हरिदा अद्धाण काओवि—आ०मु०। ३. पण्णवणा आ०।

देहस्य बीज इत्यादिकः । देहस्य बीजं, निष्पत्तिः, क्षेत्रं, आहारः, जन्म, वृद्धिः, अवयवः, निर्गमः, अशुचिः, व्याधिरध्रुवतेत्येतान्पश्येति सूरिर्ब्रवीति क्षपकं ॥९९७॥

देहस्य बीजमित्येतद्व्याख्यानायोत्तरगाथा—

देहस्स सुक्कसोणिय असुई परिणामिकारणं जम्हा ।
देहो वि होइ असुई अमेज्झघदपूरओ व तदो ॥९९८॥

'देहस्य बीजं' मनुजानां शुक्रशोणितं । अशुचि शुक्रं पुंसः, शोणितं च वनितायाः परिणामि कारणं । 'जम्हा' यस्मात् । परिणामिकारणं शरीरत्वेन तदुभयं परिणमति तस्मात्परिणामिकारणं । 'देहोवि असुइ' शरीरमपि अशुचि तत एव । 'अमेज्झघदपूरओ व' अमेध्यघृतपूरक इव । यदशुचिपरिणामि कारणं तदशुचि यथाऽमेध्यघृतपूरकः अशुचिपरिणामकारणं च शरीरं इति सूत्रार्थः ॥९९८॥

दट्ठुं वि अमेज्झमिव विहिंसणीयं कुदो पुणो होज्ज ।
ओज्जिग्घिदुमालद्धुं परिभोत्तुं चावि तं बीयं ॥९९९॥

'दट्ठुं वि य' द्रष्टुमपि । 'विहिंसणीयं' जुगुप्सनीय । 'अमेज्झमिव' अमेध्यमिव । 'कुदो पुणो होज्ज ओज्जिग्घिदु' कुतः पुनर्भवेदाघ्रातुं । 'आलद्धुं' आलिङ्गितुं । 'परिभोत्तुं चावि' परिभोक्तुं चापि । 'तं बीयं' तत् शुक्रशोणिताख्यं बीजं । तत्परिणामत्वाच्छरीरमपि तदेव बीजमिदं शरीरमिति मत्वा बीजमिति उक्तं ॥९९९॥

परिणामिकारणशुद्धया तत्परिणामरूपं कार्यं शुद्धं भवति शरीरं न तथेति कथयति—

समिदकदो घदपुण्णो सुज्झदि सुद्धत्तणेण समिदस्स ।
असुचिम्मि तम्मि बीए कह देहो सो हवे सुद्धो ॥१०००॥

गा०—हे क्षपक ! ब्रह्मचर्य व्रतकी सिद्धिके लिए मनुष्योंके शरीरके बीज, उत्पत्ति, क्षेत्र, आहार, जन्म, जन्मके पश्चात् होने वाली वृद्धि, अवयव, कान आदि अंगोंसे निकलने वाला मल, अशुचिता, व्याधि और अध्रुवपनको देखो । ऐसा आचार्य कहते हैं ॥९९७॥

गा०-टी०—मनुष्योंके शरीरका बीज रज और वीर्य है जो अशुचि है । वही परिणामिकारण है । पुरुषका वीर्य और स्त्रीका रज ये दोनों शरीर रूपसे परिणमन करते है इसलिए ये दोनों परिणामिकारण हैं । इसीसे शरीर भी अशुचि है जैसे मलसे बना घेवर अशुचि होता है । जिसका परिणामिकारण अशुचि होता है वह अशुचि होता है । जैसे मलिन वस्तुसे बना घेवर । शरीरका परिणामिकारण रज और वीर्य अशुचि है इसलिए शरीर अशुचि है । यह इस गाथा सूत्रका अभिप्राय है ॥९९८॥

गा०—जो विष्टाकी तरह देखनेमें भी ग्लानिके योग्य है वह रज और वीर्य नामक बीज सूंघने, आलिंगन करने और भोगनेके योग्य कैसे हो सकता है ? रज और वीर्य रूप बीज शरीरका परिणामिकारण है अतः शरीरको बीज मानकर 'बीज' शब्दसे शरीरका निर्देश किया है ॥९९९॥

आगे कहते हैं कि परिणामिकारणके शुद्ध होनेसे उसका परिणाम रूप कार्य शुद्ध होता है—

गा०—जैसे 'समिद' अर्थात् गेहूँके चूर्णसे बना घेवर शुद्ध होता है क्योंकि उसका परिणामि-

'कणिक्कादो अणुण्णो सुज्झदि' कणिकाकृतं घृतपूर्णकं 'सुज्झदि' शुद्धयति। 'सुद्धत्तणेण' शुद्धतया। 'कणिक्कस्स' कणिकाद्रव्यस्य। 'असुचिम्मि बीए' अशुचिबीजे तस्मिन्स्थिते। 'कह देहो सो हुवे सुद्धो' देहः परिणामः कथं शुद्धयति। बीयं ॥१०००॥

शरीरनिष्पत्तिक्रमनिरूपणार्थं उत्तरप्रबन्धः—

कललगदं दसरत्तं अच्छदि कलुसीकदं च दसरत्तं।
थिरभूदं दसरत्तं अच्छदि गब्भम्मि तं बीयं ॥१००१॥

'कललगदं' कललत्वं नाम पर्यायः तं गतं प्राप्तं बीजं दश दिनमात्रं। 'अच्छदि' आस्ते। 'कलुसीकदं' च कलुषीकृतं च। दश रात्रमात्रं अवतिष्ठते। 'थिरभूदं दसरत्तं' स्थिरभूतं यावद्दशदिनमात्रं। 'अच्छदि' आस्ते। 'गब्भम्मि' गर्भे। 'तं बीजं' तद्बीजं ॥१००१॥

तत्तो मासं बुब्बुदभूदं अच्छदि पुणो वि घणभूदं।
जायदि मासेण तदो मंसप्पेसी य मासेण ॥१००२॥

'तत्तो' स्थिरभावोत्तरकालं। 'मासं बुब्बुदभूदं अच्छदि' मासमात्रं बुद्बुद इव आस्ते। 'पुणो वि घणभूदं' पुनरपि घनभूतं। 'जायदि मासेण' जायते मासेन ततोऽपि घनभावादुत्तरकालं। 'मासेण' मासेन। 'मंसप्पेसीय' मांसपेशी भवति ॥१००२॥

मासेण पंच पुलगा तत्तो हुंति हु पुणो वि मासेण।
अंगाणि उवंगाणि य णरस्स जायंति गब्भम्मि ॥१००३॥

'मासेण पंच पुलगा' मासेन पञ्च पुलका भवन्ति। 'पुणो वि मासेण' पुनरुत्तरेण मासेन। 'अंगाणि उवंगाणि य' अङ्गान्युपाङ्गानि च। 'णरस्स जायंति गब्भम्मि' नरस्य जायन्ते गर्भे ॥१००३॥

मासम्मि सत्तमे तस्स होदि चम्मणहरोमणिप्पत्ती।
फंदणमट्ठमसासे णवमे दसमे य णिग्गमणं ॥१००४॥

कारण गेहूँका चूर्ण शुद्ध है। किन्तु जिसका बीज अशुद्ध है उससे बना शरीर शुद्ध कैसे हो सकता है ॥१०००॥

शरीरकी रचनाका क्रम कहते हैं—

गा०—गर्भमें स्थित माताका रज और पिताका वीर्यरूप बीज दस दिनतक कललरूपमें रहता है। फिर दस दिन तक कालिमारूप होता है फिर दस दिन तक स्थिर रहता है ॥१००१॥

गा०—स्थिर होनेके पश्चात् एक मास तक बुलबुलेकी तरह रहता है। पुनः एक मास तक घनभूत अर्थात् कठोररूप रहता है। फिर एकमासमें मांसके पिण्डरूप होता है ॥१००२॥

गा०—पाँचवें मासमें उस मांसपिण्डमेंसे दो हाथ, दो पैर और सिरके रूपमें पाँच अंकुर उगते हैं। छठे मासमें उस बालकके अंग और उपांग बनते हैं ॥१००३॥

विशेषार्थ—दो पैर, दो हाथ, एक नितम्ब, एक छाती, एक पीठ, एक सिर ये आठ अंग हैं। और कान, नाक, गाल, ओठ, आँख, अँगुलि आदि उपांग हैं ॥१००३॥

'मासम्मि सत्तमे' सप्तमे मासे । 'तस्स' तस्य गर्भस्थस्य । 'चम्मणहरोमणिप्पत्ती होदि' चर्मनखरोम-निष्पत्तिर्भवति । 'फंदणमट्ठममासे' स्पंदनमीषच्चलनं अष्टमे मासे । 'णवमे दसमे य णिग्गमणं' नवमे दशमे चोदराग्निर्गमनं भवति ॥१००४॥

सव्वासु अवत्थासु वि कललादीयाणि ताणि सव्वाणि ।
असुईणि अमिज्झाणि य विहिंसणिज्जाणि णिच्चंपि ॥१००५॥

'सव्वासु अवत्थासु वि' सर्वास्वप्यवस्थासु शुक्रशोणितयोः । 'कललादियाणि' कललमर्बुदमित्यादि-कानि । 'सव्वाणि असुईणि' सर्वाणि अशुचीनि । 'अमेज्झाणिव' अमेध्यमिव । 'विहिंसणिज्जाणि' जुगुप्सनी-यानि । 'णिच्चं पि' नित्यमपि ॥१००५॥ णिप्पत्ति गदं ।

गर्भअस्थानक्रमं अशुभं कथयत्युत्तरगाथया—

आमासयम्मि पक्कासयस्स उवरिं अमेज्झमज्झम्मि ।
वत्थिपडलपच्छण्णो अच्छइ गब्भे हु णवमासं ॥१००६॥

'आमासयम्मि' आमाशये । आममुच्यते भुक्तमशनमुदराग्निना अपक्वं तस्य आशयः स्थानं तस्मिन् । 'पक्कासयस्स उवरिं' जाठरेण अग्निना पक्व आहारः पक्वं तस्य आशय. स्थानं । तत उपरि । 'अमेज्झमज्झम्मि' अमेध्ययोः पक्वापक्वयोर्मध्ये । 'गब्भो अच्छदि' आस्ते गर्भः । कीदृक् 'वत्थिपडलपच्छण्णो' वितत मांस-शोणितं जालसंस्थानीयं वत्थिपडलशब्देनोच्यते तेन प्रतिच्छन्नः । कियन्तं कालमास्ते ? णवमासं उपलक्षण नव-मासग्रहणं दशमासमात्रमप्यवस्थानात् ॥१००६॥

अशुचिस्थाने अवस्थितः स्वल्पकालं यदि जुगुप्स्यते चिरकालावस्थित. कथमयं न जुगुप्सनीय इत्याचष्टे—

वमिदा अमेज्झमज्झे मासंपि समक्खमच्छिदो पुरिसो ।
होदि हु विहिंसणिज्जो जदि वि सयणीयल्लओ होज्ज ॥१००७॥

गा०—सातवें मासमें उस गर्भस्थ पिण्डपर चर्म, नख और रोम बनते हैं। आठवें मासमे उसमें हलन-चलन होने लगता है। नौवें अथवा दसवे मासमें उसका जन्म होता है ॥१००४॥

गा०—रज और वीर्यकी सब अवस्थाओमें वे सब कलिल आदि अशुचि और विष्टाकी तरह सदा ग्लानिकारक होते हैं ॥१००५॥

आगे गर्भका स्थान और उसकी अशुचिता कहते हैं—

गा०—आमाशयसे नीचे और पक्वाशयसे ऊपर इन दोनों अशुचि स्थानोंके मध्यमें गर्भाशय होता है। उसमें वस्तिपटलसे वेष्ठित होकर प्राणी नौमास तक रहता है ॥१००६॥

टी०—खाया हुआ भोजन, उदराग्निके द्वारा पकता नहीं है उसे आम कहते हैं उसके स्थानको आमाशय कहते हैं। और उदराग्निके द्वारा पके आहारको पक्व कहते हैं। उसके स्थान-को पक्वाशय कहते हैं। इन अपक्व और पक्वके मध्यमें गर्भस्थान होता है। उसमें शिशु नौ मास तक रहता है। नौ मास तो उपलक्षण है अतः दस मासमात्र भी रहता है। रुधिर और मांसके जालको वस्तिपटल कहते हैं। उससे गर्भस्थ बालक चारों ओरसे वेष्ठित रहता है ॥१००६॥

आगे कहते हैं कि अपवित्र गन्दे स्थानमें थोड़े समयके लिए भी यदि रहना पड़े तो ग्लानि होती है तब नौ दस मास तक ऐसे स्थानमें रहनेवाला ग्लानिका पात्र क्यों नहीं है ?

'वमित्ता अमेज्झमज्झे' वान्तस्य अमेध्यस्य च मध्ये । 'मासंपि' मासमात्रमपि 'सपच्चक्खणिवसणो' स्वप्रत्यक्षतया स्थितः पुरुषः । बु सब्द एवकारार्थः स च क्रियापदात्परो द्रष्टव्यः । 'विहिंसणिज्जो', इत्यतः परतः । 'विहिंसणीओ होदि' इति जुगुप्सनीय एव भवति नाजुगुप्स्य इति यावत् । 'जदि वि सयणीयल्लओ होज्ज' यद्यपि बन्धुर्भवेत् ॥१००७॥

किह पुण णवदसमासे उसिदो वमिगा अमेज्झमज्झम्मि ।
होज्ज ण विहिंसणिज्जो जदि वि सय णीयल्लओ होज्ज ॥१००८॥

'किह पुण' कथ पुनः । 'ण होज्ज विहिंसणिज्जो' न भवेज्जुगुप्सनीय. । 'णवदसमासं उसिदो' नवमासं दशमासं वावस्थितः । 'वमिगा अमेज्झमज्झम्मि' मात्रा उपयुक्त आहारो वमिगाशब्देनोच्यते । शेषः सुगमः ॥१००८॥ जितं गदं ।

येनाहारेणासावुपचितशरीरो जातस्तमाचष्टे—

दंतेहिं चव्विदं वीलणं च सिंमेण मेलिदं संतं ।
मायाहारियमण्णं जुत्तं पित्तेण कडुएण ॥१००९॥

'दंतेहि चव्विदं' दंतैश्चूर्णित । 'वीलणं' पिच्छिल । कथ 'सिंमेण मेलिदं संतं' श्लेष्मणा मिश्रित सत् । 'मायाहारियमण्णं' मात्रा भुक्तमन्न । 'कडुएण पित्तेण जुत्तं' कटुकेन पित्तेन युक्तं ॥१००९॥

वमिगं अमेज्झसरिसं वादविओजिदरसं खलं गब्भे ।
आहारेदि समंता उवरिं थिप्पंतगं णिच्चं ॥१०१०॥

'वमिगं' वान्तं । 'अमिज्झसरिसं' अमेध्येन सदृशं । 'वादविओजिदरसं खलं' वातेन पृथक्कृतं रसं खलभाग । 'गब्भे आहारेदि णिच्चं' नित्य गर्भस्थो भुङ्क्ते । 'समंता' समन्तात् । 'उवरिं' उपरि । 'थिप्पंतगं' विगलद्बिन्दुक । [1]एतेनान्तर समाहारयतीति ज्ञायते ॥१०१०॥

तो सत्तमम्मि मासे उप्पलणालसरिसी हवइ णाही ।
तत्तो पभूदि [2]पाए वमियं त आहारेदि णाहीए ॥१०११॥

गा०—गन्दे वमनके मध्यमे एकमास पर्यन्त प्रत्यक्षरूपसे रहनेवाला पुरुष, यदि अपना इष्टमित्र भी हो तो भी ग्लानिका ही पात्र होता है ॥१००७॥

गा०—तब माताके द्वारा खाये गये वमनरूप आहारको खाकर गन्दे स्थानमें नौ दस मास रहनेवाला ग्लानिका पात्र क्यों नहीं है, भले ही वह अपना निकट बन्धु हो ॥१००८॥

गा०—जिस आहारसे उसका शरीर बना उसे कहते हैं—माताके द्वारा खाया हुआ अन्न पहले दाँतोंसे चबाया गया। फिर कफके साथ मिलकर चिकना हुआ फिर कटुक पित्तसे युक्त हुआ।।१००९॥

गा०—ऐसा होनेपर वह वमनके समान गन्दा होता है। वायुके द्वारा उसका रस भाग अलग हो जाता है और खलभाग अलग। उसमेंसे गिरती हुई बूंदको सर्वांगसे गर्भस्थपिण्ड नित्य ग्रहण करता है। इससे यह ज्ञात होता है कि वह अन्नका रस ग्रहण करता है ॥१०१०॥

1. एतेनान्तरसमाहरतीति मु०, मूलारा० । 2. दि माये व–आ० । तत्तो पाए मु०, मूलारा० ।

ततो सप्तमे 'एदं सत्तमम्मि मासे' एतत् सप्तमे मासे। 'उप्पलणालसरिसी णाही हुवइ' उत्पलनालसदृशी नाभिर्भवति। 'ततो' नाभिनिष्पत्त्युत्तरकालं। 'वमियं तं आहारेदि णाभीए' वान्तमाहारयति नाभ्या ॥१०११॥

वमियं व अमेज्झं वा आहारिदवं स किं पि ससमक्खं।
होदि हु विहिंसणिज्जो जदि वि य णियल्लओ होज्ज ॥१०१२॥

'वमियं व अमिज्झं वा' वान्तममेध्यं वा। 'आहारिदवं' भुक्तवान्। 'स किं पि' सकृदपि एकवारं। 'ससमक्खं' स्वप्रत्यक्षं। 'होदि हु विहिंसणिज्जो' भवति जुगुप्सनीयो। 'यदि वि य णियल्लिओ होज्ज' यद्यपि बन्धुर्भवेत् ॥१०१२॥

किह पुण णवदसमासे आहारेदूण तं णरो वमियं।
होज्ज ण विहिंसणिज्जो जदि वि य णीयल्लओ होज्ज ॥१०१३॥

स्पष्टोत्तरा गाथा। आहारगदं सम्मत्तं। आहारो निरूपितः ॥१०१३॥

जन्मनिरूपणायोत्तरगाथा—

असुचिं अपेच्छणिज्जं दुग्गंधं मुत्तसोणियदुवारं।
वोत्तुं पि लज्जणिज्जं पोट्टमुहं जम्मभूमी से ॥१०१४॥

'असुचिं' अशुचि। 'अपेच्छणिज्जं' अप्रेक्षणीयं। 'दुग्गंधं' दुर्गन्धं। 'मुत्तसोणियदुवारं' मूत्रस्य शोणितस्य च द्वारं। 'वोत्तुं पि लज्जणिज्जं' वक्तुमपि स्वनाम्ना लज्जनीयं। 'पोट्टमुहं' उदरमुखं वराङ्गं। 'जम्मभूमी से' जन्मभूमिस्तस्य ॥१०१४॥

जदि दाव विहिंसज्जइ वत्थीए मुहं परस्स आलेट्टुं।
कह सो विहिंसणिज्जो ण होज्ज सल्लीढपोट्टमुहो ॥१०१५॥

गा०—इसके पश्चात् सातवें मासमें कमलकी नालके समान नाभि होती है। नाभिके बननेके पश्चात् उस वमन किये आहारको नाभिके द्वारा ग्रहण करता है ॥१०११॥

गा०—यदि कोई अपने सामने एक बार भी वमन किये गये आहारको या गन्दे विष्टाको खाता है तो अपना प्रिय बन्धु भी यदि हो तो उससे ग्लानि होती है ॥१०१२॥

गा०—तब जो मनुष्य नौ दस महीने उस वमन तुल्य आहारको खाता है वह ग्लानिका पात्र क्यों नहीं होगा, भले ही वह अपना प्रियबन्धु हो ॥१०१३॥

इस प्रकार आहारकी अशुचिताका कथन हुआ।

आगे जन्मका कथन करते हैं—

गा०—उदरका मुख योनि उसका जन्मस्थान है। वहीसे उसका जन्म होता है। वह स्थान अशुचि है, देखने योग्य नहीं है, दुर्गन्धयुक्त है, मूत्र और रक्तके निकलनेका द्वार है। उसका नाम लेनेमें भी लज्जा आती है ॥१०१४॥

गा०—यदि दूसरेके वस्तिमुख—गुदा अथवा योनिको देखनेमें भी ग्लानि होती है तो जो उसका आस्वादन करता है वह ग्लानिका पात्र क्यों नहीं है ॥१०१५॥

'जदि ताव विहिंसणिज्जोसि' यदि तावज्जुगुप्स्यते । 'वलीदु मुहं' वलितमुखं । 'परस्स आसंदुं' परस्य द्रष्टुं । 'किध सो विहिंसणिज्जो ण होज्ज' कथमसौ न जुगुप्सनीयो भवेत् । 'लल्लीबपोल्लमुहो' आस्वादित-वराङ्गः ॥१०१५॥

जन्मवृद्धिं निरूपयति—

बालो विहिंसणिज्जाणि कुणदि तह चेव लज्जणिज्जाणि ।
मेज्झामेज्झं कज्जाकज्जं किंचिवि अयाणंतो ॥१०१६॥

'बालो विहिंसणिज्जाणि कुणदि' बालो जुगुप्सनीयानि कर्माणि करोति । 'तधा चेव लज्जणिज्जाणि' तथा चैव लज्जनीयानि । 'मेज्झामेज्झं' शुच्यशुचि च । 'कज्जाकज्जं किं चि वि अयाणंतो' कार्याकार्यं किंचिदप्यजानन् ॥१०१६॥

अण्णस्स अप्पणो वा सिंहाणयखेलमुत्तपुरिसाणि ।
चम्मट्ठिवसापूयादीणि य तुंडे सगे छुभदि ॥१०१७॥

'अण्णस्स अप्पणो वा' अन्यस्यात्मनो वा । सिंघाणकं श्लेष्माणं । मूत्रं, पुरीषं, 'चम्मट्ठिवसापूयादीणि य' चर्म अस्थि वसां पूयादिकं वा । 'सगे तुंडे छुभदि' आत्मीये मुखे क्षिपति ॥१०१७॥

जं किं चि खादि जं किं चि कुणदि जं किं चि जंपदि अलज्जो ।
जं किं चि जत्थ तत्थ वि वोसरदि अयाणगो बालो ॥१०१८॥

'जं किं चि खादि' यत्किंचिदत्ति, यत्किंचित्करोति, यत्किंचिज्जल्पत्यलज्जः । 'जं किं चि जत्थ तत्थ वि' यत्किंचिदत्र तत्र वा शुचावशुचौ वा देशे । 'वोसरदि' व्युत्सृजति । 'अयाणगो बालो' अज्ञो बालः ॥१०१८॥

बालत्तणे कदं सव्वमेव जदि णाम संभरिज्ज तदो ।
अप्पाणम्मि वि गच्छे णिव्वेदं किं पुण परंमि ॥१०१९॥

'बालत्तणे कदं' बालत्वे कृतं । सर्वमेव यदि स्मरेत्ततः आत्मन्यपि गच्छेन्निर्वेदं किं पुनरन्यस्मिन् । उद्विग्न ॥१०१९॥

जन्मके पश्चात् शरीरकी वृद्धिका कथन करते हैं—

गा०—बालक शुचि अशुचि और कार्य अकार्यको कुछ भी नहीं जानता । तथा निन्दनीय और लज्जाके योग्य कार्य करता है ॥१०१६॥

गा०—अपना अथवा दूसरेका कफ, मूत्र, विष्ठा, चमड़ा, हड्डी, चर्बी, पीव, आदि अपने मुखमें रख लेता है ॥१०१७॥

गा०—अनजान बालक जो कुछ भी खा लेता है, जो कुछ भी करता है, निर्लज्ज होकर जो कुछ भी बोलता है । जिस किसी भी पवित्र या अपवित्र स्थानमें टट्टी पेशाब कर देता है ॥१०१८॥

गा०—यदि बचपनमें किये गये सब कार्योंको याद किया जाये तो दूसरेकी तो बात ही क्या, अपनेसे ही वैराग्य हो जाय ॥१०१९॥

कुणिमकुडी कुणिमेहिं य भरिदा कुणिमं च सवदि सव्वत्तो ।
ताणं व अमेज्झमयं अमेज्झभरिदं सरीरमिणं ॥१०२०॥

'कुणिमकुडी' कुथिता कुटी, 'कुणिमेहिं भरिदा' कुथितैर्भरिता। 'कुणिमं च सवदि सव्वत्तो' कुथितं सर्वतः स्रवति समन्तात्। 'ताणं व अमेज्झमयं' तार्णमिव अमेध्यमयं। 'अमेज्झभरिदं' अमेध्यपूर्णं। 'सरीरमिणं' शरीरमिदं ॥१०२०॥

वृद्धिक्रमं निरूप्य शरीरावयवानाचष्टे—

अट्ठीणि हुंति तिण्णि दु सदाणि भरिदाणि कुणिममज्जाए ।
सव्वम्मि चेव देहे संधीणि हवंति तावदिया ॥१०२१॥

'अट्ठीणि हुंति तिण्णि दु सदाणि' त्रिशतान्यस्थीनि। 'भरिदाणि कुणिममज्जाए' पूर्णानि कुथितेन मज्जासंज्ञितेन। 'सव्वम्मि चेव देहम्मि' सर्वस्मिन्नेव शरीरे। 'संधीणि हवंति तावदिया' सन्धिप्रमाणमपि त्रिशतमेव ॥१०२१॥

ण्हारूण णवसदाइं सिरासदाणि हवंति सत्तेव ।
देहम्मि मंसपेसीण हुंति पंचेव य सदाणि ॥१०२२॥

'ण्हारूण णवसदाइं' स्नायूनां नवशतानि। 'सिरासदाणि य हवंति सत्तेव' सिराणा सप्तशतानि। 'देहम्मि मंसपेसीण हवंति पंचेव य सदाणि' पंचशतानि शरीरे मांसपेश्यः ॥१०२२॥

चत्तारि सिराजालाणि हुंति सोलस य कंडराणि तहा ।
छच्चेव सिराकुच्चा देहे दो मंसरज्जू य ॥१०२३॥

'चत्तारि सिराजालाणि' चत्वारि शिराजालानि शिरासंघाताः। 'सोलस य कंडराणि तहा' षोडश कण्डरसंज्ञितानि तथा। 'छच्चेव सिराकुच्चा' षडेव शिरामूलानि। 'देहे दो मंसरज्जू य' शरीरे मांसरज्जूद्वयं ॥१०२३॥

गा०—यह शरीर कुथित अर्थात् मलिन वस्तुओंकी कुटी है और मलिन वस्तुओंसे ही भरी है। सब तरफसे महामलिन मल ही उससे बहता रहता है। मलसे भरे पात्रके समान यह शरीर मलसे भरा होनेसे मलमय ही है ॥१०२०॥

शरीरकी वृद्धिका क्रम कहकर शरीरके अवयवोंको कहते हैं—

गा०—इस शरीरमें तीन सौ हड्डियाँ हैं जो कुथित मज्जासे भरी है। तथा सम्पूर्ण शरीरमें तीन सौ ही सन्धियाँ हैं ॥१०२१॥

गा०—नौ सौ स्नायु हैं। सिराएँ सात सौ हैं। पाँच सौ मांस पेशिया हैं १०२२॥

गा०—चार शिराजाल हैं। सोलह रक्तसे पूर्ण महाशिराएँ है। छह शिराओंके मूल हैं। दो मांस रज्जु है एक पीठ और एक पेटके आश्रित हैं ॥१०२३॥

१, २, ३. भाण आ०।

सत्त तयाओ कालेज्जयाणि सत्तेव होंति देहम्मि ।
देहम्मि रोमकोडीण होंति [1]असीदिं सदसहस्सा ॥१०२४॥

'सत्त तयाओ' सप्त त्वचः । 'कालेज्जयाणि सत्तेव होंति देहम्मि' सप्तैव कालेयकानि देहे । 'देहम्मि रोमकोडीण 'असीदिं सदसहस्सा' शरीरे रोमकोटीनां अशीतिशतसहस्राणि ॥१०२४॥

पक्कामयासयत्था य अंतगुंजाओ सोलस हवंति ।
कुणिमस्स आसया सत्त हुंति देहे मणुस्सस्स ॥१०२५॥

'पक्कामयासयत्था' पक्वाशये आमाशये अवस्थिताः । 'अंतगुंजाओ' अन्त्रयष्टयः । 'सोलस हवंति' षोडशैव भवन्ति । 'कुणिमस्स आसया' कुथितस्य आशया सप्त भवन्ति देहे मनुजस्य ॥१०२५॥

थूणाओ तिण्णि देहम्मि होंति सत्तुत्तरं च मम्मसदं ।
णव होंति वणमुहाइं णिच्चं कुणिमं सवंताइं ॥१०२६॥

'थूणाओ तिण्णि देहम्मि होंति' स्थूणास्तिस्रो भवन्ति देहे । 'सत्तुत्तरं च मम्मसदं' मर्मणां शतं सप्ताधिकं । 'णव होंति वणमुहाइं' व्रणमुखानि नव भवन्ति । 'णिच्चं कुणिमं' नित्यं कुथितं स्रवन्ति यानि ॥१०२६॥

देहम्मि मच्छुलिंगं अंजलिमित्तं सयप्पमाणेण ।
अंजलिमित्तो मेदो उज्जोवि य तत्तिओ चेव ॥१०२७॥

'देहम्मि' शरीरे । 'मच्छुलिंगं' मस्तिष्कं । 'अंजलिमित्तो सयप्पमाणेण' स्वाञ्जलिप्रमाणं परिच्छिन्नं । मेदोऽप्यञ्जलिप्रमाणं । 'ओजोवि तत्तिओ चेव' शुक्रमपि तावन्मात्रमेव ॥१०२७॥

तिण्णि य वसंजलीओ छच्चेव य अंजलीओ पित्तस्स ।
सिंभो पित्तसमाणो लोहिदमद्धाढगं होदि ॥१०२८॥

'तिण्णि य वसंजलीओ' तिस्रो वसाञ्जलय. । 'छच्चेव य अंजलीओ पित्तस्स' षडञ्जलयः पित्तस्य । 'सिंभो पित्तसमाणो' श्लेष्मा पित्तप्रमाण । 'लोहिदमद्धाढगं होदि' लोहितोऽप्यर्धाढकं भवति ॥१०२८॥

गा०—सात त्वचाएँ हैं । सात कालेयक-मांसखण्ड हैं । और अस्सी लाख करोड़ रोम हैं ॥१०२४॥

गा०—पक्वाशय और आमाशयमें सोलह आते हैं । तथा मनुष्यके शरीरमें सात मलस्थान हैं ॥१०२५॥

गा०—शरीरमें वात पित्त कफ ये तीन थूणाए हैं । एक सौ सात मर्मस्थान है । नौ व्रण-मुख-मलद्वार हैं जिनसे सदा मल बहता रहता है ॥१०२६॥

गा०—तथा अपनी एक अंजुलीप्रमाण मस्तिष्क है । एक अंजुलिप्रमाण मेद है और एक अंगुलिप्रमाण वीर्य है ॥१०२७॥

गा०—तीन अंजुलिप्रमाण वसा—चर्बी है । छह अंजुलिप्रमाण पित्त है । पित्त प्रमाण ही कफ़ है । रुधिर आधे आढक या बत्तीस पल प्रमाण है ॥१०२८॥

---

१. सीदि आ० मु० । २. सीदी आ० मु० ।

मुत्तं आढयमेत्तं उच्चारस्स य हवंति छप्पच्छा ।
वीसं णहाणि दंता बत्तीसं होंति पगदीए ॥१०२९॥

'मुत्तं आढयमेत्तं' मूत्रं आढकमात्रं । 'उच्चारस्स य हवंति छप्पच्छा' षट्प्रस्थप्रमाण उच्चारः । 'वीसं णहाणि' विंशतिसंख्या नखानां । 'दंता बत्तीसं होंति' द्वात्रिंशद्भवन्ति दन्ताः । 'पगदीए' प्रकृत्या ॥१०२९॥

किमिणो व वणो भरिदं सरीरं किमिकुलेहिं बहुगेहिं ।
सव्वं देहं अप्फंदिदूण वादा ठिदा पंच ॥१०३०॥

'किमिणो व वणो' संजातक्रिमिव्रणवत् । 'बहुगेहिं किमिकुलेहिं भरिदं सरीरमिति' सम्बन्धः । बहुभिः क्रिमीणां कुलैर्भरितं । 'सव्वं देहं अप्फंदिदूण वादा ठिदा पंच' समस्तं शरीरं व्याप्य पञ्च वायवः स्थिताः ॥१०३०॥

एवं सव्वे देहम्मि अवयवा कुणिमपुग्गला चेव ।
एक्कं पि णत्थि अंगं पूयं सुचियं च जं होज्ज ॥१०३१॥

'एवं' उक्तेन प्रकारेण । 'देहम्मि सव्वे अवयवा' शरीराधारा सर्वे अवयवाः । 'कुणिमपुग्गला चेव' अशुभपुद्गला एव । 'एक्कं पि णत्थि अंगं' एकोऽपि नास्त्यवयवः । 'जं पूयं सुचियं च होज्ज' योऽवयवः पूतं शुचिर्वा भवेत् ॥१०३१॥

परिदड्ढसव्वचम्मं पंडुरगत्तं मुयंतवणरसियं ।
सुट्ठु वि दइदं महिलं दट्ठुंपि णरो ण इच्छेज्ज ॥१०३२॥

'परिदड्ढसव्वचम्मं' परितो दग्धसर्वत्वक्पटलं । 'पंडुरगत्तं' पाण्डुरतनु । 'मुयंतवणरसियं' विगलद्रसं 'सुट्ठु वि दइदं महिलं' प्रियतमामपि वनितां । 'दट्ठुंपि णरो ण इच्छेज्ज' द्रष्टुमपि नरो न वाञ्छति ॥१०३२॥

जदि होज्ज मच्छियापत्तसरिसियाए णो [1]थगिदं ।
को णाम कुणिमभरियं सरीरमालद्धुमिच्छेज्ज ॥१०३३॥

गा०—मूत्र एक आठक प्रमाण है। विष्टा छह प्रस्थ प्रमाण है। स्वाभाविकरूपमें बीस नख और बत्तीस दाँत होते हैं ॥१०२९॥

गा०—जैसे घावमें कीड़े भरे रहते हैं वैसे ही शरीर बहुतसे कीड़ोसे भरा है। समस्त शरीरको घेरे हुए पाँच वायु हैं ॥१०३०॥

गा०—इस प्रकार शरीरके सब अवयव अशुभ पुद्गलरूप ही हैं। एक भी अवयव ऐसा नहीं है जो पवित्र और सुन्दर हो ॥१०३१॥

गा०—जिसकी सब चमड़ी जल जानेसे शरीर सफेद वर्णका हो गया है, और उससे पीव बहता है ऐसी नारी अतिप्रिय भी हो तो उसे मनुष्य देखना भी नहीं चाहता ॥१०३२॥

---

१. पिहिदं—अ० आ० ।

'यदि होज्ज तयाए ण पढिदं' यदि त्वचा न स्थगितं भवेत् । कीदृक्या ? 'मच्छियापत्तसरिसियाए' मक्षिकापत्रसदृशेति । 'तदा को णाम इच्छेज्ज कुणिमभरिदं सरीरं' को नाम वाञ्छेत् ? किं कुणिमपूर्णं शरीरं । 'आलद्धु' स्प्रष्टुं । अवयवाः ॥१०३३॥

कण्णेसु कण्णगूथो जायदि अच्छीसु चिक्कणंसूणि ।
णासागूधो सिंघाणयं च णासापुडेसु तहा ॥१०३४॥

'कण्णेसु' कर्णयोः । 'कण्णगूथो' कर्णगूथः । 'जायदि' जायते । 'अच्छी सु' अक्ष्णोः । 'चिक्कणंसूणि' मलमश्रुबिन्दवश्च । 'णासागूधो' नासिकामलं । 'सिंघाणयं च' सिंघाणकं च 'णासापुडेसु' नासापुटयोः ॥१०३४॥

खेलो पित्तो सिंभो वमिया जिब्भामलो य दंतमलो ।
लाला जायदि [1]तुंडम्मि[2]पिच्चं मुत्तपुरिससुक्कमुदरत्थे ॥१०३५॥

स्पष्टार्थोत्तरगाथा—

सेदो जायदि सिलेसो व चिक्कणो सव्वरोमकूवेसु ।
जायंति जूवलिक्खा छप्पदियासो य सेदेण ॥१०३६॥

'सेदो जायदि' स्वेदो जायते । 'सिलेसो व चिक्कणो' चर्मकारश्लेष्मवच्चिक्कणः । 'सव्वलोमकूवेसु' सर्वलोमकूपेषु । 'जायंति' जायन्ते । 'जूका' यूकाः । 'लिक्खा' लिक्षाश्च । 'छप्पदियाओ य' चर्मयूकाश्च । 'सेदेण' स्वेदेन हेतुना । एतावता प्रबन्धेन शरीरावयवा व्याख्याता ॥१०३६॥

णिग्गमणं । निर्गमनव्याख्यानायाचष्टे—

विट्ठापुण्णो भिण्णो व घडो कुणिमं समंतदो गलइ ।
पूदिंगालो किमिणोव वणो पूदिं च वादि सदा ॥१०३७॥

गा०—यदि शरीर मक्खीके पंखके समान त्वचासे वेष्टित न हो तो मलसे भरे शरीरको कौन छूना पसन्द करेगा ॥१०३३॥

गा०—कानोंसे कानका मल उत्पन्न होता है। आँखोंमें आँखका मल और आँसू रहते हैं। तथा नाकमें नाकका मल और सिंघाड़े रहते हैं ॥१०३४॥

गा०—मुखमें खखार, पित्त, कफ, वमन, जीभका मल, दन्तमल और लार उत्पन्न होते हैं। और उदरमें मूत्र, विष्टा तथा वीर्य उत्पन्न होते हैं ॥१०३५॥

गा०—शरीरके सब रोमकूपोंसे चमारके सिरेसके समान चिपचिपा पसीना निकलता है। और पसीनेके कारण लीख और जूं उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार शरीरके अवयवोंका कथन हुआ ॥१०३६॥

अब मलके निकलनेका कथन करते हैं—

गा०—जैसे विष्टासे भरे और फूटे हुए घड़ेसे चारों ओरसे गन्दगी बहती है अथवा जैसे कृमियोंसे भरे घावसे दुर्गन्धयुक्त पीव बहती है वैसे ही शरीरसे निरन्तर मल बहता है ॥१०३७॥

निर्गमनका कथन समाप्त हुआ।

---

१. म्मि मुत्त पुरिसं च सु—आ० मु०। २. मिदरत्थं—अ० मु०। इदरत्थे मेहन योनिमुखयोः—मूलारा०।

'विट्ठापुण्णो' विष्टाभिः पूर्णः। 'भिण्णो व घडो' भिन्नघट इव। 'कुथिदं' कुथितं। 'समंतदो' समन्तात्। 'गलदि' गलति 'पूइगालोव्वणवो' गलत्पूतिनिचितक्रिमिव्रणवत्। 'पूदिं च वादि सदा' दुरभिवाति सदा। 'विष्पगदं सम्मत्तं' ॥१०३७॥

> इंगालो धोवंते ण सुज्झदि [1]जहा पयत्तेण।
> सव्वेहिं समुद्देहिम्मि सुज्झदि देहो ण धुव्वंतो ॥१०३८॥

> सिण्हाणुब्भंगुव्वट्टणेहिं मुहदंतअच्छिधुवणेहिं।
> णिच्चं पि धोवमाणो वादि सदा पूदियं देहो ॥१०३९॥

'सिण्हाणुब्भंगुव्वट्टणेहिं य' स्नानेन, अभ्यङ्गेन, उद्वर्तनेन। 'मुहदंतअच्छिधुवणेहिं' मुखस्य दन्तानामक्ष्णोश्च प्रक्षालनेन। 'णिच्चंपि धुव्वमाणो' नित्यमपि क्रियमाणशौच। 'वादि सदा पूदियं देहो' दुरभिगन्धतां न त्यजति देहः ॥१०३९॥

> पाहाणधादुअंजणपुढवितयाछल्लिवल्लिमूलेहिं।
> मुहकेसवासतंबोलगंधमल्लेहिं धूवेहिं ॥१०४०॥

'पाहाणधादुअंजणपुढवितयाछल्लिवल्लिमूलेहिं' पाषाणशब्देन रत्नान्युच्यन्ते। धातुर्जलं। अञ्जणं अञ्जनं मषी च। 'पुढवी' मृत्तिका। 'तया' त्वक्। 'मुखवासः'। मुखं वास्यते मुखं गन्धतां नीयते येनासौ मुखवासः। केशाः सुरभितां प्राप्नुवन्ति येनासौ केशवासः, एतैः पाषाणादिभिः ॥१०४०॥

> अभिभूददुब्भिगंधं परिभुज्जदि मोहिएहिं परदेहं।
> खज्जति पूइयमंसं जह कडुगभंडेण ॥१०४१॥

'अभिभूददुब्भिगंधो' निरस्ताशुभगन्धः। 'परदेहं संजुत्तं' परस्य देहः संयुक्तः। 'मोहिदेहिं' मूढैः। परिभुज्यते। 'खज्जदि' भुज्यते। 'पूइमंसं मांसं' यथा युक्त संस्कृत। 'कडुगभंडेण' मरिचैर्हिङ्ग्वादिमिश्र ॥१०४१॥

गा०—जैसे कोयलेको सब समुद्रके जलसे प्रयत्नपूर्वक धोनेपर भी वह उजला नहीं होता, उसमेंसे कालापन ही निकलता है, वैसे ही शरीरको बहुत जलादिसे धोनेपर भी वह शुद्ध नहीं होता, उसमेसे मल ही निकलता है ॥१०३८॥

गा०—स्नान, इत्र फुलेल, उबटन आदिसे तथा मुख दाँत और आँखोंको धोनेसे नित्य ही स्वच्छ करनेपर भी शरीर सदा दुर्गन्ध देता है, वह उसे छोड़ता नहीं ॥१०३९॥

गा०-टी०—पाषाण शब्दसे रत्नोंको कहा है। धातुसे जल लिया है। पृथ्वीसे मिट्टीका ग्रहण किया है। त्वचासे मध्यकी त्वचा ली है और छालसे ऊपरकी छाल ली है। अतः रत्न, जल, अंजन, मिट्टी, त्वचा, छाल बेल और जड़से तथा मुखको सुवासित करनेवाले ताम्बूल आदि और केशोंको सुगन्धित करनेवाले गन्धमाला धूप आदिसे परके शरीरकी दुर्गन्ध दूर करके मूढ़जन मोहित होकर पराये शरीरको भोगते हैं। जैसे मिर्च, हींग आदि मसालें मिलाकर, दुर्गन्धयुक्त

---

[1]. जह महापयत्तेण—आ० मु०।

अब्भंगादीहिं विणा सभावदो चेव जदि सरीरमिमं ।
सोभेज्ज मोरदेहुव्व होज्ज तो णाम से सोभा ॥१०४२॥

'अब्भंगादीहिं विणा' सुगन्धतैलेन म्रक्षणं, उद्वर्तनं, स्नानमालेपनमित्यादिभिर्विना । 'सभावदो चेव जदि सोभेज्ज इमं सरीरं' स्वभावत एव यदि शोभेत इदं शरीरं । 'मोरदेहुव्व' मयूरदेहवत् । 'होज्ज तो णाम से सोभा' भवेत्तत् स्फुटं देहस्य शोभा ॥१०४२॥

जदि दा विहिंसदि णरो आलद्धुं पडिदमप्पणो खेलं ।
कधदा णिपिवेज्ज बुधो महिलामुहजायकुणिमजलं ॥१०४३॥

'जदि दा विहिंसदि णरो आलद्धुं पडिदमप्पणो खेलं' यदि तावन्नरो जुगुप्सते स्प्रष्टुमात्मनोऽपि कासं । 'कधदा णिपिवेज्ज बुधो' कथमिदानीं पिबेद्बुधः । 'महिलामुहजादकुणिमजलं' युवतिमुखसमुद्भवम-शुचिजलं ॥१०४३॥

अंतो बहिं च मज्झे व कोइ सारो सरीरगे णत्थि ।
एरंडगो व देहो णिस्सारो सव्वहिं चेव ॥१०४४॥

'अंतो बहिं च मज्झे' अन्तर्बहिर्मध्ये । 'णो कि सारो सरीरगे अत्थि' शरीरेऽङ्गे सारभूतं न किंचिदस्ति । 'एरंडगो वा णिस्सारो सव्वहिं चेव' साररहितः सर्वत्र चैव ॥१०४४॥

चमरीबालं खग्गिविसाणं गयदंतसप्पमणिगादी ।
दिट्ठो सारो ण य अत्थि कोइ सारो मणुयस्सदेहम्मि ॥१०४५॥

'चमरीबालं' चमरीणां रोमाणि । 'खग्गिविसाणं' खड्गिनां मृगाणां विषाणं । गजानां दन्ता. । सर्पाणां रत्नादिकं च दृष्टं सारभूतं । 'ण य अत्थि कोइ सारो मणुयस्सदेहम्मि' नास्ति किञ्चित्सारं मनुष्यदेहे ॥१०४५॥

मांसको मांसभोजी जन खाते हैं वैसे ही कामीजन स्त्रीके दुर्गन्धयुक्त शरीरको तेल फुलेल आदिसे सुवासित करके भोगते हैं ॥१०४०-१०४१॥

गा०—जैसे मोरका शरीर स्वभावसे ही सुन्दर होता है वैसे ही यदि सुगन्धयुक्त तेलसे मालिश, उबटन, स्नान, आदिके विना स्वभावसे यह शरीर शोभायुक्त होता तो उसे सुन्दर कहना उचित होता ॥१०४२॥

गा०—यदि मनुष्य बाहरमें पड़े अपने कफको भी छूनेमें ग्लानि करता है तो ज्ञानीपुरुष युवती स्त्रीके मुखसे उत्पन्न हुई दुर्गन्धयुक्त लारको कैसे पीवेगा ॥१०४३॥

गा०—अन्तरमें, बाहरमें और मध्यमें शरीरमें कुछ भी सार नहीं है। ऐरण्डके वृक्षकी तरह शरीर पूर्णरूपसे निःसार है ॥१०४४॥

गा०—चमरी गायकी पूँछके बाल, गैंडे या हिरनके सींग, हाथीके दाँत, सर्पकी मणि, आदि शब्दसे मयूरके पंख, मृगकी कस्तूरी आदि अवयव तो सारभूत देखे गये हैं अर्थात् इन सबके शरीरोंमें तो कुछ सार है किन्तु मनुष्यके शरीरमें कोई सार नहीं है ॥१०४५॥

छगलं मुत्तं दुद्धं गोणीए रोयणा य गोणस्स ।
सुचिया दिट्ठा ण य अत्थि किंचि सुचि मणुयदेहे ॥१०४६॥

असुइ ॥१०४६॥

व्याधि इत्येतद्व्याचष्टे प्रबन्धेनोत्तरेण—

वाइयपित्तियसिंभियरोगा तण्हा छुहा समादी य ।
णिच्चं तवंति देहं अद्दहिदजलं व जह अग्गी ॥१०४७॥

'वाइयपित्तियसिंभियरोगा' दोषत्रयप्रभवा व्याधयः । तृष्णाक्षुधाश्रम इत्यादयश्च । देहं नित्यं तपन्ति ज्वलितोऽग्निर्जलमिव चुल्ल्युपरिस्थितभाजनगतं ॥१०४७॥

जदिदा रोगा एक्कम्मि चेव अच्छिम्मि होंति छण्णउदी ।
सव्वम्मि[1] दाइं देहे होदव्वं कदिहिं रोगेहिं ॥१०४८॥

'जदिदा रोगा एक्कम्मि चेव अच्छिम्मि होंति छण्णउदी' यदि तावद्रोगा एकस्मिन्नेव नेत्रे षण्णवतिसंख्या भवन्ति । 'सव्वम्मि दाइं देहे' समस्ते इदानीं शरीरे । 'होदव्वं कदिहिं रोगेहिं' कतिभिर्व्याधिभिर्भवितव्यम् ॥वाधिगदं॥१०४८॥

अध्रुवतामुत्तरया गाथयाचष्टे—

पीणत्थणिंदुवदणा जा पुव्वं णयणदइदिया आसे ।
सा चेव होदि संकुडिदंगी विरसा य परिजुण्णा ॥१०४९॥

'पीणत्थणिंदुवदणा' पीनस्तनभारासम्पूर्णचन्द्रानना । 'जा पुव्वं' या पूर्वं । 'णयणदइदिया' नयनवल्लभा

गा०—बकरेका मूत्र, गायका दूध, बैलका गोरचन लोकमें पवित्र माने गये हैं परन्तु मनुष्यके शरीरमें किञ्चित् भी शुचिता नहीं है ॥१०४६॥

इस तरह शरीरकी अशुचिताका कथन किया, आगे व्याधिका कथन करते हैं—

गा०—जैसे आग चूल्हेके ऊपर स्थित पात्रके जलको तपाती है वैसे ही वात पित्त और कफसे उत्पन्न हुए रोग तथा भूख प्यास श्रम आदि शरीरको सदा तपाते हैं दुःख देते हैं ॥१०४७॥

गा०—यदि एक नेत्रमें ही छियानबे रोग होते हैं तो समस्त शरीरमें कितने रोग होंगे[2] ॥१०४८॥

आगेकी गाथासे अध्रुवत्वका कथन करते हैं—

गा०—इस शरीरका स्वरूप तो देखो। जो स्त्री पूर्व यौवन अवस्थामें पुष्टस्तनवाली, सम्पूर्ण चन्द्रमाके समान मुखवाली और नेत्रोंको प्रिय थी वही स्त्री वृद्धावस्थामें संकुचित

---

१. म्मि चेव दे–अ० ।

२. इस गाथाके पश्चात् आशाधरने नीचे लिखी गाथा दी है—

पंचेव य कोडीओ भवंति तह अट्ठसट्ठिलक्खाइं ।
णवणवदि च सहस्सा पंचसया होंति चुलसीदी ॥

पाँच करोड़ अड़सठ लाख, निन्यानबे हजार पाँच सौ चौरासी रोग शरीरमें होते हैं ।

जाता । 'सा चेव होदि संकुचिदंगी' सैव भवति संकुचिततनुः । 'विरसा' कामरसरहिता । 'परिजुण्णा' परितो जीर्णा अरस्कुटीव ॥१०४९॥

जा सव्वसुंदरंगी सविलासा पढमजोव्वणे कंता ।
सा चेव मदा संती होदि हु विरसा य बीभच्छा ॥१०५०॥

'जा सव्वसुंदरंगी' यस्याः सर्वाणि अङ्गानि सुन्दराणि । 'सविलासा' विलाससहिता । 'पढमजोव्वणा' प्रथमयौवना । 'कंता' कान्ता । 'सा चेव मदा संती' सैव मृता सती । 'होदि हु विरसा' भवति विरसा । 'बीभच्छा' जुगुप्सनीया ॥१०५०॥

शरीरसम्पदोऽध्रुवता व्याख्याता गाथाद्वयेन । दम्पत्योः संयोगस्याध्रुवतां व्याचष्टे—

मरदि सयं वा पुव्वं सा वा पुव्वं मरिज्ज से कंता ।
जीवंतस्स व सा जीवंती हरिज्ज बलिएहिं ॥१०५१॥

'मरदि सयं वा पुव्वं' म्रियते स्वयं वा पूर्वं पुमान् । 'सा वा पुव्वं म्रियेत' । 'से' तस्य पुनः कान्ता । 'जीवंतस्स' जीवतो वा, सा जीवन्ती ह्रियते 'बलिएहिं' बलिभिरपरैः । इत्थं संयोगस्य बहुधाऽनित्यता ॥१०५१॥

सा वा हवे विरत्ता महिला अण्णेण सह पलाएज्ज ।
अपलायंती व तगी करिज्ज से वेमणस्साणि ॥१०५२॥

'सा वा होज्ज विरत्ता' सा भवेद्विरक्ता पुरुषे तथापि तयोः संगतिः । 'महिला अण्णेण वा सह पलाएज्ज' सा विरक्ता युवतिरन्येन वा सह पलायनं कुर्यात् । 'अपलायन्ती' अपलायमाना वा । 'तगी' सा । 'करेज्ज से वेमणस्साणि' कुर्यात्तस्य चेतोदुःखानि ॥१०५२॥

शरीरस्याध्रुवतामाचष्टे—

अंगवाली, शृङ्गार हास्य आदि काम रससे रहित अत्यन्त जीर्ण झोपड़ीकी तरह दिखाई देती है ॥१०४९॥

गा०—जो स्त्री यौवनके प्रारम्भमें सर्वांगसुन्दर तथा विलाससे पूर्ण था वही मरनेपर विरस और ग्लानियोग्य दिखाई देती है ॥१०५०॥

इस प्रकार दो गाथाओंसे शरीरकी सुन्दरताको अस्थायी कहा । अब पति-पत्नीके संयोगको अस्थायी कहते हैं—

गा०—पहले पति मर जाता है अथवा पहले पत्नी मर जाती है । अथवा पतिके जीवित रहते हुए अन्य बलवान् पुरुष उसकी जीवित पत्नीको हरकर ले जाते हैं । इस प्रकार पति-पत्नी-संयोग अनित्य होता है ॥१०५१॥

गा०—अथवा पत्नी पतिसे विरक्त हो जाती है और विरक्त होकर वह दूसरेके साथ भाग जाती है । न भी भागे तो पतिके चित्तको दुःख देनेवाले कार्य करती है ॥१०५२॥

अब शरीरकी अस्थिरता बतलाते हैं—

रूवाणि कटुकम्मादियाणि चिट्ठंति सारवेंतस्स ।
धणिदं पि सारवेंतस्स ठादि ण चिरं सरीरमिमं ॥१०५३॥

'रूवाणि कट्ठकम्मादियाणि' काष्ठे उत्कीर्णानि रूपाणि स्त्रीणा पुंसां अन्येषां च आदिशब्देन शिला-स्तम्भादिरूपपरिग्रहस्तिरं 'चिट्ठंति सारवेंतस्स' चिरं तिष्ठन्ति संस्कुर्वतः । 'धणिदं पि सारवेंतस्स' नितरामपि संस्कुर्वतः । 'ठादि ण चिरं सरीरमिमं' न तिष्ठति चिरं शरीरमिदं ॥१०५३॥

न च केवलं शरीरमेव अनित्यमपि त्वन्यदपि इति व्याचष्टे—

मेघहिमफेणउक्कासंझाजलबुब्बुदो व मणुयाणं ।
इंदियजोव्वणमदिरूवतेयबलवीरियमणिच्चं ॥१०५४॥

'मेघहिमफेणउक्कासंझाजलबुब्बुदोव' मेघवद्धिमवत्फेनवदुल्कावत्सन्ध्यावज्जलबुद्बुदवच्च । 'मणुयाणं' मनुजानां । 'इंदियजोव्वणमदिरूवतेयबलवीरियमणिच्चं' इन्द्रियाणि, यौवनं, मतिः, रूपं तेजो, बलं वीर्यं, चानित्यं ॥१०५४॥

झटिति शरीरसम्पद्व्यावर्तते इत्याख्यानक दर्शयति—

साधु पडिलाहेदु गदस्स सुरयस्स अग्गमहिसीए ।
णट्ठं सदीए अंगं कोढेण जहा मुहुत्तेण ॥१०५५॥

'साधु पडिलाहेदु गदस्स' साधोराहारदानार्थं गतस्य । 'सुरयस्स' सुरतनामधेयस्य राज्ञः । 'अग्ग-महिसीए' अग्रमहिष्याः । 'सदीए' सत्याः शोभनायाः । 'अंगं णट्ठं' शरीरं नष्टं । 'कोढेण' कुष्ठेन । 'जहा मुहुत्तेण' यथा मुहूर्तेन ॥१०५५॥

वज्झो य णिज्जमाणो जह पियइ सुरं च खादि तंबोलं ।
कालेण य णिज्जंतो विसए सेवंति तह मूढा ॥१०५६॥

गा०—सार सम्हाल करनेपर काष्ठ, पाषाण, हाथी दाँत आदिमें अंकित किये गये स्त्री पुरुषोंके रूप चिरकाल तक रहते हैं। किन्तु यह शरीर अति सम्हाल करनेपर भी चिरकाल तक नहीं रहता ॥१०५३॥

आगे कहते हैं कि केवल शरीर ही अनित्य नहीं है किन्तु वस्तुएँ भी अनित्य हैं—

गा०—मनुष्योंके इन्द्रियाँ, यौवन, मति, रूप, तेज, बल और वीर्य ये सब मेघ, बर्फ, फेन, उल्का, सन्ध्या और जलके बुलबुलेकी तरह अनित्य हैं ॥१०५४॥

शरीररूप सम्पदा झट नष्ट हो जाती है यह एक कथा द्वारा कहते हैं—

गा०—राजा सुरत साधुको आहार देने गया। इतनेमें ही उसकी पटरानी सतीका शरीर एक मुहूर्तमें ही कोढ़से नष्ट हो गया ॥१०५५॥

गा०—जैसे मारनेके लिए कोई किसी पुरुषको ले जाये और वह पुरुष मरनेकी चिन्ता न करके शराब पिये और पान खाये। वैसे ही मूढ़ मनुष्य मृत्युकी चिन्ता न करके विषयोंका सेवन करते हैं ॥१०५६॥

'बज्झो य णिज्जमाणो' हन्तुं नियमानः । 'जह पिबइ' यथा सुरां पिबति । 'खादि तंबोलं' ताम्बूलं भक्षयति । तथा 'कालेण य णिज्जंता' मृत्युना नीयमाना मूढाः । 'विसए सेवंति' विषयाननुभवन्ति ॥१०५६॥

वग्घपरद्धो लग्गो मूले य जहा ससप्पबिलपडिदो ।
पडिदमधुबिंदुचक्खणरदिओ मूलम्मि छिज्जंते ॥१०५७॥

'वग्घपरद्धो' व्याघ्रेणाभिद्रुतः । 'लग्गो' लग्नः । 'मूलम्मि' लतायाः मूले । 'ससप्पबिलपडिदो' ससर्पवति बिले पतितः । 'पडिदमधुबिंदुचक्खणरदिओ' स स्ववदनस्थानपतितमधुबिन्द्वास्वादनरतिकः । 'मूलम्मि 'छिज्जंते' मूले छिद्यमाने मूषिकाभिर्यथा ॥१०५७॥

तह चेव मच्चुवग्घपरद्धो बहुदुक्खसप्पबहुलम्मि ।
संसारबिले पडिदो आसामूलम्मि संलग्गो ॥१०५८॥

'तह चेव' तथैव । 'मच्चुवग्घपरद्धो' मृत्युव्याघ्रेण उपद्रुतः । 'संसारबिले पडिदो' संसार एव बिलः तस्मिन्पतितः । कीदृग्भूते ? बहुदुःखसर्पाकुले आशामूले । 'संलग्गो' सम्यग्लग्नः ॥१०५८॥

बहुविग्घमूसएहिं आसामूलम्मि तम्मि छिज्जंते ।
लेहदि 'तहवि अलज्जो अप्पसुहं विसयमधुबिंदु' ॥१०५९॥

'बहुविग्घमूसगेहि य' बहुभिर्विघ्नमूषकैः । 'आसामूलम्मि तम्मि छिज्जंते' आशाख्ये मूले तस्मिंश्छिद्यमाने । 'लेहदि' स्वादति । 'विभयविलज्जो' निर्भयो निर्लज्जश्च । 'अप्पसुह विसयमधुबिंदु'' अल्पसुख विषयमधुबिन्दुं । अल्पसुखनिमित्तत्वादल्पसुखमित्युच्यते । विषयमधुबिन्दुं विषयशब्देन रूपादय इत्युच्यन्ते । तेषु पुरोऽवस्थितं पुद्गलस्कंधस्य वर्तमानाः कतिपयाः पर्याया अतिस्वल्पास्त एव मधुबिन्दवः । मधुवत् ॥१०५९॥

गा०–टी०—जैसे पीछे लगे व्याघ्रके भयसे भागता हुआ कोई मनुष्य एक ऐसे कूपमें गिरा जिसमें सर्प रहता था। उस कूपकी दीवारमें एक वृक्ष उगा था। उसकी जड़को पकड़कर वह लटक गया। उस जड़को चूहे काट रहे थे। किन्तु उस वृक्षपर मधुमक्खियोंका एक छत्ता लगा था और उसमेंसे मधुकी बूँद टपककर उसके ओठोंमें आती थी। वह संकट भूल उसी मधुबिन्दुके स्वादमें आसक्त था ॥१०५७॥

गा०—उसी मनुष्यकी तरह मृत्युरूपी व्याघ्रसे भीत प्राणी अनेक दुःखरूपी सर्पोंसे भरे संसार कूपमें पड़ा है और आशारूपी जड़को पकड़े हुए है ॥१०५८॥

गा०–टी०—किन्तु उस आशारूप जड़को बहुतसे विघ्नरूपी चूहे काट रहे हैं। फिर भी वह निर्लज्ज निर्भय होकर क्षणिक सुखमें निमित्त विषयरूपी मधुकी बूँदके आस्वादमें डूबा हुआ है। यहाँ विषय शब्दसे रूप आदिको कहा है। उसके सामने वर्तमान जो पुद्गल स्कन्धकी कुछ थोड़ी-सी पर्यायें हैं वे ही मधुकी बूँद है। उसीमें वह आसक्त है ॥१०५९॥

इस प्रकार संसारकी अनित्यताका कथन किया।

---

१. म अभिद्रुतः–आ० मु० । २. वि विभयविल–आ० मु० ।

बालो अमेज्झलित्तो अमेज्झमज्झम्मि चेव जह रमदि ।
तह रमदि णरो मूढो महिलामेज्झो सयममेज्झो ॥१०६०॥

'बालो अमेज्झलित्तो' बालोऽमेध्येन लिप्तः । 'अमेज्झमज्झम्मि चेव' अमेध्यमध्ये एव । 'जह रमइ' यथा रमते प्रीतिमुपैति । 'तथा रमदि णरो मूढो' तथा रमते मूढः नरः । 'महिलामेज्झे' योषिदेव अनेकाशुचिपूर्णशरीरतया अमेध्यशब्देनोच्यते । सयममेज्झो स्वयममेध्यभूत. ॥१०६०॥

कुणिमरसकुणिमगंधं सेविंता महिलियाए कुणिमकुडी ।
जं होंति सोचयत्ता एदं हासावहं तेसिं ॥१०६१॥

'कुणिमरसकुणिमगंधं' अशुचिरसमशुचिगन्धं । 'सेविंता' सेवमानाः । 'महिलियाए' महिलाया युवत्या. । 'कुणिमकुडिं' अशुचिशरीरकुटिं । 'जं होंति सोचयत्ता' यद्भवन्ति शौचवन्तः । 'एवं हासावहं' एतच्छौचवत्वं हास्यावहं । 'तेसिं' तेषां ॥१०६१॥

एवं एदे अत्थे देहे चिंतंतयस्स पुरिसस्स ।
परदेहं परिभोत्तुं इच्छा कह होज्ज सघिणस्स ॥१०६२॥

'एवं एदे अत्थे' एवमेतानर्थान् । 'देहे' शरीरविषयान् । 'चिंतंतयस्स' चिन्तयतः । 'पुरिसस्स' पुरुषस्य । 'परदेहं' परस्य शरीर । 'परिभोत्तुं' परितो भोक्तु । 'इच्छा किह होज्ज' इच्छा कथ भवेत् । 'सघिणस्स' लज्जावत. ॥१०६२॥

एदे अत्थे सम्मं दोसं पिच्छंतओ णरो सघिणो ।
ससरीरे वि विरज्जइ किं पुण अण्णस्स देहम्मि ॥१०६३॥

'एदे अत्थे देहस्स बीजणिप्पत्तिकोत्त' इत्येतत्सूत्रनिर्दिष्टानेतानर्थान् । 'देहे' शरीरे । 'पिच्छितणो' सम्यङ् निरूपयन् । 'ससरीरे वि विरज्जइ' आत्मनोऽपि शरीरे विरक्ततामुपैति । 'किं पुण अण्णस्स देहम्मि' किं पुनरन्यशरीरे विरक्तता नोपेयात् । 'अशुचि' अशुचित्वं व्याख्यातं ॥१०६३॥

गा०—जैसे मलसे लिप्त बालक मलमें ही रमता है वैसे ही मूढ़ मनुष्य स्वयं अत्यन्त मलिन है और मलिनता भरे स्त्रीके शरीरमें रमण करता है ॥१०६०॥

गा०—युवतीका शरीर अशुचि रस और दुर्गन्धसे पूर्ण है। ऐसे अशुचि शरीरको सेवन करता हुआ कामी पुरुष अपनेको शुचि-पवित्र मानता है उसकी यह पवित्रता हास्यास्पद है ॥१०६१॥

गा०—इस प्रकार शरीरके विषयमें विचार करनेवाले पुरुषको शरीरसे ग्लानि हो जाती है तब उसे स्त्रीके शरीरको भोगनेकी इच्छा कैसे हो सकती है ॥१०६२॥

गा०—शरीरका बीज, उसकी निष्पत्ति आदिको सम्यक्रूपसे निरीक्षण करनेवाला लज्जाशील मनुष्य अपने शरीरसे भी विरक्त हो जाता है तब अन्यके शरीरमें क्यों विरक्त नहीं होगा ॥१०६३॥

इस प्रकार शरीरकी अशुचिताका कथन हुआ ।

वृद्धसेवाभिधानाय उत्तरः प्रबन्धः थेरावा तरुणा वा इत्यादिकः । शीलवृद्धता भवति न केवलेन वयसा इत्याचष्टे—

थेरा वा तरुणा वा वुड्ढा सीलेहिं होंति वुड्ढीहिं ।
थेरा वा तरुणा वा तरुणा सीलेहिं तरुणेहिं ॥१०६४॥

'थेरा वा तरुणा वा' स्थविरास्तरुणाश्च । 'वुड्ढा होंति' वृद्धा भवन्ति । 'सीलेहिं वुड्ढेहिं' शीलैः प्रवृद्धैः । क्षमा, मार्दवं, ऋजुत्वं, सन्तोषं इत्यादिकं शीलशब्देनोच्यन्ते । 'थेरा वा तरुणा वा' स्थविरास्तरुणाश्च । तरुणा एव । 'सीलेहिं तरुणेहिं' तरुणैः शीलैः । एतेन शीलवृद्धा इह वृद्धशब्देन गृहीताः । एतेषां सेवा वृद्धसेवेति कथितं भवति । वृद्धगुणानां सेवातः स्वयमपि गुणोत्कर्षमुपैतीति मन्यते ॥१०६४॥

अपि 'येहवस्थाविनामवयोवृद्धानामपि संसर्गो गुणवान्यतस्तेऽपि वयसैव' मन्दीभूतकामरतिदर्पक्रीडा इति वदति—

जह जह वयपरिणामो तह तह णस्सदि णरस्स बलरूवं ।
मंदा य हवदि कामरदिदप्पकीडा य लोभे य ॥१०६५॥

'जह जह वयपरिणामो' अतिक्रामति यथा यथा वयःपरिणामो युवत्वमध्यमत्वसंज्ञितः । 'णरस्स परिणामो' प्राणिनः परिणामः नश्यति । 'तह तह से' तथा तथा तस्य 'मंदा हवंति' मन्दा भवन्ति । 'कामरदिदप्पकीडा' काम्यन्त इति कामा विषयास्तत्र रतिर्दर्पः, क्रीडा, 'लोभो य' लोभश्च । मन्दविषयरत्यादिपरिणामेन वृद्धेन सह संवासात् स्वयमेवापि मन्दकामादिपरिणामो भवतीति भावः ॥१०६५॥

खोभेदि पत्थरो जह दहे पडंतो पसण्णमवि पंकं ।
खोभेइ तहा मोहं पसण्णमवि तरुणसंसग्गी ॥१०६६॥

आगे वृद्धसेवाका कथन करते हुए कहते हैं कि केवल अवस्थासे वृद्धता नहीं होती—

गा०—टी०—अवस्थासे वृद्ध हो अथवा तरुण हो, जिसके शील अर्थात् क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोष आदि बढ़े हुए हैं वे वृद्ध हैं। तथा अवस्थासे वृद्ध हों अथवा तरुण हों जिनके शील तरुण हैं—वृद्धिको प्राप्त नहीं हैं वे तरुण हैं। अतः यहाँ जो शीलसे वृद्ध हैं वृद्ध शब्दसे उनका ग्रहण किया है। उनकी सेवा वृद्ध सेवा है, यह कथनका अभिप्राय है। गुणोंसे वृद्ध पुरुषोंकी सेवा करनेमें स्वयं भी मनुष्य गुणोंमें उत्कर्षको प्राप्त होता है ॥१०६४॥

आगे कहते हैं कि अवस्थासे वृद्धोंका संसर्ग भी लाभकारी है क्योंकि अवस्थाके कारण ही उनका कामज्वर आदि मन्द हुआ है—

गा०—जैसे-जैसे मनुष्यकी युवावस्था, मध्यावस्था बीतती जाती है वैसे-वैसे उसकी कामविषयक रति, मद, लोभ आदि मन्द होते जाते हैं। इसका भाव यह है कि जिसका कामभावरूप परिणाम मन्द होता है उस वृद्धके साथ रहनेसे मनुष्य स्वयं भी मन्द कामभाव आदिसे युक्त होता है ॥१०६५॥

---

१. येह यस्यावीनामपि संसर्गो गुणवान्यतस्तेपि तपर्मव—आ० मु०। २ तपसैव सम्यग्भूत काम—अ०।

'ओमेदि' ओभयति । 'पत्थरो' शिला महती । 'जह' यथा । 'दहे' ह्रदे 'पडंतो' पतन् । 'पसण्णमवि पंकं' प्रशान्तमपि पङ्कं । 'ओभेदि' चालयति । 'तथा मोहं' । 'पसण्णमवि' प्रशान्तमपि । 'तरुणसंसग्गी' तरुणगोष्ठी ॥१०६६॥

> कलुसीकदंपि उदगं अच्छं जह होइ कदयजोएण ।
> कलुसो वि तहा मोहो उवसमदि हु वुड्ढसेवाए ॥१०६७॥

'कलुसीकदंपि उदयं' कलुषीकृतमप्युदकं । 'कदयजोएण' कतकफलसम्बन्धेन । 'अच्छं' स्वच्छं । 'जध होदि' यथा भवति । 'कलुसोऽपि' कलुषितोऽपि । 'मोहो' मोह. । 'उवसमदि' उपशाम्यति । 'वुड्ढसेवाए' वृद्धसेवया ॥१०६७॥

> लीणो वि मट्टियाए उदीरदि जलासयेण जह गंधो ।
> लीणो उदीरदि णरे मोहो तरुणासयेण तहा ॥१०६८॥

'लीणो वि' लीनोऽपि । 'मट्टियाए' मृत्तिकाया. । 'गंधो' गन्धः । यथा 'जलासयेण' जलाश्रयेण । 'उदीरदि' उदयमुपैति । 'लीणो वि मोहो' लीनोऽपि नरे मोहः । 'उदीरदि' उदयमुपनीयते । 'तरुणासएण' तरुणाश्रयेण तथा ॥१०६८॥

> संतो वि मट्टियाए गंधो लीणो हवदि जलेण विणा ।
> जह तह गुट्ठीए विणा णरस्स लीणो हवदि मोहो ॥१०६९॥

'संतो वि' सन्नपि मृत्तिकाया गन्धः । जलेन विना लीनो भवति यथा तथा गोष्ठ्या विना मोहो नरस्य लीनो भवति ॥१०६९॥

> तरुणो वि वुड्ढसीलो होदि णरो वुड्ढसंसिओ अचिरा ।
> लज्जासंकामाणावमाणभयधम्मबुद्धीहिं ॥१०७०॥

गा०—जैसे तालाबमें गिरकर पत्थर उसकी तलसे बैठी हुई पंकको उभारकर निर्मल जलको मलिन कर देता है, वैसे ही तरुणोंका संसर्ग प्रशान्त पुरुषके भी मोहको उद्रिक्त कर देता है ॥१०६६॥

गा०—और जैसे कतकफल डालनेसे गदला पानी भी निर्मल हो जाता है वैसे ही वृद्ध पुरुषोंकी सेवासे कलुषित मोह भी शान्त हो जाता है ॥१०६७॥

गा०—जैसे मिट्टीमें छिपी हुई गन्ध जलका आश्रय पाकर प्रकट हो जाती है। वैसे ही तरुणोंके संसर्गसे मनुष्यमें छिपा हुआ मोह उदयमें आ जाता है ॥१०६८॥

गा०—और जैसे मिट्टीमें वर्तमान होते हुए भी गन्ध जलके बिना मिट्टीमें ही लीन रहती है। वैसे ही तरुणोंके संसर्गके बिना मनुष्यका मोह उसीमें लीन रहता है, बाहरमें प्रकट नहीं होता ॥१०६९॥

गा०—वृद्ध पुरुषोंके संसर्गसे तरुण भी शीघ्र ही लज्जासे, शंकासे, मानसे, अपमानके भयसे और धर्मबुद्धिसे वृद्धशील हो जाता है ॥१०७०॥

'तरुणो वि' तरुणोऽपि । वृद्धशीलो भवति । वृद्धैः संश्रितोऽचिरात् लज्जया, शंकया, मानेन, अपमानभयेन धर्मबुद्धया च ॥१०७०॥

वुड्ढो वि तरुणसीलो होइ णरो तरुणसंसिओ अचिरा ।
वीसंभणिव्विसंको समोहणिज्जो य पयडीए ॥१०७१॥

'वुड्ढो वि' वृद्धोऽपि तरुणशीलो भवति तरुणसंश्रितः क्षिप्रं । 'विस्संभणिव्विसंको' विश्रंभेन निर्विशंकः 'समोहणिज्जो य' सह मोहनीयेन वर्तमानः । 'पयडीए' प्रकृत्या ॥१०७१॥

सुंडयसंसग्गीए जह पादुं सुंडओऽभिलसदि सुरं ।
विसए तह पयडीए संमोहो तरुणगोट्ठीए ॥१०७२॥

'सुंडयसंसग्गीए' यथा शौंडगोष्ठ्या । 'जह पादुं सुरमभिलसदि' यथा पातुं सुरामभिलषति । तथा 'पयडीए संमोहो' तथा प्रकृत्या समोहः । 'तरुणगोट्ठीए विसए अभिलसदि' तरुणगोष्ठ्या विषयानभिलषति ॥१०७२॥

तरुणेहिं सह वसंतो चलिंदिओ चलमणो य वीसत्थो ।
अचिरेण सइरचारी पावदि महिलाकदं दोसं ॥१०७३॥

'तरुणेहिं' तरुणैः सह वसन् चलेन्द्रियश्चलचित्तः, सुष्ठु विश्वस्तः अचिरेण स्वैरचारी । 'पावदि' प्राप्नोति । 'महिलाकदं दोसं' वनिताविषयं दोषं ॥१०७३॥

पुरिसस्स अप्पसत्थो भावो तिहिं कारणेहिं संभवइ ।
[1]विरहम्मि अंधयारे कुसीलसेवाए ससमक्खं ॥१०७४॥

'पुरिसस्स' पुरुषस्य अप्रशस्तो भावस्त्रिभिः कारणैः संभवति । एकान्ते, अन्धकारे, कुशीलसेवादर्शनेन च प्रत्यक्षम् ॥१०७४॥

गा०—तथा तरुण पुरुषोंकी संगतिसे वृद्ध पुरुष भी शीघ्र ही विश्वासके कारण निर्भय होनेसे और स्वभावसे ही मोहयुक्त होनेसे तरुणशील तरुणोंके स्वभाववाला हो जाता है ॥१०७१॥

गा०—जैसे मद्य पीनेवालोंके संसर्गसे मद्यपी मद्यपान करनेको अभिलाषा करने लगता है वैसे ही स्वभावसे ही मोही जीव तरुणोंके संसर्गसे विषयोंकी अभिलाषा करता है ॥१०७२॥

गा०—जो तरुणोंकी संगतिमें रहता है उसकी इन्द्रियाँ चंचल होती हैं, मन चंचल होता है, और पूरा विश्वासी होता है। फलतः शीघ्र ही स्वच्छन्द होकर स्त्रीविषयक दोषोंका भागी होता है ॥१०७३॥

पुरुषमें (और स्त्रीमें भी) तीन कारणोंसे अप्रशस्तभाव अर्थात् काम सेवनकी अभिलाषा मुख्यतः होता है—

गा०—एकान्तमें स्त्रीके साथ पुरुषका और पुरुषके साथ स्त्रीका होना, अन्धकारमें तथा स्त्री पुरुषके काम सेवनको प्रत्यक्ष देखनेपर ॥१०७४॥

---

१. विरदम्मि मु०, मूलारा० ।

पासिय सुच्चा व सुरं पिज्जंतं सुंडओ भिलसदि जहा ।
विसए य तह समोहा पासिय सोच्चा व भिलसइ ॥१०७५॥

'पासिया सुच्चा व सुरं' सुरां पीयमानां दृष्ट्वा वा श्रुत्वा वा शौंडोऽभिलषति । यथा तथा समोहो विषयानभिलषति दृष्ट्वा श्रुत्वा वा ॥१०७५॥

जादो खु चारुदत्तो गोट्ठीदोसेण तह विणीदो वि ।
गणियासत्तो मज्जासत्तो कुलदूसओ य तहा ॥१०७६॥

'जादो खु चारुदत्तो' विनीतोऽपि चारुदत्तो गोष्ठीदोषेण गणिकासक्तो जातः मद्यासक्तः कुलदूषकश्च ॥१०७६॥

तरुणस्स वि वेरग्गं पण्हाविज्जदि णरस्स वुड्ढेहिं ।
पण्हाविज्जइ पाडच्छीवि हु वच्छस्स फरुसेण ॥१०७७॥

'तरुणस्स वि' तरुणस्यापि वैराग्यं जन्यते ज्ञानवयस्तपोवृद्धैः । वत्सस्य स्पर्शेन यथा गौः प्रस्नुतक्षीरा क्रियते ॥१०७७॥

परिहरइ तरुणगोट्ठी विसं व वुड्ढाउले य आयदणे ।
जो वसइ कुणइ गुरुणिद्देसं सो णिच्छरइ बंभं ॥१०७८॥

'परिहरइ तरुणगोट्ठी' परिहरति तरुणैः सह गोष्ठीं विषमिव यः, वृद्धैराकीर्णे आयतने यो वसति । करोति च गुर्वाज्ञां स निस्तरति ब्रह्मचर्यमिति संक्षेपोपदेशः । वृद्धसेवा गता ॥१०७८॥

स्त्रीसंसर्गकृतदोषावेक्षणं स्वमनसा संसग्गीदोसावि य इत्यस्य सूत्रपदस्यार्थः साध्याहारतया सूत्राणां पिण्डितार्थता इति वाक्यशेषात्—

गा०—जैसे मद्यपी किसीको मद्य पीते देखकर अथवा सुनकर मद्यपानकी अभिलाषा करता है। वैसे ही मोही मनुष्य विषयोंको देखकर अथवा सुनकर विषयोंकी अभिलाषा करता है ॥१०७५॥

गा०—विनयवान भी चारुदत्त सेठ संगतिके दोषसे गणिकामें आसक्त हुआ, मद्यपानमें आसक्त हुआ और अपने कुलका दूषक हुआ ॥१०७६॥

गा०—ज्ञान, वय और तपसे वृद्ध पुरुषोंकी संगति तरुणपुरुषोंमें भी वैराग्य उत्पन्न करती है जैसे बछड़ेके स्पर्शसे गौके स्तनोंमें दूध उत्पन्न होता है ॥१०७७॥

गा०—जो तरुणोंकी संगतिको विषकी तरह जानकर छोड़ देता है और ज्ञान तप शीलसे वृद्ध पुरुषोंके वासस्थानमें रहता है वह गुरुकी आज्ञाका पालन करता है और ब्रह्मचर्यको पालता है ॥१०७८॥

वृद्ध संगतिका प्रकरण समाप्त हुआ।

अब स्त्रीके संसर्गसे होनेवाले दोषोंको कहते हैं—

आलोयणेण हिदयं पचलदि पुरिसस्स अप्पसारस्स ।
पेच्छंतयस्स बहुसो इत्थीवयणजहणवदणाणि ॥१०७९॥

आलोयणेण आलोकनेन । 'हिदयं' हृदयं प्रचलति । अल्पधृतिकस्य पुंसः प्रेक्षमाणस्य बहुशो युवतीनां वदनपयोधरपृथुजघनानि ॥१०७९॥

लज्जं तदो विहिंसं परिजयभाव णिव्विसंकिदं चेव ।
लज्जालुओ कमेणारुहंतओ होदि वीसत्थो ॥१०८०॥

'लज्जं तदो विहिंसं' ततो हृदयचलनोत्तरकालं लज्जां विनाशयति । विनष्टलज्जः परिचयमुपैति । ताभिर्दर्शनसमीपगमनहसनादिकं करोतीति यावत् । पश्चान्निर्विशंको भवतीति मामनया सह स्थितं पश्यन्ति इति या शंका तामपाकरोति । लज्जावानपि नरः क्रमेण अभिहिता अवस्था उपारोहन्, विश्वस्तो भवति ॥१०८०॥

वीसत्थदाए पुरिसो वीसंभं महिलियासु उवयादि ।
वीसंभादो पणयो पणयादो रदि हवदि पच्छा ॥१०८१॥

'वीसत्थदाए' विश्वस्ततया मनसः विश्रंभमुपयाति युवतिषु । विश्रंभात्प्रणय प्रणयात्प्रतिर्भवति ॥१०८१॥

उल्लावसमुल्लावएहिं चा वि अल्लियणपेच्छणेहिं तहा ।
महिलासु सइरचारिस्स मणो अचिरेण खुब्भदि हु ॥१०८२॥

'उल्लावसमुल्लावेहिं' संभाषणप्रतिवचनैः, ढौकनेन, प्रेक्षणेन, तथा वनिताभिः स्वेच्छाचारी तस्य शीघ्रं मनश्चलति ॥१०८२॥

ठिदिगदिविलाससविब्भमसहासचेट्ठिदकडक्खदिट्ठीहिं ।
लीलाजुदिरदिसम्मेलणोवयारेहिं इत्थीणं ॥१०८३॥

गा०—युवती स्त्रियोंका मुख, स्तन और स्थूल नितम्बोंको बराबर ताकते रहनेसे चंचल चित्त मनुष्यका हृदय विचलित हो जाता है ॥१०७९॥

गा०-टी०—हृदयके विचलित होनेके पश्चात् उसकी लज्जा जाती रहती है। निर्लज्ज होनेके पश्चात् वह उन स्त्रियोंको देखना, उनके समीप जाना, उनसे हँसी ठठोली करना आदिके द्वारा परिचय प्राप्त करता है। पीछे उसका यह भय जाता रहता है कि लोग मुझे इनके साथ देखेंगे। इस तरह लज्जाशील मनुष्य भी क्रमसे कही गई अवस्थाओंको प्राप्त करता हुआ स्त्रियोंके विषयमें विश्वस्त हो जाता है कि यह मुझसे अनुराग करती है और किसीसे यह कहेगी नहीं आदि ॥१०८०॥

गा०—अपने मनमें ऐसा विश्वास होनेसे वह स्त्रियोंमें भी विश्वास करने लगता है और प्रेमसे आसक्ति बढ़ती है ॥१०८१॥

गा०—आसक्ति बढ़नेसे परस्परमें वार्तालाप होने लगता है। बार-बार मिलना और परस्पर देखना होता है। इससे स्त्रियोंके सम्बन्धमें स्वेच्छाचारी मनुष्यका चित्त शीघ्र ही विचलित हो जाता है ॥१०८२॥

'ठिदिगदि'–स्त्रीणां स्थित्या, गत्या विभ्रमेण, नर्तनाधिभ्रावेण, नितूहनेन, कटाक्षावलोकनेन, शोभया, सुत्या, क्रीडया, सहगमनासनादिना उपचारेण च ॥१०८३॥

हासोवहासकीडारहस्सवीसत्थजंपिएहिं तहा ।
लज्जामज्जादोणं मेरं पुरिसो अदिक्कमदि ॥१०८४॥

'हासोवहासकीडा' हासेन प्रतिहासेन च, क्रीडया, एकान्ते विश्वस्तजल्पनेन च लज्जामर्यादयोः सीमातिक्रमं करोति नरः ॥१०८४॥

ठाणगदिपेच्छिदुल्लावादी सव्वेसिमेव इत्थीणं ।
सविलासा चेव सदा पुरिसस्स मणोहरा हुंति ॥१०८५॥

'ठाणगदि' स्थानं, गतिः, प्रेक्षितमुल्लापमत्यादयः सर्वासामेव स्त्रीणां सविलासाः पुरुषस्य मनः सदापहरन्ति ॥५०८५॥

संसग्गीए पुरिसस्स अप्पसारस्स लद्धपसरस्स ।
अग्गिसमीवे' व घयं मणो लहुमेव हि विलाइ ॥१०८६॥

'संसग्गीए' सहगमनेन, गमनेन, आसनेन च पुरुषस्य अल्पसारस्य लब्धप्रसरस्य मनो द्रवीभवति । अग्निनिकटस्थिता काव्येन ॥१०८६॥

संसग्गीसम्मूढो मेहुणसहिदो मणो हु [2]दुम्मेरो ।
पुव्वावरमगणंतो [3]लंघेज्ज सुसीलपायारं ॥१०८७॥

'संसग्गीसम्मूढो' स्त्रीसंसर्गसंमूढः मनो मिथुनकर्मपरिणत निर्मर्यादं पूर्वापरमगणयदुल्लंघयेच्छी लप्राकारं ॥१०८७॥

गा०-टी०—तथा स्त्रियोंके खड़े होने, गमन करने नेत्रोंके अनुराग, कटाक्ष क्षेप, हास्यपूर्ण चेष्टा, शोभा, कान्ति, क्रीड़ा, साथ-साथ चलना, बैठना आदि उपचारोंसे, ह्रास उपहाससे, तथा एकान्तमें विश्वासयुक्त वार्तालापसे पुरुष लज्जा और मर्यादाकी सीमाका उल्लंघन करता है ॥१०८३-१०८४॥

गा०—सब ही स्त्रियोंका विलास सहित खड़ा होना, गमन करना, देखना, बोलना आदि सदा पुरुषोंके मनको हरता है ॥१०८५॥

गा०—निर्बल चित्त और स्वेच्छाचारी मनुष्यका मन स्त्रियोंके संसर्गसे उनके साथ उठने बैठने और आने जानेसे आगके पासमें रखे घी या लाखको तरह द्रवीभूत हो जाता है ॥१०८६॥

गा०—इस प्रकार स्त्रीके सहवाससे मूढ़-मोहित हुआ मन मैथुन संज्ञासे पीड़ित होकर निर्मर्याद हो जाता है और आगे पीछे न देखते हुए सुन्दर शीलरूपी परकोटको लाँघ जाता है ॥१०८७॥

---

१. व लक्खेण म—मु० । २. णिम्मेरो—मूलारा० । ३. उट्ठेवदि उल्लंघयति—मूलारा० ।

इंदियकसायसण्णागारवगुरुया सभावदो सव्वे ।
संसग्गिलद्धपसरस्स ते उदीरेंति अचिरेण ॥१०८८॥

'इंदियकसायसण्णागारवगुरुया' इंद्रियैः, कषायैः, संज्ञाभिराहारभयमैथुनपरिग्रहविषयाभिः ऋद्धिरससातगौरवैश्च गुरुकाः । स्वभावात् सर्वे एव प्राणभृतः संसर्गलब्धप्रसरस्य अतीव अशुभपरिणामा अचिरादेवोत्पद्यन्ते ॥१०८८॥

मादं सुदं च भगिणीमेगंते अल्लियंतगस्स मणो ।
खुब्भइ णरस्स सहसा किं पुण सेसासु महिलासु ॥१०८९॥

स्पष्टार्था ॥१०८९॥

उत्तरा—

जुण्णं पोच्चलमइलं रोगियबीभस्सदंसणविरूवं ।
मेहुणपडिगं पच्छेदि मणो तिरियं च खु णरस्स ॥१०९०॥

'जुण्णं' जीर्णतरां । 'पोच्चलमइलं' निःसारमलिनां । 'रोगियबीभस्सदंसणविरूवं' व्याधितां बीभत्सलोचना विरूपामपि स्त्रियं । 'मेहुणपडिगं' मैथुनकर्मनिमित्तं 'पच्छेदि' प्रार्थयते । 'मणो' मनः 'तिरियं खु' तिरश्ची वा दृष्ट्वा हि तीव्रकामावेशात् तिर्यक्ष्वपि नराणां प्रवृत्तिः ॥१०९०॥

दिट्ठाणुभूदसुदविसयाणं अभिलाससुमरणं सव्वं ।
एसा वि होइ महिलासंसग्गी इत्थिविरहम्मि ॥१०९१॥

'दिट्ठाणुभूदसुदविसयाणं' दृष्टानां, अनुभूतानां, श्रुतानां च विषयाणां । 'अभिलाससुमरणं' अभिलाषस्मरणं । 'सव्वं एसोवि होदि महिलासंसग्गी' एषोऽपि भवति युवतिसंसर्गः । 'इत्थिविरहे' स्त्रीविरहे ॥१०९१॥

थेरो बहुस्सुदो[1] वा पच्चईओ तह गणी तवस्सित्ति ।
अचिरेण लभदि दोसं महिलावग्गम्मि वीसत्थो ॥१०९२॥

गा०—स्वभावसे ही सब प्राणी इन्द्रिय, कषाय, आहार भय मैथुन और परिग्रह विषयक संज्ञा तथा ऋद्धिगौरव, रसगौरव और सातगौरवसे युक्त होते हैं। अतः स्त्रीकी संगतिका साहाय्य पाकर वे इन्द्रियादिरूप अशुभ परिणाम तत्काल प्रबल हो उठते हैं ॥१०८८॥

गा०—एकान्तमें माता, पुत्री और बहनको पाकर जब मनुष्यका मन सहसा चंचल हो उठता है तब शेष स्त्रियोंके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है ॥१०८९॥

गा०—मनुष्यका मन अति वृद्धा, साररहीन, मैली, कुचैली, रोगी, देखनेमें भयानक कुरूप स्त्रीको भी मैथुन करनेके लिए चाहता है। तथा तीव्र कामके आवेशमें पशुओंके साथ भी मनुष्य मैथुन कर्म करता है ॥१०९०॥

अन्य प्रकारसे स्त्री संसर्ग दिखलाते हैं—

गा०—स्त्रीके अभावमें देखे हुए, भोगे हुए, सुने हुए विषयोंकी अभिलाषा करना, स्मरण करना, ये सब भी स्त्री संसर्ग ही है ॥१०९१॥

१. थो पच्चई पमाणं गणी—मु० ।

'थेरो' स्थविरः, बहुश्रुतः, प्रत्ययितः, प्रमाणभूतः गणधरः, तपस्वीत्येवं प्रकारः। 'अचिरेण' चिरकालमन्तरेण। 'लभदि दोसं' अयशो लभते। 'महिलावग्गम्मि' युवतिवर्गे। 'वीसत्थो' विश्वस्तः ॥१०९२॥

किं पुण तरुणा अबहुस्सुदा य सइरा य विगदवेसा य।
महिलासंसग्गीए णट्ठा अचिरेण होइंति ॥१०९३॥

'किं पुण तरुणा' सयौवनाः, अबहुश्रुताः, स्वैरचारिणः, विकृतवेषाश्च युवतिसंसर्गेण झटिति नष्टा न भवन्ति ? किं पुनर्भवन्त्येवेति भावः ॥१०९३॥

सगडो हु जइणिगाए संसग्गीए दु चरणपब्भट्ठो।
गणियासंसग्गीय य कूवयारो तहा णट्ठो ॥१०९४॥

'सगडो हु' शकटो नामधेयः। 'जइणिगाए संसग्गीए' जइणिकासंज्ञायाः संसर्गेण। 'चरणपब्भट्ठो' चारित्राद्भ्रष्टः। 'गणिकासंसग्गीए' गणिकागोष्ठ्या। 'कूवयारो वि' कूपारनामकः। 'तहा णट्ठो' तथा चारित्रान्नष्टः ॥१०९४॥

रुद्दो परासरो सच्चइय रायरिसि देवपुत्तो य।
महिलारूवालोई णट्ठा संसत्तदिट्ठीए ॥१०९५॥

'रुद्दो परासरो' रुद्रः, पराशरः, सात्यकिः, राजर्षिर्देवपुत्रश्च युवतिरूपावलोकिनः। ससक्तया दृष्ट्या नष्टाः ॥१०९५॥

जो महिलासंसग्गी विसंव दट्ठूण परिहरइ णिच्चं।
णित्थरइ बंभचेरं जावज्जीवं अकंपो सो ॥१०९६॥

जो महिलायाः स्त्रीणां संसर्गं विषमिव दृष्ट्वा नित्यं परिहरति। असौ ब्रह्मचर्यं उद्वहति यावज्जीवं निश्चलः ॥१०९६॥

गा०—वृद्ध, बहुश्रुत, सबका विश्वास भाजन, सबके लिए प्राणभूत, गणधर और तपस्वी मनुष्य भी यदि स्त्रियोंके विषयमें विश्वस्त है उनसे संसर्ग रखता है तो वह भी शीघ्र ही अपयशका भागी होता है ॥१०९२॥

गा०—तब जो तरुण हैं, अल्पज्ञानी हैं, स्वच्छन्द और विकार पैदा करनेवाला वेष रखते हैं वे स्त्रियोंके संसर्गसे शीघ्र ही नष्ट क्यों न होंगे ? अवश्य ही होंगे ॥१०९३॥

गा०—शकट नामक मुनि जैनिका नामक ब्राह्मणीके संसर्गसे चारित्रसे भ्रष्ट हुए। और कूपार नामक मुनि वेश्याकी संगतिके कारण चारित्रसे भ्रष्ट हुए ॥१०९४॥

गा०—रुद्र, पाराशर ऋषि, सात्यकि मुनि, राजर्षि, और देवपुत्र ये स्त्रीके रूपको देखनेमें आसक्त होकर भ्रष्ट हुए ॥१०९५॥

गा०—जो पुरुष स्त्रीके संसर्गको विषकी तरह देखकर नित्य ही उससे बचता है वह निश्चल होकर जीवनपर्यन्त ब्रह्मचर्यका पालन करता है ॥१०९६॥

सव्वम्मि इत्थिवग्गम्मि अप्पमत्तो सदा अवीसत्थो ।
बंभं णिच्छरदि वदं चरित्तमूलं चरणसारं ॥१०९७॥

'सव्वम्मि' सर्वस्त्रीवर्गे । अप्रमत्तः सदा अविश्वस्तः, ब्रह्मव्रतमुद्वहति चारित्रस्य मूलं सारं च ॥१०९७॥

किं मे जंपदि किं मे पस्सदि अण्णो कहं च वट्टामि ।
इदि जो सदाणुपेक्खइ सो दढबंभव्वदो होदि ॥१०९८॥

'किं मे जंपदि' किं जल्पति मां जनोऽन्यः । किं पश्यति, कीदृशी वा मम वृत्तिरिति यः सदानुप्रेक्षते असौ दृढब्रह्मचर्यव्रतो भवति ॥१०९८॥

मज्झण्हतिक्खसूरं व इत्थिरूवं ण पासदि चिरं जो ।
खिप्पं पडिसंहरदि दिट्ठिं सो णिच्छरदि बंभं ॥१०९९॥

'मज्झण्हतिक्खसूरं व' मध्यान्हे स्थितं तीक्ष्णमादित्यमिव स्त्रीणां रूपं चिरं यो न पश्यति । क्षिप्रमुपसंहरति दृष्टिं यः स निस्तरति ब्रह्मचर्यं ॥१०९९॥

एवं जो महिलाए सद्दे रूवे तहेव संफासे ।
ण चिरं जस्स सज्जदि दु मणं खु णिच्छरदि सो बंभं ॥११००॥

'एवं जो महिलाए' एवं यो युवतिशब्दे, रूपे, संस्पर्शे च चिरं मनो न संसजतेऽसौ ब्रह्म निस्तरति । 'संसग्गी' ॥११००॥

इह परलोए जदि दे मेहुणविस्सुत्तिया हवे जण्हु ।
तो होहि तदुवउत्तो पंचविधे इत्थिवेरग्गे ॥११०१॥

'इह परलोए' इह परलोके च यदि मैथुनपरिणामो भवेत् । पंचविधे स्त्रीवैराग्ये त्वमुपयुक्तो भव । तदुपयोगाद्विनश्यत्यसावशुभतमः परिणाम इति सूरेरुपदेशः ॥११०१॥

गा०—जो पुरुष सम्पूर्ण स्त्री वर्गमें प्रमाद रहित है और सदा स्त्रियोंका विश्वास नहीं करता। वह ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करता है जो ब्रह्मचर्य व्रत चारित्रका मूल और उसका सार है ॥१०९७॥

गा०—अन्य लोग मेरे सम्बन्धमें क्या कहते हैं ? मुझे किस दृष्टिसे देखते हैं ? मेरी प्रवृत्ति कैसी है ? ऐसा जो सदा विचार करता है उसका ब्रह्मचर्यव्रत दृढ़ होता है ॥१०९८॥

गा०—जो मध्याह्नकालके तीक्ष्ण सूर्यकी तरह स्त्रीके रूपकी ओर देर तक नहीं देखता और शीघ्र ही अपनी दृष्टिको उसकी ओरसे हटा लेता है वह ब्रह्मचर्यका निर्वाह करता है ॥१०९९॥

गा०—इस प्रकार स्त्रीके शब्द, रूप और स्पर्शमें जिसका मन चिरकाल तक नहीं ठहरता, वह ब्रह्मचर्यका पालक होता है ॥११००॥

इस प्रकार स्त्री संसर्गके दोषोंका कथन किया।

गा०-टी०—हे क्षपक ! यदि इस लोक और परलोकमें तुम्हारे मैथुन सेवनके परिणाम हों तो पाँच प्रकारके स्त्री वैराग्यमें मनको लगाओ। अर्थात् स्त्रीकृत दोष, मैथुनके दोष, स्त्री-

उदयम्मि जायवड्ढिय उदएण ण लिप्पदे जहा पउमं ।
तह विसएहिं ण लिप्पदि साहू विसएसु उसिओ वि ॥११०२॥

'उदयम्मि जायवड्ढिय' उदके जातं परिवृद्धं च यथा पद्मं उदकेन न लिप्यते । तथा न लिप्यते विषयैः साधुर्विषयेषु वर्तमानोऽपि ॥११०२॥

उग्गाहिंतस्सुदधिं अच्छेरमणोल्लणं जह जलेण ।
तह विसयजलमणोमच्छेरं विसयजलहिम्मि ॥११०३॥

'ओग्गाहंतस्सुदधिं' अवगाहमानस्योदधिं आश्चर्यं यथा जलेनास्पर्शनं । तथा विषयजलेनार्द्रचित्तता आश्चर्यं विषयजलधिमध्यमध्यासीनस्य ॥११०३॥

मायागहणे बहुदोससावए अलियदुमगणे भीमे ।
असुइतणिल्ले साहू ण विप्पणस्संति इत्थिवणे ॥११०४॥

'मायागहणे' यथा गहनं परेषां दुःप्रवेशं एवं मायापि परैर्दुरधिगमेति मायापि गहनमित्युच्यते । मायागहनं यस्मिन्वने तन्मायागहनं तस्मिन् । 'बहुदोससावदे' बहवो दोषा बहुदोषा असूया, पिशुनता, चपलता, भीरुता, नितरां प्रमत्तता चेत्येवमादयस्ते श्वापदा यस्मिन् । 'अलियदुमगणे' यथा द्रुमो महाननेकशाखोपशाखाकुलस्य तद्वद्व्यलीकता द्रुमगणो यस्मिन् । भीमे भयंकरे । 'असुचितणिल्ले' अशुचितृणकुले । यतयो न विप्रणश्यन्ति स्त्रीवने ॥११०४॥

सिंगारतरंगाए विलासवेगाए जोव्वणजलाए ।
विहसियफेणाए मुणी णारिणईए ण बुज्झंति ॥११०५॥

संसर्गके दोष, शरीरकी अशुचिता और वृद्धसेवाका चिन्तन करो। ऐसा करनेसे तुम्हारे अति अशुभ परिणाम नष्ट होंगे ॥११०१॥

गा०—जैसे जलमें उत्पन्न हुआ और जलमें ही बढ़ा कमल जलसे लिप्त नहीं होता। वैसे ही विषयोंके मध्यमें रहते हुए भी साधु विषयोंसे लिप्त नहीं होता ॥११०२॥

गा०—जैसे समुद्रका अवगाहन करके भी समुद्रके जलसे शरीरका निर्लिप्त रहना आश्चर्यकारी है। वैसे ही विषयरूपी समुद्रके मध्यमें रहकर विषयरूपी जलसे चित्तका न भींगना आश्चर्यकारी है ॥११०३॥

गा०-टी०—यह स्त्री रूपी वन मायाचारसे गहन है। जैसे गहन वनमें दूसरोंका प्रवेश करना कठिन होता है वैसे ही मायाको भी जानना कठिन है इसलिए मायाको गहन कहा है। अतः स्त्रीरूपी वनमें माया ही गहनबेल आदि झाड़ियोंका समूह है। वनमें हिंसक जन्तु रहते हैं। स्त्रीरूप वनमें परनिन्दा, चुगली, चंचलता, भीरुता, प्रमत्तपना आदि बहुदोषरूपी हिंसक जन्तुओंका आवास है। वनमें वृक्ष होते हैं जो अनेक शाखा उपशाखाओंसे फैले रहते हैं। स्त्रीरूपी वनमें झूँठरूपी वृक्ष अपने भेद प्रभेदोंके साथ रहता है। वनकी तरह स्त्रीरूप वन भी भयंकर है। वनमें घास फूँस रहता है। स्त्री रूपी वनमें अशुचि शरीरके अंग-उपांग ही घास फूँस हैं। ऐसे स्त्रीरूपी वनमें साधु नहीं भटकता ॥११०४॥

'सिंगारतरंगाए' शृङ्गारतरङ्गया, विलासवेगया, यौवनजलया, विहसितफेनया, नारीनद्या मुनिर्नोह्यते ॥११०५॥

ते अदिसूरा जे ते विलाससलिलमदिचवलरदिवेगं ।
जोव्वणणईसु तिण्णा ण य गहिया इत्थिगाहेहिं ॥११०६॥

'ते अविसूरा' ते अतिशूराः । ये विलाससलिलामतिचपलरतिवेगां यौवननदीमुत्तीर्णाः, न च गृहीता युवतिग्राहैः ॥११०६॥

महिलावाहविमुक्का विलासपुंखा कडक्खदिट्ठिसरा ।
जण्ण वधंति सदा विसयवणचरं सो हवइ धण्णो ॥११०७॥

'महिलावाहविमुक्का' युवतिव्याधविमुक्ताः । विलासपुङ्खाः, कटाक्षदृष्टिशराः । यं न घ्नन्ति सदा विषयवने चरन्तं भवति स धन्यः ॥११०७॥

विब्बोगतिक्खदंतो विलासखंधो कडक्खदिट्ठिणहो ।
परिहरदि जोव्वणवणे जमित्थिवग्घो तगो धण्णो ॥११०८॥

'विब्बोगतिक्खदंतो' विलासखन्धो । विभ्रमतीक्ष्णदन्तो विलासस्कन्धः कटाक्षदृष्टिनखः परिहरति यौवनवने य युवतिव्याघ्र स धन्यः ॥११०८॥

तेल्लोक्काडविडहणो कामग्गी विसयरुक्खपज्जलिओ ।
जोव्वणतणिल्लचारी जं ण डहइ सो हवइ धण्णो ॥११०९॥

गा०—स्त्री एक नदीके समान है। उसमें शृङ्गाररूप तरंगे हैं। विलासरूप वेग है। यौवनरूप जल है तथा मन्द-मन्द हँसना ही झाग है। ऐसी स्त्रीरूपी नदी मुनिको नही बहा सकती ॥११०५॥

गा०—यह यौवनरूप नदी विलासरूप जलसे पूर्ण है अति चंचल रतिरूप इसका प्रवाह है। जो इस यौवनरूप नदीको पारकर गये और स्त्रीरूपी मगरमच्छोंने जिन्हे नही पकड़ा वे इस जगतमें अति शूरवीर हैं अर्थात् जवानीमें भी जिन्हे स्त्रीकी चाहने नहीं घेरा वे ही सच्चे शूरवीर हैं ॥११०६॥

गा०-टी०—विषयरूपी बनमें विचरण करने वाले जिस पुरुषको स्त्रीरूपी शिकारीके द्वारा छोड़े गये कटाक्षदृष्टिरूपी बाणोंने नहीं बीधा वह धन्य है। इन बाणोंमें लगा पंख स्त्रीका विलास है। विलासके साथ कटाक्ष दृष्टिरूपी बाण स्त्रीरूपी शिकारी विषयरूपी बनमें विचरण करने वालों पर चलाता है। जो उससे बचे रहते हैं वे धन्य हैं ॥११०७॥

गा०—स्त्री व्याघ्रके समान है भृकुटि विकार उसके तीक्ष्ण दाँत है। विलासरूपी कन्धा है। कटाक्षदृष्टि उसके नख है। यौवनरूपी बनमें विचरण करने वाले जिस पुरुषको यह स्त्रीरूपी व्याघ्र नही पकड़ता, वह धन्य है ॥११०८॥

गा०—तीनों लोकरूपी बनको जलाने वाली और विषयरूपी वृक्षोंसे प्रज्वलित यह कामरूप आग यौवन रूपी तृणों पर चलने में चतुर जिस मनुष्यको नही जलाती वह धन्य है ॥११०९॥

'तैलोक्काडंविडहणो' त्रैलोक्याटविदहनः । 'कामाग्निर्विषयवृक्षे प्रज्वलितो यौवनतृणसञ्चारणचतुरं यस्य दहत्यसौ धन्यः ॥११०९॥

विसयसमुद्दं जोव्वणसलिलं हसियगइपेक्खिदुम्मीयं ।
धण्णा समुत्तरंति हु महिलामयरेहिं अच्छिक्का ॥१११०॥

'विसयसमुद्दं' विषयसमुद्रं । 'यौवनसलिलं' हसनगमनप्रेक्षणतरङ्गनिचितं । धन्याः सम्युगुत्तरन्ति युवतिमकरैरस्पृष्टाः ॥ चतुर्थं व्रतं व्याख्यात ॥ चतुर्थं ॥१११०॥

पञ्चममहाव्रतनिरूपणायोत्तरप्रबन्धः—

अब्भंतरबाहिरए सव्वे गंथे तुमं विवज्जेहि ।
कदकारिदाणुमोदेहिं कायमणवयणजोगेहिं ॥११११॥

'अब्भंतरबाहिरगे' अभ्यन्तरान्बाह्यांश्च । 'सव्वे गंथे' सर्वान्ग्रन्थान् । 'तुमं विवज्जेहि' वर्जय भवान् । 'कदकारिदाणुमोदेहिं' कृतकारितानुमननैः । 'कायमणवयणजोगेहिं' कायेन मनसा वाचा वा ॥११११॥

तत्राभ्यन्तरपरिग्रहभेदं निरूपयति गाथा—

मिच्छत्तवेदरागा तहेव हासादिया य छद्दोसा ।
चत्तारि तह कसाया चउदस अब्भंतरा गंथा ॥१११२॥

'मिच्छत्तवेदरागा' वस्तुयाथात्म्याश्रद्धानं मिथ्यात्वं, वेदशब्देन स्त्रीपुन्नपुंसकवेदाख्यानां कर्मणां ग्रहणं । तज्जनिताः स्त्र्यादीनां अन्योन्यविषयरागाः । स्त्रियः पुंसु रागः, पुंसो युवतिषु, नपुंसकस्योभयत्र । 'हस्सादिगा य छद्दोसा' हास्यं, रतिररतिः शोको, भयं जुगुप्सेति । एते षड्दोषाः । 'चत्तारि तह कसाया चोद्दस अब्भंतरा गंथा' चत्वारस्तथा कषायाश्चतुर्दशैते अभ्यन्तराः परिग्रहाः ॥१११२॥

बाहिरसंगा खेत्तं वत्थुं धणधण्णकुप्पभंडाणि ।
दुपयचउप्पय जाणाणि चेव सयणासणे य तहा ॥१११३॥

गा०—इस विषयरूप समुद्रमें यौवनरूप जल है, स्त्रीका हँसना चलना देखना उसके लहरें हैं। और स्त्रीरूप मगरमच्छ है जो इन मगरमच्छोंसे अछूते रहकर इस समुद्रको पार करते हैं वे धन्य हैं ॥१११०॥

इस प्रकार चतुर्थ ब्रह्मचर्य व्रतका व्याख्यान हुआ। पंचम महाव्रतका कथन करते हैं—

गा०—हे क्षपक ? कृत कारित अनुमोदना और मन वचन कायसे तुम सब अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहका त्याग करो ॥११११॥ मिथ्यात्व, वेद राग, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और चार कषाय ये चौदह अन्तरंग परिग्रह हैं ॥१११२॥

टी०—वस्तुके यथार्थ स्वरूपका श्रद्धान न करना मिथ्यात्व है। वेद शब्दसे स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद नामक कर्मोंका ग्रहण किया है। उनके उदयसे उत्पन्न स्त्री आदिके पारस्परिक रागको यहाँ अन्तरंग परिग्रह कहा है। स्त्रियोंका पुरुषोंमें राग, पुरुषोंका स्त्रियोंमें राग और नपुंसकोंका दोनोंमें राग पारस्परिक राग है ॥१११२॥

'बाहिरसंगा' बाह्यपरिग्रहाः । 'खेत्तं' कर्षणाधिकरणं । 'वत्थु' वास्तु गृहं । 'धणं' सुवर्णादि । 'धण्ण' धान्यं व्रीह्यादि । 'कुप्प' कुप्यं वस्त्रं । 'भंड' भाण्डशब्देन हिङ्गुमरिचादिकमुच्यते । दुपदशब्देन दास-दासीभृत्यवर्गादि । 'चउप्पद' चतुष्पदाः गजतुरगादयश्चतुष्पदाः । 'जाणाणि' शिबिकाविमानादिकं यानं । 'सयणासणे' शयनानि आसनानि च ॥१०१३॥

बाह्यमलमनिराकृत्याभ्यन्तरकर्ममलं ज्ञानदर्शनसम्यक्त्वचारित्रवीर्याव्याबाधत्वानामात्मगुणानां छादने व्यापृतं न निराकर्तुं शक्यते इत्येतद्दृष्टान्तमुखेनाचष्टे—

जह कुंडओ ण सक्को सोधेदुं तंदुलस्स सतुसस्स ।
तह जीवस्स ण सक्का मोहमलं संगसत्तस्स ॥१११४॥

'जह कुंडओ ण सक्का' तुषसहितस्य तन्दुलस्यान्तर्मलं बाह्ये तुषेऽनपनीते यथा शोधयितुमशक्यं । तथा बाह्यपरिग्रहमलसंसक्तस्याभ्यन्तरकर्ममलं अशक्यं शोधयितुमिति गाथार्थः । सपरिग्रहस्य कस्मान्न कर्मविमोक्षो ? जीवाजीवद्रव्ये बाह्यपरिग्रहशब्देनोच्येते । तौ च सर्वदा सर्वत्र सन्निहिताविति बन्धक एवायमात्मा स्यादिति । एवं च मुक्त्यभाव इति चोदिते, न तयोः सम्बन्धहेतुरपि तु लोभादयः परिणामाः । लोभादिपरिणामहेतुकं बाह्यद्रव्यग्रहणं ॥१०१४॥

अतो यो बाह्यमुपादत्तेऽभ्यन्तरपरिणाममन्तरेण नैवादत्ते इति वदति—

रागो लोभो मोहो सण्णाओ गारवाणि य उदिण्णा ।
तो तइया घेत्तुं जे गंथे बुद्धी णरो कुणइ ॥१११५॥

गा०—खेती आदिका स्थान क्षेत्र, मकान, सुवर्ण आदि धन, जौ आदि धान्य, कुप्य अर्थात् वस्त्र, भाण्ड शब्दसे हींग मिर्च आदि, दुपद शब्दसे दास दासी सेवक आदि, हाथी घोड़े आदि चौपाये, पालकी विमान आदि यान तथा शयन आसन आदि ये दस बाह्य परिग्रह हैं ॥१११३॥

बाह्य परिग्रहके त्याग किये बिना ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र, वीर्य और अव्याबाधत्व नामक आत्म गुणोंको ढाँकने वाले अभ्यन्तर कर्ममलको दूर नहीं किया जा सकता, यह दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

गा०-टी०—जैसे तुष सहित चावलका तुष दूर किये बिना उसका अन्तर्मलका शोधन करना शक्य नहीं है। वैसे ही जो बाह्य परिग्रहरूपी मलसे सम्बद्ध है उसका अभ्यन्तर कर्ममल शोधन करना शक्य नहीं है।

शंका—परिग्रह सहित व्यक्तिका कर्मबन्धनसे छुटकारा क्यों नहीं होता। जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य बाह्य परिग्रह कहे जाते हैं। और वे दोनों सदा सर्वत्र जीवके समीप रहते हैं अतः आत्मा सदा कर्मका बन्धक ही रहेगा। और उसे कभी मुक्ति नहीं होगी।

समाधान—ऐसा नहीं है, उन जीव द्रव्य और अजीव द्रव्यके निकट रहते हुए भी लोभादि-रूप परिणाम उनसे सम्बन्धमें कारण होते हैं। लोभादिरूप परिणामोंके कारण जीव बाह्य द्रव्यको ग्रहण करता है ॥१११४॥

अतः जो अभ्यन्तर लोभादि परिणामके बिना बाह्य द्रव्यको ग्रहण करता है, वह ग्रहण नहीं करता, यह कहते हैं—

'रागो लोभोमोहो' ममेदं भावो रागः, द्रव्यगतगुणासक्तिर्लोभः, परिग्रहेच्छा मोहो। ममेदं भावः संज्ञा। किञ्चित् मम भवति शोभनमिति इच्छानुगतं ज्ञानं। तीव्रोऽभिलाषो यः परिग्रहगतः स गौरवशब्देनोच्यते। एते यदोदिताः परिणामास्तदा ग्रन्थान्बाह्यान् ग्रहीतुं मनः करोति नान्यथा। तस्माद्यो बाह्यं गृह्णाति परिग्रहं स नियोगतो लोभाद्यशुभपरिणामवानेवेति कर्मणां बन्धको भवति। ततस्त्याज्या परिग्रहाः[1] ॥१११५॥

स च परिग्रहत्यागो न स्वमनीषिकार्चितोऽपि तु निश्चयेन कर्तव्य'तयोपदिष्ट इत्याचष्टे—

चेलादिसव्वसंगच्चाओ पढमो हु होदि ठिदिकप्पो।
इहपरलोइयदोसे सव्वे आवहदि संगो हु ॥१११६॥

'चेलादिसव्वसंगच्चागो इति' दशविधा हि स्थितिकल्पा निरूपिता अचेलतादयः। तत्र आचेलक्यं नाम चेलमात्रत्यागो न भवति। किन्तु चेलादिसर्वसंगत्यागः प्रथमः स्थितिकल्पो दशानामाद्यः। 'इहपरलोगिगदोसे' ऐहिकामुष्मिकांश्च दोषानावहति परिग्रहो, यस्मात्तस्माज्जन्मद्वयगतदोषपरिहारेणादरवता सकलः परिग्रहस्त्याज्यः। इति भावः ॥१११६॥

श्रुतं चेलपरित्यागमेव सूचयति आचेलक्कमिति न इतरत्यागमित्याशङ्कायामाचष्टे—

देसामासियसुत्तं आचेलक्कंति तं खु ठिदिकप्पे।
लुत्तोत्थ आदिसद्दो जह तालपलंबसुत्तम्मि ॥१११७॥

'देसामासिगसुत्तं' परिग्रहैकदेशामर्शकारिसूत्रं 'आचेलक्कंति' आचेलक्यमिति। 'तं खु' तत्। 'ठिदि-

गा०-टी०—'यह मेरा है' ऐसे भावको राग कहते हैं। द्रव्यके गुणोमे आसक्तिको लोभ कहते हैं। परिग्रहकी इच्छाको मोह कहते हैं। मेरे पास कुछ होता तो अच्छा होता, इस प्रकारके ममत्व भावको संज्ञा कहते हैं। परिग्रहविषयक तीव्र अभिलाषाको गारव शब्दसे कहते हैं। ये परिणाम जब उत्पन्न होते हैं तब बाह्य परिग्रहको ग्रहण करनेका मन होता है, उनके अभावमें नहीं होता। अतः जो बाह्य परिग्रह ग्रहण करता है वह नियमसे लोभ आदि रूप अशुभ परिणाम वाला होनेसे कर्मका बन्ध करता है। अतः परिग्रह त्याज्य है ॥१११५॥

आगे कहते हैं कि यह परिग्रह त्याग हमने अपनी बुद्धिसे नही कहा, किन्तु निश्चयसे आगममें इसके पालनेका उपदेश है—

गा०—आगममें दस प्रकारका स्थितिकल्प कहा है। उसमें पहला कल्प आचेलक्य है। आचेलक्यका अर्थ केवल वस्त्र मात्रका त्याग नहीं है किन्तु वस्त्र आदि सर्व परिग्रहका त्याग है। यह दस कल्पोंमेंसे पहला स्थितिकल्प है। यतः परिग्रह इस लोक और परलोक सम्बन्धी दोषोंको लाती है अतः जो दोनों लोक सम्बन्धी दोषोंसे बचना चाहता है उसे सब परिग्रह छोडना चाहिए। यह इस गाथाका भाव है ॥१११६॥

कोई आशंका करता है कि आगममें वस्त्र मात्रके त्यागकी सूचना है अन्यके त्यागकी नहीं? इसका उत्तर देते हैं—

गा०-टी०—स्थितिकल्पका कथन करते हुए जो 'आचेलक्य' आदि सूत्र कहा है वह देशा-

१. ज्यः तयोप–अ० आ०।

कप्पे' स्थितिकल्पे याच्ये प्रवृत्तं सूत्रं नियोगतो मुमुक्षूणां यत्कर्तव्यतया स्थितं तत्स्थितमुच्यते स्थितकल्पः, स्थित-प्रकारः। एतदुक्तं भवति–चेलग्रहणं परिग्रहोपलक्षणं, तेन सकलग्रन्थत्याग आचेलक्यशब्दस्यार्थ इति। तालपलंबं ण कप्पदिति सूत्रे तालशब्दो न तरुविशेषवचनः किन्तु वनस्पत्येकदेशस्तरुविशेष उपलक्षणाय वन-स्पतीनां गृहीतः। तथा चोक्तं कल्पे—

हरिततणोसहिगुच्छा गुम्मा वल्लीलदा य रुक्खा य।
एवं वणप्फदीओ तालोद्देसेण आदिट्ठा ॥ इति ॥
तालेदि दलेदित्ति व तलेण वा वेदि उस्सिदो वत्ति।
ताल्लादिणो तत्ति य वणप्फदीणं हवदि णामं ॥

प्रलम्बं द्विविध मूलप्रलम्बं च, अग्रप्रलम्बं च कन्दमूलफलाख्यं, भूम्यनुप्रवेशिनमूलप्रलम्बं, अंकुरप्रवालफल-पत्राणि अग्रप्रलम्बानि। तालस्य प्रलम्बं तालप्रलम्ब वनस्पतेरंकुरादिकं च लभ्यते इति यथा सूत्रार्थस्तथेहापीति मन्यते। अथवा 'लुप्तोत्थ आदिसद्दो' लुप्तोत्र सूत्रे आदिशब्दः। अचेलादित्वमिति प्राप्ते। यथा 'तालपलंब-सुत्तम्मि' यथा तालप्रलम्बसूत्र। तालादीति शब्दप्रयोगमकृत्वा तालपलम्बमित्युक्तं। तथाचोक्त सिद्धान्ताविति' निवद्धेनैव सूत्रकारेण देशामर्शकसूत्रं ह्येतत्कृतं। आदिशब्दलोपोऽत्र तालप्रलम्बसूत्रे न तु देशामर्शकं भवतीति ॥११११७॥

मर्शक है। ममुक्षुओको जो नियमसे करना चाहिए उसे स्थित कहते हैं और उसके भेदोंको स्थिति-कल्प कहते हैं। उसमें 'चेल' शब्द परिग्रहका उपलक्षण है। अतः आचेलक्य शब्दका अर्थ सर्व परिग्रहका त्याग है। जैसे 'तालपलंब ण कप्पदि' इस सूत्रमें ताल शब्द वृक्ष विशेष ताडका वाचक नहीं है, किन्तु वनस्पतिका एक देश वृक्ष विशेष सब वनस्पतियोके उपलक्षणके लिये रखा है। कल्पसूत्रमें कहा है—

'ताल शब्दसे हरित तृण, औषधि, गुच्छा, बेल, लता, वृक्ष इत्यादि वनस्पतियोका कथन किया है।' 'ताल शब्द तल धातुसे निष्पन्न हुआ है। तल शब्दका अर्थ ऊँचाई भी है। जो स्कन्ध रूपसे ऊँचा वृक्ष विशेष होता है वह ताल वृक्ष है। तालादिमे आदि शब्दसे वृक्ष फूल पत्ता आदि वनस्पति लेना चाहिए।

प्रलम्बके दो प्रकार है—मूल प्रलम्ब और अग्रप्रलम्ब। कन्दमूल फल जो भूमिमें रहते हैं वे मूल प्रलम्ब हैं। और अंकुर, प्रवाल, फल, पत्ते अग्रप्रलम्ब हैं। तालके प्रलम्बको ताल प्रलम्ब कहते हैं। इससे वनस्पतिके अंकुर आदिका ग्रहण होता है। अतः जैसे तालप्रलम्बसूत्रमें ताल प्रलम्बसे अन्य वनस्पतियोंका ग्रहण किया है वैसे ही आचेलक्यसे अन्य परिग्रहका भी ग्रहण किया है। अथवा सूत्रमें अचेलत्वादिका आदि शब्द लुप्त हो गया है। जैसे तालप्रलम्ब सूत्रमें 'तालादि' शब्दका प्रयोग न करके 'तालप्रलम्ब' कहा है। आचेलक्य आदि सूत्रको सूत्रकारने देशामर्शक सूत्ररूपसे बनाया है अर्थात् परिग्रहके एक देश वस्त्रका ग्रहण न करनेका निर्देश करके समस्त परिग्रहका त्याग बतलाया है। किन्तु ताल प्रलम्ब सूत्रमें आदि शब्दका लोप है अतः वह सूत्र देशामर्षक नहीं है ॥१११७॥

विशेषार्थ—दस स्थितकल्पोंमें पहला स्थितिकल्प आचेलक्य है। चेलका अर्थ वस्त्र है। अतः कोई शंका करता है कि आचेलक्यसे केवल वस्त्रका ही त्याग कहा है। सब परिग्रहका

---

१. तावदिति।

ण य होदि संजदो वत्थमित्तचागेण सेससंगेहिं ।
तम्हा आचेलक्कं चाओ सव्वेसि होइ संगाणं ॥१११८॥

'ण य होदि संजदो' नैव संयतो भवति इति वस्त्रमात्रत्यागेन शेषपरिग्रहसमन्वितः । वस्त्रादन्यः शेषः इत्युच्यते । आचेलक्कमित्यत्र चेलत्यागमात्रमेव यदि निर्दिष्टं स्याच्चेलादन्यपरिग्रहं गृह्णन् संयतः स न भवति यस्मात्तस्मादाचेलक्यं नाम सर्वसंगपरित्यागोऽत्र मन्तव्यः इति युक्तिरुपन्यस्ता चेलशब्दस्य परिग्रहोपलक्षणतायां । किं च महाव्रतोपदेशप्रवृत्तानि च सूत्राणि ज्ञापकानि सर्वसंगत्यागः आचेलक्कमित्यत्र निर्दिष्ट इत्यस्य ॥१११८॥

कथं यदि चेलमात्रमेव त्याज्यं स्यान्नेतरं अहिंसादिव्रतानि न स्युः इत्येतद्व्याचष्टे उत्तरगाथायां—

संगणिमित्तं मारेइ अलियवयणं च भणइ तेणिक्कं ।
भजदि अपरिमिदमिच्छं सेवदि मेहुणमवि य जीवो ॥१११९॥

'संगणिमित्तं मारेदि' परिग्रहनिमित्तं प्राणिनो हिनस्ति षट्कर्मप्रवृत्तः । अथ द्रव्यं परकीयं ग्रहीतुकामस्तं हिनस्ति, भणत्यलीकं, करोति स्तैन्यं, भजते अपरिमितामिच्छां, मैथुने च प्रवर्तते । सत्येवमहिंसादि-

---

त्याग नहीं कहा । इसके समाधानमें दो बातें कहीं हैं । प्रथम यह सूत्र देशामर्षक है—एक देश चेलके द्वारा सब परिग्रहका त्याग कहा है । दूसरे, इसमें आदि शब्दका लोप हो गया है आचेलक्यादिकी जगह आचेलक्य कहा है अतः आदि शब्दसे सब परिग्रहका त्याग बतलाया है । अपने इस कथनकी पुष्टिमें ग्रन्थकारने ताल प्रलम्ब सूत्रका उदाहरण दिया है ।

कल्पसूत्रमें पहला सूत्र है—

'नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा आमे तालपलबे अभिन्ने पडिगाहित्तए ।'

अर्थात् निर्ग्रन्थ साधु और साध्वियोंको ताल प्रलम्ब ग्रहण नहीं करना चाहिए । इसके भाष्यमे कहा है कि तालवृक्षके फलको ताल कहते हैं उसे अग्रप्रलम्ब कहते हैं । और उसके आधारभूत वृक्षको तल कहते हैं । और प्रलम्ब मूलको कहते हैं । यहाँ यद्यपि सूत्रमे तालप्रलम्ब जो कच्चा हो और टूटा न हो उसके ग्रहणका निषेध किया है । तथापि तालफलसे नारियल, लकुच, कैथ, आम्र आदि सभी लिए हैं । इसी तरह आचेलक्यमें भी केवल वस्त्रका ही त्याग नही कहा किन्तु सर्वपरिग्रहका त्याग कहा है ॥१११७॥

गा०-टी०—केवल वस्त्रमात्रका त्याग करनेसे और शेष परिग्रह रखनेसे साधु नही होता । यदि 'आचेलक्य' से वस्त्रमात्रका त्याग ही कहा होता तो वस्त्रके सिवाय अन्य परिग्रहको ग्रहण करनेवाला साधु नही हो सकता । अतः आचेलक्यका अर्थ सर्वपरिग्रहका त्याग मानना चाहिए । 'चेल शब्द परिग्रहका उपलक्षण है' इसके सम्बन्धमें यह युक्ति दी गई है । तथा महाव्रतका कथन करनेवाले सूत्र इस बातके ज्ञापक है कि आचेलक्यमें सर्वपरिग्रहका त्याग कहा है ॥१११८॥

आगे कहते हैं कि यदि साधुके लिए केवल वस्त्रमात्र ही त्याज्य है, अन्य परिग्रह त्याज्य नहीं है तो अहिंसादिव्रत नही हो सकते—

गा०-टी०—परिग्रहके लिए असि मसि कृषि आदि षट्कर्म करके मनुष्य प्राणियोंका घात करता है । पराये द्रव्यको ग्रहण करनेकी इच्छासे उसका घात करता है, झूठ बोलता है, चोरी

व्रतानि न सन्ति। परिग्रहस्य च त्यागे तिष्ठन्ति निश्चलान्यहिंसादीनि ॥१११९॥

अपि चाशुभपरिणामसंवरणमन्तरेण प्रत्यग्रकर्मोपचयः कथं निवार्यते। प्रत्यग्रकर्मोपचयेन कर्मणां चैवानन्तकाला संसृतिरित्येतच्चेतसि कृत्वा परिग्रहग्रहणभाविनोऽशुभान्परिणामानाचष्टे—

सण्णागारवपेसुण्णकलहफरुसाणि णिट्ठुरविवादा।
संगणिमित्तं ईसासूयासल्लाणि जायंति ॥११२०॥

'सण्णागारवपेसुण्ण' परिग्रहसंज्ञा 'तत्सन्निधेर्गौरवं च जायते सपरिग्रहस्य। पिशुनयति सूचयति परदोषानिति पिशुनस्तस्य कर्म पैशुन्यं। परिग्रहवानात्मनैव स्वधनपरिपालनेच्छुः परस्य दोषान्प्रकाश्य तदीयं धनं हारयति, कलहं वा करोति। धनार्थं परुषं वचो वदति, विवादं वा कुर्यात्, ईर्ष्यासूयाशल्यानि च जायन्ते। अयमेतस्मै प्रयच्छति न मह्यं इति सङ्कल्प ईर्ष्या। परस्य धनवत्तासहनमसूया ॥११२०॥

कोधो माणो माया लोभो हास रइ अरदि भयसोगा।
संगणिमित्तं जायइ दुगुंछ तह रादिभत्तं च ॥११२१॥

'तहा कोधो माणो' क्रोधः परिग्रहहर्तरस्य परिणामो[2] दाने जायते। धन्योऽहमिति गर्वितो भवति। परो धनं दृष्ट्वा गृह्णातीति तन्निगूहनकरणान्माया च भवति। काकणिलाभे कार्षापणं वाञ्छति। तल्लब्ध्वा कार्षापणसहस्रादिकमिति लोभस्य हेतुर्द्रव्यलाभः। निर्द्रविणं लोको हसतीति हासस्यापि कारणं। द्रव्यमात्मीयं पश्यतः तत्रानुरागो रतिः। तद्विनाशे अरतिः। तदन्ये हरन्ति इति भयं। शोको वा। जुगुप्सते

करता है, अपरिमित तृष्णा रखता है और मैथुन करता है। ऐसा करनेपर अहिंसा आदि व्रत नहीं हो सकते। किन्तु परिग्रहका त्याग करनेपर अहिंसादिव्रत स्थिर रहते हैं ॥१११९॥

तथा अशुभ परिणामोंके संवरके बिना नवीन कर्मोंका संचय कैसे रोका जा सकता है? और नवीन कर्मोंका संचय होनेसे वही अनन्तकालीन संसार है। ऐसा चित्तमें स्थिर करके ग्रन्थकार परिग्रहके ग्रहणसे होनेवाले अशुभ परिणामोंको कहते हैं—

गा०-टी०—परिग्रहीके परिग्रह संज्ञा और परिग्रहमें आसक्ति होती। वह दूसरेके दोषोंको इधर-उधर कहता है। परिग्रही पुरुष दूसरेका धन लेनेके लिए दूसरोंके दोष प्रकट करके उसका धन हरता है। कलह करता है। धनके लिए कठोर वचन बोलता है, झगड़ा करता है। ईर्षा और असूया करता है। यह व्यक्ति अमुकको तो देता है मुझे नहीं देता, इस प्रकारके संकल्पको ईर्षा कहते हैं। दूसरेके धनी होनेको न सहना असूया है ॥११२०॥

गा०-टी०—दूसरेके द्वारा अपना धन ग्रहण किये जाने पर क्रोध होता है। मैं धनाढ्य हूँ ऐसा गर्व होता है। दूसरा व्यक्ति मेरा धन देखकर उसे ले लेगा, इस भयसे उसे छिपाता है अतः माया होती है। एक कौड़ीका लाभ होने पर एक रुपया आदिका लाभ चाहता है। या धनका लाभ होनेसे लोभ होता है। धनी निर्धनको देखकर हँसता है अतः परिग्रह हास्यका भी कारण है। अपना द्रव्य देखकर उससे अनुराग होता है। अतः परिग्रह रतिका कारण है। द्रव्यका नाश होने पर अरति होती है। उसे दूसरे हर लेंगे यह भय होता है। धन हर लेने पर शोक होता है।

---

१. संधिगौर—अ०। २. परिणामादाने आ०। परिणामोऽदाने मु०।

वा विरूपं परिग्रहं। परिग्रहपरिपालनार्थं रात्रावपि भुङ्क्ते मदीयं भोजनं परे दृष्ट्वार्थिनो भवन्ति इति मन्यमानः ॥११२१॥

गंथो भयं णराणं सहोदरा एयरत्थजा जं ते।
अण्णोण्णं मारेदुं अत्थणिमित्तं मदिमकासी ॥११२२॥

'गंथो भयं णराणं' ग्रन्थो नराणां भयं। ननु भयसंज्ञस्य कर्मण उदयादुपजातः परिणाम आत्मनो भयं न बाह्यक्षेत्रादिको ग्रन्थः तथाभूतस्ततः किमुच्यते ग्रन्थो भयमिति, भयहेतुत्वाद्भयमिति न दोषः। 'सहोदरा' एकोदरे प्रसवा अपि सन्तः 'एयरत्थजा' एकरथ्यनगरे जाताः। 'जं' यस्मात्। 'ते अण्णोण्णं मारेदुं' अन्योन्यं हन्तुं। 'अत्थणिमित्तं' वसुनिमित्तं 'मदिमकासी' बुद्धिं कृतवन्तः ॥११२२॥

अत्थणिमित्तमदिभयं जादं चोराणमेक्कमेक्केहिं।
मज्जे मंसे य विसं संजोइय मारिया जं ते ॥११२३॥

'अत्थणिमित्तं' धननिमित्तं। 'अदिभयं जाद' अतीव भयं जातं। 'चोराणं एक्कमेक्केहिं' चौराणामन्योन्यैः सह। 'मज्जे मंसे य विसं संजोइय' मद्ये मांसे च विषं संयोज्य। 'मारिया जं ते' यस्मात्ते मारिताः ॥११२३॥

संगो महाभयं जं विहेडिदो सावगेण संतेण।
पुत्तेण चेव अत्थे हिदम्मि णिहिदेल्लए साहुं ॥११२४॥

'संगो महाभयं' परिग्रहो महद्भयं। 'जं' यस्मात्। 'विहेडिदो' बाधितः। 'सावगेण संतेण' श्रावकेण सता। 'पुत्तेण चेव' पुत्रेणैव। 'णिहिदल्लगे अत्थे हिदंहि' निक्षिप्तेऽर्थे हृते साधुं ॥११२४॥

विरूप परिग्रह होने पर ग्लानि होती है। मेरा भोजन देखकर दूसरे माँगेंगे इसलिए रातमें भी भोजन करता है। अथवा मालिककी सेवामें रहनेसे रातमें भोजन करता है। इस तरह परिग्रहके कारण क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा और रात्रि भोजन होते हैं ॥११२१॥

गा०-टी०—परिग्रह मनुष्यमें भय उत्पन्न करता है।

शङ्का—भय नामक कर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ आत्माका परिणाम भय है। घर खेत आदि परिग्रह भय नहीं है तब आप परिग्रहको भय कैसे कहते हैं?

समाधान—परिग्रह भयका कारण होनेसे भय कही जाती है। एक ही माताके उदरसे उत्पन्न हुए और एक ही नगरमें उत्पन्न हुए भी धनके लिए परस्परमें मारनेका भाव करते हैं ॥११२२॥

गा०—धनके कारण चोरोंको परस्परमें एक दूसरेसे भय उत्पन्न हुआ। और उन्होंने मद्य और मांसमें विष मिलाकर एक दूसरेको मार डाला ॥११२३॥

गा०—परिग्रह महाभयरूप है क्योंकि जमीनमें गाड़े गये धनको अपना पुत्र ही ले गया और सत्पुरुष श्रावकको भी यह सन्देह हुआ कि मेरे इस पृथ्वीमें गड़े धनको साधु जानता था। सो कहीं इसी साधुने मेरा धन हरा हो। ऐसा सन्देह करके उस श्रावकने साधुपर कथाओंके द्वारा अपना सन्देह प्रकट किया ॥११२४॥

दूओ बंभणि वग्घो लोओ हत्थी य तह य रीयसुयं ।
परियणरो वि य राया सुवण्णरयणस्स[1] अक्खाणं ॥११२५॥

वण्णरणउलो विज्जो वसहो तावस तहेव [2]चूदवणं ।
रुक्खसिवण्णीडुं डुइ मेदज्ज मुणिस्स अक्खाणं ॥११२६॥

[3]सीदुण्हादववादं वरिसं तण्हा छुहासमं पंथं ।
दुस्सेज्जं दुज्भत्तं सहइ वहइ भारमवि गुरुयं ॥११२७॥

गायदि णच्चइ धावइ कसइ ववइ लवदि तह मलेइ णरो ।
तुण्णदि वुणइ याचइ कुलम्मि जादो वि गंथत्थी ॥११२८॥

'गायदि' गायति, नृत्यति, धावति, कृषति, वपति, कणिशच्छेदं करोति, मर्द्दनं करोति, सीव्यति, वयति, याचते कुले जातोऽपि परिग्रहार्थं ॥११२८॥

सेवइ णियादि रक्खइ गोमहिसिमजावियं हयं हत्थि ।
ववहरदि कुणदि सिप्पं अहो य रत्ती य गयणिद्दो ॥११२९॥

गा०-टी०—ये कथाएँ इस प्रकार हैं। पहले श्रावक जिनदत्तने दूत और बन्दरकी कथा कही। फिर साधुने ब्राह्मणी और नेवलेकी कथा कही। फिर श्रावकने व्याघ्र और वैद्यकी कथा कही। तब साधुने बैल और लोगोंकी कही। फिर श्रावकने हाथी और तापसकी कथा कही। तब साधुने राजा और आम्रवनकी कथा कही। फिर श्रावकने पार्थक मनुष्य और शिवनिवृक्षकी कथा कही। तब साधुने राजा और सर्पकी कथा कही। तब श्रावकने एक चोर और सेठकी कथा कही। अन्तमें साधुने मणिपालक और मेतार्यमुनिकी कथा कही ॥११२५-११२६॥

विशेषार्थ—इन दोनों गाथाओंमें उस श्रावक और साधुके मध्यमें हुई कथाओंके पात्रोंके नाम दिये हैं। ये दस कथाएँ बृहत्कथाकोशमें जिनदत्त कथानक १०२ के अवान्तरमें दी गई हैं। दसवीं कथाके अन्तमें धन चुरानेवाला पुत्र प्रबुद्ध होकर पिताको धन अर्पित करके उन साधुके समीप दीक्षा ग्रहण करता है। इन दोनों गाथाओंपर न तो अपराजित सूरिकी टीका है। न आशाधरकी और न अमितगतिके संस्कृत पद्य ही हैं ॥११२५-११२६॥

गा०—परिग्रहका इच्छुक मनुष्य गर्मी, सर्दी, घाम, वायु, वर्षा, प्यास, भूख, श्रम, मार्ग चलना आदिका दुस्सह कष्ट सहन करता है और अपनी शक्तिसे भी अधिक भार ढोता है ॥११२७॥

गा०—तथा श्रेष्ठकुलमें जन्म लेकर भी धनके लिए गाता है, नाचता है, दौड़ता है, खेती करता है, बीज बोता है, धान्य काटता है, मालिश करता है, कपड़े सीता है, कपड़े बुनता है, और भीख माँगता है ॥११२८॥

गा०—रात दिन न सोकर सेवा करता है, घर छोड़कर देशान्तर जाता है। गाय, भैंस,

---

१. णरयस्स—अ० । णयारस्स—आ० मु० । २. चयवणं—अ० ज० । ३. एतां टीकाकारो नेच्छति ।

आउधवासस्स उरं देइ रणमुहम्मि गंथलोभादो ।
मगरादिभीमसावदबहुलं अदिगच्छदि समुद्दं ॥११३०॥

'आउधवासस्स उरं देइ' आयुधवर्षस्य उरो ददाति । 'रणमुहे' रणमुखे । 'गंथलोहादो' ग्रन्थलोभात् मकरादिभीमं श्वापदबहुलं प्रविशति समुद्रं ॥११३०॥

जदि सो तत्थ मरिज्जो गंथो भोगा य कस्स ते होज्ज ।
महिलाविहिंसणिज्जो लुसिददेहो व सो होज्ज ॥११३१॥

'जदि सो तत्थ मरिज्जो' यद्यसौ रणमुखे मृतिमियात् । ग्रन्था भोगाश्च ते तावत्कस्य भवेयुः । वनिता-निर्निन्द्यः विनष्टकरचरणाद्यवयवो भवेद्यपि न मृतः ॥११३१॥

गंथणिमित्तमदीदिय गुहाओ भीमाओ तह य अडवीओ ।
गंथणिमित्तं कम्मं कुणइ अकादव्वयंपि णरो ॥११३२॥

'गंथणिमित्तमदीदिय' ग्रन्थनिमित्तं प्रविशति गुहा तथा भीमाश्चाटवीः । ग्रन्थनिमित्तं कर्म अकर्तव्य-मपि करोति नरः ॥११३२॥

सूरो तिक्खो मुक्खो वि होइ वसिओ जणस्स सधणस्स ।
माणी वि सहइ गंथणिमित्तं बहुयं पि अवमाणं ॥११३३॥

'सूरो तिक्खो मुक्खो वि' शूरस्तीक्ष्णो मूर्खश्च वशवर्ती भवति जनस्य सधनस्य । अभिमानवानपि सहते ग्रन्थनिमित्तं महान्तं अपि परिभवं ॥११३३॥

गंथणिमित्तं घोरं परितावं पाविदूण कंपिल्ले ।
लल्लक्कं संपत्तो णिरयं पिण्णागगंधो खु ॥११३४॥

'गंथणिमित्तं' वसुनिमित्तं महत् दुःखं प्राप्य । 'कंपिल्ले' कम्पिल्लनगरे । 'लल्लक्कं' लल्लकनामधेय संप्राप्तो नरकं पिण्याकगन्धसंज्ञः ॥११३४॥

बकरी, भेड़, हाथी, घोड़े पालता है । लेन-देन करता है । शिल्पकर्म करता है ॥११२९॥

गा०—परिग्रहके लोभसे युद्धभूमिमें अपनी छातीपर आयुधोंकी वर्षा सहता है । मगरमच्छ आदि भयंकर जन्तुओंसे भरे समुद्रमें प्रवेश करता है ॥११३०॥

गा०—यदि कदाचित् धनका लोभी रणमें मर जाये तो परिग्रह और भोग कौन करेगा । यदि न भी मरे और हाथ पैर कट जाये तो भी स्त्रियोंके द्वारा तिरस्कृत होगा ॥११३१॥

गा०—परिग्रहके निमित्त भयानक गुफामें प्रवेश करता है, भयानक जंगलमें जाता है । इस प्रकार मनुष्य परिग्रहके लिए नहीं करने योग्य काम भी करता है ॥११३२॥

गा०—परिग्रहके निमित्त शूरवीर, असहनशील और मूर्ख पुरुष भी धनी मनुष्यके वशमें होता है और अभिमानी भी बहुत अपमान सहता है ॥११३३॥

गा०—परिग्रहके निमित्तसे कंपिला नगरीमें पिण्याकगन्ध नामका लोभी पुरुष घोर दुःख सहकर मरकर लल्लक नामक नरक बिलमें उत्पन्न हुआ ॥११३४॥

एवं चेट्ठंतस्स वि संसइदो चेव गंथलाहो दु ।
ण य संचीयदि गंथो सुइरेणवि मंदभागस्स ॥११३५॥

'एवं चेट्ठंतस्स वि' एवं चेष्टमानस्यापि संशयित एव ग्रन्थलाभः। न च संचयमुपयाति ग्रन्थः। सुचिरेणापि मन्दभाग्यस्य ॥११३५॥

जदि वि कहंचि वि गंथा संचीएज्जण्ह तह वि से णत्थि ।
तित्ती गंथेहिं सदा लोभो लाभेण वड्ढदि खु ॥११३६॥

'जदि वि' यद्यपि कथंचित्केनचित् प्रकारेण ग्रन्थाः संचयमुपेयुः। तथापि तस्य तृप्तिर्नास्ति ग्रन्थैः। सदा लोभो लाभेन वर्द्धते ॥११३६॥

जध इंधणेहिं अग्गी लवणसमुद्दो णदीसहस्सेहिं ।
तह जीवस्स ण तित्ती अत्थि तिलोगे वि लद्धम्मि ॥११३७॥

'जध इंधणेहिं' इन्धनैर्यथाग्निः, यथा वा समुद्रो नदीसहस्रैः। तथा परिग्रहैर्न तृप्यति जीवस्त्रैलोक्ये लब्धेऽपि ॥११३७॥

पडहत्थस्स ण तित्ती आसी य महाधणस्स लुद्धस्स ।
संगेसु मुच्छिदमदी जादो सो दीहसंसारी ॥११३८॥

'पडहत्थस्स' पटहस्तनामधेयस्य वणिजः न तृप्तिरासीत्तथा महाधनस्य लुब्धस्य। परिग्रह मूर्च्छितमतिरसौ जातो दीर्घसंसारः ॥११३८॥

तित्तीए असंतीए हाहाभूदस्स घण्णचित्तस्स ।
किं तत्थ होज्ज सुक्खं सदा वि पंपाए गहिदस्स ॥११३९॥

'तित्तीए असंतीए' तृप्तावसत्यां। 'हाहाभूदस्य' लम्पटचित्तस्य किं तत्र सुखं भवेत्। आशया गृहीतस्य ॥११३९॥

गा०—इस प्रकार नाना चेष्टाएँ करनेपर भी परिग्रहकी प्राप्तिमें सन्देह ही रहता है। क्योंकि अभागे पुरुषको चिरकाल प्रयत्न करनेपर भी धनकी प्राप्ति नहीं होती ॥११३५॥

गा०—यदि किसी प्रकार धन मिल भी जाये तो उससे सन्तोष नहीं होता; क्योंकि धन-लाभ होनेसे लोभ बढ़ता है ॥११३६॥

गा०—जैसे ईंधनसे आगकी तृप्ति नहीं होती, और हजारों नदियोंके मिलनेसे लवण-समुद्रकी तृप्ति नहीं होती। वैसे ही तीनों लोक मिल जानेपर भी जीवकी परिग्रहसे तृप्ति नहीं होती ॥११३७॥

गा०—पटहस्त नामक वणिक्के पास बहुत धन था। किन्तु वह बड़ा लोभी था। उसे सन्तोष नहीं था। अतः परिग्रहमें आसक्त रहते हुए उसका मरण हुआ और वह दीर्घसंसारी हुआ ॥११३८॥

गा०—परिग्रहसे तृप्ति नहीं होनेपर हाय-हाय करनेवाले परिग्रहके लम्पटीको, जो सदा तृष्णासे व्याकुल रहता है, परिग्रहसे क्या सुख हो सकता है ॥११३९॥

हम्मदि मारिज्जदि वा बज्झदि रुंभदि य अणवराधो वि ।
आमिसहेदुं धण्णो खज्जदि पक्खीहिं जह पक्खी ॥११४०॥

'हम्मदि' आहन्यते । 'मारिज्जदि' मार्यते, बध्यते रुध्यते चानपराधोऽपि । आमिषनिमित्तं लम्पटः खाद्यते यथा पक्षिभिः पक्षी गृहीताहारः ॥११४०॥

मादुपिदुपुत्तदारेसु वि पुरिसो ण उवयाइ वीसंभं ।
गंथणिमित्तं जग्गइ [1]रक्खंतो सव्वरत्तीए ॥११४१॥

'मादुपिदुपुत्तदारेसु वि' विश्वसनीयेष्वपि मात्रादिषु विश्रंभं नोपयाति । जागर्ति सर्वरात्रीः पालयन्[2] ॥११४१॥

सव्वं पि संकमाणो गामे णयरे घरे व रण्णे वा ।
आधारमग्गणपरो अणप्पवसिओ सदा होइ ॥११४२॥

'सव्वं पि संकमाणो' सर्वमपि शङ्कमानः ग्रामे, नगरे, गृहे, अरण्ये वा, आधारान्वेषणपरोऽनात्मवशः सदा भवति ॥११४२॥

गंथपडियाए लुद्धो धीराचरियं विवित्तमावसधं ।
णेच्छदि बहुजणमज्झे वसदि य सागारिगावसए ॥११४३॥

'गंथपडियाए लुद्धो' ग्रन्थनिमित्तं लुब्धो धीरैराचरितं विविक्तमावसथं नेच्छति । बहुजनमध्ये वसति । गृहस्थानां वा वेश्मनि ॥११४३॥

सोदूण किंचि सद्दं सग्गंथो होइ उट्ठिदो सहसा ।
सव्वत्तो पिच्छंतो परिमसदि पलादि मुज्झदि य ॥११४४॥

गा०—जैसे मांसके लिए मांसका लोभी पक्षी दूसरे मांस ले जाते पक्षीको मारता काटता है वैसे ही लोभी धनाढ्य मनुष्य बिना अपराधके ही दूसरोंके द्वारा घाता जाता है, मारा जाता है और पकड़ा जाता है ॥११४०॥

गा०—परिग्रहके कारण मनुष्य माता, पिता, पुत्र और पत्नीका भी विश्वास नहीं करता । और रातभर जागकर परिग्रहकी रखवाली करता है ॥११४१॥

गा०—वह सबको शंकाकी दृष्टिसे देखता है कि ये मेरा धन हरनेवाले हैं । और गाँव, नगर, घर अथवा वनमें किसीका आश्रय खोजता फिरता है इस तरह वह सदा पराधीन रहता है ॥११४२॥

गा०—वह परिग्रहका लोभी धीर पुरुषोंके रहने योग्य एकान्त स्थानमें रहना पसन्द नहीं करता । वह बहुत जनसमुदायके मध्य गृहस्थोंके घरमें रहना पसन्द करता है ॥११४३॥

गा०—किंचित् भी शब्द सुनकर परिग्रही एकदम उठकर सब ओर देखता है, अपने धनको टटोलता है और लेकर भागता है अथवा मूर्छित हो जाता है ॥११४४॥

---

१. रक्खंतो-आ० मु० । २. प्रलपन्-आ० मु० ।

'सोढूण किंचि लद्धं' श्रुत्वा कञ्चन शब्दं परिग्रहग्रहणाशङ्कोत्थितः सर्वा दिशः प्रेक्षमाणः पराङ्मुखति स्वं द्रव्यं, पलायते, मुह्यति वा ॥११४४॥

तेणभएणारोहइ तरुं गिरिं उप्पहेण व पलादि ।

पविसदि य हृदं दुग्गं जीवाण वहं करेमाणो ॥११४५॥

'तेणभएण' स्तेनभयेन । 'आरोहदि' आरोहति तरुं गिरिं वा । उन्मार्गे वा धावति । प्रविशति वा ह्रदं दुर्गं वा स्थानं जीवानां घातनं कुर्वन् ॥११४५॥

तह वि य चोरा चारभडा वा गण्हं हरेज्ज अवसस्स ।

गेण्हिज्ज [2]दाइया वा रायाणो वा विलुंपिज्ज ॥११४६॥

तथापि पलायनधावनादिकं कुर्वतो द्रव्यं हरन्ति चोरा वा चारभटा वा । परवशस्य दायादा वा गृह्णन्ति राजानो वा विलुम्पन्ति ॥११४६॥

संगणिमित्तं कुद्धो कलहं रोलं करिज्ज वेरं वा ।

पहणेज्ज व मारेज्ज व मरिजेज्ज व तह य [3]हम्मेज्ज ॥११४७॥

'संगणिमित्तं कुद्धो' रुष्टः परिग्रहनिमित्तं कलहं वैरं वा करोति हन्ति, ताडयति । परं स्वयं प्राणान्वियोजयति वा परेण वा ताड्यते मार्यते वा परैः ॥११४७॥

अहवा होइ विणासो गंथस्स जलग्गिमूसयादीहिं ।

णट्ठे गंथे य पुणो तिव्वं पुरिसो लहदि दुक्खं ॥११४८॥

'अथवा होज्ज विणासो' अथवा ग्रन्थस्य विनाशो भवेत् अग्निजलमूषकादिभिः । नष्टे पुनर्ग्रन्थे तीव्रं दुःख लभते मनुष्यः ॥११४८॥

सोयइ विलवइ कंदइ णट्ठे गंथम्मि होइ विसण्णो ।

पज्झादि णिवाइज्जइ वेवइ उक्कंठिओ होइ ॥११४९॥

गा०—चोरके भयसे वृक्ष अथवा पहाड़पर चढ़ जाता है । अथवा मार्गसे न जाकर कुमार्गसे जाता है और जीवोंका घात करते हुए तालाब या किलेमें छिप जाता है ॥११४५॥

गा०—इस प्रकार दौड़-धूप करनेपर भी चोर अथवा बलवान् मनुष्य उसे परवश करके उसके द्रव्यको हर लेते हैं । अथवा भाई वगैरह ले लेते हैं या राजा लूट लेता है ॥११४६॥

गा०—परिग्रहके कारण मनुष्य क्रोध करता है, कलह करता है, विवाद करता है, वैर करता है, मारपीट करता है, दूसरोंके द्वारा मारा जाता है, पीटा जाता है, या स्वयं मर जाता है ॥११४७॥

गा०—अथवा आगसे, जलसे और मूषकों आदिसे परिग्रहका विनाश हो जाता है तब विनाश होनेपर मनुष्यको तीव्र दुःख होता है ॥११४८॥

---

१. हृदं—मु० । २. गासिया वा—अ० । वासिया—वा० आ० । ३. कामेज्जा—अ० आ० ।

'सोयदि विलवदि' शोचति, विलपति, क्रन्दति नष्टे परिग्रहे विषण्णश्च भवति। चिन्ता करोति। पिबत्यन्तस्सन्तापाज्जलादिकं, वेपते उत्कण्ठितो भवति ॥११४९॥

डज्झदि अंतो पुरिसो अप्पिये णट्ठे सगम्मि गंथम्मि।
वायावि य अक्खिप्पइ बुद्धी विय होइ से मूढा ॥११५०॥

'डज्झदि' दह्यते अन्तः पुरुष आत्मीये नष्टे परिग्रहे। वागपि नश्यति बुद्धिरपि मन्दा भवति ॥११५०॥

उम्मत्तो होइ णरो णट्ठे गंथे गहोवसिट्ठो वा।
पडदि मरुप्पवादादिएहिं बहुधा णरो मरिदुं ॥११५१॥

'उम्मत्तो होइ णरो' उन्मत्तो भवति नरः। नष्टे परिग्रहे ग्रहगृहीत इव चेष्टते मरुत्प्रतापादि-भिर्मर्तुं ॥११५१॥

चेलादीया संगा संसज्जंति विविहेहिं जंतूहिं।
आगंतुगा वि जंतू हवंति गंथेसु सण्णिहिदा ॥११५२॥

'चेलादिगा' संगाश्चेलप्रावरणादयः परिग्रहा। 'संसज्जंति' सम्मूर्च्छनामुपयान्ति। 'विविहेहिं जंतूहिं' नानाप्रकारैर्जन्तुभिः। 'आगंतुगा वि जंतू' आगन्तुकाश्च जन्तवः। 'गंथेसु सण्णिहिदा भवंति' ग्रन्थेषु सन्निहिता भवन्ति यूकापिपीलिकामत्कुणादयः। धान्येषु कीटादयः गुडपूपादिषु रसजा. तेषामादाने ॥११५२॥

आदाणे णिक्खेवे [1]सरेमणे चावि तेसि गंथाणं।
उक्कस्सणे वेक्कसणे [2]फालणपप्फोडणे चेव ॥११५३॥

आदाने, निक्षेपे, संस्करणे, बहिर्नयने, बन्धने, मोचने, तेषां ग्रन्थानां पाटने विधूनने च ॥११५३॥

छेदणबंधणवेढणआदावणधोव्वणादिकिरियासु।
संघट्टणपरिदावणहणणादी होदि जीवाणं ॥११५४॥

गा०—वह शोक करता है, विलाप करता है, चिल्लाता है, खेद-खिन्न होता है। चिन्ता करता है। अन्तरंगमें सन्ताप होनेसे जलादि पीता है, काँपता है, उत्कंठित होता है ॥११४९॥

गा० अपने परिग्रहके नष्ट होनेपर पुरुष अन्दर ही अन्दर जला करता है। उसकी वाणी नष्ट हो जाती है तथा बुद्धि भी मूढ़ हो जाती है ॥११५०॥

गा०—परिग्रहके नष्ट होनेपर मनुष्य पिशाचसे पकड़े हुए मनुष्यकी तरह उन्मत्त हो जाता है। और प्रायः पर्वत आदिसे गिरकर मरनेकी चेष्टा करता है ॥११५१॥

गा०—वस्त्रादि परिग्रहमें नाना प्रकार सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं। बाहरसे आकर भी जूं, चींटी, खटमल वगैरह बस जाते हैं। धान्यमें कीड़े लग जाते हैं। गुड़ आदि संचय करनेपर उसमें भी जीव पैदा हो जाते हैं ॥११५२॥

गा०—परिग्रहके ग्रहण करने, रखने, संस्कार करने, बाहर ले जाने, बन्धन खोलने,

---

१. पसारणे—अ० आ०। २. कंसण—अ० आ०।

छेदन छेदने, बन्धने, वेष्टने, शोषणे प्रक्षालने च। सम्मर्दने परितापनहननादिकं भवति जीवानां ॥११५४॥

जदि वि णिकिंचदि जंतू दोसा ते चेव हुंति से लग्गा।
होदि य विकिंचणे वि हु तज्जोणिविओजणा णियदं ॥११५५॥

'जदि वि णिकिंचदि' यद्यपि निराक्रियन्ते जीवास्त एव संघट्टादयो दोषा भवन्ति। भवति च पृथक्करणे तेषां तद्योनिवियोजना नियमेन ॥११५५॥

एवमचित्तपरिग्रहगतदोषमभिधाय सचित्तपरिग्रहदोषमाचष्टे—

सच्चित्ता पुण गंथा वधंति जीवे सयं च दुक्खंति।
पावं च तण्णिमित्तं परिगिण्हंतस्स से होई ॥११५६॥

'सच्चित्ता पुण गंथा वधंति जीवे' परिग्रहाः दासीदासगोमहिष्यादयो घ्नन्ति जीवान्स्वयं च दुःखिता भवन्ति। कर्मणि नियुज्यमानाः कृष्यादिके पापं च स्वपरिगृहीतजीवकृतासंयमनिमित्तं तस्य भवति ॥११५६॥

इंदियमयं सरीरं गंथं गेण्हदि य देहसुक्खत्थं।
इंदियसुहाभिलासो गंथग्गहणेण तो सिद्धो ॥११५७॥

'इंदियमयं सरीरं' इन्द्रियमयं शरीरं। स्पर्शनादिपञ्चेन्द्रियाधारत्वात्। परिग्रहं च चेलप्रावरणादिकं इन्द्रियसुखार्थमेव गृह्णाति वातातपाद्यनभिमतस्पर्शनिषेधाय। आत्मशरीरे वस्त्रालङ्कारादिभिरलंकृते पराभिलाषमुत्पाद्य तदङ्गासंगजनितप्रीत्यर्थितया अभिमत[2]मापादयति। सेवनादयं च तत् इन्द्रियसुखाभिलाषो ग्रन्थं गृह्णतः सिध्यति ॥११५७॥

फाड़ने, झाड़ने, छेदने, बाँधने, ढाँकने, सुखाने, धोने, मलने आदिमें जीवोंका घात आदि होता है ॥११५३-५४॥

गा०—यदि वस्त्रादि परिग्रहसे जन्तुओंको अलग किया जाये तब भी वे ही दोष लगते हैं। क्योंकि उन जन्तुओंको दूर करनेपर उनका योनिस्थान छूट जाता है और इससे उनका मरण हो जाता है ॥११५५॥

इस प्रकार अचित्त परिग्रहके दोष कहकर सचित्त परिग्रहके दोष कहते हैं—

गा०—दासी-दास, गाय-भैंस आदि सचित्त परिग्रह जीवोंका घात करते हैं और स्वयं दुखी होते हैं। तथा उन्हें खेती आदि कामोंमें लगानेपर वे जो पापाचरण करते हैं उसका भागी उनका स्वामी भी होता है ॥११५६॥

इन्द्रिय सुखकी अभिलाषा कर्मबन्धमें निमित्त होती है अतः मुमुक्षुको उसे छोड़ना चाहिए। परिग्रह स्वीकार करनेपर इन्द्रिय सुखकी अभिलाषा अवश्य होती है, यह कहते हैं—

गा०-टी०—शरीर इन्द्रियमय है क्योंकि स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियोंका आधार है। वस्त्र ओढ़ना आदि परिग्रह मनुष्य इन्द्रियजन्य सुखके लिए ही ग्रहण करता है। ऐसा वह हवा धूप आदिके अनिष्ट स्पर्शसे बचनेके लिए करता है। तथा वस्त्र अलंकार आदिसे अपने शरीरको

---

१. विकिंचदि—अ० आ० मु०। २. मतं व्यापातारः सेवना—अ० ज०।

स्वाध्यायध्यानाख्ययोस्तपसो विघ्नकारी परिग्रहस्तदुभयं चान्तरेण न संवरनिर्जरे। तयोरभावे कुतो निरवशेषकर्मापायो भवतीति कथयति—

गंथस्स गहणरक्खणसारवणाणि णियदं करेमाणो।
विक्खित्तमणो ज्झाणं उवेदि कह मुक्कसज्झाओ ॥११५८॥

'गंथस्स गहणरक्खण' परिग्रहादानं, तद्रक्षणं, तत्संस्कारं च नित्यं कुर्वन् व्याक्षिप्तचित्तः कथं शुभध्यानं कुर्यात् विमुक्तस्वाध्यायः। एतदुक्तं भवति—व्याक्षिप्तचित्तस्य न स्वाध्यायः असति तस्मिन्वस्तुयाथात्म्याविदुषः ध्येयैकनिष्ठं ध्यानं कथमिव वर्तते ॥११५८॥

परभवव्याप्यं दोषं परिग्रहमुखायातमुपदर्शयति—

गंथेसु घडिदहिदओ होइ दरिद्दो भवेसु बहुगेसु।
होदि कुणंतो णिच्चं कम्मं आहारहेदुम्मि ॥११५९॥

'गंथेसु घडिदहिदओ' ग्रन्थासक्तचित्तः बहुषु भवेषु दरिद्रो भवति। आहारमात्रमुद्दिश्य नीचकर्मकारी भविष्यति। शिबिकोद्वहन, उपानद्वेचन, पुरीषमूत्राद्यपनयनं इत्यादिकं नीचं कर्म ॥११५९॥

विविहाओ जायणाओ पावदि परभवगदो वि धणहेदुं।
लुद्धो पंपागहिदो हाहाभूदो किलिस्सदि य ॥११६०॥

'विविहाओ जायणाओ पावदि' विविधा यातनाः प्राप्स्यति। परभवगतोऽपि धननिमित्तं लुब्धः आशया

भूषित करके मनुष्य दूसरेमें अभिलाषा उत्पन्न करता है और इस तरह उसके शरीरके संसर्गसे उत्पन्न अनुरागका इच्छुक होकर उसका सेवन करता है अतः परिग्रहको स्वीकार करनेवालेके इन्द्रिय सुखकी अभिलाषा सिद्ध होती है ॥११५७॥

परिग्रह स्वाध्याय और ध्यान नामक तपमें विघ्न पैदा करता है तथा स्वाध्याय और ध्यानके विना संवर और निर्जरा नहीं होती। और संवर निर्जराके अभावमें समस्त कर्मोंका विनाश कैसे हो सकता है? यह कहते हैं—

गा०-टी०—परिग्रहको ग्रहण, रक्षण और उसके सार सम्हालमें सदा लगा रहनेवाले पुरुषका मन उसीमें व्याकुल रहता है। तब वह स्वाध्याय छूट जानेसे शुभध्यान कैसे कर सकता है। कहनेका अभिप्राय यह है कि जिसका चित्त व्याकुल रहता है वह स्वाध्याय नहीं कर सकता। और स्वाध्यायके अभावमें वस्तुके यथार्थस्वरूपको न जानते हुए ध्येयमें एकनिष्ठ ध्यान कैसे हो सकता है ॥११५८॥

परिग्रहसे उत्पन्न हुआ दोष भव-भवमें दुःख देता है यह कहते हैं -

गा०—जिसका चित्त परिग्रहमें आसक्त होता है वह भव-भवमें दरिद्र होता है। केवल पेट भरनेके लिए उसे पालकी उठाना, जूते बेचना, टट्टी पेशाब साफ करने आदिका नीच काम करना पड़ता है ॥११५९॥

गा०—परिग्रहमें आसक्त पुरुष पर भवमें भी धनके लिए अनेक कष्ट उठाता है। लोभके

प्रकृष्टया गृहीतो हा मम क्लेशशतं कुर्वतोऽपि मम धनं न भवति, आर्तं वा नष्टमिति कृतहाहाकारः क्लिश्यति ॥११६०॥

एदेसिं दोसाणं मुंचइ गंथजहणेण सव्वेसिं ।
तव्विवरीया य गुणा लभदि य गंथस्स जहणेण ॥११६१॥

'एदेसिं दोसाण मुंचइ' पूर्वोक्तपरिग्रहग्रहणगतान्दोषानशेषांस्त्यजेदिति दोषप्रतिपक्षभूतान्गुणानपि लभते ॥११६१॥

गंथच्चाओ इंदियणिवारणे अंकुसो व हत्थिस्स ।
णयरस्स खाइया वि य इंदियगुत्ती असंगत्तं ॥११६२॥

'गंथच्चाओ' ग्रन्थत्यागः । 'इंदियणिवारणे' इत्ययमिन्द्रियशब्द उपयोगेन्द्रियविषयः सप्तमी च निमित्तलक्षणा । तेनायमर्थः—इन्द्रियज्ञानस्य रागद्वेषमूलस्य निवारणे निमित्तभूतोऽङ्कुश इव हस्तिनो निवारणे उत्पथयानात् । 'णयरस्स खाइया वि य' नगरस्य खातिका इव । 'असंगत्तं' निष्परिग्रहता । 'इंदियगुत्ती' इन्द्रियगुप्तिरिन्द्रियरक्षा रागोत्पत्तिनिमित्तेन्द्रियज्ञानरक्षा ॥११६२॥

सप्पबहुलम्मि रण्णे अमंतविज्जोसहो जहा पुरिसो ।
होइ दढमप्पमत्तो तह णिग्गंथो वि विसएसु ॥११६३॥

'सप्पबहुलम्मि' सर्पबहुले । 'रण्णे' अरण्ये । 'अमंतविज्जोसहो' मन्त्रेण, विद्यया औषधेन च रहितः पुमान् । 'दढमप्पमत्तो होदि' नितरां अप्रमत्तो भवति । तथा निर्ग्रन्थोऽपि[1] क्षायिकश्रद्धानकेवलज्ञानयथाख्यात-

---

वशीभूत हो तृष्णामें पड़कर हाहाकार करता है कि इतना कष्ट उठानेपर भी मुझे धनकी प्राप्ति नही होती या प्राप्त हुआ धन भी नष्ट हो गया । और इस प्रकार दुःखी होता है ॥११६०॥

गा०—परिग्रहका त्याग करनेसे ये सब दोष नही होते । तथा इनके विपरीत गुणोंकी प्राप्ति होती है ॥११६१॥

गा०-टी०—'इंदियणिवारणे' मे आये इन्द्रिय शब्दका अर्थ उपयोगरूप इन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियजन्यज्ञान है । तथा सप्तमी विभक्तिका अर्थ निमित्त है । अतः उसका अर्थ होता है—

परिग्रहका त्याग इन्द्रियज्ञानको रोकनेमे निमित्त है जैसे अंकुश हाथीको रोकनेमे निमित्त है । अर्थात् जैसे अंकुश हाथीको उन्मार्गपर जानेसे रोकता है वैसे ही परिग्रहका त्याग इन्द्रियोंको विषयोंमें जानेसे रोकता है । इन्द्रियाँ ही रागद्वेषकी मूल हैं । अथवा जैसे खाई नगरकी रक्षा करती है वैसे ही परिग्रहका त्याग रागकी उत्पत्तिमें निमित्त इन्द्रियोसे रक्षा करता है ॥११६२॥

गा०-टी०—जैसे मंत्र, विद्या और औषधीसे रहित पुरुष सर्पोंसे भरे जगलमें अत्यन्त सावधान रहता है । वैसे ही निर्ग्रन्थ साधु भी जो क्षायिक सम्यग्दर्शन केवलज्ञान और यथाख्यात

---

१. तथा निर्ग्रन्थोऽपि विषयेष्वप्रमत्तो भवति इन्द्रियजयो अप्रमत्तताया उपायः अपरिग्रहतापीत्यनेन गाथाद्वयेनाख्यातं —अ० ।

चारित्रमन्त्रविद्यौषधिरहितो विषयारण्ये रागादिसर्[1]बहुले सावधानोऽपि भवेत् ॥११६३॥

रागो हवे मणुण्णे गंथे दोसो य होइ अमणुण्णे ।
गंथच्चाएण पुणो रागद्दोसा हवे चत्ता ॥११६४॥

रागद्वेषयोः कर्मणा मूलयोर्निमित्तं परिग्रहः, परिग्रहत्यागे रागद्वेषौ एव त्यक्तौ भवतः । बाह्यद्रव्यं मनसा स्वीकृतं रागद्वेषयोर्बीजं, तस्मिन्नसति सहकारिकारणे न च कर्ममात्राद्रागद्वेषवृत्तिर्यथा सत्यपि मृत्पिण्डे दण्डाद्यन्तकारणवैकल्ये न घटोत्पत्तिर्यथेति मन्यते ॥११६४॥

कर्मणा निर्जरणे उपायः परीषहसहनं । तथा चोक्तं 'पूर्वोपात्तकर्मनिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः' [त०सू० ९।८] ते च परीषहाः बोढा भवन्ति ग्रन्थचेलप्रावरणादिकं त्यजतेति व्याचष्टे—

सीदुण्हदंसमसयादियाण दिण्णो परीसहाण उरो ।
सीदादिणिवारणए गंथे णिययं जहंतेण ॥११६५॥

"**सीदुण्हदंसमसयादियाण**" । ननु च दुःखोपनिपाते संक्लेशरहितता परीषहजयः, न तु शीतोष्णादयो । नहि ते आत्मपरिणामा । अनात्मपरिणामाश्च बन्धसंवरनिर्जरादीनामुपायो न भवन्ति । योऽनात्मपरिणामो

चारित्ररूप मंत्र विद्या और औषधिसे रहित है अर्थात् जिसे इन सबकी प्राप्ति अभी नहीं हुई है वह रागद्वेषरूप सर्पोंसे भरे विषयरूप वनमें सावधान रहता है ॥११६३॥

विशेषार्थ—इसका भाव यह है कि मनमें बाह्य द्रव्यके प्रति अनुराग रागद्वेषको उत्पन्न करनेवाले मोहनीयकर्मका सहकारी कारण है अतः उसका त्याग करनेपर रागद्वेषरूप प्रवृत्ति नहीं होती । उसके अभावमें नवीन कर्मबन्ध नहीं होता । अतः परिग्रहका त्याग ही मोक्षका उपाय है ॥११६३॥

गा०—मनोज्ञ विषयमे राग होता है और अमनोज्ञ विषयमें द्वेष होता है । अतः परिग्रहका त्याग करनेसे राग-द्वेषका त्याग हो जाता है ॥११६४॥

टी०—कर्मबन्धके मूल रागद्वेष हैं और रागद्वेषका निमित्त परिग्रह है । परिग्रहको त्यागने पर रागद्वेषका त्याग हो जाता है । बाह्य द्रव्यको मनसे स्वीकार करना ही रागद्वेषका बीज है । उस सहकारी कारणके अभावमें केवल कर्ममात्रसे रागद्वेष नहीं होते । जैसे मिट्टीके होने पर भी दण्ड आदि सहायक कारणोके अभावमे घटकी उत्पत्ति नहीं होती ॥११६४॥

परीषहोंका सहना कर्मोंकी निर्जराका उपाय है । कहा भी है—पूर्वमें बाँधे गये कर्मोंकी निर्जराके लिए परीषह सहना चाहिए । वस्त्रादि परिग्रहका त्याग करनेसे उन परीषहोंका सहना होता है, यह कहते हैं—

गा०-टी०—शीत आदिका निवारण करने वाले वस्त्र आदि परिग्रहोंको जो नियमसे त्याग देता है वह शीत, उष्ण, डांस मच्छर आदि परीषहोंको सहनेके लिए अपनी छाती आगे कर देता है ।

शंका—दुःख आने पर संक्लेश न करना परीषह जय है । शीत उष्ण आदि परीषह जय नहीं हैं, क्योंकि वे आत्माके परिणाम नहीं हैं । और जो आत्माके परिणाम नहीं हैं वे बन्ध, संवर,

---

१ विसए आ० मु० ।

नासौ निर्जराहेतुः यथा पुद्गलद्रव्यगतरूपादयः । अनात्मपरिणामाश्च शीतादयः क्षुत्पिपासादयो दुःखहेतवः, न तु दुःखं, तत् किमुच्यते क्षुत्पिपासादयः परीषहा इति । नैव दोषः । क्षुदादिजन्यदुःखविषयत्वात् क्षुदादिशब्दानां । तेन क्षुत्पिपासाशीतोष्ण-दंशमशकनाग्न्यादीनां परीषहवाचोयुक्तिर्न विरुध्यते । 'सीदुण्हदंसमसयादियाण' शीतोष्णदंसमशकादीनां । 'परिस्सहाणं उरो दिण्णो' परीषहाणां उरो दत्तः । केन ? 'सीदादिणिवारणेणे' शीतादीनां निषेधकाम् । 'गंथे णियदं जहंतेण' ग्रन्थान्नियतं त्यजता ॥११६५॥

देहे आदरः सर्वस्य हिंसादेरसंयमस्य मूलं परित्यक्तो भवति परिग्रहं त्यजतेत्याचष्टे—

जम्हा णिग्गंथो सो वादादवसीददंसमसयाणं ।
सहदि य विविधा बाधा तेण सदेहे अणादरदा ॥११६६॥

'जम्हा' यस्मात् । 'णिग्गंथो सो' निष्परिग्रहोऽसौ 'वादादवसीददंसमसयाण' विविधा बाधा वातातपशीतदंशमशकानां विविधं दुःखं 'सहदि' सहते । 'तेण' सहनेन । 'सदेहे' स्वदेहे 'अणादरदा' आदराभावः । शरीरे अकृतादरश्च जहात्यशेषं हिंसादिकं, तपसि च स्वशक्त्यनिगूहनेन प्रयतते ॥११६६॥

संगपरिमग्गणादी णिस्संगे णत्थि सव्वविक्खेवा ।
झाणज्झेणाणि तओ तस्स अविग्घेण वच्चंति ॥११६७॥

'संगपरिमग्गणादी' परिग्रहान्वेषणादि परिग्रहस्य स्वाभिलषितस्य अस्तित्वगवेषणे क्लेशमस्तीति । तथा तत्स्वामिनां कोऽस्य [1]स्वामित्वं वा क्वासौ अवतिष्ठते इति पुनर्याञ्चा ? लाभे सन्तोषः, अलाभे दीनमनस्कता,

---

निर्जरा आदिके उपाय नहीं होते । जो आत्माका परिणाम नहीं है वह निर्जराका कारण नही है । जैसे पुद्गल द्रव्यके रूपादि । शीत आदि आत्माके परिणाम नही हैं । तथा भूख प्यास आदि दुःखके कारण हैं किन्तु स्वयं दुःखरूप नहीं हैं । तब आप कैसे कहते हैं कि भूख प्यास आदि परीषह हैं ?

समाधान—उक्त दोष ठीक नही है क्योंकि भूख आदि शब्दोंका अर्थ भूख आदिसे होने वाला दुःख है । अतः भूख, प्यास, शीत, उष्ण, डांस-मच्छर, नाग्न्य आदिको परीषह कहनेमें कोई विरोध नही है । अतः जो इन परीषहोंको दूर करनेके उपायोंको त्याग देता है वह शीत आदिका कष्ट होने पर भी अपने मनमें कोई संक्लेश नही करता ॥११६५॥

समस्त हिंसा आदि असंयमका मूल शरीरमें आदरभाव है । परिग्रहको त्यागने पर वह भी त्याग दिया जाता है, यह कहते हैं—

गा०—यतः परिग्रहका त्यागी निर्ग्रन्थ वायु, धूप, शीत, डांसमच्छर आदिके अनेक कष्टोंको सहता है । उस सहनसे उसका शरीरमें अनादरभाव प्रकट होता है । और शरीरका आदर न करने वाला समस्त हिंसा आदिको छोड़ देता है और अपनी शक्तिको न छिपाकर तपका प्रयत्न करता है ॥११६६॥

गा०–टी०—अपनेको इष्ट परिग्रहको खोजनेमें कष्ट होता है । तथा वह मिल भी जाये तो उसके स्वामीको खोजनेमें कष्ट होता है कि वह कहाँ रहता है । स्वामी मिल जाये तो उससे

---

१. स्वामित्व च न क्वा–अ० ।

तवाननमनं तत्संस्करणं, तद्रक्षणं इत्यादिकं आदिशब्देन गृहीतं। 'णिःसंगे' सङ्गरहिते 'णत्थि सव्ववक्खेवा' न सन्ति सर्वे व्याक्षेपाः। 'ज्झाणज्झेणाणि' ध्यानं अध्ययनं च। 'तवो' व्याक्षेपाभावात् चेतसि। 'तस्स' अपरिग्रहस्य। 'अविग्घेण वत्तंति' विघ्नमन्तरेण वर्तते। सर्वेषु तपस्सु प्रधानयोर्ध्यानस्वाध्याययोरुपायो अपरिग्रहता इत्याख्यातमनया गाथया ॥११६७॥

गंथच्चाएण पुणो भावविसुद्धी वि 'दाविदा होइ।
ण हु संगघडिदबुद्धी संगे जहिदुं कुणदि बुद्धी ॥११६८॥

'संगच्चाएण पुणो' सङ्गत्यागेन पुनः। 'भावविसुद्धी वि दाविदा होदि' परिणामस्य [2]विशुद्धिर्दर्शिता भवति। 'ण हु संगघडिदबुद्धी' नैव परिग्रहघटितबुद्धिः। 'संगे जहिदुं कुणदि बुद्धी' परिग्रहांस्त्यक्तुं करोति बुद्धिं ॥११६८॥

या च प्रक्रान्ता सल्लेखना कषायविषया सा च परिग्रहत्यागमूलेति कथयति—

णिस्संगो चेव सदा कसायसल्लेहणं कुणदि भिक्खू।
संगा हु उदीरेंति कसाए अग्गीव कट्ठाणि ॥११६९॥

'णिस्संगो चेव' निष्परिग्रहश्चैव सदा कषायपरिणामास्तनून्[3] करोति न सपरिग्रहः। कथं इति तदाचष्टे—'संगा हु उदीरेंति' परिग्रहा उदीरयन्ति। 'कसाए' कषायान्। 'अग्गीव' अग्निरिव 'कट्ठाणि' काष्ठानि ॥११६९॥

सव्वत्थ होइ लहुगो रूवं विस्सासियं हवदि तस्स।
गुरुगो हि संगसत्तो संकिज्जइ चावि सव्वत्थ ॥११७०॥

याचना करनी होती है। याचना करने पर मिल जाये तो सन्तोष होता है, न मिले तो मनमें दीनताका भाव रहता है। मिलने पर उसको लाना, उसका संस्कार करना, उसकी रक्षा करना 'आदि' शब्दसे लिया है। इस तरह परिग्रहके निमित्त ये सब करना पड़ता है। किन्तु परिग्रहका त्याग करके निर्ग्रन्थ बन जाने पर ये सब परेशानियाँ नहीं होती। तब चित्तमें किसी प्रकारकी आकुलता न होनेसे उस निर्ग्रन्थ साधुका ध्यान और स्वाध्याय बिना विघ्नके चलते हैं। अतः इस गाथाके द्वारा कहा है कि सब तपोंमें ध्यान और स्वाध्याय प्रधान हैं और परिग्रहका त्याग उनका उपाय है ॥११६७॥

गा०—परिग्रहके त्यागसे परिणामोंकी निर्मलता भी प्रकट होती है; क्योंकि जिसकी मति परिग्रहमें आसक्त होती है वह परिग्रहको छोड़नेका विचार नहीं रखता ॥११६८॥

आगे कहते हैं कि यहाँ जिस कषाय विषयक सल्लेखनाका प्रकरण चला है उसका मूल परिग्रहत्याग ही है—

गा०—जो परिग्रहसे रहित है वही सदा कषाय रूप परिणामोंको कृश करता है परिग्रही नहीं। क्योंकि जैसे लकड़ी डालनेसे आग भड़कती है वैसे ही परिग्रहसे कषाय भड़कती है ॥११६९॥

---

१ दीविदा–मु०। २ द्धिर्दीपिता दर्शिता–मु०। ३. तनूकरोति–आ० मु०।

'सव्वत्थ होइ' सर्वत्र भवति गमने आगमने च 'लहुगो' लघुः। 'रूवं वेसासियं' रूपं विश्वासकारि च भवति। 'तस्स' निर्ग्रन्थस्य। वस्त्रप्रावरणादिकप्रच्छादितशस्त्रोऽस्माकमुपद्रवं करोति धनं वा स्वेन चीवरादिना प्रच्छाद्य नयतीति शङ्कां कुर्वन्ति परिग्रहं दृष्ट्वा ॥११७०॥

सव्वत्थ अप्पवसिओ णिस्संगो णिब्भओ य सव्वत्थ।
होदि य णिप्परियम्मो णिप्पडिकम्मो य सव्वत्थ ॥११७१॥

'सव्वत्थ अप्पवसिगो' सर्वत्र ग्रामे, नगरे, अरण्ये च आत्मवशक.। 'णिस्संगो' निष्परिग्रहः। 'सव्वत्थ य णिब्भओ' सर्वत्र निर्भयश्च। 'होदि य णिप्परिकम्मो' भवति च निर्व्यापारः कृष्यादिक्रियाप्रारम्भरहितः। 'णिप्पडिकम्मा य' इदं पूर्वकृतं इदं पश्चादवशिष्टं कार्यमित्येतच्चास्य न विद्यते ॥११७१॥

सुखार्थिनो महत्सुखं भवति संगपरित्यागेनेति वदति—

भारक्कंतो पुरिसो भारं ऊरुहिय णिव्वुदो होइ।
जह तह पयहिय गंथे णिस्संगो णिव्वुदो होइ ॥११७२॥

'भारक्कंतो पुरिसो' भाराक्रान्तः पुरुष। 'भारं ऊरुहिय' भारमवतार्य। 'णिव्वुदो होदि' सुखी भवति। यथा तथा 'णिस्संगो णिव्वुदो होदि' निष्परिग्रह. सुखी भवति.। 'गंथे पयहिय' ग्रन्थान्परित्यज्य। बाधाभाव-लक्षणं हि सुखं सर्वमेव। तथाहि—अशनादिना क्षुधादावपगते जातं स्वास्थ्यमेव सुखमिति [1]लोके मन्यते ॥११७२॥

यस्मादेवं परिग्रहणेऽतिबहवो जन्मद्वयभाविनो दोषाश्च—

तम्हा सव्वे संगे अणागए वट्टमाणए तीदे।
तं सव्वत्थ णिवारहि करणकारावणाणुमोदेहिं ॥११७३॥

गा०—अपरिग्रही सर्वत्र जाने आनेमें हल्का रहता है। उसका रूप नग्न दिगम्बर विश्वास-कारी होता है। और परिग्रही परिग्रहके भारसे भारी होता है। और उसके परिग्रहको देखकर लोग शङ्का करते हैं कि यह अपने वस्त्रोमें शस्त्र छिपाये हुए है कोई उपद्रव न करे। अथवा यह अपने चीवर आदिमें छिपाकर धन तो नहीं ले जाता? ॥११७०॥

गा०—जो अपरिग्रही होता है वह सर्वत्र गाँव, नगर और वनमें स्वाधीन रहता है। उसे किसीका आश्रय लेना नहीं होता। और वह सर्वत्र निर्भय रहता है। उसे कृषि आदि काम करना नहीं होता। तथा इतना काम पहले कर लिया, इतना करना शेष है, इत्यादि चिन्ता उसे नहीं रहती ॥११७१॥

आगे कहते हैं कि सुखके अभिलाषीको परिग्रहके त्यागसे महान् सुख होता है—

गा०—जैसे भारसे लदा हुआ मनुष्य भारको उतारकर सुखी होता है वैसे ही परिग्रहको त्यागकर परिग्रहरहित साधु सुखी होता है। सर्वत्र सुखका लक्षण बाधाका अभाव है। लोकमें भी भोजनके द्वारा भूख प्यास चले जाने पर उत्पन्न हुई स्वस्थताको ही सुख माना जाता है ॥११७२॥

---

१. लोको–आ० मु०।

'तम्हा' तस्मात् । 'सव्वे संगे' सर्वान्परिग्रहान् । 'अणागदे' अनागतान् । 'बहुमाणगे तीदे' वर्तमाना-नतीतांश्च 'तं' भवान् । 'सव्वत्थ णिवारेहि' सर्वथा निवारय । करणकारावणाणुमोदेहि' कृतकारिताभ्यामनु-मोदनेन । कथं अतीतो भावी वा परिग्रहो बन्धकारणं येन निवार्यते ? अयमभिप्रायः अतीतस्वस्वामिसम्बंधेऽपि वस्तुनि ममेदं वस्त्वासीदिति तदनुस्मरणानुरागादिना अशुभपरिणामेन बन्धो भवतीति मा कृथास्तदनुस्मरणं अनुरागं वा । एवं भविष्यति इत्थंभूतं मम द्रविणं इति ॥११७३॥

जावंति केइ संगा विराधया तिविहकालसंभूदा ।
तेहिं तिविहेण विरदो विमुत्तसंगो जह सरीरं ॥११७४॥

'जावंति केइ संगा' यावन्तः केचन परिग्रहाः । 'विराधगा' विनाशकाः । कस्य ? रत्नत्रयस्य । 'तिविध-कालसंभूदा' कालत्रयप्रवृत्ताः । 'तेहिं तिविधेण विरदो' तेभ्यो मनोवाक्कायैर्विरतः सन् 'विमुत्तसंगो' विमुक्तसङ्गः । 'जह सरीरं' त्यज शरीरं ॥११७४॥

एवं कदकरणिज्जो तिकालतिविहेण चेव सव्वत्थ ।
आसं तण्हं संगं छिंद ममत्तिं च मुच्छं च ॥११७५॥

'एवं कदकरणिज्जो' एवं कृतकरणीय । यत्कर्तव्यमाराधना वाञ्छता आहारशरीरत्यागादिक स एवंभूतः । 'तिकाले वि' कालत्रयेऽपि । 'तिविधेण' त्रिविधेन । 'सव्वत्थ' सर्वविषया सुखसाधनगोचरां । 'आसं' आशा । 'तण्हं' तृष्णा । 'संगं' परिग्रहभूता । 'छिंद ममत्तिं' ममेदमिति संकल्पं छिंद्धि । 'मुच्छं' मोहमिति यावत् ॥११७५॥

गा०—टी०—यतः परिग्रह रखने पर इस लोक और परलोकमें बहुतसे दोष होते हैं अतः हे क्षपक: तुम सब अनागत, वर्तमान और अतीत परिग्रहोंको कृतकारित अनुमोदनासे सर्वथा दूर करो।

शंका—अतीत और भावि परिग्रह बन्धका कारण कैसे हैं जिससे उसका त्याग कराते हो ?

समाधान—इसका यह अभिप्राय है यद्यपि अतीत वस्तुके साथ जो स्वामी सम्बन्ध था वह जाता रहा, फिर भी उसमें 'मेरे पास अमुक वस्तु थी' इस प्रकारके स्मरण और अनुराग आदिरूप अशुभ परिणामोंसे बन्ध होता है इसलिए उसका स्मरण वा अनुराग मत करो। इसी प्रकार 'मेरे पास आगामीमें अमुक धन आदि होगा' ऐसा चिन्तन करनेसे भी कर्मका बन्ध होता है ॥११७३॥

गा०—अतः हे क्षपक ! तीनों कालोंका जितना भी परिग्रह रत्नत्रयका विनाशक है उस सबको मन वचन कायसे छोड़कर अपरिग्रही बनो और तब शरीरका त्याग करो ॥११७४॥

गा०—इस प्रकार आराधनाके इच्छुकका आहार शरीर आदिका त्याग रूप जो कर्तव्य है वह जिसने कर लिया है ऐसे तुम हे क्षपक ! तीन कालोंके परिग्रहोंमें मन वचन कायसे आशा, तृष्णा, संग, ममत्व और मूर्छाको दूर करो ॥११७५॥

टी०—ये इस प्रकारके विषय मुझे चिरकाल तक प्राप्त हों यह आशा है। ये कभी भी मुझसे अलग नहीं हों इस प्रकारकी अभिलाषा तृष्णा है। परिग्रहमें आसक्ति संग है। ये मेरे भोग्य हैं मैं इनका भोक्ता हूं ऐसा संकल्प ममत्व है। अत्यासक्ति मूर्छा है ॥११७५॥

परिग्रहस्य त्यागजन्यसुखातिशयमिह जन्मनि प्राप्यं निर्दिशत्युत्तरगाथा—

सव्वग्गंथविमुक्को सीदीभूदो पसण्णचित्तो य ।
जं पावइ पीयिसुहं ण चक्कवट्टी वि तं लहइ ।।११७६।।

'सव्वगंथविमुक्को' परित्यक्ताशेषबाह्याभ्यन्तरग्रन्थः । **'सीदीभूदो'** शीतीभूतः । **'पसण्णचित्तो य'** प्रसन्नचित्तः सन् । **'जं पावदि पीदिसुहं'** यत्प्राप्नोति प्रीत्यात्मकं सुखं । **'ण चक्कवट्टी वि तं लभदि'** चक्रवर्त्यपि तन्न लभेत ।।११७६।।

चक्रवर्तिसुखस्य स्वल्पतायाः कारणमाचष्टे—

रागविवागसतण्हादिगिद्धि अवितित्ति चक्कवट्टिसुहं ।
णिस्संगणिव्वुइसुहस्स कहं अग्घइ अणंतभागं पि ।।११७७।।

रागविवागसतण्हाइगिद्धि अवितित्ति चक्कवट्टिसुहं । रागो विपाकः फलमस्येति रागविपाकरूपं विषयसुखमासेव्यमानं रञ्जयति विषयेष्विति रागो विपाकः फलं सुखस्येत्युच्यते । सह तृष्णया वर्तते इति सतृष्णं, अतिशयेन गृद्धि काङ्क्षां जनयति इति अतिगृद्धि । न विद्यते तृप्तिरस्मिन्नित्यतृप्ति । यदेवंभूतं चक्रवर्तिसुखं **'णिस्संगणिव्वुदिसुहस्स'** नि संगस्य यन्निर्वृतिसुखं [1]तस्यानन्तभागमपि न प्राप्नोति ।।११७७।।

महाव्रतसंज्ञा अहिंसादीनां अन्वर्था इति दर्शयति—

पञ्चमहव्वयं ।

साधेंति जं महत्थं आयरिदाइं च जं महल्लेहिं ।
जं च महल्लाइं सयं महव्वदाइं हवे ताइं ।।११७८।।

'साधेंति जं महत्थं' साधयन्ति यस्मान्महाप्रयोजनं असंयमनिमित्तप्रत्ययप्रकमकदम्बकनिवारण महत्प्रयो-

---

आगे कहते हैं कि परिग्रहके त्यागसे अतिशय सुख इसी जन्ममें प्राप्त होता है—

गा०—समस्त बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रहको त्यागकर जो शीतीभूत होता है अर्थात् परिग्रह सम्बन्धी सब प्रकारकी चिन्ताओंसे मुक्त होनेसे अत्यन्त सुखमय होता है तथा प्रसन्नचित्त होता है वह जिस प्रीतिरूप सुखको प्राप्त करता है वह सुख चक्रवर्तीको भी प्राप्त नहीं होता ।।११७६।।

चक्रवर्तीका सुख कम क्यों है इसका कारण कहते हैं—

गा०—चक्रवर्तीके सुखका फल राग है क्योंकि विषय सुखका सेवन पुरुषको विषयमें अनुरक्त करता है। तथा वह तृष्णाको बढाता है। अत्यन्त गृद्धिको—लम्पटताको उत्पन्न करता है। उसमें तृप्ति नहीं है। अतः चक्रवर्तीका सुख अपरिग्रहीको जो परिग्रहका त्याग करने पर सुख होता है, उसके अनन्तवें भाग भी नहीं है ।।११७७।।

अहिंसा आदिका महाव्रत नाम सार्थक है, यह कहते हैं—

गा०—यतः ये असंयमके निमित्तसे होने वाले नवीन कर्म समूहका निवारण रूप महान्

---

१. स्यासंख्यभा—अ० ।

कर्म सम्पादयन्तीति महाव्रतानि । 'आयरिदाइं' च जं महल्लेहिं' यस्मादाचरितानि महद्भिः तस्मान्महाव्रतानि इति निरुक्तिः । 'जं च' यस्मात् 'महल्लाणि' स्वयं महान्ति ततो महाव्रतानि स्थूलसूक्ष्मभेदसकलहिंसादिविरत्यया वा महान्ति ॥११७८॥

तेसिं चेव वदाणं रक्खट्ठं रादिभोयणणियत्ती ।
अट्ठप्पवयणमादाओ भावणाओ य सव्वाओ ॥११७९॥

'तेसिं चेव वदाणं' तेषामेवाहिंसादिव्रताना । 'रक्खत्थं' रक्षणार्थं । 'रादिभोयणणियत्ती' रात्रिभोजनान्निवृत्तिः । रात्रौ यदि भिक्षार्थं पर्यटति त्रसान्स्थावरांश्च हन्याद्दुरालोकत्वात् । न च दायकागमनमार्गं, तस्यान्नावस्थानदेशं, आत्मनो वा उच्छिष्टस्य वा निपातदेशं, दीयमानं वाहारं योग्यं न वेति विरूपयितुमयं कथं समर्थ ? दिवापि दुःपरिहारान् जानाति रससूक्ष्मानथ कथं परिहरेत् । 'कडुच्छुगं करं वा' दायिकायाः भाजन वा कथं शोधयति । पदविभागिका वा एषणासमित्यालोचनां सम्यगपरीक्षितविषयां कुर्वतः कथमिव । सत्यव्रतमवतिष्ठते ? सुप्तेन[1] स्वामिभूतेनादत्तमप्याहार गृह्णतोऽदत्तादान स्यात् । क्वचिद्भाजने दिवैव स्थापितं, आत्मवासे भुञ्जानस्यापरिग्रहव्रतलोप· स्यात् । रात्रिभोजनात्तु व्यावृत्ते सकलानि व्रतान्यवतिष्ठन्ते सम्पूर्णानि । 'अट्ठप्पवयणमादाओ' अष्टौ प्रवचनमातृकाश्च सद्व्रतपरिपालनाया । एव पञ्च समितयः तिस्रो

प्रयोजनको साधते हैं, इसलिए महाव्रत है । यत. महान् पुरुषोके द्वारा इनका आचरण किया जाता है इसलिए महाव्रत हैं । और यत ये स्वयं महान् हैं—स्थूल और सूक्ष्मके भेद रूप हिंसा आदिका इससे त्याग होता है अतः इन्हे महाव्रत कहते हैं ॥११७८॥

विशेषार्थ—अहिंसा आदि महाव्रत हिंसा आदिसे विरतिरूप होनेसे शुद्ध चिद्रूप है । नोआगमभाव व्रतकी अपेक्षा चारित्रमोहके क्षयोपशम उपशम अथवा क्षयसे जीवके हिंसादि निवृत्ति रूप परिणाम—मै जीवन पर्यन्त हिंसा नहीं करूँगा, असत्य नहीं बोलूगा, विना दी हुई वस्तु ग्रहण नही करूँगा, मैथुन नही करूँगा और न परिग्रह स्वीकार करूँगा, महाव्रत हैं ॥११७८॥

गा०–टी०—उन्ही अहिंसा आदि व्रतोकी रक्षाके लिए रात्रि भोजनका त्याग कहा है । यदि मुनि रात्रिमें भिक्षाके लिए भ्रमण करता है तो त्रस और स्थावर जीवोंका घात करता है क्योंकि रात्रिमे उनका देख सकना कठिन है । देनेवालेके आनेका मार्ग, उसके अन्न रखनेका स्थान, अपने उच्छिष्ट भोजनके गिरनेका स्थान, दिया जानेवाला आहार योग्य है अथवा नही, ये सब वह कैसे देख सकता है ? दिनमें भी जिनका परिहार कठिन है उन रसज अतिसूक्ष्म जीवोंका परिहार रात्रिमें कैसे कर सकता है । करछुल, अथवा देनेवालीका हाथ अथवा पात्रको देखे बिना कैसे शोधन कर सकता है । इन सबकी सम्यक्‌रूपसे परीक्षा किये बिना पदविभागी अथवा एषणा समिति आलोचना करनेपर साधुका सत्यव्रत कैसे रह सकता है ? दानका स्वामी सोया हुआ हो और उसके द्वारा न दिये गये आहारको किसी अन्यके हाथसे लेनेपर अदत्तादान—बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण कहलायेगा । किसी भाजनमे दिनमें लाकर रखे और रात्रिमें भोजन करे तो अपरिग्रहव्रतका लोप होगा । किन्तु रात्रि भोजनका त्याग करनेसे सब व्रत सम्पूर्ण रहते हैं ।

आठ प्रवचन माता महाव्रतकी रक्षक हैं । पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ ये आठ

---

१. श्रुतेन अ० आ० ।

गुप्त्यष्टस्य प्रवचनमातृकाः । रत्नत्रयं प्रवचनं तस्य मातर इवेमाः । क उपमार्थः ? यथा माता पुत्राणां अपायपरिपालनोद्यता एवं गुप्तिसमितयोऽपि व्रतानि पालयन्ति । 'भावणाओ य सव्वाओ' भावनाश्च सर्वाः । वीर्यान्तरायक्षयोपशमचारित्रमोहोपशमक्षयोपशमापेक्षेणात्मना भाव्यतेऽसकृत्प्रवर्त्यते इति भावना । अथ किमिदं व्रतं नाम ? यावज्जीवं न हिनस्मि, नानृतं वदामि, नादत्तमाददे, न मिथुनकर्म करोमि, न परिग्रहमाददे । इत्येवंभूत आत्मपरिणाम उत्पन्नः कथंचित्तथैव अवतिष्ठते उत विनश्यति वा ? अवस्थानमनुभवविरुद्धं । जीवादितत्त्वपरिज्ञाने तस्य श्रद्धाने वा प्रवृत्तस्य इत्थमुपयोगाभावात् । अथ विनश्यति ? परिणामान्तरोत्पत्तौ असति का रक्षा ? सतो ह्यपायपरिहारो रक्षा ततः किमुच्यते व्रतानां रक्षार्थं रात्रिभोजनविरतिरिति । यदा न हिनस्मीत्युपयोगो न तदा नानृतं वदामीत्येवमादयः सन्ति परिणामाः । किं पुनः परिणामान्तरे वाच्यम् । अत्रोच्यते—

नामादिविकल्पेन चतुर्विधानि व्रतानि । तत्र नामव्रतं कस्यचिद्व्रतमिति कृता संज्ञा । हिंसादिनिवृत्तिपरिणामवत आत्मनः शरीरस्य चान्योन्यप्रत्येकत्वात् आकारः सामायिके परिणतस्य सद्भावस्थापनाव्रतं । भाविव्रतत्वग्राहिज्ञानपरिणतिरात्मा आगमद्रव्यव्रतं । व्रतज्ञस्य शरीरं त्रिकालगोचरं, ज्ञायकशरीरं व्रतं । चारित्रमोहस्य उपशमात् क्षयात्क्षयोपशमाद्वा यस्मिन्नात्मनि भविष्यन्ति विरतिपरिणामाः स भाविव्रतं । उपशमे क्षयोपशमे वावस्थितः चारित्रमोहो नो आगमद्रव्यव्यतिरिक्तं कर्म व्रतं । न हिनस्मीत्यादिको ज्ञानोपयोगो भण्यते आगमभावव्रतमिति । नो आगमभावव्रतं नाम चारित्रमोहोपशमात् क्षयोपशमात् क्षयाद्वा प्रवृत्तो हिंसादि-

---

प्रवचन माता हैं । रत्नत्रयरूप प्रवचनको ये माताके समान हैं । जैसे माता पुत्रोंकी रक्षा करती है वैसे ही गुप्ति और समितियाँ व्रतोंकी रक्षा करती हैं । तथा सब भावनाएँ महाव्रतोंकी रक्षक हैं । वीर्यान्तरायका क्षयोपशम और चारित्रमोहके उपशम अथवा क्षयोपशमकी अपेक्षा जो आत्माके द्वारा भाई जाती हैं बारबार की जाती हैं वे भावना हैं ।

शङ्का—मैं जीवन पर्यन्त हिंसा नहीं करूँगा, झूठ नहीं बोलूंगा, बिना दी हुई वस्तु ग्रहण नहीं करूँगा, मैथुन कर्म नहीं करूँगा, न परिग्रह रखूँगा, इस प्रकारका परिणाम उत्पन्न होने पर क्या ऐसा ही बना रहता है या नष्ट हो जाता है ? वैसा ही बना रहना तो अनुभव विरुद्ध है क्योंकि जीवादि तत्त्वोंको जाननेमें अथवा उनके श्रद्धानमें प्रवृत्ति करने पर इस प्रकारका उपयोग नहीं रहता । यदि नष्ट हो जाता है तो जब अन्य परिणाम उत्पन्न हुए और महाव्रत रूप परिणाम नहीं रहे तब उनकी रक्षा कैसी ? जो विद्यमान होता है उसको विनाशसे बचाना रक्षा है । तब यह कैसे कहा कि व्रतोंकी रक्षाके लिए रात्रि भोजन विरति होती है । जिस समय 'मैं हिंसा नहीं करता' ऐसा उपयोग होता है उस समय 'मैं झूठ नहीं बोलता' इत्यादि परिणाम नहीं होते । तब अन्य परिणामोंके होने पर तो महाव्रत रूप परिणाम कैसे रह सकते हैं ?

समाधान—नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे व्रतके चार भेद हैं । किसीका नाम व्रत होना नामव्रत है । आत्मा और शरीर पारस्परिक सम्बन्धकी दृष्टिसे एक हैं अतः हिंसा आदिसे निवृत्ति रूप परिणाम वाला आत्मा जब सामायिकमें लीन होता है तब उसका आकार सद्भाव स्थापना व्रत है । भविष्यमें व्रतको ग्रहण करने वाले ज्ञान रूपसे परिणत आत्मा आगम द्रव्य व्रत है । व्रतके ज्ञाताका त्रिकाल गोचर शरीर ज्ञायक शरीर व्रत है । चारित्र मोहके उपशम, क्षय या क्षयोपशमसे जिस आत्मामें आगे व्रत होंगे वह आत्मा भाविव्रत है । उपशम अथवा क्षयोपशम रूप परिणत चारित्रमोह कर्म नोआगम द्रव्य व्यतिरिक्त कर्म व्रत है । 'मैं हिंसा नहीं करता' इत्यादि रूप ज्ञानोपयोग आगमभाव व्रत है । चारित्र मोहके उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयसे होने वाला

परिणामाभावः अहिंसादिव्रतं । प्राणिनां वियोजने प्राणानां, असदभिधाने, अदत्तस्यादाने, मिथुनकर्मविशेषे, मूर्च्छायां वाऽपरिणतिरिति यावत् । तथा चोक्तं—'हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतमिति' [त०सू० ७।१] हिंसादयः क्रियाविशेषा आत्मनः परिणामास्तेभ्यो आत्मनो व्यावृत्तिर्हिंसादिष्वपरिणतिर्व्रतमिति सूत्रार्थः । हिंसादिव्यावृत्तत्वं नाम यद्रूपं जीवस्य व्रतसंज्ञितं तत्परिपाल्यते रात्रिभोजननिवृत्त्या प्रवचनमातृकाभिश्च । यस्मिन्नसति तद्विनश्यति सति च न विनश्यति तत्तत्पालयति यथा दुर्गो राजानं । सत्या रात्रिभोजननिवृत्तौ प्रवचनमातृकासु भावनासु वा सतीषु हिंसादिव्यावृत्तत्वं भवति, न तास्वसतीषु इति युक्तमुक्तं सूत्रकारेण ॥११७९॥

तेसिं पंचण्हं पि य अंहयाणमावज्जणं व संका वा ।
आदविवत्ती य हवे रादीभत्तप्पसंगम्मि ॥११८०॥

'तेसिं पंचण्हं पि य अंहयाणमावज्जणं' तेषां पञ्चानां हिंसादीनां प्राप्तिः । 'संका वा' शङ्का वा मम हिंसादयः किं संवृत्ता न वेति । 'हवे' भवेत् । 'रादीभत्तप्पसंगम्मि' रात्रावाहाराप्रसंगे सति न केवलं हिंसादिषु परिणतिः । 'विवत्ती य हविज्ज' आत्मनश्च यते. स्वस्यापि विपद्भवेत् स्थाणुसर्पकण्टकादिभिः ॥११८०॥

हिंसादि परिणामोंका अभाव रूप अहिंसादि व्रत नोआगमभाव व्रत है । इसका मतलब है प्राणियों के प्राणोंके घातमें, झूँठ बोलनेमें, बिना दी हुई वस्तुके ग्रहणमें, मैथुन रूप विशेष कर्ममें तथा ममत्व भावमें परिणतिका न होना । तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा भी है—हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहसे विरति व्रत है।' हिंसा आदि क्रिया विशेष आत्माके परिणाम हैं । उनसे आत्माकी निवृत्ति अर्थात् हिंसादि रूप परिणतिका न होना व्रत है । यह सूत्रका अर्थ है । जीवकी हिंसा आदिसे व्यावृत्ति रूप जो अवस्था है उसका नाम व्रत है । रात्रि भोजन त्याग और प्रवचन माताओंके द्वारा जीवके उस रूपका संरक्षण होता है । जिसके नहीं होने पर जो नष्ट हो जाता है और जिसके होने पर जो नष्ट नहीं होता वह उसका रक्षक होता है । जैसे दुर्ग राजाका रक्षक है । रात्रि भोजनसे निवृत्ति और प्रवचन माता तथा भावनाओंके होने पर हिंसादिसे निवृत्ति होती है और उनके नही होने पर नही होती है । अतः गाथा सूत्रकारने ठीक ही कहा है कि ये व्रतोंकी रक्षक हैं । आशय यह है कि जीवन पर्यन्त हिंसा आदिसे निवृत्ति रूप परिणत आत्माका कथंचित् उसी रूपसे बने रहना ही यहाँ विवक्षित है । परिणामोंमे परिवर्तन होते हुए भी निवृत्ति रूप परिणाम तदवस्थ रहता है ॥११७९॥

गा०—रात्रिमें आहार करने पर उन हिंसा आदि पांचों पापोंकी प्राप्ति होती है अथवा यह शंका रहती है कि हिंसा आदि पाप हुए तो नहीं ? इसके सिवाय साधुको स्वयं भी ठूंठ, सर्प, कण्टक आदिसे विपत्तिका सामना करना पड़ सकता[1] है ॥११८०॥

---

१. इस गाथाके पश्चात् मुद्रित प्रतिमें नीचे लिखी गाथा है जिसपर आशाधरकी टीका है किन्तु यह किसी प्रतिमें नहीं है । पं० जिनदासजी ने भी न तो इसका अर्थ किया है और न इसपर पृथक् क्रमांक दिया है—

अण्हयदारोपरमणदरस्स गुत्तीओ होंन्ति तिण्णेव ।
चेट्ठिदुकामस्स पुणो समिदीओ पंच विट्ठाओ ॥

आस्रवके द्वारको रोकनेमें आसक्त भिक्षुके तीन गुप्तियाँ होती हैं । और गमन तथा बोलने आदिकी चेष्टा करने पर पाँच समितियाँ कही हैं ।

प्रवचनमातृकाव्याख्यानायोत्तरप्रबन्धस्तत्र मनोगुप्तिं वाग्गुप्तिं व्याख्यातुमायातोत्तरगाथा—

जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुत्तिं।
अलियादिणियत्ती वा मोणं वा होइ वचिगुत्ती ॥११८१॥

'**जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुत्तिं**' या रागद्वेषाभ्यां निवृत्तिर्मनसस्तां जानीहि मनोगुप्तिं। अत्रेदं परीक्ष्यते। मनसो गुप्तिरिति यदुच्यते किं प्रवृत्तस्य मनसो गुप्तिरथाप्रवृत्तस्य? प्रवृत्तं चेदं शुभं मनः तस्य का रक्षा। अप्रवृत्तं यदि तथापि असतः का रक्षा? ततोऽप्यपायपरिहारोपयुक्ततेत्युच्यते? किं च मनःशब्देन किमुच्यते द्रव्यमन उत भावमनः? मनोद्रव्यवर्गणा मनश्चेत् तस्य कोऽपायो नाम यस्य परिहारो रक्षा स्यात्? किं च द्रव्यान्तरेण तेन रक्षितेनास्य जीवस्य फलं य आत्मनः परिणामोऽशुभमावहति। ततोऽयुक्ता रक्षात्मनः। अथ नो इन्द्रियमतिज्ञानावरणक्षयोपशमसंजातं ज्ञानं मन इति गृह्यते तस्य अपायः कः? यदि विनाशः स न परिहर्तुं शक्यते यतोऽनुभवसिद्धो विनाशः। अन्यथा एकस्मिन्नेव ज्ञाने प्रवृत्तिरात्मनः स्यात्। ज्ञानानीह वीचय इवानारतमुत्पद्यन्ते न चास्ति तदविनाशोपायः। अपि च इन्द्रियमतिरपि रागादिव्यावृत्तिरिष्टैव किमुच्यते रागादिणियत्ती मणस्स इति।

अत्र प्रतिविधीयते—नो इन्द्रियमतिरिह मनःशब्देनोच्यते। सा रागादिपरिणामैः सह एककालं आत्मनि प्रवर्तते। न हि विषयावग्रहादिज्ञानमन्तरेणास्ति रागद्वेषयोः प्रवृत्तिः, अनुभवसिद्धंचास्ति नापरा युक्तिः अनुगम्यते। वस्तुतत्त्वानुयायिना मानसेन ज्ञानेन समं रागद्वेषौ न वर्तेते इत्येतदप्यात्मसाक्षिकमेव। तेन मनसस्त-

---

आगे प्रवचन माताओंका व्याख्यान करते हैं। उनमें से प्रथम मनोगुप्ति और वचनगुप्तिका व्याख्यान करते हैं—

गा०-टी०—मनकी जो रागादिसे निवृत्ति है उसे मनोगुप्ति जानो।

शंका—यहाँ यह विचार करते हैं कि यह जो आप मनकी गुप्ति कहते हैं सो यह गुप्ति प्रवृत्त मनकी है या अप्रवृत्त मनकी है? प्रवृत्त मन तो शुभ रूप होता है उसकी रक्षा कैसी? यदि मन अप्रवृत्त है तो वह असत् हुआ, उसकी रक्षा कैसी। प्रवृत्त मनकी अपायसे बचाव करनेमें उपयोगिता होती है। तथा मन शब्दसे द्रव्यमन लेते हैं या भावमन? यदि द्रव्यवर्गणा रूप मन लेते हैं तो उसका अपाय क्या, जिससे बचनेसे उसकी रक्षा हो। तथा द्रव्यवर्गणा रूप मन तो भिन्न द्रव्य है। उसकी रक्षा करनेसे इस जीवको क्या लाभ जो आत्माके अशुभ परिणाम करता है। अतः आत्माकी रक्षाकी बात युक्त नहीं है। यदि नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए ज्ञानको मन शब्दसे ग्रहण करते हैं तो उसका अपाय क्या है? यदि अपायसे मतलब विनाश है तो उसका परिहार शक्य नहीं है क्योंकि विनाश तो अनुभवसे सिद्ध है। यदि ज्ञानका विनाश न हो तो आत्माकी प्रवृत्ति सदा एक ही ज्ञानमें रहे। किन्तु ज्ञान तो तरंगोंकी तरह निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं। उनके विनाश न होनेका कोई उपाय नहीं है। तथा इन्द्रियजन्य मतिकी भी रागादिसे व्यावृत्ति मान्य है तब 'मनकी रागादिसे निवृत्ति' क्यों कहते हैं?

समाधान—यहाँ मन शब्दसे नोइन्द्रिय जन्य मति कही है। वह आत्मामें रागादि परिणामोंके साथ एक ही कालमें प्रवृत्तिशील है। विषयोंका अवग्रहादिज्ञान हुए विना रागद्वेषमें प्रवृत्ति नहीं होती, यह बात अनुभव सिद्ध है। इसमें अन्य कोई युक्ति नहीं है। जो मानस ज्ञान वस्तुतत्त्वके अनुसार होता है उस ज्ञानके साथ रागद्वेष नहीं होते यह बात आत्मसाक्षिक है। अतः तत्त्व-

त्वावग्राहिणो रागादिभिरसहचारिता या सा मनोगुप्तिः। मनोग्रहणं ज्ञानोपलक्षणं तेन सर्वो बोधो निरस्तराग-द्वेषकलङ्को मनोगुप्तिरन्यथा इन्द्रियमती श्रुते, अवधौ, मनःपर्यये वा परिणममानस्य न मनोगुप्तिः स्यात्। इष्यते च। अथवा मनःशब्देन मनुते य आत्मा स एव भण्यते तस्य रागादिभ्यो या निवृत्तिः रागद्वेषरूपेण या अपरिणतिः सा मनोगुप्तिरित्युच्यते। अथैवं सूत्रे सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः दृष्टफलमनपेक्ष्य योगस्य वीर्यपरिणामस्य निग्रहो रागादिकार्यकरणनिरोधो मनोगुप्तिः। 'अलियादिणियत्ती वा मोणं वा होइ वचिगुत्ती' विपरीतार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वात्परदुःखोत्पत्तिनिमित्तत्वाच्चाधर्माद्या व्यावृत्तिः सा वाग्गुप्तिः। ननु च वाचः पुद्गलत्वात् विपरीतार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वादिभ्यो व्यावृत्तिहेतुर्वाचो धर्मो न चासौ संवरणे हेतुरनात्मपरिणामत्वात्। शब्दादिवत्। एवं तर्हि व्यलीकात्परुषादात्मप्रशंसापरात् परनिन्दाप्रवृत्तात्परोपद्रवनिमित्ताच्च वचसो व्यावृत्तिरात्मनस्तथाभूतस्य वचसोऽप्रवर्तिका वाग्गुप्तिः। यां [1]वाचं प्रवर्तयन् अशुभं कर्म स्वीकरोत्यात्मा तस्या वाच इह ग्रहणं वाग्गुप्तिरित्यत्र तेन वाग्विशेषस्यानुत्पादकता वाचः परिहारो वाग्गुप्तिः। मौनं वा सकलाया वाचो या परिहृतिः सा वाग्गुप्तिः। अयोग्यवचनेऽप्रवृत्तिः प्रेक्षापूर्वकारितया योग्यं तु वक्ति वा न वा। भाषासमितिस्तु

का ग्रहण करने वाले मनका रागादि भावके साथ साहचर्य न होना मनोगुप्ति है। 'मन' शब्द ज्ञानका उपलक्षण है। अतः रागद्वेषकी कालिमासे रहित ज्ञानमात्र मनोगुप्ति है। यदि ऐसा न माना जाय तो जब आत्मा इन्द्रिय ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान अथवा मनःपर्ययज्ञान रूपसे परिणत हो उस समय मनोगुप्ति नहीं हो सकेगी। किन्तु उस समय भी मनोगुप्ति मानी जाती है। अथवा जो आत्मा 'मनुते' अर्थात् पदार्थोंको जानता है वही मन शब्दसे कहा जाता है। उसकी जो रागादिसे निवृत्ति है अथवा रागद्वेषसे परिणमन करना वह मनोगुप्ति कही जाती है। ऐसा होने पर 'सम्यक् रूपसे योगका निग्रह गुप्ति है' ऐसा कहनेमें भी कोई विरोध नहीं है। सम्यक् अर्थात् किसी लौकिक फलकी अपेक्षा न करके वीर्य परिणाम रूप योगका निग्रह अर्थात् रागादि कार्य करनेसे रोकना मनोगुप्ति है।

तथा विपरीत अर्थको प्रतिपत्तिमें कारण होनेसे और दूसरोको दुःखकी उत्पत्तिमें निमित्त होनेसे जो अधर्म मूलक वचनसे निवृत्ति है वह वचन गुप्ति है।

शङ्का—वचन तो पौद्गलिक है अतः विपरीत अर्थकी प्रतिपत्तिमे हेतु आदि होनेसे व्यावृत्ति वचनका धर्म है और वह संवरमें कारण नहीं है क्योकि वह तो पुद्गलका परिणाम है, आत्माका परिणाम नहीं है जैसे शब्द वगैरह पुद्गलके परिणाम हैं।

समाधान—मिथ्या, कठोर, अपनी प्रशंसा और परकी निन्दा करने वाले तथा दूसरोंमे उपद्रव कराने वाले वचनसे आत्माकी निवृत्ति, जो इस प्रकारके वचनोंकी प्रवृत्तिको रोकती है वह वचन गुप्ति है। वचन गुप्तिमें वचन शब्दसे जिस वचनको सुनकर प्रवृत्ति करता हुआ आत्मा अशुभ कर्म करता है उस वचनका ग्रहण है। अतः वचन विशेषको उत्पन्न न करना वचनका परिहार है और वही वचन गुप्ति है। अथवा समस्त प्रकारके वचनोंका परिहार रूप मौन वचनगुप्ति है। अयोग्य वचनमें अप्रवृत्ति वचनगुप्ति है। प्रेक्षापूर्वकारी होनेसे वह योग्य वचन बोले या न बोले। किन्तु योग्य वचन बोलना—उनका कर्ता होना भाषासमिति है। अतः गुप्ति और

---

1. वाचां—अ० आ० मु०।

योग्यवचसः कर्तृता ततो महान्भेदो गुप्तिसमित्योः। मौनं वाग्गुप्तिरत्र स्फुटतरो वचोभेदः। योग्यस्य वचसः प्रवर्तकता। वाचः कस्याश्चिदनुत्पादकतेति ॥११८१॥

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती।
हिंसादिणियत्ती वा सरीरगुत्ती हवदि दिट्ठा ॥११८२॥

'कायकिरियाणियत्ती' कायस्यौदारिकादेः शरीरस्य या क्रिया तस्या निवृत्तिः 'सरीरगे गुत्ती' शरीरविषया गुप्तिः कायगुप्तिरिति यावत्। आसनस्थानशयनादीनां क्रियात्वात् तासां चात्मना [1]प्रवर्तितत्वात् कथमात्मनः कायक्रियाभ्यो व्यावृत्तिः। अथ मतं, कायस्य पर्यायः क्रिया, कायाच्चार्थान्तरमात्मा ततो द्रव्यान्तरपर्यायात् द्रव्यान्तरं तत्परिणामशून्यं तथाऽपरिणतं व्यावृत्तं भवतीति कायक्रियानिवृत्तिरात्मनो भण्यते। सर्वेषामेवात्मनामित्थं कायगुप्तिः स्यात् न चेष्टेति।

अत्रोच्यते—कायस्य सम्बन्धिनी क्रिया कायशब्देनोच्यते। तस्याः कारणभूतात्मन. क्रिया कायक्रिया तस्य निवृत्तिः। 'काउस्सग्गो' कायोत्सर्गः शरीरस्याशुचितामसारतामापन्निमित्ततां चावेत्य तद्गतममतापरिहारः कायगुप्तिः। अन्यथा शरीरमायुः शृङ्खलाबद्धं त्यक्तुं न शक्यते इत्यसम्भवः कायोत्सर्गस्य। धातूनामनेकार्थत्वात् गुप्तिर्निवृत्तिवचन इहेति सूत्रकाराभिप्रायोऽन्यथा 'कायकिरियाणिवत्ती सरीरगे गुत्ती' इति कथं ब्रूयात्। कायोत्सर्गग्रहणेन निश्चलता भण्यते। यद्येवं कायकिरियाणिवत्ती इति न वक्तव्य, कायोत्सर्गः काय-

---

समितिमें महान् अन्तर है। मौन वचन गुप्ति है ऐसा कहने पर गुप्ति और समितिका भेद स्पष्ट हो जाता है। समिति योग्य वचनमें प्रवृत्ति कराती है। और गुप्ति किसी वचनकी उत्पादक नहीं है ॥११८१॥

गा०—टी०—काय अर्थात् औदारिक आदि शरीरकी जो क्रिया है उसकी निवृत्ति कायगुप्ति है।

शङ्का—बैठना, ठहरना, सोना आदि क्रियाएँ हैं। और वे क्रियाएँ आत्माके द्वारा प्रवर्तित हैं। तब आत्मा कायकी क्रियाओंसे कैसे निवृत्त हो सकता है। यदि कहोगे कि क्रिया कायकी पर्याय है और कायसे आत्मा भिन्न है। अत द्रव्यान्तर कायकी पर्यायसे द्रव्यान्तर आत्मा उस पर्यायसे रहित होनेसे कायकी पर्यायरूप परिणत नही होता अत उससे वह निवृत्त है और इसीको आत्माकी कायकी क्रियाओंसे निवृत्ति कही है। तो इस प्रकारसे सभी आत्माओंके कायगुप्तिका प्रसग आता है।

समाधान—कायशब्दसे कायसम्बन्धी क्रिया कही है। उसकी कारणभूत आत्माकी क्रिया कायक्रिया है और उसकी निवृत्ति कायगुप्ति है। अथवा कायोत्सर्ग अर्थात् शरीरकी अपवित्रता, असारता और आपत्तिमें निमित्तपना जानकर उससे ममत्व न करना कायगुप्ति है। अन्यथा शरीर तो आयुकी सांकलसे बँधा है। जब तक आयु है शरीरका त्याग नही किया जा सकता। यदि शरीर त्यागको कायोत्सर्ग कहेंगे तो कायोत्सर्ग असम्भव हो जायगा। धातुओंके अनेक अर्थ होते हैं अतः यहाँ गुप्तिका अर्थ निवृत्ति है ऐसा गाथासूत्रकार आचार्यका अभिप्राय है। यदि ऐसा न होता तो 'कायक्रिया निवृत्ति शरीर गुप्ति है' ऐसा कैसे कहते।

---

1. प्रवर्तकत्वात् कथमात्मनः कार्या क्रियाभ्यो—आ० मु०।

गुप्तिरित्येतदेव वाच्यं इति चेत् न कायविषयं ममेदंभावरहितत्वमात्रमपेक्ष्य कायोत्सर्गस्य प्रवृत्तेः धावनगमन-लङ्घनादिक्रियासु प्रवृत्तस्यापि कायगुप्तिः स्यान्न चेष्यते । अथ कायक्रियानिवृत्तिरित्येतावदुच्यते मूर्च्छापरिगत-स्यापि अपरिस्पन्दता विद्यते इति कायगुप्तिः स्यात् । तत उभयोपादानं व्यभिचारनिवृत्तये । कर्मादाननिमित्त-सकलकायक्रियानिवृत्तिः कायगोचरममतात्यागपरा वा कायगुप्तिरिति सूत्रार्थः । '**हिंसादिणियत्ती वा सरीरगुत्ती हवदि दिट्ठा**' हिंसादिनिवृत्तीर्वा शरीरगुप्तिरिति दृष्टा जिनागमे, प्राणिप्राणवियोजनं, अदत्तादानं, मिथुनकर्म शरीरेण, परिग्रहादानमित्यादिका या विशिष्टा क्रिया सेह कायशब्देनोच्यते । कायिकोपकृतेर्गुप्तिर्व्यावृत्तिः काय-गुप्तिरिति व्याख्यातं सूरिणा ॥११८२ ।

छेत्तस्स वदी णयरस्स खाइया अहव होइ पायारो ।
तह पावस्स णिरोहे ताओ गुत्तीओ साहुस्स ॥११८३॥

'**छेत्तस्स वदी**' क्षेत्रस्य वृतिः '**नगरस्य खातिका अथवा पायारो**' अथवा प्राकारो भवति नगरस्य । '**तथा पावस्स णिरोधो**' पापस्य निरोध उपायः । '**ताओ गुत्तीओ**' ता गुप्तय साधोः ॥११८३॥

तम्हा तिविहेवि तुमं मणवचिकायप्पओगजोगम्मि ।
होहि सुसमाहिदमदी णिरंतरं झाणसज्झाए ॥११८४॥

'**तम्हा तिविधेण मणवचिकायपओगजोगम्मि**' मनोवाक्कायविषये प्रकृष्टे योगे । '**तुमं**' त्वं । '**सुसमा-**

शङ्का—यदि कायोत्सर्गसे निश्चलता कही जाती है तो 'कायक्रियानिवृत्ति कायगुप्ति है' ऐसा नहीं कहना चाहिए । किन्तु कायोत्सर्ग कायगुप्ति है ऐसा ही कहना चाहिए ।

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि कायमें 'यह मेरा है' इस भावके न होने मात्रकी अपेक्षासे कायोत्सर्ग शब्दकी प्रवृत्ति होती है । किन्तु यदि कायगुप्ति यही है तो दौड़ना, जाना, लांघना आदि क्रियाओंको करते हुए भी कायगुप्ति हो सकेगी । किन्तु ऐसा नहीं माना जाता । और 'कायक्रियाकी निवृत्ति कायगुप्ति है' इतना ही कहा जाता है तो मूर्छित अवस्थामें भी कायक्रियाकी निवृत्ति होनेसे कायगुप्तिका प्रसंग आता है । इसलिए व्यभिचार दोषकी निवृत्तिके लिए दोनोंका ग्रहण गाथामें किया है ।

अतः कर्मके ग्रहणमें निमित्त समस्त कायकी क्रियाओंसे निवृत्ति और कायविषयक ममत्वका त्याग कायगुप्ति है, यह गाथासूत्रका अर्थ है ।

अथवा आगममें हिंसा आदिसे निवृत्तिको कायगुप्ति कहा है । यहाँ काय शब्दसे प्राणियोंके प्राणोंका घात, बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण, शरीरसे मैथुन कर्म और परिग्रहका ग्रहण इत्यादि विशिष्ट क्रिया कही गई है । कायिक क्रियाओंसे गुप्ति अर्थात् व्यावृत्ति कायगुप्ति है ऐसा आचार्यने व्याख्यान किया है ॥११८२॥

गा०—जैसे खेतकी बाड़ और नगरकी खाई अथवा चारदिवारी होती है वैसे ही पापको रोकनेमें साधुकी गुप्तियाँ होती हैं ॥११८३॥

गा०—इसलिए हे क्षपक ! तुम निरन्तर ध्यान और स्वाध्यायमें लगे रहकर मन वचन काय विषयक तीन प्रकारके प्रकृष्ट योगमें सावधान रहो । क्योंकि ध्यान और स्वाध्यायके बिना गुप्तियाँ नहीं ठहरतीं ॥११८४॥

ज्ञिवक्वी होहि' सुष्ठु समाहितमतिर्भव । कथं ? 'णिरंतरं ज्झाणज्झाए' निरन्तरप्रवृत्तध्यानस्वाध्याये । न हि ध्यानस्वाध्यायावन्तरेण गुप्तयोऽवतिष्ठन्त इति भावः ॥११८४॥

समितिव्याख्यानायोत्तरप्रबन्धस्तत्रेर्यासमितिनिरूपणायोत्तरा गाथा—

मग्गुज्जोवपओगालंबणसुद्धीहिं इरियदो मुणिणो ।
सुत्ताणुवीचि भणिदा इरियासमिदी पवयणम्मि ॥११८५॥

'मग्गुज्जोवुपओगालंबणसुद्धीहिं' मार्गशुद्धिः, उद्योतशुद्धिरुपयोगशुद्धिरालम्बनशुद्धिरिति चतस्रः शुद्धयस्ताभि. करणभूताभि । 'इरियदो' गच्छत । 'मुणिणो' मुनेः । 'सुत्ताणुवीचि' सूत्रानुसारेण । 'भणिदा' कथिता । 'इरियासमिदी' ईर्यासमिति. । 'पवयणम्मि' प्रवचने । तत्र मार्गस्य शुद्धिर्नाम अप्रचुरपिपीलिकादित्रसता, बीजाङ्कुरतृणहरितपत्राशकर्दमादिरहितता । स्फुटतरता व्यापिता च उद्योतशुद्धिः । निशाकरनक्षत्रादीनामस्फुट प्रकाश, अव्यापी प्रदीपादिप्रकाशः । [1]पादोद्धारनिक्षेपदेशजीवपरिहरणावहितचेतस्ता उपयोगशुद्धि । गुरुतीर्थचैत्ययतिवन्दनादिकमपूर्वशास्त्रार्थग्रहणं, संयतप्रायोग्यक्षेत्रमार्गणं, वैयावृत्यकरणं, अनियतावासस्वास्थ्यासम्पादने श्रमपराजय, नानादेशभाषाशिक्षणं, विनेयजनप्रतिबोधनं चेति प्रयोजनापेक्षया आलम्बनाशुद्धिः । किं तत् सूत्रानुसारिगमन, अद्रुत, नातिविलम्बित, पुरो युगमात्रदर्शनप्रवृत्ति, अविकृष्टचरणन्यास, भयविस्मयावन्तरेणासलील [2]मनत्युत्क्षेप, परिहृतलङ्घनधावन प्रविलम्बितभुजं, निर्विकार, अचपलमसम्भ्रान्तमनूर्ध्वतिर्यक्प्रेक्षण, हस्तमात्रपरिहृततरुणतृणपल्लवं, अकृतपशुपक्षिमृगोद्वेजनं, विरुद्धयोनिसंक्रमणजातबाधाव्युदासाय

आगे समितिका व्याख्यान करते है । प्रथम ईर्यासमितिका कथन करते हैं—

गा०–टी०—मार्गशुद्धि, उद्योतशुद्धि, उपयोगशुद्धि और आलम्बन शुद्धि, इन चार शुद्धियोंके द्वारा सूत्रके अनुसार गमन करते हुए मुनिके प्रवचनमें ईर्यासमिति कही है ।

मार्गमें चीटी आदि त्रस जीवोंकी अधिकताका न होना तथा बीज, अंकुर, तृण, हरे पत्ते और कीचड आदिका न होना मार्गशुद्धि है । सूर्यके प्रकाशका स्पष्ट फैलाव और उसकी व्यापकता उद्योतशुद्धि है । चन्द्रमा नक्षत्र आदिका प्रकाश अस्पष्ट होता है और दीपक आदिका प्रकाश व्यापक नही होता । पैर उठाने और रखनेके देशमें जीवोंकी रक्षामें चित्तकी सावधानता उपयोग शुद्धि है । गुरु, तीर्थ, चैत्य और यतिकी वन्दनाके लिए गमन करना आदि किसीके पास शास्त्रका अपूर्व अर्थ या अपूर्व शास्त्रके अर्थका ग्रहण करनेके लिए गमन करना, मुनियोंके योग्य क्षेत्रकी खोजके लिए गमन करना, वैयावृत्य करनेके उद्देशसे गमन करना, अनियत आवासके उद्देशसे गमन करना, स्वास्थ्य लाभके लिए गमन करना, श्रमपर विजय पानेके लिए गमन करना, नाना देशोकी भाषा सीखनेके लिए गमन करना, शिष्य समुदायका प्रतिबोधन करनेके लिए गमन करना, इत्यादि प्रयोजनोकी अपेक्षा गमन करना आलम्बन शुद्धि है ।

सूत्रानुसार गमन इस प्रकार है—न बहुत जल्दी और न बहुत विलम्बसे सामने युगमात्र भूमि देखकर चलना, पादनिक्षेप अधिक दूर न करना, भय और आश्चर्यके बिना गमन करना, लीलापूर्वक गमन न करना, पैर अधिक ऊँचा न उठाते हुए गमन करना, लांघना दौड़ना आदि नही, दोनों भुजा लटकाकर गमन करना, विकार रहित, चपलता रहित, ऊपर तिर्यक् अवलोकन

---

१ पादोपरिवि–अ० आ० । २ मनक्षेप–अ० । मनन्यत्रक्षेपं आ० । मनत्युत्क्षेप–मूलारा० ।

कृतावहस्तातिनेक्षणं, अप्रतिसारितप्रतिमार्गयायिसंघट्टनं दुष्टधेनुबलीवर्दसारमेयादिपरिहृतिचतुरं, परिहृततुस-तुषमसीमस्मार्द्रगोमयतृणनिचयजलोपलफलकं, दूरीकृतचोरीकलहं, अनारूढसंक्रमं निरूपयतो यतेरीर्या-समितिः ॥११८५॥

भाषासमितिनिरूपणार्थोत्तरगाथा—

सच्चं असच्चमोसं अलियादीदोसवज्जमणवज्जं ।
वदमाणस्सणुवीची भासासमिदी हवदि सुद्धा ॥११८६॥

चतुर्विधा वाक्—सत्या, मृषा, सत्यसहिता मृषा, असत्यमृषा चेति । सता हिता सत्या । न सत्या न च मृषा या सा असच्चमोसा । द्विप्रकारा वाचमित्थंभूता । 'अलियादिदोसवज्जं' व्यलीकता अर्थाभाव', पारुष्यं, पैशुन्यमित्यादिदोषरहितं । 'अणवज्जं' पापास्रवो न भवति इत्यनवद्य । 'वदमाणस्स' व्याहरतः । 'अणुवीचि' सूत्रानुसारेण 'भासासमिदी सुद्धा हवदि' भाषासमितिः शुद्धा भवति ॥११८६॥

सत्यवचनभेदं निरूपयति—

जणवदसंमदिठवणा णामे रूवे पडुच्चववहारे ।
संभावणववहारे भावेणोपम्मसच्चेण ॥११८७॥

'जणवदसंमदि' नानाजनपदप्रसिद्धा सुसंकेतानुविधायिनी वाणी जनपदसत्यं । गच्छति इति गौः, गर्ज-

---

रहित गमन करना, तरुण तृण पत्रोसे एक हाथ दूर रहते हुए गमन करना, पशु पक्षी और मृगोको भयभीत न करते हुए गमन करना, विरुद्ध योनिवाले जीवोंके मध्यसे जानेपर उनको होनेवाली बाधाको दूर करनेके लिए पीछीसे अपने शरीरकी बारबार प्रतिलेखना करते हुए गमन करना, सामनेसे आते हुए मनुष्योसे न टकराते हुए गमन करना, दुष्ट गाय, दुष्ट बैल, कुत्ता आदिसे चतुरतापूर्वक बचते हुए गमन करना, भुस, तुष, मसी, गीला गोबर, तृणसमूह, जल, पाषाण और लकड़ीके तख्तसे बचकर गमन करना, चोरी और कलहसे दूर रहना और पुलपर न चढ़ना । ये सब करते हुए गमन करना ईर्यासमिति है ॥११८५॥

आगे भाषासमितिका कथन करते हैं—

गा०—वचनके चार प्रकार हैं—सत्य, असत्य, सत्यसहित असत्य और असत्यमृषा । सज्जनोके हितकारी वचनको सत्य कहते है । जो वचन न सत्य होता है और न असत्य उसे असत्यमृषा कहते हैं । इस प्रकार सत्य और असत्यमृषा वचनको बोलना तथा असत्य, कठोरता, चुगली आदि दोषोंसे रहित और अनवद्य अर्थात् जिससे पापका आस्रव न हो ऐसा वचन सूत्रानुसार बोलनेवालेके शुद्ध भाषासमिति होती है ॥११८६॥

सत्यवचनके भेद कहते हैं—

गा०—जनपद सत्य, सम्मति सत्य, स्थापना सत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीत्यसत्य, सम्भावना सत्य, व्यवहार सत्य, भाव सत्य और उपमा सत्य इस प्रकार सत्यवचनके दस भेद हैं ।

टी०—विभिन्न जनपदोंमे जो उस उस जनपदके संकेतके अनुसार प्रचलित वाणी है वह

१. यवलो—अ० ।　　२. अनुव—अ० ।

सीति गज इत्येवमादिका अवयवार्थानुगमाभावेऽपि विवक्षितार्थप्रवृत्तिनिमित्तभूता। सम्मतिशब्देन संस्थानाभ्युपगम उच्यते। गजेन्द्रो नरेन्द्र इत्यादिकाः शब्दाः शुभलक्षणयोगात् केषाञ्चित् स्वतो लक्षणत्वा नामीश्वरत्वेनाभ्युपगममाश्रित्य क्वचिद्गजे मानवे वा प्रयुज्यमाना सम्मतिसत्यशब्देनोच्यन्ते। अर्हन्निन्द्रः स्कन्दः इत्येवमादयः सद्भावासद्भावस्थापनाविषया स्थापनासत्य। अरिहननं, रजोहननं, इन्दनं इत्येवमादीनां क्रियाणा तत्राभावादृव्यलीकता नाशङ्कनीया आकारमात्रे परमार्थत्वात्सर्वभावानां। तस्य च स्थापनायां वस्त्वास्तित्वाद् बुद्धिपरिग्रहेण वा सद्भावात। इन्द्रादिसंज्ञा स्वप्रवृत्तिनिमित्तजातिगुणक्रियाद्रव्यनिरपेक्षा तच्छब्दाभिधेयसम्बन्धपरिणतिमात्रेण वस्तुनः प्रवृत्ता नामसत्यं। रूपग्रहणं उपलक्षणं प्रवृत्तिनिमित्तानां नीलमुत्पलं, धवलो हि मृगलाञ्छन इत्येवमादिक रूपसत्यं। सम्बन्ध्यन्तरापेक्षाभिव्यक्त्य च वस्तुस्वरूपालम्बनं दीर्घो ह्रस्व इत्येवमादिकं प्रतीत्यसत्यं। वस्तुनि तथाऽप्रवृत्तेऽपि तथाभूतकार्ययोग्यतादर्शनात् सम्भावनया वृत्तं सम्भावनासत्यं। अपि दोर्भ्यां समुद्रं तरेत्, शिरसा पर्वतं भिन्द्यात् इत्यादि। वर्तमानकाले स परिणामो यद्यपि नास्ति तथाप्यतीतानागत-

---

जनपद सत्य है। जैसे गमन करे वह गाय है गर्जन करे वह गज—हाथी है। यद्यपि गमनरूप और गर्जनरूप अर्थ नहीं होनेपर भी इन अर्थोंकी प्रवृत्तिमें निमित्तभूत वाणी जनपद सत्य है। अर्थात् जैसे गाय और गजशब्द गमन और गर्जन अर्थको लेकर निष्पन्न हुए हैं और उनका संकेत गाय और गजमें किया गया है। गाय बैठी हो तब भी उसे गाय कहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक देशकी भाषामें शब्द जनपद सत्य हैं।

सम्मति शब्दसे आकार विशेषकी स्वीकृति कही जाती है। जैसे गजेन्द्र नरेन्द्र इत्यादि शब्द शुभलक्षणके योगसे व्यवहृत होते हैं। किन्हींमें स्वयं शुभलक्षण पाये जानेसे उन्हें इन्द्र या ईश्वरके रूपमें स्वीकार करके किसी गजको गजेन्द्र या मनुष्यको सुरेन्द्र कहना सम्मति सत्य है। किसी तदाकार या अतदाकार वस्तुमें अर्हन्त, इन्द्र या स्कन्दकी स्थापना करके उसे अर्हन्त आदि कहना स्थापना सत्य है। मूर्तिमें स्थापित अर्हन्त या इन्द्रमें अर्हन्तशब्दका अर्थ अरि—कर्मशत्रुका हनन करना या कर्मरजका हनन करना और इन्द्र शब्दका अर्थ इन्दन क्रिया नहीं पाई जाती, इसलिए उसमें असत्यपनेकी आशंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि सभी पदार्थ आकारमात्रमें परमार्थ माने जाते हैं। और वह आकार तदाकार स्थापनामें वस्तुरूपसे रहता है अथवा अतदाकार स्थापनामें उसमें उस प्रकारकी बुद्धि कर ली जाती है।

इन्द्रादि नामोंकी प्रवृत्तिमें निमित्त जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यकी अपेक्षा न करके जो उस शब्दका अपने वाच्यार्थके साथ सम्बन्ध है केवल उसी दृष्टिसे रखा वस्तुका इन्द्रादि नाम नामसत्य है। रूपका ग्रहण शब्दकी प्रवृत्तिके निमित्तोंका उपलक्षण है। जैसे कमलका नीला रूप देखकर नीलकमल कहना या चन्द्रमा सफेद कहना रूप सत्य है। अन्य वस्तुके सम्बन्धसे व्यक्त होनेवाला वस्तुका स्वरूप प्रतीत्य सत्य है जैसे किसीको लम्बा या ठिगना कहना।

वस्तुमें वैसा नहीं होने पर भी उस प्रकारके कार्यकी योग्यता देखकर जो संभावना मूलक वचन है वह संभावना सत्य है। जैसे कहना अमुक व्यक्ति हाथोंसे समुद्र पार कर सकता है या सिरसे पर्वत तोड़ सकता है। इत्यादि। यद्यपि वर्तमान कालमें वस्तुमें वह परिणाम नहीं है तथापि

---

१. गत्वमो—आ०। गत्वादी—मु०। गावामी—मूलारा०।

परिणामा[1] इदमेव द्रव्यमिति कृत्वा प्रवृत्तानि वचांसि ओदनं पच, कटं कुर्वित्येवमादीनि व्यवहारसत्यं। अहिंसा-लक्षणो भावः पाल्यते येन वचसा तद्भावसत्यं निरीक्ष्य स्वप्रवृत्ताचारो भवेत्येवमादिकं। पल्योपमसागरोप-मादिकमुपमा सत्यम् ॥११८७॥

मृषादिवचनत्रयलक्षणं कथयन्ति—

तव्विवरीदं मोसं तं उभयं जत्थ सच्चमोसं तं।
तव्विवरीया भासा असच्चमोसा हवे दिट्ठा ॥११८८॥

'तव्विवरीदं' सत्यविपरीतं। 'मोसं' मृषा। 'असदभिधानमनृतं' [त० सू० ७।] इति वचनात्। मिथ्याज्ञानमिथ्यादर्शनयोरसंयमस्य वा निमित्तं वचनमसदभिधानं अप्रशस्तं तत्सत्यविपरीतं। 'तं उभयं' तत्सत्यमनृतं च उभयं। 'जत्थ' यस्मिन् वाक्ये। 'तं' तद्वाक्यं। 'सच्चमोसं' सत्यमृषेत्युच्यते। 'तव्विवरीया भासा' सत्यावनृताभ्यामिश्राच्च पृथग्भूता। 'भासा' भाषा वचनं 'असच्चमोसा' असत्यमृषेति। 'हवे' भवेत्। 'दिट्ठा' दृष्टा पूर्वागमेषु। एकान्तेन न सत्या नापि मृषा नोभयमिश्रा किंतु जात्यन्तरं यथा वस्तु नैकान्तेन नित्यं नापि अनित्यं नापि सर्वथा एकान्तयोः समुच्चय किंतु कथंचिद्रूपान्नित्यानित्यात्मकं। एवमियं भारती ॥११८८॥

सा नवप्रकारा तस्याश्च भेदा[2] इयन्त इति गाथाद्वयेनाचष्टे—

आमंतणि आणवणी जायणि संपुच्छणी य पण्णवणी।
पच्चक्खाणी भासा भासा इच्छाणुलोमा य ॥११८९॥

अतीत और अनागत परिणाम रूप यही द्रव्य है ऐसा मानकर किया गया वचन व्यवहार सत्य है जैसे भात पकाओ या चटाई बुनो। ये दोनों परिणाम वर्तमानमें नहीं हैं क्योंकि चावल पकने पर भात बनेगा और बुनने पर चटाई होगी। फिर भी अनागत परिणामकी अपेक्षा इनका व्यवहार होता है। जिस वचनके द्वारा अहिंसा रूप भाव पाला जाता है वह वचन भाव सत्य है। जैसे देखकर सावधानतापूर्वक प्रवृत्ति करो आदि। पल्योपम, सागरोपम आदिका जो कथन आगममें कहा है वह उपमा सत्य है ॥११८७॥

असत्य आदि तीन वचनोंका लक्षण कहते हैं—

गा०—टी०—सत्यसे विपरीत वचन असत्य है। तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा है 'असत् कहना झूठ है।' जो वचन मिथ्याज्ञानमें, मिथ्याश्रद्धानमें और असंयममें निमित्त होता है वह वचन असत् कथन रूप होनेसे अप्रशस्त है। अतः सत्यसे विपरीत है। जो वचन सत्य और असत्य दोनों रूप होता है वह वचन सत्यमृषा है। जो वचन सत्य, असत्य और सत्य असत्यसे विपरीत होता है उसे पूर्व आगमोंमें असत्यमृषा कहा है। वह वचन न तो एकान्तसे सत्य होता है न एकान्तसे असत्य होता है और न सत्यासत्य होता है किन्तु जात्यन्तर होता है। जैसे वस्तु न तो एकान्तसे नित्य है, न अनित्य है और न सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य है, किन्तु कथंचित् नित्यानित्य है। उसी प्रकार यह असत्यमृषा वचन भी होता है ॥११८८॥

उस असत्यमृषा वचनके नौ भेद दो गाथाओंसे कहते हैं—

---

१. साम्प्रतं इद–मु०। भिन्नेयांगं–आ० मु०। २. दा यत इति–अ०। दा य इति–आ०।

'आमंतणी' यया भाषा परोऽभिमुखीक्रियते सा आमन्त्रणी। हे देवदत्त इत्यादि। अगृहीतसंकेतं नाभिमुखी करोति इति न सत्यैकान्तेन गृहीतमभिमुखी करोति तेन न मृषा गृहीतागृहीतसंकेतयोः प्रतीतिनिमित्तमनिमित्तं चेति द्वयात्मकता। स्वाध्यायं कुरुत, विरमतासंयमात् इत्यादिका अनुशासनवाणी आणवणी। चोदितायाः क्रियायाः करणमकरणं वापेक्ष्य नैकान्तेन सत्या न मृषैव वा। 'जायणी' ज्ञानोपकरणं पिच्छादिकं वा भवद्भिर्दातव्यं इत्यादिका याचनी। दातुरपेक्षया पूर्ववदुभयरूपा। निरोध[1] वेदनास्ति भवतां न वेति प्रश्नवाक् 'संपुच्छणी'। यद्यस्ति सत्या न चेदितरा इति। वेदनाभावाभावमपेक्ष्य प्रवृत्तेरुभयरूपता। 'पण्णवणी' नाम धर्म्मकथा। सा बहून्निर्दिश्य प्रवृत्ता केचिन्मनसि करणमितरैरकरणं चापेक्ष्य द्विरूपा। 'पच्चक्खाणी' नाम केनचिद्गुरुमननुज्ञाप्य इदं क्षीरादिकं इयन्तं कालं मया प्रत्याख्यातं इत्युक्तं कार्यान्तरमुद्दिश्य[2] तत्कुर्वित्युदितं गुरुणा प्रत्याख्यानावधिकालो[3] न पूर्ण इति नैकान्ततः सत्यता गुरुवचनात्प्रवृत्तो न दोषायेति न मृषैकान्त.। 'इच्छानुलोमा य' ज्वरितेन पृष्टं घृतशर्करामिश्रं क्षीरं न शोभनमिति। यदि परो ब्रूयात् शोभनमिति माधुर्यादि-

गा०—आमन्त्रणी, आणवणी, याचनी, संपुच्छणी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यानी और इच्छानुलोमा।

टी०—जिस वचनसे दूसरेको बुलाया जाता है वह आमंत्रणी भाषा है। जैसे हे देवदत्त! यह वचन जिसने संकेत ग्रहण नहीं किया उसे बुलाने वालेके अभिमुख नहीं करता अर्थात् वह बुलाने पर नहीं आता। इसलिए यह वचन सत्य भी नहीं है और जिसने सर्वथा संकेत ग्रहण किया है उसे अभिमुख करता है इसलिए असत्य भी नहीं है। इस तरह यह वचन गृहीत संकेत वालेको तो प्रतीति करानेमें निमित्त होता है किन्तु जिसने संकेत ग्रहण नहीं किया उसको प्रतीति करानेमें निमित्त नहीं होनेसे दो रूप है। 'स्वाध्याय करो, असंयमसे विरत होओ,' इत्यादि अनुशासन वचन आणवणी है। जो काम करनेकी प्रेरणा की गई है वह करने या करनेकी अपेक्षा यह वचन न तो एकान्तसे सत्य है और न एकान्तसे असत्य है। आप मुझे ज्ञानके उपकरण अथवा पीछी आदि प्रदान करें, इत्यादि वचन याचनी भाषा है। यह भी दाताकी अपेक्षा पहलेकी तरह न तो सर्वथा सत्य है और न सर्वथा असत्य है क्योंकि माँगने पर दाता दे भी सकता है और नहीं भी दे सकता।

आपकी वेदना—कष्ट रुका या नहीं? या निरोध—जेलमें आपको कष्ट है या नहीं? इस प्रकार पूछना संपृच्छनी भाषा है। यदि वेदना है तो सत्य है, नहीं है तो मिथ्या है। इस प्रकार वेदनाके भाव और अभावकी अपेक्षासे प्रवृत्त होनेसे यह वचन उभयरूप है।

धर्मकथाको पण्णवणी या प्रज्ञापनी कहते हैं। यह बहुतसे श्रोताओंको लक्ष करके होती है अतः कुछ तो अपने मनमें उसका पालन करनेका विचार करते हैं और कुछ नहीं करते। इस अपेक्षा यह भी उभयरूप है। प्रत्याख्यानी भाषा इस प्रकार है—किसीने गुरुसे निवेदन किये बिना 'यह दूध आदि मैंने इतने कालतक त्यागा' ऐसा नियम किया। किसी अन्य कार्यको लक्ष करके गुरुने कहा ऐसा करो। उसके त्याग करनेकी मर्यादाका काल पूरा नहीं हुआ, इसलिए उसका प्रत्याख्यान सर्वथा सत्य नहीं है और गुरुकी आज्ञासे उसने त्यागी हुई वस्तुमें प्रवृत्ति की इसलिए दोष भी न होनेसे सर्वथा असत्य भी नहीं है।

इच्छानुलोमा भाषा इस प्रकार है—किसी ज्वरके रोगीने पूछा—घी और शक्कर मिला

१. धो वेदनाया अस्ति–आ०। निरोधो वेदनास्ति–ज० २ श्य तद्गुरुहितं–ज० श्य तद्हितंगु–अ०। श्य तद्गर्हितं ग–आ०। ३. कालेन पूर्व इति–अ०। कालो न पूर्व इति–ज०।

प्रशस्यगुणसद्भावं ज्वरवृद्धिनिमित्ततां चापेक्ष्य न शोभनमिति वचो नुभयकान्ततो नापि सत्यमेवेति द्वयात्मकता ॥११८९॥

संसयवयणी य तहा असच्चमोसा य अट्ठमी भासा ।
णवमी अणक्खरगदा असच्चमोसा हवदि णेया ॥११९०॥

'संसयवयणी' किमय स्थाणुरुत पुरुष इत्यादिका द्वयोरेकस्य सद्भावमितरस्याभावं चापेक्ष्य द्विरूपता । 'अणक्खरगदा' अङ्गुलिस्फोटादिध्वनिः कृताकृतसंकेतपुरुषापेक्षया प्रतीतिनिमित्ततामनिमित्ततां च प्रतिपद्यते इत्युभयरूपा ॥११९०॥

उग्गमउप्पायणएसणाहिं पिंडमुवधिं सेज्जं च ।
सोधिंतस्स य मुणिणो विसुज्झए एसणासमिदी ॥११९१॥

'उग्गमउप्पायणएसणाहिं' उद्गमोत्पादनैषणादोषरहितं भक्तमुपकरणं वसतिं च गृह्णत एषणासमितिर्भवतीति सूत्रार्थः । दशवैकालिकटीकायां श्रीविजयोदयायां प्रपञ्चिता उद्गमादिदोषा इति नेह प्रतन्यन्ते ॥११९१॥

आदाननिक्षेपणसमितिनिरूपणा गाथा—

सहसाणाभोगिददुप्पमज्जिय अपच्चवेसणा दोसो ।
परिहरमाणस्स हवे समिदी आदाणणिक्खेवो ॥११९२॥

'सहसाणाभोगिद' आलोकनप्रमार्जने कृत्वा आदानं निक्षेपं इत्येको भङ्गः । अनालोक्य प्रमार्जनं कृत्वा

दूध उत्तम नहीं है ? यदि दूसरा कहे कि माधुर्य आदि प्रशस्त गुणोकी अपेक्षा तो उत्तम है किन्तु ज्वरको बढ़ानेवाला होनेसे उत्तम नही है तो इस प्रकारके वचन न सर्वथा असत्य है और न सर्वथा सत्य हैं किन्तु दोनो रूप होनेसे उभयात्मक है। यहाँ उभयात्मकसे इन वचनोको सत्य और असत्यरूप नहीं समझना चाहिए। किन्तु सत्य भी नहीं और असत्य भी नहीं अर्थात् अनुभयरूप समझना चाहिए ॥११८९॥

गा०—आठवी असत्यमृषा भाषा संशय वचनी है। जैसे यह स्थाणु है या पुरुष। दोनोमेंसे एकके सद्भाव और दूसरेके अभावकी अपेक्षा यह वचन उभयरूप है। और नौवीं असत्यमृषा भाषा अनक्षरात्मक भाषा है। जैसे अंगुलि चटकाने आदिका शब्द। जिस पुरुषने संकेत ग्रहण किया है उसे तो ध्वनिसे प्रतीति होती है दूसरेको नहीं होती। इस तरह यह वचन उभयरूप है ॥११९०॥

अब एषणा समितिका कथन करते हैं—

गा०—उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषोंसे रहित भोजन, उपकरण और वसतिको ग्रहण करनेवाले मुनिकी एषणा समिति निर्मल होती है ॥११९१॥

आदाननिक्षेपण समितिका कथन करते है—

गा०-टी०—विना देखे और विना प्रमार्जन किये पुस्तक आदिका ग्रहण करना या रखना

आदानं निक्षेपो वेति द्वितीयो भङ्गः । आलोक्य दुःप्रमृष्टं इति तृतीयः । आलोकितं प्रमृष्टं च न पुनरालोकितं शुद्धं न शुद्धं वेति चतुर्थो भङ्गः । एतद्दोषचतुष्टयं परिहरतो भवति आदाननिक्षेपणसमितिः ॥११९२॥

एदेण चेव पदिट्ठावणसमिदीवि वण्णिया होदि ।
वोसरणिज्जं दव्वं थंडिल्ले वोसरिंतस्स ॥११९३॥

'एदेण चेव' आदाननिक्षेपविषययत्नकथनेन । **'पदिट्ठावणसमिदीवि वण्णिया होदि'** प्रतिष्ठापनसमितिर्वर्णिता भवति । **'वोसरणिज्जं'** परित्यक्तव्यं मूत्रपुरीषादिकं मलं । **'थंडिल्ले वोसरिंतस्स'** स्थंडिले निर्जन्तुके, निश्छिद्रे, समे व्युत्सृजतः ॥११९३॥

एदाहिं सदा जुत्तो समिदीहिं जगम्मि विहरमाणो हु ।
हिंसादीहिं ण लिप्पइ जीवणिकायाउले साहू ॥११९४॥

'एदाहिं समिदीहिं' एताभिः । **'सदा जुत्तो'** सदा युक्तः । **'जगम्मि विहरमाणो हु'** जगति विचरन्नपि । कीदृशे ? **'जीवणिकायाउले'** षड्जीवनिकायाकीर्णे । **'हिंसादीहिं'** हिंसादिभिः । **'ण लिप्पदि'** न लिप्यते साधुः । आदिग्रहणेन परितापनं, संघट्टनं, अङ्गन्यूनताकरणादिपरिग्रहः । समितिषु प्रवर्तमानः प्रमादरहितः । **'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसेत्युच्यते'** । हिंसादिसहितानि कर्माणि हिंसादिशब्देनोच्यन्ते । कार्ये कारणशब्दप्रवृत्तिः [1]प्रतीततरत्वात् ॥११९४॥

यद्यपि विवर्जननिमित्तगुणान्वितः तत्र प्रवर्तमानमपि तेन न लिप्यते यथा स्नेहगुणान्वितं तामरसपत्र

सहसा नामक प्रथम दोष है । बिना देखे प्रमार्जन करके पुस्तक आदिको ग्रहण करना या रखना अनाभोगित नामक दूसरा दोष है । देखकर भी सम्यक् प्रतिलेखना न करके पुस्तक आदिको ग्रहण करना या रखना दुष्प्रमृष्ट नामक तीसरा दोष है । देखा भी और प्रमार्जन भी किया किन्तु यह शुद्ध है या अशुद्ध, यह नहीं देखा यह चतुर्थ अप्रत्यवेक्षण नामक दोष है । इन चारों दोषोंको जो दूर करता है उसके आदान निक्षेपण समिति होती है ॥११९२॥

प्रतिष्ठापन समिति कहते हैं—

गा०—आदान और निक्षेप विषयक सावधानताका कथन करनेसे प्रतिष्ठापन समितिका कथन हो जाता है । त्यागने योग्य मूत्र विष्ठा आदिको जन्तुरहित और छिद्ररहित समभूमिमें त्यागना प्रतिष्ठापन समिति है ॥११९३॥

गा०—टी०—इन पाँच समितियोंका सदा पालन करनेवाला मुनि छह प्रकारके जीवनिकायोंसे भरे हुए लोकमें गमनागमन आदि करता हुआ भी हिंसा आदिसे लिप्त नहीं होता । 'आदि' शब्दसे छहकायके जीवोंको कष्ट देना, उनका परस्परमें संघट्टन करना, उनके अंग उपांगोंको छिन्न-भिन्न करना आदि पापोंसे लिप्त नहीं होता । समितियोंमें प्रवृत्ति करते हुए मुनि प्रमादसे रहित होता है । और प्रमत्तयोगसे प्राणोंके घातको हिंसा कहा है । हिंसा आदिसे सहित कर्म हिंसा आदि शब्दसे कहे जाते हैं । क्योंकि कार्यमें कारणशब्दकी प्रवृत्ति अति प्रसिद्ध है । आदान निक्षेपमें निमित्त गुणोंसे युक्त मुनि प्रवृत्ति करते हुए भी हिंसा आदि पापसे लिप्त नहीं होता ॥११९४॥

जैसे चिक्कणगुणसे युक्त कमल नीलमणिके समान निर्मल जलमें सदा रहते हुए भी

---

१. प्रतीतिमागच्छत् । यदपि–आ० ।

कायनीरुनीरा ।रन्तरवर्त्यपि नाम्बुना लिप्यते । निरन्तरनिचितजीवनिकायाकुलेऽपि जगति सञ्चरन्नपि मुनिर्न लिप्यते[1] अप्रमत्ततया प्रवृत्त पञ्चसु समितिष्विति कथयति—

पउमणिपत्तं व जहा उदयेण ण लिप्पदि सिणेहगुणजुत्तं ।

तह समिदीहिं ण लिप्पइ साधू काएसु इरियंतो ॥११९५॥

'पउमणिपत्तं' इत्यनया गाथया—पद्मपत्रं यथा नोदकेन विलिप्यते स्नेहगुणसमन्वित । तथा कायेषु शरीरेषु प्राणभृतां प्रवर्तमानोऽपि न लिप्यते साधु समितिभिर्हेतुभूताभि. ॥११९५ ॥

सरवासे वि पडंते जह दढकवचो ण विज्झदि सरेहिं ।

तह समिदीहिं ण लिप्पइ साधू काएसु इरियंतो ॥११९६॥

'सरवासे वि पडते' शरवर्षेऽपि पतति सति च रणाङ्गणे यथा दृढकवचो न शरैर्भिद्यते, यथा समिति-भिर्हेतुभूताभिन लिप्यते कायेषु वर्तमानो मुनिः ॥११९६॥

अत्थेव चरइ बालो परिहारण्हू वि चरइ तत्थेव ।

बज्झदि पुण सो बालो परिहारण्हू वि मुच्चइ सो ॥११९७॥

'अत्थेव चरइ बालो' यत्रैव क्षेत्र चरति जीवपरिहारक्रमानभिज्ञ । 'परिहारण्हू वि' जीवबाधापरिहार-क्रमज्ञोऽपि तत्रैव चरति । तथापि 'बज्झदि सो पुण बालो' बध्यते पुनरसौ ज्ञानबालश्चारित्रबालश्चासौ । 'परि-हारण्हू' परिहारज्ञ । 'मुच्चइ' मुच्यत कर्मलेपात् ॥११९७॥

उक्तमर्थमुपसहरत्युत्तरगाथया—

तम्हा चेट्ठिदुकामो जइया तइया भवाहि तं समिदो ।

समिदो हु अण्णमण्णं णादियदि खवेदि पोराणं ॥११९८॥

जलसे लिप्त नही होता । पाँचों समितियोंमे अप्रमादीरूपसे प्रवृत्ति करनेवाला मुनि भी निरन्तर जीव निकायोसे भरे हुए जगत्में गमनागमन करते हुए पापसे लिप्त नही होता । यह कहते हैं—

गा०—जैसे स्नेह गुणसे युक्त कमलपत्र जलसे लिप्त नही होता । उसी प्रकार प्राणियोके शरीरोके मध्यमेसे गमनागमन करते हुए भी साधु समितिका पालन करनेमे पापसे लिप्त नही होता ॥११९५॥

गा०—जैसे दृढ कवचसे युक्त योद्धा युद्धभूमिमे बाणोकी वर्षा होते हुए भी बाणोसे नही छिदता । उसी प्रकार षट्कायके जीवोके मध्यमे विचरण करता हुआ भी समितियोंके कारण हिंसा आदिसे लिप्त नही होता ॥११९६॥

गा०—जीवोंकी हिंसासे बचनेके उपायोंको न जाननेवाला जिस क्षेत्रमें विचरण करता है, जीवोंकी हिंसासे बचनेके उपायोंको जाननेवाला भी उसी क्षेत्रमें विचरण करता है । तथापि वह ज्ञान और चारित्रमे बालकके समान अज्ञ तो पापसे बद्ध होता है किन्तु उपायोंको जाननेवाला पापसे लिप्त नही होता बल्कि उससे मुक्त होता है ॥११९७॥

आगे उक्त कथनका उपसहार करते हैं—

---

१ 'यते अथ प्रमत्ततया प्रमत्त प–आ० ज० ।

यस्मात्समितिषु प्रवर्तमानो न बध्यते, पापेन मुच्यते। असमितस्तु महता बध्यते कर्मसमूहेन 'तम्हा' तस्मात्। 'चेट्ठिदुकामो' गमनभाषणाद्यभिलाषी। 'जइया तइया' यदा तदा। 'तं' भवान् 'समिदो भवाहि' समितिपरो भवेति निर्यापकसूरिराह क्षपक। 'समिदो दु' समितः सम्यक्प्रवृत्तः ईर्यादिषु। 'अण्णमण्णं कम्मं' अन्यत् अन्यत्। प्रत्यग्रं। 'णादियदि' नैवादत्ते। 'खवेदि पोराणं' प्राक्तनं च कर्म क्षपयति निर्जरति ॥११९८॥

एदाओ अट्ठपवयणमादाओ णाणदंसणचरित्तं।
रक्खंति सदा मुणिणो मादा पुत्तं व पयदाओ ॥११९९॥

'एदाओ अट्ठपवयणमादाओ' एता अष्टप्रवचनमातृकाः 'पयदाओ' प्रयता। 'णाणदंसणचरित्तं रक्खंति' समीचीनज्ञानदर्शनचारित्राणि पालयन्ति सदा मुनेः। 'मादा पुत्तं व जधा' जननी पुत्रं यथा। प्रयता माता पुत्रं पालयत्यपायस्थानेभ्यः ॥११९९॥

व्रतभावनानिरूपणायोत्तरप्रबन्धः। त्रयोदशविधं चारित्रं अखण्डमाराधयतश्चारित्राराधना। तत्र व्रतानां स्थैर्यं सम्पादयितुं भावना एकैकस्य पञ्च पञ्चाभिहितास्तत्रेमा अहिंसाव्रतभावना इति बोधयति।
एषणासमितिर्निरूप्यते—

एसणणिक्खेवादाणिरियासमिदी तहा मणोगुत्ती।
आलोयभोयणं वि य अहिंसाए भावणा होंति ॥१२००॥

'एसणणिक्खेवादाणिरियासमिदी' एसणसमिदी एषणासमितिरादाननिक्षेपणासमितिः, ईर्यासमितिस्तथा मनोगुप्तिः। 'आलोयभोयणं च' आलोकभोजनं च। 'अहिंसाए' अहिंसाव्रतस्य। 'भावणा' भावनाः। 'होंति' भवन्ति।

भिक्षाकाल, बुभुक्षाकालोऽवग्रहकालश्चेति कालत्रयं ज्ञातव्यं। ग्रामनगरादिषु इयता कालेन आहार-

---

गा०-टी०—यतः समितियोंका पालक पापसे लिप्त नहीं होता किन्तु उससे छूटता है और समितिका पालन न करनेवाला महान् कर्मसमूहसे बँधता है अतः जब तुम गमन करना या बोलना चाहो तो समितिमें तत्पर रहो। ऐसा निर्यापकाचार्य क्षपकसे कहते हैं। क्योंकि ईर्या आदिमें सम्यक् प्रवृत्ति करनेवाला नवीन-नवीन कर्मोंका बन्ध नहीं करता और पूर्वमें बाँधे कर्मोंकी निर्जरा करता है ॥११९८॥

गा०—जैसे सावधान माता पुत्रकी अनिष्टोंसे रक्षा करके उसका पालन करती है। वैसे ही सम्यक्‌रूपसे पालित ये आठ प्रवचन मातायें मुनिके सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की रक्षा करती हैं ॥११९९॥

आगे व्रतोंकी भावनाओंका कथन करते हैं। जो तेरह प्रकारके चारित्रकी निर्दोष आराधना करता है उसके चारित्राराधना होती है। उनमेंसे व्रतोंको स्थिर करनेके लिए एक-एक व्रतकी पाँच-पाँच भावना कही हैं। उनमेंसे अहिंसाव्रतकी भावना कहते हैं—

गा०-टी—एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति, ईर्यासमिति, मनोगुप्ति और आलोक भोजन ये पाँच अहिंसाव्रतकी भावना हैं। उनमेसे एषणा समिति कहते हैं—भिक्षाकाल, बुभुक्षा-काल और अवग्रहकाल ये तीन काल जानना चाहिए। अमुक मासोंमें ग्राम नगर आदिमे अमुक

भिक्षापरिश्रमंवति, अमीषु मासेषु, अस्य वा कुलस्य वायं भोजनकाल इच्छायाः प्रमाणादिना भिक्षाकालोऽव-गन्तव्यः। क्षुधा मम तीव्रा मन्दा वेति स्वशरीरव्यवस्था च परीक्षणीया। अयमवग्रहः पूर्वं गृहीतः एवंभूत आहारो मया न भोक्तव्यः इति। अद्यायमवग्रहो ममेति मीमांसा कार्या। तदनन्तरं पुरतो युगान्तरमात्रभूभागाव-लोकनरतः अद्रुतं, अविलम्बितं, असंभ्रान्तं व्रजेत् प्रलम्बबाहुरविकृष्टचरणन्यासो निर्विकार ईषदवनतोत्तमाङ्गः अकर्दमेनानुदकेन अत्रसहरितबहुलेन वर्त्मना। दृष्ट्वा तु खरान्, करभान्, बलीवर्दान्, गजान्स्तुरगान्महिषान्सा-रमेयान्कलहकारिणो वा मनुष्यान्दूरतः परिहरेत्। पक्षिणो मृगाश्चाहारकालोद्यता वा यथा न बिभ्यति, यथा वा स्वमाहारं मुक्त्वा न व्रजन्ति तथा यायात्। मृदुना प्रतिलेखनेन कृतप्रमार्जनो गच्छेद्यदि निरन्तरासुस-माहितफलादिकं यायतो भवेत् मार्गान्तरमस्ति भिन्नवर्णां वा भूमिं प्रविशन्स्तद्वर्णभूभाग एव अङ्गप्रमार्जनं कुर्यात्। तुषगोमयभस्मबुसपलालनिचयं, बलोपलफलादिकं च परिहरेत्। निन्द्यमानो न क्रुध्येत्, पूज्यमानो-ऽपि न तुष्येत्। न गीतनृत्यबहुलं, उच्छ्रितपताकं वा गृहं प्रविशेत्। तथा मत्तानां गृहं न प्रविशेत्। सुरापण्या-ङ्गनालोकगर्हितकुलं वा, यज्ञशालां, दानशाला, विवाहगृह, वार्यमाणानि, रक्ष्यमाणानि; अमुक्तानि च गृहाणि परिहरेत्। दरिद्रकुलानि उत्क्रमाढ्यकुलानि न प्रविशेत्। ज्येष्ठाल्पमध्यानि सममेवाटेत्। द्वारमर्गलं कवाटं वा नोद्घाटयेत्। बालवत्सं एलकं, शुनो वा नोल्लङ्घयेत्। पुष्पैः फलैर्बीजैर्वावकीर्णां भूमिं वर्जयेत् तदानीमेव अव-लिप्तां। भिक्षाचरेषु परेषु लाभार्थिषु स्थितेषु तद्गेहं न प्रविशेत्। तथा कुटुम्बिषु व्यग्रविषण्णदीनमुखेषु च

समय भोजन बनता है, अथवा अमुक कुलका या अमुक मुहालका अमुक समय भोजनका है। इस प्रकार इच्छाके प्रमाण आदिसे भिक्षाका काल जानना चाहिए। तथा मेरी भूख आज मन्द है या तीव्र है इस प्रकार अपने शरीरकी स्थितिको परीक्षा करनी चाहिये। मैंने पहले यह नियम लिया था कि इस प्रकारका आहार मै नही लूँगा और आज मेरा यह नियम है इस प्रकार विचार करना चाहिए। उसके पश्चात् आगे केवल चार हाथ प्रमाण जमीन देखते हुए न अधिक शीघ्रता-से, न रुक-रुककर किसी प्रकारके वेगके बिना गमन करना चाहिए। गमन करते समय हाथ लटकते हुए हों, चरण निक्षेप अधिक अन्तरालसे न हो, शरीर विकाररहित हो, सिर थोड़ा झुका हुआ हो, मार्गमे कीचड़ और जल न हो तथा त्रसजीवों और हरितकायकी बहुलता न हो। यदि मार्गमें गधे, ऊँट, बैल, हाथी, घोड़े, भैंसे, कुत्ते अथवा कलह करनेवाले मनुष्य हों तो उस मार्गसे दूर हो जाये। पक्षी और खाते पीते हुए मृग भयभीत न हों और अपना आहार छोड़कर न भागें, इस प्रकारसे गमन करे। आवश्यक होनेपर पीछीसे अपने शरीरको प्रतिलेखना करे। यदि मार्गमे आगे निरन्तर इधर उधर फलादि पड़े हों, या मार्ग बदलता हो या भिन्न वर्णवाली भूमिमें प्रवेश करना हो तो उस वर्णवाले भूमिभागमें ही पीछीसे अपने शरीरको साफ कर लेना चाहिये। तुष, गोबर, राख, भुस, और घासके ढेरसे तथा पत्ते, फल, पत्थर आदिसे बचते हुए चलना चाहिये, इनपर पैर नहीं पड़ना चाहिये। कोई निन्दा करे तो क्रोध न करे और पूजा करे तो प्रसन्न न हो। जिस घरमें गाना नाचना होता हो, झण्डियाँ लगी हों उस घरमें न जावे। तथा मतवालोंके घरमें न जावे। शराबी, वेश्या, लोकमें निन्दित कुल, यज्ञशाला, दानशाला, विवाहवाला घर तथा जिन घरोंमें जानेकी मनाई हो, आगे रक्षक खड़ा हो, सब कोई न जा सकता हो ऐसे घरोंमें नहीं जावे। दरिद्रकुलोंमें और आचारहीन सम्पन्नकुलोंमें भी प्रवेश न करे। बड़े छोटे और मध्यम गृहोंमें एक साथ ही भ्रमण करे। द्वारपर यदि सांकल लगी हो या कपाट बन्द हों तो उन्हे खोलें नहीं। बालक, बछड़ा, भेड़ा और कुत्तेको लाँघकर न जावे। जिस भूमिमें पुष्प, फल और बीज फैले हों उसपरसे न जावे। तत्कालकी लिपी भूमिपर न जावे। जिस घरपर अन्य भिक्षार्थी

सत्सु नो तिष्ठेत् । भिक्षाचर भिक्षामार्गणभूमिमतिक्रम्य न गच्छेत् । याञ्चामव्यक्तस्वनं वा स्वागमननिवेदनार्थं न कुर्यात् । विद्युदिव स्वां तनुं[1] न दर्शयेत्, कोऽस्मै भिक्षां दास्यतीति अभिसंधिं न कुर्यात् । रहस्यगृहं, वनगृहं, कदलीलतागुल्मगृहं, नाट्यगान्धर्वशालाश्च अभिनन्द्यमानोऽपि न प्रविशेत् । बहुजनप्रचारे प्राणिरहिते अशुच्यपरोपरोधवर्जिते, अनिर्गमनप्रवेशमार्गे गृहिभिरनुज्ञातस्तिष्ठेत् । समे विच्छिद्रे, भूभागे चतुरङ्गुलपादान्तरो निश्चलः कुड्यस्तम्भादिकमनवलम्ब्य तिष्ठेत् । छिद्रद्वारकवाट, प्राकारं वा न पश्येत् चोर इव । दातुरागमनमार्गं अवस्थानदेशं, कडुच्छकभाजनादिकं च शोधयेत् । स्तनं प्रयच्छन्त्या, गर्भिण्या वा दीयमानं न गृह्णीयात् । रोगिणा, अतिवृद्धेन, बालेनोन्मत्तेन, पिशाचेन, मुग्धेनान्धेन, मूकेन, दुर्बलेन, भीतेन, शङ्कितेन, अत्यासन्नेन[2], दूरेण, लज्जाव्यावृत्तमुख्या, आवृतमुख्या, उपानदुपरिन्यस्तपादेन वा उन्नतदेशावस्थितेन वा दीयमानं न गृह्णीयात् । न खण्डेन भिन्नेन वा कडकच्छुकेन दीयमानं कपालोच्छिष्टभाजने पद्मकदलीपत्रादिभाजने निक्षिप्य दीयमानं वा मांसं, मधु, नवनीतं, फलं [3]अदारितं, मूलं, पत्रं, साङ्कुरं, कन्दं च वर्जयेत् । तत्संस्पृष्टानि सिद्धान्यपि विपन्नरूपरसगन्धानि, कुथितानि, पुष्पितानि, पुराणानि, जन्तुसंस्पृष्टानि च[4] न दद्यान्न खादेत्, न स्पृशेच्च । उद्गमोत्पादनैषणादोषदुष्टं नाभ्यवहरेत् । नवकोटिपरिशुद्धाहारग्रहणमेषणासमितिः ।

भिक्षाके लिए खड़े हों उस घरमें प्रवेश न करे। जिस घरके कुटुम्बी घबराये हो, उनके मुखपर विषाद और दीनता हो वहाँ न ठहरे। भिक्षार्थियोंके लिए भिक्षा माँगनेकी जो भूमि हो, उस भूमिसे आगे न जावे। अपना आगमन बतलानेके लिए याचना या अव्यक्त शब्द न करे। बिजलीकी तरह अपना शरीरमात्र दिखला दे। कौन मुझे निर्दोष भिक्षा देगा ऐसा भाव न करे। एकान्त घरमें, उद्यान घरमें, केले लता और झाड़ियोसे बने घरमे, नाटयशाला और गायनशालामें आदरपूर्वक आतिथ्य पानेपर भी प्रवेश न करे। जहाँ बहुतसे मनुष्योंका आना जाना हो, जीव जन्तुसे रहित, अपवित्रता रहित, दूसरेके द्वारा रोक-टोकसे रहित तथा जाने आनेके मार्गसे रहित स्थानमें गृहस्थोंकी प्रार्थनासे ठहरे। सम और छिद्ररहित जमीनपर दोनों पैरोके मध्यमें चार अंगुलका अन्तर रखकर निश्चल खड़ा हो और दीवार स्तम्भ आदिका सहारा न ले। चोरकी तरह द्वारमें लगे कपाटोंके छिद्र अथवा चार दीवारीके छिद्रमेंसे न देखे। दाताके आनेके मार्ग, उसके खड़े होनेके स्थान और करछुल आदि भाजनोकी शुद्धताकी ओर ध्यान रखे। जो स्त्री बालकको दूध पिलाती हो या गर्भिणी हो, उसके द्वारा दिये गये आहारको ग्रहण न करे। रोगी, अतिवृद्ध, बालक, पागल, पिशाच, मूढ़, अन्धा, गूँगा, दुर्बल, डरपोक, शंकालु, अति निकटवर्ती, दूरवर्ती मनुष्यके द्वारा, जिसने लज्जासे अपना मुख फेर लिया या मुखपर घूँघट डाला है ऐसी स्त्रीके द्वारा, जिसका पैर जूतेपर रखा है या जो ऊँचे स्थानपर खड़ा है ऐसे व्यक्तियोंके द्वारा दिये गये आहारको ग्रहण नहीं करे। टूटे हुए या फूटे हुए करछुल आदिसे दिया हुआ आहार ग्रहण न करे। तथा कपालमें, जूठे पात्रमें, कमल केले आदिके पत्ते आदिमें रखकर दिया हुआ आहार ग्रहण न करे। मांस, मधु, मक्खन, बिना कटा फल, मूल, पत्र, अंकुरित तथा कन्द ग्रहण न करे। इनसे जो भोजन छू गया हो उसे भी ग्रहण न करे। जिस भोजनका रूप रस गन्ध बिगड़ गया हो, दुर्गन्ध आती हो, फफून्द आ गई हो, पुराना हो गया हो और जीव-जन्तु जिसमें पड़े हों उसे न तो किसीको देना चाहिये, न स्वयं खाना चाहिये और उसे छूनातक

---

१. तनु न च–अ० आ० । २. न्नेन अदूरे–अ० आ० मु० । ३. फलाई हरितं–अ० ।
४. चराद–आ० । च दीयाच–अ० ।

यत्रिक्षिप्यते यत्र यदादीयते यतस्तदुभयं प्रतिलेखनायोग्यं न वेति विलोक्य पश्चात्कृतमार्जनं पुनरवलोक्य निक्षिपेद् गृह्णीयाद्वा । एषा आदाननिक्षेपणसमितिः । ईर्यासमितिर्निरूपितैव तथा मनोगुप्तिश्च । स्फुटतरप्रकाशावलोकितस्य अन्नस्य भोजनमित्यहिंसाव्रतभावना पञ्च ॥१२००॥

द्वितीयव्रतभावना उच्यन्ते—

कोघभयलोभहस्सपदिण्णा अणुवीचिभासणं चेव ।
विदियस्स भावणाओ वदस्स पंचेव ता होंति ॥१२०१॥

क्रोधभयलोभहास्यानां प्रत्याख्यानानि चतस्र । 'अनुवीचिभासणं चेव' सूत्रानुसारेण च भाषणं । सत्या, मृषा, सत्यमृषा, असत्यमृषा चेति चतस्रो वाच. । तत्र सत्या असत्यमृषा वा व्यवहरणीया नेतरद्द्वयं । क्रोधादीनामसत्यवचनकारणाना प्रत्याख्याने असत्यावाक्परिहृता भवति नान्यथा ॥१२०१॥

तृतीयव्रतभावना उच्यन्ते—

अणणुण्णादग्गहणं असंगबुद्धी अणुण्णवित्ता वि ।
एदावंतियउग्गहजायणमध उग्गहाणुस्स ॥१२०२॥

'अणणुण्णादग्गहणं' तस्य स्वामिभिरननुज्ञातस्य अग्रहणं ज्ञानोपकरणादे । 'असंगबुद्धी अणुण्ण वित्ता वि' परानुज्ञा सम्पाद्य गृहीतेऽपि असक्तबुद्धिता । 'एदावंतिय 'उग्गहजायणं' एतत्परिमाणमिदं भवता दातव्यमिति प्रयोजनमात्रपरिग्रह यावद्याचितो यावद्गृह्णामि इति न बुद्धि. कार्या । 'उग्गहाणुस्स' ग्राह्यवस्तुज्ञस्य इव

नहीं चाहिये। जो भोजन उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषसे दुष्ट है उसे नही खाना चाहिये। इस तरह नौ कोटियोंसे शुद्ध आहार ग्रहण करना एषणा समिति है। जो वस्तु जिस स्थानपर रखी जाय और जो वस्तु जिस स्थानसे उठाई जाये वे दोनों प्रतिलेखनाके योग्य हैं या नही, यह देखनेके पश्चात् पीछीसे उनको झाडकर पुन देखे और तब रखे या ग्रहण करे। यह आदान निक्षेपण समिति है। ईर्यासमिति पहले कही है और मनोगुप्ति भी कही है। अति स्पष्ट प्रकाशमें देखे गये अन्नका भोजन आलोकभोजन है। ये पाँच अहिंसाव्रतकी भावना हैं ॥१२००॥

दूसरे सत्यव्रतकी भावना कहते हैं—

गा०—क्रोधका त्याग, भयका त्याग, लोभका त्याग, हास्यका त्याग और सूत्रके अनुसार बोलना ये पाँच सत्यव्रतकी भावना हैं। वचनके चार भेद हैं—सत्य, असत्य, सत्य असत्य तथा न सत्य न असत्य। इनमेंसे सत्य और अनुभय वचन बोलने योग्य हैं। शेष दो नहीं बोलने चाहिये। क्रोध आदि झूठ बोलनेमें कारण होते हैं। उनको त्याग देने पर असत्य वचनका त्याग हो जाता है अन्यथा नहीं होता ॥१२०१॥

तीसरे व्रतकी भावना कहते हैं—

गा०-टी०—ज्ञानोपकरण आदिके स्वामीकी स्वीकृतिके बिना ज्ञानोपकरण आदिको स्वीकार न करना, स्वामीकी स्वीकृति मिलने पर स्वीकार की गई वस्तुमें भी आसक्ति न होना, 'आपको इतना देना चाहिये' इस प्रकार जितनेसे प्रयोजन हो उतना ही ग्रहण करना, जितना माँगा है उतना ही ग्रहण करूँगा ऐसी बुद्धि नहीं रखनी चाहिये। जो ग्रहण करने योग्य वस्तुको

ज्ञानसंयमयोरन्यतरस्य साधनमन्तरेण ज्ञानं चारित्रं वा मम न सिध्यतीति तस्य ग्रहणं नानुपयोगिनो [1]'याच-तव्य वै ॥१२०२॥

वज्जणमणणुण्णादगिहप्पवेसस्स गोयरादीसु ।
उग्गहजायणमणुवीचिए तहा भावणा तइए ॥१२०३॥

'वज्जणमणणुण्णादगिहप्पवेसस्स' गृहस्वामिभिरननुज्ञातगृहप्रवेशवर्जनं भावना । 'गोयरादीसु' गोचरादिषु इदं वेश्म प्रविश, अत्र वा तिष्ठेति योऽननुज्ञातो देशस्तस्य अप्रवेशनं । 'उग्गहजायणमणुवीचिए' अवग्रहयाचना सूत्रानुसारेण तृतीये भावनाः ॥१२०३॥

महिलालोयणपुव्वरदिसरणसंसत्तवसहिविकहाहिं ।
पणिदरसेहिं य विरदी भावणा पंच बंभस्स ॥१२०४॥

'महिलालोयणपुव्वरदिसरणसंसत्तवसहिविकहाहिं' स्त्रीणामालोकनं, पूर्वरतस्मरणं, स्त्रीभिराकुला या वसतिः शृङ्गारकथा इत्येतद्विरतयः । 'पणिदरसेहिं य विरदी' बलदर्पकरेभ्यो विरतिश्चेति पञ्च व्रतभावनाः ॥१२०४॥

अपडिग्गहस्स मुणिणो सद्दप्फरिसरसरूवगंधेसु ।
रागद्दोसादीणं परिहारो भावणा हुंति ॥१२०५॥

'अपरिग्गहस्स' परिग्रहरहितस्य । 'मुणिणो' मुनेः । 'सद्दप्फरिसरसरूवगंधेसु' शब्दस्पर्शरसरूपगन्धेषु । मनोज्ञामनोज्ञेषु । 'रागद्दोसादीणं' रागद्वेषयोः परिहारो विषयभेदात्पञ्चप्रकारभावनाः पञ्चमस्य ॥१०२५॥

जानता है कि यह वस्तु ज्ञान और संयममेंसे एककी साधन है इसके बिना मुझे ज्ञान अथवा चारित्रकी सिद्धि नहीं होगी और उसीको ग्रहण करता है, अनुपयोगी वस्तुको ग्रहण नहीं करता। उसीके ये भावना होती है ॥१२०२॥

गा०—गोचरी आदिमें गृहस्वामीके द्वारा अनुज्ञा नहीं दिये घरमें प्रवेश न करना अर्थात् इस घरमें प्रवेश करें, अथवा यहाँ ठहरें इस प्रकारसे जहाँ गृहस्वामीकी अनुज्ञा प्राप्त न हो उस देशमें प्रवेश न करे और शास्त्रके अनुसार ग्रहण करने योग्य वस्तुकी याचना करना, ये पाँच अदत्तादानविरमणव्रत की भावना हैं ॥१२०३॥

गा०—स्त्रियोंकी ओर देखना, पूर्वमें भोगे हुए भोगोंका स्मरण, स्त्रियोंसे युक्त वसतिका, शृङ्गारकथा और इन्द्रियोंमें मद और बल पैदा करनेवाले रस, इन सबसे विरत होना ब्रह्मचर्य-व्रत की पाँच भावनाएँ हैं ॥१२०४॥

गा०—परिग्रह रहित मुनिका मनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्धमें राग और द्वेषका त्याग अर्थात् मनोज्ञसे राग और अमनोज्ञसे द्वेष न करना विषयोंके भेदसे पाँच प्रकारकी भावना पाँचवें अपरिग्रह व्रत की है ॥१२०५॥

---

1. यो याच्यत लभ्यते—अ० । यो योग्य लभ्यते—आ० । ग्रहणं, इत्यस्य अग्रे पाठो नास्ति आ० ।

भाव माहात्म्यं कथयति—

ण करेदि भावणाभाविदो खु पीडं वदाण सव्वेसिं।
साधू पासुत्तो समुद्दो व किमिदाणि वेदंतो ॥१२०६॥

'**ण करेदि खु**' न करोत्येव। कः ? '**भावणाभाविदो**' भावनाभिर्भावितः। '**पीडं**' पीडां। '**वदाण**' व्रतानां। '**सव्वेसिं**' सर्वेषां। '**साधू**' साधुः। '**पासुत्तो**' प्रकर्षेण निद्रामुपगतः। '**समुद्दो व**' समुद्घातं मनो वा। '**किमिदाणि**' किमिदानीं। '**वेदंतो**' चेतयमान ॥१२०६॥

एदाहिं भावणाहिं हु तम्हा भावेहिं अप्पमत्तो तं।
अच्छिद्दाणि अखंडाणि ते भविस्संति हु वदाणि ॥१२०७॥

'**एदाहिं**' एताभिः। '**भावणाहिं**' भावनाभिः। '**तम्हा**' तस्मात्। '**भावेहिं**' भावय। '**अप्पमत्तो तं**' अप्रमत्तस्त्वं। '**अच्छिद्दाणि**' अच्छिद्राणि। नैरन्तर्येण प्रवृत्तानि। '**अखंडाणि**' सम्पूर्णानि तव भविष्यन्ति व्रतानि ॥१२०७॥

व्रतपरिणामोपघातनिमित्तानि शल्यानि ततस्तद्वर्जनं कार्यमित्याचष्टे—

णिस्सल्लस्सेव पुणो महव्वदाइं हवंति सव्वाइं।
वदमुवहम्मदि तीहिं दु णिदाणमिच्छत्तमायाहिं ॥१२०८॥

'**णिस्सल्लस्सेव**' शल्यरहितस्यैव। शृणाति हिनस्तीति शल्यं शरकण्टकादि शरीरादिप्रवेशि तेन तुल्यं यत्प्राणिनो बाधानिमित्तं, अन्तर्निविष्टं परिणामजातं तच्छल्यमिह गृहीतं। '**महव्वदाइं**' महाव्रतानि भवन्ति। शल्यं कस्यचिदेव व्रतस्योपघातकं, यथा एषणासमित्यभावो अहिंसाव्रतस्येत्याशङ्कां निरस्यति सर्वशब्दो। ननु च महत्त्वेन व्रतमवशेष्यं। मिथ्यात्वादिशल्यं अणुव्रतान्यपि हन्त्येव। सत्यं प्रस्तुतत्वान्महाव्रतानामित्यमुक्तं।

भावनाका माहात्म्य कहते हैं—

गा०—भावनाओंसे भावित साधु गहरी नींदमें सोता हुआ भी अथवा मूर्छित हुआ भी सब व्रतोंमें दोष नहीं लगाता। तब जागते हुए की तो बात ही क्या है ॥१२०६॥

गा०—इसलिये हे क्षपक ! तुम प्रमाद त्यागकर इन भावनाओंसे अपनेको भावित करो। इससे तुम्हारे व्रत निरन्तर बने रहेंगे और सम्पूर्ण होंगे ॥१२०७॥

शल्य व्रतरूप परिणामोंके घातमें निमित्त होते हैं। अतः उनको त्यागना चाहिये, यह कहते हैं—

गा०-टी०—शल्यरहितके ही सब महाव्रत होते हैं। 'शृणाति' अर्थात् जो कष्ट देता है वह शल्य है। जैसे शरीर आदिमें घुसनेवाला बाण, काँटा आदि। उनके समान जो अन्तरंगमें घुसा परिणाम प्राणीको कष्ट पहुँचानेमें निमित्त है उसे यहाँ शल्य शब्दसे कहा है। जैसे एषणासमिति-का अभाव अहिंसा व्रतका घातक है वैसे ही शल्य किसी एक व्रतका घातक है क्या ? इस आशंका को दूर करनेके लिये सर्व शब्दका प्रयोग किया है।

शंका—मिथ्यात्व आदि शल्य अणुव्रतोंका भी घात करते हैं। यहाँ उन्हें महाव्रतोंका घातक क्यों कहा ?

अत्र चोद्यं—हिंसादिभ्यो विरतिपरिणाममात्राणि व्रतानि। शल्ये मिथ्यात्वादिके सति किं न भवन्ति। येनैव-मुच्यते निःशल्यस्यैव महाव्रतानि भवन्ति इति? एतत्प्रतिविधानायाह—'वदमुवहम्मदि' व्रतमुपहन्यते। 'तीहिं दु' तिसृभिः। 'णिदाणमिच्छत्तमायाहिं' निदानमिथ्यात्वमायाभिः। अल्पाच्तरत्वान्मायाशब्दस्य पूर्वनिपात इति चेन्न—मिथ्यात्वं व्रतविघातं प्रकर्षेण करोतीति प्रधान ततो मिथ्यात्वं माया चेति द्विपदे द्वन्द्वे मिथ्यात्वशब्दस्य पूर्वनिपातः पश्चान्निदानशब्देन द्वन्द्वः तस्याल्पाच्तरत्वात्पूर्वनिपातः। सम्यक्चारित्रमिह मोक्षमार्गत्वेन प्रस्तुतं, तच्च नासतोः सम्यग्दर्शनज्ञानयोर्भवति। सति मिथ्यात्वे विरोधिनि न ते स्तः समीचीनज्ञानदर्शने[1]। रत्नत्रय-त्वान्मुक्तेः अनन्तज्ञानादिकाच्चान्यत्र चित्तप्रणिधानं इममेतत्फलं स्यादिति निदानं। तच्च सम्यग्दर्शना[2]दि-परम्परया व्रतोपघातकारि। मनसा स्वातिचारनिगूहनलक्षणा माया च व्रतमुपहन्तीति मन्यते ॥१२०८॥

तत्थं णिदाणं तिविहं होइ पसत्थापसत्थभोगकदं।
तिविधं पि तं णिदाणं परिपंथो सिद्धिमग्गस्स ॥१२०९॥

'तत्थ' तेषु शल्येषु। 'णिदाणं' निदानाख्यं शल्यं। 'तिविधं' त्रिविधं। 'होदि' भवति। 'पसत्थमप्प-सत्थभोगकदं' प्रशस्तनिदानमप्रशस्तनिदानं, भोगनिदानं चेति। 'तिविधं पि तण्णिदाणं' त्रिप्रकारमपि निदानं। 'परिपंथो' विघ्न। 'सिद्धिमग्गस्स' रत्नत्रयस्य ॥१२०९॥

समाधान—आपका कहना सत्य है किन्तु यहाँ महाव्रतका प्रकरण होनेसे महाव्रतोंका घातक कहा है।

शंका—व्रत तो हिंसा आदिसे विरतिरूप परिणाम मात्र है। वे मिथ्यात्व आदि शल्यके होने पर क्यों नहीं होते, जिससे यह कहा गया है कि निःशल्यके ही महाव्रत होते हैं?

समाधान—इस शङ्काका निराकरण करनेके लिये कहते हैं—निदान, मिथ्यात्व और माया इन तीनोंके द्वारा व्रतका घात होता है।

शंका—माया शब्द अल्प अच्वाला है अतः उसे पहले रखना चाहिये?

समाधान—नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व व्रतका घात प्रकर्ष रूपसे करता है अतः प्रधान है। तब 'मिथ्यात्व और माया' ऐसा द्वन्द्व समास करने पर मिथ्यात्व शब्दका पूर्व निपात होता है। फिर निदान शब्दके साथ द्वन्द्व करने पर निदान शब्दका पूर्व निपात होता है क्योंकि वह अल्प अच्वाला है। यहाँ मोक्षके मार्ग रूपसे सम्यक्चारित्रका कथन है। वह सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके अभावमें नहीं होता। क्योंकि विरोधी मिथ्यात्वके रहते हुए सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन नहीं होते। रत्नत्रयरूप अथवा अनन्त ज्ञानादिरूप मुक्तिसे अन्यत्र चित्तका उपयोग लगाना कि इसका यह फल मुझे मिले, निदान है। वह सम्यग्दर्शन आदिकी परम्परासे व्रतका घातक है। तथा मनसे अपने दोषोंको छिपाने रूप माया भी व्रतका घात करती है।

विशेषार्थ—निदानसे सम्यग्दर्शनमें अतिचार लगता है और व्रतका मूल सम्यग्दर्शन है। तथा निदानसे व्रतोंका घात होता है ॥१२०८॥

गा०—उन शल्योंमें निदान नामक शल्यके तीन भेद हैं—प्रशस्त निदान, अप्रशस्त निदान और भोग निदान। तीनों ही प्रकारका निदान मोक्षके मार्ग रत्नत्रयका विरोधी है ॥१२०९॥

---

१. ज्ञानचारित्ररत्न—आ० मु०। २. नानि प—आ०।

प्रशस्तनिदाननिरूपणार्थोत्तरगाथा—

संजमहेदुं पुरिसत्तसत्तबलविरियसंघदणबुद्धी ।
सावअबंधुकुलादीणि णिदाणं होदि हु पसत्थं ॥१२१०॥

'संजमहेदु' संयमनिमित्तं । 'पुरिसत्तसत्तबलविरियसंघदणबुद्धी' पुरुषत्वमुत्साहः, बलं शरीरगतं दार्ढ्यं, वीर्यं वीर्यान्तरायक्षयोपशमजः परिणामः । अस्थिबन्धविषया वज्रऋषभनाराचसंहननादिः । एतानि पुरुषत्वादीनि संयमसाधनानि मम स्युरिति चित्तप्रणिधानं प्रशस्तनिदानं । 'सावयबंधुकुलादिणिदाणं' श्रावकबन्धुनिदानं । [1]अदरिद्रकुले, अबन्धुकुले वा उत्पत्ति प्रार्थना प्रशस्तनिदानं ॥१२१०॥

अप्रशस्तनिदानमाचष्टे—

माणेण जाइकुलरूवमादि आइरियगणधरजिणत्तं ।
सोभग्गाणादेयं पत्थंतो अप्पसत्थं तु ॥१२११॥

'माणेण' मानेन हेतुना । 'जातिकुलरूवमादि' जातिर्मातृवंशः, कुलं पितृवंशः, जातिकुलरूपमात्रस्य सुलभत्वात्प्रशस्तजात्यादिपरिग्रहः । इह 'आइरियगणधरजिणत्तं' आचार्यत्वं, गणधरत्वं, जिनत्वं । 'सोभग्गाणादेयं' सौभाग्यं, आज्ञा, आदेयत्वं च । 'पत्थंतो' प्रार्थयतः । 'अप्पसत्थं तु' अप्रशस्तमेव निदानं मानकषायदूषितत्वात् ॥१२११॥

प्रशस्त निदानका कथन करते हैं—

गा०—संयममें निमित्त होनेसे पुरुषत्व, उत्साह, शरीरगत दृढ़ता, वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे उत्पन्न वीर्यरूप परिणाम, अस्थियोंके बन्धन विशेष रूप वज्रऋषभनाराच संहनन आदि, ये संयम साधन मुझे प्राप्त हों, इस प्रकार चित्तमें विचार होना प्रशस्त निदान है। तथा मेरा जन्म श्रावक कुलमें हो, ऐसे कुलमें हो जो दरिद्र न हो, बन्धु बान्धव परिवार न हो, ऐसी प्रार्थना प्रशस्त निदान है ॥१२१०॥

विशेषार्थ—एक प्रतिमें दरिद्रकुल तथा एकमें बन्धुकुल पाठ भी मिलता है। दीक्षा लेनेके लिये दरिद्रकुल भी उपयोगी हो सकता है और सम्पन्न घर भी उपयोगी हो सकता है। इसी तरह बन्धु बान्धव परिवारवाला कुल भी उपयोगी हो सकता है और एकाकीपना भी। मनुष्यके मनमें विरक्ति उत्पन्न होने की बात है ॥१२१०॥

अप्रशस्त निदान कहते हैं—

गा०—मानकषायके वश जाति, कुल, रूप आदि तथा आचार्यपद, गणधरपद, जिनपद, सौभाग्य, आज्ञा और आदेय आदिकी प्राप्तिकी प्रार्थना करना अप्रशस्त निदान है ॥१२११॥

टी०—माताके वंशको जाति और पिताके वंशको कुल कहते हैं। जाति कुल और रूप मात्र तो सुलभ हैं क्योंकि मनुष्य पर्यायमें जन्म लेनेपर ये तीनों अवश्य मिलते हैं। इसलिये यहाँ जाति कुल और रूपसे प्रशंसनीय जाति आदि लेना चाहिये। मान कषायसे दूषित होनेसे यह अप्रशस्त निदान है ॥१२११॥

---

1. दरिद्रकुले—अ० ।

कुद्धो वि अप्पसत्थं मरणे पत्थेइ परवधादीयं ।
जह उग्गसेणघादे कदं णिदाणं वसिट्ठेण ॥१२१२॥

'कुद्धो वि' क्रुद्धोऽपि । 'अप्पसत्थं' परवधादिकं । 'मरणे' मरणकाले । 'पत्थेदि' प्रार्थयते । 'जधा' यथा 'उग्गसेणघादे' उग्रसेनमरणे । 'कदं णिदाणं' कृतं निदानं 'वसिट्ठेण' वसिष्ठेन यतिना ॥१२१२॥

भोगनिदाननिरूपणा—

देविगमाणुसभोगे णारिस्सरसेट्ठिसत्थवाहत्तं ।
केसवचक्कधरत्तं पत्थंते होदि भोगकदं ॥१२१३॥

'देविगमाणुसभोगे' देवेषु मनुजेषु च ये भोगास्तान् । 'पत्थेंतो' अभिलषति । 'भोगकदं' भोगकृतं निदानं । 'णारिस्सरसेट्ठिसत्थवाहत्तं' नारीत्वं, ईश्वरत्वं, श्रेष्ठित्वं, सार्थवाहत्वं च । 'केसवचक्कधरत्तं' वासुदेवत्वं सकलचक्रवर्तित्वं च वाञ्छति भोगार्थं । भोगनिदानं भवति ॥१२११॥

संजमसिहरारूढो घोरतवपरक्कमो तिगुत्तो वि ।
पगरिज्ज जइ णिदाणं सोवि य वड्ढेइ दीहसंसारं ॥१२१४॥

'संजमसिहरारूढो' संयमः शिखरमिव दुरारोहत्वादचलत्वाद्वा । एतदुक्तं भवति । प्रकृष्टसंयमोऽपि । 'घोरतवपरक्कमो' घोरे तपसि पराक्रम उत्साहो यस्य सोऽपि दुर्धरतपोऽनुष्ठाय्यपि । 'तिगुत्तो वि' गुप्तित्रयसमन्वितोऽपि । 'पगरिज्ज जइ णिदाणं' निदानं यदि कुर्यात् । "सो वि य' व्यावर्णितगुणोऽपि 'वड्ढेइ' वर्धयति संसारमात्मनः । किमपरैरेवंनिदानकारिभिरिति वाच्यम् ॥१२१४॥

जो अप्पसुक्खहेदुं कुणइ णिदाणमविगणियपरमसुहं ।
सो कायणीए विक्केइ मणिं बहुकोडिसयमोल्लं ॥॥१२१५॥

गा०—क्रोध कषायके वश होकर भी कोई मरते समय दूसरेका वध करनेकी प्रार्थना करता है । जैसे वशिष्ठ ऋषिने उग्रसेनका घात करनेका निदान किया था ॥१२१२॥

विशेषार्थ—वशिष्ठतापसने उग्रसेनको मारनेका निदान किया था । इस निदानके फलसे वह मरकर उग्रसेनका पुत्र कंस हुआ । और उसने पिताको जेलमें डालकर राज्यपद प्राप्त किया । पीछे कृष्णके द्वारा स्वयं भी मारा गया ॥१२१२॥

भोगनिदानका कथन करते हैं—

गा०—देवों और मनुष्योंमें होनेवाले भोगोंकी अभिलाषा करना तथा भोगोंके लिए नारीपना, ईश्वरपना, श्रेष्ठिपना, सार्थवाहपना, नारायण और सकल चक्रवर्तीपना प्राप्त होनेकी वांछा करना भोगनिदान है ॥१२१३॥

गा०-टी०—संयम पर्वतके शिखरके समान है क्योंकि जैसे पर्वतका शिखर अचल और दुःखसे चढ़ने योग्य है वैसा संयम भी है । उस संयमपर जो आरूढ है अर्थात् उत्कृष्ट संयमका धारी है, घोर तप करनेमें उत्साही है अर्थात् दुर्धर तप करता है और तीन गुप्तियोंका धारी है, वह भी यदि निदान करता है तो अपना संसार बढ़ाता है, फिर दूसरे निदान करनेवालेका तो कहना ही क्या है ॥१२१४॥

'जो अप्पसुक्खहेदु' योऽल्पसुखनिमित्तं निदानं करोति परमे मुक्तिसुखे अनादरं कृत्वा। स काकण्या विक्रीणीते मणिं बहुकोटिधनमूल्यम् ॥१२१५॥

सो भिंदइ लोहत्थं णावं भिंदइ मणिं च सुत्तत्थं ।
छारकदे गोसीरं डहदि णिदाणं खु जो कुणदि ॥१२१६॥

'सो भिंदइ' स भिनत्ति कीलकलोहार्थं नावं अनेकवस्तुभृतां। भिनत्ति रत्नं च सूत्रार्थं। गोशीर्षं चन्दनं दहति भस्मार्थं यो निदानं करोति स्वल्पार्थं। सारविनाशसामर्थ्याविशेषमाचष्टे—[1]सूपकारोपरि कथा यो निदानकारी, तेन नौप्रभृतिकं विनाशितं। अर्थाख्यानकानि वाच्यानि ॥१२१६॥

कोढी संतो लद्धूण डहइ उच्छु रसायणं एसो ।
सो सामण्णं णासेइ भोगहेदुं णिदाणेण ॥१२१७॥

'कोढी संतो' कुष्ठी सन् रसायनभूतमिक्षुं लब्ध्वा दहति यः समानतां नाशयति सर्वदुःखव्याधिविनाशनोद्यतां भोगार्थनिदानेन ॥१२१७॥

पुरिसत्तादिणिदाणं पि मोक्खकामा मुणी ण इच्छंति ।
जं पुरिसत्ताइमओ भवो भवमओ य संसारो ॥१२१८॥

'पुरिसत्तादिणिदाणंपि' पुरुषत्वादिनिदानमपि मोक्षाभिलाषिणो मुनयो न वाञ्छन्ति। यस्मात्पुरुषत्वादिरूपो भवपर्यायः। भवात्मकश्च संसारः भवपर्यायपरिवर्तस्वरूपत्वात् ॥१२१८॥

दुक्खक्खयकम्मक्खयसमाधिमरणं च बोधिलाभो य ।
एयं पत्थेयव्वं ण पत्थणीयं तओ अण्णं ॥१२१९॥

गा०—जो मुक्तिके उत्कृष्ट सुखका अनादर करके अल्पसुखके लिए निदान करता है वह करोड़ों रुपयोंके मूल्यवाली मणिको एक कौड़ीके बदले बेचता है ॥१२१५॥

गा०—जो निदान करता है वह लोहेकी कीलके लिए अनेक वस्तुओंसे भरी नाव को—जो समुद्रमें जा रही है तोड़ता है, भस्मके लिए गोशीर्षचन्दनको जलाता है और धागा प्राप्त करनेके लिए मणिनिर्मित हारको तोड़ता है। इस तरह जो निदान करता है वह थोड़ेसे लाभके लिए बहुत हानि करता है। एक सूपकारने अपनी मूर्खतासे अपनी नाव नष्ट कर डाली थी। इनकी कथाएँ (कथाकोशोंसे) जानना ॥१२१६॥

गा०—जैसे कोई कोढ़ी मनुष्य अपने रोगके लिए रसायनके समान ईखको पाकर उसे जलाकर नष्ट करता है वैसे ही भोगके लिए निदान करके मूर्ख मुनि सर्व दुःख और व्याधियोंका विनाश करनेमें तत्पर मुनि पदको नष्ट करता है ॥१२१७॥

गा०—मोक्षके अभिलाषी मुनिगण 'मैं मरकर पुरुष होऊँ' या मेरे वज्रवृषभनाराच संहनन आदि हो, इस प्रकारका भी निदान नहीं करते। क्योंकि पुरुष आदि पर्याय भवरूप है और भवपर्यायका परिवर्तन स्वरूप होनेसे संसार भवमय है। अर्थात् नाना भवधारण करने रूप ही तो संसार है ॥१२१८॥

१. सूपकारोप्परिवा—अ० आ० ।

'दुक्खक्खय' दुःखानां शारीराणां, आगन्तुकानां स्वाभाविकानां च क्षयो भवतु । तथा कर्मणां तत्कारणभूतानां रत्नत्रयसम्पादनपुरःसरं मरणं, दीक्षाभिमुखो बोधिलाभश्च एतत्प्रार्थनीयं नान्यत् ॥१२१९॥

पुरिसत्तादीणि पुणो संजमलाभो य होइ परलोए ।
आराधयस्स णियमा तदत्थमकदे णिदाणे वि ॥१२२०॥

'पुरिसत्तादीणि' पुरुषत्वादिकं, संयमलाभश्च भविष्यति परजन्मनि । कस्य ? कृतरत्नत्रयाराधनस्य निश्चयेन । तदर्थमकृतेऽपि निदाने ॥१२२०॥

माणस्स भंजणत्थं चिंतेदव्वो सरीरणिव्वेदो ।
दोसा माणस्स तहा तहेव संसारणिव्वेदो ॥१२२१॥

'माणस्स भंजणत्थं' मानभञ्जनार्थं ध्यातव्यः शरीरनिर्वेदः । तथा दोषाश्च मानस्य । तथैव संसार-निर्वेदश्च ध्यातव्य इति क्षपकं निर्यापकसूरिः शिक्षयति । शरीरस्य अशुचित्वादिस्वभावचिन्तनतः । किमेतेन शरीरेणेति शरीरे अनादरः शरीरनिर्वेदः । स कथं मानस्य भञ्जने निमित्तं । स हि शरीरानुरागमेव [1]विहन्ति तत्प्रतिपक्षत्वात् । अत्रोच्यते—मानशब्दः सामान्यवचनोऽपि रूपाभिमानविषयो गृहीतः । स च शरीरनिर्वेदेन भज्यते । मानस्य दोषा नीचकुलेषूत्पत्तिर्मान्यगुणालाभः, सर्वविद्विष्टता, रत्नत्रयालाभ इत्यादिकाः । संसारस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावभवपरिवर्तनरूपस्य पराङ्मुखता संसारनिर्वेदः । तत्रोपयुक्तस्य अहङ्कारनिमित्तानां विनाशात्,

---

गा०—हमारे शारीरिक, आगन्तुक और स्वाभाविक दुःखोंका नाश हो । तथा उनके कारणभूत कर्मोंका क्षय हो । रत्नत्रयका पालन करते हुए मरण हो और जिनदीक्षाकी ओर अभिमुख करनेवाले ज्ञानका लाभ हो, इतनी ही प्रार्थना करने योग्य है । इनके सिवाय अन्य प्रार्थना करना योग्य नही है ॥१२१९॥

गा०—जो रत्नत्रयकी आराधना करता है उसे निदान न करने पर भी आगामी जन्ममें पुरुषत्व आदि का तथा संयमका लाभ निश्चय ही होता है ॥१२२०॥

गा०-टी०—निर्यापकाचार्य क्षपकको शिक्षा देता है कि तुम्हे मानकषायका विनाश करने-के लिए शरीरसे निर्वेदका, मानके दोषों का और संसारसे निर्वेदका चिन्तन करना चाहिये । शरीरके अशुचित्व आदि स्वभावका चिन्तन करनेसे 'इस शरीरसे क्या लाभ' इस प्रकार शरीरमें अनादर होता है उसे ही शरीर निर्वेद कहते हैं ।

शङ्का—शरीरका चिन्तन मानकषायको दूर करनेमें निमित्त कैसे हो सकता है उससे तो शरीरमें अनुराग का ही घात होता है क्योंकि शरीर निर्वेद उसका प्रतिपक्षी है ?

समाधान—यद्यपि मान शब्द मानसामान्यका वाचक है तथापि यहाँ रूपविषयक अभि-मान लिया है । वह शरीरके निर्वेदसे नष्ट होता है । नीच कुलोंमें जन्म, आदरणीय गुणोंका प्राप्त न होना, सबका अपनेसे द्वेष करना, रत्नत्रय आदिका लाभ न होना, ये सब मानकषायसे होनेवाले दोष हैं । द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भवपरिवर्तन रूप संसारसे विमुख होना ससार-निर्वेद है । संसारनिर्वेदमें उपयोग लगानेसे अहंकारके निमित्तोंका विनाश होता है । क्योंकि

---

१. मेवावहति—आ० मु० ।

निन्द्यानां च गुणानां बहूनां असकृत्प्रवृत्तिः अनेकप्राणिलभ्यत्वात् । [1]स्वप्राप्तेभ्यो गुणेभ्योऽतिशयितानां गुणानामन्यैरुपलम्भनात् ॥१२२१॥

कुलाभिमाननिरासोपायमाचष्टे—

णीचो वि होइ उच्चो उच्चो णीचत्तणं पुण उवेइ ।
जीवाणं खु कुलाइं पथियस्स व विस्समंताणं ॥१२२२॥

'**णीचो वि होवि**' स्थानमानैश्वर्यादिभिस्तिरोभूतो नीच इत्युच्यते । सोपि '**होदि**' भवति । '**उच्चो**' तैरेवोन्नत । स उच्चो अतिशयितस्थानमानादिकोऽपि '**णीचत्तणं**' तैर्न्यूनता । '**पुण उवेदि**' पुनः उपैति । '**जीवाणं खु**' जीवानां खलु । '**कुलाइं**' कुलानि । कीदृग्भूतानां ? '**विस्समंताणं**' विश्रमतां बहूनि कुलानि कुलबहुत्वप्रकटनेन कुलानित्यता दर्शिता । अनियतकुलस्य क कुलगर्वः । '**पथियस्स व**' पथिकस्य यथा विश्रामस्थानं न नियतमस्ति तद्वदेवास्येति भाव ॥१२२२॥

किं च गर्वो ह्यात्मनो वृद्धि परस्य वा हानिं बुद्ध्या सक्षेपते तस्य यस्कोऽहंकार. न चास्य वृद्धिहानी स्त इति कथयति—

उच्चासु व णीचासु व जोणीसु ण तस्स अत्थि जीवस्स ।
वड्ढी वा हाणी वा सव्वत्थ वि तित्तिओ चेव ॥१२२३॥

'**उच्चासु व णीचासु व**' यत्र स्थित आत्मा शरीरं निष्पादयति तद्योनिशब्देनोच्यते । न तस्य उच्चता नीचता वा तत. किमुच्यते उच्चासु व णीचासु व इति । अत्रोच्यते—योनिशब्देन कुलमेवात्रोच्यते । तेनायमर्थः । मान्ये कुले गर्हिते वा उत्पन्नस्य न तस्य जीवस्य वृद्धिर्हानिर्वा सर्वत्र तत्परिमाण एव ज्ञानादि-

---

अनेक निन्दनीय गुण, जो अहकारमे निमित्त होते हैं, अनेक प्राणियोमें पाये जाते हैं । तथा अपनेको जो गुण प्राप्त है उनमें भी अतिशयशाली गुण दूसरोको प्राप्त है । अत उनका अभिमान कैसा ? ॥१२२१॥

कुलका अभिमान दूर करनेका उपाय कहते है—

गा०टी०—स्थान, मान, ऐश्वर्य आदिसे हीन व्यक्तिको नीच कहते हैं । जो स्थान, मान, ऐश्वर्य आदिसे हीन होता है वही नीच हो जाता है । जीवोके कुल पथिकके विश्राम स्थानकी तरह हैं । जैसे पथिकके विश्राम लेनेका स्थान नियत नही है वैसे ही कुल भी नियत नही है । तब अनियत कुलका गर्व कैसा ? 'कुलानि' पद बहुवचनान्त होनेसे कुलोंकी बहुतायत प्रकट करता है । और कुलोंकी बहुतायतसे कुलोकी अनित्यता दिखलाई है ॥१२२२॥

आगे कहते हैं कि अपनी वृद्धि और दूसरेकी हानिकी भावनासे गर्व होता है उसका अहंकार करना युक्त है किन्तु उच्च या नीच कुलमें जन्म लेनेमे आत्माकी हानि वृद्धि नही होती—

गा०-टी०-शंका—जिसमें रहकर जीव अपने शरीरको रचता है उसे योनि कहते हैं । योनि तो उच्च या नीच होती नही । तब 'उच्चासु व णीचासु' क्यो कहा ?

समाधान—यहाँ योनि शब्दसे कुलको ही कहा है । अत ऐसा अर्थ होता है—मान्य कुलमे अथवा निन्दनीय कुलमे उत्पन्न हुए जीवको वृद्धि या हानि नही होती । सर्वत्र जीवका परिमाण

---

१ सुप्राप्येभ्यो–आ० मु० ।

गुणातिशयादेव उत्कृष्टता । निन्दितगुणः कुलीनोऽपि न पूज्यतेतरामन्यैः । अमान्येऽपि कुले सम्भूतो यदि गुणी स्यात् । उक्तं च—

संसारचक्रे भ्रमतो हि जंतोर्न चास्ति किंचित्कुलमस्ति नित्यं ।
स एव नीचोत्तममध्यजातीः स्वकर्मवश्यः समुपैति तावत् ॥

नृपश्च दासः श्वपचश्च विप्रो दरिद्रवंशश्च समृद्धवंशः ।
चोराग्निदावाहितयाचिता (?) च संजायते कर्मवशात्स एव ॥

को नाधिकारः सुकुलेषु पूर्वा का वा विहितान्यकुलप्रसूतौ ।
कार्योऽधिकारो ननु धर्म एव कार्या विनिन्दापि च दुष्कृतेषु ॥ [ ] ॥१२२३॥

कालमणंतं णीचागोदो होदूण लहइ सगिमुच्चं ।
जोणीमिदरसलागं ताओ वि गदा अणंताओ ॥१२२४॥

'कालमणंतं णीचागोदो होदूण' अनन्तकालं नीचैर्गोत्रो भूत्वा । 'लहदि सगिमुच्चं जोणिं' लभते सकृदुच्चैर्गोत्रं । कीदृशी 'इदरसलागं' इतरशलाकां । इतरा नीचैर्योनय. शलाका यस्या उच्चैर्योनिस्तां इतरशलाकां । 'ताओ वि' ता अपि [1]अन्तराले लब्धा अपि उच्चैर्योनय । 'गदा अणंताओ' अनन्ताः प्राप्ता एकेन जीवेन ॥१२२४॥

उतना ही रहता है। ज्ञानादि गुणोंमें अतिशय होनेसे ही उत्कृष्टता होती है। कुलीन भी यदि निन्दित गुण वाला होता है तो दूसरे उसका आदर सम्मान नहीं करते। और अनादरणीय कुलमें उत्पन्न होकर भी यदि गुणी होता है तो दूसरे उसका सम्मान करते हैं। कहा है—संसारमें भ्रमण करते हुए प्राणीका कोई कुल स्थायी नहीं है। वही जीव अपने कर्मके अधीन होकर नीच, उत्तम अथवा मध्यम कुलोंमें जन्म लेता है। वही जीव अपने कर्मके वश होकर राजा और दास, चाण्डाल या ब्राह्मण, दरिद्र वंश वाला या सम्पन्न वंश वाला होता है तथा चोर, आग और दावानलसे पीड़ित तथा माँगने वाला होता है। उच्च कुलोंमें मनुष्योंको जन्म लेनेका गर्व कैसा? और नीच कुलोंमें जन्म लेने पर घृणा कैसी? गर्व करना हो तो धर्ममें ही करना चाहिए और घृणा भी पापसे करनी चाहिए ॥१२२३॥

गा०—टी०—यह जीव अनन्तकाल तक नीच गोत्रमें जन्म लेकर एक बार उच्च गोत्रमें जन्म लेता है। इस प्रकार उच्च गोत्रकी शलाका नीच गोत्र है। शलाकासे मतलब है अनन्तकाल नीच गोत्रमें जन्म लेकर एक बार उच्च गोत्रमें जन्म। नीच गोत्रोंके अन्तरालमें प्राप्त उच्च गोत्र भी एक जीवने अनन्त बार प्राप्त किये हैं ॥१२२४॥

विशेषार्थ—यद्यपि यह जीव संसारमें भ्रमण करते हुए अनन्तबार नीच गोत्रमें जन्म लेता है तब कहीं एक बार उच्च गोत्रमें जन्म लेता है। तथापि अनन्त बार नीच गोत्रमें जन्म लेनेके पश्चात् एक बार उच्च गोत्रमें जन्म लेनेकी परम्पराको भी इसने अनन्त बार प्राप्त किया है अर्थात् इस क्रमसे इसने उच्च गोत्रमें भी अनन्त बार जन्म लिया है ॥१२२४॥

---

१. अन्तराले अन्तराले लब्धा अपि—अ० मूलारा० ।

बहुसो वि लद्धविजडे को उच्चत्तम्मि विम्हओ णाम ।
बहुसो वि लद्धविजडे णीचत्ते चावि किं दुक्खं ॥१२२५॥

'एवं बहुसो वि' बहुशोऽपि, 'लद्धविजडे' लब्धपरित्यक्ते च । 'उच्चत्तम्मि' मान्यकुलप्रसूतत्वे । 'को णाम विम्हओ' को नाम विस्मयः । कदाचिदलब्धपूर्वमिदानीमेव लब्धमिति भवेद्गर्वः । 'बहुसो वि' बहुशोऽपि । 'लद्धविजडे' लब्धपरित्यक्ते । 'णीचत्ते चावि' नीचैर्गोत्रप्रसूतत्वे अपि । 'किं दुक्खं' किमिदं दुःखं ॥१२२५॥

उच्चत्तणम्मि पीदी संकप्पवसेण होइ जीवस्स ।
णीचत्तणे ण दुक्खं तह होइ कसायबहुलस्स ॥१२२६॥

'उच्चत्तणम्मि' मान्यकुलत्वे । 'पीदी' प्रीतिः । 'संकप्पवसेण' संकल्पवशेन 'होदि जीवस्स' भवति जीवस्य प्रशस्ते कुले जातोऽहमिति मनोनिधानात् प्रीतो भवत्ययं जनः नेत्थंभूतं संकल्पमन्तरेण सामान्यकुलत्वे सत्यपि प्रीतिर्भवति । नीचकुलत्वमेव च न दुःखस्य निमित्त । अपि च 'णीचत्तणे व' नीचैर्गोत्रत्वे च दुःखं 'तधा होदि' तथा भवति । प्रीतिरिव परनिमित्तकं भवति । कस्य ? 'कसायबहुलस्स' कसायशब्द. सामान्यवचनोऽपि मानकषाये वर्तते । तेनायमर्थः प्रचुरमानकषायो जनयति दुःखमस्य न नीचैर्गोत्रत्वमेव ॥१२२६॥

प्रीतिपरितापौ संकल्पायत्ताविस्येतत्स्पष्टयत्युत्तरगाथया—

उच्चत्तणं व जो णीचत्तं पिच्छेज्ज भावदो तस्स ।
उच्चत्तणे व णीचत्तणे वि पीदी ण किं होज्ज ॥१२२७॥

'उच्चत्तणं व' उच्चैर्गोत्रत्वमिव 'जो णीचत्तं पेच्छदि' यो नीचैर्गोत्र प्रेक्षते इद चण्डालत्व वरमिति । भावशब्दोऽनेकार्थवाच्यपि इह चित्तवाची । यत् येन लब्धं तत्तस्य शोभन । अलब्धेन शोभनेनापि किं तेनेति मनसि करोति यदा तदा तत्रैव प्रीतिरस्य जायते इति वदति 'उच्चत्तणे वि' मान्यकुलत्व इव 'णीचत्तणेऽवि' नीचैर्गोत्रत्वेऽपि । 'पीदी किं ण होज्ज' प्रीति. किं न भवेत् भवत्येवेति यावत् ॥१२२७॥

गा०—इस प्रकार अनन्त बार प्राप्त करके छोड़े हुए उच्च कुलमे जन्म लेनेका गर्व कैसा ? गर्व तो तब होता जब अभी तक न पानेके बाद प्रथम बार ही इसे प्राप्त किया होता । तथा अनन्त बार प्राप्त करके छोड़े हुए नीच गोत्रमें जन्म लेनेका दुःख कैसा ॥१२२५॥

गा०-टी०—'मै उच्च कुलमे जन्मा हूं' ऐसा मनमे संकल्प होनेसे जीवका उच्चकुलमें अत्यन्त अनुराग होता है । इस प्रकारके संकल्पके बिना सामान्य कुलमे जन्म होने पर भी अनुराग नहीं होता । तथा नीच कुलमे जन्म लेना ही दुःखका कारण नहीं है । दुःखका कारण है मान-कषायकी बहुतायत । गाथामे कषाय शब्द सामान्यवाची है तथापि यहाँ उसका अर्थ मानकषाय लेना चाहिए । मानकषायकी बहुतायत जीवको दुःख देती है, केवल नीच गोत्रमें जन्म ही दुःखका कारण नही होता ॥१२२६॥

अनुराग और दुःख संकल्पके अधीन है, यह कहते हैं—

गा०-टी०—गाथामे आये भाव शब्दके यद्यपि अनेक अर्थ हैं तथापि यहां उसका अर्थ चित्त लिया है । जो मनसे उच्च गोत्रके समान नीच गोत्रको देखता है अर्थात् यह चाण्डाल कुलमें जन्म श्रेष्ठ है ऐसा मानता है । मनमे विचारता है कि जो जिसको प्राप्त है वही उसके लिए उत्तम है । जो प्राप्त नहीं है वह श्रेष्ठ भी हो तो उससे क्या ? ऐसा विचार करते ही उच्च कुलके समान नीच

णीचत्तणं व जो उच्चत्तं पेच्छेज्ज भावदो तस्स ।
णीचत्तणेव उच्चत्तणे वि दुक्खं ण किं होज्ज ॥१२२८॥

एतद्विपरीतार्थोत्तरगाथा । स्पष्टतया[1] वस्तुस्थितिं नापेक्षते । सङ्कल्पायत्ता प्रीतिरप्रीतिर्वेत्यनुभवसिद्धमेतदखिलस्य जगत इति वदति । यस्मादुच्चैर्गोत्रत्वेऽपि न सुखदुःखयोर्भावाभावौ च भवतः संकल्पात् ॥१२२८॥

तम्हा ण उच्चणीचत्तणाइं पीदिं करेंति दुःक्खं वा ।
संकप्पो से पीदीं करेदि दुक्खं च जीवस्स ॥१२२९॥

'तम्हा' तस्मात् । 'उच्चणीचत्तणाणि' मान्यामान्यकुलत्वानि । 'ण करेंति पीदिं दुक्खं वा' न कुरुतः प्रीतिं दुःखं वा । 'संकप्पो पीदिं करेदि' संकल्पो 'से' अस्य जीवस्य तस्मात् प्रीतिं करोति दुःखं वा । सति संकल्पे भावादसति अभावाच्च ॥१२२९॥

मानकषायताभ्योऽयं दोष इति कथयति—

कुणदि य माणो णीयागोदं पुरिसं भवेसु बहुएसु ।
पत्ता हु णीचजोणी बहुसो माणेण लच्छिमदी ॥१२३०॥

'कुणदि य' करोति । 'माणो' अहंकारः । 'णीचागोदं पुरिसं' नीचैर्गोत्रमस्येति नीचैर्गोत्रं 'पुरिसं' आत्मानं । 'भवेसु' जन्मसु । 'बहुगेसु' बहुषु । 'पत्ता' प्राप्ता । 'णीचजोणी खु' नीचैर्गोत्रमेव । का ? 'लच्छिमदी' लक्ष्मीमती । केन निमित्तेन ? 'माणेण' सुरूपा यौवनानुकूला कुलीना चेति गर्वेण ॥१२३०॥

कुलमें भी अनुराग क्यों नहीं होगा ? अवश्य ही होगा ॥१२२७॥

आगेकी गाथामें इससे विपरीत कथन करते हैं—

गा०—जो जीव भावसे उच्चपनेको नीचपनेकी तरह देखता है उसको नीचपनेकी तरह उच्चपनामें क्या दुःख नहीं होता ? होता ही है । किसीसे प्रीति या अप्रीति तो संकल्पके अधीन है यह बात समस्त जगत्के अनुभवसे सिद्ध है। क्योंकि संकल्पसे उच्च गोत्र होते हुए भी सुखका भाव और दुःखका अभाव नहीं होता ॥१२२८॥

गा०—अतः उच्च कुल या नीच कुल सुख या दुःख नहीं देता । किन्तु जीवका संकल्प सुख या दुःख करता है । संकल्पके होने पर सुख दुःख होता है और संकल्पके अभावमें नहीं होता ॥१२२९॥

आगे कहते हैं कि मानकषायके कारण यह दोष होता है—

गा०—मानकषाय अर्थात् अहंकार पुरुषको अनेक जन्मोंमें नीच गोत्री बनाता है । देखो, लक्ष्मीमती, मैं सुन्दर हूँ, कुलीन हूँ यौवनवती हूँ इस गर्वके कारण अनेक बार नीच गोत्रमें उत्पन्न हुई ॥१२३०॥

विशेषार्थ—बृहत्कथा कोशमें १०८ नम्बरमें इसकी कथा दी है ॥१२३०॥

---

१. स्पष्टया–अ० ।

**पूयावमाणरूवविरूवं सुभगत्तदुब्भगत्तं च ।
आणाणाणा य तहा विधिणा तेणेव पडिसेज्ज ॥१२३१॥**

'**पूयावमाणरूवविरूवं**' पूजा, अवमानं परिभवः । रूपशब्दः सामान्यवचनोऽपि शोभनाशोभनरूपविषयतया इह विरूपशब्दसन्निधाने प्रयुज्यमानोऽतिशयिते रूपे प्रवर्तते । तेन सौरूप्यं वैरूप्यं चेत्यर्थः । '**सुभगत्तदुब्भगत्तं च**' सौभाग्यं दौर्भाग्यं च सर्वेषां प्रियत्वं द्वेष्यत्वं चेति यावत् । '**आणाणाणा य तहा**' आज्ञा आदेशाप्रतिघातः अनाज्ञा च तथा । '**विधिणा**' माननिषेधप्रकारेणैव । '**पडिसेज्ज**' प्रतिषेध्याः । अभिधेयवशाल्लिङ्गवचनप्रवृत्तिरिति लिङ्ग्यन्तरेण पूजादिशब्दोपनीतेन प्रतिषेध्यशब्दस्याभिसम्बन्धः । परिभवं प्राप्तोऽपि बहुशः कदाचित्पूज्यते । एवमपि प्राप्ता ह्यनन्तेषु पूजास्तत्र कोऽनुरागोऽस्य । दुःखं वा परिभवप्राप्तौ । [1]पूज्यमानोऽपि बहुषु पुनः परिभवानवाप्स्यति । न चात्मनः पूजायां काचिद् वृद्धिः परिभवे वा हानिः । सङ्कल्पवशादेवात्मनो जायेते प्रीतिपरितापौ न केवलं पूजापरिभवाभ्यामेवेति । उक्तं च—

यः स्तूयते शुचिगुणैर्मधुरैर्वचोभिः स निन्द्यते च परुषैर्वचनै[2]र्विचित्रैः ।
हा चित्रता कथमयं भवसंकटस्थः प्राप्नोत्यनेकविधिकर्मफलोपभोगं ॥
भूत्वा मनुष्यपतयः पुनरेव दासा हीना भवन्ति शुचयोऽशुचयश्च भूयः ।
कान्ता[3] च ये युवतिभिर्विषमानुरूपा द्वेष्या भवन्त्यसुभगत्वमुपेत्य भूयः ॥
दृष्टः क्वचित्प्रवररत्नविभूषणो यः संदृश्यते विकलपुण्यतया दरिद्रः ।
भूयश्च मित्रबहुबंधुजनोपगूढः संलक्ष्यते व्यसनभारभृदेक[4] एव ॥ [ ] ॥१२३१॥

गा०-टी०—मानकषायका जैसे निषेध किया है वैसे ही पूजा, अपमान, सौरूप्य, वैरूप्य, सौभाग्य, दुर्भाग्य, आज्ञा अनाज्ञाका भी निषेध जानना । गाथामें आगत रूपशब्द यद्यपि सामान्यवाची होनेसे सुन्दर और असुन्दर दोनों ही प्रकारके रूपका वाचक है तथापि विरूप शब्दके साथमें प्रयुक्त होनेसे अतिशयरूपको कहता है । अतः उसका अर्थ सौरूप्य और वैरूप्य लिया गया है । सौभाग्यका अर्थ है सबको प्रिय होना और दुर्भाग्यका अर्थ है सबके द्वारा तिरस्कृत होना । जिसने अनेक जन्मोंमें तिरस्कार पाया है वह भी कभी पूजा जाता है । इसी प्रकार अनन्त जन्मोंमें पूजा प्राप्त करनेवाला भी तिरस्कृत होता है । अतः उनमें अनुराग कैसा और तिरस्कार पानेपर दुःख कैसा ? जो बहुत जन्मोंमें पूजा जाता है वह पुनः तिरस्कारको प्राप्त करेगा । पूजा होनेपर आत्मामें वृद्धि नहीं होती और तिरस्कार होनेपर आत्मामें कोई हानि नहीं होती । संकल्पके कारण ही प्रीति और सन्ताप होते हैं केवल पूजा और तिरस्कारसे नहीं होते । कहा भी है—

जो मधुर वचनोंके द्वारा अपने निर्मल गुणोंके लिये संस्तुत होता है वही नाना प्रकारके कठोर वचनोंसे निन्दाका पात्र होता है । कैसा आश्चर्य है कि संसाररूपी संकटमें पड़ा हुआ यह प्राणी अनेक प्रकारके कर्मोंके फलको भोगता है । मनुष्योंका स्वामी होकर उनका नीच दास हो जाता है । पवित्र होकर पुनः अपवित्र हो जाता है । जो युवतियोंके प्रिय होते हैं वे ही दुर्भाग्य आनेपर द्वेषके पात्र बनते हैं । जो मनुष्य कभी उत्कृष्ट रत्नभूषणोंसे भूषित देखा गया है वही मनुष्य पुण्यहीन होनेपर दरिद्र देखा जाता है । जो बहुतसे मित्रों और बन्धु-बान्धवोंसे घिरा हुआ

1. पूजातोऽपि-अ० । 2. नैर्बधित्वा-अ० ज० । 3. कान्ता च येषु युवतिः-ज० विषमाणरूपा द्वेष्या भवत्यशुभवन्धमुपेत्य भूयः-आ० ज० । 4. क ये च-अ० ।

¹इच्चेवमादि अविचिंतयदो माणो हवेज्ज पुरिसस्स ।
एदे सव्वं अत्थे पस्सदो णो होइ माणो दु ॥१२३२॥

अहवा उच्चत्तादिणिदाणं संसारवड्ढणं होदि ।
कह दीहं ण करिस्सदि संसारं परवधणिदाणं ॥१२३३॥

'अहवा' यदि तावत् । 'उच्चत्तादिणिदाणं' उच्चैर्गोत्रता, पुरुषत्वं, स्थिरशरीरता, अदरिद्रकुलप्रसूतिर्बन्धुतेत्येवमादिकं मुक्तेः परम्परया कारणमपि चित्ते क्रियमाणमपि । 'संसारवड्ढणं होदि' संसारवृद्धिं करोति । 'किध ण करिस्सदि' कथं न करिष्यति । 'दीहसंसारं' दीर्घसंसारं । 'परवधणिदाणं' परवधे चित्तप्रणिधानं ॥१२३३॥

आचार्यगणधरत्वादिप्रार्थना कथमशोभना रत्नत्रयातिशयलाभप्रार्थिता हि ²इत्याशङ्कायामुच्यते—

आयरियत्तादिणिदाणे वि कदे णत्थि तस्स तम्मि भवे ।
धणिदं पि संजमंतस्स सिज्झणं माणदोसेण ॥१२३४॥

'आयरियत्तादिणिदाणे वि कदे' आचार्यत्वादिनिदानेऽपि कृते । 'णत्थि तस्स' नास्ति तस्य । 'तम्मि भवे' तस्मिन्भवे निदानकरणभवे । 'धणिदं पि संजमंतस्स' नितरामपि संयमं कुर्वतः । किं नास्ति 'सिज्झणं' सेधनं मुक्तिः । केन ? 'माणदोसेण' मानकषायदोषेण । स ह्याचार्यत्वादिप्रार्थनां करोति । पूज्यो भविष्यामीति संकल्पेन, ततोऽस्याहंयुता ॥१२३४॥

भोगदोषचिन्तायां सत्यां निदानं तथा न भवतीति कथयति—

होता है, विपत्तिमें पड़नेपर वही एकाकी देखा जाता है ॥१२३१॥

गा०—इत्यादि बातोंका विचार न करनेवाले पुरुषको मान होता है। और जो इन बातोंको सम्यक्‌रूपसे देखता है उसको मान नहीं होता ॥१२३२॥

गा०—उच्चगोत्र, पुरुषत्व, शरीरकी स्थिरता, अदरिद्रकुलमें जन्म, बन्धु-बान्धव आदि परम्परासे मुक्तिके कारण हैं ऐसा चित्तमें विचारकर इनका निदान करना कि ये मुझे प्राप्त हों, यदि संसारको बढ़ानेवाला है तो दूसरेके बधका चित्तमें निदान करना दीर्घ संसारका कारण क्यों नहीं है ? अवश्य है ॥१२३३॥

यहाँ कोई शंका करता है कि रत्नत्रयमें अतिशय लाभकी भावनासे मैं आचार्य गणधर आदि बनूँ ऐसी प्रार्थना क्यों बुरी है ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—आचार्य पद आदिका निदान करनेपर भी जिस भवमें निदान किया है उस भवमें अत्यन्त संयमका पालन करनेपर भी मानकषायके दोषके कारण उसकी मुक्ति नहीं होती, क्योंकि वह 'मैं पूज्य होऊँ' इस संकल्पसे आचार्य आदि होनेकी प्रार्थना करता है। इससे उसका अहंकार प्रकट होता है ॥१२३४॥

आगे कहते हैं कि भोगोंके दोषोंका चिन्तवन करनेसे भोगोंका निदान नहीं होता—

---

१. एतां टीकाकारो नेच्छति । २. हि सतीत्या—आ० ।

भोगा चिंतेदव्वा किंपागफलोवमा कडुविवागा ।
महुरा व भुंजमाणा पच्छा बहुदुक्खभयपउरा ॥१२३५॥

'भोगा चिंतेदव्वा' भोगाश्चिन्त्याः । 'किंपागफलोवमा' किम्पाकफलसदृशाः । 'कडुविवागा' कटु अनिष्ट विपाकः फलं एषामिति कटुविपाकाः । 'महुरा व' मधुरा इव । 'भुंजमाणा' भुज्यमानाः । 'मज्झे' मध्ये । 'बहुदुक्खभयपउरा' विचित्रदुःखमयाः ॥१२३५॥

भोगनिदानदोषं कथयति—

भोगणिदाणेण य सामण्णं भोगत्थमेव होइ कदं ।
[1]साहालंगा जह अत्थिदो वणे को वि भोगत्थं ॥१२३६॥

'भोगणिदाणेण य' भोगनिदानेन वा । 'सामण्णं' श्रामण्य । 'भोगत्थमेव होइ कदं' भोगार्थमेव कृतं न कर्मक्षयार्थं भवति । भोगनिदाने सति रागव्याकुलितचित्तस्य प्रत्यग्रकर्मप्रवाहस्वीकृती उद्यतस्य का संयतता ॥१२३६॥

आवडणत्थं जह ओसरणं मेसस्स होइ मेसादो ।
सणिदाणबंभचेरं अब्बंभत्थं तहा होइ ॥१२३७॥

'आवडणत्थ' अभिघातार्थं । 'जह' यथा । 'ओसरणं' अपगमं । 'मेसस्स होदि' मेषस्य भवति । 'मेसादो' मेषात् । 'सणिदाणबंभचेरं' सनिदानस्य यतेर्ब्रह्मचर्यं । 'अब्बंभत्थं' मैथुनार्थं । 'तहा होदि' तथा भवति ॥१२३७॥

जह वाणिया य पणियं लाभत्थं विक्किणंति लोभेण ।
भोगाण पणिदभूदो सणिदाणो होइ तह धम्मो ॥१२३८॥

गा०—ये भोग किंपाकफलके समान हैं। जैसे किंपाकफल खाते समय मीठा लगता है किन्तु उसका परिणाम अतिकटुक होता है। उसको खानेवाला मर जाता है। उसी प्रकार इन्द्रियोंके भोग भोगनेमें मधुर लगते हैं किन्तु उनका फल अतिकटु होता है पीछेसे जीवको बहुत दुःख और भय भोगना पड़ता है ॥१२३५॥

भोगनिदानके दोष कहते हैं—

गा०-टी०—मुनिपद धारण करके भोगका निदान करनेसे तो मुनिपद भोगोंके लिए ही धारण किया कहलायेगा। कर्मक्षयके लिये नहीं कहलायेगा। क्योंकि भोगका निदान करनेपर चित्त रागसे व्याकुल रहता है और ऐसा होनेसे नवीन कर्मोंका बन्ध होता है तब उसके मुनिपद कैसा ? जैसे कोई वनमें वृक्षकी शाखामें लगे फलोंको खानेमें लग जाये तो उसके अपने इच्छित स्थानपर पहुँचनेमें विघ्न आ जाता है वैसे ही भोगका निदान करनेवाले श्रमणकी भी दशा होती है ॥१२३६॥

गा०—जैसे एक मेढ़ा दूसरे मेढेपर अभिघात करनेके लिये पीछे हटता है वैसे ही भोगोंका निदान करनेवाले यतिका ब्रह्मचर्य भी अब्रह्म अर्थात् मैथुनके लिए ही होता है ॥१२३७॥

---

१. साहोलंबो–मु०, मूलारा० । साहासंगा–आ० ।

'जह वाणिया' यथा वणिजः। 'पणियं' पण्यं। 'लाभत्थं' लाभार्थं। 'विक्किणंति' विक्रीणन्ति। 'लोभेण' लोभेन। 'भोगत्थं' भोगार्थं। 'पणिदो भूदो' पण्यभूतः। 'सणिदाणो' सनिदानः। 'तह धम्मो होदि' तथा धर्मो भवति ॥१२३८॥

भोगनिदानवतः[1] श्रामण्यं प्रणिगदति—

सपरिग्गहस्स अब्बंभचारिणो अविरदस्स से मणसा ।
काएण सीलवहणं होदि हु णडसमणरूवं व ॥१२३९॥

'सपरिग्गहस्स' सपरिग्रहस्य भोगनिदानवतो वेदजनितो रागोऽभ्यन्तरः परिग्रह इति सपरिग्रहः। तस्य। 'अब्बंभचारिणो' मनसा मैथुनकर्मणि प्रवृत्तस्य। 'अविरदस्स' अव्यावृत्तस्य मैथुनात्। 'मणसा' चित्तेन। 'से' तस्य कायेन हु शरीरेणैव। 'सीलवहणं' ब्रह्मव्रतवहनं। 'होदि' भवति। 'णडसमणरूवं व' नटानां श्रमणरूपमिव। कायेन भावश्रामण्यरहितं यथा अफलमेवमिदमपि इति भावः ॥१२३९॥

रोगं इच्छेज्ज जहा पडियारसुहस्स कारणे कोई ।
तह अण्णेसदि दुक्खं सणिदाणो भोगतण्हाए ॥१२४०॥

'रोगं कंखेज्ज' व्याधिमभिलषति। 'जहा कोइ' यथा कश्चित्। किमर्थं? 'पडियारसुहस्स कारणे' औषधसेवासुखाधिगमनार्थं। 'तह' तथा 'अविरदस्स' अव्यावृत्तस्य। 'अण्णेसदि' अन्वेषते। 'दुक्खं' दुःखं। कः? 'सणिदाणो' सनिदानः। 'भोगतण्हाए' भोगतृष्णया ॥१२४०॥

खंधेण आसणत्थं वहेज्ज गरुगं सिलं जहा कोइ ।
तह भोगत्थं होदि हु संजमवहणं णिदाणेण ॥१२४१॥

'खंधेण' स्कन्धेन। 'जहा कोइ' यथा कश्चित्। 'गरुगं सिलं' गुर्वीं शिलां। 'वहेज्ज' वहति। किमर्थं?

गा०—जैसे व्यापारी लोभवश लाभके लिये अपना माल बेचता है। वैसे ही निदान करनेवाला मुनि भोगोंके लिए धर्मको बेचता है ॥१२३८॥

भोगोंका निदान करनेवालेके मुनिपदकी निन्दा करते हैं—

गा०-टी०—भोगोंका निदान करनेवालोंके अभ्यन्तरमें वेदजनित राग रहता है अतः वह परिग्रही है। तथा वह मनसे मैथुन कर्ममें प्रवृत्त होनेसे अब्रह्मचारी है और मनसे मैथुनसे निवृत्त न होनेसे अविरत है। वह केवल शरीरसे ब्रह्मचर्यव्रत धारण करता है अतः वह नटश्रमण है। जैसे नट श्रमणका वेश धारण करता है वैसे ही उसने भी श्रमणका वेश धारण किया है। भावश्रामण्यके बिना केवल शरीरसे मुनि बनना जैसे व्यर्थ है उसी तरह उस मुनिका मुनिरूप भी व्यर्थ है ॥१२३९॥

गा०—जैसे कोई औषधि सेवनके सुखकी अभिलाषासे रोगी होना चाहता है वैसे ही निदान करनेवाला भोगोंकी तृष्णासे दुःख चाहता है ॥१२४०॥

गा०—मैं इसके ऊपर सुखपूर्वक बैठूंगा, ऐसा मानकर जैसे कोई भारी शिलाको कन्धेपर उठाता है और उसके उठानेके कष्टकी परवाह नहीं करता। वैसे ही इस दुर्धर संयमको धारण

---

1. -वतः श्रामण्यं प्रणिगदति-आ०।

'आसन्नार्थं' आसनार्थं। अस्या उपरि सुखेनासे इति मत्वा स यथा गुरुसिलोद्वहनखेदं नापेक्षते, स्वल्पं तस्या उपवेशनसुखमपेक्षते स्वबुद्ध्या। 'तह भोगत्थं खु' तथा भोगार्थमेव। 'होदि' भवति। 'संजमवहणं' दुर्वहं संयमधारणं। 'णिदाणेण' निदानेन सह ॥१२४१॥

बाह्यवस्तुजनितादिन्द्रियसुखात्तन्निमित्तवस्तुविनाशे यज्जायते दुःखं तदधिकतरं अतः स्वल्पसुखनिमित्तं को नाम सचेतनो दुःखभीरुर्दुःखाब्धौ पतेदिति दर्शयति—

भोगोवभोगसोक्खं जं जं दुक्खं च भोगणासम्मि।
एदेसु भोगणासे जातं दुक्खं पडिविसिट्ठं ॥१२४२॥

'भोगोवभोगसोक्खं' मृष्टाशनताम्बूलादिकैः स्त्रीवस्त्रालङ्कारादिभिश्च जनितं यत्सुखं। 'भोगणासम्मि' सुखसाधनस्य वस्तुनो विनाशे च। 'जं जं दुक्खं च' यद्यद्दुःखं जायते। 'एदेसु' एतयोः सुखदुःखयोः 'भोगणासे' सुखसाधनानां विनाशे च। 'जातं दुक्खं' पडिविसिट्ठं' अधिकतममिति यावत् ॥१२४२॥

देहे छुहादिमहिदे चले य सत्तस्स होज्ज कह सोक्खं।
दुक्खस्स य पडियारो रहस्सणं चेव सोक्खं खु ॥१२४३॥

'देहे' शरीरे मनुजानां। 'छुहादिमहिदे' क्षुधा, पिपासया, शीतोष्णेन, व्याधिभिश्च मथिते। 'चले' अनित्ये च। 'सत्तस्स' आसक्तस्य। 'किं च सुखं होज्ज' किमत्र सुखं भवेत्। 'दुक्खस्स य पडियारो' दुःखस्य प्रतीकारः। 'रहस्सणं चेव' ह्रस्वकरणं एव 'सोक्खं' सौख्यं। खु शब्दः पादपूरणे दुःखप्रतीकारो[1]ऽल्पता वा दुःखस्य सुखमित्यनेनाख्यातम् ॥१२४३॥

सुखमन्तरेणापि अस्ति दुःखं, सुखं पुनरैन्द्रियकं न जायते दुःखं विना ततः सुखार्थी दुःखमेव प्राणात्म-

---

करनेसे मुझे भोगोंकी प्राप्ति हो इस निदानके साथ जो संयम धारण करता है उसका संयम धारण भोगोंके लिये है अर्थात् स्वल्पसुखके लिए बहुत दु:ख उठाता है ॥१२४१॥

आगे कहते हैं कि बाह्य वस्तुसे उत्पन्न होनेवाले इन्द्रिय सुखसे उस सुखमें निमित्त वस्तुका विनाश होनेपर जो दु:ख होता है वह अधिक है, अतः थोड़ेसे सुखके लिये कौन दु:खभीरु ज्ञानी दु:खके समुद्रमें गिरना पसन्द करेगा—

गा०—भोग अर्थात् सुस्वादु भोजन पान आदि और उपभोग अर्थात् स्त्री वस्त्र अलंकार आदिसे होनेवाला सुख तथा सुखके साधनमें निमित्त वस्तुका विनाश होनेपर होनेवाला दु:ख, इन दोनों सुख और दु:खमेंसे भोगके साधनोंका विनाश होनेपर होनेवाला दु:ख बहुत अधिक होता है ॥१२४२॥

गा०—यह शरीर भूख, प्यास, शीत, उष्ण तथा रोगोंसे पीड़ित और विनाशशील है। इसमें जो आसक्त है उसे क्या सुख होता है? वास्तवमें दु:खका प्रतीकार अथवा दु:खको कम करना ही सुख है। अर्थात् दु:खके प्रतीकारको या दु:खकी कमीको ही सुख मान लिया गया है। वास्तवमें सुख नहीं है ॥१२४३॥

सुखके विना भी दु:ख होता है किन्तु इन्द्रियजन्य सुख दु:खके विना नहीं होता। अतः

---

१. कारोत्पत्तौ वा—आ० मु०।

नोऽभिलषति न च दुःखाभिलाषः प्राज्ञस्य युक्त इति कथयति—

सोक्खं अणवेक्खित्ता बाधदि दुक्खमणुगंपि जह पुरिसं ।
तह अणवेक्खिय दुक्खं णत्थि सुहं णाम लोगम्मि ॥१२४४॥

'सोक्खं' सौख्यं । 'अणवेक्खित्ता' अनपेक्ष्य । 'बाधदि दुक्खमणुगं पि' बाधते दुःखमण्वपि । 'जह पुरिसं' यथा पुरुषं । 'तह' तथा । 'अणवेक्खिय' अनपेक्ष्य । 'दुक्खं' दुःखं । 'लोगम्मि णत्थि सुहं' लोके नास्ति सुखं नामेन्द्रियकं । क्षुत्पिपासाभ्यां पीडित एवाशनं पानं चान्वेषते । कठोरातपतप्त एव शीतं, शीतसंकुचिततनुरेव प्रावरणादिकं, वातातपाम्बुभिरेवोपद्रुतो भवनमभिलषति । स्थानासनोपजातश्रम एव शय्यां कामयते । पादगमनजातखेदव्यपोहनार्थैव शिबिकादिकं, वैरूप्यनिराकृतये एव वस्त्राणि भूषणानि च दौर्गन्ध्यनाशनायैव पुष्पककालागुर्वादिकं, वेदनशमनायैव रमण्य इति सर्वं दुःखप्रतीकारमेव । त्रिविधवेदोदयजनितः प्राणिनां लिङ्गत्रयवर्तिनां परस्पराभिलाषः । स तेषां परस्परशरीरसंसर्गे सत्यपि न विनश्यति । अभिलाषनिमित्तानां कर्मणां सद्भावात् । न हि कार्यमविकलकारणसन्निधौ न भवति । कामो हि सेव्यमानो वेदत्रयं प्रत्यग्रमाकर्षति । ततोऽप्यनुभवमुपबृंहयते । कारणसम्पर्कात्कार्यसम्भवो नित्यमिति निरन्तराभिलाषदहनदह्यमानचेतसो न कदाचिन्निर्वृतिरस्ति । अपनीते तु वेदत्रये कारणाभावात् कार्याभाव इति निरवशेषवेदापगमे स्वास्थ्यं यदस्य तदेव सुखमिति मन्यमानो दृष्टान्तं दर्शयति ॥१२४५॥

जो इन्द्रिय सुखका अभिलाषी है वह पहले दुःख चाहता है किन्तु विद्वान्के लिए दुःखकी चाह युक्त नहीं है यह कहते हैं—

गा०—जैसे सुखकी अपेक्षाके विना थोड़ा-सा भी दुःख पुरुषको कष्टदायक होता है वैसे ही लोकमें इन्द्रियजन्य सुख दुःखकी अपेक्षाके विना नहीं है ॥१२४५॥

टी०—भूख और प्याससे पीड़ित पुरुष ही भोजन और पेयको खोजता है। कठोर घामसे पीड़ित शीतल प्रदेश खोजता है। शीतसे जिसका शरीर ठिठुर गया है वही ओढ़ना आदि खोजता है। वायु घाम वर्षा आदिसे पीड़ित ही मकान खोजता है। उठने बैठनेमें थका हुआ ही शय्या चाहता है। पैदल चलनेसे हुए कष्टको दूर करनेके लिए ही सवारी आदि चाहता है। विरूपता दूर करनेके लिए ही वस्त्र आभूषण चाहता है। दुर्गन्ध दूर करनेके लिए ही सुगन्धित द्रव्य लोबान आदि होते हैं। खेद दूर करनेके लिए ही सुन्दर स्त्रियाँ होती हैं। इस तरह सब दुःखके प्रतीकारके लिए हैं। स्त्री लिङ्गी, पुरुष लिङ्गी और नपुंसक लिङ्गी प्राणियोंको स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुंसकवेदके उदयसे परस्परमें रमण करनेकी अभिलाषा होती है। किन्तु वह अभिलाषा परस्परमें शारीरिक संसर्ग होनेपर भी नष्ट नहीं होती; क्योंकि उस अभिलाषामें निमित्त वेदकर्मका सद्भाव है। कारणोंके अविकल होते हुए कार्य अवश्य होता है। कामका सेवन करनेसे नवीन स्त्रीवेद पुरुषवेद या नपुंसकवेदका बन्ध होता है। तथा सत्तामें स्थित इन कर्मोंके अनुभागमें वृद्धि होती है क्योंकि कारणके होनेपर कार्य नित्य ही हुआ करता है। जिनके चित्त निरन्तर अभिलाषारूप आगसे जलते हैं उन्हें कभी भी शान्ति नहीं मिलती। तीनों वेदोंके चले जानेपर कारणका अभाव होनेसे कार्यका भी अभाव होता है। अतः वेदोंका पूर्णरूपसे अभाव होनेपर जो स्वास्थ्य होता है वही सुख है ॥१२४५॥

जह कोडिल्लो अग्गिं तप्पंतो णेव उवसमं लभदि ।
तह भोगे भुंजंतो खणं पि णो उवसमं लभदि ॥१२४५॥

'**जह कोडिल्लो**' यथा कुष्ठेनोपद्रुत.। '**अग्गि तप्पंतो**' अग्निना दह्यमानमूर्तिरपि । '**णेव उवसमं लभदि**' नैव व्याधेरुपशमं लभते । न ह्यग्निरुपशामक कुष्ठस्यापि तु वर्द्धक. । यद्यस्य वृद्धिनिमित्तं न तत्तदुपशमयति । यथा कुष्ठं नोपशमयति वह्निः । वर्धयति चाभिलाषं अवल्लादिमगम '**तह**' तथा । '**भोगे भुंजंतो**' भोगानुभवनोद्यत । '**खणंपि णो उवसमं लभदि**' क्षणमात्रमपि नोपशमं लभते भोगाभिलाषरोगस्य ॥१२४५॥

कच्छुं कंडुयमाणो सुहाभिमाणं करेदि जह दुक्खे ।
दुक्खे सुहाभिमाणं मेहुण आदीहिं कुणदि तहा ॥१२४६॥

'**कच्छुं**' कच्छुं । '**कंडुयमाणो**' नखैर्मर्दयन् । '**सुहाभिमाणं करेइ**' सुखाभिमानं करोति । '**जह दुक्खं**' यथा दुःखे । '**तह मेहुण आदीहिं**' तथा मैथुनादिदुःखै रभसालिङ्गने, अधरदशने, उरस्ताडने नखैर्निशितैरङ्गच्छेदने कचाकर्षणे । उक्तं च—

> नग्नः प्रेत इवाविष्टः स्वनन्निव श्वसन्निव ।
> श्वासायासपरिश्रान्तः स कामी रमते किल ॥१॥ इति ॥ [ ] ॥१२४६॥

घोसादकीं य जह किमि खंतो मधुरित्ति मण्णदि वराओ ।
तह दुक्खं वेदंतो मण्णइ सुक्खं जणो कामी ॥१२४७॥

'**घोसादकीं**' घोषातकीं । '**किमि**' कृमिः । '**खंतो**' भक्षयन् । '**जहा मधुरित्ति**' यथा मधुरमिति मन्यते वराकः । '**तह**' तथैव । '**दुक्खं वेदंतो**' दुःखमनुभवन् । '**मण्णदि सोक्खं जणो कामी**' मन्यते कामिजनः सुखं ॥१२४७॥

इसे दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं—

गा०—जैसे कुष्ठ रोगसे पीड़ित व्यक्तिका शरीर आगमें जलने पर भी कुष्ठ रोग शान्त नहीं होता; क्योंकि आग कुष्ठ रोगको शान्त नहीं करती, बल्कि बढ़ाती है। और जो जिसको बढ़ाता है वह उसको शान्त नहीं कर सकता। जैसे आग कुष्ठ रोगको शान्त नहीं करती। उसी प्रकार स्त्रीका संगम स्त्री विषयक अभिलाषाको बढ़ाता है। अतः जो भोगोंके भोगनेमें तत्पर है उसका भोगकी अभिलाषा रूप रोग एक क्षणके लिए भी शान्त नहीं होता ॥१२४५॥

गा०-टी०—जैसे खाजको नखोंसे खुजाने वाला दुःखको सुख मानता है। उसी प्रकार मैथुनके समय वेगपूर्वक आलिंगन, ओष्ठ काटना, छाती मसलना, तीक्ष्ण नखोंसे शरीर नोंचना, केश खींचना आदिसे होने वाले दुःखको कामी सुख मानता है। कहा भी है—कामी पुरुष पिशाचसे ग्रहीत पुरुषकी तरह नग्न होकर स्त्रीके साथ रमण करता है और श्वास तथा थकानसे पीड़ित होकर शब्द करते हुए श्वास लेता है ॥१२४६॥

गा०—जैसे बेचारा कीट घोषा नामक लताको खाते हुए उसे मीठी मानता है उसी प्रकार कामी जन दुःखका अनुभव करते हुए उसे सुख मानता है ॥१२४७॥

सुट्ठु वि मग्गिज्जंतो कत्थ वि कयलीए णत्थि जह सारो ।
तह णत्थि सुहं मग्गिज्जंते भोगेसु अप्पं पि ॥१२४८॥

'सुट्ठु वि' सुष्टु अपि । 'मग्गिज्जंतो' मृग्यमाणोऽपि । सारः कदल्यां क्वचिदपि मूले मध्येऽन्ते वा यथा नास्ति तथा भोगेष्वन्विष्यमाणं सुखं न विद्यते ॥१२४८॥

ण लहदि जह लेहंतो सुक्खल्लयमट्ठियं रसं सुणहो ।
से सगतालुगरुहिरं लेहंतो मण्णए सुखं ॥१२४९॥

'जध सुणगो सुक्खल्लयमट्ठियं लेहंतो रसं जहा ण लभदि' यथा शुष्कमस्थि लिहन् सन् यथा रसं न लभते । 'सगतालुगरुहिरं लेहंतो सो सोक्खं मण्णदि' तीक्ष्णास्थिच्छिन्नस्वतालुगलितरुधिरमास्वादयन्सुखा-भिमानं करोति । 'जह तह' यथा तथा । 'पुरिसो ण किंचि सुहं लभइ' पुरुषो न किंचित्सुखं लभते ॥१२४९॥

महिलादिभोगसेवी ण लहदि किंचिवि सुहं तथा पुरिसो ।
सो मण्णदे वराओ सगकायपरिस्समं सुक्खं ॥१२५०॥

'महिलादिभोगसेवी' स्त्र्यादिभोगसेवनोद्यतः । तथा 'पुरिसो ण किंचि वि सुहं लहदि' तथा पुरुषो न किंचिदपि सुखं लभते एव । 'सो वराओ सगकायपरिस्समं सोक्खं मण्णदे' स वराकः स्वकायश्रमं सौख्यं मन्यते ॥१२५०॥

अनुभवसिद्धं सुखं कथं नास्तीति शक्यते वक्तुं इत्याशङ्क्य असत्यपि सुखे सुखज्ञानं जगतो भवति विपर्यस्तं सुखकारणस्येति दृष्टान्तोपन्यासेन वदति—

दीसइ जलं व मयतण्हिया हु जह वणमयस्स तिसिदस्स ।
भोगा सुहं व दीसंति तह य रागेण तिसियस्स ॥१२५१॥

'दीसइ वणमयस्स तिसियस्स जहा जलं मयतण्हिया' वने मृगेण हरिणादिना तृषाभिभूतेन जलकांक्षा-

---

गा०—जैसे अच्छी तरह खोजने पर भी केलेके वृक्षमें मूल मध्य या अन्तमें कहीं भी कुछ सार नहीं है वैसे ही खोजने पर भी भोगोंमें कुछ भी सार नहीं है ॥१२४८॥

गा०—जैसे कुत्ता सूखी हड्डीको चबाते हुए रस प्राप्त नही करता। किन्तु तीक्ष्ण हड्डीके द्वारा कटे अपने तालुसे झरते हुए रक्तका स्वाद लेते हुए सुख मानता है ॥१२४९॥

गा०—उसी तरह पुरुष स्त्री आदि विषयभोगमें किञ्चित् भी सुख प्राप्त नहीं करता वह बेचारा अपने शरीरके श्रमको ही सुख मानता है ॥१२५०॥

विषयभोगमें सुख अनुभवसे सिद्ध है आप कैसे कहते हैं कि उसमें सुख नहीं है ऐसी आशंका करने पर दृष्टान्त द्वारा कहते हैं कि सुखके नहीं होने पर भी सुखके कारणमें विपरीत बुद्धि होनेसे जगत्को सुखका बोध होता है—

गा०—जैसे वनमें हरिण आदि जब प्याससे व्याकुल होकर जलकी इच्छा करते हैं तो उन्हे मरीचिका जलके समान प्रतीत होती है किन्तु हरिणके उसे जल मानने पर भी वह जल रूप नहीं होती। उसी प्रकार रागके प्यासेको भोग सुखकी तरह प्रतीत होते हैं ॥१२५१॥

यता जलमिव दृश्यते मृगतृष्णिका । न सा मृगेण जलतयोपलब्धेऽपि जलं भवति । तथा 'रागेण तिसिदस्स भोगा सुहं व दीसंति' रागतृषितेन भोगाः सुखमिव दृश्यन्ते ॥१२५१॥

वग्घो सुखेज्ज मदयं अवगासेऊण जह मसाणम्मि ।
तह कुणिमदेहसंफंसणेण अबुहा सुहायंति ॥१२५२॥

'वग्घो सुखेज्ज' 'श्मशाने व्याघ्रो मृतकमवग्रास्य तृप्यति यथा तथा कुथितदेहसंस्पर्शनेनाबुधा सुखाधिगमहर्षनिर्भरा भवन्ति ॥१२५२॥

भवतु नाम सुखं भोगस्तथापि तदत्यल्पमिति निवेदयति—

तह अप्पं भोगसुहं जह धावंतस्स अठितवेगस्स ।
गिम्हे उण्हातत्तस्स होज्ज छायासुहं अप्पं ॥१२५३॥

'तथा अप्पं भोगसुहं धावंतस्स अठितवेगस्स गिम्हे उण्हातत्तस्स जहा छायासुहं अप्पं तह अप्पं भोगसुहं' धावतोऽस्थितवेगस्य ग्रीष्मे उष्माभितप्तस्य यथा मार्गस्थैकतरुच्छायासुखमल्प भोगसुखं तथा ॥१२५३॥

अहवा अप्पं आसाससुहं सरिदाए उप्पियंतस्स ।
भूमिच्छिक्कंगुट्ठस्स उब्भमाणस्स होदि सोत्तेण ॥१२५४॥

'अहवा' अथवा । 'अप्पं' अल्पं । 'आसाससुहं' आश्वास एव सुखं । 'सरिदाए' नद्या । 'उप्पियंतस्स' निमज्जतः । 'भूमिच्छिक्कंगुट्ठस्स' भूमिस्पृष्टाङ्गुष्ठस्य । 'सोत्तेण उब्भमाणस्स' स्रोतसा प्रवाहेनोह्यमानस्य । अल्पं आश्वाससुखं तद्वदिन्द्रियसुखमत्यल्पमित्यतिक्रान्तेन संबन्धः ॥१२५४॥

इन्द्रियसुखानि यद्यलब्धपूर्वाणि युक्तो विस्मयस्तव तानि सर्वाणि अनन्तवारपरिभुक्तानि तेषु भुक्तेषु परित्यक्तेषु न युक्तो विस्मय इति अनादरं जनयति तेषु सूरि —

जावंति केइ भोगा पत्ता सव्वे अणंतखुत्ता ते ।
को णाम तत्थ भोगेसु विंभओ लद्धविजढेसु ॥१२५५॥

गा०—जैसे श्मशानमें व्याघ्र मुर्देको खाकर सुखी होता है वैसे ही दुर्गन्धित शरीरके आलिंगनमें अज्ञानी सुख मानकर हर्षसे भर जाते हैं ॥१२५२॥

आगे कहते हैं कि भोगमें भले ही सुख हो किन्तु वह सुख अति अल्प है—

गा०—जैसे ग्रीष्म ऋतुमें अत्यन्त वेगसे दौड़ते हुए और मध्यकालके सूर्यकी किरणोंसे संतप्त पुरुषको मार्गमें स्थित एक वृक्षकी छायामें जानेसे थोड़ा-सा सुख होता है वैसे ही भोगमें अति अल्प सुख है ॥१२५३॥

गा०—अथवा नदीमें डूबते हुए और प्रवाहके द्वारा बहाकर ले जाते हुए मनुष्यको भूमिसे अंगूठेके छू जाने पर जैसा अल्प आश्वास सुख होता है कि मैं तट पर लग जाऊँगा, उसी प्रकार इन्द्रियजन्य सुख अति अल्प होता है ॥१२५४॥

गा०—यदि इन्द्रिय सुख पूर्वमें कभी प्राप्त न हुए होते तो उनकी प्राप्तिमें हर्ष होना

---

१. श्मशाने मृतकं शवं भुक्त्वा व्याघ्रस्तृप्यति—आ० ।

'जावंति केइ भोगा' यावन्तः केचन भोगाः। 'ते पत्ते पत्ता अणंतखुत्ता ते' सर्वे प्राप्ता अनन्तवारं तव। 'को णाम तत्थ भोगेसु' को नाम तेषु भोगेषु विस्मयः उच्छिष्टेषूच्छिष्टेषु ॥१२५५॥

भोगतृष्णा निरन्तरं दहति भवन्तं, सेव्यमानाः पुनर्भोगास्तामेव तृष्णां वर्द्धयन्ति ततो भोगेच्छां शिथिलतां नयेति वदति—

जह जह भुंजइ भोगे तह तह भोगेसु वड्ढदे तण्हा।
अग्गीव इंधणाइं तण्हं दीविंति से भोगा ॥१२५६॥

'जह जह भुंजदि भोगे' यथा यथा भोगान्भुङ्क्ते। 'तह तह' तथा तथा। 'भोगेसु वड्ढदे तण्हा' भोगेषु वर्धते तृष्णा। 'अग्गि व' अग्नि वा। यथा 'इंधणाइं' इन्धनानि। 'दीविंति' दीपयन्ति। 'तहा' तथा। 'तण्हं' तृष्णां दीपयन्ति। 'से' तस्य भोक्तुर्भोगाः। तथा चोक्तं—

तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासां। इष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव ॥ [बृहत्स्वयंभू०] ॥१२५६॥

जीवस्स णत्थि तित्ती चिरं पि भोएहिं भुंजमाणेहिं।
तित्तीए विणा चित्तं उब्बूरं उब्बुदं होइ ॥१२५७॥

'जीवस्स' जीवस्य। नास्ति तृप्तिश्चिरकालमपि भोगाननुभवतः पल्योपमत्रयं कालं भोगभूमिषु त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमकालं अमरेषु। तृप्त्या च विना चित्तं। 'उब्बूरं उब्बुदं' उत्पूरं उच्छृतं भवतीति सूत्रार्थः ॥१२५७॥

जह इंधणेहि अग्गी जह व समुद्दो णदीसहस्सेहिं।
तह जीवा ण हु सक्का तिप्पेदुं कामभोगेहिं ॥१२५८॥

'जह इंधणेहिं' यथेन्धनैरग्निर्न तृप्यति। यथा वा समुद्रो नदीसहस्रैः। तथा जीवो न शक्यो भोगैस्तर्पयितुं ॥१२५८॥

उचित था, किन्तु उन सबको तुमने अनन्त बार भोगा है। उन भोगकर छोड़े गये विषयोंमें हर्ष मानना उचित नहीं है। इस प्रकार आचार्य विषयोंके प्रति अनादर भाव उत्पन्न करते हैं—जितने संसारके भोग हैं वे सब तुमने अनन्त बार प्राप्त किये हैं उन प्राप्त करके छोड़े गये विषयोंमे आश्चर्य कैसा ? ॥१२५५॥

आगे कहते हैं कि तुम्हें भोगोंकी तृष्णा निरन्तर जलाती है। भोगोंका सेवन उसी तृष्णाको बढ़ाता है अतः भोगोंकी इच्छाको कम करो—

गा०—जैसे जैसे भोगोंको भोगते हो वैसे वैसे भोगोंकी तृष्णा बढ़ती है। जैसे इंधनसे आग प्रज्वलित होती है वैसे ही भोगोंसे तृष्णा बढ़ती है। कहा भी है—यह तृष्णारूपी ज्वाला सदा जलाती है, इष्ट इन्द्रियोंके विषयोंसे इसकी तृप्ति नहीं होती, बल्कि बढ़ती है ॥१२५६॥

गा०—तीन पल्य तक भोगभूमिमें, तेतीस सागर तक देवोंमें इस तरह चिरकाल तक भोगोंको भोगते हुए भी तृप्ति नहीं होती और तृप्तिके विना चित्त अत्यन्त उत्कण्ठित रहता है ॥१२५७॥

गा०—जैसे ईंधनसे आगकी तृप्ति नहीं होती। अथवा जैसे हजारों नदियोंसे समुद्रकी

देविंदचक्कवट्टी य वासुदेवा य भोगभूमीया।
भोगेहिं ण तिप्पंति हु तिप्पदि भोगेसु किह अण्णो ॥१२५९॥

'देविंद' देवानामधिपतयः, चक्रलाञ्छना वासुदेवा अर्धचक्रवर्तिनः, भोगभूमिजाश्च भोगैर्न तृप्यन्ति। कथमन्यो अनस्तृप्तिमुपेयाद्भोगैः। सुलभामितभोगसाधनाश्चिरजीविनः स्वतन्त्राश्चामी। अन्ये तु भवादृशा जठरभरणमात्रमपि कर्तुं अशक्ताः स्वल्पायुषः, पराधीनवृत्तयश्च तृप्यन्तीति का कथा ॥१२५९॥

संपत्तिविवत्तीसु य अज्जणरक्खणपरिग्गहादीसु।
भोगत्थं होदि णरो उद्दुधुयचित्तो य वण्णो य ॥१२६०॥

'संपत्तिविवत्तीसु य' सम्पत्सु विपत्सु च। 'अज्जणरक्खणपरिग्गहादीसु' द्रव्यस्यालब्धस्यार्जने[1], पुञ्जीकरणे, राशीकृतस्य रक्षणे। पर हस्ते विप्रकीर्णस्य ग्रहणे। आदिशब्देन तद्व्ययकरणे वा। भोगत्थं अनुभवार्थं। अर्जनादिषु प्रवृत्तः। 'उद्दुधुयचित्तो य णरो होदि' चलचित्त उत्कण्ठावांश्च भवति नरः। द्रव्यसम्पदि जातायां रागाच्चलचित्तं भवति। द्रविणादिविनाशे कथं जीवामि पुनर्द्रव्यार्जनं करोमीति ॥१२६०॥

उद्दुधुयमणस्स ण सुहं सुहेण य विणा कुदो हवदि पीदी।
पीदीए विणा ण रदी उद्दुधुयचित्तस्य वण्णस्स ॥१२६१॥

'उद्दुधुयमणस्स' व्याकुलचित्तस्य 'ण सुहं' न सुखं भवति। 'सुहेण य विणा कुदो हवदि पीदी' सुखेन विना कुतो भवति प्रीतिस्तृप्तिः। 'पीदीए विणा' प्रीत्या विना। 'ण रदी' न रतिः। 'उद्दुधुयचित्तस्स' व्याकुलचेतसः। 'वण्णस्स' उत्कण्ठाडाकिन्या गृहीतस्य ॥१२६१॥

तृप्ति नहीं होती, वैसे ही भोगोंसे जीवकी तृप्ति नहीं होती ॥१२५८॥

गा०-टी०—देवोंके अधिपति इन्द्र, चक्रवर्ती, वासुदेव अर्थात् अर्धचक्री और भोगभूमियाँ जीव भी भोगोंसे तृप्त नहीं होते। तब साधारण मनुष्य कैसे भोगोंसे तृप्त हो सकता है? अर्थात् इनके लिए भोगोंके अपरिमित साधन सुलभ हैं, तथा इनकी आयु भी बहुत होनेसे चिरकालतक ये जीवित रहते हैं और किसीके अधीन न होनेसे स्वतन्त्र होते हैं। आप सरीखे साधारण मनुष्य तो पेट भरनेमें भी असमर्थ और थोड़ी आयुवाले तथा पराधीन होते हैं। अतः उनकी भोगोंसे तृप्ति होनेकी तो बात ही क्या है? ॥१२५९॥

गा०—सम्पत्ति होनेपर मनुष्य अप्राप्त द्रव्यके कमानेमें, एकत्र हुए द्रव्यके रक्षणमें, दूसरेके हाथमें गई सम्पत्तिको उससे लेनेमें और आदि शब्दसे उसे खर्च करनेमें, तथा भोगनेमें व्याकुल रहता है और विपत्तिमें अर्थात् धन आदिका विनाश होनेपर कैसे मैं जीवित रहूँगा? कैसे पुनः द्रव्य कमाऊँगा इस उत्कण्ठासे व्याकुल रहता है ॥१२६०॥

गा०—जिसका चित्त व्याकुल रहता है उसे सुख नहीं होता। सुखके विना प्रीति नहीं होती। प्रीतिके विना रति नहो होती। इस तरह जिसका चित्त व्याकुल रहता है और जो उत्कण्ठारूपी डाकिनीसे ग्रस्त है उसे सुख कैसे हो सकता है और सुखके विना प्रीति और प्रीतिके बिना रति सम्भव नहीं है ॥१२६१॥

1. स्वावर्जनं पु०—आ०।

जो पुण इच्छदि रमिदुं अज्झप्पसुहम्मि णिव्वुदिकरम्मि ।
कुणदि रदिं उवसंतो अज्झप्पसमा हु णत्थि रदी ॥१२६२॥

'जो पुण इच्छदि रमिदुं' यः पुना रमितुं इच्छति । 'सो कुणदि रदिं' स करोतु रतिं । क्व ? 'अज्झप्पसुहम्मि' अध्यात्मसुखे । 'णिव्वुदिकरम्मि' निर्वृतिकरे । 'उवसंतो' उपशान्तरागकोपः । एतदुक्तं भवति—मनोज्ञामनोज्ञविषयसन्निधाने स्वसंकल्पहेतुको यौ रागद्वेषौ तौ परित्यज्य निर्वृतितृप्तिकरे अध्यात्मसुखे रतिं करोतु । 'अज्झप्पसमा' आत्मस्वरूपविषया रतिरध्यात्मशब्देनोच्यते । तया सदृशी रतिः । 'णत्थि हु' न विद्यते एव । यस्मात् भोगरतिरध्यात्मनो रत्या न सदृशी ॥१२६२॥

कथम् ?

अप्पायत्ता अज्झप्परदी भोगरमणं परायत्तं ।
भोगरदीए चइदो होदि ण अज्झप्परमणेण ॥१२६३॥

'अप्पायत्ता' स्वायत्ता । 'अज्झप्परदी' आत्मस्वरूपविषया रतिः परद्रव्यानपेक्षणात् । 'भोगरमणं' भोगरतिः 'परायत्तं' परायत्ता परद्रव्यालम्बनत्वात् । तेषां च कथंचिदेव सान्निध्यं क्वचिदेव कस्यचिदेवेति । एतेन स्वायत्ततया परायत्ततया चासाम्यमाख्यातं । प्रकारान्तरेणापि वैषम्यं दर्शयति । 'भोगरदीए चइदो होदि' भोगरत्या च्युतो भवति । न प्रच्युतो भवति 'अज्झप्परमणेण' अध्यात्मरत्या ॥१२६३॥

अनेकविघ्नसहिता विनाशिनी च भोगरतिः, अध्यात्मरतेस्तु भाविताया न नाशो नापि विघ्न इति कथयत्युत्तरगाथा—

भोगरदीए णासो णियदो विग्घा य होंति अदिबहुगा ।
अज्झप्परदीए सुभाविदाए णासो ण विग्घो वा ॥१२६४॥

गा०—टी०—हे क्षपक ! जो तू रमण करना चाहता है तो रागद्वेषका शमन करके परम तृप्तिकारक अध्यात्म सुखमें रति कर । कहनेका अभिप्राय यह है कि इष्ट और अनिष्ट विषयोंके प्राप्त होनेपर 'यह अच्छा है और यह बुरा है' इस प्रकारके संकल्पके कारण जो रागद्वेष होते हैं उन्हें त्यागकर तृप्तिकारक अध्यात्म सुखमें रमण कर । यहाँ अध्यात्म शब्दसे आत्मस्वरूप विषयक रति कही है । उसके समान कोई रति नहीं है । क्योंकि भोगसम्बन्धी रति अध्यात्म विषयक रतिके समान नहीं है ॥१२६२॥

गा०—टी०—क्योंकि आत्मस्वरूप विषयक रति अपने अधीन है उसमें परद्रव्यकी अपेक्षा नहीं है । किन्तु भोग रति पराधीन है क्योंकि उसमें परद्रव्यका अवलम्बन लेना होता है । और परद्रव्य कभी-कभी ही किसी किसीको ही थोड़े बहुत प्राप्त होते हैं । इससे स्वाधीन और पराधीन होनेसे दोनोंमें असमानता कही । अन्य प्रकारसे भी दोनोंमें विषमता बतलाते हैं—

भोग रतिसे तो मनुष्य वंचित हो जाता है किन्तु अध्यात्म रतिसे नहीं होता क्योंकि आत्म द्रव्य सर्वत्र सर्वदा और सर्वथा उसके पास रहता है ॥१२६३॥

भोग रतिमें अनेक विघ्न रहते हैं और वह नष्ट होने वाली है किन्तु भावित अध्यात्म रतिका कभी नाश नहीं होता और न उसमें विघ्न आता है, यह आगे कहते हैं—

'भोगरदीए' भोगरत्याः । 'णियदो णासो' नियतो विनाशः । 'विग्घा य हुंति' विघ्नाश्च भवन्ति । 'अदिबहुगा' अतीव बहवः । 'अज्झप्परदीए' अध्यात्मरतेः । 'सुभाविदाए' सुष्ठु भावितायाः । 'णासो' नाशो, न विद्यते । 'विग्घा वा' विघ्ना वा न सन्ति । नियतं नश्वरतयाऽनश्वरतया वा बहुविघ्नतया, निर्विघ्नतया च तयो रत्योर्वैषम्यमिति भाव ॥१२६४॥

इन्द्रियसुखं शत्रुतया सङ्कल्पनीयं तथा च तत्रादरो जन्तोर्निवृतेः अतो अतीन्द्रियसुखत्वमेव वीतरागत्व-हेतुके संवरे इति मत्वा सूरिर्गाथामभिराह—

दुक्खं उप्पादिंता पुरिसा पुरिसस्स होंति जदि सत्तू ।
अदिदुक्खं कदमाणा भोगा सत्तू किहुं ण हुंती ॥१२६५॥

'दुक्खं उप्पादिंता' दुःखमुत्पाद्य । 'जदि सत्तू होंति' यदि शत्रवो भवन्ति । 'पुरिसा पुरिसस्स' पुरुषाः पुरुषस्य । 'अदिदुक्खं कुणमाणा भोगा' अतीव दुःखं कुर्वन्तो भोगा इन्द्रियसुखानि । 'किध सत्तू ण हुंति' कथं शत्रवो न भवन्ति भवन्त्येवेति । कथं भोगानां दुःखहेतुता एवं मन्यते ? इन्द्रियसुखं नाम स्त्रीवस्त्रगन्धमालादि-परद्रव्यसन्निधानजन्यं । तच्च स्त्र्यादिकं दुर्लभतमं निर्द्रविणस्य, तेन तदर्थं कृष्यादिकर्मणि प्रयतितव्यं । ततो महानायासः । इहैव भवानुगामी दुःखनिमित्तं च कर्म हिंसादिषु प्रवर्तमानोऽर्जयति । तदिमं दुरन्ते संसाराम्भोधौ निमज्जयति । तत्र च निमग्नेन कतमं दुःखमनेन नावाप्यते ॥१२६५॥

शत्रुतमा भोगा इति कथयति—

इहइं परलोगे वा सत्तू मित्तत्तणं पुणमुवेंति ।
इहइं परलोगे वा सदावि दुःखावहा भोगा ॥१२६६॥

'इहइं' अस्मिन्नेव जन्मनि । 'परलोगे वा' परजन्मनि वा । 'सत्तू' शत्रवः । 'मित्तत्तणं' मित्रतां ।

गा०—भोग रतिका नियमसे विनाश होता है तथा उसमें विघ्न भी बहुत हैं। किन्तु अच्छी रीतिसे भावित अध्यात्म रतिका न विनाश होता है और न उसमें कोई विघ्न आते हैं। इस तरह भोगरति नियमसे नश्वर और बहुत विघ्न वाली है तथा अध्यात्मरति निर्विघ्न और अविनाशी है इसलिए दोनोंमें कोई समानता नहीं है ॥१२६४॥

आचार्य कहते हैं कि इन्द्रिय सुखको शत्रुके समान मानो। ऐसा करनेसे उनमें जो आदर-भाव है वह दूर होगा। तथा अतीन्द्रिय सुख ही वीतरागताका कारण होनेसे संवर रूप है—

गा०-टी०—यदि दुःख देने वाले पुरुष पुरुषके शत्रु होते है तो अति दुःख देने वाले भोग अर्थात् इन्द्रिय सुख शत्रु क्यों नहीं है ? अवश्य हैं। भोग दुःखके कारण क्यों हैं यह विचार करें। स्त्री, वस्त्र, गन्धमाला आदि परद्रव्यके मिलनेसे जो होता है उसे इन्द्रिय सुख कहते हैं। वह स्त्री आदि धनहीनके लिए अत्यन्त दुर्लभ हैं। अतः धनकी प्राप्तिके लिए कृषि आदि कर्म करना चाहिए। उससे महान् आरम्भ होता है। हिंसा आदिमें प्रवृत्ति करनेमें इसी भव तथा परभवमें दुःख देने वाले कर्मका उपार्जन करता है। और वह कर्म उसे ऐसे संसार समुद्रमे डुबाता है जिसका पार पाना अत्यन्त कठिन है। उस संसार समुद्रमें डूबकर यह जीव कौन दुःख नहीं भोगता ॥१२६५॥

आगे कहते हैं कि भोग सबसे बड़े शत्रु हैं—

गा०—इस जन्ममें अथवा परजन्ममें शत्रु शत्रुताको छोड़कर मित्र बन जाते हैं। अर्थात्

'दुक्खमुवेंति' पुनढौकन्ते । सम्भवः शत्रुतामपि यान्ति । कार्यवशात्, उपकारातिशयसम्भावनान्मित्रतां वा यान्ति च । बाधा न स्फुटतरा । इहैव तथा परलोके वा 'सव्वदा दुक्खावहा भोगा' सर्वदा दुःखावहा भोगाः । ततः शत्रुतमा इति भावनीयं ॥१२६६॥

एगम्मि चेव देहे करेज्ज दुक्खं ण वा करेज्ज अरी ।
भोगा से पुण दुक्खं करंति भवकोडिकोडीसु ॥१२६७॥

'एगम्मि चेव देहे' एकस्मिन्नेव देहे । 'करेज्ज दुक्खं' ण वा करेज्ज अरी' कुर्याद्दुःखं न वा शत्रुः । 'भोगा पुण' भोगा पुनः । 'से' तस्य । 'दुक्खं करंति' दुःखं कुर्वन्ति । 'भवकोडिकोडीसु' अनन्तेषु भवेषु । एवं भोगदोषानवेत्यात्र निदानं त्वया न कार्यं इत्युपदिष्टं सूरिणा ॥१२६७॥

मधुमेव पिच्छदि जहा तडिओलंबो ण पिच्छदि पपादं ।
तह सणिदाणो भोगे पिच्छदि ण हु दीहसंसारं ॥१२६८॥

'मधुमेव पिच्छदि' मध्वेव पश्यति यथा तटेऽवलम्बमानः । 'ण पिच्छदि' न प्रेक्षते । 'पपादं' प्रपातमात्मनः । 'तह' तथा 'सणिदाणो' निदानसहितः । 'भोगे पिच्छदि' भोगान्प्रेक्षते । 'ण हु पेच्छदि' नैव प्रेक्षते । 'दीहसंसारं' दीर्घसंसारं ॥१२६८॥

जालस्स जहा अंते रमंति मच्छा भयं अयाणंता ।
तह संगादिसु जीवा रमंति संसारमगणंता ॥१२६९॥

'जालस्स' जालस्य । 'अंते' मध्ये । 'जहा मच्छा रमंति' यथा मत्स्या रमन्ते । 'भयमयाणंता' भयमनवबुध्यमानाः । 'तह संगादिसु' तथा परिग्रहादिषु । 'जीवा रमंति' जीवा रमन्ते । 'संसारमगणंता' संसारमगणयन्तः ॥१२६९॥

दुक्खेण देवमाणुसभोगे लद्धूण चावि परिवडिदो ।
णियदमदीदि कुजोणीं जीवो सघरं पउत्थो वा ॥१२७०॥

उपकार आदि करनेसे प्रभावित होकर शत्रु मित्र बन जाते हैं वह भी केवल कहनेके लिए नहीं किन्तु खुले दिलसे मित्र बन जाते हैं। किन्तु भोग इस जन्ममें और परजन्ममें सदा ही दुःखदायी होते हैं। इसलिए वे शत्रुसे भी बड़े शत्रु हैं ॥१२६६॥

गा०—शत्रु एक ही भवमें दुःख दे या न भी दे। किन्तु भोग तो अनन्त भवोंमें दुःख देते हैं ॥१२६७॥

इस प्रकार भोगोंके दोष जानकर हे क्षपक: तुम्हें निदान नही करना चाहिए, ऐसा आचार्य उपदेश देते हैं—

गा०—इस प्रकार जैसे कुएँकी दीवारके एक ओर लटका हुआ मनुष्य टपकने वाले मधुकी बूँदोंको ही देखता है किन्तु अपने गिरनेको नहीं देखता। वैसे ही निदान करने वाला भोगोंको तो देखता है किन्तु अपने दीर्घ संसारको नहीं देखता ॥१२६८॥

गा०—जैसे मत्स्य भयको न जानते हुए जालके मध्यमें उछलते-कूदते हैं, वैसे ही जीव संसारकी चिन्ता न करके परिग्रह आदिमें आनन्द मानते हैं ॥१२६९॥

'दुक्खेण लद्धा' क्लेशेन लब्ध्वा। 'देवमाणुसभोगे' दैवान्मानुषांश्च भोगान्। 'परिवडिदो' परिपतितः प्रच्युतस्ततो भोगाज्जीवः। 'कुजोणीं णियदमवीदि' कुत्सिता योनिं नियतमुपैति। किमिव ? 'सघरं' स्वगृहं, 'पवसणो वा' प्रवासीव ॥११७०॥

जीवस्स कुजोणिगदस्स तस्स दुक्खाणि वेदयंतस्स ।
किं ते करंति भोगा मदोव वेज्जो मरंतस्स ॥१२७१॥

'जीवस्स कुजोणिगदस्स' कुयोनिगतस्य जीवस्य। 'दुक्खाणि वेदयंतस्स' दुःखानि वेदयमानस्य। 'किं ते करेंति भोगा' किं ते कुर्वन्ति भोगाः स्त्रीवस्त्रादय। नैव किञ्चिदपि दुःखलवमपनेतुं क्षमाः। 'मदोव वेज्जो' वैद्यो मृतो यथा। 'मरंतस्स' म्रियमाणस्य न किञ्चित्कर्तुं क्षमः ॥१२७१॥

जह सुत्तबद्धसउणो दूरंपि गदो पुणो व एदि तहिं ।
तह संसारमदीहि हु दूरंपि गदो णिदाणगदो ॥१२७२॥

'जह सुत्तबद्धसउणो' यथा सूत्रेण दीर्घेण बद्धः पक्षी। 'दूरंपि गदो' दूरमपि गतः। 'पुणो एदि तहिं' पुनरप्येति तमेव देशं। 'तह संसारमदीदि हु' संसारशब्दात्परः हु शब्दो द्रष्टव्यः, ततोऽयमर्थ —संसारमेवाभिगच्छतीति। 'दूरं पि गदो' महर्द्धिक स्वर्गादिस्थानमुपगत। 'णिदाणगदो' निदान परभवसुखातिशये मन प्रणिधानं गत. ॥१२७२॥

कश्चिद्बद्धः कारागृहे इयता कालेन तव द्रविणं दास्यामि भवदीयमेव तावत्प्रयच्छेति गृहीत्वा द्रव्यं रोधकेभ्य. प्रदाय स्वगृहे सुखं वसन्नपि पुनर्यथा तैरुत्तमर्णैर्धार्यते तथैव निदानकारी स्वकृतेन पुण्येन परिप्राप्तस्वर्गोऽपि पुनरधः पततीति निगदति—

इन्द्रिय सुख नियमसे कुयोनियोंमें भ्रमण करनेका मूल कारण है क्योंकि अत्यधिक राग-द्वेषकी उत्पत्तिमे निमित्त है। उन कुयोनियोंमें उत्पन्न होकर नाना प्रकारके दुःखोंका अनुभव करने वाले जीवके दुःखोंको, देवगति आदिके भोग वस्त्र अलंकार भोजन आदि दूर करनेमे समर्थ नहीं हैं, ऐसा आगे कहते हैं—

गा०—जैसे देशान्तरमें गया व्यक्ति सर्वत्र घूमकर अपने घरको ही आता है वैसे ही बड़े कष्टसे प्राप्त देव और मनुष्य सम्बन्धी भोगोंको भोगकर उन भोगोंके नष्ट हो जाने पर नियमसे कुयोनिमें आता है ॥१२७०॥

गा०—जैसे मरा हुआ वैद्य मरते हुएकी रक्षा नहीं कर सकता। वैसे ही कुयोनिमें जाकर उस दुःख भोगते हुए जीवका स्त्री वस्त्र आदि भोग क्या कर सकते हैं ? वे उसका किञ्चित् भी दुःख दूर नहीं कर सकते ॥१२७१॥

गा०—जैसे लम्बे धागेसे बंधा पक्षी सुदूर जाकर भी पुनः वहीं लौट आता है। वैसे ही परभव सम्बन्धी विषय सुखमें मन लगाने वाला निदानी महान् वृद्धिसे सम्पन्न स्वर्गादि स्थानोंमें जाकर भी संसारमें ही लौट आता है ॥१२७२॥

जैसे कोई जेलखानेमें पड़ा व्यक्ति, मैं इतना समय बीतने पर तुम्हारा धन तुम्हें लौटा दूंगा तुम मुझे धन दो, ऐसा वादा करके धन लेता है और वह धन जेलके रक्षकोंको देकर अपने घरमें सुखपूर्वक निवास करता है किन्तु उसे पुनः कर्ज देने वाले पकड़ लेते हैं उसी प्रकार निदान करने

दाऊण जहा अत्थं रोधणमुक्को सुहं घरे वसइ ।
पत्ते समए य पुणो रुंभइ तह चेव धारणिओ ॥१२७३॥

'दाऊण' दत्वा । 'अत्थं' अर्थं । 'जह' यथा । 'रोधणमुक्को' रोधेन मुक्तः । 'सुहं घरे वसदि सु' सुखेन गृहे वसति । 'पत्ते समये य' प्राप्ते यावधिकाले । 'पुणो य रुंभइ' पश्चाच्च रुध्यते । 'तथा चेव' पूर्ववदेव । 'धारणीओ' अधमर्णः ॥१२७३॥

दार्ष्टान्तिके योजयति—

तह सामण्णं किच्चा किलेसमुक्कं सुहं वसइ सग्गे ।
संसारमेव गच्छइ तत्तो य चुदो णिदाणकदो ॥१२७४॥

संभूदो वि णिदाणेण देवसुक्खं च चक्कहरसुक्खं ।
पत्तो तत्तो य चुदो उववण्णो [1]तिरियवासम्मि ॥१२७५॥

'संभूदो वि णिदाणेण' निदानेन संभूतः कश्चित् । 'देवसुक्खं' देवसुखं । 'चक्कहरसोक्खं' चक्रधरसौख्यं । 'पत्तो' प्राप्त । 'तत्तो य चुदो' तस्मात्सुखात्प्रच्युतः उत्पन्न. । 'उववण्णो' उपपन्नः । '[3]तिरियवासम्मि' [3]तिर्यग्वासे ॥१२७४॥

णच्चा दुरंतमद्धुयमत्ताणमतप्पयं अविस्सायं ।
भोगसुहं तो तम्हा विरदो मोक्खे मदिं कुज्जा ॥१२७६॥

'णच्चा' ज्ञात्वा । 'दुरंतं' दुरवसानदुःखफलमिति यावत् । 'अद्धुवं' अनित्यं । 'अत्ताणं' अत्राणं । 'अतप्पयं' अतर्पकं । 'अविस्सायं' असकृद्भुक्तं । 'भोगसुहं भोज्यन्ते, सेव्यन्ते इति भोगाः स्त्र्यादयः, तैर्जनितं सुखं । 'तो' पश्चात् । 'तम्हा' तस्मात् । भोगसुखात्, दुरन्तादिदुष्टदोषात् । 'विरदो' व्यावृत्तः । 'मोक्खे' मोक्षे

वाला अपने द्वारा किये गये पुण्यसे स्वर्ग प्राप्त करके भी पुनः गिरता है, यह कहते हैं—

गा०—जैसे धन देकर कारागारसे मुक्त हुआ कर्जदार सुखपूर्वक घरमें रहता है। किन्तु कर्ज चुकानेका समय आने पर पुनः पकड़कर बन्द कर दिया जाता है ॥१२७३॥

गा०—वैसे ही मुनिपद धारण करके निदान करने वाला स्वर्गमें क्लेश रहित सुखपूर्वक रहता है और वहाँसे च्युत होकर संसारमें ही भ्रमण करता है ॥१२७४॥

गा०—संभूत नामक व्यक्ति निदानके द्वारा देवगतिके सुख और चक्रवर्तीके सुखको प्राप्त हुआ अर्थात् मरकर सौधर्म स्वर्गमें उत्पन्न हुआ और वहाँसे मरकर ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती हुआ। उसके पश्चात् मरकर तिर्यञ्चगति (नरक गति) में उत्पन्न हुआ ॥१२७५॥

टी०—जो भोगमें आते हैं उन स्त्री आदिको भोग कहते हैं। उनसे होने वाला सुख ऐसा दुःख देता है जिसका अन्त होना दुष्कर है, तथा वह भोग जन्य सुख अनित्य है, अरक्षक है, उससे तृप्ति नहीं होती, अनादि संसारमें उसे जीवने अनेक बार भोगा है। अतः उससे मनको हटाकर समस्त कर्मोंके अपायरूप मोक्षमें मन लगाना चाहिए। अर्थात् चारित्र और तपका पालन करनेसे

१-२-३. निरय—मु० ।

निरवशेषकर्मापाये । 'मदिं कुज्जा' मति कुर्यात्, अनुष्ठीयमानेन चारित्रेण तपसा वा कर्मक्षमोऽस्तीति मतिं कुर्यात्, न निदानं कुर्यादित्यर्थः ॥१२७६॥

निदानदोषं विस्तरत उपवर्ण्य अनिदानत्वे गुणं व्याचष्टे—

अणिदाणो य मुणिवरो दंसणणाणचरणं विसोवेदि ।
तो सुद्धणाणचरणो तवसा कम्मक्खयं कुणइ ॥१२७७॥

'अणिदाणो य मुणिवरो' अनिदानो यतिवृषभः, 'दंसणणाणचरणं' रत्नत्रयं, 'विसोवेदि' विशोधयति, निदानाभावादनतिचारं सम्यग्दर्शनं शुद्धं भवति, तस्मिन्निर्मले निर्मलं ज्ञानं, निर्मलं विशुद्धज्ञानपुरोगं चारित्रं विशुद्धं भवति, 'तवसा कम्मक्खयं कुणदि' तपसा कर्माणि निरवशेषाणि वियोजयत्यात्मनः ॥१२७७॥

इच्चेवमेदमविचिंतयदो होज्ज हु णिदाणकरणमदी ।
इच्चेवं पस्संतो ण हु होदि णिदाणकरणमदी ॥१२७८॥

'इच्चेवमेदमविचिंतयदो' इत्येवमेतद्वस्तुजातं अविचिन्तयतः । 'होज्ज हु' भवेदेव, 'णिदाणकरणमदी' निदानकरणे बुद्धि:, 'इच्चेवं पस्संतो' इत्येवमेतत्पश्यन्, 'ण हु होदि' नैव भवति 'णिदाणकरणमदी' निदानकरणमतिः । णिदाणं ॥१२७८॥

मायासल्लस्सालोयणाधियारम्मि वण्णिदा दोसा ।
मिच्छत्तसल्लदोसा य पुव्वमुववण्णिया सव्वे ॥१२७९॥

'मायासल्लस्स' मायाशल्यस्य, 'आलोयणाधियारम्मि' आलोचनाधिकारे 'वण्णिदा दोसा' वर्णिता दोषाः, 'मिच्छत्तसल्लदोसा' मिथ्यात्वशल्यदोषाश्च । 'सव्वे' सर्वे, 'पुव्वमुववण्णिया' पूर्वमेव व्यावर्णिताः, शल्यत्रयगतदोषा भवतो व्यावर्णिता इत्यनेन सूरिरेतत्कथयति आबुद्धदोषेण शल्यत्रयं त्वया त्याज्यमिति ॥१२७९॥

मायाशल्यापरित्यागात्प्राप्तदोषमर्थाख्यानेन दर्शयति—

कर्मक्षय होता है ऐसी मति करना चाहिए । निदान नही करना चाहिए ॥१२७६॥

विस्तारसे निदानके दोष बतलाकर निदान न करनेमे गुण कहते हैं—

गा०—निदान न करने वाले मुनिवर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रयको विशुद्ध करते हैं । अर्थात् निदान न करनेसे निरतिचार सम्यग्दर्शन शुद्ध होता है । सम्यग्दर्शनके निर्मल होने पर ज्ञान निर्मल होता है । और निर्मल विशुद्ध ज्ञान पूर्वक चारित्र विशुद्ध होता है । तब विशुद्ध ज्ञान चारित्रसे सम्पन्न मुनि तपके द्वारा सब कर्मोंका क्षय करता है ॥१२७७॥

गा०—उक्त प्रकारसे जो वस्तुस्वरूपका विचार नहीं करता उसकी मति निदान करनेमें लगती है । और जो उसका विचार करता है उसकी मति निदान करनेमें नहीं लगती ॥१२७८॥

गा०—आलोचना अधिकारमें मायाशल्यके दोष कह आये हैं । और मिथ्यात्व शल्यके दोष पूर्वमें ही कहे है । इस प्रकार हे क्षपक ! तीनों शल्योंके दोष आपसे हमने कहे हैं । अब इन दोषोंको जानकर तुम्हे तीनों शल्योंका त्याग करना चाहिए । इससे आचार्य क्षपकके प्रति ऐसा कहते हैं ॥१२७९॥

मायाशल्यका त्याग न करनेसे प्राप्त हुए दोषको दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

पब्भट्ठबोधिलाभा मायासल्लेण आसि पूदिमुही ।
दासी सागरदत्तस्स पुप्फदंता हु विरदा वि ॥१२८०॥

'**पब्भट्ठबोधिलाभा**' प्रभ्रष्टो विनष्टो दीक्षाभिमुखबुद्धिलाभो यस्याः सा प्रभ्रष्टबोधिलाभा । '**आसी**' आसीत् । का ? '**पूदीमुही**' पूतिमुखीसंज्ञिता । '**सागरदत्तस्स दासी**' सागरदत्तवैश्यस्य दासी । केन ? '**माया-सल्लेण**' मायाशल्येन । '**पुप्फदंता हु विरदा वि मायासल्लेण पब्भट्ठबोधिलाभा आसी**' इति पदसम्बन्धाः पुष्पदन्ताख्या संयता च मायया प्रभ्रष्टबोधिलाभा आसीत् । मायाशल्यं ॥१२८०॥

मिच्छत्तसल्लदोसा पियधम्मो साधुवच्छलो संतो ।
बहुदुक्खे संसारे सुचिरं पडिहिंडिओ मरीची ॥१२८१॥

'**मिच्छत्तसल्लदोसा**' मिथ्यात्वशल्यदोषात् । '**पियधम्मो**' प्रियधर्मः । '**साधुवच्छलो संतो**' साधूनां वत्सलोऽपि सन् मरीचिः । '**संसारे सुचिरं पडिहिंडिओ**' संसारे सुचिरं भ्रान्तः, कीदृशे ? '**बहुदुक्खे**' बहुदुःखे । मिथ्याशल्यं ॥१२८१॥

एवं निर्यापकेण सूरिणा संस्तूयमानः साधुवर्गो निर्वाणपुरं प्रविशतीति दर्शयति उत्तरप्रबन्धेन—

इय पव्वज्जाभंडिं समिदिबइल्लं तिगुत्तिदिढचक्कं ।
रादियमोयणउद्धं सम्मत्तक्खं सणाणधुरं ॥१२८२॥

[1]'**इय सारमिच्छंतो साधुवग्गसत्थो साधुवणियगो संसारमहाडवि तरदित्ति**' पदघटना । व्यावर्णितक्रमेण संक्रियमाणः साधुवृन्दसार्थः संसारमहाटवीं तरति । '**पव्वज्जाभंडिमारुहिय पच्छिदो**' प्रव्रज्याभण्डिमारुह्य प्रस्थितः, '**समिदिबइल्लं**' समितिबलीवर्दां, '**तिगुत्तिदिढचक्कं**' त्रिगुप्तिदृढचक्रां, '**सम्मत्तक्खं**' सम्यक्त्वाक्षां, '**सणाणधुरं**' समीचीनज्ञानधूर्वंती ॥१२८२॥

गा०—पुष्पदन्ता नामकी आर्यिका आर्यिका होनेपर भी मायाशल्यके कारण दीक्षाके अभिमुख होनेकी बुद्धिके लाभसे भ्रष्ट होकर सागरदत्त वैश्यके घरमें पूतिमुखी नामकी दासी हुई ॥१२८०॥

विशेषार्थ—इसकी कथा वृहत्कथाकोशमें ११० नम्बरपर कही है ॥१२८०॥

मायाशल्यका वर्णन हुआ ।

गा०—धर्मप्रेमी और साधुओंके प्रति वात्सल्यभाव रखनेवाला मरीचिकुमार मिथ्यात्व-शल्य दोषके कारण बहु दुःखपूर्ण संसारमें भ्रमता हुआ ॥१२८१॥

विशेषार्थ—यह मरीचिकुमार भरतका पुत्र था जो महावीर तीर्थंकर हुआ। भगवान् आदिनाथके मुखसे अपना तीर्थंकर होना सुनकर यह भ्रष्ट हो गया था ॥१२८१॥

आगे कहते हैं कि इस प्रकार निर्यापकाचार्यके द्वारा संस्तुत साधुवर्गके साथ क्षपक मोक्ष-नगरमें प्रवेश करते हैं—

गा०—इस प्रकार क्षपकसाधुरूपी व्यापारी दीक्षारूपी गाड़ीपर साधुओंके संघके साथ चढ़कर निर्वाणरूपी भाँडके लिए सिद्धिपुरीकी ओर प्रस्थान करता है। उस दीक्षारूपी गाड़ीमें

---

१. 'इयसारमिच्छंतो साधुवृन्दसार्थः संसारमहाटवी तरति'—आ० ।

वदभंडभरिदमारूहिदसाहुसत्थेण पत्थिदो समयं ।
णिव्वाणभंडहेदुं सिद्धपुरीं साधुवाणियओ ॥१२८३॥

'वदभंडभरिदं' व्रतभाण्डपूर्णं । 'साहुसत्थेण पत्थिदो समयं' साधुसार्थेन सह प्रस्थितः । किं प्रति ? सिद्धिपुरं । 'णिव्वाणभंडहेदुं' निर्वाणद्रव्यनिमित्तं । 'साधुवाणियओ' क्षपकसाधुवणिक् ॥१२८३॥

आयरियसत्थवाहेण णिच्चजुत्तेण सारविज्जंतो ।
सो साहुवग्गसत्थो संसारमहाडविं तरइ ॥१२८४॥

'आयरियसत्थवाहेण' आचार्यसार्थवाहेन । 'णिच्चजुत्तेण' सर्वदानपायिना । 'सारविज्जंतो' 'संस्क्रियमाणः[1] ॥१२८४॥

तो भावणादियंतं रक्खदि तं साधुसत्थमाउत्तं ।
इंदियचोरेहिंतो कसायबहुसावदेहिं च ॥१२८५॥

'तो' ततः । 'भावणादियंतं रक्खदि' भावनादिभि प्रयत्नं रक्षति । 'तं साधुसत्थं' तं साधुसार्थं । 'आउत्तं' आयुक्तं आत्मना । कुतो रक्षति इत्याशङ्कायां उत्तरं—'इंदियचोरेहिंतो' इन्द्रियचौरेभ्यः । 'कसायबहुसावदेहिं च' कषायबहुश्वापदेभ्यश्च ॥१२८५॥

विसयाडवीए मज्झे ओहीणो जो पमाददोसेण ।
इंदियचोरा तो से चरित्तभंडं विलुंपंति ॥१२८६॥

'विसयाडवीए मज्झे' स्पर्शरसरूपगन्धशब्दादिविषया अटवीव ते दुरतिक्रमणीया. । तस्या विषयाटव्या मध्ये । 'जो ओहीणो' य. साधुरपसृतः । 'पमाददोसेण' प्रमादाख्येन दोषेण । 'इंदियचोरा' इन्द्रियाख्याश्चोराः । 'से' तस्यापसृतस्य साधुवणिजः । 'चरित्तभंडं' चरित्रभाण्डं । 'विलुंपंति' अपहरन्ति । सन्निहितमनोज्ञामनोज्ञविषयजाः इन्द्रियमत्यनुयायिनो रागद्वेषाश्चारित्रं विनाशयन्ति प्रमादिनः । आचार्यस्तु ध्याने स्वाध्याये प्रवर्तयन् प्रमादमपसारयतीति नेन्द्रियचौरैर्बध्यते इति भावः ॥१२८६॥

समितिरूपी बैल जुड़े हैं, तीन गुप्तिरूपी उसके मजबूत चक्के हैं। रात्रि भोजनसे निवृत्तिरूप दो दीर्घ दण्डे हैं। सम्यक्त्वरूपी अक्ष है समीचीनज्ञानरूपी धुरा है ॥१२८२–८३॥

गा०—आचार्य उस संघके नायक है जो निरन्तर सावधान है। उनके द्वारा बार-बार सन्मार्गमें लगाया गया वह आराधक साधु समुदाय संसाररूपी महावनको पार करता है ॥१२८४॥

गा०—वह संघपति आचार्य अपने द्वारा भावना आदिमें नियुक्त उस साधु समुदायकी इन्द्रियरूपी चोरोंसे और कषायरूपी अनेक जंगली हिंसक जानवरोंसे रक्षा करता है ॥१२८५॥

गा०-टी०—स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, शब्द आदि विषय अटवीके समान बड़े कष्टसे लांघे जाते हैं इसलिए उन्हे अटवी (घोर वन) की उपमा दी है। उस विषयरूपी अटवीके मध्यमे जो साधु प्रमाद दोषसे जाता है उसके चारित्ररूपी धनको इन्द्रियरूपी चोर चुरा लेते हैं। अर्थात् प्राप्त इष्ट अनिष्ट विषयोंको लेकर इन्द्रिय बुद्धिके अनुसार उत्पन्न हुए रागद्वेष उस प्रमादी मुनिके चारित्रको नष्ट कर देते हैं। किन्तु आचार्य ध्यान और स्वाध्यायमें लगाकर प्रमादोंको दूर करता

---

१. संस्क्रियमाण—मु०, मूलारा० ।

अहवा तम्मिल्लुक्काइं कूराइं कसायसावदाइं तं ।
खज्जंति असंजमदाढाहिं संकिलेसादिदंसेहिं ॥१२८७॥

'अहवा' अथवा । 'तम्मिल्लुक्काइं' अपसृतजनलिप्सावन्तः । 'कूराइं' क्रूराः । 'कसायसावयाइं' कषाय-व्यालमृगाः । तं अपसृतं । 'खज्जंति' भक्षयेयुः । 'असंजमदाढाहिं' असंयमदंष्ट्राभिः । 'संकिलेसविदंसेहिं' संक्लेशादिदंशैश्च । इन्द्रियाणां कषायाणां वा वशे निपतत्यसति निर्यापके सूराविति भावः ॥१२८७॥

तयोरिन्द्रियकषाययोः प्रवृत्तिरनेकदोषमूलेति कथयति—

ओसण्णसेवणाओ पडिसेवंतो असंजदो होइ ।
सिद्धिपहपच्छिदाओ ओहीणो साधुसत्थादो ॥१२८८॥

इंदियकसायगुरुगत्तणेण सुहसीलभाविदो समणो ।
करणालसो भवित्ता सेवदि ओसण्णसेवाओ ॥१२८९॥

'इंदियकसायगुरुगत्तणेण' तीव्रेन्द्रियकषायपरिणामतया । 'सुहसीलभाविदो समणो' सुखसमाधिभावितः श्रमणः । 'करणालसो' त्रयोदशविधासु क्रियासु अलसः । 'भवित्ता' भूत्वा । 'सेवदि' सेवते । 'ओसण्णसेवाओ' अवसन्नसेवाः भ्रष्टचारित्राणां क्रियासु प्रवर्तते इति यावत् । ओसण्णो ॥१२८९॥

केई गहिदा इंदियचोरेहिं कसायसावदेहिं वा ।
पंथं छंडिय णिज्जंति साधुसत्थस्स पासम्मि ॥१२९०॥

'केई गहिदा इंदियचोरेहिं' केचिद्गृहीता इन्द्रियचौरैः । 'कसायसावदेहिं तहा' तथा कषायश्वापदैश्च गृहीताः । 'साधुसत्थस्स पंथं छंडिय' साधुसार्थस्य पन्थानं त्यक्त्वा । 'पासम्मि णिज्जंति' पार्श्वं यान्ति ॥१२९०॥

है इसलिए इन्द्रिय चोर नही सताते, यह उक्त कथनका भाव है ॥१२८६॥

गा०—अथवा उस विषयरूपी अटवीमें फँसे हुए लोगोंको खानेके इच्छुक क्रूर कषायरूपी सिंहादि उस आगत साधुको असंयमरूपी दाढ़ोंसे और रागद्वेष मोहरूपी दाँतोंसे खा जाते हैं। कहनेका भाव यह है कि निर्यापकाचार्यके अभावमें क्षपक इन्द्रियों और कषायोंके फन्देमें फँस जाता है ॥१२८७॥

आगे कहते हैं कि इन्द्रिय और कषायकी प्रवृत्ति अनेक दोषोंका मूल है—

गा०—जो साधु चारित्र भ्रष्ट साधुओंकी क्रिया करता है वह असंयमी होकर साधुओंके संघसे बाहर हो जाता है और मोक्षमार्गसे दूर हो जाता है ॥१२८८॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूप तीव्र परिणाम होनेसे सुखपूर्वक समाधिमें लगा साधु तेरह प्रकारकी क्रियाओंमें आलसी होकर चारित्र भ्रष्ट साधुओंकी क्रिया करने लगता है ऐसा साधु अवसन्न कहलाता है ॥१२८९॥

गा०—कोई साधु इन्द्रियरूपी चोरों और कषायरूपी हिंसक जीवोंके द्वारा पकड़े जाकर साधु संघके मार्गको छोड़कर साधुओंके पार्श्ववर्ती हो जाते हैं। साधु संघके पार्श्ववर्ती होनेसे इन्हें पासत्थ या पार्श्वस्थ कहते हैं ॥१२९०॥

तो साधुसत्थपंथं छंडिय पासम्मि णिज्जमाणा ते ।
गारवमहिण्णकुडिल्ले पडिदा पावेंति दुक्खाणि ॥१२९१॥

'तो साधुसत्थपंथं' साधुसार्थस्य पन्थानं । 'छंडिय' त्यक्त्वा । 'पासम्मि' पार्श्वे । 'णिज्जमाणा ते' नीयमानास्ते । 'गारव महिण्ण कुडिल्ले' चिरऋद्धिरससातगौरवसञ्छन्ने गहने । 'पडिदा' पतिताः । 'पावेंति' प्राप्नुवन्ति । 'दुक्खाणि' दुःखानि ॥१२९१॥

सल्लविसकंटएहिं विद्धा पडिदा पडंति दुक्खेसु ।
विसकंटयविद्धा वा पडिदा अडवीए एगागी ॥१२९२॥

'सल्लविसकंटएहिं विद्धा' मिथ्यात्वमायानिदानशल्यकण्टकैर्वा विद्धाः 'पडिदा' पतिताः । 'दुक्खेसु पडंति' दुःखेषु पतन्ति । 'विसकंटयविद्धा अडवीए एगागी पडिदा इव' विषकण्टकेन विद्धा अटव्यामेकाकिनः पतिता यथा दुःखेषु पतन्ति तथैवेति दार्ष्टान्तिके योजना ॥१२९२॥

पंथं छंडिय सो जादि साधुसत्थस्स चेव [1]पासाओ ।
जो पडिसेवदि पासत्थसेवणाओ हु णिद्धम्मो ॥१२९३॥

साधुसार्थस्य पन्थानं त्यक्त्वा कस्य पार्श्वे याति यस्यामी दोषा व्यावर्णिताः—गौरवगहने पातः शल्य-विषकण्टकवेधादयश्चेत्याशङ्कायां वदति । 'पंथं छंडिय साधुसत्थस्स सो जादि' परित्यज्य साधुसार्थस्य पन्थान-मसौ याति । 'पासम्मि' पार्श्वे । 'जो पडिसेवदि' यः प्रतिसेवते, 'पासत्थसेवणाओ हु' पार्श्वस्थसेवनाः, 'णिद्धम्मो' धर्मश्चारित्रं तस्मादपगतः, धर्मादपगतः सन्पार्श्वस्थाचरणीयासु क्रियासु प्रवर्तते ॥१२९३॥

सैवं कथं निर्धर्मता तस्येत्याशङ्क्य वदन्ति—

इंदियकसायगरुयत्तणेण चरणं तणं व पस्संतो ।
णिद्धम्मो हु सवित्ता सेवदि पासत्थसेवाओ ॥१२९४॥

'इंदियकसायगुरुगत्तणेण' इन्द्रियकषायविषयैर्गौरवाच्च रागद्वेषपरिणामयोः क्रोधादिपरिणामानां च

गा०—साधु समूहके मार्गको छोड़कर पार्श्वस्थ मुनिपनेको प्राप्त हुए वे ऋद्धिगौरव, रस-गौरव और सातगौरवसे भरे गहन वनमें पड़कर तीव्र दुःख पाते हैं ॥१२९१॥

गा०—अथवा जैसे विषैले काँटोंसे बिंधे हुए मनुष्य अटवीमें अकेले पड़े हुए दुःख पाते हैं, वैसे ही मिथ्यात्व माया और निदानशल्यरूपी काँटोंसे बींधे हुए वे पार्श्वस्थ मुनि दुःख पाते हैं ॥१२९२॥

गा०—वह पार्श्वस्थ मुनि साधु संघका मार्ग त्यागकर ऐसे मुनिके पास जाता है जो चारित्रसे भ्रष्ट होकर पार्श्वस्थ मुनियोंका आचरण करता है ॥१२९३॥

वह मुनि चारित्र भ्रष्ट क्यों है ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०-टी०—इन्द्रिय, कषाय और विषयोंके कारण रागद्वेषरूप परिणामों और क्रोधादि

---

१. पासम्मि–अ० ।

तीव्रत्वात् । 'चरणं' चारित्रं, 'तणं व' तृणमिव, 'पस्संतो' पश्यन् रागादयोऽप्यशुभपरिणामास्तत्त्वज्ञानस्य प्रतिबन्धकास्तेन सकलुषं ज्ञानचारित्रं निस्सारमिव पश्यति, तत एव तत्राकृतादरः चारित्रादपैतीति निर्द्धर्मतास्य । ततः पार्श्वस्थसेवासु प्रवर्तते । 'पासत्थो' ॥१२९४॥

इंदियचोरपरद्धा कसायसावदभएण वा केई ।
उम्मग्गेण पलायंति साधुसत्थस्स दूरेण ॥१२९५॥

'इंदियचोरपरद्धा' इन्द्रियचोरकृतोपद्रवाः । 'कसायसावदभएण वा केई' कषायव्यालमृगभयेन वा केचित् । 'उम्मग्गेण' उन्मार्गेण 'पलायंति' पलायनं कुर्वन्ति । 'साधुसत्थस्स दूरेण' साधुसार्थस्य दूरात् ॥१२९५॥

तो ते कुसीलपडिसेवणावणे उप्पधेण धावंता ।
सण्णाणदीसु पडिदा किलेससोदेण वुड्ढंति ॥१२९६॥

'तो' ततः साधुसार्थाद्दूरादपसृताः, 'कुसीलपडिसेवणावणे' कुशीलप्रतिसेवनावने, 'उप्पधेण' उन्मार्गेण । 'धावंता' धावन्तः । 'सण्णाणदीसु' संज्ञानदीषु । 'पडिदा' पतिताः । 'किलेससोदेण' क्लेशस्रोतसा । 'वुड्ढन्ति' ते बुडन्ति ॥१२९६॥

सण्णाणदीसु ऊढा वुड्ढा थाहं कहंपि अलहंता ।
तो ते संसारोदधिमदंति बहुदुक्खभीसम्मि ॥१२९७॥

'सण्णाणदीसु ऊढा' संज्ञानदीभिराकृष्टाः संतो निर्मग्नाः 'थाहं' अवस्थानं 'कहिंपि' क्वचिदपि 'अलहंता' अलभमानाः । 'तो' पश्चात् । 'संसारोदधिमदंति' संसारसागरं प्रविशन्ति । 'बहुदुक्खभीसम्मि' बहुदुःखभीष्मं ॥१२९७॥

आसागिरिदुग्गाणि य अदिगम्म तिदंडकक्खडसिलासु ।
ऊलोढिदपब्भट्ठा लुप्पंति अणंतयं कालं ॥१२९८॥

परिणामोंके तीव्र होनेसे वह चारित्रको तृणके समान मानता है। क्योंकि रागादिरूप अशुभ परिणाम तत्त्वज्ञानके प्रतिबन्धक होते हैं। अतः उसका ज्ञान दूषित होनेसे वह चारित्रको सारहीन मानता है। इसीसे वह उसमें आदरभाव न रखनेके कारण चारित्रसे च्युत होता है। इसीसे उसे चारित्र भ्रष्ट कहा है। चारित्र भ्रष्ट होकर वह पार्श्वस्थ मुनियोंकी सेवामें लग जाता है। यह पार्श्वस्थ मुनिका कथन है ॥१२९४॥

गा०—अथवा कोई मुनि इन्द्रियरूपी चोरोंसे पीड़ित होकर कषायरूप हिंसक प्राणियोंके भयसे साधु संघसे दूर होकर उन्मार्गमें चले जाते हैं ॥१२९५॥

गा०—साधु संघसे दूर होकर वे मुनि कुशील प्रतिसेवनारूप वनमे उन्मार्गसे दौड़ते हुए आहार भय मैथुन परिग्रहरूप संज्ञानदीमें गिरकर कष्टरूपी प्रवाहमें पड़कर डूब जाते हैं ॥१२९६॥

गा०—संज्ञारूप नदीमें डूबनेपर उन्हें कहीं भी ठहरनेका स्थान नहीं मिलता अतः वे बहुत दुःखोंसे भयानक संसार समुद्रमें प्रवेश करते हैं ॥१२९७॥

गा०—संसार समुद्रमें प्रवेश करनेपर आशारूपी पहाडोंको लांघते हुए मन-वचन-कायकी

'आसागिरिदुग्गाणि य' आशागिरिदुर्गाणि च । 'अदिगम्म' अतिक्रम्य । 'तिव्वदुक्खकडसिलासु' तीव्रदुःखकंटकशिलासु । 'अलोट्टिय' 'कम्मदुरा' अवलुण्ठिताः सन्तः प्रभ्रष्टाः 'गमेंति' गमयन्ति । 'अणंतयं कालं' अनंतं कालं ॥१२९८॥

बहुपावकम्मकरणाडवीसु महदीसु विप्पणट्ठा वा ।
अदिट्ठणिव्वुदिपधा भमंति सुचिरंपि तत्थेव ॥१२९९॥

'बहुपावकम्मकरणाडवीसु' बहुविधाण्यशुभकर्माण्येवाटव्यः तासु 'महदीसु' दीर्घासु । 'विप्पणट्ठा' विप्रनष्टाः । 'अदिट्ठणिव्वुदिपधा' अदृष्टनिर्वृतिमार्गाः । 'भमंति' भ्रमन्ति । 'सुचिरंपि' सुचिरमपि । 'तत्थेव' तत्रैव ॥१२९९॥

दूरेण साधुसत्थं छंडिय सो उप्पधेण खु पलादि ।
सेवदि कुसीलपडिसेवणाओ जो सुत्तदिट्ठाओ ॥१३००॥

'दूरेण साधुसत्थं' दूरात्साधुसार्थं । 'छंडिय' त्यक्त्वा । 'सो' सः । 'उप्पधेण खु' उन्मार्गेण । 'पलादि' पलायते । 'सेवदि कुसीलपडिसेवणाओ' सेवते कुशीलप्रतिसेवनाः । 'जो' यः । 'सुत्तणिदिट्ठाओ' सूत्रनिर्दिष्टाः ॥१३००॥

इंदियकसायगुरुगत्तणेण चरणं तणं व पस्संतो ।
णिद्धंधसो भवित्ता सेवदि हु कुसीलसेवाओ ॥१३०१॥

'इंदियकसायगुरुगत्तणेण' इन्द्रियकषायपरिणामानां गुरुत्वेन । 'चरणं तणं व पस्संतो' चरणं तृणमिव पश्यन् । 'णिद्धंधसो भवित्ता' अह्रीको भूत्वा । 'सेवदि' सेवते कुशीलसेवाः ॥ कुशीला ॥१३०१॥

सिद्धिपुरमुवल्लीणा वि केइ इंदियकसायचोरेहिं ।
पविलुत्तचरणभंडा उवहदमाणा णिवट्टंति ॥१३०२॥

दुष्प्रवृत्तिरूप शिलाओंपर लुढ़कते हुए गिरकर अनन्तकाल बिताते हैं ॥१२९८॥

विशेषार्थ—पहले वे उत्तरगुण छोड़ते हैं फिर मूलगुण और सम्यक्त्वसे भी भ्रष्ट होकर संसारमें भ्रमण करते हैं ॥१२९८॥

गा०—अनेक प्रकारके अशुभकर्मरूप सुदीर्घ अटवीमें भटकते हुए वे निर्वाणका मार्ग कभी देखा न होनेसे चिरकालतक वहीं भ्रमण करते रहते हैं ॥१२९९॥

गा०—वे दूरसे ही साधुसंगको त्यागकर कुमार्गमें दौड़ते हैं। और आगममें कहे कुशील मुनिके दोषोंको करते हैं ॥१३००॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूप परिणामोंकी तीव्रताके कारण चारित्रको तृणके समान मानते हैं और निर्लज्ज होकर कुशीलका सेवन करते हैं ॥१३०१॥

इस प्रकार कुशील मुनिका कथन हुआ।

गा०—कोई-कोई मुक्तिपुरीके निकट तक जाकर भी इन्द्रिय और कषायरूपी चोरोंके द्वारा चारित्ररूपी धन चुराये जानेपर संयमका अभिमान त्यागकर उससे लौट आते हैं ॥१३०२॥

'सिद्धिपुरमुवल्लीणा वि' सिद्धिपुरमुपलीना अपि। 'केई' केचित्। 'इंदियकसायचोरेहिं' इन्द्रियकषाय-चोरैः। 'पविलुत्तचरणभंडा' अपहृतचारित्रभाण्डाः। 'उवहदमाणा' उपहताभिमाना। 'णिवद्‌दंति' निर्वर्तन्ते ॥१३०२॥

तो ते सीलदरिद्दा दुक्खमणंतं सदा वि पावंति।
बहुपरियणो दरिद्दो पावदि तिव्वं जधा दुक्खं ॥१३०३॥

'तो' पश्चात्। 'ते सीलदरिद्दा' ते शीलदरिद्राः। 'दुक्खं' दुःखं। 'अणंतं' अन्तातीतं। 'सदा वि पावंति' सदा प्राप्नुवन्ति। 'बहुपरियणो' बहुपरिजनो। 'दरिद्दो' दरिद्रः। 'पावदि दुक्खं तिव्वं' प्राप्नोति दुःखं तीव्रं यथा ॥१३०३॥

सो होदि साधुसत्थादु णिग्गदो जो भवे जधाछंदो।
उस्सुत्तमणुवदिट्ठं च जधिच्छाए विकप्पंतो ॥१३०४॥

'सो होदि' स भवति। 'साधुसत्था‌दु णिग्गदो' साधुसार्थान्निर्गतः। 'जो हवे जधाछंदो' यो भवति स्वेच्छावृत्तिः। 'उस्सुत्तं' उत्सूत्रं। 'अणुवदिट्ठं' अनुपदिष्टं च स्थविरैः। 'जधिच्छाए विकप्पंतो' यथेच्छया विकल्पयन् ॥१३०४॥

जो होदि जधाछंदो तस्स धणिदंपि संजमितस्स।
णत्थि दु चरणं चरणं खु होदि सम्मत्तसहचारी ॥१३०५॥

'जो होदि जधाछंदो' यो भवति स्वेच्छावृत्तिः। 'तस्स धणिदंपि संजमितस्स' तस्य नितरामपि संयमे प्रवर्तमानस्य। 'णत्थि दु' नास्त्येव। 'चरणं' चारित्रं। 'चरणं खु होदि सम्मत्तसहचारी' सम्यक्त्वसहचार्येव यतेश्चारित्रं। स्वच्छन्दवृत्तेस्तु यत्किंचित्परिकल्पयतः सूत्रमननुसरतः नैव सम्यग्दर्शनमस्ति। तदन्तरेण सम्यक्चारित्रं नैव भवति ॥१३०५॥

इंदियकसायगुरुगत्तणेण सुत्तं पमाणमकरंतो।
परिमाणेदि जिणुत्ते अत्थे सच्छंददो चेव ॥१३०६॥

गा०—पश्चात् वे शीलसे दरिद्र मुनि सदा अनन्त दुःख पाते हैं। जैसे बहुत परिवारवाला दरिद्र मनुष्य तीव्र दुःख पाता है ॥१३०३॥

अब यथाच्छन्द मुनिका स्वरूप कहते हैं—

गा०—साधुसंघसे निकलकर जो पूर्वाचार्योंके द्वारा नहीं कहे आगम विरुद्ध मार्गकी अपनी इच्छानुसार कल्पना करता है वह यथाच्छन्द मुनि होता है ॥१३०४॥

गा०-टी०—जो स्वच्छन्दचारी मुनि होता है वह संयममें अत्यन्त प्रवृत्ति भी करे तो भी उसका चारित्र चारित्र नहीं है क्योंकि सम्यक्त्वके साथ जो चारित्र होता है वही चारित्र होता है। जो स्वच्छन्दचारी होता है वह तो जो उसकी इच्छा होती है तदनुसार आचरण करता है। आगमका अनुसरण नहीं करता, अतः उसके सम्यग्दर्शन नहीं है। और सम्यग्दर्शनके विना सम्यक्चारित्र नहीं होता ॥१३०५॥

'इंदियकसायगुरुगत्तणेण' कषायाक्षगुरुकृतत्वेन सूत्रमप्रमाणयन् । 'परिमाणेदि' अन्यथा गृह्णाति । 'जिणुत्ते अत्थे' जिनोक्तानर्थान् । 'सच्छंदो चेव' स्वेच्छाभिप्रायेणैव ॥ अथाछंद ॥१३०६॥

इंदियकसायदोसेहिं अधवा सामण्णजोगपरितंतो ।
जो उव्वायदि सो होदि णियत्तो साधुसत्थादो ॥१३०७॥

'इंदियकसायदोसेहिं' इंद्रियकषायदोषैः । 'अधवा सामण्णजोगपरितंतो' अथवा सामान्ययोगेन दान्तः । 'जो उव्वायदि' यश्चारित्राच्च्यवते । 'सो होदि' स भवति । 'णियत्तो साधुसत्थादो' निवृत्तः साधुसार्थात् ॥१३०७॥

इंदियकसायवसिया केई ठाणाणि ताणि सव्वाणि ।
पाविज्जंते दोसेहिं तेहिं सव्वेहिं संसत्ता ॥१३०८॥

'इंदियकसायवसिया' इन्द्रियकषायवशगा । 'केई' केचित् । 'ठाणाणि ताणि सव्वाणि' तान्यशुभस्थानपरिणामानि । 'पाविज्जंति' प्राप्यन्ते । 'दोसेहिं तेहिं सव्वेहिं संसत्ता' दोषैस्तैः सर्वैः ससक्ता । संसत्ता ॥१३०८॥

इय एदे पंचविधा जिणेहिं सवणा दुगुंच्छिदा सुत्ते ।
इंदियकसायगुरुयत्तणेण णिच्चंपि पडिकुद्धा ॥१३०९॥

पासत्थत्तिगदं ॥१३०९॥

दुट्ठा चवला अदिदुज्जया य णिच्चं पि समणुबद्धा य ।
दुक्खावहा य भीमा जीवाणं इंदियकसाया ॥१३१०॥

'दुट्ठा' दुष्टा आत्मोपद्रवकारित्वात् । 'चवला' अनवस्थितत्वात् । 'अदिदुज्जया य' अतीव दुर्जयाः अनुपलब्धचारित्रमोहक्षयोपशमप्रकर्षेण जीवेन दुःखेन अभिभूयन्ते इति । 'णिच्चंपि' नित्यमपि । 'समणुबद्धा य'

गा०—इन्द्रिय और कषायोकी प्रबलताके कारण वह आगमको प्रमाण नही मानता। और अपनी इच्छाके अनुसार जिनभगवान्के द्वारा कहे गये अर्थको विपरीतरूपसे ग्रहण करता है ॥१३०६॥

गा०—इन्द्रिय और कषायोंके दोषसे अथवा सामान्य योगसे विरक्त होकर जो चारित्रसे गिर जाता है वह साधु संगसे अलग हो जाता है ॥१३०७॥

अब संसक्त मुनिका स्वरूप कहते हैं—

गा०—इन्द्रिय और कषायोंके वशमें हुए कोई मुनि उन सब दोषोंमें संसक्त होकर उन सब अशुभ स्थान रूप परिणामोंको प्राप्त होते हैं ॥१३०८॥

गा०—इस प्रकार ये पाँच प्रकारके मुनि जिन भगवान्के द्वारा आगममें निन्दनीय कहे हैं। ये इन्द्रिय और कषायोंकी प्रबलता होनेसे नित्य ही जिनागमसे विमुख रहते हैं ॥१३०९॥

गा०-टी०—इन्द्रिय और कषायरूप परिणाम बड़े दुष्ट हैं क्योंकि ये आत्मामें उपद्रव पैदा करते हैं। अनवस्थित होनेसे चपल हैं। इनको जीतना अति कठिन है क्योंकि जिस जीवके चारित्र-

सम्यक्त्वानुबंधकषायचारित्रमोहोदयस्य स्वकारणस्य सदा सद्भावात् । नित्याश्चेत्कथं चपलाः । नित्यशब्दो ध्रौव्ये न प्रयुक्तः किंत्वभीक्ष्णे मुहुर्मुहुरनुबद्धा इत्यर्थः । चपलता तु परिणामाना अनवस्थितत्वं अतो न विरोधः । 'दुःखावहा य' दुःखावहाश्च । 'जीवाण' जीवानां । अभिमतभोगालाभे प्राप्तस्य वाऽपाये महत् दुःखमित्यनुभवसिद्धमेव सर्वप्राणभृतां । कषायास्तु क्रोधादयः कषायन्ति[1] हृदयं । अथवा दुःखकारणासद्वेद्यार्जन[2]निमित्तत्वात् दुःखावहाः । इन्द्रियकषायवशगो जीवान् हिनस्ति । दुःखकरणेन चास्रवत्यसद्वेद्यं इति । यत एव दुःखावहा अतएव भीमाः । 'इंदियकसाया' इन्द्रियकषायपरिणामाः ॥१३१०॥

गुलतेल्लंपि पियंतो वत्थो जह वादि पूदियं गंधं ।
तह दिक्खिदो वि इंदियकसायगंधं वहदि कोई ॥१३११॥

'गुलतेल्लमपि' 'पियंतो' पिबन्, 'वत्थो' वस्तः अजपोत. । 'जह वादि पूदियं गंधं' पूतिगन्धं यथा वाति । प्राकृतगन्धं यथा न जहाति संस्क्रियमाणोऽपि सुरभिणा द्रव्येण, 'तह दिक्खिदो वि' तथा दीक्षितोऽपि परित्यक्तासंयमोऽपि । 'इंदियकसायगंधं वहदि' इन्द्रियकषायदुर्गन्धमुद्वहति इति यावत् ॥१३११॥

भुंजंतो वि सुभोयणमिच्छदि जध सूयरो समलमेव ।
तध दिक्खिदो वि इंदियकसायमलिणो हवदि कोइ ॥१३१२॥

'भुंजंतो वि सुभोयणं' भुञ्जानोऽपि शोभनमाहारं । 'सूयरो जध समलमेव इच्छदि' सूकरो यथा समलमेवाभिलषति चिरन्तनाभ्यासात् । 'तह' तथा । 'दिक्खिदो वि' दीक्षितोऽपि कृतव्रतपरिग्रहसंस्कारोऽपि । 'कोइ' कश्चित् । 'इंदियकसायमलिणो हवदि' इन्द्रियकषायाख्याशुभपरिणामोपनतो भवति । भव्योऽपि जन'

मोहके क्षयोपशमका प्रकर्ष नहीं है वह जीव बड़े कष्टसे इन्हे वशमें कर पाता है। तथा इनका कारण चारित्रमोहका उदय सदा रहता है अतः ये नित्य बने रहते हैं।

शङ्का—यदि ये नित्य हैं तो चपल कैसे हैं ?

समाधान—नित्य शब्दका प्रयोग ध्रौव्यके अर्थमें नहीं है किन्तु बार-बारके अर्थमे है। और परिणामोंके स्थिर न होनेको चपलता कहते हैं अतः कोई विरोध नही है।

तथा ये जीवोंको दुःखदायी हैं। इष्ट भोगकी प्राप्ति न होने पर अथवा प्राप्त भोगका विनाश होने पर महान् दुःख होता है यह सभी प्राणियोंको अनुभवसिद्ध है। क्रोधादि कषाय हृदयको संताप पहुंचाती है। अथवा दुःखका कारण जो असातावेदनीय कर्म है उसके बन्धमें निमित्त हैं इसलिए दुःखदायी हैं। जो इन्द्रिय और कषायके वशमें होता है वह जीवोंका घात करता है। जीवोंके दुःख देनेसे असातावेदनीय कर्मका आस्रव होता है। और यतः ये इन्द्रिय तथा कषाय दुःखदायी हैं, अतएव भयंकर हैं ॥१३१०॥

गा०—जैसे बकरीका बच्चा सुगन्धित तेल भी पिये फिर भी अपनी पूर्व दुर्गन्धको नहीं छोड़ता। उसी प्रकार दीक्षा लेकर भी अर्थात् असंयमको त्यागने पर भी कोई कोई इन्द्रिय और कषाय रूप दुर्गन्धको नहीं छोड़ पाते ॥१३११॥

जैसे सुअर सुन्दर स्वादिष्ट आहार खाते हुए भी चिरंतन अभ्यास वश विष्टा ही खाना पसन्द करता है। उसी प्रकार व्रतोंको ग्रहण करके भी कोई कोई इन्द्रिय और कषायरूप अशुभ

---

१. तपन्ति आ० । २. खाना नि—आ० मु० ।

गुरूपदेशादवगमतदुःखनिवृत्त्युपायतया परित्यक्तेन्द्रियकषायोऽपि गार्हस्थ्यपरित्यागकाले पुनरपि तत्रापत-तीति ॥१३१२॥

एतद् अनेकदृष्टान्तोपन्यासेन दर्शयति सूरिरुत्तरप्रबन्धेन—

वाहभएण पलादो जूहं दट्ठूण वागुरापडिदं ।

सयमेव मओ वागुरमदीदि जह जूहतण्हाए ॥१३१३॥

'वाहभएण' व्याधभयेन । 'पलादो मओ' कृतपलायनो मृगः । 'वागुरापडिदं जूहं दट्ठूण' वागुरापतितं स्वयूथं दृष्ट्वा । 'सयमेव वागुरमदीदि मओ' स्वयमेव वागुरां प्रविशति मृग । 'जह' यथा, कुतः । 'जूहतण्हाए' यूथतृष्णया । 'एवं के वि गिहवासं मुच्चा' इत्यनया गाथया संबन्धः कार्यः ॥१३१३॥

पंजरमुक्को सउणो सुइरं आरामएसु विहरंतो ।

सयमेव पुणो पंजरमदीदि जध णीडतण्हाए ॥१३१४॥

'पंजरमुक्को सउणो' पञ्जरान्मुक्तः पक्षी । 'सुइरं आरामएसु विहरंतो' आरामेषु स्वेच्छया विहरन् । 'सयमेव' स्वयमेव । 'पुणो' पुनः । 'पंजरमदीदि' पञ्जरमुपैति । 'जह णीडतण्हाए' यथा नीडतृष्णया ॥१३१४॥

कलभो गएण पंकादुद्धरिदो दुत्तरादु बलिएण ।

सयमेव पुणो पंके जलतण्हाए जह अदीदि ॥१३१५॥

'कलभो' गजपोत महति कर्दमे पतितः । 'गएण पंकादुद्धरिदो' गजेन परेण पङ्कादुद्धृतो । 'दुत्तरादु' दुस्तरात् पङ्कात् बलिष्ठातिशयवता गजेन । 'सयमेव पुणो पंकं जह अदीदि' स्वयमेव कलभो यथा पङ्क-मुपैति । 'जलतण्हाए' जलतृष्णया ॥१३१५॥

अग्गिपरिक्खित्तादो सउणो रुक्खादु उप्पडित्ताणं ।

सयमेव तं दुमं सो णीडणिमित्तं जध अदीदि ॥१३१६॥

परिणाम वाले होते हैं । भव्य जीव भी गुरुके उपदेशसे गृहस्थाश्रमका परित्याग करते समय दुःख-की निवृत्तिका उपाय जानकर इन्द्रिय और कषाय रूप परिणामोंका त्याग करता है किन्तु फिर भी वह उन्हींके चक्रमें पड़ जाता है ॥१३१२॥

आगे आचार्य अनेक दृष्टान्तोंके द्वारा इसीको दर्शाते हैं—

गा०—जैसे व्याधके भयसे भागा हुआ हिरन अपने झुण्डको जालमें फँसा देखकर झुण्डके मोहसे स्वयं भी जालमें फँस जाता है वैसे ही कोई मुनि गृह त्यागनेके बाद स्वयं ही उसमें फँस जाता है ॥१३१३॥

गा०—जैसे पींजरेसे मुक्त हुआ पक्षी उद्यानोंमें स्वेच्छापूर्वक विहार करते हुए स्वयं ही अपने आवासके प्रेमवश पींजरेमें चला जाता है ॥१३१४॥

गा०—जैसे महती कीचड़में फँसा हाथीका बच्चा बलवान् हाथीके द्वारा निकाला गया । किन्तु पानीकी प्यासवश वह स्वयं ही कीचड़में फँस जाता है ॥१३१५॥

गा०—जैसे पक्षी आगसे घिरे वृक्षसे उड़कर स्वयं ही अपने घोंसलेके कारण उस वृक्षपर आ पहुँचता है ॥१३१६॥

'जघुपादी सउणो उच्चडितागं' वृक्षादुत्पत्य शकुनः। कीदृग्भूतात्? 'अग्गिपरिक्खित्तादो' अग्निना समन्तात्परिवेष्टितात्। 'सयमेव तं दुमं जह अल्लियदि' स्वयमेवासौ पक्षी अग्निपरिक्षिप्तद्रुममधिगच्छति। 'कीडणि-मित्तं' स्वावासनिमित्तं ॥१३१६॥

लंघिज्जंतो अहिणा पासुत्तो कोइ जग्गमाणेण।
उट्ठविदो तं घेत्तुं इच्छदि जध कोदुगहल्लेण ॥१३१७॥

'लंघिज्जंतो अहिणा' लङ्घ्यमानोऽहिना, 'कोइ पासुत्तो' कश्चित्प्रसुप्तः, 'जग्गमाणेण उट्ठविदो' जाग्रता उत्थापितः। 'जह तं घेत्तुमिच्छदि' यथा सर्पं ग्रहीतुमिच्छति, 'कोदुगहल्लेण' कौतूहलेन ॥१३१७॥

सयमेव वंतमसणं णिल्लज्जो णिग्घिणो सयं चेव।
लोलो किविणो भुंजदि सुणहो जध असणतण्हाए ॥१३१८॥

'सयमेव वंतमसणं' स्वयमेव वान्तमशनं। 'सुणहो णिल्लज्जो णिग्घणो' श्वा निर्लज्जः निर्घृणः। 'जहा' यथा। 'सयमेव भुंजदि' स्वयमेव भुङ्क्ते। 'लोलो' आसक्तः। 'किविणो' कृपणः। असणतण्हाए' अशनतृष्णया ॥१३१८॥

एवं केई गिहवासदोसमुक्का वि दिक्खिदा संता।
इंदियकसायदोसेहि पुणो ते चेव गिण्हंति ॥१३१९॥

'एवं केइ' एवं केचित्। 'गिहिवासदोसमुक्का वि' गृहवासभ्यो ये दोषास्तेभ्यो मुक्ताः। 'दिक्खिदा वि संता' दीक्षिता अपि सन्तः। 'इंदियकसायदोसे' इन्द्रियकषायदोषान्। 'ते चेव' तांश्चैव गृहवासगतान्। 'गिण्हंति' गृह्णन्ति। कीदृग्गृहवासो येन दुष्ट इति भण्यते। ममेदं भावाधिष्ठानं अनुपरतमायालोभोत्पादन-प्रवीणजीवनोपायप्रवृत्तः कषायाणामाकरः परेषां पीडानुग्रहयोराबद्धपरिकरः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिष्वनारत[1]-वृत्तव्यापारो, मनोवाक्कायैः सचित्ताचित्तानेकाणुस्थूलद्रविणग्रहणवर्द्धनोपजातायासः, यत्र स्थितो जनोऽसारे सारतां, अनित्ये नित्यतां, अशरणे शरणतां, अशुचौ शुचितां, दुःखे सुखितां, अहिते हिततां, असंश्रये संश्रयणीयता,

गा०—जैसे किसी सोते हुए मनुष्यपरसे सर्प जा रहा है। उसे कोई जागता हुआ मनुष्य उठाता है और वह उठकर कौतूहलवश उस सर्पको पकड़ना चाहता है ॥१३१७॥

गा०—जैसे कोई निर्लज्ज घिनावना कुत्ता अपने ही वमन किये भोजनको भोजनकी तृष्णावश लोलुपतासे खाता है ॥१३१८॥

गा०-टी०—वैसे ही गृहवासके दोषोंसे मुक्त कोई दीक्षा स्वीकार करके भी गृहवासके उन्हीं इन्द्रिय और कषायरूप दोषोंको स्वीकार करता है। गृहवासको बुरा क्यों कहा यह बतलाते हैं—

गृहस्थाश्रम 'यह मेरा है' इस भावका अधिष्ठान है, निरन्तर माया और लोभको उत्पन्न करनेमें दक्ष जीवनके उपायोंमें लगानेवाला है, कषायोंकी खान है, दूसरोंको पीड़ा देने और अनुग्रह करनेमें तत्पर रहता है, पृथिवी जल आग वायु और वनस्पतिमें उसका व्यापार सदा चला करता है, मन वचन कायसे सचित्त अचित्त अनेक सूक्ष्म और स्थूल द्रव्योंके ग्रहण और बढ़ानेके लिए उसमें प्रयास करना होता है। उसमें रहकर मनुष्य असारमें सारता, अनित्यमें नित्यता, अशरणमें शरणता, अशुचिमें शुचिता, दुःखमें सुखपना, अहितमें हितपना,

---

1. रतवृत्तव्यापृतव्या–आ० मु०।

शत्रुषु मित्रतां च मन्यमानः परितः परिधावति । सभयसशङ्कोऽपि पदमधिगच्छति । दुस्तरकाललोहपञ्जरोदरगतो हरिरिव, वागुरापतितमृगकुलमिव, अन्यायकर्दमोन्मग्नो वरकुञ्जर इव हताशः, पाशबद्धो विहग इव, चारकावरुद्धस्तस्कर इव, व्याघ्रमध्यमध्यासीनोऽल्पबलो मृग इव, तदन्तिकोपयानजातसङ्कटः कूटपाशाकृष्टो जलचर इव, यत्रावस्थितो जनः कामबहलतमःपटलेनाव्रियते । रागमहानागैरुपद्रुतः चिन्ताडाकिनीभिः कवलीक्रियते, शोकवृकैरनुगम्यते, कोपपावकेन भस्मसात् क्रियते, दुराशालतिकाभिर्निश्चलं बध्यते, प्रियविप्रयोगाशनिभिरनिशं शकलीक्रियते, प्रार्थितालाभशरशतैस्तूणीरतां नीयते, मायास्थविरिकया गाढमालिङ्गयते, परिभवकठिनकुठारैर्विदार्यते, अयशोमलेन लिप्यते, मोहमहावनवारणेन हन्यते, पापघातकैरवबोधः पात्यते, भयायःशलाकाभिस्तुद्यते, आयासवायसैः प्रतिवासरं भक्ष्यते, ईर्ष्यामष्या विरूपता परिप्राप्यते, परिग्रहग्रहैर्गृह्यते । यत्रावस्थितोऽसंयमाभिमुखो भवति । असूयाजायायाः प्रियतां याति, मानदानवाधिपतितां अनुभवति, विशालधवलचारित्रातपत्रत्रयच्छायासुखं न लभते, संसारचारकादात्मानं नापनयति, कर्मनिर्मूलनाय न प्रभवति, मरणविषपादपं न दहति, मोहघनशृङ्खला न त्रोटयति, विचित्रयोनिमुखसंचरणं न निषेधति । तत इत्थंभूताद्गृहवास[2]दोषात्यक्ता सन्तोऽपि दीक्षिता 'इंदियकसायदोसे हि' इन्द्रियकषायदोषान् । हि शब्द समुच्चयार्थ । तेनैवमभिसंबध्यते 'पुणो हि' पुनरपि 'ते चेव' तानेव । 'गिण्हंति' गृह्णन्ति ॥१३१९॥

अनाश्रयमें आश्रयपना, शत्रुमें मित्रता मानता हुआ सब ओर दौड़ता है। भय और शंकासे युक्त होते हुए भी आश्रय प्राप्त करता है। जिससे निकलना कठिन है ऐसे कालरूपी लोहेके पीजरेके पेटमें गये सिंहकी तरह, जालमे फसे हिरणोंकी तरह, अन्यायरूपी कीचड़मे फँसे बूढ़े हाथीकी तरह, पाशसे बद्ध पक्षीकी तरह, जेलमें बन्द चोरकी तरह, व्याघ्रोंके मध्यमें बैठे हुए दुर्बल हिरणकी तरह, जिसके पासमे जानेसे संकट आया है ऐसे जालमें फँसे मगरमच्छकी तरह, जिस गृहस्थाश्रममें रहनेवाला मनुष्य कालरूपी अत्यन्त गाढ़े अन्धकारके पटलसे आच्छादित हो जाता है। रागरूपी महानाग उसे सताते हैं। चिन्तारूपी डाकिनी उसे खा जाती है। शोकरूपी भेड़िये उसके पीछे लगे रहते हैं। कोपरूप आग उसे जलाकर राख कर देती है। दुराशारूपी लताओंसे वह ऐसा बँध जाता है कि हाथ पैर भी नही हिला पाता। प्रियका वियोगरूपी वज्रपात उसके टुकड़े कर डालता है। प्रार्थना करनेपर न मिलनेरूपी सैकड़ों बाणोंका वह तरकस बन जाता है अर्थात् जैसे तरकसमें बाण रहते हैं वैसे ही गृहस्थाश्रममें वांछित बस्तुका लाभ न होनेरूपी बाण भरे हैं। मायारूपी बुढ़िया उसे जोरसे चिपकाये रहती है। तिरस्काररूपी कठोर कुठार उसे काटते रहते हैं। अपयशरूपी मलसे वह लिप्त होता है। महामोहरूपी जंगली हाथीके द्वारा वह मारा जाता है। पापरूपी घातकोंके द्वारा वह ज्ञानशून्य कर दिया जाता है। भयरूपी लोहेकी सुइयोंसे कोचा जाता है। प्रतिदिन श्रमरूपी कौओंके द्वारा खाया जाता है। ईर्षारूपी काजलसे विरूप किया जाता है। परिग्रहरूपी मगरमच्छोंके द्वारा पकड़ा जाता है। जिस गृहस्थाश्रममें रहकर असंयमकी ओर जाता है। असूयारूपी पत्नीका प्यारा होता है। अर्थात् दूसरोंके गुणोंमें भी दोष देखता है, अपनेको मानरूपी दानवका स्वामी मानने लगता है। विशाल धवल चारित्ररूपी तीन छत्रोंकी छायाका सुख उसे नहीं मिलता। वह अपनेको संसाररूपी जेलसे नहीं छुड़ा पाता। कर्मोंका जड़मूलसे विनाश नहीं कर पाता। मृत्युरूपी विषवृक्षको नहीं जला पाता। मोहरूपी मजबूत सांकलको नहीं तोड़ता। विचित्र योनियोंमें जानेको नही रोक पाता। दीक्षा

१. भीष्यते आ० मु० । २. दोषान्मुक्ताः आ० ।

बंधणमुक्को पुनरेव बंधणं सो अणेयणोदीदि ।
इंदियकसायबंधणमुवेदि जो दिक्खिदो संतो ॥१३२०॥

'**बंधणमुक्को**' बन्धनमुक्तः । '**पुनरेव बंधणं**' पुनर्बन्धनं । '**अदीदि**' प्रतिपद्यते । '**सो अणेयणो**' सोऽज्ञः । कः ? '**जो दिक्खिदो संतो इंदियकसायबंधणमुवेदि**' यो दीक्षितः सन्निन्द्रियकषायबन्धमुपैति । इन्द्रियकषायपरिणामाः कर्मबन्धनक्रियायां साधकतमतया इह बन्धनशब्देनोच्यन्ते ॥१३२०॥

मुक्को वि णरो कलिणा पुणो वि तं चेव मग्गदि कलिं सो ।
जो दिक्खिदो वि इंदियकसायमइयं कलिमुवेदि ॥१३२१॥

प्रसिद्धार्था ॥१३२१॥

उत्तरगाथा—

सो णिच्छदि मोत्तुं जे हत्थगयं उम्मुयं सुपज्जलियं ।
सो अक्कमदि कण्हसप्पं छादं वग्घं च परिमसदि ॥१३२२॥

'**सो णिच्छदि**' स नेच्छति । '**मोत्तुं**' मोक्तुं । किं ? '**हत्थगयं**' हस्तस्थितं हस्तगतं वा । '**उम्मुयं संपज्जलियं**' उल्मुकं सुष्ठु प्रज्वलितं । '**सो कण्हसप्पमक्कमदि**' स कृष्णसर्पमाक्रामति । '**छादं वग्घं च परिमसदि**' क्षुधोपद्रुतं व्याघ्रं च स्पृशति ॥१३२२॥

सो कंठोल्लगिदसिलो दहमत्थाहं अदीदि अण्णाणी ।
जो दिक्खिदो वि इंदियकसायवसिगो हवे साधू ॥१३२३॥

'**सो कंठोल्लगिदसिलो**' स कण्ठावलम्बितशिलः । '**दहमत्थाहं**' ह्रदमगाधं । '**अदीदि**' प्रविशति । '**अण्णाणी**' अज्ञः । '**जो दिक्खिदो वि य**' यो दीक्षितोऽपि '**इंदियकसायवसिगो**' इन्द्रियकषायवशवर्ती साधुः यादभेदव्यवहारः ॥१३२३॥

धारण करके इस प्रकारके गृहवास सम्बन्धी दोषोंसे मुक्त होकर भी पुनः उन्हीं दोषोंको स्वीकार करता है ॥१३१९॥

गा०—जो दीक्षित होकर इन्द्रिय और कषायोंके बन्धनमें पड़ता है वह अज्ञानी बन्धनसे मुक्त होकर पुनः बन्धनको प्राप्त होता है ॥१३२०॥

गा०—जो दीक्षित होकर भी इन्द्रिय कषायमयी कलिको स्वीकार करता है वह मनुष्य कलिकालसे मुक्त होकर भी पुनः उसी कलिको खोजता है ॥१३२१॥

गा०—जो साधु दीक्षित होकर भी इन्द्रिय और कषायोंके बन्धनमें पड़ता है वह हाथमें स्थित जलते हुए अलातको छोड़ना नहीं चाहता, वह काले साँपको लाँघता है और भूखे व्याघ्रका स्पर्श करता है ॥१३२२॥

गा०—जो साधु दीक्षित होकर भी इन्द्रिय और कषायके अधीन होता है वह अज्ञानी अपने गलेमें पत्थर बाँधकर अगाध तालाबमें प्रवेश करता है ॥१३२३॥

इंदियगहोवसिट्ठो उवसिट्ठो ण दु गहेण उवसिट्ठो ।
कुणदि गहो एयभवे दोसं इदरो भवसदेसु ॥१३२४॥

'**इंदियगहोवसिट्ठो**' इन्द्रियग्रहगृहीतः । '**उवसिट्ठो**' गृहीतः । '**ण दु गहेण उवसिट्ठो**' नैव ग्रहेणोपसृष्टः । कुतः ? यस्मात् । '**कुणदि गहो एयभवे दोसं**' एकस्मिन्नेव भवे ग्रहो बुद्धिव्यामोहलक्षणं दोषं करोति । '**इदरो भवसदेसु**' इन्द्रियकषायग्रहो भवशतेषु दोषं करोति ॥१३२४॥

होदि कसाउम्मत्तो उम्मत्तो तध ण पित्तउम्मत्तो ।
ण कुणदि पित्तुम्मत्तो पावं इदरो जधुम्मत्तो ॥१३२५॥

'**होदि कसाउम्मत्तो**' अत्रैवं पदघटना । '**उम्मत्तो होदि**' उन्मत्तो भवति यथा । कः ? '**कसायउम्मत्तो**' कषायोन्मत्तः । यथा '**उम्मत्तो ण होदित्ति**' पदघटना तथा उन्मत्तो न भवति । कः ? '**पित्तउम्मत्तो**' पित्तोन्मत्तः । एतेन पित्तकृतादुन्मादात् कषायकृतस्योन्मादस्य जघन्यता ख्याता । कथं ? '**न कुणदि पित्तुम्मत्तो**' पापं न करोति पित्तोन्मत्तः । '**पावं इदरो जधुम्मत्तो**' कषायोन्मत्तो यथा पापं करोति, तथाभूतं न करोति । यतः एकैकोऽपि क्रोधादि हिंसादिषु प्रवर्तयति । कर्मणां स्थितिबन्धं दीर्घीकरोति । विवेकज्ञानमेव तिरस्करोति पित्तोन्मादः । ततोऽनयोर्महदन्तरं इति भावः ॥१३२५॥

इंदियकसायमइओ णरं पिसायं करंति हु पिसाया ।
पावकरणवेलंबं पेच्छणयकरं सुयणमज्झे ॥१३२६॥

'**इंदियकसायमइओ**' इन्द्रियकषायमयः पिशाचः । '**णरं पिसायं करेदि**' नरं पिशाचं करोति । कीदृग्भूतं पिशाचं करोति ? '**सुजणमज्झे पेच्छणयकरं**' सुजनमध्ये प्रेक्षणिककारणं । '**पावकरणवेलंबं**' हिंसादिपापक्रियाविलम्बना प्रेक्षणीयत्वेन सपापयन्तं पिशाचं करोतीति यावत् ॥१३२६॥

कुलजस्स जसमिच्छंतगस्स णिधणं वरं खु पुरिसस्स ।
ण य दिक्खिदेण इंदियकसायवसिएण जेदुंजे ॥१३२७॥

गा०—जो इन्द्रियरूपी ग्रहसे पकड़ा हुआ है वही ग्रह पीड़ित है। जो ग्रहसे पकड़ा हुआ है वह ग्रहपीड़ित नहीं है। क्योंकि ग्रह तो एक ही भवमें कष्ट देता है किन्तु इन्द्रियरूपी ग्रह सैकड़ों भवोंमें कष्ट देता है ॥१३२४॥

गा०—टी०—जो कषायसे उन्मत्त (पागल) है वही उन्मत्त है। जो पित्तसे उन्मत्त है वह उन्मत्त नहीं है। इससे पित्तके द्वारा हुए उन्मादसे कषायके द्वारा हुए उन्मादको निकृष्ट बतलाया है। क्योंकि कषायसे उन्मत्त पुरुष जैसा पाप करता है पित्तसे उन्मत्त वैसा पाप नहीं करता। एक-एक भी क्रोधादि कषाय हिंसा आदिमें प्रवृत्त करता है। कर्मोंके स्थितिबन्धको बढ़ाता है। किन्तु पित्तसे हुआ उन्माद केवल विवेकमूलक ज्ञानका ही तिरस्कार करता है। इसलिए इन दोनोंमें बहुत अन्तर है ॥१३२५॥

गा०—इन्द्रिय और कषायमय पिशाच मनुष्यको सुजनोंके मध्यमें देखने योग्य पापक्रियाकी विडम्बनाओंको करनेवाला पिशाच बना देता है ॥१३२६॥

'कुलजादस्स पुरिसस्स जसाभिकंखस्स' कुलप्रसूतस्य पुंसः यशोऽभिलाषिणः । 'मिदणं वरं' मृतिः शोभना । 'ण दु जीविदुं जे' नैव वरं जीवनं । 'दिक्खिदेण इंदियकसायवसिदस्स' दीक्षितस्येन्द्रियकषायवशवर्तिनः जीवनं न शोभनमित्यर्थः ॥१३२७॥

जध सण्णद्धो पग्गहिदचावकंडो रधी पलायंतो ।
णिंदिज्जदि तध इंदियकसायवसिगो वि पव्वज्जिदो ॥१३२८॥

'जधा रधी पलायंतो णिंदिज्जदि' यथा रथी पलायन्निन्द्यते । कीदृक् ? 'सण्णद्धो पग्गहिदचावकंडो' सन्नद्धः उपगृहीतचापकाण्डः । तथा 'इंदियकसायवसिगो वि पव्वज्जिदो' तथा इन्द्रियकषायवशवर्त्यपि प्रव्रजितो निन्द्यते ॥१३२८॥

जध भिक्खं हिंडंतो मउडादि अलंकिदो गहिदसत्थो ।
णिंदिज्जइ तध इंदियकसायवसिगो वि पव्वज्जिदो ॥१३२९॥

'जध भिक्खं हिंडंतो' मुकुटादिभिरलंकृतो गृहीतशस्त्रो भिक्षां भ्रमन् निन्द्यते । तथा निन्द्यते इन्द्रियकषायवशवर्ती प्रव्रजितः ॥१३२९॥

इंदियकसायवसिगो मुंडो णग्गो य जो मलिणगत्तो ।
सो चित्तकम्मसमणोव्व समणरूवो असमणो हु ॥१३३०॥

'इंदियकसायवसिगो' इन्द्रियकषायवशीकृतः, मुण्डो नग्नश्च यो मलिनगात्रः सन् । 'सो समणरूवो ण समणो' स श्रमणरूपो न श्रमणः 'स चित्तकम्मसमणो व्व' स चित्रकर्मश्रमण इव । परमार्थश्रमणसदृशरूपोऽपि यथा चित्रश्रमणो न श्रमणस्तद्वदशुभपरिणामप्रवणः ॥१३३०॥

ज्ञानं नरस्य दोषानपहरति इन्द्रियकषायजयमुखेन यथा सत्त्ववतः प्रहरणमावरणं च शत्रुं नाशयती-

---

गा०—कुलीन और यशके अभिलाषी पुरुषका मरना श्रेष्ठ है किन्तु दीक्षित होकर इन्द्रिय और कषायके वशमें रहकर जीना श्रेष्ठ नहीं है ॥१३२७॥

गा०—जैसे धनुष बाण लेकर युद्धके लिए तैयार रथारोही यदि युद्धसे भागता है तो निन्दाका पात्र होता है। उसी प्रकार दीक्षित साधु यदि इन्द्रिय और कषायके वशमें होता है तो निन्दाका पात्र होता है ॥१३२८॥

गा०—जैसे मुकुट आदिसे सुशोभित और हाथमें शस्त्र लिये हुए कोई भिक्षाके लिए घूमता है तो निन्दाका पात्र होता है। वैसे ही दीक्षित होकर इन्द्रिय और कषायके वशमें होनेवाला भी निन्दाका पात्र होता है ॥१३२९॥

गा०-टी०—जो मुण्डित नग्न और मलिन शरीरवाला होकर भी इन्द्रिय और कषायके वशमें होता है वह चित्रमें अंकित श्रमणके समान श्रमणरूपका धारी होनेपर भी श्रमण नहीं है। अर्थात् जैसे चित्रमें अंकित श्रमण वास्तविक श्रमणके समान रूपवाला होनेपर भी श्रमण नहीं है उसी प्रकार श्रमणका वेष धारण करके भी जिसके परिणाम अशुभ है वह श्रमण नहीं है ॥१३३०॥

आगे कहते हैं कि इन्द्रिय और कषायको जीतनेके द्वारा ज्ञान मनुष्यके दोषोंको दूर करता

स्फुतरमाकार्यः इन्द्रियकषायाजये ज्ञानं दोषापहारित्वाख्यं अतिशयनं न लभते यथा सत्वहीनस्यावरणखड्गा-हाख्यं प्रहरणं च खड्गचक्रादिकं शत्रुजयत्वमतिशयं नासादयति—

णाणं दोसे णासिदि णरस्स इंदियकसायविजयेण ।
आउहरणं पहरणं जह णासेदि अरिं ससत्तस्स ॥१३३१॥

'णाणं' ज्ञानं 'दोसे' दोषान् । 'णासिदि' नाशयति । 'णरस्स' नरस्य । 'इंदियकसायविजयेण' । 'जह' यथा । 'आउहरणं पहरणं' आयुषो हरणं प्रहरणं शस्त्रं । सह सत्त्वेन वर्तते इति ससत्त्वस्तस्य । 'अरिं' रिपुं । 'णासेदि' नाशयति ॥१३३१॥

णाणंपि कुणदि दोसे णरस्स इंदियकसायदोसेण ।
आहारो वि हु पाणो णरस्स विससंजुदो हरदि ॥१३३२॥

'णाणंपि कुणदि दोसे णरस्स' ज्ञानं दोषानपि करोति नरस्य । 'इंदियकसायदोसेण' इन्द्रियकषायपरि-णामदोषेण । उपकार्यपि अनुपकारितामुद्वहति परसंसर्गेण । यथा प्राणधारणनिमित्तोऽप्याहारो विषमिश्रः प्राणा-न्विनाशयति ॥१३३२॥

णाणं करेदि पुरिसस्स गुणे इंदियकसायविजयेण ।
बलरूववण्णमाऊ करेदि जुत्तो जधाहारो ॥१३३३॥

'णाणं करेदि' ज्ञानं करोति । 'पुरिसस्स गुणे' पुरुषस्य गुणान् । कथं ? 'इंदियकसायविजएण' इन्द्रिय-कषायविजयेन । 'बलवण्णरूवमाऊ करेदि' बल, रूप, तेजः, आयुश्च करोति । 'जुत्तो जधाहारो' युक्तः शोभनो यथाहारः विषेणामिश्रित ॥१३३३॥

णाणं पि गुणे णासेदि णरस्स इंदियकसायदोसेण ।
अप्पवधाए सत्थं होदि हु कापुरिसहत्थगयं ॥१३३४॥

है। जैसे सत्त्वसम्पन्न मनुष्यका शस्त्र और कवच शत्रुका नाश करता है। तथा इन्द्रिय और कषायको न जीतनेपर ज्ञान दोषोंको दूर करनेरूप अतिशयको प्राप्त नहीं करता। जैसे सत्त्वहीन पुरुषका कवच और तलवार चक्र आदि शस्त्र शत्रुको जीतनेरूप अतिशयको नहीं प्राप्त करता ॥१३३०॥

गा०—इन्द्रिय और कषायको जीतनेसे ज्ञान मनुष्यके दोषोंको नष्ट करता है। जैसे सत्त्व-शालीका आयुको हरनेवाला शस्त्र शत्रुको नष्ट करता है ॥१३३१॥

गा० इन्द्रिय और कषायरूप परिणामोंके दोषसे ज्ञान भी मनुष्योंमें दोष उत्पन्न करता है। दूसरेके संसर्गसे उपकारी भी अनुपकारी हो जाता है। जैसे आहार प्राण धारणमें निमित्त है किन्तु विषसे मिला आहार प्राणोंका घातक होता है ॥१३३२॥

गा०—और इन्द्रिय तथा कषायोंको जीतनेसे ज्ञान पुरुषमें गुण उत्पन्न करता है। जैसे विषसे रहित उत्तम आहार बल, रूप, तेज और आयुको बढ़ाता है ॥१३३३॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूप परिणामोंके दोषसे ज्ञान भी पुरुषके गुणोंको नष्ट करता है। जैसे कायर पुरुषके हाथमें गया शस्त्र उसके ही वधमें निमित्त होता है ॥१३३४॥

ज्ञानमपि मुधाजायते नरस्य इन्द्रियकषायपरिणामदोषेण । आत्मवधाय भवति शस्त्रं कापुरुषहस्तगतं इति ॥१३३४॥

उत्तरगाथार्थः—

सबहुस्सुदो वि अवमाणिज्जदि इंदियकसाय^१दोसेण ।
णरमाउधहत्थंपि हु मदयं गिद्धा परिभवंति ॥१३३५॥

'सुबहुस्सुदोवि' सुष्ठुबहुश्रुतोऽप्यवमन्यते इन्द्रियकषायदोषेण । गृहीतास्त्रमपि नरं मृतं गृध्राः परिभवन्ति यथा ॥१३३५॥

इंदियकसायवसगो बहुस्सुदो वि चरणे ण उज्जमदि ।
पक्खीव छिण्णपक्खो ण उप्पडदि इच्छमाणो वि ॥१३३६॥

'इंदियकसायवसगो' इन्द्रियकषायवशगः बहुश्रुतोऽपि चारित्रे नोद्यमं करोति । यथा छिन्नपक्षः पक्षी नोत्पतति इच्छन्नपि ॥१३३६

णस्सदि सगं बहुगं पि णाणमिंदियकसायसम्मिस्सं ।
विससम्मिसिददुद्धं णस्सदि जध सक्कराकढिदं ॥१३३७॥

'णस्सदि सगं बहुगंपि णाणं' नश्यति स्वयं बह्वपि ज्ञानं इन्द्रियकषायसंमिश्रं । शर्कराक्वथित दुग्धं विषमिश्रमिव । माधुर्यात्सातिशयता दुग्धस्य शर्कराक्वथितशब्देन कथ्यते ॥१३३७॥

इंदियकसायदोसमलिणं णाणं ण हुदि हिदे से ।
वहुदि अण्णस्स हिदे खरेण जह चंदणं ऊढं ॥१३३८॥

ज्ञानं यदीयं तस्मै उपकारितया प्रसिद्धमपि सन्नोपकारि भवति इन्द्रियकषायमलिनं, परोपकारि तु भवति खरेणोढं चन्दनादिकमिवेति सूत्रार्थः ॥१३३८॥

गा०—इन्द्रिय और कषायोंके दोषसे अच्छे प्रकारसे बहुतसे शास्त्रोंका ज्ञाता भी विद्वान् अपमानका पात्र होता है। जैसे हाथमें अस्त्रके होते हुए भी मरे मनुष्यको गृद्ध खा जाते हैं ॥१३३५॥

गा०—इन्द्रिय और कषायोंके वशमें हुआ बहुश्रुत भी विद्वान् चारित्रमे उद्योग नहीं करता। जैसे जिसका पर कट गया है ऐसा पक्षी इच्छा करते हुए भी नही उड़ सकता ॥१३३६॥

गा०—इन्द्रिय और कषायके योगसे बहुत भी ज्ञान स्वयं नष्ट हो जाता है। जैसे शक्करके साथ कढ़ा हुआ दूध विषके मिलनेसे नष्ट हो जाता है अर्थात् अपने स्वभावको छोड़ देता है। यहाँ शक्करके साथ कढ़ाया हुआ कहनेसे मिठासके कारण दूधकी सातिशयता बतलाई है। ऐसा दूध भी विषके मेलसे हानिकर होता है ॥१३३७॥

गा०—जिसका ज्ञान होता है उसीका उपकारी होता है यह बात प्रसिद्ध है किन्तु इन्द्रिय और कषायसे मलिन ज्ञान जिसका होता है उसका उपकार नहीं करता, दूसरोंका उपकार

---

१. -यदोसेण अ० ।

ज्ञानं प्रकाशकत्वमपि स्वं जहाति इन्द्रियकषायपरिणामवशादिति निगदति—

इंदियकसायणिग्गहणिमीलिदस्स हु पयासदि ण णाणं ।
रत्तिं चक्खुणिमीलस्स जधा दीवो सुपज्जलिदो ॥१३३९॥

'इंदियकसायणिग्गहणिमीलिदस्स' इन्द्रियकषायनिग्रहे निमीलितस्यात्मनो ज्ञानं न प्रकाशकं । 'रत्तिंव' रात्राविव । 'चक्खुणिमिलिदस्स' निमीलितचक्षुषः पुंसः । 'जह दीवो सुपज्जलिदो' यथा सुप्रज्वलितः प्रदीपः ॥१३३९॥

इंदियकसायमइलो बाहिरकरणणिहुदेण वेसेण ।
आवहदि को वि विसए सउणो [1]बाहंसगेणेव ॥१३४०॥

'इंदियकसायमइलो' इन्द्रियकषायपरिणाममलिनः । 'बाहिरकरणणिहुदेण वेसेण' बाह्यया गमनागमनादिकायाः क्रियाया निभृतेन वेषेण । 'कोई विसए आवहदि' कश्चिद्विषयानावहति आत्मनो भोगाय ॥१३४०॥

घोडगलिंडसमाणस्स तस्स अब्भंतरम्मि कुधिदस्स ।
बाहिरकरणं किं से काहिदि बगणिहुदकरणस्स ॥१३४१॥

घोडगलिंडसमाणस्स' घोटकलिंडसमानस्य यथा बहिर्मसृणता न तद्वदन्तर्मसृणता । तद्वत्कस्यचिद्बाह्याचरण समीचीन नाभ्यन्तरा परिणामा शुद्धा । स एवमुच्यते । 'बाहिरकरणं किं काहिदि' बाह्यक्रिया अनशनादिका किं करिष्यति । 'अब्भंतरम्मि कुधिदस्स' अन्तः कुथितस्य । इन्द्रियकषायसंज्ञाऽशुभपरिणामेन नष्टाभ्यन्तरतपोवृत्तेरिति यावत् । 'बगणिहुदकरणस्स' बकवन्निभृतक्रियस्य ॥१३४१॥

करता है । जैसे गधेपर लदा चन्दन दूसरोंका उपकार करता है ॥१३३८॥

आगे कहते है कि इन्द्रिय कषायरूप परिणामोंके दोषसे ज्ञान अपने प्रकाशकत्व धर्मको भी छोड देता है—

गा०–टी०—इन्द्रिय और कषायोंका निग्रह करनेमें जो अपना उपयोग नहीं लगाता अर्थात् जो इन्द्रिय और कषायोंसे प्रभावित है, उसका ज्ञान वस्तुस्वरूपका प्रकाशक नहीं होता । जैसे, जिसने आँखे मूँदी है उसके लिए तीव्रतासे जलता हुआ दीपक पदार्थोंका प्रकाश नही करता ॥१३३९॥

गा०—जिसका परिणाम इन्द्रिय और कषायसे मलिन होता है ऐसा कोई साधु बाह्य गमन आगमन आदि क्रियाओंके द्वारा अपने वेशको छिपाकर अपने भोगके लिये विषयोंको ग्रहण करता है जैसे निश्चल बैठा पक्षी अपनी चोचसे अपने शिकारको ग्रहण करता है ॥१३४०॥

गा०–टी०—जैसे घोड़ेकी लीद ऊपरसे चिकनी और भीतरसे खुरदरी होती है वैसे ही किसीका बाह्य आचरण तो समीचीन होता है किन्तु अभ्यन्तर परिणाम शुद्ध नही होते । उसे घोडेकी लीदके समान कहा है । जिसके अभ्यन्तर परिणाम शुद्ध नही हैं उसकी बाह्यक्रिया अनशन आदि क्या करेगी ? अर्थात् इन्द्रिय और कषायरूप अशुभ परिणामके द्वारा अभ्यन्तर तपोवृत्ति जिसकी नष्ट हो चुकी है वह बाह्य अनशन आदि तप करे भी तो क्या लाभ है । वह तो नदीके तटपर निश्चल बैठे हुए बगुलेकी तरह है ॥१३४१॥

---

१. वायाग्नि–आ० । २. वीदंसगे–अ०, मु०, मूलारा० ।

बाह्यं तपः करणीयतयोपदिष्टं तत्सफलं कस्मादसौ एवमुच्यते बाह्यक्रिया किं करोतीत्यस्योत्तरं सूरिराचष्टे—

बाहिरकरणविसुद्धी अब्भंतरकरणसोधणत्थाए ।
ण हु कुंडयस्स सोधी सक्का सतुसस्स कादुं जे ॥१३४२॥

'बाहिरकरणविसुद्धी' बाह्यक्रियाविशुद्धिः । 'अब्भंतरकरणसोधणत्थाए' अभ्यन्तरक्रियाणां विनयादीनां शुद्धये, अभ्यन्तरतपसां लघ्वेव बहुतरकर्मनिर्जराक्षमाणां परिवृद्धये श्रूयन्ते बाह्यान्यनशनादितपांसि । ततोऽन्वर्थतया बाह्यान्युपदिष्टानि । यद्धि यदर्थं तत्प्रधानं इति प्रधानताभ्यन्तरतपसः तच्च शुभशुद्धपरिणामात्मकं । तेन विना न निर्जरायै बाह्यमलं । उक्तं च—बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थं । इति । 'ण खु कुंडयस्स सोधी सक्का कादुं जे' नैवान्तर्मलस्य शुद्धिः शक्या कर्तुं । कस्य ? 'सतुसस्स' सतुषस्य धान्यस्य ॥१३४२॥

अब्भंतरसोधीए सुद्धं णियमेण बाहिरं करणं ।
अब्भंतरदोसेण हु कुणदि णरो बाहिरं दोसं ॥१३४३॥

'अब्भंतरसोधीए' अभ्यन्तरशुद्धया । 'सुद्धं णियमेण बाहिरं करणं' शुद्धं निश्चयेन बाह्यं करणं । 'अब्भंतरदोसेण हु' अन्तःपरिणामदोषेणैव इन्द्रियकषायपरिणामादिना । 'कुणदि णरो बाहिरं दोसं' करोति नरो बाह्यान्दोषान्वाक्कायाश्रयान् ॥१३४३॥

लिंगं च होदि अब्भंतरस्स सोधीए बाहिरा सोधी ।
भिउडीकरणं लिंगं जह अंतोजादकोधस्स ॥१३४४॥

'लिंगं च होदि' चिह्नं च भवति । 'अब्भंतरस्स परिणामसोधीए' अभ्यन्तरस्य परिणामस्य शुद्धेः । 'बाहिरा सोधी' बाह्या शुद्धिरनशनादितपोविषया । 'भिउडीकरणं लिंगं' भृकुटीकरणं लिङ्गं । 'जह' यथा ।

यहाँ कोई शङ्का करता है कि ऊपर बाह्यतप करनेका उपदेश किया है वह अपना फल अवश्य देता है। तब आप कैसे कहते हैं कि बाह्यक्रिया क्या करेगी ? इसका उत्तर आचार्य देते हैं—

गा०-टी०—अभ्यन्तर क्रिया विनय आदिकी शुद्धिके लिये बाह्यक्रियाकी विशुद्धि कही है। शीघ्र ही बहुतसे कर्मोंकी निर्जरामें समर्थ अभ्यन्तर तपोंकी वृद्धिके लिए बाह्य अनशन आदि तप सुने जाते हैं। इसीलिए उनका बाह्य नाम सार्थक है। जो जिसके लिये होता है वह प्रधान होता है। इसलिए अभ्यन्तर तपकी प्रधानता है। वह अभ्यन्तर तप शुभ और शुद्ध परिणामरूप होता है। उसके बिना बाह्यतप निर्जरामें समर्थ नहीं होता। कहा भी है—'भगवन् ! आपने आध्यात्मिक तपकी वृद्धिके लिए अत्यन्त कठोर बाह्यतप किया।' ठीक ही है, क्योंकि छिलकेके रहते हुए धान्यकी अन्तः शुद्धि सम्भव नहीं है ॥१३४२॥

गा०—नियमसे अभ्यन्तर शुद्धिके होनेसे ही बाह्यशुद्धि होती है। इन्द्रियकषाय परिणाम आदि अन्तरंग परिणाम दोषसे ही मनुष्य वचन और कायसम्बन्धी बाह्य दोषोंको करता है ॥१३४३॥

गा०-टी०—अनशन आदि तपविषयक बाह्यशुद्धि अभ्यन्तर परिणामोंकी विशुद्धिका

'भ्रूक्षेपणकोपस्य' क्रमादीनामिव कोपस्य लिङ्गं लिङ्गभावः। बाह्यानामभ्यन्तराणां चैवं भवति यदि परस्परा-विनाभाविता स्यादग्निधूमयोरिव। प्रतिज्ञस्य लिङ्गलिङ्गिभावः कार्येण बाह्येन कारणस्याभ्यन्तरस्येति भावार्थः ॥१३४४॥

ते चेव इंदियाणं दोसा सव्वे हवंति णादव्वा।
कामस्स य भोगाण य जे दोसा पुव्वणिदिट्ठा ॥१३४५॥

'ते चेव इंदियाणं दोसा' त एवेन्द्रियाणां सर्वेषां दोषा भवन्ति इति ज्ञातव्याः। के? **'जे दोसा पुव्व णिद्दिट्ठा'** ये दोषाः पूर्वनिर्दिष्टाः। **'कामस्स य भोगाण य'** कामस्य भोगानां च संबन्धितया निर्दिष्टा दोषाः ॥१३४५॥

महुलित्तं असिधारं तिक्खं लेहिज्ज जध णरो कोई।
तध विसयसुहं सेवदि दुहावहं इहहि परलोगे ॥१३४६॥

'मधुलित्तं' मधुना लिप्तां। **'असिधारं'** असेर्धारां। **'तिक्खं'** तीक्ष्णां। **'जह णरो कोई लेहिज्ज'** यथा नरः कश्चिदास्वादयति जिह्वया। **'तह विसयसुहं सेवदि'** तथा विषयसुखं सेवते। **'दुहावहं इह य परलोए'** दुःखावहमत्र जन्मनि परत्र च, स्वल्पसुखतया बहुदुःखतया च साम्यं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयो ॥१३४६॥

एकैकेन्द्रियविषयवशवर्तिभिर्मृगादिभिरुपद्रवो ह्याप्तः, किं पुनरशेषेन्द्रियविषयलम्पटैर्जनैः प्राप्योऽनर्थ वाच्यमिति मत्वाचष्टे—

सद्देण मओ रूवेण पदंगो वणगओ वि फरिसेण।
मच्छो रसेण भमरो गंधेण य पाविदो दोसं ॥१३४७॥

चिह्न है। जैसे क्रोध उत्पन्न होनेका चिह्न भृकुटी चढाना होता है। इस प्रकार बाह्य और अभ्यन्तरको अग्नि और धूमकी तरह परस्परमें अविनाभाविता है। अर्थात् जैसे आगके होनेपर ही धूम होता है अतः जहाँ धूम होता है वहाँ आग अवश्य होती है। इसीको अविनाभाविता कहते हैं। धूम लिंग है आग लिंगी है। इसी प्रकार बाह्य कार्यके साथ अभ्यन्तर कारणका लिंग-लिंगी भाव सम्बन्ध जानना ॥१३४४॥

गा०—जो दोष पहले काम और भोगके सम्बन्धमें कहे हैं वे ही सब दोष इन्द्रियोंके सम्बन्धमें जानना ॥१३४५॥

गा०-टी०—जैसे कोई मनुष्य जिह्वाके द्वारा मधुसे लिप्त तलवारको तीक्ष्ण धारको चाटता है वैसे ही मनुष्य विषय सुखका सेवन करता है जो इस जन्ममें और परजन्ममें दुःखदायी है। जैसे मधुलिप्त तलवारकी धारको जिह्वासे चाटनेसे प्रारम्भमें मधुके कारण थोड़ा सुख होता है किन्तु जीभ कट जानेपर बहुत दुःख होता है उसी प्रकार विषय भोगमें भी सुख अल्प है दुःख बहुत है ॥१३४६॥

आगे कहते हैं कि एक एक इन्द्रियके विषयमें आसक्त हिरन आदि कष्ट भोगते हैं तब समस्त इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त जनोंके द्वारा प्राप्य अनर्थका क्या कहना है—

'सद्देण मओ' शब्देन मृगः बाष्पच्छेदसरससुरभितृणाग्रग्रासेन, मृदुपवनानीतशैत्यस्फटिकसंकाशपानीयपानेन च पुष्टमूर्तिरन्तःकरणमिव लघुतरगमनो हरिणो व्याधकगीतश्रवणेन सुखाकूणितलोचनः, दुष्टयमदंष्ट्रासमाननिशितविशिखावलीभिन्नतनुर्जहाति प्रियतमान्प्राणान् । 'रूवेण पयंगो य' एककलिकाकारप्रदीपरूपेण वनितानुरागः पतंगो दीपार्चिषि भस्मसाद्भावमुपयाति । 'वणगओ वि फरिसेण' वनगजस्य विलासिनीहृदयमिव दुष्प्रवेशासु, संसृतिरिव महतीषु अरण्यानीषु, विपद इव दुरतिक्रमणीयासु सल्लकीतरुणतरुशाखाहारः, रम्यगिरिनदीविपुलह्रदेषु, स्वेच्छापानतरणनिमज्जनोन्मज्जनैरुपगतप्रीतिः, अनुकूलानेककरिणीकदम्बकेनानुगम्यमानो वासिताविशालजघनस्पर्शनोपनीतप्रीतिर्मदकलो विचेतनो रागबहुलतिमिरपटलावगुण्ठितलोचनो महति गर्ते निपतितः परं व्यसनमवगाहते । 'मच्छो' मत्स्यः युवजनमनःसरोभागिविलासिनीविलोचनविभ्रमविलम्बनोद्यतः स्वल्पाहाररसलोलुपो विपदमाश्ववशः प्रयाति । विविधसुरभिप्रसूनप्रकररजोऽङ्गरागो भ्रमरः विषपादपकुसुमगन्धेनापहृतप्रियतमप्राणो भवति । एवमेते दोषान्प्रापिताः ॥१३४७॥

तिरश्चां दुःखं प्रतिपाद्य विषयरागजनितं मनुजगतौ दर्शयति—

[2]इदि पंचहि पंच हदा सद्दरसफरिसगंधरूवेहिं ।
इक्को कहं ण हम्मदि जो सेवदि पंच पंचेहिं ॥१३४८॥

गा०-टी०—वनमें हिरण मुखके वाष्पसे टूटनेवाले सरस सुगन्धित तृणोंके अग्रभागोंको खाकर और कोमल वायुके द्वारा शीतल किये गये स्फटिकके समान स्वच्छ जलको पीकर पुष्ट होता है। उसकी गति मनसे भी तीव्र होती है। वह व्याधके मनोहर गीतको सुनकर सुखसे अपनी आँखें मूँद लेता है। और दुष्ट यमराजकी दाढ़के समान तीक्ष्ण विशाल बाणोंके द्वारा छेदा जाकर अत्यन्त प्रिय प्राणोंको त्याग देता है। एक कलिकाके आकार दीपकके रूपसे अनुराग करनेवाला पतंगा दीपककी लौमें जलकर भस्म हो जाता है। वनका हाथी स्त्रीके हृदयकी तरह जिसमें प्रवेश करना कठिन है, जो संसारकी तरह महान् है और विपत्तिकी तरह जिसे लांघना अशक्य है ऐसे महान् वनमें सल्लकीके तरुण वृक्षोंकी शाखा खाता है, रमणीक पहाड़ी नदी और बड़े-बड़े तालाबोंमें स्वेच्छापूर्वक जल पीता है, अवगाहन करता है, डुबकी लगाता है, अनेक अनुकूल हथिनियोंका समूह उसके पीछे चलता है, हथिनीके विशाल जघन भागके स्पर्शनमें अनुरक्त होकर मदमत्त हो, रागकी अधिकतारूपी अन्धकारके पटलसे आँखें बन्द कर लेता है और महान् गर्तमें गिरकर कष्ट भोगता है। युवा पुरुषोंके मनरूपी सरोवरमें विलास करनेवाली स्त्रियोंके लोचनके हावभावका अनुकरण करनेवाला मच्छ थोड़ेसे भोजनकी लोलुपतावश शीघ्र ही विपत्तिमें पड़ जाता है। अनेक प्रकारके सुगन्धित फूलोंके समूहकी रजसे आवेष्टित भौंरा विषवृक्षके फूलकी गन्धसे प्राण खो देता है। इस प्रकार एक एक इन्द्रियके वश होकर ये कष्ट उठाते हैं ॥१३४७॥

तिर्यञ्चोंका विषयरागसे उत्पन्न दुःख कहकर मनुष्य गतिमें कहते हैं—

गा०—इस प्रकार शब्द, रस, स्पर्श, गन्ध, रूप इन पाँच विषयोंके द्वारा पांच जीव अपने प्राण गँवाते हैं। तब जो एक ही पुरुष पाँचों इन्द्रियोंके द्वारा पाँचों विषयोंका सेवन करता है वह प्राण क्यों न गँवायेगा ॥१३४८॥

---

१. मल्लारो—आ०। २. एतां टीकाकारो नेच्छति।

सरजूए गंधमित्तो घाणिंदियवसगदो विणीदाए ।
विसपुप्फगंधमग्घाय मदो णिरयं च संपत्तो ॥१३४९॥

'सरजूए' सरय्वां नद्यां । 'गंधमित्तो' गंधमित्रो नाम भूपालः । 'मदो' मृतः । 'विणीदाए' विनीतापुरी-पतिः । 'घाणिंदियवसगदो' घ्राणेन्द्रियवशंगतः । 'विसगंधपुप्फमग्घाय' विषचूर्णवासितपुष्पमाघ्राय । 'मदो' मृतः । णिरयं च संपत्तो नरकं च संप्राप्तः तीव्रविषयरागाज्जातेन कर्मभारेण ॥१३४९॥

पाडलिपुत्ते पंचालगीदसद्देण मुच्छिदा संती ।
पासादादो पडिदा णट्ठा गंधव्वदत्ता वि ॥१३५०॥

पाटलिपुत्रे पांचालस्य गीतशब्देन मूर्छिता सती प्रासादात्पतिता नष्टा गन्धर्वदत्ता नामधेया गणिका ॥१३५०॥

माणुसमंसपसत्तो कंपिल्लवदी तधेव भीमो वि ।
रज्जब्भट्ठो णट्ठो मदो य पच्छा गदो णिरयं ॥१३५१॥

'माणुसमंसपसत्तो' मानुषमांसप्रसक्त. काम्पिल्यपुराधिपो भीमो राज्यभ्रष्टो नष्टो मृत पश्चान्नरक-मुपयातः ॥१३५१॥

चोरो वि तह सुवेगो महिलारूवम्मि रत्तदिट्ठीओ ।
विद्धो सरेण अच्छीसु मदो णिरयं च संपत्तो ॥१३५२॥

'चोरो वि तह सुवेगो' सुवेगनामधेयश्चौरोऽपि युवतिरूपाकृष्टदृष्टिः शरैर्विद्धेक्षणे मृतो नरकमुप-गतः ॥१३५२॥

फासिंदिएण गोवे सत्ता गिहवदिपिया वि णासक्के ।
मारेदूण सपुत्तं धूयाए मारिदा पच्छा ॥१३५३॥

'फासिंदिएण' स्पर्शनेन्द्रियेण हेतुना । 'गोवे सत्ता' आत्मीये गोपाले आसक्ता । '[1]गिहवदिपिया'

गा०—अयोध्यापुरीका राजा गन्धमित्र घ्राणेन्द्रियके वशमें होकर सरयू नदीमें विषैले फूल-की गन्धको सूँघकर मरा और नरकमें गया ॥१३४९॥

विशेषार्थ—उसके बड़े भाईने भयकर विषसे फूलको सुवासित करके दिया था। इसकी कथा बृहत्कथाकोशमें ११३ नम्बर पर है।

गा०—पाटलीपुत्र नगरमें गंधर्वदत्ता नामक गणिका पचालके गीतके शब्द सुनकर मूर्छित हो महलसे नीचे गिरकर मर गई ॥१३५०॥

विशेषार्थ—इसकी कथा बृहत्कथाकोशमे ११४ नम्बर पर है।

गा०—कंपिला नगरीका राजा भीम मनुष्यके मांसका प्रेमी था। वह राज्यसे निकाला जाकर मरकर नरकमें गया ॥१३५१॥

विशेषार्थ—बृहत्कथाकोशमें ११५ नम्बर पर इसकी कथा है।

१. वदि गिहिणी—अ० आ०।

राष्ट्रकूटभार्या। 'णासक्के' नासिक्ये नगरे। 'मारेदूण सपुत्तं' स्वपुत्रं हत्वा। 'धूदाए' दुहित्रा। 'पच्छा' पश्चात्। 'मरिदा' मृतिं नीता ॥१३५३॥ इंदिया।

एवमिन्द्रियदोषानुपदर्श्य कोपदोषप्रकटनार्थं प्रक्रम्यते—

रोसाइट्ठो णीलो हदप्पभो अरदिअग्गिसंसत्तो।
सीदे वि णिवाइज्जदि वेवदि य गहोवसिट्ठो व ॥१३५४॥

'रोसाविट्ठो' रोषाविष्टः। नीलवर्णो भवति 'हदप्पभो' विनष्टदीप्तिः। 'अरदिअग्गिसंतत्तो' अरत्यग्निसंतप्तः। 'सीदे वि णिवाइज्जइ' शीतेऽपि तृषितो भवति। 'वेवदि' वेपते च। 'गहोवसिट्ठोव' ग्रहेणोपसृष्ट इव ॥१३५४॥

भिउडीतिवलियवयणो उग्गदणिच्चलसुरत्तलुक्खक्खो।
कोवेण रक्खसो वा णराण भीमो णरो भवदि ॥१३५५॥

'भिउडीतिवलियवयणो' भृकुटीत्रिवलितवदनो। 'उग्गदणिच्चलसुरत्तलुक्खक्खो' उद्गतनिश्चलसुरक्तरूक्षेक्षण.। 'रोसेण' रोषेण हेतुना। 'रक्खसो' राक्षस इव। 'णराण भीमो णरो होदि' नराणां भीमो भयावहो भवति नरः ॥१३५५॥

जह कोइ तत्तलोहं गहाय रुट्ठो परं हणामित्ति।
पुव्वदरं सो डज्झदि डहिज्ज व ण वा परो पुरिसो ॥१३५६॥

'जह कोइ' यथा कश्चित् 'तत्तलोहं गहाय' तप्तलोहं गृहीत्वा। किमर्थं ? 'रुट्ठो परं हणामित्ति'

गा०—सुवेग नामक चोर युवती स्त्रियोंके रूपको देखनेका अनुरागी था। उसकी आँखमें बाण लगा और वह मरकर नरक गया ॥१३५२॥

विशेषार्थ—बृ० क० को० में इसकी कथा ११६ वीं है। उसमें सुवेगको म्लेच्छराज कहा है ॥१३५२॥

गा०—नासिक नगरमें गृहपति सागरदत्तकी भार्या नागदत्ता स्पर्शन इन्द्रियके कारण अपने ग्वाले पर आसक्त थी। उसने अपने पुत्रको मारा तो उसकी लड़कीने अपनी मांको मार दिया ॥१५५३॥

विशेषार्थ—इसकी कथा उसी कथाकोशमें ११७ नम्बर पर है ॥१३५३॥

इस प्रकार इन्द्रियके दोष बतलाकर क्रोधके दोष बतलाते हैं—

गा०-टी०—जो क्रोधसे ग्रस्त होता है उसका रंग नीला पड़ जाता है, कान्ति नष्ट हो जाती है, अरतिरूपी आगसे संतप्त होता है। ठंडमें भी उसे प्यास सताती है और पिशाचसे गृहीत की तरह क्रोधसे कांपता है ॥१३५४॥ भृकुटी चढ़नेसे मस्तक पर तीन रेखाएँ पड़ जाती हैं, लाल लाल निश्चल आँखें बाहर निकल आती हैं। इस तरह क्रोधसे मनुष्य दूसरे मनुष्योंके लिए राक्षसकी तरह भयानक हो जाता है ॥१३५५॥

गा०—जैसे कोई पुरुष रुष्ट होकर दूसरेका घात करनेके लिए तपा लोहा उठाता है। ऐसा करनेसे दूसरा उससे जले या न जले, पहले वह स्वयं जलता है ॥१३५६॥

रुष्टः परं हन्मीति । 'पुव्वतरं सो डज्झदि' पूर्वतरं स एव दह्यते तेन तप्तेन लोहेन गृहीतेन । 'डज्झिज्ज व परो ण वा पुरिसो' दह्यते परः पुरुषो न वा दह्यते ॥१३५६॥

तध रोसेण सयं पुव्वमेव डज्झदि हु कलकलेणेव ।
अण्णस्स पुणो दुक्खं करिज्ज रुट्ठो ण य करिज्ज ॥१३५७॥

'तध रोसेण' तथा रोषेण स्वयं पूर्वं दह्यते द्रवीकृतलोहसंस्थानीयेन । अन्यस्य पुनर्दुःखं कुर्यान्न वा रुष्टः ॥१३५७॥

णासेदूण कसायं अग्गी णसदि सयं जधा पच्छा ।
णासेदूण तध णरं णिरासवो णस्सदे कोधो ॥१३५८॥

कोधो सत्तुगुणकरो णीयाणं अप्पणो य मण्णुकरो ।
परिभवकरो सवासे रोसो णासेदि णरमवसं ॥१३५९॥

'रोसो सत्तुगुणकरो' रोषः शत्रोर्यो गुणो धर्मोऽपकारित्व नाम तं करोति । अथवा शत्रूणा गुणमुपकारं करोति रोषः । यतोऽस्य हि रोषदहनेन दह्यमानं तं दृष्ट्वा ते तुष्यन्ति । कथमस्य रोषमुत्पादयाम इत्येवमादृतास्ते सदापीति । 'णीयाणं अप्पणो या' बान्धवाना आत्मनश्च शोकं करोति । 'परिभवकरो सवासे' स्वनिवासस्थाने परिभवमानयति । 'रोसो णासेदि णरमवसं' रोषो नरमवशं नाशयति ॥१३५९॥

ण गुणे पेच्छदि अववददि गुणे जंपदि अजंपिदव्वं च ।
रोसेण रुद्दहिदओ णारगसीलो णरो होदि ॥१३६०॥

'ण गुणे पेच्छदि' गुणं न पश्यति, यस्मै कुप्यति । 'अववदति' निन्दति । 'गुणे' गुणानपि तदीयान् । 'जंपदि अजंपिदव्वं च' वदत्यवाच्यमपि । 'रोसेण रुद्दहिदओ' रोषेण रौद्रचित्तः । 'णारगसीलो णरो हवदि' नारकशीलो भवति नरः ॥१३६०॥

गा०—उसी प्रकार पिघले हुए लोहेकी तरह क्रोधसे पहले वह स्वयं जलता है । दूसरेको वह दुःखी करे या न करे ॥१३५७॥

गा०—जैसे आग ईंधनको नष्ट करके पीछे स्वयं बुझ जाती है उसी प्रकार क्रोध पहले क्रोधी मनुष्यको नष्ट करके पीछे निराधार होनेसे स्वयं नष्ट हो जाता है ॥१३५८॥

गा०-टी०—क्रोध शत्रुका जो धर्म है अपकार करना, उसे करता है अथवा क्रोध शत्रुका उपकार करता है क्योंकि उसे क्रोधकी आगमें जलते हुए देखकर शत्रु प्रसन्न होते हैं । वे सदा इस प्रयत्नमें रहते हैं कि कैसे इसे क्रोध उत्पन्न करें । क्रोध अपने और बन्धु बान्धवोंको शोकमें डालता है । अपने ही घरमें अपना तिरस्कार कराता है । परवश मनुष्यका नाश करता है ॥१३५९॥

गा०—क्रोधी जिसपर क्रोध करता है उसके गुणोंको नहीं देखता । उसके गुणोंकी भी निन्दा करता है । जो कहने योग्य नहीं है वह भी कहता है इस प्रकार क्रोधसे रौद्र हृदय मनुष्यका स्वभाव नारकी जैसा होता है ॥१३६०॥

जह करिसयस्स धण्णं वरिसेण समज्जिदं खलं पत्तं ।
डहदि फुलिंगो दित्तो तह कोहग्गी समणसारं ॥१३६१॥

'जह करिसयस्स' यथा कर्षकस्य धान्यं वर्षेण समार्जितं खलप्राप्तं दहति विस्फुलिङ्गो दीप्तस्तथा कोपाग्निर्दहति श्रमणस्य सारं पुण्यधान्यं ॥१३६१॥

जह उग्गविसो उरगो दब्भतणंकुरहदो पकुप्पंतो ।
अचिरेण होदि अविसो तह होदि जदी वि णिस्सारो ॥१३६२॥

'जह उग्गविसो उरगो' यथोग्रविष उरगो । दर्भतृणाङ्कुरहतः तत्प्रकुष्टरोषवशमुपनयन् स्पष्टं तृणाविकं भक्षयित्वा झटिति निर्विषो भवति । तथा यतिरपि निस्सारो भवत्यचिरेण रत्नत्रयविनाशात् ॥१३६२॥

पुरिसो मक्कडसरिसो होदि सरूवो वि रोसहदरूवो ।
होदि य रोसणिमित्तं जम्मसहस्सेसु य दुरूवो ॥१३६३॥

'पुरिसो मक्कडसरिसो' पुरुषो मर्कटसदृशो भवति सुरूपोऽपि सन् रोषोपहृतरूप । इह जन्मनि दोषानुपदर्श्य पारभविकमाचष्टे—'होदि' भवति । जन्मसहस्रेषु दुरूप एकभवकृतात्कोपात् ॥१३६३॥

सुट्ठु वि पिओ मुहुत्तेण होदि वेसो जणस्स कोधेण ।
पधिदो वि जसो णस्सदि कुद्धस्स अकज्जकरणेण ॥१३६४॥

'सुट्ठुवि' नितरामपि । जनस्य प्रियो मुहूर्तमात्रेणैव द्वेष्यो भवति रोषेण प्रथितमपि यशो नश्यति । कस्य ? 'कुद्धस्स अकज्जकरणेण' क्रुद्धस्य अकार्यकरणेन ॥१३६४॥

णीयल्लगो वि [1]रुट्ठो कुणदि अणीयल्ल एव सत्तू वा ।
मारेदि तेहिं मारिज्जदि वा मारेदि अप्पाणं ॥१३६५॥

गा०—जैसे चिनगारी एक वर्षके श्रमसे प्राप्त खलिहानमें आये किसानके धान्यको जला देती है उसी प्रकार क्रोधरूपी आग श्रमणके जीवन भरमें उपार्जित पुण्य धनको जला देती है ॥१३६१॥

गा०—जैसे उग्र विषवाले सर्पको घासके एक तिनकेसे मारने पर वह अत्यन्त रोषमें आकर उस तिनके पर अपना विष वमन करके तत्काल विष रहित हो जाता है उसी प्रकार यति भी क्रोध करके अपने रत्नत्रयका विनाश करता है और शीघ्र ही निस्सार हो जाता है ॥१३६२॥

गा०—सुन्दर सुरूप पुरुष भी क्रोधसे रूपके नष्ट हो जाने पर बन्दरके समान लाल मुख-वाला विरूप हो जाता है। इस जन्ममें क्रोधके दोष दिखलाकर परलोकमें दिखलाते हैं एक भवमें क्रोध करनेसे हजारों जन्मोंमें कुरूप होता है ॥१३६३॥

गा०—क्रोध करनेसे अत्यन्त प्रिय व्यक्ति भी मुहूर्त मात्रमें ही द्वेषका पात्र होता है। तथा क्रोधी मनुष्यके अनुचित काम करनेसे उसका फैला हुआ यश भी नष्ट हो जाता है ॥१३६४॥

---

१. वि कुद्धो आ० मु० ।

'कोधपरवसो वि 'बन्धू' बन्धुरपि अबन्धूकरोति शत्रुवत् । हन्ति बान्धवान् । मार्यते वा स्वयं तैरात्मानं वा हन्यात् ॥१३६५॥

पुज्जो वि णरो अवमाणिज्जदि कोवेण तक्खणे चेव ।
जगविस्सुदं वि णस्सदि माहप्पं कोहवसियस्स ॥१३६६॥

'पुज्जो वि' पूज्योऽपि नरो अवमन्यते रोषेण । तत्क्षण एव जगति विश्रुतमपि माहात्म्यं नश्यति रोषिणः ॥१३६६॥

हिंसं अलियं चोज्जं आचरदि जणस्स रोसदोसेण ।
तो ते सव्वे हिंसालिया'दि दोसा भवे तस्स ॥१३६७॥

'हिंसं अलियं चोज्जं' हिंसामसत्यं चौर्यं चाचरति जनस्य रोषदोषेण । तस्मात्तस्य हिंसादिप्रभवा दोषा भवे भविष्यन्ति ॥१३६७॥

बारवदीय असेसा दड्ढा दीवायणेण रोसेण ।
बद्धं च तेण पावं दुग्गदिभयवंधणं घोरं ॥१३६८॥

'बारवदी' द्वारवती । निश्शेषा दग्धा रुष्टेन द्वीपायनेन । घोरं च पापं बद्धं दुर्गतिभयप्रवृत्तिनिमित्तं । 'कोधुत्ति गदं' ॥१३६८॥

मानदोषप्रकटनार्थः प्रबन्ध उत्तरः—

कुलरूवाणाबलसुदलाभिस्सरयत्थमदितवादीहिं ।
अप्पाणमुण्णमंतो नीचागोदं कुणदि कम्मं ॥१३६९॥

'कुलरूवाणा' कुलेन रूपेण आज्ञया, बलेन, श्रुतेन, लाभेन, ऐश्वर्येण मत्या तपसाऽन्यैश्च आत्मानमुत्कर्षयन्नीचैर्गोत्रं कर्म बध्नाति ॥१३६९॥

गा०—क्रोधी मनुष्य अपने निकट सम्बन्धियोंको भी असम्बन्धी अथवा शत्रु बना लेता है। उनको मारता है या उनके द्वारा मारा जाता है अथवा स्वयं मर जाता है ॥१३६५॥

गा०—पूजनीय मनुष्य भी क्रोध करनेसे तत्काल अपमानित होता है। क्रोधीका जगत्‌में प्रसिद्ध भी माहात्म्य नष्ट हो जाता है ॥१३६६॥

गा०—क्रोधके कारण मनुष्य लोगोंकी हिंसा करता है, उनके सम्बन्धमें झूठ बोलता है, चोरी करता है। अतः उसमें हिंसा झूठ आदि सब दोष होते हैं ॥१३६७॥

गा०—दीपायन मुनिने क्रोधसे समस्त द्वारका नगरी भस्म कर दी। और दुर्गतिमें ले जाने वाले घोर पापका बन्ध किया ॥१३६८॥

क्रोध का कथन समाप्त हुआ।

आगे मानके दोष कहते हैं—

गा०—कुल, रूप, आज्ञा, बल, श्रुत, लाभ, ऐश्वर्य, तप तथा अन्य बातोंमें अपनेको बड़ा

---

१. विकुद्धो आ० । २. लियचोज्ज समुब्भवा दोसा—मु० ।

दट्ठूण अप्पणादो हीणे मुक्खाउ विंति माणकलिं ।
दट्ठूण अप्पणादो अधिए माणं णयंति बुधा ॥१३७०॥

'दट्ठूण अप्पणादो' आत्मनो हीनान् दृष्ट्वा मूर्खा मानकलिं उद्वहन्ति । बुधा पुनरात्मनोऽधिकान्वुद्ध्यावलोक्य मानं निरस्यन्ति ॥१३७०॥

माणी विस्सो सव्वस्स होदि कलहभयवेरदुक्खाणि ।
पावदि माणी णियदं इहपरलोए य अवमाणं ॥१३७१॥

'माणी विस्सो सव्वस्स' मानी सर्वस्य द्वेष्यो भवति । कलहं, भय, वैरं, जन्मान्तरानुगं दुःखं च प्राप्नोति । नियोगत इह परत्र चापमानं ॥१३७१॥

सव्वे वि कोहदोसा माणकसायस्स होदि णादव्वा ।
माणेण चेव मेधुणहिंसालियचोज्जमाचरदि ॥१३७२॥

'सव्वे वि कोधदोसा' क्रोधस्य वर्णिता दोषा. । 'न गुणे पिच्छदि' इत्येवमादिसूत्रेण ते सर्वे मानकषायस्यापि ज्ञातव्याः । मानेन मैथुने चौर्ये हिंसायामसत्याभिधाने च प्रयतते ॥१३७२॥

सयणस्स जणस्स पिओ णरो अमाणी सदा हवदि लोए ।
णाणं जसं च अत्थं लभदि सकज्जं च साहेदि ॥१३७३॥

'सयणस्स' मानरहितः स्वजनस्य परजनस्य च सदा प्रियो जनो भवति । 'लोए' लोके । 'णाणं' ज्ञानं । 'जसं' यशः, 'अत्थं' द्रविणं लभते स्वं कार्यमन्यदपि साधयति ॥१३७३॥

ण य परिहायदि कोई अत्थे मउगत्तणे पउत्तम्मि ।
इह य परत्त य लब्भदि विणएण हु सव्वकल्लाणं ॥१३७४॥

'ण य परिहायदि' मार्दवे प्रयुक्ते नैव कश्चिदर्थो हीयते येनायमर्थहानिभयात् मानं कुर्यात् । मार्दवे तु प्रयुक्ते इह जन्मान्तरे च लभ्यते विनयेनैव सर्वकल्याणं ॥१३७४॥

मानने वाला, उनका अहंकार करनेवाला नीच गोत्र नामक कर्मका बन्ध करता है ॥१३६९॥

गा०—अपनेसे हीन व्यक्तियोंको देखकर मूर्ख लोग मान करते है । किन्तु विद्वान् अपनेसे बड़ोंको देखकर मान दूर करते हैं ॥१३७०॥

गा०—मानीसे सब द्वेष करते हैं । वह कलह, भय, वैर और दुःखका पात्र होता है तथा इस लोक और परलोकमें नियमसे अपमानका पात्र होता है ॥१३७१॥

गा०—पहले जो क्रोधके दोष कहे हैं वे सब दोष मानकषायके भी जानना । मानसे मनुष्य हिंसा, असत्य बोलना, चोरी और मैथुनमें प्रवृत्ति करता है ॥१३७२॥

गा०—मान रहित व्यक्ति जगत्में स्वजन और परजन सदा सबका प्रिय होता है । वह ज्ञान, यश और धन प्राप्त करता है तथा अन्य भी अपने कार्यको सिद्ध करता है ॥१३७३॥

गा०—मार्दव युक्त व्यवहार करने पर कोई धनहानि नहीं होती जिससे धनहानिके भयसे मनुष्य मान करे । विनयसे इस जन्ममें और जन्मान्तरमें सर्व कल्याण प्राप्त होते हैं ॥१३७४॥

सट्ठिं साहस्सीओ पुत्ता सगरस्स रायसीहस्स ।
अदिबलवेगा संता णट्ठा माणस्स दोसेण ॥१३७५॥

'सट्ठिं साहस्सीओ' सगरस्य राजसिंहस्य चक्रिण: षष्ठिसहस्रसंख्याः पुत्रा महाबलाः विनष्टा मानदोषेण ॥१३७५॥ माणत्तिगदं ।

मायादोषनिरूपणायोत्तरगाथा—

जध कोडिसमिद्धो वि ससल्लो ण लभदि सरीरणिव्वाणं ।
मायासल्लेण तहा ण णिव्वुदिं तवसमिद्धो वि ॥१३७६॥

'जध कोडिसमिद्धो वि' यथा कोटिसमृद्धोऽपि शरीरानुप्रविष्टशल्यो न शरीरसुखं लभते । तथा मायाशल्येन न निर्वृत्तिं लभते तपःसमृद्धोऽपि ॥१३७६॥

होदि य वेस्सो अप्पच्चइदो तध अवमदो य सुजणस्स ।
होदि अचिरेण सत्तू णीयाणवि णियडिदोसेण ॥१३७८॥

'होदि य वेस्सो' द्वेष्यो भवत्यप्रत्ययित: तथा सुजनस्यावमतः । बान्धवानामपि शत्रुरचिरेण भवति मायादोषेण ॥१३७७॥

पावइ दोसं मायाए महल्लं लहु सगावराधेवि ।
सच्चाण सहस्साणि वि माया एक्का वि णासेदि ॥१३७८॥

'पावदि दोसं' प्राप्नोति दोषं महान्तं अल्पापराधोऽपि मायया । एकापि माया सत्यसहस्राणि नाशयति । महादोषप्रापणं सत्यसहस्रविनाशनं च मायादोषो ॥१३७८॥

मायाए मित्तभेदे कदम्मि इधलोगिगच्छपरिहाणी ।
णासदि मायादोसा विसजुदुद्धं व सामण्णं ॥१३७९॥

गा०—सगर चक्रवर्तीके साठ हजार पुत्र महाबलशाली होते हुए भी मान दोषके कारण मृत्युको प्राप्त हुए ॥१३७५॥

मानके दोषोंका वर्णन पूर्ण हुआ ।

आगे मायाके दोष कहते हैं—

गा०—जैसे एक कोटी धनका स्वामी होने पर भी यदि शरीरमें कीलकाँटा घुसा हो तो शारीरिक सुख नहीं मिलता । उसी प्रकार तपसे समृद्ध होने पर भी यदि अन्तरमें मायारूपी शल्य घुसा है तो मोक्ष लाभ नहीं हो सकता ॥१३७६॥

गा०—माया दोषसे मनुष्य सबके द्वेषका पात्र होता है, उसका कोई विश्वास नहीं करता। सुजन भी उसका अपमान करते हैं । वह शीघ्र ही अपने बन्धु-बान्धवोंका भी शत्रु बन जाता है ॥१३७७॥

गा०—अपने द्वारा थोड़ा सा अपराध होने पर भी मायाचारी महान् दोषका भागी बनता है । एक बारका भी मायाचार हजारों सत्योंको नष्ट कर देता है इस प्रकार महादोषका भागी होना और हजार सत्योंका विनाश ये मायाके दोष हैं ॥१३७८॥

'मायाए' मायया। 'मित्तभेदे' मैत्र्या विनाशे कृते। 'इह लोगिगकज्जपरिहाणी' ऐहलौकिककार्यविनाशः। 'णासदि सामण्णं' नश्यति श्रामण्यं। 'मायादोसा' मायाख्य दोषाद्धेतोः। 'विसजुददुद्ध'व' विषयुतदुग्धमिव। मित्रकार्यविनाशः श्रामण्यहानिश्च मायाजनितदोषौ ॥१३७९॥

मायां करेदि णीचागोदं इत्थी णवुंसयं तिरियं।
मायादोसेण य भवसएसु डंभिज्जदे बहुसो ॥१३८०॥

'माया करेदि णीचागोदं' माया करोति नीचैर्गोत्रं कर्म। नीचैर्वा गोत्रमस्य जन्मान्तरे। 'इत्थी णवुंसयं-तिरियं' स्त्रीवेदं, नपुंसकवेदं, तिर्यग्गतिं च नामकर्म करोति। अथवा स्त्रीत्वं, नपुंसकत्वं, तिर्यक्त्वं वा। 'मायादोसेण' 'मायासञ्जितेन दोषेण। 'भवसदेसु' जन्मशतेषु। 'डंभिज्जदि' वंच्यते। 'बहुसो' बहुशः ॥१३८०॥

कोहो माणो लोहो य जत्थ माया वि तत्थ सण्णिहिदा।
कोहमदलोहदोसा सव्वे मायाए ते होंति ॥१३८१॥

'कोधो माणो' क्रोधमानलोभास्तत्र जीवे सन्निहिता यत्र स्थिता माया। क्रोधमानलोभजन्या दोषाः सर्वेऽपि मायावतो भवन्ति ॥१३८१॥

सस्सो य भरघगामस्स सत्तसंवच्छराणि णिस्सेसो।
दड्ढो डंभणदोसेण कुंभकारेण रुट्ठेण ॥१३८२॥

'सस्सो' सस्यं। 'भरघगामस्स' भरतनामधेयग्रामस्य। 'सत्तसंवच्छराणि' वर्षसप्तकं। 'णिस्सेसो दड्ढो' निरवशेषं दग्धं। 'डंभणदोसेण' मायादोषेण हेतुना। 'रुट्ठेण कुंभकारेण' रुष्टेन कुम्भकारेण ॥१३८२॥ मायाऽऽख्याता।

लोभदोषानाचष्टे—

लोभेणासाघत्तो पावइ दोसे बहुं कुणदि पावं।
णीए अप्पाणं वा लोभेण णरो ण विगणेदि ॥१३८३॥

गा०—मायाचारसे मित्रता नष्ट हो जाती है और उससे इस लोक सम्बन्धी कार्योंका विनाश होता है। तथा मायादोषसे विष मिश्रित दूधकी तरह मुनि धर्म नष्ट हो जाता है। इस प्रकार मित्रता और कार्यका नाश तथा मुनि धर्मकी हानि ये मायाके दोष हैं ॥१३७९॥

गा०-टी०—मायासे नीच गोत्र नामक कर्मका बन्ध होता है, जिससे दूसरे जन्ममें नीच कुलमें जन्म होता है। तथा स्त्रीवेद, नपुंसकवेद और तिर्यञ्चगति नाम कर्मका बन्ध करती है। अथवा मायासे स्त्रीपना, नपुंसकपना और तिर्यञ्चपना प्राप्त होता है। मायासे उत्पन्न हुए दोषसे सैकड़ों जन्मोंमें बहुत बार ठगाया जाता है अर्थात् किसीको एक बार ठगनेसे बार-बार ठगा जाता है ॥१३८०॥

गा०—जहाँ मायाचार है वहाँ क्रोध, मान लोभ भी रहते हैं। क्रोध मान और लोभसे उत्पन्न होने वाले सब दोष मायाचारीमें होते हैं ॥१३८१॥

गा०—मायाचारके दोषसे रुष्ट हुए कुम्भकारने भरत नामक गाँवका धान्य सात वर्ष तक पूर्ण रूपसे जलाया था ॥१३८२॥

---

१ मायासंजनितेन—मु०।

'लोभेण' लोभेन हेतुना । 'आसायत्तो' ममेदं भविष्यतीत्याशया ग्रस्तः । 'पावदि दोसे' प्राप्नोति दोषान् । 'बहुं कुणदि पावं' पापं च बहु करोत्याशावान् । 'णीए' बान्धवान् । 'अप्पाणं वा' आत्मानं वा । 'लोभेण' लोभेन । 'णरो ण विगणेदि' न विगणयति । बान्धवानपि बाधते स्वशरीरश्रमं च नापेक्षते इति यावत् ॥१३८३॥

वस्तुनः सारासारतया न कश्चित् कर्मबन्धातिशयः येन केनचिद्द्रव्येण जनिता मूर्च्छा कर्मबन्धे निमित्तं आत्मा शुभपरिणामनिमित्तत्वादिति मत्वा सूरिराचष्टे—

लोभो तणे वि जादो जणेदि पावमिदरत्थ किं वच्चं ।
लगिदमउडादिसंगस्स वि हु ण पावं अलोहस्स ॥१३८४॥

'लोभो तणे वि जादो' लोभस्तृणेऽपि जातो । 'जणेदि पावं' जनयति पापं । 'इदरत्थ' इतरत्र सारवति वस्तुनि । 'किं वच्चं' किं वाच्यं । 'लगिदमगुडादिसंगस्स वि' स्वशरीरविलग्नमुकुटादिपरिग्रहस्यापि न पापं भवति । 'अलोहस्स' लोभकषायवर्जितस्य मुकुटादेः सारद्रव्यस्यापि प्रत्यासत्तिर्न बन्धायेति मन्यते ॥१३८४॥

साकेदपुरे सीमंधरस्स पुत्तो मियद्धओ णाम ।
भद्दयमहिसनिमित्तं जुवरायया केवली जादो ॥१३८५॥

तृप्तिमापादयति द्रव्यमिति योऽत्रास्यानुरागः स नास्ति द्रव्यत इत्याचष्टे—

विशेषार्थ—इसकी कथा बृ० क० को० में १२० नम्बर पर है उसमे गाँवका नाम भग्ण दिया है ॥१३८२॥

लोभके दोष कहते है—

गा०—लोभसे मनुष्य 'यह वस्तु मेरी होगी' इस आशामे ग्रस्त होकर बहुत दोष करता है; बहुत पाप करता है । लोभसे अपने कुटुम्बियोंकी और अपनी भी चिन्ता नही करता । उन्हे भी कष्ट देता है और अपने शरीरको भी कष्ट देता है ॥१३८३॥

वस्तुके सारवान या असार होनेसे कर्मबन्धमे कोई विशेषता नही होती । जिससे किसी द्रव्यमें उत्पन्न हुआ ममत्व भाव कर्मबंधमे निमित्त होता है क्योंकि वह ममत्व भाव आत्माके अशुभ परिणाममे निमित्त होता है, ऐसा मानकर आचार्य कहते है—

गा०—तृणमे भी हुआ लोभ पापको उत्पन्न करता है तब सारवान् वस्तुमें हुए लोभका तो कहना ही क्या है ? जो लोभकषायसे रहित है उसके शरीरपर मुकुट आदि परिग्रह होनेपर भी पाप नहीं होता । अर्थात् सारवान् द्रव्यका सम्बन्ध भी लोभके अभावमें बन्धका कारण नही है ॥१३८४॥

गा०—साकेत नगरीमें सीमन्धरका पुत्र मृगध्वज नामक था । वह भद्रक नामक भैंसेके निमित्तसे केवली हुआ ॥१३८५॥

विशेषार्थ—बृ. क. को. में मृगध्वजकी कथा १२१ नम्बर पर है ।

'द्रव्य तृप्ति देता है' इस भावनासे मनुष्यका द्रव्यमे जो अनुराग है वह नही होनेसे बन्ध नहीं होता, यह कहते हैं—

---

१. रहदम-अ० आ० ।

तेलोक्केण वि चित्तस्स णिव्वुदी णत्थि लोभघत्थस्स ।
संतुट्ठो हु अलोभो लभदि दरिद्दो वि णिव्वाणं ॥१३८६॥

'तेलोक्केण वि' त्रैलोक्येनापि । 'चित्तस्स णिव्वुदी णत्थि' चित्तस्य निर्वृतिर्नास्ति । 'लोभघत्थस्स' लोभग्रस्तस्य । 'संतुट्ठो' सन्तुष्टः लब्धेन केनचिद्वस्तुना शरीरस्थितिहेतुभूतेन । 'अलोभो' द्रव्यगतमूर्च्छारहितः । 'लभदि' लभते । 'दरिद्दो वि' दरिद्रोऽपि । 'णिव्वाणं' निर्वाणं । सन्तोषायत्ता चित्तनिर्वृतिर्न द्रव्यायत्ता, सत्यपि द्रव्ये महति असन्तुष्टस्य हृदये महति दुःखासिका ॥१३८६॥

सव्वे वि गंथदोसा लोभकसायस्स हुंति णादव्वा ।
लोभेण चेव मेहुणहिंसालियचोज्जमाचरदि ॥१३८७॥

'सव्वे वि गंथदोसा' सर्वेऽपि परिग्रहस्य ये दोषा. पूर्वमाख्यातास्ते सर्वेऽपि । 'लोभकसायस्स' लोभकषायवतः लोभ. कषायोऽस्येति लोभकषाय इति गृहीतत्वात् । अथवा लोभसंज्ञितस्य कषायस्य दोषा इति सम्बन्धनीयं । 'लोभेण चेव' लोभेन चैव । मैथुनं, हिंसां, अलीकं, चौर्यं वाचरति । ततः सावद्यक्रियायाः सर्वस्या आदिमान् लोभः ॥१३८७॥

रामस्स जामदग्गिस्स वच्छं घित्तूण कत्तविरिओ वि ।
णिघणं पत्तो सकुलो ससाहणो लोभदोसेण ॥१३८८॥

'रामस्स' रामस्य । 'जामदग्गिस्स' जामदग्न्यस्य । 'वच्छं' व्रजं । 'घित्तूण' गृहीत्वा । 'कत्तविरिओ वि' कार्तवीर्योऽपि । 'णिधणं पत्तो' निधनं प्राप्तः 'सकुलो' सबन्धुवर्गः । 'ससाहणो' सबलः । 'लोभदोसेण' लोभदोषेण ॥१३८८॥ लोभः ।

ण हि तं कुणिज्ज सत्तू अग्गी वग्घो व कण्हसप्पो वा ।
जं कुणइ महादोसं णिव्वुदिविग्घं कसायरिवू ॥१३८९॥

स्पष्टा ॥१३८९॥

गा०–टी०—जो लोभसे ग्रस्त हैं उसके चित्तको तीनों लोक प्राप्त करके भी सन्तोष नहीं होता । और जो शरीरकी स्थितिमें कारण किसी भी वस्तुको पाकर सन्तुष्ट रहता है, जिसे वस्तुमें ममत्वभाव नहीं है वह दरिद्र होते हुए भी सुख प्राप्त करता है । अतः चित्तकी शान्ति सन्तोषके अधीन है, द्रव्यके अधीन नहीं है । महान् द्रव्य होते हुए भी जो असन्तुष्ट है उसके हृदयमें महान् दुःख रहता है ॥१३८६॥

गा०—पूर्वमें परिग्रहके जो दोष कहे हैं वे सब दोष लोभकषायवालेके अथवा लोभ नामक कषायके जानना । लोभसे ही मनुष्य हिंसा, झूठ, चोरी और मैथुन करता है । अतः समस्त पाप-क्रियाओंका प्रथम कारण लोभ है ॥१३८७॥

गा०——जमदग्निके पुत्र परशुरामकी गायोंको ग्रहणकर लेनेके कारण राजा कार्तवीर्य लोभदोषसे समस्त परिवार और सेनाके साथ मृत्युको प्राप्त हुआ । परशुरामने सबको मार डाला ॥१३८८॥

विशेषार्थ—बृ. क. को. में कार्तवीर्यकी कथा १२२ नम्बर पर है ।

उत्तरगाथा—

इंदियकसायदुद्दंतस्सा पाडेंति दोसविसमेसु ।
दुःखावहेसु पुरिसे पसढिलणिव्वेदखलिया हु ॥१३९०॥

'इंदियकसायदुद्दंतस्सा' इन्द्रियकषायदुर्दान्ताश्वाः । 'पाडेंति' पातयन्ति । 'दोसविसमेसु' पापविषम-स्थानेषु । 'दुक्खावहेसु' दुःखावहेषु । 'पुरिसे' पुरुषान् । 'पसढिलणिव्वेदखलिया' प्रशिथिलनिर्वेद-खलिनाः ॥१३९०॥

इंदियकसायदुद्दंतस्सा णिव्वेदखणिलिदा संता ।
ज्झाणकसाए भीदा ण दोसविसमेसु पाडेंति ॥१३९१॥

'इंदियकसायदुद्दंतस्सा' इन्द्रियकषायदुर्दान्ततुरङ्गाः वैराग्यखलीननियमिताः सन्तः ध्यानकशाभीता न दोषविषमेषु पातयन्ति ॥१३९१॥

इंदियकसायपण्णगदट्ठा बहुवेदणुद्दिदा पुरिसा ।
पब्भट्ठज्झाणसुक्खा संजमजीयं पविजहंति ॥१३९२॥

इन्द्रियकषायपन्नगदष्टाः, बहुवेदनावष्टब्धाः पुमांसः प्रभ्रष्टध्यानसुखाः संयमजीवं परित्य-जन्ति ॥१३९२॥

ज्झाणागदेहिं इंदियकसायभुजगा विरागमंतेहिं ।
णियमिज्जंता संजमजीयं साहुस्स ण हरंति ॥१३९३॥

ध्यानागदैरिन्द्रियकषायभुजगा वैराग्यमन्त्रैर्नियम्यमानाः साधोः संयमजीवितं न हरन्ति ॥१३९३॥

सुमरणपुंखा चिंतावेगा विसयविसलित्तरइधारा ।
मणधणुमुक्का इंदियकंडा विंधेति पुरिसमयं ॥१३९४॥

गा०—शत्रु, आग, व्याघ्र और कृष्ण सर्प भी वह बुराई नहीं करता जो बुराई कषाय-रूपी शत्रु करता है। वह कषायरूप शत्रु मोक्षमें बाधारूप महादोषका कारण है ॥१३८९॥

गा०—इन्द्रिय कषायरूपी घोडे दुर्दमनीय हैं इनको वशमें करना बहुत कठिन है। वैराग्य-रूपी लगामसे ही ये वशमें होते हैं। किन्तु उस लगामके ढीले होनेपर वे पुरुषको दुःखदायी पाप-रूपी विषम स्थानोंमें गिरा देते हैं ॥१३९०॥

गा०—किन्तु इन्द्रिय कषायरूपी दुर्दमनीय घोड़े जब वैराग्यरूपी लगामसे नियमित होते हैं और ध्यानरूपी कोड़ेसे भयभीत रहते हैं तो विषम पापस्थानमें नहीं गिराते ॥१३९१॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूपी सर्पोंसे डसे हुए मनुष्य बहुत कष्टसे पीड़ित होकर, उत्तम-ध्यानरूपी सुखसे भ्रष्ट हो, संयमरूपी जीवनको त्याग देते हैं ॥१३९२॥

गा०—किन्तु इन्द्रिय और कषायरूपी सर्प सम्यग्ध्यानरूपी सिद्ध औषधि और वैराग्यरूपी मंत्रोंसे वशमें होनेपर साधुके संयमरूपी जीवनको नहीं हरते ॥१३९३॥

'सुमरणपुंखा' स्मरणपुङ्खाः 'चिंतावेगा' विषयविषेणालिप्ता रतिधारा येषां ते मनोधनुर्मुक्ताः इन्द्रिय-बाणाः पुरुषमृगं घातयन्ति ॥१३९४॥

तान्बाणान्पुरुषमृगहननोद्यतान्यतय एव वारयन्तीति कथयति—

धिदिखेडएहिं इंदियकंडे ज्झाणवरसत्तिसंजुत्ता ।
वारंति समणजोहा सुणाणदिट्ठीहिं दट्ठूण ॥१३९५॥

'धिदिखेडएहिं' धृतिखेटैः इन्द्रियशरान्वारयन्ति ध्यानसत्त्वसमन्विताः । 'समणजोहा' श्रमणयोधाः सम्यग्ज्ञानदृष्ट्या दृष्ट्वा ॥१३९५॥

गंथाडवीचरंतं कसायविसकंटया पमायमुहा ।
विद्धंति विसयतिक्खा अधिदिदढोवाणहं पुरिसं ॥१३९६॥

'गंथाडवीचरंतं' परिग्रहवने चरन्तं कषायविषकंटका प्रमादमुखा विध्यन्ति विषयैस्तीक्ष्णा धृतिदृढोपान-द्रहितं पुरुषं ॥१३९६॥

संयतस्य पुनरेवंपरिकरस्य कषायविषकंटका किञ्चिदपि न कुर्वन्ति इत्याचष्टे सूरि—

आबद्धधिदिदढोवाणहस्स उवओगदिट्ठिजुत्तस्स ।
ण करिंति किंचि दुक्खं कसायविसकंटया मुणिणो ॥१३९७॥

'आबद्धधिदिदढोवाणहस्स' आबद्धधृतिदृढोपानत्कस्य ज्ञानोपयोगसहितदृष्टेर्मुने स्वल्पमपि दुःखं न कुर्वन्ति कषायविषकंटकाः ॥१३९७॥

गा०—इन्द्रियाँ बाणके समान पुरुषरूपी हिरनको बीधती है। बाणमें पुंख होते हैं। भोगे हुए भोगोंका स्मरण इनका पुंख है। भोगोंकी चिन्ता इनका वेग है। रति इनकी धारा-गति है जो विषयरूपी विषसे लिप्त है। ये इन्द्रियरूप बाण मनरूपी धनुषके द्वारा छोड़े जाते हैं ॥१३९४॥

आगे कहते हैं कि पुरुषरूप मृगोंका घात करनेमें तत्पर उन बाणोंको संयमीजन ही निवारण करते हैं—

गा०—ध्यानरूपी श्रेष्ठ शक्तिसे युक्त श्रमण योद्धा सम्यग्ज्ञानरूप दृष्टिसे देखकर धैर्यरूप फलकके द्वारा इन्द्रियरूप बाणोंका वारण करते है ॥१३९५॥

गा०—परिग्रहरूपी घोर वनमें कषायरूपी विषैले काँटे फैले हैं। प्रमाद उनका मुख है और विषयोंकी चाहसे वे तीक्ष्ण हैं। धैर्यरूपी दृढ़ जूतेको धारण किये विना जो उस वनमें विचरण करता है, उसे वे काँटे बीध देते हैं ॥१३९६॥

आगे कहते हैं इस प्रकारके धैर्यरूपी जूता धारण करनेवाले संयमीका वे कषायरूप विषैले काँटे कुछ भी नहीं करते—

गा०—जिस मुनिने धैर्यरूपी दृढ़ जूता धारण किया है और जो सम्यग्ज्ञानोपयोग दृष्टिसे सम्पन्न है उसको वे कषायरूपी विषैले काँटे कुछ भी दुःख नहीं देते ॥१३९७॥

---

१. फेडन्ति—मु० मूलारा० ।

उड्डहणा अदिचवला अणिग्गहिदकसायमक्कडा पावा ।
गंथफलळोलहिदया णासंति हु संजमारामं ॥१३९८॥

'उड्डहणा' असंयता अतिचपला अनिगृहीताः कषायमर्कटाः, परिग्रहफलासक्तहृदया नाशयन्ति संयमारामं ॥१३९८॥

णिच्चं पि अमज्झत्थे तिकालदोसाणुसरणपरिहत्थे ।
संजमरज्जूहिं जदी बंधंति कसायमक्कडए ॥१३९९॥

'णिच्चं पि' नित्यमपि अमाध्यस्थान्, त्रिकालविषयदोषानुसरणपटून, कषायमर्कटान्यतय. संयमरज्जुभिर्बध्नन्ति ॥१३९९॥

धिदिवम्मिएहिं उवसमसरेहिं साधूहिं णाणसत्थेहिं ।
इंदियकसायसत्तू सक्का जुत्तेहिं जेदुं जे ॥१४००॥

'धिदिवम्मिएहिं' धृतिसन्नद्धैः. उपशमशरैः साधुभिर्ज्ञानशस्त्रैरुपयुक्तैरिन्द्रियकषायशत्रवो जेतुं शक्या ॥१४००॥

इंदियकसायचोरा सुभावणासंकलाहिं बज्झंति ।
ता ते ण विकुव्वंति चोरा जह संकलाबद्धा ॥१४०१॥

'इंदियकसायचोरा' इन्द्रियकषायचोरा. शुभध्यानभावशृङ्खलाभिर्बध्यन्ते । बन्धस्थास्ते न विकारं कुर्वन्ति शृङ्खलाबद्धचोरा इव ॥१४०१॥

इंदियकसायवग्घा संजमणरघादणे अदिपसत्ता ।
वेरग्गलोहदढपंजरेहिं सक्का हु णियमेदुं ॥१४०२॥

'इंदियकसायवग्घा' इन्द्रियकषायव्याघ्राः संयमनरभक्षणे अत्यासक्ता वैराग्यलोहदृढपञ्जरैः नियन्तुं शक्या ॥१४०२॥

गा०—ये कषायरूपी बन्दर असंयत हैं अतिचपल हैं, पापी हैं, इनका हृदय परिग्रहरूपी फलमें आसक्त है। इनका यदि निग्रह नहीं किया तो ये संयमरूपी उद्यानका विनाश कर देते हैं ॥१३९८॥

गा०—ये कषायरूपी बन्दर, निरन्तर चपल हैं, त्रिकालवर्ती दोषोंका अनुसरण करनेमें चतुर हैं। इन्हे संयमी संयमरूपी रस्सीसे बाँधता है ॥१३९९॥

गा०—सन्तोषरूपी कवच, उपशमरूपी बाण और ज्ञानरूपी शस्त्रोंसे सहित साधुओंके द्वारा वे इन्द्रिय और कषायरूप शत्रु जीते जा सकते हैं ॥१४००॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूपी चोर शुभध्यानरूप भावोंकी साकलसे बाँधे जाते हैं। बाँधे जानेपर वे सांकलसे बँधे चोरोंकी तरह विकार नहीं करते ॥१४०१॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूपी व्याघ्र संयमरूपी मनुष्यको खानेके बड़े प्रेमी होते हैं। इन्हें वैराग्यरूपी लोहके मजबूत पीजरेमें रोका जा सकता है ॥१४०२॥

इंदियकसायहत्थी वयवारिमं [1]णीणिदा उवायेण ।
विणयवरत्ताबद्धा सक्का अवसा वसे कादुं ॥१४०३॥

'इंदियकसायहत्थी' इन्द्रियकषायहस्तिनः उपायेन व्रतवारीमुपनीताः विनयवरत्राबद्धा अवशा अपि शक्या वशे नेतुं ॥१४०३॥

इंदियकसायहत्थी वोलेदुं सीलफलिहमिच्छंता ।
धीरेहिं रुंभिदव्वा धिदिजमलारुप्पहारेहिं ॥१४०४॥

इन्द्रियकसायहस्तिनः शीलपरिघालंघनैषिणो रोद्धव्या धीरैर्धृतिकर्णतोदप्रहारैः ॥१४०४॥

इंदियकसायहत्थी दुस्सीलवणं जदा अहिलसेज्ज ।
णाणंकुसेण तइया सक्का अवसा वसं कादुं ॥१४०५॥

'इंदियकसायहत्थी' इन्द्रियकषायहस्तिनः दुःशीलवनं प्रवेष्टुं यदाभिलषन्ति तदा अवशा अपि वशे कर्तुं शक्यन्ते ज्ञानांकुशेन ॥१४०५॥

जदि विसयगंधहत्थी अदिणिज्जदि रागदोसमयमत्ता ।
विण्णा[2]णज्झाणजोहस्स वसे णाणंकुसेण विणा ॥१४०६॥

'जदि विसयगंधहत्थी' यद्यपि विषयगन्धहस्तिनः स्वयं ग्रन्थाटवीं प्रविशन्ति रागद्वेषमत्ता न तिष्ठेयुर्विज्ञानध्यानयोधस्य वशे ज्ञानांकुशेन विना ॥१४०६॥

विसयवणरमणलोला बाला इंदियकसायहत्थी ते ।
पसमे रामेदव्वा तो ते दोसं ण काहिंति ॥१४०७॥

'विसयवणरमणलोला' विषयवनरमणलोला बाला इन्द्रियकषायहस्तिनः ते रतिमुपनेयाः प्रशमेन ततस्ते दोषं न कुर्वन्ति ॥१४०७॥

गा०—इन्द्रिय कषायरूपी हाथी यद्यपि स्वच्छन्द है तथापि व्रतरूपी बाड़ेमें ले जाकर विनयरूपी रस्सीसे उपायपूर्वक बांधे जानेपर वशमें लाये जा सकते हैं ॥१४०३॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूप हाथी शीलरूपी अर्गलाको लांघना पसन्द करते हैं। अतः धीर पुरुषोंको उनके दोनों कानोंके पास धैर्यरूपी प्रहार करके रोकना चाहिए ॥१४०४॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूप हाथी जब दुःशीलरूपी वनमें प्रवेश करना चाहे तो उसे ज्ञानरूपी अंकुशसे वशमें करना शक्य है ॥१४०५॥

गा०—यदि रागद्वेषरूपी मदसे मस्त विषयरूपी गन्धहस्ती ज्ञानांकुशके बिना विज्ञान ध्यानरूपी योधाके वशमें नहीं रहता और परिग्रहरूपी वनमें प्रवेश करता है ॥१४०६॥

गा०—जो इन्द्रिय और कषायरूप बालहस्ती विषयरूपी वनमें क्रीड़ा करनेके प्रेमी होते हैं। उन्हें प्रशमरूपी वनमें अर्थात् आत्मा और शरीरके भेदज्ञानसे प्रकट हुए स्वाभाविक वैराग्यमें रमण कराना चाहिए तब वे दोष नहीं करेंगे ॥१४०७॥

---

१. णवीणि–अ० मु०, मूलारा० । २ चेट्ठेज्ज णाण–मूलारा० ।

सद्दे रूवे गंधे रसे य फासे सुभे य असुभे य ।
तम्हा रागद्दोसं परिहर तं इंदियजएण ॥१४०८॥

'सद्दे रूवे गंधे रसे य' शुभाशुभेषु शब्दादिषु रागद्वेषं च निराकुरु त्वं इन्द्रियजयेनेत्युत्तरसूत्रस्यार्थः ॥१४०८॥

जह णीरसं पि कडुयं ओसहं जीविदत्थिओ पिवदि ।
कडुयं पि इंदियजयं णिव्वुइहेदुं तह [1]पिविज्ज ॥१४०९॥

'जह णीरसं पि' यथा स्वादुरहितं कटुकमप्यौषधं जीवितार्थं पिबति । तथा इन्द्रियजयं भजते कटुकमपि निर्वृतिहेतुम् ॥१४०९॥

इन्द्रियजये क उपाय इत्याशङ्कायां इन्द्रियकषायविषयाणां शुभाशुभत्वं अनवस्थितं । ये शुभास्त एवेदानीं अशुभा, अशुभा ये ते एव शुभा । ये तु अशुभतया दोषा इदानीं हरि ? से शुभा इति गृहीता न त्वशुभा जातास्त एवामी इति कथं नानुरागस्तत्र ये वाऽशुभास्तेषु कथं द्वेष शुभता प्रतिपत्स्यमानेषु इति निवेदयति—

जे आसि सुभा एण्हिं असुभा ते चेव पुग्गला जादा ।
जे आसि तदा असुभा ते चेव सुभा इमा इण्हिं ॥१४१०॥

'जे आसि सुभा एण्हिं' ये पुद्गला. शुभा आसन्निदानी त एवाऽशुभा जाता । ये चासन्तदा अशुभा ते चैव शुभा इदानी इति तौ न युक्तो रागद्वेषौ इति शिक्षयति ॥१४१०॥

सव्वे वि य ते भुत्ता चत्ता वि य तह अणंतखुत्तो मे ।
सव्वेसु एत्थ को मज्झ विंभओ भुत्तविजढेसु ॥१४११॥

गा०—इसलिए हे क्षपक ! इन्द्रियको जीतकर तू शुभ और अशुभ शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्शमें रागद्वेष मत कर ॥१४०८॥

गा०—जैसे जीवनका इच्छुक रोगी स्वादरहित कडुवी औषधी पीता है वैसे ही तू मोक्षके लिए कटुक भी इन्द्रियजयका सेवन कर ॥१४०९॥

इन्द्रिय जयका क्या उपाय है ऐसी शंका करनेपर कहते हैं—

गा०-टी०—इन्द्रिय और कषायके विषयोंमें अच्छा और बुरापना स्थिर नहीं है । जो विषय आज अच्छे लगते हैं कल वे ही बुरे लगते हैं । जो आज बुरे लगते हैं कल वे ही अच्छे लगते हैं । जिन्हे अच्छा मानकर स्वीकार किया वे ही बुरा लगनेपर द्वेषके पात्र होते हैं तो उनमे अनुराग कैसा ? और जो बुरे लगते हैं कल वे ही अच्छे लगनेवाले हैं अतः उनमें द्वेष कैसा ? जो पुद्गल इस समय अच्छे प्रतीत होते हैं वे ही बुरे लगने लगते हैं । जो पहले बुरे प्रतीत होते थे वे ही अब अच्छे प्रतीत होते हैं इसलिए उनमें रागद्वेष करना उचित नहीं है ॥१४१०॥

गा०—वे अच्छे बुरे सभी पुद्गल मैंने अनन्तवार भोगे हैं और अनन्तवार त्यागे हैं । उन भोगे और त्यागे हुए सब पुद्गलोंमें मुझे अचरज कैसा ? इस प्रकार हे क्षपक ! तुम्हें विचारना चाहिए ॥१४११॥

---

१. भजेज्ज-मु०, मूलारा० ।

'सव्वे वि ते मुत्ता' सर्वेऽपि च ते पुद्गलकाः शुभाशुभरूपा अनुभूतास्त्वया अनन्तवारं मया। तेषु द्रव्येषु भुक्तत्यक्तार्थेषु को विस्मयो ममेति त्वया चिन्ता कार्या ॥१४११॥

सुखसाधनतया यदि तत्रानुरागो, दुःखसाधनतया च रोषः सैव सुखदुःखसाधनता शुभाशुभादीनां रूपाणां नैवास्ति सङ्कल्पमन्तरेणात्मनः इति वदति—

रूवं सुभं च असुभं किंचि वि दुक्खं सुहं च ण य कुणदि।
संकप्पविसेसेण दु सुहं च दुःखं च होइ जए ॥१४१२॥

'रूवं सुभं च असुभं' रूपं शुभमशुभं वा किञ्चिद्दुःखं सुखं च नैव करोति। सङ्कल्पवशेनैव सुखं वा दुःखं भवति जगति ॥१४१२॥

इह य परत्त य लोए दोसे बहुगे य आवहइ चक्खू।
इदि अप्पणो गणित्ता णिज्जेदव्वो हवदि चक्खू ॥१४१३॥

'इह य परत्त य' जन्मद्वयेऽपि बहून्दोषानावहति चक्षुरित्यात्मनावगणय्य निर्जेतव्यं चक्षुः ॥१४१३॥

एवं सम्मं सद्दरसगंधफासे विचारयित्ताणं।
सेसाणि इंदियाणि वि णिज्जेदव्वाणि बुद्धिमदा ॥१४१४॥

'एवं सम्मं' उभयजन्मगोचरानेकदोषावहत्वं विचार्य स्वबुद्ध्या शेषाण्यपीन्द्रियाणि शब्दरसगन्धस्पर्शविषयाणि निर्जेतव्यानि बुद्धिमता। 'सद्दरसगंधफासे' इति वैषयिकी सप्तमी ॥१४१४॥

क्रोधजयोपायमाचष्टे—

अदिदा सवदि असंतेण परो तं णत्थि मेत्ति खमिदव्वं।
अणुकंपा वा कुज्जा पावइ पावं वराओत्ति ॥१४१५॥

'अदिदा सवदि असंतेण' यदि तावदसता दोषेण शपति परः स दोषो न ममास्तीति क्षमा कार्या। असद्दोषख्यापनेनास्य मम किं नष्टं इति। अथवानुकम्पा आक्रोशके कुर्यादिहराकोऽसदभिधानेन समार्जयति पाप-

---

आगे कहते हैं यदि सुखका साधन होनेसे इनमें तेरा अनुराग है और दुःखका साधन होनेसे द्वेष है तो अच्छे बुरे पुद्गलोंमें वही सुख-दुःख साधनता तेरे संकल्पके सिवाय यथार्थमें नहीं है—

गा०—कोई अच्छा या बुरा रूप सुख या दुःख नही करता। जगत्में संकल्पवश ही सुख-दुःख होता है ॥१४१२॥

गा०—इस लोक और परलोकमें ये आँखें बहुत बुराई उत्पन्न करती हैं ऐसा जानकर चक्षु इन्द्रियको जीतना चाहिए ॥१४१३॥

गा०—इस प्रकार दोनों लोकोंमें अनेक दोष उत्पन्न करने वाली जान अपनी बुद्धिसे विचारकर शब्द, रस, गन्ध और स्पर्शको विषय करने वाली शेष इन्द्रियोंको भी बुद्धिमान् पुरुषको जीतना चाहिए ॥१४१४॥

क्रोधको जीतनेका उपाय कहते हैं—

गा०-टी०—यदि दूसरा व्यक्ति मेरेमें अविद्यमान दोषको कहता है तो वह दोष मुझमें नहीं है अतः उसे क्षमा करना चाहिए; क्योंकि असत् दोषको कहनेसे मेरी क्या हानि हुई? अथवा

भारं अनेक दुःखावहं । मदीयैर्दोषैरस्य किञ्चिन्नायाति दोषजातं । गुणैर्वा किमस्यै किञ्चिदुपैति ? प्राणिनां प्रतिनियता गुणदोषास्तत्तमेव प्रति सुखदुःखयोजना ततो पुरभूतो (?) मृषानेन कर्मबन्धः सम्पाद्यते इति ॥१४१५॥

चिन्ता करुणात्मिका रोषं पश्चमपसारयति—

जदि वा सवेज्ज संतेण परो तह वि पुरिसेण खमिदव्वं ।
सो अत्थि मज्झ दोसो ण अलीयं तेण भणिदंत्ति ॥१४१६॥

'जदि वा सवेज्ज' यदि वा शपेच्च सता दोषेण तथापि क्षमा कार्या । सोऽनेन कथ्यमानो दोषो ममास्ति न व्यलीकं तेनोक्तमिति [2]सङ्कल्पतया न हि [3]सन्तो दोषाः परे चेद् न ब्रुवन्ति इति चिन्तयन्ति ॥१४१६॥

यो यस्य समुपकारं महान्तं चेतसि करोति स तस्यापराधं अल्पं सहते इति प्रसिद्धमेव लोके इति कथयति—

सत्तो वि ण चेव हदो हदो वि ण य मारिदो त्ति य खमेज्ज ।
मारिज्जंतो [4]वि सहेज्ज चेव धम्मो ण णट्ठोत्ति ॥१४१७॥

'सत्तो वि चेव' शप्त एवास्मि न हतः इत्यहननं गुणं पृथु चेतसि संस्थाप्य किमनेन शपनेन मे नष्टमिति क्षन्तव्यं । एवमितरत्रापि बोध्यं । हत एव न मृत्युं प्रापितः । मार्यमाणोऽपि सहेत विपन्निमूलन-क्षमोऽभिलषितसुखसम्पादनोद्यतो धर्मो न विनाशित इति ॥१४१७॥

उपायान्तरमपि रोषविजये निरूपयति—

निन्दा करने वाले पर दया करना चाहिए—बेचारा झूंठ बोलकर अनेक दुःख देने वाला पाप भार एकत्र करता है। मेरे दोषोंसे उसमें दोष उत्पन्न नहीं होते और न मेरे गुणोंसे ही उसका कोई लाभ होता है। प्राणियोंके अपने-अपने गुण दोष नियत हैं। उनसे होने वाला सुख-दुःख भी उन्हें ही होता है। अतः यह व्यर्थ ही कर्मबन्ध करता है ॥१४१५॥

आगे कहते हैं दया रूप चिन्तनसे कठोर क्रोध दूर होता है—

गा०———यदि दूसरा मेरेमें विद्यमान दोषको कहता है तब भी क्षमा करना चाहिए क्योंकि वह जिस दोषको कहता है वह मेरेमें है। वह झूंठ नहीं कहता। विद्यमान दोषोंको दूसरे यदि न कहें तो वे नष्ट हो जाते हैं, ऐसी बात भी नहीं है ऐसा विचार करना चाहिए ॥१४१६॥

आगे कहते हैं कि जो जिसका महान् उपकार करता है वह उसके छोटेसे अपराधको सहता है यह बात लोकमें प्रसिद्ध ही है—

गा०—इसने मुझे अपशब्द ही कहे हैं मारा तो नहीं है, इस प्रकार उसके न मारनेके गुण-को चित्तमें स्थापित करके 'अपशब्द कहनेसे मेरा क्या नष्ट हुआ' अतः क्षमा करना चाहिए। मारे तो भी सहन करना चाहिए कि इसने विपत्तिको जड़से दूर करनेमें समर्थ और इष्ट सुखको देने वाले मेरे धर्मका नाश नहीं किया ॥१४१७॥

क्रोधको जीतनेका अन्य उपाय कहते हैं—

---

१. मा पर नृतो–अ० । ना पुर मृतो–आ० । ना परो मृतो–ज० । २. संकल्पतयता–मु० ।
३. सतो दोषान्–आ० । ४. वि खमेज्ज–अ० आ० ।

रोसेण महाधम्मो णासिज्ज तणं व अग्गिणा सव्वो ।
पावं च करिज्ज महं बहुगंपि णरेण खमिदव्वं ॥१४१८॥

'रोसेण महाधम्मो' दुरर्जनो दुर्लभो दुश्चरो धर्मोऽनुयायी रोषेण [1]मदीयो नश्यति । अग्निना तृणमिव । तथा चाभ्यधायि—

अज्ञानकाष्ठजनितस्त्वपमानवातैः संधुक्षितः परुषवाक्पृथुविस्फुलिंगः ।
हिंसाशिखोऽपि भृशमुत्थितवैरधूमः क्रोधाग्निरुद्दहति धर्मवनं नराणाम् ॥ इति॥ [ ] ॥१४१८॥

उपायान्तरमपि वदति—

पुव्वकदमज्झपावं पत्तं परदुःखकरणजादं मे ।
रिणमोक्खो मे जादो अज्जत्ति य होदि खमिदव्वं ॥१४१९॥

'पुव्वकदमज्झपावं' पापागमद्वारमजानता [2]अनेनापि प्रमादिना पूर्वं कृतं यत्कर्म पापं परेषां दुःखकारणं तदद्य निर्वर्तितं । ऋणमोक्षोऽद्य मम जात इति चिन्तयताऽपसारयितव्यो रोषः ॥१४१९॥

पुव्वं सयमुवभुत्तं काले णाएण तेत्तियं दव्वं ।
को धारणीओ धणियस्स दिंतओ दुक्खिओ होज्ज ॥१३२०॥

'पुव्वं सयमुवभुत्तं' पूर्वं स्वयमेव भुक्तं, अवधिकाले प्राप्ते । 'णाएण' नीत्या । द्रव्यं अधमर्णः उत्तमर्णाय प्रयच्छन् को दुःखं करोति ॥१४२०॥

गा०-टी०—आगसे तृणकी तरह क्रोधसे दुःखसे उपार्जन किया गया दुर्लभ और दुश्चर मेरा धर्म नष्ट होता है। कहा भी है—यह क्रोधरूपी आग मनुष्योंके धर्मवनको जलाती है। यह क्रोधरूपी आग अज्ञानरूपी काष्ठसे उत्पन्न होती है, अपमानरूपी वायु उसे भड़काती है। कठोर वचनरूपी उसके बड़े स्फुलिंग है। हिंसा उसकी शिखा है और अत्यन्त उठा वैर उसका धूम है।

तथा यह क्रोध मुझे पापका बन्ध कराता है जो अनेक भवोंमे दुःखका बीज है। इसलिये चित्तमें क्षमा धारण करना चाहिए ॥१४१८॥

अन्य उपाय कहते हैं—

गा०—पापके आस्रवके द्वारको न जानते हुए मैंने प्रमादवश जो पूर्वमें पापकर्म किया था, जो दूसरोंके दुःखका कारण था, वह आज चला गया। आज मै उस ऋणसे मुक्त हो गया। ऐसा विचारकर क्रोधको दूर करना चाहिए ॥१३१९॥

गा०-टी०—पूर्व जन्ममें मैंने जिसका अपराध किया था उसके द्वारा इस जन्ममें उस अपराधसे उपार्जित पापकर्मकी उदीरणा किये जाने पर उसको भोगते हुए मुझे दुःख कैसा? साहूकार से पहले कर्ज लेकर जिस धनको मैंने स्वयं भोगा है, उतना ही धन उस ऋणका अवधिकाल आने पर देते हुए कौन कर्जदार दुःखी होता है ॥१४२०॥

---

१. महानपि न-आ० । २. अनेना-ज० ।

इह य परत्थ य लोए दोसे बहुए य आवहदि कोधो ।
इदि अप्पणो गणित्ता परिहरिदव्वो हवइ कोधो ॥१४२१॥

स्पष्टा उत्तरगाथा ॥१४२१॥

क्रोधजयोपायभूतान्परिणामानुपवर्ण्य मानप्रतिपक्षपरिणामं निरूपयति—

को इत्थ मज्झ माणो बहुसो णीचत्तणं पि पत्तस्स ।
उच्चत्ते य अणिच्चे उवट्ठिदे चावि णीचत्ते ॥१४२२॥

'को इत्थ मज्झ माणो' कोऽयासकृत्प्राप्ते [1]ज्ञानादिकैरुन्नतत्वे गर्वो मम बहुशो ज्ञानकुलरूपतपोद्रविणप्रभुत्वैरुन्नततां प्राप्तस्य प्राप्तोऽप्युन्नतत्वे अनवस्थायिनि सति उपस्थिते चोत्तरकालनीचत्वे ॥१४२२॥

अधिगेसु बहुसु संतेसु ममादो एत्थ को मई माणो ।
को विम्भओ वि बहुसो पत्ते पुव्वम्मि उच्चत्ते ॥१४२३॥

स्पष्टा ॥१४२३॥

उत्तरगाथा—

जो अवमाणणकरणं दोसं परिहरइ णिच्चमाउत्तो ।
सो णाम होदि माणी ण दु गुणचत्तेण माणेण ॥१४२४॥

'जो अवमाणणकरणं' योऽपमानकरणं दोषं परिहरति नित्यमुपयुक्तः स मानी भवति । न तु भवति मानी गुणरिक्तेन मानेन ॥१४२४॥

इह य परत्तय लोए दोसे बहुगे य आवहदि माणो ।
इदि अप्पणो गणित्ता माणस्स विणिग्गहं कुज्जा ॥१४२५॥

गा०—क्रोध इस लोक और परलोकमें बहुत दोषकारक है ऐसा जानकर क्रोधका त्याग करना चाहिए ॥१४२१॥

क्रोधको जीतनेके उपायभूत परिणामोंको बतलाकर मानके प्रतिपक्षी परिणामोको कहते हैं—

गा०-टी०—ज्ञान, कुल, रूप, तप, धन, प्रभुत्व आदिमें मैं ऊँचा भी होऊँ, तो उसका गर्व कैसा, क्योंकि अनेक बार मैं इनमें नीचा भी हो चुका हू। उच्चता और नीचता ये दोनों अनित्य हैं ॥१४२२॥

गा०—इस लोकमें बहुतसे मुझसे भी ज्ञानादिमें अधिक हैं इनका मुझे अभिमान कैसा ? तथा पूर्व जन्मोंमें मैं यह उच्चता अनेक बार प्राप्त कर चुका हूँ तब इनके प्राप्त होने पर आश्चर्य कैसा ? ॥१४२३॥

जो सदा मन लगाकर अपमान करने रूप दोषका त्याग करता है अर्थात् किसीका अपमान नहीं करता वह मानी होता है। गुण रहित मानसे मानी नहीं होता ॥१४२४॥

---

१. ज्ञानादिकरत्नत्रयतत्वं–आ० मु० ।

इह च परत्र च अन्यहवे दोषान् बहूनावहति मानमिति निश्चित्य माननिग्रहं कुर्यात्साधुजनः ॥१४२५॥

मायाप्रतिपक्षपरिणामस्वरूपं निगदति—

अदिगूहिदा वि दोसा जणेण कालंतरेण णज्जंति ।
मायाए पउत्ताए को इत्थ गुणो हवदि लद्धो ॥१४२६॥

'अदिगूहिदा वि दोसा' अतीव संवृता अपि दोषा जनेन ज्ञायन्ते कालान्तरे मायया प्रयुक्तया को गुणो लब्ध इति चिन्तया निहन्ति ॥१४२६॥

[1]परिभागम्मि असंते णियडिसहस्सेहिं गूहमाणस्स ।
चंदग्गहोव्व दोसो खणेण सो पायडो होइ ॥१४२७॥

जणपायडो वि दोसो दोसोत्ति ण घेप्पए सभागस्स ।
जह समलत्ति ण घिप्पदि समलं पि जए तलायजलं ॥१४२८॥

'जणपायडो वि दोसो' लोकप्रकटोऽपि दोषो दोष इति न गृह्यते भाग्यवतः । यथा समलमिति न गृह्यते लोके तटाकजलं समलमपि सदृशं । एतदुक्तं भवति पुण्यवतोऽपि मायया न किञ्चित्साध्यं । प्रकटेऽपि दोषे यतोऽसौ जगति मान्यः । दोषनिगूहनं हि मान्यताविनाशभयादिति भावः ॥१४२८॥

अथ माया करोत्यर्थार्थं तथापि सानर्थिकेति वदति—

डंभसएहिं बहुगेहिं सुपउत्तेहिं अपडिभोगस्स ।
हत्थं ण एदि अत्थो अण्णादो सपडिभोगादो ॥१४२९॥

गा०—इस लोक और परलोकमें मान बहुत दोषकारी है। ऐसा जानकर अपने मानका निग्रह करना चाहिए ॥१४२५॥

अब मायाके विरोधी परिणामोंका स्वरूप कहते है—

गा०— अत्यन्त छिपाकर भी की गई बुराई कालान्तरमे मनुष्योंको ज्ञात हो जाती है। तब मायाचार करनेसे क्या लाभ है। इस प्रकारके चिन्तनसे मायाको दूर करना चाहिए ॥१४२६॥

गा०—भाग्य प्रतिकूल हो तो हजार छलसे छिपाया हुआ भी काम चन्द्रमाके ग्रहणकी तरह क्षणमात्रमें प्रकट हो जाता है ॥१४२७॥

गा०–टी०—और भाग्यशालीका लोकमें प्रकट भी दोष दोष नहीं माना जाता। जैसे तालाबका जल मैला हो तब भी लोग उसे मैला नहीं मानते। आशय यह है कि पुण्यशालीको मायासे कोई लाभ नहीं है क्योंकि दोष प्रकट होनेपर भी वह जगत्में मान्य रहता है। मान्यताके विनाशके भयसे ही मनुष्य दोषको छिपाता है ॥१४२८॥

आगे कहते हैं कि मनुष्य धनके लिए मायाचार करता है किन्तु वह व्यर्थ है—

गा०—अच्छी तरह सैकड़ों छलकपट करनेपर भी पुण्यहीनके हाथमें पुण्यशालीका धन नहीं आता ॥१४२९॥

---

१. परिभोगम्मि–अ० । एतां टीकाकारो नेच्छति ।

'डंभसदेहिं बहुगेहिं' दम्भशतैर्बहुभिः सुप्रयुक्तैरपि अपुण्यस्य हस्तं नायात्यर्थः । अन्यस्मात्स-पुण्यात् ॥१४२९॥

इह य परत्तय लोए दोसे बहुए य आवहइ माया ।
इदि अप्पणो गणित्ता परिहरिदव्वा हवइ माया ॥१४३०॥

'इह य परत्त य' इहपरलोकयोर्बहून्दोषानावहति माया । इति आत्मनि निरूप्य परिहर्तव्या भवति माया ॥१४३०॥

लोभे कए वि अत्थो ण होइ पुरिसस्स अपडिभोगस्स ।
अकएवि हवदि लोभे अत्थो पडिभोगवंतस्स ॥१४३१॥

'लोभे कदे' लोभे कृतेऽप्यर्थो न भवति पुरुषस्य अपुण्यस्य । अकृतेऽपि लोभेऽर्थो भवति पुण्यवत. । ततः अर्थासक्तिरर्थलाभे मम न निमित्तमपि तु पुण्यमित्यनया चिन्तया लोभो निराकार्य. ॥१४३१॥

अपि च [1]अर्थप्राप्तये जनः प्रयतते अर्थाः पुनरसकृत्प्राप्तास्त्यक्ताश्च तेषु को विस्मय इति मन प्रणि-धानं कुरु लोभविजयायेति वदति—

सव्वे वि जए अत्था परिगहिदा ते अणंतखुत्तो मे ।
अत्थेसु इत्थ को मज्झ विंभओ गहिदविजडेसु ॥१४३२॥

'सव्वे वि जगे अत्था' सर्वेऽपि जगत्यर्थाः परिगृहीता मयानन्तवार ममार्थेष्वमीषु को विस्मयो गृहीत-त्यक्तेषु ॥१४३२॥

इह य परत्तय लोए दोसे बहुए य आवहइ लोभो ।
इदि अप्पणो गणित्ता णिज्जेदव्वो हवदि लोभो ॥१४३३॥

इंदियकसायसिमदं ॥१४३३॥

गा०—माया इस लोक और परलोकमें बहुतसे दोष लाती है ऐसा जानकर मायाका त्याग करना चाहिए ॥१४३०॥

गा०—लोभ करनेपर भी पुण्यहीन पुरुषके पास धन नही होता, और लोभ नही करनेपर भी पुण्यशालीके पास धन होता है । अतः धनका लोभ धनलाभमें निमित्त नही है किन्तु पुण्य निमित्त है ऐसा विचारकर लोभको त्यागना चाहिए ॥१४३१॥

अर्थकी प्राप्तिके लिए मनुष्य प्रयत्न करता है । किन्तु अर्थ अनेक बार प्राप्त हुआ और छोड़ा है । उसमें आश्चर्य कैसा ? इस तरह लोभको जीतनेके लिए मनमें चिन्तन करो, यह कहते हैं—

गा०—जगत्में जितने पदार्थ हैं वे सब मैंने अनन्तबार प्राप्त किये । उन ग्रहण किये और त्यागे हुए पदार्थोंमें आश्चर्य कैसा ? ॥१४३२॥

गा०—लोभ इस भव और परभवमें बहुतसे दोष पैदा करता है ऐसा जानकर लोभको त्यागना चाहिए ॥१४३३॥

इस प्रकार इन्द्रिय और कषायोंका कथन किया ।

---

१. अर्थप्राप्त्याय-आ० ।

एवमिन्द्रियकषायपरिणामनिरोधोपायभूतात्परिणामानुपदिश्य निद्राजयक्रमं निरूपयति सूरिः—

णिद्दं जिणाहि णिच्चं णिद्दा हु णरं अचेयणं कुणइ ।
वट्टिज्ज हु पासुत्तो खवओ सव्वेसु दोसेसु ॥१४३४॥

'**णिद्दं जिणाहि**' निद्रां जय नित्यं । अजिता सा किमपकारं करोति इत्याशङ्कय आह '**णिद्दा हु णरं अचेयणं कुणइ**' निद्रा नरं अचेतनं करोति । चैतन्यरहितावस्थाभावात्किमुच्यते करोतीति । अत्रोच्यते—विवेकज्ञानरहितत्वमेवात्राचेतनशब्देनोच्यते । यत एव योग्यायोग्यविवेकज्ञानरहितः अत एव । '**वट्टिज्ज हु**' वर्तते एव । '**पासुत्तो**' प्रकर्षेण सुप्तः '**खवगो**' क्षपकः । '**सव्वेसु दोसेसु**' हिंसामैथुनपरिग्रहादिकेषु ॥१४३४॥

निद्रा कर्मोदयवशाद्भवति कथं मयापाकर्तव्या इत्यत्राह—

जदि अधिवाधिज्ज तुमं णिद्दा तो तं करेहि सज्झायं ।
सुहुमत्थे वा चिंतेहि सुणसु संवेगणिव्वेगं ॥१४३५॥

'**जदि अधिवाधिज्ज तुमं**' यद्यधिबाधेत भवन्तं निद्रा । ततस्त्वं कुरु स्वाध्यायं । '**सुहुमत्थे वा चिंतेहि**' सूक्ष्मान्वार्थान् चिन्तय । '**सुणसु संवेगणिव्वेगं**' शृणुष्व संवेजनीं निर्वेजनीं वा कथां ॥१४३५॥

प्रकारान्तरं निद्राविजयहेतुं निगदति—

पीदी भए य सोगे य तहा णिद्दा ण होइ मणुयाणं ।
एदाणि तुमं तिण्णिवि जागरणत्थं णिसेवेहिं ॥१४३६॥

'**पीदी भए य सोगे**' प्रीत्यां भये शोके च सति निद्रा मनुष्याणां न भवति । तेन प्रीत्यादिसेवां कुरु त्वं निद्राविजितये ॥१४३६॥

इस प्रकार इन्द्रिय और कषायरूप परिणामोंको रोकनेके उपायरूप परिणामोंको कहकर निद्राको जीतनेका क्रम कहते हैं—

गा०-टी०—सदा निद्रापर विजय प्राप्त करो । नहीं जीतनेपर वह क्या बुराई करती है यह कहते हैं—निद्रा मनुष्यको अचेतन करती है ।

शंका—चेतन मनुष्यकी चैतन्यरहित अवस्था नहीं होती । तब कैसे कहते हैं कि निद्रा अचेतन करती है ?

समाधान—यहाँ अचेतन शब्दसे विवेकज्ञानसे रहित होना ही कहा है ।

इसलिए जो गहरी नींदमें सोया है वह क्षपक योग्य अयोग्यके विवेकज्ञानसे रहित होनेसे हिंसा मैथुन परिग्रह आदि सब दोषोंमें प्रवृत्ति करता है ॥१४३४॥

निद्रा कर्मके उदयसे होती है । उसे मैं कैसे दूर करूँ ? इसका उत्तर आचार्य देते हैं—

गा०—यदि तुम्हें निद्रा सताती है तो स्वाध्याय करो । या सूक्ष्म अर्थोंका विचार करो । अथवा संवेग और निर्वेदको करनेवाली कथा सुनो ॥१४३५॥

निद्राको जीतनेका अन्य उपाय कहते हैं—

गा०—प्रीति, भय अथवा शोक होनेपर मनुष्योंको निद्रा नहीं आती । अतः तुम निद्राको जीतनेके लिए प्रीति आदिका सेवन करो ॥१४३६॥

प्रीतिभयशोकानां अशुभपरिणामत्वात्कर्मास्रवनिमित्तता । निद्राया वा अविशिष्टत्वात् कथं संवरार्थिनो निरूप्यते प्रीत्यादिकं इत्याशङ्कायां संवरहेतुभूततया तद्व्यपदेशं प्रति नियतविषयमुपदर्शयति—

भयमागच्छसु संसारादो पीदिं च उत्तमट्ठम्मि ।
सोगं च पुरादुच्चरिदादो णिद्दाविजयहेदुं ॥१४३७॥

'**भयमागच्छसु**' भयं प्रतिपद्यस्व । 'संसारादो' संसारात् पञ्चविधपरावर्तनरूपात् । प्रीतिं रत्नत्रयाराधनायां । शोकं उपैहि पूर्वकृताद्दुश्चरितात् निद्रां विजेतुं । नरकादिगतिष्वसकृत्परिवर्तमानेन शारीरमागन्तुकं, मानसं, स्वाभाविकं च दुःखं विचित्रमनुभूतं तत्पुनरप्यायास्यति इति मनः प्रणिधेहि । सकलामापत्संहृतिमुन्मूलयितुं, अभ्युदयनिःश्रेयससुखानि च प्रापयितुं, असारशरीरभारमपनेतुं, अनन्तावबोधदर्शनसाम्राज्यश्रियमाक्रष्टुं, कर्मविषविटपानुत्पाटयितुं क्षमामिमां, अनन्तेषु भवेषु अनवाप्तपूर्वां रत्नत्रयाराधनां कर्तुं उद्यतोऽस्मीति प्रीतिर्भावनीया । हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेषु मिथ्यात्वकषायेष्वशुभमनोवाक्काययोगेषु विचित्रकर्मार्जनमूलेषु चतुर्विधबन्धपर्यायनिमित्तेषु अनारतं मन्दभाग्यः प्रवृत्तोऽस्मि हिताहितविचारणाविमुग्धबुद्धितया सन्मार्गस्योपदेष्टॄणामनुपलम्भात्प्रबरज्ञाना[1]वरणोदयात्तदुदीरितार्थतत्त्वानवबोधात् । अवगमे सत्यप्यश्रद्धायां, चारित्रमोहोदयात्सन्मार्गेऽप्रवृत्तेश्च दुःखाम्भोधौ निमग्नोऽस्मीत्युद्विग्नचित्ततया च निद्रा प्रयाति ॥१४३७॥

यहाँ शंका होती है कि प्रीति भय और शोक तो अशुभ परिणामरूप होनेसे कर्मोके आस्रवमें निमित्त होते हैं। अतः उनमें और निद्रामें कोई अन्तर नहीं है। तब जो संवरका इच्छुक है उसके लिए प्रीति आदि करनेको क्यों कहते हैं ? इसके उत्तरमें सवरके हेतु जो प्रीति आदि हैं उनके प्रतिनियत विषयको बतलाते हैं—

गा०-टी०—निद्राको जीतनेके लिये पाँच प्रकारके परावर्तन रूप संसारसे भय करो। रत्नत्रयकी आराधनामें प्रीति करो और पूर्वमें किये दुराचरणके लिये शोक करो। नरकादि गतियोंमें बार-बार आने जानेसे मैंने शारीरिक, आगन्तुक, मानसिक और स्वाभाविक अनेक प्रकारका दुःख भोगा। वही दुःख आगे भी भोगनेमें आवेंगे, ऐसा मनमें विचार करो। समस्त आपत्तियोंके समूहका विनाश करनेके लिये, स्वर्ग और मोक्षके सुखोंको प्राप्त करनेके लिये, असार शरीरका भार उतारनेके लिये, अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन रूप साम्राज्य लक्ष्मीको आकर्षित करनेके लिये, स्वर्ग और मोक्षके सुखोंको प्राप्त करनेके लिये और कर्मरूपी विष वृक्षको उखाड़नेमें समर्थ इस रत्नत्रय आराधनाको, जिसे पहले अनन्तभवोंमें कभी प्राप्त नहीं किया, करनेके लिये मैं तत्पर हूँ। इस प्रकार प्रीतिकी भावना करो। हिंसा झूठ चोरी अब्रह्म परिग्रह, मिथ्यात्व कषाय और अशुभ मनोयोग अशुभ वचन योग अशुभ काययोगमें, जो नाना प्रकारके कर्मोके संचयके मूल है और चार प्रकारके बन्धमें निमित्त हैं, मैं अभागा निरन्तर लगा रहा, क्योंकि हित अहितके विचार में मूढ बुद्धि होनेसे तथा सन्मार्गका उपदेश देने वालोंकी प्राप्ति न होनेसे अथवा प्रबल ज्ञानावरणका उदय होनेसे उनके द्वारा कहे गये अर्थ तत्त्वको न जान सकनेसे, या जान लेने पर भी श्रद्धा न करनेसे और चारित्र मोहके उदयसे सन्मार्गमें प्रवृत्ति न करनेसे मैं दुःखके समुद्रमें डूबा हूं। इस प्रकार चित्तके उद्विग्न होनेसे निद्रा चली जाती है ॥१४३७॥

---

१. ज्ञानावरोदयात्तदुदीरितार्थान्–अ० मु०।

जागरणत्थं इच्चेवमादियं कुण कम्मं सदा उत्तो ।
झाणेण विणा वंज्झो कालो हु तुमे ण कायव्वो ॥१४३८॥

जागरणार्थं निद्रानिरासार्थं एवमादिकं कुरु कर्म सदोपयुक्तं । ध्यानेन विना वन्ध्यः कालो न कर्तव्यस्त्वया ॥१४३८॥

संसाराडविणित्थरणमिच्छदो अणवणीय दोसाहिं ।
सोदुं ण खमो अहिमणवणीय सोदुं व सघरम्मि ॥१४३९॥

'संसाराडविणित्थरणमिच्छदो' संसाराटविनिस्तरणमिच्छतोऽनपाकृत्य दोषान् न हि स्वप्तुं क्षम. । अहिं अनपनीय स्वप्तुमिव गृहे ॥१४३९॥

को णाम [1]णिरुव्वेगो लोगे मरणादिअग्गिपज्जलिदे ।
पज्जलिदम्मि व णाणी घरम्मि सोदुं अभिलसिज्ज ॥१४४०॥

'को णाम णिरुव्वेगो लोगे मरणादि अग्गिपज्जलिदे' जातिजरामरणव्याधयः, शोका भयानि, प्रार्थिता[2]लाभो, अभिमतवियोग इत्यादिनाग्निना प्रज्वलिते । 'णाणी सोदुमभिलसेज्ज' ज्ञानी स्वप्तुमभिलषेत् । 'पज्जलिदम्मि घरम्मि व' प्रज्वलिते गृह इव ॥१४४०॥

को णाम णिरुव्वेगो सुविज्ज दोसेसु अणुवसंतेसु ।
गहिदाउहाण बहुयाण मज्झयारेव सत्तूणं ॥१४४१॥

'को णाम णिरुव्वेगो' को नाम निरुद्वेगः स्वपेद्रागादिषु संसारप्रवर्तनेषु दोषेषु अनुपशान्तेषु गृहीतायुधानां शत्रूणां बहूनां मध्ये इव ॥१४४१॥

णिदा तमस्स सरिसो अण्णो णत्थि हु तमो मणुस्साणं ।
इदि णच्चा जिणसु तुमं णिदा ज्झाणस्स विग्धयरी ॥१४४२॥

गा०—निद्राको दूर करनेके लिये इस प्रकारके चिन्तनमें सदा लगे रहो। ध्यानके विना तुम्हें एक क्षण भी नहीं गँवाना चाहिए ॥१४३८॥

गा०—जैसे घरमें यदि सर्प घुसा हो तो उसे निकाले विना सोना शक्य नहीं है। उसी प्रकार जो संसार रूपी महावनसे निकलना चाहता है वह दोषोंको दूर किये विना सोनेमें समर्थ नहीं होता ॥१४३९॥

गा०—जलते हुए घरकी तरह लोकके जन्म, जरा, मरण, व्याधि, शोक, भय, प्रार्थितकी अप्राप्ति और इष्ट वियोग इत्यादि आगसे जलते रहने पर कौन ज्ञानी निर्भय होकर सोना चाहेगा ॥१४४०॥

गा०—जैसे शस्त्रधारी बहुतसे शत्रुओंके मध्यमें कोई निर्भय होकर नहीं सो सकता, उसी प्रकार संसारको बढ़ानेवाले रागादि दोषोंके उपशान्त हुए विना कौन निर्भय होकर सो सकता है ॥१४४१॥

---

१. अणुव्विग्गो मूलारा० । २. प्रार्थितलोभो आ० ।

'णिद्दा तमस्स सरिसो' तमस्सदृशमन्यत्तमो नास्ति मनुजानां इति ज्ञात्वा निद्रां ध्यानस्य विघ्नकारिणीं जयेति ॥१४४२॥

कुण वा णिद्दामोक्खं णिद्दामोक्खस्स भणिदवेलाए ।
जह वा होइ समाही खवणकिलिंतस्स तह कुणह ॥१४४३॥

'कुण वा णिद्दामोक्खं' कुरु वा निद्रामोक्षं । निद्रामोक्षस्य कथितायां वेलायां रात्रेस्तृतीये यामे इति यावत् । यथा वा समाधिर्भवति भवत उपवासपरिश्रान्तस्य तथा वा निद्रामोक्षं कुरु ॥१४४३॥ णिद्दजिणणं ।

उक्तार्थोपसंहारं वक्ष्यमाणं चाधिकारं दर्शयत्युत्तरगाथा—

एस उवाओ कम्मासवदारणिरोहणो हवे सव्वो ।
पोराणयस्स कम्मस्स पुणो तवसा खओ होइ ॥१४४४॥

'एस उवाओ' कर्मणामास्रवद्वारनिरोधे उपायोऽयं सर्वोऽभिहितः । पौराणस्य कर्मणस्तपसा क्षयो भवति । संवरपूर्विका निर्जरा मुक्त्यै भवति न संवरहीनेति पूर्वं संवरोपन्यासः ॥१४४४॥

अब्भंतरबाहिरगे तवम्मि सत्तिं सगं अगूहंतो ।
उज्जमसु सुहे देहे अप्पडिबद्धो अणलसो तं ॥१४४५॥

'अब्भंतरबाहिरगे' अभ्यन्तरे बाह्ये च तपस्युद्योगं कुरु स्वां शक्तिमगूहमानः । सुखे शरीरे चानासक्तिः अनालस्यः । न हि शरीरे सुखे वा आदरवांस्तत्प्रतिपक्षभूते तपसि प्रयतते । न[1] सालस्य. प्रवर्तते तपसि । तपसः प्रत्यूहभावेन स्थितं सुखे शरीरे च प्रतिबद्धत्वमलसत्वमावेदितमनेन ॥१४४५॥

गा०—निद्रा रूपी अन्धकारके समान मनुष्योंका कोई दूसरा अन्धकार नही है। ऐसा जानकर हे क्षपक ! तुम ध्यानमें विघ्न करने वाली निद्राको जीतो ॥१४४२॥

गा०—अथवा यदि निद्राको नहीं जीत सकते हो तो आगममे निद्रा त्यागनेका जो समय रात्रिका तीसरा पहर कहा है उस समय निद्रा त्यागो । अथवा उपवाससे थके हुए आपकी समाधि जिस प्रकार हो उस प्रकार करो ॥१४४३॥

आगे उक्त कथनका उपसंहार और आगेका अधिकार कहते हैं—

गा०—नवीन कर्मके आनेके द्वारको रोकनेका यह सब उपाय कहा है । पूर्व संचित कर्मोंका क्षय तपसे होता है । संवर पूर्वक निर्जरा मोक्षका कारण होती है, संवरके विना निर्जरा मोक्षका कारण नहीं है । इसलिये पहले संवरका कथन किया है ॥१४४४॥

गा०-टी०—हे क्षपक ! अपनी शक्तिको न छिपाकर अभ्यन्तर और बाह्य तपमें उद्योग करो । सुखमें और शरीरमें आसक्त मत होओ और न आलस्य करो । जो शरीर और सुखमें आदरभाव रखता है वह उनके विरोधी तपमें प्रयत्न नहीं करता । तथा आलसी भी तपमें प्रवृत्ति नहीं करता । इससे सुख और शरीरमें आसक्ति तथा आलस्यको तपके लिये विघ्नकारी कहा है ॥१४४५॥

---

१. न चालस्यः—आ० । न चालसः—मु०, मूलारा० ।

सुहसीलदाए अलसत्तणेण देहपडिबद्धदाए य ।
जो सत्ती संतीए ण करिज्ज तवं स सत्तिसमं ॥१४४६॥

'सुहसीलदाए' सुखासक्ततया, अलसतया, देहप्रतिबद्धतया वा यः शक्तो सत्यामपि तपो न करोति शक्तिसमम् ॥१४४६॥

तस्स ण भावो सुद्धो तेण पउत्ता तदो हवदि माया ।
ण य होइ धम्मसद्धा तिव्वा सुहदेहपिक्खाए ॥१४४७॥

'तस्स ण भावो' तस्य परिणामो न शुद्धस्तस्मात्तेन शक्तिसमे तपस्यवर्तमानेन माया प्रयुक्ता भवति । यतस्ततो न भावः शुद्धः, धर्मे तीव्रा च श्रद्धा न भवति । केन ? 'सुहदेहपिक्खाए' सुखे देहे च प्रेक्षया तत्र आसक्त्या बुद्ध्या हेतुभूतया ॥१४४७॥

अप्पा य वंचिओ तेण होइ विरियं च गूहियं भवदि ।
सुहसीलदाए जीवो बंधदि हु असादवेदणियं ॥१४४८॥

'अप्पा य वंचिओ' आत्मा वंचितस्तेन । शक्त्यनुरूपे तपस्यनभ्युद्यतेन शक्तिश्च प्रच्छादिता भवति । सुखासक्ततया जीवो बध्नात्यसातवेदनीयं चानेकभवेषु दुःखावह ॥१४४८॥

आलस्यदोषमाचष्टे—

विरियंतरायमलसत्तणेण बंधदि चरित्तमोहं च ।
देहपडिबद्धदाए साधू सपरिग्गहो होइ ॥१४४९॥

विरियंतरायं वीर्यान्तरायमलसतया बध्नाति चारित्रमोहनीयं च । शरीरासक्त्या साधुः सपरग्रहो भवति ॥१४४९॥

मायादोसा मायाए हुंति सव्वे वि पुव्वणिद्दिट्ठा ।
धम्मम्मि [1]णिप्पिवासस्स होइ सो दुल्लहो धम्मो ॥१४५०॥

गा०—सुखमें आसक्त होनेसे, आलस्यसे और शरीरमें प्रतिबद्ध होनेसे जो शक्ति होते हुए भी शक्तिके अनुसार तप नहीं करता ॥१४४६॥ उसका परिणाम शुद्ध नहीं है। अतः शक्तिके अनुसार तपमें प्रवृत्ति न करने वाला मायाचारी है। तथा सुख और शरीरमें आसक्ति होनेसे उसको धर्ममें तीव्र श्रद्धा नहीं है ॥१४४७॥

गा०—जो शक्तिके अनुसार तपमें तत्पर नहीं है वह आत्माको ठगता है और अपनी शक्तिको छिपाता है। तथा सुखमें आसक्त होनेसे असातवेदनीयको बाँधता है जो अनेक भवोंमें दुःखदायी है ॥१४४८॥

आलस्यके दोष कहते हैं—

गा०—आलसी होनेसे वह वीर्यान्तराय और चारित्र मोहनीय कर्मका बन्ध करता है। तथा शरीरमें आसक्ति रखनेसे वह साधु परिग्रही होता है ॥१४४९॥

---

१. णिप्पिहासस्स—आ० ।

'मायादोसा' मायादोषाः सर्वेऽपि पूर्वनिर्दिष्टाः। मायावां तपसि स्वशक्तिनिगूहनलक्षणायां भवन्ति किं च जन्मनि धर्मे तपोलक्षणे। विच्छिन्नस्य अनादरस्य जन्मान्तरे दुर्लभो भवति धर्मः ॥१४५०॥

दोषान्तरमपि निगदति—

पुव्वुत्ततवगुणाणं चुक्को जं तेण वंचिओ होइ।
विरियणिगूही बंधदि मायं विरियंतरायं च ॥१४५१॥

'पुव्वुत्ततवगुणाणं' पूर्वोक्तसंवरनिर्जरा चेत्येवमादिभिस्तपःसाध्यैरुपकारैः। 'चुक्को' च्युतः। 'जं' यस्मात्। 'तेण' तेन तपःसाध्योपकारप्रच्युतत्वेन। 'वंचिओ होदि' वञ्चितो भवति। 'विरियणिगूही बंधदि मायं' वीर्यसंवरणपरो बध्नाति मायाकर्म 'विरियंतरायं च' वीर्यान्तरायं च ॥१४५१॥

तवमकरिंतस्सेदे दोसा अण्णे य होंति संतस्स।
होंति य गुणा अणेया सत्तीए तवं कुणंतस्स ॥१४५२॥

'तवमकरेंतस्स' तपस्यनुद्यतस्येमे दोषा अन्ये च भवन्तीति ज्ञातव्याः। भवन्ति चानेकगुणाः शक्त्या तपसि वर्तमानस्य ॥१४५२॥

तपोगुणप्रख्यापनायोत्तरप्रबन्धः—

इह य परत्त य लोए अदिसयपूयाओ लहइ सुतवेण।
आवज्जिज्जंति तहा देवा वि सइंदिया तवसा ॥१४५३॥

इह जन्मनि परत्र च तपसा सम्यक् कृतेन अतिशयपूजा लभ्यते। आवर्ज्यन्ते च तपसा देवाः सेन्द्रकाः ॥१४५३॥

अप्पो वि तवो बहुगं कल्लाणं फलइ सुप्पओगकदो।
जह अप्पं वडबीअं फलइ बडमणेयपारोहं ॥१४५४॥

गा०—तपमें अपनी शक्तिको छिपाने रूप मायाचारमें वे सब दोष होते है जो पूर्वमें माया-के दोष कहे हैं। जो धर्ममें अनादर भाव रखता है उसको दूसरे जन्ममें धर्मकी प्राप्ति दुर्लभ होती है ॥१४५०॥

अन्य दोष भी कहते हैं—

गा०—पूर्वमें जो तपके द्वारा साध्य संवर निर्जरा इत्यादि उपकार कहे हैं उनसे च्युत होने से वह उनसे वंचित होता है। और अपनी शक्तिको छिपानेसे मायाकर्म और वीर्यान्तराय कर्मका बन्ध करता है ॥१४५१॥

गा०—जो तपमें तत्पर नहीं होता उसको ये दोष तथा अन्य दोष होते हैं और जो शक्तिके अनुसार तप करता है उसमें अनेक गुण होते हैं ॥१४५२॥

आगे तपके गुण कहते हैं—

गा०—सम्यक्रूपसे तप करनेसे इस जन्ममें और परजन्ममें सातिशय पूजा प्राप्त होती है। तथा तपसे इन्द्रसहित सब देव भी विनय करते हैं ॥१४५३॥

'अप्पोवि तवो' अल्पमपि तपः महाकल्याणं फलति सुसंयमनिष्पन्नं । सुष्ठु प्रयुज्यते प्रवर्त्यतेऽनेनेति च विग्रहे संयमः सुप्रयोगशब्देनोच्यते । यथा अल्पमपि वटबीजं फलति वटमनेकप्ररोहं अल्पमपि पृथुलं फलदायितपः इत्येतदाख्यातमनया ॥१४५४॥

सुट्ठु कदाण वि सस्सादीणं विग्घा हवंति अदिबहुगा ।
सुट्ठु कदस्स तवस्स पुण णत्थि कोइ वि जए विग्घो ॥१४५५॥

'सुट्ठु कदाण वि' सम्यक् कृतानामपि सस्यादीनां अतीव विघ्ना भवन्ति । तपसः पुनः सम्यक् कृतस्य जगति न कश्चिद् विघ्नः फलदाने । निर्विघ्नफलदायित्वं तपसो माहात्म्यं कथितम् अनया ॥१४५५॥

जणणमरणादिरोगादुरस्स सुतवो वरोसधं होदि ।
रोगादुरस्स अदिविरियमोसधं सुप्पउत्त' वा ॥१४५६॥

'जणणमरणादिरोगादुरस्स' जन्ममरणाद्याबाधापीडितस्य सुतपो वरौषधं भवति । रोगपीडितस्य सुप्रयुक्तमतिवीर्यमौषधमिव । जननमरणादीनां विनाशकत्वं तत्कारणकर्मविनाशादनेनाख्यायते ॥१४५६॥

संसारमहाडाहेण डज्झमाणस्स होइ सीयघरं ।
सुतवोदाहेण जहा सीयधरं डज्झमाणस्स ॥१४५७॥

'संसारमहाडाहेण' संसारमहाबाधेन दह्यमानस्य तपो भवति जलगृहं । यथा दह्यमानस्य सूर्यांशुभिर्धारागृहम् । सांसारिकदुःखनिर्मूलनकारिता तपसोऽनेन सूच्यते ॥१४५७॥

णीयल्लओ व सुतवेण होइ लोगस्स सुप्पिओ पुरिसो ।
मायाव होइ विस्ससणिज्जो सुतवेण लोगस्स ॥१४५८॥

गा०-टी०—सम्यक् संयमपूर्वक किया गया थोड़ा भी तप बहुत कल्याणकारी होता है। गाथामें सुप्रयोग शब्दसे 'जिसके द्वारा सुष्ठुरूप प्रवर्तित होता है' इस विग्रहके अनुसार संयम लिया गया है। जैसे छोटा-सा भी वटबीज अनेक शाखा प्रशाखासे पूर्ण वटवृक्षरूपसे फलता है उसी प्रकार थोड़ा भी तप बहुत फल देता है। यह इस गाथाके द्वारा कहा है ॥१४५४॥

गा०—धान्य आदिकी खेती बहुत सावधानतासे परिश्रमपूर्वक करनेपर भी उसमें बहुत विघ्न आते हैं। किन्तु सम्यक्रूपसे किये गये तपके फल देनेमें कोई विघ्न नहीं आता। निर्विघ्न फल देना तपका माहात्म्य है यह इस गाथाके द्वारा कहा है ॥१४५५॥

गा०-टी०—जैसे रोगसे पीड़ित पुरुषके लिए यत्नपूर्वक दी गई अति शक्तिशाली औषध होती है। उसी प्रकार जन्ममरण आदि रोगसे पीड़ितकी श्रेष्ठ औषध तप है। तप करनेसे जन्ममरणके कारण कर्मोंका विनाश होता है। इससे तपको जन्ममरण आदिका विनाशक कहा है ॥१४५६॥

गा०—संसाररूपी महादाहसे जलते हुए प्राणीके लिए तप जलघर है, जैसे सूर्यकी किरणोंसे जलते हुए मनुष्यके लिए धाराघर होता है। तप सांसारिक दुःखोंको निर्मूल करता है, यह इससे सूचित किया है ॥१४५७॥

'बीवल्लओ व' बन्धुरिव लोकस्य नितरां प्रियो भवति पुरुषः । शोभनेन तपसा सर्वजगत्प्रियतां करोति तप इत्यनेन आख्यातम् । 'मादाव होइ विस्ससणिज्जो' मातेव विश्वसनीयो भवति लोकस्य । सर्वजगद्विश्वास्यत्वं तपःसम्पाद्यमनेन कथ्यते ॥१४५८॥

कल्लाणिड्ढिसुहाइं जावदियाइं हवे सुरणराणं ।
जं परमणिव्वुदिसुहं च ताणि सुतवेण लब्भंति ॥१४५९॥

'कल्लाणिड्ढिसुहाइं' कल्याणानि स्वर्गावतरणादीनि ऋद्धयो विभूतयश्चक्रलाञ्छनानां अर्धचक्रवर्तिना सुखानि च यानि देवाना मनुष्याणा च, यच्च परमनिर्वृतिसुखं तानि शोभनेन तपसा लभ्यन्ते ॥१४५९॥

कामदुहा वरधेणू णरस्स चिंतामणिव्व होइ तओ ।
तिलओव्व णरस्स तओ माणस्स विहूसणं सुतओ ॥१४६०॥

'कामदुहा' कामदुधा वरधेनुः, चिन्तामणिरिव तपः यदभिलषितं तस्य दानात् । तिलकाख्यालङ्कारो नरस्य शोभनं तपः, मानस्य विभूषणं च । तपसा हि सर्वेण जगता मान्यस्य मानः शोभते इति ॥१४६०॥

होइ सुतवो य दीओ अण्णाणतमंधयारचारिस्स ।
सव्वावत्थासु तओ वट्टदि य पिदा व पुरिसस्स ॥१४६१॥

'होइ सुतओ व दीओ' सम्यक्तपः प्रदीपो भवति अज्ञानतमसि महति संचरतः । एतेन जगतोऽज्ञानाख्यं तमो विनाशयति तपः इति सूचितं । सर्वावस्थासु हिते तपो वर्तते पितेव पुंसः ॥१४६१॥

विसयमहापंकाउलगड्डाए संकमो तवो होइ ।
होइ य णावा तरिदुं तवो कसायातिचवलणदिं ॥१४६२॥

गा०—सम्यक् तप करनेसे पुरुष बन्धुकी तरह लोगोंको प्रिय होता है। इससे यह कहा है कि सम्यक् तपसे मनुष्य सब जगत्का प्रिय होता है। तथा सम्यक् तपसे मनुष्य माताकी तरह लोकका विश्वासभाजन होता है। इससे तपसे सर्वजगत्का विश्वासपात्र होना कहा है ॥१४५८॥

गा०—स्वर्गसे अवतरित होना आदि पाँच कल्याणक, चक्रवर्ती और अर्धचक्रियोंकी विभूतियाँ तथा देवों और मनुष्योंके जितने सुख है, तथा जो मोक्षका परम सुख है वह सब सम्यक् तपसे प्राप्त होते हैं ॥१४५९॥

गा०-टी०—जो चाहो वह तपसे मिलता है इसलिए सम्यक् तप मनुष्यके लिए कामधेनु और चिन्तामणि रत्नके समान है। तथा मनुष्यके मस्तकपर शोभित होनेवाले तिलक नामक अलंकारके समान है और मानका विशिष्ट भूषण है अर्थात् तपसे सर्वजगत्के द्वारा मान्य पुरुषका मान शोभित होता है ॥१४६०॥

गा०—अज्ञानरूपी घोर अन्धकारमें विचरण करनेवालेके लिए सम्यक् तप दीपकके समान है। इससे सूचित किया है कि तप जगत्के अज्ञानरूपी अन्धकारको नष्ट करता है। तथा सम्यक् तप सब अवस्थाओंमें पिताकी तरह पुरुषको हितमें लगाता है ॥१४६१॥

गा०—यह विषय महान् कीचड़से भरे गर्तके समान है क्योंकि उससे निकलना बहुत कठिन

'विसयमहापंकाउलगदुत्ताए' विषयो महापंकाकुलगर्त इव दुस्तरत्वात् । तस्मिन् संक्रमो भवति । तदुत्तरणहेतुर्भवति तपः । तपो नौरुल्लंघयितुं कषायातिचपलनदीं ॥१४६२॥

फलिहो व दुग्गदीणं अणेयदुक्खावहाण होइ तवो ।
आमिसतण्हाछेदणसमत्थमुदकं व होइ तवो ॥१४६३॥

'फलिहो व दुग्गदीणं' दुर्गतीनां परिघ इव । कीदृशां दुर्गतीनां ? अनेकदुःखावहानां । किं च विषयतृष्णाच्छेदनसमर्थं च तपः उदकमिव तृष्णाच्छेदने ॥१४६३॥

मणदेहदुक्खवित्तासिदाण सरणं गदी य होइ तवो ।
होइ य तवो सुतित्थं सव्वासुहदोसमलहरणं ॥१४६४॥

'मणदेहदुक्खवित्तासिदाण' मानसानां शरीराणां दुःखानां ये वित्रस्तास्तेषां शरणं गतिश्च तपः । भवति च तपस्तीर्थं सर्वाशुभदोषमलनिरासकारि ॥१४६४॥

संसारविसमदुग्गे तवो पणट्ठस्स देसओ होदि ।
होइ तवो पच्छयणं भवकंतारम्मि दिग्घम्मि ॥१४६५॥

'संसारविसमदुग्गे' संसारो विषमदुर्ग इव दुस्तरणीयत्वात् । तस्मिन्प्रणष्टस्य दिङ्मूढस्य । 'तवो देसओ होदि' तप उपदेष्टा भवति । संसारविषमदुर्गमुत्तारयतीति । 'होदि तवो पच्छयणं' भवति तपः पथ्यदनं 'भवकांतारम्मि' भवाटव्यां । 'दिग्घम्मि' दीर्घे ॥१४६५॥

रक्खा भएसु सुतवो अब्भुदयाणं च आगरो सुतवो ।
णिस्सेणी होइ तवो अक्खयसोक्खस्स मोक्खस्स ॥१४६६॥

'रक्खा भएसु सुतवो' भयेषु रक्षा सुतपः । अभ्युदयानां आकरः सुतपः मोक्षस्य अक्षयसुखस्य निश्रयणी भवति तपः ॥१४६६॥

है। तप उससे निकलनेमें कारण है। तथा तप कषायरूप अति चपल नदीको पार करनेके लिए नौका है ॥१४६२॥

गा०—अनेक दुःखदायी दुर्गतियोंके लिए तप अर्गलाके समान है। तथा विषयोंकी तृष्णाको नष्ट करनेके लिए जलके समान है। जैसे जलसे प्यास बुझ जाती है वैसे ही तपसे विषयोंकी प्यास बुझ जाती है ॥१४६३॥

गा०—जो मानसिक और शारीरिक दुःखोंसे पीड़ित हैं उनके लिए तप शरण और गति है। तप सर्व अशुभ दोषरूप मलको दूर करनेवाला तीर्थ है ॥१४६४॥

गा०—यह संसार विषम दुर्गके समान है क्योंकि उससे निकलना कठिन है। उस संसाररूपी दुर्गमें जो दिशा भूल गये हैं उनके लिए तप उपदेशक है अर्थात् संसाररूपी विषम दुर्गसे निकलनेका मार्ग बतलाकर उससे निकालता है। तथा सुदीर्घ भवरूपी भयानक वनमें कलेवाके समान सहायक है ॥१४६५॥

गा०—सम्यक् तप भयमें रक्षा करता है, अभ्युदयोंकी खान है और अविनाशी सुखस्वरूप मोक्षमें जानेके लिए नसैनी है ॥१४६६॥

तं णत्थि जं ण लब्भइ तवसा सम्मं कएण पुरिसस्स ।
अग्गीव तणं जलिओ कम्मतणं डहदि य तवग्गी ॥१४६७॥

'तण्णत्थि' तन्नास्ति यन्न लभ्यते तपसा सम्यक्कृतेन । तपोऽग्निः कर्मतृणं दहति तृणमिवाग्निः प्रज्वलितः ॥१४६७॥

सम्मं कदस्स अपरिस्सवस्स ण फलं तवस्स वण्णेदुं ।
कोई अत्थि समत्थो जस्स वि जिब्भासयसहस्सं ॥१४६८॥

'सम्मं कदस्स' सम्यक् कृतस्य निरास्रवस्य तपसः फलं वर्णयितुं न कश्चित्समर्थोऽस्ति जिह्वाशतसहस्रं यद्यप्यस्ति ॥१४६८॥

एवं णादूण तवं महागुणं संजमम्मि ठिच्चाणं ।
तवसा भावेदव्वा अप्पा णिच्चं पि जुत्तेण ॥१४६९॥

'एवं णादूण' एवं ज्ञात्वा तपो महोपकारि संयमे स्थित्वा तपसा भावयितव्य आत्मा नित्यमपि उपयुक्तेन ॥१४६९॥

जह गहिदवेयणो वि य अदयाकज्जे णिउज्जदे भिच्चो ।
तह चेव दमेयव्वो देहो मुणिणा तवगुणेसु ॥१४७०॥

'जह गहिदवेयणो वि य' यथा गृहीतवेतनोऽपि न दयाकार्ये नियुज्यते भृतकः । तथैव दमितव्यो देहो मुनिना तपोगुणेषु । उत्तरगुणं ॥१४७०॥

इच्चेव समणधम्मो कहिदो मे दसविहो सगुणदोसो ।
एत्थ तुममप्पमत्तो होहि समण्णागदमदीओ ॥१४७१॥

गा०—संसारमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो सम्यक्‌रूपसे किये गये तपके द्वारा न प्राप्त होता हो । जैसे प्रज्वलित आग तृणको जलाती है वैसे ही तपरूपी आग कर्मरूपी तृणोंको जलाती है ॥१४६७॥

गा०—सम्यक्‌रूपसे किये गये और कर्मास्रवसे रहित तपके फलका वर्णन करनेमें जिसके एक हजार जिह्वा हों वह भी समर्थ नहीं है ॥१४६८॥

गा०—इस प्रकार तपको महान् उपकारी जानकर संयममें स्थित संयमीजनोंको नित्य ही उपयोग लगाकर आत्मामें तपकी भावना करनी चाहिए ॥१४६९॥

गा०—जैसे वेतन लेनेवाले सेवकको कार्यमें नियुक्त करते समय उसपर दया नहीं की जाती । उसी प्रकार मुनिको अपने शरीरको तपरूप गुणमें लगाना चाहिए। अर्थात् जब शरीर को भोजनरूपी वेतन दिया जाता है उसपर दया न करके उसको तपकी साधनामें लगाना चाहिए ॥१४७०॥

---

१ वसदी—मु० मूलारा० ।

'इच्चेव समणधम्मो' इत्येवं श्रमणधर्मः दशविधः सगुणदोषः कथितो मया । 'एत्थ तुममप्पमत्तो होहि' अत्र दशविधे धर्मे त्वमप्रमत्तो भवः, समागतस्मृतिकः इति गणिना स्वशिक्षापरिसमाप्तिरावर्णिता ॥१४७१॥

तो खवगवयणकमलं गणिरविणो तेहिं वयणरस्सीहिं ।
चित्तप्पसायविमलं पफुल्लिदं पीदिमयरंदं ॥१४७२॥

'तो खवगवयणकमलं' ततः शिक्षानन्तरं तस्य क्षपकस्य वदनकमलं प्रफुल्लितं सूरिघर्मरश्मेस्तैर्वचनरश्मिभिः चित्तप्रसादविमलं प्रीतिमकरंदं ॥१४७२॥

वयणकमलेहिं गणिअभिमुहेहिं सा[1]विंभियच्छिपत्तेहिं ।
सोभइ इइ[2] सूरोदयम्मि फुल्लं व णलिणिवणं ॥१४७३॥

'वयणकमलेहिं' वदनकमलैः यतीनां गणिनोऽभिमुखे [3]विस्मिताक्षिपत्रैः सा सभा शोभां वहति स्म । सूर्योदये पुष्पितनलिनवनमिव ॥१४७३॥

गणिउवएसामयपाणएण पल्हादिदम्मि चित्तम्मि ।
जाओ य णिव्वुदो सो पादूणय पाणयं तिसिओ ॥१४७४॥

गणिउवएसामयपाणएण' गणिनः उपदेशामृतपानकेन प्रह्लादिते चित्ते जातोऽसौ क्षपकः सुष्ठु निर्वृतः तृषितः पानकं पीत्वेव ॥१४७४॥

तो सो खवओ तं अणुसट्ठिं सोऊण जादसंवेगो ॥
उट्ठित्ता आयरियं वंदइ विणएण पणदंगो ॥१४७५॥

गा०—इस प्रकार हे क्षपक ! मैंने गुणदोषोंके विवेचनपूर्वक दस प्रकारके श्रमण धर्मका कथन किया। उसको स्मरण करके तुम दस प्रकारके धर्ममें अप्रमादी होओ। इस प्रकार निर्यापकाचार्यने अपनी शिक्षाकी समाप्ति सूचित की है ॥१४७१॥

गा०—इस शिक्षाके अनन्तर उस क्षपकका मुखरूपी कमल आचार्यरूपी सूर्यके वचनरूपी किरणोंसे प्रफुल्लित हो जाता है, चित्तके प्रसन्न होनेसे उस मुख कमलकी विरूपता चली जाती है और उसमेंसे प्रीतिरूपी पुष्परस झरने लगता है ॥१४७२॥

गा०—जैसे सूर्यके उदय होनेपर खिला हुआ कमलोंका वन शोभित होता है उसी प्रकार आचार्यके अभिमुख हुए यतियोंके मुख कमलोंसे, जो आश्चर्ययुक्त नेत्ररूपी पत्रोंसे सयुक्त होते हैं, वह मुनिसभा शोभित होती है ॥१४७३॥

गा०—आचार्यके उपदेशरूपी अमृतका पान करके चित्तके आह्लादयुक्त होनेपर क्षपक वैसा ही सुखी होता है जैसा प्यासा अमृतमय पानक पीकर होता है ॥१४७४॥

गा०—उसके पश्चात् वह क्षपक आचार्यका उपदेश सुनकर वैराग्यसे भर जाता है और उठकर अंगोंको नम्र करके विनयपूर्वक आचार्यको वन्दना करता है ॥१४७५॥

---

१. हि विभि–आ० । सार्वात्मदत्थिपत्तेहि–मु० । २. सोभदि मसभा मू–मु० । ३ विस्तृताक्षि–मु० ।

'सो सो खवओ' ततोऽसौ क्षपकः तदनुशासनं श्रुत्वा आसनात् उत्थाय आचार्यं वंदते विनयेन प्रणताङ्गः ॥१४७५॥

भंते सम्मं णाणं सिरसा य पडिच्छिदं मए एदं ।
जं जह उत्तं तं तह[1] करेमि विणओ तदो भणइ ॥१४७६॥

'भंते सम्मं णाणं' भगवन् सम्यग्ज्ञानं एतच्छिरसा मया परिगृहीतं। यथोक्तं भवद्भिस्तथा करिष्यामि इति भवति ॥१४७६॥

अप्पा णित्थरदि जहा परमा तुट्ठी य हवदि जह तुज्झ ।
जह तुज्झ य संघस्स य सफलो य परिस्समो होइ ॥१४७७॥

'अप्पा णित्थरदि जहा' अहं यथा निस्तीर्णो भवामि संसारात्। यथा युष्माकं परमा तुष्टिर्भवति। भवतां संघस्य चास्मदनुग्रहे प्रवृत्तानां श्रमस्य फलं भवति ॥१४७७॥

जह अप्पणो गणस्स य संघस्स य विस्सुदा हवदि कित्ती ।
संघस्स पसाएण य तहइं आराहइस्सामि ॥१४७८॥

'जह अप्पणो गणस्स य' यथा मम गणस्य संघस्य च कीर्तिर्विश्रुता भवति तथाहमाराधयिष्यामि संघस्य प्रसादेन ॥१४७८॥

[2]धीरपुरिसेहिं जं आयरियं जं च ण तरंति कापुरिसा ।
मणसा वि विचिंतेदुं तमहं आराहणं काहं ॥१४७९॥

[3]धीरपुरिसेहिं [4]धीरैः पुरुषैर्या आचरिता, या च न शक्नुवन्ति कापुरुषा मनसापि चिन्तयितुं तां धीमाराधनामहं करिष्यामि ॥१४७९॥

गा०—और कहता है—भगवन् ! मैंने आपके द्वारा दिया सम्यग्ज्ञान सिर नवाकर स्वीकार किया। आपने जो-जो जिस प्रकार कहा है मैं वैसा ही करूँगा ॥१४७६॥

गा०—जिस प्रकारसे मैं संसारसे पार उतरूँ, जिस प्रकारसे आपको परम सन्तोष हो, मेरे कल्याणमें संलग्न आपका और संघका परिश्रम जिस प्रकारसे सफल हो ॥१४७७॥

गा०—जिस प्रकार मेरी और संघकी कीर्ति फैले, मैं संघकी कृपासे उस प्रकार रत्नत्रयकी आराधना करूँगा ॥१४७८॥

गा०—वीर पुरुषोंने जिसका आचरण किया है, कायर पुरुष जिसकी मनमें कल्पना भी नहीं कर सकते, मैं ऐसी आराधना करूँगा ॥१४७९॥

---

१. तह काहेत्तिय सो तदो –मु०। २, ३, ४. वीर –मु०।

एवं तुज्झं उवएसामिदमासाइदत्तु को णाम ।
बीहेज्ज छुहादीणं मरणस्स वि कायरो वि णरो ॥१४८०॥

'एवं तुज्झं' एवं भवतानुपदेशामृतमास्वाद्य को नाम बिभेति कातरोऽपि नरः क्षुधादीनां मृत्यो-र्वा ॥१४८०॥

किं जंपिएण बहुणा देवा वि सइंदिया महं विग्घं ।
तुम्हं पादोवग्गहगुणेण कादुं ण अरिहंति ॥१४८१॥

'किं जंपिएण बहुणा' किं बहुना जल्पितेन देवा अपि शतमखप्रमुखा मम विघ्नं कर्तुं असमर्थाः भव-त्पादोपग्रहणगुणेन ॥१४८१॥

किं पुण छुहा व तण्हा परिस्समो वादियादि रोगो वा ।
काहिंति ज्झाणविग्घं इंदियविसया कसाया वा ॥१४८२॥

'किं पुण' किं पुनः कुर्वन्ति ध्यानस्य विघ्नं क्षुधा, तृषा वा, परिश्रमो वा, वातिकादिरोगा वा, इन्द्रियाणां विषयाः, कषाया वा ॥१४८२॥

ठाणा चलेज्ज मेरू भूमी ओमच्छिया भविस्सिहिदि ।
ण य हं गच्छमि विगदिं तुज्झं पायप्पसाएण ॥१४८३॥

'ठाणा चलिज्ज' स्वस्मात्स्थानाच्चलिष्यति मेरुः । भूमिः परावृतमस्तका भविष्यति । नाहं विकृतिं गमिष्यामि भवता पादप्रसादेन ॥१४८३॥

एवं खवओ संथारगओ खवइ विरियं अगूहंतो ।
देदि गणी वि सदा से तह अणुसट्ठिं अपरिदंतो ॥१४८४॥

समाप्तमनुशासनम् ॥१४८४॥

गा०—आपके इस प्रकारके उपदेशामृतको पीकर कौन कायर भी मनुष्य भूख प्यास और मृत्युसे डरेगा ॥१४८०॥

गा०—अधिक मैं क्या कहूँ, आपके चरणोंके अनुग्रहसे इन्द्रादि प्रमुख देव भी मेरी आराधनामें विघ्न नही कर सकते ॥१४८१॥

गा०—तब भूख, प्यास, परिश्रम, वातादि जन्य रोग, अथवा इन्द्रियोंके विषय और कषाय ध्यानमें विघ्न कैसे कर सकते हैं ॥१४८२॥

गा०—सुमेरु अपने स्थानसे विचलित हो जाये और पृथ्वी उलट जाये किन्तु आपके अनुग्रहसे मैं विकारसे विचलित नहीं होऊँगा ॥१४८३॥

गा०—इस प्रकार क्षपक संस्तर पर आरूढ़ होकर अपनी शक्तिको न छिपाकर पूर्वोपार्जित अशुभ कर्म की निर्जरा करता है और आचार्य भी बिना विरक्त हुए उसे सदा सत् शिक्षा देता है ॥१४८४॥

---

१. एतां टीकाकारो नेच्छति ।

सारणेत्येतत्सूत्रपदव्याख्यानमुत्तरम्—

अकडुगमतित्तयमणंबिलं च अकसायमलवणममधुरं ।
अविरस¹मदुरभिगंधं अच्छमणुण्हं अणदिसीदं ॥१४८५॥

'अकडुगं' अकटुकं, अतिक्तं, अनाम्लं, अकषायं, अलवणं, अमधुरं, अविरसं, अदुरभिगंधं, स्वच्छमनुष्णमशीतं ॥१४८५॥

पाणगमसिंभलं परिपूयं खीणस्स तस्स दादव्वं ।
जह वा पच्छं खवयस्स तस्स तह होइ दायव्वं ॥१४८६॥

'पाणगमसिंभलं' पानकमश्लेष्मकारि परिपूतं क्षीणाय क्षपकाय दातव्यं । यथाभूतं वा क्षपकस्य तस्य पथ्यं तथाभूतं दातव्यम् ॥१४८६॥

संथारत्थो खवओ जइया खीणो हवेज्ज तो तइया ।
वोसरिदव्वो पुव्वविधिणेव सो पाणगाहारो ॥१४८७॥

'संथारत्थो' संस्तरस्थः क्षपको यदा क्षीणो भवेत्तदा व्युत्स्रष्टव्योऽसौ पानकविकल्प पूर्वविधिनैव ॥१४८७॥

एवं संथारगदस्स तस्स कम्मोदएण खवयस्स ।
अंगे कत्थइ उट्ठिज्ज वेयणा ज्झाणविग्घयरी ॥१४८८॥

'एवं संथारगदस्स' एवं संस्तरगतस्य क्षपकस्य कर्मोदयेन क्वचिदुद्वेदनोपजायते ध्यानविघ्नकारिणी ॥१४८८॥

अब पूर्व गाथामें आगत 'सारण' पदका व्याख्यान करते है—

गा०-टी०—क्षपकको दिया जानेवाला पानक कटुक, चरपरा, खट्टा, कसैला, नमकवाला, मीठा, स्वादयुक्त और दुर्गन्ध युक्त नहीं होना चाहिये अर्थात् वह न कटुक हो, न चरपरा हो, न खट्टा हो, न कसैला हो, न नमकसे युक्त हो, न मीठा हो, तथा स्वादहीन और दुर्गन्धयुक्त भी न हो। स्वच्छ हो, न गर्म हो और न ठंडा हो ॥१४८५॥

गा० - कफ पैदा करने वाला न हो। कपड़े से छान लिया गया हो। इस प्रकार कमजोर क्षपकको ऐसा पेय देना चाहिये जो उसके लिये पथ्य हो, अर्थात् समाधिमें विघ्न डालने वाला न हो ॥१४८६॥

गा०—जब संस्तरारूढ़ क्षपक अतिक्षीण हो जाये तब पूर्वविधिसे पानकका त्याग करा देना चाहिये ॥१४८७॥

गा०—इस प्रकार संस्तरारूढ क्षपकके कर्मके उदयसे किसी अंगमें ध्यानमें विघ्न डालने वाली वेदना यदि उत्पन्न हो जाये ॥१४८८॥

---

१ मदुब्भिगन्धं –मु०, मूलारा० ।

बहुगुणसहस्सभरिया जदि णावा अण्णसायरे भीमे ।
भिज्जदि हु रयणभरियाणावा व समुद्दमज्झम्मि ॥१४८९॥

'बहुगुणसहस्सभरिदा' बहुभिर्गुणसहस्रैः, सम्पूर्णा यतिनौर्जन्मसागरे भीमे यदि भेदमुपेयात् रत्नपूर्णा नौरिव समुद्रमध्ये ॥१४८९॥

गुणभरिदं जदिणावं दट्ठूण भवोदधिम्मि भिज्जंतं ।
कुणमाणो हु उवेक्खं को अण्णो हुज्ज णिद्धम्मो ॥१४९०॥

'गुणभरिदं जदि णावं' गुणैः पूर्णां यतिनावं भवसमुद्रमध्ये भिद्यमानां दृष्ट्वा यः करोत्युपेक्षां तस्मात्कोऽन्यो भवेद्धर्मनिःक्रान्तः ॥१४९०॥

विज्जावच्चस्स गुणा जे पुव्वं वित्थरेण अक्खादा ।
तेसिं फिडिओ सो होइ जो उविक्खिज्ज तं खवयं ॥१४९१॥

'वेज्जावच्चस्स गुणा' वैयावृत्तस्य गुणा ये पूर्वं विस्तरेण व्याख्यातास्तेभ्यः प्रच्युतो भवति य उपेक्षते क्षपकं ॥१४९१॥

तो तस्स तिगिंछाजाणएण खवयस्स सव्वसत्तीए ।
विज्जादेसेण व से पडिकम्मं होइ कायव्वं ॥१४९२॥

'तो तस्स' ततस्तस्य क्षपकस्य चिकित्सा जानता सर्वशक्त्या प्रतिकर्म कर्तव्य वैद्यस्य चोपदेशेन ॥१४९२॥

णाऊण विकारं वेदणाए तिस्से करेज्ज पडियारं ।
फासुगदव्वेहिं करेज्ज वायकफपित्तपडिघादं ॥१४९३॥

'णादूण विकारं' ज्ञात्वा विकारं तस्या वेदनाया. ततः प्रतिकार कुर्यात् । योग्यैर्द्रव्यैर्वातिकफपित्तप्रतिघातं ॥१४९३॥

गा०—समुद्रके मध्यमें रत्नोंसे भरी नावकी तरह हजारों गुणोंसे भरी यतिरूपी नौका यदि भयंकर संसारसागरमें डूबने लगे ॥१४८९॥

गा०—गुणोंसे भरी नावको संसार-समुद्रमें डूबते हुए देखकर यदि कोई उपेक्षा करता है तो उससे बड़ा अधार्मिक दूसरा कौन होगा ॥१४९०॥

गा०—जो क्षपककी उपेक्षा करता है वह पूर्वमें जो वैयावृत्यके गुण विस्तारसे कहे हैं उनसे च्युत होता है ॥१४९१॥

गा०—अतः उस क्षपकके रोगकी चिकित्सा जाननेवाले निर्यापकाचार्यको स्वयं अथवा वैद्यके परामर्शसे सर्वशक्तिके साथ इलाज करना चाहिये ॥१४२॥

गा०—उस क्षपककी वेदनाके विकारको जानकर प्रासुक द्रव्योंसे वात, पित्त और कफको रोकनेवाला प्रतिकार करना चाहिये ॥१४९३॥

वत्थीहिं अवद्धवणतावणेहिं आलेवसीदकिरियाहिं ।
अब्भंगणपरिमद्दण आदीहिं तिगिंछदे खवयं ॥१४९४॥

'वत्थीहिं' बस्तिकर्मभिः, अवद्धवणतावणेहिं' अभ्रकरणतापनैः, आलेपनेन, शीतक्रियया, अभ्यङ्ग-परिमर्दनादिभिश्च चिकित्सति क्षपकं ॥१४९४॥

एवं पि कीरमाणे परियम्मे वेदणा उवसमो सो ।
खवयस्स पावकम्मोदएण तिव्वेण हु ण होज्ज ॥१४९५॥

एवं पि कीरमाणे प्रतीकारे क्षपकस्य वेदनोपशमः तीव्रेण पापकर्मोदयेन[1] नापि भवेदपि, नहि बहिर्द्रव्य-माहात्म्येनैव कर्माणि स्वफलं न प्रयच्छन्ति । तदेव हि बहिर्द्रव्यं एकस्य वेदनां प्रशमयति नापरस्येति प्रतीत-तरमेतद् ॥१४९५॥

अहवा तण्हादिपरीसहेहिं खवओ हविज्ज अभिभूदो ।
उवसग्गेहिं व खवओ अचेदणो होज्ज अभिभूदो ॥१४९६॥

'अहवा तण्हादिपरीसहेहिं' अथवा तृडादिभि परीषहैरभिभूतो भवेत्क्षपक, उपसर्गैर्वाभिभूतो निश्चेतन' स्यात् ॥१४९६॥

तो वेदणावसट्टो वाउलिदो वा परीसहादीहिं ।
खवओ अणप्पवसिओ सो विप्पलवेज्ज जं किं पि ॥१४९७॥

'तो वेदणावसट्टो' ततो वेदनावशार्तो व्याकुलित परीषहोपसर्गै. क्षपकोऽसावनात्मवशो विप्रलपेद्यदि किञ्चित् ॥१४९७॥

गा०—वस्तिकर्म (एनिमा) गर्म लोहेसे दागना, पसीना लाना, लेप लगाना, प्रासुक जलका सेवन कराना, मालिश, अंगमर्दन आदिके द्वारा क्षपककी वेदना दूर करना चाहिये।१४९४।

गा०—इस प्रकार प्रतीकार करने पर भी तीव्र पाप कर्मके उदयसे यदि क्षपककी वेदना शान्त न हो। क्योंकि केवल 'बाह्य' द्रव्यके प्रभावसे ही कर्म अपना फल न दें, ऐसी बात नहीं है। वही बाह्य द्रव्य एककी वेदना शान्त करता है दूसरेकी नहीं करता। यह तो अनुभवसिद्ध है ॥१४९५॥

गा०—अथवा क्षपक प्यास आदिकी वेदनासे अभिभूत हो जाय या उपसर्गोंसे पीड़ित होकर मूर्छित हो जाये ॥१४९६॥

गा०—या वेदनासे पीड़ित और परीषह उपसर्गोंसे व्याकुल होकर क्षपक अपने वशमें न रहे और जो कुछ भी बकने लगे ॥१४९७॥

---

१. येन यन वेदनापि नहि —अ० ।

उब्भासेज्ज व गुणसेढीदो ओदरणबुद्धिओ खवओ ।
छड्डं दोज्जं पाणं व दिवसे कुडिलिज्जमपियंतो ॥१४९८॥

'उब्भासेज्ज' यदेहायोग्यं, संयमगुणश्रेणितः अवतरणबुद्धिः 'छड्डं' रात्रिभोजनं, 'दोज्जं' पानं, दिवसे 'भत्तं च' भक्तं वा 'गिण्हं' कदाचित् । 'कुडिलिज्जमपियंतो' असमयभवं इच्छन् ॥१४९८॥

जइ कुव्वंतो खवओ सारेदव्वो य सो तओ गणिणा ।
जह सो विसुद्धलेस्सो पच्चागदचेदणो होज्ज ॥१४९९॥

'जइ कुव्वंतो खवओ' योऽनुपपन्नम् अन्यक्षपकस्तदा सारयितव्योऽसौ तेन गणिना । कथं ? यथा विशुद्ध-लेश्यो भवति प्रत्यागतचेतनश्च ॥१४९९॥

सारणोपायं कथयति—

कोसि तुमं किं णामो कत्थ वससि को व संपही कालो ।
किं कुणसि तुमं कह वा अत्थसि किं णामगो वाहं ॥१५००॥

'कोऽसि तुमं' कस्त्वं ? किंनामधेयः ? 'कत्थ वससि' क्व वससि ? 'को व संपही कालो' को वेदानीं कालः ? किमयं दिवा रात्रिर्वा ? 'किं कुणसि तुमं' किं करोषि भवान् ? 'कधं वा अत्थसि' कथं वा तिष्ठसि ? 'किं णामगो वाहं' अहं वा किंनामधेयः ? ॥१५००॥

एवं आउंछित्ता परिक्खहेदुं गणी तयं खवयं ।
सारइ वच्छल्लयाए तस्स य कवचं करिस्संति ॥१५०१॥

'एवं आउंछित्ता' एवमनुपरतं सारयति गणी तं क्षपकं । किं सचेतनो निश्चेतन इति परीक्षितुकामः वत्सलतया । यद्यस्ति चेतना कवचं करिष्यामीति मत्वा ॥१५०१॥

गा०—अयोग्य वचन कहे, या संयमगुणकी सीढ़ीसे नीचे उतरना चाहे, या निचले स्थानको चाहते हुए रात्रि भोजन या रात्रिमें पानक लेना चाहे या दिनमें असमयमें भोजन करना चाहे ॥१४९८॥

गा०—इस प्रकार जब क्षपक मोहमें पड़ जाये तो आचार्यको उसे सब पिछली बातोंका स्मरण कराना चाहिये । जिससे उसके परिणाम विशुद्ध हों और उसका यथार्थ ज्ञान लौट आवे ॥१४९९॥

उसके उपाय कहते हैं—

गा०—तुम कौन हो ? तुम्हारा क्या नाम है ? कहाँ रहते हो ? इस समय दिन है या रात है ? तुम क्या करते हो ? कहाँ बैठे हो ? मेरा क्या नाम है ॥१५००॥

गा०—इस प्रकार आचार्य उसकी परीक्षाके लिये कि वह सचेत अवस्थामें है या अचेत अवस्थामें है, वात्सल्य भावसे बार-बार उसे स्मरण कराते हैं । उनकी यह भावना रहती है कि यदि वह सचेत है तो उसके संयमकी रक्षा की जाये ॥१५०१॥

जो पुण एवं ण करिज्ज सारणं तस्स [1]वियलचक्खुस्स ।
सो तेण होइ णिद्धंधसेण खवओ परिच्चत्तो ॥१५०२॥

'**जो पुण एवं ण करिज्ज**' य. पुनरेवं न कुर्यात् सारणं । स्खलितचित्तवृत्ते स क्षपकस्तेन परित्यक्तो भवति सूरिणा ॥१५०२॥

एवं सारिज्जंतो कोई कम्मुवसमेण लभदि सदिं ।
तह य ण लभिज्ज सदिं कोई कम्मे उदिण्णम्मि ॥१५०३॥

'**एवं सारिज्जन्तो**' एव सार्यमाण. कश्चित् चारित्रमोहोपशमेन असद्वेद्योपशमेन वा स्मृति योग्यायोग्यविषयां लभते । अयुक्तेयं इच्छा मम अकाले भोक्तु पातु वा प्रत्याख्यात कथ कालेऽपि प्रार्थयामीति सार्यमाणोऽपि । लभते स्मृति कश्चित्कर्मण्युदीर्णे नो इन्द्रियमतिज्ञानावरणे । सारणा ॥१५०३॥

सदिमलभंतस्स वि कादव्वं पडिकम्ममट्ठियं गणिणा ।
उवदेसो वि सया से अणुलोमो होदि कायव्वो ॥१५०४॥

'**सदिमलभंतस्स वि**' स्मृतिमलभमानस्यापि गणिनाऽस्थित कर्तव्य । प्रतिकार उपदेशोऽपि अनुकूल सदा तस्य कर्तव्यः ॥१५०४॥

चेयंतो पि य कम्मोदयेण कोई परीसहपरद्धो ।
उब्भासेज्ज व उक्कावेज्ज व भिंदेज्ज आउरो पदिण्णं ॥१५०५॥

'**चेयंतो पि**' चेतयमानोऽपि कर्मोदयेन कश्चित्परीषहपराजिता यत्किञ्चिद्वदेत् आरटेत् भिन्द्याद्वा स्वां प्रत्याख्यानप्रतिज्ञा ॥१५०५॥

गा०—यदि आचार्य उस चलायमान चित्तवाले क्षपकको इस प्रकारसे स्मरण नहीं करावे तो समझना चाहिये उस निर्दयीने उस क्षपकको त्याग दिया है ॥१५०२॥

गा०—इस प्रकार स्मरण दिलाने पर कोई-कोई क्षपक चारित्र मोह अथवा असातावेदनीय का उपशम होनेसे योग्य अयोग्यके विचारविषयक स्मृतिको प्राप्त होते हैं कि अकालमे खाने पीनेकी इच्छा करना मेरे लिये योग्य नही है । जो मैं त्याग कर चुका उसे कालमे भी कैसे ग्रहण करूँ ? आदि । किन्तु कोई नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरण कर्मकी उदीरणा होनेपर स्मृति प्राप्त नहीं करते ॥१५०३॥

गा०—स्मृतिको जो प्राप्त नही होता, उसके प्रति भी आचार्यको निरन्तर प्रतिकार करते रहना चाहिये । तथा उसके अनुकूल उपदेश भी करते रहना चाहिये ॥१५०४॥

गा०—कोई क्षपक चेतनाको प्राप्त करके भी कर्मके उदयसे परीषहोंसे हारकर यदि अयोग्य वचन बोले, या रुदन करे या अपनी व्रत प्रतिज्ञाको भग करे तो भी उसके प्रति कटुक वचन

---

1. विप्पलक्खस्स (स्खलितचित्तवृत्तेः) । –मूलारा० ।

ण हु सो कडुगं फरुसं व भणिदव्वो ण खीसिदव्वो य ।
ण य वित्तासेदव्वो ण य वट्टदि हीलणं कादुं ॥१५०६॥

'ण हु सो कडुगं' स एवं कुर्वन्क्षपकः न कर्तव्यः कटुकं परुषं वा, न भर्त्सनीयं, न च त्रासं नेतव्यः, न च युक्तः परिभवः कर्तुं तस्य ॥१५०६॥

परुषवचनादिभिः को दोषो जायते इत्यत्रोच्यते—

फरुसवयणादिगेहिं दु माणी [1]विप्फुरिओ तओ संतो ।
उद्धाणमवक्कमणं कुज्जा असमाधिकरणं वा ॥१५०७॥

'फरुसवयणादिगेहिं' परुषवचनादिभिर्मानी विराधितः सन् ॥१५०७॥

तस्स पदिण्णामेरं भित्तुं इच्छंतयस्स णिज्जवओ ।
सव्वायरेण कवयं परीसहणिवारणं कुज्जा ॥१५०८॥

'तस्स पदिण्णामेरं' तस्य स्वप्रतिज्ञामर्यादां भेत्तुं वाञ्छतो निर्यापकः सूरिः कवचं कुर्यात् परीषहनिवारणक्षमं ॥१५०८॥

णिद्धं मधुरं पल्हादणिज्ज हिदयंगमं अतुरिदं वा ।
तो सीहावेदव्वो सो खवओ पण्णवंतेण ॥१५०९॥

'णिद्धं' स्नेहसहितं, 'मधुरं' श्रोत्रप्रियं, हृदयसुखविधायि, हृदयप्रवेशि, अत्वरितं असौ शिक्षयितव्यः क्षपकः प्रज्ञापयता ॥१५०९॥

रोगादंके सुविहिद विउलं वा वेदणं धिदिबलेण ।
तमदीणमसंमूढो जिण पच्चूहे चरित्तस्स ॥१५१०॥

बोलना उचित नहीं है, न उसका तिरस्कार करना चाहिये, न उसका हास्य करना चाहिये, न उसे त्रास देना चाहिये और न उसका अनादर करना चाहिये ॥१५०५–१५०६॥

उसके प्रति कठोर वचन बोलने आदिसे क्या हानि होती है यह कहते हैं—

गा०—कठोर वचन आदिसे भड़ककर वह अभिमानी क्षपक संयमसे च्युत हो सकता है या दुर्ध्यानमें लग सकता है अथवा सम्यक्त्वको त्याग सकता है ॥१५०७॥

गा०—यदि वह अपनी प्रतिज्ञारूपी मर्यादाको तोड़ना चाहे तो निर्यापकाचार्य उसकी रक्षाके लिये ऐसा कवच आदरपूर्वक करे जो परीषहोंका निवारण कर सके ॥१५०८॥

गा०—आचार्यको स्नेहसहित, कानोंको प्रिय, हृदयमें सुख देनेवाले तथा हृदयमें प्रवेश करने वाले वचनोंसे क्षपकको धीरे-धीरे सम्बोधना चाहिये ॥१५०९॥

गा०—हे सुन्दर आचार वाले! तुम दीनता और मूढ़ताको त्यागकर चारित्रमें बाधा डालनेवाली छोटी या बड़ी व्याधियोंको, महती वेदनाको धैर्यरूपी बलसे जीतो। राग और कोपका

---

१. विप्फुरिओ-विराधितः –मूलारा० ।

रोगातङ्कै महतोऽन्यायस्य व्याधीन् । विपुलां वा वेदना धृतिबलेन जय त्वमवीर्योऽनूकस्य प्रत्यूहान् चारित्रस्य । वीतरागकोपतादि चारित्रं । तद्व्याधिप्रतीकारार्थेषु वस्तुषु आदरवतो व्याधिषु वेदनासु च द्वेषवतो नश्यति । ततश्चारित्रविघ्नास्त्वया जेतव्या इति भाव ॥१५१०॥

सव्वे वि य उवसग्गे परिसहे य तिविहेण णिज्जिणाहि तुमं ।
णिज्जिणिय सम्ममेदे होहिसु आराहओ मरणे ॥१५११॥

'सव्वे वि य उवसग्गे' सर्वांश्चोपसर्गान् परीषहांश्च मनोवाक्कायैर्जय । उपसर्गपरीषहजयदु खा-भीरुता मनसा जय । भीतोऽयमिति दयया न दु खानि हरन्ति । सन्निहितद्रव्यादिसहकारिकारणमसद्वेद्यमुदयागत अनिवार्यवीर्यं बल प्रयच्छत्येवेति धृतिबलेन भावना मनसा जय । श्रान्तोऽस्मि वेदनासु सहात्मता पश्यत मदीयामिमां अतिकष्टामवस्था । दग्धोऽस्मि ताडितोऽस्मि इत्येवमादिदीनवचनानुच्चारण । असकृदनुभूतार्था परीषहा क्षुदादय , उपसर्गाश्च पूर्वं । पूत्कुर्वन्तमपि नामी मुञ्चन्ति । केवल धृतिरहितोऽय वराको रारटीति निन्द्यते । न सन्मार्गात्प्रच्यावयितु इमे क्षमा इति उदारवचनता वचनेन जय । अदीनेक्षणमुखरागवत्ता अचलता च कायेन जय । 'णिज्जिणिय सम्ममेदे' निर्जित्यैव सम्यगेतानुपसर्गपरीषहान्मरण मृतिकाले । आराधओ होहिसि' रत्नत्रयपरिणतो भविष्यसि । उपसर्गपरीषहव्याकुलितचेतसा नैवाराधकता ॥१५११॥

संभर सुविहिय जं ते मज्झम्मि चदुव्विधस्स संघस्स ।
वूढा महापदिण्णा अहयं आराहइस्सामि ॥१५१२॥

'संभर' स्मृति निधेहि । 'सुविहिय' सुचारित्र । किं स्मरामि इति चेत त ता प्रतिज्ञा या कृतवानसि ।

त्याग ही चरित्र है । व्याधिको दूर करनेके उपायोमे आदर करनेवाले तथा व्याधि और वेदनासे द्वेष करनेवालेका चारित्र नष्ट होता है। अत तुम्हे चारित्रके विघ्नोको जीतना चाहिये ॥१५१०॥

गा०-टी०—हे क्षपक ! तुम सब उपसर्गों और परीषहोको मन वचन कायसे जीतो । उपसर्ग और परीषहोके जीतनेमे जो दु ख होता है उससे न डरना मनसे जीतना है । यह डरपोक है अत दया करके उपसर्ग परीषह उसे दु ख नही देंगे ऐसी बात नही है । द्रव्यादि सहकारी कारणोके रहने पर असातावेदनीय कर्म उदयमे आता है और उसकी शक्तिको रोकना शक्य नही होता तब वह कष्ट देता ही है । धैर्यरूपी बलपूर्वक ऐसी भावना होना मनसे जीतना है । मै थक गया हूँ, मेरी इस अतिकष्टकर और दु सह वेदना रूप अवस्थाको देखो, मै दु खमे जल रहा हूँ, [illegible] ने मुझे मार डाला इत्यादि दीन वचनोका उच्चारण न करना । मैने पूर्वमे अनेक बार भूख आदि परीषहो और उपसर्गोको सहा है । चिल्लाने पर भी ये [illegible] नही हैं । केवल यह [illegible] खोकर रोता है ऐसी निन्दा करते हैं । ये मुझे सन्मार्गसे [illegible] समर्थ नही हैं । इस प्रकारके उदार वचन बोलना वचनसे जीतना है । आँखोंमे और मुखपर दीनताका भाव न होना, मुखपर प्रसन्नताका रहना, विचलित न होना कायसे जीतना है । इस प्रकार इन परीषहो और उपसर्गोको सम्यक् रूपसे जीतनेपर मरते समय तुम रत्नत्रयरूपसे परिणत हो सकोगे । जिसका चित्त उपसर्ग और परीषहसे व्याकुल रहता है वह आराधक नही हो सकता ॥१५११॥

गा०—हे सुचारित्रसे सम्पन्न क्षपक ! तुमने चतुर्विध संघके मध्यमे जो महती प्रतिज्ञा की थी कि मैं आराधना करूँगा उसे स्मरण करो ॥१५१२॥

'मज्झम्मि' मध्ये । कस्य ? 'चदुव्विधसंघस्स' चतुर्विधस्य संघस्य । 'कदा' कृता । 'महापदिण्णा' महती प्रतिज्ञा । 'अहय' अहं 'आराधइस्सामि' आराधयिष्यामि इति ॥१५१२॥

को णाम भडो कुलजो माणी थोलाइदूण जणमज्झे ।
जुज्झे पलाइ आवडिदमेत्तओ चेव अरिभीदो ॥१५१३॥

'को णाम भडो' क पलायते युद्धे भट शूर । 'कुलजो' मानी । 'थोलाइदूण' भुजास्फालन कृत्वा । जनमध्ये । एव युद्धे शत्रुपराजय करिष्यामीति उद्घुष्य 'आवडिदमेत्तओ' अभिमुखायातशत्रुरेव अरिभीत । क पलायन करोति ॥१५१३॥

वार्ष्टान्तिके योजयति—

थोलाइदूण पुव्वं माणी संतो परीसहादीहिं ।
आवडिदमित्तओ चेव को विसण्णो हवे साहू ॥१५१४॥

'थोलाइदूण पुव्वं' भुजास्फालन कृत्वा पूर्वं । 'परीसहादीहिं आवडिदमेत्तओ चेव' परीषहारातिभिरभिमुखायात एव । 'को विसण्णो हव साहू माणी संतो' को विषण्णो भवेत्साधुवर्गो मानी सन् ॥१५१४॥

आवडिया पडिकूला पुरओ चेव कमंति रणभूमिं ।
अवि य मरिज्ज रणे ते ण य पसरमरीण वड्ढंति ॥१५१५॥

'आवडिया पडिकूला' अभिमुखायाता शत्रव । पुरओ चेव कमंति रणभूमिं' पुरस्तादेवोपसर्पन्ति रणभूमि । अवि य मरिज्ज रणे' यद्यपि रणे म्रियन्ते । 'ण य पसरमरीण वड्ढंति' नैव प्रसरमरीणा वर्धयन्ति ॥१५१५॥

तह आवइपडिकूलदाए साहवो माणिणो सूरा ।
अइतिव्ववेयणाओ सहंति ण य विगडिमुवयंति ॥१५१६॥

'तह आवइपडिकूलदाए' तथा आपत्प्रतिकूलतया । 'साहवो' मानिन शूरा । 'अइतिव्ववेयणाओ' अतीव तीव्रवेदना 'सहंति' सहन्ते । 'ण य विगडिमुवयंति' नैव विकृतिमुपयाति ॥१५१६॥

गा०—कौन कुलीन स्वाभिमानी शूरवीर मनुष्योके बीचमे अपनी भुजाओको ठोककर 'मै युद्धमे इस प्रकार शत्रुओको हराऊगा' ऐसी घोषणा करक सामने आये शत्रुसे ही डरकर भागना पसन्द करेगा ॥१५१३॥

गा०—उसी प्रकार पूर्वमे भुजाओको ठोककर कौन स्वाभिमानी साधु परीषह आदिके सन्मुख आते ही खेदखिन्न होगा ॥१५१४॥

गा०—जिन सुभटोके शत्रु उनके सन्मुख आते हैं वे सुभट शत्रुओके आनेसे पूर्व ही युद्ध भूमिमे पहुँच जाते हैं। वे युद्धमे मर जाये भले ही किन्तु शत्रुओका उत्साह नही बढने देते ॥१५१५॥

गा०—उसी प्रकार स्वाभिमानी शूरवीर साधु आपत्तियोकी प्रतिकूलतामे अति तीव्र कष्ट भोगते हैं किन्तु विकारको प्राप्त नहीं होते । अर्थात् दुर्भाग्यवश उपसर्ग परीषहोके उपस्थित होनेपर रत्नत्रयकी विराधना नहीं करते ॥१५१६॥

[1]थोलाइयस्स कुलजस्स माणिणो रणमुहे वरं मरणं ।
ण य लज्जणयं काउं आवज्जीवं सुजणमज्झे ॥१५१७॥

[2]थोलाइयस्स कृतभुजास्फालनस्य । 'माणिणो' मानिनः । 'रणमुहे वरं मरणं' युद्धमुखे मरणं शोभनं । 'ण य वरं' नैव शोभन । 'लज्जणयं कादुं आवज्जीवं च सुजणमज्झे' सुजनमध्ये यावज्जीवं निंदा-करणं ॥१५१७॥

समणस्स माणिणो संजदस्स णिहणगमणं पि होइ वरं ।
ण य लज्जणयं कादुं कायरदादीणकिविणत्तं ॥१५१८॥

'समणस्स' समानस्य श्रवणस्य वा । 'माणिणो' मानिन , 'संजदस्स' संयतस्य । 'णिहणगमणं पि होदि वरं'. निधनगमनमपि भवति वरं । 'ण य लज्जणयं कादुं' नैव लज्जनीयकरणं शोभनं । कातरता न वरं । 'दीणकिविणत्तं' दीनत्वं कृपणत्वं च न वरं ॥१५१८॥

एयस्स अप्पणो को जीविदहेदुं करिज्ज जंपणयं ।
पुत्तपउत्तादीणं रणे पलादो [3]सुजणलंछं ॥१५१९॥

'एयस्स अप्पणो' एकस्यात्मन' । 'जीविदहेदुं' जीवितनिमित्तं । 'को करिज्ज जंपणयं' कः कुर्यादप-वादं । 'पुत्तपउत्तादीणं' पुत्रपौत्रादीना । 'रणे पलादो' रणात्पलायमान । सुजणलंछं स्वजनलाञ्छनं ॥१५१९॥

तह अप्पणो कुलस्स य संघस्स य मा हु जीवदत्थी तं ।
कुणसु जणे जंपणयं किविणं कुव्वं सुगणलंछं ॥१५२०॥

'तह तया । 'अप्पणो जीविदत्थं' भवतो जीवितार्थं । 'कुलस्स संघस्स य मा कुणसु जणे दूसणयं' कुलस्य संघस्य च दूषण जने मा कार्षीः । 'किविणं कुव्वं' कृपणत्व कुर्वन् । 'सुगणलंछं' स्वगण-लांछनं ॥१५२०॥

गा०—भुजा स्फालन करनेवाले कुलीन अभिमानीके लिये युद्धमे सन्मुख मरना श्रेष्ठ है किन्तु सुजनोंके मध्यमें जीवनपर्यन्त लज्जा उठाना श्रेष्ठ नहीं है ॥१५१७॥

गा०—उसी प्रकार स्वाभिमानी संयमी श्रमणका मर जाना श्रेष्ठ है किन्तु लज्जाजनक कार्य करना श्रेष्ठ नही है, कातरता–विपत्तियोंसे घबराना, दीनता कृपणता–कि मैं कुछ भी नहीं कर सकता आदि श्रेष्ठ नही है ॥१५१८॥

गा०—एक अपने जीवनके लिये युद्धभूमिसे भागकर कौन अपने पुत्र पौत्र आदिके लिये अपवादका कारण बनेगा और अपने परिवारको लांछन लगायेगा ॥१५१९॥

गा०—उसी प्रकार हे क्षपक ! अपने जीवनके लिये परीषह आदि आनेपर अपनी निर्बलता का परिचय देते हुए अपने कुल और संघको लोकापवादका पात्र मत बनाओ और अपने गणपर लांछन मत लगाओ ॥१५२०॥

१, २. थोवाइय–अ० आ० । ३. सुणगलंछं ललाटे कुर्कुरपादसमान–मूलारा० ।

गाढप्पहारसंताविदा वि सूरा रणे अरिसमक्खं ।
ण मुहं भंजंति सयं मरंति [1]भिउडीमुहा चेव ॥१५२१॥

'गाढप्पहारसंताविदा वि' गाढप्रहारसंतापिता अपि शूरा 'रणे' युद्धे । 'सगं मुहं अरिसमक्खं ण भंजंति' स्वमुखभङ्गं अरीणा पुरतो न कुर्वन्ति । 'मरंति' म्रियंते । 'भिउडीए सह चेव' भ्रकुट्या सह चैव ॥१५२१॥

सुट्ठु वि आवइपत्ता ण कायरत्तं करिंति सप्पुरिसा ।
कत्तो पुण दीणत्तं किविणत्तं वा वि काहिंति ॥१५२२॥

'सुट्ठु वि आवइपत्ता' निरन्तरमापदं प्राप्ता अपि । 'सप्पुरिसा ण कायरत्तं करंति' सत्पुरुषा न कातरता कुर्वन्ति । 'कत्तो पुण काहिंति' कुतः पुनः करिष्यन्ति । 'दीणत्तं किविणत्तं वावि' दीनता कृपणता च ॥१५२२॥

केई अग्गिमदिगदा समंतओ अग्गिणा वि उज्झंता ।
जलमज्झगदा व णरा अत्थंति अचेदणा चेव [2] ॥१५२३॥

केई अत्थंति अचेदणा चेव' केचिदासते अचेतना इव । 'अग्गिमदिगदा' अग्निं प्रविष्टा 'समंतदो अग्गिणा वि उज्झंता' समन्तात् अग्निना दह्यमाना अपि । 'जलमज्झगदा व णरा' जलमध्यगता नरा इव ॥१५२३॥

तत्थ वि साहुक्कारं सगअंगुलिचालणेण कुव्वंति ।
केई करंति धीरा उक्किट्ठिं अग्गिमज्झम्मि ॥१५२४॥

'तत्थ वि' तत्राप्यग्निमध्ये । 'साहुक्कारं सगअंगुलिचालणेण कुव्वंति' साधुकारं स्वाङ्गुलिचालनया कुर्वते । 'केई अग्गिमज्झगदा धीरा' केचिदग्निमध्यगता धीरा । 'उक्किट्ठि करंति' उत्कृष्टि उत्क्रोशन कुर्वन्ति ॥१५२४॥

गा०—युद्धमें शूरवीर पुरुष जोरदार प्रहारसे पीड़ित होनेपर भी शत्रुके सामनेसे अपना मुख नहीं मोड़ते और मुखपर भौं टेढ़ी किये हुए ही मरते हैं ॥१५२१॥

गा०—उसी प्रकार सत्पुरुष अत्यन्त आपत्ति आनेपर भी कातर नहीं होते । तब वे दीनता या कायरता क्यों दिखायेंगे ? ॥१५२२॥

गा०—कितने ही सत्पुरुष आगमें प्रवेश करके सब ओरसे आगसे जलनेपर भी जलके मध्यमें प्रविष्ट हुए मनुष्यकी तरह अथवा अचेतनकी तरह रहते हैं ॥१५२३॥

गा०—तथा आगके मध्यमें भी रहते हुए अपने अंगुलि संचालनके द्वारा साधुकार करते हैं कि कितना अच्छा हुआ कि मेरे अशुभ कर्म क्षय हुए । कितने ही धीर वीर पुरुष आगके मध्यमें रहकर अपना आनन्द प्रकट करते हैं ॥१५२४॥

---

१. भिउडीए सह–मु० । २. नरा इव अचेतना इव–आ० मु० ।

अदिदा तह अण्णाणी संसारपवड्ढणाए लेस्साए ।
तिव्वाए वेदणाए सुहसादलया करिंति धिदिं ॥१५२५॥

'अदिदा' यदि तावत् । 'तह' तथा । 'अण्णाणी धिदिं करिंति' तथा अज्ञानिनो धृति कुर्वन्ति 'संसारपवड्ढणाए लेस्साए' संसारप्रवर्धनकारिण्या लेश्यया । 'तिव्वाए वेदणाए' तीव्रायां वेदनायां सत्यां । 'सुहसादलया' सुखास्वादलम्पटा ॥१५२५॥

किं पुण अदिणा संसारसव्वदुक्खक्खयं करंतेण ।
बहुतिव्वदुक्खरसजाणएण ण धिदी हवदि कुज्जा ॥१५२६॥

किं पुण अदिणा ण करिज्जा हवदि 'धिदि' किं पुनर्न कार्या भवति धृति यतिना । कीदृशा ? संसारसव्वदुक्खक्खयं संसारसर्वदुःखक्षयं कुर्वता । 'बहुतिव्वदुक्खरसजाणगेण' बहूनां चतुर्गतिगतानां तीव्राणां दुःखानां रसं जानता ॥१५२६॥

असिवे दुब्भिक्खे वा कंतारे भए व आगाढे ।
रोगेहिं व अभिभूदा कुलजा माणं ण विजहंति ॥१५२७॥

'असिवे' मार्यां । 'दुब्भिक्खे वा' दुर्भिक्षे वा । 'कंतारे' अटव्यां वा । गाढे भये च । उपर्युपरि निपतितभये वा । 'रोगेहिं व अभिभूदा' व्याधिभिर्वा अभिभूता । 'ण विजहंति कुलजा माणं' न जहति कुलप्रसूता मानं ॥१५२७॥

ण पियंति सुरं ण य खंति गोमंसं ण य पलंडुमादीयं ।
ण य कुव्वंति विकम्मं तहेव अण्णंपि लज्जणयं ॥१५२८॥

'ण पियंति सुरं' न पिबन्ति सुरां । 'ण खंति' न च भक्षयन्ति गोमांसं । 'ण य पलंडुमादीयं' न पलाण्डुप्रभृतिकं भक्षयन्ति । 'ण य कुव्वंति विकम्मं' नैव कुत्सितं कर्म परोच्छिष्टभोजनादिकं कुर्वन्ति । 'तहेव अण्णंपि लज्जणयं' तथैव नान्यदपि लज्जनीयं कुर्वन्ति ॥१५२८॥

गा०—यदि संसारको बढ़ानेवाली अशुभ लेश्यासे युक्त अज्ञानी पुरुष सांसारिक सुखकी लालसासे तीव्र वेदना होते हुए भी धैर्य धारण करते हैं ॥१५२५॥

विशेषार्थ—आगमें जलकर मरनेका कथन उन धर्मवालोंके लिये किया है जो आगमें जलकर मरनेमें धर्म मानते हैं।

गा०—तो जो क्षपक साधु संसारके सब दुःखोंका क्षय करना चाहता है और चारों गतियों-के तीव्र दुःखोंका स्वाद जानता है वह धैर्य धारण क्यों न करेगा ॥१५२६॥

गा० मारी रोगमें, दुर्भिक्षमें, भयानक वनमें, अत्यन्त प्रगाढ़ भयमें तथा रोगोंसे ग्रस्त भी कुलीन पुरुष स्वाभिमानको नहीं छोड़ते ॥१५२७॥

गा०—वे मदिरा पान नहीं करते। गोमांस नहीं खाते। लहसुन प्याज आदि नहीं खाते। दूसरेका जूठा खाना आदि बुरे काम नहीं करते। इसी प्रकार अन्य भी लज्जास्पद काम नहीं करते ॥१५२८॥

किं पुण कुलगणसंघस्स असयाकिणो लोयपूजिदा साहू ।
माणं पि जहिय काहंति विकम्मं सुजणलज्जणयं ॥१५२९॥

'किं पुण तह वि कम्मं काहिंति' किं पुनः साधवः कुत्सितं कर्म करिष्यन्ति । 'कुलगणसंघस्स असया-किणो' 'कुलस्य गणस्य संघस्य च यशः संपादनाहंकारवन्तः । 'लोयपूजिदा साहू' लोके कृतपूजाः । 'माणं जहिय' मानं त्यक्त्वा 'सुजणलज्जणयं' साधुजनेन विलज्जनीयं कर्म ॥१५२९॥

जो गच्छिज्ज विसादं महल्लमप्पं व आवदिं पत्तो ।
तं पुरिसकादरं बिंति धीरपुरिसा हु संढुपि ॥१५३०॥

'जो गच्छिज्ज विसादं' यो गच्छेद्विषादं । 'महल्लं अप्पं व आवदं पत्तो' महतीं अल्पां वा आपदं प्राप्तः । 'तं पुरिसकातरं' पुरुषेषु कातरं । 'धीरपुरिसा संढुत्ति बिंति' धीराः सुपुरुषाः षण्ढ इति ब्रुवन्ति ॥१५३०॥

मेरुव्व णिप्पकंपा अक्खोभा सागरुव्व गंभीरा ।
धिदिवंतो सप्पुरिसा हुंति महल्लावईए वि ॥१५३१॥

'मेरुव्व णिप्पकंपा' मेरुरिव निश्चलाः । 'अक्खोभा' अकम्प्याः । 'सागरोव्व' सागर इव 'धिदिवंतो सप्पुरिसा' धृतिमन्तः संतोषवंतः सत्पुरुषाः । 'महल्लावईए वि' महत्यामापदि ॥१५३१॥

केई णिस्सुत्तसंगा आदारोविदभरा अपडिकम्मा ।
गिरिपब्भारमभिगदा बहुसावदसंकडं भीमं ॥१५३२॥

'केई उत्तमट्ठं करेंति' इति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । केचिदुत्तमं वस्तु रत्नत्रयं साधयन्ति । कीदृग्भूताः ? 'णिस्सुत्तसंगा' निरस्तपरिग्रहाः । 'आदारोविदभरा' आत्मारोपितभराः । 'अपडिकम्मा' निष्प्रतीकाराः । 'गिरि-पब्भारमभिगदा' गिरिप्राग्भारमभिगताः । कीदृशं ? 'बहुसावदसंकडं' बहुव्यालमृगाकुलं । 'भीमं' भयावहं ॥१५३२॥

धिदिधणियबद्धकच्छा अणुत्तरविहारिणो सुदसहाया ।
साहिंति उत्तमट्ठं सावददाढंतरगदा वि ॥१५३३॥

गा०—सब कुल गण और संघके यश सम्पादनका अहंकार करनेवाले लोकपूजित साधु स्वाभिमान त्यागकर साधुजनके लिये लज्जाके योग्य बुरा कर्म करेंगे क्या ? कभी नहीं करेंगे ॥१५२९॥

गा०—जो छोटी या बड़ी विपत्ति आने पर खिन्न होता है उस कायर पुरुषको धीर पुरुष नपुंसक कहते हैं ॥१५३०॥

गा०—सज्जन पुरुष महती विपत्तिमें भी सुमेरुकी तरह अकम्प, सागरकी तरह गम्भीर और धैर्यशील रहते हैं ॥१५३१॥

गा०—कितने ही साधु समस्त परिग्रहको त्यागकर, अपने आत्मामें आत्माको आरोपित करके, प्रतीकार रहित होकर, बहुतसे व्याघ्र आदि हिंस्र जन्तुओंसे भरे भयंकर पर्वतोंके शिखरोंपर

'विविधविचित्रमुकावेत्ता' कृत्वा नितरां बहुकल्पाः । 'अणुत्तरविहारिणो प्रकृष्टचारित्राः । 'सुदसहाया:' श्रुतज्ञानसहायाः । 'साधिंति उत्तमट्ठं' साधयन्त्युत्तमार्थं रत्नत्रयं । 'सावयदाढंतरगदा वि' श्वापददंष्ट्रामध्यगता अपि ॥१५३३॥

> मल्लकिकए तिरत्तं खज्जंतो घोरवेदणट्टो वि ।
> आराधणं पवण्णो ज्झाणेणावंतिसुकुमालो ॥१५३४॥

'मल्लकिकए तिरत्तं खज्जंतो' शृगालेन तिसृषु रात्रिषु भक्ष्यमाणः । 'घोरवेदणट्टो वि' घोरवेदनाबाधितोऽपि । 'आराधणं पवण्णो ज्झाणेण' शुभध्यानेनाराधना प्रपन्न । कः ? 'अवंतिसुकुमालो' अवंतिसुकुमारः ॥१५३४॥

> [1]पोग्गिलगिरिम्मि य सुकोसलो वि सिद्धत्थदइय भयवंतो ।
> वग्घीए वि खज्जंतो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५३५॥

[3]पुद्गलगिरौ सुकोशलोऽपि सिद्धार्थस्य पुत्रो भगवान् व्याघ्र्या जननीचर्या भक्षित सन् प्रतिपन्नः उत्तमार्थम् ॥१५३५॥

> भूमीए समं कीला[4]कोडिददेहो वि अल्लचम्मं व ।
> भयवं पि गयकुमारो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५३६॥

'भूमीए समं' भूमी समं । 'कीलाकोडिददेहो' कीलोत्कृतदेह. । 'अल्लचम्मं व' आर्द्रचर्मवत् । 'भयवं पि' भगवान् गजकुमारोऽपि । उत्तमार्थं प्रतिपन्न ॥१५३६॥

> कच्छुजरखाससोसो भत्तच्छदअच्छिकुच्छिदुक्खाणि ।
> अधियासयाणि सम्मं सणक्कुमारेण वाससयं ॥१५३७॥

जाकर दृढ़ धैर्यको अपनाकर, उत्कृष्ट चारित्रपूर्वक श्रुतज्ञानकी सहायतासे सिंहादिके मुँहमें जाकर भी उत्तमार्थ रत्नत्रयकी साधना करते हैं ॥१५३२–३३॥

गा०—अवन्ती अर्थात् उज्जैनी नगरीमें सुकुमार मुनि तीन रात तक शृगालीके द्वारा खाये जानेपर घोर वेदनासे पीड़ित होते हुए भी शुभध्यानके द्वारा रत्नत्रयकी आराधनाको प्राप्त हुए ॥१५३४॥

गा०—पुद्गल या मुद्गल नामक पर्वतपर सिद्धार्थ राजाके प्रिय पुत्र भगवान् सुकौशल मुनि अपनी पूर्व जन्मकी माता व्याघ्रीके द्वारा खाये जानेपर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५३५॥

गा०—पृथ्वीके साथ गीले चमड़ेकी तरह शरीरमें कीलें ठोककर एकमेक कर देनेपर भी भगवान् गजकुमार मुनि उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५३६॥

गा०—सनत्कुमार मुनि ने सौ वर्षों तक खाज, ज्वर, खांसी, सूखापन, तीव्र उदराग्नि, नेत्रपीड़ा, उदरपीड़ा आदिके दुःख बिना संक्लेशके धैर्यपूर्वक सहन किये ॥१५३७॥

---

१. णंगोवि अ० आ० । २–३. मोग्गिल—मु०, मूलारा० । ४. कीलाहोडिद–अ० ।

'कच्छुज्वरखाससोसो' कच्छूज्वरकाससोषाः। 'भत्तच्छंदच्छिकुच्छिदुक्खाणि' तीव्रो जठराग्निः अक्षिदुःखं। कुक्षिदुःखं च। 'अधियासयाणि' असंक्लेशेन धृतानि 'सणक्कुमारेण' सनत्कुमारेण। 'वाससदं' वर्षशतं ॥१५३७॥

णावाए णिब्बुडाए गंगामज्झे अमुज्झमाणमदी।
आराधणं पवण्णो कालगओ एणियापुत्तो ॥१५३८॥

'णावाए णिब्बुडाए' नावि निमग्नायां च। 'गंगामज्झे' गंगाया मध्ये। 'अमुज्झमाणमदी' अमुह्यमानमतिः। 'आराधणं पवण्णो' आराधनां प्रतिपन्नः सन्। 'कालगओ' कालं गतः। 'एणियापुत्तो' एणिकपुत्रनामधेयो यतिः ॥१५३८॥

ओमोदरिए घोराए भद्दबाहू असंकिलिट्ठमदी।
घोराए [1]विगिंछाए पडिवण्णो उत्तमं ठाणं ॥१५३९॥

'ओमोदरिए घोराए' घोरेणावमोदर्येण तपसा समन्वितः। 'भद्दबाहू असंकिलिट्ठमदी' भद्रबाहुरसंक्लिष्टचित्तः। 'घोराए[2]विगिंछाए' घोरया क्षुधा बाधितोऽपि। 'पडिवण्णो उत्तमं ठाणं' प्रतिपन्न उत्तमार्थं ॥१५३९॥

[3]कोसंबीललियघडा बूढा णइपूरएण जलमज्झे।
आराधणं पवण्णा पाओवगदा अमूढमदी ॥१५४०॥
चंपाए मासखमणं करित्तु गंगातडम्मि तण्हाए।
घोराए धम्मघोसो पडिवण्णो उत्तमं ठाणं ॥१५४१॥

'चंपाए' चम्पानगर्यां। 'मासखवणं करित्तु' मासोपवासं कृत्वा। 'गंगातडम्मि' गंगायास्तटे। 'तण्हाए घोराए' तृष्णया तीव्रया बाधितोऽपि। 'धम्मघोसो' धर्मघोषः। उत्तमार्थं प्रतिपन्नः ॥१५४०–१५४१॥

गा०—गंगाके मध्यमें नाव डूबनेपर एणिक पुत्र नामके मुनि मोहरहित होकर मरणको प्राप्त हुए और आराधनाके धारक हुए ॥१५३८॥

गा०—घोर अवमोदर्य तपके धारी भद्रबाहु मुनि घोर भूखसे पीड़ित होनेपर भी संक्लेश रूप परिणाम न करके उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५३९॥

गा०—कौशाम्बी नगरीमें सुखपूर्वक पाले गये इन्द्रदत्त आदि बत्तीस श्रेष्ठि पुत्र जलके मध्यमें यमुना नदीके प्रवाहके द्वारा प्रायोपगमन संन्यास पूर्वक मरणको प्राप्त हुए। उन्होंने मोह रहित होकर आराधनाको प्राप्त किया ॥१५४०॥

गा०—चम्पा नगरीमें एक मासका उपवास करते हुए धर्मघोष नामक मुनि गंगाके तटपर तीव्र प्याससे पीड़ित होकर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४१॥

१–२. विगिंछाए मु० मूलारा०। ३. एतां टीकाकारो नेच्छति।

सीदेण पुव्ववइरियदेवेण विकुव्विएण घोरेण ।
संतत्तो सिरिदत्तो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५४२॥

'सीदेण' शीतेन । 'संतत्तो' संतप्तः । 'पुव्ववइरियदेवेण विकुव्विएण' पूर्वजन्मशत्रुणा देवेनोत्पादितेन 'सिरिदत्तः' श्रीदत्तः । उत्तमार्थमुपगतः ॥१५४२॥

उण्हं वादं उण्हं सिलादलं आदवं च अदिउण्हं ।
सहिदूण उसहसेणो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५४३॥

'उण्हं वादं' उष्णं वातं, 'उण्हं सिलादलं' उष्णं शिलातलं । 'आदवं च अदिउण्हं' आतापं चात्युष्णं 'सहिदूण' प्रसह्य वृषभसेन उत्तमार्थं प्रतिपन्न. ॥१५४३॥

रोहेडयम्मि सत्तीए हओ कोंचेण अग्गिदइदो वि ।
तं वेयणमधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५४४॥

'रोहेडयम्मि' रोहेडके नगरे । 'सत्तीए हओ' शक्त्या हतः । 'कोंचेण' क्रोंचनामधेयेन । 'अग्गिदइदो वि' अग्निराजसुतोऽपि । 'तं वेयणमधियासिय' तां वेदनां प्रसह्य । उत्तमार्थं प्रतिपन्नः ॥१५४४॥

काइंदि अभयघोसो वि चंडवेगेण छिण्णसव्वंगो ।
तं वेयणमधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५४५॥

'काइंदि अभयघोसो वि' काकन्द्यां नगर्यां अभयघोषोऽपि । 'चंडवेगेण छिण्णसव्वंगो' चंडवेगेन छिन्नसर्वांगः ॥१५४५॥

दंसेहिं य मसएहिं य खज्जंतो वेदणं परं घोरं ।
विज्जुच्चरोऽधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५४६॥

'दंसेहिं य' दंशैर्मशकैश्च भक्ष्यमाण. विद्युच्चरस्तां वेदनां अवगणय्य आराधनां प्रपन्नः ॥ १५४६॥

गा०—पूर्वभवके बैरी देवके द्वारा विक्रिया पूर्वक किये गये शीत से पीड़ित होकर श्रीदत्त मुनि उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४२॥

गा०—गर्म वायु, गर्म शिलातल और अत्यन्त गर्म आतापको सहन करके वृषभसेन उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४३॥

गा०—रोहतक नगरमें क्रोंच नामक राजाके द्वारा शक्ति नामक शस्त्र विशेषसे मारा गया अग्नि राजाका पुत्र उसकी वेदनाको सहकर उत्तमार्थको प्राप्त हुआ ॥१५४४॥

गा०—काकन्दी नगरीमें चण्डवेगके द्वारा सब अंगोंके छेद डालनेपर अभयघोष मुनि उसकी वेदनाको सहकर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४५॥

गा०—डांस मच्छरोंके द्वारा खाये जानेपर विद्युच्चर मुनि अत्यन्त घोर वेदनाको सहन करके उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४६॥

हत्थिणपुरगुरुदत्तो संबलिथाली व दोणिमंतम्मि
उज्झंतो अधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५४७॥

'हत्थिणपुरगुरुदत्तो' हस्तिनापुरवास्तव्यो गुरुदत्तः। 'संबलिथालीव' हरितसंकोश निराम[illegible] पूर्णभाजनं अर्कपत्रविहितमिदं मुखं अधोमुखं संस्थाप्य उपरिभाजनस्य अग्निप्रक्षेपः संबलीत्युच्यते। तद्वन्निक्[illegible] निक्षिप्ताग्निः। 'दोणिमंतम्मि' द्रोणीमत्पर्वते दह्यमानः प्रपन्नः उत्तमार्थं ॥१५४७॥

गाढप्पहारविद्धो पूईमलियाहिं चालणीव कदो।
तध वि य चिलादपुत्तो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५४८॥

'गाढप्पहारविद्धो' नितरामायुधैर्विद्धः। 'पूईमलियाहिं' कुन्थैः स्थूलोत्तमाङ्गैः पिपीलिकाभि[illegible] 'चालणीव कदो' चालनीव कृतश्चिलातपुत्रस्तथाप्युत्तमार्थमुपगतः ॥१५४८॥

दंडो जउणावंकेण तिक्खकंडेहिं पूरिदंगो वि।
तं वेयणमधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५४९॥

'दंडो' दंडनामको यतिः। 'जउणावंकेण' यमुनावक्रसंज्ञितेन। 'तिक्खकंडेहिं' तीक्ष्णैः शरैः 'पूरि[illegible] तोऽपि' रत्नत्रयं समाराधयति स्म ॥१५४९॥

अभिणंदणादिया पंचसया णयरम्मि कुंभकारकडे।
आराधणं पवण्णा पीलिज्जंता वि यंतेण ॥१५५०॥

'अभिणंदणादिया' अभिनन्दनप्रभृतयः पञ्चशतसंख्याः, कुम्भकारकटे नगरे यंत्रेण पीड्यमाना अ[illegible] राधनां प्राप्ताः ॥१५५०॥

गा०—हस्तिनापुर नगरके वासी गुरुदत्त मुनि द्रोणगिरि पर्वतपर संबलिथालीकी त[illegible] जलते हुए उसकी वेदनाको सहकर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४७॥

विशेषार्थ—एक पात्रमें उड़दकी फलिया भरकर उसे आकके पत्रोंसे ढांककर, उस पात्र[illegible] मुख नीचेको करके चारों ओर आगसे घेर देनेपर संबलिथाली कहते हैं। द्रोणगिरि पर्वत[illegible] गुरुदत्त मुनिके सिरपर आग जला दी गई थी। बृ० क० कोषमें १३९ नम्बर पर इनकी [illegible] विस्तारसे दी है।

गा०—चिलातपुत्र नामक मुनिका शरीर काली चीटियोंके तीव्र डंक प्रहारसे चलनी[illegible] तरह बींध दिया गया था। फिर भी उन्होंने उत्तमार्थको प्राप्त किया ॥१५४८॥

गा०—दण्ड नामक मुनिके शरीरको यमुनावक्र नामके राजाने तीक्ष्ण बाणोंसे छेद[illegible] भर दिया था। फिर भी वे उसकी वेदनाको सहन करके उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४९॥

विशेषार्थ—बृ० क० कोषमें मुनिका नाम धान्यकुमार दिया है उनकी कथ[illegible] क्रमांक १४१ है।

गा०—कुम्भकारकट नामक नगरमें अभिनन्दन आदि पाँच सौ मुनि कोल्हूमें पेल[illegible] जानेपर भी आराधनाको प्राप्त हुए ॥१५५०॥

[1]गोट्ठे पाओवगदो सुबंधुणा गोब्बरे पलिविदम्मि ।
उज्झंतो चाणक्को पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥१५५१॥
वसदीए पलिविदाए रिट्ठामच्चेण उसहसेणो वि ।
आराधणं पवण्णो सह परिसाए कुणालम्मि ॥१५५२॥

'वसदीए पलिविदाए' वसतौ दग्धायां । रिट्ठामात्यनामधेयेन वृषभसेनः सह मुनिपरिषदा प्रतिपन्न आराधनाम् ॥१५५१-१५५२॥

अदिदा एवं एदे अणगारा तिव्ववेदणट्टा वि ।
एगागी अपडिकम्मा पडिवण्णा उत्तमं अट्ठं ॥१५५३॥

'अदिदा' एवं यदि एते तावदेवमेते 'अणगारा' यतयस्तीव्रवेदनापीडिता अपि एकाकिनोऽप्रतीकारा उत्तमार्थं प्रतिपन्ना. ॥१५५३॥

किं पुण अणगारसहायगेण [2]कीरंत पडिकम्मो ।
संघे ओलग्गंते आराधेदुं ण सक्केज्ज ॥१५५४॥

'किं पुण अणगारसहायगेण' किं पुनर्न शक्यते आराधयितुं अनगारसहायेन भवता क्रियमाणे प्रतिकारे संघे चोपासनां कुर्वति सति ॥१५५४॥

जिणवयणममिदभूदं महुरं कण्णाहुदिं सुणंतेण ।
सक्का हु संघमज्झे साहेदुं उत्तमं अट्ठं ॥१५५५॥

'जिणवयणं' जिनानां वचनं । अमृतभूतं, मधुरं कर्णाहुतिं शृण्वता त्वया संघमध्ये शक्यमाराधयितुं ॥१५५५॥

गा०—चाणक्य मुनि गोकुलमें प्रायोपगमन संन्यासमें स्थित थे। सुबन्धु नामक मंत्रीने कण्डोंके ढेरमें आग लगा दी। उसमें जलकर चाणक्य मुनि उत्तम अर्थको प्राप्त हुए ॥१५५१॥

गा०—कुणालपुरीमें रिष्ट नामक मंत्रीके द्वारा वसतिकामें आग लगानेपर वृषभसेन मुनि अपने शिष्य परिवारके साथ आराधनाको प्राप्त हुए ॥१५५२॥

गा०—इस प्रकार यदि ये मुनि अकेले प्रतीकार किये बिना तीव्र वेदनासे पीड़ित होकर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५५३॥

गा०—तो तुम्हारी सहायताके लिये तो मुनि समुदाय है वह तुम्हारे कष्टका इलाज करता है, तुम्हारे साथ उपासना करता है तब तुम आराधना क्यों नहीं कर सकते ॥१५५४॥

गा०—अमृतके समान मधुर जिन-वचन तुम्हारे कानोंमें आता है। उसे सुनते हुए संघके मध्यमें तुम्हारे लिये आराधना करना सरल है ॥१५५५॥

---

१. एतां टीकाकारो नेच्छति । २. कीरंतयम्मि पडिकम्मे —आ० मु० ।

णिरयतिरिक्खगदीसु य माणुसदेवत्तणे य संतेण ।
जं पत्तं इह दुक्खं तं अणुचिंतेहि तण्णिवसो ॥१५५६॥

'णिरयतिरिक्खगदीसु य' नरकतिर्यग्गतिषु च । 'माणुसदेवत्तणे य संतेण' मानुषत्वदेवत्वयोश्च सता यत्प्राप्तं इह सुखानन्तरं दुःखं 'तं अणुचिंतेहि' तद्गतचित्तस्तदनुचिन्तय ॥१५५६॥

णिरएसु वेदणाओ अणोवमाओ असादबहुलाओ ।
कायणिमित्तं पत्तो अणंतखुत्तो य बहुविधाओ ॥१५५७॥

'णिरएसु' नरकेषु । 'वेदणाओ' वेदनाः । 'अणोवमाओ' अनुपमाः । तादृश्या वेदनाया जगत्यन्यस्या अभावात् । 'असादबहुलाओ' असद्वेद्यकर्मबहुलाः । कारणबहुलत्वेन कार्यानुपरतिराख्याता । 'कायणिमित्तं पत्तो' शरीरनिमित्तासंयमार्जितकर्मनिमित्तत्वान्मूलकारणं निर्दिष्टं कायनिमित्तमिति । 'अणंतखुत्तो' अनंतवारं । 'तं' भवान् 'बहुविधाओ' बहुविधाः ॥१५५७॥

उष्णनरकेषु उष्णमहत्तासूचनार्थोत्तरा गाथा—

जदि कोइ मेरुमत्तं लोहुण्डं पक्खिविज्ज णिरयम्मि ।
उण्हे भूमिमपत्तो णिमिसेण विलिज्ज सो तत्थ ॥१५५८॥

'णिरयम्मि उण्हे 'लोहुण्डं मेरुमत्तं जदि कोइ पक्खिवेज्ज' उष्णनरके लोहपिण्डं मेरुसमान यदि कश्चिद्देवो दानवो वा प्रक्षिपेत् । 'सो तत्थ भूमिमपत्तो चेव विलिज्ज'[3] लोहपिण्डो भूमिमप्राप्त एव द्रवतामुपयाति । 'उण्हेण' उष्णेन नरकबिलाना ॥१५५८॥

गा०—नरकगति, तिर्यञ्चगतिमें और मनुष्य पर्याय तथा देवपर्यायमें रहते हुए तुमने जो दुःख सुख भोगा, उसमें मन लगाकर उसका विचार करो ॥१५५६॥

गा०—टी०—इस शरीरके निमित्त किये गये असंयमसे उपार्जित कर्मके निमित्तसे तुमने नरकोंमें अनन्तवार नाना प्रकारकी तीव्र वेदना असातावेदनीय कर्मके तीव्र उदयमें भोगी हैं। इस प्रकारकी वेदना जगत्‌में दूसरी नहीं है। उसका मूल कारण यह शरीर है। उसीके निमित्तसे होनेवाले असंयमके कारण असातावेदनीयका तीव्रबन्ध होकर वह नरकमें प्रचुरतासे उदयमें आता रहता है। अतः कारणकी बहुलता होनेसे वेदना रूप कार्य निरन्तर हुआ करता है ॥१५५७॥

आगेकी गाथासे उष्ण नरकोंमें उष्णताको महत्ता बतलाते हैं—

गा०—यदि कोई देव या दानव मेरुके समान लोहेके पिण्डको उष्ण नरकमें फेंके तो वह लोहपिण्ड वहाँकी भूमिको प्राप्त होनेसे ही पहले मार्गमें ही नरकबिलोंकी उष्णतासे पिघल जाये ॥१५५८॥

१–२. लोहपिण्डं आ० । ३. विलाइज्ज –अ० आ० ।

'असिपत्तवणम्मि य जं' असय एव पत्राणि यस्मिन्वने तदसिपत्रवनं । धर्माभितापिता घुम्मुर्वता नारकाणां असिपत्रवनेऽनेकासुरविक्रियाविनिर्मितविविधायुधपत्राणि पतन्ति । 'जं च दुक्खं' यच्च दुःखं । 'गिद्धेहिं' गृध्रैः कङ्कैश्च वज्रमयैस्तुण्डैः[1] ते तुण्डयन्ति । तीक्ष्णीकृतककचसदृशैः पक्षैः प्रहरन्ति[2] नितान्तखरपरुषैश्च-रणाङ्कुशैस्ताडयन्ति ॥१५६२॥

सामसबलेहिं दोसं वइतरणीए य पाविओ जं सि ।
पत्तो कयंबवालुयमइगम्ममसायमतितिव्वं ॥१५६३॥

'सामसबलेहिं' श्यामशबलसंज्ञितैरसुरैः । 'दोसं' दोषं दुःखानां । 'वइतरणीए य पाविओ जं सि' वैतरण्यां नद्यां प्रापितो यदसि । तृष्णाभिभूतानां जलं मृगयतां विगुणविध्वस्तदीनलोचनानां शुष्कताल्वादीनां वैतरणीनदीमुपदर्शयन्ति । रङ्गत्तरङ्गाकुलां, अगाधनीलनीरपरिपूर्णां, विषयसुखसेवेव दुरन्ततृष्णानुबन्धनोद्यतां, संसृतिरिव दुस्तरां, आशेव विशालां, कर्मपुद्गलस्कन्धसंहतिरिव विविधविपद्विधायिनीं, तद्दर्शनाद्दूरादेवोपजातोत्कण्ठा लब्धजीविताः संवृत्ताः स्म इति मन्यमाना द्रुततरगतयस्तामवगाहन्ते । अवगाहनानन्तरमेव कृतांजलयः पिबन्ति ताम्रद्रवसन्निभं तदम्भः । परुषवचनमिव हृदयदाहविधायि, हा विप्रलब्धाः स्मेति करुणं रुदतां शिरांसि पवनतरलसमीरणप्रेरणोत्थिततरङ्गासिधारा निकृन्तन्ति करचरणानि च । तेनातिक्षारेणोष्णेन, कालकूट-विषायमानेन जलेन, व्रणान्तरप्रवेशिना दह्यमाना झटिति घटितकरचरणास्तटमेव रटन्तः समारोहन्ति । तेषां च

भोगा । जिस वनमें तलवारकी धारके समान पत्ते होते हैं उसे असिपत्र वन कहते हैं । गर्मीसे पीड़ित नारकी असिपत्र वनमें जाते हैं जो अनेक असुर कुमार देवोंकी विक्रियाके द्वारा निर्मित विविध आयुध रूप पत्रोंसे युक्त होते हैं और उन आयुध रूप पत्तोंके गिरनेपर उनका सर्वांग छिद जाता है । तथा गृद्ध और कङ्क पक्षि अपनी वज्रमय चोंचोंसे उन्हें नोचते हैं तीक्ष्ण आरेके समान पंखोंसे प्रहार करते हैं । अत्यन्त तीक्ष्ण कठोर चरणरूपी अंकुशोंसे मारते हैं । इन सबका जो दुःख तुमने भोगा ॥१५६२॥

गा०—टी०—श्याम शबल नामक असुर कुमारोंके द्वारा वैतरणी नदीमें तुमने जो दुःख भोगा । जब नारकी प्याससे व्याकुल होकर जलकी खोजमें होते हैं और उनकी आँखें दीन तथा कण्ठ और तालु सूख जाता है तो उन्हें वैतरणी नदी दिखलाई जाती है । वह रंगीन तरंगोंसे व्याप्त और अगाध नीले जलसे भरी होती है, विषय सुख सेवनकी तरह तृष्णाकी परम्पराको बढ़ाने वाली होती है, संसारकी तरह उसे पार करना कठिन होता है, आशाकी तरह विशाल होती है, कर्मपुद्गलोंके स्कन्धोंके समूहकी तरह अनेक विपत्तियाँ लानेवाली होती है । उसको देखकर दूरसे ही उनकी उत्कण्ठा बढ़ जाती है । अब हम जी गये, ऐसा मानते हुए दौड़कर नदीमें प्रवेश करते हैं । प्रवेश करते ही हाथोंकी अंजलि बनाकर पिघले हुए ताँबेके समान उसके जलको पीते हैं । वह जल कठोर वचनकी तरह हृदयको जलानेवाला होता है । 'अरे हम ठगाये गये' ऐसी करुण चीत्कार करते हुए उनके सिर और हाथ पैरोंको अत्यन्त कठोर वायुसे प्रेरित लहरें, जो तलवारकी धारके समान होती हैं, काट देती हैं । तब कालकूट विषके समान अत्यन्त खारा गर्म जल उनके घावोंमें जाता है । उससे जलते हुए वे तत्काल तटकी ओर जाते हैं । उनके कटे हाथ

---

१. तुण्डैः नारकलोचनैः —आ० मु० । ते हि वज्रमयैस्तुण्डैर्नेत्राणि तुदन्ति । २. रन्ति नितरां नखर —आ० मु० ।

दीनासु वज्रमयशृङ्खलाभिः बध्नन्ति दुर्मोचाः । अधुना च तस्यामेव पातयन्ति । पातितास्तत्र बुडनोन्मज्जनमिश्रं समापुत्साक्रान्ति असुरविक्रियानिर्मितमहाशस्त्रप्रहारेण शिरांसि निपतन्ति । पुनश्च तटमासाद्य निश्चलस्थितांस्तथाभूत निश्चलं बध्नन्ति । तानपरिस्पन्दान् लक्षीकृत्य विध्यन्तीति निशातशरशतसहस्रैः । 'कलंबवालुगाविसमं' प्राप्तः कदंबप्रसूनाकारा वालिका विषमप्रवेशाः, वज्रालंकृतखदिराङ्गारकणप्रकरोपमानाः परिप्राप्य तत्र बलात्संचार्यमाणः यत्प्राप्तवानसि दुःखं तच्चिन्तय[3] मनसि कुरु ॥१५६३॥

जं सीलमंडवे तत्तलोहपडिमाउले तुमे पत्तं ।
जं पाइओसि खारं कडुयं तत्तं कलयलं च ॥१५६४॥

'जं पत्तं तं चिंतेहि' यत्प्राप्तं दुःखं तच्चिन्तय । क्व ? 'सीलमंडवे' काललोहघटिते मण्डपे । 'तत्तलोहपडिमाउले' तप्तलोहप्रतिमाकुले । बलात्कारसंपाद्यमानतप्तलोहप्रतिमायुवत्यालिङ्गितो यद्दुःखं प्राप्तवानसि तन्मनसि निधेहि । 'जं पाइओसि खारं' यत्पायितोऽसि क्षारं । 'कडुगं' कटुकं । 'तत्तं' तप्तं ॥१५६४॥

जं खाविओसि अवसो लोहंगारे य पज्जलंते तं ।
कंडूसु जं सि रद्धो जं सि कवल्लीए तलिओ सि ॥१५६५॥

'जं खाविओसि' यत्खादितोऽसि । 'अवसो' अवशः । बलाद्यन्त्रविदारिताननः । 'लोहंगारे य पज्जलंते' तं लोहाङ्गारान्प्रज्वलतः त्वं । 'कंडूसु जं सि रद्धो' कंडुकासु अपूपका इव पक्वः ॥१५६५॥

पैर तत्काल जुड़ जाते हैं। उनकी गर्दनोंमें भारी शिलाएँ वज्रमयी सांकलसे बांध देते हैं जिनको खोलना अति कठिन होता है और उन्हें पुनः उसी वैतरणीमें डाल देते हैं। उसमें गिराये जानेपर वे डूबते उतराते हैं। असुर कुमारोंकी विक्रियासे बनाये गये महाशस्त्रोंके प्रहारसे उनके मस्तक छिन्न-भिन्न होकर गिर जाते हैं। पुनः वे तट पर जाते हैं और उन्हें पुनः निश्चल बांध देते हैं। तब उन निश्चल स्थित नारकियोंको लक्ष करके लाखों तीक्ष्ण बाणोंसे बींध देते हैं। पुनः कदम्बके फूलोंके आकार वाली बालूमें, जिसमें बालिकाके चित्तकी तरह प्रवेश करना कठिन है और जो वज्रमयदलसे शोभित है तथा खैरकी लकड़ीके अंगारोंके कण समूहकी तरह गर्म है, उसमें बलपूर्वक चलाये जानेपर तुमने जो दुःख पाया है उसका विचार करो ॥१५६३॥

गा०—काललोहसे निर्मित मण्डपमें तपाये हुए लोहेसे बनी प्रतिमारूपी युवतियोंसे बलपूर्वक आलिंगन कराये जानेपर तुमने जो दुःख पाया उसका विचार करो। तथा खारा कडुआ तपा हुआ कलकल पिलाये जानेपर जो दुःख पाया उसका चिन्तन करो ॥१५६४॥

विशेषार्थ—ताम्बा, सीसा, सज्जी, गूगल आदिको पकाकर जो काढ़ा तैयार होता है उसे कलकल कहते हैं।

गा०—बलपूर्वक यंत्रके द्वारा तुम्हारा मुंह फाड़कर जो तुम्हें जलते हुए लोहेके अंगार खिलाये गये और भट्टीमें मांडकी तरह पकाया गया तथा कड़ाहीमें तला गया ॥१५६५॥

---

१. दानुगच्छत तस्तत्र भय—अ० । दान्वत नक्रभूत—आ० । २. कारावशिलानालिकाभिः—अ० । याः तेषा ताः शिलाः पुनर्नि—मूलारा० । ३. तच्चिन्तय—मु० ।

कुट्टाकुट्टिं चुण्णाचुण्णिं मुग्गरमुसुंढिहत्थेहिं ।
जं पि सखंडाखंडिं कओ तुमं जणसमूहेण ॥१५६६॥

'कुट्टाकुट्टिं चुण्णो' यत्कुट्टितचूर्णितः मुद्गरमुसंढिहस्तैः, यच्च जनसमूहेन भवान् असकृत्खंडित-स्तदन्तःकरणे कुरु ॥१५६६॥

अनुकूलक्रिया भाषा सज्जनता सुखशीलता ।
लज्जा कृपा दमो दानं प्रसत्ती मार्दवं क्षमा ॥१॥
इत्येवमादयः सुगुणाः प्रशस्ता ये शरीरिणां ।
तेषु ते दुर्लभा नित्यं कान्तारेष्विव मानुषाः ॥२॥
शत्रुमित्रमुदासीन इत्यन्यत्र त्रिधा जनः ।
शत्रुरेव हि सर्वोऽत्र जनः सर्वस्य नारकः ॥३॥
चक्रैः कणयैश्चक्रैर्नखैर्गदाभिः क्रकचैर्मलैः ।
गदाभिर्मुसलैः शूलैः प्रासैः पाषाणवह्निजैः ॥४॥
मुष्टिभिर्यष्टिभिर्लोष्टैः शङ्कुभिः शक्तिभिः शरैः ।
असिभिः क्षुरिकाभिश्च कुन्तैर्दण्डैः सतोमरैः ॥५॥
तथा प्रकारैरन्यैश्च निशितैर्नैकसंस्थितैः ।
भूस्वभावात्स्वयं जातैर्विक्रियैरपि चायुधैः ॥६॥
नारकास्तत्र तेऽन्योन्यं रोषवेगेन पूरिताः ।
पूर्ववैराण्यनुस्मृत्य विभंगज्ञानसंभवात् ॥७॥
घ्नंति छिन्दति भिंदंति खादंति च तुदंति च ।
विध्यंति पाशैर्बध्नंति प्रहरन्ति हरन्ति च ॥८॥
श्वशृंगालवृकव्याघ्रगृध्रकरूपाणि चापरे ।
विकृत्य विविधं पापा खादंतेऽत्र परस्परं ॥९॥

गा०—टी०—अनेक बार हाथमें मुद्गर लेकर तुम्हें कूटा गया, मूसलोंसे जनसमूहने तुम्हें चूर्ण कर डाला। उसका मनमें विचार करो।

अनुकूल क्रिया, भाषा, सज्जनता, नम्रता, सुखशीलता, लज्जा, दया, इन्द्रिय दमन, दान, प्रसन्नता, मार्दव, क्षमा आदि जो प्रशस्त सुगुण प्राणियोंमें होते हैं वे गुण नरकमें वैसे ही दुर्लभ हैं जैसे घोर वनमें मनुष्यका मिलना दुर्लभ है। अन्यत्र शत्रु, मित्र और उदासीन तीन प्रकारके लोग होते हैं। किन्तु नारकी सब सबके शत्रु ही होते हैं। नरकमें नारकी अपने विभंगज्ञानसे पूर्व जन्मके वैरोंको स्मरण करके और क्रोधसे भरकर चक्र, बाण, करोंत, नख, गदा, मूसल, शूल, भाला, पाषाणसे निर्मित अस्त्र विशेष, मुट्ठी, लकड़ी, लोष्ट, शङ्कु, शक्ति, तलवार, छुरी, भाला, दण्डा, गुर्ज तथा इसी प्रकारके अन्य तीक्ष्ण अस्त्र शस्त्रोंसे जो वहाँकी पृथिवीके स्वभावसे स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं तथा विक्रियासे निर्मित आयुधसे परस्परमें मारते हैं, छेदते भेदते हैं, खाते हैं कोंचते हैं, प्रहार करते हैं, बाँधते हैं। अन्य नारकी कुत्ता, सियार, भेड़िया, व्याघ्र, गृद्ध

काष्ठशैलशिलारूपैर्निपतंति च केचन ।
पततस्तान्समीक्ष्यान्ये ते च शूलाग्रसंस्थिताः ॥१०॥
मज्जयंति जलीभूय वायुभूय धुनंति च ।
दहंति दहनीभूय न दयंति परस्परं ॥११॥
तिष्ठ दासीव हन्मि त्वां त्वं कुतस्त्यः पलायसे ।
निगृह्यसे महामोहान्मृत्युस्ते समुपस्थितः ॥१२॥
छिंद्धि भिंद्धि गृहाणैनं बंधि हंधि ज्वालय तं ।
वधानेनं गृहाणाशु बहु भाषध मारय ॥१३॥
प्रबंधे पातयत्येतेष्वेतेषु चिरं प्रवीक्ष्य ।
विवशेति च संरभ्य तं मुंचंति निरोऽशुभाः ॥१४॥

अनेनेदृशा नारकेण प्रापितवेदनां बुद्धि निरूपयति—

जं [1]अवट्ठुदो उप्पाडिदाणि अच्छीणि णिरयवासम्मि ।
अवसस्स उक्खया जं ससूलमूलाय ते जिब्भा ॥१५६७॥

'जं अवट्ठुदो उप्पाडिदाणि' शिरःपृष्ठदेशादुत्पाटिते । 'अच्छीणि' लोचने । 'णिरयवासे य' नरकवासे च । 'अवसस्स' अवशस्य । 'उक्खाता' उत्पाटिता । 'जं' यत् । 'ससूलमूलाय ते जिब्भा' निरवशेषा ते जिह्वा ॥१५६७॥

कुंभीपाएसु तुमं उक्कढिओ जं चिरं पि[2] वं सोल्लं ।
जं सुठ्ठिउव्व णिरयम्मि पउलिदो पावकम्मेहिं ॥१५६८॥

'कुंभीपाएसु तुमं' कुंभीपाकेषु त्वं । 'उक्कड्ढिओ' उत्क्वथितः । 'जं सुट्ठिउव्व' शूलप्रोतमांसवत् । 'णिरयम्मि' नरके । 'सोल्लिओ' अंगारप्रकरे पक्वः । 'पावकम्मेहिं' पापकर्मभिः ॥१५६८॥

आदिका रूप अपनी विक्रियासे बनाकर विस्तारपूर्वक परस्परमें कष्ट देते हैं। कुछ काष्ठ, पर्वत और शिलारूप बनकर उनपर बरसते हैं। उनको अपने ऊपर गिरते देखकर दूसरे नारकी जो सूलीके अग्र भागपर टँगे होते हैं उन्हें ग्रहण करते हैं। वे नारकी जल बनकर दूसरे नारकियोंको डुबाते हैं, वायु बनकर उड़ाते हैं। आग बनकर जलाते हैं। परस्परमें दया नहीं करते। अरे दासीपुत्र ! ठहर, कहाँ भागा जाता है। मैं तुझे मारूँगा। तेरी मृत्यु आ गई है। इसका छेदन करो, भेदन करो, पकड़ लो, खींच लो, मार डालो, जला डालो, चीर दो इत्यादि अशुभ वचन बोलते हैं ॥१५६६॥

नारकी जीवने इस प्रकार जो वेदना भोगी उसे कहते हैं—

गा०—नरकमें सिरके पिछले भागसे तेरी आँखें निकाली गई। और पराधीनतावश तेरी पूरी जिह्वा जड़मूलसे उखाड़ी गई ॥१५६७॥

गा०—पापी नारकियोंके द्वारा नरकमें तुम चिरकाल तक कुम्भीपाकमें औटाये गये। तथा सूलमें पिरोये मांसकी तरह अंगारोंपर पकाये गये ॥१५६८॥

---

१. आवट्ठदो मु० । अवट्ठुदो मूलारा० । २. पि सोल्लमो अ० आ० । सोल्लं शूलनिचित तैलं भक्ष्यमेव इत्यन्यः—मूलारा० ।

'सत्तीहिं' शक्तिभिः । 'तिसूलमीहिं य' अयोमयकण्टकमयैर्दण्डैः । 'अदयाए' दयामन्तरेण । 'खुंचिदो' परा-कर्षितः ॥१५७३॥

पगलंतरुधिरधारो पलंबचम्मो पभिन्नपोट्टसिरो ।
पउलिदहिदओ जं फुडिदच्छो पडिचूरियंगो य ॥१५७४॥

'पगलंतरुधिरधारो' प्रगलद्रुधिरधारः । 'पलंबचम्मो' प्रलम्बत्वक् । 'पभिन्नपोट्टसिरो' प्रभिन्नोदर शिराः । 'पउलिदहिदओ' प्रतप्तहृदयः । 'जं' यत् । 'फुडिदच्छो' स्फुटितलोचनः । 'पडिचूरिदंगो य' परिचूर्णिताङ्गः ॥१५७४॥

जं [1]वडवडिदकरचरणंगो पत्तो सि वेदणं तिव्वं ।
णिरए अणंतखुत्तो तं अणुचिंतेहि णिस्सेसं ॥१५७५॥

'जं' यत् । 'वडवडिदकरचरणंगो' वेपमानकरचरणाङ्गः । 'पत्तो सि वेदणं तिव्वं' प्राप्तोऽसि वेदना तीव्रां । 'णिरए' नरके । 'अणंतखुत्तो' अनंतवारं तत् 'अणुचिंतेहि' अनुक्रमेण चिन्तय । 'णिस्सेसं' निरवशेषं ॥ नरकगतिदुःखं वर्णितम् ॥१५७५॥

तिरियगदिं अणुपत्तो भीममहावेदणाउलमपारं ।
जम्मणमरणरहट्टं अणंतखुत्तो परिगदो जं ॥१५७६॥

'तिरियगदिं अणुपत्तो' तिर्यग्गतिमनुप्राप्तः । 'भीममहावेदणाउलमपारं' । भीममहावेदनाकुलमपारं 'जम्मणमरणरहट्टं' जन्ममरणघटीयंत्रं । 'अणंतखुत्तो' अनंतवारं । 'परिगदो' परिप्राप्तोऽसि । यत् चिंतेहि तं इति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । तिर्यंचो हि नानाविधाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसभेदेन ॥१५७६॥

हवा की गई जिससे वेदना बढ़े । फिर शक्ति नामक अस्त्रसे और लोहेके दण्डेसे जिसके आगे कांटे लगे हों, निर्दयतापूर्वक खींचे गये ॥१५७३॥

गा०—रुधिरकी धार बह रही है, चमड़ा लटक रहा है, उदर और सिर फट गया है, हृदय दुःखसे संतप्त है, आँखें फूट गई हैं । समस्त शरीर छिन्न-भिन्न है ॥१५७४॥

गा०—हाथ पैर कांपते हैं । ऐसी दशामें तुमने नरकमें जो अनन्त बार तीव्र कष्ट भोगा उस सबका क्रमसे चिन्तन करो ॥१५७५॥

नरकगतिके दुःखका वर्णन समाप्त हुआ ।

गा०-टी०—नरकसे निकलकर तुम तिर्यञ्चगतिमें आये । यह जन्म मरणरूपी घटीयंत्र (रहट) भयानक महावेदनाओंसे भरा है, इसका पार नहीं है । इसे तुमने अनन्तवार प्राप्त किया है । तिर्यञ्च पृथिवी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और त्रसके भेदसे अनेक प्रकारके हैं ॥१५७६॥

---

१. वडवडंत—मु०, मूलारा० ।

आत्मानुभूतान्यपि न स्मरन्ति दुःखानि केचिद्धि नराः प्रमत्ताः ।
दृष्टश्रुतान्यन्यसमुद्भवानि ते विस्मरन्तीति न विस्मयोऽत्र ॥१॥
प्रमादलोपार्थमतो नरेभ्यो ज्ञातोऽपि सोऽर्थः परिकथ्य एवं ।
संस्मार्यमाणे प्रभवन्ति यस्मिन्गुणा न दोषाश्च समुद्भवन्ति ॥२॥
शीते निवातं सलिलानि घर्मे भीतौ क्षेमं [illegible] संश्रयितुं समर्थाः ।
ये जंगमास्ते न तु सन्ति शक्तिरेकेन्द्रियाणां बत जीवकानां ॥३॥
सर्वोपसर्गानिह मोक्षकामा यथा विरागा मुनयः सहन्ते ।
सर्वोपसर्गानवशा वराका एकेन्द्रिया ये च सदा सहन्ते ॥४॥
जात्यन्धमूका बधिराश्च बाला रथ्यासु रक्षाशरणप्रहीनाः ।
प्रमर्द्यमाना गजवाजियानैर्यथा म्रियेरन् विवशा वराकाः ॥५॥
तथा प्रकारो विकलेन्द्रियाणां प्रवर्तते नारकदुःखतुल्यः ।
मृत्युः समन्तात् सततं सुघोरो ग्रामेष्वरण्येषु च निःशरण्यः ॥६॥
गोऽजाविकाद्यैः परिमर्द्यमाना शकटादिचक्रैः परिपिष्यमाणाः ।
अन्योन्यवक्त्रैः परिपीड्यमानाः दुःखं च मृत्युं च हि ते लभन्ते ॥७॥
छिन्नैः शिरोभिश्चरणैश्च भग्नैर्व्याधिप्रतीतावयवैश्च भूताः ।
चिरं स्फुरन्तः प्रतिकारहीनाः कृच्छ्रेण केचिज्जहति स्वमायुः ॥८॥
निमज्जमाना जलबिन्दुनापि निःश्वासवातैरपि जीवकानां ।
प्रपीड्यमाना लघुनोष्मणापि नश्यन्ति ये तेषु कथा भवेत् का ॥९॥

कितने ही प्रमादी मनुष्य अपने द्वारा अनुभूत दुःखोंको भी भूल जाते हैं। तब देखे हुए, सुने हुए और दूसरोंके भोगे हुए दुःखोंको भूल जायें तो इसमें क्या आश्चर्य है। अतः मनुष्योंके द्वारा जाना हुआ भी यथार्थ प्रमाद दूर करनेके लिये कहा जाता है। जिसका स्मरण होनेपर गुण प्रकट होते हैं और दोष प्रकट नहीं होते। जो जगम प्राणी होते हैं वे शीतमें वायु रहित स्थानमें, गर्मीमें जलादिमें, भय उपस्थित होनेपर निरापद स्थानमें आश्रय ले सकते हैं। किन्तु खेद है कि एकेन्द्रिय जीवोंमें ऐसी शक्ति नहीं होती। जैसे मोक्षके इच्छुक विरागी मुनि सब उपसर्गोंको सहते हैं। पराधीन बेचारे एकेन्द्रिय भी सब उपसर्गोंको सदा सहते हैं। जैसे जन्मसे अन्धे गूँगे बहरे बालक रक्षा और शरणसे विहीन हुए बेचारे विवश होकर मार्गोंमें हाथी घोड़े सवारी आदिसे कुचलकर मर जाते हैं। विकलेन्द्रिय जीवोंकी भी ऐसी ही दशा है। उनका दुःख भी नारकियोंके समान है। ग्रामों और वनोंमें भी उनको शरण नहीं है। उनकी घोर मृत्यु सदा होती रहती है। गाय बैल, बकरा मेढा आदिके द्वारा वे कुचले जाते हैं। गाड़ी आदिके चकोंके नीचे पिस जाते हैं। परस्परमें एक दूसरेके मुखोंके द्वारा पीड़ित होकर वे दुःख और मृत्युको प्राप्त होते हैं। सिरोंके भग्न हो जानेपर, पैरोंके टूट जानेपर तथा शरीरके अवयवोंके रोगसे ग्रस्त होनेपर वे चिरकाल तक तड़फड़ाते रहते हैं, उनका कोई इलाज नहीं करता। बड़े कष्टसे वे आयु पूरी करते हैं। जो जलकी एक बूंदमें भी डूब जाते हैं, प्राणियोंके श्वासकी वायुसे भी पीड़ित होते हैं। जरा सी भी गर्मीसे पीड़ित होनेपर मर जाते हैं उनकी क्या कथा कही जाये ?

---

१. भवे मु० । २. म्रियेते मु० ।

सरः प्रविश्येह यथा नरः स्यान्मुहुर्मज्जनं चैव निमज्जनं च ।
क्रीडाप्रसक्तो बहुशोऽपि कुर्वन्निमज्जनोन्मज्जनं स्ववशो वयस्कः ॥१०॥
प्रविश्य जन्मोदधिमध्यमेवं शरीरिणस्ते बहु जन्ममृत्यून् ।
अन्तर्मुहूर्तेऽपि समाप्नुवन्ति पेपीयमानाः कटुदुःखतोयम् ॥११॥
सूक्ष्मैः शरीरैरपि ते महान्ति दुःखानि नित्यं समवाप्नुवन्ति ।
[1]स्थूलेषु देहेषु समीहितेषु दुःखोदयो देहिभिरेव दृष्टः ॥१२॥
येषां न माता न पिता न बन्धुर्न चापि मित्रं न गुरुर्न नाथः ।
न भेषजं नाभिजनो न भक्तं न ज्ञानमस्त्येव कुतः सुखं स्यात् ? ॥१३॥
मात्रा वियोगेऽपि सतीह तावद् दुःखाम्बु सोढुं न जनो क्षमेत ।
माता वियोगस्तु भवेन्न येषां स्यात्तं कथं ते न हि दुःखराशेः ॥१४॥
मा भैष मा भूत्तव दुः[2]खजालं मा खिद्य मा वेति वराककाणां ।
आश्वासको वाप्यनुकम्पिता वा तेषां जनः कोऽस्ति यथा नराणां ॥१५॥
तैस्तैः प्रकारैः सततं समन्ततश्चाप्यवहन्यमाना अपि मृत्युमुग्रं ।
करोति वा को ग्रहणं निरीक्ष्य विमुच्य संबन्धविदो मनुष्यान् ॥१६॥
अन्योन्यतो मर्त्यजनाच्च पापात् क्षुधादितश्चापि महाभयानि ।
पञ्चेन्द्रिया यानि समाप्नुवन्ति दुःखानि तेषामिह कोपमा स्यात् ॥१७॥
स्वसंभवान्स्वानपि भक्षयन्त [3]श्रुतास्तिरश्चोऽपि न निष्कृपाकाः ।
निहत्य खादन्तु परान्परेषु तिर्यक्षु किं विस्मयनीयमस्ति ॥१८॥

जैसे कोई स्वाधीन वयस्क पुरुष क्रीड़ासक्त हो, सरोवरमें प्रवेश करके बहुत बार जलमें डूबता और उतराता है। वैसे ही शरीरधारी प्राणी जन्मरूपी समुद्रके मध्यमें प्रवेश करके कटुक दुःखरूपी जलको पीते हुए एक अन्तर्मुहूर्तमें भी बहुत बार जन्म लेते और मरते हैं। यद्यपि उनके शरीर सूक्ष्म होते हैं फिर भी वे महान् दुःख भोगते हैं। स्थूल शरीर मिलने पर उनका दुःख अन्य प्राणी भी देख सकते हैं। जिनका न पिता है, न माता है, न बन्धु है, न मित्र है, न गुरु है, न स्वामी है, न औषध है, न वंश है, न भोजन है और न ज्ञान है उन्हे सुख कैसे हो सकता है। माताका वियोग भी होनेपर इतना दुःख होता है जिसे मनुष्य सह नहीं पाता। जिनके माता ही नहीं है उनकी दुःख राशिका तो कहना ही क्या है। तुम मत डरो, तुम्हें दुःख न हो, इस प्रकार उन बेचारोंको मनुष्योंकी तरह न कोई सान्त्वना देनेवाला है और न कोई उनपर दया करनेवाला है। विभिन्न प्रकारोंसे निरन्तर सदा चहुँ ओरसे उग्र मृत्युको प्राप्त उन प्राणियोंको देखकर उनके सम्बन्धमें जानने वाले मनुष्योंके सिवाय अन्य कौन उनकी सुध लेता है। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च परस्परमें एक दूसरेसे, पापी मनुष्योंसे भूख प्यास आदिसे जिन महाभयकारी दुःखोंको प्राप्त होते हैं उनकी कोई उपमा नहीं है। वे अपने बच्चोंको भी खा जाते हैं। तिर्यञ्च भी दयाहीन नहीं सुने गये हैं। किन्तु जो अपने ही बच्चोंको खाते हैं वे यदि दूसरोंको खा जावें तो इसमें आश्चर्य ही क्या। वे परस्परमें एक दूसरेका घात करनेके लिये प्रहार करते हैं। उनको मारनेके लिये

---

१. स्थूलानुदेहेषु समीहितेषु सुखोदयो देहिभुर्नैव दृष्टः ।'—आ० । २. दुःख च स्या आविष्ट—आ० । ३. सुता आ० ।

अन्योन्यमत्तारमनुव्रजन्ति द्रुतं तमन्यः पुनरन्योऽनुयाति ।
तं कश्चिदन्यः खलु निहन्ति ही ! धिक्कष्टो जीवलोकं किमन्यत् ॥१९॥
अन्योन्यरन्ध्रेक्षणनष्टनिद्रा अन्योन्यमाहत्य जिजीविषन्तः ।
स्वस्थाश्च न येऽन्योन्यभयाच्छयन्ति किं ते भवेयुः सुखिनः कदाचित् ॥२०॥
वने मृगास्तोयतृणप्रपुष्टाः मृगीसहायाः रतिमानुवन्ति ।
व्याधादिभिर्भयमनुभवन्ति निरेनसः कारणमत्र कर्म ॥२१॥
वियोजिता आत्मसुतैश्च दुःखं यान्ति मृगैश्चात्मनोऽनुकूलैः ।
दिशासु दीनाश्चितिचिरीक्षमाणाः मृत्युं भयं दारुणमाप्नुवन्ति ॥२२॥
स्वभावपापाः कुकवीरितानिः श्रोतुमनर्हैः दुःश्रुतिभिः प्रवृत्ताः ।
अबिभ्यतो दुर्गतितो वधेषु घ्नन्तोऽभ्यवंस्तान् हितमामनन्ति ? ॥२३॥
वने मृगेभ्यः पिशिताशिभ्यो ग्रामेषु मनुष्याच्च पलाशिभ्यः ।
ते बिभ्यते न क्वचिदात्मवश्यं अनुचरा बिभ्रति जीवितानि ॥२४॥
मत्तद्विपाः अङ्कुशप्रहारैः अश्वाः कशाघातैश्च तथा वृषभाः ।
आमरणं तोत्रादिवधैः परेषां कुर्वन्ति कर्माणि परवशाः ॥२५॥
[illegible] वैराग्यनिमित्तम् ।
तासुग्निपात्रे बहवो हि जीवाः कथं सुखं [illegible] ॥२६॥
दवाग्निज्वालाभयवेगवाहैर्महाजलौघैश्च समूह्यमानाः ।
मृगाः खगाः सर्पसरीसृपाश्च सार्धं म्रियन्ते बहवो वनान्ते ॥२७॥

दूसरा पशु उसके पीछे लग जाता है। उसको भी कोई तीसरा मार देता है। धिक्कार है इसे, इससे भयानक और क्या हो सकता है। परस्परमें एक दूसरेके छिद्रोंको देखनेसे जिनकी नींद भाग जाती है, जो एक दूसरेको मारकर जीना चाहते हैं, जो परस्परमें एक दूसरेके भयसे स्वस्थ होकर सो नहीं सकते वे कभी सुखी कैसे हो सकते हैं? वनमें मृग जल और तृण खाकर पुष्ट होते हैं। हिरनी उनकी सहचरी होती है। परस्परमें प्रेमसे रहते हैं। बिना किसी अपराधके भी व्याध आदिसे उन्हें भय रहता है इसमें कारण उनका पूर्व कर्म है। उन्हें अपने बच्चोंसे वियोगका दुःख उठाना पड़ता है। अपने मनके अनुकूल मृगोंकी खोजमें दीन दृष्टिसे दिशाओंको देखा करते हैं और इस तरह भयंकर मृत्युको प्राप्त होते हैं। जो स्वभावसे ही पापी हैं, और कुकवियोंके द्वारा कही गई न सुनने योग्य कविताओंसे उत्साहित होकर, दुर्गतिसे भी नहीं डरते वे उन पशुओंको यथेच्छ मारते हैं और इसे हित मानते हैं। वनमें मांसाहारी पशुओंसे, ग्रामोंमें मांसाहारी मनुष्योंसे डरते हैं। वे कहीं भी अपनी इच्छानुसार निर्भय जीवन नहीं बिताते। हाथी अंकुश आदिके प्रहारोंसे, घोड़े कोड़े आदिकी मारसे और बैल पैनी आदिके घातसे मरणपर्यन्त दूसरोंका काम करते हैं। जो बुद्धिमान् हैं उनके वैराग्य उत्पन्न होनेमें यह सब ही निमित्त है। उनकी बहुतसी कोठियाँ हैं वे एक दूसरेको कष्ट कैसे दे सकते हैं। जंगलकी आगके वेगसे चलते हुए महाजलसमूहके प्रवाहसे बहाये जाते हुए मृग, पक्षी, सर्प, सरीसृप तथा अन्य भी बहुतसे जीव एक साथ मर जाते हैं ॥१५७६॥

---

१. ही धिक्क जीवलोकमितरां किमन्यत्' —आ० । २. मत्वायुतामायस—आ० । ३. न्यमिते नारस्य —आ० मु० ।

ताडणतासणबंधणवाहणलंछणविहेडणं[1] दमणं ।
कण्णच्छेदणणासावेहणणिल्लंछणं चेव ॥१५७७॥

'ताडणतासण' ताडनत्रासनबन्धनवाहनलाञ्छनविहेडनदमनकर्णच्छेदननासिकावेधनबीजविनाशनानि ॥१५७७॥

छेदणभेदणडहणं णिपीलणं गालणं छुहातण्हा ।
भक्खणमद्दणमलणं विकत्तणं सीदउण्हं च ॥१५७८॥

छेदनभेदनदहननिपीडनगालनानि क्षुत्तृष्णाभक्षणमर्दनमलनविकर्तनानि । शीतमुष्णं च ॥१५७८॥

जं अत्ताणो णिप्पडियम्मो बहुवेदणुद्दिओ पडिओ ।
बहुएहिं मदो दिवसेहिं चडप्फडंतो अणाहो तं ॥१५७९॥

'जं अत्ताणो' यदत्राणो । 'णिप्पडियम्मो' निष्प्रतीकारः । 'बहुवेदणद्दिओ' बहुवेदनार्दितः । 'पडिओ' पतितः । 'बहुगेहिं मदो दिवसेहिं' बहुभिर्मृतो दिवसैः । 'चडप्फडंतो' स्फुरद्देहः । 'अणाहो' अनाथः । 'तं' त्वं ॥१५७९॥

रोगा विविहा बाधाओ तह य णिच्चं भयं च सव्वत्तो ।
तिव्वाओ वेदणाओ धाडणपादाभिघादाओ ॥१५८०॥

'रोगा विविहा' व्याधयो नानाप्रकाराः । 'बाधाओ' बाधाश्च । 'तधा णिच्चं भयं च सव्वत्तो' नित्यं भयं च सर्वतः । 'तिव्वाओ वेदणाओ' तीव्रा वेदना घाटनपाताभिघाताश्च ॥१५८०॥

सुविहिय अदीदकाले अणंतकायं तुमे अदिगदेण ।
जम्मणमरण[3]मणंतं अणंतखुत्तो समणुभूदं ॥१५८१॥

'सुविहिद' सुचारित्र । 'अदीदकाले' अतीतकाले । 'अणंतकायं तुमे अदिगदेण' अनंतकायं त्वया प्रविष्टेन । 'जम्मणमरणमणंतं' जन्ममरणं चानन्तं । 'अणंतखुत्तो' अनन्तवारं क्षिप्तः । 'समणुभूदं' सम्यगनुभूतं ॥१५८१॥

गा०—लाठी आदिसे मारना, डराना, रस्सी आदिसे बांधना, बोझा लादकर देशान्तरमें ले जाना, गर्म लोहेसे दागना, पीड़ा देना, दमन करना, अण्डकोषोंको दबा देना । अंगोंको छेदना, भेदना, जलाना, दबाना, रोग आदि होनेपर रक्त निकालना, भूख प्यासकी बाधा, भक्षण, मर्दन, मलना, कान आदिको काटना, शीत उष्ण इत्यादि दुःख तिर्यञ्च गतिमें तुमने सहे हैं ॥१५७७-७८॥

गा०—जहाँ कोई रक्षक नहीं, कोई प्रतीकार नहीं, बहुत कष्टसे पीड़ित होकर गिरे और अनाथ दशामें तड़फड़ाते हुए तुम बहुत दिनोंमें मरे ॥१५७९॥

गा०—तिर्यञ्चगतिमें नाना प्रकारके रोग, नाना प्रकारकी बाधाएँ, सदा सब ओरसे भय, तीव्र वेदनाएँ, पैरसे मारना आदि कष्ट हैं ॥१५८०॥

गा०—हे चारित्रसे सम्पन्न क्षपक ! अतीतकालमें तुमने अनन्तकायमें जन्म लेकर अनन्त बार अनन्त जन्म मरणोंको भोगा ॥१५८१॥

१. णं गलणं आ० । २. णेण लंछण चेव—अ० । ३. चादंकं अणं—अ०, आ० ।

इच्चेवमादिदुक्खं अणंतखुत्तो तिरिक्खजोणीए ।
जं पत्तोसि अदीदे काले चिंतेहि तं सव्वं ॥१५८२॥

'इच्चेवमादिदुक्खं' इत्येवमादिदुःखं । 'अणंतखुत्तो' अनन्तवारं । 'तिरिक्खजोणीए' तिर्यग्योनौ । 'जं' यत् । 'पत्तोसि' प्राप्तोऽसि । 'अदीदकाले' अतीतकाले । 'चिंतेहि तं सव्वं' तत्सर्वं चिन्तय । तिरिक्खगदी ॥१५८२॥

देवत्तमाणुसत्ते जं ते जाएण सकयकम्मवसा ।
दुक्खाणि किलेसा वि य अणंतखुत्तो समणुभूदं ॥१५८३॥

'देवत्तमाणुसत्ते' देवत्वमानुषत्वयोः । 'जादेण' जातेन । 'सकयकम्मवसा' स्वकृतकर्मवशात् । 'दुक्खाणि किलेसा वि य' दुःखानि क्लेशाश्च । 'अणंतखुत्तो' अनन्तवारं समनुभूताः ॥१५८३॥

पियविप्पओगदुक्खं अप्पियसंवासदुक्खं च ।
[1]वेमणस्सदुक्खं जं दुक्खं पत्थिदालाभे ॥१५८४॥

'पियविप्पओगदुक्खं' प्रियविप्रयोगजातं दुःखं । 'अप्पियसंवासदुक्खं च' अप्रियैः सहवासेन जातं च दुःखं । येषां नामश्रवणेऽपि शिरःशूलो जायते, येषां दर्शनादक्षिणी घूर्णेते । 'वं वेमणस्सदुक्खं' वैमनस्यदुःखं 'पत्थिदालाभे जं दुक्खं' यद्दुःखं प्रार्थितालाभे ॥१५८४॥

परभिच्चदाए जं ते असब्भवयणेहिं कडुगफरुसेहिं ।
णिब्भच्छणावमाणणतज्जणदुक्खाइं पत्ताइं ॥१५८५॥

'परभिच्चदाए' परभृत्यतायां सत्यां 'ते' तव 'जं' यज्जातं । 'असब्भवयणेहिं' अशिष्टवचनैः । 'कडुग-फरुसेहिं' कटुकैः परुषैश्च । 'णिब्भच्छणावमाणणतज्जणदुक्खाइं' 'पत्ताइं' निर्भर्त्सनापमाननतर्जनदुःखानि प्राप्तानि ॥१५८५॥

हीणपरोसचिंतासोगामरिसग्गिपडलिदमणो जं ।
पत्तो घोरं दुक्खं माणुसजोणीए संतेण ॥१५८६॥

गा०—तिर्यञ्चयोनिमें तुमने अतीतकालमें अनन्तबार जो इस प्रकारके दुःख भोगे हैं उन सबका विचार करो ॥१५८२॥

गा०—अपने किये हुए कर्मके वशीभूत होकर तुमने देवपर्याय और मनुष्य पर्यायमें जन्म लिया और वहाँ भी अनन्तबार दुःख और क्लेशोंको भोगा ॥१५८३॥

गा०-टी०—प्रिय जनके वियोगका दुःख, अप्रियजनोंके साथमें रहनेका दुःख, जिनका नाम सुनकर भी सिरमें दर्द होता है, जिनके देखने मात्रसे आँखें लाल हो जाती हैं उन्हें अप्रिय कहते हैं। उनके साथमें रहनेका दुःख, वैमनस्यका दुःख और इच्छित वस्तुके न मिलनेका दुःख, तथा दूसरोंकी नौकरी करनेपर अशिष्ट और कटुक वचनोंका दुःख, धिक्कार, तिरस्कार, अपमान और डाँटनेका दुःख तुमने सहा है ॥१५८४-८५॥

---

१. जं ते माणसदुक्खं —मूलारा० ।

'दीणत्तरोससोगाचिंतासोगामरिसग्गिपज्जलिदमणो वि' दीनत्वरोषचिन्ताशोकामर्षाग्निभिः संतप्तमना सन् । 'पत्तो घोरं दुक्खं' प्राप्तं घोरं दुःखं । 'माणुसजोणीए संतेण' मनुष्ययोनौ सता भवता ॥१५८६॥

दंडणमुंडणताडणधरिसणपरिमोससंकिलेसा य ।
धणहरणदारधरिसणघरदाहजलादिधणणासं ॥१५८७॥

'दंडणमुंडण'—दण्डनमुण्डनताडनधर्षणपरिमोषणसंक्लेशाः धनापहरणदारधर्षणानि गृहदाहजलादिभिर्द्रविणनाशात् ॥१५८७॥

दंडकसालट्ठिहदाणि डंगुराकंटमद्दणं घोरं ।
कुंभीपाको मच्छयपलीवणं भत्तवुच्छेदो ॥१५८८॥

'दण्डकसालट्ठिहदाणि' दण्डकशायष्टिघातैस्ताडनानि दण्डादिकार्यत्वाद्दण्डादिशब्देनोच्यन्ते । डंगुरा मुष्टिप्रहाराः । 'कंटमद्दणं' कण्टकानामुपरि प्रक्षिप्य मर्दनं घोरं । कुम्भीपाकः । 'मत्थयपलीवणं' मस्तके अग्निप्रज्वालनं । 'भत्तवुच्छेदो' आहारनिरोधः ॥१५८८॥

दमणं च हत्थिपादस्स णिगलवंधूवरत्तरज्जूहिं ।
बंधणमाकोडणयं ओलंबणणिहणणं चेव ॥१५८९॥

'दमणं च हत्थिपादस्स' हस्तिपादेनोन्मर्दनं । 'णिगलवंधूवरत्तरज्जूहिं' निगलेन, अन्दुकाभिः, वरत्राभिः, रज्जुभिश्च बन्धनं । 'आकोडणयं' हस्तौ पृष्ठतो नीत्वा बन्धनं । 'ओलंबणं' ग्रीवाबद्धपाशस्य तरुशाखासु बन्धनं । 'णिहणणं' चेव गर्ते निक्षिप्य पूरणं ॥१५८९॥

कण्णोट्ठसीसणासाछेदणदंताण भंजणं चेव ।
उप्पाडणं च अच्छीणं तहा जिब्भायणीहरणं ॥१५९०॥

'कण्णोट्ठसीसणासाछेदणं' कर्णयोरोष्ठयोः, शिरसो, नासिकायाश्च छेदः । 'दंताण भंजणं चेव' दंतानां भञ्जनं । 'उप्पाडणं च अच्छीणं' अक्ष्णोरुत्पाटनं, तथा 'जिब्भाए णीहरणं' जिह्वानिर्हरणं ॥१५९०॥

गा०—दीनता, रोष, चिन्ता, शोक और क्रोधरूप आगसे मनके संतप्त होनेपर तुमने मनुष्ययोनिमें रहते हुए घोर दुःख पाया है ॥१५८६॥

गा०—राजा आदिसे दण्डित होना, सिर मुण्डा करा देना, पीटा जाना, तिरस्कारपूर्वक दोष लगाया जाना, चोरी होना, राजा आदिके द्वारा धनका हरण, स्त्रियोंको दोष लगाना, घरमें आग लगाना, बाढ़ वगैरहसे संपत्तिका नष्ट होना, डण्डे कोड़े लाठी आदिसे पीटा जाना, मुट्ठीका प्रहार होना, कांटोंके ऊपर लिटाकर घोर मर्दन करना, कड़ाहीमें डालकर पकाना, मस्तकपर आग जलाना, आहारका रोक देना इत्यादि दुःख तुमने मनुष्यगतिमें सहे हैं ॥१५८७–८८॥

गा०—हाथीके पैरसे दबाया जाना, सांकल, चमड़ेकी रस्सी या साधारण रस्सीसे बांधा जाना, दोनों हाथ पीछे करके बांधना, गर्दनमें रस्सी डालकर वृक्षसे लटकाना, गड्ढेमें डालकर उसे पूर देना। कान, ओष्ठ और नाक काटना, दांत तोड़ना, आंखें निकाल लेना, जीभ उखाड़ लेना, इत्यादि दुःख तुमने भोगे हैं ॥१५८९–९०॥

अग्गिविसचोरसप्पादिएहिं सीहादिसत्थघादेहिं ।
सीदुण्हदंसमसयादीहिं तण्हाछुहादीहिं ॥१५९१॥

'अग्गिविसचोरसप्पादिएहिं सीहादिसत्थघादेहिं' अग्नेर्विषस्य, चौराणां, सर्पादीनां सिंहादीनां, शस्त्रप्रहारस्य च घातैः । 'सीदुण्हदंसमसयादीहिं' शीतोष्णेन, दंशमशकैः, 'तण्हाछुहादीहिं' तृट्क्षुधादिभिः ॥१५९१॥

जं दुक्खं संपत्तो अणंतखुत्तो मणे सरीरे य ।
माणुसभवे वि तं सव्वमेव चिंतेहि तं धीर ! ॥१५९२॥

'जं दुक्खं संपत्तो' यद्दुःखं संप्राप्तः । 'अणंतखुत्तो' अनन्तवारं । 'मणे सरीरे य' मनसि शरीरे च । मानसं शारीरं च दुःखं प्राप्तः । 'माणुसभवे वि' मनुष्यभवेऽपि । 'तं सव्वमेव चिंतेहि' तत्सर्वमेव चिन्तय । 'तं धीर' त्वं धीर ! ॥१५९२॥

सारीरादो दुक्खादु होइ देवेसु माणसं तिव्वं ।
दुक्खं दुस्सहमवसस्स परेण अभिजुज्जमाणस्स ॥१५९३॥

'सारीरादो दुक्खादु' शारीराद्दुःखात् । 'होदि' भवति । 'देवेसु' देवेषु । 'माणसं तिव्वं' मानसं तीव्रं दुःखं । 'दुस्सह' सोढुमशक्यं । 'अवसस्स' अवशस्य । 'परेण' अन्येन 'अभिजुज्जमाणस्स' अभियुज्यमानस्य वाहनतां नीयमानस्य ॥१५९३॥

देवो माणी संतो पासिय देवे महड्ढिए अण्णे ।
जं दुक्खं संपत्तो घोरं भग्गेण माणेण ॥१५९४॥

'देवो माणी संतो' देवो मानी सन् । 'पासिय देवे' देवान् दृष्ट्वा । 'महड्ढिए' महर्द्धिकान् । 'अण्णे' अन्यान् । 'जं दुक्खं संपत्तो घोरं' यद्घोरं दुःखं प्राप्तः । 'भग्गेण माणेण' भग्नेन मानेन ॥१५९४॥

दिव्वे भोगे अच्छरसाओ अवसस्स सग्गवासं च ।
पजहंतगस्स जं ते दुक्खं जादं चयणकाले ॥१५९५॥

गा०—आग, विष, शत्रु, सर्प आदि तथा सिंह, शस्त्रके प्रहारसे घात, शीत, उष्ण, डांस मच्छर, भूख प्यास, इनसे तुमने मनुष्यभवमें जो शारीरिक और मानसिक दुःख पाया है, हे धीर ! उस सबका विचार करो ॥१५९१-१५९२॥

गा०—जब देवगतिमें अभियोग्य जातिका देव होकर वह परवश होकर इन्द्रादिके द्वारा वाहन बनाया जाता है तब उसे शारीरिक दुःखसे तीव्र मानसिक दुःख होता है जो असह्य होता है ॥१५९३॥

गा०—अभिमानी देव हुआ तो अन्य महर्द्धिक देवोंको देखकर मानका भंग होनेसे जो घोर दुःख हुआ उसका विचार करो ॥१५९४॥

गा०—परवश होकर दिव्य भोग, देवांगनाएँ और स्वर्गवास त्यागनेपर स्वर्गसे च्युत होते समय जो दुःख हुआ उसको स्मरण करो ॥१५९५॥

'चिरं जीवें' चिरमाप्नोम्यहम् । '[illegible]' [illegible]। '[illegible]' [illegible] च । '[illegible]' परित्यजतः । '[illegible]' परवशस्य । 'जं है दुक्खं जादं' यदस्य दुःखं जातं । '[illegible]' च्यवनकाले ॥१५९५॥

जं गब्भवासकुणिमं कुणिमाहारं छुहादिदुक्खं च ।
चिंतंतयस्स यं सुचिदुहिदस्स दुक्खं चयणकाले ॥१५९६॥

'जं गब्भवासकुणिमं' यद्गर्भवासकुथितं । 'कुणिमाहारं' कुथिताहारं । क्षुधादिदुःखं च । 'चिंतंतयस्स' चिन्तयतः । 'सुचिदुहिदस्स' शुचेः दुःखितस्य । 'जं दुक्खं चयणकाले' स्वर्गाच्च्यवनकाले ॥१५९६॥

एवं एदं सव्वं दुक्खं चदुगदिगदं च जं पत्तो ।
तत्तो अणंतभागो होज्ज ण वा दुक्खमिमगं ते ॥१५९७॥

'एवं एदं सव्वं' एवमेतत्सर्वं । 'दुक्खं चदुगदिगदं' दुःखं चतुर्गतिगतं । 'जं पत्तो' यत्प्राप्तवान् । 'तत्तो' ततः । 'अणंतभागो' अनन्तभागाः । 'होज्ज ण वा' भवेद्वा न वा । 'दुक्खमिमग ते' दुःखमिदं तव मनुजजन्मनि ॥१५९७॥

संखेज्जमसंखेज्जं कालं ताइं अविस्समंतेण ।
दुक्खाइं सोढाइं किं पुण अदिअप्पकालमिमं ॥१५९८॥

'संखिज्जमसंखिज्जं कालं' संख्यातमसंख्यातं वा कालं । 'ताइ दुक्खाइ सोढाइ' तानि दुःखानि सोढानि । 'अविस्समंतेण' विश्रामरहितेन । 'किं पुणे' किं पुनः सह्यते । 'अदिअप्पकालमिम' अत्यल्पकालमिदं दुःखं ॥१५९८॥

जदि तारिसाओ तुम्हे सोढाओ वेदणाओ अवसेण ।
धम्मोत्ति इमा सवसेण कहं सोढुं ण तीरेज्ज ॥१५९९॥

'जदि तारिसाओ' यदि तादृश्यः । 'तुम्हे सोढाओ वेदणाओ' त्वया सोढा वेदनाः । 'परवसेण'

गा०—पवित्र और सुखी देव स्वर्गसे च्युत होते समय विचारता है कि मुझे अब दुर्गन्धयुक्त गर्भमें आना होगा । वहाँ दुर्गन्धित भोजन होगा । भूख प्यासकी बाधा होगी । ऐसा विचार करते समय जो दुःख होता है उसका चिन्तन करो ॥१५९६॥

गा०—इस प्रकार चारों गतियोंमें तुमने जो यह सब दुःख भोगा है उसके अनन्तवें भाग दुःख इस मनुष्य जन्ममें हो न भी हो ॥१५९७॥

गा०—तुमने संख्यात वा असंख्यात काल पर्यन्त बिना विश्राम लिये ये दुःख सहे हैं । तब अति अल्पकालके लिये यह थोड़ासा दुःख क्यों नहीं सहते हो ॥१५९८॥

गा०–टी०—यदि तुमने परवश होकर उक्त प्रकारकी वेदनाएँ सही हैं तो इस समय इस वेदनाको धर्म मानकर स्वयं अपनी इच्छासे क्यों नहीं सहते ।

शंका—वेदना धर्म कैसे है ?

---

१. मिदं भवे मनु —आ० मु० ।

भयाभावेन । 'धम्मोत्ति' धर्म इति । 'इणमं' इदं वेदना । 'सव्वेसि' समस्तेभ्यः सता । 'सोढुं ण तीरेज्ज' सोढुं न शक्यते ? । कथं वेदना धर्मः ? उत्तमक्षमामार्दवार्जवादिभिः दशप्रकारो धर्म उच्यते । वेदनासहनं धर्म इति कृत्वा कथं न शक्यते सोढुं संबन्धोऽत्र ॥१५९९॥

[1]तण्हा अणंतखुत्तो संसारे तारिसी तुमं आसी ।
जं पसमेदुं सव्वोदधीणमुदयं ण तीरेज्ज ॥१६००॥
आसी अणंतखुत्तो संसारे दे छुधावि तारिसिया ।
जं पसमेदुं सव्वो पुग्गलकाओ ण तीरेज्ज ॥१६०१॥
जदि तारिसया तण्हा छुहा य अवसेण ते तदा सोढा ।
धम्मोत्ति इमा सवसेण कथं सोढुं ण तीरेज्ज ॥१६०२॥
सुदपाणएण अणुसट्ठिभोयणेण य [2]पुणो उवग्गहिएण ।
ज्झाणोसहेण तिव्वा वि वेदणा तीरदे सहिदुं ॥१६०३॥

'सुदपाणएण' विविधधर्मकथामृतपानेन । 'अणुसट्ठिभोयणेण य' अनुशासनभोजनेन । 'उवग्गहिएण' उपगृहीतेन । 'ज्झाणोसहेण' शुभध्यानौषधेन च । 'तिव्वा वि वेदणा' तीव्रापि वेदना । 'तीरदे सहिदुं' शक्यते सोढुं ॥१६००॥१६०१॥१६०२॥१६०३॥

भीदो व अभीदो वा णिप्पडियम्मो व सपडियम्मो वा ।
मुच्चइ ण वेदणाए जीवो कम्मे उदिण्णम्मि ॥१६०४॥

'भीदो व अभीदो वा' भीतोऽभीतो वा । 'णिप्पडियम्मो सप्पडियम्मो वा' निष्प्रतिकारः सप्रतिकारो वा । 'मुच्चदि ण वेदणाए जीवो' न मुच्यते वेदनाया जीवः । 'कम्मे उदिण्णम्मि' कर्मण्यसद्वेद्ये उदीर्णे ॥१६०४॥

समाधान—उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव आदिके भेदसे दस प्रकारका धर्म कहा है अतः वेदनाको सहना भी धर्म है ॥१५९९॥

गा०—हे क्षपक ! संसारमें तुम्हें ऐसी प्यासकी वेदना अनन्त बार हुई है जिसको शान्त करनेके लिये सब समुद्रोंका जल भी समर्थ नहीं है ॥१६००॥

गा०—संसारमें तुम्हें ऐसी भूखकी वेदना अनन्त बार हुई है जिसको शान्त करनेके लिये समस्त पुद्गल काय भी समर्थ नहीं है ॥१६०१॥

गा०—यदि तुमने परवश होकर वैसी भूख प्यासकी घोर वेदनाको सहा है तो अब धर्म मानकर इस वेदनाको स्वेच्छापूर्वक क्यों नहीं सहते ॥१६०२॥

गा०—तीन प्रकारकी धर्मकथाको कानोंके द्वारा पीकर, तथा गुरुकी शिक्षारूपी भोजन करके और शुभध्यानरूपी औषधको ग्रहण करके तीव्र भी वेदनाको सहा जा सकता है ॥१६०३॥

गा०—असातावेदनीय कर्मकी उदीरणा होनेपर डरो या न डरो, प्रतीकार करो या न करो, जीव वेदनासे छुटकारा नहीं पाता ॥१६०४॥

---

१. एतद् गाथाद्वयं टीकाकारो नेच्छति । २. पुणो उवग्गहिए—आ० ।

दुरिदस्स पावकम्मोदए ण करंति वेदणोवसमं ।
सुट्ठु पउत्ताणि वि ओसधाणि अदिवीरियाणी वि ॥१६०५॥

'दुरिदस्स पावकम्मोदयम्मि' पुरुषस्य पापकर्मोदये 'ण करेंति' न कुर्वन्ति । 'वेदणोवसमं' वेदनोपशमं । 'सुट्ठु पउत्ताणि वि' सुष्ठु प्रयुक्तान्यपि । 'ओसधाणि वि' औषधानि 'अदिवीरियाणि' अतिवीर्याण्यपि ॥१६०५॥

रायादिकुडुंबीणं अदयाए असंजमं करंताणं ।
धण्णंतरी वि कादुं ण समत्थो वेदणोवसमं ॥१६०६॥

'रायादिकुडुंबीणं' राजादीनां कुटुम्बीनां अनेक द्रव्यसंपत्परिचारकसंपत्प्रख्यातानां । 'अदयाए असंजमं करेंताणं' दयामन्तरेणासंयमं कुर्वतां । 'धण्णंतरी वि कादुं' धन्वंतरिरपि कर्तुं असमर्थः । 'वेदणोवसमं' वेदनाया उपशमं । वैद्यसंपत्ता धन्वन्तरेर्ग्रहणेन सूचिता ॥१६०६॥

किं पुण जीवणिकाये दयंतया जादणेण लद्धेहिं ।
फासुगदव्वेहिं करेंति साहुणो वेदणोवसमं ॥१६०७॥

'किं पुणं' किं पुनः । 'जीवणिकाए' जीवनिकायान् । 'दयंतया' दयमानाः । 'जायणेण लद्धेहिं' याच्ञया लब्धैः । 'फासुगदव्वेहिं' प्रासुकद्रव्यैः । 'करेज्ज' कुर्यात् । 'साहुणो वेदणोवसमं' साधोर्वेदनोपशमं । परिचारकसंपदभावो दर्श्यते 'जीवणिकाए दयंतया' इत्यमेन । यथा व्याधेरुपशमो भवति तथा कुर्वंति परिचारकाः । अमी पुनर्यतयः षड्जीवनिकायबाधापरिहारोद्यता स्वसंयमविनाशभीरवो । 'जायणेण लद्धेहिं' इत्यनेन द्रव्यसंपदभाव आख्यायते ॥१६०७॥

मोक्खाभिलासिणो संजदस्स णिधणगमणं पि होदि वरं ।
ण य वेदणामित्तं अप्पासुगसेवणं कादुं ॥१६०८॥

गा०—जब पुरुषके पापकर्मका उदय होता है तो अच्छी तरहसे प्रयुक्त और अतिशक्तिशाली भी औषधियाँ वेदनाको शान्त नहीं करतीं ॥१६०५॥

गा०-टी०—राजा आदि कुटुम्बी जिनके पास अनेक प्रकारकी धन-सम्पदा और सेवा करनेवाले दास-दासियोंकी प्रचुरता होती है, किन्तु जो दयाहीन होकर असंयमी जीवन बिताते हैं, उनकी वेदनाको शान्त करनेके लिये धन्वन्तरि भी समर्थ नहीं है। धन्वन्तरिपदसे वैद्यरूपी सम्पदाको सूचित किया है। अर्थात् धन्वन्तरि जैसा वैद्य भी उनकी वेदनाको दूर नहीं कर सकता ॥१६०६॥

गा०-टी०—तब जीवमात्रपर दया करनेवाले याचनासे प्राप्त प्रासुक द्रव्योंसे साधुकी वेदनाका उपशम कहाँ तक कर सकते हैं ? अर्थात् परिचारक साधु जहाँ तक शक्य होता है व्याधिको शान्त करनेका प्रयत्न करते हैं क्योंकि उनके पास परिचारक रूप सम्पदा—दासदासी तो हैं नहीं और यतिगण छह कायके जीवोंको बाधा न पहुँचे इसके लिये सदा तत्पर रहते हैं तथा अपने संयमके विनाशसे भी भयभीत रहते हैं। साथ 'याचनासे प्राप्त' कहनेसे उनके पास धनसम्पदाका भी अभाव कहा है ॥१६०७॥

'मोक्षाभिलाषिणो' निरवशेषकर्मापायाभिकाङ्क्षिणः। 'संजदस्स' प्राणसंयमवतः। 'णिव्वाणमवि य होदि वरं' मरणमपि वरं। 'ण य' नैव वरं युक्तं। 'वेदणादिमित्तं' वेदनोपशमार्थं। 'अण्णाजुग्गसेवणं कादु' अयोग्यद्रव्यसेवनं कर्तुम् ॥१६०८॥

णिव्वाणगमणं एयभवे णासो पुणो पुरिल्लजम्मेसु।
णासं असंजमो पुण कुणइ भवसएसु बहुगेसु ॥१६०९॥

'णिव्वाणगमणं एयभवे' निर्वाणगमनमेकभवे। 'णासो' नाशः। 'ण पुणो' न पुनर्नाशः। 'पुरिल्लजम्मेसु' भाविषु जन्मसु। 'असंजमो पुण' असंयमः पुनः। 'भवसएसु' जन्मशतेषु। 'बहुएसु' बहुषु। 'णासं कुणइ' नाशं करोति। वेदना हि न संयतमनुभवति रत्नत्रयभावनोद्यत। सा हि असातं मन्दं करोति। असंयमः पुन असद्वेद्यं प्रकृष्टानुभवं करोति। उक्तं च—'दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्येति' [त० सू० ६।११] ॥१६०९॥

ण करेंति णिव्वुइं इच्छया वि देवा सइंदिया सव्वे।
पुरिसस्स पावकम्मे अणक्कमग्गे उदिण्णम्मि ॥१६१०॥

'णं करेंति णिव्वुइं' न कुर्वन्ति निर्वृतिं। 'पुरिसस्स' पुरुषस्य। 'सइंदिया देवा सव्वे इच्छया वि' सेन्द्रकाः सर्वे देवा इच्छन्तोऽपि। 'पावकम्मे' पापकर्मणि। 'अणुक्कमगे' अनुक्रमके। 'उदिण्णम्मि' उदयमुपगते ॥१६१०॥

किह पुण अण्णो काहिदि उदिण्णकम्मस्स णिव्वुदिं पुरिसो।
हत्थीहिं अतीरंतं भंतुं भंजिहिदि किह ससओ ॥१६११॥

'किह पुण' कथं पुन। 'अण्णो काहिदि पुरिसो' अन्यः करिष्यति पुरुषः। 'उदिण्णकम्मस्स' उदया-

---

गा०—समस्त कर्मबन्धनके विनाशरूप मोक्षके अभिलाषी संयमीका मरण होना भी श्रेष्ठ है। किन्तु वेदनाकी शान्तिके लिये अप्रासुक अयोग्य द्रव्यका सेवन करना श्रेष्ठ नहीं है ॥१६०८॥

गा०-टी०—मरण होना, तो एक भवका ही विनाश है भावि जन्मोंका नाश नहीं है किन्तु असयम तो सैकड़ों जन्मोंको नष्ट कर देता है। जो संयमी रत्नत्रयकी भावनामें तत्पर रहते हैं वेदना उनको पीड़ा नहीं करती। क्योंकि रत्नत्रयको भावना असाताके उदयको मन्द करती है। और असंयम असातावेदनीयके अनुभागको बढ़ाता है। कहा भी है दुःख, शोक, पश्चात्ताप, रुदन, वध और हृदयको व्याकुल करनेवाला रुदन स्वयं करनेसे, दूसरोंमें करनेसे या दोनोंमें करनेसे असातावेदनीयका आस्रव होता है ॥१६०९॥

गा०—पुरुषके पापकर्मके अनुक्रमसे उदय आनेपर इन्द्रसहित सब देव इच्छा करनेपर भी सुखी नहीं कर सकते ॥१६१०॥

गा०—तब असातावेदनीय कर्मका उदय आनेपर अन्य साधारण पुरुष क्या कर सकते हैं? जिसे महाबलशाली हाथी भी तोड़नेमें असमर्थ है क्या उसे बेचारा कमजोर खरगोश तोड़ सकता है ॥१६११॥

---

१. अनुक्रमेण —आ०। अणवक्कमगे निष्प्रतीकारे —मूलारा०।

गतासह्वे शशकर्मन: । 'विप्पुढिं' विष्ठ्रति । 'हत्थीहिं अतीरंतं जंतु' हस्तिभिर्महाबलैः कर्तुमशक्यं वस्तुज्ञानं । 'किंच ससगो भंजीहिं' कथं स्वल्पप्राणो भङ्क्ष्यति शशकः ॥१६११॥

ते अप्पणो वि देवा कम्मोदयपच्चयं मरणदुक्खं ।
वारेदुं ण समत्था घणिदं पि विकुव्वमाणा वि ॥१६१२॥

'ते देवा अप्पणो वि कम्मोदयपच्चयं मरणदुक्खं' ते देवाः सेन्द्रकाः आत्मनोऽपि कर्मोदयहेतुकं मरणदुःखं 'वारेदुं ण समत्था' निवारयितुं न समर्था. । 'घणिदंपि विकुव्वमाणा' नितरां विक्रियां कुर्वन्तोऽपि ॥१६१२॥

[1]उज्झंति जत्थ हत्थी महाबलपरक्कमा महाकाया ।
सुत्ते तम्मि वहंते ससया [2]ऊढेल्लया चेव ॥१६१३॥

'उज्झंति' यस्मिन् स्रोतसि हस्तिनः ऊह्यंते महाबलपराक्रमा महाकायाः । तस्मिन् स्रोतसि वहन्ति शशका गता एव ॥१६१३॥

किह पुण अण्णो मुच्चहिदि सगेण उदयागदेण कम्मेण ।
तेलोक्केण वि कम्मं अवारणिज्जं खु समुवेदं ॥१६१४॥

'किह पुण अण्णो मुच्चहिदि' कथं पुनरन्यो मोक्ष्यते, स्वेन कर्मणा उदयागतेन । त्रैलोक्येनापि कर्मानिवार्यमेव समुपगतं ॥१६१४॥

कह ठाइ सुक्कपत्तं वाएण पडंतयम्मि मेरुम्मि ।
देवे वि य विहेडयदो कम्मस्स तुमम्मि का गण्णा ॥१६१५॥

'कह ठाइ सुक्कपत्तं' कथं तिष्ठेत् शुष्कपत्रं । वातेन पतति मेरौ । अणिमाद्यष्टगुणसंपन्नान्देवानपि कुत्सीकुर्वतः कर्मणो भवत्यल्पबले का संज्ञा ॥१६१५॥

गा०—वे देव कर्मके उदयके कारण होनेवाले अपने भी मरणके दुःखको दूर करनेमें समर्थ नहीं है यद्यपि वे दिव्यशक्तिसे सम्पन्न होनेसे अनेक प्रकारकी विक्रिया करनेमें समर्थ होते हैं ॥१६१२॥

गा०—जिस प्रवाहमें महाबली, महापराक्रमी और विशाल शरीरवाले हाथी बह जाते हैं उस प्रवाहमें बेचारे खरगोश स्वयं ही बह जाते हैं ॥१६१३॥

गा०—जब देव भी अपने उदयागत कर्मको टालनेमें असमर्थ है तब अन्य साधारण प्राणी अपने उदयागत कर्मसे कैसे छूट सकता है ? उदयागत कर्मको तीनों लोक भी नहीं टाल सकते ॥१६१४॥

गा०—जिस वायुसे मेरुपर्वतका पतन हो सकता है उसके सामने सूखा पत्ता कैसे ठहर सकता है ? इसी प्रकार जो कर्म अणिमा आदि आठ गुणोंसे सम्पन्न देवोंकी भी दुर्गति कर देता है उसके सामने तुम्हारे जैसे मरणोन्मुख मनुष्यकी क्या गिनती है ॥१६१५॥

---

१. वुज्झंति—मूलारा० । २ शढिल्लिया अ० आ० ज० । वूढेल्लया मूलारा० ।

कम्माइं बलियाइं बलिओ कम्मादु णत्थि कोवि जगे ।
सव्वबलाइं कम्मं मलेदि हत्थीव णलिणिवणं ॥१६१६॥

'कम्माइं' कर्माणि बलवंति, कर्मभ्यो बलवान्नास्ति जगति । कस्मात्कस्मात्सर्वाणि बंधुविद्याद्रव्य-शरीरपरिवारबलानि कर्म मर्द्दयति हस्तीव नलिनवनं ॥१६१६॥

इच्चेवं कम्मुदओ अवारणिज्जोत्ति सुट्ठु णाऊण ।
मा दुक्खायसु मणसा कम्मम्मि सगे उदिण्णम्मि ॥१६१७॥

'इच्चेवं कम्मुदओ' इतिशब्दः प्रक्रांतपरिसमाप्तिं सूचयति । एवं इत्युक्तपरामर्शः । 'कम्मुदओ' कर्मोदय. । 'अवारणिज्जोत्ति' अनिवार्य इति । 'सुट्ठु णाऊण' सम्यग्ज्ञात्वा । 'मा दुक्खायसु मणसा' मा कार्षीर्दुःखं मनसा । 'कम्मम्मि सगे उदिण्णम्मि' कर्मणि स्वके उदीर्णे ॥१६१७॥

पडिकूविदे विसण्णे रडिदे दुक्खाइदे किलिट्ठे वा ।
ण य वेदणोवसामदि णेव विसेसो हवदि तिस्से ॥१६१८॥

'पडिकूविदे' परिदेवने कृते शोके । विषादे रटने, दुःखे, संक्लेशे वा न वेदनोपशाम्यति । नापि कश्चिदतिशयो भवति वेदनायाः ॥१६१८॥

अण्णो वि को वि ण गुणोत्थ संकिलेसेण होइ खवयस्स ।
अट्टं सुसंकिलेसो ज्झाणं तिरियाउगणिमित्तं ॥१६१९॥

'अण्णो वि को वि ण गुणोत्थ' अन्योप्यत्र गुणो न कश्चिच्छोकादिना संक्लेशेन । प्रेक्षापूर्वकारिणो हि तत्कर्तुं प्रारंभंते यस्य साध्यं फलं अस्ति । संक्लेशेन न किंचित् अपि मुमुक्षोः फलं अपि तु संक्लेशपरिणामो ह्यार्तं ध्यानममनोज्ञविप्रयोगाख्यं तच्च तिर्यगायुषो निमित्तं । ततोऽल्पदुःखभीरुं भवंतं त्वदीयः संक्लेशो दुस्तरे तिर्यगावर्ते निपातयतीति भयोपदर्शनं कृतं ॥१६१९॥

गा०—कर्म बड़े बलवान हैं। जगत्में कर्मसे बलवान कोई नहीं है। जैसे हाथी कमलोंके वनको रौंद डालता है। वैसे ही कर्म बन्धु, ज्ञान, द्रव्य, शरीर और परिवार आदि सब बलोंको नष्ट कर देता है। कर्मके सामने ये सब बल क्षीण हो जाते हैं ॥१६१६॥

गा०—इस प्रकार कर्मका उदय अनिवार्य है उसे रोका नहीं जा सकता इस बातको अच्छी तरहसे जानकर अपने कर्मका उदय आनेपर मनमें दुःख मत करो ॥१६१७॥

गा०—रोनेपर, विषाद करनेपर, चिल्लानेपर अथवा दुःख और संक्लेश करनेपर वेदना शान्त नहीं होती और उसमें कोई विशेषता भी नहीं आती ॥१६१८॥

गा०-टी०—शोक आदि संक्लेश करनेसे क्षपकका कोई अन्य लाभ भी नहीं है। बुद्धिमान पुरुष उसी कार्यको करना प्रारम्भ करते हैं जिससे कोई लाभ होता है। संक्लेशसे मुमुक्षुका जरा भी लाभ नहीं है। बल्कि इष्ट वियोग नामक आर्तध्यान संक्लेश परिणामरूप होनेसे तिर्यञ्चायुके बन्धका कारण है अतः थोड़ेसे दुःखसे डरनेवाले आपको तुम्हारा संक्लेश ऐसी तिर्यञ्चगतिरूपी भँवरमें डाल देगा जिससे निकलना बहुत कठिन है ॥१६१९॥

संक्लेशस्य नैरर्थक्यप्रकटनार्थोत्तरगाथा—

हदमाकासं मुट्ठीहिं होइ तह कंडिया तुसा होंति ।
सिगदाओ पीलिदाओ घुसिलिदमुदयं च होइ जहा ॥१६२०॥

'हदमाकासं' हतं मुष्टिभिराकाशं ताडितुं । तुषकंडनं तंडुलार्थं । सिकतापीडनं तिलयंत्रे तैलार्थं । जलमंथनं च घृतार्थं यथापार्थकं तथानर्थकः संक्लेशो वेदनाकुलस्य । वेदनायाः अनिराकरणत्वान्नैरर्थक्य-साम्यादभेदोपन्यासो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः ॥१६२०॥

पुव्वं सयमुवभुत्तं काले णाएण तेत्तियं दव्वं ।
को धारणिओ धणिदस्स देंतओ दुक्खिओ होज्ज ॥१६२१॥

'पुव्वं सयमुवभुत्तं' पूर्वं स्वयमुपभुक्तं । काले 'णाएण' न्यायेन । 'तेत्तियं दव्वं' तावद्द्रव्यं । 'को दुक्खिओ होज्ज धारणिगो' को दुःखितो भवेदधमर्णः । 'धणिदम्मि' उत्तमर्णे । 'हरंते' स्वं द्रव्य हरति ॥१६२१॥

तह चेव सयं पुव्वं कदस्स कम्मस्स पाककालम्मि ।
णायागयम्मि को णाम दुक्खिओ होज्ज जाणंतो ॥१६२२॥

'तह चेव' तथा चैव । 'सयं पुव्वं कदस्स कम्मस्स' आत्मना पूर्वं कृतस्य कर्मणः । 'पाककालम्मि' फलदानकाले न्यायेनागते । 'को णाम दुक्खिदो होज्ज जाणंतो' को नाम दुःखितो भवेज्ज्ञानी ॥१६२२॥

इय पुव्वकदं इणमज्ज महं कम्माणुगत्ति णाऊण ।
रिणमुक्खणं च दुक्खं पेच्छसु मा दुक्खिओ होहि ॥१६२३॥

'इय पुव्वकदं' 'इय' एवभूतं । 'दुक्खं पुव्वकदं' पूर्वकर्मणा कृतं । 'इणं' इदं दुःखं । 'अज्ज' अद्य । 'महं कम्माणुगत्ति' मम कर्मणामिति । 'णाऊण' ज्ञात्वा । 'रिणमुक्खणं वा' ऋणमोक्षण इव । 'दुक्खं पिच्छसु' दुःखं प्रेक्षस्व । 'मा दुक्खिदो होहि' दुःखितो मा भूः ॥१६२३॥

आगे संक्लेशकी निरर्थकता बतलाते हैं—

गा०—जैसे मुट्ठियोसे आकाशको मारना, चावलके लिये उसके छिलकोंको कूटना, तेलके लिये कोल्हूमें रेत पेलना, और घीके लिये जलको मथना निरर्थक है उसी प्रकार वेदनासे पीड़ित व्यक्तिका संक्लेश करना निरर्थक है। संक्लेश करनेसे वेदना दूर नहीं होती है अतः निरर्थक होनेसे दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिमें समानता है ॥१६२०॥

गा०—जैसे कोई क़र्जदार साहूकारसे ऋण लेकर स्वयं उसका उपभोग करता है। और ऋण चुकानेका समय आनेपर उतना ही द्रव्य देते हुए उसे दुःख नहीं होता। उसी प्रकार पूर्वमें स्वयं बांधे हुए पापकर्मका फल भोगनेवाले ज्ञानीको दुःख कैसा ? अतः पूर्वमें बांधे गये कर्मका उदयकाल आनेपर कौन ज्ञानी दुःखी होता है ॥१६२१–२२॥

गा०—यह दुःख मेरे पूर्वमें किये गये कर्मोंका ही फल है ऐसा जानकर दुःखको ऋण मुक्तिके समान देखो। दुःखी मत होओ ॥१६२३॥

पुव्वकदमज्झ कम्मं फलिदं दोसो ण इत्थ अण्णस्स ।
इदि अप्पणो पओगं णच्चा मा दुक्खिदो होहि ॥१६२४॥

'पुव्वकदमज्झ कम्मं' पूर्वकृत मदीयं कर्म, 'फलिदं' फलित । 'दोसो ण एत्थ अण्णस्स' दोषो नैवान्यस्य इति । 'अप्पणो पओगं' 'णच्चा' ज्ञात्वा । 'मा दुक्खिदो होहि' मा कृथा दुःखं ॥१६२४॥

जदिदा अभूदपुव्वं अण्णेसिं दुक्खमप्पणो चेव ।
आदं हविज्ज तो णाय होज्ज दुक्खाइदुं जुत्तं ॥१६२५॥

'जदिदा' यदि तावत् । दुःखमन्येषा अभूतपूर्वं । 'अप्पणो चेव' आत्मन एव 'आदं हविज्ज' 'जातं भवेत्' 'तो णाम होज्ज दुक्खाइदुं जुत्तं' । ततो नाम दुःखं कर्तुं युक्तं ॥१६२५॥

सव्वेसिं सामण्णं अवस्सदायव्वयं करं काले ।
णाएण य को दाऊण णरो दुक्खादि विलवदि वा ॥१६२६॥

'सव्वेसिं सामण्णं' सर्वेषां भव्यानां श्रामण्यं । 'काले' कर्मविनाशनकाले । 'अवस्स दायव्वयं' अवश्यं दातव्यं । यस्मात्तस्मात् । 'करं' करशब्दवाच्यं 'दाऊण' दत्वा । 'णाएण य' न्यायेन च 'को णरो दुक्खादि विलवदि वा' को नरो दुःखं करोति विलपति वा ॥१६२६॥

सव्वेसिं सामण्णं करभूदमवस्सभाविकम्मफलं ।
इण मज्ज मेत्ति णच्चा लभसु सदिं तं धिदिं कुणसु ॥१६२७॥

'सव्वेसिं' सर्वेषां विनेयानां । 'सामण्णं करभूदं' श्रामण्यं करभूतं । 'अवस्सभाविकम्मफलं' अवश्यभाविकर्मफलं । 'इणमज्झमेत्ति' इदंश्रामण्यं अद्य करभूतं ममेति । 'णच्चा' ज्ञात्वा । 'लभसु सदिं' स्मृतिं प्रतिपद्यस्व । 'तं' त्वं 'धिदिं कुणसु' धृतिं कुरु ॥१६२७॥

अरहंतसिद्धकेवलि अविउत्ता सव्वसघसक्खिस्स ।
पच्चक्खाणस्स कदस्स भंजणादो वरं मरणं ॥१६२८॥

गा०—यह मेरे पूर्वकृत कर्मों का फल है। इसमें किसी दूसरेका दोष नहीं है। अतः इसे अपना ही प्रयोग जानकर दुःखी मत होओ ॥१६२४॥

गा०—हे क्षपक ! यदि यह दुःख दूसरोंको पहिले कभी नहीं हुआ और तुमको ही हुआ होता तो दुःख करना युक्त था ॥१६२५॥

गा०—कर्मों के विनाशका समय आनेपर सभी भव्य जीवोंको मुनिपद अवश्य धारण करना होता है। इसलिये इसे 'कर' कहा है। इस करको न्यायपूर्वक देकर कौन मनुष्य दुःखी होता है या विलाप करता है ॥१६२६॥

गा०—सभी मोक्षमार्गियोंके लिये यह श्रामण्य अवश्य भाविकर्मफल होनेसे करके समान देय है अर्थात् सभीको मुनिपद धारण करना होता है। आज यह श्रामण्य मेरे लिये करके समान देय है ऐसा जानकर अपने स्वरूपका स्मरण करो और धैर्य धारण करो ॥१६२७॥

'अरहंत सिद्धकेवलि अविकला सव्वसंघसक्खिस्स'। अर्हतः, सिद्धान्, केवलिनः, तत्रस्था देवता सर्वं च संघं साक्षित्वेनोपादाय कृतस्य। 'पच्चक्खाणस्स भंजणादो' प्रत्याख्यानस्य विनाशनात्। 'वरं' शोभनं 'मरणं' प्राणपरित्यागः ॥१६२८॥

कथं मरणादशोभनता [1]प्रत्याख्यानभंगस्येत्याशंकायामाचष्टे प्रबंधमुत्तरं प्रत्याख्यानभंजने दुष्टतां निवेदयितुम्—

आसादिदा तओ होंति तेण ते अप्पमाणकरणेण।
राया विव सक्खिकदो विसंवदंतेण कज्जम्मि ॥१६२९॥

'आसादिदा' परिभूताः। 'तओ' ततः पश्चात्। प्रत्याख्यानग्रहणोत्तरकालं। तेन प्रत्याख्यानभंगकारिणा। ते अर्हदादयः। 'अप्पमाणकरणेण' अप्रमाणकरणेन। तत्साक्षिकं कर्म प्रतिज्ञातं विनाशयता ते अप्रमाणीकृता भवन्ति। अप्रमाणकरणेन च ते परिभूता भवन्ति। 'राया विव सक्खिकदो' राजेव साक्षीकृतः। 'कज्जम्मि विसंवदंतेण' कार्ये विसंवदता। एतदुक्तं भवति राजसाक्षिकं प्रतिज्ञातं कर्म चान्यथा कुर्वता राजा यथा परिभूतो भवति एवमर्हदादय इति ॥१६२९॥

जइ दे कदा पमाणं अरहंतादी हवेज्ज खवएण।
तस्सक्खिदं कयं सो पच्चक्खाणं ण भंजिज्ज ॥१६३०॥

'जइ दे कदा पमाणं' यदि ते कृताः प्रमाणं। 'अरहंतादी' अर्हदादयः। 'भवेज्ज' भवेयुः। 'खवएण' क्षपकेण। 'तस्सक्खिदं कदं पच्चक्खाणं' तत्साक्षिकं कृतं प्रत्याख्यानं। 'सो ण भंजिज्ज' क्षपको न नाशयेत् ॥१६३०॥

सक्खिकदरायहीलणमावहइ णरस्स जह महादोसं।
तह जिणवरादिआसादणा वि दोसं महं कुणदि ॥१६३१॥

गा०—अरहन्त, सिद्ध, केवली, उस स्थानके वासी देवता और सर्व संघको साक्षी बनाकर ग्रहण किये त्यागको तोड़नेसे मरण श्रेष्ठ है ॥१६२८॥

त्यागका भंग करना मरनेसे भी बुरा कैसे है ऐसी शंका होनेपर त्यागके भंगकी बुराई कहते हैं—

गा०—जैसे राजाको साक्षी बनाकर किये गये कार्यमें विसंवाद करनेवाला पुरुष राजाकी अवज्ञा करनेका दोषी होता है। वैसे ही अरहन्त आदि पंचपरमेष्ठीकी साक्षीपूर्वक स्वीकार किये गये त्यागको तोड़नेवाला मुनि अरहन्त आदिको भी प्रमाण न माननेसे उनकी अवज्ञा करनेका दोषी होता है ॥१६२९॥

गा०—यदि हे क्षपक ! तुम अरहंत आदिको प्रमाण मानते हो तो तुम्हे उनकी साक्षिपूर्वक किये गये त्यागको भंग नहीं करना चाहिये ॥१६३०॥

गा०—जैसे राजाको साक्षी बनाकर उनकी अवज्ञा करना मनुष्यको महादोषका भागी बनाता है वैसे ही अर्हन्त आदिकी आसादना भी महादोषको करनेवाली है ॥१६३१॥

---

१. न अभ्यास्ये—अ०।

'सक्खिकयरायहीलणं' साक्षीकृतराजपरिभव । 'आवहदि णरस्स जह महादोसं' आनयति यथा नरस्य महान्तं दोषं । 'तह जिणवरादि आसादणा' तथा अर्हदाद्यासादनापि । 'दोसं महं कुणदि' दोषं महान्तं करोति ॥१६३१॥

तं महान्तं दोषं कथयति—

तित्थयरपवयणसुदे आइरिए गणहरे महड्ढीए ।
एदे आसादंतो पावइ पारंचियं ठाणं ॥१६३२॥

'तित्थयरपवयणसुदे' तीर्थकरान्, रत्नत्रयं, आगमं । 'आइरिए' आचार्यान् । 'गणहरे' गणधरान् । 'महड्ढीए' महर्द्धिकान् । 'एदे' एतान् । 'आसादंतो' असादयन् । 'पावदि' प्राप्नोति । 'पारंचियं ठाणं' पारंचिय-नामधेयं प्रायश्चित्तस्थान ॥१६३२॥

सक्खीकयरायासादणे हु दोसं करे हु एक्कभवे ।
भवकोडीसु य दोसं जिणादि आसादणं कुणइ ॥१६३३॥

साक्षीकृतराजावमानजाताद्दोषादर्हदाद्यवमानजनितदोषो महानिति दर्शयति । स्पष्टार्था गाथा ॥१६३३॥

[1]मोक्खाभिलासिणो संजदस्स णिधणगमणं पि होइ वरं ।
पच्चक्खाणं भंजंतस्स ण वरमरहदादिसक्खिकदा ॥१६३४॥

णिधणगमणमेयभवे णासो ण पुणो पुरिल्लजम्मेसु ।
णासं वयभंगो पुण कुणइ भवसएसु बहुएसु ॥१६३५॥

ण तहा दोसं पावइ पच्चक्खाणमकरित्तु कालगदो ।
जह भंजणा हु पावदि पच्चक्खाणं महादोसं ॥१६३६॥

उस महान दोषको कहते हैं—

गा०—तीर्थङ्कर, रत्नत्रय, आगम, आचार्य और महान् ऋद्धिधारियोंकी आसादना करने वाला पारंचिक नामक प्रायश्चित्तका भागी होता है ॥१६३२॥

गा०—साक्षी बनाये गये राजाकी आसादना करनेपर तो एक ही भवमे दोषका भागी होता है । किन्तु अरहन्त आदिकी आसादना करनेपर करोड़ों भवोंमें दोषका भागी होता है । अतः साक्षी बनाये गये राजाकी अवज्ञाके दोषसे अर्हन्त आदिकी अवज्ञासे होनेवाला दोष महान होता है ॥१६३३॥

मोक्षके अभिलाषी संयमीका मरना भी श्रेष्ठ होता है किन्तु अरहन्त आदिको साक्षी करके किये गये त्यागका भंग करना श्रेष्ठ नहीं है । मरणको प्राप्त होनेपर तो एक भवका ही विनाश होता है, आगेके भवोंका विनाश नहीं होता । किन्तु व्रतका भंग बहुतसे भवोंमे विनाश-कारी होता है ॥१६३४–३५॥

---

१. एते द्वे गाथे टीकाकारो नेच्छति ।

'ण तहा दोसं पावदि' न तथा दोषं प्राप्नोति । **'पच्चक्खाणमकरित्तु'** प्रत्याख्यानमकृत्वा । कालगदो मृतः । **'जह भंजतो पावदि'** यथा प्रत्याख्यानभंगान्महादोषं प्राप्नोति ॥१६३४॥१६३५॥१६३६॥

प्रत्याख्याताहारसेवा हि प्रत्याख्यानभंगः स चाहारं प्रार्थ्यमानो हिंसादिदोषानखिलानानयतीति निगदति—

आहारत्थं हिंसइ भणइ असच्चं करेइ तेणेक्कं ।
रूसइ लुब्भइ मायं करेइ परिगिण्हदि य संगे ॥१६३७॥

'आहारत्थं हिंसइ' आहारार्थं षड्जीवनिकायान्हिनस्ति । असत्यं भणति, स्तैन्यं करोति । रुष्यत्यलाभे, लुभ्यति लाभे, माया करोति, परिगृह्णाति संगान् ॥१६३७॥

होइ णरो णिल्लज्जो पयहइ तवणाणदंसणचरित्तं ।
आमिसकलिणा ठइओ छायं मइलेइ य कुलस्स ॥१६३८॥

'होइ णरो णिल्लज्जो' निर्लज्जो भवति नरः आहारार्थं परयाच्ञाकरणात् । प्रजहाति च तपो, ज्ञानं दर्शनं चारित्रं च । आमिषाख्येन कलिनावष्टब्धः छाया कुलस्य मलिनयति परोच्छिष्टभोजनादिना ॥१६३८॥

णासदि बुद्धी जिब्भावसस्स मंदा वि होदि तिक्खा वि ।
जो णिगमिलेसलग्गो व होइ पुरिसो अणप्पवसो ॥१६३९॥

'णासदि बुद्धी' बुद्धिर्नश्यति आहारलम्पटतया युक्तायुक्तविवेकाकरणात् । कस्य ? जिह्वावशस्य तीक्ष्णा पि सती पूर्वं बुद्धिः कुण्ठा भवति । रसरागमलोपप्लुता अर्थयाथात्म्यं न पश्यतीति पारसीकश्लेषलग्नलिंग इव भवति पुरुषोऽनात्मवशः ॥१६३९॥

गा०—विना त्याग ग्रहण किये मरनेपर इतना दोष नहीं होता जितना महादोष त्याग लेकर उसका भंग करनेपर होता है ॥१६३६॥

त्यागे हुए आहारको ग्रहण करना व्रतभंग है । वह आहार हिंसा आदि सब दोषोंको लानेवाला है यह कहते हैं—

गा०—आहारके लिये मनुष्य छहकायके जीवोंका घात करता है । असत्य बोलता है, चोरी करता है । आहार न मिलनेपर क्रोध करता है । मिलनेपर उसका लोभ करता है । मायाचार करता है । घर पत्नी आदि परिग्रह स्वीकार करता है ॥१६३७॥

गा०—आहारके लिये मनुष्य निर्लज्ज होता है क्योंकि दूसरोंसे माँगता है । अपना तप, ज्ञान, दर्शन और चारित्र तक त्याग देता है । आहाररूपी कलिके द्वारा ग्रस्त होकर अपने कुलकी छायाको मलिन करता है दूसरोंका झूठा भोजन खाता है ॥१६३८॥

गा०—जो जिह्वाके वशीभूत है उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है क्योंकि भोजनका लम्पटी होनेसे वह भक्ष्य अभक्ष्यका विचार नहीं करता । यदि उसकी बुद्धि तीक्ष्ण होती है तो वह मन्द हो जाती है क्योंकि रसोंमें रागरूपी मलसे लिप्त होनेसे बुद्धि भक्ष्य वस्तुके यथार्थ स्वरूपको नहीं

---

१. जोणिकविलेस—अ० ।

धीरत्तणमाहप्पं कदण्णदं विणयधम्मसद्धाओ ।
पयहइ कुणइ अणत्थं गलल्लग्गो मच्छओ चेव ॥१६४०॥

'धीरत्तं' धीरत्वं, माहात्म्यं, कृतज्ञतां, विनयं, धर्मश्रद्धा च प्रजहाति । करोत्यनर्थश्रद्धा च । प्रजहाति करोत्यनर्थमात्मनः । गलावलग्नमत्स्य इव ॥१६४०॥

आहारत्थं पुरिसो माणी कुलजादि पहियकित्ती वि ।
भुंजंति अभोज्जाए कुणइ कम्मं अकिच्चं खु ॥१६४१॥

'आहारत्थं'—आहारार्थं, भुंक्ते अभोज्यानि पुरुषो मानी कुलीन., प्रथितकीर्तिरपि अकरणीयं करोति ॥१६४१॥

आहारत्थं मज्जारिसुंसुमारी अही मणुस्सी वि ।
दुब्भिक्खादिसु खायंति पुत्तभंडाणि दइयाणि ॥१६४२॥
इहपरलोइयदुक्खाणि आवहंते णरस्स जे दोसा ।
ते दोसे कुणइ णरो सव्वे आहारगिद्धीए ॥१६४३॥

स्पष्टम् उत्तरगाथाद्वयम् ॥१६४२॥१६४३॥

आहारलोलुपतया स्वयंभूरमणसमुद्रे तिमितिमिंगिलादयो मत्स्या महाकाया योजनसहस्रायामाः षण्मासं विवृतवदनाः स्वपन्ति । निद्राविमोक्षानन्तर पिहिताननाः स्वजठरप्रविष्टमत्स्यादीनाहारीकृत्य अवधिष्ठानना-मधेयं नरकं प्रविशंति । तत्कर्णविलग्नमलाहाराः शालिसिक्थमात्रतनुत्वाच्च शालिसिक्थसंज्ञकाः यदीदृशमस्माकं शरीरं भवेत् किं निःसतु एकोऽपि जन्तुर्लभते ? सर्वान्भक्षयामीति कृतमनःप्रणिधानास्ते तमेवावधिस्थानं प्रविशंति । इति कथयति गाथया—

देख पाती । तथा आहारका लम्पटी मनुष्य विषय सेवन करते हुए मनुष्यकी तरह अपने वशमें नहीं रहता ॥१६३९॥

गा०—वह धीरता, माहात्म्य, कृतज्ञता, विनय और धर्मश्रद्धाको भी आहारके पीछे छोड़ देता है और गलेमें फँसी मछलीकी तरह अनर्थ करता है ॥१६४०॥

गा०—मानी, कुलीन और प्रख्यातकीर्ति वाला भी आहारके लिये अभक्ष्यका भक्षण करता है और न करने योग्य कर्म करता है ॥१६४१॥

गा०—भूखसे पीड़ित होनेपर बिल्ली, मच्छ, सर्पिणि और दुर्भिक्ष आदिमें मनुष्य भी अपने प्रिय पुत्रोंको खा जाते हैं ॥१६४२॥

गा०—मनुष्यके जो दोष इस लोक और परलोकमें दुःखदायी हैं वे सब दोष मनुष्य आहारकी लम्पटताके कारण ही करता है ॥१६४३॥

आगे कहते हैं—स्वयंभूरमण समुद्रमें तिमितिमिंगल आदि महाकाय वाले महामच्छ जो एक हजार योजन लम्बे होते हैं, छह मास तक मुंह खोले सोते रहते हैं। जागने पर अपने मुखमें घुसे मच्छों आदिको खाकर मरकर सातवें नरकमें जाते हैं। उसके कानमें एक सालिसिक्थ नामक मत्स्य रहता है जो उसके कानका मैल खाता है। उसका शरीर चावलके बराबर होता

अवधिट्ठाणं णिरयं मच्छा आहारहेदु गच्छंति ।
तत्थेवाहारभिलासेण गदो सालिसिच्छो वि ॥१६४४॥

अवधिट्ठाणमित्यादिका गाथा ॥१६४४॥

चक्कधरो वि सुभूमो फलरसगिद्धीए वंचिओ संतो ।
णट्ठो समुद्दमज्झे सपरिजणो तो गओ णिरयं ॥१६४५॥

'चक्कधरो वि सुभूमो' नाम चक्रलांछनः फलरसगृद्धया वंचितः समुद्रमध्ये विनष्टः सपरिजनः । पश्चाच्च नरकं गतः ॥१६४५॥

आहारत्थं काऊण पावकम्माणि तं परिगओ सि ।
संसारमणादीयं दुक्खसहस्साणि पावंतो ॥१६४६॥

आहारार्थं पापानि कर्माणि कृत्वा संसारमनादिकं प्रविष्टो भवान्दुःखसहस्राणि वेदयमानः ॥१६४६ ।

पुणरवि तहेव संसारं किं भमिदूणमिच्छसि अणंतं ।
जं णाम ण वोच्छिज्जइ अज्जवि आहारसण्णा ते ॥१६४७॥

'पुणरवि' पुनरपि । तथैव संसारमनंतमटितुं किमिच्छसि ? यस्मादद्याप्याहारे तृष्णा न नश्यति ॥१६४७॥

जीवस्स णत्थि तित्ती चिरंपि भुंजंतस्स आहारं ।
तित्तीए विणा चित्तं उब्बूरं उद्धुदं होइ ॥१६४८॥

'जीवस्स णत्थि तित्ती' जीवस्य नास्ति तृप्तिः चिरमप्याहारं भुञ्जानस्य । तृप्त्या च विना चित्तं नितरामुज्ज्वलं भवति ॥१६४८॥

है इसलिये उसे सालिसिक्थ कहते हैं । वह कानमें बैठा हुआ मनमें, सोचा करता है कि यदि मेरा शरीर ऐसा होता तो क्या एक भी जन्तु बचकर जा सकता मैं सबको खा जाता । इसी संकल्पसे वह भी मरकर सातवें नरक जाता है—

गा०—महामत्स्य आहारके ही कारण सातवें नरकमें मरकर जाता है और उसी महामत्स्य-के कानमें रहनेवाला सालिसिक्थ मत्स्य भी आहारके संकल्पसे मरकर सातवें नरक जाता है ॥१६४४॥

गा०—सुभौम नामक चक्रवर्ती भी एक देवके द्वारा लाये गये फलके रसकी लम्पटताके कारण ठगा जाकर परिवारके साथ समुद्रमें डूब गया और मरकर नरकमें गया ॥१६४५॥

गा०—हे क्षपक ! पूर्वजन्मोंमें आहारके ही लिये पाप कर्म करके तुम हजारों दुःख भोगते हुए अनादि संसारमें प्रविष्ट हुए ॥१६४६॥

अब क्या पुनः अनन्त संसारमें भ्रमण करनेकी इच्छा है जो अभी भी तुम्हारी आहार संज्ञा नष्ट नहीं होती ॥१६४७॥

गा०—चिरकाल तक आहार खाकर भी जीवकी तृप्ति नहीं होती । और तृप्तिके बिना चित्त अत्यन्त व्याकुल रहता है ॥१६४८॥

जह इंधणेहिं अग्गी जह य समुद्दो णदीसहस्सेहिं ।
आहारेण ण सक्को तह तिप्पेदुं इमो जीवो ॥१६४९॥

'जह इंधणेहिं अग्गी' यथेन्धनैरग्निर्नदीसहस्रैर्वा समुद्रस्तर्पयितुमशक्यस्तथाहारेण जीवः ॥१६४९॥

देविंदचक्कवट्टी य वासुदेवा य भोगभूमा य ।
आहारेण ण तित्ता तिप्पदी कह भोयण अण्णो ॥१६५०॥

'देविंदचक्कवट्टी य' देवेन्द्रा लाभान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षात् आत्मीयतनुतेजोनिमित्तेन आहारेण, चक्रवर्तिनोऽपि षष्ट्यधिकत्रिशतसूपकारैर्वर्षमात्रेणैकदिनाहारं संस्करणोचतैः ढौकितेन तथार्धचक्रवर्तिनोऽपि । भोगभूमिजा भोजनाङ्गकल्पतरुप्रभवेन न तृप्ताः । कथमन्यो जनस्तृप्यति ॥१६५०॥

उदूढुदमणस्स ण रदी विणा रदीए कुदो हवदि पीदी ।
पीदीए विणा ण सुहं उदूढुदचित्तस्स चलस्स ॥१६५१॥

'उदूढुदमणस्स' इतो भद्रमतो भद्रमस्मादन्यदमिति परिप्लवमानचेतसो न रतिः, न च तया विना प्रीतिः । प्रीत्या च विना न सुखं चलचित्तस्य तत्तदाहारलम्पटस्य ॥१६५१॥

सव्वाहारविधाणेहिं तुमे ते. सव्वपुग्गला बहुसो ।
आहारिदा अदीदे काले तित्ति च सि ण पत्तो ॥१६५२॥

'सव्वाहारविधाणेहिं' अशनपानखाद्यलेह्यविकल्पैस्त्वया सर्वे पुद्गला बहुश आहारिताः अतीते काले तृप्तिं च न च प्राप्तो भवान् ॥१६५२॥

गा०—जैसे इंधनसे आगकी और हजारों नदियोंसे समुद्रकी तृप्ति नहीं होती वैसे ही यह जीव आहारसे तृप्त नहीं हो सकता ॥१६४९॥

गा०-टी०—देवेन्द्रोंके लाभान्तरायके क्षयोपशमका प्रकर्ष होनेसे अपने शरीरके तेजके निमित्तसे आहार प्राप्त होता है। भोजनकी इच्छा होते ही कण्ठसे अमृत झरता है। चक्रवर्तीके भी तीन सौ साठ रसोइयां होते हैं और वे सब मिलकर एक वर्षका आहार एक दिनमें बनाते हैं। अर्धचक्रवर्तीकी भी ऐसी स्थिति है। भोगभूमिके जीवोंको भोजनांग जातिके कल्पवृक्षोंसे यथेच्छ आहार प्राप्त होता है। फिर भी इन सबकी तृप्ति नहीं होती। तब साधारण मनुष्य भोजन से कैसे तृप्त हो सकता है ॥१६५०॥

गा०-टी०—यह आहार उत्तम है। इससे भी यह आहार उत्तम है इस प्रकारसे जिसका चित्त चंचल रहता है उसके चित्तमें अनुराग नहीं होता। अनुरागके बिना प्रीति नहीं होती। और प्रीतिके बिना सुख नहीं होता। इस प्रकार विभिन्न आहारोंके लम्पटी चंचलचित्त मनुष्यको आहारसे सुख नहीं होता ॥१६५१॥

गा०—हे क्षपक! अतीतकालमें तुमने अन्न, पान, खाद्य और लेह्यके भेदसे चार प्रकारका आहार करके सब पुद्गलोंको बहुत बार खाया है फिर भी तुम्हारी तृप्ति नहीं हुई ॥१६५२॥

किं पुण कंठगपाणो आहारेदूण अज्जमाहारं ।
लभिहिसि तित्तिं पाऊणुदधिं हिमलेहणेणेव ॥१६५३॥

'किं पुण' किं पुनः कण्ठप्राणोऽद्याहारं गृहीत्वा प्रीतिं लप्स्यसे । पीत्वोदधिं न तृप्तो हि यथा हिमलेहनेन ॥१६५३॥

को एत्थ विंभओ दे बहुसो आहारभुत्तपुव्वम्मि ।
जुज्जेज्ज हु अभिलासो अभुत्तपुव्वम्मि आहारे ॥१६५४॥

'को एत्थ विंभओ' कोऽत्र विस्मयः । आहारे बहुशो भक्तपूर्वे । युज्यते आहारार्थे अभिलाषो ऽभुक्तपूर्वे ॥१६५४॥

आवादमेत्तसोक्खो आहारणो हु सुखमत्थ बहु अत्थि ।
दुःखं चेवत्थ बहुं आहट्टंतस्स गिद्धीए ॥१६५५॥

'आवादमेत्तसोक्खो' जिह्वाग्रपातमात्रसुखं आहारः । न सुखमत्र बह्वस्ति । दुःखमेवात्र बहु [1]अभिलषिताहारगृद्धया ॥१६५५॥

सुखस्याल्पतायाः कारणमाचष्टे—

जिब्भामूलं बोलेइ वेगदो वरहओव्व आहारो ।
तस्सेव रसं जाणइ ण य परदो ण वि य से पुरदो ॥१६५६॥

जिह्वाया मूलं वेगेनातिक्रामत्याहारः अश्वरत्न इव । जिह्वामात्र एव रसं वेत्ति जीवो न आहारानुपरितः, न च पुरतोऽग्रतः । अल्पा च जिह्वा ॥१६५६॥

गा०—अब तो तुम्हारे प्राण कण्ठगत है अर्थात् तुम्हारी मृत्यु निकट है। जैसे समुद्रको पीकर जो तृप्त नहीं हुआ वह ओसको चाटनेसे तृप्त नहीं हो सकता। उसी प्रकार जब तुम समस्त पुद्गलोंको खाकर भी तृप्त नहीं हुए तब मरते समय आज भोजनसे कैसे तृप्त हो सकते हो ॥१६५३॥

गा०—जो आहार तुमने पहले अनेक बार खाया है उसमें तुम्हारी उत्सुकता कैसी? जो आहार पहले कभी नहीं खाया है उसमें अभिलाषा होना तो उचित है। जिसे तुम अनेक बार भोग चुके हो उसमें अभिलाषा होना ही आश्चर्यकारी है ॥१६५४॥

गा०—आहारमें बहुत सुख नहीं है केवल जिह्वाके अग्रभागमें रखनेमात्र ही सुख है। किन्तु इच्छितआहारकी लिप्सासे जो दुःख होता है वह दुःख ही बहुत है ॥१६५५॥

आहारमें स्वल्पसुख होनेका कारण कहते हैं—

गा०-टी०—जैसे उत्तम घोड़ा बड़ा तेज दौड़ता है वैसे ही आहार भी जिह्वाके मूलको बड़े वेगसे पार करता है अर्थात् जिह्वापर ग्रास आते ही वह झट पेटमें चला जाता है। बस जिह्वापर रहते हुए ही जीवको आहारके स्वादकी प्रतीति होती है, न पहले होती है और न

---

१. लषितमाहा—आ० ।

अच्छिणिमिसणमेत्तो आहारसुहस्स सो हवइ कालो ।
गिद्धीए गिलइ वेगं गिद्धीए विणा ण होइ सुहं ॥१६५७॥

'अच्छिणिमिसणमित्तो' अक्षिनिमेषक्षमात्रः कालः। आहाररससेवाजनितसुखस्य। गृद्ध्या वेगेन निगिरति। यतो गृद्ध्या च विना नास्तीन्द्रियसुखं ॥१६५७॥

दुक्खं गिद्धीघत्थस्साहट्टंतस्स होइ बहुगं च ।
चिरमाहड्डियदुग्गयचेडस्स व अण्णगिद्धीए ॥१६५८॥

'दुक्खं गिद्धीघत्थस्स' दुःखं महद्भवति लम्पटतया ग्रस्तस्याभिलषत.। 'चिरमाहड्डियदुग्गयचेडस्स व अण्णगिद्धीए' अन्नगृद्ध्या चिरं व्याकुलस्य दरिद्रसंबंधिनो दासेरस्येव ॥१६५८॥

को णाम अप्पसुक्खस्स कारणं बहुसुहस्स चुक्केज्ज ।
चुक्कइ हु संकिलिसेण मुणी सग्गापवग्गाणं ॥१६५९॥

'को णाम अप्पसुक्खस्स कारणं' को नामाल्पसुखनिमित्त महतो निर्वृतिसुखात्प्रच्यवते च मुनिः संक्लेशेन स्वर्गापवर्गसुखाभ्याम् ॥१६५९॥

महुलित्तं असिधारं लेहइ भुंजइ य सो सविसमण्णं ।
जो मरणदेसयाले पच्छेज्ज अकप्पियाहारं ॥१६६०॥

'महुलित्तं' मधुना लिप्तामसिधारा आस्वादयति। सविषमन्नं भुङ्क्ते यो मरणदेशकाले अयोग्याहारप्रार्थना करोति ॥१६६०॥

बादमें। अर्थात् जब आहार जीभपर नहीं आया और जब आकर गलेमें उतरा तब स्वादकी अनुभूति नहीं होती ॥१६५६॥

गा०—इस प्रकार आहारसे होनेवाले सुखका काल एक बार पलकें बन्द करके खोलनेमें जितना समय लगता है उतना ही है अर्थात् क्षणमात्र है। आहारकी गृद्धि होनेसे आहार वेगसे निगला जाता है और गृद्धिके बिना सुख नहीं होता ॥१६५७॥

गा०—जो आहारविषयक लम्पटताके साथ आहारकी आकांक्षा करता है उसे बहुत दुःख उठाना पड़ता है। जैसे अन्नकी गृद्धिसे चिरकालसे व्याकुल दरिद्र दासको कष्ट होता है वैसा ही कष्ट आहारकी लम्पटतावालेको होता है ॥१६५८॥

गा०-टी०—कौन बुद्धिमान पुरुष थोड़ेसे सुखके लिये बहुत सुखसे वंचित होना चाहेगा। अर्थात् इस अन्तिम अवस्थामें आहारमे आसक्त होनेसे तुम बहुत सुखसे वंचित हो जाओगे। मुनि संक्लेश परिणाम करनेसे स्वर्ग और मोक्षके सुखसे वंचित हो जाता है—उसे स्वर्ग या मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती ॥१६५९॥

गा०-टी०—जो क्षपक मरते समय अयोग्य आहारकी प्रार्थना करता है वह मधुसे लिप्त तलवारकी धारको चाटता है और विष सहित अन्नको खाता है। अर्थात् जैसे मधुसे लिप्त तलवारकी धारको चाटनेसे तत्काल सुख होता है किन्तु जीभ कट जाती है वैसे ही मरते समय

अतिधारं व विसं वा दोसं पुरिसस्स कुणइ एयभवे ।
कुणइ दु मुणिणो दोसं अकप्पसेवा भवसएसु ॥१६६१॥

'असिधारं व' असिधारा वा विषं वा पुरुषस्य दोषमेकस्मिन्नेव भवे करोति । अयोग्यसेवा भवशतेषु मुनेर्दोषं करोति ॥१६६१॥

जावंत किंचि दुक्खं सारीरं माणसं च संसारे ।
पत्तो अणंतखुत्तं कायस्स ममत्तिदोसेण ॥१६६२॥

'जावंत किं चि दुक्खं' यावत्किंचिद्दुःखं शारीरं मानसं वा संसारे त्वमनंतवारं प्राप्तवान् । तत्सर्वं शरीरममतादोषेणैव ॥१६६२॥

इण्हिं पि जदि ममत्तिं कुणसि सरीरे तहेव ताणि तुमं ।
दुक्खाणि संसरंतो पाविहसि अणंतयं कालं ॥१६६३॥

'इण्हिं' पि इदानीमपि यदि शरीरे करोषि ममतां तथैव तानि दुःखानि चतुर्गतिषु परावर्तमानोऽनंत-कालं प्राप्स्यसि ॥१६६३॥

णत्थि भयं मरणसमं जम्मणसमयं ण विज्जदे दुःखं ।
जम्मणमरणादंकं छिण्ण. ममत्तिं सरीरादो ॥१६६४॥

'णत्थि भयं मरणसमं' मरणसदृशं भयं नास्ति । कुयोनिषु जन्मसमानं दुःखं न विद्यते । जन्ममर-णातंकं [1]छिन्न शरीरममतां ॥१६६४॥

अण्णं इमं सरीरं अण्णो जीवोत्ति णिच्छिदमदीओ ।
दुक्खभयकिलेसयारी मा हु ममत्तिं कुण सरीरे ॥१६६५॥

यदि अर्हन्त आदिकी साक्षीपूर्वक त्यागे हुए आहारकी अभिलाषा करता है और उसे खाता है तो तत्काल उसे अपनी इच्छापूर्ति होनेसे सुख प्रतीत होगा। किन्तु उसकी सब आराधना गल जायेगी ॥१६६०॥

गा०—खड्गसे लिप्त तलवार और विषमिश्रित अन्न तो पुरुषका एक भवमें ही अनर्थ करते हैं। किन्तु मुनिका अयोग्य आहारका सेवन सैकड़ों भवोंमें अनर्थकारी होता है ॥१६६१॥

गा०—हे क्षपक! इस संसारमें तुमने जो कुछ भी शारीरिक और मानसिक दुःख अनन्त बार भोगा है वह सब शरीरमें ममतारूप दोषके कारण ही भोगा है। ॥१६६२॥

गा०—इस समय भी यदि तुम शरीरमें ममता करते हो तो उसी प्रकार चारों गतियोंमें भ्रमण करते हुए अनन्त कालतक दुःख भोगोगे ॥१६६३॥

गा०—मरणके समान भय नहीं है और जन्मके समान दुःख नहीं है। तथा जन्म मरण रोगका कारण शरीरसे ममत्व हैं उसको तुम दूर करो ॥१६६४॥

---

१. छिन्धि—आ० मु०।

'अण्णं इमं सरीरं' अन्यदिदं शरीरं। अन्यो जन्तुरिति निश्चितमतिर्दुःखसंक्लेशसंपादकीभूतां मा कृथाः शरीरे ममताम् ॥१६६५॥

सव्वं अधियासंतो उवसग्गाविधिं परीसहविधिं च ।
णिस्संगदाए सल्लिह असंकिलेसेण तं मोहं ॥१६६६॥

'सव्वं उवसग्गविहिं' सर्वं उपसर्गविकल्पं परीषहविकल्पं च सहमानो मोहं भवांस्तनूकुरु। 'णिस्संगतया' असंक्लेशेन च ॥१६६६॥

ण वि कारणं तणादोसंथारो ण वि य संघसमवाओ ।
साधुस्स संकिलेसंतस्स य मरणावसाणम्मि ॥१६६७॥

'ण वि कारणं तणादी' नैव कारणं तृणादिसंस्तरः सल्लेखनायां, नापि संघसमुदायः मरणावसाने संक्लिश्यतः साधोः ॥१६६७॥

जह वाणियगा सागरजलम्मि णावाहिं रयणपुण्णाहिं ।
पट्टणमासण्णा वि हु पमादमूढा वि वज्जंति ॥१६६८॥

'जह वाणियगा' यथा वणिजो रत्नसंपूर्णाभिर्नौभिः सह विनश्यन्ति। समुद्रजलमध्ये प्रमादेन मूढाः पत्तनान्तिकमागता अपि ॥१६६८॥

सल्लेहणा विसुद्धा केई तह चेव विविहसंगेहिं ।
संथारे विहरंता वि संकिलिट्ठा विवज्जंति ॥१६६९॥

'सल्लेहणा विसुद्धा वि' शरीरसल्लेखनाभावात्। सल्लेखनया विशुद्धा अपि संत। पूर्वं केचित् विविध

गा०—यह शरीर भिन्न है और जीव भिन्न है ऐसा निश्चय करके दुःख भय और क्लेशको करनेवाली ममता शरीरमें मत कर अर्थात् शरीरसे ममत्वको त्याग, वही सब दुःखोंका मूल है ॥१६६५॥

गा०—सब उपसर्गोंके प्रकारोंको और सब परीषहके प्रकारोंको सहन करते हुए तुम निःसंगत्वभावनासे संक्लेश परिणामोंके बिना मोहको कृश करो ॥१६६६॥

गा०-टी०—यदि मरते समय साधुके परिणाम संक्लेशरूप होते हैं तो तृण आदिका संथरा या वैयावृत्य करनेवाले साधुका जमघट सल्लेखनाका कारण नहीं हो सकता। अर्थात् तृणादिके संथरा और वैयावृत्य करनेवाले साधु तो सल्लेखनाके बाह्य कारण है अन्तरंग कारण तो क्षपकका आर्त रौद्र रहित परिणाम ही है। उसके अभावमें केवल बाह्य कारणोंसे सल्लेखना नहीं हो सकती ॥१६६७॥

गा०—जैसे वणिक् रत्नोंसे भरी नावोंके साथ नगरके समीप तक आकर भी प्रमादवश मूढ होकर सागरके जलमें डूब जाते हैं ॥१६६८॥

गा०-टी०—उसी प्रकार पहले विशुद्ध भावसे शरीरकी सल्लेखना करनेवाले भी कुछ क्षपक रागद्वेषादि भावरूप विविध परिग्रहोंके साथ संथरेपर आरूढ होते हुए भी संक्लेश परिणामों

संगेहिं विचित्रै रागद्वेषादिभावपरिग्रहैः सह । 'संथारे विहरंता वि' संस्तरे प्रवर्तमाना अपि । 'संकिलिट्ठा विवज्जंति' संक्लिष्टपरिणता विनश्यन्ति ॥१६६९॥

सल्लेहणापरिस्समभिमं कयं दुक्करं च सामण्णं ।
मा अप्पसोक्खहेउं तिलोगसारं वि णासेह ॥१६७०॥

'सल्लेहणापरिस्समभिमं' शरीरसल्लेखनायां क्रियमाणायां अनशनादितपसा त्रिविधाहारत्यागेन, यावज्जीवं वा पानपरिहारेण जातं परिश्रममिदं । 'दुक्करं च कयं सामण्णं' दुष्करं कृतं च श्रामण्यं । चिरकालं त्रिलोकसारं अतिशयितस्वर्गापवर्गसुखदानात् । 'अप्पसुक्खहेदुं' अल्पाहारसेवाजनितसुखनिमित्तं । 'मा विणासेहि' नैव विनाशय ॥१६७०॥

धीरपुरिसपण्णत्तं सप्पुरिसणिसेवियं उवणमित्ता ।
धण्णा णिरावयक्खा संथारगया णिसज्जंति ॥१६७१॥

'धीरपुरिसपण्णत्तं' उपसर्गाणां परिषहाणां चोपनिपातैः अविचलधृतयो ये धीरास्तैरुपदिष्टं तत्सर्वं । 'सप्पुरिसणिसेवियं' सत्पुरुषनिषेवितं मार्गं 'उवणमित्ता' आश्रित्य । 'धण्णा' धन्या पुण्यवंतः । 'णिरावयक्खा' निरपेक्षाः परित्यक्तादानाः । 'संथारगया' संस्तरारूढाः । 'णिसज्जंति' शेरते ॥१६७१॥

तम्हा कलेवरकुडी पव्वोढव्वत्ति णिम्ममो दुक्खं ।
कम्मफलमुवेक्खंतो विसहसु णिव्वेदणो चेव ॥१६७२॥

'तम्हा' तस्मात् । 'कलेवरकुडी' शरीरकुटी । 'पव्वोढव्वत्ति' परित्याज्येति मत्वा । 'णिम्ममो' शरीरे ममतारहितो । 'दुक्खं विसहसु' दुःखं विसहस्व । 'कम्मफलमुवेक्खंतो' कर्मफलमुपेक्षमाणो । 'णिव्वेदणो चेव' निर्वेदनमिव ॥१६७२॥

इय पण्णविज्जमाणो सो पुव्वं जायसंकिलेमादो ।
विणियत्तंतो दुक्खं पस्सइ परदेहदुक्खं वा ॥१६७३॥

के कारण विनाशको प्राप्त होते हैं। अर्थात् प्रथम तो उनकी सल्लेखना ठीक रहती है। पीछे संक्लेश परिणाम होनेसे संथरेपर रहते हुए भी सल्लेखनासे भ्रष्ट हो जाते हैं ॥१६६९॥

गा०-टी०—हे क्षपक ! अनशन आदि तपके द्वारा तथा तीन प्रकारके आहार और जीवन पर्यन्तके लिये पानका त्याग करके शरीरको कृश करनेमें तुमने जो परिश्रम किया है और यह अत्यन्त कठिन मुनिपद धारण किया है और इन सबसे तुम्हे जो स्वर्ग और मोक्षका सातिशय सुख मिलनेवाला है, इन सबको आहार सेवनसे होनेवाले थोडेसे सुखके लिये नष्ट मत करो ॥१६७०॥

गा०—उपसर्ग और परीषहोंके आनेपर भी जो विचलित नहीं होते उन धीर पुरुषोंके द्वारा कहे गये और श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा सेवित इस मार्गको अपनाकर पुण्यशाली क्षपक, त्याग और ग्रहणसे निरपेक्ष होकर संस्तरपर आरूढ होकर विशुद्ध होते हैं ॥१६७१॥

गा०—अतः यह शरीररूपी कुटिया त्यागने योग्य है ऐसा मानकर शरीरसे ममत्व मत करो। तथा कर्मफलकी उपेक्षा करते हुए दुःखको इस प्रकार सहो मानो दुःख है ही नहीं ॥१६७२॥

'इय' एवं । 'पण्णविज्जमाणो' प्रज्ञाप्यमानः । 'सो पुव्वं जादसंकिलेसादो' पूर्वं जातसंक्लेशात् । 'विणि-यत्तंतो' विनिवर्त्यमानः । 'दुक्खं पस्सदि' दुःखं पश्यति । किमिव ? 'परदेहदुक्खं वा' परशरीरगतमिव दुःखं ॥१६७३॥

रायादिमहड्ढीयागमणपओगेण था वि माणिस्स ।
माणजणणेण कवयं कायव्वं तस्स खवयस्स ॥१६७४॥

'रायादिमहड्ढीयागमणपओगेण' राजादिमहर्द्धिकागमनप्रयोगेण 'थावि माणिस्स' मानिनोऽपि । 'माणजणणेण' मानजननेन । 'कवयं कायव्वं' कवचः कर्तव्यः । 'तस्स खवयस्स' तस्य क्षपकस्य । मम धीरतां द्रष्टुं अमी महर्द्धिकाः समायाताः । अमीषां पुरस्ताद्यद्यपि प्राणा यान्ति यान्तु कामं तथापि स्वां मनस्वितां नाहं त्यजामीति मानधनो दुःखं सहते न कुरुते व्रतभङ्गम् ॥१६७४॥

इच्चेवमाइकवचं भणिदं उस्सग्गियं जिणमदम्मि ।
अववादियं च कवयं आगाढे होइ कादव्वं ॥१६७५॥

'इच्चेवमादिकवचं भणिदं' इत्येवमादिकः कवचः कथितो जिनमते । 'उस्सग्गिओ' औत्सर्गिकः सामान्य-भूत । 'अववादियं च कवयं कादव्वं' विशेषरूपोऽपि कवचः कर्तव्यो भवत्यवगाढे मरणे ॥१६७५॥

जह कवचेण अभिज्जेण कवचिओ रणमुहम्मि सत्तूणं ।
जायइ अलंघणिज्जो कम्मसमत्थो य जिणदि य ते ॥१६७६॥

'जह कवचेण' यथा कवचेन । 'अभिज्जेण' अभेद्येन । 'कवचिदो' सन्नद्धः । 'रणमुहे सत्तूणमलंघिज्जो

गा०—इस प्रकार उपदेश द्वारा समझानेपर वह क्षपक पूर्वमे हुए संक्लेशरूप परिणामोंसे अपनेको हटाकर अपने दुःख इस प्रकार देखता है, मानो वह दुःख उसके शरीरमें नहीं है किन्तु किसी दूसरेके शरीरमें है ॥१६७३॥

गा०-टी०—महान् ऐश्वर्यशाली राजा आदिको उस क्षपकके पास लाकर भी उस अभि-मानीको मानदान देकर उसका कवच (रक्षाका उपाय) करना चाहिये । उन्हे देख वह विचारता है कि मेरी सहनशीलताको देखनेके लिये ये बडे-बडे ऐश्वर्यशाली आये हुए हैं । इनके सामने भले ही मेरे प्राण जायें तो चले जायें । तथापि मै अपनी मनस्विताको नही छोडूँगा । इस प्रकार वह मानप्रेमी दुःख सहता है किन्तु व्रतभंग नही करता ॥१६७४॥

गा०—इस प्रकार जिनमतमे कवचका औत्सर्गिक अर्थात् सामान्य स्वरूप कहा है । मृत्यु निकट होनेपर आपवादिक अर्थात् विशेषरूप भी कवच करना चाहिये ॥१६७५॥

विशेषार्थ—जिसका मरण अभी दूर है उसके लिये सामान्यरूपसे ऊपर कवचका कथन किया है । यहाँ निकट मरण वालेके लिये अपवादरूप विशेष कवचका कथन किया है । जिसका अभिप्राय यह है कि तत्काल उत्पन्न हुए ध्यानमें विघ्न डालने वाले भूख आदिके दुःखको दूर करनेके लिये यथायोग्य प्रयोग करना चाहिये ।

गा०—जैसे अभेद्य कवचके द्वारा सुरक्षित योद्धा युद्धभूमिमे शत्रुओंके वशमें नही आता । तथा शत्रुपर प्रहार करनेमें समर्थ होता है और इस प्रकार शत्रुओंको जीत लेता है ॥१६७६॥

होदि' रणमुखे अमूषामलंघ्यो भवति । 'जुज्झसमत्थो य' प्रहरणादिक्रियासमर्थः । 'जिणदि य ते' जयति च तानरीन् ॥१६७६॥

एवं खवओ कवचेण कवचिओ तह परीसहरिऊणं ।
जायइ अलंघणिज्जो ज्झाणसमत्थो य जिणदि य ते ॥१६७७॥

'एवं खवओ' एवं क्षपकः कवचेनोपगृहीतः परीषहारिभिर्न लुप्यते, ध्यानसमर्थो जयति च तान्परीष-हारीन् ॥कवचम् इति ॥१६७७॥

एवं अधियासेंतो सम्मं खवओ परीसहे एदे ।
सव्वत्थ अपडिबद्धो उवेदि सव्वत्थ समभावं ॥१६७८॥

'एवं अधियासेंतो' एवं सहमानः सम्यक्परीषहानेतान् । सर्वत्राप्रतिबद्धः शरीरे, वसतौ, गणे, परिचारकेषु च सर्वत्रोपैति समचित्तताम् ॥१६७८॥

सव्वेसु दव्वपज्जयविधीसु णिच्चं ममत्तिदो विजडो ।
णिप्पणयदोसमोहो उवेदि सव्वत्थ समभावं ॥१६७९॥

'सव्वेसु' सर्वेषु द्रव्यपर्यायविकल्पेषु नित्यं परित्यक्तममताबोधः ममेदं सुखसाधनं मदीयं इति वा । 'णिप्पणयदोसमोहो' निस्नेहो, निर्दोषो, निर्मोहः सर्वत्र समतामुपैति ॥१६७९॥

संजोगविप्पओगेसु जहदि इट्ठेसु वा अणिट्ठेसु ।
रदि अरदि उस्सुगत्तं हरिसं दीणत्तणं च तहा ॥१६८०॥

संयोगे रतिं, विप्रयोगे अरतिं, इष्टे वस्तुन्युत्कण्ठां, इष्टयोगे 'रदिं' रतिं, हर्षं, इष्टविप्रयोगे अरतिं दीनतां । 'उस्सुगत्तं' उत्सुकतां च तथा 'जहदि' जहाति क्षपकः कवचेनोपगृहीतः ॥१६८०॥

गा०—उसी प्रकार कवचसे सुरक्षित क्षपक परीषह आदिके वशमें नहीं आता । तथा ध्यान करनेमें समर्थ होता है और उन परीषहरूपी शत्रुओंको जीत लेता है ॥१६७७॥

गा०—इस प्रकार इन तत्काल उपस्थित हुई परीषहोंको सम्यक् रूपसे सहन करता हुआ क्षपक सर्वत्र शरीर, वसति, संघ और परिचर्या करनेवालोंमें अप्रतिबद्ध होता है—ये मेरे हैं मैं इनका हूँ ऐसा संकल्प नहीं करता । तथा सर्वत्र जीवन मरण आदिमें समभावको—रागद्वेषसे रहितताको प्राप्त होता है ॥१६७८॥

गा०—द्रव्य और पर्यायके समस्त भेदोंमें नित्य ममता दोषको त्याग स्नेह रहित, दोष रहित और मोहरहित होकर सर्वत्र समभावको प्राप्त होता है अर्थात् समस्त द्रव्यों और पर्यायोंमें 'ये मेरे सुखके साधन हैं' इस प्रकारका ममत्व भाव नहीं रखता । किन्तु सबमें समभाव रखता है । न किसीसे प्रीति करता है और न किसीसे द्वेष करता है ॥१६७९॥

गा०—कवचसे उपकृत हुआ क्षपक संयोगमें रति, वियोगमें अरति, इष्ट वस्तुमें उत्कण्ठा, इष्ट वस्तुके संयोगमें रति तथा हर्ष और इष्ट वस्तुके वियोगमें अरति तथा दीनता नहीं करता ॥१६८०॥

मित्ते सुयणादीसु य सिस्से साधम्मिए कुले चावि ।
रागं वा दोसं वा पुव्वं आयंपि सो जहइ ॥१६८१॥

'मित्ते सुयणादीसु य' मित्रेषु बन्धुषु वा । शिष्येषु च सधर्मणि कुले वा पूर्वं जात रागद्वेष वाक्षी जहाति ॥१६८१॥

भोगेसु देवमाणुस्सगेसु ण करेइ पत्थणं खवओ ।
मग्गो विराधणाए भणिओ विसयाभिलासोत्ति ॥१६८२॥

'भोगेसु देवमाणुस्सगेसु' देवमानवभोगरभोगप्रार्थना न करोति क्षपको व्यावर्णितकवचोपगृहीत । विषयाभिलाषो मुक्तिमार्गविराधनाया मूलमिति ज्ञात्वा ॥१६८२॥

इट्ठेसु अणिट्ठेसु य सद्दफरिसरसरूवगंधेसु ।
इहपरलोए जीविदमरणे माणावमाणे य ॥१६८३॥
सव्वत्थ णिव्विसेसो होदि तदो रागरोसरहिदप्पा ।
खवयस्स रागदोसा हु उत्तमट्ठं वि[1]णासंति ॥१६८४॥

स्पष्ट उत्तरगाथाद्वय। ।१६८३॥१६८४॥

विशेषार्थ—इष्ट वस्तुके मिलनेपर या अनिष्ट वस्तुके बिछुडनेपर चित्तमे प्रसन्नता होना, अनिष्टका सयोग अथवा इष्टका वियोग होनेपर अरति अर्थात् चित्तका दु खी होना, इष्ट वस्तुमे उत्कण्ठा होना—यदि मुझ अमुक वस्तु मिल जाये तो अच्छा हो इस प्रकार हृदयमे उत्कण्ठा होना हर्ष अर्थात् इष्टका सयोग होनेपर रोमाच, मुखकी प्रसन्नता आदिसे आनन्द व्यक्त होना, तथा इष्टका वियोग होनेपर मुखकी विरूपतासे विषाद व्यक्त होना, ये सब कवचसे उपगृहीत क्षपक छोड देता है ।

गा०—अथवा कवचसे उपगृहीत वह क्षपक मित्रोमे, बन्धुबान्धवोमे शिष्योमे साधर्मी जनोमे और कुलमे, पूर्वमे उत्पन्न हुए रागद्वेषको छोड देता है अर्थात् समाधि स्वीकार करनेसे पूर्वमे या दीक्षा ग्रहण करनेसे पूर्वम जो रागद्वेष उत्पन्न हुआ है उसे दूर करता है साथ ही आगे भी रागद्वेष नही करता ॥१६८१॥

गा०—तथा ऊपर कहे गये कवचसे उपग्रहीत क्षपक यह जानकर कि विषयाकी अभिलाषा मोक्षमार्गकी विराधनाका मूल है, देव और मनुष्य सम्बन्धी भोगोकी प्रार्थना नही करता ॥१६८२॥

गा०-टी०—कवचसे उपगृहीत होनेसे क्षपक इष्ट अनिष्ट शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्धमे इस लोक और परलोकमे, जीवन और मरणमे, मान और अपमानमे सर्वत्र इष्ट अनिष्ट विकल्पसे मुक्त और रागद्वेषसे रहित होता है । क्योकि क्षपकके रागद्वेष उत्तमार्थ अर्थात् रत्नत्रय, सम्यक् ध्यान और समाधिमरणको नष्ट कर देते हैं ॥१६८३-१६८४॥

---

१ विराधेंति मु० ।

होदि' रणमुखे शत्रुणामलंघ्यो भवति । 'ज्झाणसमत्थो य' प्रहरणादिक्रियासमर्थः । 'जिणदि य ते' जयति च तानरीन् ॥१६७६॥

एवं खवओ कवचेण कवचिओ तह परीसहरिऊणं ।
जायइ अलंघणिज्जो ज्झाणसमत्थो य जिणदि य ते ॥१६७७॥

'एवं खवगो' एवं क्षपकः कवचेनोपगृहीतः परीषहारिभिर्न लुप्यते, ध्यानसमर्थो जयति च तान्परीषहारीन् ॥कवचुत्ति ॥१६७७॥

एवं अधियासेंतो सम्मं खवओ परीसहे एदे ।
सव्वत्थ अपडिबद्धो उवेदि सव्वत्थ समभावं ॥१६७८॥

'एवं अधियासेंतो' एवं सहयान सम्यक्परीषहानेतान् । सर्वत्राप्रतिबद्धः शरीरे, वसतौ, गणे, परिचारकेषु च सर्वत्रोपैति समचित्तताम् ॥१६७८॥

सव्वेसु दव्वपज्जयविधीसु णिच्चं ममत्तिदो विजडो ।
णिप्पणयदोसमोहो उवेदि सव्वत्थ समभावं ॥१६७९॥

'सव्वेसु' सर्वेषु द्रव्यपर्यायविकल्पेषु नित्यं परित्यक्तममतादोषः ममेदं सुखसाधनं मदीयं इति वा । 'णिप्पणयदोसमोहो' निस्नेहो, निर्दोषो, निर्मोहः सर्वत्र समतामुपैति ॥१६७९॥

संजोगविप्पओगेसु जहदि इट्ठेसु वा अणिट्ठेसु ।
रदि अरदि उस्सुगत्तं हरिसं दीणत्तणं च तहा ॥१६८०॥

सयोगे रतिं, विप्रयोगे अरतिं, इष्टे वस्तुन्युत्कण्ठा, इष्टयोगे 'रदिं' रतिं, हर्ष, इष्टविप्रयोगे अरतिं दीनतां । 'उस्सुगत्तं' उत्सुकतां च तथा 'जहदि' जहाति क्षपक कवचेनोपगृहीतः ॥१६८०॥

गा०—उसी प्रकार कवचसे सुरक्षित क्षपक परीषह आदिके वशमें नहीं आता । तथा ध्यान करनेमें समर्थ होता है और उन परीषहरूपी शत्रुओंको जीत लेता है ॥१६७७॥

गा०—इस प्रकार इन तत्काल उपस्थित हुई परीषहोंको सम्यक् रूपसे सहन करता हुआ क्षपक सर्वत्र शरीर, वसति, संघ और परिचर्या करनेवालोंमे अप्रतिबद्ध होता है—ये मेरे हैं मैं इनका हूँ ऐसा संकल्प नहीं करता । तथा सर्वत्र जीवन मरण आदिमें समभावको—रागद्वेषसे रहितताको प्राप्त होता है ॥१६७८॥

गा०—द्रव्य और पर्यायके समस्त भेदोंमे नित्य ममता दोषको त्याग स्नेह रहित, दोष रहित और मोहरहित होकर सर्वत्र समभावको प्राप्त होता है अर्थात् समस्त द्रव्यों और पर्यायोंमें 'ये मेरे सुखके साधन हैं' इस प्रकारका ममत्व भाव नहीं रखता । किन्तु सबमें समभाव रखता है । न किसीसे प्रीति करता है और न किसीसे द्वेष करता है ॥१६७९॥

गा०—कवचसे उपकृत हुआ क्षपक संयोगमें रति, वियोगमें अरति, इष्ट वस्तुमें उत्कण्ठा, इष्ट वस्तुके संयोगमें रति तथा हर्ष और इष्ट वस्तुके वियोगमें अरति तथा दीनता नहीं करता ॥१६८०॥

मित्ते सुयणादीसु य सिस्से साधम्मिए कुले चावि ।
रागं वा दोसं वा पुव्वं जायंपि सो जहइ ॥१६८१॥

'मित्ते सुयणादीसु य' मित्रेषु बन्धुषु वा । शिष्येषु च सधर्मणि कुले वा पूर्वं जातं रागद्वेषं वासौ जहाति ॥१६८१॥

भोगेसु देवमाणुस्सगेसु ण करेइ पत्थणं खवओ ।
मग्गो विराधणाए भणिओ विसयाभिलासोत्ति ॥१६८२॥

'भोगेसु देवमाणुस्सगेसु' देवमानवगोचरभोगप्रार्थनां न करोति क्षपको व्यावर्णितकवचोपगृहीतः । विषयाभिलाषो मुक्तिमार्गविराधनाया मूलमिति ज्ञात्वा ॥१६८२॥

इट्ठेसु अणिट्ठेसु य सद्दफासरसरूवगंधेसु ।
इहपरलोए जीविदमरणे माणावमाणे च ॥१६८३॥
सव्वत्थ णिव्विसेसो होदि तदो रागरोसरहिदप्पा ।
खवयस्स रागदोसा हु उत्तमट्ठं विणासंति[1] ॥१६८४॥

स्पष्टं उत्तरगाथाद्वयं ॥१६८३॥१६८४॥

विशेषार्थ—इष्ट वस्तुके मिलनेपर या अनिष्ट वस्तुके बिछुड़नेपर चित्तमें प्रसन्नता होना, अनिष्टका संयोग अथवा इष्टका वियोग होनेपर अरति अर्थात् चित्तका दुःखी होना, इष्ट वस्तुमे उत्कण्ठा होना—यदि मुझे अमुक वस्तु मिल जाये तो अच्छा हो इस प्रकार हृदयमे उत्कण्ठा होना, हर्ष अर्थात् इष्टका संयोग होनेपर रोमांच, मुखकी प्रसन्नता आदिसे आनन्द व्यक्त होना, तथा इष्टका वियोग होनेपर मुखकी विरूपतासे विषाद व्यक्त होना, ये सब कवचसे उपगृहीत क्षपक छोड़ देता है ।

गा०—अथवा कवचसे उपगृहीत वह क्षपक मित्रोंमें, बन्धुबान्धवोंमे, शिष्योंमें साधर्मी जनोंमें और कुलमें, पूर्वमें उत्पन्न हुए रागद्वेषको छोड देता है अर्थात् समाधि स्वीकार करनेसे पूर्वमें या दीक्षा ग्रहण करनेसे पूर्वमें जो रागद्वेष उत्पन्न हुआ है उसे दूर करता है साथ ही आगे भी रागद्वेष नही करता ॥१६८१॥

गा०—तथा ऊपर कहे गये कवचसे उपगृहीत क्षपक यह जानकर कि विषयोकी अभिलाषा मोक्षमार्गकी विराधनाका मूल है, देव और मनुष्य सम्बन्धी भोगोंकी प्रार्थना नहीं करता ॥१६८२॥

गा०-टी०—कवचसे उपगृहीत होनेसे क्षपक इष्ट अनिष्ट शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्धमें, इस लोक और परलोकमें, जीवन और मरणमें, मान और अपमानमे सर्वत्र इष्ट अनिष्ट विकल्पसे मुक्त और रागद्वेषसे रहित होता है । क्योंकि क्षपकके रागद्वेष उत्तमार्थ अर्थात् रत्नत्रय, सम्यक् ध्यान और समाधिमरणको नष्ट कर देते हैं ॥१६८३-१६८४॥

---

1 विरावेंति मु० ।

जदि वि य से चरिमंते समुदीरदि मारणंतियमसायं ।
सो तह वि असंमूढो उवेदि सव्वत्थ समभावं ॥१६८५॥

'जदि वि य से' यद्यपि तस्य क्षपकस्य चरमकालान्ते मारणान्तिकं दुःखं भवेत् सो कवचेनोपगृहीत क्षपकः तथापि असमूढ समभावं सर्वत्रोपैति ॥१६८५॥

एवं सुभाविदप्पा विहरइ सो जाववीरियं काये ।
उ[1]ट्ठाणे संवेसणे सयणे वा अपरिदंतो ॥१६८६॥

'एवं सुभाविदप्पा' निर्यापकेन सूरिणा गदितोर्थ एवमित्युच्यते । तेन सम्यग्भावितचित्तः सन्विहरदि प्रवर्तते अपरिश्रान्तः । 'जाववीरियं काये' यावच्छरीरे बलमस्ति उत्थाने, शयने आसने वा ॥१६८६॥

जाहे सरीरचेट्ठा विगदत्थामस्स से यदणुभूदा ।
देहादि वि ओसग्गं सव्वत्तो कुणइ णिरवेक्खो ॥१६८७॥

'जाहे सरीरचेट्ठा' यदा शरीरचेष्टा विगतबलस्य तस्य स्वल्पा जाता, तदा शरीरादुत्सर्गं करोति सर्वतो मनोवाक्कायैर्निरपेक्ष. ॥१६८७॥

तदेवं शरीरादिकं त्याज्यमुत्तरगाथया दर्शयति—

सेज्जा संथारं पाणयं च उवधिं तहा सरीरं च ।
विज्जावच्चकरा वि य वोसरइ समत्तमारूढो ॥१६८८॥

'सेज्जा' वसतिं । संस्तरं तृणादिकं, पानं पिच्छ, शरीरं च वैयावृत्यकरांश्च व्युत्सृजति । 'समत्तमारूढो' समाप्तं संपूर्णं रत्नत्रयमारूढः ॥१६८८॥

गा०—यद्यपि उस क्षपकको अन्तिम समयमें मरण प्राप्त होनेतक दुःख होता है तथापि वह कवचसे उपगृहीत क्षपक शरीरसे भी मोह न रखता हुआ सर्वत्र समभाव धारण करता है ॥१६८५॥

गा०—इस प्रकार निर्यापकाचार्यके द्वारा कहे गये पदार्थ स्वरूपसे अपने चित्तको सम्यक् रूपसे भावित करके वह क्षपक जबतक शरीरमें शक्ति रहती है तबतक बिना थके उठने बैठने और सोनेमें स्वयं प्रवृत्ति करता है ॥१६८६॥

गा०—जब शक्तिहीन होनेपर उसकी शारीरिक चेष्टा मन्द पड जाती है तब वह मन वचन कायसे निरपेक्ष होकर शरीरका भी त्याग करता है ॥१६८७॥

आगेकी गाथासे शरीर आदिको त्याज्य बतलाते हैं—

गा०—सम्पूर्ण रत्नत्रयमें आरूढ हुआ वह क्षपक वसति, तृणादि रूप संस्तर, पानक, पिच्छी, शरीर तथा वैयावृत्य करनेवालोंका भी त्याग कर देता है अर्थात् उन सबसे भी निरपेक्ष हो जाता है ॥१६८८॥

---

१. उट्ठाणे सयणे वा णिसीयणे —आ० मु० ।

अवहट्टु कायजोगे य विष्पओगे य तत्थ सो सव्वे ।
सुद्धे मणप्पओगे होइ णिरुद्धज्झवसियप्पा ॥१६८९॥

'अवहट्टुकायजोगे' वाग्योगान्काययोगांश्च सर्वान्निराकृत्य असावत्र मनोयोगे शुद्धे स्थितो भवति । विषयान्तरसंचारान्निरुद्धं अध्यवसितं च आत्मरूपं ज्ञानाख्यं यस्य सः ॥१६८९॥

एवं सव्वत्थेसु वि समभावं उवगओ विसुद्धप्पा ।
मित्ती करुणं मुदिदमुवेक्खं खवओ पुण उवेदि ॥१६९०॥

'एवं सव्वत्थेसु वि' एवं सर्ववस्तुषु समतापरिणाममुपगतो विशुद्धचित्तः, मैत्री, करुणां, मुदितामुपेक्षां च पश्चादुपैति क्षपकः ॥१६९०॥

मैत्रीप्रभृतीनां चिन्तानां विषयमुपदर्शयति—

जीवेसु मित्तचिंता मेत्ती करुणा य होइ अणुकंपा ।
मुदिदा जदिगुणचिंता सुहदुक्खधियासणमुवेक्खा ॥१६९१॥

'जीवेसु मित्तचिंता' अनन्तकालं चतसृषु गतिषु परिभ्रमतो घटीयन्त्रवत्सर्वे प्राणभृतोऽपि बहुधा कृत-महोपकारा इति तेषु मित्रताचिन्ता मैत्री । 'करुणा य होइ अणुकंपा' शारीर, आगन्तुक मानस स्वाभाविक च दुःखमसह्यमाप्नुवतो दृष्ट्वा हा वराका मिथ्यादर्शनेनाविरत्या कषायेणाशुभेन योगेन च समुपार्जिताशुभकर्म-पर्यायपुद्गलस्कन्धतदुदयोद्भवा विपदो विवशाः प्राप्नुवन्ति इति करुणा अनुकम्पा । मुदिता नाम यतिगुणचिन्ता यतयो हि विनीता, विरागा, विभया, विमाना, विरोषा, विलोभा इत्यादिका । सुखे अरागा दुःखे वा अद्वेषा उपेक्षेत्युच्यते ॥१६९१॥ समता गता ।

गा०—वह सब काययोगों और वचनयोगोंको दूरकर शुद्ध मनोयोगमें स्थिर होता है । क्योंकि वह अपने ज्ञानरूप आत्माको युक्ति और तर्क वितर्कसे निश्चित करके उसे अन्य विषयोंमे जानेसे रोकता है ॥१६८९॥

गा०—इस प्रकार सब वस्तुओमे समताभाव धारण करके वह क्षपक निर्मल चित्त हो जाता है । फिर मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा भावनाको अपनाता है ॥१६९०॥

मैत्री आदि भावनाओको कहते हैं—

गा०-टी०—अनन्तकाल चारो गतियोमे भ्रमण करते हुए घटीयन्त्रकी तरह सभी प्राणियोने मेरा बहुत उपकार किया है अतः उनमें मित्रताकी भावना होना मैत्री है । असह्य शारीरिक, आगन्तुक, मानसिक और स्वाभाविक दुःखको भोगते हुए प्राणियोंको देखकर, अरे बेचारे मिथ्या-दर्शन, अविरति, कषाय और अशुभ योगसे उपार्जित अशुभ कर्मरूप पुद्गल स्कन्धोंके उदयसे उत्पन्न हुई विपदाओंको विवश होकर भोगते हैं । इस प्रकारके भावको करुणा या अनुकंपा कहते हैं । यतियोंके गुणोंके चिन्तनको मुदिता कहते हैं । यतिगण विनयी, रागरहित, भयरहित, मान-रहित, रोषरहित और लोभरहित होते हैं इत्यादि चिन्तन मुदिता है । सुखमें राग और दुःखमें द्वेष न करना उपेक्षा है ॥१६९१॥

दंसणणाणचरित्तं तवं च विरियं समाधिजोगं च ।
तिविहेणुवसंपज्जिय सव्वुवरिल्लं कमं कुणइ ॥१६९२॥

'दंसणणाणचरित्तं तवं विरियं समाधिजोगं च' तत्त्वश्रद्धानं तत्त्वावगमं, वीतरागतां, अशनत्यागक्रियां, स्वशक्त्याऽनिगूहनं चित्तैकाग्रयोगं । 'तिविहेणुवसंपज्जिय' मनोवाक्कायैः प्रतिपद्य । 'सव्वुवरिल्लं' सर्वेभ्यः पूर्वप्रवृत्तदर्शनादिपरिणामेभ्योऽतिशयितं कमं 'कुणदि' क्रमं दर्शनादिपदन्यासं करोति ॥१६९२॥

शुभध्यानमारुरुक्षतः परिकरमाचष्टे—

जिदरागो जिददोसो जिदिंदिओ जिदभओ जिदकसाओ ।
अरदिरदिमोहमहणो ज्झाणोवगओ सदा होहि ॥१६९३॥

'जिदरागो' स्वतो व्यतिरिक्तेषु जीवाजीवद्रव्येषु तेषां पर्यायेषु रूपरसगंधस्पर्शशब्दाख्येषु विचित्रभेदेषु तत्संस्थानादिषु च यो राग स जितो येन सोऽभिधीयते । तथा मनोज्ञेषु याऽप्रीतिः स दोष उच्यते स च जितो येन स जितदोषः ।

"णेहुत्तुप्पिदगत्तस्स रेणुओ लग्गदे जहा अंगे ।
तह रागदोसणेहोल्लिदस्स [1]कम्मासवो होदि ॥" [मूलाचार २३६] इति ।

जिनवचनाधिगमाद्दुःखभीरुर्यति सर्वदुःखाना मूलकारणभूतौ रागद्वेषाविति मनसा विनिश्चित्य

गा०-टी०—दर्शन अर्थात् तत्त्वश्रद्धान, तत्त्वज्ञान और चारित्र अर्थात् वीतरागता, तप अर्थात् भोजनका त्याग, वीर्य अर्थात् अपनी शक्तिको न छिपाना, तथा समाधियोग अर्थात् चित्तकी एकाग्रता, इन सबको मन वचन कायसे प्राप्त करके क्षपक पूर्वके दर्शन आदिसे विशिष्ट दर्शन आदिमे पग धरता है ॥१६९२॥

विशेषार्थ—मैत्री आदि भावनाके बलसे व्यवहार मोक्षमार्गको प्राप्त करके क्षपक परमार्थ मुक्तिमार्गपर चलनेका प्रयत्न करता है यह इस गाथाके द्वारा कहा है। यह शुभतम ध्यानके लिये प्रयत्नका प्रारम्भ है ॥१६९२॥

आगे शुभध्यानकी सामग्री कहते है—

गा०—जो जितराग, जितद्वेष, जितेन्द्रिय, जितभय, जितकषाय और अरति रति तथा मोहका मथन करता है वह सदा ध्यानमें लीन रहता है।

टी०—अपनेसे भिन्न जीव अजीव द्रव्योमें, रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द रूप उनकी पर्यायोंमें तथा अनेक भेदवाले उनके आकारादिमे जो रागको जीतता है उसे जितराग कहते हैं। तथा अमनोज्ञ वस्तुओमें प्रीतिका अभाव दोष है। जिसने उसे जीत लिया वह जितदोष है। 'जैसे जिसका शरीर तेलसे लिप्त होता है उसके शरीरमें धूल लगती है। उसी प्रकार जो राग द्वेष और स्नेहसे लिप्त होता है उसके कर्मोंका आस्रव हो ा है।'

इस जिनागमको जानकर दुःखसे भीत यति 'सब दुःखोंका मूल कारण रागद्वेष है ऐसा

1. कम्मं मुणेयव्वं —मूला० ।

यस्तयोर्न विपरिणमते सोऽभिधीयते जितरागद्वेषः इति । तस्योपायो जितेन्द्रियतेत्याचष्टे—जह जिदिंदिओ इति वाक्यशेषं कृत्वा सम्बन्धः । 'जिदिंदिओ' इन्द्रियशब्देन रूपाद्यालम्बनोपयोगः परिगृह्यते स जितो येन स उच्यते जितेन्द्रिय इति । कथमसौ मतिज्ञानोपयोगो जेतुं शक्यते इति चेत् श्रुतज्ञानोपयोगे एव वृत्तात्मन' 'सत्यां, युगपदुपयोगद्वयस्यात्मन्येकदा विरोधादप्रवृत्तेः । न च बाह्यद्रव्यालम्बनमुपयोगमन्तरेणास्ति संभवो रागद्वेषयोः । संकल्पपुरोगौ हि ताविति । 'जिदकसायो' क्षमामार्दवार्जवसंतोषपरिणामनिरस्तकषायपरिणामप्रसरो जितकषाय इत्युच्यते । अरते रतेश्च कर्मण उदये उपजातौ रत्यरतिपरिणामौ, मोहो, मिथ्याज्ञानं च सम्यग्ज्ञानभावनया मध्नाति यः स भण्यते 'अरदिरदिमोहमथणो' । एवं निरस्तध्यानप्रतिपक्षपरिणाम । 'ज्झाणोवगदो होदि' ध्यानाख्यं परिणाममाश्रितो भवति । न हि रागादिभिर्व्याकुलीकृतस्य अर्थयाथात्म्यग्राहि भवति विज्ञानं अविचलं च नावतिष्ठते । अविचलमेव वस्तुनिष्ठं ज्ञानं ध्यानमिष्यते ॥१६९३॥

धम्मं चदुप्पयारं सुक्कं च चदुव्विधं किलेसहरं ।
संसारदुक्खभीओ दुण्णि वि ज्झाणाणि सो ज्झादि ॥१६९४॥

'धम्मं चदुप्पयारं' धर्मध्यानं चतुष्प्रकारं । धारयति वस्तुनो वस्तुतामिति धर्मः । स्वभावातिशयादेव चैतन्यादिकाज्जीवादिकं वस्तु भवति । स्वभावातिशयभावादेव वस्तु भण्यते न खरविषाणादि, तेन धर्मशब्दो

मनसे निश्चित करके राग दोषरूप परिणमन नहीं करता। उस यतिको जितराग द्वेष कहते हैं। उसका उपाय है जितेन्द्रिय होना। यहाँ इन्द्रिय शब्दसे रूपादिका आलम्बन लेकर जो उपयोग होता है उसका ग्रहण किया है। उसे जो जीत लेता है वह जितेन्द्रिय है।

यह जो मतिज्ञानरूप उपयोग है इसको कैसे जीता जा सकता है? श्रुतज्ञानरूप उपयोगमें ही मनकी प्रवृत्ति होनेपर मतिज्ञानरूप उपयोग जीता जा सकता है। क्योंकि एक साथ एक आत्मामें दो उपयोगोंका विरोध होनेसे दो उपयोगोकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। और जबतक उपयोगका आलम्बन बाह्य द्रव्य न हो तबतक रागद्वेष नहीं हो सकते। क्योंकि रागद्वेष संकल्प-पूर्वक होते है। तथा जो क्षमा, मार्दव, आर्जव और सन्तोष परिणामसे कषायरूप परिणामोंके प्रसारको निरस्त कर देता है उसे जितकषाय कहते है। अरति और रति कर्मका उदय होनेपर उत्पन्न हुए रति और अरतिरूप परिणामोंको और मोह अर्थात् मिथ्याज्ञानको जो सम्यग्ज्ञानरूप भावनासे मथता है उसे 'अरतिरति मोहमथन' कहते है। इस प्रकार जो ध्यानके विरोधी परिणामो को दूर करता है वह ध्यान नामक परिणामको करता है। जो रागादिसे व्याकुल रहता है उसका ज्ञान न तो अर्थके यथार्थस्वरूपको ही ग्रहण करता है और न निश्चल ही रहता है। और वस्तुनिष्ठ निश्चल ज्ञानको ही ध्यान कहते हैं ॥१६९३॥

गा०—धर्मध्यान चार प्रकारका है और शुक्ल ध्यान भी चार प्रकारका है। ये ही ध्यान कष्टको हरनेवाले हैं। चतुर्गति परावर्तनरूप संसारमें जो दुःख होते हैं उनसे भीत मुनि धर्म और शुक्लध्यानोंको ध्याता है ॥१६९४॥

टी०—जो वस्तुकी वस्तुताको धारण करता है उसे धर्म कहते है। चैतन्य आदिरूप स्वभावके अतिशयसे ही जीवादि वस्तु होती है। स्वभावरूप अतिशयके होनेसे ही वस्तु कहलाती

१. एव वृत्तमात्मनः सत्यं आ०—योगे आत्मनः प्रवृत्तौ सत्या मु० ।

वस्तुस्वभाववाची । धर्माद्वस्तुस्वभावादनपेतमिति धर्म्यमित्युच्यते । यद्येवमार्तादेरपि धर्मादनपेतत्वमस्ति । सम्प्रयुक्तामनोज्ञवस्तुवियोगं, वियुक्तमनोज्ञवस्तुयोगं, रोगातङ्कादिप्रशमनं, अभिमतप्राप्ति च धर्ममाश्रित्य प्रवर्तमानत्वाद्धर्मादनपेततेति । नैष दोषः विवक्षितधर्मविशेषवृत्तिर्धर्मशब्दः । अत एव आज्ञापायविपाकसंस्थान-मित्यादिकैर्धर्मैर्ध्येयैरनपेतत्वाद्ध्यानमाज्ञाविचयादिसंज्ञाभिरुच्यते । ध्येयं ज्ञेयवस्तुस्वरूपं तदविनाभावि च ज्ञानं ध्यानमिति संगतार्थं व्याख्येयं । अन्ये तु व्याचक्षते—क्षमामार्दवार्जवादिकाद्धर्मादनपेतत्वाद्धर्म्यं इति । ननु च ध्यानं ध्येयाविनाभावि न च क्षमादयो धर्मा ध्येया येन तदनपेतत्वमुच्यते । अथ क्षमादिको दशविधो धर्मो ध्येयस्तस्मादनपेतस्तस्यान्यत्राप्रवृत्तेः 'आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यमिति सूत्रं न युज्यते' । उत्तम-क्षमादिधर्मपरिणतादात्मनोऽनपेतत्वात् धर्मादनपेततेति धर्म्यमित्युच्यत इति चेत् शुक्लस्यापि धर्मादनपेतत्वा-द्धर्म्यध्यानता स्यादत्रोच्यते—रूढिशब्देषु क्वचित्संभाविनी क्रियामाश्रित्य शब्दव्युत्पत्तिमात्रं क्रियते । न सा क्रिया तन्त्रं आशुगमनादश्व इति व्युत्पाद्यमानः स्थिते शयिते च प्रवर्तते न चाशुयायिन्यपि वैनतेयादौ प्रवर्तते । तद्वदिहापि शुक्ले न धर्मशब्दो वर्तते । धर्मादन्यत्राप्याज्ञादौ वर्तते । अथ किं ध्यानं, 'उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्ता-

---

है। इसीसे गधेके सींग नामकी कोई वस्तु नही है। अतः धर्म शब्द वस्तुस्वभावका वाचक है। धर्म अर्थात् वस्तु स्वभावसे जो सहित है उसे धर्म्य कहते हैं।

शंका—यदि ऐसा है तो आर्तध्यान आदि भी धर्मसे सहित है। क्योंकि प्राप्त अनिष्ट वस्तुके वियोग, वियुक्त इष्ट वस्तुके संयोग, रोग आदिकी शान्ति और इष्टकी प्राप्ति आदि धर्मको लेकर आर्तध्यान होता है अतः वह भी धर्मसे युक्त होनेसे धर्मध्यान कहा जाना चाहिये ?

समाधान—यह दोष ठीक नही है। यहाँ धर्म शब्द विवक्षित धर्मविशेषको कहता है। अतः आज्ञा, अपाय, विपाक, संस्थान आदि धर्म जिसमे ध्येय होते है उस ध्यानको आज्ञाविचय आदि नामोंसे कहा जाता है। अन्य कुछ आचार्य क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि धर्मों से युक्त होनेसे धर्म्य कहते हैं।

शंका०—ध्यान ध्येयका अविनाभावी है। ध्येयके विना ध्यान नही होता। किन्तु क्षमा आदि धर्म ध्येय नहीं है अतः उनसे युक्त ध्यानको धर्म्य नही कह सकते। यदि क्षमा आदि दस प्रकारका धर्म ध्येय है और उससे सहित ध्यान धर्म्य है तो वह ध्यान अन्यत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता। तब तत्त्वार्थ सूत्रमें जो कहा है कि आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थानका चिन्तन धर्म्यध्यान है वह नहीं बनता; क्योंकि आत्मा तो उत्तम क्षमा आदि धर्मरूपसे परिणत होनेसे उनसे सहित ही है। वह उनसे हटकर अन्यमे प्रवृत्त होता नहीं। यदि कहोगे कि धर्मसे युक्तताका नाम धर्म्य है तो शुक्लध्यान भी धर्मसे युक्त होनेसे धर्म्यध्यान कहलायेगा।

समाधान—रूढ़िशब्दोंमें कहीपर होनेवाली क्रियाको लेकर शब्दकी मात्र व्युत्पत्ति की जाती है किन्तु वह क्रिया सिद्धान्तरूप नहीं होती। जैसे आशु-शीघ्र गमन करनेसे अश्व शब्द निष्पन्न होता है। किन्तु जब वह घोड़ा बैठा होता है या सोता है तब भी उसे अश्व (घोड़ा) ही कहते हैं। तथा गरुड़ वगैरह तेज चलते हैं किन्तु उन्हे अश्व नहीं कहते। उसी तरह यहाँ भी धर्म शब्दसे शुक्लध्यान नहीं कहा जाता। तथा उत्तम क्षमा आदि धर्मों से भिन्न आज्ञाविचय आदिको धर्म्य कहा जाता है।

शंका—ध्यान किसे कहते हैं ?

समाधान—तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा है उत्तम संहनन वालेके एकाग्रचिन्ता निरोधको ध्यान

निरोधो ध्यानम्' [त० सू० ९।२७] इति चेत् षट्सु संहननेष्वाद्यं त्रितयं संहननं च वज्रऋषभनाराचसंहननं, वज्रनाराचसंहननं, नाराचसंहननमिति । तेषु त्रिषु एकं संहननं यस्य स उत्तमसंहननस्तस्य एकमग्रं मुखमस्येत्येकाग्रे यश्चिन्तानिरोधः स ध्यानमित्युच्यते । ननु चिन्तानिरोध' चिन्ताया अभावस्तस्य का एकमुखता, कथं वा कर्मणा भावे अभावे च निमित्तता । आर्तरौद्रयोरशुभकर्मनिमित्ततोच्यते । इतरयोस्तु शुभकर्मणा निमित्तता निर्जरायाश्च हेतुतेष्टा । अत्रोच्यते—न निरोधशब्दोऽत्राभाववाची किंतु रोधवचनो यथा मूत्रनिरोध इति । ननु च परिस्पन्दवतो निरोधो भवति । चिन्तायास्तु को निरोध इत्यत्रोच्यते । '[1]केचित्प्रवदन्ति' नानार्थावलम्बनेन चिन्ता परिस्पंदवती तस्या एकस्मिन्नग्र नियमश्चिन्तानिरोध इति त इदं [2]प्रष्टव्या. । नानार्थाश्रया चिन्ता सा कथमेकत्रैव प्रवर्तते ? एकत्रैव चेत् प्रवृत्ता नानार्थावलम्बनं परिस्पन्दं नासादयतीति निरोधवाचो युक्तिरसगता, 'तस्मादेवमत्र व्याख्यानं [3]चिन्ताशब्देन चैतन्यमुच्यते तच्च चैतन्यमन्यमन्यं चार्थमवगच्छता ज्ञानपर्यायरूपेण वर्तते' इति परिस्पन्दवत्तस्य निरोधो नाम एकत्रैव विषये प्रवृत्तिस्तथा हि य एकत्रैव वर्तते स तत्र निरुद्ध इति भण्यते । उत्तमसंहननप्रयोगादेवार्तरौद्रयोरनुत्तमसंहननेषु तिर्यङ्मानवेषु प्रवृत्तिर्न स्यात् । तेन तद्ध्यानावलम्बनो गतिविभागो न स्यात्तेषामनुभवविरोधश्चेदानीतनानामपि तयोर्वृत्ते' सूत्रान्तरविरोधश्च "तदविरतदेश-

---

कहते है। छह संहननोमेसे आदिके तीन संहनन वज्रर्षभ नाराच संहनन, वज्रनाराच संहनन और नाराच संहनन उत्तम है। इनमेंसे एक संहनन जिसके हो उसे उत्तम सहनन कहते हैं। उसके एक है अग्र अर्थात् मुख जिसका उस एकाग्रमें जो चिन्ताका निरोध है वह ध्यान है।

शङ्का—चिन्ता निरोधका अर्थ होता है चिन्ताका अभाव। अभाव एक मुख कैसा ? तथा अभाव कर्मो के भाव या अभावमे निमित्त कैसे हो सकता है ? आगममें आर्तध्यान और रौद्रध्यानको अशुभ कर्मों के आस्रवबन्धमें निमित्त कहा है। तथा धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानको शुभ कार्यों में निमित्त कहा है तथा निर्जराका भी हेतु कहा है।

समाधान—चिन्ता निरोधमे निरोध शब्दका अर्थ अभाव नही है किन्तु उसका अर्थ है रोकना। जैसे मूत्रनिरोध अर्थात् मूत्रको रोकना।

शङ्का—जिसमें हलन चलन होता है उसका निरोध होता है चिन्ता का निरोध कैसा ?

समाधान—कुछ आचार्य कहते हैं, नाना अर्थो का अवलम्बन करनेसे चिन्ता हलन चलन रूप होती है। उसको एक विषयमें नियमित करना चिन्ता निरोध है। उनसे यह पूछना है कि जब चिन्ता नाना अर्थो का आश्रय लेनेवाली है तो वह एक ही स्थानमे कैसे रुक सकती है ? यदि वह एक ही स्थानमें रुक सकती है तो नाना अर्थो के अवलम्बन रूप परिस्पन्द वाली नही हो सकती। इसलिये उसका निरोध कहना असंगत है। इसलिये चिन्तानिरोधका अर्थ ऐसा करना चाहिये—चिति धातुसे चिन्ता शब्द बना है उसीसे चैतन्य भी बना है। अतः चिन्ता शब्दसे यहाँ चैतन्य कहा है। वह चैतन्य अन्य-अन्य पदार्थो को जानते हुए ज्ञानपर्याय रूपसे वर्तन करता है अतः वह परिस्पन्द वाला है। उसका निरोध अर्थात् एक ही विषयमें प्रवृत्ति। क्योंकि जो एक ही विषयमें प्रवृत्ति करता है उसे वही निरुद्ध कहा जाता है।

शङ्का—ध्यानके लक्षणमें 'उत्तम संहनन' विशेषणका प्रयोग करनेसे अनुत्तम संहननवाले तिर्यञ्चों और मनुष्योंमें आर्तध्यान और रौद्रध्यान नहीं हो सकेंगे। ऐसा होनेसे उन ध्यानोंको लेकर जो गतिका विभाग किया है वह नहीं बनेगा। तथा ऐसा कहना अनुभवसे भी विरुद्ध है

---

१. सर्वार्थसिद्धि ९।२७। २. द्रष्टव्याः अ०, आ०। ३. चितिशब्देन—अ०।

विरतप्रमत्तसंयतानां" "हिंसानृतस्तेयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयो"रिति [त० सू० ९।३५] गुणस्थान-**मात्राश्रयणेनैव स्वामिनिर्देशकृतत्वात् ।**

अत्र प्रतिविधीयते—निर्जराहेतुतया विकल्पे ध्यानेषु तत्प्रस्तुते युक्तं साक्षात् मुक्त्यङ्गं ध्यानं निर्देष्टुमिति मन्यमानेन उत्तमसंहननग्रहणं कृतं सूत्रकारेण । यद्येवं आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानीति सूत्रमुत्तरं नोपपद्यते न निर्जरा-हेतुतास्त्यार्तरौद्रयोरिति । अत्रोच्यते '**उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमितीदं सूत्र**" मुख्यं ध्यानं मुक्त्यङ्गमुद्दिश्य प्रवृत्तमुत्तरं तु सूत्र**मार्तरौद्रधर्म्यशुक्लानी**त्येतदेकाग्रचिन्तानिरोधसामान्यान्तर्भूतं अनभिमतमपि ध्यानं निरूपयति । प्रस्तुतस्यैव ध्यानस्य अनभिमतध्यानविविक्तरूपमधिगमयितुमतः प्रासंगिकयोः आर्त-रौद्रयोरुत्तरन्यास इति न दोषः । अथवोत्तमसंहननग्रहणं वीर्यातिशयवत आत्मन उपलक्षणं, उत्तमसंहननस्य वीर्यातिशयवतो आत्मनो यदेकवस्तुनिष्ठं ध्यानं तत् ध्यानमिति सूत्रार्थः ॥ '**सुक्कं च चदुविधं**' शुक्लं च ध्यानं चतुर्विधं ध्यानं क्लेशहरं संसारदुःखभीरुः चतुर्गतिपरावर्तनेन यानि दुःखानि तेभ्यो भीतः । '**दोण्णि वि**' द्वे '**झाणाणि**' ध्याने धर्म्यशुक्ले '**सो**' क्षपकः '**झादि**' ध्यायति ॥१६९४॥

ण परीसहेहिं संताविदो वि सो झाइ अट्टरुद्दाणि ।
सुट्ठुवहाणे सुद्धं पि अट्टरुद्दा वि णासंति ॥१६९५॥

'**ण परिस्सहेहिं**' स क्षपकः '**परिस्सहेहिं**' परीषहैः । '**संताविदो वि**' बाधितोऽपि '**अट्टरुद्दाणि**' आर्त

क्योंकि आजके मनुष्योंके भी आर्त और रौद्रध्यान होते हैं। तथा उक्त कथनका विरोध अन्य सूत्रोंसे भी होता है। क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रमें ही गुणस्थान मात्रका आश्रय लेकर आर्त और रौद्रध्यानके स्वामियोंका कथन किया है। यथा—आर्तध्यान अविरत, देशविरत और प्रमत्तसयतो के होता है। रौद्रध्यान अविरत और देशविरतके होता है।

समाधान—तत्त्वार्थसूत्रकारने नौवें अध्यायमें निर्जराके कारणोंका विवेचन करते हुए जब ध्यानका वर्णन किया तो 'साक्षात् मुक्तिकारण ध्यानका निर्देश करना उचित है' ऐसा मानकर ध्यानके लक्षणमें उत्तम संहननपदका ग्रहण किया है।

'शंका—यदि ऐसा है तो 'आर्त रौद्र धर्म और शुक्ल' ये चार ध्यान है ऐसा सूत्र नही कहना चाहिये था क्योंकि आर्त रौद्र निर्जराके कारण नही है।

समाधान—'उत्तम संहनन' इत्यादि सूत्र जो मुख्य ध्यान मुक्तिके कारण हैं उनको लक्ष्य करके रचा गया है। आगेका सूत्र, जिसमें ध्यानके चार भेदोंके नाम गिनाये हैं, एकाग्र चिन्ता निरोध सामान्यमें अन्तर्भूत सब ध्यानोंको बतलाता है। अर्थात् आर्त रौद्रमें भी ध्यान सामान्यका लक्षण घटित होता है इसलिये ध्यानके भेदोंमें उनको गिनाया है। यद्यपि वे मोक्षके कारण नही हैं। अतः अनिष्ट ध्यानोंसे भिन्न प्रस्तुत धर्म्य शुक्लध्यानोंका ही स्वरूप बतलानेके लिये सूत्रकारने आर्त और रौद्रध्यानोंका कथन किया है। अथवा उत्तम संहनन पद अतिशय वीर्यशाली आत्माका उपलक्षण है। उत्तमसंहनन अर्थात् अतिशय वीर्यसे विशिष्ट आत्माके जो एक वस्तुनिष्ठ ध्यान होता है वही ध्यान है, ऐसा उस सूत्रका अर्थ होता है। संसारसे भीत क्षपक धर्म्य और शुक्ल-ध्यानोंको ध्याता है ॥१६९४॥

गा०—वह क्षपक परीषहोंसे पीड़ित होनेपर भी आर्त और रौद्रध्यान नहीं करता। क्योंकि

रौद्रं च 'ण झाइ' ना ध्याति। 'सुट्ठुवहाणे' सुष्ठु उपधाने। शुद्धमपि 'अट्टरुद्दाणि णासंति' आर्तरौद्रध्याने नाशयतः ॥१६९५॥

अट्टे चउप्पयारे रुद्दे य चउव्विधे य जे भेदा।
ते सव्वे परिजाणदि संथारगओ तओ खवओ ॥१६९६॥

'अट्टे चदुप्पयारे' आर्त्ते चतुःप्रकारे, 'जे भेदा रुद्दे य चदुव्विधे' ये भेदाः। 'ते सव्वे परिजाणदि' तान् सर्वान् विजानाति। 'संथारगदो' संस्तरगत.। 'तओ खवगो' असौ क्षपकः। यो यत् परिहर्तुमिच्छुः स कथं तत्तत्त्वतोऽनवबुध्यमानो नियोगतः परिहरेदिच्छेद्[1] वार्थं आर्तरौद्रं परिहरन् तस्मात् ज्ञातव्ये ते इति दर्शयति ॥१६९६॥

अमणुण्णसंपओगे इट्ठिविओए परिस्सहणिदाणे।
अट्टं कसायसहियं झाणं भणियं समासेण ॥१६९७॥
तेणिक्कमोसहिंसारक्खणेसु तह चेव छव्विहारंभे।
रुद्दं कसायसहियं झाणं भणियं समासेण ॥१६९८॥
अवहट्टु अट्टरुद्दे महाभये सुग्गदीए पच्चूहे।
धम्मे सुक्के य सदा होदि समण्णागदमदी सो ॥१६९९॥

'अवहट्टु' अपहृत्य। 'अट्टरुद्दे' आर्त्तरौद्रे। महतो भयस्य हेतुत्वान्महाभये। 'सुग्गदीए पच्चूहे' सुगतेर्विघ्नभूते। 'धम्मे सुक्के वा' धर्म्ये शुक्ले वा ध्यानेऽसौ क्षपकः। 'समण्णागदमदी सो होदि' सम्यगनुपरत-मतिर्भवति ॥१६९७॥१६९८॥१६९९॥

आर्त और रौद्र ध्यान सुष्ठु उपधान अर्थात् संक्लेशरहित परिणामोंसे, विशुद्ध अर्थात् कर्मोंको निर्जीर्ण करनेकी शक्तिसहित भी समीचीन ध्यानको नष्ट कर देते हैं ॥१६९५॥

गा०—आर्तध्यानके जो चार भेद हैं और रौद्रध्यानके जो चार भेद हैं वे सब सस्तरपर आरूढ़ क्षपक जानता है। जो जिसको त्यागना चाहता है वह उसको यदि यथार्थरूपसे नहीं जानता तो कैसे उसका त्याग कर सकता है। अतः क्षपकको आर्त और रौद्र ध्यानोंका स्वरूप जानना चाहिये। इसलिये उनको भी बतलाते हैं ॥१६९६॥

गा०—अनिष्ट संयोग, इष्टवियोग, परीषह (वेदना) और निदान ये संक्षेपमें कषायसहित आर्तध्यानके चार भेद हैं ॥१६९७॥

गा०—चोरी, झूठ, और हिंसाका रक्षण तथा छह प्रकारके आरम्भको लेकर संक्षेपसे कषाय सहित रौद्रध्यानके चार भेद हैं ॥१६९८॥

गा०—सुगतिमें विघ्न डालनेवाले और महान् भयके कारण होनेसे महाभयरूप रौद्र और आर्तध्यानको त्यागकर वह सम्यक् बुद्धिसम्पन्न क्षपक धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानको ध्याता है ॥१६९९॥

---

1. विच्छवि वार्य —अ०।

किमर्थमसौ ध्यानयोः शुभयोर्वर्तत इत्याशङ्कायां ध्यानप्रवृत्तौ कारणमाचष्टे—

इंदियकसायजोगणिरोधं इच्छं च णिज्जरं विउलं ।
चित्तस्स य वसियत्तं मग्गादु अविप्पणासं च ॥१७००॥

'इंदियकसायजोगणिरोध' स्पर्शादिरूपजातं उपयोग इन्द्रियशब्देनोच्यते । कषायाः क्रोधादयस्तैर्योगः सम्बन्धस्तस्य निरोधं निवारणामिच्छन्निर्जरां च विपुलामिच्छन्, वस्तुयाथात्म्यसमाहितचित्तस्य नेन्द्रियविषयजन्योपयोगसंभवः, कषायाणां चोत्पत्तिः **'चित्तस्स य वसियत्तं'** चित्तस्य स्ववशतां इच्छन् स्वेष्टे विषये चित्तमसकृत्स्थापयतोऽनिष्टाच्च व्यावर्तयतः स्ववशं भवति चित्तं । **'मग्गादो अविप्पणासं च'** मार्गाद्रत्नत्रयादविप्रणाशं च वाञ्छन्, अशुभध्यानप्रवृत्तो रत्नत्रयात्प्रच्युतो भवामीति ध्याने प्रयतते ॥१७००॥

ध्यानपरिकरप्रतिपादनायोत्तरगाथा—

किंचिवि दिट्ठिमुपावत्तइत्तु झाणे णिरुद्धदिट्ठीओ ।
अप्पाणंहि सदिं संधित्ता संसारमोक्खट्ठं ॥१७०१॥

'किंचिवि दिट्ठिमुपावत्तइत्तु' बाह्यद्रव्यालोकात् किंचिच्चक्षुर्व्यावर्तयित्वा । **'झाणे णिरुद्धदिट्ठीओ'** एकविषये परोक्षज्ञाने निरुद्धचैतन्यः । दृष्टिनिमित्ते हि चैतन्ये दृष्टिशब्दोऽत्र युक्तः[1] । **'अप्पाणंहि'** आत्मनि । **'सदिं'** स्मृतिं । **'संधित्ता'** संधाय । स्मृतिशब्देनात्र श्रुतज्ञानेनावगतस्यार्थस्य स्मरणमुच्यते, **'संसारमोक्खट्ठं'** संसारविमुक्तये ॥१७०१॥

वह क्षपक किसलिये शुभ ध्यान करता है ? इस शंकाके उत्तरमें उसके कारण कहते हैं—

गा०—इन्द्रिय और कषायोंसे सम्बन्धको रोकने, अत्यधिक निर्जराको चाहने, चित्तको वशमें करने और रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गको नष्ट न होने देनेके लिये क्षपक शुभ ध्यान ही करता है ॥१७००॥

टी०—यहाँ इन्द्रिय शब्दसे स्पर्श आदिसे उत्पन्न हुआ उपयोग कहा है । कषायसे क्रोधादि लिये हैं । जिसका चित्त वस्तुके यथार्थ स्वरूपसे समाधान युक्त होता है उसकी प्रवृत्ति इन्द्रियोंके विषयसे उत्पन्न हुए उपयोगकी ओर नहीं होती और न कषायोंकी उत्पत्ति होती है । तथा जो अपने इष्ट विषयमें चित्तको बार-बार स्थापित करता है और अनिष्टसे चित्तको हटाता है उसका चित्त अपने वशमें रहता है । क्षपक जानता है कि यदि मैं अशुभ ध्यानमें लगा तो रत्नत्रयसे च्युत हो जाऊँगा । इन कारणोंसे वह शुभ ध्यान करता है ॥१७००॥

आगे ध्यानकी सामग्री कहते हैं—

गा०-टी०—बाह्य द्रव्यको देखनेकी ओरसे आँखोंको किञ्चित् हटाकर अर्थात् नाकके अग्र भागपर दृष्टिको स्थिर करके, एक विषयक परोक्षज्ञानमें चैतन्यको रोककर शुद्ध चिद्रूप अपनी आत्मामें स्मृतिका अनुसन्धान करे । गाथामें 'निरुद्ध दृष्टि' पद है । यहाँ दृष्टिमें निमित्त चैतन्यमें दृष्टि शब्दका प्रयोग किया है । और स्मृति शब्दसे श्रुतज्ञानके द्वारा जाने गये अर्थका स्मरण लिया है । अर्थात् दृष्टिको नाकके अग्रभागमें स्थापित करके किसी एक परोक्ष वस्तु विषयक

---

१. चैतन्यदृष्टि निमित्ते शब्दोऽत्र युक्तः —अ० आ० । —चैतन्यः दृष्टिनिमित्ते चैतन्ये दृष्टिशब्दो मूलारा० ।

पच्चाहरित्तु विसयेहिं इंदियाइं मणं च तेहिंतो ।
अप्पाणम्मि मणं तं जोगं पणिधाय धारेदि ॥१७०२॥

'**पच्चाहरित्तु**' प्रत्याहृत्य । '**विसयेहिं**' विषयेभ्यः । '**इंदियाइं**' इन्द्रियाणि '**मणं च**' मनश्च व्यावर्त्य । '**तेहिंतो**' विषयेभ्यः । '**मणं तं धारेदि**' तन्मनो धारयति । क्व ? '**अप्पाणंहि**' आत्मनि । '**जोगं**' योगं वीर्यान्तरायक्षयोपशमजवीर्यपरिणाम । '**पणिधाय**' 'प्रणिधाय स्थाप्य । एतदुक्तं भवति वीर्यपरिणामेन नोइंद्रियमति धारयतीति ॥१७०२॥

कृतमनोनिरोधः किं करोतीत्याशङ्कयाह—

एयग्गेण मणं रुंभिऊण धम्मं चउव्विहं झादि ।
आणापायविवागं विचयं संठाणविचयं च ॥१७०३॥

'**एयग्गेण**' एकध्येयमुखतया । '**मणं रुंभिऊण**' मनो निरुध्य । '**धम्मं**' धर्म्यं वस्तुस्वभाव । '**चदुव्विहं**' चतुर्विधं चतुर्विकल्पं । '**झादि**' ध्यायति । अभ्यन्तरपरिकरोऽयमुक्तः **सूत्रकारेण** । बाह्यः परिकर उच्यते । पर्वतगुहायां, गिरिकन्दरे, दर्यां, तरुकोटरे, नदीपुलिने, पितृवने, जीर्णोद्याने, शून्यागारे वा व्यालमृगाणां पशूनां, पक्षिणां, मनुष्याणां वा ध्यानविघ्नकारिणां सन्निधानशून्ये, तत्रस्थैरागन्तुभिश्च जीवैर्वर्जिते, उष्णशीतातपवातादिविरहिते, निरस्तेन्द्रियमनोविक्षेपहेतौ, शुचावनुकूलस्पर्शे भूभागे मन्दं-मन्दं प्राणापानप्रचारः नाभेरूर्ध्वं हृदि ललाटेऽन्यत्र वा मनोवृत्तिं यथापरिचयं प्रणिदधानोऽनि बाह्यपरिकर । '**आणापायविवागविचये**' आज्ञा-

---

ज्ञानमें मनको लगाकर श्रुतसे जाने हुए विषयोंका स्मरण करते हुए आत्मामें लीन हो। यह ध्यान संसारसे छूटनेके लिये किया जाता है ॥१७०१॥

गा०—विषयोंसे इन्द्रियोंको और मनको हटाकर वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए वीर्य परिणामको स्थापित करके आत्मामे मनको लगाता है। अर्थात् वीर्य परिणामसे अपनी शुद्ध आत्मामें मनको धारण करता है ॥१७०२॥

मनको रोककर क्या करता है, यह कहते हैं—

गा०—एक विषयमें मनको रोककर आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय इन चार प्रकारके धर्मध्यानको ध्याता है ॥१७०३॥

टी०—ग्रंथकारने यह ध्यानकी अभ्यन्तर सामग्री कही है। टीकाकारने बाह्य सामग्री इस प्रकार कही है—

पर्वतकी गुफामे, या पहाड़की कन्दरामे, या वृक्षके कोटरमे या नदीके किनारे या स्मशान में या उजड़े हुए उद्यानमे या शून्य मकानमें, जहाँ ध्यानमें विघ्न करनेवाले सर्प मृग आदि पशु पक्षी और मनुष्योंका वास न हो, तथा वहाँ रहनेवाले और इधर-उधरसे आनेवाले जीव जन्तु न हों, गर्म या सर्द, घाम और वायु आदिसे रहित हो, जहाँ इन्द्रिय और मनको चंचल करनेके साधन न हो। ऐसे स्थानमे जो जमीनका भाग साफ सुथरा हो, उसका स्पर्श अनुकूल हो, उसपर स्थित होकर धीरे-धीरे श्वास उच्छ्वास लेते हुए नाभिसे ऊपर हृदयमे या मस्तकपर अथवा अन्य स्थानमें अपने मनोव्यापारको रोकता है। यह ध्यानकी बाह्य सामग्री है। ऐसा करके चार प्रकारका धर्मध्यान करता है। उनमेसे आज्ञाविचय नामक धर्मध्यानका स्वरूप कहते है—

विचयमपायविचयं, विपाकविचयं, 'संठाणविचयं च' संस्थानविचयं च । तत्राज्ञाविचयो निरूप्यते—कर्माणि समूलोत्तरप्रकृतीनि तेषां चतुर्विधो बन्धपर्याय उदयफलविकल्पः जीवद्रव्यं मुक्त्यवस्थेत्येवमादीनामतीन्द्रियत्वात् श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षाभावात् बुद्ध्यतिशये असति दुरवबोधं यदि नाम वस्तुतत्त्वं तथापि सर्वज्ञज्ञानप्रामाण्यात् आगमविषयतत्त्वं तथैव नान्यथेति निश्चयः सम्यग्दर्शनस्वभावत्वान्मोक्षहेतुरित्याज्ञाविचारनिश्चयज्ञानं आज्ञाविचयाख्यं धर्मध्यानं । अन्ये तु वदंति स्वयमधिगतपदार्थतत्त्वस्य परं प्रतिपादयितुं सिद्धान्तनिरूपितार्थप्रतिपत्तिहेतुभूतयुक्तिगवेषणावहितचित्ता सर्वज्ञज्ञानप्रकाशनपरा अनया युक्त्या इयं सर्वविदामाज्ञावबोधयितुं शक्येति प्रवर्तमानत्वादाज्ञाविचय इत्युच्यत इति । अनादौ संसारे स्वैरंमनोवाक्कायवृत्तेर्मम अशुभमनोवाक्कायेभ्योऽपायः कथं स्यादिति अपाये विचयो मीमांसास्मिन्नस्तीत्यपायविचयं द्वितीयं धर्मध्यानं । जात्यन्धसंस्थानीया मिथ्यादृष्टयः समीचीनमुक्तिमार्गापरिज्ञानात् दूरमेवापयन्ति मार्गादिति सन्मार्गापाये प्राणिनां विचयो विचारो यस्मिंस्तदपायविचयं इत्युच्यत इति । मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रेभ्यः कथमिमे प्राणिनोऽपेयुरिति स्मृतिसमन्वाहारोऽपायविचयः ॥ विपाकविचय उच्यते—समूलोत्तरप्रकृतीनां कर्मणामष्टप्रकाराणां चतुर्विधबन्धपर्यायाणां मधुरकटुकविपाकानां तीव्रमध्यमंदपरिणामप्रपञ्चकृतानुभवविशेषाणां द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षाणा एतासु गतिषु योनिषु वा इत्थंभूतं फलमिति विपाके कर्मफले विचयो विचारोऽस्मिन्निति विपाकविचयः । वेत्रासनझल्लरीमृदंगसंस्थानो लोक इति लोकत्रयसंस्थाने विचयो विचारोऽस्मिन्निति संस्थानविचयता ॥१७०३॥

मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृतियों सहित कर्म, उनके चार प्रकारके बन्ध, उदय और फलके भेद, जीव द्रव्य, मुक्ति अवस्था ये सब और इसी प्रकारके अन्य पदार्थ अतीन्द्रिय हैं। तथा श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमका प्रकर्ष न होनेसे विशेष बुद्धि भी नहीं है। ऐसी अवस्थामें यद्यपि वस्तु तत्त्व समझमें नहीं आता तथापि सर्वज्ञके ज्ञानके प्रमाण होनेसे आगममें तो तत्त्व जैसा कहा है, वह वैसा ही है, अन्य रूप नहीं है, इस प्रकारका निश्चय सम्यग्दर्शन रूप होनेसे मोक्षका कारण है। इस प्रकार सर्वज्ञकी आज्ञाके विचारका निश्चयरूप ज्ञान आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान है। अन्य कुछ आचार्य ऐसा कहते हैं—स्वयंको तो पदार्थों और तत्त्वोंका सम्यग्ज्ञान है। किन्तु दूसरोंको समझानेके लिये सिद्धान्तमें कहे गये अर्थोंका ज्ञान करानेमें हेतुभूत युक्तियोंकी खोजमें मनको लगाना कि इस युक्तिके द्वारा सर्वज्ञकी आज्ञाको समझाया जा सकता है, इसे भी सर्वज्ञकी आज्ञाके प्रकाशनमें संलग्न होनेसे आज्ञाविचय धर्मध्यान कहते हैं। इस अनादि संसारमें स्वच्छन्द मन वचन कायकी प्रवृत्तिमेंसे मेरा अशुभ मन वचन कायसे अपाय अर्थात् छुटकारा कैसे हो इस प्रकार अपायका विचय अर्थात् विचार जिसमें हो वह अपायविचय नामक दूसरा धर्मध्यान है। जन्मसे अन्धे मनुष्योंके समान मिथ्यादृष्टि जीव समीचीन मोक्षमार्गको न जाननेसे मोक्षमार्गसे दूर ही रहते हैं। इस प्रकार सन्मार्गसे प्राणियोंके भटकनेका विचय अर्थात् विचार जिसमें हो उसे अपायविचय कहते हैं। अथवा संसारके ये प्राणी मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रसे कैसे अलग हों, कैसे उसे छोड़ें इस प्रकार बार-बार चिन्तन करना अपायविचय है। विपाकविचयका स्वरूप कहते हैं—मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृति सहित आठ प्रकारके कर्मोंका और उनके चार प्रकारके बन्धोंका तथा द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षासे तीव्र मध्य और मन्द परिणामों के विस्तारसे होनेवाले विपाकका तथा उनके मधुर और कटुक फलोंका कि इन गतियोंमें अथवा योनियोंमें इस प्रकारका फल होता है। इस तरह विपाक अर्थात् कर्मफलका विचय अर्थात् विचार जिसमें हो वह विपाकविचय धर्मध्यान है। अधोलोकका आकार वेत्रासनके समान है, मध्यलोक-

धर्मध्यानस्य लक्षणं निर्दिशति—

धम्मस्स लक्खणं से अज्जवलहुगत्तमद्दवुवदेसा ।
उवदेसणा य सुत्ते णिसग्गजाओ रुचीओ दे ॥१७०४॥

'धम्मस्स लक्खणं से' से तस्य । 'धम्मस्स' धर्मस्य ध्यानस्य । 'लक्खणं' लक्षणं । लक्ष्यते धर्म्यं ध्यानं येन तल्लक्षणं । 'अज्जवलहुगत्तमद्दवुवदेसा' आकृष्टान्तद्वयतन्तुवत् कुटिलताविरह आर्जवं । 'लहुगत्तं' लघुता निस्संगता जात्याद्यष्टविधाभिमानाभावो मार्दवं । उपेत्य जिनमतं देशनं कथनमुपदेशः हितोपदेश इति यावत् । आर्जवादिभिः कार्यैर्लक्ष्यते धर्मध्यानमिति आर्जवादिकः लक्षणं । न ह्यार्तरौद्रे आर्जवादिकं संपादयतः । यदार्जवादिकं परिणाममात्मनः करोति तद्धर्म्यध्यानमिति लक्षणभावः । अथवा आर्जवादिपरिणामसद्भाव एव धर्म्यध्यानं प्रवर्तते नासत्यार्जवादौ । नहि मानमायालोभकषायाविष्टो धर्मे प्रवर्तते, तेनार्जवादिक कारणं तेन लक्ष्यते धर्म्यमिति लक्षणतार्जवादीनाम् ॥१७०४॥

आलंबणं च वायण पुच्छण परिवट्टणाणुपेहाओ ।
धम्मस्स तेण अविरुद्धाओ सव्वाणुपेहाओ ॥१७०५॥

आलम्बनप्रतिपादनायोत्तरगाथा । 'आलम्बणं च' आश्रयश्च । कस्य ? 'धम्मस्स' धर्मध्यानस्य, 'वायण पुच्छण परिवट्टणाणुपेहाओ' वाचना प्रश्नः, परिवर्तनमनुप्रेक्षेति स्वाध्यायविकल्पाः । वाचनादिस्वाध्यायाभावे

का आकार झल्लरी गोल झांझके समान और ऊर्ध्वलोकका आकार मृदंगके समान है । इस प्रकार तीनों लोकोंके संस्थानका विचय अर्थात् विचार जिसमें हो वह संस्थानविचय धर्मध्यान है॥१७०३॥

धर्मध्यानका लक्षण कहते हैं—

गा०—आर्जव, लघुता, मार्दव, उपदेश और जिनागममे स्वाभाविक रुचि ये धर्मध्यानके लक्षण हैं ॥१७०४॥

टी०—जिससे धर्मध्यानकी पहचान होती है वह उसका लक्षण है । एक धागेको दोनों ओरसे ताननेपर जैसे उसमें कुटिलता नहीं रहती, सरलता रहती है उसी प्रकारकी सरलताको आर्जव कहते हैं । लघुता अनासक्ति और निर्लोभताको कहते हैं । जाति आदि आठ बातोंका गर्व न करना मार्दव है । 'उप' अर्थात् किसीके पास जाकर 'देश' अर्थात् जिनमतका कथन करना उपदेश है अर्थात् हितोपदेश है । आर्जव आदि कार्यो से धर्मध्यान पहचाना जाता है इसलिये आर्जव आदि धर्मध्यानके लक्षण हैं । आर्त और रौद्रध्यान वालोंको आर्जव आदि नहीं होते । जो आत्माके आर्जव आदिरूप परिणाम करता है वह धर्मध्यान है । इस प्रकार आर्जवादि धर्मध्यानके लक्षण हैं । अथवा आर्जव आदि परिणामके होनेपर ही धर्मध्यान होता है, आर्जव आदिके अभावमें नहीं होता । जो मान, माया और लोभसे घिरा रहता है वह धर्ममें प्रवृत्ति नहीं करता । अतः आर्जवादिक धर्मध्यानके कारण हैं उनसे धर्मध्यानकी पहचान होती है । इसीलिये आर्जव आदि धर्मध्यानके लक्षण हैं ॥१७०४॥

आगेकी गाथासे धर्मध्यानके आलम्बन कहते हैं—

गा०—वाचना, पृच्छना, परिवर्तन और अनुप्रेक्षा ये धर्मध्यानके आलम्बन हैं । तथा सब अनुप्रेक्षा धर्मध्यानके अविरुद्ध हैं ॥१७०५॥

वस्तुयाथात्म्यज्ञानमेव नास्तीति ध्यानाभावः। स तु स्वाध्यायो भवति ज्ञानमविचलं ध्यानसंज्ञितमित्यालम्बनता स्वाध्यायस्य। 'तेण' तेन धर्मेण ध्यानेनाविरुद्धा 'सव्वाणुपेहाओ' सर्वानुप्रेक्षाः एकदैकत्राश्रये वृत्तेरविरोधः। अनित्यतादिवस्तुस्वभावानुप्रेक्षणमनुप्रेक्षास्ताश्चालम्बनं ध्यानमिति। एतेनानुप्रेक्षाया ध्यानेऽन्तःपातित्वमाचक्षाणेनानुप्रेक्षोपन्यासे बीजाधानं कृतम् ॥१७०५॥

पूर्वोक्तान् धर्मस्य चतुरो भेदान् व्याचष्टे चतसृभिर्गाथाभिः। तत्राज्ञाविचयं निरूपयति—

पंचेव अत्थिकाया छज्जीवणिकाए दव्वमण्णे य।
आणागेज्झे भावे आणाविचएण विचिणादि ॥१७०६॥

'पंचेव अत्थिकाया' पञ्चास्तिकाया जीवाः पुद्गलधर्मास्तिकाया धर्मास्तिकाया अधर्मास्तिकाया आकाशमिति। तान् 'छज्जीवणिकायो' षड्जीवनिकायान्[1] 'दव्व' कालाख्यं द्रव्य 'अण्णे य' अन्यांश्च कर्मबन्धमोक्षादीन्। 'आणागेज्झे भावे' सर्वज्ञाज्ञयागम्यान्भावान्। 'आणाविचयेण' आज्ञाविचयाख्येन धर्मध्यानेन 'विचिणादि' विचारयति। सर्वविद्भिरपास्तरागद्वेषैः परमकारुणिकैः [2]यथामी निरूपितास्तं तथैवेति चिन्ताप्रबन्ध आज्ञाविचय इति यावत्। 'आणापायविवागविचये' इत्यस्मिन्पाठे अपायविचयो नाम धर्मध्यानमिति गाथापूर्वार्धेन व्याचष्टे ॥१७०६॥

कल्लाणपावगाणउपाये विचिणादि जिणमदमुवेच्च।
विचिणादि वा अवाए जीवाण सुभे य असुभे य ॥१७०७॥

'कल्लाणपावगाण उपाये' तीर्थंकरपददायकाना दर्शनविशुद्ध्यादीनामुपायान् निःशङ्कादीन् विचिनोति

टी०—वाचना, प्रश्न करना, पाठ करना, अर्थका चिन्तन करना ये सब स्वाध्यायके भेद हैं। यदि वाचना आदि स्वाध्याय न किया जाये तो उसके अभावमे वस्तुके यथार्थस्वरूपका ज्ञान ही न होनेसे ध्यानका अभाव प्राप्त होता है। वह स्वाध्याय ज्ञान रूप है और निश्चल ज्ञानका नाम ध्यान है। अतः स्वाध्याय ध्यानका आलम्बन है। तथा सब अनुप्रेक्षाएँ एक समयमे एक आश्रयमें रह सकती हैं अतः वे भी धर्मध्यानके अनुकूल हैं। वस्तुके अनित्य आदि स्वभावका चिन्तन अनुप्रेक्षा है अतः वे भी ध्यानकी आलम्बन हैं। इस प्रकार ग्रन्थकारने अनुप्रेक्षाओंको ध्यानमें अन्तर्भूत कहकर आगे अनुप्रेक्षाओंके कथन करनेका बोज बो दिया है ॥१७०५॥

आगे चार गाथाओंसे धर्मध्यानके चार भेदोंको कहते है। सबसे प्रथम आज्ञाविचयको कहते हैं—

गा०-टी०—पाँच अस्तिकाय हैं—जीव, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश। इन अस्तिकायोंको, तथा पाँच प्रकारके स्थावरकाय और त्रसकाय इन छह जीवनिकायोंको, कालद्रव्यको तथा अन्य कर्मबन्ध मोक्ष आदिको जो सर्वज्ञकी आज्ञासे ही गम्य है, आज्ञाविचय नामक धर्मध्यानके द्वारा विचार करता है। परम दयालु और राग-द्वेषसे रहित सर्वज्ञ देवने जिस रूपमें इन्हें कहा है वे उसी रूप हैं। इस प्रकारके चिन्तनको आज्ञाविचय धर्मध्यान कहते हैं ॥१७०६॥

गा०—तीर्थङ्कर पदको देनेवाले दर्शनविशुद्धि आदिके उपाय निःशंकित आदिका विचार

---

१. यान् कालदव्वं कालाख्यं –अ० मु०। २. यथानीति –आ०।

'जिणमदं' जिनकथितं उपदेशं । 'विचिणादि वा अपाये जीवाणं सुभे य असुभे य' जीवानां शुभाशुभकर्मविषयानपायान् तान्विचारयति । एतदुक्तं भवति शुभाशुभकर्मणः कथमपायो भवति जीवस्य इति चिन्ताप्रवाहोऽपायविचयो नाम । स्पष्टार्थोत्तरगाथा ॥१७०७॥

> [1]एयाणेयभवगदं जीवाणं पुण्णपावकम्मफलं ।
> उदओदीरणसंकमबंधे मोक्खं च विचिणादि ॥१७०८॥
> अह तिरियउड्ढलोए विचिणादि सपज्जए ससंठाणे ।
> एत्थेव अणुगदाओ अणुपेहाओ वि विचिणादि ॥१७०९॥

'अह तिरिय उड्ढलोए' ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकान् । 'विचिणादि' विचारयति । कीदृग्भूतान् । 'सपज्जए' सपर्ययान् संस्थानसहितान् सपर्यायत्रिभुवनसंस्थानविचारपरं संस्थानविचयाख्यं धर्मध्यानं । 'एत्थेव' अत्रैव । 'अणुगदाओ' अनुगता । 'अणुपेहाओ वि' अनुप्रेक्षा अपि । 'विचिणादि' विचारयति । अनित्यत्वादिस्वभावविचारं करोति धर्मध्याने इति कथितं भवति ॥१७०८॥१७०९॥

काश्ता अनुप्रेक्षा इत्याशंकायामध्रुवादीननुप्रेक्षान्निरूपयत्युत्तरप्रबन्धेन—

> [2]अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णसंसारलोयमसुइत्तं ।
> आसवसंवरणिज्जर धम्मं बोधिं च चिंतिज्ज ॥१७१०॥

जिनभगवान्के द्वारा कथित उपदेशके अनुसार करता है। अथवा जीवोंके शुभ और अशुभ कर्मविषयक अपायोंका विचार करता है। इसका अभिप्राय यह है कि जीव शुभ और अशुभ कर्मों से कैसे छूटे इस प्रकारका सतत चिन्तन अपायविचय है ॥१७०७॥

गा०—जीवोंके एक भव या अनेक भव सम्बन्धी पुण्यकर्म और पापकर्मके फलका तथा उदय, उदीरणा, संक्रम, बन्ध और मोक्षका विचार करता है ॥१७०८॥

टी०—कर्मों के फल, उदय, उदीरणा, संक्रम, बन्ध तथा मोक्ष आदिका चिन्तन करना विपाकविचय धर्मध्यान है। क्रमसे कर्मों का अनुभवन होना उदय है और अक्रमसे कर्मों का फल देना उदीरणा है। अर्थात् जो कर्म उदयमें नहीं आ रहा है उसकी स्थितिको बलपूर्वक घटाकर कर्मका उदयमें लाना उदीरणा है। और एक कर्म प्रकृतिका अपनी सजातीय अन्य प्रकृतिरूप बदलना संक्रम है। इन सबका चिन्तन विपाकविचय धर्मध्यान है ॥१७०९॥

गा०—पर्याय अर्थात् भेद सहित तथा वेत्रासन, झल्लरी और मृदंगके समान आकार सहित ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोकका चिन्तन करना संस्थानविचय धर्मध्यान है। इसी संस्थानविचयमें सम्बद्ध अनुप्रेक्षाओंका भी विचार करता है अर्थात् धर्मध्यानमें संसारके अनित्यत्वादि स्वभावका विचार करता है ॥१७०९॥

आगे अध्रुव आदि अनुप्रेक्षाओंका कथन करते हैं—

गा०—अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि इन बारह अनुप्रेक्षाओंका चिन्तन करना चाहिये ॥१७१०॥

---

१. अ० प्रतौ गाथेयं नास्ति । २. एतां श्रीविजयो नेच्छति ।

लोगो विलीयदि इमो फेणोव्व सदेवमाणुसतिरिक्खो ।
रिद्धीओ सव्वाओ सुविणयसंदंसणसमाओ ॥१७११॥

'लोगो विलीयदि इमो' लोको विलयमुपयाति । किमिव ? **'फेणोव्व'** फेनवत् । **'सदेवमाणुसतिरिक्खो'** देवैर्मानुषैस्तिर्यग्भिश्च समन्वित. । इत्यनेन लोकत्रयस्यापि विनाशिताभिहिता । **'रिद्धीओ सव्वाओ'** ऋद्धयः सर्वा । **'सुविणयसंदंसणसमाओ'** स्वप्नज्ञानसमा. । ननु **'लोगो विलीयदि इमो'** इत्यनेन सर्वस्यानित्यता व्याख्याता, ऋद्धयादयोऽपि लोकान्तर्भूता इति किमर्थं भेदोपन्यास ? । अत्रोच्यते । समुदायस्यावयवात्मकस्यावयवानित्यतामन्तरेण तदनित्यता न सुखेनावगम्यत इति भिदोपन्यस्यते ॥१७१०॥१७११॥

द्रव्यगतो लोभो महान् प्राणभृता तन्मूलत्वादिन्द्रियसुखस्य । प्राणानप्ययं त्यजति द्रव्यनिमित्तमतस्तदनित्यतामेव प्रागुपदर्शयति निस्सगतामात्मन सपादयितु—

विज्जूव चंचलाइं दिट्ठपणट्ठाइं सव्वसोक्खाइं ।
जलबुब्बुदोव्व अधुवाणि हुंति सव्वाणि ठाणाणि ॥१७१२॥

विज्जूव चंचलाइं विद्युदिव चञ्चलानि, **'दिट्ठपणट्ठाइं'** दृष्टप्रणष्टानि, **'सव्वसोक्खाइं'** सर्वाणि सुखानि अभिमतरूपादिविषयपञ्चकस्य प्रपञ्चस्य सन्निधानादुपजातानि यानि च मन समुत्थानि सर्वेषा वा मानवाना तिरश्चा दिविजाना वा सुखानि सुखलम्पटतया जन. क्लेशाशनिशतनिपातमपि सहते, तानि च नीरभरविन¹नसभाग²म्भीरधारारावनीलनीरदोदरपरिस्फुरत्तडिल्लतेव,एतेनानित्यतादोषोत्प्रकटनेन सासारिकसुखपराङ्मुखतोपायो निगदित । **'जलबुब्बुदोव्व'** जलबुद्बुदवत् । **'अधुवाणि'** अध्रुवाणि । **'होंति'** भवन्ति ।

गा०-टी०—देव, मनुष्य और तिर्यञ्चोके साथ यह लोक जलके फेनके समान विनाशको प्राप्त होता है। इससे तीनो लोकोको विनाशशील कहा है। सब ऋद्धियाँ भी स्वप्नज्ञानके समान विनाशीक हैं।

शङ्का—लोक विनाशशील है इससे सबको अनित्य कह दिया है। ऋद्धि आदि भी लोकके अन्तर्भूत हैं। फिर अलगसे उनको विनाशी कहनेका क्या प्रयोजन है ?

समाधान—समुदाय अवयवात्मक है। अत: अवयवोकी अनित्यताके विना समुदायकी अनित्यताका ज्ञान सुखपूर्वक नही होता। इससे ऋद्धियोको अलगसे अनित्य कहा है ॥१७११॥

प्राणियोको द्रव्यका लोभ बहुत अधिक होता है, क्योकि इन्द्रिय सुखका मूल द्रव्य है। इसीसे वह द्रव्यके लिये प्राणों तकको त्याग देता है। अत आत्माको नि संग बनानेके लिये प्रथम द्रव्यकी अनित्यता ही दर्शाते हैं—

गा०-टी०—इष्ट रूप आदि पाँच विषयोंके समूहके सम्बन्धसे उत्पन्न तथा मनसे उत्पन्न सब मनुष्यो तिर्यञ्चों और देवोंका सब सुख बिजलीके समान चपल है और देखते-देखते नष्ट होनेवाला है। आशय यह है कि मनुष्य सुखका लम्पटी होनेसे सैकडों वज्रपातोंके गिरनेसे होनेवाले कष्टको भी सहता है। किन्तु वे सब सुख जलके भारसे नम्र हुए गम्भीर धीर शब्द करने वाले नीले बादलोंके उदरमे चमकने वाली बिजुलीकी तरह हैं। इस अनित्यता दोषको प्रकट करनेसे सांसारिक सुखसे विमुख होनेका उपाय कहा है। तथा सब स्थान जलके बुलबुलेकी तरह अध्रुव हैं।

---

१. नतभभग –अ० । २ नीरवोषपरि –अ० ।

'ठाणाणि सव्वाणि' सर्वाणि स्थानानि। तिष्ठन्त्येतेषु जीवा इति स्थानानि ग्रामनगरपत्तनादीनि। इदं मदीयं स्थानं अत्राहं वसामीति मा कृथाः संकल्पं। तानि अनित्यानि नित्यबुद्धया परिगृहीतानि विनाशे सङ्क्लेशानानयन्तीति कथितं। अथवा तिष्ठन्त्यस्मिन्स्वकृतविचित्रकर्मोदयात्प्राणभृत इतीन्द्रत्वं, चक्रलाञ्छनत्वं, गणाधिपतित्वं वा एतानि स्थानान्यनित्यानि ॥१७१२॥

णावागदाव बहुगइपधाविदा हुंति सव्वसंबंधी।
सव्वेसिंआसया वि अणिच्चा जह अब्भसंघाया ॥१७१३॥

'णावागदाव' जलयानपात्रारूढा इव 'बहुगविपधाविदा हुंति सव्वसंबंधी' विचित्रशुभाशुभपरिणामोपात्तगतिकर्मवशात्तदुपनीयमानदेवमानवनारकतिर्यगाख्यगतिपर्यायग्रहणाय कृतप्रयाणा बन्धवः सर्वेऽपि। एतेन[1] बन्धुताया अनित्यतोक्ता। उपात्तगत्यपरित्यागे बन्धुता स्थिरा भवति, उपात्ता चेत् त्यक्तान्या च गृहीता पितृपुत्रादीनां गत्यन्तरमुपगतामपि बन्धुत्वे स्वजनपरजनविवेक एव न स्यादिति मन्यते। 'सव्वेसिं आसया वि' सर्वेषामाश्रया अपि यानाश्रित्य प्राणिनो जीवितुमुत्सहन्ते तेप्याश्रयाः स्वामी भृत्य. पुत्रो भ्रातेत्येवमादयोऽनित्या यथा अब्भसंघाया अभ्रसघाता इव ॥१७१३॥

संवासो वि अणिच्चो पहियाणं पिण्डणं व छाहीए।
पीदी वि अच्छिरागोव्व अणिच्चा सव्वजीवाणं ॥१७१४॥

'संवासो वि' सहावस्थानमपि बन्धुभिर्मित्रैः परिजनैर्वा, 'अणिच्चो' अनित्यः। 'पहियाणं पिण्डणं व

जिनमें जीव ठहरते हैं उन्हे स्थान कहते हैं। वे स्थान हैं—गाँव, नगर आदि। यह मेरा स्थान है। मैं यहाँ रहता हूँ। ऐसा संकल्प तुम मत करो। वे स्थान अनित्य हैं। उन्हे नित्य समझकर ग्रहण करनेपर यदि वे नष्ट होते हैं तो मनमें बड़ा सक्लेश होता है। अथवा अपने किये विचित्र कर्मके उदयसे प्राणी जिनमें रहते हैं वे स्थान हैं इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद, गणधरपद। ये सब स्थान अनित्य हैं ॥१७१२॥

गा०—टी०—सब सम्बन्धी विचित्र शुभ या अशुभ परिणामोंसे बांधे गये गति नामकर्मके वशसे प्राप्त मनुष्यगति, देवगति, नारकगति और तिर्यञ्चगति रूप पर्यायको ग्रहण करनेके लिये जानेवाले हैं अतः वे नावपर सवार यात्रियोंके समान हैं। जैसे नावपर सवार यात्री अपने-अपने स्थानपर चले जाते हैं उसी प्रकार हमारे सम्बन्धी अपने-अपने परिणामोंके अनुसार गति नामकर्मका बन्ध करके मरकर अपनी-अपनी गतिमें चले जाते हैं। इससे बन्धुताको अनित्य कहा है। जो जिस गतिमें है वह उसी गतिमें रहे, उसे छोड़े नही तो बन्धुपना स्थिर होता है। जिस गतिमे है उसे छोड़ अन्य गतिको ग्रहण करे तो नित्य कैसे हुई। जो पिता पुत्र आदि मरकर दूसरी गतिमे चले गये फिर भी यदि वे अपने बन्धु हैं तो अपने और परायेका भेद ही नहीं रहता। तथा जिन आश्रयोंसे प्राणी जीवित रहते हैं वे आश्रय भी, जैसे स्वामी और सेवक, पत्र, भ्राता आदि ये सब मेघपटलके समान अनित्य हैं ॥१७१३॥

गा०—टी०—जैसे नाना दिशाओं और नाना देशोंसे आये हुए और भिन्न-भिन्न स्थानोंको

---

१. त्यक्तान्या—मु०। २. प्राणिन इ—आ० मु०।

'छाहीए' नानादिग्देशागताना पथिकाना भिन्नस्थानयायिना मार्गोपकण्ठस्थितनिबिडत[1]रपलाशालंकार-वितताशाखाकरशतनिवारितघर्मरश्मिप्रसरतरुवरशीतलाविरलविपुलछायाया पान्थाना समाज इव। 'पीदीवि' प्रीतिरपि। 'अच्छि रागोव्व' प्रणयकलहपासुपातदूषितप्रियतमालुठन्पाठीनोदरधवललोचनान्तराग इव अनित्या सर्वजीवाना। तथाह्यप्रियाचरणविषकणिकाप्रणयलोचनप्रलय स विवधातीति प्राणभृतामनुभवसिद्धमेव ॥१७१४॥

रत्तिं एगम्मि दुमे सउणाणं पिण्डणं व संजोगो।
परिवेसोव अणिच्चो इस्सरियाणाधणारोग्गं ॥१७१५॥

'रत्ति' रात्रौ। 'एगम्मि दुमे' एकस्मिन् द्रुमे। 'सगुणाणं' पक्षिणा। 'पिण्डणं व' पिण्डितमिव 'सजोगो' सयोगो [2]यस्यामस्तद्रुमाभिमुखं तत्र वय प्राप्स्यामोन्योन्यमित्यकृतसंकल्पाना यथाकथचिदन्योन्यप्राप्तिरल्पकाला तथा प्राणभृतामपि समानकालकालमारुतप्रेरितानामेकस्मि[3]न् कुलवटपिनि कतिपयदिनभावीसप्रयोग.। 'परिवेसो व' परिवेष इव। 'अणिच्चं' अनित्य। कि? 'इसरियाणाधणारोगं' ऐश्वर्य प्रभुता आज्ञा धन आरोग्य च ॥१७१५॥

इंदियसामग्गी वि अणिच्चा संझाव होइ जीवाणं।
मज्झण्हं व णराणं जोव्वणमणवट्ठिदं लोए ॥१७१६॥

'इंदियसामग्गीवि' इन्द्रियाणा सामग्र्यपि। 'अणिच्चा' अनित्या। अधता वधिरता च दृश्यत एव। 'मज्झण्ह व' मध्याह्नवत्, 'णराणं जोव्वणमणवट्ठिद लोगे' नराणा यौवनमनवस्थित लोके यौवनोऽहमिति जन

जानेवाले पथिक मार्गके समीपमें स्थित अत्यन्त घने पलाश आदि वृक्षोंके फैले हुए शाखाभारसे सूर्यके तेजको दूर करनेवाले वृक्षोंकी शीतल और घनी छायामें अपना समाज, बनाकर बैठते है और धूप ढलनेपर अपने-अपने स्थानोंको चले जाते है। उन्हींकी तरह मित्र, बन्धु और परिजनोके साथ सहवास भी अनित्य है। वे भी आयु पूरी होनेपर अपने-अपने स्थानोंको चले जाते है। तथा सब जीवोकी प्रीति भी अनित्य है। जैसे प्रेमकलहके कारण या धूल पड जानेसे प्रिय स्त्रीकी क्रीडा करती हुई मछलियोंके उदर भागके समान श्वेत लोचनोंके कोनोमे ललामी अनित्य है। अप्रिय आचरणरूपी विषकी कनी प्रेमरूपी नेत्रोंको नष्ट कर देती है यह बात सब प्राणियोंके अनुभवसे सिद्ध है अतः प्रीति भी अनित्य है ॥१७१४॥

गा०—जैसे पक्षी सूर्यके अस्त होनेपर हम अमुक वृक्षपर मिलेंगे, ऐसा परस्परमें सकल्प नहीं करते। फिर भी जिस किसी प्रकार कुछ समयके लिये परस्परमे मिल जाते है। उसी प्रकार संसारके प्राणी भी समान कालरूप वायुसे प्रेरित्त होकर एक कुलरूपी वृक्षपर कुछ दिनोके लिये आ मिलते हैं। तथा ऐश्वर्य, प्रभुता, आज्ञा, धन और आरोग्य भी सूर्यकी परिधिकी तरह अनित्य हैं ॥१७१५॥

गा०-टी०—सन्ध्याकालकी तरह इन्द्रियोंकी सामग्री भी अनित्य है। क्योकि लोकमें अन्धे और बहरे मनुष्य देखे जाते हैं। तथा मध्याह्न कालकी तरह लोकमें मनुष्योंका यौवन भी अनव-

---

१. तरखदिरपलाशालकारविनतशा—आ० मु०। २. योग सूर्यस्य बस्ते द्रुमा—आ०।
३. मेकैक—आ०।

श्लाघ्यते, मौकुलवर्णविकाराद्देव बुध्यमानोऽपि धर्मे न प्रयतते तदनित्यं मध्याह्नवत्। क्षिप्रतरं व्यतिवर्तिनि यौवने [1]का यौवनकृतोत्तीर्णमदः स्याच्च मनस्विनाम् ॥१७१६॥

चंदो हीणो व पुणो वड्ढदि एदि य उदू अदीदो वि।
णदु जोव्वणं णियत्तइ णदीजलमदच्छिदं चेव ॥१७१७॥

'चंदो हीणोव पुणो वड्ढदि' नित्यराहुमुखकुहरप्रवेशाद्धानिमुपगतोऽपि निशानाथः कृष्णपक्षे हीयते हीनो भवति। 'पुणो वड्ढदि' पुनः शुक्लपक्षे वर्द्धते। प्रतिदिनोपचीयमानकालः। 'एदि य उदू अदीदोवि' हिमशिशिरवसन्तादयोऽतीता अपि ऋतवः पुनरायान्ति 'ण दु जोव्वणं णियत्तेदि' नैव यौवनं निवर्ततेऽतिक्रान्तम् तस्मिन्नेव भवे 'णदीजलमदच्छिदं चेव' नदीजलमतिक्रान्तमिव न पुनरेति। तद्वदिदं यौवनमित्यनेनानित्यतातिशयो यौवनस्य दर्शितः ॥१७१७॥

धावदि गिरिणदिसोदं व आउगं सव्वजीवलोगम्मि।
सुकुमालदा वि हायदि लोगे पुव्वण्हछाही व ॥१७१८॥

'धावदि गिरिणदिसोदंव' धावति गिरिनदीप्रवाह इव। किं? 'आउगं' आयुः। 'सव्वजीवलोगंहि' सर्वस्मिन् जीवलोके। 'सुकुमालदा वि हीयदि' सुकुमारतापि हीयते। 'पुव्वण्ह छाही व' पूर्वाह्णछाया इव। यथा यथोद्गच्छति तामरसबन्धुस्तथा तथोपसंहरति छाया शरीरादीनां ॥१७१८॥

अवरण्हरुक्खछाही व अट्ठिदं वड्ढदे जरा लोगे।
रूवं पि णासइ लहुं जलेव लिहिदल्लयं रूवं ॥१७१९॥

'अवरण्हरुक्खछाहीव' अपराह्णवृक्षच्छायेव। 'अट्ठिदं वड्ढदे' अस्तित्व वर्द्धते। क्रियाविशेषणत्वान्नपुंसकता। 'जरा लोगे' लोके। सौख्यपल्लवदवानलशिखा, सौभाग्यप्रसूनकरकावृष्टिः, युवतिहरिणालीव्याघ्री,

---

स्थित है। मनुष्य 'मैं युवा हू' इस प्रकारसे अपनी प्रशंसा करता है। यौवनके घमण्डसे ही जानते हुए भी धर्ममें प्रयत्नशील नहीं होता। किन्तु वह यौवन मध्याह्नकालकी तरह अनवस्थित है। इस प्रकार शीघ्र ही जानेवाले यौवनका मनस्वियोंको मद कैसा? अर्थात् यौवनका मद करना उचित नहीं है ॥१७१६॥

गा०—टी०—प्रतिदिन राहुके मुखरूपी बिलमें प्रवेश करनेसे चन्द्रमा कृष्णपक्षमें घटता है और पुनः शुक्लपक्षमें प्रतिदिन बढ़ता है। तथा हेमन्त, शिशिर, वसन्त आदि ऋतुएँ भी जाकर पुनः लौटती हैं। किन्तु बीता हुआ यौवन उसी भवनमें नहीं लौटता। जैसे नदीमें गया जल फिर वापिस नहीं आता। उसी प्रकार यौवन भी जाकर वापिस नहीं आता। इससे यौवनकी अत्यन्त अनित्यता दिखलाई है ॥१७१७॥

गा०—सर्व जीवलोकमें आयु पहाड़ी नदीके प्रवाहकी तरह दौड़ती है। सुकुमारता भी पूर्वाह्णकी छायाके समान दौड़ती है। जैसे-जैसे सूर्य ऊपर उठता है वैसे-वैसे शरीरादिकी छाया घटती जाती है। उसी तरह ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती है त्यों-त्यों सुकुमारता कम होती है ॥१७१८॥

गा०—टी०—जैसे अपराह्ण कालमें वृक्षोंकी छाया बढ़ती है वैसे ही लोकमें एक बार

---

1. को गुणो मदः स्याच्च —आ०।

ज्ञानलोचनपांशुवृष्टिस्तपस्तामरसवनस्य हिमानी, दीनताया जननी, परिभवस्य धात्री, मृतेर्दूती, भीतेः प्रियसखी या जरा सा वर्द्धते । 'रूवंपि आसवि लहु' रूपमपि विलासिनीकटाक्षेक्षणशरशततूणीरायमाणं, चेतोवस्त्रसूक्ष्मवसनरञ्जने कौसुम्भरसायमानं, प्रीतिलतिकाया मूलं, सौभाग्यतरुफलं, कूलं पूज्यताया यद्रूपं तल्लघु विनश्यति ॥ किमिव ? 'जलेव लिहिदेल्लयं रूवं' जले लिखितरूपमिव ॥१७१९॥

तेओ वि इंदधणुतेजसण्णिहो होइ सव्वजीवाणं ।
दिट्ठपणट्ठा बुद्धी वि होइ उक्काव जीवाणं ॥१७२०॥

'तेओवि इंदधणुतेजसण्णिहो' शरीरस्य तेजोपि पौलोमीप्रियतमचापस्य तेज इव गर्वाञ्जननयनचेतः-प्रमोदादायि क्षणेन क्षयमुपव्रजति । **'दिट्ठपणट्ठा'** दृष्टप्रणष्टा **'बुद्धि वि'** सकलवस्तुयाथात्म्यावकुण्ठ[1]ज्ञाज्ञानतमःपटलपाटनपटीयसी, विचित्रदुःखग्राहकदम्बकाकीर्णकुगतिविशालनिम्नगाप्रवेशनिवारणोद्यता, चारित्रनिधिप्रकटनक्षमादीपवर्ति, सकलसम्पदाकर्षणविद्या शिवगतिनायिकासंफली एवंभूता बुद्धिरप्युल्केवाशु नाशमुपयाति ॥१७२०॥

अदिवडइ बलं खिप्पं रूवं धूलीकदंबरछाए ।
वीचीव अद्धुवं वीरियंपि लोगम्मि जीवाणं ॥१७२१॥

'अतिवडइ बल खिप्पं' क्षिप्रमतिपतति बल **'रूवं धूलीकदंबरछाए'** रथ्याया पांशुरचितरूपमिव ।

आनेपर बुढापा बढ़ता जाता है। यह बुढापा सुन्दरतारूपी कोमल पत्तोके लिये वनकी आगकी लपटके समान है। सौभाग्यरूपी पुष्पोंके लिये ओलोकी वर्षाके समान है। तारुण्यरूपी हरिणोकी पक्तिके लिये व्याघ्रके समान है। ज्ञानरूपी नेत्रके लिये धूलकी वर्षाके समान है। तपरूपी कमलोके वनके लिये बर्फ गिरनेके समान है। अर्थात् वृद्धावस्थाके आनेपर सुन्दरता, सुभगता, तारुण्य, ज्ञान और तप सब क्षीण हो जाते है। यह वृद्धावस्था दीनताकी माता है, तिरस्कारकी धाय है, मृत्युकी दूती है और भयकी प्रिय सखी है। तथा जलमे लिखे हुए रूपके समान रूप भी शीघ्र नष्ट हो जाता है। यह रूप सुन्दर स्त्रियोंके कटाक्षरूपी सैकड़ों बाणोंके लिये तूणीरके समान है अर्थात् पुरुषके रूपको देखकर स्त्रियाँ उसपर कटाक्षबाण चलाती हैं। चित्तरूपी सूक्ष्मवस्त्रको रगनेके लिये कुसुम्भके रगके समान है। प्रीतिरूपी लताका मूल है। सौभाग्यरूपी वृक्षका फल है। पूज्यताका किनारा है। ऐसा रूप भी शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥१७१९॥

गा०-टी०—शरीरका तेज भी इन्द्र धनुषके तेजके समान है। जैसे इन्द्रधनुषकी कान्ति मनुष्योके नेत्रों और चित्तको आनन्दकारी होती है किन्तु क्षणभरमे नष्ट हो जाती है वही दशा शरीरकी कान्तिकी भी है। जो बुद्धि समस्त वस्तुओंके यथार्थस्वरूपको ढाकनेवाले अज्ञानरूपी अन्धकारके पटलको नष्ट करनेमे अतिशय दक्ष है, विचित्र दुःखरूपी मगरमच्छोंके समूहसे व्याप्त कुगतिरूपी विशाल नदीमें प्रवेश करनेसे रोकनेमे तत्पर है, चारित्ररूपी निधिको प्रकट करनेमें दीपककी बतीके समान है, समस्त सम्पदाओंको लानेवाली विद्यातुल्य है और मोक्षगतिरूपी नायिकाकी सखी है, ऐसी बुद्धि भी शीघ्र ही नष्ट हो जाती है ॥१७२०॥

गा०—जैसे मार्गमें धूलीसे रचा गया आकार शीघ्र नष्ट हो जाता है वैसे ही जीवोंका

१. कुठनाज्ञान—आ०।

'वीचीव' चण्डप्रभंजनाभिघातोत्थापितत्तरलतरंगमालेव, 'अद्धुवं' अध्रुवं । 'वीरियं' वीर्यमपि । जीवानां शरीरस्य दृढता बलं वीर्यमात्मपरिणामः ॥१७२१॥

हिमणिचओ वि व गिहसयणासणभंडाणि होंति अधुवाणि ।
जसकित्ती वि अणिच्चा लोए संज्झब्भरागोव्व ॥१७२२॥

स्पष्टोत्तरगाथा—

किह दा सत्ता कम्मवसत्ता सारदियमेहसरिसमिणं ।
ण मुणंति जगमणिच्चं मरणभयसमुत्थिया संता ॥१७२३॥

'किह' कथं तावत् । 'अणिच्चं जगं ण मुणंति' जगदनित्यं न जानन्ति । के ? [1]'सत्ता' सीदन्ति स्वकृतपापवशात्तासु तासु योनिष्विति सत्त्वाः । 'सारदियमेहसरिसमिणं' शरदृतुसमुद्गतनैकवर्णविचित्र-संस्थानजीमूतमालासदृशं । 'मरणभयसमुत्थिया संता' मरणं विषं [2]'पृषतमजीवितस्य सरित्कूलं प्रियवियोगदार-कस्य, शोकाशनेर्जलदपटलं, अयस्कान्तोपलः दुःखलोहाकर्षणे, बन्धुहृदयोपलानां द्रावकमौषधमायतापदामायतनं एवंभूतमरणभयसमुत्थिता' सन्तः । एवमनित्यतामशेषवस्तुविषयां ध्येयीकृत्य प्रवर्तते धर्म्यं ध्यानं । अद्धुव ॥१७२३॥

अशरणताकथनायोत्तरप्रबन्धः । कर्माण्यात्मपरिणामोपार्जितानि कषायपरिणामोपनीतचिरकालस्थितीनि सन्निहितक्षेत्रकालभावाख्यसहकारिकारणानि यदा फलमशुभं प्रयच्छंति तदा तानि न निवारयितुं कश्चित्स-मर्थोऽस्ति तेनाशरणोऽस्म्यहमिति चिन्ताप्रबन्धः कार्यं इत्याचष्टे—

णासदि मदी उदिण्णे कम्मे ण य तस्स दीसदि उवाओ ।
अमदंपि विसं मत्थं तणं पि णीया वि हुंति अरी ॥१७२४॥

बल शीघ्र नष्ट हो जाता है। तथा जीवोंका वीर्य भी प्रचण्ड वायुके अभिघातसे उठी हुई चंचल तरंगमालाके समान अध्रुव है। जीवोंके शरीरकी दृढताको बल और जीवोंके आत्मपरिणामको वीर्य कहते हैं। ये दोनों ही शीघ्र नष्ट होनेवाले हैं ॥१७२१॥

गा०—घर, शय्या, आसन, भाण्ड ये सब भी बर्फके समूहकी तरह अध्रुव हैं। तथा लोक-में यशकी कीर्ति भी सन्ध्याके समय आकाशकी लालिमाकी तरह अनित्य है ॥१७२२॥

गा०—मरणके भयसे युक्त होनेपर भी अपने-अपने कामोंमें लीन प्राणी शरत् कालके मेघके समान इस जगत्को अनित्य क्यों नही जानते ॥१७२३॥

टी०—अपने किये हुए पापके वशसे उन-उन योनियोंमें जो कष्ट उठाते हैं उन्हे सत्त्व कहते है। यह जगत् शरद् ऋतुमें उठे हुए अनेक रंग और अनेक आकार वाले मेघमालाके समान अनित्य है। तथा जिन्हे अपना जीवन प्रिय है उनके लिये मरण विषके समान है। प्रियजनके वियोगरूपी वृक्षके लिये नदीका तट है। शोकरूपी वज्रपातके लिये मेघपटल है। दुःखरूपी लोहको लानेके लिये चुम्बक पत्थर है। बन्धुओंके हृदयरूपी पत्थरको पिघलानेके लिये औषध है। मरने पर कठोर हृदय कुटुम्बियोंका भी मन पिघल जाता है। लम्बी विपत्तियोंका घर है। ऐसा मरणके भयको जानते हुए भी लोग जगत्की अनित्यताको नहीं समझते यह आश्चर्य और खेदकी बात है ॥१७२३॥

---

१. सत्ता विवोति स्व—आ०। २. वृषतनजी—अ०।

'नासदि मदी' नश्यति मतिः। 'उदिण्णे कम्मे' उदीर्णे कर्मणि। बुद्धिर्द्विधा स्वाभाविकी आगमभवा च। सा द्वयी यस्यासौ हितमवैति नेतरः। उक्तं च—

> द्विधेह बुद्धिं प्रवदन्ति सन्तः स्वाभाविकीमागमसंभवाञ्च।
> बुद्धिद्वयी यस्य शरीरिणः स्यादिष्टं हितं सो लभते न चान्यः ॥१॥
> स्वाभाविकी यस्य मतिर्विशुद्धा, तीर्थाधिवाप्तं न तु शास्त्रमस्ति।
> द्रष्टुं हितं धर्ममसौ न शक्तो भाषां [1]विना रूपमिवाप्यनन्धः ॥२॥
> तीर्थाधिवाप्तं श्रुतमस्ति यस्य स्वाभाविकी नास्ति मतिर्विशुद्धा।
> श्रुतस्य नाप्नोति फलं स तस्य दीपस्य हस्तेऽपि सतो यथान्धः ॥३॥
> किं दर्पणेनावृतलोचनस्य [2]विदान भोगस्य धनेन वा किम्।
> शस्त्रेण किं वा युधि भीरुकस्य तथैव किं मन्दमतेः श्रुतेन ॥४॥

ईदृशी बुद्धिर्नश्यति ज्ञानावरणाख्ये कर्मण्युदयमुपागते। तच्च ज्ञानावरणं बध्नाति जन्तुर्ज्ञानिनां ज्ञानस्य ज्ञानोपकरणानां च द्वेषान्निह्नवादुपघातात् मात्सर्याद् विघ्नकरणादासादनाद् दूषणात्। ज्ञानादेर्निग्रहकरणाद-

इस प्रकार अध्रुवभावनाका कथन समाप्त हुआ। आगे अशरणभावनाका कथन करते हैं—

कर्मबन्ध आत्माके परिणामोंसे होता है। जीवके ही कषायरूप परिणामोंका निमित्त पाकर उन कर्मोंकी दीर्घ स्थिति होती है। प्राप्त द्रव्य क्षेत्र काल और भाव उनके सहकारी कारण होते हैं। जब वे कर्म अशुभ फल देते हैं तो उनको कोई रोक नहीं सकता। अतः मै अशरण हूँ ऐसा विचारना चाहिये, यह कहते हैं—

गा०–टी०—कर्मका उदय होनेपर बुद्धि नष्ट हो जाती है। बुद्धि दो प्रकारकी होती है एक स्वाभाविक और दूसरी आगमिक। जिसके दोनो प्रकारकी बुद्धि होती है वह अपने हितको जानता है। जिसके वह बुद्धि नही होती वह नहीं जानता। कहा भी है—

सन्त पुरुष दो प्रकारकी बुद्धि कहते हैं—एक स्वाभाविक, दूसरी आगमसे उत्पन्न हुई। जिस शरीरधारीके ये दोनों बुद्धियाँ होती हैं वह अपने इष्ट हितको प्राप्त करता है। जिसके दोनो बुद्धिया नही है वह हितको प्राप्त नही कर सकता। जिसके पास स्वाभाविक विशुद्ध बुद्धि तो है किन्तु जिसने शास्त्राभ्यास करके आगमिक बुद्धि प्राप्त नही की है वह हितकारी धर्मको उसी प्रकार नही देख सकता, जैसे दृष्टिसम्पन्न पुरुष रूपको देखते हुए भी भाषाके बिना उसको कह नही सकता। जिसके पास गुरुसे प्राप्त शास्त्र तो है किन्तु उसे समझनेकी स्वाभाविक विशुद्ध बुद्धि नहीं है वह भी श्रुतका फल नहीं प्राप्त कर सकता। जैसे अन्धा पुरुष हाथमें दीपक होते हुए भी उसका फल नही पाता। जिसके लोचन मुदे हैं उसे दर्पणसे क्या लाभ ? जो न दान देता है न भोगता है उसे धनसे क्या लाभ ? जो डरपोक है उसे युद्धमे शस्त्रसे क्या लाभ ? इसी तरह मन्दबुद्धि पुरुषको शास्त्रसे क्या लाभ ?॥

ज्ञानावरण नामक कर्मका उदय आनेपर इस प्रकारकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। ज्ञानियोंसे, ज्ञानसे और ज्ञानके उपकरणोंसे द्वेष करनेसे, ज्ञानको और ज्ञानके साधनोंको छिपानेसे, प्रशंसनीय ज्ञानमें दूषण लगानेसे, ईर्षावश किसीको ज्ञानदान न करनेसे, किसीके ज्ञानाराधनमें बाधा डालनेसे,

---

१ ना वाचमिवा –आ०। २. स्यादि –अ०।

काले पठनात् परेन्द्रियोपघातकारणाच्च[1] अर्जितं अवग्रहेहावायधारणाविकल्पं मतिज्ञानं श्रुतादिकं वा नाशयति । उक्तं च—

> अवग्रहीतुं च तथेहितुं च सोऽवेहितुं धारयितुं च सम्यक् ।
> नालं भवत्यर्जितवान्पुरा यः कर्माधमं ज्ञानधृतेर्निमित्तम् ॥१॥
>
> अन्धश्च पश्यन् बधिरश्च शृण्वन् जिह्वां विनाऽसौ रसमास्वादयन् ।
> [2]त्वचो विनाशे वरशीतकादि जानन्नसौ कर्मविपाकबद्धः ॥२॥
>
> घ्राणं विना गन्धमयं हि जीवो जानाति नित्यं निखिलं अपश्च ।
> परन्तु बोधावृतिकर्मनाम्ना प्रोद्भासतो न विषयेषु वेत्ति ॥३॥
>
> एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रियतां भजेत् स त्रीन्द्रियत्वं चतुरिन्द्रियत्वम् ।
> तेनावृतः कर्ममहाम्बुदेन प्राप्नोति जीवो विमनस्कतां च ॥४॥
>
> द्रष्टुं हितं श्रोतुमथेहितुं च कर्तुं च दातुं विधिना च भोक्तुम् ।
> स्वकर्मणा तेन नरो वृतस्सन् न बुध्यमानः पशुमेति साम्यम् ॥५॥
>
> स्वबुद्धि[3]मात्रामपि लब्धमाप्तुं श्रेयः समीपस्थमि[4]हाप्यविद्वान् ।
> सुदूरसंस्थं च [5]श्रुतोऽभिगम्यं स केन विन्द्यात् परलोकपथ्यम् ॥६॥

प्रशस्त ज्ञानकी प्रशंसा न करनेसे, जीव ज्ञानावरण कर्मका बन्ध करता है। तथा ज्ञानादिका निग्रह करनेसे, अकालमें स्वाध्याय करनेसे, दूसरेकी इन्द्रियोका घात करनेसे संचित मतिज्ञानका, जिसके अवग्रह ईहा अवाय और धारणा भेद हैं तथा श्रुतज्ञान आदिका नाश हो जाता है। कहा है—

जो पहले ज्ञानको रोकनेमें निमित्त नीच कर्म उपार्जित कर चुका है, वह सम्यक्रूपसे पदार्थको अवग्रहण करनेमें, ईहित करनेमें, अवायरूपसे जाननेमें तथा जाने हुएको धारण करनेमें समर्थ नहीं होता। अर्थात् उसे पदार्थोका अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप ज्ञान नहीं होते। यह जीव आँखोंके बिना देखता है। कानोंके बिना सुनता है। जिह्वाके बिना रसोंका स्वाद लेता है। त्वचाके बिना शीत आदिका अनुभव करता है। किन्तु कर्मोसे बद्ध होनेमें ऐसा नहीं कर सकता। तथा यह जीव बिना नाकके गन्धको जानता है किन्तु ज्ञानावरण नामक कर्मका उदय होनेसे इन्द्रियोंके बिना विषयोंको नहीं जानता। उस ज्ञानावरण नामक कर्मरूपी महामेघसे ढका होनेसे यह जीव एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय और असैनी पञ्चेन्द्रिय होता है। अपने ज्ञानावरण कर्मके उदयसे मनुष्य न हितको देखता है, न सुनता है, न हितको जाननेकी इच्छा करता है, न विधिपूर्वक धन देता है, न उसे भोगता है। इस प्रकार वह पशुके समान हो रहा है। जो अपने समीपवर्ती भी कल्याणको जो कि अपनी बुद्धिमात्रसे प्राप्त करने योग्य है, नहीं जानता, वह सुदूरवर्ती और शास्त्रके द्वारा जानने योग्य परलोकमें जो हितकर है उसे कैसे जान सकता

---

१. णादर्जि —अ० । २. त्वगीतये सत्यपि विश्वगेव न यो विशेषान् विषयेषु वेत्ति ॥२॥ एकेन्द्रिय —अ०, मु० । ३. द्धिसाध्यामपिश —आ० । ४. हास्यति —अ० । ५. च ततोऽभिगम्य सेकेन विलेद्या —अ० ।

महागुहा भीमतमः प्रवेशात् सदाम्बुमध्यान्तनिमज्जनाच्च ।
तथाचिरं चारकरोधनाच्च स्याद्देहिनः कष्टतरोऽज्ञभावः ॥७॥
तमःप्रवेशोऽम्भसि मज्जनं च स्याद्दुःखकृच्चारकरोधनं च ।
जाताविहैकत्र भवांस्त्वनन्तानज्ञानजं दुःखमनुप्रयाति ॥८॥
नालं विशालं नयनं तृतीयं श्रुतं च मत्या रहितो गृहीतुम् ।
अन्धोऽपि यस्मिन् सति याति मार्गे क्षेमे शिवे मोक्षमहापुरस्य ॥९॥

एवंभूतामज्ञतामापादयति ज्ञानावरण न किञ्चित्तन्निवारणक्षम शरणमस्ति । **'ण तस्स दिस्सदि उवाओ'** नैव तस्य कर्मणो निवारणे उपायो दृश्यते । असद्वेदस्य कर्मण उदयात् **'अमयं पि विसं होदि'** अमृतमपि विषं भवति । **'तणमपि सत्थं** तृणमपि शस्त्रं भवति । **'णीया वि होंति अरी'** बन्धवोऽपि शत्रवो भवन्ति ॥१७२४॥

ज्ञानावरणस्य तु क्षयोपशमे किं स्यादित्याह—

मुक्खस्स वि होदि मदी कम्मोवसमे य दीसदि उवाओ ।
णीया अरी वि सत्थं वि तणं अमयं च होदि विसं ॥१७२५॥

'मुक्खस्स वि होदि मदी' मूर्खस्यापि भवति मतिः । **'कम्मोवसमे य दीसदि उवाओ'** कर्मोपशमे ज्ञानावरणस्य तु क्षयोपशमे सति उपायो दृश्यते सुभगत्वपुण्यकर्मोदयात् । **'णीया अरी वि'** शत्रवोऽपि बन्धवो भवन्ति **'सत्थं पि तणं'** शस्त्रमपि तृणं भवति, **'अमयं होदि विसं'** विषमप्यमृतं भवति सद्वेद्योदये ॥१७२५॥

पावोदएण अत्थो हत्थं पत्तो वि णस्सदि णरस्स ।
दूरादो वि सपुण्णस्स एदि अत्थो अयत्तेण ॥१७२६॥

'पावोदयेण' लाभान्तरायस्य कर्मण उदयेन, **'अत्थो हत्थं पत्तो वि णस्सदि णरस्स'** हस्तप्राप्तोऽप्यर्थो नश्यति पुंस । **'दूरादो वि'** दूरतोऽपि । **'सपुण्णस्स'** पुण्यवत । **'एदि अत्थो'** आयात्यर्थः । **'अयत्तेण'** अयत्नेन ॥१७२६॥

है । इस प्राणीका अज्ञानभाव महान् गुफाके भीतर भयंकर अन्धकारमे प्रवेश करनेसे, सदा अगाध जलमें डूबे रहनेसे और चिरकाल तक जेलखानेमे पड़े रहनेसे भी अधिक कष्टदायी है । अन्धकारमे प्रवेश जलमें डूबना और जेलखानेमें पड़े रहना तो एक ही भवमे दुःखदायी है किन्तु अज्ञानजन्य दुःख अनन्त भवोंमें दुःखदायी है । श्रुतज्ञान तीसरा विशाल नेत्र है । किन्तु बुद्धिसे रहित प्राणी उसे ग्रहण नही कर सकता । उस श्रुतज्ञानके होनेपर अन्धा मनुष्य भी मोक्षरूपी महानगरके कल्याणकारी मार्ग पर जाता है ।

ज्ञानावरण कर्म इस प्रकारकी अज्ञताको लाता है उसको निवारण करनेमे समर्थ कोई शरण नही है । उसके निवारण का कोई उपाय नही है । असातावेदनीय कर्मके उदयसे अमृत भी विष हो जाता है । तृण भी शस्त्र हो जाता है और बन्धु-बान्धव भी शत्रु हो जाते हैं ॥१७२४॥

गा०-टी०—ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर क्या होता है, यह कहते हैं—ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर मूर्खको भी बुद्धि प्राप्त होती है । पुण्यकर्मका उदय होनेसे कर्मोके उपशमका उपाय दृष्टिगोचर होता है तथा सातावेदनीयके उदयमे शत्रु भी बन्धु हो जाते है, शस्त्र भी तृण हो जाता है और विष भी अमृत हो जाता है ॥१७२५॥

गा०—पाप अर्थात् लाभान्तराय कर्मके उदयसे मनुष्यके हाथमे आया भी पदार्थ नष्ट हो

पाओदएण सुट्ठु वि चेट्ठंतो को वि पाउणदि दोसं ।
पुण्णोदएण दुट्ठु वि चेट्ठंतो को वि लहदि गुणं ॥१७२७॥

'पावोदएण' अयशस्कीर्तेरुदयेन । 'सुट्ठु वि चेट्ठंतो' सम्यक् चेष्टमानः । 'कोवि पाउणदि दोसं' कश्चित्प्राप्नोति दोषं । 'पुण्णोदयेण' पुण्यकर्मण उदयेन । 'दुट्ठु वि चेट्ठंतो' यत्किंचिदकार्यं कुर्वन्नपि । 'कोवि लभदि गुणं' कश्चिल्लभते गुणम् ॥१७२७॥

पुण्णोदएण कस्सइ गुणे असंते वि होइ जसकित्ती ।
पाओदएण कस्सइ सगुणस्स वि होइ जसघाओ ॥१७२८॥

'पुण्णोदएण' पुण्यस्योदयेन । 'कस्सइ होइ जसकित्ती' कस्यचिद्भवति यशस्कीर्तिश्च । 'पावोदएण' पापस्योदयेन । 'कस्सइ सुगुणस्स वि' कस्यचित् सुगुणवतोऽपि । 'जसघादो होदि' यशोघातो भवति ॥१७२८॥

णिरुवक्कमस्स कम्मस्स फले समुवट्ठिदंमि दुक्खंमि ।
जादिजरामरणरुजाचिंताभयवेदणादीए ॥१७२९॥

'णिरुवक्कमस्स' निःप्रतीकारस्य कर्मणः । 'फले समुवट्ठिदंहि दुक्खंहि' समुपस्थिते दुःखे, 'जादि-जरामरणरुजाचिंताभयवेदणादीणे' जातौ, जरायां, मरणे, व्याधौ, चिन्तायां, भये, वेदनायां च समुपस्थिते ॥१७२९॥

जीवाण णत्थि कोई ताणं सरणं च जो हवेज्ज इघं ।
पायालमदिगदो वि य ण मुच्चदि सकम्मंउदयम्मि ॥१७३०॥

'जीवाण' जीवस्य । नास्ति कश्चित्त्राता शरणं वा । 'जो हवेज्ज' यो भवेत् । 'पायालमदिगदो वि' पातालं प्रविष्टोऽपि । 'ण मुच्चदि' । न मुच्यते दुःखात् । 'सकम्मउदयेहि' स्वकर्मोदये सति ॥१७३०॥

गिरिकंदरं च अडविं सेलं भूमिं च उदधि लोगंतं ।
अदिगंतूणं वि जीवो ण मुच्चदि उदिण्णकम्मेण ॥१७३१॥

जाता है। और पुण्यवानको बिना प्रयत्न किये दूरसे भी पदार्थ प्राप्त होता है ॥१७२६॥

गा०—पाप अर्थात् अयशःकीर्ति नामक कर्मके उदयसे सम्यक् चेष्टा करनेवाला भी दोषका भागी होता है। और पुण्य कर्मके उदयसे न करने योग्य भी काम करनेवाला प्रशंसाका पात्र होता है ॥१७२७॥

गा०—पुण्यके उदयसे किसीमें गुण न होते भी उसका यश फैलता है। और पापके उदयसे गुणवानका भी अपयश होता है ॥१७२८॥

गा०—जिसका कोई प्रतीकार नहीं है ऐसे कर्मका उदय आनेपर जन्म, जरा, मरण, रोग, चिन्ता, भय, वेदना आदि दुःख भोगने होते हैं ॥१७२९॥

गा०—ऐसी अवस्थामें जीवका कोई रक्षक नहीं है जिसकी वह शरणमें जाये। अपने कर्मके उदयमें पातालमें प्रवेश करनेपर भी कर्मसे छुटकारा नहीं होता ॥१७३०॥

'गिरिकन्दरं च' गिरिकन्दरं अटवीं शैलंभूमिमुदधिं। लोकान्तं प्रविश्यापि जीवो न मुच्यते। उदयागतेन कर्मणा ॥१७३१॥

दुगचदुअणेयपाया परिसप्पादी य जंति भूमीओ।
मच्छा जलम्मि पक्खी णभम्मि कम्मं तु सव्वत्थ ॥१७३२॥

'दुगचदुअणेयपाया' द्विचतुरुचरणादिका। 'परिसप्पादी य जंति भूमीओ' परिसर्प्यादयश्च यान्ति भूमावेव। मत्स्या जले पक्षिणो नभसि यान्ति। कर्म सर्वत्रगं ॥१७३२॥

रविचंदवादवेउव्वियाणमगमा वि अत्थि हु पदेसा।
ण पुणो अत्थि पएसो अगमो कम्मस्स होइ इह ॥१७३३॥

'रविचंदवादवेउव्वियाणं' सूर्येण, चन्द्रेण, वातेन, देवैश्चागम्यास्सन्ति प्रदेशा। न कर्मणामगम्योऽत्र प्रदेशोऽस्ति लोके ॥१७३३॥

विज्जोसहमंतबलं बलवीरिय अस्सहत्थिरहजोहा।
सामादिउवाया वा ण होंति कम्मोदए सरणं ॥१७३४॥

'विज्जामंतोसधिबलवीरियं' विद्या स्वाहाकारान्ता तद्रहितता मन्त्रस्य। वीर्यमात्मन शक्त्यतिशय.। बलमाहारव्यायामजं शरीरस्य दाढर्यं, अनीकबन्धः। सामभेददण्डोपप्रदानाख्याश्च हेतवो न शरण ॥१७३४॥

जह आइच्चमुदितं कोई वारंतओ जगे णत्थि।
तह कम्ममुदीरंतं कोई वारंतओ जगे णत्थि ॥१७३५॥

'जह आइच्चमुदितं' यथा दिनमणिमुदयाचलचूडामणितामुपयान्त न निवारयति कश्चित् तथा समधिगतसहकारिकारणं कर्म न निषेद्धुमस्ति समर्थः ॥१७३५॥

गा०—पहाड़की गुफा, अटवी, पर्वत, भूमि, समुद्र, यहाँ तक कि लोकके अन्त तक चले जानेपर भी जीव उदयप्राप्त कर्मसे नहीं छूटता ॥१७३१॥

गा०—दोपाये, चौपाये और अनेक पैर वाले सर्प आदि तो भूमिपर ही जाते हैं। मच्छ जलमें जाते हैं। पक्षी आकाशमें जाते हैं किन्तु कर्म सर्वत्र पहुँचता है। उसकी गति सर्वत्र है ॥१७३२॥

गा०—लोकमें ऐसे प्रदेश हैं जो सूर्य, चन्द्र, वायु और देवोंके द्वारा अगम्य हैं अर्थात् जहाँ ये नहीं जा सकते। किन्तु ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहाँ कर्मकी गति नहीं है ॥१७३३॥

गा०—कर्मका उदय होनेपर विद्या, मंत्र, औषध, बल, वीर्य, घोड़े, हाथी, रथ, योद्धा, साम, दाम, दण्ड, भेद आदि उपाय शरण नहीं हैं ॥१७३४॥

टी०—जिसके अन्तमें स्वाहाकार होता है उसे विद्या कहते हैं। और जिसके अन्तमें स्वाहाकार नहीं होता उसे मंत्र कहते हैं। वीर्य आत्माकी शक्तिको कहते हैं और बल आहार व्यायामसे उत्पन्न शरीरकी दृढ़ताको कहते हैं ॥१७३४॥

गा०—जैसे सूर्यको उदयाचलके मस्तकपर आनेको जगत्‌में कोई नहीं रोक सकता उसी

रोगाणं पडिगारा दिट्ठा कम्मस्स णत्थि पडिगारो ।
कम्मं मलेदि हु जगं हत्थीव णिरंकुसो मत्तो ॥१७३६।

'रोगाणं पडिगारा दिट्ठा' व्याधीनां प्रतीकारा दृष्टा औषधादयः। कर्मणां नास्ति प्रतीकारः। जगदशेषं मर्दयति कर्म मदगज इव निरङ्कुशो नलिनीवनं ॥१७३६॥

रोगाणं पडिगारो णत्थि य कम्मे णरस्स समुदिण्णे ।
रोगाणं पडिगारो होदि हु कम्मे उवसमंते ॥१७३७॥

'रोगाणं पडिगारो' व्याधीनां प्रतीकारो नास्ति कर्मण्यसद्वेद्ये प्राप्तोदये सति, पथ्यौषधादिभिरुपशमो रोगादीना सोऽपि कर्मण्युपशमं गत एव नानुपशान्तेऽत्र ॥१७३७॥

विज्जाहरा य बलदेववासुदेवा य चक्कवट्टी वा ।
देविंदा व ण सरणं कस्सइ कम्मोदए होंति ॥१७३८॥

'विज्जाहरा य' विद्याधरादयो महाबलपराक्रमा अपि न शरणं भवन्ति कर्मोदय इति गाथार्थः ॥१७३८॥

वोल्लेज्ज व कमंतो भूमिं उदधिं तरिज्ज पवमाणो ।
ण पुणो तीरदि कम्मस्स फलमुदिण्णस्स वोलेदुं ॥१७३९॥

'वोल्लेज्ज' उल्लङ्घयेत् गच्छन् भूमिं, समुद्रं तरेत् प्लवमानः। उदीर्णस्य कर्मण. फलमुल्लङ्घयितुं न वेत्ति कोऽन्यो वा महाबलोऽपि ॥१७३९॥

सीहतिमिंगिलग'हिदस्स मगो मच्छो व णत्थि जह सरणं ।
कम्मोदयम्मि जीवस्स णत्थि सरणं तहा कोई ॥१७४०॥

'सीहतिमिंगिलगहिदस्स' सिंहेन तिमिंगिलाख्येन महामत्स्येन च गृहीतस्य नैव शरणं भवति अन्यो मृगो मत्स्यो वा। तथा कर्मोदये जीवस्य नास्ति कश्चिच्छरणम् ॥१७४०॥

प्रकार सहकारी कारणोंके मिलनेपर उदयमें आये कर्मको जगत्मे कोई रोक नहीं सकता ॥१७३५॥

गा०—रोगोंका प्रतीकार औषध आदि हैं किन्तु कर्मका कोई प्रतीकार नहीं है। जैसे निरंकुश मत्त हाथी कमलिनीके वनको उजाड़ देता है वैसे ही कर्म समस्त जगत्को मसल देता है ॥१७३६॥

गा०—असातावेदनीय कर्मका उदय होनेपर रोगोंका प्रतीकार नहीं है। पथ्य औषध आदिसे जो रोगोंका उपशम होता है वह भी कर्मका उपशम होनेपर ही होता है। कर्मका उपशम न होनेपर औषध आदि भी लाभकारी नहीं होती ॥१७३७॥

गा०—कर्मका उदय होनेपर विद्याधर, बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती अथवा देवेन्द्र जैसे महाबली, महापराक्रमी भी किसीके शरण नहीं होते। वे भी रक्षा नहीं कर सकते ॥१७३८॥

गा०—चलता हुआ प्राणी भूमिको लांघ सकता है। तैरता हुआ प्राणी समुद्रको तैर सकता है। किन्तु उदयागत कर्मके फलको उल्लंघन कोई महाबली भी नहीं कर सकता। उसे सबको भोगना पड़ता ही है ॥१७३९॥

गा०—जैसे कोई सिंह किसी मृगको पकड़ ले तो दूसरा मृग उसकी रक्षा नहीं कर सकता।

---

१. तिमिंगलस्स अ० ।

व्यावर्णितानामशरणत्वं मनसावधार्य इदं शरणमिति चिन्तनीयमिति कथयति—

दंसणणाणचरित्तं तवो य ताणं च होइ सरणं च ।
जीवस्स कम्मणासणहेदुं कम्मे उदिण्णम्मि ॥१७४१॥

'दंसणणाणचरित्तं तवो य' ज्ञानं दर्शनं चारित्रं तपश्च रक्षा शरणं च भवति । जीवस्य कर्मणां नाशहेतुः कर्मण्युदीर्णेऽप्यसद्वेद्यादौ । एवमशरणानुप्रेक्षा गता ॥ असरणा ॥१७४१॥

एकत्वानुप्रेक्षा उत्तरेण प्रबन्धेनोच्यते—

पावं करेदि जीवो बंधवहेदुं सरीरहेदुं च ।
णिरयादिसु तस्स फलं एक्को सो चेव वेदेदि ॥१७४२॥

पापं करोति जीवो बान्धवनिमित्तं शरीरनिमित्तं च । बान्धवशरीरपोषणार्थं कृतस्य कर्मणः फलं नरकादिष्वेक एवानुभवति ॥१७४२॥

नरकादिगतिषु प्राप्तं दुःखमपश्यंतस्तत्रासंतो बान्धवाः किं कुर्वन्तीति आशंका निरस्यति सन्निहिताः पश्यन्तोऽप्यकिंचित्करा इति कथनेन—

रोगादिवेदणाओ वेदयमाणस्स णिययकम्मफलं ।
पेच्छंता वि समक्खं किंचिवि ण करंति से णियया ॥१७४३॥

'रोगादिवेदणाउ' रोगादिदुःखानि । 'णिययकम्मफलं' निजकर्मफलं स्वयोगत्रयोपचितस्य कर्मणः फल । 'वेदयमाणस्स' वेदयमानस्य । 'समक्खं पेच्छंतावि' प्रत्यक्षं पश्यन्तोऽपि । 'णियया' निजका बान्धवा , 'से' तस्स

या तिमिंगल नामक महामत्स्य किसी मच्छको पकड़ ले तो दूसरा मच्छ उसको नहीं छुड़ा सकता । उसी प्रकार कर्मका उदय आनेपर जीवका कोई शरण नहीं होता ॥१७४०॥

आगे कहते हैं कि ऊपर जिनका वर्णन किया है, वे शरण नहीं हैं ऐसा मनमें दृढ़ निश्चय करके आगे कहे पदार्थ शरण हैं ऐसा विचारना चाहिये—

गा०—जीवके असातावेदनीय आदि कर्मका उदय होनेपर कर्मोंके नाशके कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप ही रक्षक हैं और शरण है ॥१७४१॥

इस प्रकार अशरणानुप्रेक्षाका कथन हुआ । आगे एकत्वानुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

गा० - जीव बन्धु-बान्धवोंके निमित्त और शरीरके निमित्त पाप करता है । और बान्धवोंके तथा अपने शरीरके पोषणके लिये जो पापकर्म करता है उसका फल नरकादिमें अकेला ही भोगता है ॥१७४२॥

यहाँ कोई कह सकता है कि नरकादि गतियोंमें वह जो दुःख भोगता है उसे उसके बन्धुबान्धव नहीं देखते क्योंकि वे वहाँ नहीं हैं इसीसे वे कुछ कर नहीं सकते । इसके उत्तरमें कहते हैं कि निकट रहकर देखते हुए भी वे कुछ नहीं कर सकते—

गा०-टी०—अपने मनोयोग, वचनयोग और काययोगसे संचित कर्मका फल जब यह जीव भोगता है तो प्रत्यक्ष देखते हुए भी उसके बन्धुगण कुछ भी उसका प्रतीकार नहीं करते । इस

'किंचिवि ण करंति' किंचिदपि प्रतीकारजातं न कुर्वन्ति । परत्रेह वा जन्मन्येक एवानुभवति जन्तुर्न तदीय-कर्मफलसंविभागकरणे समर्थः कश्चिदिति भावः ॥१७४३॥

सह तथा यथा दुःखं स्वकर्मफलमेक एवानुभवति—

तह मरइ एक्कओ चेव तस्स ण विदिज्जगो हवइ कोई ।
भोगे भोत्तुं णियया विदिज्जया ण पुण कम्मफलं ॥१७४४॥

तथा स्वायुर्व्यकने । 'एक्कओ चेव मरदि' एक एव प्राणांस्त्यजति । 'ण विदिज्जगो होइ कोई' न सहायो भवति कश्चित् । तदीयं मरणं संविभज्य गृहीत्वा सहायतां न कश्चित्करोतीत्यर्थः । अन्यथा एक एव म्रियते इत्यघटमाने बहूनामप्येकदा मरणात् । 'भोगे' भुज्यन्तेऽनुभूयन्त इति भोगाः द्रव्याणि अशनवसनमुख-वासादीनि । भोक्तुमनुभवितुं निजका बान्धवाः । 'विदिज्जगा' सहायाः । 'ण पुण' न पुनः । 'कम्मफलं भोत्तुं णीयगा विदिज्जया' तदीयकर्मफलं भोक्तुं न बान्धवस्सहायाः ॥१७४४॥

प्रकारान्तरेणैकत्वभावनामाचष्टे—

णीया अत्था देहादिया य संगा ण कस्स इह होंति ।
परलोगं अण्णेत्ता जदि वि दइज्जंति ते सुट्ठु ॥१७४५॥

'णीया अत्था' बान्धवो धनं शरीरादिकाश्च परिग्रहाः कस्यचिदपि सम्बन्धिनो न यान्ति परलोक प्रति प्रस्थितं । यद्यपि सुष्ठु काम्यन्ते परिग्रहाः । गृहीत्वा तान्यदि नामास्य गन्तुमुत्कण्ठा तथापि ते नानुगच्छन्त्येक एव यातीत्येकत्वभावना ॥१७४५॥

इहलोगबंधवा ते णियया परस्स होंति लोगस्स ।
तह चेव धणं देहो संगा सयणासणादी य ॥१७४६॥

लोक और परलोकमें जीव अकेला ही भोगता है। उसके कर्मफलका बटवारा करनेमें समर्थ कोई भी नहीं है। यह इसका अभिप्राय है ॥१७४३॥

गा०—टी०—जैसे यह जीव अपने कर्मफलको स्वयं ही भोगता है उसी प्रकार अपनी आयु समाप्त होनेपर अकेला ही प्राणोंको त्यागता है। दूसरा कोई भी उसका सहायक नहीं है। अर्थात् उसके मरणका भागीदार बनकर कोई भी उसको सहायता नहीं करता। यदि एक ही मरता है ऐसा न हो तो एकके साथ बहुतोंको मरण प्राप्त होता है। जो भोगे जाते हैं उन्हें भोग कहते हैं। भोजन, वस्त्र, मुखको सुवासित करनेवाले द्रव्य भोग हैं। भोगोंको भोगनेमें तो अपने बन्धु-बान्धव सहायक होते हैं। किन्तु उसके कर्मोका फल भोगनेमें कोई सहायक नहीं होता ॥१७४४॥

प्रकारान्तरसे एकत्व भावनाको कहते हैं—

गा०—टी०—बन्धु-बान्धव, धन और शरीर आदि परिग्रह किसीके नहीं होते। जब यह जीव परलोक जाता है तो उसके साथ नहीं जाते। यद्यपि मनुष्य परिग्रहोंसे बहुत अनुराग रखता है। वह यदि उनको पकड़कर साथ ले जाना चाहे तो भी वे उसके साथ नहीं जाते। जीव अकेला ही जाता है। यह एकत्व भावना है ॥१७४५॥

'**इहलोगबन्धवा**' अस्मिन्नेव जन्मनि बान्धवा । '**परस्स लोगस्स ण णियया होंति**' अन्यस्य जन्मनो न बन्धवो भवन्ति । '**तह चेव बांधवा इव धण देहो संगा सयणासणादी य**' धनं शरीरं शयनासनादयश्च परिग्रहा इह लोके एव न परजन्मनि उपकारका भवन्ति । एवं हि ते बान्धवा. परिग्रहाश्च सहाया इति ग्रहीतुं शक्यन्ते यद्यनपायितया उपकारिण. स्युः । इह जन्मन्येव ये प्रयान्ति ते परलोक गच्छन्तमनुसरन्तीति क प्रत्याशा ॥१७४६॥

यद्येते बान्धवादयो न सहाया कस्तर्हि सहाय इत्याशङ्कायामाचष्टे—

जो पुण धम्मो जीवेण कदो सम्मत्तचरणसुदमइओ ।
सो परलोए जीवस्स होइ गुणकारकसहाओ ॥१७४७॥

'**जो पुण**' य पुन. । '**जीवेण कदो धम्मो**' जीवेन कृतो धर्म , '**सम्मत्तचरणसुदमइगो**' रत्नत्रयरूपो दुर्गतिप्रस्थितं जीवं धारयति धत्ते वा शुभे स्थाने इति रत्नत्रय धर्म इत्युच्यते । '**सो**' स व्यावर्णितो धर्म. । '**जीवस्स**' जीवस्य । '**परलोगे**' परजन्मनि । गुणकारक सहायो भवति अभ्युदयनिश्श्रेयससुखप्रदानात् । **तथा चोक्तं—**

> **दत्वा द्यावापृथिव्योरविषयरति वीतभीशुम्भिदादां**
> **कृत्वा लोकत्रयैश्यं सुरनरपतिभिः प्राप्य पूजां विशिष्टाम् ।**
> **मृत्युव्याधिप्रसूतिप्रियविगमजरारोगशोकप्रहीणे**
> **मोक्षे नित्योक्तसौख्ये क्षिपति निरुपमे पातु सोऽस्मानसुधर्मः ॥** इति ॥१७४७॥

ननु च [1]असहायत्वभावनाधिकारे सहायनिरूपणा कथमुपयुज्यते । नैष दोष. यो [2]येन जन्तुना सहाय-

---

गा०-टी०—जो इस जन्ममें बान्धव हैं वे परलोकमें बान्धव नही होते । बान्धवोंकी ही तरह धन, शरीर, शयन, आसन आदि परिग्रह भी इसी लोकमें काम आते है परलोकमें नही । यदि वे बान्धव और परिग्रह सदा रहनेवाले हों तो उन्हे सहायक कहा जा सकता है । जब वे इसी जन्ममे नष्ट हो जाते हैं तो वे परलोकमें जानेपर साथमें जायेंगे, इसकी आशा कैसी ? ॥१७४६॥

यदि ये बन्धु आदि सहायक नही हैं तो कौन सहायक हैं ? इसका उत्तर देते है—

गा०-टी०—जीवने सम्यक्त्वचारित्र ज्ञानरूप अर्थात् रत्नत्रयरूप धर्म किया है जो दुर्गतिमें जानेवाले जीवका धारण करता है उसे शुभ स्थानमें धरता है वह धर्म है इस तरह रत्नत्रयको धर्म कहते हैं । वह धर्म परलोकमें जीवका गुणकारक सहायक होता है । क्योंकि उससे सांसारिक और पारमार्थिक सुख मिलता है । कहा है—

वह धर्म हमारी रक्षा करे जो मर्त्यलोक और स्वर्गलोकके भय, शोक और विषादसे रहित विषय सुखको देकर देवेन्द्रों और राजेन्द्रोंसे विशिष्ट रूपसे पूजित तीन लोकोंका स्वामी तीर्थङ्कर पद प्रदान करता है तथा अन्तमें मृत्यु, रोग, जन्म, प्रियवियोग, जरा, व्याधि और शोकसे रहित नित्य उत्कृष्ट और अनुपम सुखवाले मोक्षमें ले जाता है ।

शङ्का—यह अधिकार असहाय भावनाका है कि जीवका कोई सहाय नहीं है । इसमें सहायका कथन करना कैसे उचित है ?

---

१. असहायत्वभावनाधिकारे —आ० । २. योऽत्र जन्तुना —आ० ।

जीवेनाभ्यर्थितो बान्धवादिरसौ सहायो न भवतीति न तत्रादरः कार्यः। सम्यक्त्वज्ञानचारित्रात्मकस्तु धर्मः। धर्मोऽपि जीवपरिणाम उपकारि सहाय इति। तत्रादरो क्रियते सूरिणा। अतिशयितधर्मस्य सहायतानिरूपणेन ज्ञातिबन्धादीनां तथाभूतसहायताभावात् प्रस्तुतैव सहायता समर्थिता भविष्यति। अत्रोच्यते। सम्यक्त्वादयः शुभपरिणामाः प्रशस्तमतिजातिगोत्रसंहननायुःसद्वेद्यादिकर्माण्यपि निवर्त्य नश्यन्ति तेन देवो मानवः पञ्चेन्द्रियः पर्याप्तकः कुलीनः शुभनीरोगशरीरश्चिरजीवी सुखी भविष्यति। धर्मानुबन्धिनः पुण्यस्योदयात् दीक्षाभिमुखा बुद्धिर्निरतिचाररत्नत्रयसंपत्तिश्च भविष्यतीति संभवत्युपकारसहायता धर्मस्य। ननु च ज्ञानपूर्वकत्वाच्चरणस्य 'सम्मत्तचरणसुदमदी' इति कथमुपन्यस्तं? अत्रास्याभिप्रायः सत्यपि श्रुतज्ञाने असंयतसम्यग्दृष्टेश्चारित्राभावान्न महत्यौ संवरनिर्जरे मुख्यगुणे भवतः। तस्मान्मुमुक्षोर्मुख्यं चारित्रं प्रधानं किंच उपायज्ञानमुपायञ्चारित्रमुपेयं अतः परार्थत्वाज्ज्ञानमप्रधानं उपेयत्वाच्चरणं प्रधानमिति। 'जो पुण धम्मो जीवेण कदो' इत्यनेन धर्मस्य सर्वथा नित्यत्वं प्रतिषिद्धं फलवैचित्र्यमनुभवसिद्धं, सर्वदैकरूपत्वं धर्मस्य विरुध्यते। सुखसाधनानां स्त्रीवस्त्रगन्धमाल्यादीनां वैचित्र्यात् तत्कार्यसुखस्याऽपि वैरूप्यं नित्यत्वेऽपि धर्मस्य घटयेदिति चेत् अत्रोच्यते। अतिशयितानतिशयितसुखसाधनता तस्य धर्महेतुता न वेत्यत्र विकल्पद्वये धर्महेतुत्वाभ्युपगमे

समाधान—यह दोष उचित नहीं है क्योंकि जिस जीवने यहाँ जिस बन्धु आदिको अपना सहायक रूपसे माना हुआ है वह सहायक नहीं है इसलिये उसमें आदरभाव नहीं करना चाहिये। सम्यक्त्व ज्ञान चारित्ररूप धर्म जीवका परिणाम होनेसे उसका उपकारी सहायक है। इसलिये आचार्य उसमें आदर कराते हैं।

शङ्का—सातिशय धर्मके सहाय होनेका कथन न करके भी जाति बन्धु धन आदि उस प्रकारके सहायक नहीं होनेसे प्रस्तुत धर्मादिके ही सहायक होनेका समर्थन होता है।

समाधान—सम्यक्त्व आदि शुभपरिणाम आत्मामें उत्तम मति, उत्तम जाति, उत्तम गोत्र, उत्तम संहनन, आयु, सातावेदनीय आदि कर्मोंको उत्पन्न करके नष्ट हो जाते हैं। उन कर्मोंके उदयसे जीव, देव अथवा पंचेन्द्रिय पर्याप्तक कुलीन, शुभ नीरोग शरीर वाला चिरजीवी और सुखी होता है तथा धर्मानुबन्धि पुण्यके उदयसे बुद्धि मुनिदीक्षाके अभिमुखी होती है और निरतिचार रत्नत्रयरूप सम्पत्ति होती है। अतः धर्म सहायक और उपकारी है।

शङ्का—चारित्र ज्ञानपूर्वक होता है अतः ग्रन्थकारने 'सम्यक्त्वचारित्र श्रुतमतिक' कैसे कहा? यहाँ चारित्रके पश्चात् ज्ञानका निर्देश किया है?

समाधान—इसका अभिप्राय यह है कि असंयत सम्यग्दृष्टिके श्रुतज्ञान होनेपर भी चारित्रका अभाव होनेसे बहुत अधिक संवर और निर्जरा ये दोनों मुख्य गुण नहीं होते। इसलिये जो संवर और निर्जराके अर्थी हैं उनके लिये चारित्रकी प्रधानता है। तथा ज्ञान उपाय है और चारित्र उपेय है अतः परार्थ होनेसे ज्ञान अप्रधान है तथा उपेय—उपाय द्वारा प्राप्य होनेसे चारित्र प्रधान है। 'जो धर्म जीवने किया' ऐसा कहनेसे धर्मके सर्वथा नित्य होनेका निषेध किया है। धर्मके फलकी विचित्रता अनुभवसे सिद्ध है। अतः धर्मकी सर्वदा एकरूपता आगम विरुद्ध है।

शङ्का—सुखके साधन स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला आदि अनेक हैं अतः उनका कार्य सुख भी अनेक रूप है। इस तरह धर्मको नित्य मानने पर भी फल की विचित्रता बन जाती है।

समाधान—कुछ साधन सातिशय सुखदायक होते हैं और कुछ साधारण सुखदायक होते

---

१. सहायमि —अ० मु०। २. वाल —अ०।

कथं न वैचित्र्यं धर्मस्य । अथ न धर्मो हेतुः [1]स्वहेतुसामान्यायत्ता[2]सुखसाधनानां सातिशयनिरतिशयप्रदायत्तः फलविभाग इति धर्मस्यानर्थक्यमापद्यते । ततो न धर्मस्य सर्वथा नित्यता ॥१७४७॥

शरीरद्रविणादीनां असहायताभावनां तद्गोचरानुरागनिवर्तनमुखेन स्थिरयत्युत्तरगाथा—

बद्धस्स बंधणेण व ण रागो देहम्मि होइ णाणिस्स ।
विससरिसेसु ण रागो अत्थेसु महाभयेसु तहा ॥१७४८॥

'**बद्धस्स बंधणेण व ण रागो**' रज्जुश्रृङ्खलादिभिर्बद्धस्य बन्धनक्रियासाधकतमे रज्ज्वादौ दुःखहेतौ यथा न रागः । तथा '**देहम्मि होदि णाणिस्स**' सुखदुःखसाधनविवेकज्ञस्य दुःखहेतावसारेऽस्थिरेऽशुचिनि काये न रागो भवति । गुणपक्षपातिनो हि प्राज्ञाः । '**विससरिसेसु**' विषसदृशेष्वपि '**ण रागो णाणिस्स**' ज्ञानिनो नैव रागः । केषु ? '**अत्थेसु सव्वेसु**' । कथमर्थानां विषसदृशतेति चेत् । यथा विषं दुःखदायि प्राणान्वियोजयति च तथार्थोऽप्यर्जनरक्षादिषु व्यापृतं दुःखेन योजयति, प्राणानां च विनाशे निमित्तं भवति । तथाहि । प्राणिनोऽर्थार्थं एव परस्पर प्रघाते प्रयतन्ते अतएव महाभयहेतुत्वान्महाभयतार्थानां सूत्रकारेणोक्ता । '**अत्थेसु महाभयेसु**' इति । यद्धि यस्यानुपकारि तस्य तस्मिन्न विवेकिनः सहायबुद्धिर्यथा विषकण्टकादौ, अपकारि शरीरद्रविणादिकमिति पुनः पुनरभ्यस्यतो नेतरः सहायोऽयमिति चिन्ताप्रबन्धः प्रवर्तते ॥ एकत्त ॥१७४८॥

हैं । इसमें धर्म भी कारण है या नहीं ? यदि धर्म भी कारण है तो धर्ममें वैचित्र्य क्यो नही हुआ । यदि कहोगे कि धर्म कारण नही है, सुखके साधन अपने सामान्य कारणोंके अधीन हैं और उनका जो सातिशय तथा निरतिशय फलभेद पाया जाता है वह भी उन्हींके अधीन है तो धर्म निरर्थक सिद्ध होता है । अतः धर्म सर्वथा नित्य नहीं है ॥१७४७॥

विशेषार्थ—यहाँ टीकाकारका धर्मसे अभिप्राय शुभ परिणामोंसे है । शुभ परिणामोंकी हीनाधिकताके अनुसार पुण्यबन्धमें विचित्रता होती है और तदनुसार फलमें विचित्रता होती है ॥१७४७॥

शरीर धन आदिमें असहायताकी भावनाको उनके विषयमें जो अनुराग है उस अनुरागको हटानेके द्वारा स्थिर करते हैं—

गा०—टी०—जैसे पुरुष रस्सी सांकल आदिसे बँधा है उसे बन्धन क्रियामें साधकतम रस्सी आदिमें राग नही होता क्योंकि वे उसके दुःखमें हेतु हैं, उसी प्रकार जो अपने सुख और दुःखके साधनोंमें भेदको जानता है उसे दुःखके हेतु, असार, अस्थिर अशुचि शरीरमें राग नहीं होता । विद्वान्‌जन गुणोके पक्षपाती होते हैं । अतः विषके समान सब अर्थो में ज्ञानीका राग नहीं होता ।

शंका—सब अर्थ विषके समान कैसे हैं ?

समाधान—जैसे विष दुःखदायी है, प्राण हरण कर लेता है वैसे ही अर्थ भी जो उसके उपार्जन और रक्षणमे लगता है उसे दुःख देता है । तथा प्राणोंके विनाशमें निमित्त होता है । इसका खुलासा इस प्रकार है—प्राणीगण अर्थके लिये ही परस्परमें घात करनेमें लगते हैं । इसीलिये ग्रंथकारने महाभयका कारण होनेसे अर्थोको महाभयरूप कहा है । जो जिसका उपकार नहीं करता, बल्कि अनुपकार करता है विवेकी पुरुष उसे अपना सहायक नहीं मानते । जैसे विषकण्टक

---

१. सहेतु —अ० मु० । २. यत्तसु —अ० मु० ।

अन्यत्वभावनानिरूपणार्थमुत्तरप्रबन्धः—

किह दा जीवो अण्णो अण्णं सोयदि हु दुक्खियं जीयं ।
ण य बहुदुक्खपुरक्कडमप्पाणं सोयदि अबुद्धी ॥१७४९॥

'किह दा अण्णो जीवो अण्णं जीवं किह सोचदित्ति' पदघटना । अन्यो जीवो लोकं स्वस्माद्न्यं ज्ञातिवर्गं । 'दुक्खियं' दुःखेनाभिभूतं, कथं तावच्छोचति । 'ण य सोयदि' नैव शोचते । कं ? 'अप्पाणं' आत्मानं ? कीदृग्भूतं 'बहुदुक्खपुरक्कडं' शारीरैरागंतुकैः, मानसैः, स्वाभाविकैश्च बहुभिर्दुःखैः पुरस्कृतं । 'अबुद्धि' मयाऽतीते काले चतसृषु गतिषु विचित्रासद्वेद्योदयात् द्रव्यक्षेत्रकालभावसहकारिकारणसान्निध्यापेक्षयानुपरतमापदः प्राप्ताः पुनरप्यागमिष्यंति मां बलीकर्तुं । न हि कारणाभ्यासस्थितसहकारिप्रत्यये सति कार्यस्यानुद्भवो नामास्ति, यो यद्भावेऽपि नासादयेदुदयं स कथमिव तद्धेतुकः ? यथा सत्यपि यवबीजेऽनुपजायमानचूतांकुराः । तथा सत्यसद्वेद्योदये यदि न स्युर्भवन्ति च । तस्मादात्मप्रदेशावस्थितस्य दुःखबीजस्य केनोपायेनापायो भविष्यतीत्यकृतबुद्धितया अबुद्धि । एतदुक्तं भवति परस्य दुःखं आत्मन एव दुःखमिति मत्वा शोकमयमुपैति, तद्विनाशे च सततं प्रयत्नं करोति । तथा च प्रवर्तमानस्य स्वदुःखनिवृत्तये न प्रारम्भोऽस्ति । ततोऽयं दुःखं भोजं भोजं पर्यटति । न च परो दुःखात्त्रातुं शक्यते । तेन हि सञ्चितानि कर्माणि कथं फलं न प्रयच्छन्ति । न हि परस्य शोकः फलदायिना कर्मणा प्रतिबन्धकः, तथा चान्यथापि—

आदिको कोई अपना सहायक नहीं मानता । उसी प्रकार शरीर धन वगैरह भी अपकार करनेवाले हैं । इस प्रकार बार-बार अभ्यास करनेसे 'मेरा कोई अन्य सहाय नहीं है । ऐसा सतत् चिन्तन चलता है ॥१७४८॥

आगे अन्यत्व भावनाका कथन करते हैं—

गा०—टी०—अन्य जीव अपनेसे अन्य सम्बन्धी जनोंको दुःखसे पीड़ित देखकर कैसे शोक करता है ? किन्तु यह अज्ञानी शारीरिक, आगन्तुक, मानसिक और स्वाभाविक अनेक दुःखोंसे घिरे हुए अपने आत्माकी चिन्ता नहीं करता है कि अतीतकालमें मैंने चारों गतियोंमें अनेक प्रकारके असातावेदनीयके उदयसे तथा द्रव्य क्षेत्र काल और भावरूप सहकारी कारणोंके मिलनेसे निरन्तर आपदाएँ भोगीं और वे आपदाएँ पुनः मुझे परेशान करनेके लिये भविष्यमें आयेंगी । सहकारी कारणोंके साथ कारणके रहते हुए कार्य अवश्य उत्पन्न होता है । जो जिसके रहते हुए भी उत्पन्न नहीं होता वह उसका कारण कैसे हो सकता है ? जैसे जौ बोनेपर आमका अंकुर पैदा नहीं होता अतः आमके अंकुरका कारण जौके बीज नहीं हैं । उसी प्रकार असातावेदनीयका उदय होते हुए भी यदि दुःख नहीं होता तो असातावेदनीय दुःखका कारण नहीं हो सकता । किन्तु असातावेदनीयके उदयमें दुःख अवश्य होता है । अतः आत्माके प्रदेशोंमें जो दुःखके कारण उपस्थित हैं उनका विनाश किस उपायसे होगा, ऐसा विचार न करनेसे उसे अबुद्धि कहा है । कहनेका अभिप्राय यह है कि यह अज्ञानी जीव दूसरेके दुःखको अपना ही दुःख मानकर शोक करता है और उसके विनाशका निरन्तर प्रयत्न करता है । और ऐसा करनेसे अपने दुःखको दूर करनेका प्रारम्भ भी नहीं कर पाता । इससे दुःख भोगते-भोगते भ्रमण करता है । दूसरेको दुःखसे बचाना शक्य नहीं है । उसने जो कर्मबन्ध किया है वह उसे फल क्यों नहीं देगा ? दूसरेके शोक करनेसे फल देनेवाले कर्म रुक नहीं जाते । कहा भी है—

प्रीति पूर्वं कृतं कर्म मनोवाक्कायकर्मभिः ।
न निवारयितुं शक्यं [1]संहतैरिन्द्रैरपि ॥ इति ॥

तेनान्यदुःखापेक्षः शोकोऽस्य व्यर्थः । अन्यशब्देन च स्वदुःखात्पृथक्त्वं परदुःखस्योच्यते । अन्यत्र परदुःखागतस्यानुप्रेक्षणमन्यत्वानुप्रेक्षा एव परदुःखस्यान्यतामरं प्रेक्षमाणः परदुःखस्योपहननं कर्तुं न शक्यत इति न शोचति [परदुःखं], स्वदुःखोन्मूलने प्रयतत इति भावोऽस्य सूरेः ॥१७४९॥

सर्वस्य जीवराशेरात्मनोऽन्यत्वस्यैवानुप्रेक्षणमन्यत्वानुप्रेक्षेति कथयत्युत्तरगाथा—

संसारम्मि अणंते सगेण कम्मेण हीरमाणाणं ।
को कस्स होइ सयणो सज्जइ मोहा जणम्मि जणो ॥१७५०॥

'संसारम्मि अणंते' अन्तातीते पञ्चविधे संसारे परिवर्तने । 'सगेण कम्मेण' आत्मीयमिथ्यादर्शनादिपरिणामोत्पादितकर्मपर्यायेण पुद्गलस्कन्धेन 'हीरमाणाणं' आकृष्यमाणानां बहुविधां गतिं प्रति । 'को कस्स होदि सयणो' नैव कश्चित् कस्यचित्स्वजनो नाम प्रतिनियतोऽस्ति । युज्यतेऽयं विवेकः स्वजनोऽयं परजनोऽयमिति यदि यो यस्य स्वजनत्वेनाभिमतस्स तस्यैव स्वजनः सर्वदा भवेत् । परजनो वा स्वजनतां नोपेयात् । न चायमस्ति प्रतिनियमः स्वकर्मपरतन्त्राणामतो न कश्चित् स्वो जनः परो वा ममास्ति । सर्वो जीवराशिर्मिथ्यात्वादिगुणविकल्पोपनीतनानात्वोऽन्य एवेति कृताध्यवसायस्य क्वचिदेव दया प्रीतिर्वा क्वचिन्निर्दयता द्वेषोऽसमानताख्यो न प्रादुर्भवति ततो विरागद्वेषस्य चारित्रमविकल्पं भवति । 'सज्जदि जणम्मि जणो' आसक्ति

'पूर्वमें मन, वचन, कायसे जो कर्म किये है। सब इन्द्र भी मिलकर उनका निवारण नहीं कर सकते'।

इसलिये दूसरेके दुःखको देखकर इसका शोक करना व्यर्थ है। अन्य शब्दसे परके दुःखको अपने दुःखसे भिन्न कहा है। परके आगत दुःखको अपनेसे भिन्न चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार परके दुःखको अपनेसे भिन्न विचार करता हुआ जानता है कि परके दुःखका विनाश करना शक्य नहीं है इसलिये वह उसका शोक नही करता। और अपने दुःखके विनाशमें प्रयत्नशील रहता है। यह आचार्यका अभिप्राय है ॥१७४९॥

आगे कहते हैं कि समस्त जीवराशि अपनेसे अन्य है ऐसा चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है—

गा०—टी०—पंचपरावर्तन रूप संसारके अनन्त होते हुए अपने मिथ्यादर्शन आदि परिणामोंसे उत्पन्न हुए पुद्गल स्कन्धरूप कर्म पर्यायके द्वारा अनेक गतियोमे भ्रमण करते हुए जीवका कौन किसका स्वजन है? यह स्वजन है और यह परजन है यह भेद हो सकता था यदि जो जिसका स्वजन है वह उसीका स्वजन सदा रहता और परजन कभी भी स्वजन न होता। किन्तु अपने-अपने कर्मोंके अधीन जीवोंका यह नियम नहीं हो सकता। अतः न कोई मेरा स्वजन है और न कोई परजन है। मिथ्यात्व आदि गुणस्थानोंके भेदसे नाना भेदरूप हुई समस्त जीवराशि मुझसे भिन्न ही है ऐसा जिसने निश्चय किया है उसका किसीमें तो दया और प्रीति और किसीमें निर्दयता और द्वेष यह असमानतारूप व्यवहार नहीं बनता। इसलिये जो राग-द्वेषसे रहित है

१. संहितैरिन्द्रैः –आ० । स्यानित्यतापेक्षमाणः –आ० ।

करोति अयं हि जनो ममायं भ्राता पिता पुत्रो भागिनेयो दासः स्वामीति[1], या मोहाद्वस्तुतत्वस्य अन्यतामात्ररूपस्य निरस्तस्वजनत्वस्य[2] [3]परिज्ञानात् ॥१७५०॥

प्रकारान्तरेण स्वजनपरजनविवेकाभावं सर्वयत्युत्तरगाथा—

सव्वो वि जणो सयणो सव्वस्स वि आसि तीदकालम्मि ।
एंते य तहाकाले होहिदि सजणो जणस्स जणो ॥१७५१॥

'सव्वो वि जणो सयणो' निरवशेषो बन्धुरजनः स्वजनः । 'सव्वस्स वि' सर्वस्यापि प्राणभृतः । 'तीदकालंमि' अतीते काले 'आसि' आसीत् । 'एंते य तहा काले' भविष्यति तथा काले । 'होहिदि' भविष्यति । 'सजणो जणस्स जणो' स्वजनो जनस्य जनः । एतदनेनाख्यायते अतीते भविष्यति च काले सर्वस्य सर्वः स्वजन आसीद्भविष्यति च । ततस्सर्वसाधारणत्वे स्वजनत्वस्य सति ममायं स्वजन इति मिथ्यासंकल्पः । [4]तेऽप्यन्ये ममाप्य[5]न्यस्तस्य इत्येतदेव तत्त्वमित्यन्यत्वस्य स्वपरविषयस्यानुप्रेक्षणमन्यत्वानुप्रेक्षा ॥१७५१॥

रत्तिं रत्तिं रुक्खे रुक्खे जह सउणयाण संगमणं ।
जादीए जादीए जणस्स तह संगमो होई ॥१७५२॥

'रत्तिं रत्तिं' रात्री रात्री । 'रुक्खे रुक्खे' वृक्षे वृक्षे । 'जह सउणयाण संगमणं' यथा पक्षिणा सगमनं । 'जादीए जादीए' जन्मनि जन्मनि । 'जणस्स' जनस्य । 'तहा' तथा । 'संगमो होदि' संगमो भवति । यथा रात्रावाश्रयमन्तरेण स्थातुमसमर्था पक्षिणो योग्यं वृक्षमन्विष्य ढौकंते । तद्वत्प्राणिनोपि निरवशेषगलितायुःपुद्गलस्कन्धाः परित्यक्तप्राक्तनशरीरा शरीरांतरग्रहणार्थिनः शरीरग्रहणयोग्यदेशं योनिसंज्ञितमास्कन्दन्ति ।

उसका चारित्र सर्वत्र एकरूप होता है। यह मेरा भाई, पिता, पुत्र, भानेज, दास या स्वामी है इस प्रकार आसक्त मनुष्य मोहवश करता है। वस्तुतत्त्व तो अन्यतामात्र रूप है उसमें कोई स्वजन नहीं है ॥१७५०॥

प्रकारान्तरसे स्वजन और परजनके भेदका अभाव कहते हैं—

गा०—अतीतकालमें सब प्राणियोंके समस्त अनन्त जीव स्वजन थे। तथा भविष्यत् कालमें सब प्राणियोंके सब जीव स्वजन होंगे ॥१७५१॥

टी०—इस गाथासे यह कहा गया है कि अतीत कालमें सबके सब जीव स्वजन थे और भविष्यमें सबके सब जीव स्वजन होंगे। इस प्रकार जब सभी जीव स्वजन हैं तो यह मेरा स्वजन है इस प्रकारका संकल्प मिथ्या है। वे मुझसे अन्य हैं और मैं उनसे अन्य हूँ, इस स्वपरविषयक अन्यत्व तत्त्वका चिन्तन अन्यत्वानुप्रेक्षा है ॥१७५१॥

गा०—जैसे प्रत्येक रात्रिमें प्रत्येक वृक्षपर पक्षियोंका संगम होता है उसी प्रकार जन्म-जन्ममें मनुष्योंका संगम होता है ॥१७५२॥

टी०—जैसे रात्रिमें आश्रयके बिना रहनेमें असमर्थ पक्षी योग्य वृक्षको खोजकर उसपर बसेरा लेते हैं। उन्हींकी तरह संसारके प्राणी भी जब उनके आयुकर्मके पुद्गल स्कन्ध पूर्णरूपसे

---

१. त्ति व्यामो० –आ० । २. जनपरि –आ० । ३. अपरिज्ञानात् इति प्रतिभाति । ४. तेनान्यो ममाप्यनस्तैव इत्यन्यदेव –आ० । ५ न्यस्त्यस्य इ –आ० ।

तव ययोः शुक्रशोणितमयमाश्रितोऽशुचितमं तौ पितराविति संकल्पयति । तथाभूतयोरेव शुक्रशोणितयोर्व्यात्त-देहा भ्रातर इति । [1]अन्ये च एवंभूताश्च [2]स्वजनिमोतिसुलभाः । कांतारे पक्षिणां निवासवृक्षा इवेति भावः ॥१७५२॥

पहिया उवासये जह तहिं तहिं अल्लियंति ते च पुणो ।
छंडित्ता जंति जरा तह णीयसमागमा सव्वे ॥१७५३॥

'पहिया' पथिकाः । 'उवासये' उपाश्रये कस्मिंश्चित् । 'जह' यथा । 'तहिं तहिं' तस्मिंस्तस्मिन् ग्राम-नगरादौ । 'अल्लियंति' अन्योन्यं ढौकन्ते । 'ते च' ते च संगताःपथिकाः । 'पुणो' पश्चात् । 'छंडित्ता' त्यक्त्वा । 'जंति' यांति स्वाभिमतं देशं । 'तह णीयसमागमा सव्वे' तथा बन्धुसमागमाः सर्वेऽपि च । एतेन बन्धु-समागमस्यानित्यता व्याख्याता ॥१७५३॥

भिण्णपयडिम्मि लोए को कस्स सभावदो पिओ होज्ज ।
कज्जं पडि संबंधं वालुयमुट्ठीव जगमिणमो ॥१७५४॥

'भिण्णपयडिम्मि लोये' नानास्वभावे लोके । 'को कस्स सभावदो पिओ होज्ज' कः कस्य स्वभावेन प्रियो भवेत् । समानशीलतायां हि सख्यं भवति । न च सर्वबन्धवः समानशीलाः कथं तर्हि तेषां वा स बान्धव । 'कज्जं पडि संबंधो' कार्यमेवोद्दिश्य सम्बन्धः नासति कार्येऽस्ति सम्बन्धः । 'वालुयमुट्ठीव' वालुका-मुष्टिरिव । 'जगमिणमो' लोकोयं । यथा वालुकानां भिन्नप्रकृतीनां द्रवद्रव्यमंतरेण न स्वाभाविकः सम्बन्धो येन सगता मुष्टिमुपेयु । उदकादिद्रव्योपनीतैव संगतिस्तासां, एवं कार्योपनीतैव संगतिः स्वजनानां ॥१७५४॥

गल जाते हैं, और वे पूर्व शरीरको छोड़ नवीन शरीर ग्रहण करना चाहते हैं, तो वे शरीर ग्रहण करनेके योग्य देशमें, जिसे योनि कहते हैं, जाते है। वहाँ उन्हें जिनके अत्यन्त अपवित्र रजवीर्य रूपका आश्रय प्राप्त होता है उन दोनोंमें माता-पिताका संकल्प करते हैं। उसी प्रकारके रजवीर्यसे जिनके शरीर बनते हैं वे भाई होते हैं। वनमें पक्षियोंके रहनेके वृक्षोंकी तरह इस प्रकारके स्वजनवास सुलभ हैं। यह उक्त गाथाका अभिप्राय है ॥१७५२॥

गा०—जैसे किसी उपाश्रयमें पथिक विभिन्न ग्राम नगर आदिमें परस्परमें मिलते हैं। पीछे वे सब उस उपाश्रयको छोड़कर अपने-अपने देशको चले जाते हैं। उसी प्रकार सब बन्धु-बान्धवोंका समागम है। इससे बन्धुसमागमको भी अनित्य कहा है ॥१७५३॥

गा०-टी०—लोगोंके अलग-अलग स्वभाव होते है। ऐसे नाना स्वभाववाले लोकमें कौन किसको स्वभावसे प्रिय हो सकता है। समानशील वालोंमें ही मित्रता होती है। किन्तु सब बन्धु-बान्धव तो समान शीलवाले नहीं होते। तब कैसे वह उनका बन्धु हो सकता है। कार्यको लेकर ही सम्बन्ध होता है। कार्यके न रहनेपर सम्बन्ध नहीं रहता। जैसे रेतका प्रत्येक कण अपना भिन्न स्वभाव रखता है। किसी मिलानेवाले द्रव्यके बिना उनका परस्परमें कोई स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है। पानी आदिके सम्बन्धसे ही वे परस्परमें मिलते हैं। अन्यथा मुट्ठीमें अलग-अलग ही रहते हैं। इसी प्रकार स्वजन भी कार्यवश ही परस्परमें मिलते है ॥१७५४॥

---

१. अन्यत्र ए—आ० । २. स्वजनायोनि—आ० ।

तं च कार्यकृतं सम्बन्धं स्पष्टयत्युत्तरगाथा—

माया पोसेइ सुयं आधारो मे भविस्सदि इमोत्ति ।
पोसेदि सुदो मादं गब्भे धरिदो इमाएत्ति ॥१७५५॥

'माया पोसेदि सुदं' माता पोषयति सुतं । 'आधारो मे भविस्सदि इमोत्ति' अयं ममाधारो भविष्यतीति । 'पोसेदि सुदो मादं' पोषयति सुतो मातरं । 'गब्भे धरिदो इमाएत्ति' गर्भे धारितोऽनयेति ॥१७५५॥

उपकारापकारयोः प्रतिबन्धात् शत्रुता मित्रता वेति तत् कथयति—

होऊण अरी वि पुणो मित्तं उवकारकारणा होइ ।
पुत्तो वि खणेण अरी जायदि अवयारकरणेण ॥१७५६॥

'होऊण अरी वि' शत्रुरपि भूत्वा । 'पुणो' पुनः । 'मित्तो होदि' सुहृद्भवति । स एवारिः । कुतः ? 'उवकारकरणा' उपकारकरणेन । 'पुत्तोवि खणेण अरी जायदि' पुत्रोपि क्षणेन शत्रुर्भवति, केन ? अपकारकरणेन, निर्भर्त्सनताडनाद्यपकरणक्रियायाः । यस्मादेवं ॥१७५६॥

तम्हा ण कोइ कस्सइ सयणो व जणो व अत्थि संसारे ।
कज्जं पडि हुंति जगे णीया व अरी व जीवाणं ॥१७५७॥

'तम्हा' तस्मात् । 'ण कोइ कस्सइ सयणो व जणो व अत्थि संसारे' नैव कश्चित्कस्यचित्स्वजनः परजनो वा विद्यते । 'कज्जं पडि होंति णीया व अरी व जण.' कार्यमेवोपकारापकारलक्षणं प्रति बान्धवः शत्रवश्च भवंति । न स्वाभाविकी बन्धुता शत्रुता वा जीवानामस्ति उपकारापकारक्रिययोरनवस्थितत्वात्तन्मूलोऽरिमित्रभावोप्यनवस्थित इति न रागद्वेषौ क्वचिदपि कार्यौ । मत्तोऽन्ये सर्व एव प्राणभृत इति कार्यान्यत्वानुप्रेक्षेति प्रस्तुताधिकारेणाभिसम्बन्धः ॥१७५७॥

आगे उस कार्यवश हुए सम्बन्धको दृढ़ करते हैं—

गा०—यह मेरा बुढ़ापेमें आधार होगा इस भावनासे माता पुत्रका पालन करती है और पुत्र माताका पालन करता है कि इसने मुझे गर्भमें धारण किया था ॥१७५५॥

आगे कहते हैं कि शत्रुता और मित्रता उपकार और अपकारसे बँधे हैं—

गा०—शत्रु होकर भी उपकार करनेसे मित्र हो जाता है । अपकार करनेसे पुत्र भी क्षणभरमें शत्रु हो जाता है । अर्थात् यदि पुत्र माता पिताका तिरस्कार करता है उन्हें मारता है तो वह शत्रु ही प्रतीत होता है ॥१७५६॥

गा०—इसलिये संसारमें कोई किसीका न स्वजन है और न परजन है । उपकार और अपकार रूप कार्यको लेकर ही जीवोंके मित्र या शत्रु बनते हैं ॥१७५७॥

टी०—जीवोंमें न तो स्वाभाविक शत्रुता है और न स्वाभाविक बन्धुता है । उपकार और अपकाररूप क्रिया भी स्थायी नहीं है इसलिये उपकार मूलक मित्रता और अपकारमूलक शत्रुता भी स्थायी नहीं है । अतः न किसीसे राग करना चाहिये और न किसीसे द्वेष करना चाहिये । सभी प्राणी मुझसे अन्य है इस प्रकार अन्यत्वानुप्रेक्षा करना चाहिये ॥१७५७॥

शत्रुमित्रयोर्लक्षणमाचष्टे—

जो जस्स वट्टदि हिदे पुरिसो सो तस्स बंधवो होदि ।
जो जस्स कुणदि अहिदं सो तस्स रिवुत्ति णायव्वो ॥१७५८॥

'जो जस्स वट्टदि हिदे' यो यस्य उपकारे वर्तते । 'पुरिसो' पुरुषः । 'सो तस्स बंधवो होदि' स तस्य बन्धुर्भवति । 'जो जस्स कुणदि अहिदं' यो यस्य करोत्यहितं । 'सो तस्स रिवुत्ति णायव्वो' स तस्य रिपुरिति ज्ञातव्यः ॥१७५८॥

शत्रुलक्षणं बन्धुषु दर्शयति—

णीया करंति विग्घं मोक्खब्भुदयावहस्स धम्मस्स ।
कारिंति य अइबहुगं असंजमं तिव्वदुक्खकरं ॥१७५९॥

'णीया करंति विग्घं' बान्धवाः कुर्वन्ति विघ्नं । कस्य ? 'धम्मस्स' धर्मस्य, 'कीदृशः' ? मोक्खब्भुदयावहस्स' निरवशेषदुःखकारिकर्मापायं सांसारिकमतिशयवत् सुखं च संपादयतो रत्नत्रयस्य । 'कारिंति य' कारयन्ति च । किं ? 'असंजमं' हिंसानृतस्तेयादिकं, 'अतिबहुगं' अतीव महान्तं । 'तिव्वदुक्खकरं' दुःसह-नरकादिदुःखोत्पादनोद्यत । हितस्य विघ्नकरणादहिते च प्रवर्तनात् दर्शिता शत्रुता बन्धूनामेतेन । अन्येषां बान्धवाद्यभिमतानां शत्रुत्वेनानुप्रेक्षणं अन्यत्वानुप्रेक्षेति कथितं भवति ॥१७५९॥

इदानीमन्यशब्देन साधवो भण्यंते तेषामुपकारकत्वरूपेणानुप्रेक्षेति चेतसि कृत्वा व्याचष्टे—

णीया सत्तू पुरिसस्स हुंति जदिधम्मविग्घकरणेण ।
कारेंति य अतिबहुगं असंजमं तिव्वदुःखयरं ॥१७६०॥

शत्रु और मित्रका लक्षण कहते हैं—

गा०—जो पुरुष जिसका उपकार करता है वह उसका बान्धव होता है । और जो जिसका अहित करता है वह उसका शत्रु होता है । यह मित्र और शत्रुका लक्षण जानना ॥१७५८॥

आगे बन्धुओंमें शत्रुका लक्षण दिखलाते हैं—

गा०-टी०—बन्धुगण दुःख देनेवाले सब कर्मोंका पूर्णरूपसे विनाश और संसारका सातिशय दुःख देनेवाले रत्नत्रयरूप धर्ममे विघ्न करते हैं । और दुःसह नरकादिके दुःखोंको लानेमें तत्पर हिंसा, झूठ, चोरी आदि असंयम कराते हैं । अर्थात् यदि कोई जिनदीक्षा आदि लेकर आत्म-कल्याणमें लगना चाहता है तो परिवारके लोग उसे रोकते हैं तथा अपने पोषणके लिये मनुष्यको बुरे कर्म करनेकी प्रेरणा करते हैं । तो हितसाधनमें विघ्न करनेसे और अहितमें लगानेसे बन्धु शत्रु हैं, यह इससे दिखलाया है । इसका अभिप्राय यह है कि जो अन्य बान्धव आदि रूपसे इष्ट हैं उन्हें भी शत्रु रूपसे विचारना कि ये मेरे मित्र नहीं हैं, शत्रु हैं, अन्यत्वानुप्रेक्षा है ॥१७५९॥

अब अन्य शब्दसे साधुओंको लेते हैं । उन्हें उपकारी रूपसे विचारना अन्यत्वानुप्रेक्षा है, यह कहते हैं—

गा०—पुरुषके यति धर्म स्वीकार करनेमें विघ्न करनेसे बन्धुगण शत्रु होते हैं तथा वे

¹अन्यथा यतीनां बन्धुत्वं कथं ²प्रस्तुतायां अन्यत्वानुप्रेक्षायामुपयुज्यते ॥१७६०॥

पुरिसस्स पुणो साहू उज्जोवं संजमंति अदिधम्मे ।
तध³ तिव्वदुक्खकरणं असंजमं परिहरावेंति ॥१७६१॥

'पुरिसस्स' पुरुषस्य । 'पुणो साहू' साधवः पुनः 'उज्जोवं संजमंति' उद्योगं सम्यग्जनयन्ति । 'अदिधम्मे' सर्वारंभपरिग्रहत्यागलक्षणे यतिधर्मे, 'तध असंजमं परिहरावेंति' तथा असंयमं परिहारयन्ति । कीदृग्भूतं ? 'तिव्वदुक्खयरं' तीव्राणां दुःखानामुत्पादकं ॥१७६१॥

उपसंहरति प्रस्तुतवचं—

तम्हा जीवा पुरिसस्स होंति साहू अणेयसुहहेदु ।
संसारमदीणंता जीवा य णरस्स होंति अरी ॥१७६२॥

'तम्हा' तस्मात् । हिते प्रवर्तनात् अहिते निवर्तनात् । 'जीवा पुरिसस्स' बान्धवाः पुरुषस्य । के ? 'साधू' साधवः । 'अणेयसुहहेदू' इन्द्रिया⁴तीन्द्रियसकलसुखहेतवः । 'संसारमदीणंता' संसारमपारमनेकदुःखसंकुल-मवतारयन्तः । 'जीवा य णरस्स होंति अरी' शत्रवो भवन्ति मनुष्यस्य बान्धवाः । एतेन सूत्रेण अन्येषां यतीनां बन्धूनां मित्रत्वशत्रुत्वानुप्रेक्षणं अन्यत्वानुप्रेक्षेति कथ्यते । एवमनुप्रेक्षमाणस्य धर्मे तदुपदेशकारिणि च यतिजने महानादरो भवति । अभिमतं सकलं सुखमुपस्थापयतो धर्मस्य विघ्नं सम्पादयत्सु चतुर्गतिघटीयन्त्रे⁵ दुरुत्तार-⁶आरोहयत्सु नितरामनादरो भवति ॥१७६२॥ अन्यत्वं ।

संसारानुप्रेक्षा कथ्यते प्रबन्धेनोत्तरेण—

मिच्छत्तमोहिदमदी संसारमहाडवी तदोदीदि ।
जिणवयणविप्पणट्ठो महाडवीविप्पणट्ठो वा ॥१७६३॥

अत्यन्त दुःसह दुःखदायी असंयम कराते हैं इसलिये भी वे शत्रु हैं ॥१७६०॥

गा०—किन्तु साधु सर्व आरम्भ और सर्व परिग्रहके त्यागरूप मुनिधर्ममें पुरुषको तत्पर करते हैं और तीव्र दुःखदायी असंयमका त्याग कराते हैं ॥१७६१॥

प्रस्तुत कथनका उपसंहार करते हैं—

गा०-टी०—अतः हितमें लगाने और अहितसे रोकनेके कारण साधुगण बन्धु हैं। वे इन्द्रियजन्य और अतीन्द्रिय सुखके कारण हैं तथा अनेक दुःखोंसे भरे अपार संसारसे पार उतारते हैं। इस गाथाके द्वारा अपनेसे अन्य साधुगणोंका मित्ररूपसे और बन्धुगणोंका शत्रुरूपसे चिन्तन करनेको अन्यत्वानुप्रेक्षा कहा है। ऐसा चिन्तन करनेसे धर्ममें और धर्मका उपदेश करनेवाले साधुगणमें महान आदर होता है। और सर्व इष्ट सुखको देनेवाले धर्ममें विघ्न करनेवालोंमें और जिसपरसे उतरना दुष्कर है उस चार गतिरूपी घटीयंत्रपर चढ़ाने वालोंमें अत्यन्त अनादर होता है ॥१७६२॥

---

१. अन्येषां —आ० मु० । २. कथमत्र —आ० मु० । ३. असंजमं परिहरावेंति तिव्वदुक्खयरं —आ० । ४. यानिन्द्रि —आ० मु० । ५. यन्त्रे दुःखभारे वा —आ० मु० । ६. आरोहत्सु —अ० मु० ।

'मिच्छत्तमोहिदमदी' वस्तुयाथात्म्याश्रद्धानं दर्शनमोहोदयजं मिथ्यात्वं तेन मिथ्यात्वेन हेतुना मोहमुपगता मतिर्यस्यासौ । 'संसारमहाडवीं' संसारो महाटवी [1]दुस्तरत्वादनेकदुःखावहत्वाद्विनाशयितुमुद्यतत्वाच्च तां संसारमहाटवीं । 'तदो' तस्मात् मिथ्यात्वमूढमतित्वात् । 'अदीदि' प्रविशति । ननु च मिथ्यात्वासंयमकषाययोगाश्चत्वारोऽपि संसारस्य निमित्तभूताः तत्र किमुच्यते मिथ्यात्वमूढमतिः संसारमहाटवीं प्रविशतीति । अत्रोच्यते—उपलक्षणं मिथ्यात्वग्रहणं असंयमादीनां । 'जिणवयणविप्पणट्ठो' द्रव्यभावकर्माराशिजयात् जिनास्तेषां वचनं जीवाद्यर्थयाथात्म्यप्रकाशनपटु प्रत्यक्षादिप्रमाणांतराविरोधि ततो विप्रनष्टस्तदर्थापरिज्ञानात् यत्तत्वाश्रद्धानं तन्निरूपितेन मार्गेणानाचरणाच्च महाटवीं महतीमटवीं प्रविशति । 'विप्पणट्ठो वा' मार्गाद्विप्रनष्ट इव । 'संसारमहोवधिमविणम्म जीवपोतो भमदि' संसारमहासमुद्रं प्रविश्य जीवयानपात्रं भ्रमति । कीदृग्भूतं संसारमहोदधिं ॥१७६३॥

बहुतिव्वदुक्खसलिलं अणंतकायप्पवेसपादालं ।
चदुपरिवट्टावत्तं चदुगदिबहुपट्टमणंतं ॥१७६४॥

'बहुतिव्वदुक्खसलिलं' बहूनि तीव्राणि दुःखानि सलिलानि यस्मिन्संसारमहोदधौ तं । 'अणंतकायप्पवेसपादालं' अनंतानां जीवानां कायः शरीरमनंतकाय अनन्तकाय [2]प्रवेशास्ते पातालसंस्थानीया यस्य त । अथवा न विद्यते अन्तो निश्चयोऽस्यैव जीवस्येवं शरीरमिति बहूनां साधारणत्वात् यस्मिन् काये सोऽनंत. कायोऽस्य

आगे संसार अनुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

गा०—टी०—दर्शनमोहके उदयसे जो वस्तुके यथार्थस्वरूपका अश्रद्धान है उसे मिथ्यात्व कहते हैं। उस मिथ्यात्वके कारण जिसकी मति मोहित है वह मिथ्यात्वसे मोहितमति होनेसे संसाररूपी महा अटवीमें प्रवेश करता है। महाअटवीके समान ही संसारको पार करना कठिन है वह अनेक दुःखोंसे भरा है तथा प्राणीका विनाश करनेवाला है इसलिये संसारको महाटवी कहा है।

शंका—मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग ये चारों भी संसारके हेतु हैं। तब यह क्यों कहा कि मिथ्यात्वसे जिसकी मति मूढ है वह संसार महाटवीमें प्रवेश करता है।

समाधान—मिथ्यात्वका ग्रहण असंयम आदिका उपलक्षण है अतः मिथ्यात्वके ग्रहणसे असंयम आदिका ग्रहण हो जाता है। द्रव्यकर्म और भावकर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेसे जो जिन कहे जाते हैं उनके वचन जीवादि पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको प्रकाशनमें दक्ष हैं तथा वे प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाणोंसे अविरुद्ध हैं। उन वचनोंका अर्थ न जाननेसे जो तत्त्वोंका अश्रद्धान है उससे तथा उसमें कहे गये मार्गके अनुसार आचरण न करनेसे संसाररूपी महाअटवीमें प्रवेश करता है। तथा मार्गसे भ्रष्ट होकर जीवरूपी जहाज संसाररूपी महासमुद्रमें प्रवेश करके भटकता है ॥१७६३॥

संसाररूपी महासमुद्र कैसा है, यह बतलाते हैं—

गा०—टी०—जिस संसाररूपी महासमुद्रमें तीव्र दुःखरूपी जल भरा है और अनन्त जीवोंके काय अर्थात् शरीरको अनन्तकाय कहते हैं। अनन्तकायमें प्रवेश ही जिस संसार समुद्रमें पाताल हैं। अथवा 'यह शरीर इसी जीवका है' ऐसा अन्त अर्थात् निश्चय जहाँ नहीं वह काय अनन्त है

---

१. दुस्तरत्वाद् बहुत्वा —आ० मु० । २. कायस्य प्र०, आ० ।

जीवस्यैत्यनन्तकायः । अन्तरेणापि भावप्रत्ययं भावप्रधानो निर्देशः । तेनायमर्थः अनन्तकायत्वस्य प्रवेशः अनन्तकायप्रवेशः स पातालं यस्य तं । 'चदुपरियट्टावत्तं' चत्वारः द्रव्यक्षेत्रकालभावाख्याः परिवर्ताः आवर्ता यस्मिंस्तं । 'चदुगदिबहुदीवं' चतस्रो गतयो बहूनि महान्ति पत्तनानि यस्मिंस्तं । 'अणंतं' अनन्तं ॥१७६४॥

हिंसादिदोसमगरादिसावदं दुविहजीववहुमच्छं ।
जाइजरामरणोदयमणेयजादीसदुम्मीयं ॥१७६५॥

'हिंसादिदोसमगरादिसावदं' हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहा हिंसादिदोषास्ते मकरादयः श्वापदा यस्मिंस्तं । 'दुविहजीवबहुमच्छं' द्विविधाःस्थावरजंगमविकल्पा जीवा इति द्विविधा जीवास्ते बहवो मत्स्या यस्मिंस्तं । 'जादिजरामरणोदयं' जातिरभिनवशरीरग्रहणं, जरा नाम गृहीतस्य शरीरस्य तेजोबलादिविभिन्नता, मरणं शरीरादपगमः एतानि जातिजरामरणानि उदयं उत्पत्तिर्यस्मिंस्तं । 'अणेयजादीसदुम्मीयं' अनेकानि जातिशतानि ऊर्मयो यस्मिंस्तं । एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियजातय. प्रत्येकमवान्तरभेदापेक्षया पृथिवीकायिका, अप्कायिकास्तेजस्कायिकवनस्पतिकायिका इति । एकेन्द्रियजातिरनेकप्रकारा । षड्त्रिंशद्विकल्पा पृथिवी । आपोऽपि वर्षहिमहिमानीकरकादिभेदभिन्ना । अग्निरपि प्रदीपोल्मुकमर्मुरित्यनेकभेदः । वायुरपि गुञ्जामण्डलिकादिविकल्पः । वनस्पतयोऽपि तरुगुल्मवल्लीलतातृणादिभेदास्ततो जातिशतानीत्युक्तं ॥१७६५॥

क्योंकि एक शरीरमें बहुतसे जीव समानरूपसे रहते हैं। वह अनन्तकाय जिस जीवकी है वह अनन्तकाय है। 'भाव प्रत्ययके बिना भी निर्देश भावप्रधान होता है' इस नियमके अनुसार अर्थ होता है अनन्त कायत्वका प्रवेश अनन्तकाय प्रवेश। वही जिसमें पाताल है। तथा द्रव्य क्षेत्र काल और भाव परिवर्तन रूप जिसमें चार भँवर हैं। और चारगतिरूप महान् द्वीप हैं तथा जो अनन्त है ॥१७६४॥

विशेषार्थ—संसारको महासमुद्रकी उपमा दी है। समुद्रमें जल होता है संसारमें दुःख ही जल है। जैसे जलका आरपार नहीं है वैसे ही संसारके दुःखका भी आदि अन्त नहीं है। समुद्रमें पाताल होते हैं जिनमें प्रवेश करके निकलना कठिन है। संसारमें जो अनन्तकाय निगोद हैं वही पाताल है उसमें प्रवेश करके निकलना कठिन है। समुद्रमें भँवर होते हैं। संसारमें परिवर्तनरूप भँवर है। समुद्रमें द्वीप होते हैं जहाँ कुछ समय ठहर सकते हैं। संसारमें चार गतियाँ ही द्वीप हैं। इसी प्रकार समुद्र भी अनन्त है और संसार भी ॥१७६४॥

गा०—टी०—उस संसाररूपी समुद्रमें हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहरूपी मगर आदि क्रूर जन्तु रहते हैं। स्थावर और जंगम जीवरूप बहुतसे मच्छ हैं। जाति अर्थात् नया शरीर धारण करना, जरा अर्थात् वर्तमान शरीरके तेज बल आदिमें कमी होना, मरण अर्थात् शरीरका त्याग। ये जाति जरा और मरण उसके उठाव हैं तथा सैकड़ों जातियाँरूपी उसमें तरंगें हैं। एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये पाँच जातियाँ हैं। इसमेंसे प्रत्येकके अनेक अवान्तर भेद हैं। जैसे एकेन्द्रिय जातिके पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वनस्पतिकायिक आदि अनेक भेद हैं। उनमेंसे भी पृथिवीके छत्तीस भेद हैं। जलके भी वर्षा, हिम, ओले आदि भेद हैं। आगके भी दीपक, अंगार, लपट आदि अनेक भेद हैं। वायुके भी गुंजा, माण्डलिक आदि भेद हैं। वनस्पतिके भी वृक्ष, झाड़ी, बेल, लता, तृण आदि भेद हैं। इसीसे सैकड़ों जातियाँ कही हैं ॥१७६५॥

दुविहपरिणामवादं संसारमहोदधिं परमभीमं ।
अदिगम्म जीवपोदो भमइ चिरं कम्मभण्डभरो ॥१७६६॥

'दुविहपरिणामवादं' द्विविधाः शुभाशुभपरिणामा वाता यस्मिंस्तं । 'परमभीमं' अतिभयंकरं । 'अदिगम्म' प्रविश्य । 'जीवपोदो' जीवपोतः । 'भमइ चिरं' चिरकालं भ्रमति । 'कम्मभण्डभरो' कर्मद्रविणभारः । इति सम्बन्धः ॥१७६६॥

भवसंसारं निरूपयति—

एगबिगतिगचउपंचिंदियाण जाओ हवंति जोणीओ ।
सव्वाओ ताओ पत्तो अणंतखुत्तो इमो जीवो ॥१७६७॥

'एगबिगतिगचउपंचिंदियाण' नामकर्म गतिजात्यादिविविधभेदं । तत्र जातिकर्म पञ्चविकल्पं एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियजातिविकल्पेन तासां जातीनामुदयात् । एकेन्द्रियत्वादिपर्यायभाजो जीवाः एकेन्द्रियादिशब्देनोच्यन्ते । तेषामेकेन्द्रियादीनां योनय आश्रया बादरसूक्ष्मपर्याप्तकापर्याप्तकाख्या जीवद्रव्याणामिहाश्रयत्वेन विवक्षिताः । 'सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः' [त० सू० २।३२] इति सूत्रे ये निर्दिष्टाश्चतुरशीतिशतसहस्रविकल्पास्त इह न गृह्यन्ते । यतः सूत्रान्तरे देवत्वनारकत्वमनुष्यत्वतिर्यक्त्वाख्या भवपर्यायपरावृत्तिर्भवसंसार इत्युक्तः ।

णिरयादिजहण्णादिसु जाव दु उवरिल्लया दु गेवज्जा ।
मिच्छत्तसंसिदेण दु भवट्ठिदी भमिदा बहुसो ॥ इति वचनात् ॥

योनयो न भवशब्दवाच्याः । जीवपर्यायो हि भवस्तत्र भव. संसारस्त्रिंशद्विधः—पृथिव्यप्तेजोवायुवन-

---

गा०—कर्मरूपी भाण्डसे भरा हुआ जीवरूपी जहाज शुभ अशुभ परिणामरूप वायुसे युक्त अतिभयंकर संसार महासागरमें प्रवेश करके चिरकाल तक भ्रमण करता है ॥१७६६॥

अब भवसंसारका कथन करते है—

गा०-टी०—नामकर्मके गतिनामकर्म जातिनामकर्म आदि अनेक भेद हैं। उनमेंसे जातिनामकर्मके पाँच भेद हैं—एकेन्द्रिय जातिनाम, दोइन्द्रिय जातिनाम, त्रीन्द्रिय जातिनाम, चतुरिन्द्रिय जातिनाम और पञ्चेन्द्रिय जातिनाम। उन जातिनाम कर्मोंके उदयसे एकेन्द्रिय आदि पर्यायमें जन्म लेनेवाले जीव एकेन्द्रिय आदि शब्दसे कहे जाते हैं। उन एकेन्द्रिय आदिकी बादर सूक्ष्म पर्याप्त और अपर्याप्त योनियोंको यहाँ जीवद्रव्यका आश्रय कहा है। तत्त्वार्थ सूत्रके 'सचित्तशीतसंवृताः' इत्यादि सूत्रमें जो चौरासी लाख योनियाँ कही हैं, यहाँ उनका ग्रहण नहीं किया है। क्योंकि उसी तत्त्वार्थसूत्रके 'संसारिणो मुक्ताश्च' सूत्रकी सर्वार्थसिद्धि टीकामें देव, नारकी, मनुष्य और तिर्यञ्च नामक भवपर्यायके परावर्तनको भवसंसार कहा है। कहा है—'इस जीवने नरकगति आदिकी जघन्य स्थितिसे लेकर उपरिम ग्रैवेयक पर्यन्त अनेक भवस्थितियोंको मिथ्यात्वके संसर्गसे भोगा है।'

अतः भवशब्दसे योनियाँ नहीं कही जातीं। जीवकी पर्यायको भव कहते हैं। भवसंसार तीस प्रकारका है—पृथिवीकाय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकायमेंसे प्रत्येकके

संस्थितिकायाः प्रत्येकं बादरसूक्ष्मपर्याप्तकापर्याप्तविकल्पाद्विंशतिविधाः। द्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिसंज्ञिविकल्पाः पञ्चेन्द्रियाश्च पर्याप्तापर्याप्तकविकल्पा दशविधाः। अन्ये तु भवपरिवर्तनमेवं [1]वदन्ति। नरकगतौ सर्वजघन्यमायुर्दशवर्षसहस्राणि। तेनायुषा तत्रोत्पन्नः पुनः परिभ्रम्य तेनैवायुषा तत्र जायते। एवं दशवर्षसहस्राणां यावन्तः समयास्तावत्कृत्वा तत्रैव जातो मृतः। पुनरेकैकसमयाधिकभावेन त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमापितानि। ततः प्रच्युत्य तिर्यग्गतौ अन्तर्मुहूर्तायुःसमुत्पन्नः। पूर्वोक्तेन क्रमेण त्रीणि पल्योपमानि परिसमापितानि। ततः प्रच्युत्य एवं मनुष्यगतौ। देवगतौ नारकवत्। अयं तु विशेषः, एकत्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमापितानि यावत्तावद्भवपरिवर्तनाः समाप्ता भवन्ति इति। अनन्तवारमयं प्राप्तो जीवः॥१७६७॥

द्रव्यपरिवर्तनमुच्यते—

अण्णं गिण्हदि देहं तं पुण मुत्तूण गिण्हदे अण्णं।
घडिजंतं व य जीवो भमदि इमो दव्वसंसारे॥१७६८॥

'अण्णं गेण्हदि देहं' अन्यच्छरीरं गृह्णाति। 'तं पुण मुत्तूण' तच्छरीरं मुक्त्वा पुनरन्यद् गृह्णाति। 'घडिजंतमिव जीवो' घटीयन्त्रवज्जीवः। यथा घटीयन्त्रं अन्यज्जलं गृह्णाति तत् त्यक्त्वा पुनरन्यदादत्ते एवमयं शरीराणि गृह्णन् मुंचंश्च भ्रमति। शरीराणि विचित्राणि द्रव्यशब्देनोच्यन्ते तस्यात्मनः परिवर्तनं

बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त चार भेद होनेसे बीस भेद होते हैं। तथा दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय और संज्ञीपञ्चेन्द्रियके पर्याप्तक और अपर्याप्तक भेद होनेसे दसभेद होते हैं।

अन्य आचार्य भवपरिवर्तनका स्वरूप इस प्रकार कहते हैं—

नरकगतिमें सबसे जघन्य आयु दस हजार वर्षकी है। कोई जीव उस आयुको लेकर नरकमें उत्पन्न हुआ। पुनः परिभ्रमण करके उतनी ही आयुको लेकर नरकमें उत्पन्न हुआ। इस प्रकार दस हजार वर्षोंके जितने समय होते हैं उतनी बार दस हजार वर्षकी आयु लेकर नरकमें उत्पन्न हुआ और मरा। पुनः दस हजार वर्षकी आयुमें एक-एक समय बढ़ाकर नरकमें उत्पन्न होते हुए वहाँकी उत्कृष्ट आयु तेंतीस सागर पूर्ण की। नरककी आयु पूर्ण करनेके पश्चात् तिर्यञ्चगतिमें एक अन्तर्मुहूर्तकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ और मरा। नरकगतिमें कहे क्रमानुसार तिर्यञ्चगतिकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्य पूर्ण की। तिर्यञ्चगतिके समान मनुष्यगतिकी आयु पूर्ण की और नरकगतिके समान देवगतिकी आयु पूर्ण की। किन्तु इतना विशेष है कि उपरिम ग्रैवेयककी उत्कृष्ट आयु इकतीस सागर पूर्ण होने पर समस्त भवपरिवर्तन हो जाते हैं। ऐसे भवपरिवर्तन इस जीवने अनन्तवार किये हैं॥१७६७॥

द्रव्यपरिवर्तनको कहते हैं—

गा०—टी०—घटीयन्त्रकी तरह जीव अन्य शरीरको छोड़कर अन्य शरीरको ग्रहण करता है। उसे भी छोड़कर अन्य शरीरको ग्रहण करता है। जैसे घटीयन्त्र नया जल ग्रहण करता है उसे निकालकर फिर नया जल ग्रहण करता है। उसी प्रकार यह जीव शरीरोंको ग्रहण करता और छोड़ता हुआ भ्रमण करता है। द्रव्यशब्दसे विचित्र शरीर कहे हैं। आत्माके शरीरोंका

---

१. सर्वार्थसि० २।१०।

द्रव्यसंसार इति सूत्रकारस्यास्य व्याख्या स्थूलबुद्धीननुगृह्य। एवं तु द्रव्यपरिवर्तनं ग्राह्यं। द्रव्यपरिवर्तनं द्विविधं—नोकर्मपरिवर्तनं कर्मपरिवर्तनं चेति। तत्र नोकर्मपरिवर्तनं नाम त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्या ये पुद्गला एकेन जीवेन एकस्मिन्समये गृहीताः स्निग्धरूक्षवर्णगन्धादिभिस्तीव्रमन्दमध्यमभावेन च यथावस्थिता द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णा अगृहीताननन्तवारानतीत्य, मिश्रकांश्च अनन्तवारानतीत्य मध्ये गृहीतागृहीतांश्च अनन्तवारानतीत्य त एव तेनैव प्रकारेण तस्यैव जीवस्य नोकर्मभावमापद्यन्ते यावत्तावत्समुदितं नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनं। कर्मद्रव्यपरिवर्तनमुच्यते—एकस्मिन्समये एकेन जीवेन अष्टविधकर्मभावेन ये च गृहीताः समयाधिकावलिकामतीत्य द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णाः पूर्वोक्तेनैव क्रमेण त एव तेनैव प्रकारेण तस्य जीवस्य कर्मभावमापद्यन्ते यावत्तावत्कर्मद्रव्यपरिवर्तनं ॥१७६८॥

रंगपविट्ठो व इमो बहुविहसंठाणवण्णरूवाणि।
गिण्हदि मुच्चदि य ठिदं जीवो संसारमावण्णो ॥१७६९॥

'रंगपविट्ठो व' रंगप्रविष्टनट इव। 'इमो' अयं 'बहुविहसंठाणवण्णरूवाणि' बहुविधसंस्थानवर्णस्वभावान्। 'गिण्हदि य[1] मुच्चदि य अठिदं' गृह्णाति मुञ्चति च [2]अस्थितं। क्रियाविशेषणमेतत्। 'जीवो संसारमावण्णो' जीवो द्रव्यसंसारमापन्नः ॥१७६९॥

क्षेत्रसंसारं निरूपयति—

जत्थ ण जादो ण मदो हवेज्ज जीवो अणंतसो चेव।
काले तदम्मि इमो ण सो पदेसो जए अत्थि ॥१७७०॥

परिवर्तन द्रव्यसंसार है। ग्रन्थकारने स्थूलबुद्धि वालोंको लक्ष करके द्रव्यसंसारका यह स्वरूप कहा है; किन्तु द्रव्यपरिवर्तन इस प्रकार लेना।

द्रव्यपरिवर्तनके दो भेद हैं—नोकर्म परिवर्तन और कर्म परिवर्तन। उनमेंसे नोकर्म परिवर्तन इस प्रकार है—तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके योग्य जो पुद्गल एक जीवने एक समयमें ग्रहण किये, उनमें जैसा स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण रहा हो और तीव्र, मन्द या मध्यम भावसे वे ग्रहण किये गये हों, दूसरे आदि समयोंमें उन्हे भोगकर छोड दिया। उसके पश्चात् अनन्तवार अगृहीतको ग्रहण करके, अनन्तवार मिश्रको ग्रहण करके, मध्यमें गृहीत और अगृहीतको अनन्तवार ग्रहण करके वे ही पुद्गल उसी जीवके उसी प्रकारसे जब नोकर्म रूपको प्राप्त होते हैं, उस सबको नोकर्म परिवर्तन कहते है। अब कर्मद्रव्य परिवर्तन कहते हैं—एक समयमें एक जीवने आठ कर्मरूपसे जो पुद्गल ग्रहण किये और एक समय अधिक एक आवली कालके पश्चात् द्वितीय आदि समयोंमें उन्हें भोगकर छोड़ दिया। नोकर्म परिवर्तनमें कहे क्रमके अनुसार वे ही कर्मपुद्गल उसी जीवके उसी प्रकारसे जब कर्मरूपसे आते हैं उस सबको कर्मद्रव्य परिवर्तन कहते हैं ॥१७६८॥

गा०—जैसे रंगभूमिमें प्रविष्ट हुआ नट अनेक रूपोंको धारण करता है उसी प्रकार द्रव्यसंसारमें भ्रमण करता हुआ जीव निरन्तर अनेक आकार, रूप, स्वभाव आदिको ग्रहण करता और छोड़ता है ॥१७६९॥

---

१. गि य ठिदं आ०। २. अवस्थितं —आ० मु०।

'तत्थ ण जादो ण मदो हुवेज्ज' यत्र लोके जातो मृतो वा न भवेज्जीवः। 'अणंतसो चेव' अनन्तवारान्। 'कालेतीदम्मि इमो' अतीते कालेऽयं। 'ण सो पदेसो जये अत्थि' नासौ प्रदेशो जगति विद्यते। अन्ये तु क्षेत्रपरिवर्तनं—वदन्ति सूक्ष्मनिगोदजीवो पर्याप्तकः सर्वजघन्यप्रदेशशरीरो लोकस्याष्टमध्यप्रदेशान् स्वशरीरमध्यप्रदेशान् कृत्वोत्पन्नः, क्षुद्रभवग्रहणं जीवित्वा मृतः, स एव पुनस्तेनैवावगाहेन द्विरुत्पन्नस्तथा त्रिश्चतुरिति। एवं यावन्तोऽङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिताकाशप्रदेशास्तावत्कृत्वा तत्रैव जनित्वा पुनरेकैकप्रदेशाधिकभावेन सर्वलोक आत्मनो जन्मक्षेत्रभावमुपनीतो भवति यावत्तावत् क्षेत्रपरिवर्तनं। उक्तं च—

सव्वम्हि लोयखित्ते कमसो तं णत्थि जण्ण उप्पण्णं।
ओगाहणा य बहुसो परिभमिदो खित्तसंसारे ॥ [बा० अनु० २६] ॥१७७०॥

कालपरिवर्तनमुच्यते—

तक्कालतक्कालसमएसु जीवो अणंतसो चेव।
जादो मदो य सव्वेसु इमो तीदम्मि कालम्मि ॥१७७१॥

'तक्कालतक्कालसमएसु' उत्सर्पिण्यवसर्पिणीसंज्ञितयोः कालयोर्ये समयास्तेषु। 'जीवो अणंतसो चेव' जीवोऽनन्तवारान्। 'जादो मदो य सव्वेसु' जातो मृतश्च सर्वेषु समयेषु। 'इमो तीदम्मि कालम्मि' अयमतीते काले। इयमस्या गाथायाः प्रपञ्चव्याख्या—उत्सर्पिण्याः प्रथमसमये जातः कश्चिज्जीवः स्वायुषः परिसमाप्तौ मृतः, स एव पुनर्द्वितीयाया उत्सर्पिण्या द्वितीयसमये जातः स्वायुषः क्षयान्मृतः। स एव पुनस्तृतीयाया-

---

अब क्षेत्रसंसारको कहते हैं—

गा०—जगत्‌में ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहाँ यह जीव अतीत कालमें अनन्तवार जन्मा और मरा न हो ॥१७७०॥

टी०—अन्य आचार्य क्षेत्रपरिवर्तनका स्वरूप इस प्रकार कहते हैं—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव सबसे जघन्य प्रदेशवाला शरीर लेकर लोकके आठ मध्यप्रदेशोंको अपने शरीरके मध्य प्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ और क्षुद्रभव ग्रहण करके एक श्वासके अठारहवें भाग समय तक जिया और मरा। वही जीव पुनः उसी अवगाहनाको लेकर उसी स्थानमें दुबारा उत्पन्न हुआ, तिबारा उत्पन्न हुआ, चौथी बार उत्पन्न हुआ। इस तरह अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण आकाशमें जितने प्रदेश होते हैं उतनी बार वही उत्पन्न हुआ। पुनः एक-एक प्रदेश बढ़ाते-बढ़ाते सर्वलोकको अपना जन्मक्षेत्र बनाया। इस सबको क्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं। कहा भी है—

सर्व लोकक्षेत्रमें ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ यह क्रमसे उत्पन्न नहीं हुआ। अनेक अवगाहनाके साथ इस जीवने क्षेत्र संसारमें परिभ्रमण किया ॥१७७०॥

कालपरिवर्तनको कहते हैं—

गा०—यह जीव अतीत कालमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके सब समयोंमें अनन्त बार उत्पन्न हुआ और अनन्तबार मरा ॥१७७१॥

टी०—इस गाथाकी विस्तृत व्याख्या इस प्रकार है—उत्सर्पिणी कालके प्रथम समयमें उत्पन्न हुआ कोई जीव अपनी आयुके समाप्त होनेपर मरा। वही जीव पुनः दूसरी उत्सर्पिणीके

उत्सर्पिण्यास्तृतीयसमये जातः। एवमनेन क्रमेण उत्सर्पिणी परिसमाप्ता तथा चावसर्पिणी। एवं जन्मनैरन्तर्यमुक्तं। मरणस्यापि नैरन्तर्यं तथैव ग्राह्यमेवं तावत्कालपरिवर्तनं। उक्तं च—

'उवसप्पिणिअवसप्पिणिसमयावलियासु णिरवसेसासु।
जादो मदो य बहुसो भमणेण दु कालसंसारे॥' [बा०, अणु० २७] ॥१७७१॥

स्पन्दनससारं निरूपयत्युत्तरगाथा—

अट्ठपदेसे मुत्तूण इमो सेसेसु सगपदेसेसु।
तत्तमिव अद्दहणं उव्वत्तपरत्तणं कुणदि ॥१७७३॥

'अट्ठपदेसे मुत्तूण' अष्टौ प्रदेशान्गवस्तनाकारान् मुक्त्वा। 'इमो' अयं जीवः। 'सेसेसु सगपदेसेसु' शेषेषु स्वप्रदेशेषु 'तत्तमिव अद्दहणं' तप्तजलमध्यस्थतण्डुलवत्। 'उव्वत्त परत्तणं कुणदि' उद्वर्तनं परावर्तनं करोति। एतया गाथया स्वप्रदेशेषु संसरणमात्मनः क्षेत्रसंसारत्वेनोच्यते ॥१७७३॥

भावसंसारोत्तरप्रतिपादनार्थं गाथा—

लोयागासपएसा असंखगुणिदा हवंति जावदिया।
तावदियाणि दु अज्झवसाणाणि इमस्स जीवस्स ॥१७७४॥

'लोयागासपदेसा' लोकाकाशस्य प्रदेशाः। 'असंखगुणिदा' असंख्यगुणिताः। 'हवंति जावदिया' यावन्तो भवन्ति। 'तावदियाणि दु अज्झवसाणाणि' तावदध्यवसायस्थानानि भवन्ति। 'इमस्स जीवस्स' अस्य जीवस्य। जीवस्य असंख्यातलोकप्रमाणेष्वध्यवसायसंज्ञितेषु भावेषु परावृत्तिर्भावसंसारः ॥१७७४॥

दूसरे समयमें उत्पन्न हुआ और अपनी आयुके समाप्त होने पर मरा। वह जीव पुनः तीसरी उत्सर्पिणीके तीसरे समयमें उत्पन्न हुआ। इस क्रमसे उसने उत्सर्पिणी समाप्त की और इसी क्रमसे अवसर्पिणी समाप्त की। अर्थात् उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके सब समयोंमें क्रमसे जन्मा। तथा इसी प्रकार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके सब समयोंमें मरा भी। इस सबको काल परिवर्तन कहते हैं। कहा भी है—

कालसंसारमें भ्रमण करनेसे यह जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके सब समयोंमें अनेक बार जन्मा और अनेक बार मरा ॥१७७१॥

आगे क्षेत्रसंसाररूप स्पन्दन संसारको कहते हैं—

गा०—लोकके मध्यमें स्थित गौके स्तनके आकार आठ प्रदेशोंको छोड़कर यह जीव अपने शेष प्रदेशोंमें तप्त जलके मध्यमें स्थित चावलोंकी तरह उद्वर्तन परावर्तन किया करता है। अर्थात् जैसे आग पर रखे गर्म जलमें पड़े हुए चावल ऊपर नीचे हुआ करते हैं उसी प्रकार आठ मध्य प्रदेशोंको छोड़कर जीवके शेष प्रदेश चल रहते हैं ॥१७७३॥

भाव संसारका कथन करते हैं—

गा०—लोकाकाशके प्रदेशोंको असंख्यातसे गुणा करनेपर जितनी राशि होती है उतने ही इस जीवके अध्यवसाय स्थान होते हैं। इन असंख्यात लोक प्रमाण अध्यवसाय नामक भावोंमें जीवके परावर्तनको भाव संसार कहते हैं ॥१७७४॥

अज्झवसाणट्ठाणंतराणि जीवो विकुव्वइ इमो हु ।
णिच्चं पि जहा सरडो गिण्हदि णाणाविहे वण्णे ॥१७७५॥

'अज्झवसाणट्ठाणंतराणि जीवो विकुव्वइ इमो हु' अध्यवसायस्थानान्तराणि जीवः परिणमत्ययं । 'णिच्चंपि' नित्यमपि, 'जहा सरडो णाणाविहे वण्णे' यथा गोधा नानाविधान्वर्णानुपादत्ते । एवं संसारः ॥१७७५॥

तस्य भयमुपदर्शयति—

आगासम्मि वि पक्खी जले वि मच्छा थले वि थलचारी ।
हिंसंति एक्कमेक्कं सव्वत्थ भयं खु संसारे ॥१७७६॥

'आगासम्मि वि पक्खी' आकाशे संचरन्तं परकीयपक्षिणोऽपि बाधन्ते । 'जले वि मच्छा' जलेऽपि मत्स्याः । 'थले वि थलचारी' भूमावपि भूमिचारिणः । 'हिंसंति' बाधन्ते । 'एक्कमेक्कं' अन्योन्यं । 'सव्वत्थ भयं खु संसारे' सर्वत्र भयं संसारे ॥१६७६॥

गा०—जैसे गिरगिट नित्य ही नाना प्रकारके रंग बदलता है वैसे ही यह जीव अध्यवसाय स्थानोंको धारण करता हुआ परिणमन करता है ॥१७७५॥

विशेषार्थ—भावपरिवर्तनका विस्तृत स्वरूप इस प्रकार है—पञ्चेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि कोई जीव सबसे जघन्य अपने योग्य ज्ञानावरण कर्मका अन्त कोटिकोटी सागर प्रमाण स्थितिबन्ध करता है। उस जीवके उस स्थितिबन्धके योग्य असंख्यात लोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थान होते हैं। उनमेंसे सबसे जघन्य कषायाध्यवसायस्थानमें निमित्त असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थान होते हैं। इस प्रकार सबसे जघन्य स्थिति, सबसे जघन्य कषायाध्यवसाय स्थान, सबसे जघन्य ही अनुभागबन्ध स्थानको प्राप्त उस जीवके उसके योग्य सबसे जघन्य एक योगस्थान होता है। फिर उसी स्थिति, उसी कषाय स्थान और उसी अनुभागस्थानको प्राप्त उस जीवके दूसरा योगस्थान होता है जो पहलेसे असंख्यात भागवृद्धियुक्त होता है। इस प्रकार श्रेणिके असंख्यातवें भागप्रमाण योगस्थानोंके समाप्त होनेपर पुनः वही स्थिति और उसी कषायाध्यवसायस्थानको प्राप्त उसी जीवके दूसरा अनुभागाध्यवसायस्थान होता है। उसके भी योगस्थान पूर्ववत् जानना चाहिये। इस प्रकार तीसरे आदि असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थानोंके समाप्त होनेपर उसी स्थितिको प्राप्त उसी जीवके दूसरा कषायाध्यवसायस्थान होता है। उसके भी अनुभागाध्यवसायस्थान पूर्ववत् जानना। इस प्रकार तीसरे आदि कषायाध्यवसायस्थानोंके समाप्त होनेपर वही जीव एक समय अधिक जघन्यस्थितिको बाँधता है। उसके भी कषायादि स्थान पूर्ववत् जानना। इसी प्रकार एक-एक समय अधिकके क्रमसे ज्ञानावरण कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर पूर्ववत् बांधता है। इसी प्रकार सब मूलकर्मों और उनकी उत्तर प्रकृतियोंकी सब स्थितियोंको उक्त प्रकारसे बाधता है। इस सबको भावपरिवर्तन कहते हैं ॥१७७५॥

संसारसे भय दर्शाते हैं—

गा०—आकाशमें विचरण करते हुए पक्षियोंको दूसरे पक्षी बाधा देते हैं। जलमें मच्छ बाधा करते हैं। थलमें थलचारी बाधा करते हैं। इस प्रकार सर्वत्र एक दूसरेकी हिंसा करते हैं। अतः संसारमें सर्वत्र भय है ॥१७७६॥

ससगो वाहपरद्धो बिलत्ति णाऊण अजमरस्स मुहं ।
सरणत्ति मण्णमाणो मच्चुस्स मुहं जह अदीदि ॥१७७७॥

'ससगो वाहपरद्धो' शशो व्याधेनोपद्रुतः, 'बिलत्तिणाऊण अजगरस्स मुहं' बिलमिति ज्ञात्वा अजगरस्य मुखं । 'सरणत्ति मण्णमाणो' शरणमिति मन्यमानः । 'मच्चुस्स मुहं जह अदीदि' मृत्योर्मुखं यथा प्रविशति ॥१७७७॥

तह अण्णाणी जीवा परिद्दुमाणच्छुहादिवाहेहिं ।
अदिगच्छंति महादुहहेदुं संसारसप्पमुहं ॥१७७८॥

'तह अण्णाणी जीवा' तथा अज्ञानिनो जीवाः । 'परिद्दुमाणच्छुहादिवाहेहिं' अनुबाध्यमानाः क्षुधादिभिः व्याधैः । 'अदिगच्छंति' प्रविशन्ति । 'महादुहहेदुं' महतो दुःखस्य निमित्तं । 'संसारसप्पमुहं' संसारसर्पमुखं ॥१७७८॥

जावदियाइं सुहाइं होंति लोगम्मि सव्वजोणीसु ।
ताइंपि बहुविधाइं अणंतखुत्तो इमो पत्तो ॥१७७९॥

'जावदियाइं' यावन्ति । 'सुहाणि होंति लोगम्मि' सुखानि भवन्ति लोके । 'सव्वजोणीसु' सर्वासु योनिषु । 'ताइंपि बहुविधाइं' तान्यपि बहुविधानि । 'अणंतखुत्तो इमो पत्तो' अनन्तवारमयं जीवः प्राप्तः ॥१७७९॥

दुक्खं अणंतखुत्तो पावेत्तु सुहंपि पावदि कहिं वि ।
तह वि य अणंतखुत्तो सव्वाणि सुहाणि पत्ताणि ॥१७८०॥

'दुक्खं अणंतखुत्तो पावेत्तु सुहंपि पावदि कहिंवि' दुःखमपि अनन्तवारं प्राप्य सुखमपि प्राप्नोति कथंचित् । 'तह वि य अणंतखुत्तो' तथाप्यनन्तवारं 'सव्वाणि सुहाणि पत्ताणि' सर्वाणि सुखानि प्राप्तानि गणभृता चक्रवर्तिनां पञ्चानुत्तरविमानवासिनां लौकान्तिकानामहमिन्द्राणां च सुखानि मुक्त्वा ॥१७८०॥

गा०—जैसे खरगोश व्याधसे सताया जानेपर बिल समझकर अजगरके मुखमें प्रवेश करता है। वह उसे अपना शरण मानकर मृत्युके मुखमे प्रवेश करता है ॥१७७७॥

गा०—उसी प्रकार अज्ञानी जीव भूख प्यास आदि व्याधोंके द्वारा पीड़ित होनेपर महान् दुःखमें निमित्त संसाररूपी सर्पके मुखमें प्रवेश करते हैं ॥१७७८॥

गा०—लोकमें सब योनियोंमें जितने प्रकारके सुख होते हैं उन सब अनेक प्रकारके सुखोंको भी इस जीवने अनन्तबार भोगा है ॥१७७९॥

गा०—अनन्तबार दुःखोंको प्राप्त करके कदाचित् सुखको भी प्राप्त करता है। तथापि अनन्तबार इस जीवने सब सुखोंको प्राप्त किया है ॥१७८०॥

टी०—किन्तु गणधर, चक्रवर्ती, पांच अनुत्तर विमानवासी, लौकान्तिक और अनुदिश विमानवासी देवोंका सुख इस जीवने प्राप्त नहीं किया, क्योंकि ये चक्रवर्तीको छोड़कर शेष सब नियमसे सम्यग्दृष्टि होनेसे मोक्षगामी होते हैं। और चक्रवर्ती पद बार-बार प्राप्त नहीं होता है ॥१७८०॥

---

१. अनुबाध्यमानाः क्षुधादिभिर्व्याधैः व्याधैश्च —आ० मु० ।

करणेहिं होदि विगलो बहुसो चिवचचिसोदणिपेहिं ।
घाणेण य जिब्भाए चिट्ठाबलविरियजोगेहिं ॥१७८१॥

'करणेहिं होदि विगलो' विकलेन्द्रियः कश्चिद्भवति । 'बहुसो' बहुशः । 'चित्तवचिसोदचित्तेहिं' मनसा वचसा श्रोत्रेण नेत्रेण करणेन हीनः । स्पर्शनेन्द्रियवैकल्यासंभवात् तदनुपन्यासः । 'घाणेण य' घ्राणेन च । 'जिब्भाए' जिह्वया । 'चेट्ठाबलविरियजोगेहिं' चेष्टया बलेन वीर्येण च ॥१७८१॥

जच्चंधबहिरमूओ छादो तिसिओ वणे व एयाई ।
भमइ सुचिरंपि जीवो जम्मवणे णट्ठसिद्धिपहो ॥१७८२॥

'जच्चंधबधिरमूगो' आत्यन्धो, बधिरो, मूकः । 'छादो' क्षुधा पीडितः, 'तिसिदो' तृषाभिभूतः । 'वणे व एगागी भमदि' असहायो यथा वने भ्रमति । तथा 'सुचिरंपि' चिरकालमपि । जीवो 'जम्मवणे' जन्मवने भ्रमति । 'णट्ठसिद्धिपहो' नष्टसिद्धिमार्गः । उक्तं च—

कलुषचरितैर्नष्टज्ञानस्तुसंचितकर्मभिः, करणविकलः [1]कर्मोद्भूतो भवार्णवपाततः ।
सुचिरमवशो दुःखार्तो [2]निमीलितलोचनो, भ्रमति कृपणो नष्टत्राणः कुकेतरकर्मकृत् ।
श्रवणविकलो वाग्घीनोऽन्धो यथाकृतलोचनः, तृषितमलिनो नष्टोऽटव्यां परैरसहायकः ।
असहवसहन् गृह्णन् मुञ्चंस्त्रसस्थावरदेहतां, भ्रमति सुचिरं जन्माटव्यां तथापन्नोऽशकः ॥इति॥१७८२॥

एइंदियेसु पंचविधेसु वि उत्थाणवीरियविहूणो ।
भमदि अणंतं कालं दुक्खसहस्साणि पावेंतो ॥१७८३॥

'एगिंदियेसु पंचविधेसु वि' एकेन्द्रियेषु पञ्च प्रकारेष्वपि । पृथ्व्यप्तेजोवायुवनस्पतिशरीरधारिषु ।

गा०—यह जीव बहुत बार मन, वचन, श्रोत्र, नेत्र, घ्राण और जिह्वा इन्द्रिय तथा चेष्टा बल और वीर्यसे हीन विकलेन्द्रिय होता है ।

टी०—किसी प्राणीका स्पर्शन इन्द्रियसे हीन होना तो असंभव है अतः उसका कथन नहीं किया है ॥१७८१॥

गा०-टी०—कभी यह जीव जन्मसे ही अन्धा, बहिरा, गूँगा होता है और भूख तथा प्यास से पीड़ित होकर जैसे कोई मार्ग भूलकर वनमें अकेला भटकता है उसी प्रकार मोक्षमार्गसे भ्रष्ट होकर जन्मरूपी वनमें अकेला भ्रमण करता है । कहा भी है—अपने बुरे आचरणोंसे संचित किये कर्मोंके द्वारा अपना ज्ञान खोकर यह जीव विकलेन्द्रिय होता है तथा कर्मोंसे प्रेरित हो संसाररूपी समुद्रमें गिरकर चिरकाल तक पराधीन हो, आंख बन्द करके भ्रमण करता है । उसका कोई रक्षक नहीं होता । जैसे कोई बहरा, गूँगा अन्धा मूर्ख प्राणी प्याससे व्याकुल हो, मार्ग भूलकर अकेला वनमें भटकता है । उसी प्रकार यह संसारी प्राणी मार्गदर्शकके बिना बार-बार त्रसस्थावर पर्यायको ग्रहण करता और छोड़ता हुआ चिरकाल तक जन्मरूपी वनमें भ्रमण करता है ॥१७८२॥

गा०—पृथिवी, जल, तेज, वायु और वनस्पतिका शरीर धारण करनेवाले पाँच प्रकारके

---

१. कर्मोद्भूतम —आ० । २. तौर्भ्यं नि —मु० ।

'उत्थाणवीरियविहीणो' पृथिव्यादिकायान् परित्यज्य त्रसकायप्राप्तिनिमित्तोत्थानवीर्यरहितः । 'भमदि अणंतं कालं' भ्रमति अनन्तकालं । 'दुक्खसहस्साणि पावेंतो' दुःखसहस्राणि प्राप्नुवन् ॥१७८३॥

बहुदुक्खावत्ताए संसारणदीए पावकलुसाए ।
भमइ वरागो जीवो अण्णाणनिमीलिदो सुचिरं ॥१७८४॥

'बहुदुक्खावत्ताए' बहुदुःखावर्तायां । 'संसारणदीए' संसृतिनद्यां । 'पावकलुसाए' पापकलंकसहितायां । 'वरागो जीवो भमदि' दीनो जीवो भ्रमति । 'सुचिरं अण्णाणनिमीलिदो' अज्ञानेन निमीलितः ॥१७८४॥

विसयामिसारगाढं कुजोणिणेमि सुहदुक्खदढखीलं ।
अण्णाणतुंबधरिदं कसायदढपट्टियाबंधं ॥१७८५॥

'विसयामिसारगाढं' विषयाभिलाषारैर्गाढं स्तब्धं । 'कुजोणिणेमि सुहदुक्खदढखीलं' कुत्सितयोनि-नेमिकं सुखदुःखदृढकीलं । 'अण्णाणतुंबधरिदं' अज्ञानतुंबधारितं । 'कसायदढपट्टियाबद्धं' कषायदृढ-पट्टिकाबन्धं ॥१७८५॥

बहुजम्मसहस्सविसालवत्तणिं मोहवेगमहिचवलं ।
संसारचक्कमारुहिय भमदि जीवो अणप्पवसो ॥१७८६॥

'बहुजम्मसहस्सविसालवत्तणिं' अनेकजन्मसहस्रविशालमार्गं । 'मोहवेगं' मोहवेगं । 'संसारचक्कमारु-हिय' एवंभूतं संसारचक्रमारुह्य । 'अणप्पवसो जीवो भमदि' अनात्मवशो जीवो भ्रमति ॥१७८६॥

भारं णरो वहंतो कहिंचि विस्समदि ओरुहिय भारं ।
देहभरवाहिणो पुण ण लहंति खणं पि विस्समिदुं ॥१७८७॥

'भारं णरो वहंतो' भारं वहन्नरः । 'कहचि भारमोरुहिय' कस्मिंश्चिद्देशे काले च भारमवतार्य । 'विस्समदि' विश्राम्यति । 'देहभरवाहिणो पुण' देहभारोद्वाहिनो जीवाः पुनः । 'ण लभंति खणं पि विस्समिदुं' न लभन्ते क्षणमपि विश्रामं कर्तुं । औदारिकवैक्रियिकयोर्विनष्टयोरपि कार्मणतैजसयोरवस्थानात् ॥१७८७॥

एकेन्द्रियोंमें यह जीव हजारों कष्ट भोगता हुआ अनन्तकाल तक भ्रमण करता है। उसमें इतनी भी शक्ति नहीं होती कि पृथिवी आदि कायोका त्याग करके त्रसकायकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न कर सके ॥१७८३॥

गा०—अज्ञानमें पड़ा हुआ यह बेचारा जीव पापरूपी मैले पानीसे भरी और बहुत दुःख-रूपी भँवरोंसे युक्त संसाररूपी नदीमें चिरकाल भ्रमण करता है ॥१७८४॥

गा०—यह संसाररूपी चक्र (पहिया) विषयोंकी अभिलाषारूपी आरोंसे जकड़ा हुआ है, कुयोनिरूपी नेमि—हाल उसपर चढ़ी हुई है। उसमें सुख दुःखरूपी मजबूत कीलें लगी हैं। अज्ञानरूपी तुम्बपर वह स्थित है, कषायरूपी दृढ पट्टियोंसे कसा हुआ है। अनेक हजार जन्मरूपी उसका विशाल मार्ग है। उसपर वह संसार चक्र चलता है। मोहरूपी वेगसे अतिशीघ्र चलता है। ऐसे संसाररूपी चक्रपर सवार होकर यह पराधीन जीव भ्रमण करता है ॥१७८५-८६॥

गा०-टी०—भारवाही मनुष्य तो किसी देश और कालमें अपना भार उतारकर विश्राम कर लेता है। किन्तु शरीरके भारको ढोनेवाले जीव एक क्षणके लिये भी विश्राम नहीं पाते। औदारिक

कम्माणुभावदुहिदो एवं मोहंधयारगहणम्मि ।
अंधो व दुग्गमग्गे भमदि हु संसारकंतारे ॥१७८८॥

'कम्माणुभावदुहिदो' असद्वेद्यादिपापकर्ममाहात्म्यजनितदुःखः । 'एवं'मुक्तेन क्रमेण । 'संसारकंतारे भमदि' संसारकान्तारे भ्रमति । कीदृशे ? 'मोहंधयारगहणम्मि' मोहान्धकारगहने । 'अंधो व दुग्गमग्गे' अंध इव दुर्गमार्गे ॥१७८८॥

दुक्खस्स पडिगरंतो सुहमिच्छंतो य तह इमो जीवो ।
पाणवधादीदोसे करेइ मोहेण संछण्णो ॥१७८९॥

'दुक्खस्स पडिगरंतो' दुःखस्य प्रतीकारं कुर्वन् । 'सुहमिच्छंतो य' इन्द्रियसुखमभिलषन् । 'इमो जीवो' अयं जीवः । 'पाणवधादीदोसे' हिंसादिदोषान् । 'करेदि मोहेण संछण्णो' करोति मोहेन संछन्नः । एतदुक्तं भवति—दुःखभीरुर्निरवशेषदुःखापायस्योपायं न वेत्ति । दुःखनिराकरणार्थ्यपि दुःखहेतूनेव हिंसादीन् प्रवर्तयति । इन्द्रियसुखलम्पटोऽपि तेष्वेव हिंसादिषु दुःखहेतुषु प्रवर्तते । ततोऽस्य सकलो व्यापारो दुःखस्यैव मूलमिति ॥१७८९॥

दोसेहिं तेहिं बहुगं कम्मं बंधदि तदो णवं जीवो ।
अध तेण पच्चइ पुणो पविसित्तु व अग्गिमग्गीदो ॥१७९०॥

'दोसेहिं तेहिं' प्राणिवधादिकैर्दोषैः । 'बहुगं कम्म बंधदि' महत्कर्म बध्नाति । 'णवं' प्रत्यग्रं । 'तदो' पश्चात् । 'अध' कर्मबन्धानन्तरं । 'तेण पच्चदि' तेन बन्धनेन कर्मणा पच्यते । 'पविसित्तु व' प्रविश्येव । किं ? 'अग्गिं' अग्निं । 'अग्गीदो' अग्नेः । अग्नेरागत्य अग्निं प्रविश्य यथा बाध्यते एवं पूर्वैः कर्मभिर्बाधितः पुनः प्रत्यग्रकर्मानिलेन दह्यते इति ॥१७९०॥

और वैक्रियिक शरीरोंके छूट जानेपर भी कार्मण और तैजस शरीर बराबर बने रहते हैं ॥१७८७॥

गा०—इस प्रकार असातावेदनीय आदि पापकर्मोके प्रभावसे दुःखी जीव मोहरूपी अन्धकारसे गहन संसाररूपी वनमें उसी प्रकार भ्रमण करता है जैसे अन्धा व्यक्ति दुर्गम मार्गमे भटकता है ॥१७८८॥

गा०-टी०—मोहसे आच्छादित यह जीव दुःखसे बचनेका उपाय करता है और इन्द्रिय सुखकी अभिलाषा रखता है और उसके लिये हिंसा आदि दोषोंको करता है । आशय यह है कि दुःखसे डरता है किन्तु समस्त दुःखोंके विनाशका उपाय नही जानता । यद्यपि दुःखोंको दूर करना चाहता है किन्तु हिंसा आदि पापोमे प्रवृत्त होता है जो दुःखके हेतु हैं । इन्द्रिय सुखका लम्पटी होते हुए उन्हीं हिंसा आदि पापोमें लगा रहता है जो दुःखके कारण हैं । इसलिये उसका सब काम दुःखका ही मूल होता है ॥१७८९॥

गा०—उन हिसा आदि दोषोको करनेसे जीव बहुत-सा नया कर्म बाँधता है । कर्मबन्धके पश्चात् उस कर्मका फल भोगता है । इस प्रकार जैसे कोई एक आगसे निकलकर दूसरी आगमें प्रवेश करके कष्ट उठाता है, वैसे ही पूर्वबद्ध कर्मोको भोगकर पुनः नवीन कर्मरूपी आगमे जलता है ॥१७९०॥

---

१. भीरुनरो विशेषदुःखापायस्यापायं —आ० मु० । निःशेषदुःखापायोपायं—मूलारा० ।

२. कर्मनिबन्धेन —आ० ।

बंधंतो मुञ्चंतो एवं कम्मं पुणो पुणो जीवो ।
सुहकामो बहुदुक्खं संसारमणादियं भमइ ॥१७९१॥

'बंधंतो मुञ्चंतो' बध्नन् मुञ्चन् । 'एवं कम्मं पुणो पुणो जीवो' कर्म पुनः पुनर्जीवः दत्तफलानि मुञ्चति, कर्मफलानुभवकालोपजातरागद्वेषादिपरिणामैरभिनवानि कर्माणि बध्नाति । 'सुहकामो' सुखाभिलाषवान् । 'बहुदुक्खं' विविधदुःखं । 'संसारमणादियं भमदि' अनादिकं संसारं भ्रमति । ससारचिन्ता ॥१७९१॥

लोकानुप्रेक्षा निरूप्यते । नामस्थापनाद्रव्यादिविकल्पेन यद्यप्यनेकप्रकारो लोकस्तथापीह लोकशब्देन जीवद्रव्यलोक एवोच्यते । कथं ? सूत्रेण जीवधर्मप्रवृत्तिक्रमनिरूपणात्—

आहिंडयपुरिसस्स व इमस्स णीया तहिं तहिं होंति ।
सव्वे वि इमो पत्तो संबंधे सव्वजीवेहिं ॥१७९२॥

'आहिंडयपुरिसस्स व' देशान्तरं भ्रमतः पुंस इव । 'इमस्स णीया तहिं तहिं होंति' अस्य बान्धवास्तत्र तत्र भवन्ति । 'सव्वेवि इमो पत्तो' सर्वानयं प्राप्तः । 'संबंधे' सम्बन्धान् । 'सव्वजीवेहिं' सर्वजीवैः सह ॥१७९२॥

माया वि होइ भज्जा भज्जा मायत्तणं पुणमुवेदि ।
इय संसारे सव्वे परियट्टंते हु संबंधा ॥१७९३॥

'माया य होदि भज्जा' माता भार्या भवति । भार्या मातृता पुनरुपैति । एवं संसारे सर्वे सम्बन्धाः परिवर्तन्ते इति गाथार्थः ॥१७९३॥

जणणी वसंततिलया भगिणी कमला य आसि भज्जाओ ।
धणदेवस्स य एक्कम्मि भवे संसारवासम्मि ॥१७९४॥

'जणणी वसंततिलया' धनदेवस्य जननी वसततिलका । कमला भगिनी । ते उभे भार्ये जाते

गा०—इस प्रकार जीव जो कर्म फल दे लेते हैं उन्हें छोड़ देता है और कर्मोंका फल भोगते समय होनेवाले राग-द्वेष रूप परिणामोसे नवीन कर्मोंका बन्ध करता है। सुखकी अभिलाषा रखकर बहुत दुःखोंसे भरे अनादि संसारमें भ्रमण करता है ॥१७९१॥ ससार अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ।

अब लोकानुप्रेक्षाका कथन करते हैं। यद्यपि नाम, स्थापना, द्रव्य आदिके भेदसे लोकके अनेक भेद हैं। तथापि यहाँ लोक शब्दसे जीव द्रव्यलोक ही कहा है क्योंकि गाथामें जीवके प्रवृत्ति क्रमका कथन किया है—

गा०—जैसे देशान्तरमें भ्रमण करनेवाले पुरुषको सर्वत्र इष्ट-मित्र मिलते हैं उसी प्रकार इस जीवके भी जहाँ-जहाँ यह जन्म लेता है वहीं-वहीं बन्धु-बान्धव होते हैं। इस तरह इसने सब जीवोंके साथ सब सम्बन्ध प्राप्त किये हैं ॥१७९२॥

गा०—जो इस जन्म माता है वही दूसरे जन्ममें पत्नी होती है और पत्नी होकर पुनः माता बन जाती है। इस प्रकार संसारमें सब सम्बन्ध परिवर्तनशील हैं ॥१७९३॥

गा०–टी०—दूसरे भवोंमें सम्बन्ध बदलनेकी तो बात ही क्या है। किन्तु धनदेवकी माता वसन्ततिलका और बहन कमला, ये दोनों उसी भवमें धनदेवकी पत्नी हुईं। कहा भी है—

धनदेवस्य तस्मिन्नेव भवे । भवान्तरेषु संबन्धान्तराभावे किमस्ति वाच्यं ? उक्तं च—

> एकोऽभिदेहग्रहणे लभतेऽपवादं दुःखं ततो व्यथनमुग्रतरं च पापम् ।
> नानाशरीरग्रहणेषु कथं न दुःखं प्राप्नोति [1]को न विषयार्जितपापकर्मा ॥
> कुर्वन्ति तन्मदमत्तगजोद्धतवेगाः खड्गो निकृष्टबलशालिविसृष्टधाराः ।
> कुर्वन्ति दुःखमधिकं विषया नराणां, तस्मात्त्यजन्ति विषयान् परिबुद्धतत्त्वाः ॥

एवमयं कष्टो लोकधर्मः ॥१७९४॥

राया वि होइ दासो दासो रायत्तणं उवणमेदि ।
इय संसारे परिवट्टंते ठाणाणि सव्वाणि ॥१७९५॥

'राया वि होइ दासो' राजा दासो भवति, नीचैर्गोत्रार्जनात्, दासो राजतां पुनरेति उच्चैर्गोत्र-कर्मण उदयात् । एवं संसारे परिवर्तन्ते सर्वाणि स्थानानि ॥१७९५॥

कुलरूवतेयभोगाधिगो वि राया विदेहदेसवदी ।
वच्चघरम्मि सुभोगो जाओ कीडो सकम्मेहिं ॥१७९६॥

'कुलरूवतेयभोगाधिगो वि' कुलेन रूपेण तेजसा भोगेनाधिकोऽपि । विदेहजनपदाधिपती राजा सुभोग-संज्ञः सुवर्चोगृहे कीटो जातः स्वैः कर्मभिः प्रेरितः । उक्तं च—

> दृष्टाः क्वचित्सुरमनुष्यगणप्रधानाः सर्वर्द्धिदीप्तवपुषः शशिकान्तरूपाः ।
> जातास्त एव पुनरन्य[2]गति प्रपन्ना दीना भवन्ति कुलरूपधनप्रतापैः ॥१७९६॥

यदि एक शरीर धारण करनेपर जीव अनेक अपवादों और दुःखोंको पाता है और उससे मनोवेदना और उग्र पापको बाधता है तब विषय सेवनके द्वारा पापकर्मका उपार्जन करनेवाला कौन पुरुष नाना शरीर धारण करनेपर कैसे दुःख नहीं पाता है अर्थात् अवश्य दुःख पाता है।

मदसे मत्त हाथीके द्वारा वेगपूर्वक किया गया प्रहार तथा बलशाली हाथसे छोड़ी गयी तीक्ष्ण तलवार दुःख नही देते। उससे भी अधिक दुःख विषय देते हैं। इसलिये तत्त्वज्ञानी जन विषयोंको त्याग देते हैं। इस प्रकार यह लोकधर्म दुःखदायक है ॥१७९४॥

गा०—नीच गोत्रका बन्ध करनेसे राजा मरकर दास होता है और उच्च गोत्रका बन्ध करनेसे दास राजा हो जाता है। इस प्रकार संसारमें सब स्थान परिवर्तनशील हैं ॥१७९५॥

गा०—विदेह देशका राजा सुभोग कुल, रूप, तेज और भोगमे अधिक होते हुए भी अपने कर्मोंसे प्रेरित होकर विष्टाघरमें कीट हुआ, कहा भी है—जो देव और मनुष्योंमे प्रधान थे, जिनका शरीर सब ऋद्धियोंसे दीप्तिमान था, जिनका रूप चन्द्रमाकी तरह मनोहर था, वे भी अन्य गतिमें कुल, रूप, धन और प्रतापसे भ्रष्ट होकर दीन होते हैं ॥१७९६॥

---

१. केन आ०, मु० । २. न्यगतिप्रपु —आ० । —गतिं प्रपन्ना —मु० ।

होउण महड्ढीओ देवो सुभवण्णगंधरूवधरो ।
कुणिमम्मि वसदि गब्भे धिगत्थु संसारवासस्स ॥१७९७॥

'होऊण महड्ढीओ देवो' महर्द्धिको देवो भूत्वा । 'सुभवण्णगंधरूवधरो' प्रशस्ततेजोगन्धरूपान्वित ।

इन्द्रचापतडिदम्बुधराणां यद्वदाशु गगने सहसैव ।
जन्म संभवति तद्वदमीषां जन्म देहमशुचिप्रविमुक्तम् ॥
वातपित्तकफजैः परिमुक्तं व्याधिभिर्विगतखेदमनिद्रम् ।
अच्युतं परमयौवनयुक्तं सर्वतोऽविकलमुत्तमकान्ति ॥
सर्वतश्च विमलाम्बरवर्णस्पर्शगन्धवरवाङ्मितहासं ।
सद्विलासगतिचेष्टित[1]लीलं ते शरीरमरमत्र लभन्ते ॥
गीतवाद्यततितूर्यनिनादैस्तांस्तदाथ समुपेत्य सहर्षाः ।
देवदेव[2]वनिताः प्रणिपत्य कुर्वतेऽत्र समुपासनमेषां ॥
फुल्लपङ्कजसमैरथ हस्तैर्दक्षिणैः प्रवरलक्षणकीर्णैः ।
चारुचन्द्रवदना नतिमेषां स्निग्धदृष्टिहसिताः प्रतिगृह्य ॥
मृगपासनमस्तकोपविष्टान् मृगपानुगतानिवाचलानां ।
अथ तानभिषेकमापयंति मुदितास्तत्र [3]सुराः सुवर्णकुम्भैः ॥
प्रविकाशय वक्त्रपङ्कजानि सुरभास्वद्गुणांशुभिः सुराणां ।
[4]कुरुथः सुचिरं त्वमाधिपत्यमिति ताभ्यामिरभिष्टुवन्ति चैव ॥

गा०—टी०—शुभरूप, शुभगन्ध, और प्रशस्त तेजधारी महती ऋद्धिका धारक देव भी होकर गन्दे गर्भस्थानमें वास करता है।

देवोंमें उत्पत्तिका वर्णन करते हुए कहा है—

जैसे आकाशमें सहसा ही शीघ्रतासे इन्द्रधनुष, बिजली और मेघ प्रकट होते है उसी प्रकार देवोंका जन्म होता है। उनका शरीर अपवित्र वस्तुओंसे रहित होता है, वात, पित्त और कफसे उत्पन्न होनेवाले रोगोंसे रहित होता है। खेद और नीदसे रहित होता है। उत्कृष्ट यौवनसे युक्त होता है, सब रूपसे परिपूर्ण होता है, उत्तम कान्तिसे युक्त होता है। उत्तम रूप, रस गन्धसे युक्त है। वचन-विलास, हास-विलास, गति चेष्टासे लीला सहित होता है। वे देव ऐसा शरीर तत्काल प्राप्त कर लेते हैं। उसके पश्चात् गीत बाद्योंको पंक्ति तथा भेरोके शब्दोंके साथ देव-देवांगना बड़े हर्षके साथ उनके पास जा, नमस्कार करके उनकी सेवा करते हैं। हास सहित स्निग्ध दृष्टिसे युक्त सुन्दर चन्द्रमुखी देवांगनाएँ खिले हुए कमलके समान तथा उत्तम लक्षणोंसे युक्त दक्षिण हाथोंसे उनका नमस्कार स्वीकार करती हैं।

पर्वतोंके अग्रभाग पर बैठे हुए सिंहके समान सिंहासनके मस्तक पर बैठे हुए उन देवोंका वे देव प्रसन्नतापूर्वक सुवर्ण कलशोंसे अभिषेक करते हैं। हे देवेन्द्ररूपी सूर्य! अपने गुणरूपी किरणोंसे देवोंके मुखरूपी कमलोंको विकसित करो और चिरकाल तक हमारे स्वामी रहो, इस

---

१. शीलं आ० । २. दिव्यव —आ० । ३. तत्र सुवर्णरत्नकु —आ० । ४. कुरुत —आ० ।

आदाय नैदाघरविं शिरःसु न्यस्तैरिवैतैर्मुकुटानि भूत्वा ।
विभूषिताश्चाभरणैरनर्घैर्हारार्धहारांगदकुण्डलाद्यैः ॥
ज्योतिर्विभूषात् गगनप्रदेशात्, विद्युद्विमिश्रात् रुचिराम्बुदाच्च ।
रत्नार्चितात् हेममहागिरेश्च विशेषवन्तो[1]ऽभ्यधिकं विभान्ति ॥
दिव्यवीर्यबलविक्रमायुषो दिव्यदीप्तवपुषो दिशो दश ।
भासयंति विमलांब[2]रार्कवद्दिव्यसौम्यवपुषः शशांकवत् ॥
दूरमभ्युत्पतन्ति लाघवात् गौरवात् गिरिसमा भवन्ति च ।
आणवाद्विविशन्ति मेदिनीं माहिमाच्च महतोऽपि रुन्धते ॥
काष्ठमग्निमनिलं जलं महीं संप्रविश्य च तनूः शरीरिणां ।
निर्विशेषगुणकाः स्वहासितुं ते भवन्ति[3] सुचिरं सुखक्रमः ॥
पावकाचलपुरं धरामपीसागरांश्च सहसा निरस्य ते ।
स्थानमीप्सिततमं श्रमादृते यान्ति चाप्रतिह[4]ताःसमीरवत् ॥
उत्क्षिपेयुरवनीं [5]महाबलात् पातयेयुरपि मन्दरान्करैः ।
मन्दराग्रशिखरं धरास्थितास्ते स्पृशेयुरपि यद्यभीप्सितं ॥
ईशितुं सुरनृणामयत्नतः कर्तुमात्मवशगान्मृगानपि ।
रूपमात्मनमसो समीप्सितं [6]स्रष्टुमप्यलममी [7]सहस्रशः ॥

प्रकार वे देव अपने वचनोंसे उनकी स्तुति करते हैं ॥ उनके मस्तक पर मुकुट शोभित होते हैं जो मानों ग्रीष्म कालके सूर्यको ही पकड कर सिरों पर रख लिया है ऐसे प्रतीत होते हैं। उन मुकुटोंसे तथा हार, अर्द्धहार, बाजूबन्द, कुण्डल आदि बहुमूल्य आभरणोंसे भूषित होकर वे देव सूर्यचन्द्रम सुशोभित आकाशसे, बिजलीसे सम्बद्ध सुन्दर मेघोंसे और रत्नोंसे खचित स्वर्णमयी पर्वतोंसे भी अधिक सुशोभित होते हैं। दिव्य वीर्य, बल, विक्रम और आयुवाले तथा दिव्य चमकदार शरीरवाले वे देव निर्मल आकाशमें स्थित सूर्य और दिव्य सौम्य शरीरवाले चन्द्रमाकी तरह दसो दिशाओंको प्रकाशित करते हैं। वे लाघवसे सुदूर तक ऊपर उठे हुए हैं और गौरवसे पर्वतके समान होते हैं। सूक्ष्म होनेसे पृथिवीमें प्रवेश करते हैं और महान् होनेसे बड़ों-बड़ोंको रोकते हैं। अर्थात् अणिमा, महिमा, लघिमा और गरिमा सिद्धिके धारी होते हैं। वे काष्ठ, अग्नि, वायु, जल और पृथ्वीमें तथा प्राणियोंके शरीरमें प्रवेश करके उन्हींके समान हो जाते हैं। ऐसी उनमें शक्ति होती है ॥ वे आग, पर्वत, पृथ्वी और सागरमें, सहसा प्रवेश करके श्रमके बिना बेरोक-टोक वायुकी तरह इच्छित स्थानको चले जाते हैं। वे महान् बलसे पृथ्वीको ऊपर उठा सकते हैं। अपने हाथोंसे मन्दराचलको गिरा सकते हैं। वे पृथ्वी पर रहकर यदि चाहे तो सुमेरु-की चोटीके अग्रभागको छू सकते हैं अर्थात् प्राप्ति और प्राकाम्य सिद्धिसे सम्पन्न होते हैं ॥

वे विना प्रयत्नके देवों और मनुष्योंका स्वामित्व कर सकते है। मृगोंको भी अपने वशमें कर सकते हैं और हजारों इच्छित रूप बना सकते हैं। अर्थात् ईशित्व और वशित्व सिद्धिसे सम्पन्न होते हैं ॥ अपनी सुगन्धसे और मिष्ट वचनोंसे दिशाओंको पूरित करके सन्तान आदिके

१. तोऽप्यधि –आ० । २ बराः क्वचिद् –आ० । ३. ति विभवात् सु–आ० । ४. ता शरीर–अ० । ५. महाबलात् –अ० मु० । ६. स्पष्टुम –आ० । ७. सहःस्रशः –आ० ।

संपूर्णाशाः स्वसुरभिमनोज्ञैर्वाम्लि[1]मृद्वैः कुसुमकुसुमैश्च ।
संतानाद्यैर्विरचितमाला नित्याम्लानाः परिवहन्त्यमलाः ॥
माल्यैर्गन्धैः सुखमनुलिप्ता [2]वस्त्राण्यत्यतिविरजांसि ।
रंरम्यंते रतिनिपुणाभिस्ताभिः सार्द्धं वरवनिताभिः ॥
[3]सुखेनैवं जीवन्तो यान्ति वियोगकृतं परितापं ।
तत्र महर्द्धियुता अपि देवाः स्त्रीपुरुषा विषमायुष एव ॥
प्राणभृतामिह मध्यमलोकैः तीव्रतराधिकषायचतुष्कं ।
स्यात्सुरसंततयः समकालाः, तन्न भवंति हि कर्मवशेन ॥
अब्ध्युपमानितजीवितदेवे, स्त्री चिरजीवितवत्यपि तस्याः ।
पल्यमितं खलु जीवितकालं तेन वियोगमितः सुरलोकः ॥
मृत्युकृतं च विचिन्त्य सुदुःखं भावि सुराः परिभीतमनस्काः ।
तत्र भवन्ति मृगा इव बद्धा व्याघ्रसमीपमुपेत्य सभीकाः ॥
गर्भकृतामपि ते दुरवस्थां संपरिचिन्त्य पुनः समवाप्य ।
शोकभये विपुले परियान्ति चारकरोध इवाभ्युपयाते ॥
मूत्रपथादशुचेरतिदुःखं निर्गमनं स्मरतां च शुचीनां ।
जन्मतयेति भयं त्रिदिवानां, स्यादधिकं तदवाप्य सुखं तत् ॥
तामपि जातु पतेत् क्षुदनिष्टा पश्यत सर्पवधूरिव कष्टा ।
वर्षसहस्रमितीह गतेऽपि कालभरे न जहात्यहमिन्द्रं ॥
उच्छ्वसनं श्रमदं गुरुतोपि-पक्षमितैर्दिवसैर्यदि यान्ति ।
कान्यसुरेषु कथा खलु लोके हा सततो जननार्णववासः ॥

सुन्दर फूलोंसे रचित माला धारण करते हैं जो कभी मुरझाती नहीं है ॥ सुखपूर्वक माला और गन्धसे विलिप्त वे देव अत्यन्त स्वच्छ वस्त्र धारण करते हैं और रतिमें निपुण अपनी देवांगनाओं-के साथ रमण करते हैं ॥ इस प्रकार सुखपूर्वक जीवन यापन करते हुए वियोगजन्य सन्तापको सहते हैं। क्योंकि स्वर्गोंमें महर्द्धिक भी देव-देवांगना समान आयुवाले नहीं होते। आगे-पीछे मरते हैं ॥ मध्यलोकसे यहाँके प्राणियोंकी कषाय तीव्रतर होती है। अतः कर्मवश देव-देवांगनाओंकी आयु समान नहीं होती ॥ देवकी आयु सागरप्रमाण होती है और देवांगना चिरकाल तक भी जीवित रहे तो उसकी आयु पल्यप्रमाण ही होती है इसलिये देवलोकमें वियोगजन्य सन्ताप होता है। भविष्यमें होनेवाले मृत्यु जन्य दुःखका विचार करके देव डर जाते हैं और वहाँ ऐसे भयभीत रहते हैं जैसे व्याघ्रके समीपमें बांधे गये मृग। स्वर्गलोकसे च्युत होनेपर गर्भमें होनेवाली दुरवस्थाका भी विचार करके वे महान् शोक और भयसे युक्त होते हैं जैसे कोई जेलखानेसे डरता है। पवित्र देवोंको देवलोकमें जितना सुख होता है उससे भी अधिक भय स्त्रीके अपवित्र मूत्रमार्ग-से जन्म लेनेका स्मरण करके जन्मसे ही होता है। यहाँ स्वर्गमें तो हजार वर्ष बीतनेपर भी भूख नहीं सताती थी। किन्तु मनुष्य पर्यायमें जन्म लेनेपर सर्पिणीकी तरह भूख सताती है, यह भय अहमिन्द्रदेवको भी नहीं छोड़ता। स्वर्गमें तो पन्द्रह दिनमें एक बार श्वास लेनेका श्रम उठाना होता

१. वांमृष्टे —आ० मु०। २. सा वस्त्राव —अ०। ३. तत्र सुखं तोऽपि यांति —आ०।

रोगजरादिकलत्वविहीनस्सन्न पुनश्च भवाम्बुधिवासात् ।
तत्सहितं प्रसमीक्ष्य पुरस्तात् अन्यवशत्वगतत्वमुपाये ॥
अन्यवशाश्रयता विलपन्तो देशमिवान्यमुपद्रवयुक्तं ।
संप्रतिपत्तय उत्पथं ते शोकवशा बहुशोऽपि भवन्ति ॥
सत्सुरसौख्यमवाप्य विमाने भूतभवो जगतीरपि यान्ति ।
तत्परिचिन्तयतां कुशलानां केन सुरेषु भवेद्बहुमानं ॥
तेऽवधिना विधिना बहुतत्त्वं दूरगतान्यपि जानत एव ।
तेन भयान्यनुभूय पुरस्तात्तत्त्वनुभवे [1]भयमुज्झत पश्चात् ॥
यः सहसा भयमभ्युपयाति पूर्वतरं न भयं स उपैति ।
प्राग्विदितात्मवधस्तु नरः प्राक् प्राप्य भयं वधमेति हि पश्चात् ॥
अतो न सौख्यं तदिहास्ति किंचन विमृश्यमानं मनसा भवार्णवे ।
सुखे प्रसक्तो विपुले [2]पुमानयं भजेत दुःखेन विनाणुनापि यत् ॥
यथाणुकेशोपहतेऽपि भोजने न तं नरो रोचयते कुलोचितः ।
तथाल्पको[3]दोऽप्यसुखे सुखे सति न तद्बुधो रोचयते कदाचन ॥
[4]प्रपीयमानेऽम्बुनि पातितो यथा लवोऽपि मूत्रस्य तदंबु दूषयेत् ।
तथा लवांशोऽप्यसुखस्य सत्सुखे करोति सर्वस्य सुखस्य दूषणं ॥

किन्तु मनुष्यगतिमें तो सतत श्वास लेना होता है। हा, जन्मरूपी समुद्रका वास भयकारक है। यहाँ देवगतिमें तो रोग, बुढ़ापा आदि नहीं है। किन्तु मनुष्योंमें तो ये सब हैं। यहाँसे च्युत होने पर ये सब अवश्य प्राप्त होंगे। ऐसा देख वे देव दुःखी होते हैं। जैसे कोई परवश होकर उपद्रवसे युक्त अन्य देशमें जानेपर विलाप करता है वैसे ही देव स्वाधीन होते हुए भी परवश होकर देवगतिसे मनुष्यगतिमें जानेका बहुत शोक करते हैं। स्वर्गके विमानोंमें देवोंका सुख प्राप्त करके भी जीवोंको पुनः इसी मनुष्यलोकमें जन्म लेना होता है ऐसा विचार करनेवाले बुद्धिमानोंकी देवोंके प्रति बहुमान कैसे हो सकता है। वे देव अवधिज्ञानके द्वारा दूरवर्ती तत्त्वोंको भी जानते ही हैं। इससे पहले ही भयका अनुभव करते हैं।

जो भय अचानक उपस्थित होता है उसका भय पहलेसे नहीं होता। किन्तु जिस मनुष्य-को पहलेसे यह ज्ञात हो जाता है कि मेरा वध होगा वह पहले भयभीत होता है, पीछे मारा जाता है। अर्थात् मनुष्यगतिमें तो मृत्युका बोध पहलेसे नहीं होता। किन्तु देवगतिमें तो मृत्युसे छह मास पूर्व माला मुरझा जाती है। अतः मृत्यु पीछे होती है और उसका भय पहले आ जाता है। अतः विचार करनेपर इस संसाररूपी समुद्रमें कुछ भी सुख नहीं है। बहुत सुखमें आसक्त मनुष्य भी एक परमाणु प्रमाण दुःखके बिना सुख नहीं भोग सकता। अर्थात् संसारके सुखमें दुःखका मिश्रण रहता ही है। जैसे कुलीन मनुष्यको यदि भोजनमें जरा सा भी बाल आदि गिर जाये तो भोजन नहीं रुचता उसी प्रकार ज्ञानीको बहुतसे सुखमें थोड़ा सा भी दुःख मिला हो तो वह सुख नहीं रुचता। जैसे पीनेके पानीमें मूत्रकी एक बूँद भी गिरनेपर वह पानी दूषित

---

१. भयमभ्यय पश्चात् —आ० । २. पुमानयं —आ० मु० । ३. दोषोऽप्य—अ० मु० । ४. प्रपीयमाने —अ० आ० ।

गुणैरनेकैरपि संयुतां स्त्रियं कुलापचारां समवेक्ष्य निर्घृणः ।
नरो यहात्येव यथा तथा बुधो न दुःखितोऽपि सोऽनुभवति (?)

'कुणिमम्मि वसति गब्भे' कुथितगर्भे वसति । 'धिगत्थु संसारवासस्स' धिगस्तु संसारवासस्य । उक्तं च—

स्मात्वा क्रोणादेव [1]समुत्थं मनुजेषु गर्भस्मृत्या गर्भनिपातं च समीक्ष्य ।
त्रस्तादेव [2]देहाशुचीनपि निरीक्ष्य गर्भविष्टा दुःखमिवान्तेऽनुभवन्ति ॥१७९७॥

इध किं परलोगे वा सत्तू पुरिसस्स हुंति णीया वि ।
इहइं परत्त वा खाइ पुत्तमंसं णियमादा ॥१७९८॥

'इत्थ किं परलोगे वा' इहलोके परलोके वा, 'पुरिसस्स णीया वि सत्तू होंति' बन्धवोऽपि शत्रवो भवंति पुरुषस्य । 'इहइं परत्त वा खाइ' इह वा परत्र वा अत्ति, 'पुत्तमंसं णियमादा' पुत्रस्य मांस आत्मीया जननी अत्ति किमतः परं कष्टं ॥१७९८॥

होऊण रिऊ बहुदुक्खकारओ बंधवो पुणो होदि ।
इय परिवत्तइ णीयत्तणं च सत्तुत्तणं च जये ॥१७९९॥

'होऊण रिऊ' रिपुर्भूत्वा पूर्वं । 'बहुदुक्खकरो' विविधदुःखकारी । स एव पुणो पश्चादपि । 'पिय बन्धवो होदि' प्रियबांधवो भवति । 'इय परिवत्तदि' एवं परिवर्तते । 'णीयत्तणं च सत्तुत्तणं च' बन्धुत्व च शत्रुत्वं च । 'जगे' जीवलोके ॥१७९९॥

विमलाहेदुं वंकेण मारिओ णिययमारियागब्मे ।
जाओ जाओ जादिंसरो सुदिट्ठी सकम्मेहिं ॥१८००॥

'विमलाहेदुं' विमलानिमित्तं । 'वंकेण मारिओ' वक्राख्येन भृतकेन मारितः । कः ? 'सुदिट्ठी' सुदृष्टि-

---

हो जाता है उसी प्रकार दुःखका जरा सा भी अंश सब सुखको दूषित कर देता है। जैसे अनेक गुणोंसे युक्त स्त्री यदि एक बार भी व्यभिचार दोषसे दूषित हो जाये तो दयालु भी मनुष्य उसे त्याग देता है। उसी प्रकार ज्ञानी मनुष्य भी दुःखसे मिश्रित सुखको त्याग देता है।

अतः कहा है—मनुष्योंमें गर्भका स्मरण करके तथा गर्भपातको देखकर और मनुष्योंके अपवित्र शरीरको देखकर देव दुःखी होते हैं और मरण होनेपर गर्भमें प्रवेश करके दुःख भोगते हैं ॥१७९७॥

गा०—इस लोक अथवा परलोकमें बन्धु भी मनुष्यके शत्रु हो जाते हैं। इस लोक तथा परलोकमें माता भी अपने पुत्रके मांसको खाती है इससे अधिक कष्टकी बात और क्या है ? ॥१७९८॥

गा०—बहुत दुःख देनेवाला शत्रु भी पुनः प्रिय बन्धु हो जाता है। इस प्रकार जगत्में बन्धुता और शत्रुता परिवर्तनशील है ॥१७९९॥

गा०—सुदृष्टि नामक रत्नपारखी मैथुन करते समय अपनी पत्नी विमलाके निमित्तसे

---

१. समुत्थान् अ० । २. त्रस्ता देहचशुचीनि -अ० ।

नामधेय: । 'सकम्मेहिं' आत्मीयैः कर्मभिः । 'जादो' उत्पन्नः । क्व 'णियमभारियागब्भे' निजभार्यागर्भे । 'जाइंभरो जादो' जातिस्मरश्च जातः ॥१८००॥

होऊण बंभणो सोत्तिओ खु पावं करितु माणेण ।
सुणगो व सूयरो वा पाणो वा होइ परलोए ॥१८०१॥

'होऊण बंभणो सोत्तिओ' श्रोत्रियो ब्राह्मणो भूत्वा । 'माणेण' जातिमदेन । गुणिजननिन्दावमानाभ्यां 'पावं करितु' पापं कृत्वा नीचैर्गोत्रमुपचित्य । 'सुणगो व सूयरो वा पाणो वा होदि परलोए' श्वा शूकरश्चाण्डालो वा भवति परजन्मनि ॥१८०१॥

दारिद्दं अड्ढित्तं णिंदं च थुदिं च वसणमब्भुदयं ।
पावदि बहुसो जीवो पुरिसित्थिणवुंसयत्तं च ॥१८०२॥

'दारिद्दं' दारिद्र्यं । 'बहुसो जीवो पावदि' बहुशः जीवः प्राप्नोति लाभान्तरायोदयात् । 'अड्ढित्तं' आढ्यतां पूर्ववदेव सम्बन्धः । 'पावदि बहुसो इमो' इत्यनेन । लाभान्तरायक्षयोपशमादीप्सितानि द्रव्याणि लभते, लब्धानि च नश्यन्ति ततः आढ्यता । 'णिंदा' श्वपाकश्चण्डालः कुष्ठ. काणो दुर्भगो मूर्ख. कृपण इत्यादिकां । 'थुदिं च' स्तुतिं च कुलीनो रूपवान् वाग्मी आढ्यः प्राज्ञ इत्यादिका यशस्कीर्तेरुदयात् । 'एव वसणं' दुःखं असद्वेद्योदयात् । 'अब्भुदयं' देवमनुजभवजं सुखं सद्वेद्योदयात् । 'पुरिसित्थिणवुंसयत्तं च' पुरुषत्वं च स्त्रीत्वं च नपुंसकत्वं च बहुशः प्राप्नोति ॥१८०२॥

कारी होइ अकारी अप्पडिभोगो जणो हु लोगम्मि ।
कारी वि जणसमक्खं होइ अकारी सपडिभोगो ॥१८०३॥

'अकारी अवि' दोषमकुर्वन्नपि कारी भवति, 'अप्पडिभोगो जणो' पुण्यरहितो जनः । 'कारीवि' कुर्व-

---

अपने सेवक बकके द्वारा मारा गया और मरकर अपनी पत्नी विमलाके गर्भसे उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होनेपर उसे पूर्वजन्मका स्मरण हो आया ॥१८००॥

विशेषार्थ—वृहत्कथाकोशमें १५३वें नम्बर पर इसकी कथा है।

गा०—श्रोत्रिय ब्राह्मण होकर यह जीव अपनी जातिका अभिमान करके गुणी जनोंकी निन्दा और अपमानके द्वारा नीच गोत्रका बन्ध करता है और मरकर परलोकमें कुत्ता, सूकर या चण्डाल होता है ॥१८०१॥

गा०-टी०—यह जीव लाभान्तरायका उदय होनेसे अनेक बार दरिद्र अवस्था पाता है। लाभान्तरायका क्षयोपशम होनेसे अनेक बार इच्छित धन पाता है। इस प्रकार अनेक बार धनीसे दरिद्र और दरिद्रसे धनी होता है। अयशकीर्तिका उदय होनेसे चण्डाल, काना, अभागा, मूर्ख, कंजूस आदि निन्दाका पात्र होता है। यशःकीर्तिका उदय होनेसे कुलीन, रूपवान, धनी, पण्डित इत्यादि स्तुतिका पात्र होता है। असातावेदनीयका उदय होनेसे दुःख उठाता है और सातावेदनीयका उदय होनेसे देव और मनुष्य भवका सुख भोगता है। इसी प्रकार अनेक बार स्त्री, पुरुष और नपुंसक होता है ॥१८०२॥

गा०—पुण्यहीन मनुष्य लोकमें दोष नहीं करनेपर भी दोषका भागी होता है। और पुण्यवान अनाचार करके भी लोगोंके सन्मुख दुराचारी सिद्ध नहीं होता ॥१८०३॥

मध्यमाचारं, 'जणसमक्खं' जनानां प्रत्यक्षं 'अकारी होदि' दुराचारो न भवति। 'सपडिभागा' पुण्यवान् ॥१८०३॥

सरिसीए चंदिगाए कालो वेस्सो पिओ जहा जोण्हो।
सरिसे वि तहाचारे कोई वेस्सो पिओ कोई ॥१८०४॥

'सरिसीए चंदिगाए' चंद्रिकायां समानायामपि। 'कालो वेस्सो' कालपक्षो द्वेष्यः। 'पिओ जहा जोण्हो' शुक्लपक्षो यथा प्रियः। 'सरिसे वि तहाचारे' सदृशेऽप्याचारे द्वयो. पुंसो.। 'कोई वेस्सो पिओ कोई' कश्चित् द्वेष्यः कश्चित् प्रियः ॥१८०४॥

इय एस लोगधम्मो चिंतिज्जंतो करेइ णिव्वेदं।
धण्णा ते भयवंता जे मुक्का लोगधम्मादो ॥१८०५॥

'इय एस लोगधम्मो' अयमेव प्राणिधर्मः। 'चिंतिज्जंतो' चिन्त्यमानो। 'करेइ णिव्वेद' निर्वेदं करोति। 'धण्णा ते भयवंता' पुण्यवन्तस्ते यतयः। 'जे मुक्का लोगधम्मादो' ये मुक्ता. प्राणिधर्माद् व्यावर्णितात् ॥१८०५॥

विज्जू व चंचलं फेणदुब्बलं वाधिमहियमच्चुहदं।
णाणी किह पेच्छंतो रमेज्ज दुक्खुद्धुदं लोगं ॥१८०६॥

'विज्जू व चंचलं' विद्युदिव चंचल, 'फेणदुब्बलं' फेनमिव दुर्बल। 'वाधिमहियमच्चुहदं' व्याधिभिर्मथितं मृत्युना हतं। 'लोगं पेच्छंतो' लोकं पश्यन्। 'णाणी किह रमेज्ज' ज्ञानी कथं तत्र रतिं कुर्यात्। लोगधम्मचिन्ता ॥१८०६॥

अशुभत्वानुप्रेक्षा प्रक्रम्यते—

असुहा अत्था कामा य हुंति देहो य सव्वमणुयाणं।
एओ चेव सुभो णवरि सव्वसोक्खायरो धम्मो ॥१८०७॥

'असुहा अत्था कामा य हुंति' अशुभा अर्था. कामाश्च भवन्ति। 'देहो य सव्वमणुयाणं' देहश्च सर्व

गा०—जैसे चाँदकी चाँदनीके समान होनेपर भी लोग कृष्णपक्षसे द्वेष करते हैं और शुक्लपक्षसे प्रेम करते हैं। वैसे ही समान आचार होते हुए भी कोई मनुष्य लोगोको प्रिय होता है और कोई अप्रिय होता है ॥१८०४॥

गा०—इस प्रकार लोकदशाका चिन्तन करनेसे वैराग्य उत्पन्न होता है। वे पुण्यवान यतिजन धन्य हैं जो इस ऊपर कही संसारकी दशासे मुक्त हो गये हैं ॥१८०५॥

गा०—बिजलीकी तरह चचल, फेनकी तरह दुर्बल, रोगोसे ग्रस्त और मृत्युसे पीड़ित इस लोकका देखकर ज्ञानी इसमें कैसे अनुराग कर सकता है ॥१८०६॥

इस प्रकार लोकानुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ।

अब अशुभत्व अनुप्रेक्षाका कथन करते है—

गा०—अर्थ, काम और सब मनुष्योकी देह अशुभ है। एक सब सुखोकी खान धर्म ही शुभ है। शेष सब अशुभ है ॥१८०७॥

मनुष्याणाम् । 'एक्को चेव सुभो' एक एव शुभः पुनः । 'सव्वसुक्खायरो धम्मो' सर्वेषां सौख्यानामाकरो धर्मः ॥१८०७॥

अर्थस्याशुभतां व्याचष्टे—

इहलोगियपरलोगियदोसे पुरिसस्स आवहइ णिच्चं ।
अत्थो अणत्थमूलं महाभयं मुत्तिपडिपंथो ॥१८०८॥

'इहलोगियपरलोगियदोसे' ऐहिकान् पारलौकिकांश्च दोषान् । 'पुरिसस्स आवहइ णिच्चं' पुरुषस्य आवहति नित्यं । 'अत्थो अणत्थमूलं' अर्थोऽनर्थानां मूलं, 'महाभयं' महतो भयस्य मूलत्वान्महाभयं । 'मुत्ति-पडिपंथो' मुक्तेरर्गलीभूतः ॥१८०८॥

कामस्याशुभतामाचष्टे—

कुणिमकुडिभवा लहुगत्तकारया अप्पकालिया कामा ।
उवधो लोए दुक्खावहा य ण य हुंति ते सुलहा ॥१८०९॥

'कुणिमकुडिभवा लहुगत्तकारया' अशुचिकुटिभवाः लघुत्वकारिणः । 'अप्पकालिया कामा' अल्प-कालेषु भवाः कामाः । 'उवधो लोए' लोकद्वये दुःखावहाश्च । 'ण य होंति ते सुलभाः' नैव ते सुलभा भवन्ति ॥१८०९॥

कामाशुभत्वमाख्याति—

अट्ठिदलिया छिरावक्कवद्धिया मंसमट्टियालित्ता ।
बहुकुणिमभण्डभरिदा विहिंसणिज्जा खु कुणिमकुडी ॥१८१०॥

'अट्ठिदलिया' अस्थिदलनिष्पन्ना । 'छिरावक्कवद्धिया' शिरावल्कलबद्धा । 'मंसमट्टियालित्ता' मांस

अर्थकी अशुभता बतलाते हैं—

गा०—टी०—धन सब अनर्थोंको जड है। यह पुरुषमें इस लोक और परलोक सम्बन्धी दोष लाता है अर्थात् धन पाकर मनुष्य व्यसनोंमें फँस जाता है और उससे वह इस लोकमें भी निन्दाका पात्र होता है और परलोकमें भी कष्ट उठाता है। मृत्यु आदि महान् भयोंका मूल होनेसे धन महाभय रूप है। और मोक्षमार्गके लिये तो अर्गला है। धनमें मस्त मनुष्य मोक्षकी बात भी सुनना नहीं चाहता ॥१८०८॥

अब कामकी अशुभता बतलाते हैं—

गा०—यह कामभोग अपवित्र अपने और परके शरीरके संयोगसे पैदा होता है। यह मनुष्यको गिराता है, उसे लोगोंकी दृष्टिमें लघु करता है। यह अल्पकालके लिये होता है तथा दोनों ही लोकोंमें दुःखदायी है। तथा सुलभ भी नहीं है ॥१८०९॥

अब शरीरकी अशुचिता कहते हैं—

गा०—यह शरीर रूपी कुटी हड्डी रूपी पत्तोंसे बनी है। सिराएँ रूपी वल्कल (छाल) से

मृत्तिकालिप्ता। 'बहुकुणिमभंडभरिदा' अनेकाशुचिद्रव्यपूर्णा। 'विहिंसणिज्जा खु कुणिमकुडी' जुगुप्सनीया अशुचिकुटी ॥१८१०॥

इंगालो धुव्वंतो ण सुद्धिमुवयादि जह जलादीहिं।
तह देहो धोव्वंतो ण जाइ सुद्धिं जलादीहिं ॥१८११॥

'इंगालो धोव्वंतो' प्रक्षाल्यमाना मषो न शुद्धमुपयाति न शुक्लतामुपयाति। 'जह' यथा। 'जलादी-हिं' जलादिभिः। 'तह देहो धोव्वंतो' तथा शरीर प्रक्षाल्यमान। 'ण जादि सुद्धि जलादीहिं' न याति शुद्धि जलादिभिः ॥१८११॥

सलिलादीणि अमेज्झं कुणइ अमेज्झाणि ण दु जलादीणि।
मेज्झममेज्झं कुव्वंति सयमवि मेज्झाणि संताणि ॥१८१२॥

'सलिलादीणि' सलिलादीनि द्रव्याणि शुचीनि। 'अमेज्झं कुणदि' अमेध्य करोति। 'अमेज्झाणि' अशुचीनि। 'ण दु जलादीणि मेज्झं कुणदि' नैवं जलादीनि शुचितामापादयन्तीति। 'अमेज्झाणि' अशुचीनि 'सयममेज्झाणि संताणि' अमेध्ययोगात् स्वयमशुचीनि सन्ति ॥१८१२॥

तारिसयममेज्झमयं सरीरयं किह जलादिजोगेण।
मेज्झं हवेज्ज मेज्झं ण हु होदि अमेज्झमयघडओ ॥१८१३॥

'तारिसयममेज्झमयं' शुचीनामशुचिताकरणसमर्थाशुचिमयं शरीरक। 'किह' कथ। 'जलादिजोगेण' जलादिसम्बन्धेन। 'मेज्झं हवेज्ज' शुचिर्भवेत्। 'अमेज्झमय घडओ' अमेध्यमयो घट.। 'ण खु मेज्झो होदि' नैव शुचिर्भवति। यथा जलादियोगेन ॥१८१३॥

यदि शरीरमशुचि किं तर्हि शुचीत्यत्राह—

णवरि हु धम्मो मेज्झो धम्मत्थस्स वि णमंति देवा वि।
धम्मेण चेव[1] जादि खु साहू जल्लोमधादीया ॥१८१४॥

बाँधी हुई है। मांसरूपी मिट्टीसे लीपी गई है तथा अनेक अपवित्र वस्तुओंसे भरी हुई है। इस तरह यह शरीररूपी कुटिया घृणास्पद है ॥१८१०॥

गा०—जैसे कोयलोको जलादिसे धोनेपर भी वे सफेद नही होते। उसी प्रकार जलादिसे धोनेपर भी शरीरकी शुद्धि नहीं होती ॥१८११॥

गा०—अपवित्र शरीर जलादिको भी अपवित्र कर देता है। अर्थात् शरीरके सम्बन्धसे निर्मल जल मैला हो जाता है। जल स्वय मैला नही है, स्वयं तो निर्मल ही है किन्तु जल शरीरको पवित्र नहीं बनाता। बल्कि शरीरके संयोगसे जल ही अपवित्र हो जाता है ॥१८१२॥

गा०—निर्मलको मलीन करनेवाला अपवित्र शरीर जलादिके सम्बन्धसे कैसे पवित्र हो सकता है। क्या मलसे भरा घडा पानीसे धानेसे पवित्र हो सकता है ॥१८१३॥

यह शरीर अपवित्र है तो पवित्र कौन है, इसका उत्तर देते है—

गा०—किन्तु धर्म पवित्र है क्योकि रत्नत्रयात्मक धर्ममें स्थितको देव भी नमस्कार करते

---

१. चेव हुंति हु साहू —अ०।

'चरदि हु धम्मो पेज्जो' धर्मः पुनः शुचिः। कस्मात् हुशब्दो यस्मादित्यर्थे वर्तते। 'धम्मम्मि ठिदस्स वि णमंति देवा वि' यस्माद्धर्मे रत्नत्रयात्मके स्थितस्य देवा अपि नमस्कारं कुर्वन्ति। धर्मेण शुचिना योगात्मापि शुचिरिति। 'धम्मेण चेव जादि हु साधू' धर्मेणैव प्राप्नुवन्ति साधव.। किं? 'जल्लोसधादीया' जल्लौषध्यादिकमृद्धयतिशयम् ॥१८१४॥ अशुभत्वं।

आस्रवानुप्रेक्षा निरूप्यते—

> जम्मसमुद्दे बहुदोसवीचिए दुक्खजलयराइण्णे।
> जीवस्स दु परिब्भमणम्मि कारणं आसवो होदि ॥१८१५॥

'जम्मसमुद्दे' जन्मसमुद्रे। 'बहुदोसवीचिए' विचित्रदोषतरङ्गे। 'दुक्खजलयराकिण्णे' दुःखजलचरैराकीर्णे। 'जीवस्स परिब्भमणम्मि' जीवस्य परिभ्रमणे यत् कारणं तत् 'आसवो' आस्रवो भवति। ननु च कर्माणि कारणानि नत्वास्रवः। अत्रोच्यते। कर्मणां परिभ्रमणकारणानां कारणत्वादास्रवः कारणमित्युक्तं ॥१८१५॥

> संसारसागरे से कम्मजलमसंवुडस्स आसवदि।
> आसवणीए णावाए जह सलिलं उदधिमज्झम्मि ॥१८१६॥

'संसारसागरे' संसारसमुद्रे। 'से' तस्य। 'असंवुडस्स' संवररहितस्य सम्यक्त्वसंयमक्षमामार्दवार्जवसंतोषपरिणामरहितस्य। 'कम्मजलमासवदि' ज्ञानावरणादिकर्मजलमास्रवत्यागच्छति। 'आसवणीए णावाए' आस्रवणशीलायां नावि यथा सलिलं प्रविशति। 'उदधिमज्झे' समुद्रमध्ये ॥१८१६॥

> धूली णेहुत्तुप्पिदगत्ते लग्गा मलो जहा होदि।
> मिच्छत्तादिसिणेहोल्लिदस्स कम्मं तहा होदि ॥१७१७॥

हैं। पवित्र धर्मके सम्बन्धसे आत्मा भी पवित्र है। धर्मसे ही साधु भी जल्लौषधी आदि ऋद्धियोंको प्राप्त करते हैं। अर्थात् रत्नत्रयरूप धर्मका साधन करनेसे साधुओंके शरीरका मल भी औषधीरूप हो जाता है ॥१८१४॥

आगे आस्रवानुप्रेक्षाको कहते हैं—

गा०-टी०—यह जन्ममरणरूपी समुद्र विविध दोषरूपी लहरोंसे युक्त है तथा दुःखरूपी जलचर जीवोंसे भरा है। इस समुद्रमें परिभ्रमणका कारण आस्रव है।

शंका—संसार समुद्रमें परिभ्रमणका कारण तो कर्म है, आस्रव नहीं है।

समाधान—परिभ्रमणका कारण कर्म हैं यह ठीक है। किन्तु उन कर्मोंका कारण आस्रव है। अतः आस्रवको परिभ्रमणका कारण कहा है ॥१८१५॥

गा०—जैसे समुद्रके मध्यमें छेदयुक्त नावमें जल प्रवेश करता है वैसे ही संसाररूपी समुद्रमें जो जीव संवरसे रहित है अर्थात् सम्यक्त्व, संयम, क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोष आदि रूप परिणामोंसे रहित हैं उसके ज्ञानावरण आदि कर्मरूप जलका आस्रव होता है ॥१८१६॥

गा०—जैसे तेलसे लिप्त शरीरमें लगी हुई धूल मलरूप हो जाती है वैसे ही जो आत्मा

'धूली णेहुत्तुप्पियगत्ते लग्गा' धूली स्नेहाभ्यक्तशरीरलग्ना । **'जहा मलो होइ'** यथा मलं भवति । **'मिच्छत्तादिसिणेहोल्लिदस्स'** मिथ्यात्वासयमकषायपरिणामस्नेहाभ्यक्तस्यात्मनः प्रदेशेष्ववस्थितं कर्मप्रायोग्यं द्रव्यं । **'तहा'** तथा । **'कम्मं होदि'** कर्म भवति । एतदुक्त भवति-आत्मपरिणामान्मिथ्यात्वादिकात् विशिष्टं पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन परिणमयतीति कर्मत्वपर्यायहेतुरात्मनः परिणाम आस्रव इत्यर्थः ॥१८१७॥

ओगाढगाढणिचिदो पुग्गलदव्वेहिं सव्वदो लोगो ।
सुहमेहिं बादरेहिं य दिस्सादिस्सेहिं य तहेव ॥१८१८॥

'ओगाढगाढणिचिदो' अनुप्रवेशगाढं निचितः । **'पुग्गलदव्वेहिं'** पुद्गलद्रव्यैः **'सव्वदो लोगो'** कात्स्र्न्येन लोक । **'सुहमेहि बादरेहि य'** सूक्ष्मै स्थूलैश्च । **'दिस्सादिस्सेहिं'** चक्षुषा दृश्यैरदृश्यैश्च । **'तहेव'** तथैव । एतया गाथया कर्मत्वपर्याययोग्यानां पुद्गलद्रव्याणा सर्वत्र लोकाकाशे बहूनामस्तित्वमाख्यातम् ॥१८१८॥

के ते आस्रवा इत्यत्राह—

मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगा य आसवा होंति ।
अरहंतवृत्तअत्थेसु विमोहो होइ मिच्छत्तं ॥१८१९॥

'मिच्छत्तं अविरमण कसायजोगा य आसवा होंति' मिथ्यात्वमसयम. कषाययोगाश्च आस्रवा भवन्ति । आस्रवत्यागच्छन्ति कर्मत्वपर्याय पुद्गला एभि॰ कारणभूतैरिति मिथ्यात्वादय आस्रवशब्दवाच्या तेष्वास्रवेषु । मिथ्यात्वस्वरूपं कथयति । **'अरहंतवुत्त अत्थेसु'** अर्हदुक्तेषु अनन्तद्रव्यपर्यायात्मकेषु अर्थेषु **'विमोहो मिच्छत्त होदि'** अश्रद्धान मिथ्यात्वं भवति ॥१८१९॥

असंयममाचष्टे—

अविरमणं हिंसादी पच वि दोसा हवंति णायव्वा ।
कोधादीया चत्तारि कसाया रागदोसमया ॥१८२०॥

मिथ्यात्व, असंयम और कषायपरिणामरूप तैलसे लिप्त होता है उस आत्माके प्रदेशोमें स्थित कर्मरूप होनेके योग्य पुद्गलस्कन्ध कर्मरूप हो जाते हैं। इसका आशय यह है, मिथ्यात्व आदि रूप आत्माके परिणामोसे विशिष्ट पुद्गलद्रव्य कर्मरूपसे परिणमन करना है इसलिये कर्मरूप परिणमनमे कारण आत्माके परिणाम ही आस्रव हैं ॥१८१७॥

गा०—यह लोक सर्वत्र पुद्गल द्रव्योंसे ठसाठस भरा हुआ है। वे पुद्गल सूक्ष्म भी है और बादर भी हैं। चक्षुके द्वारा दिखाई देने योग्य भी हैं और न दिखाई देने योग्य भो हैं।

टी०—इस गाथाके द्वारा कर्मरूप होनेके योग्य पुद्गल द्रव्योंका सर्वत्र लोकाकाशमें अस्तित्व बतलाया है ॥१८१८॥

वे आस्रव कौन हैं यह बतलाते हैं—

गा०—मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग ये आस्रव हैं। जिन कारणोंसे पुद्गल कर्मरूप होकर आते हैं उन मिथ्यात्व आदिको आस्रव कहते हैं। उनमेंसे मिथ्यात्वका स्वरूप कहते हैं—अर्हन्त भगवान्के द्वारा कहे गये अनन्त द्रव्य पर्यायात्मक पदार्थों में अश्रद्धान करना मिथ्यात्व है ॥१९१९॥

'अविरमणं' अविरमणं नाम। 'हिंसादि पंच वि दोसा' हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाख्याः पञ्चापि दोषाः। 'हवंति णादव्वा' अविरमणं भवन्तीति ज्ञातव्याः। प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं, असदभिधानं, अदत्तादानं, मैथुनकर्म विशेषः, मूर्छा चेति एते परिणामा अविरमणशब्देनोच्यन्ते। विरमणं हि निवृत्तिस्ततोऽन्यत्वात्। प्रवृत्तिरूपा हिंसादयः अविरमणं इत्युच्यते। 'कोधादीया' क्रोधमानमायालोभाः। 'चत्तारि' चत्वारः। 'कसाया' कषाया इत्युच्यन्ते। 'रागदोसमया' रागद्वेषात्मकाः ॥१८२०॥

रागद्वेषयोर्माहात्म्यं वर्णयति—

किहदा राओ रंजेदि णरं कुणिमे वि जाणुगं देहे।
किहदा दोसो वेसं खणेण णीयंपि कुणइ णरं ॥१८२१॥

'किहदा राओ रंजेदि णरं' कथं तावद्रागो रञ्जयति नरं। 'कुणिमे वि देहे' अशुचावपि देहे, अनुरागस्यायोग्ये। 'जाणुगं' शरीराशुचित्वं जानन्तं अज्ञं रंजयति। सारे वस्तुनि नरं रञ्जयतीति न तच्चित्रं ज्ञातारमशुचिन्यसारे शरीरे रञ्जयतीत्येतदद्भुतमिति भावः। 'दोसो' दोषः, 'किहदा वेसं कुणदि' कथं तावद्द्वेष्यं करोति। 'खणेण' क्षणमात्रेण। 'णीयंपि णरं' बान्धवमपि नरं। अनेनापि द्वेषमाहात्म्यमाख्यायते। रागाश्रयानपि बंधून् द्वेष्यान् करोतीति ॥१८२१॥

सम्मादिट्ठी वि णरो जेसिं दोसेण कुणइ पावाणि।
धिसि गारविंदियसण्णामयरागदोसाणं ॥१८२२॥

'सम्मादिट्ठी वि णरो' तत्त्वज्ञानश्रद्धानसमन्वितोऽपि नरः। 'जेसिं दोसेण कुणदि पावाणि' येषां दोषेण करोति पापानि। 'धित्तेसिं गारवेंदियसण्णामयरागदोसाणं' धिक्तान्गौरवाणीन्द्रियाणि संज्ञामदान् रागद्वेषांश्च ॥१८२२॥

असंयमका स्वरूप कहते हैं—

गा०—हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इन पाँच दोषोंको असंयम कहते हैं। कषाययुक्त आत्मपरिणामके योगसे प्राणोंके घातको हिंसा कहते हैं। प्राणि पीड़ाकारक अप्रशस्त वचन बोलनेको असत्य कहते हैं। बिना दी हुई वस्तुके ग्रहणको चोरी कहते हैं। मैथुन कर्मको अब्रह्म कहते हैं और ममत्व भावको परिग्रह कहते हैं। ये सब परिणाम असंयम कहे जाते हैं। इन सबसे निवृत्तिको संयम कहते हैं। और प्रवृत्तिरूप हिंसादि परिणाम असंयम है। तथा राग-द्वेषमय चार कषाय हैं। अर्थात् हिंसादिरूप परिणाम असंयम हैं और क्रोधादि कषाय हैं इनमेंसे क्रोध और मान द्वेषरूप हैं और माया, लोभ रागरूप हैं ॥१८२०॥

राग और द्वेषका माहात्म्य बतलाते हैं—

गा०-टी०—यह शरीर अशुचि है। रागके अयोग्य है। यह राग शरीरकी अशुचिताको जाननेवाले अज्ञानीको उसमें अनुरक्त करता है सारवान् वस्तुमे मनुष्यको अनुरक्त नहीं करता। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। आश्चर्य इसमें है कि यह जाननेवालेको भी असार शरीरमें अनुरक्त करता है। तथा द्वेष क्षणमात्रमें बन्धु मनुष्यको भी द्वेषका पात्र बनाता है। इससे द्वेषका माहात्म्य कहते हैं कि जो बन्धु राग करने योग्य हैं उन्हे भी वह द्वेषका पात्र बनाता है ॥१८२१॥

गा०—तत्त्वोंके ज्ञान और श्रद्धानसे युक्त मनुष्य भी अर्थात् सम्यग्दृष्टी मनुष्य भी जिनके

जो अभिलासो विसएसु तेण ण य पावए सुहं पुरिसो ।
पावदि य कम्मबंधं पुरिसो विसयाभिलासेण ।।१८२३।।

'जो अभिलासो विसएसु' यो अभिलाषो विषयेषु स्पर्शादिषु । **'तेण विसयाभिलासेण ण य पावदे सुहं पुरिसो'** प्राप्नोति नैव सुखं पुरुषः । **'पावदि य कम्मबंधं'** प्राप्नोति च कर्मबन्ध, **'पुरिसो विसयाभिलासेण'** पुरुषो विषयाभिलाषेण निमित्तेन । एतेन विषयाभिलाषपरिणामस्य प्राणिनामसकृत् प्रवर्तमानस्याहितता निवेदिता, सुखं न प्रयच्छति कर्मबन्धकारणं तु भवतीति विषयाभिलाषस्यास्रवस्य स्वरूपं कथितं ।।१८२३।।

विषयाभिलाषस्य दुष्टतां प्रकारान्तरेणाचष्टे—

कोई डहिज्ज जह चंदणं णरो दारुगं च बहुमोल्लं ।
णासेइ मणुस्सभवं पुरिसो तह विसयलोहेण ।।१८२४।।

'कोई डहिज्ज जह चंदणं' कश्चिद्यथा दहेच्चन्दनं । **'बहुमोल्लं'** महामूल्यं । **'दारुगं च'** अगुर्वादिदारु च, यथा दहति भस्मादिकं स्वल्पं समुद्दिश्य । **'तहा णासेदि मणुस्सभवं'** तथा नाशयति मानुषभव अतीन्द्रियानन्त-सुखकारणं । **'पुरिसो तह विसयलोभेण'** अतितुच्छविषयगार्ध्येन ।।१८२४।। उक्त च—

> **विषया अमितेन्द्रियोत्सवा बहुभिश्चापि समन्विता रसैः ।**
> **विषगर्भसुसंस्कृतान्नवत् परिभुक्ताः परिणामदारुणाः ।।**
> **विषयसुखप्रतिबद्धलोलचित्तो विषयनिमित्तमनिष्टकर्म कृत्वा ।**
> **विषयसुखप्रविहीनजातिजातो विषयसुखं लभते न ना विपुण्यः ।।**

दोषसे पाप करता है उन गारवोंको, इन्द्रियोंको, संज्ञामदोंको और राग द्वेषको धिक्कार हो ।।१८२२।।

गा०—विषयोंमें जो अभिलाषा है उसके कारण पुरुष सुख नहीं पाता विषयोंकी चाहके निमित्तसे पुरुष कर्मबन्ध करता है ।।१८२३।।

टी०—इससे प्राणियोंमें निरन्तर प्रवर्तमान विषयोंकी चाहरूप परिणामको अहितकारी बतलाया है । उससे सुख तो नही होता, किन्तु कर्मबन्ध होता है । अत. विषयोंकी अभिलाषाको आस्रवरूप कहा है ।।१८२३।।

गा०-टी०—अन्य प्रकारसे विषयोंकी अभिलाषाकी दुष्टता बतलाते हैं—जैसे कोई मनुष्य राख आदिके लिये बहुमूल्य चन्दनकी लकड़ीको जला देता है । वैसे ही मनुष्य अति तुच्छ विषयोंके लोभसे उस मनुष्य भवको नष्ट कर देता है जिसके द्वारा अतीन्द्रिय अनन्त सुख प्राप्त हो सकता है । कहा भी है—ये विषय इन्द्रियोंके लिये आनन्द उत्पन्न करते हैं तो बहुतसे रन उन विषयोंमें रहते हैं । किन्तु विषसे संस्कार किये गये अन्नकी तरह उनको भोगनेपर अत्यन्त भयंकर परिणाम होता है । जिसका चंचल चित्त विषय सुखमें अत्यासक्त होता है वह विषयोंकी प्राप्तिके लिये अनिष्ट कार्य करके ऐसी पर्यायमें जन्म लेता है जहाँ उसे विषयसुख मिलता ही नहीं । ठीक ही है, पुण्यहीन मनुष्य विषयसुखको नहीं पाता ।।१८२४।।

छड्डिय रयणाणि जहा रयणदीवा हरेज्ज कट्ठाणि ।
माणुसभवे वि छड्डिय धम्मं भोगे भिलसदि तहा ॥१८२५॥

'छड्डिय रयणाणि जहा' रत्नानि त्यक्त्वा यथा, 'रयणदीवा हरेज्ज कट्ठाणि' रत्नद्वीपात्काष्ठान्याहरति । 'तहा माणुसभवे वि' मनुष्यभवेऽपि, 'छड्डिय धम्मं' धर्मं विहाय । 'भोगे भिलसदि' भोगान्वाञ्छति । एतदुक्तं भवति—अनेकसाररत्नस्पदं रत्नद्वीपं सुदुर्लभं प्राप्य मुधा लभ्यान्यपि रत्नान्यनुपादाय असारमिन्धनं सुलभं सारबुद्धया यथा कश्चिदाहरति जडः । तथानेकगुणरत्नाकरं मनुष्यभवं दुरवापमवाप्य अतर्पकं पराधीनं अल्पकालिकं विषयसुखमभिलषति ॥१८२५॥

गंतूण णंदणवणं अमयं छंडिय विसं जह पियइ ।
माणुसभवे वि छड्डिय धम्मं भोगे भिलसदि तहा ॥१८२६॥

'गंतूण णंदणवणं' गत्वा नन्दनवनं । 'अमयं छड्डिय' अमृतं त्यक्त्वा । 'विसं जहा पियइ' विषं यथा पिबति कश्चित् । 'माणुसभवे वि छड्डिय' मनुष्यभवेऽपि त्यक्त्वा । 'धम्मं' धर्मं । 'भोगेभिलसदि तहा' भोगानभिलषति तथा ॥१८२६॥

योगशब्दार्थमाचष्टे—

पावपओगा मणवचिकाया कम्मासवं पकुव्वंति ।
भुज्जंतो दुब्भत्तं वणम्मि जह आसवं कुणइ ॥१८२७॥

'पावपओगा' पाप प्रयुज्यते,प्रवर्त्यते एभिरिति पापप्रयोगाः । 'मणवचिकाया' मनोवाक्कायाः, 'कम्मासवं पकुव्वंति' कर्मत्वपर्यायागमं पुद्गलाना कुर्वन्ति । 'भुंजतो दुब्भत्त' भुञ्जमानो दुराहारं । 'वणंमि जह आसवं कुणदि' व्रणे यथा आस्रवं स्रुतिं पूतीना करोति ॥१८२७॥

गा०–टी०—जैसे कोई मनुष्य रत्नद्वीपमें जाकर रत्नोंको छोड़ लकड़ी बीनता है वैसे ही मनुष्यभवमें धर्मको छोड़ भोगोंकी अभिलाषा करता है। इसका अभिप्राय यह है कि जैसे कोई मूर्ख अनेक बहुमूल्य रत्नोंसे भरे तथा अतिदुर्लभ रत्नद्वीपमें जाकर बिना प्रयत्नके ही प्राप्त भी रत्नोंको ग्रहण न करके असार और सुलभ ईंधनको ही सारभूत मानकर ग्रहण करता है, उसी प्रकार जो मनुष्यभव अनेक गुणरूपी रत्नोंकी खान है, जिसका मिलना बहुत कठिन है उसे प्राप्त करके भी अज्ञानी ऐसे विषयसुखकी अभिलाषा करता है जो तृप्ति प्रदान नहीं करता तथा पराधीन है और अल्प काल ही रहता है ॥१८२५॥

गा०—जैसे कोई पुरुष नन्दन वनमें जाकर भी अमृतको छोड़ विष पीता है। वैसे ही मनुष्यभवको पाकर भी मनुष्य धर्मको छोड़ भोगोंकी अभिलाषा करता है ॥१८२६॥

योगशब्दका अर्थ कहते हैं—

गा०—जिनके द्वारा पापमें प्रवृत्ति की जाती है वे मन, वचन, काय, पुद्गलोंको कर्मरूपसे परिणमाते हैं। जैसे अपथ्य सेवन करनेवाला अपने घावमें पीब पैदा करता है। अर्थात् जैसे अपथ्य सेवन करनेसे घावमें पीब आता है वैसे ही मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिसे कर्मोंका आस्रव होता है ॥१८२७॥

कर्माणि शुभाशुभरूपाणि द्विविधानि, तत्र कस्य कर्मणः क आस्रव इत्यत्राह—

अनुकंपासुद्धुवओगो वि य पुण्णस्स आसवदुवारं ।
तं विवरीदं आसवदारं पावस्स कम्मस्स ॥१८२८॥

'अनुकंपा' अनुकम्पा । 'सुद्धुवओगो' शुद्धस्य प्रयोगः परिणामः, 'पुण्णस्स आसवदुवारं' पुद्गलानां पुण्यत्वपर्यायागमनमुखं सद्वेद्यं सम्यक्त्वं रतिहास्यपुंवेदाः शुभे नामगोत्रे शुभं चायुः पुण्यं एतेभ्योऽन्यानि पापानि । अनुकम्पा त्रिप्रकारा । धर्मानुकम्पा मिश्रानुकम्पा सर्वानुकम्पा चेति । तत्र धर्मानुकम्पा नाम परित्यक्तासंयमेषु मानावमानसुखदुःखलाभालाभतृणसुवर्णादिषु समानचित्तेषु दान्तेन्द्रियान्तःकरणेषु [1]जननीमिव मुक्तिमाश्रितेषु परिहृतोग्रकषायविषयेषु दिव्येषु भोगेषु दोषान्विचिन्त्य विरागतामुपगतेषु संसारमहासमुद्राद्भयेन निशास्वप्यल्पनिद्रेषु, अङ्गीकृतनिस्सङ्गत्वेषु, क्षमादिदशविधधर्मपरिणतेषु यानुकम्पा सा धर्मानुकम्पा, यया प्रयुक्तो जनो विवेकी तद्योग्यान्नपानावसथौषधादिकं संयमसाधनं यतिभ्यः प्रयच्छति । स्वामविनिगुह्य शक्तिं उपसर्गदोषानपसारयति आज्ञाप्यतामिति सेवा करोति भ्रष्टमार्गाणां पन्थानमुपदर्शयति । तैः प्रसंयोगमवाप्य अहो सपुण्या वयमिति हृष्यति, सभासु तेषां गुणानुत्कीर्तयति[2], तान् गुरुमिव पश्यति । तेषां गुणानामाभीक्ष्णं स्मरति, महात्मभिः कदा नु मम समागम इति । तैः संयोगं समीप्सति, तदीयान् गुणान् परैरभिवर्ण्यमानान्निशम्य तुष्यति । इत्थमनुकम्पापरः साधुगुणानुमननानुकारी भवति । त्रिधा च सन्तो बन्धमुपदिशन्ति, स्वयं कृतैः, कारणायाः, परैः कृतस्यानुमतेश्च । ततो महागुणराशिगतहर्षात् महान् पुण्यास्रवः ।

कर्म शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकारके हैं। किससे किस कर्मका आस्रव होता है यह कहते हैं—

गा०—अनुकम्पा और शुद्ध उपयोग पुण्य कर्मके आस्रवके द्वार हैं। और अनुकम्पा तथा शुद्ध उपयोगसे विपरीत परिणाम पाप कर्मके आस्रवके द्वार हैं ॥१८२८॥

टी०—अनुकम्पाके तीन भेद हैं—धर्मानुकम्पा, मिश्रानुकम्पा, सर्वानुकम्पा। जिन्होंने असयमका त्याग कर दिया है, मान, अपमान, सुख-दुख, लाभ-अलाभ तथा तृण-सुवर्ण आदिमें जिनका समभाव है, इन्द्रिय और मनका जिन्होंने दमन किया है, जो माताके समान मुक्तिके आश्रित है, जिन्होने उग्र कषाय विषयोंका परित्याग किया है, दिव्य भोगोंमे दोषोंका विचार करके विरागताको अपनाया है, ससाररूपी महासमुद्रके भयसे रात्रिमें भी जो अल्प निद्रा लेते हैं, जिन्होने निःसंगताको स्वीकार किया है और जो उत्तम क्षमा आदि दस प्रकारके धर्मोंमे लीन हैं उनमें जो अनुकम्पा है उसे धर्मानुकम्पा कहते है। उस धर्मानुकम्पासे प्रेरित होकर विवेकी जन उन मुनियोके योग्य अन्नपान, वसतिका आदि संयमके साधन प्रदान करते हैं। अपनी शक्तिको न छिपाकर उपसर्ग और दोषोको दूर करते हैं। 'हमे आज्ञा कीजिये' इस प्रकार निवेदन करके सेवा करते हैं। जो मार्गसे भ्रष्ट हो जाते है उन्हे सन्मार्ग दिखलाते हैं। उन मुनियोंका संयोग प्राप्त होनेपर 'अहो हम बड़े पुण्यशाली हैं।' इस प्रकार विचार कर प्रसन्न होते हैं। सभाओंमें उनके गुणोंका बखान करते हैं। उनको गुरुके समान मानते है। उनके गुणोंका सदा स्मरण करते है कि कब उनका समागम हो। उनके संयोगकी अभिलाषा रखते हैं। दूसरे द्वारा उनके गुणोंकी प्रशंसा सुनकर सन्तुष्ट होते हैं। इस प्रकार अनुकम्पामें तत्पर साधु गुणोंकी अनुमोदना करनेवाला

---

१. मातरमिव —आ० मु० । २ ति स्वान्ते मु—आ० मु० ।

मिश्रानुकम्पोच्यते—पृथुपापकर्ममूलेभ्यो हिंसादिभ्यो व्यावृत्ताः संतोषवैराग्यपरता विनीताः दिग्विरतिं, देशविरतिं, अनर्थदण्डविरतिं चोपगतास्तीव्रदोषाद् भोगोपभोगान्निवृत्य शेषे च भोगे कृतप्रमाणाः पापात्परिभीतचित्ताः, विशिष्टदेशे काले च विवर्जितसर्वसावद्याः पर्वस्वारम्भयोगं सकलं विसृज्य उपवासं ये कुर्वन्ति तेषु संयतासंयतेषु क्रियमाणानुकम्पा मिश्रानुकम्पेत्युच्यते । जीवामि जीवेषु दया च कृत्वा कृत्स्नामबुध्यमानाः जिनसूत्राद्बाह्या येऽन्यपाखण्डरताविनीताः कष्टानि तपांसि कुर्वन्ति, तेषु क्रियमाणानुकम्पा तया सर्वोऽपि कर्मपुण्यं प्रचिनोति ।

> देश प्रवृत्तिर्गृहिणामकृत्स्नात् मिथ्यात्वदोषोपहतोऽन्यधर्मः ।
> इत्येषु मिश्रो भवतीति धर्मो मिश्रानुकम्पा[illegible]गुः ॥
> सदृष्टयो वापि कुदृष्टयो वा स्वभावतो मार्दवसंप्रयुक्ताः ।
> यां कुर्वते सर्वशरीरवर्गे सर्वानुकम्पेत्यभिधीयते सा ॥

छिन्नान् बद्धान् रुद्धान् प्रहतान् विलुप्यमानांश्च मर्त्यान्, सहैनसो निरैनसो वा परिदृश्य मृगान्विहगान् सरीसृपान् पशूश्च मांसादिनिमित्तं प्रहन्यमानान् परलोके परस्परं वा तान् हिंसतो भक्षयतश्च दृष्ट्वा सूक्ष्माननेकान् कुन्थुपिपीलिकाप्रभृति प्राणभृतो मनुजकरभखरशरभकरितुरगादिभि संमृद्यमानानभिवीक्ष्य असाध्यरोगोरगदशनात् परितप्यमानान् मृतोऽस्मि नष्टोस्म्यभिधावतेति रोगानुभूयमानान्, गुरुपुत्रकलत्रादिभिर-

---

होता है। पूर्व ज्ञानियोंने बन्धको तीन प्रकारसे कहा है। स्वयं करनेसे, दूसरोसे करानेसे और दूसरोंके करने पर उसकी अनुमोदना करनेसे। अत महागुणशाली मुनियोंको देखकर हर्ष प्रकट करनेसे महान् पुण्यास्रव होता है।

अब मिश्रानुकम्पा कहते हैं। जो महान् पाप कर्मके मूल हिंसा आदिसे निवृत्त हैं, सन्तोष और वैराग्यमे तत्पर हैं, विनीत हैं, दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्डविरतिको धारण किये हुए हैं, तीव्र दोषवाले भोग उपभोगोका त्याग करके शेष भोगोंका जिन्होंने परिमाण कर लिया है, जिनका चित्त पापसे भीत रहता है, जो विशिष्ट देश और कालमे सर्व सावद्यका त्याग करते हैं अर्थात् त्रिकाल सामायिक करते हैं, पर्वके दिनोमे समस्त आरम्भको त्याग उपवास करते हैं उन संयमासयमियोंमे जो अनुकम्पा की जाती है वह मिश्रानुकम्पा है। मै जिलाता हू ऐसा मान जो जीवोपर दया तो करते हैं किन्तु पूर्णरूपसे दयाको नहीं जानते। ऐसे जो जिनागमसे बाह्य अन्य धर्मोंको माननेवाले विनयी तपस्वी है कष्टदायक तपस्या करते हैं उनमें अनुकम्पा भी मिश्रानुकम्पा है। उससे सब जीव पुण्य कर्मका संचय करते हैं। कहा भी है—

गृहस्थ एकदेशमे प्रवृत्तिशील होनेसे पूर्ण संयमका पालक नहीं होता। तथा मिथ्यात्वके दोषसे सदोष अन्य धर्मवालोंमे अनुकम्पा मिश्रानुकम्पा है। सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जो स्वभावमे ही मार्दव भावसे युक्त हैं वे जो समस्त प्राणियोमें अनुकम्पा करते हैं उसे सर्वानुकम्पा कहते हैं। जिनके अवयव कट गये हैं, जो बाधे गये है, रोके गये हैं, पीटे गये हैं, खोये गये हैं ऐसे निरपराधी अथवा अपराधी मनुष्योंको देखकर तथा मृगो, पक्षियों, सरीसृपों और पशुओंको मांस के लिये दूसरे लोगोंके द्वारा मारा जाता अथवा उन्हे परस्परमें ही एक दूसरेकी हिंसा करते और एक दूसरेका भक्षण करते देखकर, तथा कुथु चींटी आदि अनेक छोटे जन्तुओको मनुष्य, ऊँट, गधा, शरभ, हाथी, घोड़े आदिके द्वारा कुचले जाते देखकर, तथा असाध्य रोगरूपी सर्पके द्वारा

---

१ 'पासवगच्छतज अ० ।

प्राप्तकालः सहसा वियुज्य ऊर्ध्वमुखान् विक्रोशतः, स्वाङ्गानि घ्नतश्च शोकेन, उपार्जितद्रविणैर्विमुच्यमानान् कृपणान् प्रनष्टबन्धून् धैर्यशिल्पविद्याव्यवसायहीनान् या न् प्रज्ञाप्रसक्त्या वराकान् निरीक्ष्य तद् दुःखमात्मस्थमिव विचिन्त्य स्वास्थ्यमुपशमनमनुकम्पाः ।

सुदुर्लभं मानुषजन्म लब्ध्वा मा क्लेशपात्राणि वृथैव भूत ।
धर्मे शुभे भूतहिते यतध्वमित्येवमाद्यैरपि चोपदेशैः ॥

कृतकरिष्यमाणोपकारानपेक्षैरनुकम्पा कृता भवति ।

पुण्यास्रवं सा त्रिविधानुकम्पा सुतेषु पुंसां जननी शुभेव ।
स्वेतानुकम्पा प्रभवाद्धिपुण्यान्नाके मृता अभ्युपपत्तिमीयुः ॥

शुद्धप्रयोगो निरूप्यते स च द्विप्रकार. यतिगृहिगोचरभेदेन । यतेः शुद्धोपयोग इत्थम्भूतः—

जीवान्न हन्यां न मृषा वदेयं चौर्यं न कुर्यान्न भजेय भोगान् ।
धनं न सेवेय न च क्षपासु भुञ्जीय कृच्छ्रेऽपि शरीरतापे ॥१॥
रोषेण मानेन च मायया च लोभेन चाहं बहुदोषकेन ।
युञ्जेय नारम्भपरिग्रहैश्च दीक्षां शुभामभ्युपगम्य भूय ॥२॥
यथा न भात्युज्ज्वलमौलिमालो भिक्षां चरन्कार्मुकबाणपाणिः ।
तथा न भायां यदि दीक्षितः सन् वहेय दोषानवहाय लज्जाम् ॥३॥

डसे जानेसे पीडित मै मर गया, मै नष्ट हो गया इत्यादि चिल्लानेवाले रोगियोंको देख तथा जिनकी अवस्था अभी मरनेकी नही है ऐसे गुरु, पुत्र, स्त्री आदिका सहसा वियोग हो जानेसे चिल्लाते हुए, अपने अंगोंको शोकसे पीटते हुए, कमाये हुए धनके नष्ट हो जानेसे दीन हुए तथा धैर्य, शिल्प, विद्या और व्यवसायसे रहित गरीब प्राणियोंको देख उनके दुःखको अपना ही दुःख मानकर उसको शान्त करना अनुकम्पा है। 'अति दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर वृथा ही क्लेशके पात्र मत बनो। प्राणियोके लिये कल्याणकारी धर्ममें मन लगाओ' इत्यादि उपदेशोंके द्वारा किये गये अथवा भविष्यमे किये जानेवाले उपकारकी अपेक्षाके विना अनुकम्पा करना चाहिये।

ये तीनो प्रकारकी अनुकम्पा पुण्य कर्मका आस्रव करती है। वह जैसे माता पुत्रके लिये शुभ होती है उसी प्रकार शुभ है। उस अनुकम्पासे हुए पुण्यके विपाकसे मरकर स्वर्गमें देव होते हैं।

अब शुद्ध प्रयोगका स्वरूप कहते हैं—उसके दो भेद है–एक यति सम्बन्धी शुद्धसप्रयोग और दूसरा गृहस्थ सम्बन्धी शुद्ध संप्रयोग। यतिका शुद्ध प्रयोग इस प्रकार है—मैं जीवोंका घात नही करूँगा। झूठ नहीं बोलूंगा। चोरी नही करूँगा। भोगोको नही भोगूँगा। धनका सेवन नहीं करूँगा। शरीरमें अत्यन्त कष्ट होनेपर भी रात्रिमे भोजन नहीं करूँगा। शुभ दीक्षा लेकर बहुदोषपूर्ण क्रोध माना माया लोभसे आरम्भ और परिग्रहसे सम्बन्ध नहीं रखूँगा। जैसे कोई मनुष्य सिरपर मुकुटमाला धारण करके और हाथमें धनुष बाण लेकर भिक्षा मांगे तो शोभा नहीं देता। उसी प्रकार यदि मैं दीक्षा लेकर लज्जा त्याग दोषोंको वहन करूँ तो शोभा नहीं देता। महान्

---

१. यं वा प्रज्ञा प्रसत्तापकरं नि —आ० ।

लिङ्गं गृहीत्वा महतामृषीणां, अङ्गं च बिभ्रत्परिकर्महीनम् ।
भङ्गं व्रतानामविचिन्त्य कष्टं सङ्गं कथं कामसुखेषु कुर्याम् ॥४॥
चर्यामनार्याचरितामयोग्यां धैर्येण हीनः कृपणत्वमेत्य ।
कथं मृषा मुण्डशिरास्तथैवं लिङ्गीभवन्नङ्गविकारयुक्तः ॥५॥
इत्येवमादिः शुभकर्मचिन्ता सिद्धार्हदाचार्यबहुश्रुतेषु ।
चैत्येषु संघे जिनशासने च भक्तिर्विरक्तिर्गुणरागिता च ॥

विनीतता संयमो अप्रमत्तता, मृदुता, क्षमा, आर्जवः, संतोषः, संज्ञाशल्यगौरवविजयः, उपसर्गपरीषहजयः, सम्यग्दर्शनं, तत्त्वज्ञानं, सरागसंयमं, दशविधधर्मध्यानं, जिनेन्द्रपूजा, पूजोपदेशः निःशंकित्वादिगुणाष्टकं, प्रशस्तरागसमेता तपोभावना, पञ्चसमितयः, तिस्रो गुप्तय इत्येवमाद्याः शुद्धप्रयोगाः । गृहिणां शुद्धोपयोग उच्यते—गृहीतव्रतानां धारणपालनयोरिच्छा क्षणमपि व्रतभङ्गोऽनिष्टः, अभीक्ष्णं यतिसंप्रयोगः अन्नादिदान श्रद्धादिविधिपुरस्सरं श्रमनोदनाय भोगान् भुक्त्वापि स्वगत[1]सक्तिविगर्हणं, सदा गृहप्रमोक्षप्रार्थना, धर्मश्रवणोपलम्भात्मनसोऽतितुष्टि , भक्त्या पञ्चगुरुस्तवनप्रणमने तत्पूजा, परेषां च स्थिरीकरणमुपबृंहणं, वात्सल्यं, जिनेन्द्रभक्तानामुपकारकरण, जिनेन्द्रशास्त्राभिगमः, जिनशासनप्रभावना इत्यादिकः । 'तव्विवरीदं' अनुकम्पाशुद्धप्रयोगाभ्यां विपरीत परिणाम । 'आसवदारं' आस्रवद्वारं, 'पावस्स कम्मस्स' अशुभस्य कर्मणः । आस्रव । ॥१८२८॥

ऋषियोंका लिंग स्वीकार करके और स्नान आदिके बिना शरीर धारण करके व्रतोंके भंगका विचार न करते हुए काम सेवन आदिका संसर्ग मै कैसे कर सकता हूं । मै धैर्य खो, दीन बनकर अनार्योंके द्वारा आचरण करके योग्य चर्या कैसे कर सकता हूँ । शरीरमें विकार युक्त होकर घूमने पर साधु होकर सिर मुड़ाना व्यर्थ है । इत्यादि प्रकारसे शुभ कर्मकी चिन्ता करना, सिद्ध, अर्हन्त, आचार्य, उपाध्याय, प्रतिमा, संघ और जिनशासनमें भक्ति, वैराग्य, गुणोंमें अनुराग, विनययुक्त प्रवृत्ति, संयम, अप्रमादीपना, परिणामोंमें कोमलता, क्षमा, आर्जव, सन्तोष, आहारादि संज्ञा मिथ्यात्व आदि शल्य और ऋद्धि आदिके मदको जीतना, उपसर्ग और परीषहको जीतना, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सरागसंयम, दस प्रकारका धर्मध्यान, जिनपूजा, जिनपूजाका उपदेश, निःशंकित आदि आठ गुण, प्रशस्तराग, तपोभावना, पाँच समिति, तीन गुप्ति इत्यादि शुद्ध प्रयोग हैं ।

अब गृहस्थोंका शुद्ध प्रयोग कहते हैं—ग्रहण किये हुए व्रतोंके धारण और पालनकी इच्छा, एक क्षणके लिये भी व्रतभंगको इष्ट न मानना, निरन्तर यतियोंको दान देना, श्रद्धा आदि विधिपूर्वक अन्न आदि देना, भोगोंको भोगकर भी थकान दूर करनेके लिये अपनी भोगासक्तिकी निन्दा करना, सदा घर छोड़नेकी भावना करना, धर्मका श्रवण करनेको मिले तो मनका अतितुष्ट होना, भक्तिपूर्वक पंचपरमेष्ठीका स्तवन और प्रणाम करना, उनकी पूजा करना, दूसरोंको धर्ममें स्थिर करना, धर्मका बढ़ाना, साधर्मीवात्सल्य, जिनेन्द्रदेवके भक्तोंका उपकार करना, जिन शास्त्रोंका अभ्यास करना, जिनशासनकी प्रभावना करना आदि श्रावकोंका शुद्ध प्रयोग है । अनुकम्पा और शुद्ध प्रयोगसे विपरीत परिणाम अशुभ कर्मके आस्रवके द्वार हैं ॥१८२८॥

---

१. तत्सक्तिवि —अ० मु० ।

संवरानुप्रेक्षा कथ्यते । संव्रियन्ते निरुध्यन्तेऽभिनवाः कर्मपर्यायाः पुद्गलानां येन जीवपरिणामेन । मिथ्यात्वादिपरिणामो वा निरुध्यते स संवरः । तत्राद्य सूरिर्मिथ्यात्वादिपरिणामसंवरात् सम्यक्त्वादीनां संवरतामाचष्टे—

मिच्छत्तासवदारं रुंभइ सम्मत्तदिढकवाडेण ।
हिंसादिदुवाराणि व दढवदफलहेहिं रुंभंति ॥१८२९॥

'**मिच्छत्तासवदारं**' तत्त्वाश्रद्धानमास्रवद्वारं । '**रुंभंति**' रुध्यते, '**सम्मत्तदिढकवाडेण**' तत्त्वश्रद्धान कवाटेन । '**हिंसादिदुवाराणि वि**' हिंसादिद्वाराण्यपि, '**दढवदफलहेहिं रुंभंति**' दृढव्रतपरिघैः स्थगयन्ति ॥१८२९॥

उवसमदयादमाउहकरेण रक्खा कसायचोरेहिं ।
सक्का काउं आउहकरेण रक्खाव चोराणं ॥१८३०॥

'**उवसमदयादमाउहकरेण**' उपशमः कषायवेदनीयस्य कर्मणस्तिरोभवनं, दया सर्वप्राणिविषया, दमः कषायदोषभावनया चित्तनिग्रहः । एते त्रय आयुधा करे यस्य तेन । '**कसायचोरेहिं**' कषायचोरेभ्यः । '**रक्खा सक्का काउं**' रक्षा शक्या कर्तुं, '**आयुधकरेण रक्खाव चोरेहिं**' आयुधहस्तेन चोरेभ्यो रक्षेव, कषायदोषपरिज्ञानेनासकृत् प्रवृत्तेन क्रोधादिनिमित्तवस्तुपरिहारेण तत्प्रतिपक्षक्षमादिपरिणामेन च कषायनिवारणं । उक्तं च—

अयेत्सदा क्रोधमुपाश्रितः क्षमां जयेच्च मानं समुपेत्य मार्दवं ।
तथैव मायामपि चार्जवाज्जयेत्, जयेच्च संतोषवशेन लुब्धतां ॥
जिताः कषाया यदि किन्न तैर्जितं कषायमूलं सकलं हि बन्धनमिति ॥१८३०॥

मिथ्यात्वसंवरं कषायसंवरं च निरूप्य इन्द्रियसंवरं व्याचष्टे—

इंदियदुद्दंतस्सा णिग्घिप्पंति दमणाणखलिणेहिं ।
उप्पहगामी णिग्घिप्पंति हु खलिणेहिं जह तुरया ॥१८३१॥

अब संवर अनुप्रेक्षा कहते हैं । जिस जीव परिणामसे पुद्गलोंके नवीन कर्म पर्यायें अथवा मिथ्यात्वादि परिणाम रुकते हैं उसे संवर कहते हैं । उनमेंसे ग्रन्थकार मिथ्यात्व आदि परिणामोंका संवर करनेसे सम्यक्त्व आदिको संवर कहते हैं—

गा०—मिथ्यात्व अर्थात् तत्त्वके अश्रद्धानरूप आस्रवका द्वार सम्यक्त्व अर्थात् तत्त्वके श्रद्धान रूप दृढ़ कपाटोंके द्वारा रोका जाता है और हिंसा आदि आस्रव द्वारोंको दृढ़ व्रतरूपी अर्गलाओंसे रोका जाता है ॥१८२९॥

गा०-टी०—कषायवेदनीय कर्मके तिरोभाव अर्थात् उदय अवस्थाको प्राप्त न होनेको उपसम कहते हैं । सब प्राणियोंपर दयाभाव होना दया है । कषायोंके दोषोंका विचार करके चित्तका निग्रह करना दम है । ये तीन अस्त्र जिसके पास हैं वह कषायरूप चोरोंसे अपनी रक्षा कर सकता है । जैसे जिसके हाथमें अस्त्र होता है वह चोरोंसे अपनी रक्षा कर सकता है उसी प्रकार कषायके दोषोंको जाननेसे, क्रोध आदिमें निमित्त वस्तुसे बचनेसे और कषायोंके विरोधी क्षमा आदि परिणामोंसे कषायको दूर किया जा सकता है । कहा भी है—सदा क्षमाकी उपासना करके क्रोधको जीतना चाहिये । मार्दवको धारण करके मानको जीतना चाहिये । तथा आर्जवभावसे मायाको जीतना चाहिये और सन्तोषसे लोभको जीतना चाहिये । जिसने कषायोंको जीत लिया उन्होंने क्या नहीं जीता । अर्थात् सबको जीत लिया । क्योंकि सब बन्धनका मूल कषाय है॥१८३०॥

'इंदियदुद्दंतस्सा' इन्द्रियदुर्दान्ताश्वाः । 'णिगिण्हंति' निगृह्यन्ते नियम्यन्ते । केन ? 'दमणाणखलिणेहिं' दमप्रधानानि दमज्ञानानि, तान्येव खलिनानि तैः । शब्दादिषु वर्तमानानि इन्द्रियज्ञानानि रागद्वेषमूलानि तानीन्द्रियशब्देनोच्यन्ते । तेषां चास्रवाणां निरोधस्तत्त्वज्ञानभावनया भवति । द्वयो रूपयोर्युगपदेकस्मिन्नात्मन्यप्रवृत्तेः । 'उप्पहगामी' उन्मार्गयायिनः । 'जह तुरगा णिगिण्हंति' यथाश्वा निगृह्यन्ते । 'खलिणेहिं' खरैः खलिनैः ॥१८३१॥

अणिहुदमणसा इंदियसप्पाणि णिगेण्हिदुं ण तीरंति ।
विज्जामंतोसघहीणेण व आसीविसा सप्पा ॥१८३२॥

'अणिहुदमणसा' ज्ञानेन अनिभृतचेतसा । 'इंदियसप्पाइं' इन्द्रियसर्पाः । 'णिगिण्हेदुं' निग्रहीतु । 'ण तीरंति' न शक्यन्ते । 'विज्जामंतोसहीहीणेण व' विद्यया मन्त्रेण औषधेन वा हीनेन, 'आसीविसा सप्पा' आशीविषाः सर्पा यथा न गृह्यन्ते ॥१८३२॥

प्रमादसंवर कथयत्युत्तरगाथा—

पावपयोगासवदारणिरोधो अप्पमादफलिगेण ।
कीरइ फलिगेण जहा णावाए जलासवणिरोघो ॥१८३३॥

'पावपयोगासववारणिरोधो' अशुभपरिणामास्रवद्वारनिरोधः । विकथादयः पञ्चदशप्रमादपरिणामाः 'पावपयोगा' इत्युच्यन्ते । तेषां निरोधः 'अप्पमादफलगेण' अप्रमादफलकेन । केन फलकेन कः [1]प्रमाद उच्यते सत्यासत्यमृषाभाषा विकथा निरुणद्धि, स्वाध्यायो ध्यानं एकाग्रतेति चेति एते प्रमादविकथाप्रतिपक्षभूता. ।

मिथ्यात्व और कषायके संवरका कथन करके इन्द्रिय सवर कहते है—

गा०-टी०—जैसे कुमार्गमें जानेवाले दुष्ट घोड़ोंको कठोर लगामके द्वारा वशमें किया जाता है। वैसे ही दमप्रधान ज्ञानके द्वारा इन्द्रियरूपी दुर्दान्त घोड़ोंको वशमें किया जाता है। यहाँ इन्द्रिय शब्दसे शब्द आदि विषयोमे प्रवर्तमान इन्द्रिय ज्ञानको कहा है जिसका मूल राग और द्वेष है। उनसे होनेवाले आस्रवोंका निरोध तत्त्वज्ञानकी भावनासे होना है क्योंकि एक आत्मामें एक साथ दो रूप—तत्त्वज्ञान भी और इन्द्रिय विषयोंमें प्रवृत्ति भी नही हो सकते ॥१८३१॥

गा०—जैसे जिसके पास विद्या, मंत्र और औषध नहीं है वह सर्पोंको वशमें नही कर सकता। उसी प्रकार जिसका मन चंचल है वह इन्द्रियरूपी सर्पोंको वशमे नहीं कर सकता ॥१८३२॥

आगे प्रमादके संवरको कहते हैं—

गा०—जैसे लकड़ीके पाटिये से नावमें जलका आना रोका जाता है। वैसे ही अप्रमादरूपी पाटियेसे अशुभ परिणामोंरूपी आस्रव द्वारको रोका जाता है ॥१८३३॥

टी०—किस पाटियेसे किस प्रमादको रोका जाता है यह कहते हैं—सत्य और अनुभयरूप बचन विकथा नामक प्रमादको रोकते है। स्वाध्याय, ध्यान, एकाग्रता ये विकथा नामक प्रमादके प्रतिपक्षी हैं। इनमें लगे रहनेसे खोटी कथाका अवसर ही नहीं मिलता। क्षमा, मार्दव, आर्जव

---

१. दो रूप्यत इत्याह —आ० मु० ।

क्षमामार्दवार्जवसंतोषाः, कषायप्रमादस्य प्रत्यनीकभूताः । ज्ञानभावना, रागद्वेषेन्द्रियविषयविविक्तदेशाव-स्थानं ज्ञानेन मनःप्रणिधानं, इन्द्रियविषयरागद्वेषजदोषाणामनुस्मरणं, विषयोपलब्धावनादरश्चेति एते इन्द्रिय-प्रमादप्रतिपक्षाः । तथा चोक्तं—

वराङ्गनाकृतिं च रागचोदितो यदृच्छया वा न निरीक्ष्य रज्यति ।
तथैव रूपाण्यशुभानि वीक्षितुं, न नेच्छति द्वेषवशप्रचोदितः ॥१॥
निरीक्ष्य न द्वेष्टि यदृच्छयापि च भवेत्स जेता पुरुषः स्वचक्षुषः ।
सुगीतवादित्रभवान्मनोहरान् स्वरान्मनोज्ञान्युवतीरितानपि ॥२॥
न वाञ्छति श्रोतुमिहादरेण यो यदृच्छया वा न निशम्य रज्यति ।
स्वराननेकानमनोहरानपि न नेच्छति द्वेषवशेन सेवितुं ॥३॥
निशम्य न द्वेष्टि यदृच्छयापि च भवेत्स जेता श्रवणेन्द्रियस्य च ।
तुरुष्ककालागुरुकुष्ठकुङ्कुमान् तमालपत्रोत्पलचम्पकादिकान् ॥४॥
शुभं न जिघ्रासति गन्धमादरात् यदृच्छयाघ्राय न चापि रज्यति ।
तथैव गन्धानशुभानपीह यो न नेच्छति घ्रातुमसून्नताद्विषान् ॥५॥
निषेव्य न द्वेष्टि यदृच्छयापि च भवेत्स नासेन्द्रियजिन्नरोत्तमः ।
न यो महामृष्टविशिष्टभोजनप्रि[1]यापलेहापि मनोहरान् रसान् ॥६॥
निषेवितुं रागवशेन काङ्क्षति यदृच्छया वा न निषेव्य रज्यति ।
रसाननेकानमनोहरानपि न नेच्छति द्वेषवशेन सेवितुं ॥७॥
निषेव्य न द्वेष्टि यदृच्छयापि च भवेत्स जेता रसनेन्द्रियस्य च ।

कषायनामक प्रमादके विरोधी हैं। ज्ञानकी भावना, रागद्वेषके कारण इन्द्रिय विषयोंसे रहित देशमें रहना, ज्ञानके द्वारा मनको एकाग्र करना, इन्द्रियोंके विषयोंमें रागद्वेषसे उत्पन्न हुए दोषोंका स्मरण करना, और विषयोंकी उपलब्धिमें आदरभाव न होना, ये इन्द्रिय नामक प्रमादके विरोधी है। कहा भी है—

रागसे प्रेरित होकर अथवा स्वेच्छासे सुन्दर स्त्रीके अंगोंको देखकर राग नहीं करता। तथा द्वेषसे प्रेरित होकर अशुभ रूपोंको देखनेकी इच्छा नहीं करता। जो यदृच्छासे देखकर भी द्वेष नहीं करता वह पुरुष अपनी आँखोंका विजेता है। अच्छे गीत, और वादित्रोंके मनोहर स्वरोंको तथा युवती स्त्रियोंके द्वारा कहे गये शब्दोंको भी जो आदरपूर्वक सुनना नहीं चाहता और अचानक सुनकर भी उनमें अनुराग नहीं करता। तथा द्वेषवश अनेक अमनोहर स्वरोंको भी सुननेकी इच्छा नहीं करता। अचानक अमनोज्ञ स्वर सुनाई पड़ जाये तो उससे द्वेष नहीं करता, वह श्रवणेन्द्रियका जेता है। लोबान, काला अगर, कुष्ठ, कुंकुम, तमालपत्र, कमल, चम्पक आदिकी सुगन्धको आदरभावसे जो नहीं सूँघता, और अचानक सूँघनेमें आ जाये तो उसमें राग नहीं करता। उसी प्रकार जो अशुभ गन्धको भी सूँघनेसे द्वेष नहीं करता। और अचानक दुर्गन्ध सूँघ ले तो उससे द्वेष नहीं करता वह श्रेष्ठ पुरुष नासा इन्द्रियको जीतनेवाला है। जो अत्यन्त मीठे विशिष्ट भोजनको और मनोहर रसोंको रागवश सेवन करना नहीं चाहता, अचानक सेवनमें आ जाये तो उसमें राग नहीं करता। तथा द्वेषवश अनेक अमनोहर रसोंको भी सेवन

1. प्रियः प्रलेहादिमनी मनोहरान् –आ० ।

मनोज्ञशय्यासनकान्तयोषितं[1], शुभांश्च यः स्पर्शविधीन् मनोहरान् ॥८॥
न सेवितुं रागवशेन वाञ्छति यदृच्छया वा न निषेव्य रज्यति ।
प्रमर्दनाच्छादनमार्जनानि[2] वा विलेपनाभ्यञ्जनमज्जनानि च ॥९॥
शरीरसौख्याय न यश्च सेवते विवृद्धवैराग्ययुतो महायतिः ।
हिमोष्णभूशैलशिलातृणादिजानमोज्ञान् स्पर्शविशेषांश्च सर्वदा ॥१०॥
न सेवते द्वेष्टि न चाप्युपागतान् स्पर्शेन्द्रियस्येव जयेहिजिष्णुतां ।
रणे रिपूणामिव निर्भयो जयेद् यतोन्द्रियाणां जयमाश्रितो यतिरिति ॥११॥

निद्रायाः प्रतिपक्षभूतोऽप्रमादः, अनशनमवमोदर्यं, रसपरित्यागः, संसाराद्भीतिर्निद्रादोषचिन्ता रत्नत्रयेऽनुरागः स्वदुश्चरितानां स्मरणेन शोक इत्येवमादिकः । स्नेहप्रमादप्रतिपक्षभावनोच्यते—बन्धुताया अनवस्थितत्वभावना, तदर्थानेकारम्भपरिग्रहप्रवृत्तिचिन्ता, धर्मविघ्नता, दोषापेक्षणमित्यादिकः । एवंभूतेनाप्रमादफलकेन प्रवर्तता निरुध्यते । 'कीरदि फलगेण जहा' क्रियते फलकेन यथा । 'णावाए जलासवणिरोधो' नाव जलास्रवनिरोधः ॥१८३३॥

गुत्तिपरिखाइ हि गुत्तं संजमणयरं ण कम्मरिउसेणा ।
बंधेइ[3] सत्तुसेणा पुरं व परिखादिहिं सुगुत्तं ॥१८३४॥

'गुत्तिपरिखाहिगुत्तं' गुप्तिपरिखाभिर्गुप्तं, संयमनगरं कर्मरिपुसेना न भंक्तुं शक्नोति । परिखादिभिर्गुप्तं शत्रुसेनेवेति । गुप्तेः संवरताख्याता ॥१८३४॥

न करनेकी इच्छा नही करता । और अचानक सेवनमें आ जाय तो द्वेष नहीं करता, वह रसना इन्द्रियका जेता होता है । जो मनोज्ञ शय्या, मनोज्ञ आसन, सुन्दर स्त्री, तथा मनोहर शुभ स्पर्शवाली वस्तुओंको रागके वशीभूत हो सेवन करनेकी इच्छा नहीं करता । अचानक सेवनमें आनेपर उनसे राग नही करता । तथा जो बढे हुए वैराग्यसे शोभित महायती शारीरिक सुखके लिये शरीरका दबाना, आच्छादन, मार्जन, लेपन, तेल, स्नान आदिका सेवन नहीं करता । तथा सर्वदा अतिशीतल या अतिउष्ण पृथ्वी, पहाड़, पत्थर, तृण आदि जन्य अप्रिय स्पर्शोंको सेवन न करनेकी इच्छा नहीं करता और ऐसे अप्रिय स्पर्श प्राप्त होनेपर उनसे द्वेष नहीं करता वह स्पर्शन इन्द्रियका जीतनेवाला होता है । जैसे युद्धमे निर्भय व्यक्ति शत्रुओंको जीतता है । उसी प्रकार वह यति इन्द्रियोंको जीतता है । निद्राका विरोधी है अप्रमाद, अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, संसारसे भय, निद्राके दोषोका चिन्तन, रत्नत्रयमें अनुराग, अपने बुरे आचरणोका स्मरण करके शोक करना आदि । स्नेह नामक प्रमादकी विरोधी भावना कहते है—बन्धुता अस्थिर है ऐसा विचारना जिनके प्रति स्नेह होता है उनके लिये अनेक आरम्भ परिग्रह आदिकी चिन्ता करना होती है । धर्म साधनमें विघ्न होता है । इत्यादि दोषोका चिन्तन स्नेहका प्रतिपक्षी है । इस प्रकारके अप्रमादरूप पाटियेसे प्रमादजन्य आस्रवका संवर होता है ॥१८३३॥

गा०—जैसे शत्रुकी सेना परिखा आदिसे सुरक्षित नगरको नष्ट नही कर सकती । वैसे ही कर्मरूपी शत्रुकी सेना गुप्तिरूपी परिखा आदिसे युक्त संयमरूपी नगरको नष्ट नही कर सकती ॥१८३४॥

१. योषितः शुभाश्च –आ० । २. मार्जनानि आ० मु० । ३. भंजदि—मूलारा० ।

गुप्तीनां संवरतामाख्याति—

समिदिदिढणावमारुहिय अप्पमत्तो भवोदधिं तरदि ।
छज्जीवणिकायवधादिपावमगरेहिं अच्छित्तो ॥१८३५॥

'**समिदिदिढणावमारुहिय**' समितिसंज्ञिता दृढनावमारुह्य । '**अप्पमत्तो**' अप्रमत्तो भवोदधिं तरति षड्जीवनिकायवधादिपापमकरैरस्पृष्टः । एतेन समितेः संवरताख्याता ॥१८३५॥

दारेव दारवालो हिदये सुप्पणिहिदा सदी जस्स ।
दोसा घंसंति ण तं पुरं सुगुत्तं जहा सत्तू ॥१८३६॥

'**दारेव दारवालो**' द्वारे द्वारपाल इव । हृदये सम्यक्प्रणिहिता वस्तुतत्त्वानां स्मृतिर्यस्य तं दोषा नाऽभिभवन्ति पुरं सुगुप्तं शत्रव इव ॥१८३६॥

जो दु सदिविप्पहूणो सो दोसरिऊण गेज्झओ होइ ।
अधलगो व चरंतो [1]अरीणमविदिज्जओ चेव ॥१८३७॥

'**जो दु सदिविप्पहूणो**' यः स्मृतिहीनः । '**सो दोसरिऊण गेज्झओ होइ**' असौ दोषरिपुभिर्ग्राह्यो भवति । अरीणां मध्ये असहायोऽन्धः शत्रुग्राह्यो यथा ॥१८३७॥

अमु[2]यंतो सम्मत्तं परीसहचमुक्करे उदीरंतो ।
णेव सदी मोत्तव्वा एत्थ दु आराधणा भणिया ॥१८३८॥

'**अमुयंतेण**' अमुञ्चता । '**सम्मत्त**' रत्नत्रयं । '**परीसहसमोगरे**' परीषहप्रकरे अभिभवत्यपि नैव स्मृतिर्मोक्तव्या । अत्राराधना कथिता । संवरः । ॥१८३८॥

इससे गुप्तिको संवरका कारण कहा है—

गा०—प्रमादरहित साधु समितिरूपी दृढ नावपर आरूढ होकर छह कायके जीवोंके घातमें होनेवाले पापरूपी मगरमच्छोंसे अछूता रहकर संसार समुद्रको पार करता है ॥१८३५॥

इससे समितिको संवरका कारण कहा है—

गा०—जैसे सुरक्षित नगरका शत्रु ध्वंस नहीं कर सकते, उसी प्रकार द्वारपर खड़े द्वारपालकी तरह जिसके हृदयमें वस्तु तत्त्वोंकी स्मृति बनी रहती है, दोष उसका अनिष्ट नहीं कर सकते ॥१८३६॥

गा०—जैसे शत्रुओंके मध्यमें असहाय अन्धा व्यक्ति शत्रुओंके द्वारा पकड़ा जाता है। वैसे ही जिसे वस्तु तत्त्वोंका सतत स्मरण नहीं रहता, वह दोषरूपी शत्रुओंसे पकड़ा जाता है ॥१८३७॥

गा०—परीषहोंके समूहसे पीड़ित होते हुए भी साधुको रत्नत्रयको न छोड़ते हुए तत्त्वोंका स्मरण नहीं छोड़ना चाहिये। सदा तत्त्वका स्मरण करते रहना चाहिये। इसीको यहाँ आराधना कहा है ॥१८३८॥

संवर अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ।

---

१. अडवीमवि—अ० आ०। २. अमुयंतेण आ०।

निर्जरानुप्रेक्षोच्यते—

इय सव्वत्थवि संवरसंवुडकम्मासवो भवित्तु मुणी ।
कुव्वंति तवं विविहं सुत्तुत्तं णिज्जराहेदुं ॥१८३९॥

'इय' एवं । 'सव्वत्थवि' उक्तैः संवरप्रकारैः । 'संवुडकम्मासवो भवित्तु मुणी' संवृतकर्मास्रवो भूत्वा मुनिः करोति विविधं तपः सूत्रोक्तं निर्जराहेतु ॥१८३९॥

तवसा विणा ण मोक्खो संवरमित्तेण होइ कम्मस्स ।
उवभोगादीहिं विणा धणं ण हु खीयदि सुगुत्तं ॥१८४०॥

'तवसा विणा' तपसोऽन्तरेण न कर्ममोक्षो भवति संवरमात्रेण । सुरक्षितमपि धनं नैव हीयते उपभोगमन्तरेण तथा । तस्मात् तपोनुष्ठातव्यं निर्जरार्थं । का सा निर्जरा नाम ? पूर्वकृतकर्मशातनं तु निर्जरा ॥१८४०॥

पुव्वकदकम्मसडणं तु णिज्जरा सा पुणो हवे दुविहा ।
पढमा विवागजादा विदिया अविवागजाया य ॥१८४१॥

'पुव्वकदकम्मसडणं' पूर्वकृतकर्मपुद्गलस्कन्धावृतानामवयवाना जीवप्रदेशेभ्योऽपगमन निर्जरा । तथा चोक्तं 'एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरेति' । निर्जरा द्विविधा द्रव्यनिर्जरा भावनिर्जरा चेति । द्रव्यनिर्जरा नाम गृहीतानामशनपानादिद्रव्याणां एकदेशापगमनं वमनादिव । भावनिर्जरा नाम कर्मस्वपर्यायविगम पुद्गलानां । सा पुनर्द्विविधा, आद्या विपाकजाता दत्तफलाना कर्मणा गलनं विपाकजा निर्जरा । द्वितीयाऽविपाकजाता ॥१८४१॥

अब निर्जरा अनुप्रेक्षाको कहते हैं—

गा०—इस प्रकार संवरके उक्त भेदोंके द्वारा मुनि कर्मों का आस्रव रोककर आगममें कहे अनेक प्रकारके तपोंको करता है जो निर्जराके कारण हैं ॥१८३९॥

गा०—जैसे सुरक्षित भी धन उपभोग किये बिना नहीं घटता, उसी प्रकार तपके बिना कर्मों के संवरमात्रसे कर्मों का क्षय नहीं होता । अतः निर्जराके लिये तप करना चाहिये । पूर्वमें बद्ध कर्मों के क्रमसे क्षयको निर्जरा कहते हैं ॥१८४०॥

गा०-टी०—पूर्वमें बांधे हुए पौद्गलिक कर्मस्कन्धोंके अवयवोंका जीवके प्रदेशोंसे अलग होना निर्जरा है । कहा भी है—'कर्मों के एकदेशका क्षय निर्जराका लक्षण है । निर्जराके दो भेद हैं—द्रव्यनिर्जरा और भावनिर्जरा । खाये हुए भोजन पान आदि द्रव्योंके एकदेशका वमन आदिके द्वारा बाहर निकलना द्रव्यनिर्जरा है । और पुद्गलोंका कर्मरूप पर्यायको त्यागना भावनिर्जरा है । भावनिर्जराके भी दो भेद हैं—सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा । जो कर्म अपना फल दे चुके हैं उनकी निर्जरा सविपाक निर्जरा है और जिन कर्मों का विपाक काल नहीं आया है उन्हें तप आदिके द्वारा बलात् उदयमें लाकर खेरना अविपाक निर्जरा है ॥१८४१॥

विशेषार्थ—द्रव्यसंग्रह आदिमें भी निर्जराके उक्त भेदोंका कथन है किन्तु उनमें फल दे चुकने वाले कर्म पुद्गलोंका जीवसे पृथक् होना द्रव्यनिर्जरा है और जीवके जिस भावसे यह द्रव्यनिर्जरा होती है उस भावको भावनिर्जरा कहा है ॥१८४१॥

अत्र दृष्टान्तमाचष्टे द्विविधां निर्जरामवगमयितुं—

कालेण उवायेण य पच्चंति जहा वणप्फदिफलाइं ।
तह कालेण तवेण य पच्चंति कदाणि कम्माणि ॥१८४२॥

'कालेण उवाएण य' यथा कालेनोपायेन च वनस्पतीनां फलानि पच्यन्ते तथा कालेन तपसा पच्यन्ते कृतानि कर्माणि ॥१८४२॥

तयोर्निर्जरयोः का कस्य भवतीत्याशङ्कायामाचष्टे—

सव्वेसिं उदयमागदस्स कम्मस्स णिज्जरा होइ ।
कम्मस्स तवेण पुणो सव्वस्स वि णिज्जरा होइ ॥१८४३॥

'सव्वेसिमुदयसमवागदस्स' सर्वेषां समयपूर्वके तपसि वृत्तानां अवृत्तानां च अथवा मिथ्यादृष्ट्यादीनां सम्यग्दृष्ट्यादीनां वा उदयावलिकाप्रविष्टस्य दत्तस्य फलस्य कर्मणो निर्जरा भवति । एतेन विपाकनिर्जरं स्वल्पेन्याख्यातं भवति । कथं न सर्वाणि कर्माणि गलन्तीति चेदुच्यते—सर्वाणि कर्माणि भिन्नस्थितिकानि सहकारिकारणानां द्रव्यक्षेत्रादीनां [2]युगपदसान्निध्यादुदयं सर्वस्य नोपव्रजन्ति, ततो यदुदयप्राप्तं तदेवागच्छति नेतरदिति । **'तवेण पुणो'** तपसा पुनः । **कम्मस्स सव्वस्स वि'** कर्मणः सर्वस्यापि निर्जरा भवति ॥१८४३॥

ण हु कम्मस्स अवेदिदफलस्स कस्सइ हवेज्ज परिमोक्खो ।
होज्ज व तस्स विणासो तवग्गिणा डज्झमाणस्स ॥१८४४॥

दोनों प्रकारकी निर्जराको समझानेके लिये दृष्टान्त कहते हैं—

गा०—जैसे वनस्पतियोंके फल अपने समयपर भी पकते है और उपाय करनेसे समयसे पहले भी पक जाते है, उसी प्रकार पूर्वबद्ध कर्म भी अपनी स्थिति पूरी होनेपर अपना फल देते हैं और तपके द्वारा स्थिति पूरी होनेसे पूर्व ही फल देकर चले जाते है ॥१८४२॥

उक्त दोनों निर्जराओंमेंसे किसके कौन निर्जरा होती है, यह कहते हैं—

गा०-टी०—सभी जीवोंके जो तप करते हैं या तप नही करते, अथवा सम्यग्दृष्टी हों या मिथ्यादृष्टी हो उन सब जीवोंके उदयावलीमें प्रवेश करके अपना फल देनेवाले कर्मोंकी निर्जरा होती है अर्थात् सविपाक निर्जरा तो सभी जीवोके सदा हुआ करती है क्योंकि सभी जीव सदा कर्म करते हैं और सदा उनका फल भोगते हैं । इससे सविपाक निर्जरा थोड़े ही कर्मकी होती है यह सूचित होता है ।

शंका—सब कर्मोंकी निर्जरा क्यों नही होती ?

समाधान—सब कर्मोंकी स्थिति भिन्न-भिन्न होती है । तथा सबके सहकारी कारण द्रव्य क्षेत्र आदि एक साथ नही मिलते अतः सब कर्म एक साथ उदयमे नही आते । अतः जिस कर्मका उदय होता है उसीकी निर्जरा होती है । शेषकी निर्जरा नहीं होती । किन्तु तप करनेसे सब कर्मोंकी निर्जरा होती है ॥१८४३॥

---

१ समसयाग –आ० । २. दुदयमुपव्रजंति –अ० ।

'कम्मस्स ण हु हवेज्ज परिमोक्खो' अननुभूतफलस्य कर्मणो नैव कस्यचित् मोक्षो भवति इति। तत फलं प्रदायापयाति। एतेन विपाकनिर्जरोक्ता **'होज्ज व तस्स कम्मस्स विणासो'** भवेद्वा तस्य कर्मणो विनाश। **'तवग्गिणा डज्झमाणस्स'** तपोऽग्निना दह्यमानस्य। एतेन कृत कर्म तत्फलमदत्वा न निवर्तत इत्येतन्निरस्त ॥१८४४॥

डहिऊण जहा अग्गी विद्धंसदि सुबहुगंपि तणरासी।
विद्धंसेदि तवग्गी तह कम्मतणं सुबहुगंपि ॥१८४५॥

'डहिऊण जहा अग्गी' यथाग्निर्दग्ध्वा नाशयति महान्तमपि तृणराशि तथा तपोऽग्नि सुमहदपि कर्मतृणं विनाशयति ॥१८४५॥

तपसः कर्मविनाशनक्रममुपदर्शयत्युत्तरगाथा—

कम्मं पि परिणमिज्जइ सिणेहपरिसोसएण सुतवेण।
तो तं सिणेहमुक्कं कम्मं परिसडदि धूलिव्व ॥१८४६॥

'कम्मं पि परिणमिज्जदि' [1]कर्माण्यपि अभावं नीयन्ते, केण? **'सुतवेण'** ज्ञानदर्शनचरणसहभाविना तपसा। **'सिणेहपरिसोसणेण'** कर्मपुद्गलगतस्नेहपरिणामविशोषणकारिणा। **'तो'** पश्चात्। स्नेहपरिणामविनाशोत्तरकाल। **'कम्म परिसडदि'** कर्म परितोऽपयाति, **'सिणेहमुक्कं'** स्नेहमुक्तं धूलीव। दृश्यते हि स्नेहाद्बन्धमुपागताना तत्क्षते परस्परतो वियोग यथा जलेनैव पिण्डतामागताना सिकताना शुष्के जले वियोगमापद्यमानता ॥१८४६॥

गा०-टी०—जिस कर्मका फल नहीं भोगा गया है उसका विनाश नही होता। अत कर्म फल देकर जाता है। इससे सविपाक निर्जराका स्वरूप कहा। सविपाक निर्जरा उन्ही कर्मोंकी होती है जो अपना फल दे चुकते हैं। किन्तु तपकी अग्निमे जलकर ऐसे कर्मोंका भी विनाश होता है जिन्होंने फल नही दिया है। इससे जो मत ऐसा मानते है कि किया हुआ कर्म विना फल दिये नही जाता, उनका खण्डन होता है ॥१८४४॥

गा०—जैसे आग महान् भी तृणराशिको जलाकर खाक कर देती है। उसी प्रकार तपरूपी आग महान् भी कर्मरूपी तृणोके ढेरको जलाकर नष्ट कर देती है ॥१८४५॥

आगे तपसे कर्मोके विनाशका क्रम दिखलाते है—

गा०-टी०—ज्ञान, दर्शन और चारित्रके साथ होनेवाला तप कर्म-पुद्गलोंमें रहनेवाले स्नेह परिणामको सोख लेता है। अतः उससे कर्मोंका अभाव होता है। क्योंकि कर्मोंमें रहनेवाले स्नेहपरिणामका विनाश होनेके पश्चात् स्नेहरहित धूलकी तरह कर्म नष्ट हो जाते हैं। देखा जाता है जो वस्तुएँ चिक्कणता गुणके कारण परस्परमें बँधी होती हैं, उनकी चिक्कणता नष्ट होनेपर वे परस्परमें अलग हो जाती हैं जैसे जलके संयोगसे धूल बँध जाती है और जलके सूखने पर अलग-अलग हो जाती है। इसी प्रकार कषाय आदि रूप स्नेहके कारण जो कर्मपुद्गल जीवके साथ एकरूप होते हैं, तपके द्वारा कषायके चले जानेपर वे जीवसे पृथक् हो जाते हैं ॥१८४६॥

१. कर्मापि सुतवेण शोभनेन तपसाऽन्यथाभावं नीयन्ते। केण? ज्ञान आ०।

धादुगदं जह कणयं सुज्झइ धम्मंतमग्गिणा महदा ।
सुज्झइ तवग्गि धंतो तह जीवो कम्मधादुगदो ॥१८४७॥

'धादुगदं' यथा सुवर्णपाषाणगतं कनकं महताग्निना दह्यमानं शुध्यति, मलात् पृथग्भवति तथा जीवः कर्मधातुगतस्तपोऽग्निना दह्यमानः शुध्यति ॥१८४७॥

यद्येवं तप एवानुष्ठातव्यं किं संवरेणेति शङ्कां निराकरोति—

तवसा चेव ण मोक्खो संवरहीणस्स होइ जिणवयणे ।
ण हु सोत्ते पविसंते किसिणं परिसुस्सदि तलायं ॥१८४८॥

'तवसा चेव ण मोक्खो' तपसैव न सर्वकर्मापायो भवति, संवरहीनस्य जिनवचने । स्रोतसि प्रविशति न जलादिकं कृत्स्नं परिशुष्यति ॥१८४८॥

एवं पिणद्धसंवरवम्मो सम्मत्तवाहणारूढो ।
सुदणाणमहाधणुगो झाणादितवोमयसरेहिं ॥१८४९॥

'एवं पिणद्धसंवरवम्मो' एवं पिनद्धसंवरकवचः, सम्यक्त्ववाहनारूढः, श्रुतज्ञानचापधरः, ध्यानादितपोमयशरैः ॥१८४९॥

संजमरणभूमीए कम्मारिचमू पराजिणिय सव्वं ।
पावदि संजमजोहो अणोवमं मोक्खरज्जसिरिं ॥१८५०॥

'संजमरणभूमीए' संयमयुद्धाङ्गणे कर्मारिचमूं सर्वामभिभूय प्राप्नोति संयतयोधः अनुपमां मोक्षराज्यश्रियं । निर्जरा ॥१८५०॥

गा०—जैसे सुवर्ण पाषाणको महान् अग्निमें फूँकने पर उसमेंसे सोना अलग हो जाता है। उसी प्रकार तपरूपी आगसे तपानेपर कर्मरूपी धातुसे घिरा हुआ जीव शुद्ध हो जाता है ॥१८४७॥

इस परसे कोई शंका करता है कि यदि तपसे जीव शुद्ध होता है तो तप ही करना चाहिए, संवरकी क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—जिनागममें संवरके बिना केवल तपसे ही सब कर्मोंका विनाश नहीं कहा है। क्योंकि यदि तालाबमें जल आता रहता है तो तालाबको पूर्णरूपसे सुखाया नहीं जा सकता ॥१८४८॥

गा०—अतः जिसने संवररूप कवच धारण किया है, जो सम्यक्त्वरूपी रथपर सवार है, और श्रुतज्ञानरूपी धनुष लिये हुए है वह संयमरूपी योद्धा संयमरूपी रणभूमिमें ध्यान आदि तपोमय बाणोंके द्वारा समस्त कर्मरूपी शत्रुओंकी सेनाको पराजित करके मोक्षरूपी अनुपम राज्यलक्ष्मीको प्राप्त करता है ॥१८५०॥

निर्जरानुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ।

---

१. धम्मो तह —अ० आ०।

धर्मगुणानुप्रेक्षणायोच्यते—

जीवो मोक्खपुरक्कडकल्लाणपरंपरस्स जो भागी।
भावेणुववज्जदि सो धम्मं तं तारिसमुदारं ॥१८५१॥

'जीवो मोक्खपुरक्कडकल्लाणपरंपरस्स जो भागी' यो जीवः मोक्षावसानकल्याणपरंपराया भाजनभूतः। स धर्मं भावेन प्रतिपद्यते, त तादृशमुदारं सकलसुखसंपादनक्षम महान्तं धर्मं ॥१८५१॥

धम्मेण होदि पुज्जो विस्ससणिज्जो पिओ जसंसी य।
सुहसज्झो य णराणं धम्मो मणणिव्वुदिकरो य ॥१८५२॥

'धम्मेण होदि पुज्जो' धर्मेण पूज्यो भवति। विश्वसनीयः प्रियो यशस्वी च भवति, सुखेन च साध्यो नराणां धर्मः। उक्तं च—दृष्टे श्रुते च विदिते स्मृते च धर्मे फलागमो भवतीति, मनसो निर्वृत्तिं च करोति ॥१८५२॥

जावदियाइं कल्लाणाइं[1] माणुस्स-देवलोगे य।
आवहदि ताणि सव्वाणि मोक्खं सोक्खं च वरधम्मो ॥१८५३॥

'जावदियाइं कल्लाणाइं' यावंति कल्याणानि स्वर्गे मनुष्यलोके च तानि सर्वाण्याकर्षति धर्मो मोक्षं सुखं च ॥१८५३॥

ते धण्णा जिणधम्मं जिणदिट्ठं सव्वदुक्खणासयरं।
पडिवण्णा दिढधिदिया विसुद्धमणसा णिरावेक्खा ॥१८५४॥

'ते धण्णा' पुण्यवन्तः। जिनदृष्टं धर्मं सर्वदुःखनाशकरं प्रतिपन्ना शुद्धेन मनसा दृढधृतिका, निर्व्याकुलाः ॥१८५४॥

अब धर्मानुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

गा०—जो जीव सुदेवत्व सुमानुषत्व आदि कल्याण परम्पराके साथ अन्तमें मोक्षको प्राप्त करता है वही समस्त सुख सम्पादनमें समर्थ महान् धर्मको भावपूर्वक धारण करता है। अर्थात् भावपूर्वक धर्मका पालन करनेसे सांसारिक सुखके साथ मोक्षसुख प्राप्त होता है ॥१८५१॥

गा०—धर्मसे मनुष्य पूज्य होता है, सबका विश्वासपात्र होता है, सबका प्रिय और यशस्वी होता है। मनुष्य धर्मको सुखपूर्वक पालन कर सकते हैं। कहा भी है—धर्मकी श्रद्धा करनेपर, धर्मको सुननेपर, धर्मको जानने और धर्मका स्मरण करनेपर फलकी प्राप्ति होती है। तथा धर्मसे मनको शान्ति मिलती है ॥१८५२॥

गा०—मनुष्यलोक और देवलोकमें जितने कल्याण हैं उन सबको उत्तमधर्म लाता है और अन्तमें मोक्षसुखको भी लाता है ॥१८५३॥

गा०—जिन्होंने जिन भगवान्के द्वारा कहे गये और सब दुःखोंका नाश करनेवाले जिन धर्मको दृढ़ धैर्यके साथ निर्मल मनसे और बिना किसी प्रकारकी अपेक्षाके धारण किया वे पुण्य-शाली हैं ॥१८५४॥

---

१. इं सग्गे य मणुअलोगे य —मु०।

विसयाडवीए उम्मग्गविहरिदा सुचिरमिंदियस्सेहिं ।
जिणदिट्ठणिव्वुदिपहं धण्णा ओदरिय गच्छंति ॥१८५५॥

'विसयाडवीए' विषयाटव्यां उन्मार्गविहारिण सुचिरमिन्द्रियाश्वैर्बलान्नीता सन्त ये च जिनदृष्ट-निर्वृत्तिमार्गं गच्छन्ति ते धन्या इन्द्रियाश्वेभ्योऽवरुह्य ॥१८५५॥

रागेण य दोसेण य जगे रमंतम्मि वीदरागम्मि ।
धम्मम्मि णिरासादम्मि रदी अदिदुल्लहा होइ ॥१८५६॥

'रागेण य दोसेण य जगे रमंतम्मि' रागद्वेषाभ्यां सह जगति क्रीडति । वीतरागे धर्मे निरास्वादे रति-रतीव दुर्लभा भवति । उक्तं च—

> कुलं च रूपं च यशश्च कीर्तिर्धनं च विद्या च सुखं च लक्ष्मीः ।
> आरोग्यमाज्ञेप्सितसप्रयोगो ह्येष्टवियोगोऽपि च दीर्घमायुः ॥
> स्वर्गश्च मोक्षश्च मयोपदिष्टा भावा इमेऽन्ये च जगत्प्रशस्ताः ।
> धर्मेण शक्या जगतीह लब्धुं, हिताय तं कर्तुमतोऽर्हसि त्वं ॥ [॥१८५६॥]

सहलं माणुसजम्मं तस्स हवदि जस्स चरणमणवज्जं ।
संसारदुक्खकारयकम्मागमदारसंरोधं ॥१८५७॥

'सहलं माणुसजम्मं' तस्य मनुष्यस्य जन्म सफलं भवति यस्य चरणमनवद्य । कीदृग ? ससारदुःख-सपादनोद्यतकर्मागमद्वारनिरोधकारी । अनेन चारित्रमिह शब्दो धर्मत्वेनोच्यत इत्याख्यात भवति ॥१८५७॥

जह जह णिव्वेदसमं वेरग्गदयादमा पवड्ढंति ।
तह तह अब्भासयरं णिव्वाणं होइ पुरिसस्स ॥१८५८॥

गा०—जो विषयरूपी वनमें इन्द्रियरूपी घोड़ोके द्वारा बलपूर्वक ले जाये जाकर चिरकालसे कुमार्गमे विहार करते हैं और एक दिन उन इन्द्रियरूपी घोड़ेसे उतरकर जिन भगवान्‌के द्वारा कहे मोक्षमार्गमें चलने लगते हैं वे धन्य है ॥१८५५॥

गा०-टी०—जो राग और द्वेषपूर्वक संसारके भोगोंमे फँसे हैं, स्वादरहित वीतराग धर्ममें उनकी रुचि होना अतिदुर्लभ है । कहा भी है—जिनेन्द्रदेवने कुल, रूप, यश, कीर्ति, धन, विद्या, सुख, लक्ष्मी, आरोग्य, इष्टसंयोग, अनिष्ट वियोग, दीर्घ आयु, स्वर्ग, मोक्ष तथा अन्य भी जगत्‌में प्रशस्त भाव कहे हैं । इस जगत्‌मे उन्हे धर्मके द्वारा प्राप्त करना शक्य है । अतः तुम अपने हितके लिये धर्माचरण करो ॥१८५६॥

गा०—संसारके दुःखोंको करनेमे समर्थ कर्मोंके आनेके द्वारको रोकनेवाला चारित्र जिसका निर्दोष है उसका मनुष्य जन्म सफल है । यहाँ धर्म शब्दसे चारित्र कहा है, इससे यह प्रकट होता है ॥१८५७॥

गा०—जैसे-जैसे मनुष्यमें वैराग्य, निर्वेद, उपशम, दया और चित्तका निग्रह बढ़ता है वैसे-वैसे मोक्ष निकट आता है ॥१८५८॥

यथा यथा निर्वेद उपशमो वैराग्यं दया चित्तनिग्रहश्च प्रवर्तते तथा तथा समीपतरं भवति निर्वाणं पुरुषस्य ॥१८५८॥

धर्मं स्तौति—

सम्मद्दंसणतुंबं दुवालसंगारयं जिणिंदाणं ।
वयणेमियं जगे जयइ धम्मचक्कं तवोधारं ॥१८५९॥

'सम्मद्दंसणतुंबं' सम्यग्दर्शनतुम्बं द्वादशाङ्गारकं व्रतनेमिकं तपोधारं जिनेन्द्राणां धर्मचक्रं जगति जयति ॥१८५९॥ धम्मं ।

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा कथ्यते—

दंसणसुदतवचरणमइयम्मि धम्मम्मि दुल्लहा बोही ।
जीवस्स कम्मसत्तस्स संसरंतस्स संसारे ॥१८६०॥

'दंसणसुदतवचरणमइयम्मि' दर्शनश्रुततपश्चरणमये धर्मे दुर्लभा बोधिर्जीवस्य कर्मसक्तस्य संसारे संसरत ॥१८६०॥

तस्या दुर्लभतां प्रकटयत्युत्तरप्रबन्धेन—

संसारम्मि अणंते जीवाणं दुल्लहं मणुस्सत्तं ।
जुगसमिलासंजोगो जह लवणजले समुद्दम्मि ॥१८६१॥

'संसारम्मि अणंते' अनन्तसंसारे जीवानां मनुष्यत्वं दुर्लभं पूर्वापरसमुद्रनिक्षिप्तयुगतत्संबंधिकाष्ठ-संयोग इव ॥१८६१॥

गा०—जिनेन्द्रका धर्मचक्र जगत्में जयशील होता है। सम्यग्दर्शन उसकी नाभि है, द्वादशांग उसके अर हैं, व्रत नेमि है और तप धारा अर्थात् दूसरी नेमि है ॥१८५८॥

विशेषार्थ—जसे गाड़ीके चक्केमें अर होते है, बीचमे उसकी नाभि होती है। उसी प्रकार जिनेन्द्रके धर्मचक्रकी नाभि सम्यग्दर्शन है। द्वादशागवाणी या बारह तप उसके डण्डे हैं। और व्रत नेमि है। इनके आधारपर वह धर्मचक्र गतिशील होता है ॥१८५९॥

धर्मानुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ।

अब बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

गा०—संसारमें भटकते हुए कर्मलिप्त जीवके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् तपश्चरणमयी धर्ममें बोधि अर्थात् रत्नत्रयकी प्राप्ति दुर्लभ है ॥१८६०॥

आगे उसकी दुर्लभता बतलाते है—

गा०—जैसे लवणसमुद्रके पूर्व भागमें जुआ और पश्चिम भागमें उसकी लकड़ी डाल देनेपर दोनोंका संयोग दुर्लभ है। उसी प्रकार अनन्त संसारमें मनुष्य भवका पाना दुर्लभ है ॥१८६१॥

मनुजताया दुर्लभत्वे कारणमाह—

असुहपरिणामबहुलत्तणं च लोगस्स अदिमहल्लत्तं ।
जोणिबहुत्तं च कुणदि सुदुल्लहं माणुसं जोणी ॥१८६२॥

'असुहपरिणामबहुलत्तणं च' अशुभपरिणामानां मिथ्यात्वासंयमकषायप्रमादानां परिणामानां बहुत्वं मनुजयोनिदुर्लभतां करोति । मनुजरहितलोकस्यातिमहत्त्वं च तत् दुर्लभतां करोति । असंख्येया हि द्वीपसमुद्रका नारकावासा, स्वर्गपटलानि, इतरच्च लोकाकाशमतिमहत् । योनीनां बहुत्वं चेतरासां निबन्धनं तद्दुर्लभतायाः ॥१८६२॥

अपरामपि दुर्लभतापरम्परां दर्शयत्युत्तरगाथा—

[1]देसकुलरूवमारोग्गमाउगं बुद्धिसवणगहणाणि ।
लद्धे वि माणुसत्ते ण हुंति सुलभाणि जीवस्स ॥१८६३॥

'देसकुलरूवमारोग्गं' देशकुलरूपमारोग्यं । आयुगमायुष्कं । 'बुद्धिसवणगहणाणि' बुद्धिश्रवणग्रहणानि । लब्धेऽपि मनुष्यत्वे मनुष्यगतिनामकर्मोदयात्, जिनप्रणीतधर्मप्रगल्भमानवबहुलो देशो दुर्लभः । अन्तर्द्वीपानां शकयवनकिरातबर्बरपारसीकसिंहलादिदेशानां धर्मज्ञमानवरहितानामतिबहुलत्वात् । लब्धेऽपि देशे सुजनावामे

मनुष्य पर्यायकी दुर्लभताका कारण कहते है—

गा०-टी०—मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और प्रमादरूप अशुभ परिणामोंकी बहुतायतक कारण मनुष्य योनि दुर्लभ है । तथा मनुष्य रहित लोक अतिमहान् है इसमें भी मनुष्ययोनि दुर्लभ हो क्योंकि असंख्यात द्वीप समुद्रो तक तो नरकावास है, ऊपर स्वर्गपटल। शेष लोकाकाश भी महान् है । तथा जीवोंकी योनियां बहुत हैं । इससे भी मनुष्य योनि दुर्लभ है ॥१८६२॥

विशेषार्थ—लोकके मध्यमे पैतालीस लाख योजन प्रमाण क्षेत्र ही मनुष्य लोक है । अढ़ाई द्वीपकेबाहर सब तिर्यञ्च ही रहते हैं । नारकी रहते हैं । ऊपर देव रहते हैं । तथा जीवोंकी योनियाँ भी बहुत हैं इसके साथ ही अशुभ परिणामोंकी भी बहुलता है । शुभ परिणाम होनेसे ही मनुष्यगतिमें अच्छा क्षेत्र, जाति, कुल आदि उपलब्ध होते है तभी तो मनुष्य होकर धर्मलाभ हो सकता है । मनुष्य पर्याय भी पाई किन्तु देश, कुल, जाति ठीक नही मिले तो मनुष्य पर्याय पाकर भी क्या लाभ हुआ । अतः धर्मसाधनके योग्य मनुष्य पर्याय दुर्लभ है ॥१८६२॥

आगे और भी दुर्लभताके कारण कहते है

गा०—जीवके मनुष्य पर्याय प्राप्त करने पर भी देश, कुल, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, श्रवण, ग्रहण सुलभ नहीं हैं ॥१८६३॥

टी०—मनुष्यगति नाम कर्मके उदयसे मनुष्यपर्याय पानेपर भी जिन भगवान्‌के द्वारा कहे गये धर्ममें दक्ष मनुष्योंसे भरा हुआ देश प्राप्त होना दुर्लभ है । क्योंकि धर्मके ज्ञाता मनुष्योंसे रहित अन्तर्द्वीप तथा शक, यवन, किरात, बर्बर, पारसीक और सिंहल आदि देश अनेक हैं ।

---

१. 'देसकुल जाइ रूवं, आरोग्गं आउगं च पुण्णं च ।
बुद्धिसवणग्गहणाणि लद्धे णरत्तंहि दुल्लहं होई ॥' –आ० ।

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यादिकं कुलं दुरधिगमनीयं सुकुला[1]नामल्पत्वात् असकृन्नीचैर्गोत्रबन्धनात्। मिथ्यात्वोदयात् प्रायेण प्राणिनो गुणान् गुणिजनं च निन्दन्त्याक्रोशन्ति, निर्गुणोऽपि कुलाभिमानमतिमहदुद्वहति, तेन नीचैर्गोत्रमुपचिनोति, गुणे गुणिजने चानुरागः कुलाभिमानतिरस्करणं वा कदाचिदेव भवति इति शोभनं कुलं कदाचिदेव लभ्यते। चारित्रमोहोदयात् षड्जीवनिकायबाधाकरणे सततमुद्यतः तदीयरूपशोभोन्मूलनसंपादनेनोपार्जितेनाशुभरूपनामकर्मणा विरूपो बहुशो भवति। जीवदयां कदाचिदेव क्वचिदेव करोति। प्रशस्तरूपनामकर्मलभ्यं सौरूप्यमपि क्लेशेन लभ्यते। परजीवसंतापकरणे कृतोत्साहः सर्वदैवेति रोगी भवति बहुशः, परसंतापपरिहारं वैयावृत्यं च कदाचिदेव करोति। इति नीरोगता[?]ि कादाचित्की दुर्लभा। परेषां प्रायेणायुर्निहन्तीति स्वल्पायुरेवायं जनो जायते। कदाचिदेवाहिंसाव्रतपरिपालनाच्चिरंजीविता सदा न लभ्यते। समीचीनज्ञानिजनदूषणात् तन्मात्सर्यात् तद्विघ्नकरणात्तदासादनाच्चक्षुरादीन्द्रियोपघातकरणाच्च मतिश्रुतज्ञानावरणे वराको बध्नातीति दुर्मेधा भवति। बहुषु जन्मशतसहस्रेषु मतिश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमात् शुभपरिणामोपनीतात् कदाचिदेव विवेककारिणी बुद्धिर्भवति। सत्यामपि बुद्धौ हिताहितविचारणक्षम धर्मश्रवणमतिदुर्लभ, यतीना विरागद्वेषाणां, समीचीनज्ञानप्रकाशनोन्मूलितदुर्भेद्यमोहान्धतानां, अशेषजीवनिकायदयाक्रियोद्यताना असौलभ्यात्, तीव्रमिथ्यादर्शनोपनीतगुणिजनद्वेषेण मिथ्याज्ञानलवलाभदुर्विदग्धतया स्वगृहीततत्त्वपरवशतया आलस्येन वा यतीना

धर्मज्ञजनोसे बसा हुआ देश मिलनेपर भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि कुल मिलना कठिन है क्योंकि अच्छे कुल बहुत कम है। और इसका कारण यह है कि जीवोंके निरन्तर नीच गोत्रका बन्ध हुआ करता है। मिथ्यात्वके उदयसे प्रायः प्राणी गुणों और गुणीजनोकी निन्दा करते हैं, उनके सम्बन्धमें बका करते हैं। गुणहीन भी अपने कुलका नव अभिमान रखते हैं। उससे वे नीच गोत्रका बन्ध करते है। गुणोंमें और गुणोजनोंमें अनुराग तथा कुलके अभिमानका तिरस्कार कम ही देखा जाता है। इसलिये जीवोंको अच्छा कुल कम ही मिलता है। चारित्रमोहके उदयसे जीव छह कायके जीवोंको बाधा देनेमें निरन्तर लगे रहते हैं वे उनके रूपकी शोभाको विनष्ट करते हैं। उससे उपार्जित अशुभ नामकर्मसे जीव अधिकतर विरूप होते हैं। जीवोंपर दया कम ही लोग करते हैं। अतः प्रशस्त रूपनामकर्मके द्वारा प्राप्य सुन्दर रूप भी बड़े कष्टसे प्राप्त होता है। प्राणी सर्वदा दूसरे जीवोको संताप देनेका उत्साह रखते हैं। इसलिये अधिकतर रोगी होते हैं। दूसरोंका कष्ट दूर करनेवाली वैयावृत्य कम ही करते हैं। इसलिये नीरोगता भी दुर्लभ है। प्राणी प्रायः दूसरोंकी आयुका घात करते हैं उन्हे मार देते है। इससे वे अल्प आयुवाले होते हैं। कदाचित् ही अहिंसाव्रतका पालन करनेसे चिरजोवि होते है, सदा चिरजीवी नहीं होते। सच्चे ज्ञानिजनोंको दूषण लगानेसे, उनसे डाह करनेसे, उनके ज्ञानाराधनमें विघ्न डालनेसे, उनकी आसादना करनेसे तथा चक्षु आदि इन्द्रियोंका घात करनेसे प्राणो मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्मोंका बन्ध करनेसे बुद्धिहीन होते हैं। लाखों जन्मोंमेंसे कुछ ही जन्मोंमें शुभपरिणामवश मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेसे विवेकशील बुद्धि प्राप्त होती है। बुद्धि प्राप्त होनेपर भी हित अहितके विचारमे समर्थ धर्मका सुनना दुर्लभ है। क्योकि रागद्वेषसे रहित, सच्चे ज्ञानके प्रकाशनसे दुर्भेद्य मोहान्धकारका उन्मूलन करनेवाले और समस्त जीवोपर दया करनेवाले मुनिगण दुर्लभ हैं। तथा तीव्र मिथ्यादर्शनके कारण गुणीजनोंसे द्वेष करनेवाले या थोडा-सा मिथ्याज्ञान प्राप्त करके अपनेको बड़ा विद्वान् माननेवाले या अपने जाने हुए तत्त्वके

---

१. नामसुलभत्वात् –आ०।

स्वपरोद्धरणप्रवीणतापरिज्ञानाच्च न ढौकते यतिजनमिति धर्मश्रवणस्य दुर्लभता। कदाचिदेव पापोपशमाद्यति-जनामु[1] ढौकनेऽपि नयपुरस्सरे संप्रश्ने प्रशस्तवागनुयायिनि गुरुजने चाभिमुखे सति श्रवणं भवतीति दुर्लभता श्रवणस्य। किञ्च यतिजननिकेतनमुपगतोऽपि यदृच्छया निद्राति, स्वयं परेषां यत्किंचिदसारं वदति, मुग्धानां वा वचनं श्रृणोति न विनयेन ढौकत इति वा दुर्लभं श्रवणं। श्रुतेऽपि धर्मे तत्परिज्ञानमतिदुर्लभं श्रुतज्ञाना-वरणोदयात्। दुःकरत्वं मनःप्रणिधानस्य कदाचिदप्यश्रुतपूर्वत्वात्, सूक्ष्मत्वाच्च जीवादितत्त्वस्य। श्रुतज्ञाना-धिकरणे क्षयोपशमे मनःप्रणिधानं वक्तुर्वचनसौष्ठवं चेति सकलमिदमसुलभमिति धर्मज्ञानं दुर्लभं। ज्ञातेऽपि धर्मे अस्ति धर्मो जीवपरिणामसम्यक्त्वज्ञानचरणतपोदानपूजात्मकोऽभ्युदयनिश्रेयसफलदायी जिनैर्व्यावर्णितरूप-इति श्रद्धानं न सुखेन लभ्यते, दर्शनमोहोदयात्। उपदेशकालकरणलब्धयश्च कादाचित्का इति ॥१८६३॥

लद्धेसु वि तेसु पुणो बोधी जिणसासणम्मि ण हु सुलहा।
कुपधाकुलो य लोगो जं बलिया रागदोसा य ॥१८६४॥

'लद्धेसु वि तेसु पुणो' लब्धेष्वपि तेषु मनुजभवादिषु बोधिर्दीक्षाभिमुखा बुद्धिर्न सुलभा प्रबलत्वात्सं-यमघातिकर्मणः। कुमार्गाकुलत्वात् लोकस्य बहूनामाचरणमेव प्रमाणयन् यत्किंचनाचरति, बलवन्तश्च रागद्वेषा ज्ञानश्रद्धानोपेतमपि न सन्मार्गं ढौकितुं ददति ॥१८६४॥

परवश मनुष्योंके कारण या यतिगणके आलस्यसे अथवा अपना और दूसरोंका उद्धार करनेमें दक्ष न होनेसे यतिजन भी नहीं आते हैं इससे भी धर्मश्रवणकी दुर्लभता है। कदाचित् पापका उपशम होनेसे यतिजनके पधारनेपर भी विनयपूर्वक प्रश्न करनेपर और प्रशस्त वचन बोलनेवाले गुरुके सन्मुख होनेपर धर्म सुननेको मिलता है इसलिये धर्मश्रवणकी दुर्लभता है। अथवा मुनिगणके वास स्थानपर जाकर भी सोता है स्वयं जो कुछ असार वचन बोलता है या मूर्खों के वचन सुनता है, विनय पूर्वक बर्ताव नहीं करता। इससे भी धर्म श्रवण दुर्लभ है।

धर्म सुननेपर भी श्रुतज्ञानावरणका उदय होनेसे उसको समझना अतिदुर्लभ है। तथा समझनेपर भी उसमें मन लगाना दुष्कर है क्योंकि पहले कभी नहीं सुना था। तथा जीवादि तत्त्व भी सूक्ष्म है। श्रुतज्ञानका क्षयोपशम, मनका लगना, वक्ताका वचन सौष्ठव ये सब दुर्लभ होनेसे धर्मज्ञान दुर्लभ है, धर्मका ज्ञान होनेपर भी 'जिन भगवान्‌के द्वारा कहा हुआ स्वर्ग और मोक्षरूप फलको देनेवाला, जीवके सम्यक्त्व, ज्ञान चारित्र तप दान पूजा भावरूप धर्म है' ऐसा श्रद्धान दुर्लभ है क्योंकि जीवोंके दर्शनमोहका उदय रहता है। उपदेशलब्धि, काललब्धि और करणलब्धि भी सदा नहीं होती, कदाचित् ही होती है ॥१८६३॥

गा०-टी०—मनुष्यभव आदिके प्राप्त होनेपर भी बोधि अर्थात् जिन दीक्षाकी ओर अभिमुख बुद्धिका होना सुलभ नहीं है क्योंकि जीवोंके संयमको घातनेवाला कर्म प्रबल होता है। तथा यह लोक मिथ्यामतोंसे भरा है। अतः बहुत लोग जिस धर्मका आचरण करते हैं उसे ही प्रमाण मानकर जो कुछ मनमें आता है, करते हैं। रागद्वेषके बलवान होनेसे ज्ञान और श्रद्धानसे युक्त भी मनुष्य सन्मार्गपर नहीं चलता ॥१८६४॥

---

१. नुपढौकते विनय —आ०।

इय दुल्लहाए बोहीए जो पमाइज्ज कह वि लद्धाए।
सो उल्लहइ दुक्खेण रदणगिरिसिहरमारुहिय ॥१८६५॥

'इय दुल्लहाए बोहीए' उक्तेन क्रमेण दुर्लभायां दीक्षाभिमुखायां बुद्धौ लब्धायामपि यः प्रमाद्यत्यसौ रत्नगिरिशिखरमारुह्य ततः पतति प्रमादी ॥१८६५॥

फिडिदा संती बोधी ण य सुलहा होइ संसरंतस्स।
पडिदं समुद्दमज्झे रदणं व तमंधयारम्मि ॥१८६६॥

'फिडिदा संती' बोधिर्विनष्टा सती दीक्षाभिमुखा बुद्धिः पुनर्न सुलभा भवति संसरतः। अन्धकारे समुद्रमध्ये पतितं रत्नमिव ॥१८६६॥

ते धण्णा जे जिणवरदिट्ठे धम्मम्मि होंति संबुद्धा।
जे य पवण्णा धम्मं भावेण उवट्ठिदमदीया ॥१८६७॥

स्पष्टोत्तरा गाथा। बोधित्ति ॥१८६७॥

प्रस्तुतमर्थमुपसहरति—

इय आलंबणमणुपेहाओ धम्मस्स होंति ज्झाणस्स।
ज्झायंतो ण वि णस्सदि ज्झाणे आलंबणेहिं मुणी ॥१८६८॥

'इय आलंबणं' एवमालम्बनं भवन्त्यनुप्रेक्षा धर्मध्यानस्य। ध्याने प्रवृत्तो न विप्रणश्यति ध्याननिमित्तालम्बनेभ्यो यति। यो हि यद्वस्तुस्वरूपे प्रणिहितचित्तः सततं वस्तुयाथात्म्यान्न प्रच्यवते तस्याविस्मरणात् ॥१८६८॥

गा०—इस प्रकार उक्त क्रमानुसार दीक्षाके अभिमुख दुर्लभ बुद्धि प्राप्त होनेपर भी जो प्रमाद करता है वह प्रमादी सुमेरुके शिखरपर चढ़कर भी उससे गिरता है ॥१८६५॥

गा०—जैसे अन्धकारमें समुद्रके मध्यमें गिरा रत्न पाना दुर्लभ है वैसे ही एक बार प्राप्त होकर नष्ट हुई दीक्षाभिमुख बुद्धिरूप बोधि संसारमें भ्रमण करनेवाले जीवको प्राप्त होना दुर्लभ है ॥१८६६॥

गा०—जो जिन भगवान्‌के द्वारा उपदिष्ट धर्ममें प्रबुद्ध होते हैं वे धन्य हैं। तथा जो दीक्षाभिमुख बुद्धिको प्राप्त करके भावपूर्वक धर्मको अपनाते हैं वे तो महाधन्य हैं ॥१८६७॥

बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ।

प्रस्तुत चर्चाका उपसंहार करते हैं—

गा०—इस प्रकार अनुप्रेक्षा धर्मध्यानका आलम्बन होती है। ध्यान करनेवाला साधु ध्यानमें निमित्त आलम्बनोंका आश्रय लेनेसे ध्यानसे च्युत नहीं होता। जो जिस वस्तुके स्वरूपमें अपने मनको लगाता है वह उस वस्तुके यथार्थस्वरूपसे च्युत नहीं होता, क्योंकि वह उसे भूलता नहीं है ॥१८६८॥

ध्यातुरालम्बनबाहुल्यं दर्शयत्युत्तरा गाथा—

आलंबणं च वायण पुच्छणपरिवट्टणाणुपेहाओ ।
धम्मस्स तेण अविरुद्धाओ सव्वाणुपेहाओ ॥१८६९॥
आलंबणेहिं भरिदो लोगो झाइदुमणस्स खवयस्स ।
जं जं मणसा पिच्छदि तं तं आलंबणं हवइ ॥१८७०॥

'धम्मस्स आलंबणेहिं भरिदो' ध्यानस्यालम्बनैः पूर्णो लोको ध्यातुकामस्य क्षपकस्य यद्यन्मनसा पश्यति तत्तदालम्बनं भवति ॥१८६९॥१८७०॥

धर्मध्यानं व्याख्याय ध्यानान्तरं व्याख्यातुमुत्तरप्रबन्धः—

इच्चेवमदिक्कंतो धम्मज्झाणं जदा हवइ खवओ ।
सुक्कज्झाणं झायदि तत्तो सुविसुद्धलेस्साओ ॥१८७१॥

'इच्चेवमदिक्कंतो' धर्मध्यानमेव व्यावर्णितरूपमतिक्रान्तो यदा भवेत् क्षपकः शुक्लध्यानमसौ ध्याति सुविशुद्धलेश्यासमन्वितः । परिणामश्रेण्या हि उत्तरोत्तरानुगुणतया स्थितः क्रमेणैव प्रवर्तते । न हि प्रथमे सोपानेऽस्थापितचरणः द्वितीयादिकं सोपानमारोढुं प्रभवति । एवमप्रमत्तो धर्मध्याने प्रवृत्त एव शुक्लध्यान-मर्हतीति सूत्रेणानेन ज्ञापितं ॥१८७१॥

चतुर्विधशुक्लध्यानं नामतो दर्शयति गाथाद्वयम्—

ज्झाणं पुधत्तसवितक्कसवीचारं हवे पढमसुक्कं ।
सवितक्केक्कत्तावीचारं ज्झाणं विदियसुक्कं ॥१८७२॥

आगेकी गाथासे ध्यान करनेवालेके अनेक आलम्बन बतलाते हैं—

गा०—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना तथा अनुप्रेक्षाएँ नामक स्वाध्याय धर्मध्यानके आलम्बन हैं। अतः सब अनुप्रेक्षा धर्मध्यानके अनुकूल आलम्बन हैं अर्थात् उनको लेकर धर्मध्यान किया जाता है ॥१८६९॥

ध्यान करनेके इच्छुक क्षपणके लिये यह लोक आलम्बनोंसे भरा हुआ है। वह मनको जिस ओर लगाता है वही आलम्बन हो जाता है ॥१८७०॥

धर्मध्यानका कथन करके शुक्लध्यानका कथन करते हैं—

गा०-टी०—इस प्रकार ऊपर कहे धर्मध्यानको जब क्षपक पूर्ण कर लेता है तब वह अति विशुद्ध लेश्याके साथ शुक्लध्यानको ध्याता है। क्योंकि परिणामोंकी पंक्ति उत्तरोत्तर निर्मलताको लिये हुए स्थित है अतः वह क्रमसे ही होती है। जिसने पहली सीढ़ीपर पैर नहीं रखा वह दूसरी सीढ़ीपर नहीं चढ़ सकता। अतः धर्मध्यानमें परिपूर्ण हुआ अप्रमत्त संयमी ही शुक्लध्यान करनेमें समर्थ होता है, यह बात इस गाथाके द्वारा कही है ॥१८७१॥

आगे दो गाथाओंके द्वारा चार प्रकारके शुक्लध्यानोंके नाम कहते हैं—

गा०—पहला शुक्लध्यान पृथक्त्व सवितर्क सविचार नामक है। दूसरा शुक्लध्यान सवितर्क एकत्व अविचार नामक है ॥१८७२॥

'पढमं सुक्कं पुधत्तसवितक्कसवीचारं' ध्यानं पृथक्त्वसवितर्कसवीचारं प्रथमशुक्लं भवति । 'सवितक्केक्कत्तावीचारं' सवितर्कैकत्वावीचारं द्वितीयं शुक्लध्यानं ॥१८७२॥

> सुहुमकिरियं तु तदियं सुक्कज्झाणं जिणेहिं पण्णत्तं ।
> बेंति चउत्थं सुक्कं जिणा समुच्छिण्णकिरियं तु ॥१८७३॥

'सुहुमकिरियं तु तदियं' तृतीयं शुक्लध्यानं जिनैः प्रज्ञप्तं सूक्ष्मक्रियमिति । 'बेंति चउत्थं सुक्कं' ब्रुवते चतुर्थं शुक्लं जिनाः समुच्छिन्नक्रिय ॥१८७३॥

पृथक्त्वसवितर्कसवीचारं व्याचष्टे गाथात्रयेण—

> दव्वाइं अणेयाइं तीहिं वि जोगेहिं जेण ज्झायंति ।
> उवसंतमोहणिज्जा तेण पुधत्तं त्ति तं भणिया ॥१८७४॥

'दव्वाइं अणेयाइं तीहिं वि जोएहिं जेण ज्झायंति' द्रव्याण्यनेकानि त्रिभिर्योगैः परावर्तमाना येन चिन्तयन्त्युपशान्तमोहनीयास्तेन पृथक्त्वमिति प्रथमध्यानमुक्तम्, एतदर्थं कथयति—अन्यदन्यद्द्रव्यमवलम्ब्य प्रवृत्तेनान्येनान्येन योगेन प्रवृत्तस्यात्मनो भवतीति पृथक्त्वव्यपदेशो ध्यानस्येति ॥१८७४॥

> जम्हा सुदं वितक्कं जम्हा पुव्वगदअत्थकुसलो य ।
> ज्झायदि ज्झाणं एदं सवितक्कं तेण तं झाणं ॥१८७५॥

'जम्हा सुदं वितक्कं' यस्मात् श्रुतं वितर्कं यस्मात् पूर्वगतार्थकुशलो ध्यानमेतत्प्रवर्तयति । तेन तत् ध्यानं सवितर्कं । चतुर्दशपूर्वाणां श्रुतत्वात्तदुपदिष्टोऽर्थः साहचर्यात् वितर्कशब्देनोच्यते । तेन वितर्केणार्थश्रुतेन

गा०—जिन भगवान्‌ने तीसरा शुक्लध्यान सूक्ष्मक्रिय कहा है और चतुर्थ शुक्ल समुच्छिन्नक्रिय कहा है ॥१८७३॥

आगे तीन गाथाओंसे पृथक्त्व सवितर्क सविचारका कथन करते हैं—

गा०—उपशान्त मोहनीय गुणस्थानवाले यतः तीन योगोंके द्वारा अनेक द्रव्योंको बदल बदलकर ध्यान करते हैं इससे इसे पृथक्त्व कहते हैं ॥१८७४॥

विशेषार्थ—प्रथम शुक्लध्यानका नाम पृथक्त्व है क्योंकि इसमें योगपरिवर्तनके साथ ध्येयका भी परिवर्तन होता रहता है इसलिये इसको पृथक्त्व कहते हैं। धर्मध्यान और शुक्लध्यानके स्वामियोंको लेकर मतभेद पाया जाता है। तत्त्वार्थसूत्रमें श्रेणीसे नीचे धर्मध्यान और श्रेणीमें शुक्लध्यान कहा है। श्रेणि आठवें गुणस्थानसे प्रारम्भ होती है। अतः आठवेंसे ही पृथक्त्व शुक्लध्यान कहा है। किन्तु यहाँ ग्यारहवें गुणस्थानमें पृथक्त्व शुक्लध्यान कहा है। श्वेताम्बर परम्परामें भी ऐसा ही माना गया है। वीरसेन स्वामीने धवला टीका (१३, पृ० ७४) में भी ऐसा ही लिखा है। उनका कथन है कि कषायसहित जीवोंके धर्मध्यान होता है और कषायरहित जीवोंके शुक्लध्यान होता है। क्योंकि कषायका अभाव होनेसे ही उसका नाम शुक्लध्यान है। इस प्रथम शुक्लध्यानमें योगका और ध्येयका परिवर्तन होते रहनेसे इसे पृथक्त्व नाम दिया है ॥१८७४॥

गा०—टी०—यतः श्रुतज्ञानको वितर्क कहते है और यतः चौदह पूर्वोंमें आये अर्थमें कुशल

ध्येयेन सह वर्तत इति श्रुतज्ञानमेवावलम्ब्य सवितर्कमित्युच्यते । अथवा वितर्कशब्दः श्रुतं तद्धेतुत्वात् । श्रुतज्ञानं ध्यानसंज्ञितं सह कारणेन श्रुतेन वर्तत इति सवितर्कः ॥१८७५॥

अत्थाण वंजणाण य जोगाण य संकमो हु वीचारो ।
तस्स य भावेण तयं सुत्ते उत्तं सवीचारं ॥१८७६॥

'अत्थाण वंजणाण य जोगाण य संकमो हु वीचारो' अर्थानां ये व्यञ्जनाः शब्दास्तेषामिति, वैयधिकरण्येन सम्बन्धः, न पुनरर्थानां व्यञ्जनाना चेति समुच्चयः । अर्थपृथक्त्वस्य पृथक्त्वशब्देनोपादानात् । योगाना च संक्रमो वीचारः **'तस्स य भावेण'** वीचारस्य सद्भावेन । **'तयं'** तद्धि शुक्लध्यान सूत्रे सवीचारमित्युक्तं । **'अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला'** इत्येवमा[1]दिपरिमितानेकद्रव्यप्रत्यय[2]परमश्रुतवाक्योद्भूतं ध्यानमिति पृथग्भूतद्रव्यालम्बनत्वेन रूपेण एकद्रव्यालम्बनात् एकत्ववितर्काद्भिद्यते योगत्रयसहायत्वादेकयोगादविचाराद्द्वितीयध्यानाद्भिद्यते । उपशान्तमोहनीयस्वामिकत्वात् क्षीणकषायस्वामिकाद्ध्यानाद्भिद्यते । सवितर्कत्वेन अवितर्काभ्या तृतीयचतुर्थाभ्या विलक्षण । अत एव नामनिर्देशेनैव ध्यानान्तरविलक्षण पृथक्त्वसवितर्कसवीचारमिति लक्षणमुक्तं ॥१८७६॥

अर्थात् चौदह पूर्वों का ज्ञाता साधु ही इस शुक्लध्यानको ध्याता है इससे इस प्रथम शुक्लध्यानको सवितर्क कहते हैं । अर्थात् चौदह पूर्व श्रुतरूप होनेसे उनमें जो वस्तुविवेचन है उसको भी वितर्क शब्दसे कहते है । प्रथम शुक्लध्यानमे उस अर्थश्रुतरूप वितर्कका ध्यान किया जाता है इससे उसे सवितर्क कहते हैं । अथवा श्रुतका कारण होनेसे वितर्क शब्दका अर्थ श्रुत है । ध्यान श्रुतज्ञानकी संज्ञा है उसका कारण श्रुत है । तो अपने कारण श्रुतके साथ रहनेसे उसे सवितर्क कहते हैं॥१८७५॥

गा०-टी०—तथा अर्थोके वाचक जो शब्द हैं उनके संक्रम अर्थात् परावर्तन को और योगोंके परिवर्तनको विचार कहते हैं । 'अत्थाण वंजणाण य' का अर्थ अर्थो के और व्यंजनोंके परिवर्तनको वीचार कहते है इस प्रकारसे समुच्चयरूप नहीं लेना चाहिये क्योकि पृथक्त्व शब्दसे अर्थका पृथक्त्व ग्रहण किया है । इस वीचारके होनेसे इस शुक्लध्यानको आगममे सवीचार कहा है ।

'अजीवकायाः धर्माधर्माकाशपुद्गलाः' इत्यादि परिमित अनेक द्रव्योका ज्ञान करानेमें समर्थ श्रुतके वचनोंसे उत्पन्न हुआ यह ध्यान भिन्न-भिन्न द्रव्योंका आलम्बन करना है अतः एक ही द्रव्यका आलम्बन करनेवाले एकत्व वितर्क शुक्लध्यानसे भिन्न होना है । तथा पृथक्त्व वितर्क शुक्लध्यान तीनों योगोंकी सहायतासे होता है और एकत्ववितर्क एक ही योगकी सहायतासे होता है । इससे भी वह इससे भिन्न पड़ता है । पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यानका स्वामी उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती होता है और एकत्ववितर्कका स्वामी क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती होता है । इससे भी वह इससे भिन्न है । पृथक्त्ववितर्क वितर्क सहित होता है और तीसरा तथा चतुर्थ शुक्लध्यान वितर्क रहित होते हैं । अतः वह तीसरे और चतुर्थ शुक्लध्यानसे विलक्षण है । अतः पृथक्त्ववितर्क सवीचार नामसे ही अन्य ध्यानोंसे इसकी विलक्षणता प्रकट होती है । इस प्रकार प्रथम शुक्लध्यानका लक्षण कहा है ॥१८७६॥

---

१ माद्यपरि –आ० । २ यमपरश्रु –अ० मु० । –मादिपरिमितानेकद्रव्य प्रत्यायनपरश्रुत–मूलारा० ।

जेणेगमेव दव्वं जोगेणेगेण अण्णदरगेण ।
खीणकसाओ ज्झायदि तेणेगत्तं तयं भणियं ॥१८७७॥

'जेणेगमेव दव्वं जोगेणेगेण अण्णदरगेण' येनैकमेव द्रव्यं अन्यतरेण योगेनैकेन सह वृत्तः, क्षीणकषायो ध्याति तेनैकत्वं तद्भणितं एकद्रव्यालम्बनत्वात् । अन्यतरयोगवृत्तेरेवात्मन उत्पत्तेरेकत्वं ध्यानं क्षीणकषायस्वामिकं भवेत् ॥१८७७॥

जम्हा सुदं वितक्कं जम्हा पुव्वगदअत्थकुसलो य ।
ज्झायदि ज्झाणं एवं सवितक्कं तेण तं ज्झाणं ॥१७७८॥
अत्थाण वंजणाण य जोगाणं संकमो हु वीचारो ।
तस्स अभावेण तयं झाणं अविचारमिति वुत्तं ॥१८७९॥

एकद्रव्यालम्बनत्वेन [1]परिमितानेकसर्वपर्यायद्रव्यालम्बनात् प्रथमध्यानात्समस्तवस्तुविषयाभ्यां तृतीयचतुर्थाभ्यां च विलक्षणता द्वितीयस्यानया गाथया निवेदिता । क्षीणकषायग्रहणेन उपशान्तमोहस्वामिकत्वात् । सयोग्ययोगकेवलिस्वामिकाभ्यां च भेदः । सवितर्कता पूर्ववदेव । पूर्वव्यावर्णितवीचाराभावादवीचारत्व ॥१८७८–७९॥

विशेषार्थ—महापुराणके इक्कीसवें पर्वमें ध्यानका वर्णन करते हुए कहा है—अनेकपनेको पृथक्त्व कहते हैं और श्रुतको वितर्क कहते हैं। तथा अर्थ, व्यंजन और योगोंके परिवर्तनको वीचार कहते हैं। इन्द्रियोंको वशमें करनेवाला मुनि एक अर्थसे दूसरे अर्थको, एक वाक्यसे दूसरे वाक्यको और एक योगसे दूसरे योगको प्राप्त होता हुआ इस ध्यानको ध्याता है। यतः तीनों योगोंके धारक और चौदह पूर्वोंके ज्ञाता मुनिराज इस ध्यानको करते हैं अतः प्रथम शुक्लध्यान सवितर्क और सवीचार होता है। श्रुतस्कन्धरूपी समुद्रमे जितना वचन और अर्थका विस्तार है वह इस शुक्लध्यान में ध्येय होता है और इसका फल मोहनीय कर्मका उपशम या क्षय है। यह ध्यान उपशान्त मोह और क्षीणमोह गुणस्थानमें तथा उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणिके शेष गुणस्थानोंमें माना गया है ॥१८७६॥

गा०–टी०—दूसरे शुक्लध्यानका नाम एकत्ववितर्क है क्योंकि इसमें एक ही योगका अवलम्बन लेकर एक ही द्रव्यका ध्यान किया जाता है। अतः एक द्रव्यका अवलम्बन लेनेसे इसे एकत्व कहते हैं। यह ध्यान किसी एक योगमें स्थित आत्माके ही होता है। इसका स्वामी क्षीण कषाय गुणस्थानवर्ती मुनि होता है ॥१८७७॥

विशेषार्थ—यहाँ एक शब्दका अर्थ है 'प्रधान' और समस्त छह द्रव्योंमे प्रधान एक आत्मा ही है। सोमदेव उपासकाध्ययन (श्लोक ६२३) में कहा है—मनमें किसी विचारके न होते हुए जब आत्मा आत्मामें लीन होता है उसे निर्बीजध्यान कहते हैं। यह निर्बीजध्यान एकत्ववितर्क ही है। अतः एक द्रव्य और एक योगका अवलम्बन करनेसे प्रथम शुक्लध्यानसे भिन्न है ॥१८७७॥

गा०—यतः श्रुतको वितर्क कहते हैं और यतः चौदह पूर्वगत अर्थमें कुशल मुनि ही इस ध्यानका ध्याता है। इससे दूसरा शुक्लध्यान सवितर्क है। तथा अर्थ, व्यंजन और योगोंके परि-

---

१. नाम –आ० ।

तृतीयध्यानमाचष्टे—

अवितक्कमवीचारं सुहुमकिरियबंधणं तदियसुक्कं ।
सुहुमम्मि कायजोगे भणिदं तं सव्वभावगदं ॥१८८०॥

'**अवितक्कमवीचारं**' श्रुतानालम्बनत्वादवितर्कं स्वयं श्रुतज्ञानं भवतीति वा अवितर्कं। पूर्वमालम्बीकृतादर्थादर्थान्तरालम्बनत्वं नाम वीचारो नास्तीत्यविचारं। '**सुहुमकिरियबंधणं**' सूक्ष्मक्रियास्येति सूक्ष्मक्रियः आत्मसम्बन्धनमाश्रयोऽस्येति सूक्ष्मक्रियाबन्धनं तृतीयशुक्लं। '**सुहुमम्मि कायजोगे**' सूक्ष्मकाययोगे सति प्रवृत्तेः भणितं सूक्ष्मक्रियमिति। '**तं सव्वभावगदं**' तृतीयं शुक्लध्यानं त्रिकालगोचरानन्तसामान्यविशेषात्मकद्रव्यषट्कयुगपत्प्रकाशनस्वरूपं, द्रव्यषट्कसमस्तस्वरूपयुगपत्प्रकाशनमेकमग्रं मुखमस्येति एकमुखतापि विद्यत इति ध्यानशब्दस्यार्थोऽभिमुखे विद्यते। '**एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमित्यत्र**' सूत्रे चिंताशब्दो ज्ञानसामान्यवचनः। तेन श्रुतज्ञानं क्वचिद्ध्यानमित्युच्यते, क्वचित्केवलज्ञानं क्वचिच्छ्रुतज्ञानं क्वचिन्मतिज्ञानं मत्यज्ञानं वा, यतोऽविचलत्वमेव ध्यानं, ज्ञानस्य तस्याविचलत्वं साधारणं सर्वज्ञानोपयोगानां ॥१८८०॥

वर्तनको वीचार कहते है। उसके न होनेसे दूसरा शुक्लध्यान अवीचार कहा है ॥१८७८-७९॥

विशेषार्थ—प्रथम शुक्लध्यान परिमित अनेक द्रव्यो और पर्यायोंका अवलम्बन लेता है और दूसरा शुक्लध्यान एक ही द्रव्यका अवलम्बन लेता है। तथा तीसरे और चतुर्थ शुक्लध्यानोका विषय समस्त वस्तु है क्योकि केवलज्ञानका विषय सब द्रव्य और सब पर्याय है। अतः दूसरा शुक्लध्यान शेष तीनोंसे विलक्षण है। प्रथम शुक्लध्यानका स्वामी उपशान्तमोह होता है और दूसरेका क्षीणकषाय होता है तथा तीसरेका स्वामी सयोग केवली और चतुर्थका स्वामी अयोग केवली होता है। अतः स्वामीकी अपेक्षा भी दूसरा शुक्लध्यान शेष तीनोंसे भिन्न है। किन्तु प्रथम शुक्लध्यानकी तरह दूसरा भी सवितर्क है। और पूर्व कथित वीचारका अभाव होनेसे अवीचार है ॥१८७८-७९॥

अब तीसरे शुक्लध्यानका स्वरूप कहते हैं—

गा०-टी०—तीसरे शुक्लध्यानका आलम्बन श्रुत नही है अथवा वह स्वयं श्रुतज्ञानरूप होता है इसलिये वितर्कसे रहित होता है। पूर्वमें आलम्बन किये हुए अर्थको छोड़कर अर्थान्तरके आलम्बन करनेको वीचार कहते हैं। वह भी इसमे नही होता। अतः यह अवीचार है। इसमें श्वासोच्छ्वासादिक्रिया सूक्ष्म हो जाती है। तथा यह सूक्ष्मकाययोगके होनेपर होता है इसलिये इसे सूक्ष्मक्रिय कहते हैं। यह तीसरा शुक्लध्यान त्रिकालवर्ती अनन्त सामान्यविशेषात्मक धर्मोंसे युक्त छह द्रव्योंको एक साथ प्रकाशन करता है अतः सर्वगत है। एक साथ समस्त छह द्रव्योंके समस्त स्वरूपको प्रकाशन करना ही इसका एकमात्र मुख होनेसे ध्यानका लक्षण 'एकाग्रचिन्ता निरोधः' इसमे रहता है। एकाग्रचिन्तानिरोधमें चिन्ता शब्द ज्ञान सामान्यका वाचक है। अतः कही श्रुतज्ञानको ध्यान कहते हैं, कहीं केवलज्ञानको ध्यान कहते हैं, कहीं श्रुतअज्ञानको ध्यान कहते हैं कहीं मतिज्ञान या मतिअज्ञानको ध्यान कहते है। क्योंकि निश्चलताका ही नाम ध्यान है। अतः ज्ञानकी निश्चलता सब ज्ञानोपयोगोंमें साधारण है। आशय यह है कि ज्ञानकी निश्चलताका ही नाम ध्यान है। अतः ध्यानका यह लक्षण सब निश्चल ज्ञानोपयोगोंमें घटित होता है। केवलीका ध्यान केवल ज्ञान मूलक होता है। अतः वह तो सर्वथा निश्चल ही होता है। इससे सूक्ष्मक्रिय नामक ध्यानमें भी ध्यानका लक्षण घटित होता है ॥१८८०॥

सुहुमम्मि कायजोगे वट्टंतो केवली तदियसुक्कं ।
झायदि णिरुंभिदुं जे सुहुमत्तं कायजोगंपि ॥१८८१॥

'सुहुमम्मि कायजोगे' सूक्ष्मे काययोगे प्रवर्तमानः केवली तृतीयं शुक्लं ध्याति निरोद्धुं तमपि सूक्ष्मं वा काययोगं ॥१८८१॥

अवियक्कमवीचारं अणियट्टिमकिरियं च सीलेसिं ।
ज्झाणं णिरुद्धयोगं अपच्छिमं उत्तमं सुक्कं ॥१८८२॥

'अवियक्कमवीचारं' पूर्वोक्तवितर्कवीचाररहितत्वात् अवितर्कमवीचारं, 'अणियट्टिं' सकलकर्मसातनमकृत्वा न निवर्तत इत्यनिवर्ति। 'अकिरियं' समुच्छिन्नप्राणापानप्रचारसर्वकायवाङ्मनोयोगपरिस्पन्दनक्रियाव्यापारत्वात् अक्रियं। 'सीलेसिं' शीलानामीशः शीलेशः यथाख्यातचारित्रं। शीलेशस्य भावः शैलेश्यं, तत्सहचारि ध्यानमपि शैलेश्यं। 'णिरुद्धयोगं'। अपश्चिमं न विद्यते पश्चाद्भाविध्यानमस्मादित्यपश्चिमं। 'उत्तमं सुक्कं' परमं शुक्लं ॥१८८२॥

तं पुण णिरुद्धजोगो सरीरतियणासणं करेमाणो ।
सवण्हु अपडिवादी ज्झायदि ज्झाणं चरिमसुक्कं ॥१८८३॥

'तं पुण' तच्चतुर्थं शुक्लध्यानं। निरुद्धयोगः सर्वज्ञः अप्रतिपातिध्यानं ध्याति [1]शरीरत्रिकनाशं कुर्वन्,

---

गा०—अतः सूक्ष्मकाययोगमें स्थित केवली उस सूक्ष्म भी काययोगको रोकनेके लिये तीसरा शुक्लध्यान ध्याता है ॥१८८१॥

गा०-टी०—यह तीसरा शुक्लध्यान पूर्वोक्त वितर्क और वीचारसे रहित होनेसे अवितर्क और अवीचार होता है। समस्त कर्मोंको नष्ट किये बिना समाप्त नहीं होता इसलिये अनिवर्ति है। इसमें प्राण अपान श्वास उच्छ्वासका प्रचार, समस्त काययोग मनोयोग वचन योगरूप हलन-चलन क्रियाका व्यापार नष्ट हो जाता है। इसलिये यह अक्रिय है। शीलोंके स्वामीको शीलेश कहते हैं। उसके भावको शैलेशीभाव कहते हैं वह है यथाख्यात चारित्र। उसके साथ होनेवाले ध्यानको भी शैलेशी कहा है। उससे सब कर्मोंका आस्रव रुक जाता है अतः उसे निरुद्धयोग कहा है। इसके अनन्तर कोई ध्यान नहीं होता इससे इसे अपश्चिम कहा है। तथा यह परम शुक्लध्यान है ॥१८८२॥

विशेषार्थ—शैलेशीभाव से यथाख्यात चारित्र लिया है किन्तु यथाख्यात चारित्र तो ग्यारहवें बारहवें गुणस्थानमें भी होता है किन्तु उसे शैलेशी नहीं कहा। क्योंकि शैलेशीपना तीसरे शुक्लध्यानकी अवस्थासे पहले नहीं होता, इसका कारण है कर्मोंका आस्रव होना। तथा तीसरेके पश्चात् भी चतुर्थ शुक्लध्यान होता है फिर भी तीसरेको विवक्षा भेदसे अपश्चिम कहा है ॥१८८२॥

गा०—काययोगका निरोध करके अयोग केवली औदारिक तैजस और कार्मण शरीरों

1. रक्षिमना—आ०।

अयोगात्मपरिणामः केवलज्ञानं चतुर्थशुक्लं, तृतीयं तु सूक्ष्मकाययोगात्मपरिणामः केवलमिति भेदस्तृतीय-चतुर्थयोः ॥१८८३॥

इय सो खवओ ज्झाणं एयग्गमणो स'मस्सिदो सम्मं ।
विउलाए णिज्जराए वट्टदि गुणसेढिमारूढो ॥१८८४॥

'इय सो खवगो' एवमसौ क्षपकः, एकाग्रचित्तः सम्यग्ध्यानं समाश्रित्य विपुलाया कर्मनिर्जराया वर्तते. 'गुणसेढिमारूढो' गुणश्रेणीमारूढः उपशान्तकषायादिका ॥१८८४॥

ध्यानमहात्म्यस्तवनार्थं उत्तरप्रबन्धः—

सुचिरं वि संकिलिट्ठं विहरंतं झाणसंवरविहूणं ।
ज्झाणेण संवुडप्पा जिणदि अंतोमुहुत्तेण ॥१८८५॥

'सुचिरमवि संकिलिट्ठं विहरंतं' पूर्वकोटिकाल देशोन क्लेशसहितचारित्रोद्यत 'ज्झाणसंवरविहूण' ध्यानाख्येन संवरेण विहीन । 'जिणदि' जयति । क ? '[2]आहोरत्तमेत्तेण झाणेण संवुडप्पा' अहोरात्रमात्रेण ध्यानेन संवृतात्मा ॥१८८५॥

एवं कसायजुद्धंमि हवदि खवयस्स आउधं झाणं ।
ज्झाणविहूणो खवओ [3]रंगेव अणाउहो मल्लो ॥१८८६॥

का नाश करता हुआ अन्तिम शुक्ल ध्यानको ध्याता है। सूक्ष्मकाय योग रूप आत्म परिणाम वाला सयोगकेवली तीसरे शुक्ल ध्यानको ध्याता है और अयोगरूप आत्मपरिणाम वाला अयोगकेवली चतुर्थ शुक्ल ध्यानको ध्याता है। यह तीसरे और चतुर्थ शुक्ल ध्यान में भेद है ॥१८८३॥

विशेषार्थ—महापुराणमें कहा है—तीसरेके पश्चात् योगका निरोध करके आस्रव से रहित अयोगकेवली समुच्छिन्न क्रिय अनिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यानको ध्याता है। एक अन्तर्मुहूर्त काल तक अतिनिर्मल उस ध्यानको करके शेष चार अघातिकर्मोंका विनाशकर मोक्षको प्राप्त होता है। अयोगकेवलीके उपान्त्य समय में बासठ और अन्तिम समय में तेरह प्रकृतियाँ नष्ट हो जाती है। उसके पश्चात् वह शुद्धात्मा ऊर्ध्वगमन स्वभावके कारण एक ही समयमें लोकके अन्त पर्यन्त जाकर सिद्धालयमें विराजमान हो जाता है ॥१८८३॥

गा०—इस प्रकार वह क्षपक एकाग्रमन से सम्यक् ध्यान को ध्याकर उपशान्त कषाय आदि गुण स्थानों की श्रेणि पर आरूढ़ होकर विपुल कर्म निर्जरा करता है ॥१८८४॥

आगे ध्यानके माहात्म्यको कहते हैं—

गा०—एक अन्तर्मुहूर्त मात्र या एक दिन रात मात्र ध्यान रूप संवरसे युक्त मुनि, कुछ कम एक पूर्व कोटि काल तक ध्यानरूप संवरसे रहित तथा संक्लेशसहित चारित्र का पालन करने वाले साधुसे श्रेष्ठ है ॥१८८५॥

---

१. समण्णिदो —अ० । २. अहोरत्तमित्तेण अन्तोमुहूर्तेन कर्म जयति । अहोरात्रमात्रेण झाणेण संपुडप्पा ध्यानेन संवृतात्मा कर्मकाण्डकोऽपि न जयति —आ० । ३. रणगोवम —आ० । जुद्धेव णिराउधो होदि —मु० ।

'एवं कसायजुद्धंहि' कषायसप्रहारे ध्यानमायुधं क्षपकस्य भवति । ध्यानहीनः क्षपकः युद्धे निरायुध इव न प्रतिपक्षं प्रहन्तुमलं । कषायविनाशकारित्वं ध्यानस्यानया कथितं ॥१८८६॥

रणभूमीए कवचं व कसायरणे तयं हवे कवचं ।
जुद्धे व णिरावरणो झाणेण विणा हवे खवओ ॥१८८७॥

'रणभूमीए' युद्धभूमौ कवचवत्कषाययुद्धे ध्यानं कवचो भवति । एतेन कषायपीडारक्षां करोति ध्यानमित्याख्यातं । ध्यानाभावे दोषमाचष्टे । 'जुद्धे व णिरावरणो' युद्धे निरावरण इव भवति ध्यानेन विना क्षपकः ॥१८८७॥

ज्झाणं करेइ खवयस्सोवट्ठंभं खु हीणचेट्ठस्स ।
थेरस्स जहा जंतस्स कुणदि जट्ठी उवट्ठंभं ॥१८८८॥

'झाणं करेदि' ध्यानं करोति क्षपकस्योपष्टम्भ हीनचेष्टस्य स्थविरस्य गच्छतो यथा करोति यष्टिरुपष्टम्भं ॥१८८८॥

मल्लस्स णेहपाणं व कुणइ खवयस्स दढवलं झाणं ।
झाणविहीणो खवओ रंगे व अपोसिओ मल्लो ॥१८८९॥

'मल्लस्स णेहपाणं व' मल्लस्य स्नेहपानमिव क्षपकस्य ध्यानं करोति । ध्यानहीन क्षपको रङ्गे अपोषितो मल्ल इव न प्रतिपक्षं जयति ॥१८८९॥

वइरं रदणेसु जहा गोसीसं चंदणं व गन्धेसु ।
वेरुलियं व मणीणं तह ज्झाणं होइ खवयस्स ॥१८९०॥

गा०—टी०—इस प्रकार कषायोंके साथ युद्ध करनेमें अर्थात् कषायोंका संहार करनेमें ध्यान क्षपकके लिये आयुध होता है। अर्थात् ध्यानके द्वारा कषायोंका विनाश किया जाता है। जैसे बिना अस्त्रके युद्धमें शत्रुका घात करना संभव नहीं है, उसी प्रकार ध्यान हीन क्षपक कषायों को नहीं जीत सकता। इससे ध्यानको कषायोंका विनाश करने वाला कहा है ॥१८८६॥

गा०—टी०—जैसे युद्ध भूमिमें कवच होता है वैसे ही कषायोंसे युद्ध करनेमें ध्यान कवचके समान है। इससे कहा है कि ध्यान कषायसे रक्षा करता है। ध्यानके अभावमें दोष कहते हैं। जैसे युद्ध में कवचके बिना योद्धा होता है वैसे ही ध्यान के बिना क्षपक होता है। अर्थात् युद्धमें बिना कवचके योद्धाकी जो स्थिति है वही स्थिति ध्यानके बिना क्षपक की होती है। वह भी उसी की तरह मारा जाता है ॥१८८७॥

गा०—जैसे चलनेमें असमर्थ वृद्ध पुरुषको गमन करते समय लाठी सहायक होती है वैसे ही असमर्थ क्षपकका सहायक ध्यान होता है ॥१८८८॥

गा०—जैसे दुग्धपान मल्ल पुरुषके बलको दृढ़ करता है वैसे ही ध्यान क्षपककी शक्ति को दृढ़ करता है। जैसे अपुष्ट मल्ल अखाड़ेमें हार जाता है वैसे ही ध्यानसे रहित क्षपक कषायोंसे हार जाता है ॥१८८९॥

१. कवचं होदि झाणं कसायजुद्धम्मि —मु०।

'वैरं रयणेसु जथा' यथा रत्नेषु वज्रं गन्धद्रव्येषु गोशीर्षं चन्दन। मणिषु वैडूर्यमिव क्षपकस्य ध्यानं सर्वेषु दर्शनचरित्रतपस्सु सारभूतं ॥१८९०॥

झाणं किलेससावदरक्खा रक्खाव सावदभयम्मि ।
झाणं किलेसवसणे मित्तं मित्तेव वसणम्मि ॥१८९१॥

'झाणं किलेससावदरक्खा' ध्यान दुःखश्वापदाना रक्षा, श्वापदभये रक्षेव ध्यान क्लेशव्यसने मित्रं, व्यसने मित्रमिव ॥१८९१॥

ज्झाणं कसायवादे गब्भघरं मारुदेव गब्भघरं ।
झाणं कसायउण्हे छाही छाहीव उण्हम्मि ॥१८९२॥
झाणं कसायडाहे होदि वरदहो दहोव डाहम्मि ।
झाणं कसायसीदे अग्गी अग्गीव सीदम्मि ॥१८९३॥
झाणं कसायपरचक्कभए बलवाहणड्ढओ राया ।
परचक्कभए बलवाहणड्ढओ होइ जह राया ॥१८९४॥
झाणं कसायरोगेसु होदि वेज्जो तिगिंछदे कुसलो ।
रोगेसु जहा वेज्जो पुरिसस्स तिगिंछओ कुसलो ॥१८९५॥
झाणं विसयछुहाए होइ य छुहाए अण्णं वा ।
झाणं विसयतिसाए उदयं उदयं व तण्हाए ॥१८९६॥

स्पष्टार्थोत्तरगाथा ॥१८९२॥१८९३॥१८९४॥१८९५॥१८९६॥

गा०—जैसे रत्नोंमे हीरा, सुगन्धित द्रव्योमे गोशीर्ष चन्दन और मणियोंमें वैडूर्यमणि सारभूत है। वैसे ही क्षपकके दर्शन चारित्र और तपमे ध्यान सारभूत है ॥१८९०॥

गा०—जैसे हिंसक जन्तुओंसे भय होने पर उनसे रक्षा बचाव करती है वैसे ही ध्यान दुःखरूपी हिंसक जन्तुओंसे रक्षा करता है। तथा जैसे संकट मे मित्र सहायक होता है वैसे ही दुःखरूपी संकटमे ध्यान सहायक होता है ॥१८९१॥

गा०—जैसे गर्भगृह वायुसे रक्षा करता है वैसे ही ध्यान कषायरूपी वायुके लिये गर्भगृह है। जैसे घामसे बचनेके लिये छाया है वैसे ही कषायरूपी घामसे बचावके लिये ध्यान छायाके समान है ॥१८९२॥

गा०—जैसे दाहके लिये उत्तम सरोवर है वैसे ही कषायरूप दाहके लिये ध्यान उत्तम सरोवर है। जैसे शीतसे बचावके लिये आग है वैसे कषायरूपी शीतसे बचावके लिये ध्यान आग के समान है ॥१८८३॥

गा०—जैसे सेना और वाहनोंसे समृद्ध राजा शत्रु सेनाके आक्रमणके भयसे रक्षा करता है वैसे ही कषायरूपी शत्रु सेनाका भय दूर करनेके लिये ध्यान बल वाहनसे समृद्ध राजाके समान है ॥१८९४॥

इय झायंतो खवओ जइया परिहीणवायिओ होइ ।
आराधणाए तइया इमाणि लिंगाणि दंसेई ॥१८९७॥

'**इय झायंतो खवओ**' एवं ध्यानेन प्रवर्तमानः क्षपकः । यदा वक्तुमसमर्थो भवति तदा '**आराधणाए**' रत्नत्रयपरिणतेरात्मनो लिङ्गानीमानि दर्शयति ॥१८९७॥

हुंकारंजलिभमुहंगुलीहिं अच्छीहिं वीरमुट्ठीहिं ।
सिरचालणेण य तहा सण्णं दावेदि सो खवओ ॥१८९८॥

'**हुंकारंजलिभमुहंगुलीहिं अच्छीहिं**' हुंकारेण वा अञ्जलिरचनया, भ्रूक्षेपेण, अङ्गुलिपञ्चकदर्शनेन उपदेष्टारं प्रति प्रसन्नतया(प्रया) दृष्ट्या किं समाहितचित्तोऽसीत्युक्ते शिरःकम्पनेन संज्ञां दर्शयति क्षपकः ॥१८९८॥

तो पडिचरया खवयस्स दिंति आराधणाए उवओगं ।
जाणंति सुदरहस्सा कदसण्णा कायखवएण ॥१८९९॥

'**तो पडिचरया**' ततः प्रतिचारकास्तस्य क्षपकस्याराधनायामुपयोगं जानन्ति श्रुतरहस्याः क्षपकेण कृतसंकेताः । जानन्ति ॥१८९९॥

लेश्याया संबन्धं करोति—

इय समभावमुवगदो तह ज्झायंतो पसत्थझाणं च ।
लेस्साहिं विसुज्झंतो गुणसेढिं सो समारुहदि ॥१९००॥

गा०—जैसे वैद्य पुरुषके रोगों की चिकित्सामें कुशल होता है वैसे ही ध्यान कषायरूपी रोग की चिकित्सा करनेमें कुशलवैद्य है ॥१८९५॥

गा०—जैसे अन्न भूखको दूर करता है वैसे ही विषयोंकी भूख दूर करनेके लिये ध्यान अन्नके समान है। तथा जैसे प्यास लगने पर पानी उसे दूर करता है वैसे ही विषयरूपी प्यासके लिये ध्यान पानीके समान है ॥१८९६॥

गा०—इस प्रकार ध्यानमें संलग्न क्षपक जब बोलनेमें असमर्थ होता है तब मैं रत्नत्रयमें संलग्न हूँ यह बात आगे कहे चिन्होंसे प्रकट करता है ॥१८९७॥

गा०—निर्यापकाचार्यके पूछनेपर कि तुम्हारा चित्त सावधान है, वह क्षपक हुंकारसे, हाथों की अंजुलि द्वारा, या भौं के संचालनसे अथवा पाँचों अँगुलियोंकी मुट्ठी बनाकर या सिर हिलाकर प्रसन्न दृष्टिसे संकेत करता है ॥१८९८॥

गा०—तब क्षपकके द्वारा पहलेसे ही संकेत ग्रहण करने वाले और आगमके रहस्यको जानने वाले परिचारक मुनिगण यह जान लेते हैं कि क्षपकका उपयोग आराधनामें है ॥१८९९॥

विशेषार्थ—क्षपक पहले ही कह रखता है या परिचारक पहले ही क्षपकसे कह देते हैं कि बोलनेमें असमर्थ होनेपर मैं अपनी परिणतिको हुंकार आदि संकेतोंसे कह दूँगा ॥१८९९॥

आगे क्षपककी लेश्याविशुद्धिका कथन करते हैं—

गा०—इस प्रकार समताभावको प्राप्त वह क्षपक प्रशस्त ध्यान ध्याता है और विशुद्ध

'इय समभावमुवगदो' एवं समचित्ततां गतः प्रशस्तध्यानं प्रवर्तयेत्, लेश्याभिर्विशुद्धगुणश्रेणी-मारोहति ॥१९००॥

जह बाहिरलेस्साओ किण्हादीओ हवंति पुरिसस्स ।
अब्भंतरलेस्साओ तह किण्हादी य पुरिसस्स ॥१९०१॥
किण्हा णीला काओ लेस्साओ तिण्णि अप्पसत्थाओ ।
पजहइ विरायकरणो संवेगमणुत्तरं पत्तो ॥१९०२॥

'जह बाहिरलेस्साओ' कृष्णनीलकापोताश्चेति तिस्रः अप्रशस्ताः प्रजहाति वैराग्यभावनावान् संसार-भीरुतां परामुपागतः ॥१९०१-१९०२॥

लेश्यापूर्वक अर्थात् क्रमसे पीत, पद्म और शुक्ल लेश्यारूप परिणमन करता हुआ गुणश्रेणिपर अर्थात् उपशम या क्षपक श्रेणिपर आरोहण करता है ॥१९००॥

गा०—जैसे पुरुषके शरीरमें कृष्ण आदि द्रव्य लेश्या—शरीरका रंग काला गोरा होता है। वैसे ही अभ्यन्तरमें कृष्ण आदि भावलेश्या होती हैं ॥१९०१॥

विशेषार्थ—लेश्याके दो भेद हैं—द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। मिथ्यात्व आदिके कारण जीवके जो तीव्रतम आदि भाव होते हैं वह भावलेश्या है। आगममें कहा है कि मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगसे प्राणियोंके जो संस्कार होते हैं वह भावलेश्या है। लेश्या छह हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल। इनमेंसे प्रारम्भकी तीन लेश्या अशुभ हैं और शेष तीन शुभ हैं। अशुभ लेश्याओंमें तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम रूपसे तथा शुभलेश्याओंमें मन्द, मन्दतर और मन्दतमरूपसे हानिवृद्धि होती रहती है। जैसे अशुभ लेश्याओंमे कापोत लेश्या तीव्र है, नीललेश्या तीव्रतर है और कृष्णलेश्या तीव्रतम है। इसी तरह शुभलेश्याओमे पीतलेश्या मन्द, पद्म मन्दतर और शुक्ला मन्दतम है। उदाहरणके रूपमें जो व्यक्ति फलसे भरे वृक्षको जड़से काटकर फल खाना चाहता है उसके कृष्णलेश्या है। जो जडको छोड केवल तना काटकर फल खाना चाहता है उसके नीललेश्या है। जो एक शाखा काटकर फल खाना चाहता है उसके कापोत लेश्या है। जो एक उपशाखा तोड़कर फल खाना चाहता है उसके पीतलेश्या है। जो केवल फल ही तोड़कर खाना चाहता है उसके पद्मलेश्या है। और जो जमीनपर गिरे हुए फलोंको ही उठाकर खाना चाहता है उसके शुक्ललेश्या होती है। जो रागी, द्वेषी, अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभसे युक्त है, निर्दय है, कलहप्रिय है, मद्य मांसके सेवनमें आसक्त है वह कृष्णलेश्या वाला होता है। जो घमण्डी, मायावी, विषयलम्पट, अनेक प्रकारको परिग्रहमें आसक्त प्राणी है वह नीललेश्यावाला होता है। जो परकी निन्दा और अपनी प्रशंसा करता है, अपनी प्रशंसासे प्रसन्न होता है, फिर हानि लाभको भी नहीं देखता, लड़ाई होनेपर मरने मारनेको तैयार रहता है वह कापोतलेश्या वाला है। जो सर्वत्र समदृष्टि है कृत्य अकृत्य, हित अहितको जानता है दयादानका प्रेमी है वह पीतलेश्यावाला होता है। जो त्यागशील, क्षमाशील, भद्र और साधुजनोंकी पूजामें तत्पर रहता है वह पद्मलेश्यावाला होता है। जो माया और निदान नहीं करता, रागद्वेष नहीं करता वह शुक्ल लेश्यावाला है ॥१९०१॥

तेओ पम्मा सुक्का लेस्साओ तिण्णि वि दु पसत्थाओ ।
पडिवज्जेइ य कमसो संवेगमणुत्तरं पत्तो ॥१९०३॥

'तेओ पम्मा सुक्का' तेजःपद्मशुक्ललेश्याः प्रतिपद्यते परिपाट्या ॥१९०३॥

एदेसिं लेस्साणं विसोधणं पडि उवक्कमो इणमो ।
सव्वेसिं संगाणं विवज्जणं सव्वहा होइ ॥१९०४॥

'एदेसिं लेस्साणं' एतासां शुभलेश्यानां शुद्धि प्रत्ययमुपक्रमः बाह्याभ्यन्तरसर्वपरिग्रहत्यागः ॥१९०४॥

लेस्सासोधी अज्झवसाणविसोधीए होइ जीवस्स ।
अज्झवसाणविसोधी मंदकसायस्स णादव्वा ॥१९०५॥

'लेस्सासोधी' लेश्यानां शुद्धिः । 'अज्झवसाणविसोधीए होदि' परिणामविशुद्धया भवति । 'अज्झवसाणविसुद्धी' परिणामविशुद्धिश्च । 'मंदकसायस्स' मन्दकषायस्य भवतीति ज्ञातव्या ॥१९०५॥

कषायाणां मन्दता कथमित्याचाह—

मंदा हुंति कसाया बाहिरसंगविजडस्स सव्वस्स ।
गिण्हइ कसायबहुलो चेव हु सव्वंपि गंथकलिं ॥१९०६॥

'मंदा हुंति कसाया' कषाया मन्दा भवन्ति, कृतबाह्यसंगपरित्यागस्य । कषायबहुल एवायं सर्वो जीवः सर्वं ग्रन्थकलिं गृह्णाति ॥१९०६॥

जह इंधणेहिं अग्गी वड्ढइ विज्झाइ इंधणेहिं विणा ।
गंथेहिं तह कसाओ वड्ढइ विज्झाइ तेहिं विणा ॥१९०७॥

वही कहते हैं—

गा०—क्षपक कृष्ण, नील, कापोत, इन तीन अप्रशस्त लेश्याओंको त्यागकर वैराग्य भावनासे युक्त होता है और संसारसे अत्यन्त भयभीत रहता है ॥१९०२॥

गा०—तथा पीत, पद्म, शुक्ल, इन तीन प्रशस्त लेश्याओंको क्रमसे स्वीकार करके उत्कृष्ट संवेगभावको धारण करता है ॥१९०३॥

गा०—इन लेश्याओंकी विशुद्धिका उपक्रम यह है कि समस्त परिग्रहोंका सर्वथा त्याग होता है अर्थात् परिग्रहके त्यागसे लेश्यामें विशुद्धि आती है ॥१९०४॥

गा०—परिणामोंकी विशुद्धि होनेसे लेश्याकी विशुद्धि होती है । और जिसकी कषाय मन्द है उसके परिणामोंमें विशुद्धि होती है ॥१९०५॥

गा०—कषायोंकी मन्दता कैसे होती है, यह बतलाते हैं—

जो बाह्य परिग्रहका त्याग करता है उसकी कषाय मन्द होती है । जिसकी कषाय तीव्र होती है वही सब परिग्रहरूप पापको स्वीकार करता है ॥१९०६॥

'जह इंधणेहिं अग्गी' इन्धनैर्यथाग्निर्वर्द्धते तैर्विना प्रशाम्यति । ग्रन्थैस्तथा कषायो वर्द्धते, तैर्विना मन्दो भवति ॥१९०७॥

जह पत्थगे पडंतो खोमेइ दहे पसण्णमवि पंकं ।
खोमेइ पसण्णमवि कसायं जीवस्स तह गंथो ॥१९०८॥

'जह पत्थरो पडंतो' यथा पाषाण पतन् ह्रदे प्रशान्तमपि पङ्कं क्षोभयति, तथा जीवस्य कषायं ग्रन्था. क्षोभयन्ति ॥१९०८॥

अब्भंतरसोधीए गंथे णियमेण बाहिरे चयदि ।
अब्भंतरमइलो चेव बाहिरे गेण्हदि हु गंथे ॥१९०९॥

'अब्भंतरसोधीए' अभ्यन्तरशुद्धया नियमेन बाह्यान्परिग्रहास्त्यजति, अभ्यन्तरमलिन एव बाह्यान् गृह्णाति परिग्रहान् ॥१९०९॥

अब्भंतरसोधीए बाहिरसोधी वि होदि णियमेण ।
अब्भंतरदोसेण हु कुणदि णरो बाहिरे दोसे ॥१९१०॥

'अब्भंतरसोधीए' अभ्यन्तरशुद्धया बाह्यशुद्धिर्नियमेन भवति । अभ्यन्तरदोषेणैव बाह्यान्कायगतान् दोषान् करोति ॥१९१०॥

जध तंडुलस्स कोण्डयसोधी सतुसस्स तीरदि ण कादुं ।
तह जीवस्स ण सक्का लिस्सासोधी ससंगस्स ॥१९११॥

'जह तंडुलस्स' यथा तन्दुलस्य अभ्यन्तरमलशुद्धि कर्तुं न शक्यते बाह्यतुषसहितस्य । तथा जीवस्य न शक्या लेश्याशुद्धि कर्तुं सपरिग्रहस्य ॥१९११॥

इत उत्तरं लेश्याश्रयेणाराधनाविकल्पो निरूप्यते—

सुक्काए लेस्साए उक्कस्सं अंसय परिणमित्ता ।
जो मरदि सो हु णियमा उक्कस्साराधओ होई ॥१९१२॥

गा०—जैसे ईंधनसे आग बढ़ती है और ईंधनके अभावमें बुझ जाती है वैसे ही परिग्रहसे कषाय बढ़ती है और परिग्रहके अभावमें मन्द हो जाती है ॥१९०७॥

गा०—जैसे जलमें पत्थर फेंकनेसे नीचे बैठी हुई कीचड़ ऊपर आ जाती है। वैसे ही परिग्रहसे जीवकी दबी हुई कषाय उदयमें आ जाती है ॥१९०८॥

गा०—अन्तरंगमें कषायकी मन्दता होनेपर नियमसे बाह्य परिग्रहका त्याग होता है। अभ्यन्तरमें मलिनता होनेपर ही जीव बाह्य परिग्रहोंको ग्रहण करता है ॥१९०९॥

गा०—अभ्यन्तरमें विशुद्धि होनेपर बाह्य विशुद्धि नियमसे होती है। अभ्यन्तरमें दोष होनेसे ही मनुष्य शारीरिक दोष करता है ॥१९१०॥

गा०—जैसे बाहरमें तुष (छिलका) रहते हुए चावलकी अभ्यन्तर शुद्धि संभव नहीं है। वैसे ही परिग्रही जीवके लेश्याकी विशुद्धि संभव नहीं है ॥१९११॥

'सुक्काए लेस्साए' शुक्ललेश्याया उत्कृष्टांशं परिणतो यो मृतिमुपैति स नियमादुत्कृष्टाराधको भवति ॥१९१२॥

खाइयदंसणचरणं खओवसमियं च णाणमिदि मग्गो ।
तं होइ खीणमोहो आराहित्ता य जो हु अरहंतो ॥१९१३॥
जे सेसा सुक्काए दु अंसया जे य पम्मलेस्साए ।
तल्लेस्सापरिणामो दु मज्झिमाराधणा मरणे ॥१९१४॥

'जे सेसा सुक्काए दु अंसया' उत्कृष्टांशादन्ये ये शुक्ललेश्याया अंशा ये चापि पद्मलेश्याया अंशाः तत्र परिणामो मरणे मध्यमाराधना ॥१९१३॥१९१४॥

तेजाए लेस्साए ये अंसा तेसु जो परिणमित्ता ।
कालं करेइ तस्स हु जहण्णियाराधणा भणिदा ॥१९१५॥

'तेजोए लेस्साए' तेजोलेश्याया ये अंशास्तेषु परिणतो यदि कालं कुर्यात् तस्य जघन्याराधना भवति ॥१९१५॥

जो जाए परिणमित्ता लेस्साए संजुदो कुणइ कालं ।
तल्लेसो उववज्जइ तल्लेसे चेव सो सग्गे ॥१९१६॥

'जो जाए' यो यया लेश्यया परिणतः कालं करोति, स तल्लेश्य एवोपजायते, तल्लेश्यासमन्विते स्वर्गे ॥१९१६॥

अध तेउपउमसुक्कं अदिच्छिदो णाणदंसणसमग्गो ।
आउक्खया दु सुद्धो गच्छदि सुद्धिं चुयकिलेसो ॥१९१७॥

आगे लेश्या के आश्रयसे आराधनाके भेद कहते हैं—

गा०—जो क्षपक शुक्ललेश्याके उत्कृष्ट अंश रूपसे परिणत होकर मरण करता है वह नियमसे उत्कृष्ट आराधक होता है ॥१९१२॥

गा०—क्षायिक सम्यक्त्व, यथाख्यात चारित्र और क्षायोपशमिक ज्ञानकी आराधना करके क्षीणमोह होता है और वह बारहवें गुणस्थानवर्ती क्षीणमोह तदनन्तर अरहंत होता है ॥१९१३॥

गा०—शुक्ललेश्याके शेष मध्यम और जघन्य अंश तथा पद्मलेश्याके उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य अंश रूपसे परिणत होकर मरण करने वाला क्षपक मध्यम आराधक होता है ॥१९१४॥

गा०—तेजोलेश्याके अंशरूपसे परिणत होकर यदि मरण करता है तो वह जघन्य आराधक होता है ॥१९१५॥

गा०—जो क्षपक जिस लेश्यारूपसे परिणत होकर मरण करता है वह उसी लेश्यावाले स्वर्गमें उसी लेश्यावाला ही देव होता है ॥१९१६॥

गा०—जो पीत पद्म और शुक्ललेश्याको भी छोड़कर लेश्यारहित अयोग अवस्थाको प्राप्त होता है वह सम्पूर्ण केवलज्ञान और केवल दर्शनसे युक्त होकर आयुका क्षय होनेपर मोक्ष प्राप्त

'अथ तेउपउमसुक्कं' अथ तेजःपद्मशुक्ललेश्या अतिक्रान्तः अलेश्यतामुपगतः ज्ञानदर्शनसमग्र आयुषः क्षयात् सिद्धिं गच्छति कर्मलेपापगमाद्विशुद्धो निरस्ताशेषक्लेशः । लेस्सेत्ति ॥१९१७॥

एवं सुभाविदप्पा ज्झाणोवगओ पसत्थलेस्साओ ।
आराधणापडायं हरइ अविग्घेण सो खवओ ॥१९१८॥

'एवं सुभाविदप्पा' एवं सुष्ठु भावितात्मा ध्यानमुपगतः प्रशस्तलेश्यापरिणत आराधनापताकां हरत्यविघ्नेन ॥१९१८॥

तेलोक्कसव्वसारं चउगइसंसारदुक्खणासयरं ।
आराहणं पवण्णो सो भयवं मुक्खपडिमुल्लं ॥१९१९॥

'तेलोक्कसव्वसारं' त्रैलोक्ये सर्वस्मिन्सारभूतां चतुर्गतिसंसारदुःखनाशकरणीमाराधना प्रपन्नोऽसौ भगवान् मोक्षप्रतिमौल्य ॥१९१९॥

एवं जधाक्खादविधिं संपत्ता सुद्धदंसणचरित्ता ।
केई खवंति खवया मोहावरणंतरायाणि ॥१९२०॥

'एवं जधाक्खादविधिं' एवं यथाख्यातविधिं सप्राप्ताः शुद्धदर्शनचारित्रा केचित्क्षपका घातिकर्माणि क्षपयन्ति ॥१९२०॥

केवलकप्पं लोगं संपुण्णं दव्वपज्जयविधीहिं ।
ज्झायंता एयमणा जहंति आराहया देहं ॥१९२१॥

'केवलकप्पं' केवलज्ञानस्य परिच्छेद्यत्वेन योग्यं लोक संपूर्णं द्रव्यपर्यायविकल्पैः परिच्छिन्दन्तः जहति ते स्वदेहं ॥१९२१॥

करता है। वह समस्त कर्मलेपके चले जानेसे विशुद्ध होता है तथा समस्त क्लेशोसे छूट जाता है ॥१९१७॥

गा०—इस प्रकार वह क्षपक अच्छी तरहसे आत्माकी भावना भाकर प्रशस्त लेश्यापूर्वक ध्यान करके, किसी विघ्न बाधाके बिना आराधना पताकाको धारण करता है ॥१९१८॥

गा०—वह भगवान् तीनों लोकोमें सारभूत तथा चार गतिरूप संसारके दुःखोंका नाश करनेवाली आराधनाको प्राप्त करता है जो उस मोक्षका प्रतिमूल्य है अर्थात् आराधनारूपी मूल्य प्रदान करके ही मोक्षको खरीदा जा सकता है ॥१९१९॥

गा०—इस प्रकार कोई-कोई चरमशरीरी क्षपक यथाख्यात चारित्रकी विधिके द्वारा शुद्ध सम्यग्दर्शन और चारित्रको प्राप्त करके मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोंका क्षय करते हैं ॥१९२०॥

गा०—केवलज्ञानके द्वारा जाननेके योग्य सम्पूर्ण लोकको द्रव्य पर्यायोंके भेदोंके साथ एकाग्रमनसे जानते हुए आराधक अपना शरीर छोड़ते हैं ॥१९२१॥

सव्वुक्कसं जोगं जुंजंता दंसणे चरित्ते य ।
कम्मरयविप्पमुक्का हवंति आराधया सिद्धा ॥१९२२॥

'सव्वुक्कसं' सर्वोत्कृष्टं दर्शनचारित्रयोर्योगं प्रतिपद्यमानाः कर्मरजोभ्यो विप्रयुक्ता आराधकाः सिद्धा भवन्ति ॥१९२२॥

इयमुक्कस्सियमाराधणमणुपलितु केवली भविया ।
लोगग्गसिहरवासी हवंति सिद्धा धुयकिलेसा ॥१९२३॥

'इय उक्कस्सिय' एवमुत्कृष्टामाराधनामनुपाल्य केवलिनो भूत्वा निरस्तक्लेशाः लोकाग्रशिखरवासिनः सिद्धा भवन्ति ॥१९२३॥

अह सावसेसकम्मा मलियकसाया पणट्ठमिच्छत्ता ।
हासरइअरइभयसोगदुगुंछावेयणिम्महणा ॥१९२४॥

'अह सावसेसकम्मा' अथ सावशेषकर्माणो मथितकषायाः प्रणष्टमिथ्यात्वा हास्यरत्यरतिभयशोकजुगुप्सा-वेदत्रिकमथनाः ॥१९२४॥

पंचसमिदा तिगुत्ता सुसंवुडा सव्वसंगउम्मुक्का ।
धीरा अदीणमणसा समसुहदुक्खा असंमूढा ॥१९२५॥

'पंचसमिदा' समितिपंचकोपेता गुप्तित्रयोपेताः सुसंवृता अपाकृतसर्वसंगा धीरा अदीनमनसः समसुख-दुःखा असंमूढा. ॥१९२५॥

सव्वसमाधाणेण य चरित्तजोगे अधिट्ठिदा सम्मं ।
धम्मे वा उवजुत्ता ज्झाणे तह पढमसुक्के वा ॥१९२६॥

'सव्वसमाधाणेण' सर्वेण समाधानेन चारित्रे सम्यगवस्थिता धर्मध्याने प्रथमशुक्ले वा उपयुक्ताः ॥१९२६॥

गा०—सबसे उत्कृष्ट अर्थात् क्षायिक सम्यग्दर्शन और क्षायिक सम्यक् चारित्रको प्राप्त करके वे आराधक कर्मरूपी रजसे अर्थात् शेष चार अघाति कर्मोंसे छूटकर सिद्ध हो जाते हैं ॥१९२२॥

गा०—इस प्रकार उत्कृष्ट आराधनाका पालन करके केवलज्ञानी होकर सम्पूर्ण क्लेशोंसे छूट जाते हैं और लोकके शिखर पर विराजमान होते हैं ॥१९२३॥

गा०—किन्तु जिनके कर्मबन्धन शेष रहता है वे मिथ्यात्वको नष्ट करके तथा कषायोंका और हास्य रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, तीनों वेदोंका मथन करके, पाँच समिति और तीन गुप्तियोंके द्वारा सम्यक् रूपसे संवर करके समस्त परिग्रहसे रहित होकर धीरतापूर्वक, मनमें दीनताका भाव नहीं लाते। मोहरहित होकर सुख और दुःखमें समभाव रखते हैं। मन, वचन, कायको समाहित करके चारित्रमें सम्यक्निष्ठ रहते हैं तथा धर्मध्यान या प्रथम शुक्लध्यानमें उपयोग लगाते हैं ॥१९२४-२६॥

इय मज्झिममाराधणमणुपालित्ता सरीरपजहित्ता ।
हुंति अणुत्तरवासी देवा सुविसुद्धलेस्सा य ॥१९२७॥

'इय मज्झिमं' एवं मध्यमाराधनामनुपाल्य शरीरं त्यक्त्वा विशुद्धलेश्याधरा अनुत्तरवासिनो देवा भवन्ति ॥१९२७॥

दंसणणाणचरित्ते उक्किट्ठा उत्तमोपधाणा य ।
इरियावहपडिवण्णा हवंति लवसत्तमा देवा ॥१९२८॥

'दंसणणाणचरित्ते' सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेषु उत्कृष्टा उत्तमाभिग्रहा ईर्यापथं प्रपन्ना लवसत्तमा देवा भवन्ति ॥१९२८॥

कप्पोवगा सुरा जं अच्छरसहिया सुहं अणुहवंति ।
तत्तो अणंतगुणिदं सुहं दु लवसत्तमसुराणं ॥१९२९॥

'कप्पोवगा सुरा जं' कल्पोपपन्ना सुरा अप्सरोभिस्सहिता यत्सुखमनुभवन्ति ततोऽप्यनन्तगुणित लवसत्तमदेवानां ॥१९२९॥

णाणम्मि दंसणम्मि य आउत्ता संजमे जहक्खादे ।
वड्ढिदतवोवधाणा अवहियलेस्सा सददमेव ॥१९३०॥

'णाणम्मि दंसणम्मि य' ज्ञानदर्शनयोर्यथाख्याते च संयमे आयुक्ता वर्द्धिततपोऽभिग्रहा सतत विशुद्धलेश्या क्षपकाः ॥१९३०॥

पजहिय सम्मं देहं सददं सव्वगुणवड्ढिदगुणड्ढा ।
देविंदचरमठाणं लहंति आराधया खवया ॥१९३१॥

'पजहिय देहं' विहाय देहं सम्यक्सदा सर्वगुणवर्धितगुणाढ्या देवेन्द्रचरमस्थानं लभन्ते ॥१९३१॥

गा०—इस प्रकार मध्यम आराधनाका पालन करके शरीर त्याग कर विशुद्ध लेश्याके धारक अनुत्तरवासी देव होते हैं ॥१९२७॥

गा०—वे मध्यम आराधनाके पालक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रमें उत्कृष्ट होते हैं। अर्थात् कल्पोपपन्न देवोंमें उत्पन्न कराने वाले रत्नत्रयके आराधकोंसे उत्कृष्ट होते हैं। उनकी तपश्चर्या उत्तम होती है, वे ईर्यापथ आस्रवके धारी होते हैं अर्थात् कषायरहित कायकी क्रियासे होनेवाला शुभास्रव ही उनके होता है। वे मरकर लवसत्तम अर्थात् ग्रैवेयक या अनुदिश विमानवासी देव होते हैं ॥१९२८॥

गा०—कल्पवासी देव अपनी देवांगनाओंके साथ जिस सुखको भोगते हैं उससे अनन्तगुणा सुख अहमिन्द्रदेव भोगते हैं ॥१९२९॥

गा०—जो क्षपक ज्ञान दर्शन और यथाख्यात चारित्रमें लीन रहते हैं, अपनी तपश्चर्याको निरन्तर बढ़ाते हैं, वे विशुद्ध लेश्यावाले होते हैं ॥१९३०॥

गा०—वे आराधक क्षपक सम्यक् भावना पूर्वक शरीर त्यागकर अनन्तगुणी अणिमा आदि ऋद्धियोंसे सम्पन्न उपरिम स्वर्गमें स्थान प्राप्त करते हैं ॥१९३१॥

सुयभत्तीए विसुद्धा उग्गतवणियमजोगसंजुत्ता ।
लोगंतिया सुरवरा हवंति आराधया धीरा ॥१९३२॥

जावदिया रिद्धिओ हवंति इंदियगदाणि य सुहाणि ।
ताइं लहंति ते आगमेसिं भद्दा सया खवया ॥१९३३॥

'जावदियो रिद्धीओ' यावन्त्य: ऋद्धयो भवन्ति यावन्तीन्द्रियसुखानि च भवन्ति तानि सर्वाणि लप्स्यन्ते भद्राशया: क्षपका: ॥१९३२-१९३३॥

जे वि हु जहण्णियं तेउलेस्समाराहणं उवणमंति ।
ते वि हु सोधम्माइसु हवंति देवा ण हेट्ठिल्ला ॥१९३४॥

'जे वि हु जहण्णियं' येऽपि जघन्यामाराधनां तेजोलेश्याप्रवृत्तामुपनमन्ति तेऽपि सौधर्मादिषु देवा भवन्ति, नाधोभाविनो देवा: ॥१९३४॥

किं जंपिएण बहुणा जो सारो केवलस्स लोगस्स ।
तं अचिरेण लहंते फासित्ताराहणं णिहिलं ॥१९३५॥

'किं जंपिएण बहुणा' किं बहुनोक्तेन यत्सर्वस्यास्य लोकस्य सारभूतं तदचिरेण लभन्ते आराधनां प्रपन्ना: ॥१९३५॥

भोगे अणुत्तरे भुंजिऊण तत्तो चुदा सुमाणुस्से ।
इड्ढिमतुलं चइत्ता चरंति जिणदेसियं धम्मं ॥१९३६॥

'भोगे अणुत्तरे' भोगानुत्कृष्टान् भुक्त्वा स्वर्गच्युता मनुष्यभवेऽपि प्राप्य सकलामृद्धिं तां च त्यक्त्वा जिनाभिहितं धर्मं चरन्ति ॥१९३६॥

गा०—श्रुतभक्तिमें विशुद्ध, उग्रतप, नियम और आतापन आदि योगसे शुद्ध धीर आराधक लौकान्तिक देव होते हैं ॥१९३२॥

गा०—जितनी ऋद्धियाँ हैं और जितने भी इन्द्रिय सुख हैं उन सबको भद्रपरिणामी क्षपक आगामी कालमें प्राप्त करते हैं ॥१९३३॥

गा०—तेजोलेश्यासे युक्त जो क्षपक जघन्य आराधना करते हैं वे भी सौधर्म आदि स्वर्गोंमें देव होते हैं, नीचेके देव नहीं होते। अर्थात् भवनत्रिकमें जन्म नहीं लेते ॥ १९३४॥

गा०—अधिक कहनेसे क्या ? जो समस्त लोकका सारभूत है उस सबको आराधना करने वाले शीघ्र ही प्राप्त कर लेते हैं ॥१९३५॥

गा०—स्वर्गके उत्कृष्ट भोगोंको भोगकर स्वर्गसे च्युत होनेपर मनुष्य भवमें जन्म लेते हैं और वहाँ भी समस्त ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं। फिर उसे त्यागकर जिन भगवान्‌के द्वारा कहे हुए धर्मका पालन करते हैं ॥१९३६॥

सदिमंतो घिदिमंतो सद्धासंवेगवीरियोवगया ।
जेदा परीसहाणं उवसग्गाणं च अभिभविय ॥१९३७॥

'सदिमंतो' स्मृतिमन्तः धृतिसमन्विताः श्रद्धासंवेगवीर्यसहिताः परीषहाणां विजेतारः उपसर्गाणामभिभवितारः ॥१९३७॥

इय चरणमधक्खादं पडिवण्णा सुद्धदंसणमुवेदा ।
सोधिंति ज्झाणजुत्ता लेस्साओ संकिलिट्ठाओ ॥१९३८॥

'इय चरणमधक्खादं' एवं यथाख्यातचारित्रं प्रतिपन्नाः शुद्धदर्शनमुपगता ध्यानयुक्ताः संक्लिष्टलेश्या विनाशयन्ति ॥१९३८॥

सुक्कं लेस्समुवगदा सुक्कज्झाणेण खविदसंसारा ।
उम्मुक्ककम्मकवया उविंति सिद्धिं धुदकिलेसा ॥१९३९॥

'सुक्कं लेस्समुवगदा' शुक्ललेश्यामुपगताः शुक्लध्यानेन क्षपितसंसारा उन्मुक्तकर्मकवचा दूरीकृत क्लेशा सिद्धिमुपयान्ति ॥१९३९॥

एवं संथारगदो विसोधइत्ता वि दंसणचरित्तं ।
परिवडदि पुणो कोई झायंतो अट्टरुद्दाणि ॥१९४०॥

'एवं संथारगदो' उक्तेन प्रकारेण संस्तरमुपगतोऽपि कृतदर्शनचारित्रशुद्धिरपि कश्चित्कर्मगौरवादार्तरौद्रपरिणतः पतति । तत्र दोषमाचष्टे ॥१९४०॥

ज्झायंतो अणगारो अट्टं रुद्दं च चरिमकालम्मि ।
जो जहइ सयं देहं सो ण लहइ सुग्गदिं खवओ ॥१९४१॥

गा०—वे शास्त्रोंका अनुचिन्तन करते है, धैर्यशाली होते हैं, श्रद्धा, संवेग और शक्तिसे युक्त होते हैं। परीषहोंको जीतते हैं और उपसर्गोंको निरस्त करते हैं, उनसे अभिभूत नही होते ॥१९३७॥

गा०—इस प्रकार शुद्ध सम्यग्दर्शन पूर्वक यथाख्यात चारित्रको प्राप्त करके ध्यानमें मग्न होकर संक्लेशयुक्त अशुभ लेश्याओंका विनाश करते हैं ॥१९३८॥

गा०—शुक्ललेश्यासे सम्पन्न होकर शुक्लध्यानके द्वारा संसारका क्षय करते हैं और कर्मोंके कवचसे मुक्त हो, सब दुःखोंको दूर करके मुक्तिको प्राप्त होते हैं ॥१९३९॥

गा०—इस प्रकार संस्तरपर आरूढ होकर और सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्रको निर्मल करके भी कोई-कोई क्षपक कर्मोंकी गुरुता होनेसे आर्तरौद्र ध्यानपूर्वक रत्नत्रय रूप आराधनासे गिर जाता है ॥१९४०॥

गा०—जो क्षपक साधु मरते समय आर्तरौद्र ध्यानपूर्वक अपने शरीरको छोड़ता है वह सुगति प्राप्त नहीं करता ॥१९४१॥

'जलमंतो अणगारो' मरणकाले आर्तरौद्रयोः परिणतो भूत्वा यः स्वदेहं जहाति नासौ क्षपकः कुगतिं व्रजते ॥१९४१॥

जदि दा सुभाविदप्पा वि मरणकालम्मि संकिलेसेण ।
परिवडदि वेदणट्टो खवओ संथारमारूढो ॥१९४२॥

'जदि दा सुभाविदप्पा वि' यदि तावत्सुभावितात्मापि संस्तरमारूढः वेदनार्तः क्षपकः संक्लेशेन हेतुना सन्मार्गात्परिपतति ॥१९४२॥

किं पुण जे ओसण्णा णिच्चं जे वा वि णिच्चपासत्था ।
जे वा सदा कुसीला संसत्ता वा जहाछंदा ॥१९४३॥

'किं पुण' किं पुनर्न परिपतन्ति ये नित्यमवसन्ना ये च नित्यं पार्श्वस्था ये वा सदा कुशीलाः संसक्ता वा स्वच्छन्दाः ॥१९४३॥

तत्र अवसन्ना निरूप्यन्ते—

[1]गच्छंहि केइ पुरिसा पक्खी इव पंजरंतरणिरुद्धा ।
सारणपंजरचकिदा ओसण्णाणा पांवहरंति ॥१९४४॥

यथा कर्दमे क्षुण्णः मार्गाद्धीनोऽवसन्न इत्युच्यते स द्रव्यतोऽवसन्नः । भावावसन्नः अशुद्धचारित्रः सीदति उपकरणे, वसति संस्तरप्रतिलेखने, स्वाध्याये, विहारभूमिशोधने, गोचारशुद्धौ, ईर्यासमित्यादिषु, स्वाध्यायकालावलोकने, स्वाध्यायविसर्गे, गोचारे, च अनुद्यतः, आवश्यकेष्वलसः, जनातिरिक्तो वा जनाधिकं करोति कुर्वंश्च यथोक्तमावश्यकं वाक्कायाभ्यां करोति न भावत एवंभूतश्चारित्रेऽसीदतीत्यवसन्नः । पञ्चानां पञ्चत्वमपि

गा०—यदि अपनी आत्माकी सम्यक् भावना करने वाले भी संस्तरपर आरूढ़ हो, संक्लेश-के कारण मरते समय सन्मार्गसे गिर जाते हैं ॥१९४२॥

गा०—तो जो नित्य अवसन्न, नित्य पार्श्वस्थ, सदा कुशील, संसक्त और स्वच्छन्द साधु हैं उनका कहना ही क्या है ? ॥१९४३॥

गा०-टी०—अवसन्न आदिका स्वरूप कहते हैं—

जैसे कोई पुरुष कीचड़में फँस गया या मार्गमें थक गया तो उसको अवसन्न कहते हैं। वह द्रव्यरूपसे अवसन्न है। उसी प्रकार जिसका चारित्र अशुद्ध होता है वह भाव अवसन्न होता है। वह उपकरणमें, वसतिकामें, संस्तरके शोधनेमें, स्वाध्यायमें, विहार करनेकी भूमिके शोधनेमे, गोचरीकी शुद्धतामें, ईर्यासमिति आदिमे, स्वाध्यायके कालका ध्यान रखनेमें और स्वाध्यायकी समाप्तिमें तत्पर नहीं रहता। वह आवश्यकोंमें आलस्य करता है। या दूसरोंसे करता तो अधिक है किन्तु वचन और कायसे करता है, भावसे नहीं करता। इस प्रकार चारित्रका पालन करते हुए खेदखिन्न होता है इससे उसे अवसन्न कहते हैं।

---

१. इस गाथा पर किसी प्रति में क्रमांक नहीं दिया है। न इस पर किसी की टीका ही है। सं०

तत्समीपेऽन्येन कश्चिद् गच्छति, यथासौ मार्गपार्श्वस्थः, एवं निरतिचारसंयममार्गं जानन्नपि न तत्र वर्तते, किंतु संयममार्गपार्श्वे तिष्ठति नैकान्तेनासंयतः, न च निरतिचारसंयम[1] सोऽभिधीयते पार्श्वस्थ इति। शय्याधरपिण्डम-भिहितं नित्यं च पिण्डं भुङ्क्ते, पूर्वापरकालयोर्दातृसंस्तवं करोति, उत्पादनैषणादोषदुष्टं वा भुङ्क्ते, नित्यमेकस्यां वसतौवसति, एकस्मिन्नेव संस्तरे शेते, एकस्मिन्नेव क्षेत्रे वसति। गृहिणां गृहाभ्यन्तरे निषद्यां करोति, गृहस्थोप-करणैर्व्यवहरति, दुःप्रतिलेखमप्रतिलेखं वा गृह्णाति, सूचीकर्तरिनखच्छेदसंदंशनपट्टिकाक्षुरकर्णशोधनाजिनग्राही, सीवनप्रक्षालनावधूननरञ्जनादिबहुपरिकर्मव्यापृतश्च वा पार्श्वस्थ। क्षारचूर्णं सौवीरलवणसर्पिरित्यादिकं अनागाढकारणेऽपि गृहीत्वा स्थापयन् पार्श्वस्थः। रात्रौ यथेष्टं शेते, संस्तर च यथाकाम बहुतरं करोति। उपकरणबकुशो देहबकुशः—दिवसे वा शेते च यः पार्श्वस्थः। पदप्रक्षालनं [2]म्रक्षणं वा यत्कारण-मन्तरेण करोति, यश्च गणोपजीवी [3]तृणपञ्चकसेवापरश्च पार्श्वस्थः। अयमत्र संक्षेप —अयोग्यं सुखशीलतया यो निषेवते कारणमन्तरेण स सर्वथा पार्श्वस्थः। कुत्सितशीलः कुशील। यद्येवं अवसन्नादीनां कुशीलत्वं प्राप्नोति, नैवं लोकप्रकटकुत्सितशीलः कुशील इति विवेकोऽत्र ग्राह्य। स च कुशीलोऽनेकप्रकारः कश्चित्कौ-तुकशीलः औषधविलेपनविद्याप्रयोगेणैव, सौभाग्यकरणं राजद्वारिककौतुकमादर्शयति य स कौतुककुशील।

जैसे कोई मार्गको देखते हुए भी उस मार्गसे न जाकर अन्य उसके समीपवर्ती मार्गसे जाता है, उसे मार्ग पार्श्वस्थ कहते हैं। इसी प्रकार जो निरतिचार संयमका मार्ग जानते हुए भी उसमें प्रवृत्ति नहीं करता किन्तु संयमके पार्श्ववर्ती मार्गमें चलता है, वह न तो एकान्तसे असयमी है और न निरतिचार संयमी है। उसे पार्श्वस्थ कहते हैं। शय्याधरपिण्डका स्वरूप पहले कहा है उस भोजनको नित्य करता है। भोजन करनेसे पहले और भोजन करनेके पश्चात् दाताकी स्तुति करता है। अथवा उत्पादन और एषणा दोषसे दूषित भोजन करता है। नित्य एक ही वसतिकामें रहता है। एक ही संस्तरपर सोता है। एक ही क्षेत्रमें रहता है। गृहस्थोंके घरके भीतर बैठता है। गृहस्थोंके उपकरणोंका उपयोग करता है। बिना प्रतिलेखनाके वस्तुको ग्रहण करता है या दुष्टता पूर्वक प्रतिलेखना करता है। सुई, कैंची, नख काटनेके लिये नहिनी, छुरा, कानका मैल निकालनेकी सीक, चर्म आदि पासमें रखता है। और सीना, धोना, रंगना आदि कामोंमें लगा रहता है, वह पार्श्वस्थ है। क्षारचूर्ण, सुर्मा, नमक, घी इत्यादि बिना कारण ग्रहण करके पासमें जो रखता है वह पार्श्वस्थ है। जो रातमें मनमाना सोता है, संस्तरा इच्छानुसार लम्बा चौड़ा बनाता है वह उपकरण बकुश है। जो दिनमें सोता है वह देहबकुश है। ये भी पार्श्वस्थ हैं। जो बिना कारण पैर धोता है और तेल लगाता है तथा जो गणोपजीव है वह पार्श्वस्थ है। सारांश यह है कि सुखशील होनेके कारण जो बिना कारण अयोग्यका सेवन करता है वह सर्वथा पार्श्वस्थ है।

जिसका शील कुत्सित है वह कुशील मुनि है

शङ्का—यदि ऐसा है तो अवसन्न आदि भी कुशील कहलायेंगे।

समाधान—नहीं, क्योंकि लोकमें जिसका कुत्सित शील प्रकट है वह कुशील है, यह भेद ग्रहण करना चाहिये। वह कुशील अनेक प्रकारका होता है। कोई कौतुक कुशील होता है जो औषध लगानेकी विद्याके प्रयोग द्वारा सौभाग्यके कारण राजद्वारमें कौतुक दिखलाता है।

---

१. मः संविधीयते —अ०। २. प्रतिक्षणं आ०। ३. निष अ०।

कश्चित् भूतिकर्मकुशीलः भूतिशब्दमनुपलक्षणं कृत्वा, धूल्या, सिद्धार्थकैः, पुष्पैः, फलैरुदकादिभिर्वा मन्त्रितैः रक्षां वशीकरणं वा यः करोति स भूतिकुशीलः । उक्तं च—

> भूदीकम्म कुसीलं वा सिद्धत्थय पुप्फफलजलादीहिं ।
> रक्खं वसियरणं वा करेदि जो भूदिकुसीलो ॥

कश्चित्प्रसेनिकाकुशीलः, अंगुष्ठप्रसेनिका, अक्षरप्रसेनी, प्रदीपप्रसेनी, शशिप्रसेनी, सूर्यप्रसेनी स्वप्नप्रसेनीत्येवमादिभिर्जनं रञ्जयति यः सोऽभिधीयते प्रसेनिकाकुशील इति । कश्चिदप्रसेनिकाकुशीलः विद्याभिर्मन्त्रैरौषधप्रयोगैर्वा असंयत चिकित्सां करोति सोऽप्रसेनिकाकुशीलः । कश्चिन्निमित्तकुशीलः अष्टाङ्गनिमित्तं ज्ञात्वा यो लोकस्यादेशं करोति स निमित्तकुशीलः । आत्मनो जातिं कुलं वा प्रकाश्य यो भिक्षादिकमुत्पादयति स आजीवकुशीलः । केनचिदुपद्रुतः परं शरणं प्रविशति, अनाथशालां वा प्रविश्य आत्मनश्चिकित्सां करोति स वा आजीवकुशीलः । विद्यायोगादिभिः परद्रव्यापहरणदम्भप्रदर्शनपरः कक्वकुशीलः । इन्द्रजालादिभिर्यो जनं विस्मापयति सोऽभिधीयते कुहनकुशील इति । वृक्षगुल्मादीनां पुष्पाणां, फलानां च संभवमुपदर्शयति, गर्भस्थापनादिकं च करोति यः स संमूर्छनाकुशीलः । [1]त्रसजानां, कीटादीनां, वृक्षादीनां, पुष्पफलादीनां, गर्भस्य परिशातनं [2]आभिचारिकं च यः करोति शापं च प्रयच्छति स प्रपातनकुशीलः ॥ उक्तं च—

> कोदुगभूदिकम्मे पसिणा पसिणे णिमित्तमाजीवे ।
> कक्कुकुहण संमुच्छण पपादणादीकुसीलो दु ॥ इति ॥

कोई भूतिकर्मकुशील होता है। यहाँ भूति शब्दसे भस्म, धूल, सरसो, पुष्प, फल, अथवा जल आदिसे मंत्र पढ़कर रक्षा या वशीकरण जो करता है वह भूतिकर्म कुशील है। कहा है—

जो भस्म, धूल, सरसों, पुष्प, फल, जल आदिके द्वारा रक्षा या वशीकरण करता है वह भूतिकर्म कुशील है। कोई प्रसेनिकाकुशील होता है जो अगुष्ठप्रसेनिका, अक्षरप्रसेनिका, शशिप्रसेनिका, सूर्यप्रसेनिका, स्वप्नप्रसेनिका आदि विद्याओंके द्वारा लोगोंका मनोरजन करता है। कोई अप्रसेनिका कुशील होता है जो विद्या, मंत्र और औषध प्रयोगके द्वारा असंयमी जनोका इलाज करता है। कोई निमित्तकुशील होता है जो अष्टाग निमित्तोंको जानकर लोगोंको इष्ट अनिष्ट बतलाता है। जो अपनी जाति, अथवा कुल बतलाकर भिक्षा आदि प्राप्त करता है वह आजीवकुशील है। जो किसीके द्वारा सताये जानेपर दूसरेकी शरणमें जाता है अथवा अनाथशाला-में आकर अपना इलाज कराता है वह भी आजीव कुशील होता है। जो विद्या प्रयोग आदिके द्वारा दूसरोंका द्रव्य हरने और दम्भप्रदर्शनमे तत्पर रहता है वह कक्वकुशील होता है। जो इन्द्रजाल आदिके द्वारा लोगोंको आश्चर्य उत्पन्न करता है वह कुहनकुशील है। जो वृक्ष, झाड़ी, पुष्प और फलोंको उत्पन्न करके बताता है तथा गर्भस्थापना आदि करता है वह सम्मूर्च्छनाकुशील है। जो त्रसजातिके कीट आदिका, वृक्ष आदिका, पुष्प फल आदिका तथा गर्भका विनाश करता है, उनकी हिंसा करता है, शाप देता है वह प्रपातन कुशील है। कहा है—

कौतुक कुशील, भूतिकर्म कुशील, प्रसेनिका कुशील, अप्रसेनिका कुशील, निमित्तकुशील, आजीव कुशील, कक्वकुशील, कुहनकुशील, सम्मूर्च्छनकुशील, प्रपातन कुशील आदि कुशील होते

---

१. त्रसजातीनां –आ० । २. आभमारिक –मु० ।

आदिशब्दपरिगृहीताः कुशीला उच्यन्ते—क्षेत्रं हिरण्यं [1]चतुष्पदं च परिग्रहं ये गृह्णन्ति हरितकन्दफलभोजिनः कृतकारितानुमतपिण्डोपधिवसतिसेवापराः, स्त्रीकथारताः, मैथुनसेवापरायणाः, [2]विवेकाकथादि [3]अधिकरणोद्यताश्च कुशीलाः। धृष्टः प्रमत्तः विकृतवेषश्च कुशीलः। संसक्तो निरूप्यते—प्रियचारित्रे प्रियचारित्रः अप्रियचारित्रे दृष्टे अप्रियचारित्रः, नटवदनेकरूपग्राही संसक्तः। पञ्चेन्द्रियेषु प्रसक्तः त्रिविधगौरवप्रतिबद्धः, स्त्रीविषये संक्लेशसहितः, गृहस्थजनप्रियश्च संसक्तः। 'अवसण्णो' अवसन्नः। पार्श्वस्थसंसर्गात्स्वयमपि पार्श्वस्थः, कुशीलसंसर्गात्स्वयमपि कुशीलः, यः स्वच्छन्दसंपर्कात्स्वयमपि स्वच्छन्दवृत्तिः। यथाछन्दो निरूप्यते—उत्सूत्रमनुपदिष्टं स्वेच्छाविकल्पितं यो निरूपयति सोऽभिधीयते यथाछन्द इति। तद्यथा वर्षे पतति जलधारणमसंयमः क्षुरकर्तरिकादिभिः केशापनयनप्रशंसनं आत्मविराधनान्यथा भवतीति भूमिशय्या तृणपुञ्जे वसतः अवस्थितानामाबाधेति, उद्देशिकादिके [4]अनेऽदोषः ग्रामं सकलं पर्यटतो महती जीवनिकायविराधनेति, [5]गृहामत्रेषु भोजनमदोष इति कथनं, पाणिपात्रिकस्य परिशातनदोषो भवतीति निरूपणा, सम्प्रति यथोक्तकारी न विद्यत इति च भाषणं एवमादिनिरूपणापराः स्वच्छन्दा इत्युच्यन्ते ॥१९४४॥

हैं। गाथामें आये आदि शब्दसे ग्रहण किये कुशीलोको कहते है—जो क्षेत्र, सुवर्ण, चौपाये आदि परिग्रहको स्वीकार करते हैं, हरे कंद, फल खाते है, कृत कारित अनुमोदनासे युक्त भोजन, उपधि वसतिकाका सेवन करते है, स्त्रीकथामें लीन रहते है, मैथुन सेवन करते है, आस्रवके अधिकरणोमें लगे रहते हैं वे सब कुशील है। जो धृष्ट, प्रमादी और विकारयुक्त वेष धारण करता है वह कुशील है।

अब संसक्तका स्वरूप कहते हैं। चारित्र प्रेमियोंमें चारित्रप्रेमी, और चारित्रसे प्रेम न करनेवालोंमें चारित्रके अप्रेमी, इस तरह जो नटकी तरह अनेक रूप धारण करते हैं वे संसक्त मुनि हैं। जो पञ्चेन्द्रियोंके विषयोमे आसक्त होते हैं, ऋद्धिगारव, सातगारव और रसगारवमें लीन होते हैं, स्त्रियोंके विषयमें रागरूप परिणाम रखते हैं, और गृहस्थजनोंके प्रेमी होते हैं वे संसक्त मुनि हैं। वे पार्श्वस्थके संसर्गसे पार्श्वस्थ, कुशीलके संसर्गसे कुशील और स्वच्छन्दके सम्पर्कसे स्वयं भी स्वच्छन्द होते हैं।

अब यथाच्छन्दका स्वरूप कहते है—जो बात आगममें नहीं कही है, उसे अपनी इच्छानुसार जो कहता है वह यथाच्छन्द है। जैसे वर्षामें जलधारण करना अर्थात् वृक्षके नीचे बैठकर ध्यान लगाना असंयम है। छुरे कैंची आदिसे केश काटनेकी प्रशंसा करना और कहना कि केशलोच करनेसे आत्माकी विराधना होती है। पृथ्वीपर सोनेसे तृणोंमें रहनेवाले जन्तुओंको बाधा होती है। उद्दिष्ट भोजनमें कोई दोष नहीं है क्योंकि भिक्षाके लिये पूरे ग्राममें भ्रमण करनेसे जीव निकायकी महती विराधना होती है। घरके पात्रोंमें भोजन करनेमें कोई दोष नहीं है ऐसा कहना। जो हाथमें भोजन करता है उसे परिशातन दोष लगता है ऐसा कहना। आजकल आगमानुसार आचरण करनेवाले नहीं हैं ऐसा कहना। इत्यादि कहने वाले मुनि स्वच्छन्द कहे जाते हैं ॥१९४४॥

---

१. च पुष्पं च–अ०। २. विवेकादि –आ०। ३. अकरणो –अ०। ४. के भोजने मु०। ५. गृह मात्रादु भो –अ० आ०।

अविसुद्धभावदोसा कसायवसगा य मंदसंवेगा ।
अच्चासादणसीला मायाबहुला णिदाणकदा ॥१९४५॥

'अविसुद्धभावदोसा' भावाः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामाः, तेषां दोषाः शङ्कादयः ते अविशुद्धा अनिराकृता यैस्ते अविशुद्धभावदोषाः । 'कसायवसिगा' कषायवशवर्तिनः । मन्दसंवेगाः । 'अच्चासादणसीला' गुणानां गुणिनां चापमानकारिणः । प्रचुरमायानिदानं गताः ॥१९४५॥

सुहसादा किंमज्झा गुणसायी पावसुत्तपडिसेवी ।
विसयासापडिबद्धा गारवगरुया पमाइल्ला ॥१९४६॥

'सुहसादा' सुखास्वादनपराः । 'किंमज्झा' किं मह्यं केनचिदिति सर्वेषु संघकार्येष्वनादृताः । 'गुणसायी' गुणेषु सम्यग्दर्शनादिषु शेरत इव निरुत्साहाः । 'पावसुत्तपडिसेवी' आत्मनः परेषां वा अशुभपरिणामस्य मिथ्यात्वासंयमकषायाणां प्रवर्तकं शास्त्रं पापसूत्रं निमित्तं, वैद्यकं, कौटिल्यं, स्त्रीपुरुषलक्षणं, धातुवादः, काव्यनाटकानि, चोरशास्त्रं, शस्त्रलक्षणं, प्रहरणविद्याचित्रकलागान्धर्वगन्धयुक्त्यादिकं एतस्मिन् पापसूत्रे कृतादराभ्यासाः 'विसयासापडिबद्धा' अभिमतविषयपरिप्राप्त्यर्थां या आशा तस्यां प्रतिबद्धाः, 'तिगारवगुरुगा' गारवत्रयैर्गुरवः । 'पमाइल्ला' विकथादिपञ्चदशप्रमादसहिताः ॥१९४६॥

समिदीसु य गुत्तीसु य अभाविदा सीलसंजमगुणेसु ।
परतत्तीसु य तत्ता अणाहिदा भावसुद्धीए ॥१९४७॥

'समिदीसु य' समितिषु गुप्तिषु च संयमगुणेषु भावनारहिताः परव्यापारेषु प्रवृत्ता भावशुद्धाः वनादृताः ॥१९४७॥

उक्त प्रकारके क्षपक मरते समय सन्मार्गसे क्यों च्युत हो जाते हैं यह सात गाथाओंसे कहते हैं—

गा०–टी०—वे क्षपक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्ररूप परिणामोंके जो शंका आदि दोष हैं उन्हें दूर नहीं करते हैं. कषायोंके वशवर्ती होते हैं, उनका संवेगभाव मन्द होता है, गुणोंका और गुणीजनोंका वे अपमान करते हैं, तथा माया और निदानशल्यकी उनमें प्रचुरता होती है ॥१९४५॥

गा०–टी०—वे सुखशील होते हैं, मुझे किसीसे क्या, ऐसा मानकर वे संघके सब कार्योंमें अनादरभाव रखते हैं, सम्यग्दर्शन आदि गुणोंमें उनका उत्साह नहीं होता । अपने और दूसरोंके अशुभ परिणामको तथा मिथ्यात्व, असंयम और कषायको बढ़ानेवाला शास्त्र पापसूत्र है । निमित्त शास्त्र, वैद्यक, कौटिल्यशास्त्र (राजनीति), स्त्री पुरुषके लक्षण बतलानेवाला कामशास्त्र, धातुवाद (भौतिकी), काव्य नाटक, चोरशास्त्र, शस्त्रोंका लक्षण बतलानेवाला शास्त्र, प्रहार करनेकी विद्या, चित्रकला, गांधर्व (नाच गाना), गन्धशास्त्र, युक्तिशास्त्र आदि पापशास्त्रोंमें उनका आदर होता है, उसीका वे अध्ययन करते हैं । इष्ट विषयोंकी आशामें लगे रहते हैं, तीन गारवमें आसक्त होते हैं । विकथा आदि पन्द्रह प्रमादोंमें युक्त होते है ॥१९४६॥

गा०—समिति, गुप्ति और शील तथा संयमके गुणोंमें भावनासे रहित होते हैं । लौकिक कार्योंमें संलग्न रहते हैं भावोंकी शुद्धिकी ओर ध्यान नहीं देते ॥१९४७॥

गंथअणियत्ततण्हा बहुमोहा सबलसेवणासेवी ।
सद्दरसरूवगंधे फासेसु य मुच्छिदा [1]घडिदा ॥१९४८॥

'गंथाणियत्ततण्हा' अतृप्तपरिग्रहतृष्णा, 'बहुमोहा' अज्ञानबहुलाः । शबलसेवनापराः, शब्दादिषु विषयेषु मूर्छिताः [2]तत्रघटिताः ॥१९४८॥

परलोगणिप्पिवासा इहलोगे चेव जे सुपडिबद्धा ।
सज्झायादीसु य जे अणुट्ठिदा संकिलिट्ठमदी ॥१९४९॥

'परलोयणिप्पिवासा' परलोकनिस्पृहाः, ऐहिकेष्वेव कार्येषु प्रतिबद्धाः, स्वाध्यायादिष्वनुद्यताः, संक्लिष्टमतयः ॥१९४९॥

सव्वेसु य मूलुत्तरगुणेसु तह ते सदा अइचरंता ।
ण लहंति खवोवसमं चरित्तमोहस्स कम्मस्स ॥१९५०॥

मूलोत्तरगुणेषु सदा सातिचारा न लभन्ते चारित्रमोहस्य क्षयोपशमं ॥१९५०॥

एवं मूढमदीया अवंतदोसा करेंति जे कालं ।
ते देवदुब्भगत्तं मायामोसेण पावंति ॥१९५१॥

'एवं मूढमदीया' एवं मूढबुद्धयो अनपास्तदोषा ये कालं कुर्वन्ति ते देवदुर्भगतां प्राप्नुवन्ति मायया ॥१९५१॥

किंमज्झ णिरुच्छाहा हवंति जे सव्वसंघकज्जेसु ।
ते देवसमिदिवज्झा कप्पंते हुंति सुरमिच्छा ॥१९५२॥

'किं मज्झणिरुच्छाहा' किं मह्यमिति ये सर्वसंघकार्येष्वनादृतास्ते देवसमितिबाह्याः कल्पानामन्ते सुरम्लेच्छा भवन्ति ॥१९५२॥

गा०—उनकी परिग्रहकी तृष्णा कभी तृप्त नहीं होती। अज्ञानमें डूबे रहते हैं। गृहस्थोंके आरम्भमें फँसे होते हैं, शब्द, रस, रूप, गन्ध और स्पर्शमें ममत्वभाव रखते हैं ॥१९४८॥

गा०—परलोककी चिन्ता नहीं करते। इसी लोक सम्बन्धी कार्यों में लगे रहते हैं। स्वाध्याय आदिमें उद्यम नहीं करते। उनकी मति संक्लेशमय होती है ॥१९४९॥

गा०—सदा मूलगुणों और उत्तरगुणोंमें अतिचार लगाते हैं। इससे उनके चारित्रमोहका क्षयोपशम नहीं होता ॥१९५०॥

गा०—इस प्रकार दोषोंको दूर न करनेवाले वे मूढबुद्धि जब मरते हैं तो मायाचारके कारण अभागे देव होते हैं ॥१९५१॥

गा०—वे मुनि अवस्थामें 'मुझे इससे क्या' ऐसा मानकर संघके सब कार्योंमें अनादर

---

१. वा वडिया –आ० । २. तपः पतिताः आ० । तासवघटि मु० ।

कंदप्पभावणाए देवा कंदप्पिया मदा होंति ।
खिब्भिसयभावणाए कालगदा होंति खिब्भिसया ॥१९५३॥

अभिजोगभावणाए कालगदा आभिजोगिया हुंति ।
तह आसुरीए जुत्ता हवंति देवा असुरकाया ॥१९५४।

सम्मोहणाए कालं करित्तु दुंदुगा सुरा हुंति ।
अण्णंपि देवदुग्गइ उवयंति विराधया मरणे ॥१९५५॥

स्पष्टार्थमुत्तरगाथात्रयं ॥१९५३॥१९५४॥१९५५॥

इय जे विराधयित्ता मरणे असमाधिणा मरेज्जण्ह ।
तं तेसिं बालमरणं होइ फलं तस्स पुव्वुत्तं ॥१९५६॥

'इय जे विराधयित्ता' एवं ये रत्नत्रयं विनाश्य मरणकाले असमाधिना मृतिमुपयान्ति तत्तेषां बालमरणं भवति । तस्य बालमरणस्य फलं पूर्वमुक्तमेव ॥१९५६॥

जे सम्मत्तं खवया विराधयित्ता पुणो मरेज्जण्हू ।
ते भवणवासिजोदिसभोमेज्जा वा सुरा होंति ॥१९५७॥

'जे सम्मत्तं खवया' ये क्षपकाः सम्यक्त्वं विनाश्य म्रियन्ते भवनवासिनो ज्योतिष्का व्यन्तरा वा भवन्ति ॥१९५७॥

दंसणणाणविहूणा तदो चुदा दुक्खवेदणुम्मीए ।
संसारमण्डलगदा भमंति भवसागरे मूढा ॥१९५८॥

भाव रखनेके कारण देवोंकी समितिसे बहिष्कृत सौधर्मादि कल्पोंके अन्तमें बसनेवाले चाण्डाल जातिके देव होते हैं ॥१९५२॥

गा०—कन्दर्प भावनासे मरकर कन्दर्प जातिके देव होते हैं। किल्बिषभावनासे मरकर किल्बिषक जातिके देव होते हैं ॥१९५३॥

गा०—आभियोग्य भावनासे मरकर आभियोग्य जातिके देव होते हैं। तथा आसुरी भावनासे मरकर असुर जातिके देव होते हैं ॥१९५४॥

गा०—सम्मोहन भावनासे मरकर दुंदुग जातिके देव होते हैं। अन्य भी विराधना करके मरनेवाले मुनि देवगतिमें हीन देव होते हैं ॥१९५५॥

गा०—इस प्रकार जो क्षपक मरते समय रत्नत्रयको नष्ट करके असमाधिपूर्वक मरते हैं उनका वह मरण बालमरण होता है और उस बालमरणका फल पूर्वमें कहा है ॥१९५६॥

गा०—जो क्षपक सम्यक्त्वको नष्ट करके मरते है वे मरकर भवनवासी, व्यन्तर या ज्योतिषीदेव होते हैं ॥१९५७॥

गा०—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे रहित वे मूढ़देव स्वर्गसे च्युत होकर दुःखकी वेदनारूपी लहरोंसे भरे संसारसमुद्रमें भ्रमण करते हैं ॥१९५८॥

'दंसणणाणविहीणा' सम्यग्दर्शनज्ञानहीनास्ततः स्वर्गाच्च्युता दुःखबेलोर्मीके भवसागरे मूढा भ्रमन्ति, संसारमण्डलं गताः ॥१९५८॥

जो मिच्छत्तं गंतूण किण्हलेस्सादिपरिणदो मरदि ।
तल्लेस्सो सो जायइ जल्लेस्सो कुणदि सो कालं ॥१९५९॥

'जो मिच्छत्तं गंतूण' यः कृष्णलेश्यादिपरिणतो मिथ्यात्वं गत्वा म्रियते तल्लेश्यो जायते । परत्र च यल्लेश्यः कालं कृतवान् । फलति ॥१९५९॥

विजहणा निरूप्यते—

एवं कालगदस्स दु सरीरमंतोव्व होज्ज बाहिं वा ।
विज्जावच्चकरा तं सयं विकिंचंति जदणाए ॥१९६०॥

'एवं कालगदस्स' एवं कालगतस्य शरीरमन्तर्बहिर्वावस्थितं वैयावृत्यकराः स्वयमेवापनयन्ति यत्नेन ॥१९६०॥

समणाणं ठिदिकप्पो वासावासे तहेव उडुबंधे ।
पडिलिहिदव्वा णियमा णिसीहिया सव्वसाधूहिं ॥१९६१॥

'समणाणं ठिदिकप्पो' श्रमणाना स्थितिकल्पो वर्षावासे ऋतुप्रारम्भे च नियमेन सर्वे. साधुभिर्निषीधिका नियमेन प्रतिलेखनीया ॥१९६१॥

तस्या लक्षणमाचष्टे—

एगंता सालोगा णादिविकिट्ठा ण चावि आसण्णा ।
वित्थिण्णा विद्धत्ता णिसीहिया दूरमागाढा ॥१९६२॥

गा०—जो क्षपक मिथ्यादृष्टि होकर कृष्ण आदि लेश्याके साथ मरता है वह जिस लेश्याके साथ मरता है उसी लेश्यावाला होकर जन्म लेता है ॥१५५९॥

गा०—इस प्रकार नगर आदिके मध्यमे या नगरसे बाहर मरणको प्राप्त उस क्षपकके शरीरको वैयावृत्य करनेवाले परिचारक मुनि स्वयं ही सावधानतापूर्वक हटा देते हैं ॥१९६०॥

गा०—वर्षा ऋतुके चार मासोमें एक स्थानपर वास प्रारम्भ करते समय और ऋतुके प्रारम्भमें सब साधुओंको नियमसे निषीधिकाकी प्रतिलेखना करना चाहिये, यह साधुओंका स्थितिकल्प है ॥१९६१॥

विशेषार्थ—मुमुक्षु साधुगण तो अपने शरीरसे भी निरीह होते हैं वे मृत क्षपकके शरीरको हटानेका प्रयत्न क्यों करते हैं? ऐसी शंका होनेपर आचार्य उत्तर देते हैं कि पूर्वमें साधुओंके जो दस स्थितिकल्पोंका कथन किया है, उसमे एक मास और पज्जोसवण कल्प भी हैं। उसके अनुसार जब साधु वर्षा योग धारण करते हैं या ऋतुका प्रारम्भ होता है तब उन्हें निषीधिका दर्शन करना आवश्यक होता है। जहाँ क्षपकके शरीरको स्थापित किया जाता है उस स्थानको निषीधिका कहते है। इसलिये निषद्याका दर्शन साधुओंका आवश्यक कर्तव्य होनेसे मुमुक्षु साधु निषद्याके निर्माणके लिये स्वयं प्रयत्न करते हैं ॥१९६१॥

'एगंता सालोगा' एकांता वरैः प्रायेणावृष्या नातिदूरा नात्यासन्ना विस्तीर्णा विध्वस्ता दूरमव-गाढा ॥१९६२॥

[1]अविसुय असुसिर अघसा सा उज्जोवा बहुसमा असिणिद्धा ।
णिज्जंतुगा [2]अरहिदा [3]अविला य तहा अणाबाधा ॥१९६३॥
जा अवरदक्खिणाए व दक्खिणाए व अहव अवराए ।
वसधीदो [4]विरइज्जइ णिसीधिया सा पसत्थत्ति ॥१९६४॥

'जा अवरदक्खिणाए' अपरदक्षिणायायां, दक्षिणस्यां, अपरस्यां वा दिशि वसतितः निषीधिका प्रशस्ता ॥१९६३॥१९६४॥

सव्वसमाधी पढमाए दक्खिणाए दु भत्तमो सुलभं ।
अवराए सुविहारो होदि य से उवधिलाभो य ॥१९६५॥

'सव्वसमाधी पढमाए' सर्वेषां समाधिर्भवति 'पढमाए' अपरदक्षिणदिगवस्थितायां निषीधिकायां, दक्षिणदिगवस्थितायामाहारः सुलभः । पश्चिमायां सुखविहारः उपकरणलाभश्च ॥१९६५॥

जदि तेसिं वाघादो दट्ठव्वा पुव्वदक्खिणा होइ ।
अवरुत्तरा य पुव्वा उदीचिपुव्वुत्तरा कमसो ॥१९६६॥

'जदि तेसिं वाघादो' यदि ता निषीधिका न लभ्यन्ते, पूर्वदक्षिणनिषीधिका द्रष्टव्या, अपरोत्तरा वा पूर्वा वा उदीची वा पूर्वोत्तरा वा क्रमेण ॥१९६६॥

निषधाका लक्षण कहते हैं—

गा०—निषीधिका एकान्त स्थानमें होना चाहिये जहाँ दूसरे लोग उसे न देख सकते हों। नगर आदिसे न अति दूर और न अति निकट होनी चाहिये। विस्तीर्ण होनी चाहिये। प्रासुक होनी चाहिये तथा अतिदृढ़ होनी चाहिये ॥१९६२॥

गा०—वह चीटियोंसे रहित होनी चाहिये। अन्दर प्रवेश कराने वाले छिद्रोंसे रहित होनी चाहिये। प्रकाशवाली होनी चाहिये। समभूमि होनी चाहिये। गीली नही होनी चाहिये, जन्तु रहित होनी चाहिये। तिरछे छिद्रवाली नहीं होनी चाहिये तथा बाधारहित होनी चाहिये ॥१९६३॥

गा०—तथा वह निषीधिका क्षपकके स्थानसे पश्चिम-दक्षिण दिशामें या दक्षिण दिशामे या पश्चिम दिशामें हो तो उत्तम होती है ॥१९६४॥

गा०—यदि निषीधिका पश्चिम-दक्षिण दिशामें हो तो सर्व संघको समाधिलाभ होता है। यदि दक्षिण दिशामें हो तो संघको आहार लाभ सुलभ होता है। यदि पश्चिम दिशामे हो तो संघका विहार सुखपूर्वक होता है तथा उपकरणोंका लाभ होता है ॥१९६५॥

गा०—यदि उक्त दिशाओंमें निषीधिका निर्माणमें बाधा हो तो क्रमशः पूर्व दक्षिणमें, पश्चिम-उत्तरमें, पूरबमें या उत्तरमें या पूर्वोत्तरमें होना चाहिये ॥१९६६॥

---

१. एतां टीकाकारो नेच्छति । अविसुद्ध—आ०, अभिसुआ—मु० । २. अहरिदा मु० । ३. अचला आ० । ४. कायव्वाइ आ०; वण्णिज्जदि —मु० ।

एदासु फलं कमसो जाणेज्ज तुमंतुमा य कलहो य ।
भेदो य गिलाणं पि य चरिमा पुण कड्ढदे अण्णं ॥१९६७॥

'एदासु' एतासु निषीधिकासु फलं क्रमशो विजानीयात् । 'तुमंतुमा य' पूर्वदक्षिणस्यां स्पर्द्धा अपरोत्तरस्यां कलहः, पूर्वस्यां भेदः उदीच्यां व्याधिः, पूर्वोत्तरस्यां अन्योन्यमेनापकृष्यते ॥१९६७॥

जं वेलं कालगदो भिक्खू तं वेलमेव णीहरणं ।
जग्गणबंधणछेदणविधी अवेलाए कादव्वा ॥१९६८॥

'जं वेलं कालगदो भिक्खू तं वेलमेव णीहरणं' यस्यां वेलायां मृतो भिक्षुः तस्यां वेलायामेवापनयनं कर्तव्यं, अवेलायां मृतश्चेत् जागरणं बन्धनं छेदनं वा कर्तव्यं ॥१९६८॥

के जागरणं कुर्वन्तीत्याचष्टे—

बाले वुड्ढे सीसे तवस्सिभीरुगिलाणए दुहिदे ।
आयरिए य विकिंचय धीरा जग्गंति जिदणिद्दा ॥१९६९॥

'बाले वुड्ढे' बालवृद्धान्, शिक्षकान्, तपस्विनः, भीरून्, व्याधितान्, दुःखितानाचार्यांश्च अपाकृत्य धीरा जितनिद्रा जागरणं कुर्वन्ति ॥१९६९॥

के बध्नन्तीत्याचष्टे—

गीदत्था कदकरणा महाबलपरक्कमा महासत्ता ।
बंधंति य छिंदंति य करचरणंगुट्ठयपदेसे ॥१९७०॥

गा०—किन्तु पूर्व-दक्षिण दिशामें होनेसे 'मै ऐसा हूँ, तुम ऐसे हो', इत्यादि रूप संघर्ष होता है। पश्चिमोत्तर दिशामें होनेसे कलह होता है। पूर्व दिशामें होनेसे संघमें भेद पड़ता है। उत्तर दिशामे होनेसे व्याधि होती है। पूर्वोत्तर दिशामे होनेसे परस्परमें खींचातानी होती है। यह क्रमसे उक्त दिशाओंमें निषद्या बनानेका फल है ॥१९६७॥

विशेषार्थ—पं० आशाधर जीने अपनी टीकामे लिखा है कि पूर्वोत्तर दिशामें निषद्या करनेसे दूसरे मुनिकी मृत्यु होती है ॥१९६७॥

गा०—जिस समय साधु मरे उसी समय उसे वहाँसे हटा देना चाहिये। यदि असमयमें मरा हो तो जागरण, बन्धन या छेदन करना चाहिये ॥१९६८॥

जागरण कौन करते हैं यह कहते हैं—

गा०—बालमुनि, वृद्ध मुनि, शिक्षक मुनि, तपस्वी मुनि, डरपोक मुनि, रोगी मुनि और दुखित हृदय आचार्योंके सिवाय निन्द्रा को जीतनेवाले धीर मुनि जागरण करते हैं ॥१९६९॥

बाँधते कौन हैं, यह कहते हैं—

गा० जो मुनि गृहीतार्थ होते हैं, जिन्होंने अनेक बार क्षपकोंका कर्म किया है, महाबल-

'गीदत्था' गृहीतार्थाः, कृतकरणा महाबलपराक्रमा महासत्त्वा बध्नन्ति छिन्दन्ति च करचरणं अङ्गुष्ठ-प्रदेशं वा ॥१९७०॥

एवमकरणे को दोष इत्याशङ्कायां दोषमाचष्टे—

जदि वा एस ण कीरेज्ज विधि तो तत्थ देवदा कोई ।
आदाय तं कलेवरमुट्ठिज्ज रमिज्ज बाधेज्ज ॥१९७१॥

'जदि वा एस' यद्येष विधिर्न क्रियते कदाचिद्देवता क्रीडनशीला मृतकमादाय उत्तिष्ठेत् प्रधावेद्रमेत वा बाधयेद्वा तद्दर्शनात् बालादीनां चित्तसंक्षोभः पलायनं मरणं वा भवेत् ॥१९७१॥

[1]उयसयपडिदावण्णं उवण्णगहिदं तु तत्थ उवकरणं ।
सागारियं च दुविहं परिहारियमपरिहरियं वा ॥१९७२॥
जदि विक्खादा भत्तपइण्णा अज्जा व होज्ज कालगदो ।
देउलसागारित्ति व सिवियाकरणं पि तो होज्ज ॥१९७३॥

'जइ विक्खादा भत्तपइण्णा' यदि सर्वजनप्रकटा सल्लेखना आर्यिका वा भवेत् कालगता स्थानरक्षका गृहस्था वा तत्र शिविका कर्तव्या ॥१९७२॥१९७३॥

तेण परं संठाविय संथारगदं च तत्थ बंधित्ता ।
उट्ठेंतरक्खणट्ठं गामं तत्तो सिरं किच्चा ॥१९७४॥

तेन परं संस्थाप्य तेन मृतकेन संस्तरबन्धात्ततो मृतकबन्धनं कृत्वा ग्रामाभिमुखं शिरः कृत्वा उत्थान-रक्षणार्थं ॥१९७४॥

शाली, महापराक्रमी, महासत्त्वशाली वे मुनि मृतकके हाथ, पैर या अगूठेको बाँधते या छेदते हैं ॥१९७०॥

ऐसा नहीं करनेमें दोष कहते हैं—

गा०—यदि यह विधि न की जाये तो कोई मनोविनोदी देवता मृतकको उठाकर दौड़ सकता है, क्रीडा कर सकता है, बाधा पहुँचा सकता है और उसे देखकर बालक आदि का चित्त चंचल हो सकता है, वे डरकर भाग सकते हैं और उनका मरण भी हो सकता है ॥१९७१॥

क्षपकके उपचारके लिये उपकरणोंके प्रकार बतलाते हैं—

गा०—कुछ उपकरण तो वसतिकासे सम्बद्ध होते हैं। कुछ उपकरण गृहस्थ सम्बन्धी होते हैं। उनमेंसे कुछ त्याज्य होते हैं और कुछ त्यागने योग्य नहीं हैं ॥१९७२॥

अब आर्यिकाओंकी संन्यास विधि कहते हैं—

गा०—यदि भक्त प्रतिज्ञा मरण करने वाली विख्यात आर्यिका हो या कोई गृहस्था हो या स्थान की रक्षिका हो तो उसके लिये शिविका बनाना चाहिये ॥१९७३॥

गा०—शिविका बनानेके पश्चात् उसके शवको शिविकामें रखकर संस्तरके साथ उसे

---

१. एतां टीकाकारो नेच्छति ।

पुव्वाभोगिय मग्गेण आसु गच्छंति तं समादाय ।
अट्ठिदमणियत्तंता य पिट्ठदो अणिव्भंता ॥१९७५॥

२'पुव्वाभोगियमग्गेण' पूर्वालोकितेन मार्गेण आशु गच्छन्ति तत्समादाय अस्थितं अनिवर्तमानाः पृष्ठत आलोकनं मुक्त्वा ॥१९७५॥

कुसमुट्ठिं घेत्तूण य पुरदो एगेण होइ गंतव्वं ।
अट्ठिदअणियत्तंतेण पिट्ठदो लोयणं मुच्चा ॥१९७६॥

'कुसमुट्ठि घेत्तूण' कुशमुष्टि गृहीत्वा पुरस्तादेकेन गन्तव्य, अस्थित अनिवर्तमानेन अपृष्ठावलोकिना ॥१९७६॥

तेण कुसमुट्ठिधाराए अव्वोच्छिण्णाए समणिपादाए ।
संथारो कादव्वो सव्वत्थ समो सगिं तत्थ ॥१९७७॥

'तेण कुसमुट्ठिधाराए' तेन पुरस्तादगतेन पूर्वनिरूपितनिषीधिकास्थानं कुशमुष्टिधारया अव्युच्छिन्नया समनिपातया सर्वत्र समः संस्तरः कार्यः सकृत्तत्र ॥१९७७॥

जत्थ ण होज्ज तणाइं चुण्णेहिं वि तत्थ केसरेहिं वा ॥
संथरिदव्वा लेहा सव्वत्थ समा अवुच्छिण्णा ॥१९७८॥

'जत्थ ण होज्ज तणाइं' यत्र न लभ्यन्ते कुशतृणानि तत्र चूर्णैर्वा केसरैर्वा संस्तरः कार्यः सर्वत्र समोऽव्युच्छिन्नः ॥१९७८॥

बाँध देना चाहिये जिससे वह उठ न सके। उसका सिर गाँवकी ओर रहना चाहिये ॥१९७४॥

गा०—उस शिविकाको लेकर पहले देखे हुए मार्गसे शीघ्र जाते है। न तो मार्गमें रुकते हैं और न पीछेकी ओर देखते हैं ॥१९७५॥

गा०—उसके आगे एक मुट्ठीमें कुश लेकर कोई मनुष्य आना चाहिये। उसको भी न तो मार्ग मे रुकना चाहिये और न पीछे देखना चाहिये ॥१९७६॥

गा०—उस आगे गये पुरुषको पहलेसे देखे गये निषीधिकाके स्थानमें जाकर लगातार मुट्ठीसे एक समान कुश डालते हुए एक संस्तर बनाना चाहिये जो सर्वत्र सम हो ॥१९७७॥

गा०—जहाँ कुश न मिलते हों वहाँ प्रासुक चावल आदिके चूर्णसे अथवा प्रासुक केसरसे संस्तर बनाना चाहिये जो सर्वत्र सम हो ॥१९७८॥

विशेषार्थ—गाथामें 'लेहा' पाठ है उसका अर्थ रेखा होता है। अतः आशाधर जीने उसका यह अर्थ किया है कि चूर्ण या केसरसे मस्तकसे लेकर पैर तक समान रेखा बनाना चाहिये। हमारी समझके अनुसार यह वह क्रिया है जिसे चौक पूरना कहते हैं। जो सर्वत्र शुभ क्रियामें किया जाता है ॥१९७८॥

१-२. पुव्वाभोगिय—आ० ।

असमत्वे दोषमाचष्टे—

जदि विसमो संथारो उवरिं मज्झे व होज्ज हेट्ठा वा ।
मरणं गिलाणयं वा गणिवसभजदीण जायज्जा ॥१९७९॥

'जदि विसमो संथारो' यदि विषमः संस्तर उपरिष्टात् मध्ये अधस्ताद्वा । उपरिवैषम्ये गणिनो मरणं व्याधिर्वा, मध्ये विषमश्चेत् वृषभस्य मरणं व्याधिर्वा, अधस्ताद्विषमत्वे यतीनां मरणं व्याधिर्वा ॥१९७९॥

जत्तो दिसाए गामो तत्तो सीसं करित्तु सोवधियं ।
उट्ठंतरक्खणट्ठं वोसरिदव्वं सरीरं तं ॥१९८०॥

'जत्तो दिसाए गामो' यस्यां दिशि ग्रामः ततः शिरः कृत्वा सपिच्छकं शरीरं व्युत्स्रष्टव्यं, उत्थानरक्षणार्थं ग्रामादिगमभिमुखतया शिरोरचना ॥१९८०॥

उपकरणस्थापनायां तत्र गुणमाचष्टे—

जो वि विराधिय दंसणमंते कालं करित्तु होज्ज सुरो ।
सो वि विबुज्झदि दट्ठूण सदेहं सोवधिं सज्जो ॥१९८१॥

'जो वि विराधिय' योऽपि दर्शनं विनाश्यान्ते कालगतस्सुरो भवेत् सोऽपि जानाति सोपकरणं स्वदेहं दृष्ट्वा प्रागहं संयत इति ॥१९८१॥

जदा भाए रिक्खे जदि कालगदो सिवं तु [1]सव्वेसिं ।
[2]एक्को दु समे खेत्ते दिवड्ढखेत्ते मरंति दुवे ॥१९८२॥

संस्तरेके विषम होनेपर दोष कहते हैं—

गा०—यदि संस्तर ऊपर मध्यमें या नीचे विषम होता है तो ऊपरमें विषम होनेपर आचार्य का मरण या उन्हें रोग होता है। मध्यमें विषम होनेपर एलाचार्यका मरण या उन्हें रोग होता है। और नीचे पैरके पास विषम होनेपर अन्य साधुओंका मरण या उन्हें रोग होता है ॥१९७९॥

विशेषार्थ—आशाधर जी ने लिखा है कि उक्त व्याख्यान टीकाकारोंका है। किन्तु टिप्पणकमें कहा है—ऊपरमें विषम होनेपर गणिका मरण होता है। मध्यमें विषम होनेपर एलाचार्यको रोग होता है और नीचेमें विषम होने पर साधुओंको रोग होता है ॥१९७९॥

गा०—जिस दिशामें ग्राम हो, उस ओर सिर करके पीछीके साथ उस शवको रख देना चाहिये। शवके उठनेके भयसे उसका सिर गाँवकी ओर किया जाता है ॥१९८०॥

उपकरण (पीछी) स्थापित करनेके गुण कहते हैं—

गा०—जो सम्यक्त्वकी विराधना करके मरकर देव होता है वह भी पीछीके साथ अपना शरीर (शव) देखकर ही यह जान लेता है कि मैं भी पूर्वभवमें संयमी था ॥१९८१॥

गा०—अल्पनक्षत्रमें यदि क्षपकका मरण होता है तो सबका कल्याण होता है। यदि

---

१. सव्वेहिं—अ० आ०। २. एक्को दु तो मरिज्ज मत्ते विहड्ढ खित्ते मरिति दुवो—आ०।

[1]सदभिसभरणा अद्दा सादा असलेस्स जिट्ठ अवरवरा ।
रोहिणिविसाहपुणव्वसु तिउत्तरा मज्झिमा सेसा ॥१९८३॥

'णत्ता भाणे रिक्खे' अल्पनक्षत्रे यदि क्षपकः कालं गतः सर्वेभ्यः शिवं भवति, मध्यमनक्षत्रे यदि मृतः अन्येष्वेको मृतिमुपैति, महानक्षत्रे यदि मृतो द्वयोर्भवति मरणं ॥१९८२–१९८३॥

गणरक्खणत्थं तम्हा तणमयपडिबिंबयं खु कादूण ।
एक्कं तु समे खेत्ते दिवड्ढखेत्ते दुवे देज्ज ॥१९८४॥

'गणरक्खणत्थं' गणरक्षणार्थं तस्मात्तृणमयं प्रतिबिम्बकं कृत्वा मध्यमनक्षत्रे एकं दद्यात् । उत्तमनक्षत्रे प्रतिबिम्बद्वयं ॥१९८४॥

प्रतिबिम्बदानमाचष्टे—

तट्ठाणसावणं चिय तिक्खुत्तो ठविय मडयपासम्मि ।
विदियवियप्पिय भिक्खू कुज्जा तह विदियतदियाणं ॥१९८५॥

'तट्ठाणसावणं' मृतकपार्श्वे तत्प्रतिबिम्बं स्थाप्य त्रिकमुच्चैर्घोषयेत्, तस्मिन्स्थाने द्वितीयोऽर्पित इति एकार्पणेऽयं क्रमः । द्वयोः प्रतिबिम्बयोरर्पणे द्वितीयतृतीयौ दत्ताविति त्रि· श्रावयेत् ॥१९८५॥

मध्यम नक्षत्रमें मरण होता है तो शेष साधुओंमेंसे एकका मरण होता है । यदि महानक्षत्रमे मरण होता है तो दो का मरण होता है ॥१९८२॥

गा०—शतभिषा, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा, ज्येष्ठा ये जघन्य नक्षत्र हैं । रोहिणी, विशाखा, पुनर्वसु, उत्तरा फाल्गुनी, उत्तरा भाद्रपद, उत्तराषाढ़ा ये उत्कृष्ट नक्षत्र हैं । शेष नक्षत्र मध्यम हैं ॥१९८३॥

विशेषार्थ—पं० आशाधर जी ने कहा है, अल्प नक्षत्रसे मतलब है जो पन्द्रह मुहूर्त तक रहते हैं । ऐसे शतभिषक्, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा, ज्येष्ठा इन छहमेंसे एक नक्षत्र या उसके अंशमें मरण होनेपर सबका कल्याण होता है । जो नक्षत्र तीस मुहूर्त तक रहते हैं ऐसे अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा, पूर्वफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, मूल, पूर्वाषाढ़ा, श्रवण, धनिष्ठा, पूर्वभाद्रपद, रेवती, इनमेंसे किसी एक नक्षत्र या उसके अंशमें मरण होनेपर एक अन्य मुनिकी भी मृत्यु होती है । जो नक्षत्र पैंतालीस मुहूर्त तक रहते हैं ऐसे उत्तर फाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तरा भाद्रपदा, पुनर्वसु, रोहिणी, विशाखामेंसे किसी एक नक्षत्र या उसके अंशमें मरण होनेपर दो अन्य मुनियोंकी भी मृत्यु होती है ॥१९८३॥

गा०—इस लिये संघकी रक्षाके अभिप्रायसे तृणोंका पुतला बनाकर यदि मध्यम नक्षत्रमें मरण हुआ है तो उसके साथ एक पुतला देवे । यदि उत्तम नक्षत्रमें मरण हुआ तो उसके साथ दो पुतले देवें ॥१९८४॥

गा०-टी०—मृतकके पासमें उस पुतलेको स्थापित करके तीन बार उच्च स्वरसे घोषणा करे कि मैंने उस दूसरेके स्थानमें यह दूसरा स्थापित किया है । जिसके स्थानमें यह पुतला स्थापित

---

१. एषा गाथा नास्ति 'आ०' प्रतौ ।

असदि तणे चुण्णेहिं च केसरच्छारिट्ठियादिचुण्णेहिं ।
कादव्वोध ककारो उवरिं हिट्ठा [1]यकारो से ॥१९८६॥

'असदि तणे' प्रतिबिम्बकरणार्थमसति तृणे चूर्णैः पुष्पकेसरैर्वा भस्मना इष्टकाचूर्णैर्वा उपरि ककारं लिखित्वा तस्याधस्तात् [2]तकारं कुर्यात् [3]यत इति लिखेदित्यर्थः ॥१९८६॥

उवगहिदं उवकरणं हवेज्ज जं तत्थ पाडिहरियं तु ।
पडिबोधित्ता सम्मं अप्पेदव्वं तयं तेसिं ॥१९८७॥

'उवगहिदं उवकरणं' मृतकशयनी यद्गृहीतमुपकरणं वस्त्रकाष्ठादिकं गृहस्थयाञ्चां कृत्वा तत्रोपकरणे यत्प्रतिनिवर्तनीयं वस्त्रादिकं तत्पाडिहारिकमित्युच्यते । तदर्पयितव्यं तेषां गृहस्थानां सम्यक्प्रतिबोध्य ॥१९८७॥

आराधणपत्तीयं काउसग्गं करेदि तो संघो ।
अधिउत्ताए इच्छागारं खवयस्स वसधीए ॥१९८८॥

'आराधणपत्तीयं' आराधनास्माकमित्येवं यथा स्यादिति संघः कायोत्सर्गं करोति, क्षपकस्य वसतौ अधियुक्तदेवतां प्रति इच्छाकारः कार्यः युष्माकमिच्छया संघोऽत्रासितुमिच्छतीति ॥१९८८॥

सगणत्थे कालगदे खमणमसज्झाइयं च तद्दिवसं ।
ण [4]ज्झाइ परगणत्थे भयणिज्जं खमणकरणंपि ॥१९८९॥

'सगणत्थे कालगदे' आत्मीयगणस्थे यतौ कालं गते उपवासः कार्यः स्वाध्यायश्च न कर्तव्यस्तस्मिन्

किया है वह चिरकाल तक जीवित रहकर तपस्या करे। यह एक पुतला देनेका विधान है। दो पुतले स्थापित करने पर तीन वार घोषणा करे कि मैंने दूसरा और तीसरा पुतला स्थापित किया है। ये दोनों जिनके बदलेमें स्थापित किये हैं वे दोनों साधु चिरकाल तक जीवित रहकर तप करें ॥१९८५॥

गा०—यदि पुतला बनानेके लिये तृण न हो तो ईंट पत्थर आदिके चूर्णसे अथवा, केशर, क्षार वगैरहसे ऊपर ककार लिखकर उसके नीचे तकार लिखे। इस प्रकार 'क्त' अक्षर लिखे ॥१९८६॥

गा०-टी०—मृतककी शय्याके निर्माणके लिये गृहस्थोंसे जो वस्त्र काष्ठ आदि लिया गया हो, उनमेंसे जो लौटा देने योग्य हो उसे पाडिहारिक कहते हैं। उस पाडिहारिकको गृहस्थोंको सम्यक् रीतिसे समझा बुझाकर लौटा देना चाहिये ॥१९८७॥

गा०—हमें भी इसी प्रकार आराधनाकी प्राप्ति हो इस भावनासे संघ एक कायोत्सर्ग करे। तथा क्षपककी वसतिकाकी जो अधिष्ठात्री देवता हो उसके प्रति इच्छाकार करे कि आपकी इच्छासे संघ इस स्थानपर बैठना चाहता है ॥१९८८॥

गा०-टी०—अपने संघके साधुका स्वर्गवास होनेपर उस दिन उपवास करना चाहिये और

१–२. य कारो आ० मु०। ३. त् काय इति –आ० मु०। ४. सज्झाइ –मु०।

विले। परगणस्थे कालं गते पठन्ति उपवासकरणमपि नाव्यं। अन्ये तु पठन्ति, 'ण कादव्व परगणत्थे'[1] 'ण' स्वाध्यायः कर्तव्यः परगणस्थे मृते उपवासकरणीयं भाज्यमिति तेषां व्याख्या ॥१९८९॥

एवं पडिट्ठविता पुणो वि तदियदिवसे उवेक्खंति।
संघस्स सुहविहारं तस्स गदी चेव णादुं जे ॥१९९०॥

'एवं पडिट्ठविता' उक्तेन क्रमेण क्षपकशरीरं प्रतिष्ठाप्य पुनस्तृतीये दिवसे गत्वा पश्यन्ति, संघस्य सुखविहारं तस्य च गतिं ज्ञातुं ॥१९९०॥

जदि दिवसे संचिट्ठदि तमणालद्धं च अक्खदं मडयं।
तदिवासाणि सुभिक्खं खेमसिवं तम्हि रज्जम्मि ॥१९९१॥

'जदि दिवसे' यावन्तो दिवसाः म वृकादिभिरस्पृष्टमक्षतं च तन्मृतकं 'तदिवासाणि' तावन्ति वर्षाणि सुभिक्षं क्षेमं शिवं च तस्मिन् राज्ये ॥१९९१॥

जं वा दिसमुवणीदं सरीरयं खगचदुप्पदगणेहिं।
खेमं सिवं सुभिक्खं विहरिज्जो तदूदिसं संघो ॥१९९२॥

'जं वा दिसमुवणीदं' यां वा दिशमुपनीतं शरीरं पक्षिभिश्चतुष्पदैर्वा तां दिशं संघो विहरेत् क्षेमादिक तत्र ज्ञात्वा ॥१९९२॥

जदि तस्स उत्तमंगं दिस्सदि दंता च उवरिगिरिसिहरे।
कम्ममलविप्पमुक्को सिद्धिं पत्तोत्ति णादव्वो ॥१९९३॥

'जदि तस्स उत्तमंगं' यदि तस्य शिरो दृश्यते दन्ता वा गिरिशिखरस्योपरि कर्ममलविप्रमुक्तः सिद्धिमसौ प्राप्त इति ज्ञातव्यः ॥१९९३॥

स्वाध्याय नहीं करना चाहिये। दूसरे संघके साधुका मरण होनेपर स्वाध्याय तो नहीं ही करना चाहिये। उपवास कर भी सकते हैं, नहीं भी करते। अन्य ऐसा पढ़ते हैं कि दूसरे संघके साधुका मरण होनेपर स्वाध्याय करना चाहिये। उपवास कर भी सकते हैं नहीं भी करते ॥१९८९॥

गा०—उक्त प्रकारसे क्षपकका शरीर स्थापित करके तीसरे दिन जाकर देखते हैं कि संघका विहार सुखपूर्वक होगा या नहीं। तथा मृतककी गति अच्छी हुई या बुरी ॥१९९०॥

गा०—जितने दिनों तक वह शव गीदड़ आदिसे सुरक्षित रहता है उतने वर्षों तक उस राज्यमें सुभिक्ष और शान्ति रहती है ॥१९९१॥

गा०—अथवा पक्षी और पशुओंके द्वारा वह शरीर जिस दिशामें ले जाया गया हो क्षेम-सुभिक्ष आदि जानकर उसी दिशामें संघको विहार करना चाहिये ॥१९९२॥

गा०—यदि उसका सिर और दांत पर्वतके शिखरके ऊपर दिखाई दे तो वह मुक्तिको प्राप्त हुआ है, ऐसा जानना चाहिये ॥१९९३॥

---

१. ण स्वा —आ० मु०।

वेमाणिओ थलगदो समम्मि जोदिसिय वाणविंतरओ।
गड्डाए भवणवासी एस गदी से समासेण ॥१९९४॥

'वेमाणिओ थलगदो' वैमानिको देवो जात उन्नतभूमिस्थे उत्तमाङ्गे, समभूमिदेशे यदि दृश्यते ज्योतिष्को व्यन्तरो जातः, गर्ते यदि दृश्यते भवनवासी देवो जातः, एषा गतिस्तस्य संक्षेपेण निरूपिता। विजहणत्ति सूत्रपदं गतं। विजहणा ॥१९९४॥

आराधकस्तवनमुत्तरं ते सूरा भयवंतो—

ते सूरा भयवंता आइच्चिऊण संघमज्झम्मि।
आराधणापडाया चउप्पयारा हिदा जेहिं ॥१९९५॥

'ते सूरा भगवंतः आइच्चिऊण' प्रतिज्ञां कृत्वा संघमध्ये चतुःप्रकाराराधना पताका यैरागृहीता ॥१९९५॥

ते धण्णा ते णाणी लद्धो लाभो य तेहिं सव्वेहिं।
आराधणा भयवदी पडिवण्णा जेहिं संपुण्णा ॥१९९६॥

'ते धण्णा' पुण्यवन्तः। ते ज्ञानिनः, ते लब्धलाभाः, सर्वेभ्यो यैराराधना भगवती संपूर्णा प्रतिपन्ना ॥१९९६॥

किं णाम तेहिं लोगे महाणुभावेहिं हुज्ज ण य पत्तं।
आराधणा भगवदी सयला आराधिदा जेहिं ॥१९९७॥

'किं णाम तेहिं लोगे' किन्नाम तैर्लोके महानुभावैरप्राप्तं यैराराधिता सकला आराधना भगवती ॥१९९७॥

विशेषार्थ—आशाधरजी ने 'कर्ममल विप्रमुक्त' का अर्थ मिथ्यात्व आदि स्तोक कर्मो से मुक्त किया है। तथा लिखा है कि जयनन्दिके टिप्पणमें 'सिद्धि' का अर्थ सर्वार्थसिद्धि किया है। किन्तु प्राकृतटीकामें सिद्धिका अर्थ निर्वाण किया है ॥१९९३॥

गा०—टी०—यदि मृतकका मस्तक उन्नत भूमिभागमे दिखाई दे तो वह मरकर वैमानिक देव हुआ जानना। यदि सम भूमिभागमे दिखाई दे तो वह ज्योतिष्क देव या व्यन्तर हुआ जानना। यदि गढ़ेमें दिखाई दे तो वह भवनवासी देव हुआ जानना। इस प्रकार यह उसकी गति संक्षेपमें कही है ॥१९९४॥

आगे आराधक क्षपकका स्तवन करते हैं—

गा०—जिन्होंने संघके मध्यमें प्रतिज्ञा करके चार प्रकारकी आराधना रूप पताकाको ग्रहण किया वे शूरवीर और पूज्य हैं ॥१९९५॥

गा०—जिन्होंने भगवती आराधनाको सम्पूर्ण किया वे पुण्यशाली और ज्ञानी हैं और उन्होंने जो प्राप्त करने योग्य था उसे प्राप्त कर लिया ॥१९९६॥

गा०—जिन्होंने सम्पूर्ण भगवती आराधनाका आराधन किया उन महानुभावोंने लोकमें क्या प्राप्त नहीं किया ॥१९९७॥

निर्यापकस्तवनमुत्तरं—

ते वि य महाणुभावा धण्णा जेहिं च तस्स खवयस्स ।
सव्वादरसत्तीए उवविहिदाराधणा सयला ॥१९९८॥

'ते वि य महाणुभावा' तेऽपि च महाभागा धन्या यैस्तथा तस्य क्षपकस्य सर्वादरेण शक्त्या च सकलाराधना उपविहिता ॥१९९८॥

निर्यापकानां फलमाचष्टे—

जो उवविधेदि सव्वादरेण आराधणं खु अण्णस्स ।
संपज्जदि णिविग्घा सयला आराधणा तस्स ॥१९९९॥

'जो उवविधेदि' यो ढौकयति सर्वादरेण अन्यस्याराधना तस्य आराधना सकला निर्विघ्ना संपद्यते ॥१९९९॥

ये क्षपकप्रेक्षणाय यान्ति तानपि स्तौति—

ते वि कदत्था धण्णा य हुंति जे पावकम्ममलहरणे ।
ण्हायंति खवयतित्थे सव्वादरभत्तिसंजुत्ता ॥२०००॥

'ते वि कदत्था' तेऽपि कृतार्थाः धन्याश्च भवन्ति ये क्षपकतीर्थे पापकर्ममलापहरणे सर्वादराभियुक्ताः स्नान्ति ॥२०००॥

क्षपकस्य तीर्थता व्याचष्टे—

गिरिणदियादिपदेसा तित्थाणि तवोधणेहिं जदि उसिदा ।
तित्थं कधं ण हुज्जो तवगुणरासी सयं खवउ ॥२००१॥

आगे निर्यापककी प्रशंसा करते हैं—

गा०—वे महानुभाव भी धन्य हैं जिन्होने सम्पूर्ण आदर और शक्तिसे उस क्षपककी आराधना सम्पन्न की ॥१९९८॥

निर्यापकोंको प्राप्त होनेवाले फलको कहते हैं—

गा०—जो निर्यापक सम्पूर्ण आदरके साथ अन्यकी आराधना कराता है—उसकी समस्त आराधना निर्विघ्न पूर्ण होती है ॥१९९९॥

जो क्षपकको देखने जाते है उनकी भी प्रशसा करते हैं—

गा०-टी०—क्षपक एक तीर्थ हैं क्योकि ससारसे पार उतारनेमें निमित्त है। उसमें स्नान करनेसे पापकर्म रूपी मल दूर होता है। अत: जो दर्शक समस्त आदर भक्तिके साथ उस महातीर्थमें स्नान करते है वे भी कृतकृत्य होते हैं तथा वे भी सौभाग्यशाली हैं ॥२०००॥

क्षपकके तीर्थ होनेका समर्थन करते हैं—

गा०—यदि तपस्वियोंके द्वारा सेवित पहाड़ नदी आदि प्रदेश तीर्थ होते हैं तो तपस्यारूप गुणोकी राशि क्षपक स्वयं तीर्थ क्यो नहीं है ॥२००१॥

'णिरियविआविषभेला' निरिमषाविप्रवेशा यदि अपोधनैकविताणि तीर्णानि तीर्थं स्वयं कथं न भवेत् क्षपकस्तपोगुणराशिः ॥२००१॥

पुव्वरिसीणं पडिमाओ वंदमाणस्स होइ जदि पुण्णं ।
खवयस्स वंदओ किह पुण्णं विउलं ण पाविज्ज ॥२००२॥

'पुव्वरिसीणं पडिमाउ' पूर्वेषां ऋषीणां प्रतिमा वंदमानस्य यदि पुण्यं भवति क्षपके वन्दनोद्यतः कथं विपुलं पुण्यं न प्राप्नुयात् ॥२००२॥

जो ओलग्गदि आराधयं सदा तिव्वभत्तिसंजुत्तो ।
संपज्जदि णिव्विग्घा तस्स वि आराहणा सयला ॥२००३॥

'जो ओलग्गदि आराधयं' यस्सेवते आराधकं सदा तीव्रभक्तिसंयुक्तः, संपद्यते निर्विघ्ना तस्याप्याराधना सकला ॥२००३॥

सविचारभत्तवोसरणमेवमुववण्णिदं सवित्थारं ।
अविचारभत्तपच्चक्खाणं एत्तो परं वुच्छं ॥२००४॥

'सविचारभत्तवोसरणं' सविचारभक्तप्रत्याख्यानमेवमुपवर्णितं सविस्तरं अविचारभक्तप्रत्याख्यानं अतः परं प्रवक्ष्यामि ॥२००४॥

तत्थ अविचारभत्तपइण्णा मरणम्मि होइ आगाढो ।
अपरक्कम्मस्स मुणिणो कालम्मि असंपुहुत्तम्मि ॥२००५॥

'तत्थ अविचारभत्तपविण्णा' अविचारभक्तप्रत्याख्यानं सहसोपस्थिते मरणे भवति । अपराक्रमस्य यतेः सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्य काले असति ॥२००५॥

तत्थ पढमं णिरुद्धं णिरुद्धतरयं तहा हवे विदियं ।
तदियं परमणिरुद्धं एवं तिविधं अवीचारं ॥२००६॥

'तत्थ पढमं णिरुद्ध' तत्र अवीचारभक्तप्रत्याख्याने प्रथमं निरुद्धं, द्वितीयं निरुद्धतरकं, तृतीयं परम-निरुद्धं एवं त्रिविधमवीचारभक्तप्रत्याख्यानं ॥२००६॥

गा०—यदि प्राचीन ऋषियोंकी प्रतिमाओंकी वन्दना करनेवालेको पुण्य होता है तो क्षपक की वन्दना करने वालोंको विपुल पुण्य क्यों नहीं प्राप्त होगा ॥२००२॥

गा०—जो तीव्र भक्तिपूर्वक क्षपककी सेवा करता है उसकी भी सम्पूर्ण आराधना सफल होती है ॥२००३॥

गा०—इस प्रकार विस्तारसे विचारपूर्वक किये गये भक्तप्रत्याख्यानका कथन किया। आगे अविचार भक्तप्रत्याख्यानका कथन करते हैं ॥२००४॥

गा०—जब विचार पूर्वक भक्तप्रत्याख्यान करनेका समय न रहे, और सहसा मरण उपस्थित हो जाये तो कुछ करनेमें असमर्थ मुनि अविचार भक्त प्रत्याख्यान स्वीकार करता है ॥२००५॥

गा०—अविचार भक्तप्रत्याख्यानके तीन भेद हैं—प्रथम निरुद्ध, दूसरा निरुद्धतर और तीसरा परमनिरुद्ध ॥२००६॥

निरुद्धमेवंभूतस्य भवतीत्याचष्टे—

तस्स णिरुद्धं भणिदं रोगादंकेहिं जो समभिभूदो ।
जंघाबलपरिहीणो परगणगमणम्मि ण समत्थो ॥२००७॥

'तस्स णिरुद्धं भणिदं' तस्य निरुद्धमुक्तं रोगेण आतङ्केन वा यस्समभिभूतः जङ्घाबलपरिहीनो वा परगणगमनासमर्थो य. ॥२००७॥

जावय बलविरियं से सो विहरदि ताव णिप्पडीयारो ।
पच्छा विहरदि पडिजग्गिज्जंतो तेण सगणेण ॥२००८॥

'जावय बलविरियं' यावद्बलवीर्यं चास्ति । 'से' तस्य । 'सो विहरति' स तावद्गणे प्रवर्तते निष्प्रतीकार. यदा शक्तिस्तीव्रन्यूना तदा पश्चाद्विहरति तेन स्वगणेन क्रियमाणोपकारः ॥२००८॥

इय सण्णिरुद्धमरणं भणियं अणिहारिमं अवीचारं ।
सो चेव जधाजोग्गं पुव्वुत्तविधी हवदि तस्स ॥२००९॥

'इय सण्णिरुद्धमरणं भणिदं' एवं सन्निरुद्धमरणं भणितं, जङ्घाबलपरिहीनतया व्याध्यभिभवेन वा स्वस्मिन्गणे निरुद्धो यस्तस्य मरणं निरुद्धमरणं । 'अणिहारिमं' सविचारभक्तप्रत्याख्यानोक्तपरित्यागाभावात्, परित्यागहीनं अनियतविहारादिविधिविचारणाभावादवीचारं । आत्मीय एव गणे आचार्यस्य समीपे प्रव्रज्यातीचारं उक्त्वा निन्दागर्हापर. कृतप्रतिक्रम. कृतप्रायश्चित्तो यावद्वीर्यमस्ति तावन्निष्प्रतीकारो विहरति, यदा हीनसर्वचेष्टस्तदा परैरनुगृह्यमाणो विहरति ॥२००९॥

निरुद्ध किसके होता है, यह कहते हैं—

गा०—जो रोगसे ग्रस्त है, पैरोंमें चलनेकी शक्ति न होनेसे दूसरे संघमें जानेमें असमर्थ है उसके निरुद्ध नामक अविचार प्रत्याख्यान होता है ॥२००७॥

गा०—जबतक उसमें शक्ति रहती है तबतक वह अपने संघमें रहते हुए किसीसे परिचर्या नहीं कराता। पीछे शक्तिहीन होनेपर अपने संघके द्वारा परिचर्या कराता हुआ विहरता है ॥२००८॥

गा०-टी०—पैरोंमें चलनेकी शक्ति न होनेसे तथा रोगसे ग्रस्त होनेके कारण जो अपने ही संघमें निरुद्ध है—रुका है उसके मरणको निरुद्धमरण कहते हैं। इस प्रकार निरुद्धमरणका स्वरूप कहा है। सविचार भक्तप्रत्याख्यानमें जिस प्रकार संघ आदिका त्याग किया जाता है वह इसमें संभव न होनेसे यह मरण परित्यागसे रहित है। और इसमें अनियत विहार आदि विधिका विचार न होनेसे यह अवीचार है। अर्थात् अपने ही संघमें आचार्यके समीपमें दीक्षा लेकर उनसे अपने दोष कहकर अपनी निन्दा और गर्हा करता है, प्रतिक्रमण करता है, प्रायश्चित्त लेता है। और जब तक शक्ति रहती है तब तक दूसरेकी सहायताके बिना अपनी आराधना करता है। जब शक्ति अत्यन्त हीन हो जाती है तब दूसरोंसे सहायता लेकर अपनी आराधनाओंका पालन करता है ॥२००९॥

दुविधं तं पि अणीहारिमं पगासं च अप्पगासं च ।
जणणादं च पगासं इदरं च जणेण अण्णादं ॥२०१०॥

'दुविधं तं पि अणीहारिमं' द्विविधं तदपि अनीहारसंज्ञितं भक्तप्रत्याख्यानं प्रकाशरूपमप्रकाशरूपमिति। ज्ञातं प्रकाशरूपमितरदप्रकाशात्मकं ॥२०१०॥

खवयस्स चित्तसारं खित्तं कालं पडुच्च सजणं वा ।
अण्णम्मि य तारिसयम्मि कारणे अप्पगासं तु ॥२०११॥

'खवयस्स चित्तसारं' क्षपकस्य वृद्धि, बलं, क्षेत्रं, कालं, स्वजनं वा प्रतिपद्य अन्यस्मिन्वा तादृशे कारणे जाते अप्रकाशभक्तप्रत्याख्यानं, यदि क्षपकः क्षुदादिपरीषहासहः, वसतिर्वा अविविक्ता, कालो वा अतिरूक्षो, बन्धवो वा यदि परित्यागविघ्नं कुर्वन्ति न प्रकाशः कार्यः । निरुद्धं गदं ॥२०११॥

निरुद्धतरं व्याचष्टे—

वालग्गिवग्घमहिसगयरिंछपडिणीय तेण मिच्छेहिं ।
मुच्छाविसूचियादीहिं होज्ज सज्जो हु वावत्ती ॥२०१२॥

'वालग्गिवग्घमहिस' व्यालेनाग्निना, व्याघ्रेण, महिषेण, गजेन, ऋक्षेण, शत्रुणा, स्तेनेन, म्लेच्छेन, मूर्च्छया, विसूचिकादिभिर्वा सद्यो व्यापत्तिर्भवेत् ॥२०१२॥

जाव ण वाया क्खियदि बलं च विरियं च जाव कायम्मि ।
तिव्वाए वेदणाए जाव य चित्तं ण विक्खित्तं ॥२०१३॥

'जाव ण वाया क्खियदि' यावद्वाग्न विनश्यति बलं वीर्यं च यावदस्ति काये तीव्रया वेदनया यावच्चित्तं न व्याक्षिप्तं भवति तावत् ॥२०१३॥

गा०—टी०—वह अनिहार नामक भक्तप्रत्याख्यान, जिसमें अपना संघ नहीं छोड़ा जाता है, और इसीलिये जिसे स्वगणस्थ भी कहा जाता है, दो प्रकार है—एक प्रकाशरूप और दूसरा अप्रकाशरूप । जो लोगोंके द्वारा ज्ञात होता है वह प्रकाशरूप है और जिसकी लोगोंको खबर नहीं होती, वह अप्रकाशरूप है ॥२०१०॥

गा०—टी०—क्षपकके मनोबल, क्षेत्र, काल अथवा स्वजन तथा इस प्रकारके अन्य कारणके होनेपर उसे दृष्टिमें रखकर अप्रकट भक्तप्रत्याख्यान होता है । अर्थात् यदि क्षपक भूख प्यास आदिकी परीषह सहनेमें असमर्थ होता है, या, वसति एकान्तमें नहीं होती, या ग्रीष्म आदि ऋतु होती हैं, या परिवारके लोग विघ्न कर सकते हैं तो समाधिको प्रकट नहीं किया जाता ॥२०११॥

अब निरुद्ध समाधिकी विधि कहते हैं—

गा०—सर्प, आग, व्याघ्र, भैंसा, हाथी, रीछ, शत्रु, चोर, म्लेच्छ, मूर्छा या विसूचिका आदि रोगसे तत्काल यदि मरण उपस्थित हो ॥२०१२॥

गा०—तो जब तक बोली बन्द न हो, जब तक शरीरमें बल और शक्ति रहे, और जब तक तीव्र वेदनाके कारण चित्त व्याकुल न हो ॥२०१३॥

जच्चा संवट्टिज्जंतमाउगं सिग्घमेव तो भिक्खू ।
गणियादीणं सण्णिहिदाणं आलोचए सम्मं ॥२०१४॥

'जच्चा संवट्टिज्जंतं आउगं' ज्ञात्वा संह्रियमाणमायुः शीघ्रमेव ततो भिक्षुराचार्यादीनां सन्निहितानामालोचनां सम्यक् कुर्यात् रत्नत्रयाराधनायां परिणतः । व्युत्सृजेत् वसतिं, संस्तरमाहारमुपधिं शरीरं परिचारकान्, बलवीर्य हानेः परगणगमनासमर्थाः [1]निरुद्धाः प्रदेशाः प्रकर्षेण निरुद्धतरक इत्युच्यते ॥२०१४॥

एवं णिरुद्धदरयं विदियं अणिहारिमं अवीचारं ।
सो चेव जधाजोगं पुव्वुत्तविधी हवदि तस्स ॥२०१५॥

स्पष्टार्थगाथा । निरुद्धतरं ॥२०१५॥

वालादिएहिं जइया अक्खित्ता होज्ज भिक्खुणो वाया ।
तइया परमणिरुद्धं भणिदं मरणं अवीचारं ॥२०१६॥

'वालादिएहिं' व्यालादिभिः पूर्वोक्तैः यदोपहृतस्य वाग्विनष्टा तदा परिमनिरुद्धमरणं । वाग्निरोधोऽत्र परमशब्देनोच्यते ॥२०१६॥

जच्चा संवट्टिज्जंतमाउगं सिग्घमेव तो भिक्खू ।
अरहंतसिद्धसाहूण अंतिगं सिग्घमालोचे ॥२०१७॥

'जच्चा संविट्टिज्जंतं आउगं' ज्ञात्वोपसंह्रियमाणमायुः अर्हतां सिद्धानां साधूना चान्तिके शीघ्रं आलोचनाः कुर्यात् ॥२०१७॥

गा०—साधु, अपनी आयुको शीघ्र ही समाप्त होती हुई जानकर जो निकटवर्ती आचार्य आदि हों, उनके सन्मुख अपने दोषोंकी सम्यक्‌रूपसे आलोचना करे । तथा रत्नत्रयकी आराधनामें तत्पर होता हुआ वसति, संस्तर, आहार, उपधि, शरीर और परिचारकोंसे ममत्वका त्याग कर दे । बल और वीर्यके क्षीण होनेसे जिनके प्रदेश अन्य संघमें जानेमें अत्यन्त असमर्थ होते हैं उन्हें निरुद्धतरक कहते हैं ॥२०१४॥

गा०—इस प्रकार विहार रहित अत्यन्त निरोध रूप अविचार भक्तप्रत्याख्यानके दूसरे भेद निरुद्धतरका कथन किया । पूर्वमें भक्त प्रत्याख्यानकी जो विधि कही है वही विधि यथायोग्य यहाँ भी जानना ॥२०१५॥

गा०—जब पूर्वोक्त सर्प आदिसे डसे जानेके कारण क्षपककी वाणी नष्ट हो जाती है, वह बोल नहीं सकता तब उसके परम निरुद्ध नामक अविचार भक्तप्रत्याख्यान होता है । यहाँ परम शब्दसे वाणीका रुकना कहा है ॥२०१६॥

गा०—तब वह साधु शीघ्र ही अपनी आयुको समाप्त होती हुई जान अर्हन्तों, सिद्धों और साधुजनोंके पासमें तत्काल आलोचना करे ॥२०१७॥

---

१. -ढा प्रदेशं प्रकर्षेण निरुद्ध इति निरुद्धतरक इत्युच्यते —आ० ।

आराधणाविधी जो पुव्वं उववण्णिदो सवित्थारो ।
सो चेव जुज्जमाणो एत्थ विही होदि णादव्वो ॥२०१८॥

'आराधणाविधी' आराधनाया विधेर्यः पूर्वं विस्तारो व्यावर्णितः स एवात्रापि युज्यमानो ज्ञातव्यः ॥२०१८॥

एवं आसुक्कारमरणे वि सिज्झंति केइ धुदकम्मा ।
आराधयित्तु केई देवा वेमाणिया होंति ॥२०१९॥

'एवं आसुक्कारमरणे वि' एवं सहसा मरणेऽपि सिध्यन्ति विधुतकर्मसंहतयः । केचिदाराध्य वैमानिका देवा भवन्ति ॥२०१९॥

आराधणाए तत्थ दु कालस्स बहुत्तणं ण दु पमाणं ।
बहवो मुहुत्तमत्ता संसारमहण्णवं तिण्णा ॥२०२०॥

कथमल्पेन कालेन निर्वृतिर्भवेत्याशङ्का न कार्येति वदति—'आराधणाए तत्थ दु' तस्यामाराधनाया कालस्य बहुत्वं न प्रमाणं । बहवो मुहूर्तमात्रेणाराध्य संसारमहार्णवं तीर्णाः ॥२०२०॥

खणमेत्तेण अणादियमिच्छादिट्ठी वि वड्ढणो राया ।
उसहस्स पादमूले संबुज्झित्ता गदो सिद्धिं ॥२०२१॥

'खणमेत्तेण' क्षणमात्रेणानादिमिथ्यादृष्टिरपि वर्द्धननामधेयो राजा ऋषभस्य पादमूले संबुद्धो गतः सिद्धिं ॥२०२१॥

[1]सोलसतित्थयराणं तित्थुप्पण्णस्स पढमदिवसम्मि ।
सामण्णणाणसिद्धी भिण्णमुहुत्तेण संपण्णा ॥२०२२॥

चरमसिद्ध ॥२०२२॥

गा०—पूर्वमें जो आराधनाकी विधि विस्तार पूर्वक कही है वही यहाँ भी यथायोग्य जानना ॥२०१८॥

गा०—इस प्रकार सहसा मरण होनेपर भी कोई-कोई मुनि कर्मोंको नाश करके मुक्त होते हैं और कोई आराधना करके वैमानिक देव होते हैं ॥२०१९॥

गा०—थोड़े ही समयमें मोक्ष कैसे हो सकता है ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये; क्योंकि आराधनामें कालका बहुतपना प्रमाण नहीं है। बहुतसे मुनि एक मुहूर्त मात्रमें आराधना करके संसारसमुद्रको पार कर गये हैं ॥२०२०॥

गा०—अनादि मिथ्यादृष्टि भी वर्द्धन नामका राजा भगवान् ऋषभदेवके पादमूलमें बोध को प्राप्त होकर मोक्षको गया ॥२०२१॥

गा०—भगवान् ऋषभदेवसे शान्तिनाथ तीर्थंकर पर्यन्त सोलह तीर्थंकरोंके तीर्थकी उत्पत्ति होनेके प्रथम दिन ही बहुतसे साधु दीक्षा लेकर एक अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञानको प्राप्तकर मुक्त हुए ॥२०२२॥

---

१. एतां टीकाकारो नेच्छति ।

एसा भत्तपइण्णा वाससमासेण वण्णिदा विधिणा ।
इत्तो इंगिणिमरणं वाससमासेण वण्णेसिं ॥२०२३॥

'एसा भत्तपविण्णा' एतद्भक्तप्रत्याख्यानं व्यासेन संक्षेपेण च वर्णितं । अत ऊर्ध्वं सांप्याधि-कमिगिणीमरणं व्याससमासाभ्यां वर्णयिष्यामि ॥२०२३॥

जो भत्तपइण्णाए उवक्कमो वण्णिदो सवित्थारो ।
सो चेव जधाजोग्गं उवक्कमो इंगिणीए वि ॥२०२४ ।

'जो भत्तपविण्णाए' यो भक्तप्रत्याख्यानस्य उपक्रमो व्यावर्णितः सविस्तारः स एव यथासंभवमुपक्रमो इंगिणीमरणेऽपि ॥२०२४॥

पव्वज्जाए सुद्धो उवसंपज्जित्तु लिंगकप्पं च ।
पवयणमोगाहित्ता विणयसमाधीए विहरित्ता ॥२०२५॥

'पव्वज्जाए सुद्धो' प्रव्रज्यायां शुद्धो दीक्षाग्रहणयोग्य इत्यर्थः । एतेन अर्हत्ता निरूपिता । 'उव-संपज्जित्तु' प्रतिपद्य । 'लिंगकप्पं च' योग्यं लिङ्गं 'लिंगं' इत्यनेन सूचितम् । 'पवयणमोगाहित्ता' श्रुतमवगाह्य एतेन शिक्षा उपन्यस्ता । 'विणयसमाधीए विहरित्ता' विनयसमाधौ विहृत्य ॥२०२५॥

णिप्पादित्ता सगणं इंगिणिविधिसाधणाए परिणमिया ।
सिदिमारुहित्तु भाविय अप्पाणं सल्लिहित्ताणं ॥२०२६॥

'णिप्पादित्ता सगणं' योग्यं कृत्वा स्वगणं । इंगिणीविधिसाधनाय परिणतो भूत्वा, 'सिदिमारुहित्तु' परिणामश्रेणिमारुह्य । 'भाविय' भावना प्रतिपद्य । 'अप्पाणं सल्लिहित्ताणं' आत्मानं संलेख्य ॥२०२६॥

गा०—इस भक्तप्रत्याख्यानका विस्तार और संक्षेपसे विधिपूर्वक कथन किया। आगे इंगिनीमरण का विस्तार और संक्षेपसे वर्णन करेंगे ॥२०२३॥

गा०—जो भक्त प्रत्याख्यानकी विधि विस्तारसे कही है वही विधि इंगिनीमरणकी यथा-योग्य जाननी चाहिये ॥२०२४॥

वही विधि कहते हैं—

गा०—जो दीक्षा ग्रहणके योग्य है वह निर्ग्रन्थ लिंग धारण करके श्रुतका अभ्यास करे तथा विनय और समाधिमें विहार करे ॥२०२५॥

विशेषार्थ—दीक्षा ग्रहण योग्यसे अर्हत्ताका कथन किया है, लिंगसे लिंगकी सूचना की है। और श्रुताभ्याससे शिक्षाका ग्रहण किया है। इस प्रकार भक्तप्रत्याख्यानमें जो कहा था उसीको यहाँ कहा है ॥२०२५॥

गा०—अपने संघको इंगिणीमरणकी विधिकी साधनामें योग्य करके अपने चित्तमें यह निश्चय करे कि मैं इंगिणीमरणकी साधना करूँगा। फिर शुभ परिणामोंकी श्रेणि पर आरोहण करके तप आदिकी भावना करे और अपने शरीर और कषायोंको कृश करे ॥२०२६॥

परियाइगमालोचिय अणुजाणित्ता दिसं महजणस्स ।
तिविधेण खमावित्ता सबालवुड्ढाउलं गच्छं ॥२०२७॥

'परियाइगमालोचिय' क्रमेण रत्नत्रयाचारमालोच्य । 'अणुजाणित्ता' अनुज्ञाय । 'दिसं' गणधरं । 'महजणस्स' महाजनस्य चतुर्विधसंघस्येत्यर्थः । 'तिविधेण खमावित्ता' त्रिविधेन क्षमां ग्राहयित्वा । सबालवृद्धाकुलं गच्छं ॥२०२७॥

अणुसट्ठिं दादूण य जावज्जीवाय विप्पओगच्छी ।
अब्भदिणजादहासो णीदि गणादो गुणसमग्गो ॥२०२८॥

'अणुसट्ठिं दादूण य' शिक्षां दत्वा गणपतेर्गणस्य च । 'जावज्जीवाय विप्पओगच्छी' यावज्जीवं विप्रयोगार्थी । 'अब्भदिणजादहासो' कृतार्थोऽस्मीति जातहर्षः । 'णीदि गणादो' निर्याति यतिगणात् । 'गुणसमग्गो' संपूर्णगुणः ॥२०२८॥

एवं च णिक्कमित्ता अंतो बाहिं च थंडिले जोगे ।
पुढवीसिलामए वा अप्पाणं णिज्जवे एक्को ॥२०२९॥

'एवं च णिक्कमित्ता' एवं विनिष्क्रम्य । 'थंडिले जोगे' समे समुन्नते कठिने जीवरहिततया योग्ये । 'अंतो बाहिं च' अंतर्बहिर्वा । 'पुढवीसिलामए वा' पृथ्वीसंस्तरं शिलामये वा । 'अप्पाणं णिज्जवे एक्को' आत्मानं निर्वहेद् देहसहायः[1] ॥२०२९॥

पुव्वुत्ताणि तणाणि य जाचित्ता थंडिलम्मि पुव्वुत्ते ।
जदणाए संथरित्ता उत्तरसिरमधव पुव्वसिरं ॥२०३०॥

'पुव्वुत्ताणि तणाणि य' पूर्वोक्तानि तृणानि निस्संधि नि:छिद्रजंतुरहितानि शरीरस्थितिसाधनमात्राणि मृदूनि प्रतिलेखनायोग्यानि ग्रामं नगरं वा प्रविश्य याञ्चया गृहीतानि पूर्वोक्ते स्थण्डिले कोऽसौ सालंकः

गा०—रत्नत्रयमें लगे दोषोंको क्रमसे आलोचना करे और अपने स्थान पर अन्य आचार्यकी स्थापना करके उन्हें सब बतला दे। तथा चतुर्विध वृद्ध मुनियोंसे भरे अपने गच्छको शिक्षा देकर जीवनपर्यन्तके लिये संघसे अलग होनेकी इच्छा करता हुआ प्रसन्न होता है कि मैं कृतार्थ हुआ और इस प्रकार वह सम्पूर्ण गुणोंसे विशिष्ट होकर मुनिसंघसे चला जाता है ॥२०२७-२८॥

गा०—इस प्रकार संघसे निकलकर गुफा आदिके अन्दर या बाहर जीवरहित तथा समान रूपसे ऊँचे कठिन भूमिप्रदेशमें पृथ्वीरूप संस्तर पर या शिलामय संस्तर पर एकाकी आश्रय लेता है। अपने शरीरके सिवाय उसका अन्य कोई सहायक नहीं होता ॥२०२९॥

गा०-टी०—वह गाँव या नगरमें जाकर तृणोंकी याचना करता है जो तृण छिद्ररहित, जन्तुरहित, कोमल तथा शरीरकी स्थितिके लिये साधन मात्र और प्रतिलेखनाके योग्य होने चाहियें उन तृणोंको वह उक्त भूमि प्रदेश पर प्रतिलेखनापूर्वक सावधानतासे पृथक्-पृथक् करके

1. देहसहायः आ० मु०।

विस्तीर्णो विध्वस्तः असुषिरोऽबिलः निर्जन्तुकस्तस्मिन्स्थण्डिले । 'जदणाए संथरित्ता' यत्नेन संस्तरं कृत्वा यत्नः ? तृणाना पृथक्करणं संस्तरभूमिप्रतिलेखनं, 'उत्तरसिरमधव पुव्वसिरं संथारं संथरित्ता य' पूर्वोत्तमाङ्गमुत्तरोत्तमाङ्गं वा संस्तरं संस्तीर्य शिरःप्रभृति कायं पादौ च यत्नेन प्रमार्ज्य ॥२०३०॥

पाचीणाभिमुहो वा उदीचिहुत्तो व तत्थ सो ठिच्चा ।
सीसे कदंजलिपुडो भावेण विसुद्धलेस्सेण ॥२०३१॥

'पाचीणाभिमुहो वा उदीचिहुत्तो व तत्थ सो ठिच्चा' प्राङ्मुखो उदङ्मुखो वा भूत्वा तत्र संस्तरे सस्थित्वा । 'सीसे कदंजलिपुडो' मस्तके न्यस्तकृताञ्जलिः । 'भावेण विसुद्धलेस्सेण' विशुद्धलेश्यासमन्वितेन भावेन ॥२०३१॥

अरहादिअंतियं तो किच्चा आलोचणं सुपरिसुद्धं ।
दंसणणाणचरित्तं परिसारेदूण णिस्सेसं ॥२०३२॥

'अरहादिअंतियं' अर्हदादन्तिकं । 'तो' पश्चात् आलोचना कृत्वा सुपरिसुद्धं 'दंसणणाणचरित्तं परिसारेदूण' दर्शनज्ञानचारित्राणि संस्कृत्य निरवशेषं ॥२०३२॥

सव्वं आहारविधिं जावज्जीवाय वोसरित्ताणं ।
वोसरिदूण असेसं अब्भंतरबाहिरे गंथे ॥२०३३॥

सर्वं आहारविधिं सर्वं आहारविकल्पं । यावज्जीवं परित्यज्य बाह्याभ्यन्तरानशेषान् परिग्रहांश्च त्यक्त्वा ॥२०३३॥

सव्वे विणिज्जिणंतो परीषहे धिदिबलेण संजुत्तो ।
लेस्साए विसुज्झंतो धम्मं ज्झाणं उवणमित्ता ॥२०३४॥

'सव्वे विणिज्जिणंतो' सर्वांश्च जयन् परिषहान् धृतिबलसमन्वितः लेश्याभिर्विशुद्धः सन् धर्मध्यानं प्रतिपद्य ॥२०३४॥

फैला देता है। वह भूमिप्रदेश भी प्रकाश सहित, विस्तीर्ण, छिद्ररहित तथा जन्तुरहित होना चाहिये। उसपर संस्तर ऐसा होना चाहिये जिसमें सिर पूर्वदिशा या उत्तर दिशाको ओर रहे। तब सिरसे लेकर पैर तक शरीरका सावधानीसे परिमार्जन करके पूरब या उत्तरकी ओर मुख करके उस संस्तर पर बैठता है और हाथोंकी अंजली बनाकर मस्तकसे लगाता है तथा विशुद्ध लेश्या पूर्वक अर्हन्त आदिके सामने अपने दोषोंकी आलोचना करके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को पूर्ण रूपसे निर्मल करता है ॥२०३०-२०३२॥

गा०—समस्त प्रकारके आहारके विकल्पको जीवनपर्यन्तके लिये त्याग देता है तथा समस्त अभ्यन्तर और बाह्य परिग्रहको त्याग देता है ॥२०३३॥

गा०—धैर्यके बलसे युक्त वह क्षपक सब परीषहोंको जीतता है और लेश्या विशुद्धिसे सम्पन्न हो, धर्मध्यान करता है ॥२०३४॥

ठिच्चा णिसिदित्ता वा तुवट्टिदूण व सकायपडिचरणं ।
सयमेव णिरुवसग्गे कुणदि विहारम्मि सो भयवं ॥२०३५॥
सयमेव अप्पणो सो करेदि आउंटणादि किरियाओ ।
उच्चारादीणि तथा सयमेव विकिंचिदे विधिणा ॥२०३६॥
जावे पुण उवसग्गा देवा माणुस्सिया व तेरिच्छा ।
तावे णिप्पडियम्मो ते अधियासेदि विगदभओ ॥२०३७॥
आदितियसुसंघडणो सुभसंठाणो अभिज्जधिदिकवचो ।
जिदकरणो जिदणिद्दो ओघबलो ओघसूरो य ॥२०३८॥

'ठिच्चा' स्थित्वा आसित्वा शयनं वा कृत्वा स्वकायपरिकरं स्वयमेव निरुपसर्गे विहारे करोति । स्वमेवात्मनः करोत्याकुञ्चनादिकाः क्रियाः उच्चारकादिकं च निराकारोऽति प्रतिष्ठापनासमितिसमन्वितः । 'यदि पुण उवसग्गा' यदा पुनरुपसर्गा देवमनुष्यतिर्यक्कृता भवन्ति तथा निष्प्रतीकारस्तान् सहते विगतभयः । 'आदितिगसुसंघडणो' आद्येषु त्रिषु संहननेषु अन्यतमसंहननः शुभसंस्थानोऽभेद्यधृतिकवचो जितकरणो जितनिद्रो महाबलो नितरां शूरः ॥२०३५-२०३८॥

बीभत्थभीमदरिसणविगुव्विदा भूदरक्खसपिसाया ।
खोभिज्जो जदि वि तयं तधवि ण सो संभमं कुणइ ॥२०३९॥

'बीभत्थभीमदंसणविगुव्विदा' बीभत्सभीमदर्शनविक्रिया भूतराक्षसपिशाचा यद्यपि क्षोभं कुर्वन्ति तथाप्यसौ न संभ्रमं करोति ॥२०३९॥

इड्ढिमतुलं विउव्विय किण्णरकिंपुरिसदेवकण्णाओ ।
[1]लोलंति जदिवि तयं तधवि ण सो विम्भयं जाई ॥२४०॥

आ०—वह कायोत्सर्गसे स्थित होकर अथवा पर्यङ्कासन आदिसे बैठकर अथवा एक पार्श्वसे शयन करते हुए धर्मध्यान करता है। तथा उपसर्गरहित दशामें स्वयं ही अपने शरीरकी परिचर्या—हाथ-पैरोंका संकोचन, फैलाना आदि करता है। स्वयं ही प्रतिष्ठापना समितिपूर्वक शौच आदि करता है॥ यदि देवकृत, मनुष्यकृत या तिर्यञ्चकृत उपसर्ग होता है तो उसका प्रतिकार नहीं करता है और निर्भय होकर उसे सहन करता है॥ क्योंकि उसके आदिके वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच और नाराच नामक तीन शुभ संहननोंमेंसे कोई एक संहनन होता है, समचतुरस्र संस्थान होता है। न भेदने योग्य धैर्यरूपी कवच होता है। वह इन्द्रियों और निद्रा पर विजय प्राप्त करता है। महाबली और शूरवीर होता है ॥२०३५-३८॥

आ०—यदि अत्यन्त भयंकर विक्रियाके द्वारा भूत, राक्षस और पिशाच आदिके व्यन्तरदेव उसे डरावें तो भी वह विचलित नहीं होता ॥२०३९॥

---

१. लालेंति —मुलारा० ।

'इड्ढिमतुलं विगुव्विय' ऋद्धिमतुलां विकृत्य किन्नरकिंपुरुषादिदेवकन्या यद्यप्युपलालनं कुर्वन्ति तदाप्यसौ न विस्मयं याति ॥२०४०॥

सव्वो पोग्गलकाओ दुक्खत्ताए जदिवि तमुवणमेज्ज ।
तधवि य तस्स ण जायदि ज्झाणस्स विसोत्तिया को वि ॥२०४१॥

'सव्वो पोग्गलकाओ' सर्वं पुद्गलद्रव्यं दुःखतया यदि तमभिहन्ति तथापि तस्य न जायते ध्यानस्यान्यथावृत्तिः ॥२०४१॥

सव्वो पोग्गलकाओ सोक्खत्ताए जदि वि तमुवणमेज्ज ।
तध वि हु तस्स ण जायदि ज्झाणस्स विसोत्तिया को वि ॥२०४२॥

स्पष्टोत्तरगाथा ॥२०४२॥

सच्चित्ते साहरिदो तत्थ उवेक्खदि वियत्तसव्वंगो ।
उवसग्गे य पसंते जदणाए थंडिलमुवेदि ॥२०४३॥

'सच्चित्ते साहरिदो' व्याघ्रादिभिः सचित्ते निक्षिप्तः स तत्रैवोपेक्षते त्यक्तसर्वाङ्गः । उपसर्गे प्रशान्ते यत्नेन स्थण्डिलमुपैति ॥२०४३॥

एवं उवसग्गविधिं परीसहविधिं च सोधिया संतो ।
मणवयणकायगुत्तो सुणिच्छिदो णिज्जिदकसाओ ॥२०४४॥

'एवं उवसग्गविधिं' एवमुपसर्गान् परिषहांश्च सहमानस्त्रिगुप्तः सुनिश्चितो निर्जितकषाय ॥२०४४॥

इहलोए परलोए जीविदमरणे सुहे य दुक्खे य ।
णिप्पडिबद्धो विरहदि जिददुक्खपरिस्समो धिदिमं ॥२०४५॥

गा०—किन्नर किंपुरुष जातिके व्यन्तर देवोकी देवागनाएँ अतुल ऋद्धिरूप विक्रियाके द्वारा यदि उसे लुभाती है तो भी वह उनके लोभमें नहीं आता ॥२०४०॥

गा०—यदि तीन लोकवर्ती समस्त पुद्गल द्रव्य दुःखरूप परिणत होकर उसे दुःखी करे तब भी वह ध्यानसे विचलित नही होता ॥२०४१॥

गा० —तथा तीन लोकवर्ती समस्त पुद्गलद्रव्य सुखरूप परिणत होकर उसे सुखी करें तब भी वह ध्यानसे विचलित नहीं होता ॥२०४२॥

गा०—यदि व्याघ्र आदिके द्वारा वह हरित तृणोंसे भरे हुए प्रदेशमें डाल दिया जाता है तो अपने शरीरका मोहत्याग शान्तभावसे वहीं स्थिर रहता है और उपसर्ग दूर होनेपर सावधानता पूर्वक तृणरहित भूमिप्रदेशमें चला आता है ॥२०४३॥

गा०—इस प्रकार उपसर्गों और परीषहोंको सहन करते हुए वह मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्तिका पालन करता है। तथा स्थिरतापूर्वक कषायोंको जीतता है ॥२०४४॥

गा०—दुःख और परिश्रमपर विजय प्राप्त करने वाला वह धीर वीर क्षपक इस लोक

'इहलोये परलोये' इह परत्र च जीविते मरणे सुखे दुःखे च अप्रतिबद्धो विहरति जितदुःखपरिश्रमः धृतिमान् ॥२०४५॥

वायणपरियट्टणपुच्छणाओ मोत्तूण तधय धम्मथुदिं ।
सुत्तत्थपोरिसीसु वि सरेदि सुत्तत्थमेयमणो ॥२०४६॥

'वायणपरियट्टणपुच्छणाओ' वाचनां, परिवर्तनं, प्रश्नं च मुक्त्वा च तथा धर्मोपदेशं सूत्रस्यार्थस्य वा स्मरत्येकचित्तः ॥२०४६॥

एवं अट्ठवि जामे अणुवट्टो तच्च ज्झादि एयमणो ।
जदि आघच्चा णिद्दा हविज्ज सो तत्थ अपडिण्णो ॥२०४७॥

'एवं अट्ठवि जामे' एवमेवाष्टसु यामेषु निरस्तशयनक्रियो ध्यायत्येकचित्तः, यद्याहत्य निद्रा भवेत् तत्र अप्रतिज्ञोऽसौ ॥२०४७॥

सज्झायकालपडिलेहणादिकाओ ण संति किरियाओ ।
जम्हा मसाणमज्झे तस्स य झाणं अपडिसिद्धं ॥२०४८॥

'सज्झायकालपडिलेहणादिकाओ' स्वाध्यायकालप्रतिलेखनादिका क्रिया न सन्ति यस्मात् श्मशानमध्येऽपि तस्य ध्यानं न प्रतिषिद्धं ॥२०४८॥

आवासगं च कुणदे उवधोकालम्मि जं जहिं कमदि ।
उवकरणंपि पडिलिहइ उवधोकालम्मि जदणाए ॥२०४९॥

'आवासगं च कुणदे' आवश्यकं च करोति कालद्वयेऽपि यस्मिन्काले प्रवर्तते, उपकरणप्रतिलेखनमपि यत्नेन कालद्वये करोति ॥२०४९॥

परलोक, जीवन, मरण, सुख और दुःखमें रागद्वेष रहित होकर विहरता है अर्थात् न जीवन आदिसे राग करता है और मरण आदिसे द्वेष करता है ॥२०४५॥

गा०—स्वाध्यायके पाँच भेदोंमेंसे वाचना, आम्नाय, पृच्छना और धर्मोपदेशको त्यागकर वह अस्वाध्यायकालमें भी एकाग्रमनसे सूत्रके अर्थका ही अनुचिन्तन करता है। अर्थात् सतत अनुप्रेक्षारूप स्वाध्यायमें ही लीन रहता है ॥२०४६॥

गा०—इस प्रकार वह दिन रातके आठों पहरोंमें निद्राको त्यागकर एकाग्र मनसे ध्यान करता है। यदि कभी बलात् निद्रा आ जाती है तो सो लेता है ॥२०४७॥

गा०—अन्य मुनियोंकी तरह न तो उनका स्वाध्यायकाल ही नियत होता है और न उन्हें प्रतिलेखना आदि क्रिया करना ही आवश्यक होता है। उनके लिये स्मशानमें भी ध्यान करना निषिद्ध नहीं है ॥२०४८॥

गा०—किन्तु दिन रातमें जब जो आवश्यक करनेका विधान है वह अवश्य करते हैं और सावधानता पूर्वक दोनों कालोंमें अपने उपकरणोंकी प्रतिलेखना भी करते हैं ॥२०४९॥

सहसा चुक्करकलिदे णिसीधियादीसु मिच्छकारे सो ।
आसिअणिसीधियाओ णिग्गमणपवेसणे कुणइ ॥२५००॥

'सहसा चुक्करकलिदे' सहसा स्खलने जाते मिथ्या मया कृतमिति ब्रवीति, निष्क्रमणप्रवेशयोः आसिकानिषीधिकाशब्दप्रयोगं करोति ॥२०५०॥

पादे कंटयमादिं अच्छिम्मि रजादियं जदावेज्ज ।
गच्छदि अधाविधिं सो परणीहरणे य [1]तुण्हिक्को ॥२०५१॥

'पादे कंटयमादिं' पादयोः कंटकप्रवेशे नेत्रयोः रजःप्रभृतिप्रवेशेऽपि तूष्णीमास्ते, परनिराकरणेऽपि स तूष्णीमास्ते ॥२०५१॥

वेउव्वणमाहारयचारणखीरासवादिलद्धीसु ।
तवसा उप्पण्णासु वि विरागभावेण सेवदि सो ॥२०५२॥

'वेउव्वणमाहारय' विक्रियाऋद्धौ आहारकऋद्धौ चारणऋद्धौ क्षीरास्रवादिलब्धिषु वा तपसोत्पन्नास्वपि विरागतया न किंचित्सेवते स. ॥२०५२॥

मोणाभिग्गहणिरदो रोगादंकादिवेदणाहेदुं ।
ण कुणदि पडिकारं सो तहेव तण्हाछुहादीणं ॥२०५३॥

'मोणाभिग्गहणिरदो' मौनव्रतोपपन्न. रोगातङ्कादिवेदनानिमित्तं प्रतीकारं न करोति तथैव तृडादीनामपि ॥२०५३॥

उवएसो पुण आइरियाणं इंगिणिगदो वि छिण्णकधो ।
देवेहिं माणुसेहिं व पुट्ठो धम्मं कधेदित्ति ॥२०५४॥

गा०—यदि उसमें क्वचित् चूक जाते हैं तो 'मेरा दोष मिथ्या हो' 'मैंने गलत किया' ऐसा बोलते हैं। तथा बाहर आने और भीतर प्रवेश करनेपर 'आसही, निसही' शब्दोंका उच्चारण भी करते हैं ॥२०५०॥

गा०—यदि पैरमें काँटा घुस जाता है या आँखमें धूल आदि चली जाती है तो चुप रहते हैं स्वयं उसे दूर नहीं करते। यदि दूसरा दूर करता है तब भी चुप ही रहते हैं ॥२०५१॥

गा०—यदि तपके प्रभावसे उन्हें विक्रिया ऋद्धि, आहारक ऋद्धि या चारण ऋद्धि अथवा क्षीरास्रव आदि ऋद्धियाँ प्रकट होती हैं तो विरागी होनेसे उनका किञ्चित् भी सेवन नहीं करते ॥२०५२॥

गा०—वह मौनका पालन करनेमें लीन रहते हैं, रोग आदिसे होनेवाले कष्टको दूर करनेका प्रयत्न नहीं करते। इसी प्रकार भूख प्यास आदिका भी प्रतीकार नहीं करते ॥२०५३॥

---

१. तुसिणीओ –मु० ।

'उवएसो पुण आइरियाणं' उपदेशः पुनः आचार्याणां इङ्गिनीगतोऽपि धर्मं कथयति देवैर्मनुष्यैर्वा पृष्टः। कथं कथयति छिन्नकथं प्रवर्तनेन महता ॥२०५४॥

एवमवक्खादविधिं साधित्ता इंगिणीं धुदकिलेसा।
सिज्झंति केइ केई हवंति देवा विमाणेसु ॥२०५५॥

'एवमवक्खादविधिं' एवं यथाव्याख्यातक्रमेण इङ्गिनीं प्रसाध्य निरस्तक्लेशाः केचित्सिध्यन्ति, केचिद्वैमानिक-देवा भवन्ति ॥२०५५॥

एदं इंगिणिमरणं वाससमासेण वण्णिदं विधिणा।
पाओगमरणमित्तो समासदो चेव वण्णेसिं ॥२०५६॥

स्पष्टार्था गाथा। इङ्गिनी ॥२०५६॥

पाओवगमणमरणस्स होदि सो चेव उवक्कमो सव्वो।
वुत्तो इंगिणिमरणस्सुवक्कमो जो सवित्थारो ॥२०५७॥

स्पष्टार्थः ॥२०५७॥

णवरिं तणसंथारो पाओवगदस्स होदि पडिसिद्धो।
आदपरपओगेण य पडिसिद्धं सव्वपरियम्मं ॥२०५८॥

'णवरिं तणसंथारो' नवरं तृणसंस्तरः प्रायोपगमनगतस्य प्रतिषिद्धः, आत्मपरप्रयोगेण यस्मात्प्रतिषिद्धः सर्वः प्रतीकारः। स्वपरसंपाद्यप्रतीकारापेक्षः भक्तप्रत्याख्यानविधिः, परनिरपेक्षमात्मसंपाद्यप्रतीकारमिङ्गिनी-मरणं, सर्वप्रतीकाररहितं प्रायोपगमनमित्यमीषां भेदः ॥२०५८॥

गा०—अन्य आचार्योंका मत है कि इंगिणीमरण करते हुए भी क्षपक देवों या मनुष्योंके द्वारा पूछे जानेपर थोड़ासा धर्मोपदेश भी करता है किन्तु अधिक नहीं करता ॥२०५४॥

गा०—इस तरह ऊपर कहे अनुसार इंगिणीमरणकी साधना करके कोई तो समस्त क्लेशोंसे छूटकर मुक्त हो जाते हैं और कोई मरकर वैमानिकदेव होते हैं ॥२०५५॥

गा०—इस इंगिणीमरणका विस्तार और संक्षेपसे विधिपूर्वक कथन किया। आगे प्रायोप-गमनका संक्षेपसे कथन करेंगे ॥२०५६॥

गा०—ऊपर इंगिणीमरणकी जो विस्तारसे विधि कही है वही सब विधि प्रायोपगमन मरणकी होती है ॥२०५७॥

गा०—किन्तु इतना विशेष है कि प्रायोपगमनमें तृणोंके संथरेका-तृणशय्याका निषेध है। क्योंकि उसमें स्वयं अपनेसे और दूसरोंसे भी सब प्रकारका प्रतीकार करना कराना निषिद्ध है ॥२०५८॥

टी०- भक्तप्रत्याख्यानमें तो अपनी सेवा स्वयं भी कर सकता है और दूसरोंसे भी करा सकता है। इंगिनीमें अपनी सेवा स्वयं कर सकता है, दूसरोंसे नहीं करा सकता। किन्तु

---

१. छिन्नकथं प्रवर्तितेन —आ०।

सो सल्लेहिददेहो जम्हा पाओवगमणमुवजादि ।
उच्चारादिविकिंचणमवि णत्थि पओगदो तम्हा ॥२०५९॥

'सो सल्लेहिददेहो' स सम्यक्तनूकृतशरीरो यस्मात्प्रायोपगमनमुपयाति तस्मादुच्चारादिनिराकरणमपि नास्ति प्रयोगतः ॥२०५९॥

पुढवी आऊतेऊवणप्फदितसेसु जदि वि साहरिदो ।
वोसट्ठ चत्तदेहो अधाउगं पालए तत्थ ॥२०६०॥

'पुढवी आऊतेऊवणप्फदितसेसु जदि वि साहरिदो' पृथिव्यादिषु जीवनिकायेषु यद्यपि केनचिदाकृष्ट-स्तथापि व्युत्सृष्टशरीरसंस्कारस्त्यक्तदेहः स्वमायुः पालयेत् ॥२०६०॥

मज्जणयगंधपुप्फोवयारपडिचारणे वि कीरंते ।
वोसट्ठचत्तदेहो अधाउगं पालए तधवि ॥२०६१॥

'मज्जणयगंधपुप्फोवयारपडिचारणे वि कीरंते' यद्यपि कश्चिदभिषेचयेत् गन्धपुष्पादिभिर्वा संस्तुयात् तथापि व्युत्सृष्टत्यक्तशरीरो न रुष्यति न तुष्यति न निवारयति ॥२०६१॥

वोसट्ठचत्तदेहो दु णिक्खिवेज्जो जहिं जधा अंगं ।
जावज्जीवं तु सयं तहिं तमंगं ण चालेदि ॥२०६२॥

'वोसट्ठचत्तदेहो' व्युत्सृष्टत्यक्तशरीरो निक्षिपेत् कश्चिदन्यस्मिन्यथाङ्गं यावज्जीवं स्वयं तस्मिंस्तदङ्गं न चालयति ॥२०६२॥

एवं णिप्पडियम्मं भणंति पाओवगमणमरहंता ।
णियमा अणिहारं तं सिया य णीहारमुवसग्गे ॥२०६३॥

प्रायोपगमनमें अपनी सेवा न स्वयं करता है और न दूसरोंसे कराता है। यही इन तीनोंमें भेद है ॥२०५८॥

गा०—यत जो अपने शरीरको सम्यक्‌रूपसे कृश करता है अर्थात् अस्थि चर्ममात्र शेष रहता है वही प्रायोपगमन मरण करता है। अतः मल मूत्रके स्वयं या दूसरेके द्वारा त्याग करानेका प्रश्न ही नहीं रहता ॥२०५९॥

गा०—यदि कोई उन्हे पृथ्वी, जल, तेज, वनस्पति और त्रस आदि जीवनिकायोंमें फेंक देता है तो शरीरसे ममत्व त्यागकर अपनी आयुके समाप्त होने तक वहीं पड़े रहते हैं ॥२०६०॥

गा०—यदि कोई उनका अभिषेक करे या गन्ध पुष्प आदिसे पूजा करे तब भी शरीरसे ममत्व त्यागकर न रोष करते हैं, न प्रसन्न होते हैं और न उसे ऐसा करनेसे रोकते हैं ॥२०६१॥

गा०—शरीरसे ममत्वका त्याग करने वाला वह प्रायोपगमनका धारी क्षपक जिस क्षेत्रमें जिस प्रकारसे शरीरका कोई अंग रखा गया हो, उसको वैसा ही पड़ा रहने देता है, स्वयं अपने अंगको हिलाता डुलाता नहीं है ॥२०६२॥

गा०—इस प्रकार अरहंतदेव प्रायोपगमनको स्व और परकृत प्रतीकारसे रहित कहते हैं।

'एवं णिप्पडिकारं' एवं स्वपरकृतप्रतीकाररहितं प्रायोपगमनं विना भवन्ति, निश्चयेन तत्प्रायोपगमन-मनीहारमचलं स्याच्चलमपि उपसर्गे परकृतं चलनमपेक्ष्य ॥२०६३॥

एतदेवोत्तरगाथया स्पष्टयति—

उवसग्गेण वि साहरिदो सो अण्णत्थ कुणदि जं कालं ।
तम्हा वुत्तं णीहारमदो अण्णं अणीहारं ॥२०६४॥

एतदेव स्पष्टयति ॥२०६४॥

पडिमापडिवण्णा वि हु करंति पाओवगमणमप्पेगे ।
दीहद्धं विहरंता इंगिणिमरणं च अप्पेगे ॥२०६५॥

'पडिमापडिवण्णा वि हु' प्रतिमाप्रतिपन्ना अपि एके प्रायोपगमनं कुर्वन्ति, एके इङ्गिणिमरणं । पाठ्यं ॥२०६५॥

आगाढे उवसग्गे दुब्भिक्खे सव्वदो वि दुत्तारे ॥
कदजोगि समधियासिय कारणजादेहिं वि मरंति ॥२०६६॥

'आगाढे उवसग्गे' उपसर्गे महति दुर्भिक्षे वा दुस्तरे जाते कृतयोगिन परीषहसहा. कारणजातमाश्रित्य मरणे कृतोत्साहा भवन्ति । तस्यैव वस्तुन उदाहरणानि उत्तरगाथाभिस्सूच्यन्ते ॥२०६६॥

निश्चयसे प्रायोपगमन अचल होता हैं। किन्तु उपसर्ग अवस्थामें मनुष्यादिके द्वारा चलायमान किये जानेपर चल भी होता है अर्थात् स्वयं शरीरको न हिलानेसे तो अचल हो है किन्तु दूसरेके द्वारा हिलाने पर चल होता है ॥२०६३॥

आगेकी गाथासे इसीको स्पष्ट करते हैं—

गा०—उपसर्ग अवस्थामें एक स्थानसे उठाकर दूसरे स्थानमें डाल दिये जाने पर यदि वह वहीं मरण करता है तो उसे नीहार कहते हैं, और ऐसा नहीं होनेपर पूर्व स्थानमें ही मरण हो तो वह अनीहार कहाता है ॥२०६४॥

गा०—जिनकी आयुका काल अल्पशेष रहता है वे प्रतिमा योग धारण करके प्रायोपगमन करते है। और कुछ दीर्घकाल तक विहार करते हुए इंगिनीमरण करते है ॥२०६५॥

विशेषार्थ—आशाधर जी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—कुछ तो सल्लेखना न करके ही कायोत्सर्ग पूर्वक प्रायोपगमन करते हैं और कोई चिरकाल तक उपवास करके प्रायोपगमन करते हैं। इसी प्रकार इंगिणी भी जानना। अर्थात् उन्होंने दोनों मरणोंके दो-दो प्रकार कहे हैं। ऊपरके अर्थके अनुसार अल्प आयु वाले प्रायोपगमम करते हैं इसीसे वे अपने शरीरकी सेवा न स्वयं करते हैं न दूसरेसे कराते हैं। दीर्घ आयु शेष रहने वाले इंगिनीमरण करते हैं अतः वे अपने शरीरकी सेवा स्वयं तो करते हैं दूसरेसे नहीं कराते। उन्हें स्वयं मलमूत्रादि का त्याग तो करना होता ही है ॥२०६५॥

गा०—महान् उपसर्ग अथवा भयानक दुर्भिक्ष होनेपर परीषहोंको सहन करनेमें समर्थ मुनि अल्प भी मरणके कारण उपस्थित होनेपर उत्साहपूर्वक मृत्युका आलिंगन करते हैं ॥२०६६॥

कोसलय धम्मसीहो अट्ठं साधेदि गिद्धपुट्ठेण ।
णयरम्मि य कोल्लगिरे चंदसिरिं विप्पजहिदूण ॥२०६७॥
पाडलिपुत्ते धूदाहेदुं मामयकदम्मि उवसग्गे ।
साधेदि उसभसेणो अट्ठं विक्खाणसं[1] किच्चा ॥२०६८॥
अहिमारएण णिवदिम्मि मारिदे गहिदसमणलिंगेण ।
उड्डाहपसमणत्थं सत्थग्गहणं अकासि गणी ॥२०६९॥
सगडालएण वि तधा सत्थग्गहणेण साधिदो अत्थो ।
वररुइपओगहेदुं रुट्ठे णंदे महापउमे ॥२०७०॥
एवं पण्डियमरणं सवियप्पं वण्णिदं सवित्थारं ।
वुच्छामि बालपंडियमरणं एत्तो समासेण ॥२०७१॥

आगेकी गाथाओंसे इसीके समर्थक उदाहरण देते है--

गा०—अयोध्या नगरीमे धर्मसिंह नामक राजाने अपनी चन्द्रश्री नामक पत्नीको त्यागकर दीक्षा धारण की। और अपने श्वसुरके भयसे कोल्लगिरि नगरमे हाथीके कलेवरमें प्रवेश करके आराधनाकी साधना की ॥२०६७॥

विशेषार्थ—बृ० क० कोशमे इसकी कथाका नम्बर १५४ है।

गा०—पाटलीपुत्र नगरमे ऋषभसेन नामक श्रेष्ठीने अपनी पत्नीको त्यागकर दीक्षा ली। अपनी पुत्रीके स्नेहवश श्वसुरके द्वारा उपसर्ग किये जानेपर ऋषभसेनने श्वास रोककर साधना की ॥२०६८॥

विशेषार्थ—इसकी कथाका क्रमाक १५५ है।

गा०—श्रावस्ती नगरीके राजा जयसेनने बौद्धधर्म त्यागकर जैनधर्म धारण किया था। इससे कुपित होकर अहिमारक नामक बौद्धने उसे उस समय मार डाला जब वह आचार्य यतिवृषभको नमस्कार कर रहा था। तब मुनिने अपना अपवाद दूर करनेके लिये शस्त्रसे अपना घात करते हुए साधना की ॥२०६९॥

विशेषार्थ—इसकी कथाका क्रमांक १५६ है।

गा०—पाटलीपुत्रमें नन्दराजाका मंत्री शकटाल था। उसने महापद्म सूरिसे जिन दीक्षा ग्रहण की। उसके विरोधी वररुचिने राजा महापद्मको रुष्ट करके शकटालको मारनेका प्रयत्न किया तो शकटाल मुनिने पञ्च नमस्कार मंत्रका ध्यान करते हुए छुरीसे अपना पेट फाड़ डाला और इस प्रकार आराधनाकी साधना की ॥२०७०॥

विशेषार्थ—इसकी कथाका नम्बर १५७ है।

गा०—इस प्रकार भेद सहित पण्डितमरणका विस्तारसे कथन किया। आगे संक्षेपसे बाल-

---

1. वेघाणसं अ०। विक्वाणसं आ०।

पंडितमरणं । एवं पण्डितमरणं सविकल्पं सविस्तरं व्यावर्णितं, वक्ष्यामि बालपण्डितमरणमित ऊर्ध्वं संक्षेपेण ॥२०६७-२०७१॥

देसेक्कदेसविरदो सम्मादिट्ठी मरिज्ज जो जीवो ।
तं होदि बालपंडिदमरणं जिणसासणे दिट्ठं ॥२०७२॥

'देसेक्कदेसविरदो' सर्वासंयमप्रत्याख्यानस्यासमर्थः हिंसाद्येकदेशाद्विरतः स्थूलभूतप्राणातिपातादिपञ्चप्रकारेभ्यो विरत इत्युच्यते । एकदेशविरतो नाम देशविरमणेऽपि एकदेशाद्व्यावृत्तः सम्यग्दृष्टिर्यो म्रियते तस्य तद्बालपण्डितमरणं ॥२०७२॥

एतदेव स्पष्टयति—

पंच य अणुव्वदाइं सत्तयसिक्खाउ देसजदिधम्मो ।
सव्वेण य देसेण य तेण जुदो होदि देसजदी ॥२०७३॥

'पंच य अणुव्वदाइं' पञ्चाणुव्रतानि शिक्षाव्रतानि वा सप्त प्रकाराणि देशयतेर्धर्मः । तेन समस्तेन धर्मेण युतः स्वशक्त्या वा तदेकदेशेन युतोऽपि देशयतिरेव । द्वादशविधगृहिधर्मप्रत्यायनपराणि सूत्राण्युत्तराणि प्रसिद्धार्थानि ॥२०७३॥

पाणवधमुसावादादत्तादाणपरदारगमणेहिं ।
अपरिमिदिच्छादो वि अ अणुव्वयाइं विरमणाइं ॥२०७४॥
जं च दिसावेरमणं अणत्थदंडेहिं जं च वेरमणं ।
देसावगासियं पि य गुणव्वयाइं भवे ताइं ॥२०७५॥

पण्डितमरणका कथन करेंगे ॥२०७१॥

गा०—टी०—जो समस्त असंयमका त्याग करनेमें असमर्थ है स्थूल हिंसा, स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, स्थूल कुशील और स्थूल परिग्रह आदि पाँच पापोंका त्याग करता है उसे देशविरत कहते हैं। और जो देशविरतिके भी एक देशसे विरत होता है अर्थात् अपनी शक्तिके अनुसार हिंसादिका त्याग करता है ऐसा सम्यग्दृष्टि एक देशविरत कहा जाता है। इस प्रकार जो समस्त या एकदेश गृहस्थ धर्मका पालक श्रावक होता है उसके मरणको जिनागममें बालपंडितमरण कहा है ॥२०७२॥

उसीको स्पष्ट करते हैं—

गा०—पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत ये देशसंयमी श्रावकका धर्म है। जो उस सम्पूर्ण श्रावक धर्मका पालक है अथवा अपनी शक्तिके अनुसार उसके एक देशका पालक है वह भी देशसंयमी ही है ॥२०७३॥

आगे बारह प्रकारके गृहीधर्मको कहते हैं जो प्रसिद्ध हैं—

गा०—हिंसा, असत्य, बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण, पर स्त्री गमन और इच्छाका अपरिमाण इनसे विरतिरूप पाँच अणुव्रत हैं ॥२०७४॥

गा०—दिग्विरति, अनर्थदण्डविरति, देशावकाशिक ये तीन गुणव्रत हैं ॥२०७५॥

भोगाणं परिसंखा सामाइयमतिहिसंविभागो य ।
पोसहविधि य सव्वो चदुरो सिक्खाउ वुत्ताओ ॥२०७६॥
आसुक्कारे मरणे अव्वोच्छिण्णाए जीविदासाए ।
णादीहि वा अमुक्को पच्छिमसल्लेहणमकासी ॥२०७७॥

'आसुक्कारे मरणे' सहसा मरणे अच्छिन्नायां जीविताशायां बन्धुभिर्वा न मुक्तः पश्चिमसल्लेखनाम-कृत्वा कृतालोचनो निश्शल्यः स्वगृह एव संस्तरमारुह्य देशविरतस्य मृतिर्बालपण्डितमित्युच्यते ॥२०७६–७७॥

आलोचिदणिस्सल्लो सघरे चेवारुहित्तु संथारं ।
जदि मरदि देसविरदो तं वुत्तं बालपंडिदयं ॥२०७८॥
जो भत्तपदिण्णाए उवक्कमो वित्थरेण णिद्दिट्ठो ।
सो चेव बालपंडिदमरणे णेओ जहाजोग्गो ॥२०७९॥
वेमाणिएसु कप्पोवगेसु णियमेण तस्स उववादो ।
णियमा सिज्झदि उक्कस्सएण वा सत्तमम्मि भवे ॥२०८०॥
इय बालपंडियं होदि मरणमरहंतसासणे दिट्ठं ।
एत्तो पंडिदपंडिदमरणं वोच्छं समासेण ॥२०८१॥

स्पष्टार्था त्रयो गाथा । बालपंडिद ॥२०७८–२०८१॥

गा०—भोगपरिमाण, सामायिक, अतिथिसंविभाग और प्रोषधोपवास ये चार शिक्षाव्रत कहे हैं ॥२०७६॥

गा०—सहसा मरण उपस्थित होनेपर, जीवनकी आशा रहनेपर, अथवा परिजनोंके द्वारा मुक्त न किये जानेपर अन्तिम सल्लेखना धारण न करके, अपने दोषोंकी आलोचना पूर्वक शल्य रहित होकर अपने घरमें ही सस्तरपर स्थित होकर देशविरत श्रावकके मरणको बालपण्डित मरण कहते हैं ॥२०७७॥

गा०—विधिपूर्वक आलोचना करके, माया मिथ्यात्व और निदान शल्यसे मुक्त होकर अपने घरमें सस्तरपर आरूढ़ होकर यदि श्रावक देशविरत मरता है तो उसे बालपण्डित मरण कहा है ॥२०७८॥

गा०—भक्तप्रत्याख्यानमें जो विधि विस्तारसे कही है वही सब विधि बालपण्डितमरणमें यथायोग्य जानना ॥२०७९॥

गा०—वह श्रावक मरकर नियमसे सौधर्मादि कल्पोपपन्न वैमानिक देवोंमें उत्पन्न होता है और नियमसे अधिक से अधिक सात भवोंमें मुक्त होता है ॥२०८०॥

गा०—इस प्रकारके मरणको अरहन्त भगवान्‌के धर्ममें बालपण्डित कहा है । आगे संक्षेपसे पण्डित पण्डितमरणको कहते हैं ॥२०८१॥

साहू जहुत्तचारी वट्टंतो अप्पमत्तकालम्मि ।
ज्झाणं उवेदि धम्मं पविट्ठुकामो खवगसेढिं ॥२०८२॥

'साहू जहुत्तचारी' शास्त्रोक्तेन मार्गेण प्रवर्तमानस्साधुरप्रमत्तगुणस्थानकाले धर्म्यं ध्यानमुपैति क्षपकश्रेणिं प्रवेष्टुकामः ॥२०८२॥

ध्यानपरिकरं बाह्यं प्रतिपादयति—

सुचिए समे विवित्ते देसे णिज्जंतुए अणुण्णाए ।
उज्जुअआयददेहो अचलं बंधेत्तु पलियंकं ॥२०८३॥

'सुचिए समे' शुचौ समे एकान्तदेशे निर्जन्तुके अनुज्ञाते तत्स्वामिभिः ऋज्वायतदेह. पल्यङ्कमचलं बद्ध्वा ॥२०८३॥

वीरासणमादीयं आसणसमपादमादियं ठाणं ।
सम्मं अधिट्ठिदो वा सिज्जमुत्ताणसयणादि ॥२०८४॥

'वीरासणादिकं' वीरासनादिकमासनं बद्ध्वा समपादादिना स्थितो वा अथवा उत्तानशयनादिना वा वृत्त· ॥२०८४॥

पुव्वभणिदेण विधिणा ज्झादि ज्झाणं विसुद्धलेस्साओ ।
पव॰णसभिण्णमदी मोहस्स खयं करेमाणो ॥२०८५॥

'पुव्वभणिदेण विधिणा' पूर्वोक्तेन क्रमेण ध्याने प्रवर्तते विशुद्धलेश्यः । प्रवचनार्थमनुप्रविष्टमतिः मोहनीय क्षय नेतुमुद्यतः ॥२०८५॥

संजोयणाकसाए खवेदि झाणेण तेण सो पढमं ।
मिच्छत्तं सम्मिस्सं कमेण सम्मत्तमवि य तदो ॥२०८६॥

'संजोयणाकसाए' अनन्तानुबन्धिन क्रोधमानमायालोभान् क्षपयति ध्यानेन, तेनासौ प्रथमं मिथ्यात्वं,

---

गा०—शास्त्रोक्त मार्गसे प्रवृत्ति करता हुआ साधु क्षपक श्रेणिपर आरूढ होनेकी इच्छासे अप्रमत्त गुणस्थानमें धर्मध्यान करता है ॥२०८२॥

ध्यानकी बाह्य सामग्री कहते हैं—

गा०—पवित्र और जन्तुरहित एकान्त प्रदेशमें, उस स्थानके स्वामीकी आज्ञा प्राप्त करके, समभूमिभागमें शरीरको सीधा रखते हुए पल्यंकासन बांधकर अथवा वीरासन आदि लगाकर, अथवा दोनो पैरोंको समरूपसे रखते हुए खड़े होकर अथवा ऊपरको मुखकर शयन करते हुए या एक करवटसे लेटकर पूर्वमें कही विधिके अनुसार विशुद्ध लेश्यापूर्वक मोहनीय कर्मका क्षय करनेमें तत्पर होता हुआ ध्यान करता है तथा चतुर्दश पूर्वोंका अर्थ श्रवण करनेसे उसकी बुद्धि निर्मल होती है अर्थात् उसके श्रुतज्ञानावरणका प्रबल क्षयोपशम होता है ॥२०८३–२०८५॥

गा०—प्रथम ही वह उस ध्यानके द्वारा अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभका क्षय

सम्यङ्मिथ्यात्वं, सम्यक्त्वं च क्रमेण एवं प्रकृतिसप्तकं विनाश्य क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा क्षपकश्रेण्यधिरोहणाभिमुखोऽधःप्रवृत्तकरणं अप्रमत्तस्थाने प्रतिपद्य ॥२०८६॥

अध खवयसेढिमधिगम्म कुणइ साधू अपुव्वकरणं सो ।
होइ तमपुव्वकरणं कयाइ अप्पत्तपुव्वंति ॥२०८७॥

'अध खवगसेढिमधिगम्म' अथ क्षपकश्रेणीमधिगम्य करोति साधुरपूर्वकरणमसौ । किं तदपूर्वकरणमित्याशङ्कायामुच्यते । 'होदि तमपुव्वकरणं' भवति तदपूर्वकरणं, 'कदाइ अप्पत्तपुव्वंति' कदाचिदप्राप्तपूर्वमिति ॥२०८७॥

अणिवित्तिकरणणामं णवमं गुणठाणयं च अधिगम्म ।
णिद्दाणिद्दा पयलापयला तध थीणगिद्धिं च ॥२०८८॥

'अणियट्टिकरणणामं णवमं गुणठाणमधिगम्म' अनिवृत्तिगुणस्थानमुपगम्य 'णिद्दाणिद्दा पयलापयला' निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचलां स्त्यानगृद्धिं च ॥२०८८॥

णिरयगदियाणुपुव्विं णिरयगदिं थावरं च सुहुमं च ।
साधारणादवुज्जोवतिरयगदिं आणुपुव्वीए ॥२०८९॥

'णिरयगदियाणुपुव्विं' नरकगत्यानुपूर्वि, नरकगति, स्थावर, सूक्ष्म, साधारणं, आतपं, उद्योत तिर्यग्गत्यानुपूर्वि ॥२०८९॥

करता है फिर मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतियोंका क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर क्षपक श्रेणिके अभिमुख होनेके लिये अप्रमत्त गुणस्थानमे अधः प्रवृत्तकरण करता है ॥२०८६॥

टा०—अनन्त संसारका कारण होनेसे मिथ्यात्वको अनन्त कहते हैं। उसके साथ बन्धनेसे अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि चार यहाँ संयोजना शब्दसे लिये गये है। मिथ्या पदार्थों के अभिनिवेशमे जो निमित्त होता है वह मिथ्यात्व नामक दर्शन मोहनीय है। जिस मिथ्यात्वका स्वरस अर्धशुद्ध हो जाता हैं उसे सम्यक् मिथ्यात्व कहते है। और जिस मिथ्यात्वका शुभ परिणामके द्वारा स्वरस क्षीण हो जाता है उसे सम्यक्त्व दर्शन मोहनीय कहते हैं। इसके उदय रहते हुए भी तत्त्वार्थका श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन होता है। किन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन इन सातोंके अभावमें ही होता है। और क्षायिक सम्यग्दृष्टी ही क्षपक श्रेणिपर आरोहण करता है ॥२०८६॥

गा०—क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर वह क्षपक श्रेणिपर आरोहण करके प्रथम अपूर्वकरण करता है। उसे अपूर्वकरण इसलिये कहते हैं कि उसने इस प्रकारके परिणाम कभी भी नीचेके गुणस्थानोंमे प्राप्त नही किये थे ॥२०८७॥

गा०—उसके पश्चात् वह साधु अनिवृत्ति करण नामक नवम गुणस्थानको प्राप्त करके निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकगति, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण,

इगविगलितियचदुरिंदियणामाइं तध तिरिक्खगदिणामं ।
खवयित्ता मज्झिल्ले खवेदि सो अट्ठवि कसाए ॥२०९०॥

'इगविग' एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातीः, तिर्यग्गतिं, अप्रत्याख्यानचतुष्कं, प्रत्याख्यानचतुष्कं च क्षपयति ॥२०९०॥

तत्तो णपुंसगित्थीवेदं हासादिछक्कपुंवेदं ।
कोघं माणं मायं लोभं च खवेदि सो कमसो ॥२०९१॥

'तत्त णपुंसं' ततो नपुंसकं वेदं, स्त्रीवेदं, हास्यादिषट्कं, पुंवेदं, संज्वलनक्रोधमानमाया.क्षपयति । पश्चाल्लोभसंज्वलनं ॥२०९१॥

अध लोभसुहुमकिट्टिं वेदंतो सुहुमसंपरायत्तं ।
पावदि पावदि य तधा तण्णामं संजमं सुद्धं ॥२०९२॥

'अध लोभसुहुमकिट्टिं' अथ पश्चाद्बादरकृष्टेरुत्तरकाल लोभसूक्ष्मकृष्टिं वेदयमानः । 'सुहुमसंपरायत्तं पावदि' सूक्ष्मसांपरायतां प्राप्नोति । 'पावदि य तधा' प्राप्नोति च तथा तन्नामकं संयमं शुद्धं सूक्ष्मसांपरायता अधिगच्छति ॥२०९२॥

तो सो खीणकसाओ जायदि खीणासु लोभकिट्टीसु ।
एय[1]त्तवितक्कावीचारं तो झादि सो झाणं ॥२०९३॥

आतप, उद्योत, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रिय जाति, दो इन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, तिर्यग्गति, इन सोलह कर्मप्रकृतियोंका क्षय करके मध्यकी आठ कषाय अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभका क्षय करता है ॥२०८८-२०९०॥

गा०—फिर क्रमसे उसी नवम गुणस्थानमें नपुंसक वेद, स्त्रीवेद हास्य, रति, अरति, शोक, भय जुगुप्सा, पुरुषवेद और संज्वलन, क्रोध मान मायाका क्षय करता है । अन्तमें संज्वलन लोभका क्षय करता है ॥२०९१॥

विशेषार्थ—क्षयका क्रम इस प्रकार है—हास्यादि छह नोकषायोंको पुरुषवेदमें क्षेपण करके नष्ट करता है । पुरुषवेदको क्रोध संज्वलनमें क्षेपण करके क्षय करता है । इसी प्रकार क्रोध संज्वलनको मान संज्वलनमें मानसंज्वलनको माया संज्वलनमें और माया संज्वलनको लोभसंज्वलनमें क्षेपण करके क्षय करता है । अन्तमें बादर कृष्टिके द्वारा लोभसंज्वलन को कृश करके सूक्ष्म लोभ संज्वलन कषाय शेष रहती है ॥२०९१॥

गा०—बादर कृष्टिके पश्चात् सूक्ष्मकृष्टिरूप लोभका वेदना करता हुआ इसके सूक्ष्म-साम्पराय नामक गुणस्थानको प्राप्त करता है और वहाँ उसी सूक्ष्मसाम्पराय नामक संयमको प्राप्त करता है ॥२०९२॥

---

१. एयत्तं सवियक्कं अविचारं सो झादि आदि-अ० आ० ।

'तो सो खीणकसाओ जायदि' ततः सूक्ष्मसांपरायत्वानंतरं 'खीणकसाओ जायदि' क्षीणकषायो जायते। 'खीणेसु लोभकिट्टीसु' संज्वलनलोभसूक्ष्मकृष्टिषु क्षीणासु। 'तो' ततः 'एयत्तवितक्कवीचारज्झाणं तो झादि' एकत्ववितर्कावीचारं ध्यानं ध्याति ॥२०९३॥

झाणेण य तेण अधक्खादेण य संजमेण घादेदि।
सेसा घादिकम्माणि [1]समं अवरंजणाणि तदो ॥२०९४॥

'झाणेण य तेण' तेन ध्यानेन। 'तो' तेनैकत्ववितर्काविचारेण यथाख्यातेन चारित्रेण शेषघातिकर्माणि समकालमेव क्षपयति। 'अवरंजणाणि' जीवस्यान्यथाभावकारणानि ॥२०९४॥

मत्थयसूचीए जधा हदाए कसिणो हदो भवदि तालो।
कम्माणि तधा गच्छंति खयं मोहे हदे कसिणे ॥२०९५॥

'मत्थयसूचीए जधा हदाए' मस्तकसूच्यां यथा हतायां। 'कसिणो तालो हदो भवदि' कृत्स्नस्तालद्रुमो हतो भवति। 'कम्माणि तधा' कर्माण्यपि तथैव 'खयं गच्छंति' क्षयमुपयांति। 'मोहे हदे कसिणे' मोहे हते कृत्स्ने ॥२०९५॥

णिद्दापयलाय दुवे दुचरिमसमयम्मि तस्स खीयंत।
सेसाणि घादिकम्माणि चरिमसमयम्मि खीयंति ॥२०९६॥

'णिद्दा पयला य दुवे' निद्राप्रचला च द्वे तस्य क्षीणकषायस्य उपान्त्यसमये नश्यत.। 'सेसाणि घादिकम्माणि' अवशिष्टानि घातिकर्माणि त्रीणि तस्य चरमसमये नश्यंति, पंच ज्ञानावरणानि, चत्वारि दर्शनावरणानि, पंचांतरायाश्च ॥२०९६॥

तत्तो णंतरसमए उप्पज्जदि सव्वपज्जयणिबंधं।
केवलणाणं सुद्धं तध केवलदंसणं चेव ॥२०९७॥

गा०—सूक्ष्म लोभकृष्टिका क्षय होनेपर सूक्ष्म साम्परायके पश्चात् क्षीण कषाय नामक बारहवें गुणस्थानवर्ती होता है। वहाँ वह एकत्व वितर्क विचार नामक ध्यानको ध्याता है ॥२०९३॥

गा०—उस ध्यान तथा यथाख्यात चारित्रके द्वारा वह जीवके अन्यथाभावमें कारण शेष घातिकर्मोंका एक साथ क्षय करता है ॥२०९४॥

गा०—जैसे ताड़के वृक्षकी मस्तक सूची, ऊपरका शाखाभार टूट जानेपर समस्त ताड़वृक्ष ही नष्ट हो जाता है वैसे ही समस्त मोहनीय कर्मके नष्ट होनेपर कर्म नष्ट हो जाते हैं ॥२०९५॥

गा०—उस क्षीणकषाय गुणस्थानके उपान्त्य समयमें निद्रा प्रचला नष्ट होती हैं। और शेष घातिकर्म-पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पांच अन्तराय अन्तिम समयमें नष्ट होते हैं ॥२०९६॥

---

१. समयमेव-मु०, मूलारा०।

ततो ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयात् अनंतरसमये उत्पद्यते केवलज्ञानं सर्वपर्यायनिबद्धं, सर्वेषां द्रव्याणां त्रिकालगोचरा ये पर्याया विशेषरूपाणि तत्र प्रतिबद्धं परिच्छेदकत्वेन ज्ञानस्यातिशयो वस्तुगतविशेषरूप परिच्छेदो नाम सामान्यरूपस्य सुगमत्वादित्याख्यातं भवति। केवलं इंद्रियसहायानपेक्षत्वात् केवलमसहायं ज्ञानं रागादिमलकाभावात् शुद्धं तथा केवलदर्शनं च ॥२०९७॥

अव्वाबादमसंदिद्धमुत्तमं सव्वदो असंकुडिदं।
एयं सयलमणंतं अणियत्तं केवलं णाणं ॥२०९८॥

'अव्वाबाधं' न विद्यते ज्ञानान्तरेण व्याघातो बाधास्येत्यव्याघातं। निश्चयात्मकत्वादसंदिग्धं। सर्वेभ्यो ज्ञानेभ्य उत्तमं प्रधानं श्रुतादिभिरिदं केवलं साध्यत इति। 'असंकुडिदं' न मत्यादिवदल्पविषयमिति। 'एयकं' एकस्मिन्नात्मनि स्वयमेव प्रवर्तत इति। 'सकलं' संपूर्णमात्मनःस्वरूपमिति। मत्यादीनि यथाऽसंपूर्णानि न तथेदं। 'अणंतं' अनंतप्रमाणापरिच्छेदं। 'अणियत्तं' न विद्यते निवृत्तिर्विनाशोऽस्येत्यनिवृत्तं केवल-ज्ञानं ॥२०९८॥

चित्तपडं व विचित्तं तिकालसहिदं तदो जगमिणं सो।
सव्वं जुगवं पस्सदि सव्वमलोगं च सव्वत्तो ॥२०९९॥

'चित्तपडं व विचित्तं' चित्रपटवद्विचित्रं विचित्रद्रव्यपर्यायरूपेण प्रत्यवभासनात्। 'तिकाल सहिदं' कालत्रयसहितं 'जगमिदं', ततः तेन केवलज्ञानेन सर्वं युगपत्सर्वमलोकं कृत्स्नं 'सर्वतः' समंतात् ॥२०९९॥

वीरियमणंतरायं होइ अणंतं तधेव तस्स तदा।
कप्पातीदस्स महामुणिस्स विग्घम्मि खीणम्मि ॥२१००॥

गा०—टी०—ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायका क्षय होनेके अनन्तर समयमें शुद्ध केवलज्ञान और शुद्ध केवल दर्शन उत्पन्न होता है। वह केवल ज्ञान सब द्रव्योंकी त्रिकालगोचर सब पर्यायोंको जानता है। वस्तुगत विशेषरूपको जानना ही ज्ञानका अतिशय है सामान्यरूपको जानना तो सुगम है। इसीसे केवल ज्ञानको सर्वपर्यायनिबद्ध कहा है। केवलका अर्थ है असहाय। केवल ज्ञान इन्द्रियोंकी सहायतासे रहित है इसीसे उसका नाम केवल है। तथा रागादिमलसे रहित होनेसे शुद्ध है। व्याघातसे रहित है क्योंकि कोई अन्य ज्ञान उसमें बाधा नहीं डाल सकता। निश्चयात्मक होनेसे सन्देह रहित है। श्रुत आदि अन्य सब ज्ञानोंमें प्रधान होनेसे उत्तम है। सब द्रव्य और पर्यायोंमें प्रवर्तमान होनेसे मतिज्ञान आदिकी तरह उसका विषय अल्प नहीं है। तथा एक आत्मामें स्वयं ही होनेसे एक है। सम्पूर्ण आत्मस्वरूप होनेसे सकल है। जैसे मति आदि ज्ञान असम्पूर्ण है उस तरह वह सम्पूर्ण नहीं है। अनन्त प्रमाण वाला होनेसे अनन्त है। अविनाशी है, उसका कभी विनाश नहीं होता। विचित्र द्रव्य पर्यायरूपसे प्रतिभासमान होनेसे चित्रपटकी तरह विचित्र—नानारूप है। उस केवलज्ञानसे वह तीन काल सहित इस समस्त जगतको और सर्व अलोकको एक साथ जानता है ॥२०९७-२०९९॥

गा०—छद्मस्थ अवस्थासे रहित उस महामुनिके अन्तराय कर्मका विनाश होनेपर अन्तराय

---

१. सव्वण्हू —अ०।

'अ.रियमणंतरायं होदि' निर्विघ्नं वीर्यं भवति । क्षायोपशमिकस्य हि वीर्यस्य पुनः वीर्यांतरायोदये सति विघ्नो भवति, न तथा तस्य निरवशेषक्षये । 'अणंतं' । 'कप्पातीदस्स' छद्मस्थकल्पना अतीतस्य महामुनेर्विघ्ने विनष्टे ॥२१००॥

तो सो वेदयमाणो विहरइ सेसाणि ताव कम्माणि ।
जावसमत्ती वेदिज्जमाणस्साउगस्स भवे ॥२१०१॥

'तो सो वेदयमाणो' केवलज्ञानादिपरिप्राप्त्यनंतरकालं वेदयमानो विहरति, **'सेसाणि ताव कम्माणि'** अवशिष्टानि तावत्कर्माणि । **'जावसमत्ती'** यावत्परिसमाप्तिः । **'वेदिज्जमाणस्स आउगस्स भवे'** अनुभूयमानस्य मनुष्यायुषो भवेत् ॥२१०१॥

दंसणणाणसमग्गो विरहदि उच्चावयं तु परियायं ।
जोगणिरोधं पारभदि कम्मणिल्लेवणट्ठाए ॥२१०२॥

'दंसणणाणसमग्गो' क्षायिकेन ज्ञानेन दर्शनेन च समग्रः, विहृत्य 'उच्चावयं परीयायं' उच्चावचं पर्यायं, चारित्रमभिवर्द्धयन् योगनिरोधं प्रारभते, कर्मणामघातिनामपहरणार्थं ॥२१०२॥

उक्कस्सएण छम्मासाउगसेसम्मि केवली जादा ।
वच्चंति समुग्घादं सेसा भज्जा समुग्घादे ॥२१०३॥

'उक्कस्सएण' उत्कर्षेण षण्मासावशेषे आयुषि जाते केवलिनो जातास्ते समुद्घातमुपयाति । शेषाः समुद्घाते भाज्याः ॥२१०३॥

रहित अनन्तवीर्य होता है । अर्थात् क्षयोपशमिक वीर्यमें तो वीर्यान्तरायका उदय होनेपर विघ्न आ जाता है । किन्तु समस्त वीर्यान्तरायका क्षय होनेपर प्रकट हुए अनन्त वीर्यमें कोई विघ्न नहीं आता ॥२१००॥

गा०—केवल ज्ञानकी प्राप्तिके अनन्तर जबतक शेष कर्मोंकी तथा अनुभूयमान मनुष्यायुकी समाप्ति नहीं होती तब तक वह केवल ज्ञानी विहार करता है ॥२१०१॥

गा०—क्षायिक ज्ञान और क्षायिक दर्शनसे परिपूर्ण वह केवल ज्ञानी चारित्रको बढाता हुआ उत्कृष्ट कुछ कम एक पूर्वकोटि तक और जघन्य अन्तर्मुहूर्त मात्र काल तक विहार करता है । फिर अघातिकर्मोंको नष्ट करनेके लिये सत्यवचन योग, अनुभयवचन योग, सत्यमनोयोग अनुभय मनोयोग, औदारिक काययोग, औदारिक मिश्र काययोग तथा कार्मण काययोगका निग्रह प्रारम्भ करता है ॥२१०२॥

गा०—उत्कर्षसे छह मास आयु शेष रहनेपर जो केवल ज्ञानी होते हैं वे अवश्य समुद्घात–जीवके प्रदेशोंका शरीरसे बाहर दण्ड आदिके आकार रूपमें निकलना–करते हैं । शेष समुद्घात करते भी हैं और नहीं भी करते, उनके लिये कोई नियम नहीं है ॥२१०३॥

---

१ माण आउस्स कम्मस्स, –अ० आ० ।

जेसिं आउसमाइं णामगोदाइं वेदणीयं च ।
ते अकदसमुग्घादा जिणा उवणमंति सेलेसिं ॥२१०४॥

'जेसिं आउसमाइं' येषामपि आयुःसमानि शेषाण्यघातिकर्माणि तेऽकृतसमुद्धाता एव शैलेश्यं प्रतिपद्यन्ते ॥२१०४॥

[1]जेसिं हवंति विसमाणि णामगोदाउवेदणीयाणि ।
ते दु कदसमुग्घादा जिणा उवणमंति सेलेसिं ॥२१०५॥
ठिदिसंतकम्मसमकरणत्थं सव्वेसि तेसि कम्माणं ।
अंतोमुहुत्त सेसे जंति समुग्घादमाउम्मि ॥२१०६॥

'ठिदिसंतकम्म' सत्कर्मणां स्थिति समीकर्तुं चतुर्णां अन्तर्मुहूर्तविशेषे आयुषि समुद्घातं यांति ॥२१०५-२१०६॥

ओल्लं संतं वत्थं विरल्लिदं जह लहु विणिव्वादि ।
संवेढियं तु ण तधा तधेव कम्मं पि णादव्वं ॥२१०७॥

'ओल्लं संतं' आर्द्रं सद्यथा वस्त्रं विप्रकीर्णं लघु शुष्यति न तथा संवेष्टितं एवमेव कर्मापि ज्ञातव्यम् ॥२१०७॥

ठिदिबंधस्स सिणेहो हेदू खीयदि य सो समुहदस्स ।
सडदि य खीणसिणेहं सेसं अप्पट्ठिदी होदि ॥२१०८॥

ठिदिबंधस्स' स्थितिबन्धस्य स्नेहो हेतुर्विनश्यति । समुद्घातं गते सटति' च क्षीणस्नेहं शेषं कर्माल्पस्थितिकं भवति ॥२१०८॥

गा०—जिनके नामकर्म, गोत्रकर्म वेदनीयकर्मकी स्थिति आयुकर्मके समान होती है वे सयोगकेवली जिन समुद्घात किये बिना शैलेशी अवस्थाको प्राप्त होते हैं ॥२१०४॥

गा०—किन्तु जिनकी आयुकी स्थिति कम होती है और नामगोत्र और वेदनीय कर्मोकी स्थिति अधिक होती है वे सयोगकेवली जिन समुद्घात करके ही शैलेशी अवस्थाको प्राप्त होते हैं अर्थात् अयोगकेवली होते हैं ॥२१०५॥

गा०—अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहनेपर चारो कर्मोकी स्थिति समान करनेके लिये समुद्घात करते हैं ॥२१०६॥

गा०—जैसे गीला वस्त्र फैला देनेपर वह शीघ्र सूख जाता है उतनी शीघ्र इकट्ठा रखा हुआ नहीं सूखता । कर्मोंकी भी वैसी ही दशा जानना । आत्म प्रदेशोंके फैलावमें सम्बद्ध कर्मरज-की स्थिति बिना भोगे घट जाती है ॥२१०७॥

गा०—समुद्घात करनेपर स्थितिबन्धका कारण जो स्नेहगुण है वह नष्ट हो जाता है। और स्नेहगुणके क्षीण होनेपर शेष कर्मोकी स्थिति घट जाती है ॥२१०८॥

---

१. एतां टीकाकारो नेच्छति ।

चदुहिं समएहिं दंड-कवाड-पदरजगपूरणाणि तदा ।
कमसो करेदि तह चेव णियत्तीदि चदुहिं समएहिं ॥२१०९॥

'चदुहिं' चतुर्भिस्समयैर्दण्डादिकं कृत्वा क्रमशो निवर्तते चतुर्भिरेव समयैः ॥२१०९॥

काउणाउसमाइं णामागोदाणि वेदणीयं च ।
सेलेसिमब्भुवेंतो जोगणिरोधं तदो कुणदि ॥२११०॥

'काऊण' नामगोत्रवेदनीयानां आयुषा साम्यं कृत्वा मुक्तिमभ्युपनयन् योगनिरोधं करोति ॥२११०॥

योगनिरोधक्रममाचष्टे—

बादरवाचिगजोगं बादरकायेण बादरमणं च ।
बादरकायंपि तधा रुंभदि सुहुमेण काएण ॥२१११॥

बादरौ वाङ्मनोयोगौ बादरकायेन रुणद्धि । बादरकाययोगं सूक्ष्मेण काययोगेन ॥२१११॥

तध चेव सुहुममणवचिजोगं सुहुमेण कायजोगेण ।
रुंभित्तु जिणो चिट्ठदि[1] सो सुहुमकायजोगेण ॥२११२॥

'तध चेव' तथैव सूक्ष्मवाङ्मनोयोगौ सूक्ष्मकाययोगेन रुणद्धि ॥२११२॥

सुहुमाए लेस्साए सुहुमकिरियबंधगो तगो ताधे ।
काइयजोगे सुहुमम्मि सुहुमकिरियं जिणो झादि ॥२११३॥

गा०-टी०—सयोगकेवली जिन चार समयोमे दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घात करके क्रमसे चार ही समयोंमें उसका सकोच करता है अर्थात् प्रथम समयमें दण्डाकार, दूसरे समयमें कपाटके आकार, तीसरे समयमें प्रतर रूप और चतुर्थ समयमे समस्त लोकमें व्याप्त हो जाते हैं। पांचवे समयमे पुनः प्रतररूप, छठे समयमें कपाटरूप, सातवें समयमे दण्डाकार आठवें समयमें मूल शरीरकार आत्म प्रदेश हो जाते हैं ॥२१०९॥

गा०—इस प्रकार नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों की स्थिति आयुके समान करके मुक्तिकी ओर बढ़नेवाले सयोगकेवली जिन योगोंका निरोध करते हैं ॥२११०॥

योगनिरोधका क्रम कहते हैं—

गा०—स्थूल काययोगमे स्थित होकर बादर वचनयोग और बादर मनोयोगको रोकते है और सूक्ष्म काययोगमे स्थित होकर स्थूल काययोगको रोकते हैं ॥२१११॥

गा०—उसी प्रकार सूक्ष्मकाययोगके द्वारा सूक्ष्म मनोयोग और सूक्ष्म वचनयोगका रोककर सयोगकेवली जिन सूक्ष्म काययोगमे स्थित होते हैं ॥२११२॥

---

1. दि सुहुमेण कायजोगेण –आ० । दि सो सुहुमे काइए जोगे –मु० ।

सूक्ष्मया लेश्यया सूक्ष्मक्रियया बन्धकस्तदासौ सूक्ष्मक्रियं ध्यानं ध्याति ॥२११३॥

सुहुमकिरिएण झाणेण णिरुद्धे सुहुमकायजोगे वि ।
सेलेसी होदि तदो अबंधगो णिच्चलपदेसो ॥२११४॥

'सुहुमकिरियेण' तेन ध्यानेन निरुद्धे सूक्ष्मकाययोगे निश्चलप्रदेशोऽबन्धको भवति । बंधनिमित्तानाम-भावात् ॥२११४॥

माणुसगदितज्जादिं पज्जत्तादिज्जसुभगजसकित्तिं ।
अण्णदरवेदणीयं तसबादरमुच्चगोदं च ॥२११५॥

'माणुसगदि' मनुष्यगति पञ्चेन्द्रियजाति, पर्याप्तमादेयसुभगं, यशस्कीर्तिमन्यतरवेदनीयं, त्रसबादरं, उच्चैर्गोत्रं च वेदयते ॥२११५॥

मणुसाउगं च वेदेदि अजोगी होदूण चेव तक्कालं ।
तित्थयरणामसहिदो[1] ताओ वेदेदि तित्थयरो ॥२११६॥

मनुष्यायुष्यं वेदयते अयोगी भूत्वा तीर्थंकरनामसहितास्तीर्थंकरो वेदयते ॥२११६॥

देहतियबंधपरिमोक्खत्थं सो केवली अजोगी सो ।
उवयादि समुच्छिण्णकिरियं तु झाणं अपडिवादी ॥२११७॥

देहतिय देहत्रिबन्धपरिमोक्षार्थं समुच्छिन्नक्रियानिवृत्तिध्यानं ध्याति ॥२११७॥

सो तेण पंचमत्ताकालेण खवेदि चरिमज्झाणेण ।
अणुदिण्णाओ दुचरिमसमये सव्वाओ पयडीओ ॥२११८॥

गा०—सूक्ष्म लेश्याके द्वारा सूक्ष्मकाययोगमें वह सातावेदनीय कर्मका बन्ध करता है तथा सूक्ष्मक्रिय नामक तीसरे शुक्लध्यानको ध्याता है ॥२११३॥

गा०—उस सूक्ष्मक्रिय नामक शुक्लध्यानके द्वारा सूक्ष्म काययोगका निरोध करके वह शीलोंका स्वामी होता है तथा आत्माके प्रदेशोंके निश्चल हो जानेसे उन्हें कर्मबन्धन नहीं होता, क्योंकि कर्मबन्धके निमित्तोंका अभाव है ॥२११४॥

गा०—उस समय अयोगकेवली होकर वह मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रिय जाति, पर्याप्ति, आदेय, सुभग, यशःकीर्ति, साता या असातावेदनीय, त्रस, बादर, उच्चगोत्र और मनुष्यायु इन ग्यारह कर्म प्रकृतियोंके उदयका भोग करते हैं। और यदि तीर्थंकर होते हैं तो तीर्थंकर सहित बारह प्रकृतियोंका अनुभवन करते हैं ॥२११५-१६॥

गा०—उसके पश्चात् अयोगकेवली परम औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीन शरीरोंके बन्धनसे छूटनेके लिये समुच्छिन्नक्रिय अप्रतिपाती नामक चतुर्थ शुक्लध्यानको ध्याते हैं इसका दूसरा नाम व्युपरतक्रिया निवर्ती है ॥२११७॥

१.—दो ताओ वेदि तित्थयरो—आ०, मु०।

'सो तेण' स तेन पञ्चमात्राकालेनानेन ध्यानेन क्षपयति द्विचरमसमये अनुदीर्णाः सर्वा प्रकृतीः ॥२११८॥

चरिमसमयम्मि तो सो खवेदि वेदिज्जमाणपयडीओ ।
बारस तित्थयरजिणो एक्कारस सेस सव्वण्हू ॥२११९॥

'चरिमसमयम्मि' अंत्ये समये क्षपयति वेद्यमाना प्रकृतीर्द्वादश तीर्थङ्करजिन । शेषसर्वज्ञः एकादश । 'णामक्खएण' नाम्नो विनाशेन तैजसशरीरबन्धो नश्यति । आयुषः क्षयेण औदारिकबन्धनाशः ॥२११९॥

णामक्खएण तेजोसरीरबंधो वि [1]हीयदे तस्स ।
आउक्खएण ओरालियस्स बंधो वि [2]हीयदि से ॥२१२०॥
तं सो बंधणमुक्को उड्ढं जीवो पओगदो जादि ।
जह एरण्डयबीयं बंधणमुक्कं समुप्पददि ॥२१२१॥

स्पष्टोत्तरगाथाद्वयं ॥२१२०-२१२१॥

संग[3]विजहणेण य लहुदयाए उड्ढं पयादि सो जीवो ।
जध आलाउ अलेओ उप्पददि जले णिवुड्डो वि ॥२१२२॥

'संगजहणेण' संगत्यागाल्लघुतयोर्ध्वं प्रयाति जलनिमग्ननिर्लेपालाबुवत् ॥२१२२॥

झाणेण य तह अप्पा पओगदो जेण जादि सो उड्ढं ।
वेगेण पूरिदो जह ठाइदुकामो वि य ण ठादि ॥२१२३॥

'झाणेण य' ध्यानेनात्मा प्रयुक्तो यात्यूर्ध्वं वेगेन पूरितो यथा न तिष्ठति स्थातुकामोपि ॥२१२३॥

गा०-टी०—इस ध्यानका काल 'अ इ उ ऋ लृ' इन पाच मात्राओके उच्चारणमें जितना काल लगता है उतना है। इतने कालवाले उस अन्तिम ध्यानके द्वारा अयोगकेवली गुणस्थानके उपान्त्य समयमे बिना उदीरणाके सब ७२ कर्म प्रकृतियोको खपाते है, उनका क्षयकर देते हैं, और अन्तिम समयमें तीर्थंकर केवली बारह प्रकृतियोंका क्षय करते हैं तथा सामान्य केवली ग्यारह प्रकृतियोंका क्षय करते हैं ॥२११८-१९॥

गा०—उनके नामकर्मका क्षय होनेसे तैजस शरीर बन्धका भी क्षय हो जाता है। और आयुकर्मका क्षय होनेसे औदारिक शरीर बन्धका क्षय हो जाता है ॥२१२०॥

गा०—इस प्रकार बन्धनसे मुक्त हुआ वह जीव वेगसे ऊपरको जाता है जैसे बन्धनसे मुक्त हुआ एरण्डका बीज ऊपरको जाता है ॥२१२१॥

गा०—समस्त कर्म नोकर्मरूप भारसे मुक्त होनेके कारण हल्का हो जानेसे वह जीव ऊपर को जाता है। जैसे मिट्टीके लेपसे रहित तूम्बी जलमे डूबनेपर भी ऊपर ही आती है ॥२१२२॥

गा०—जैसे वेगसे पूर्ण व्यक्ति ठहरना चाहते हुए भी नही ठहर पाता है वैसे ही ध्यानके

१. खीयदे मु० । २. खीयदि —मु० । ३ संगस्स विजहणेण —आ० ।

जह वा अग्गिस्स सिहा सहावदो चेव होदि उड्ढगदी ।
जीवस्स तह सभावो उड्ढगमणमप्पवसियस्स ॥२१२४॥

स्पष्टोत्तरगाथा ॥२१२४॥

तो सो अविग्गहाए गदीए समए अणंतरे चेव ।
पावदि जयस्स सिहरं खित्तं कालेण य फुसंतो ॥२१२५॥

'तो सो अविग्गहाए' ततोऽसावविग्रहया गत्या अनंतरसमय एव जगतश्शिखरं प्राप्नोति ॥२१२५॥

एवं इहइं पजहिय देहतिगं सिद्धखेत्तमुवगम्म ।
सव्वपरियायमुक्को सिज्झदि जीवो सभावत्थो ॥२१२६॥

'एवं इहइं' एवमिह देहत्रिकं विहाय सिद्धक्षेत्रमुपगम्य सर्वप्रचारविमुक्तः सिध्यति जीवः स्वभावस्थः ॥२१२६॥

तस्याधःस्थानमाचष्टे—

ईसिप्पब्भाराए उवरिं अत्थदि सो जोयणम्मि सीदाए ।
धुवमचलमजरठाणं लोगसिहरमस्सिदो सिद्धो ॥॥२१२७॥

'ईसिप्पब्भाराए' ईषत्प्राग्भाराया उपरि न्यूनयोजने ध्रुवमचलं स्थानं लोकशिखरमास्थितः सिद्धः ॥२१२७॥

प्रयोगसे आत्मा ऊपरको जाता है ॥२१२३॥

गा०—अथवा जैसे आगकी लपट स्वभावसे ही ऊपरको जाती है वैसे ही कर्मरहित स्वाधीन आत्माका स्वभाव ऊर्ध्वगमन है ॥२१२४॥

गा०—कर्मोंका क्षय होते ही वह मुक्त जीव एक समयवाली मोड़े रहित गतिसे सात राजुप्रमाण आकाशके प्रदेशोंका स्पर्श न करते हुए अर्थात् अत्यन्त तीव्रवेगसे लोकके शिखरपर विराजमान हो जाता है ॥२१२५॥

गा०—इस प्रकार इसी लोकमें तैजस, कार्मण और औदारिक शरीरोंको त्यागकर सब प्रकारके प्रचारसे मुक्त हुआ जीव, सिद्धिक्षेत्रमें जाकर अपने टंकोत्कीर्ण ज्ञापक भाव स्वभावमें स्थित होकर मुक्त हो जाता है ॥२१२६॥

गा०—उस सिद्धिक्षेत्रके नीचे स्थित आठवीं पृथिवीको कहते हैं—ईषत्प्राग्भार नामकी आठवीं पृथ्वीके कुछ ऊपर एक योजन पर लोकका शिखर स्थित है जो ध्रुव, अचल और अजर है। उसपर सिद्ध जीव तिष्ठता है ॥२१२७॥

विशेषार्थ—आठवीं पृथिवीका नाम ईषत्प्राग्भार है। मध्यमें उसका बाहुल्य आठ योजन है। दोनों ओर क्रमसे हीन होता गया है। अन्तमें अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण अत्यन्त सूक्ष्म बाहुल्य रह जाता है। इस तरह ऊपरको उठे हुए विशाल गोल श्वेत छत्रके समान उसका आकार है। उसका विस्तार पैंतालीस लाख योजन है। उसके ऊपर तीन वातवलय हैं। उनमेंसे तीन

धम्माभावेण दु लोगग्गे पडिहम्मदे अलोगेण ।
गदिमुवकुणदि हु धम्मो जीवाणं पोग्गलाणं च॥ २१२८॥

'धम्माभावेण दु' धर्मास्तिकायस्याभावे लोकाग्रे प्रतिहन्यते अलोकेन, यतो जीवपुद्गलानां गतेरुप-कारको धर्मः स चोपरि नास्ति ॥२१२८॥

जं जस्स दु संठाणं चरिमसरीरस्स जोगजहणम्मि ।
तं संठाणं तस्स दु जीवघणो होइ सिद्धस्स ॥२१२९॥
दसविधपाणाभावो कम्माभावेण होइ अच्चंतं ।
अच्चंतिगो य सुहदुक्खाभावो विगददेहस्स ॥२१३०॥

दशविधानां प्राणानामत्यंताभावेन भवति आत्यंतिकश्च सुखदुःखाभावः ॥२१२९–२१३०॥

जं णत्थि बंधहेदुं देहग्गहणं ण तस्स[2] तेण पुणो ।
कम्मकलुसो हु जीवो कम्मकदं देहमादियदि ॥२१३१॥

'जं णत्थि बंधहेदुं' यस्मान्नास्ति बंधकारणं तेन न मुक्तस्य देहग्रहणं, कर्मकलुषीकृतो हि जीवः कर्म-कृतदेहमादत्ते ॥२१३१॥

कज्जाभावेण पुणो अच्चंतं णत्थि फंदणं तस्स ।
ण पओगदो वि फंदणमदेहिणो अत्थि सिद्धस्स ॥२१३२॥

कोस विस्तार वाले दो वातवलयोंके ऊपर एक हजार पांच सौ पिचहत्तर धनुष विस्तार वाला तीसरा तनुवातवलय है। उसके पांच सौ पच्चीस धनुष मोटे अन्तिम भाग में सिद्ध भगवान विराजते हैं ॥२१२७॥

गा०—धर्मद्रव्य लोकके अग्रभाग तक ही है। अतः मुक्तजीव लोकाग्रसे आगे अलोकमें नहीं जाता, क्योंकि धर्मद्रव्य गति करते हुए जीवों और पुद्गलोंकी गतिमें उपकार करता है ॥२१२८॥

गा०—मन वचन काययोगोंका त्याग करते समय अयोगी गुणस्थानमें जैसा अन्तिम शरीरका आकार रहता है; उस आकाररूप जीवके प्रदेशोंका, घनरूप सिद्धोंका आकार होता है ॥२१२९॥

गा०—सिद्ध भगवानके कर्मोंका अभाव होनेसे दस प्रकारके प्राणोंका सर्वथा अभाव है। तथा शरीरका अभाव होनेसे इन्द्रिय जनित सुखदुःखका अभाव है ॥२१३०॥

गा०—मुक्तजीवके कर्मबन्धका कारण नहीं है। अतः वह पुनः शरीर धारण नहीं करता। क्योंकि कर्मोंसे बद्ध जीव ही कर्मकृत शरीरको धारण करता है ॥२१३१॥

गा०—सिद्ध जीवोंको कुछ करना शेष न होनेसे उनमें हलन चलनका अत्यन्त अभाव है।

---

१. एतां टीकाकारो नेच्छति । २. स होदि पुणो —आ०, मु० ।

'कायाभावेन चुणो' कायाभावेन तस्य चलनं नास्ति तस्य न च परप्रयोगचलनमपि स्पंदनमस्त्यदेहस्य सिद्धस्य ॥२१३२॥

कालमणंतमधम्मोपग्गहिदो ठादि गयणमोगाढो ।
सो[1] उवकारो इट्ठो ठिदिसभावो ण जीवाणं ॥२१३३॥

'कालमणंतं' अनन्तकालं अधर्मास्तिकायोपगृहीतः गगनमनुप्रविष्टः तिष्ठति । 'उवकारो इट्ठो' अधर्मास्तिकायेन संपाद्यउपकारः अवस्थानलक्षण इष्टो यस्मान्न जीवस्य स्थितिस्वभावश्चैतन्यादिवत् ॥२१३३॥

तेलोक्कमत्थयत्थो तो सो सिद्धो जगं णिरवसेसं ।
सव्वेहिं पज्जएहिं य संपुण्णं सव्वदव्वेहिं ॥२१३४॥

'तेलोक्कमत्थयत्थो' त्रैलोक्यमस्तकस्थः ततोऽसौ जगन्निरवशेषं सर्वैःपर्यायैस्सर्वैर्द्रव्यैस्संपूर्णं ॥२१३४॥

पस्सदि जाणदि य तहा तिण्णि वि काले सपज्जए सव्वे ।
तह वा लोगमसेसं पस्सदि भयवं विगदमोहो ॥२१३५॥

'पस्सदि जाणदि' पश्यति जानाति च कालत्रये पर्यायसहितानशेषांस्तथा चालोकमशेषं पश्यति भगवान् विगतमोहः ॥२१३५॥

भावे सगविसयत्थे सूरो जुगवं जहा पयासेइ ।
सव्वं वि तधा जुगवं केवलणाणं पयासेदि ॥२१३६॥

'भावे सगविसयत्थे' आत्मगोचरस्थान् भावान् सूर्यो युगपद्यथा प्रकाशयति तथा सर्वमपि ज्ञेयं युगपत्केवलज्ञानं प्रकाशयति ॥२१३६॥

गदरागदोसमोहो विभओ विमओ णिरुस्सओ विरओ ।
भुवणत्तयपरिगीदगुणो णमंसणिज्जो तिलोगस्स ॥२१३७॥

और वे शरीर रहित हैं। अतः वायु आदिके प्रयोगसे भी उनमें हलन चलन नहीं होता ॥२१३२॥

गा०—सिद्ध जीव जो अनन्तकाल तक आकाशके प्रदेशोंको अवगाहन करके ठहरा रहता है सो यह अवस्थान रूप उपकार अधर्मास्तिकायका माना गया है; क्योंकि जैसे जीवका स्वभाव चैतन्य आदि है उस प्रकार जीवका स्वभाव स्थिति नहीं है ॥२१३३॥

गा०—तीनों लोकोंके मस्तकपर विराजमान वह सिद्ध परमेष्ठी समस्त द्रव्यों और समस्त पर्यायोंसे सम्पूर्ण जगतको जानते देखते हैं। तथा वे मोहरहित भगवान् पर्यायोंसे सहित तीनो कालोंको और समस्त अलोकको जानते हैं ॥२१३४-३५॥

जैसे सूर्य अपने विषयगोचर सब पदार्थोंको एक साथ प्रकाशित करता है वैसे ही केवल ज्ञान सब पदार्थोंको एक साथ प्रकाशित करता है ॥२१३६॥

---

१. उवकारो इट्ठो जं ठि —अ० आ० ।

'पव्वत्तमोसदोसो' दूरीकृतरागद्वेषमोहः, 'विभओ' विगतभयः 'विमओ' विगतमदः, कर्मविगमनुत्सुका, निरस्तकर्मरजःपटलः, बुधजनपरिगीतगुणः विष्टपत्रयेण नमस्करणीयः ॥२१३७॥

णिव्वावइत्तु संसारमहग्गिं परमणिव्वुदिजलेण ।
णिव्वादि सभावत्थो गदजाइजरामरणरोगो ॥२१३८॥

'णिव्वावइत्तु' क्षयमुपनीय संसारमहाग्निं परमनिर्वृतिजलेन तृप्यति स्वरूपस्थो विनष्टजाति-जरामरणरोगः ॥२१३८॥

जावं तु किंचि लोए सारीरं माणसं च सुहदुक्खं ।
तं सव्वं णिज्जिण्णं असेसदो तस्स सिद्धस्स ॥२१३९॥

'जावं तु किंचि लोए' यावत् किंचिल्लोके शारीरं मानसं वा यत्सुखं दुःखं च तत्सर्वं निर्जीर्णं निरव-शेषं । प्रकारकात्स्न्र्यनिरासार्थमशेषग्रहणं ॥२१३९॥

जं णत्थि सव्वबाधाओ तस्स सव्वं च जाणइ जदो से ।
जं च गदज्झवसाणो परमसुही तेण सो सिद्धो ॥२१४०॥

'जं णत्थि सव्वबाधाओ' यन्न सन्ति सर्वबाधाः, सर्वं च यतो जानाति, यच्चापगताध्यवसानः, तेनासौ सिद्धः परमसुखी भवति ॥२१४०॥

परमिड्ढिपत्ताणं मणुगाणं णत्थि तं सुहं लोए ।
अव्वाबाधमणोवमपरमसुहं तस्स सिद्धस्स ॥२१४१॥

'परमिड्ढिपत्ताणं' परमामृद्धि चक्रलाञ्छनतादिका प्राप्तानामपि मनुजाना नास्ति तत्सुखं लोके यदनु-पमं तस्य सिद्धस्य सुखमव्याबाधम् ॥२१४१॥

गा०—जिन्होंने रागद्वेष मोहको दूरकर दिया है, जो भय रहित, मदरहित, उत्कण्ठा रहित और कर्मरूप धूलिपटलसे रहित हैं तथा ज्ञानीजन जिनका गुणगान करते हैं वे सिद्ध भगवान तीनों लोकोंके द्वारा वन्दनीय हैं ॥२१३७॥

गा०—परम निर्वृतिरूप जलसे संसाररूपी महान् अग्निको बुझाकर तथा जन्म-जरा-मरण रोगोंको नष्ट करके अपने स्वरूपमें स्थित मुक्तात्मा निर्वाणको प्राप्त करते हैं ॥२१३८॥

गा०—संसारमे जितना भी शारीरिक और मानसिक सुखदुःख है वह सब पूर्णरूपसे उस सिद्ध परमेष्ठीके नष्ट हो चुका है ॥२१३९॥

गा०—क्योंकि सिद्ध परमेष्ठीके समस्त बाधाएँ नहीं हैं, और वह समस्त वस्तुओंको जानते हैं तथा अध्यवसान-विकल्पवासनासे रहित हैं। अत. वे परमसुखी हैं ॥२१४०॥

गा०—उन सिद्धोंके जो बाधा रहित अनुपम परम सुख है वह सुख इस लोकमें परमऋद्धि चक्रवर्तित्व आदिको प्राप्त मनुष्योंके भी नहीं है ॥२१४१॥

देविंदचक्कवट्टी इंदियसोक्खं च जं अणुहवंति ।
सद्दरसरूवगंधप्फरिसप्पयमुत्तमं लोए ॥२१४२॥

'देविंदचक्कवट्टी' देवेंद्राश्चक्रवर्तिनश्च यदिंद्रियसुखमनुभवंति शब्दरसरूपगंधस्पर्शात्मकं लोके प्रधानं ॥२१४२॥

अव्वाबाधं च सुहं सिद्धा जं अणुहवंति लोगग्गे ।
तस्स हु अणंतभागो इंदियसोक्खं तयं होज्ज ॥२१४३॥

'अव्वाबाधं सुहं' अव्याबाधात्मकं सुखं यत्सिद्धा लोकाग्रेऽनुभवंति तस्यानंतभागो भवति तदिंद्रियसुखं पूर्वव्यावर्णितम् ॥२१४३॥

जं सव्वे देवगणा अच्छरसहिया सुहं अणुहवंति ।
तत्तो वि अणंतगुणं अव्वाबाहं सुहं तस्स ॥२१४४॥

'जं सव्वे देवगणा' यत्सुखमनुभवंति साप्सरोगणाः सर्वे देवास्ततोऽप्यनंतगुणं तस्य सिद्धस्याव्याबाधसुखम् ॥२१४४॥

तीसु वि कालेसु सुहाणि जाणि माणुसतिरिक्खदेवाणं ।
सव्वाणि ताणि ण समाणि तस्स खणमित्तसोक्खेण ॥२१४५॥

'तीसु वि कालेसु' त्रिष्वपि कालेषु यानि मानवानां, तिरश्चां, देवानां च सुखानि सर्वाणि तानि न समानि सिद्धस्य क्षणमात्रेण सुखेन ॥२१४५॥

ताणि हु रागविवागाणि दुक्खपुव्वाणि चेव सोक्खाणि ।
ण हु अत्थि रागम[1]वहत्थिदूण किं चि वि सुहं णाम ॥२१४६॥

'ताणि रागविपाकाणि' तानि रागविपाकानि रागस्य दुःखहेतोर्जनकानि, एतेन दुःखानुबंधित्वं

गा०—इस लोकमें देवेन्द्र और चक्रवर्ती शब्द रस रूप गन्ध और स्पर्श जन्य जिस उत्तम इन्द्रिय सुखको भोगते है, तथा लोकके अग्रभागमें स्थित सिद्ध जिस बाधा रहित सुखको भोगते हैं उसके सामने वह इन्द्रिय सुख उसका अनन्तवां भाग भी नहीं है ॥२१४२-४३॥

गा०—अप्सराओंके साथ सब देवगण जिस सुखको भोगते हैं उससे भी अनन्तगुण बाधा रहित सुख सिद्धोंको होता है ॥२१४४॥

गा०—सब मनुष्यों तिर्यञ्चों और देवोंको तीनों कालोंमें जितना सुख होता है वह सब सुख सिद्धोंके एक क्षणमात्रमें होनेवाले सुखके भी बराबर नहीं है ॥२१४५॥

गा०—मनुष्यादिके होनेवाला सुख रागका जनक है और राग दुःखका कारण है अतः

---

१. अवहुज्झिऊण –अ० आ० । अवहत्थिदूण –मूलारा० ।

नामेंद्रियसुखानां दोषोऽभिहितः । दुःखपूर्वाणि न हि क्षुधादिदुःखमंतरेण अशनादिकं प्रीतिं जनयति । न चास्ति रागमनपाकृत्य सुखं नाम किंचित् ॥२१४६॥

इन्द्रियसुखस्वरूपमभिधाय अतीन्द्रियसुखं व्यावर्णयति—

अणुवममभेयमक्खयममलमजरमरुजमभयमभवं च ।
एयंतियमच्चंतियमव्वाबाधं सुहमजेयं ॥२१४७॥

'अणुवममभेयं' तत्समानस्य तदधिकस्याभावात् सुखस्य तदनुपमं, छद्मस्थज्ञानैर्मातुमशक्यत्वादमेयं, प्रतिपक्षभूतस्य दुःखस्याभावादक्षयं, रागादिमलाभावादमलं, जरारहितत्वादजरं, रोगाभावादरुजं, भयाभावादभयं, भवाभावादभवं, ऐकांतिकं दुःखस्य सहायस्याभावादैकांतिकमसहायं अव्याबाधरूपं तत्सुखं ॥२१४७॥

विसएहिं से ण कज्जं जं णत्थि छुदादियाओ बाधाओ ।
रागादिया य उवभोगहेदुगा णत्थि जं तस्स ॥२१४८॥

'विसएहिं से ण कज्जं' शब्दादिभिर्विषयैः न कार्यं यतः सिद्धस्य न संति क्षुधादिका बाधाः, रागादयश्च विषयोपभोगहेतवो न संति यस्मात्तस्य ॥२१४८॥

एदेण चेव भणिदो भासणचंकमणचिंतणादीणं ।
चेट्ठाणं सिद्धम्मि अभावो हदसव्वकरणम्मि ॥२१४९॥

'एदेण चेव भणिदो' एतेनैवोक्तः भाषण-चंक्रमण-चिंतनादीनां चेष्टानामभावः सिद्धे हतसर्वक्रिये ॥२१४९॥

इन्द्रियसुख दुःखको लानेवाला है तथा दुःखपूर्वक होता है। अर्थात् पहले दुःख होता है तब वह सुख होता है क्योंकि भूख प्यास आदिका दुःख हुए बिना भोजनादि प्रिय नहीं लगते। रागभावके बिना संसारमें किञ्चित् भी सुख नहीं है ॥२१४६॥

इन्द्रिय सुखका स्वरूप कहकर अतीन्द्रिय सुखको कहते हैं—

गा०—टी०—उसके समान या उससे अधिक सुखका अभाव होनेसे अतीन्द्रिय सुख अनुपम है। छद्मस्थ जीवोंके ज्ञानके द्वारा उसका माप करना अशक्य होनेसे अमेय है। उसके विरोधी दुःखका अभाव होनेसे वह अक्षय है—उसका कभी नाश नहीं होता। उसमें रागादिमलका अभाव होनेसे वह अमल है। उसमें जरा रोगका भय न होनेसे वह अजर है। रोगका अभाव होनेसे अरुज है। भयका अभाव होनेसे अभय है। पुनर्भव न होनेसे अभव है। उसके साथमें दुःख न होनेसे ऐकान्तिक है। अनन्तकाल तक रहनेसे आत्यन्तिक है—ऐसा वह अव्याबाधरूप सुख होता है ॥२१४७॥

गा०—सिद्धोंमें शब्दादि विषयोंसे कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि सिद्धोंको भूख प्यास आदि की बाधा नहीं होती तथा विषयोंके उपभोगके कारण राग आदि भी नहीं है ॥२१४८॥

गा०—इसीसे सब प्रकारकी क्रियाओंसे रहित सिद्धोंमें बोलना, चलना-फिरना तथा विचारना आदि भी नहीं है ॥२१४९॥

इय सो खाइयसम्मत्तसिद्धवीरियदिट्ठिणाणेहिं ।
अच्चंतिगेहिं जुत्तो अव्वाबाहेण य सुहेण ॥२१५०॥

'इय सो खाइय' एवमसौ क्षायिकेण सम्यक्त्वेन सिद्धतया वीर्येण अनंतज्ञानानंतदर्शनेन आत्यन्तिकेन युक्तोऽव्याबाधेन सुखेन ॥२१५०॥

अकसायत्तमवेदत्तमकारकदा विदेहदा चेव ।
अचलत्तमलेवत्तं च हुंति अच्चंतियाइं से ॥२१५१॥

'अकसायत्तं' अकषायत्वं, अवेदत्वमकारकता विदेहता अचलत्वमलेपत्वं च आत्यंतिकं तस्य भवति । क्रोधादिनिमित्तानां कर्मणां प्राक्तनानां विनाशादभिनवानां चाऽभावादकषायत्वमात्यन्तिकं एवमेवावेदत्वं । साध्यस्यापरस्याभावादकारकत्वं । प्राक्तनस्य शरीरस्य विलीनत्वाद्देहान्तरकारिणःकर्मणोऽभावाद्विदेहतया अवस्थान्तरप्राप्तिनिमित्तांतराभावादचलत्वं । कर्मनिमित्तपरिणामाभावात् प्राक्तनानां च कर्मणां विनाशादले-पत्वमप्यात्यन्तिकम् ॥२१५१॥

जम्मणमरणजलोघं दुक्खपरकिलेससोगवीचीयं ।
इय संसारसमुद्दं तरंति चदुरंगणावाए ॥२१५२॥

'जम्मणमरणजलोघं' जन्ममरणजलौघं दुःखसंक्लेशशोकवीचिकं संसारसमुद्रं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र-तपस्संज्ञितचतुरङ्गनावा तरन्ति ॥२१५२॥

एवं पण्डिदपण्डिदमरणेण करंति सव्वदुक्खाणं ।
अंतं णिरंतराया णिव्वाणमणुत्तरं पत्ता ॥२१५३॥

गा०—इस प्रकार वह सिद्ध परमेष्ठी क्षायिक सम्यक्त्व, सिद्धत्व, अनन्तवीर्य, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अव्याबाध सुखसे युक्त होते हैं। ये सब आत्यन्तिक होते हैं, इनका कभी विनाश नहीं होता ॥२१५०॥

गा०-टी०—क्रोध आदिमें निमित्त पूर्व कर्मोंका विनाश होनेसे और नवीन कर्मोंका अभाव होनेसे सिद्धोंमें आत्यन्तिक अकषायत्व है। इसी प्रकार आत्यन्तिक अवेदत्व है। उनके लिये कोई करने योग्य कार्य शेष न रहनेसे अकारकत्व भी सदा रहता है। पूर्व शरीरका विनाश होनेसे और नवीन शरीरको उत्पन्न करनेवाले कर्मका अभाव होनेसे सिद्धोंमें सदा विदेहता है। अन्य अवस्थाको प्राप्त होनेमें निमित्तका अभाव होनेसे सदा अचल हैं। उनके कर्मके निमित्तसे होनेवाले परिणामोंका अभाव होनेसे तथा पूर्वके कर्मोंका विनाश होनेसे वे सदा लेपरहित होते हैं ॥२१५१॥

गा०—जिसमें जन्म मरणरूपी जलका समूह भरा है, दुःख संक्लेश और शोकरूपी लहरें उठा करती हैं; उस संसाररूपी समुद्रको सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तपरूपी नावसे पार करते हैं ॥२१५२॥

'एवं पण्डितपण्डितमरणेण' एवमुक्तेन क्रमेण पण्डितपण्डितमरणेण सर्वदुःखानामन्तं कुर्वन्ति । निरन्तराया निर्विघ्ना निर्वाणमनुत्तरं प्राप्ताश्च । एतेन पण्डित-पण्डितमरणं व्याख्यातं । 'पंडितपंडितमरणं गदं' ॥२१५३॥

एवं आराधित्ता उक्कस्साराहणं चदुक्खंधं ।
कम्मरयविप्पमुक्का तेणेव भवेण सिज्झंति ॥२०५४॥

'एवं आराधित्त' एवमाराध्य । 'उक्कस्साराधण' उत्कृष्टाराधनां । 'चदुक्खंधं' समीचीनदर्शनज्ञान चरणतपोभिधानं चतुष्कत्वं । 'कम्मरजविप्पमुक्का' कर्मरजोविप्रमुक्तास्तेनैव भवेन सिध्यन्ति ॥२१५४॥

आराधयित्तु धीरा मज्झिममाराहणं चदुक्खंधं ।
कम्मरयविप्पमुक्का तदिएण भवेण सिज्झंति ॥२१५५॥
आराधयित्तु धीरा जहण्णमाराहणं चदुक्खंधं ।
कम्मरयविप्पमुक्का सत्तमजम्मेण सिज्झंति ॥२१५६॥

'आराधयित्तु धीरा' आराध्य धीरा जघन्यामाराधनां चतुष्कंधां कर्मरजोविप्रमुक्ताः सप्तमेन जन्मना सिध्यन्ति ॥२१५५–२१५६॥

एवं एसा आराधणा सभेदा समासदो वुत्ता ।
आराधणाणिबद्धं सव्वंपि हु होदि सुदणाणं ॥२१५७॥

'एवं एसा' एवमेषा आराधना सप्रभेदा समासतो निरूपिता । आराधनायामस्यां निबद्धं सर्वमपि श्रुतज्ञानं भवति ॥२१५७॥

आराधणं असेसं वण्णेदुं होज्ज को पुण समत्थो ।
सुदकेवली वि आराधणं असेसं ण वण्णिज्ज ॥२१५८॥

गा०—इस प्रकार वे क्षपक पण्डितपण्डितमरणसे सब दुःखोंका अन्त करते हैं और बिना बाधाके उत्कृष्ट निर्वाणको प्राप्त करते हैं ॥२१५३॥

गा०—इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तपरूप चार प्रकारकी उत्कृष्ट आराधनाकी आराधना करके कर्मरूपी धूलिसे छूटकर उसी भवसे मुक्ति प्राप्त करते हैं ॥२१५४॥

गा०—उक्त चार भेदरूप मध्यम आराधनाकी आराधना करके धीर पुरुष कर्मरूपी धूलिसे छूटकर तीसरे भवमें मुक्ति प्राप्त करते हैं ॥२१५५॥

गा०—उक्त चार भेदरूप जघन्य आराधनाकी आराधना करके धीर पुरुष कर्मरूपी धूलिसे छूटकर सातवें भवमें मुक्ति प्राप्त करते हैं ॥२१५६॥

गा०—इस प्रकार इस भेदसहित आराधनाका संक्षेपसे कथन किया। इस आराधनामें जो कुछ कहा गया है वह सब श्रुतज्ञान है ॥२१५७॥

आराधणं असेसं निरवशेषामाराधनां ,वर्णयितुं कस्समर्थो भवेत्, श्रुतकेवल्यपि निरवशेषं न वर्णयेत् ॥२१५८॥

अज्जजिणणंदिगणि-सव्वगुत्तगणि-अज्जमित्तणंदीणं ।
अवगमिय पादमूले सम्मं सुत्तं च अत्थं च ॥२१५९॥

'अज्जजिणणंदि' आचार्यजिननंदिगणिन., सर्वगुप्तगणिन., आचार्यमित्रनंदिनश्च पादमूले सम्यगर्थं श्रुतं चावगम्य ॥२१५९॥

पुव्वायरियणिबद्धा उवजीविता इमा ससत्तीए ।
आराधणा सिवज्जेण पाणिदलभोइणा रइदा ॥२१६०॥

'पुव्वायरिय' पूर्वाचार्यकृतामिव उपजीव्य इयं आराधना स्वशक्त्या शिवाचार्येण रचिता पाणितलभोजिना ॥२१६०॥

छदुमत्थदाए एत्थ दु जं बद्ध होज्ज पवयणविरुद्धं ।
सोधेंतु सुगीदत्था पवयणवच्छलदाए दु ॥२१६१॥

'छदुमत्थदाए' छद्मस्थतया यदत्र प्रवचनविरुद्धं निबद्धं (विरुद्ध) भवेत् तत्सुगृहीतार्था शोधयंतु प्रवचनवत्सलतया ॥२१६१॥

आराधणा भगवदी एवं भत्तीए वण्णिदा संती ।
संघस्स सिवजस्स य समाधिवरमुत्तमं देउ ॥२१६२॥

'आराधणा भगवदी' आराधना भगवती एवं भक्त्या कीर्तिता सर्व्वगुप्तगणिनः संघस्य शिवाचार्यस्य च विपुलां सकलजनप्रार्थनीयां अव्याबाधसुखा सिद्धिं प्रयच्छतु ॥२१६२॥

गा०—मेरे समान कौन अल्पश्रुतज्ञानी सम्पूर्ण आराधनाका वर्णन करनेमें समर्थ हो सकता है। श्रुतकेवली भी सम्पूर्ण आराधनाको नहीं कह सकते। अर्थात् भगवान सर्वज्ञ ही आराधनाका सर्वस्व वर्णन कर सकते हैं ॥२१५८॥

गा०—आर्य जिननन्दिगुणि, सर्वगुप्त गणि, और आर्य मित्रनन्दीके पादमूलमें सम्यक्रूपसे श्रुत और उसके अर्थको जानकर पूर्वाचार्यके द्वारा रची गई आराधनाको आधार बनाकर हस्तपुटमें आहार करनेवाले मुझ शिवाचार्यने अपनी शक्तिसे इस आराधना ग्रन्थको रचा ॥२१५९-६०॥

गा०—छद्मस्थ अर्थात् अल्पज्ञानी होनेसे इसमें जो कुछ आगमके विरुद्ध लिखा गया हो; उसे आगमके अर्थको सम्यक्रूपसे ग्रहण किये हुए ज्ञानीजन सुधारनेकी कृपा करें ॥२१६१॥

गा०—इस प्रकार भक्तिपूर्वक वर्णनकी हुई भगवती आराधना सर्वगुप्त गणीके संघको तथा रचयिता शिवार्यको समस्त जनोंसे प्रार्थनीय अव्याबाध सुखरूप सिद्धिको प्रदान करें अर्थात् उनके प्रसादसे हम सबको शुक्लध्यानकी प्राप्ति हो ॥२१६२॥

असुरसुरमणुयकिण्णररविससिकिंपुरिसमहियवरचरणो ।
दिसउ मम बोहिलाहं जिणवरवीरो तिहुवणिंदो ॥२१६३॥
खमदमणियमधराणं धुदरयसुहदुक्खविप्पजुत्ताणं ।
णाणुज्जोदियसल्लेहणम्मि सुणमो जिणवराणं ॥२१६४॥

गा०—जिनके पूजनीय चरणोंको असुर, सुर, मनुष्य, किन्नर, सूर्य, चन्द्र, और किम्पुरुष जातिके व्यन्तर पूजते हैं वे तीनो लोकोके स्वामी वीर जिनेन्द्र मुझे बोधिलाभ प्रदान करें ॥२१६३॥

गा०—जिन्होंने स्वयं क्षमा, इन्द्रियदमन और नियमोको धारण करके कर्ममलको नष्ट किया, तथा सांसारिक सुख दुःखसे रहित हुए और अपने ज्ञानके द्वारा सल्लेखनाको प्रकाशित किया उन जिन देवोंको नमस्कार हो ॥२१६४॥

भगवती आराधना समाप्त हुई ।

श्रीमदपराजितसूरेष्टीकाकृतः प्रशस्तिः

नमः सकलतत्त्वार्थप्रकाशनमहौजसे ।
भव्यचक्रमहाचूडारत्नाय सुखदायिने ॥१॥
श्रुतायाज्ञानतमसः प्रोद्यद्धर्मांशवे तथा ।
केवलज्ञानसाम्राज्यभाजे भव्यैकबंधवे ॥२॥

चन्द्रनन्दिमहाकर्मप्रकृत्याचार्यप्रशिष्येण आरातीयसूरिचूलामणिना नागनन्दिगणिपादपमोपसेवाजातमतिलवेन बलदेवसूरिशिष्येण जिनशासनोद्धरणधीरेण लब्धयशःप्रसरेण अपराजितसूरिणा [1]श्रीनन्दिगणिनावचोदितेन रचिता आराधनाटीका श्रीविजयोदयानाम्ना समाप्ता ।

टीकाकार अपराजित सूरिकी प्रशस्ति

जो समस्त तत्त्वार्थको प्रकाशित करनेके लिये महान् प्रकाशरूप है, भव्य समुदायके लिये महान् शिरोमणि है, जिसे वे सिरपर धारण करते हैं, सुखको देनेवाला है, अज्ञानरूपी अन्धकारके लिये उगती हुई प्रकाश किरण है, जिसके द्वारा केवल ज्ञानरूपी साम्राज्य प्राप्त होता है तथा जो भव्य जीवोंका एकमात्र बन्धु है उस श्रुतको नमस्कार हो ।

जो चन्द्रनन्दि नामक महाकर्म प्रकृति आचार्यके प्रशिष्य हैं, आरातीय आचार्यों के चूड़ामणि हैं, नागनन्दि गणिके चरण कमलोंकी सेवाके प्रसादसे जिन्हे ज्ञानका लेश प्राप्त हुआ, जो बलदेव सूरिके शिष्य हैं और जिन शासनका उद्धार करनेमें धीरवीर हैं, जिनका यश सर्वत्र फैला है; उन अपराजित सूरिने श्रीनन्दिगणिको प्रेरणासे श्री विजयोदया नामक आराधना टीका रची ।

1. श्री नागनन्दि –मु० ।

गाथानुक्रमणिका

ध

ह

विजयोदया में आगत पद्यों और वाक्यों की अनुक्रमणी

त

द

न

प

पारिभाषिक शब्दानुक्रमणी

●